गुरुगङ्गेश्वरग्रन्थमालायाः पञ्चदशं षोडशं च पुष्पम्

शुक्लयजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहितातृतीयाध्याय-समन्वयभाष्यम्

स्वामिश्रीगङ्गेश्वरोदासीनवर्यविनिर्मितम्

शतपथब्राह्मण-द्वितीयकाण्डम्

पण्डितप्रवर श्री मोतीलालशर्मणा निर्मितेन हिन्दीविज्ञानभाष्येण
श्री सुरजनदासस्वामिरचितेन हिन्दीभाषानुवादेन च
समलङ्कृतम्

तदिदं द्वयं
श्री सुरजनदासस्वामिना एम. ए. आचार्येण
सम्पादितम्

प्रथमावृत्तिः ५००

वि. सं. २०२९

मूल्यम्— रु. ३५-००

प्रकाशक –

स्वामी गोविन्दानन्द वेदान्ताचार्य,
मैनेजिंग ट्रस्टी,
योगेश्वर गुरु गङ्गेश्वर चैरिटेबल ट्रस्ट
१३, पार्क एरिया, गङ्गेश्वरधाम, करोलबाग, न्यू देहली–५

पुस्तक-प्राप्तिस्थान –

१. १३, पार्क एरिया, गङ्गेश्वरधाम, करोलबाग, न्यू देहली–५
२. श्रौतमुनि निवास, वृन्दावन (मथुरा)

मुद्रक –

साधना प्रेस
हाईकोर्ट रोड, जोधपुर

सम्पादकीय

वेद उपलब्ध विश्वसाहित्य में आदिग्रन्थ माना जाता है। यह भारतीय जनता की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, विज्ञान आदि का मूलग्रन्थ है। इसीलिए 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (मनु. २।६)। 'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ (मनु २।१०); 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (मनु. २।१३) इत्यादि वचन वेद को धर्म का मूल तथा धर्मज्ञान में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण बतला रहे हैं। विश्व की प्रथम विश्ववारा[१] संस्कृति का निरूपण भी वेद में ही हुआ है। साक्षात्कृतधर्मा अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार करने वाले महर्षियों ने प्राकृतिक पदार्थों का साक्षात्कार कर जिन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया था उसी विज्ञान का निरूपण इन वैदिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्रकृति के गूढ मौलिक तत्त्वों का स्वरूप-प्रतिपादन इनमें हुआ है। भारतीय महर्षियों ने आर्ष प्रतिभामय चक्षु द्वारा प्राकृतिक पदार्थों का यथार्थ-स्वरूप जान लिया था। इसीलिए उनके विषय में ये वचन उपलब्ध होते हैं 'ऋषयो नाम प्रत्यक्षधर्माणः परापरज्ञा विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः।'[२] 'साक्षात्कृतधर्माणो हि ऋषयो बभूवुः'[३]।

'आविर्भूत-प्रकाशानामनुपप्लुत-चेतसाम्। अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥[४]

भगवान् मनु ने तो यहाँ तक लिखा है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥[५]
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥[६]
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥[७]
वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥[८] इति

मनु की यह गर्वोक्ति वस्तुतः गर्वोक्ति नहीं अपितु यथार्थोक्ति थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥[९]

ऐसे वेद का अध्ययन भारतीय बुद्धिजीवी के लिए अनिवार्य था। इसीलिए 'ब्राह्मणेन निष्कारणं धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'[१०] ऐसे वचन मिलते हैं। इसीलिए मनु ने कहा है—

१—'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा' (यजुःसंहिता)
२—पातञ्जल महाभाष्य आह्निक १।
३—(निरुक्त अ. १ पा. ६)। ४—(वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड ३७)। ५—मनुस्मृति १२।९४।
६—मनुस्मृति १२।९७। ७—मनुस्मृति १२।१००। ८—मनुस्मृति १२।१०२
९—मनुस्मृति २।२०। १०—पात. म. १ आ.।

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' मनु. २।१६८

ऐसे सर्वोत्कृष्ट वैदिकसाहित्य के बहुत से ग्रन्थ कालप्रभाव से कालकवलित हो गए तथा शेष ग्रन्थ भी भारतीय जनता के दुर्दैव तथा प्रमाददोष से अध्ययनाध्यापनपरिपाटी से बहिर्भूत हो गए। जिसके कारण भारतीयों का अमूल्य सर्वस्वभूत वैदिकविज्ञान विलुप्त हो गया तथा उस वैदिकविज्ञान और प्राकृतिक तत्त्वविज्ञान के प्रतिपादक ग्रन्थों के लिए 'गडरिये के गीत' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

द्विसहस्राब्दियों से विलुप्त इस विज्ञान का विद्यावाचस्पति महामहोपदेशक स्वर्गीय गुरुवर्य श्री मधुसूदनजी ओझा ने विलुप्तावशिष्ट वैदिकग्रन्थों के आधार पर तथा अपनी विलक्षण प्रतिभा के बल पर पुनरुद्धार किया और उसे प्रकाश में लाने के लिए उन्होंने अनुमानतः छोटे-बड़े २०० ग्रन्थों का निर्माण किया। उन्होंने वैदिक संहिताओं तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों की व्याख्या न कर विलुप्त वैदिक परिभाषाओं को प्रकाश में लाने का प्रधानतया प्रयास किया। किन्तु भारतीयों के दुर्दैव के कारण उनके सुपुत्र श्री प्रद्युम्नजी ओझा का स्वर्गवास होने पर उनके पुत्रों ने उस साहित्य का भी एक प्रकार से नाश कर दिया जिसकी सुरक्षा में स्वर्गीय श्री प्रद्युम्नजी ओझा ने अपना जीवन लगा दिया था।

वेदवीथीपथिक भरद्वाजकुलावतंस स्वर्गीय श्री मोतीलालजी ने स्वर्गीय श्री ओझाजी से वैदिक विज्ञान का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर तथा यावज्जीवन उसी का निष्ठापूर्वक परिशीलन करते हुए इस वैदिक-विज्ञान को राष्ट्रभाषा में जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयास किया। उन्होंने अनुमानतः ८०,००० पृष्ठों का विशाल साहित्य लिखा। यह साहित्य प्रधानतया भगवद्गीता, उपनिषद् तथा शतपथब्राह्मण से सम्बन्धित है। वेदवीथीपथिक श्री शास्त्रीजी ने अपने साहित्य में स्वर्गीय गुरुवर्य श्री ओझाजी के सिद्धान्तों का ही जनसाधारण के लिए हिन्दी भाषा में निबन्धन किया है। ओझाजी द्वारा प्रतिपादित वैदिकविज्ञान को उन्होंने स्पष्ट करने का श्लाघनीय प्रयास किया है। उन ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। शतपथब्राह्मण के भी प्रथमकाण्ड का वैज्ञानिक भाष्य अन्त के तीन अध्यायों को छोड़कर प्रकाशित हो चुका है किन्तु द्वितीयकाण्ड से पञ्चमकाण्ड तक के शतपथब्राह्मण का हिन्दीविज्ञान भाष्य प्रकाशित नहीं हुआ है। षष्ठकाण्ड के २-३ अध्यायों को छोड़कर पञ्चमकाण्ड के बाद का उनका भाष्य उपलब्ध नहीं है। वे उसे लिख ही नहीं सके और दुर्दैव से असमय में ही निर्वाण प्राप्त कर गये। स्वर्गीय श्री मोतीलालजी के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्र शर्मा ने यह भाष्य चतुर्वेदरूप चतुःसमुद्र को एकत्र कर एक ग्रन्थ 'वेद भगवान्' के रूप में सुन्दर व शुद्धरूप में प्रकाशित कर जनताजनार्दन के समक्ष उपस्थित करने वाले तथा वेदविद्या के पुनः प्रचार व उद्धार में अपने जीवन को समर्पित करने वाले वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी श्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज की सेवा में प्रकाशनार्थ भेजा। उन्होने उसकी पाण्डुलिपि करवा कर प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। यद्यपि यह कार्य अतिव्ययसाध्य तथा बहुश्रमसाध्य था फिर भी वेदविद्योद्धारव्रत में दीक्षित परोपकारैकव्रत महामण्डलेश्वरजी ने स्वर्गीय श्री मधुसूदनजी ओझा द्वारा आविष्कृत वेदव्याख्यासम्बन्धी वैज्ञानिक पद्धति की रक्षा के लिए इस कार्य का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। उसके फलस्वरूप ही आज शतपथब्राह्मण का द्वितीयकाण्ड हिन्दी अनुवाद, हिन्दी विज्ञानभाष्य तथा शुक्लयजुःसंहिता के तृतीयाध्याय-समन्वयभाष्य के साथ प्रकाशित कर वेदानुरागियों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

इसका कारण यह है कि ब्राह्मणग्रन्थ विभिन्न यज्ञों की इतिकर्त्तव्यताओं व उनकी उपपत्तियों का प्रतिपादन करते हुए उन यज्ञों में विनियुक्त वेद के मन्त्रों की व्याख्या भी संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। शतपथब्राह्मण शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता का व्याख्यानभूत ग्रन्थ है अतः वह यज्ञों में तत्तत् थानों में विनियुक्त शुक्लयजुःसंहिता के मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। किन्तु वह उस मन्त्र की व्याख्या खण्डशः तथा संक्षेप में प्रस्तुत करता है। सामान्य तौर से अध्ययन करने पर पूर्ण मन्त्र तथा उसके पूर्ण अर्थ के सम्यग्ज्ञान में कठिनता होती है। इस काठिन्य के परिहारार्थ शतपथब्राह्मण के जिस काण्ड में संहिता के जिन मन्त्रों का विनियोग हुआ है उन मन्त्रों को पूर्णतया उद्धृत कर उनकी पृथग् व्याख्या देना समुचित समझा गया। इसी दृष्टि से पूज्य महामण्डलेश्वरजी ने शतपथब्राह्मण के द्वितीयकाण्ड की व्याख्या से पूर्व उसमें विनियुक्त शुक्लयजुःसंहिता के तृतीयाध्याय के मन्त्रों को समन्वयभाष्यसहित प्रकाशित कर देना उचित समझा। इससे शतपथब्राह्मण के विषय को समझने में अत्यन्त सौकर्य होगा। मन्त्रों की व्याख्या में बहुत से पक्षों का पदर्शन इस समन्वयभाष्य में किया गया है जिससे वह विद्वानों के लिए अधिक रुचिकर व उपादेय बन सके।

इस प्रकाशन में सर्वप्रथम शुक्लयजुःसंहिता के तृतीयाध्याय का समन्वयभाष्य प्रकाशित किया गया है तदनन्तर हिन्दी अनुवाद व हिन्दी विज्ञानभाष्य के साथ शतपथब्राह्मण का द्वितीय काण्ड। इस क्रम का भी प्रधान कारण यही है कि समन्वयभाष्य मूलसंहिता पर है। मूल संहिता के मन्त्रों के अर्थज्ञान के बिना शतपथब्राह्मण को समझना कठिन है अतः उपादेय होने से तथा मूलसंहिता पर व्याख्यान होने से उसका संनिवेश प्रथम किया गया है तत्पश्चात् शतपथब्राह्मण का मूल, उसका हिन्दी अनुवाद और तदनन्तर उस पर विस्तृत हिन्दी विज्ञानभाष्य का संनिवेश किया गया है।

इसमें शुक्लयजुःसंहिता - तृतीयाध्याय - समन्वयभाष्य के प्रणेता वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज स्वयं हैं। हिन्दी विज्ञानभाष्य के रचयिता वेदवीथीपथिक वैदिकविज्ञाननिष्णात स्वर्गीय पं० श्री मोतीलालजी शर्मा हैं और शतपथब्राह्मण का हिन्दी अनुवादक इन पंक्तियों का लेखक है। स्वर्गीय श्री मोतीलालजी ने शतपथब्राह्मण के प्रथमकाण्ड को हिन्दी अनुवाद व हिन्दी विज्ञानभाष्य के साथ ही प्रकाशित किया था उसी रीति का अनुसरण करते हुए इस काण्ड का भी हिन्दी अनुवादसहित प्रकाशन करना उचित समझा गया। किन्तु स्वर्गीय श्री मोतीलालजी ने इसका अनुवाद नहीं किया था अतः अनुवाद पूज्य महामण्डलेश्वरजी के आदेश से सम्पादक ने किया।

इस काण्ड का अनुवाद प्रथम काण्ड की तरह केवल अक्षरानुवादमात्र नहीं है किन्तु इसके हिन्दी विज्ञानभाष्य में प्रतिपादित उपपत्तियों का भी संक्षेप से दिग्दर्शन इस अनुवाद में किया गया है जिससे अनेक स्थलों पर अनुवादमात्र से भी उन विषयों का सामान्य ज्ञान हो सके।

हिन्दी विज्ञानभाष्य जिस रूप में था उसी रूप में उसका प्रकाशन पूज्य महामण्डलेश्वरजी के आदेश से किया गया है उसमें परिवर्तन नहीं किया गया है। कुछ स्थलों पर जहाँ भाष्य नहीं लिखा गया था उस भाग की व्याख्या अपनी बुद्धि के अनुसार सामान्य रूप से करदी गयी है।

हिन्दी विज्ञानभाष्य की पाण्डुलिपि करने में श्री प्रेमरत्न व्यास, श्री गोपीकिशन अग्रवाल, श्री शिवचरण गर्ग, श्री कैलाशचन्द्र त्रिपाठी, श्रीमती ऊर्मिला शुक्ला, श्री गणेशीलाल सुथार ने तथा समन्वयभाष्य

की पाण्डुलिपि करने में श्री दिनकर स्वामी तथा श्री बाबूलाल शर्मा ने पर्याप्त श्रम उठाया है, इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

सावधानी रखते हुए भी इसके प्रकाशन में मेरी कार्यान्तरव्यासक्तता. प्रूफ - संशोधन तथा प्रेस की असावधानी से अशुद्धियां रह गयी हैं और कहीं-कहीं सामान्य अशुद्धि के कारण अर्थ का अनर्थ भी हो गया है। किन्तु अन्त में शुद्धिपत्र में ऐसी अशुद्धियों को शुद्ध कर दिया गया है। तथा ऐसी अशुद्धियाँ भी अधिक नहीं हैं। मेरी अल्पज्ञता के कारण जो अशुद्धियाँ अनुवाद व सम्पादन में रह गयी हैं उनका संशोधन तो विद्वान् पाठकों को स्वयं ही करना होगा, उनके विषय में विद्वानों से क्षमाप्रार्थना के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्पूर्ण व्ययभार गुरु गङ्गेश्वर चैरिटेबिल ट्रस्ट, देहली के मैनेजिंग ट्रस्टी श्री स्वामी गोविन्दानन्दजी वेदान्ताचार्य ने वहन किया है। यह उनके अनुपम वेदानुराग का परिचायक है। इसके लिए वे अनेकशः धन्यवाद के पात्र हैं।

यह ट्रस्ट वेद-प्रचार तथा अन्य शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की पूर्ति में संलग्न है। इसके अन्तर्गत अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन अब तक हो चुका है जिनकी सूची इस ग्रन्थ के अन्तिम पृष्ठ पर संलग्न है। शीघ्र ही इस ट्रस्ट द्वारा, अप्राकाशित अन्य वैदिकग्रन्थों का भी, प्रकाशन होने वाला है। इस प्रकार यह ट्रस्ट प्रधानतया अप्रकाशित वैदिकग्रन्थों के प्रकाशन, अव्याख्यात ब्राह्मणादि ग्रन्थों के व्याख्यान व भाष्य - निर्माण तथा वेदसम्बन्धी नवीन ग्रन्थों के निर्माणादि कार्यों में अपनी निधि का विनियोग कर एक अभूतपूर्व आदर्श प्रस्तुत कर रहा है।

महाशिवरात्रि
वि. सं. २०२६

विद्वद्विधेय
सुरजनदास स्वामी
रीडर, संस्कृतविभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय

शुक्लयजुःसंहिता-

तृतीयाध्याय-

समन्वयभाष्यम्

शुक्लयजु:संहितातृतीयाध्याय-
समन्वयभाष्यम्

स्वान्तध्वान्तमपाकुर्वन् वेदविज्ञानभानुना ।
सर्वं समीहितं देयाद् रामानन्दपरेश्वरः ।।

शतपथब्राह्मणस्य एकपदिकानाम्नि द्वितीयकाण्डे षडध्यायाः सन्ति । प्रत्यध्यायं च ब्राह्मण-चतुष्टयम्, इति चतुर्विंशतिर्ब्राह्मणाः संभूयात्र वर्तन्ते । तानि च ब्राह्मणानि प्रकरणचतुष्टये विभक्तानि । तत्र तावत् सप्तभिर्ब्राह्मणैः प्रथममग्न्याधानप्रकरणम्, षड्भिर्ब्राह्मणैर्द्वितीयमग्नि-होत्रप्रकरणम्, ततो ब्राह्मणत्रयेण तृतीयमिष्टिप्रकरणम्, ततोऽष्टभिर्ब्राह्मणैरन्तिमं (चतुर्थं) चातुर्मास्यप्रकरणमभिहितम् ।

सम्प्रति प्रत्यध्यायं प्रतिब्राह्मणं प्रतिपाद्यानां विषयाणां निरूपणं विधीयते—तथाहि प्रथमाध्यायस्य प्रथमे सम्भारब्राह्मणे अग्न्याधानोपयोगिनामग्न्याधानप्राक्काले अनुष्ठेयानां पञ्चसम्भाराणाम्, द्वितीये ब्राह्मणेऽग्न्याधानोपयोगिनां नक्षत्राणाम्,तृतीये ब्राह्मणेऽग्न्याधानो-पयोगिनामृतूनाम्, चतुर्थे ब्राह्मणे चाग्न्याधानप्रयोगस्य प्रतिपादनम् ।

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमे ब्राह्मणेऽग्न्याधानानन्तरकालिकस्य पूर्णाहुतिहोमस्य, द्वितीये ब्राह्मणे दक्षिणायाः, तृतीये ब्राह्मणे पुनराधानस्य,चतुर्थे च ब्राह्मणेऽग्निहोत्रस्य प्रतिपादनम् ।

तृतीयाध्यायस्य प्रथमे ब्राह्मणेऽग्निहोत्रहोमविधेः, द्वितीयतृतीयब्राह्मणयोरग्न्युपस्थानस्य, चतुर्थे ब्राह्मणे च बृहदुपस्थानस्य निरूपणम् ।

चतुर्थाध्यायस्य प्रथमे ब्राह्मणे क्षुल्लकोपस्थानस्य, द्वितीये ब्राह्मणे पिण्डपितृयज्ञस्य, तृतीये ब्राह्मणे आग्रयणेष्टेः, चतुर्थे च ब्राह्मणे वसिष्ठापरनामधेयस्य दाक्षायणेष्टेः प्रतिपादनम् ।

पञ्चमाध्यायस्य प्रथमे ब्राह्मणे चातुर्मास्ययागेषु वैश्वदेवेष्टेः, द्वितीये ब्राह्मणे वरुण-प्रघासेष्टेः, तृतीये ब्राह्मणे साकमेधेष्टेः, चतुर्थे च ब्राह्मणे साकमेधाङ्गभूतस्य महाहविर्यागस्य निरूपणम् ।

षष्ठाध्यायस्य प्रथमे ब्राह्मणे साकमेधाङ्गभूतायाः पित्र्येष्टेः, द्वितीये ब्राह्मणे त्र्यम्बकेष्टेः, तृतीये ब्राह्मणे शुनासीरीयेष्टेः, चतुर्थे च ब्राह्मणे वैश्वदेवादिचातुर्मास्येष्टीनां शेषभूतस्य सेतिकर्तव्यताकस्य परिवर्तनविधेः प्रतिपादनम् ।

शुक्लयजुर्संहितायास्तृतीयेऽध्याये तु अष्टौ कण्डिकाः आधानस्य (तत्र चाद्याः चतस्रः

समिदाधानस्य अन्त्याश्चतस्रस्तु अग्न्याधानस्य) द्वे कण्डिके अग्निहोत्रस्य, षड्विंशतिः कण्डिका बृहदुपस्थानस्य, चतस्रः कण्डिकाः क्षुल्लकोपस्थानस्य, तिस्रः कण्डिका गृहोपस्थानस्य, पञ्च कण्डिकाः वरुणप्रघासस्य, पञ्चदश कण्डिकाः (४९-६३) साङ्गसाकमेघस्य (तत्र द्वे दर्वीहोमस्य, षट् महापितृयज्ञस्य, सप्त च त्र्यम्बकेष्टेः) एवं संभूय त्रिषष्टिः कण्डिका वर्तन्ते।

वैश्वदेवेष्टेः शुनासीरीयेष्टेश्च कण्डिका काण्वयजुःसंहितायां नोपलभ्यन्त इति तदीयाः कण्डिकाः शाखान्तरीया इति प्रतीयते।

अत्रैकपदिकानाम्नि द्वितीये काण्डे शुक्लयजुर्वेदसंहितायास्तृतीयाध्यायमन्त्राणां विनियोगः। अतोऽत्र संहितातृतीयाध्यायमन्त्राणां व्याख्यानं देवयाज्यात्मयाजिसात्वतरूपपक्षत्रयम् आलम्ब्य प्रस्तूयते। वैज्ञानिकपक्षमालम्ब्यापि केषाञ्चन मन्त्राणां व्याख्यानं विधास्यते।

तत्र पूर्वं तृतीयाध्यायगतानामनुवाकानां निर्देशो विधीयते—

दशाऽनुवाकास्त्वध्याये तृतीयेऽर्थास्तु तेष्वमी।
आधानमग्निहोत्रं च[१-२-३]महोपस्थानमेव च[४] ॥१॥
क्षुल्लकोपस्थितिर्द्वाभ्यां[५-६] प्रघासा वरुणस्य[७] च।
साकमेधाश्च[८] पित्र्[९] र्थास्त्र्यम्बकार्था[१०] अमी दश ॥२॥

अनुवाकसूत्राणि—समिधाग्निं[१] भूर्भुवः[२] स्वश्चतुष्कौ, अग्निर्ज्योतिर्द्वे,[३] उपप्रयन्तः[४] षड्विंशतिः, भूर्भुवः[५] स्वश्चतस्रः, गृहा[६] मा तिस्रः, प्रघासिनः[७] पञ्च, पूर्णा[८] दर्वि द्वे, अक्षन्नमीमदन्त[९] षड्, एष[१०] ते सप्त (१० अनुवाकाः, ६३ कण्डिकाः)।

समिदाधानाऽनुवाकः

[१]समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
अस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ य. ३। १॥

समिदाधानम्

समिधेति मन्त्रस्याङ्गिरसः ऋषिर्गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता, समिदाधाने विनियोगः। (शत० ६, ८. १, ६) (का० श्रौ० ४, ८, ३)।

अध्वर्युश्चातुष्प्राश्यं (चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशनयोग्यम् ओदनं पक्त्वाऽग्नेरुत्तरत उत्तीर्य तस्य मध्ये (आसेचनं) गर्तं विधाय, तत्र मध्ये घृतमासिच्य तिस्रः आश्वत्थीः समिधस्तस्मिन्

१—ऋग्वेद ८, ४४, १। तै. सं. ४, २, ३, १। तै. आ. १, २, १, ९।

घृतेऽभ्यज्याग्नावादधाति'। हे ऋत्विजः! यूयम् (समिधा) समिन्धनहेतुभूतया अश्वत्थ-काष्ठरूपया घृताक्तया समिधाऽनया। ञिइन्धी दीप्तौ (१४४८) रौधादिक आत्मनेपदी। समिन्धे सम्यक् दीपयत्यग्निमिति समिध्। कर्तरि क्विप् प्रत्ययः। यद्वा समिध्यतेऽनयेति सम्पदादित्वात्। (पा. वा. ३, ३, ९४) करणे क्विप्। (अग्निम्) वह्निम् (दुवस्यत) परिचरत, सेवध्वम्। दुवस्यतिः परिचरणार्थः। (निघ. ३, ५, ५)

घृताक्तानां समिधां संप्रयोगेणाग्निं सम्पाद्य (घृतैः) पूर्णाहुतिसम्बन्धिनोभिर्घृतधाराभिः (अतिथिम्) अतिथिधर्मेणाऽभ्यर्चनीयम् अग्निं (अविद्यमाना तिथिर्यस्य तम् इति व्युत्पिपादयिषन्तोऽर्वाचीनाश्चिन्त्याः 'नञ्सुभ्याम् (पा. ६, २, १७२) इति नियमेनाद्युदात्तस्वराऽनुपपत्तेर् अन्तोदात्तत्वापत्तेश्च) (बोधयत) प्रज्वलयत। (अस्मिन्) प्रज्वलिते चाऽग्नौ (हव्या) हव्यानि देवेभ्योऽर्पयितव्यानि हवींषि ['शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा. ६, १, ७०)इति शेर्लोपः] (आ जुहोतन) सर्वतोभावेन समर्पयत। जुहुत इति प्राप्ते 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा. ७, १, ४५) इत्यनेन 'त' इत्यस्य तनप्' इत्यादेशः पित्त्वाद् गुणनिषेधकस्य ङित्वस्यादर्शनात् कृतगुणं जुहोतन इति रूपम् इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—

ब्रह्मोपदेशः—(समिधा) प्राणेन "प्राणा वै समिधः" (ऐ. २, ४,)। (अग्निम्) आत्माग्निम्, 'आत्मा वा अग्निः' (शत. ७, ३, १, २)। (दुवस्यत) परिचरत। घृतैः) इन्द्रियशक्तिभिः। यथा श्रुतिः–'पयः शीर्षंस्तत् प्राणम्' (शत. ६, ५, ४, १५)। (अतिथिम्) आतिथ्यकर्मणा पूजनीयम् आत्माग्निम् (बोधयत) प्रज्वलयत। (अस्मिन्)आत्माग्नौ (हव्या) मनोवृत्तीः। यथा श्रुतयः–"सोम एवान्नम् अग्निरन्नादः (शत. १४, ४, २, १३) 'यत्तन्मनः एष स चन्द्रमाः (शत. १०, ३, ३, ७) 'चन्द्रमा वै सोमो देवानामन्नम्'(शत. ११,१ ५, ३)। (आजुहोतन) सर्वतो जुहुतेति।

सात्वतास्तु—

कृष्णार्जुनसंवादात्मकोऽयं मन्त्रः। पार्थप्रोक्तवाक्यकलापव्यञ्जितशमदमादिसम्पत्त्या ब्रह्मविद्याधिकारमर्जुनस्य निश्चित्य भगवान् दीक्षादानाय, यथा छान्दोग्योपनिषदि सत्यभाषणादिना निश्चिताधिकारो हारिद्रुमतगौतमाचार्यः सत्यकामं जाबालं दीक्षाग्रहणाय समिदादिकमानेतुमादिदेश– 'तं होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहर, उप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः' इति। (छा. उप. ४, ४, ५)तथा आदिशति - समिधेतिः—

समिधा-समिदादिना,समिद्ग्रहणमुपहारोपलक्षणम् । अपि वा समिधा युक्तः समित्पाणिः समिदाद्युपहारहस्तः सन् 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु. उ ३, २, १२) इति श्रुतेः । दुवस्यत—परिचरत, दुवस्यतिरत्र परिचरणकर्मा । गुरुं मां पूजयतेत्यर्थः। एतेन विधिवत् गुरूपसत्तिः सूचिता । तदनन्तरं श्रीकृष्णशिष्यतामुपगतोऽर्जुन आचष्टे—अतिथिम्— निजपादपद्मातिथिम्, त्वां प्रपन्नमिति यावत् । घृतैः–तद्वत् स्निग्धैः मधुरवचोभिर्बोधयत—धर्मब्रह्मणोस्तत्त्वमवगमयत,मदीयं कर्त्तव्यमुपदिशतेति निष्कर्षः । अत एव 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वा प्रपन्नम्' (२, ७) इति गीतोक्तं सङ्गच्छते । अथवा पूर्व-वाक्य एव घृतैरिति सम्बद्ध्यते, विनापि चकारं समुच्चयः । समिदादिना घृतपक्वमोदकादि-भिश्चोपहारैर्मां प्रसादयत इति भावः ।

गीतासारं भगवानुपदिशति स्वशिष्यमर्जुनम्—अस्मिन्–मयि हव्या–हव्यानि दातव्यानि अर्पणीयानि सर्वाणि वस्तूनि आ-सर्वतोभावेन, जुहोतन–दत्त, अर्पयत, निष्कामकर्मयोगं सततमनुतिष्ठत । उक्तं हि गीतायाम्—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम् ।। (गी. ९, २७)

अत्र सर्वत्र बहुवचनमादरातिरेकसूचनाय । अथवा - दुवस्यत-दुवस्य, बोधयत - बोधय, जुहोतन--जुहुधि, इति वचनव्यत्यासो बोध्य इति ।

[1]सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन ।
अग्नये जातवेदसे । य. ३।२ ।

अग्निसंदीपनम्

ऋत्विक् - प्रेरणा

द्वितीयस्यां कण्डिकायां 'सुसमिद्धाय'' इत्येक एव मन्त्र ऋत्विक्प्रेरणः । अस्य वसुश्रुत ऋषिः, गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता (का. श्रौ. ४, ८, ५) ।

हे ऋत्विजः ! (सुसमिद्धाय) साधु सम्यक् प्रज्वलिताय । अतएव (शोचिषे) शोचिष्मते, कान्तिमते (जातवेदसे) सम्पन्नप्रज्ञानाय [जातवेदाः कस्मात्] जातानि वेद, जातानि वैनं विदुः, जाते जाते विद्यत इतिवा, जातवित्तो वा, जातधनो वा, जातविद्यो वा, जातप्रज्ञानो वा, यतज्जातः पशूनविन्दत इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्(निरु. ७,१९)]

१—ऋग्वेद—५, ५, १ ।

जातं वेदो ज्ञानं यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। यद्वा जातं वेत्ति वेदयतीति वोपपदसमासे उत्तरपदप्रकृतिस्वरबाधनार्थम् 'गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृरिस्वरत्वं च' (उ. ४।६६६) इत्यसुन् प्रत्ययः पूर्वपदप्रकृतिस्वरश्च (अग्नये) वह्नये (तीव्रम्) ग्रहणोद्वासनादिभिः संस्कारैः संस्कृतं (घृतम्) आज्यं (जुहोतन) जुहुत घृतेनाग्निसन्तर्पणं कुरुतेति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(सुसमिद्धाय) प्राणैः शोभनतया सम्यग् दीप्ताय (शोचिषे) दीप्तिमते (जातवेदसे) ज्ञातप्रज्ञानाय (अग्नये) आत्माग्नये (तीव्रम्) योगेन संस्कृतम् (घृतम्) ज्ञानेन्द्रियं (जुहोतन) जुहुतेति।

सात्वतास्तु सुसमिद्धायेति मन्त्रो नृसिंहाभ्यर्थनपरः –

दैत्ये हिरण्यकशिपौ निहते क्रोधातिरेकाद् भयङ्कराकृतिं भगवन्तं नृसिंहं प्रति सौम्य-वपुषो ग्रहणप्रार्थनाय महर्षयः सर्वान् लोकान् कथयन्ति भो उपस्थिताः भगवद्भक्ताः! 'सुसमिद्धाय' दैत्यदत्तदुःसह-विविध-प्रह्लादयातनादर्शनसमुत्पन्न-कोपाय, 'शोचिषे'=शोचिष्मते जगदन्तकृज्ज्वालाजटिलसंवर्तकप्रलयानलाय 'जातवेदसे'=सर्वज्ञाय अग्नये दैत्य-दावदहनाय नृसिंहाय तं प्रसादयितुम् इत्यर्थः 'तीव्रम्'=अतिमनोहरम्। 'घृतम्'=घृतवत् स्निग्धम् मधुरं वचः। 'जुहोतन'=प्रक्षिपत।

सर्वैः भवतैः प्रार्थनीयोऽयं भगवान्—प्रभो! 'हतो दुर्जनः, संरक्षितः प्रह्लादः, निष्पन्न देव समीहितम्, साम्प्रतं कृतमनेन भयङ्करेण विग्रहेण, अस्माकं हृदयं वेपते, त्वरितं परित्यजेमम्, अनुगृहाण, अतिकमनीयं स्वकीयं शान्तं वपुः धारय इति, इति।

तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य। शु. य. ३।३

अग्निसंदीपनं

तृतीयस्यां कण्डिकायां 'तं त्वा'[१] इत्येक एवाग्निसंदीपनो मन्त्रः। अस्य भारद्वाज ऋषिः, गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता। (शत. १, ४. २५-२६; का. श्रौ. ५, ८, ३)

(अङ्गिरः) हे अग्ने! 'इतरे येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्' इति ऐतरेयब्राह्मणम् (३, ३, ९), 'अङ्गिरा ह्यग्निः' (शत. १, ४, १, २५) इति श्रुतेः। अङ्गारा अङ्कनाः अञ्चनाः' इति यास्कः (निरु. ३, १७)।

'अङ्गारतोऽङ्गिराः' इति देवराजयज्वा (निघ. ५, ५, ११)। अगि गत्यर्थे (१४६)

भौवादिकः परस्मैपदी । अङ्गिर्गतिरस्यास्तीति मत्वर्थे रस् प्रत्यय इत्युव्वटमहीधरौ न पेशलौ । 'अङ्गेनेरसिरिरुडागमश्च' (३, ४, २३६) इत्यनेन अगिधातोर् असि प्रत्यये इरुडागमे गमनशील इत्यर्थे तत्सिद्धेः । (तं) तथागुणं (त्वा) त्वां (समिद्भिः) अश्वत्थकाष्ठैः (घृतेन) घृतधारया (वर्धयामसि) समेधयामहे । वर्धयामः इति स्थिते 'इदन्तो मसिः' (पा. ७, १, ४६) इति मसः इगागमे वर्धयामसि इति रूपम् । (यविष्ठ्य) युवतम ! सर्वदा तरुण ! अतिशयेन युवन् । इष्ठन्—प्रत्यये 'स्थूलदूरयुव' (पा. ६, ४, १५६) इत्यादिना यणादिपरलोपे, गुणावादेशयोः यविष्ठ इति, ततः स्वार्थे यत्प्रत्ययस्तद्धितः 'नवसूरमर्त-यविष्ठेभ्यो यत्' (पा. वा. ५, ४, २५) । (बृहत्) महत् प्रवृद्धो यथा स्यात्तथा (शोचा) शोच दीप्यस्व । शुच शोके (१८३) भौवादिकः परस्मैपदी । शोकेनाऽत्र दीप्तिर्लक्ष्यते । 'द्वयचोऽतस्तिङः' (पा. ६, ३, १३५) इति संहितायां दीर्घे शोचा इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—ब्रह्मणोपदिष्ट आत्मप्रतिबिम्बः प्रार्थयते– (अङ्गिरः) अङ्गानां रसः अथवा अङ्गी सन् रसस्तत्सम्बुद्धौ अङ्गिरः, आत्माग्निर्हि सर्वेषां देहादीनामात्मतया प्रधानभूतो रसश्च 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । हे आत्माग्ने ! (तं) तथाविधं (त्वा) त्वां (समिद्भिः) प्राणैः (घृतेन) इन्द्रियशक्तिभिः अथवा इन्द्रियरसरूपेणेन्द्रियसामर्थ्येन (वर्धयामसि) प्रवृद्धं कुर्मः । (यविष्ठ्य) हे युवतम ! योगसामर्थ्येन नित्यतरुणतम । त्वं (बृहत्) ब्रह्माण्डरूपः असि, अतः(शोचा)शोच – दीप्यस्वेति । अथवा बृहत् - भूमा('भूमा वै ब्रह्म' इति श्रुतेः)। अतः शोच- सर्वत्र दीप्यस्व प्रकाशितो भवेत्यर्थः ।

स्वपत्न्या कृतपरामर्शेन सन्दीपनिना गुरुदक्षिणारूपेण मृतं स्वपुत्रमानेतुमादिष्टो भगवान् कृष्णः संयमनीं पुरीमागच्छत् । कृताभ्यर्चनं यमं भगवान् ऊचे— दण्डपाणे ! त्वन्नगरे मम गुरुपुत्रो वर्तते सपदि प्रत्यावर्तनीयः । तं गुरुदक्षिणात्मना गुरवे निवेद्य गुरोर्निदेशाद् यदूनां राजधानीं मधुपुरीं गन्तुमना अहमस्मि । शिरो निधाय भगवद्-निदेशं, तं मृतं गुरुपुत्रं यमः सहर्षं भगवते ददौ । भोगायतनं स्थूलं मनुष्यशरीरमन्तरा केवलेन लिङ्गशरीरेण भूमिमागन्तुम् अक्षमाय तस्य मृतगुरुपुत्रस्य जीवात्मनेः स्थूलं शरीरं मानवभोगोचितं प्रयच्छन् ब्रूते, 'तन्त्वेति' ।

अङ्गिरः-गतिमन् ! इतो मया सार्धं भूमिं गन्तुमुत्सुक ! हे मृतगुरुपुत्रजीवात्मन् ! 'तम्' समुद्रे निमग्नं त्यक्त-स्थूलशरीरं यमालयमागतं त्वा=त्वां 'समिद्भिः' प्राणैः "प्राणा वै समिधः" इति श्रुतेः; प्राणः कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षकः । 'घृतेन' प्रकाशेन तद्धर्मकेण अन्तः-करणेन मनोबुद्धिलक्षणेन ज्ञानेन्द्रिय-सहितेन च सप्तदश-तत्त्वात्मकलिङ्गशरीरेण लक्षणया

१—ऋग्वेद—६, १६, ११ । सामवेद—१, ६६१ । तै. स.—२, ५, ८, १ । तै. ब्रा. १, २, १, १०; ३, ५, २, १ ।

तदधिष्ठानं यत् भोगार्हं स्थूलं शरीरं तेनेतियावत् । 'वर्धयामसि' वर्धयामः । 'घृ' क्षरण-दीप्त्योः 'जुहोत्यादिः; परस्मैपदी, ततः भावे क्तप्रत्ययः ।

भोगाक्षमाय जीवाय भोगायतनस्थूलशरीरप्रदानमेव अत्र वर्धनम् । 'यविष्ठ्या' युवतम ! अतितरुणगुरुतनयजीवात्मन् ! बृहत् यथा स्यात् तथा 'शोचा' शोच अतिशयेन दीप्यस्व । मत्संकल्पनिर्मितनितान्तसुन्दराभिनवकलेवरलाभादिति भावः, शोकवचनोऽपि शुचिरत्र दीप्त्यर्थः इति सात्वताः ।

अर्वाचीनास्तु—

अतिशयेन युवानं स्वाश्रमागतं ब्रह्मचारिणं शिष्यं गुरुर्ब्रूते—'तन्त्वा' इति । अङ्गिरः ! गतिशील मम शिष्य ! समुन्नतिं कामयमान 'यविष्ठ्य' युवतम ! 'तम्' आगमनस्वेच्छा-निवेदनाभ्यां प्रख्यातम्, 'त्वा' त्वां 'समिद्भिः' समीचीनाभिर्विद्याभिः, 'घृतेन' दीप्त्या तेजसा च 'वर्धयामसि' वर्धयाम इति ।

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
जुषस्व समिधो मम । (शु. य. ३।४)

चतुर्थ्यां कण्डिकायां 'उप त्वाग्ने' इत्येक एव मन्त्रो जपार्थः । अस्य प्रजापतिर्ऋषिः गायत्रीछन्दः अग्निर्देवता । (का श्रौ. ४, ८. ४)

अथाध्वर्युर्जपति (अग्ने) (हर्यत) अस्मदायियज्ञसिद्धिमिच्छो ! अथवा हविःकामुक ! हर्यतिः कान्तिकर्मा (निघ. २, ६, १०) । हर्य गतिकान्त्योः(५१४) भौवादिकः परस्मैपदी (त्वा) त्वाम् (हविष्मतीः) हव्यसम्पन्नाः 'हविष्मत्यः इति वक्तव्ये' 'वा छन्दसि' (पा. ६, १, १०६) इति पूर्वसवर्णदीर्घः । (घृताचीः) घृतमञ्चन्ति प्राप्नुवन्ति ताः घृताक्ताः इमाः समिधः (उपयन्तु) उपगच्छन्तु-प्राप्नुवन्तु इत्यर्थः । 'व्यवहिताश्च' (पा. १, ४, ८२) इति सूत्रेण व्यवहितयोरप्युपसर्गक्रिययोर्वेदे प्रयोगाद् व्यवहितस्यापि 'उप' इत्युपसर्गस्य 'यन्तु' इति क्रिययाऽन्वयः । त्वं (मम) मदर्पितानि (समिधः) इमानि यज्ञियकाष्ठानि (जुषस्व) सेवस्व, अङ्गीकुरुष्वेति भावः । जुषी प्रीतिसेवनयोः (१२८९) तौदादिकः आत्मनेपदी । पादादित्वाद् अतिङः परत्वाभावात् न 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८,१, २८) इति तिङोऽनुदात्तत्वम् । 'तास्यनु-दात्तेद्' (पा. ६, १, १८६)इत्यनेन लोटः स्थाने जातस्य लसार्वधातुकस्य मध्यमपुरुषैकवचने 'स्व' इत्यस्यानुदत्तत्वे सतिशिष्टस्वरस्य प्राधान्यात् विकरणस्वरेण 'जुषस्व' इति मध्योदात्तं क्रियापदम् – इति देवयाजिनः ।

प्रथमे समिदाधानाऽनुवाके मन्त्रस्वरूपाश्चतस्र एव कण्डिकाः । तासु यथाक्रमं—१–समिदाधानम् २–ऋत्विक्प्रेरणम् ३–अग्निसंदीपनम् ४–जप इति चतस्रः क्रिया

व्यख्याताः। कण्डिकासंख्या ४ (तासां आद्यास् तिस्रः ऋचः एव उपलब्ध-ऋग्वेदसंहितायां पठिताः)।

आत्मयाजिनस्तु— (अग्ने) हे आत्माग्ने ! (हविष्मतीः) हविष्मन्तः मनोवृत्तियुक्ताः (घृताचीः) घृताच्यः ज्ञानेन्द्रियसत्वयुक्ताः प्राणाः (त्वा) त्वाम् (उपयन्तु) प्रत्युपगच्छन्तु। (हर्यत)हः चन्द्रः र् अग्निः तयोर् योक्तृयोग्ययोः यः योगेन त अमृतस्वरूप ! हे आत्माग्ने! 'सोम एवाऽन्नमग्निरन्नादः (शत. १४, ४, २, १३)। (मम) मदीयान् (समिधः) प्राणान् (जुषस्व) सेवस्व। त्वामुपयतोऽङ्गीकुर्वित्यर्थः)।

भगवता समानीतं प्रदीप्तकायं स्वपुत्रं भगवता सह स्वचरणयोः प्रणिपातं कुर्वाणं दर्शं दर्शं सञ्जातप्रसादः सन्दीपनिर्भगवन्तमाशास्ते 'उप त्वेति'। अग्ने ! = अतितेजस्विन् ! जगत्त्रासकस्य कृतान्तस्यापि विजेतः ! अद्यावधि केनापि न कश्चिद् यमालयात् प्रत्यावर्तितः, त्वञ्च स्वतेजसा तं पराजित्य ममात्मजं समानीतवान् इति तवाऽतितेजस्वित्वे को विप्रतिपद्येतेति भावः। 'हर्यत'=उत्तरोत्तरां प्रगतिमासादयन्! कमनीय ! वा, सौन्दर्यातिरेकेण समस्तचित्ताकर्षकत्वात्। 'हविष्मतीः' हविष्मत्यः प्रशस्तहविर्दानादिवैदिककृत्योपदेशयुक्ताः दर्शपौर्णमासाग्निचयनादिकर्मप्रधानाः विद्याः न केवलं एतावदेव किन्तु 'घृताचीः' घृताच्यः घृतं प्रकाशः आत्मदर्शनं तदवता आत्मविद्या मम मदीयाः समिधः समीचीनाः 'त्वा' त्वाम् उपयन्तु उपगच्छन्तु। मयि स्थितं कृत्स्नकर्मोपासनाज्ञानप्रधानं शास्त्रीयं गूढतत्वज्ञानं ममादेशवशंवदे त्वयि योग्ये शिष्ये संक्रान्तं भवतु इति अभिप्रायः। अपि च लब्धविद्यस्त्वं गुरुकुलात् स्नातको भूत्वा स्वगृहं गत्वा कृतदारपरिग्रहः विविधान् भोगान् जुषस्व=सेवस्व, अन्ते अपवर्गञ्च। इति सात्वताः।

गुरुशिष्यसंवादपरोऽयं पूर्ववत् इत्यर्वाचीनाः। तत्पक्षे अग्ने ! तेजस्विन् मम शिष्य ! हविष्मतीः=हविष्मत्यः हूयते दीयते इति हविः, गुरुणा शिष्याय दीयमानं ज्ञानं तत्प्रधानाः, 'घृताचीः' घृताच्यः घृतेन प्रकाशेन अञ्चिताः पूजिताः रात्र्यः उपलक्षणमेतद् दिवसानामपि, उपयन्तु उपगच्छन्तु 'त्वा' त्वां शिष्यं,प्रत्यहं प्रतिरात्रि चं त्वम् अध्ययनशीलो भव इत्याचार्यो ब्रूते। मम समिधः तेजांसि 'जुषस्व' सेवस्व, मयि गुरौ स्थितं तेजः त्वयि संक्रामतु इति योजना।

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा। तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे। (शु. य. ३।५)

२—अग्न्याधानाऽनुवाकः

१–३ अग्न्याधानम् ४ इध्मालम्भनम्

अस्यां पञ्चम्यां कण्डिकायां चत्वारो मन्त्राः। 'भूः' इति प्रथमा व्यहृतिर् एको मन्त्रः।

भुवः' इति द्वितीया व्याहृतिः एको मन्त्रः। 'स्वः' इति तृतीया व्याहृतिर् एको मन्त्रः। इमे त्रयो मन्त्रा गार्हपत्याहवनीययोर्द्वयोरग्न्योराधानार्थाः। तत्र 'भूः' इत्यस्य दैवी गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता। 'भुवः' इत्यस्य दैव्युष्णिक् छन्दो वायुर्देवता। 'स्वः' इत्यस्य दैवी गायत्री छन्दः, सूर्यो देवना। 'द्यौः' इति चतुर्थो मन्त्र इध्मालम्भनः। अस्य याजुषी गायत्री छन्दः लिङ्गोक्ता देवता। सर्वेषां प्राजापत्यः ऋषिः (शत. २, १, ४, २८, का. श्रौ. ४, ९, १, १५)।

यजमानः अग्न्याधानयोग्यान् आपः, हिरण्यम्, ऊषा, आखूत्करः (मूषिकोत्कीर्णा मृत्तिका) शर्करा इति पञ्च संभारान् सम्पाद्य, अपेक्षितभूसंस्कारानन्तरं स्फ्येन भूमिमुल्लिख्य पवि-त्रायां भूमौ संभारान् सर्वान् संस्थाप्य तेषु अरणिसमुत्पन्नं ज्वलद्भिः काष्ठैरतिप्रदीप्तम् अग्निम् 'भूर्भुवः स्वः' इति त्रिभिर् व्याहृतिमन्त्रैरादधीत। इति गार्हपत्याधानम्। इध्ममूलं गार्हपत्ये प्रताप्य तेनेध्मेनाहवनीयस्योद्धरणं कृत्वा एवमेवाहवनीयाधानमपि कुर्यात्। अत्र 'भूर्भुवः स्वः' इति तिस्रो व्याहृतयोऽनेकार्थाः।

प्रजापतिर् 'भूः' इति व्याहृत्या भूमिलोकं, 'भुवः' इति व्याहृत्याऽन्तरिक्षलोकं, 'स्वः' इति व्याहृत्या द्युलोकमिति त्रीनेव लोकान् तिसृभिर् व्याहृतिभिः ससृजे, इत्यग्न्याधानकाले समुच्चार्यमाणासु व्याहृतिषु त्रिलोकीं स्मरेत्। व्याहृतित्रयेण ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्त्रयो वर्णाः आत्मप्रजापशवो वा त्रयोऽप्यभिधीयन्ते। तस्माद् अग्न्याधानकाल एकैकव्याहृतिसमुच्चारणेन यथायथं त्रयाणां वर्णानां त्रयाणाम् आत्मप्रजापशूनां वा भावनां कुर्यात्। अनेनाग्न्याधानेनाहं त्रिलोकाधिपतिः, त्रिषु वर्णेषु संमानितः, आत्मादिसर्वेष्टपदार्थेषु चानायासलाभो भूयासमिति।

आहवनीयस्य पूर्वत आगत्य यजमानस् तदनन्तरं इध्मस्य पूर्वार्धं गृहीत्वा 'द्यौः' इति चतुर्थं मन्त्रं पठति—अहं यजमानः (भूम्ना) असंख्यग्रहनक्षत्रतारकादिबाहुल्येन, बहोर्भाव इत्यर्थे 'पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा' (पा. ५, १, १२२) इत्यनेन इमनिचि प्रत्यये 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (पा. ६, ४, १५८) इत्यनेन बहुशब्दस्य भूभावे प्रत्ययादेर् इकारस्य च लोपे तृतीयैकवचने भूम्नेति। (द्यौः इव) द्युलोक इवापरिमितपुत्रपौत्रादिसंतानो भूयासम्। (वरिम्णा) अतिशयविस्तारेण। उरोर्भाव. वरिमा तेन। पूर्ववत् इमनिचि प्रत्यये 'प्रिय-स्थिरस्फिरोरु' (पा. ६, ४, १५१) इत्यनेन उरुशब्दस्य 'वर्' इत्यादेशे रूपम् (पृथिवी इव) भूमिरिव प्रपन्नमात्रस्य शरणं भूयासम्। यद्वाऽऽहितोऽग्निरेव प्रार्थ्यते—हे अग्ने! त्वं (भूम्ना) ज्वालाबाहुल्येन (द्यौरिव) प्रकाशसे (वरिम्णा) प्रकाशविस्तारेण च (पृथिवीव) सर्वं जगद् दीपयसे। एवंभूतं त्वाम् अग्निम्। कीदृशं अग्निम्? (अन्नादम्) हुताशनं हुतस्य चरुपुरो-डाशादेर् अन्नस्य अत्तारं भक्षयितारं गार्हपत्यादिरूपम्। अन्नमत्तीति विग्रहे उपपदसमासे

'कर्मण्यण्' इति कर्तर्यण्प्रत्यये प्राप्ते व्यत्ययेन पचादित्वात् (पा. ३, १, १३४) अच् प्रत्ययः। अतएव अन्नऽअदम् इति पदपाठोपलम्भः। अणि प्रत्यये तु 'अन्न-आदम्'—इति पदपाठोऽभविष्यत्। (देवयजनि) देवा इन्द्रादय इज्यन्ते पूज्यन्ते यस्यां पृथिव्यां सा देव - यजनी। अधिकरणे ल्युटि टित्त्वात् 'टिड्ढाणञ्'(पा. ४, १, १५) इत्यादिना स्त्रियां ङीपि प्रत्यये रूपम्। तत्सम्बोधनम्। (पृथिवि) भूमे ! यस्यास्तवोपर्यग्निमाधाय सम्पन्नयज्ञो भविष्यामि (तस्याः) तत्स्वरूपायाः (ते) तव (पृष्ठे) पृष्ठदेशोपरि (अन्नाद्याय) अन्नभक्ष - णाय, यज्ञादिजन्यवृष्टिद्वारा भक्षणीयाऽन्नलाभाय। अन्नस्य अद्यं भक्षणम्। अत्तेः क्यपि उत्तरपदप्रकृतिस्वरेण 'अन्न-अद्याय' इति पदपाठे मध्यस्थोऽकार उदात्तः। अन्नं च तद् अद्यं च तस्मै इति कर्मधारयसमासेन पक्षान्तरं साधयन् महीधरः स्वरदोषाद् अमान्यः। (आदधे) स्थापयामीति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—या त्वं (भूम्ना) ज्योतिर्बाहुल्येन (द्यौरिव) स्वर्गतुल्या (वरिम्णा) उरुत्वेन (पृथिवीव) तथा (भूः भुवः स्वः) इति त्रैलोक्यरूपासि। (हे देवयजनि) देवो विष्णुरिज्यते यस्यां सा (पृथिवि) हार्दभूमे ! (तस्याः) ते (पृष्ठे) उपरि (अन्नादम्) हुतस्यात्तारम् (अग्निम्) आत्माग्निम् (अन्नाद्याय) प्राणेन्द्रियरूपस्याऽन्नस्याऽद्याय भक्षणाय प्रत्याहारद्वारा प्राणानां त्वयि योजनाय वशीकरणाय वा (आदधे) ध्यानेन स्थापयामीति।

स्वसुते नरकासुरे निहते स्वपौत्रस्य भगदत्तस्य अनिष्टमाशङ्कमाना त्रस्तहृदया पृथिवी भगवन्तं कृष्णं स्तौति 'भूरिति'। भूरादीनि त्रीणि सम्बोधनपदानि, भवतेः कर्तरि क्विपि भवतीति 'भूः' सन् सत्यः, भातीति 'भुवः' भातेर्डुवसि पृषोदरादित्वात् साधुः। स्वप्रकाशचिदात्मन्! सुष्ठु शोभनकर्मानुष्ठानेन अर्यते गम्यते इति 'स्वः' सुखमानन्दः, निरतिशयानन्दात्मन् ! सच्चिदानन्दविग्रह! भगवन्! अनुगृहाणेति शेषः। त्वं 'द्यौरिव' आकाशवत् 'भूम्ना' बहुत्वेनोपेतः।

किञ्च 'पृथिवीव' वसुधेव 'वरिम्णा' महत्त्वेन युक्तोऽसि। सहिष्णुः बहुपरिवारो विशालहृदयश्च त्वमस्माकम् अपराधं क्षमितुमर्हसि इत्यभिप्रायः। तामाश्वासयति 'पृथिवीति'। 'देवयजनि' ! देवा इज्यन्ते यत्र तादृशि देवानुग्राहिके! यागार्हप्रदेशप्रदानेन, अत एव देवप्रिये पृथिवि ! भूमे ! देवयजनीतिसम्बोधनेन 'त्वत्सुतेन मातुरनुहर्त्रा देवानुग्राहकेण देवप्रियेण भवितव्यम्। दूरे तावद् आस्तां देवानुग्रहः,अयन्तु विश्ववन्द्याया देवराजमातुः कुण्डले,भुवि च भूयसां भूभुजां कुमारिकाः अपजहारेति देवमनुष्यनारीतिरस्कर्ता अक्षम्यापराधः कथन्न हिंसनीयः। सुभगे ! त्वमेव कथयेति सूचितम्। एष भगदत्तः तव पौत्रः तवेव ममापि अनुग्राह्यः, कुमारत्वात्। अधुनैव एनं पूर्वज-परम्पराप्राप्ते राज्येऽभिषिञ्चामि, सुस्था भवतु तत्र भवती, न भेतव्यमित्याह-'तस्याः' इति यथाभूताया 'ते' तव अनुरोधात् पृष्ठे पृष्ठ-

वदुन्नते राजसिंहासने 'अग्निम्' तद्वत्तेजस्विनं भगदत्तं 'अन्नादम्' अन्नं पृथिवी तस्य भोक्तारं भूभुजं राजानं 'अन्नाद्याय' चिरं विविधराज्यवैभवोपभोगाय 'आदधे' स्थापयामि। यथाविधि राज्याभिषेकेण अस्य जनपदस्य स्वामिनं शासकं करोमि इत्यर्थः। (एषा कथा भाग० स्कन्ध १०, अ० ५६, पञ्चविंशादिषु पद्येषु द्रष्टव्या)

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ (शु. य. ३।६)

'आहवनीयाग्न्युपस्थानम्'

षष्ठी सप्तमी अष्टमी इति तिस्रः कण्डिकास् तिस्र ऋचः सार्पराज्ञीसंज्ञाः। तासां सर्पराज्ञी पृथिव्यभिमानिनो कद्रूः ऋषिः गायत्रीछन्दस्कत्वाद् गायत्रस्तृचः, अग्निर्देवता आहवनीयाग्न्युपस्थाने विनियोगः (शत. २, १, ४, २९। का. श्रौ. ४, ९, १६)।

यजमान आहवनीयाग्निम् अनेन सर्पराज्ञीदृष्टेन तृचेनोपतिष्ठते, ततो दक्षिणाग्निमादधाति च[1] (अयम्) समक्षे स्थित आहवनीयाग्निः (गौः) यजमानगृहान् गन्ता। गम्लृ गतौ (९८२) भौवादिकः परस्मैपदी 'गमेर्डोः' (पा. ३, २, ६९) एवं (पृश्निः) रक्तशुक्लादिविविधवर्णज्वालाभिश्चित्रवर्णः।(आ अक्रमीत्)सर्वतस्त्रिविधाग्निभेदेन क्रान्तवान्। 'व्यवहिताश्च' (पा. १, ४. ८३) इति व्यवहितेन उपसर्गेण क्रियायाः संबन्धः। क्रमणमेव विशिनष्टि (पुरा) प्राच्यां दिशि (मातरम्) पृथिवीम् (असदत्) आहवनीयात्मना स्थितवान्, 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' (८५४) भौवादिकः परस्मैपदी। धातोर् लृदित्वाल्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने 'पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु' (पा. ३, १, ५५) इति च्लेरङ्, पादादित्वात् अतिङ्परत्वाभावात् 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८, १, २८) इति निघातप्रसक्तिर्न भवति। अडागमस्योदात्तत्वात् (पा. ६, ४ ७१) आद्युदात्तत्वम्। (स्वः) स्वर् इत्यादित्यनाम (निघ. १, ४; निरु. २, १४)। सूर्यरूपेण (प्रयन्) स्वर्गे गच्छन् (पितरं) द्युलोकं (च) (असदत्) असीदत् इति संबध्यते। अयम् आहवनीयाग्निः पृथिवीं मातरं स्वात्मना पितरं द्युलोकं च सूर्यात्मनोपतिष्ठते। अतएवाऽयं सर्वत्र आ अक्रमीदिति योजनेति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(अयं गौः) नाभिहृदयभृकुट्यादिकमलेषु गन्ता। गच्छतीति गौः। अथवा ग् शिवः अः विष्णुः औ ब्रह्मा, नाभिहृदयभृकुटिकमलेषु त्रिदेवरूपधारकः (पृश्निः) अतएव शुक्लश्यामलोहितवर्णधारकः आत्माग्निः (आ) सर्वतः (अक्रमीत्) कमलेषु गतवान्

१— ऋग्वेद १०, १८९, १। साम. १, ६३०; २, १३७६। अथर्व. ६, ३१, १; २०, ४८, ४। तै. सं. १, ५, ३, १।

(पुरः) प्राच्यां दिशि (मातरं) नाभिचक्रम् (असदत्) असीदत् (च) (स्वः) सूर्यः शिवरूपः (प्रयन्) सञ्चरन् (पितरं) भृकुटिरूपं द्युलोकं प्राप्तवान् इति ।

अयं पुरस्तद् वर्तमानः 'गौः' वृषभः कंसप्रेषितः कपटबलीवर्दरूपभृद्वृषभासुरः अरिष्टनामधेयः, 'पृश्निः' विचित्रवर्णः नीलवृषवद्विभिन्नाङ्गेषु विविधरूपोपेतः 'लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः। श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते' इति वचनात् ।'आ' अक्रमीत् आक्रान्तवान् श्रीकृष्णमभिगतवान् । पुरः ततः पूर्वं 'मातरं' भगवतो मातृभूमिं व्रजम् असदत्, 'आ' इत्यनुषङ्गः आजगाम आगतवान् । किं कुर्वन् ? निशितशृङ्गः भीषणाकृतिः व्रजवासिनो जनान् त्रासयन् उग्रं शब्दायमानः खुरैः भुवमाघ्नन् खुरशृङ्गोत्खातरजःपुञ्जप्रक्षेपेण 'स्वः'-पितरं स्वर्गाख्यं द्युलोकं प्रयन् व्याप्नुवन् । भगवता असौ दुर्वृत्तः शृङ्गे गृहीत्वा भुवि पातितो गतासुर्बभूव । क्रोधातिरेकेण तदीयेन भगवता उत्खातशृङ्गेण मृतोऽपि भृशं ताडितश्च । कथैषा (भाग. १० स्कन्ध, अ. ३६) द्रष्टव्या ।

अर्वाचीनास्तु 'गौः' सर्वत्र गन्ता सर्वव्यापकः परमात्मा, 'पृश्निः' तेजोमयः 'पृश्निः' संस्पृष्टो भासेति, इति निरुक्तम् (२।१४) । पुरः त्रीन् लोकान् 'आ' अक्रमीत् क्रान्त्वा स्थितः, तत्रैव विवृणोति 'स्वः' आदित्य-लोकं स्वरादित्यो भवति इति निर्वचनात् (नि. २। १४) 'प्रयन्' व्याप्नुवन् मातरम् अन्तरिक्षमसदत् गतवान् । अन्तरिक्षशब्देन सर्वेषाम् ऊर्ध्वलोकानां संग्रहः । 'पितरं' 'च' 'भूलोकं', चकारेणाधोलोकसमुच्चयः । असददित्यनुषङ्गः, अनेन भगवतस्सर्वव्यापकत्वं साधितमिति । इति सात्वताः ।

अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती
व्यख्यन् महिषो दिवम् ।। (शु. म. ३।७)

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

षष्ठ्यां कण्डिकायाम् आहवनीयाग्नेः सूर्यस्वरूपत्वं दर्शितम् । अस्यां सप्तम्यां तस्य वायुरूपत्वं स्तौति[1] (अस्य) आहवनीयाग्नेः (रोचना) दीप्तिः वायुरूपा शक्तिः । 'रुच दीप्तौ' (७४५) भौवादिकः आत्मनेपदी । 'रोचयतेर्भावे युच् प्रत्ययः' (पा. ३, ३, १०७) चित्त्वादन्तोदात्तश्च । (प्राणात्) प्राणिमात्रस्य शरीरेषु प्राणनात् श्वासक्रियाया अनन्तरम् (अपानती) अपानव्यापारं विदधती निश्वासक्रियां सञ्चारयन्ती । प्राणाऽपानसमायुक्तो हि जठराग्निर्वैश्वानरो भुक्तं पचति । उक्तमपि भगवता—

'प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' । (गीता. १५।१४) इति

१—ऋग्वेद १०, १८९, २ । साम. २, १३७७ । अथ ६, ३१, २; २०, ४८, ५ । तै. सं. १, ५, ३,१ ।

एवमेवाऽपानात् प्राणतीत्यर्थलभ्योऽर्थः। 'अन प्राणने'(१०७०)आदादिकः परस्मैपदी। अपपूर्वकाद् अनितेः शत्रन्तम् अन्तोदातं पदम्। ततः 'उगितश्च' (पा. ४, १, ६) इति स्त्रियां ङीपि 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा. ६, १, १७३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। (अन्तः) द्यावापृथिव्योर्वा शरीरस्य वा मध्ये (चरति) संचरति। 'अन्तरिक्षेऽयं तिर्यङ् वायुः पवते' इति शतपथश्रुतेः। एवं सूर्यवातात्मना प्राणिमात्रं जीवयन्नयमग्निः स्वमुपतिष्ठमानस्यापि महदुपकरोति — तदाह — (महिषः) महान् 'अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्' इति शतपथश्रुतेः। अथवा महि महत् यज्ञफलं सनोति ददातीति महिषः अग्निर् उपस्थायुकस्य कृते (दिवम्) द्युलोकम्. पुण्योपभोगार्थं स्वर्गद्वारं (व्यख्यत्) विशेषेण प्रकाशयति। समुद्घारयतीति यावत्। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि, अयं दर्शनेऽपि (१०१७) आदादिक आत्मनेपदी। विपूर्वकश्चष्टिः प्रकाशनार्थः, लेडर्थे लुङि प्रथमपुरुषैकवचने 'चक्षिङः ख्याञ्' (पा. २, ४, ५४) इति ख्याञादेशे 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (पा. ३, १, ५२) इति च्लेरङि रूपम्। विपूर्वकात् ख्या प्रकथने धातोः व्यख्यत् इति रूपं सिषाधयिषन् महीधरोऽप्रसन्नतर्कः। आदादिकस्य तस्य धातोः सार्वधातुकमात्रविषयत्वाद् आर्धधातुके तदप्रयोगादिति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु– यदा (अस्य) आत्माग्नेः (रोचना) प्राणशक्तिः (प्राणात् अपानती) मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयन्ती, पुनर्मुखनासिकाभ्यामन्तरा कृषन्ती (अन्तः) शरीरमध्ये (चरति) गच्छति, तदा (महिषः) प्राणः 'प्राणा वै महिषाः' (शत. ६, ७, ४, ५), (दिवं) भ्रूकुटि गगनमण्डलं वा (व्यख्यत्) विशेषेण प्रकाशितवान् प्रकाशयति चेति।

सात्वतपक्षे वृन्दावनतो रथेन रामकृष्णौ मधुपुरीं नयन् अक्रूरः रथे उपवेश्य तौ, तयोर्निदेशात् यमुनायां स्नातुं जगाम। तत्र बलरामसहितंश्रीकृष्णस्य दिव्यं विग्रहम् अपश्यत्। विस्मयं च लेभे। तत्र मध्येजलं भगवतो दुर्निरीक्ष्यता (गी. ११।१२) श्लोके प्रतिपादिता। अभूतपूर्वा युगपदुत्थितसूर्यसहस्रभासोपमिता कान्तिः पार्थेनाऽनुभूता विजृम्भमाणस्य भगवतो मुखे यशोदया जनन्या च दृष्टा। 'रोचना' दीप्तिः अस्य भगवतः अन्तः कालिन्दी-वारि मध्ये चरति प्रसरति तां विशिनष्टि। प्राणादपानती=उपलक्षणमेतद् अपानात् प्राणती च प्रणिमात्रस्य प्राणापानव्यापारौ कारयन्ती इति महीधरः। प्राणः प्रकृष्टजीवन समुन्नमनमूर्ध्वगतिः, अपानोऽपकृष्टजीवनमधोगतिः। तथा च समुन्नतेरनन्तरम् अवनमयन्ती उत्कृष्टान् राज्ञः, क्षणादिव निकृष्टान् भिक्षुकान् विदधाना। क्षणमात्रेणावनतेरन्तरं समुन्नमयन्ती क्षणमात्रेण निकृष्टान् भिक्षुकांश्च लोकोत्तरवैभवसम्पन्नान् कुर्वाणा। अन्तर्ब्रह्माण्डमध्ये या वर्तते सा रोचनेति सम्बन्धः। लोकानामुत्कर्षाऽपकर्षौ यदधीनौ सा भगवद्दीप्तिरक्रूरेण दृष्टेतिभावः। कदा, यदा महिषः (निघण्टु ३, ३, ८) श्रीकृष्णः 'मह पूजायाम्' (भ्वा.

परस्मैपदी ७३०), तस्मात् 'अविमह्योष्टिषच्' (उ. १।४५) टिषच् प्रत्ययः, महतेः क्विपि सप्तम्येवचने महीत्युपपदे सदेः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति (३, २, १०१) डः, तत्पुरुषेकृति (६, ३, १४) सप्तम्या अलुकि महि महति स्थाने सीदति इति महिषः इति देवराजः। महि-महत्त्वं सनोति ददाति इति महिष इति महीधरः। 'व्यख्यत्' दर्शनकर्मणः चक्षेः अन्तर्भा-वितण्यर्थस्य लुङि 'रूपं' विशेषेण दर्शयाभास इति तदर्थः। दिवं दिव्यम् अद्भुतं स्वकीयं विश्वरूपम्। अपि वा भगवत्पितृव्यो महिषो महानक्रूरः दिवं भगवतो दिव्यं रूपं व्यख्यत् विस्पष्टं दृष्टवान्। अलं णिजर्थान्तर्भावेन (कथैषा भाग० १० स्कन्धे ३९ अध्यायेऽनुसन्धेया सप्तत्रिंशदादि श्लोकेषु।

अर्वाचीनास्तु अस्य भगवतः प्राणापानव्यापारो कारयन्ती दीप्तिः अनन्तब्रह्माण्डमध्ये चरति गच्छति प्रसरति यद्दीप्त्यधीनो जगतः प्राणापानव्यापारो, स महिषः महान् भगवान् दिवं मोदं व्यख्यत् प्रकाशयति अनुभावयति। मोदार्थकस्य दीव्यते रूपमिति। इति सात्वताः।

त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते।
प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥ (शु, म. ३।८)

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अयम् आहवनीयाग्निस्[1] (त्रिंशत्) त्रिंशत्संख्याकेषु (धाम) धामसु स्थानेषु । उभयत्र 'सुपां सुलुक्' (७, १, १९) इत्यादिना विभक्तेर्लुक्। 'धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति' (निरु. ९, २८) प्रकृते धामशब्देन स्थानमभिप्रेतं, तच्च स्थानं मुहूर्ता-ख्यम्। मुहूर्ताश्च त्रिंशद् अहोरात्रे। त्रिंशत्संख्याकेष्वेव मुहूर्तेषु याजकैः स्तूयमाना (वाक्) स्तुतिलक्षणा (विराजति) शोभते दीप्यत इति यावत्। राजृ दीप्तौ (८२२) भौवादिक उभयपदी। स्तुतिलक्षणा यज्ञे प्रकाशते सा वाक् यदा (पतङ्गाय) पतन् गच्छति पतङ्गः 'अन्यत्रापि दृश्यत इति वक्तव्यम्' (पा. वा. ३, २, ४८) इति गमेर्डः प्रत्ययः। आहवनीया-ग्नये। अरणिभ्यां पतन् अग्निः प्राग् गार्हपत्यभावं गच्छति, ततः पतन् आहवनीयत्वम् आपन्न आहवनीयाग्निः पतङ्गः तस्मै (धीयते) क्रियते उच्चार्यते इति भावः। स्तोतृभिर् आहवनी-याग्निं स्तोतुं यदा स्तुतिलक्षणा वाक् प्रयुज्यते तदैव सा शोभते नान्यथेति तदाशयः। अथवा पतङ्गः पक्षी। पक्षिसदृशोऽयमग्निर्गार्हपत्यस्थानादाहवनीयस्थानं प्रपद्यते तस्मै वाग् धीयत इति सम्बन्धः। (अह) इति निपातो विनिग्रहार्थीयः (निरु. १, ४)। पूर्वोक्तस्यान्यथा

१—ऋग्वेद १०, १८९, ३। साम. १, ६३२, २, १३७८। अथर्व. ६, ३१, ३; २०, ४८, ६। तै. सं. १, ५, ३, १।

विनिग्रहः । न केवलं त्रिंशद् धामसु विराजमानया वाचा पतङ्गस्य वैशिष्ट्यं अपितु (वस्तोः) वस्तोरिति अहर्नाम (निघ. १, ६), 'वस आच्छादने (१०२३) आदादिकः आत्मनेपदी । वस्ते दीप्त्या आच्छादयति, बाहुलकात् तोसुन् प्रत्यय इति देवराजयज्वा ।(प्रति) प्रतिलक्ष्य । प्रतिदिनमिति यावत् (द्युभिः) प्रकाशैः । देवनं द्यौः प्रकाशः, स्वयंप्रकाशोऽग्निर्यागपरायणाद्यनेकविधैर् उत्सवैश्च प्रकाशते।अथवा यागपरायणादिलक्षणैरुत्सवैरपि स्तोतॄणां स्तुतिलक्षणा वाग् विराजति, अतएव राजमाना वाक् यथास्थानं भ्राजमानेऽग्नौ निधीयत इति देवयाजिनः ।

अथ प्रसङ्गाद् अग्नेः सर्वात्मकत्वं निरूप्यते । तद् यथा—

लौकिकः पावको[१] ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः ।
अग्निस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने प्रकीर्तितः ॥१॥
पुंसवे चमसो[३] नाम शोभनः[४] शुभकर्मसु । (शुङ्गकर्मणि इति रघुः) ।
सीमन्ते ह्यनलो[५] नाम प्रगल्मो[६] जातकर्मणि ॥२॥
पार्थिवो[७] नामकरणे प्राशनेऽन्नस्य वै शूचिः[८] ।
सभ्यनामा[९] तु चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः[१०] ॥३॥
गोदाने सूर्यनामा[११] स्यात् केशान्ते याजकः[१२] स्मृतः ।
(वैश्वानरो[१] विसर्गे स्यात् विवाहे बलदः[२] स्मृतः ॥४॥
(अपरे कर्मणि) आवसथ्यस्तथाधाने[३] वैश्वदेवे तु पावकः[४] ।
ब्रह्माग्निर्गार्हपत्ये[५] स्याद् दक्षिणाग्निरथेश्वरः[६] ॥५॥
विष्णुराहवनीये[७] स्यादग्निहोत्रे त्रयो मताः ।
लक्षहोमेऽभीष्टदः[८] स्यात् कोटिहोमे महाशनः[९] ॥६॥
एके घृतार्चिषां प्राहुरग्न्यधीनपरायणाः ।
रुद्रादौ तु मृडो[१०] नाम शान्तिके शुभकृत्[११] तथा ॥७॥
पूर्णाहुत्यां मृडो[१२] नाम) इति रघुः ।
पौष्टिके वरदश्चैव[१३] क्रोधाग्निश्चाभिचारिके[१४] ।
वश्यार्थे वशकृत्[१५] प्रोक्तो वनदाहे तु पोषकः[१६] ॥८॥
उदरे जठरो[१७] नाम क्रव्यादः[१८] शवभक्षणे ।
समुद्रे बाडवो[१९] ह्यग्निर्लये संवर्तकस्तथा[२०] ॥९॥
[१]सप्तविंशतिसंख्याका अग्नयः कर्मसु स्मृताः ।

१—यद्यपि पाठान्तरदर्शनाद् अग्निनाम्नां संख्या सप्तविंशतेरधिका, तथापि सर्वेषां सप्तविंशत्यामेवाऽन्तर्भाव इति तथोच्यते ॥

तं तमाहूय होतव्यं यो यत्र विहितोऽनलः ॥१०॥
अन्यथा विफलं कर्म सर्वं तद्राक्षसं भवेत् ।
आदित्यादिग्रहाणां च साम्प्रतं ह्यग्निरुच्यते ॥११॥
आदित्ये कपिलो नाम पिङ्गलः सोम उच्यते ।
धूमकेतुस्तथा भौमे जठरोऽग्निर्बुधे स्मृतः ॥१२॥
बृहस्पतौ शिखी नाम शुक्रे भवति हाटकः ।
शनैश्चरे महातेजा राहौ केतौ हुताशनः ॥१३॥
यज्ञादौ तु पञ्चभेदाः—
आवसथ्याहवनीयौ दक्षिणाग्निस्तथैव च ।
अन्वाहार्यो गार्हपत्य इत्येते पञ्च वह्नयः ॥१४॥

द्वितीयेऽन्याधानानुवाके चतस्रः कण्डिकाः (तासां. ६, ७, ८ तिस्रः ऋचः) सप्त मन्त्राश्च । तेषु १ अग्न्याधानम् २ इध्मालम्भनम् ३ आहवनीयाग्न्युपस्थानम् एताः क्रिया वर्णिताः । अनुवाकद्वये कण्डिकाः ८ मन्त्रा ११ (तेषां ६ ऋचः) ॥

आत्मयाजिनस्तु—या (वाक्) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, 'नेह नानास्ति किञ्चनेति-स्वरूपा (त्रिंशद् धाम) चतुर्दशभुवनानि, प्रधानमहदहंकारास्त्रयः, स्थूलसूक्ष्मभूतानि, तत्वानि दश, स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराणि त्रीणि एवं त्रिंशद्धामसु (विराजति) विशेषेण शोभते । सा (प्रति वस्तोः) प्रत्यहं (अहद्युभिः) मन्त्रशास्त्ररूढ्या अः विष्णुः ह् शिवः, अः ब्रह्मा, द् काली, य् सरस्वती, उः लक्ष्मीः, इति सशक्ति त्रयाणां देवानां रूपैः (पतङ्गाय) आ नाभिकमलाद् मूर्ध्नि कमले गमनशीलायात्माग्नये (धीयते) उच्चार्यते, तस्य सर्वात्मकत्वादिति ।

त्रिंशद्धामसु त्रयो लोकाः पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गाख्याः ते दशभिः दिग्भिः सम्बद्धाः । दश-संख्यया गुणितास्त्रयस्त्रिंशत् सम्पद्यन्ते । तेषु त्रिंशत्संख्याकेषु लोकेषु वाक् वेदवाणी कर्मयो-गोपदेशिका 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इत्यादिरूपा विराजति=विशेषेण शोभते, सर्वलोकानु-ग्राहकत्वात् या सा 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेताश्व० ६, १८)इति श्रुतिवचनाद् ब्रह्मण उपदिष्टा, तथा सूर्यायापि। अतःभगवान् ब्रूते 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" (गीता ४।१) इति तदभिप्रायेणाचष्टे - पतङ्गाय सूर्याय धीयते धार्यते, उपदिश्यते । अयं भावः द्वौ वेदसम्प्रदायौ ब्रह्मसम्प्रदायः आदित्यसम्प्रदायश्च । प्रथमे क्रमेण नारायणः, ब्रह्मा, वशिष्ठः, शक्तिः, व्यासः, तच्छिष्या वैशम्पायनादयः । द्वितीये भगवान् नारायणः ततः सूर्यः ततो याज्ञवल्क्यः तच्छिष्याः कण्वमाध्यन्दिनादयः इति । जगदु-त्पादकाय चतुर्मुखाय इव सूर्यायापि भगवता वेदवाणी यथाविधि प्रदत्तेति,तस्मात् सुष्ठु उक्तं वाक् पतङ्गायेति । येन परमात्मना वेद-विद्या ब्रह्मसूर्यमुखेनास्मभ्यं प्रदत्ता, स परमात्मा

प्रतिवस्तोः (वस्तोः इत्यहर्नाम निघण्टुः १।६।१) वस्तेर्बाहुकालात् कर्तरि तोसुनि सिध्यति, वस्ते आच्छादयति ज्योतींषि नक्षत्राणि इति देवराजः। प्रतिदिनं द्युभिः द्योतमानैः योगसाधनैः साक्षात्करणीय इति शेषः। अहःशब्दः कर्तव्यविशेषसम्बन्धाभिधायकः। अपि वा 'अह व्याप्तौ' अचि, सम्बोधने हे, अह! (स्वादिः परस्मैपदी, १२७३) हे सर्वव्यापक परमात्मन्! द्युभिः दिव्याभिः स्वशक्तिभिः प्रतिवस्तोः प्रतिदिनमस्मान् रक्षेति शेषः।

अपि वा त्रिंशता भेदेन प्रकारेण धम्यते अर्च्यते प्रशस्यते धमतिरर्चतिकर्मा (निघण्टुः ३।१४।१२) वस्तोरित्यव्ययं नेदं प्रथमान्तं षष्ठ्यन्तं वेति अमितव्यम्। त्रिंशद्धामा धामन्-शब्दः स्थानपर्यायो वा, दधाति वस्तुजातमस्मिन्निति अधिकरणे मनिन्। केचित् स्वरा अष्टादश प्रभेदाः,यद्यपि ऋकारः स्वयम् अष्टदशप्रभेदोऽपि स्वसवर्णस्य लृकारस्य द्वादशसंख्यया संकलितस्त्रिंशत्प्रभेदः। एवञ्च ऋकारेण त्रिंशत्प्रभेदयुक्तेन घटिता कृष्णेति द्व्यक्षरा वाक्। पतङ्गाय जीवाय तम् उद्धर्तुं धीयते गुरुणा उपदिश्यते, पतेरङ्गच् (उ. ११७) इत्युणादिसूत्रेण पतङ्गशब्दो निष्पद्यते। पतति गच्छति एकस्माद् जन्मनो जन्मान्तरं स्वार्जितकर्मभोगाय इति पतङ्गो जीवः प्रेत्यभावापरनामधेयः संसारार्णवे निमग्नः। तदुक्तं-सकृदुच्चरितं येन श्रीकृष्णेत्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥ इति।

गुरुः शिष्यं ब्रवीति—प्रतिवस्तोः प्रत्यहम् अह व्याप्नुहि द्युभिः कान्तिभिः 'अह व्याप्तौ' मध्यमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन शपि हेर्लुकि साधु इति सात्वतपथपान्थाः। केचित् सुहृद्वर्याः इत्थं व्याचक्षते ङ् ञ् ण् वर्जं द्वाविंशतिः कादयो मपर्यंताः स्पर्शाः। चत्वारो यणः ऊष्माणश्चत्वारः संकलनया त्रिंशद्वर्णैः धमति, गच्छति, धम्यते अर्च्यते वा सा त्रिंशद्धाम=वाक् त्रिंशद्वर्णोपचरिता वेदवाणी पतङ्गाय जीवाय, धीयते उच्चार्यते सः श्रुतवेदो जीवः भगवत्प्रसादात् द्युभिः कान्तिभिः 'अह' अह्नोतु ताभिर्व्याप्तो भवतु,वेदवाचा लब्धात्मप्रदर्शनोऽतितेजस्वी सन् मोक्षमश्नुताम्। एते व्यञ्जनेषु स्वराणामन्तर्भावं मन्वानाः महानुभावाः श्लाघनीयप्रज्ञाः। इति सात्वताः।

वैदिकेषु हि मन्त्रिषु तात्कालिके (वेदकालिके) निवृत्त-विज्ञान-यज्ञ-स्तुतिभेदभिन्नानां चतुर्णां निरूपणमिति हि वैज्ञानिकः समयः। यथोक्तं स्वर्गीयैर्विद्यावाचस्पतिश्रीमधुसूदनोझामहोदयैः स्वीये जगद्गुरुवैभवे ग्रन्थे—

'यावन्त एव त्विह सन्ति लोके चरित्र्यसम्बन्धिनिबन्धलेखाः।
तेभ्योऽयमुत्कर्षं इहास्ति वेदे विज्ञानयज्ञो सहलोकवृत्तो॥

अध्यात्मविज्ञानमथ धिदैवं विज्ञानमेवं त्रिदिवेतिवृत्तम् ।
यो याज्ञिकोऽर्थस्त इमे विशुद्धाः क्व च क्व च श्लिष्टतया च मन्त्रे ॥[१]

अर्थात् वैदिकेषु मन्त्रेषु क्वचित् तात्कालिकस्य (वेदकालिकस्य) लोकवृत्तस्य,[२] क्वचिद् यज्ञसम्बधिनां विषयाणां,[३] क्वचिदध्यात्मविज्ञाननस्य,[४] क्वचिदाधिदैविकस्य (प्राकृतिकस्य) विज्ञानस्य,[५] क्वचिद् द्वयोः,[६] क्वचित् त्रयाणां[७] च निरूपणं वर्तते ।

प्रकृतासु तिसृषु कण्डिकासु (६-८) साक्षात्कृतधर्मभिर्महर्षिभिरार्षेण चक्षुषा साक्षात्कृतस्य सूर्यसम्बन्धिन आधिदैविकस्य विज्ञानस्य निरूपणं विद्यत इति तदेवेह समासतः प्रदर्श्यते ।

आयं गौरित्यादि—

अयं—पुरोदृश्यमानः, पृश्निः— चित्रवर्णः सप्तरश्मिमयत्वात्, गौः— गमनशीलः सूर्यः पुरः- प्राच्यां दिशि प्रातरित्यर्थः, मातरम्-पृथीवीम्, पृथिव्या अङ्के इत्यर्थः, असदत्-असीदत् सीदतीत्यर्थः छान्दसो लकारव्यत्ययः । ततश्च पितरं-द्युलोकं, प्रयन्-गच्छन् स्वः - स्वर्गम् आ अक्रमीत् आक्रमते, पूर्ववच्छान्दसो लकारव्यत्यासः । अर्थात् पृथिवीतो द्युलोकपर्यन्तं च जगद् व्याप्नोतीत्यर्थः । इमे एव द्यावापृथिव्यौ अन्तरा सूर्यस्तपति 'एष इमौ लोकावन्तरेण पवते' (शत. ७।२।३।१) इति श्रुतेः । अत्र मन्त्रे मातृशब्दः पृथिव्याः, पितृशब्दश्च द्युलोकस्य वाचकः ।

१—जगद्गुरुवैभवम्, पृ॰ ३१

२—ऋ॰सं॰मं॰ १०, अ॰ ४, सू॰ ४८-४९ । ऋ॰सं॰ ७।२।१८

३—चत्वारि शृङ्गा इत्यादि । ऋ॰सं॰मं॰ ४, अ॰ ५, सू॰ ५८

४—मनसा संकल्पयति यत् तद्वातमभिगच्छति ।
वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ॥ (शत॰ ३।४।२।७)

५—कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन् सदनाद् ऋतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ (ऋ॰सं॰मं॰ १, अ॰ २२, सू॰ १६४)

६—यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ (यजु॰सं॰ ३१।१६)
अत्र हि मन्त्रे यज्ञलोकवृत्तयोः समुच्चयः ।

७—पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ (यजु॰ सं॰ १७।६७)
अत्र हि यज्ञ-विज्ञान-लोकवृत्तानां समुच्चयः ।

'द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः ।
विश्व आदित्या अदितेः सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त ॥' (ऋ. ६।५१।५)
'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥' (ऋ. १।१६४।३३)
'द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरां जरायुं कृणुतां संविदाने ।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥' (अ. २।५।२८।४

इति श्रुतिभ्यः ।

'अन्तश्चरति' इत्यादि—

अस्य सूर्यस्य रोचना—रश्मिमयी दीप्तिः प्राणादपानती - प्राणनापाननव्यापारं कुर्वती (अग्रे गमनं प्राणनम्, पश्चाद् गमनं चापाननम्) सूर्यरश्मयो हि प्राणनापानने - गमनागमने कुर्वन्तो हि प्रयान्ति । छायायामिदं प्रत्यक्षमनुभूयते । छाया हि पूर्वं पुरः प्रयाति ततः स्वल्पं पश्चात्सरति ततश्च पुनरग्रे प्रयाति । छायायां यत्प्राणनमपाननं च दृश्यते तत् सूर्यरश्मीनां प्राणनापाननव्यापारेणैव वर्तते, छायायां स्वतो गत्यभावात् । यथा बहिः लोके सूर्यरश्मयः प्राणनापाननव्यापारं कुर्वन्तःएव प्रयान्ति तथा प्राणिनां प्राणनापाननव्यापारं श्वासोच्छ्वासरू कुर्वन्त एव ते यान्ति । प्राणिनां हृदये यः श्वासप्रश्वासरूपो व्यापारः स प्राणिहृदये प्रविष्ट-सूर्यरश्मिकृत एव । यतो हि सूर्य एव प्राणिहृदयं प्रविश्यात्मरूपेण विराजति ।

'चित्रं देवानमुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' (ऋ. १।११५।१)

'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन्' । (बृ. आ. ७।५।२)

'एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं च, अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ताः, आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' ॥

(छा. ७।६।२)

इति श्रुतिभ्यः । एतदेवाभिसन्धायोक्तम्—

रोचना—सूर्यरश्मिमयी दीप्तिः, अन्तः-प्राणिहृदये चरन्ती गच्छन्ती प्राणिहृदयं प्रविश्या-त्मरूपत्वेन श्वासोच्छ्वासरूपं प्राणनापाननव्यापारं विधत्त इत्यर्थः ।

अथवा सूर्यरश्मिदीप्तिः अन्तः-द्यावापृथिवीमध्ये चरति । महिषः-महान् एष सूर्यः,महत्त्वं चास्य बृहत्साममयत्वात् सूर्यप्रकाशस्य त्रैलोक्यव्याप्तत्वाच्च बोध्यम् । दिवं-द्युलोकं व्यख्यत्-प्रकाशयति छान्दसो लकारव्यत्ययः ।

'त्रिंशद्धाम' इत्यादि—

अर्थ—पूर्वमन्त्रप्रतिपादितः सूर्यः त्रिंशद्धाम-त्रिंशद्दण्डात्मककालपर्यन्तं विराजति-प्रकाशते। षष्टिदण्ड (घटिका) परिमिताहोरात्रात्मके काले सूर्यः त्रिंशद्दण्डपर्यन्तमेव प्रकाशते पृथिव्यां, त्रिंशद्दण्डपर्यन्तमेव सूर्यप्रकाशस्य पृथिव्यां स्थितेः। सूर्यप्रकाशोपलक्षितस्य कालस्यैव चाहः-पदवाच्याचात्। वाक्-'त्रिंशद्धाम विराजति' इत्येषा स्तुतिरूपा वाक् पतङ्गाय सूर्याय धीयते-उच्यते। पतन् गच्छतीति व्युत्पत्त्या सूर्य एवात्र पतङ्गशब्देनोच्यते।

कथमेतज्ज्ञायते यत्सूर्यः त्रिंशद्धाम विराजति इति शङ्कामपनेतुमाह—'प्रतिवस्तोरह द्युभिः' इति। अर्थात् प्रतिवस्तोः प्रत्यहं 'वस्तोः द्युः भानुः' (निघ. १।९।१) इत्यहर्नामसु वस्तो-शब्दस्य पाठात्। द्युभिः—वर्तमानैः सूर्यप्रकाशैः अह-निश्चितमेतज्ज्ञामते इत्यर्थः। 'अह' इति विनिग्रहार्थीयो निपातः (निरु. १ अ.)

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।
अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।
ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा॥ (शु. य. ३।९)

३—अग्निहोत्राऽनुवाकः

१—सायंहोमः २—प्रातर्होमः ३—ब्रह्मवर्चसकामस्य सायंहोमः ४—तस्यैव प्रातर्होमः ५—सामान्येन प्रातर्होमः।

अस्यां नवम्यां कण्डिकायां पञ्चमन्त्राः। 'अग्निर्ज्योतिः' इति सायं होमार्थः, 'सूर्योज्योतिः' इत्यपरः प्रातर्होमार्थः, उभयोस् तक्षा ऋषिः, एकपदा गायत्रीछन्दः, लिङ्गोक्ता देवता। 'अग्निर्वर्चः' इति ब्रह्मवर्चसकामस्य सायंहोमार्थः, एवमेव 'सूर्यो वर्चः' इति ब्रह्मवर्चसकामस्य प्रातर्होमार्थः। द्वयोरनयोः प्राजापत्य ऋषिः, एकपदा गायत्रीछन्दः, लिङ्गोक्ता देवता। पञ्चमो मन्त्रो 'ज्योतिः सूर्यः' इति प्रातर्होमार्थः, अस्य जीवलश्चैलकिर्ऋषिः, एकपदा गायत्रीछन्दः, लिङ्गोक्ता देवता। अथवा समेषां पञ्चानां मन्त्राणां प्राजापत्य ऋषिः (शत. २, ३, १, ३०-३६; का. श्रौ. ४, १४, १४-१५, १५, १०)।

'यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेत्यथाग्निर्ज्योतिः, यदा सूर्य उदेत्यथ सूर्यो ज्योतिः' (शत. २, ३, १, ३०) इति श्रुतेः। अस्तं गच्छन् सूर्योऽग्निज्योतिरनुप्रविशति, अतः सायंहोमे 'अग्निर्ज्योतिः' इति मन्त्रेण आहवनीयेऽग्नौ प्रक्षिप्तायाः प्रदीप्तायाः समिध उपरि प्रथमाम् आहुतिं जुहोति (अग्निः) मन्त्रे 'स्वाहा' पदश्रुत्या तद्योगेन सर्वत्र चतुर्थ्याः सत्वेऽपि अत्र चतुर्थ्यर्थे प्रथमा, अग्नये (ज्योतिः) ज्योतिषे सूर्यज्योतिःस्वरूपाय (ज्योतिः) ज्योतिषे सूर्यज्योतिःस्वरूपाय

(अग्निः) अग्नये (स्वाहा) दत्तं हविः सुहुतमस्तु। अत्र 'ज्योतिरग्निः' इति विपर्यस्य पूर्वाभ्यासः समादरार्थः। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते,(निघ. १०।४२)इति यास्कवचनात्। अथवा सोऽयम् अग्निदेवः स एव ज्योतिः (अग्निः) प्रत्यक्षमाहवनीयाग्निस्वरूपं ज्योतिः दीप्तिः प्रकाशः। तस्मै (स्वाहा)। (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपः यः (अग्निः) प्रत्यक्षं स्थितः स एव (अग्निः) अग्निदेवः (स्वाहा) अग्नेश्च ज्योतिषश्चैकरूप्याद् अभेदप्रतिपत्तये उभयत्र प्रथमा विभक्तिः। 'स्वाहा' इत्यस्य चापरोऽभिप्रायः। 'ओहाक् त्यागे' (१०९०) जौहोत्यादिकः परस्मैपदी। हानं हा भावे अङ् प्रत्ययः। तत्प्रतिषेधे न हानं अहा अत्यागः स्वस्य अहा स्वाहा स्वस्यात्मन आत्मीयस्य वस्तुनो वाऽहानमस्तु। अनेन स्वाहाकारेण मम पुत्रपौत्रादेश्च सर्वस्य समृद्धिरस्त्विति भावः। प्रातः सूर्योदये चाऽग्निः सूर्ये प्रविशति। अतएव सूर्यज्योतिषः सद्भावे अग्निर्न चकास्ति। तदा सूर्यस्यैव ज्योतिषः सत्वात्। 'अग्निमादित्यः सायं प्रविशति, तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे। उभेहि तेजसी संपद्येते। उद्यन्तं वावादित्यमग्निरनुसमारोहति, तस्माद् धूम एकाऽग्नेर्दिवा ददृशे' (तै ब्रा. २।१।२) इति तित्तिरिश्रुतेः। तस्मात् प्रातर्होमे समक्षमाहूयमाने आहवनीयाग्नौ सूर्यभावनयैवाहुतिं जुहुयात्– (सूर्यः) अयमुद्यन् सूर्य एव (ज्योतिः) आहवनीयाग्निरूपः (ज्योतिः) अयमग्निः (सूर्य) सूर्यस्वरूपः, अग्नेस्तेजसः सूर्येऽन्तर्भावात्। एकात्मतां प्रतिपन्नस्योभयस्य ज्योतिषः प्रीत्यर्थं (स्वाहा) सुहुतमिदमस्तु। 'स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा (निरु. ८, २०)। ब्रह्मवर्चसकामः क्रमशः सायंहोमे मन्त्रान्तरेणाहुतिं जुहोति– (अग्निः) अयमाहवनीयाग्निः (वर्चः) ब्रह्मतेजःस्वरूपः (ज्योतिः) अयं प्रकाशः (वर्चः)ब्रह्मवर्चसरूपः। तस्माद् अग्निज्योतिषोः समानं ब्रह्मवर्चसरूपत्वात् ब्रह्मवर्चससमृद्ध्यर्थम् (स्वाहा) इदं दत्तं सुहुतमस्तु। एवमेव प्रातर्होमे सूर्यं साक्षिणं कृत्वा सूर्यभावनयाऽग्नौ ब्रह्मवर्चसकाम्ययाहुतिं जुहुयात् (सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा) अर्थः पूर्ववद् उन्नेयः।

अथवा प्रातर्होमं चिकीर्षन् इमं मन्त्रं पठेत्— (ज्योतिः) यद् इदम् अग्निज्योतिः (सूर्यः) सूर्यज्योतिःस्वरूपः सः (सूर्यः) यश्च सूर्यश्च स (ज्योतिः) अग्निज्योतिःस्वरूपः। तस्मै (स्वाहा) इदं सुहुतमस्त्विति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (स्वाहा) वेदवाक्येन (अग्निः) जठराग्निः (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिः। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' (गीता १५।१४) इति भगवद्वचनात् (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिश्च (अग्निः) जठराग्निः (स्वाहा) वेदवाक्येन। (सूर्यः) मानससूर्यः (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिः (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिश्च (सूर्यः) मानससूर्यः (स्वाहा) वेदवाक्येन। (अग्निः) वैश्वानराग्निः (वर्चः) ब्रह्मवर्चसं (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिः (वर्चः) ब्रह्मवर्चसम् (स्वाहा) वेदवाक्येन। (सूर्यः) ब्रह्माण्डस्य सूर्यः (वर्चः) ब्रह्मवर्चसम् (ज्योतिः) ब्रह्मज्योतिः (वर्चः) ब्रह्मवर्चसम् (स्वाहा)

वेदवाक्येन । (ज्योतिः) भर्गाख्यं (सूर्यः), (सूर्यः) (ज्योतिः) भर्गः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन (छां. ३, ३, ४) इति दर्शितम् इति ।।

अग्निः परमेश्वरः, 'अग्निरेव ब्रह्म' (शत. १०।४।१।५) इति । 'ब्रह्म वा अग्निः' (कौ. ६।१।५।१२।८ इति च श्रुतेः । ज्योतिः– सर्वप्रकाशकः । भौतिकोऽग्निरपि शिल्पविद्यादि-भौतिकविज्ञानप्रकाशकः । 'अग्निरिति' पदनामसु पठितम् । (निरु. ५।४) । अनेनाग्नेर्गत्यर्थ-त्वेन ज्ञानरूपत्वादीश्वरः प्राप्तिहेतुत्वाद् भौतिकोऽर्थो वा गृह्यते। स्वाहा सुष्ठु सत्यमाह यस्यां वाचि सेति व्युत्पत्या सत्या वाक् गृह्यते । सूर्योऽपि चराचरात्मा जगदीश्वरः सरति जानाति चराचरं जगदिति व्युत्पत्तेः । 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजु. ७।४२) इति मन्त्रात् ज्योतिः सर्वात्मप्रकाशकः वेदद्वारा सकलविद्योपदेशकः, एवं भौतिकः सूर्योऽपि सुवति—स्वप्रकाशेन प्रेरणाहेतुर्भवति इति व्युत्पत्या पृथिव्यादिमूर्तद्रव्यप्रकाशकत्वात् ज्योतिः । स्वाहा स्वकीया हृदयस्था वाग् यदाह तदेव सत्यं वाच्यमित्यस्मिन्नर्थे ।

अग्निः सर्वविद्योपदेष्टा परमेश्वरः वर्चः वेदचतुष्टयं प्रादुर्भावयति, ज्योतिः विद्युदाख्यो-ऽयमग्निः ब्रह्माण्डशरीरस्थो वर्चः विद्यावृष्टिहेतुर्भवति। सूर्यः सकलविद्याप्रकाशको जगदीश्वरः स्वाहा होतव्यं वर्चः प्रकाशकविद्युत्सूर्याग्न्यादितेजः करोति । ज्योतिः सूर्यलोकोऽपि वर्चः शरीरात्मबलं प्रकाशयति । (ज्योतिः) सत्यप्रकाशकः (सूर्यः) सर्वव्यापक ईश्वरः (सूर्यः) प्रकाशमानः सूर्यलोकः (ज्योतिः) चक्षुर्व्यवहारप्रकाशकम् (स्वाहा) वेदवाणी यज्ञक्रियामाहे-त्यस्मिन्नर्थं इत्यर्वाचीनाः ।

सात्वत-पक्षे—अनया कण्डिकया राधाकृष्णयोः कृष्णतद्भृत्यवर्गयोः राधातद्भृत्यवर्ग-योश्चाभेदः प्रतिपाद्यते । परब्रह्म-श्रीकृष्णः स्वसंकल्पनिर्मितस्वपरिकरात् सर्वस्मात् न भिद्यते । यथा इन्द्रादिदेवात् तत्परिकरः, आह च यास्कः 'आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मायुध-मात्मेषव आत्मा वै सर्वं देवस्य (निरुक्त अ. ७। । देव एव माहाभाग्यात् स्वसंकल्पमात्रेण रथादिस्वोपकरणाकारेण परिणमते विवर्तते वा, तस्मात् रथायुधादिकं तत्स्वरूपमेवेति तदर्थः । यमुना-गिरिराज-वृन्दावन-गोपीगोपगवादिकं भगवत्स्वरूपमेव, संकल्पवशेन भगवत एव तद्रूपेणावस्थानात् । अक्षरार्थस्तु अग्निः यदूनाम् अग्रणीः श्रीकृष्णः ज्योतिः कोट्यर्क-समूहदीप्तिरूपा राधा 'तत्रैव कोट्यर्कसमूहदीप्तिरिति वाक्येन भर्गसंहितायां तस्याः तथात्वप्रतिपादनात् । ज्योतिः पूर्वोक्तदीप्तिलक्षणा राधा अग्निः कृष्ण एव कृष्णो राधा, राधा च कृष्ण इति निष्कर्षः । उक्तञ्च संमोहनतन्त्रे—

'तस्माज्ज्योति-रभूद्द्वेधा, राधामाधवरूपकमिति ।'

आह च कश्चित् कृष्णानुरक्तचेताः समुदितप्रतिभारविः कविरत्न—

किशोरमूर्तिः द्वयमेकजीवितम् पुरः स्फुरद् वीक्ष्य पतामि मूर्च्छितः। इति

किशोरमूर्तिद्वयं राधाकृष्णयुगलम्, स्वाहा सु सुष्ठु आसमन्तात् 'हा' प्राप्तोऽहं स्याम् ।

ओहाङ् गतौ जुहोत्यादिः आत्मनेपदी । सु आ पूर्वात् तस्मात् कर्तरि विच् । राधाकृष्णयोः प्राप्तिर्ममास्तु इति भावः । द्वितीये वाक्ये सूर्यः यदुमार्तण्डः सर्वप्रेरको वा, ज्योतिः राधा, शिष्टं समानम् । तृतीये वाक्ये अग्निः कृष्णः, वर्चः अन्नम्, 'वर्च दीप्तौ' तद्धि शरीरादेः दीप्तिः ताम् अन्ननामसु वर्चस्शब्दः (निघण्टु २, ७, २६) पठ्यते । स च भोग्यत्वसाम्येन भृत्यवर्गे लाक्षणिकः । एवञ्च वर्चो भृत्यवर्गः स्वस्वामिनः श्रीकृष्णस्य स्वरूपमेव । ज्योतिः राधा वर्चः भृत्यवर्गः विशाखादिसखीगणः स्वस्वामिन्या राधायाः स्वरूपमेव । स्वाहाशब्दः पूर्ववत् व्याख्येयः । चतुर्थवाक्ये सूर्यः व्याख्यातपूर्वः । पञ्चमवाक्ये अभेददार्ढ्याय तमेवार्थं ज्योतिः-सूर्यशब्दयोः पूर्वापरभावव्यत्यासेनाचष्टे ज्योतिरिति ।

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ।
सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ।।

—शु० य० ३।१०

अग्निहोत्रम्

दशम्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ । 'सजूर्देवेन' इति प्रथमः सायंहोमवचनः । ततः 'सजूर्देवेन' इति द्वितीयो मन्त्रः प्रातर्होमवचनः । द्वयोः प्राजापत्यः ऋषिः, गायत्रीच्छन्दः, लिङ्गोक्ता देवता । (शत. २, ३, १, ३७-३८; का. श्रौ. ४, १४, १४) ।

सायं प्रातः अग्निहोत्रमन्त्रा नवम्यां कण्डिकायां व्याख्याताः । अत्र दशम्यां कण्डिकायां व्याख्यातव्यौ मन्त्रौ सायंप्रातरग्निहोत्रे कर्तव्ये विकल्पार्थौ । सायं प्रातरग्निहोत्रम् "अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा । सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" इति मन्त्राभ्यां विधेयम् । अथवा 'सजूर्देवेन सवित्रा' इत्यादिवक्ष्यमाणाभ्यां विधेयमित्याशयः ।

तत्र सायंहोमे चिकीर्षितेऽनेन मन्त्रेण जुहोति– (देवेन) दीप्यमानेन (सवित्रा) प्रेरकेण सूर्येण (सजूः) समानप्रीतिः, अस्तमये हि सूर्योऽग्निमनुप्रविशतीति प्रागुक्तम् । तस्मादग्नि-सूर्ययोः सहावस्थानमेव समानप्रीतिः । जुषी प्रीतिसेवनयोः (१२८९) तौदादिकः आत्मनेपदी । सह जुषते इति कर्तरि क्विपि 'सह' इत्यस्य सभावे 'ससजुषोरुः' (पा. ८, २, ६६) इति षस्य रुत्वे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (पा. ८, २, ७६) दीर्घे सजूरित्यत्रोत्तरपदप्रकृतिस्वरः । जोषणं जूः समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूरिति बहुव्रीहिसमासेन व्युत्पिपादयिषन् महीधरः स्वरदोषादमान्यः । एवम् (इन्द्रवत्या) इन्द्रोपेतया (रात्र्या) रात्रिदेवतया च (सजूः) समानप्रीतिः 'अग्निर्दूरात् नक्तं ददृशे' इति प्रागुक्तम्, तस्मात् सिद्धा रात्र्या समानप्रीतिरग्नेः । एवंभूतः (अग्निः) अग्निदेवः (जुषाणः) सेवमानोऽस्मत्प्रत्तं हविः स्वादयन् । जुषमाणः इति वक्तव्ये छान्दसे लुकि शानचि च जुषाण इति चित्स्वरेणाऽन्तोदात्तः शब्दः । (वेतु) भक्षयतु, वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु (१०४८) आदादिकः परस्मैपदी । (स्वाहा) दत्तं च सुहुतमस्तु । प्रातर्होमे च कर्तव्ये प्रत्यक्षं सूर्यमेव लक्ष्यीकृत्य 'सजूर्देवेन' इत्यादिना मन्त्रेण जुहोति । सूर्येण सजुष्ट्वमुषसः सूर्यप्रभाया इति 'इन्द्रवत्योषसा' इत्युक्तम् । शेषं समानमिति देवयाजिनः ।

अस्मिन् अग्निहोत्रानुवाके कण्डिकाद्वये सप्त मन्त्राः (नवम्यां ५ दशम्यां २) तेषु १ सायं होमः, २ प्रातर्होमः, ३ ब्रह्मवर्चसकामस्य सायं होमः, ४ ब्रह्मवर्चसकामस्यैव प्रातर्होमः, ५ सामान्येन प्रातर्होमः, ६ सायं होमविकल्पः इत्येताः क्रियाः व्याख्याताः। त्रिष्वनुवाकेषु कण्डिका दश, मन्त्राणां समुदिता संख्या १८ (तेषां ६ ऋचः)।

आत्मयाजिनस्तु—(सजूः) सः संसारः ज् जयः ऊः रतिः संसारजये रतः(देवेन सवित्रा) नारायणेन (जुषाणः) प्रीतियुक्तः, भक्तिपूर्वं नारायणार्पणं कर्म कुर्वाणः। अथवा (सजूः) संसारजये रतः (इन्द्रवत्या) इन्द्रो देवता यस्याः तया (रात्र्या) पितृयाणाधिष्ठातृदेवतया (जुषाणः) प्रीतियुक्तः (अग्निः) यजमानः, 'यजमानोऽग्निः' (शत. ६, ५, ४, ४) (स्वाहा) ब्रह्मार्पणकर्मणा तथा सकामकर्मणा (वेतु) वं विष्णुं वा, वर्सति स्वर्गं वा एतु प्राप्नोतु। (सजूः) संसारजये रतः (देवेन सवित्रा) कैवल्यमोक्षाधिष्ठातृदेवतया (जुषाणः) प्रीतियुक्तः, तथा (सजूः) संसारजये रतः (इन्द्रवत्या उषसा) क्रममुक्त्यधिष्ठातृदेवतया प्रीतियुक्तः (सूर्यः) ब्रह्मभावं प्राप्तो योगी (स्वाहा) महावाक्योपदेशेन (वेतु) वं ब्रह्म एतु प्राप्नोत्विति।

सात्वतपक्षे—भक्तः प्रभुं विविधं नवनीतापूपादिभोगजात निवेदयन् प्रार्थयते-सवित्रा देवेन सर्वप्रकारेण भास्करेण सह 'सजूः' प्रीतिमान्, यजुर्वेदमुखेन तस्मै भगवता कर्मयोगस्योपदिष्टत्वेन स्वशिष्यत्वात् युक्तो हि गुरोः शिष्यानुरागः। अपि वा स्वप्रियायाः कालिन्द्याः पिता हि सविता, जगति को नाम यः श्वसुरे नानुरज्जति, तथा च आभाणकः—

विज्ञेयो श्वसुरो तीर्थम्, अर्धतीर्थन्तु श्यालिका।
चतुर्धामसमा नारी, त्वेषा प्राणभृतां स्थितिः॥ इति॥

इन्द्रः योगेश्वरकृष्णः विद्यते यस्यां रासक्रीडनरजन्यां सा इन्द्रवती रात्रिः शारदी 'राका' तया 'सजूः' प्रीतिमान् अग्निः सोपासकानां बहुजन्मार्जितपापराशिदग्धा परमात्मा श्रीकृष्णः अस्माभिरपि 'जुषाणः' प्रीतिमान् सूर्यराज्योरिव अस्मास्वपि प्रीतः 'वेतु' अस्मदर्पितं विविधभोजनादिवस्तुजातं 'वेतु' भक्षयतु स्वीकरोतु, वेतिरत्र खादतिकर्मा। इन्द्रवत्या इन्द्रः स्वभर्ताऽनिरुद्धः तद्वती 'उषा' वरुणपुत्री श्रीकृष्णस्य पौत्रवधूस्तया सजूः स्नेहातिरेकवान् वात्सल्यादिति भावः। सूर्यः अविद्यातमोनिरासकः श्रीकृष्णः प्रभुः। शिष्टं समानम्। अनयोः (३, ९-१०) कण्डिकयोः क्रमेण पञ्च द्वौ च सम्भूय सप्तमन्त्राः। 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादेः 'ज्योतिः सूर्यः' इत्यन्तस्य मन्त्रपञ्चकस्य ज्योतिःस्वरूपयोर्लौकिकाऽग्निसूर्ययोः भोक्तृप्रपञ्चोपलक्षकयोः वर्चस्पदाभिधेयस्य अन्नस्य तदुपलक्षितस्य भोज्यप्रपञ्चस्य च सर्वाग्रणीसर्वप्रेरकपरमात्मनोऽभेदम्, 'स्वाहा' पदेन साधकस्य तादृशपरमात्मनः प्राप्तिश्चेत्यर्थं ब्रुवते केचिन्मनीषिणः। द्वितीयकण्डिकायां मन्त्रद्वये इन्द्रः उपास्यते यस्यां सेन्द्रवती इन्द्रोपासनायुक्ता इत्यर्थः। सर्वत्र तृतीयां सप्तम्यर्थे 'जुषाणः' इति प्रथमां द्वितीयार्थे च मत्वा देवे सवितरि इन्द्रोपासन-युक्तायां रात्री उषसि च सजूः प्रीतिमान् भव। जुषाणं-भगवन्तं सेवमानं भवन्तं प्रभुभक्तमग्निः सर्वव्यापकः परमात्मा, सूर्यः सर्वप्रेरकः परमात्मा, वेतु प्राप्नोतु इत्येवं विद्यां गुरोराशिषञ्च कण्डिकैषा (१०) व्याहरति इत्यपि तथैव व्याचक्षते।

[1]उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ।। यजु० तृ० अध्याय: ११ ।।

महोपस्थानानुवाकः – आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

महोपस्थानमेव बृहदुपस्थानमाचक्षत आचार्याः । कात्यायनः (का० श्रौ० ४, १२, १) इदमुपस्थानम् वात्सप्रमाह । पयोहोमपक्षे बृहदुपस्थानम् आहवनीयगार्हपत्ययोर्द्वयोरग्न्योर् यजमानः करोति । महोपस्थाने 'उपप्रयन्तः' इत्यारभ्य "परि ते इदम्" इति पर्यन्तं षड्विंशतिकण्डिकाः सन्ति । तत्रैकादश्यां कण्डिकायाम् ऋगात्मक एक एव मन्त्रः । 'एतावन्नु तिष्ठन्नुपति' (शत० २, ३, ४, २३) इति श्रुतेः 'उप प्रयन्तः' इत्यारभ्य 'चित्रावसो' (३, १८) इति पर्यन्तम् अष्टभिः कण्डिकाभिस्तिष्ठन्नेवाग्निमुपतिष्ठते नोपविश्येति । अस्य गोतम ऋषिर्निचृद् गायत्री छन्दोग्निर्देवता, आहवनीयोपस्थाने विनियोगः । (शत० २, ३, ४, १० । का० श्रौ० ४, १२, १-१२) ।

सायमाहुत्यां हुतायां अजमान आहवनीयाग्निमनेन ऋगात्मकेन मन्त्रेणोपतिष्ठते । 'उपान्मन्त्रकरणे' (पा० १, ३, २५) इति सूत्रेणात्मनेपदम् । प्रकृते 'उपप्रयन्तः' इत्यादयो मन्त्रा आहवनीयाग्निस्तुतौ करणम् । तस्माद् आहवनीयाग्निमुपतिष्ठते इत्याकारकम् उपपूर्वकात् तिष्ठतेर् आत्मनेपदत्वं साधीयो युज्यते । 'आहवनीयाग्निम्' इति द्वितीया मन्त्रकरणत्वान्यथानुपपत्त्याऽध्याहारलभ्येन 'स्तोतुम्' इत्यनेनाऽन्वेति । तस्माद् 'उपप्रयन्तः' इत्यादिभिर्गृहोपस्थानमन्त्रैर्यजमान आहवनीयमग्निं स्तोतुम् तत्समीपे तिष्ठतीत्यर्थः संगच्छते (अध्वरम्) करिष्यमाणं यज्ञम् (उपप्रयन्तः) उपतिष्ठमानाः वयं यष्टारः (अग्नये) अग्निप्रसादाय (मन्त्रम्) आर्षं शब्दसमूहम् । 'मन्त्रा मननात्' (निरु० ७, ३, ६) । 'मत्रि गुप्तपरिभाषणे' (१६ ८०) चौरादिकः उभयपदी । मन्त्रणं वा मन्त्र्यते वा भावकर्मणोर् घञ् प्रत्ययः । मननेन त्राणकरमिति महीधरः (वोचेम) उच्यास्म । 'लिङ्याशिष्यङ्' (पा० ३, १, ८६) इति आशीर्लिङि उत्तमपुरुषबहुवचनेऽङि 'वच उम्' । (पा० ७, ४, २०) इति धात्वकारस्य उमादेशे यासुटि छान्दसत्वात् सार्वधातुकत्वाद् इयादेशे सलोपे, यलोपे च रूपम् । कीदृशाय अग्नये (अस्मे) अस्माकं मन्त्रम् 'सुपां सुलुक्' (पा० ७, १, ३९) इति शे आदेशः । (आरे) समीप एव । 'आराद्दूरसमीपयोरित्यमरः । अथवा आरे इति दूरनाम (निघ० ३२६) आरे दूरे स्थितत्वाऽपि यष्टृमन्त्रं (शृण्वते) अवदधते, श्रोतुम् दत्तावधानायेति । काममग्निः समीपे वा स्याद् दूरे वा

[1]ऋ० १, ७४, १ साम० १३, ७९। तै० सं० १, ५, ५, १।

स्यात् यज्ञमुपतिष्ठमानानामस्माकं स्तुतिवचनानि शृणोत्येव, तस्माद् मन्त्रं ब्रूम इत्याशय इति देवयाजिनः।

कात्यायनमते—तिष्ठन्नेव 'उपप्रयन्तः' इति मन्त्रं त्रिर्जपन् आहवनीयमुपतिष्ठत इति वात्सप्रविशेषः।

आत्मयाजिनस्तु—इन्द्रियाणि कथयन्ति (अध्वरं) यजमानं 'यजमानो यज्ञः' (शत० १३, २, २, १)। (उपप्रयन्तः) उपगच्छन्तो वयम् (आरे) दूरे समीपे हार्दाकाशे च (अस्मे) अस्माकमालये (शृण्वते) अस्मदीयं वाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय (अग्नये) आत्माग्नये (मन्त्रं) मननेन त्राणकरं अप्रोक्तं वाक्यसमूहं (वोचेम) उच्यास्मेति।

सात्वतास्तु–नारदमुखेन श्रुतयुधिष्ठिरसन्देशः भगवान् उद्धव-परामर्शेन द्वारिकातः इन्द्रप्रस्थं जगाम युधिष्ठिरस्य यज्ञे समुपस्थातुम्। तत्रागतेन राजभवने सादरं दत्तनिवासेन सुहृद्वरेण कृष्णेन सह मन्त्रणार्थं समाहूय सर्वान् भीमादिभ्रातॄन् धर्मराजो व्याहरत्युपप्रयन्त इति।

मदनुजाः अध्वरं यज्ञम् अध्वर–शब्दः यज्ञनामसु पठितः, (निघण्टु ३।१७।३) अध्वा स्वर्गमार्गस्तं राति ददाति, शोभनेन पथा स्वर्गप्रापकस्तम्, ध्वरो हिंसा तद्रहितं वा। एतेन अग्निष्टोमादिसोमयागे अग्नीषोमीयादिपशवो हिंसनीया इत्येकदेशिमतं निरस्तम्। 'उपप्रयन्तः'= उपगतवन्तः मनसिकृततदनुष्ठाननिश्चया अस्माकं सर्वाधिकहितैषिणः वासुदेवेन सह मन्त्रं मन्त्रणां वोचेम कथयेम। यागोऽयं राजसूयः न सुकरः, तदर्थं विपुलं धनादिकमपेक्ष्यते। नूनं सर्वे भवन्तः शूराः दिग्विजययात्रायां सर्वान् राज्ञो विजित्य तदाहर्तुं शक्नुवन्ति। परम् अद्यत्वे दशसहस्रहस्तिबलः शिशुपालादिप्रबलराजन्यवर्गकृतसन्धानः सम्राट् जरासन्धः कृष्णा–भ्यूहितप्रकारमन्त्रः दुर्जेयः। तस्मिन् जीवति नानायासेन दिग्विजयो वो भवितुमर्हति।

तस्मात् कदा कथं दिग्विजयेन निष्प्रत्यूहं भवितव्यम् इति अस्माभिः श्रीकृष्णेन परामर्शो विधेयः स यथा आचक्षीत तथैव अस्माभिः कर्तव्यमितिभावः। कस्मै वोचेम? अग्नये नीतिविदग्रे-सराय श्रीकृष्णाय। तं विशिनष्टि 'आरे दूरे' इति ('आरे इति दूरनाम'–नि० ३, २६, १) चकारेण समीपेच 'अस्मे' अस्माकं प्रार्थनां, शृण्वते सादरम् आकर्णयते, सः समीपेऽवस्थितः साक्षाद्, दूरे चेत् दूतमुखेन अस्मदीयं समीहितं श्रुत्वा तत्साधनाय सततं प्रयतते, ततोऽधिकः कोऽस्माकं सुहृदिति भावः। वृत्तञ्चैतत् (भागवते १० स्कन्धे ७०–७१ अध्याययोः)। तत्र कर्णेहत्य निरीक्षणीयं मनीषिभिः।

[1]अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ।। शु० य० ३।१२

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

द्वादश्यां कण्डिकायाम् ऋगात्मक एक एव मन्त्रः अग्न्युपस्थाता । अस्य विरूप ऋषिः निचृद् गायत्रीछन्दः अग्निर्देवता (शत० २, ३, ४, ११) (का० श्रौ० ४, १२, १) ।

(अग्निः) अयमुपस्थोयमान आहवनीयाग्निः (दिवः) द्युलोकस्य (मूर्धा) दिवि सूर्यात्मना शिरःस्थानीयः । तदेव विवृणोति – ऊर्ध्वं द्युलोके स्थितत्वात् (ककुत्) वृषस्योन्नतस्कन्ध इव । उव्वटमहीधरौ पक्षान्तरे महन्नामसु निघण्टौ (३, ३, १९) 'ककुहः' इति पाठस्य सद्भावेऽपि ककुदं पश्यतः । पृषोदरादित्वात् अन्त्यलोपेन (ककुत्) महान् अयमग्निर्महानात्मा जगतः कारणमिति चार्थापयतः । (अयम्) एष एव प्रक्रान्तोऽग्निः (पृथिव्याः) भूलोकस्थ (पतिः) पालकः । तापपाकप्रकाशादिभिः पृथिवीलोकस्थानां मर्त्यानामनुग्राहक इति भावः । अयमेवाग्निः (अपाम्) द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तोनां (रेतांसि) व्रीहियवाद्यन्नरूपेण परिणितानि साराणि । यद्वा रेतांसि कारणानि । अपां वृष्टिलक्षणानां रेतांसि वृष्टौ कारणभूतानि तत्वानि (जिन्वति) प्रीणयति, पोषयति, 'जिवि प्रीणने' (५९४) भौवादिकः परस्मैपदी । अत एव 'ते वा एते आहुती उत्क्रामतः' (शत०................) इति श्रुतिः 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते, आदित्याज्जायते वृष्टिः' (मनु० ३।७६।) इति स्मृतिश्चेति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—

(अयम्) आत्माग्निः (दिवः) भृकुट्याः (मूर्धा) म् ब्रह्मा ऊ विष्णुः र् रुद्रः तेषां रूपधारकः सूर्यः (ककुत्) (कं) शिरः तस्मिन् (कु शब्दे) कुं शब्दं ददाति करोतीति व्युत्पत्त्या अनाहतनादेन शिरसि शब्दकारकः (पृथिव्याः) मनसो हार्दान्तरिक्षस्य वा (पतिः) पालकः (अग्निः) आत्माग्निः (अपाम्) इन्द्रियालयान्तरिक्षाणाम् । 'आपः अन्तरिक्षनाम' (निघ० १, ३, ८) । (रेतांसि) सौमरूपेन्द्रियशक्तीः 'रेतो वै सोमः' (शत० २. ५. १, ९) । अथवा गगनामृतरसानां वीर्याणि 'अमृतं वा आपः' (शत० २, ९, ३, ७) 'रसो वा आपः' (शत० ३, ३, ३, ८) (जिन्वति) प्रीणयति वर्धयति पुष्णाति । जिन्वतिः प्रीतिकर्मेति ।

[1] ऋग्वेद ८, ४४, १६ । साम. २७. १५३२. । तै. सं. १, ५, ५. । १ ; ४, ४, १, १ । तै आ. ३, ५, ७, १, ।

सात्वतास्तु–युधिष्ठिर एव स्वसहायकस्य सख्युः सामर्थ्यं वर्णयति–'अग्निरिति'। अग्निः स्वं 'निगिरतो' बकासुरस्य तालुमूलदाहकः (भाग० १०।११।५०) दिवः स्वर्गस्थस्य ब्रह्मेन्द्र-वरुणादेः, अत्र मञ्चाः क्रोशन्ति इतिवत् आधारस्य स्वस्थिते लक्षणा। ककुद् ककुहः अभिभविता, महान्, तस्य देवगणस्य कृष्णेन निर्जितत्वात्। अत्र अकारलोपः, हकारस्य दकारः छान्दसः, 'ककुह' शब्दः महन्नामसु पठितः (निघण्टु ३, ३, १६)। ककुहः 'ककु' सहने 'ककेरुहः' इति 'उह' प्रत्ययः। सहते अभिभवति शत्रून्, सहते क्षमतेऽपराधान् वा इति देवराजः। 'मूर्धा' इदानीन्तनस्य राजन्यवर्गस्य मूर्धा शिरःस्थानीयः पराक्रमेण सर्वश्रेष्ठत्वात् पृथिव्याः सत्राजित्-सुतायाः सत्यभामायाः पतिः स्वामी। एतेन सत्राजिद्दत्तकलङ्कमार्जनाय बलभृतां वरो महान् योद्धा लङ्कासग्रामेऽपि अतृप्तः सेनापतिवर्यो भगवतो रामस्य जाम्ववान् ऋक्षराजः अनेन कृष्णेन पराजित इति सर्वातिशायी पराक्रमोऽस्य, इति ध्वन्यते। ('ब्रह्मणोऽभिभवः' भागवत १०।१३ अध्याये। 'इन्द्रस्य चाभिभवः' १०।२७ अध्याये द्रष्टव्यः)। अयम् असमत्समक्षमुपविष्टः कृष्णः अपि वा ककुत् सुन्दराग्रणीर्लावण्यनिर्जितमन्मथः, न केवलं वीरोऽसौ किं तर्हि दर्शनमात्रेण चित्तचौरः। अपां जलानां रेतांसि साराणि शरीरस्य यथा आत्मा, जलाध्यक्षः वरुणः। अत्र बहुवचनमादरार्थम्। जिन्वति प्रीणयति वरुणापहृतं स्वपितरं नन्दमानेतुं तद्भवनं गत्वा स्वदर्शनेन प्रीणयति।

वरुणो भगवन्तं द्रष्टुकामः स्वभृत्यमुखेन यमुनाजले स्नातुम् अवतीर्णं भगवत्पितर-मपजहार। अपहृतं पितरं प्रत्यानेतुं भगवान् स्वयम् आयास्यति, तदाऽहं स्वाराध्यचरणं भगवन्तमवलोक्य स्वजन्मसाफल्यं प्राप्स्यामि, इत्यभिप्रायेण नन्दे अपहृते शोकार्णवनिमग्नानां व्रजवासिनां प्रसादनाय वरुणालयं समागत्य वरुणाभ्यर्चितपदो वरुणाय समीहितं स्वदर्शनं प्रदाय स्वजनकं नन्दं च सहादाय तत् प्रत्याययौ व्रजम् इति कथा भागवते १०।२८ अध्याये द्रष्टव्या।

अपि वा अपां वारीणां रेतांसि स्रवान् प्रवाहान् इन्द्रादिष्टमेघवृन्दविसृष्टान् मुसलधारा-वृष्ट्यात्मकान् जिन्वति जयति अभिभवति ('जि' अभिभवे भौवादिकः परस्मैपदी ६।४६) आसप्ताहं स्वकरांगुलेरुपरि महागिरेः गोवर्धनस्य धारणात् (भागवत १०।२५)।

'रेतः' 'रिङ्' स्रवणे दैवादिकः आत्मनेपदी 'स्तुरिभ्यां' 'तुट् च' (उ०४।१९७) इत्यसुन्प्रत्यये तुडागमो गुणश्च। रीयते स्रवते रेतः।

यद्वा वृष्टिलक्षणानामपां देवानां रेतस्त्वाद्रेत उच्यते। तथा चोपनिषत् "देवानां रेतो वर्षम्" इति।

[1]उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै ।
उभा दाताराविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ।। य० ३, १३ ।।

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

त्रयोदश्यां कण्डिकायाम् 'उभा वाम्' इत्येषा ऋगेकएव मन्त्रोऽग्न्युपस्थानः । अस्य भरद्वाजः ऋषिः, स्वराट् त्रिष्टुप् छन्दः (मिश्रमते त्रिष्टुप् छन्दः) इन्द्राग्नी देवते (शत० २, ३, ४, १२) (का० श्रौ० ४, १२, १) ।

(इन्द्राग्नी) हे आदित्याहवनीयौ । इन्द्रः अस्तं गच्छन् सूर्यः, अग्निर् आहवनीयश्च तयोः सहभावाद् 'आमन्त्रितस्य च' (पा० ८, १, १९) इत्यनेन पदात्परत्वात् आमन्त्रितनिघातः, द्वन्द्वसमासे सम्बोधनम् । 'एष वा इन्द्रो य एष तपति, स यदस्तमेति, तदाहवनीयं प्रविशति (शत० २, ३, ४, १२) इति श्रुतेः । अथवा इन्द्राग्नी आहवनीयो गार्हपत्यश्च द्वावग्नी सम्बोध्येते यज्ञसाधनात्मकैश्वर्यात् आहवनीयोऽग्निरिन्द्रः, अग्रे नीयते प्रथममाधीयते इति अग्निर्गार्हपत्योऽभिधीयते । भौतिकाग्निवायू इत्यर्वाचीनाः । इन्द्राग्न्यौ इति स्थिते 'सुपां सुलुक्' (पा० ७, १, ३९) इति पूर्वसवर्णः । (उभा) उभौ 'सुपां सुलुक्' इत्यादिनाऽऽकारः (वां) युवां (आहुवध्यै) आह्वातुम्, 'तुमर्थे सेसेन्' (पा० ३, ४, ९) इत्यादिना आङ्पूर्वकाद् ह्वयतेः ध्यै प्रत्ययः, 'बहुलं छन्दसि' (पा० ६, १, ३४) इति ह्वः सम्प्रसारणे उवङादेशे च प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् । इच्छामीति शेषः । आख्यातोत्तमपुरुषस्यैकवचनस्थाने कध्यै प्रत्यय इति व्याचक्षाण उव्वटो विमृश्यः । किं च (उभा) उभौ युवाम् (राधसः) हविर्लक्षणस्य धनस्य । राधः इति धननाम (निघ० २, १०, १७) राध्नुवन्ति साधयन्ति पुरुषार्थान् येन । राध संसिद्धौ (१२६३) सौवादिकः परस्मैपदी । औणादिकः करणे असुन् प्रत्ययः । राध्नोति हिनस्ति दारिद्रचमिति हिंसार्थको राधधातुरपीति देवराजयज्वा । (सह) युगपत् (मादयध्यै) तृप्तये तर्पयितुम् । मद तृप्तियोगे (१७०६) चौरादिक उभयपदी । तुमर्थे शध्यै प्रत्ययः (पा० ३, १, ९) । इच्छामीति शेषः । (उभा) उभौ वाम् (इषाम्) इष्यमाणानां योगपदार्थानां (रयीणाम्) तत्साधनभूतानां धनानां च (दातारौ) दानशीलौ । ददातेस्तृच्प्रत्ययः । तस्माद् (वाजस्य) अन्नस्य, वाज इत्यन्ननाम (निघ० २, ७, २) वज्यते अभिगम्यते सर्वैरिति । वज गतौ (२५२) भौवादिकः परस्मैपदी, 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (पा० ३, ३, १९) इति कर्मणि घञ् प्रत्ययः । 'चजोः कुघिण्यतोः' (पा० ७, ३, ५२) इति कुत्वेन वागः इति रूपं न शङ्क्यम् । 'अजि-

१ ऋग्वेदः— ६, ३०, १३ । तै० सं० १, १, १४, १ । ५, ५, १ ।

व्रज्योश्च' (पा० ७, ३, ६०) इत्यत्र चकारेणाऽनुक्तसमुच्चयार्थेन वजेरपि कुत्वनिषेधात्-अतएव न्यासकारः— "चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद् वजेरपि कुत्वप्रतिषेधः सिद्धो भवति वाज इति । (सातये) दानाय, 'षणु दाने' (१४६५) तानादिकः उभयपदी । 'ऊतियूति०' (पा० ३, ३, ९०) इत्यादिना भावे क्तिनि 'जनसनखनां सञ्झलोः' (पा० ६, ४, ४२) इत्यात्वे निपातनाद् अन्तोदात्तत्वं द्रष्टव्यम् । (उभा) उभौ (वां) युवाम् (हुवे) आह्वयामि । ह्वेञ् शब्दे (१००८) भौवादिकः उभयपदी । लटि उत्तमपुरुषैकवचने छान्दसत्वात् सम्प्रसारणे शपो लुकि उवङ् इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु – (इन्द्राग्नी) हे नरनारायणौ । (वाम्) युवाम् (उभा) उभौ (आहुवध्यै) आह्वातुम् इच्छामीति शेषः । (उभा) उभौ (सह) प्रकाशकप्रकाशरूपाभ्यां युगपत् (राधसः) आत्मप्रतिबिम्बवहविर्भ्याम् (मादयध्यै) मादयितुं हर्षयितुं वा इच्छामीति शेषः । 'मदी हर्षग्लेपनयोः' (८१५) भौवादिकः परस्मैपदी, मद तृप्तौ इति धातोर्णिजन्ताद् वा तुमर्थे प्रत्ययः । (उभा) उभौ (इषाम्) अमृतवृष्टीनाम् (रयीणाम्) योगसम्पत्तीनाम् (दातारौ) (उभा) उभौ (वाम्) (वाजस्य) प्राणस्य, 'अन्नं हि प्राणः' (शत० २, १२, १, ६) । (सातये) दानाय (हुवे) आह्वयामीति ।

सात्वतास्तु— पाण्डवाः लाक्षाभवने परमेश्वरकरुणया न दग्धाः । द्रुपदतनयास्वयंवरे मत्स्यभेदपणपूर्त्या राज्ञोऽन्यान् निर्जित्य कृतोद्वाहाः मोदमानाः कुशलिनः इन्द्रप्रस्थं प्रत्यागताः, इत्यवगत्य श्रीकृष्णः गत्वेन्द्रप्रस्थम्, आर्यस्य धर्मराजस्याग्रहात् चतुरो मासान् यावत् तस्थौ । एकदा सार्जुनः कृष्णः अधिरूढरथो वनं जगाम । तत्र जलं पातुम् गतो यमुना-तटं काञ्चित् परमां सुन्दरीं ददर्श । अर्जुनमुखेन विदिततदभिप्रायस्तामुपजगाम । तदा कृष्णा-नुरक्ता सा स्वपित्रा मध्येजलं निर्मापिते स्वनिवासस्थाने प्रीतिभोजनाय अभ्यर्थयाञ्चक्रे कृष्णार्जुनौ–उभाविति 'इन्द्राग्नी' इन्द्रो अर्जुनः इन्द्रतनयत्वात्, अग्निर्दैत्यदानवदहनः कृष्णः इन्द्रश्चाग्निश्चेति द्वन्द्वसमासः । तत्सम्बोधने इन्द्राग्नी ! हे कृष्णार्जुनौ ! 'वां' युवाम् अहं कालिन्दीनामधेया तपनतनया स्वभवने 'आहुवध्यै' आह्वातुमिच्छामि इति शेषः । अपि च 'राधसः' आराधनात् यथाविधि सत्कारादिना सेवनात् 'सह' युगपद् 'मादयध्यै' मादयितुम् 'उभौ' युवां हर्षयितुं ममोत्कण्ठाऽस्ति इति शेषः ।

किञ्च उभौ 'वां' युवां द्वौ 'इषाम्' अभिलषितानां रयीणां विष्णुपाणिग्रहणतत्पाद-सेवादिलक्षणधनानाम् दातारौ, एकः साक्षात्, द्वितीयः प्रेरकत्वात् इतिभावः । स्वाभिप्रायमावि-

ष्करोति। उभा वां-युवां द्वौ वाजस्य विविधरुचिरभोजनस्य सातये दानाय स्वगृहे प्रीति-भोजाय 'हुवे' आह्वयामि इत्यर्थः। तत्प्रार्थनाया तद्गृहे विहितप्रीतिभोजनो तौ तामपि रथे सहोपवेश्य युधिष्ठरसविधे इन्द्रप्रस्थमाजग्मतुः। सप्तदशादिषु पद्येषु अवलोकनीया एषा कथा (भागवते १०।५८ अध्याये) वेदे अभिहितस्यापि तद्गृहे भोजनस्यानुपन्यासो भागवते संक्षेप-लोभात् इत्यवसेयम्।

[1] अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्॥ १६। ३। १४॥

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्।

चतुर्दश्यां कण्डिकायां ऋगात्मकः 'अयं ते योनिः' इत्येक एव मन्त्र आहवनीयाग्न्युप-स्थानः। अस्य देवश्रवोदेववातावृषी, स्वराडनुष्टुप् छन्दः, अग्निर्देवता (शत० २, ३, ४, १३ का० श्रौ० ४, १२, १)।

(अग्ने) हे आहवनीयाग्ने। (अयम्) गार्हपत्योऽग्निः (ते) तव (ऋत्वियः) ऋतावृतौ प्राप्तः। ऋतुः प्राप्तोऽस्येत्यर्थे 'छन्दसि घस्' (पा० ५, १, १०६) इति ऋतुशब्दाद् घस्। तस्येयादेशः। (योनिः) जन्मस्थानम्। आहवनीयस्य गार्हपत्यादेवोद्धृतत्वात्। (यतः) यस्माद् गार्हपत्यादग्नेः (जातः) उद्धृतस्त्वम् (अरोचथाः) कर्मकालेऽदीप्यथाः। रुच दीप्तौ (७४५) भौवादिकः आत्मनेपदी। लङि मध्यमपुरुषैकवचनेरूपम्। (तं) स्वयोनिं (जानन्) बुध्यमानः (आरोह) अनुप्रविश। (अथा) अथ तदनन्तरम् 'निपातस्य च' (पा० ६, ३, १३६) इति संहितायां दीर्घः। (नः) अस्मभ्यम् (रयिं) धनसम्पत्ति (वर्धया) वर्धय-समर्धय 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६, ३, १३७) इति संहितायां दीर्घ इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (अग्ने) हे ब्रह्माग्ने! (अयं) क्षेत्रज्ञात्मा (ते) तव (ऋत्वियः) समाधिकाले प्रादुर्भावयोग्यः। उत्पादनयोग्यः काल ऋतुरुच्यते (योनिः) आविर्भावस्थानं (यतः) यस्मात् यत्रेत्यर्थः (जातः) त्वमाविर्भूतः (अरोचथाः) दीप्तोऽभवः (तं) आवि-

१ ऋग्वेद ३, २९, १०। अथ० ३, २०, १। तै० सं० १, ५, ५, २; ४, २, ४, ३, ७; १३, ५। तै० ब्रा० १, २, १, १६; २, ५, ८, ८।

र्भावस्थानं क्षेत्रज्ञात्मानं (जानन्) स्वांशं जानन् (आरोह) प्रविश (अथ) अनन्तरं (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) योगलक्ष्मीम् (वर्धय) इति ।

सात्वतास्तु— कंसे निहिते राजसिंहासनारोहणं प्रतिषेधन्तं प्रणिपतन्तं श्रीकृष्णं प्रति पित्रोः अन्यस्य सुहृज्जनस्यचोक्तिः 'अयम्' इति । अयं मधुपुरी–प्रदेशः 'ते' तव योनिः जन्मभूमिः 'ऋत्वियः' राजसिंहासनारोहणकालोऽत्र ऋतुः स प्राप्तो यस्येति तथा । सम्प्रति मथुरायामेव उषित्वा यदुराज्यं साधयेति भावः । तं प्रदेशं विशिनष्टि यत इति । 'यतः' यस्मिन् प्रदेशे कारागार–यातनां सहमानयोरावयोर्गृहे त्वम् 'अरोचथाः' दीप्तवान्, आविर्भाववेलायां लोकोत्तरतेजसा समृद्धः । स्वप्रसूतिधामाऽपि तेजोऽतिरेकेण विद्योतितवान् इति भावः । 'तं' कंस – दत्त – भयङ्कर–यातनावृत्तान्तं 'जानन्' अवगच्छन् 'अग्ने' अग्रणीः परमात्मन् । 'आरोह' मधुपुरी–राजपीठम्, चिरखिन्नानास्माकं पित्रोः सुहृदाञ्च प्रसादनाय । अथ अनन्तरं 'नः' अस्माकं रयिं सम्पत्ति वर्धय विपन्नपूर्वान् धनादिभिः सम्पन्नान् विधेहि इतिभावः ।

[1]अयमिह प्रथमो धायिधातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ य० ३।१५ ॥

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

पञ्चदश्यां कण्डिकायाम् 'अयमिह प्रथमः' इति ऋग्रूप एक एव मन्त्रः आहवनीयाग्न्युपस्थानः । अस्य वामदेव ऋषिः, जगती भूरिक् त्रिष्टुप् वा छन्दः, अग्निर्देवता (२, ३, ४, १४) (का० श्रौ० ४, १२, १) । (अयम्) आहवनीयाग्निः (इह) कर्मकाले (प्रथमः) मुख्यः यद्वा दक्षिणाग्निसकाशात् प्रथमोपस्थितत्वात् अग्रिमः (धातृभिः) आधातृभिर्ऋत्विग्भिः (धायि) न्यधायि । (डुधाञ् धारणपोषणयोः (१०९२) जौहोत्यादिक उभयपदी) कर्मणि लुङि 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (पा० ६, ४, ७५) इत्यडभावः । कीदृशः सोऽग्निः (होता) आह्वाता सर्वेषां देवानाम् (यजिष्ठः) अतिशयेन यष्टा, यष्टृशब्दात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ (पा० ५, ३, ५५) इति इष्ठन्प्रत्यये यष्टृ+इष्ठ इति स्थिते 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा० ६, ४, १५४) इत्यनेन सूत्रेण तृचो लोपः । पुनः कीदृशः (अध्वरेषु) यागेषु (ईड्यः) स्तुत्यः ईड स्तुतौ (१०१९) आदादिकः आत्मनेपदी । ईडितुमर्हति कर्मणि ण्यत् प्रत्ययः । तित्त्वात् 'तित्वरितम्' (पा० ६, १. १८५) इत्यनेनान्तस्वरितत्वे प्राप्ते 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' (पा० ६, १, २१४) इत्याद्युदात्तत्वम् । (यम्) यमाहवनीयमाधाय सम्पन्नयज्ञा अप्नवानः । यावन्तोऽसन्तस्तेऽकारान्ता अपीति कोषसमयः [1] । तस्माद् अप्नः

1 ऋ० ४, ७, १, । तै० सं० १, ५, ५, १ ।

इत्यपत्यनामसु सान्तः (निघ० २. २, ७) शब्दः पठितोऽपीह अप्नः 'इत्यकारान्तः शब्दो ग्राह्यः। अप्नोऽपत्यमस्त्येषामित्यर्थे मत्वर्थे वनिप् प्रत्ययः 'छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ' (पा०वा० ५, २,१२२) इति। अप्नवानः पुत्रवन्तो भृगवः। अथवा अप्नवाननामा महर्षिः (भृगवः) भार्गव–गोत्रोत्पन्ना महर्षयश्च । भृगोर्गोत्रापत्यानि, इत्यर्थे 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पा० ४, १, ११४) इति सूत्रेण विहितस्य अणप्रत्ययस्य बहुवचने 'अत्रिभृगुकुत्सवशिष्ठगोतमांगिरोभ्यश्च' (पा० २, ४, ६५) इत्यनेन लुकि भृगवः (वनेषु) उत्तराधरयोर्द्वयोररण्योः, अरण्यस्थेषु देवयजनेषु वा (विरुरुचुः) रुच दीप्तौ (७४५) भौवादिकः आत्मनेपदी। वेदेऽयमिह परस्मैपदी। विरोचितवन्तः दीपितवन्त इति भावः। अन्तर्णीतणिजर्थं लिटि प्रथमपुरुषस्य बहुवचने रूपम्। कीदृशमग्निम् (चित्रम्) रक्तश्वेताद्यनेकवर्णज्वालाभिर्विचित्रम् (विशे विशे) विडिति मनुष्यनाम (निघ० २, ३. ५,) वीप्सायां द्विर्वचनम्। मनुष्ये मनुष्ये प्रतिमनुष्यम् सर्वमानवमात्रोपकारार्थम्। प्रजायां वा विट् शब्दः प्रजासु प्रजासु प्रतिप्रजम् सर्वप्रजोपकारार्थम्। 'अनुदात्तं च' (पा० ८, १, ३) इत्यनेन विशे विशे इत्यत्र परस्थं 'विशे' इत्यनुदात्तम् (विभ्वम्) विभुम् सर्वव्यापिनम्। 'वा छन्दसि' (पा० ६, १, १०६) इति सूत्रम् 'अमिपूर्वः' (पा० ६. १, १०७) इत्यत्रापि वाक्यभेदेन सम्बध्यते, तस्मादपि पूर्वरूपं छन्दसि विभाषा भवति। अतएव नेह पूर्वरूपम् अपितु 'छन्दस्युभयथा' (पा० ६, ४, ८६) इति यणादेश इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (अयं होता) ज्ञाननिष्ठानाम् आह्वाता (यजिष्ठः) ज्ञानयज्ञे स्थितः अथवा मन्त्रशास्त्रदृष्ट्या यः हृदयं ज् मनः इः भ्रूमध्यः तेषु स्थितः। (अध्वरेषु) ज्ञानयज्ञेषु (ईड्यः) यागादिभिः स्तुत्यः (प्रथमः) मुख्यः ब्रह्माग्निः (इह) अस्मिन् ज्ञानयज्ञे (धातृभिः) योगिभिः (धायि) ध्याने धारितोऽभूत्। (अप्नवानः) पुत्रवन्तः शिष्यवन्त इत्यर्थः। (भृगवः) गुरवः। भार्गवाङ्गिरसयोर्वंशयोर्गुरुकुलत्वात्। यथा महाभारतस्यादिपर्वणष्टीकायां नीलकण्ठेनोक्तम्—गुरूणां माहात्म्यं निरूपणीयं, तस्मादाचार्येणाख्यायिकामुखेनैव पौलोमेभार्गवाणां गुरूणां माहात्म्यमुक्तमिति। (वनेषु) (यं) (चित्रम्) अद्भुतम्। चिद्ज्ञानम् तद् राति ददातीति चित्रं ज्ञानदातारं वा (विभ्वं) विभुं विभुत्वशक्तियुतं, यणादेशः। अथवा व् ब्रह्म इः परा भ् ईशः वः निवृत्तात्मा तं चतुर्विधं ब्रह्माग्निं (विशे विशे) प्रत्येकशिष्याय (विरुरुचुः) ज्ञानोपदेशेन दीपयन्ति स्म। अन्तर्भूतो णिजर्थः, रोचयामासुर्दीपितवन्त इति।

सात्वतास्तु— भगवदवतारस्य परशुरामस्य वर्णनपरेयम्—अयमिति। 'अयम्' ब्रह्मद्रोग्धृराजन्यनिकरमूर्धच्छेदन–दक्ष–कुठारः, दण्डपाणिरिव पापिनां राज्ञां दण्डयिता विप्रकुला-

वतंसो भृगुकुलकीर्तिवर्धनः परशुरामः 'इह' अस्मिन् जगति प्रथमः मुख्यः नेता, 'धातृभिः' धारकैः, धर्मव्यवस्थापकैः स्ववंशलब्धप्रतिष्ठैर्वयोवृद्धैः पूर्वजैः 'अधायि' हितः निहितः दुर्वृत्त-भूपतिवर्गदण्डनाय नियुक्तः। अयमस्माकं नेता दुराचारिणो भूभुजो हत्वा धर्मं स्थापयिष्यति। इतोऽवधि सर्वैर्ब्राह्मणैर्नेतृत्वेन मान्य इत्येवमुद्घोषितः। कीदृशः ? होता राजन्यबन्धूनां संग्रामार्थ-माह्वाता आगन्तव्यम्, मया सह योद्धव्यम्, पश्यामि राजन्यबन्धो तव पराक्रममित्येवं मुक्तकण्ठमाभणितः। अध्वरेषु यज्ञेषु याजकैर्वेदज्ञैः विप्रैः 'ईड्यः' स्तुत्यः। अयमस्माकम् कुला-लङ्कारः, वर्तमानेऽस्मिन् कः क्षमेतास्मान् ब्राह्मणान् उपतप्तुमित्येवं स श्लाघ्यः। यजिष्ठः स्वयमपि अतिशयेन यष्टा। 'अप्नवानः' प्रशंसायां मतुप्, प्रशस्तापत्या यथार्थं पुत्रवन्तः। यस्य पुत्रः धार्मिकः शूरः, नम्रः, लोकोत्तर-कार्यकारी, यशस्वी स लोके पुत्रवान् इत्युच्यते। "स पुत्रो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्" इति "एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारासहस्रकम्" इति नीतिवचनात्। भृगवः भृगुगोत्राः मुनयः वनेषु वर्तमाना इति शेषः, तपस्विन इति यावत्। यं परशुरामं लब्ध्वेति शेषः। 'विरुरुचुः' विशेषेण दीप्यन्ते स्म शुशुभिरे, अथवा यं परशुरामं विरुरुचुः अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र रुचिः, विरोचयामासुः स्वाशीर्वचोभिरभिनन्दन्तिस्म। धन्योऽयम् अस्मद्वंशोऽनेन प्रशस्ति-भाजनतां नीतः इत्येवं संश्लाघनीयः। कीदृशं ? तं 'चित्रम्' लोकोत्तरशौर्येण विश्वाश्चर्यंकरम्। 'विभ्वं' विभुम् आविर्भूतदिगन्तविश्रुतकीर्ति 'विशे विशे' विडिति मनुष्यनाम 'विश प्रवेशने' क्विप्। विशन्ति अनुप्रविशन्ति सवकर्म-स्वधिकारित्वेन। यद्वा अनुप्रविष्टा आत्मीयभूराजादेः आश्रिता इति देवराजः (निघण्टु २, ३, ५) सर्वस्मै मनुष्याय सर्वजनोपकारार्थम्। अप्न इत्यपत्यनाम (निघण्टु २, २, ७) आप्नोति अनेन सर्वान् कामानपि वा आप्यते वा महता पुण्येन इति देवराजः। आप्नोतेरसुनि, नुटि ह्रस्वे साधुः।

[1]अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुहे अह्रयः।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ य० ३। १६॥

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अस्यां षोडश्यां कण्डिकायाम् 'अस्य प्रत्नाम्' इति ऋगात्मक एक एव मन्त्र आहवनीया-ग्न्युपस्थानः॥ अस्य अवत्सार ऋषिः, गायत्रीछन्दः, गोपयोऽग्नयः देवताः (शत० २, ३, ४, १५, १६; का० श्रौ० ४, १२ १, ३)।

यथा वात्सप्रे विशेषः 'उपप्रयन्तः' (३, ११) इत्यत्रोक्तस् तथैवाऽत्राप्यवगन्तव्यः। अस्या अपि कण्डिकायाः उत्थाय त्रिर्जपः कार्यः। (अस्य) आहवनीयाग्नेरेव (प्रत्नाम्)

[1] ऋग्वेद ९, ५४, १। साम० ७५५। मै० सं० १, ५, ५, १।

सनातनीम् । प्रत्नमिति पुराणनामसु पठितम् (निघ० ३, २७, १) । (द्युतम्) कान्तिम् । द्युत दीप्तौ (७४१) भौवादिकः आत्मनेपदी । द्योतते इति द्युत् कर्तरि क्विप्प्रत्ययः । (अनु) अनुसृत्य अग्नेरेवानादिप्रकाशे इति भावः (अह्रयः) निःशङ्का दोग्धारः, अन्धकारे हि गोदोहने पयसो भूमिपतनशङ्का जायते, यज्ञसिद्धयर्थं दुह्यमानं पयः स्कन्नं सद् यज्ञासिद्धिनिर्देशकमपशकुनं न दिशेदित्याशंकैव लज्जा संकोचो वा । सति चाग्निप्रकाशे दुग्धस्य स्कन्नत्वशङ्कायाः सर्वथाऽनुदयाद् निःसंकोचं दोग्धारः शक्नुवन्ति गां पयो दोग्धुम् । अतएव ह्रियः ह्रीमन्तः संकोचशीलाः ह्री लज्जाऽस्ति येषामित्यर्थे विहितस्य मतुप्प्रत्ययस्य 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' (पा० वा० ५, २, ९५) इत्यनेन लुकि ह्रियः ह्रीमन्त इत्यर्थः । न ह्रियो ह्रीमन्त इति तत्पुरुषसमासे अह्रयः निराशंकाः । 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ' (पा० ६, २, २) इत्यादिना 'अव्यये नञ् कुनिपातानाम्' इति वार्तिकनियमात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरादाद्युदात्तत्वम् । नास्ति ह्रीर्लज्जा येषामिति बहुव्रीहिसमासमभ्युपगच्छन्त उव्वटमहीधरादयः स्वराऽसिद्धेरमान्याः; अथवा अह्रयः पयोदोहने व्याप्तिमन्तः त्वरया सर्वं गोदोहनसम्भारमाप्नुवाना दोग्धार इत्यर्थः । 'अह व्याप्तौ' (१२७३) सौवादिकः परस्मैपदी । तस्माद् औणादिकः क्रिन् प्रत्ययः नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । शब्दसाधुत्वे कृतप्रशंसनीयप्रयासा अप्यर्वाचीनाः क्रिप्रत्ययं मन्यमानाः स्वरदोषान्न रमणीयाः । (शुक्रम्) स्वच्छं अथवा वीर्यवर्द्धकम् (पयः) दुग्धम् (सहस्रसाम्) सहस्राणि बहूनि क्षीराज्यदधितक्रादीनि सनोति ददातीति सहस्रसाः धेनुः ताम् । 'षणु दाने' (१४६५) तानादिकः उभयपदी । उपपदसमासे 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० ३, २, ६७) इति कर्तरि विट् प्रत्ययः । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० ६, ४, ४१) इत्यनेनादादेशे च रूपम् । किंभूतां सहस्रसां धेनुम् । (ऋषिम्) अनायासं दोहनस्थाने स्वयमेवोपपन्नाम् । 'ऋषी गतौ (१२८८) तौदादिकः परस्मैपदी । 'इगुपधात् किन्' (पा० ३, ४, १२०) इति किन् प्रत्ययः । नित्वाद् आद्युदात्तत्वम् । यद्वा वेदे पश्यत्यर्थः ऋषिः । (ऋषिम्) दोग्धारः कदा मां दुहन्तीति कालं प्रतीक्षमाणाम् । दुहेर्द्विकर्मकत्वत् 'अकथितं च' (पा० १, ४, ५१) इत्यनेन गौणकर्मणः (सहस्रसाम् ऋषिम्) इति शब्दद्वयस्य पञ्चम्यर्थे कर्मत्वाद् द्वितीया । (दुदुहे) होमे पयोलाभार्थं दुग्धवन्तः । दुह प्रपूरणे (१०१४) आदादिकः उभयपदी । दुदुहिरे इत्यत्रं सतः 'इरयो रे' (पा० ६, ४, ७६) इति सूत्रेण 'इरे' इत्यस्य 'रे' इत्यादेशे 'दुदुह्रे' इति । सहस्रसः ऋषेर्धेनोः सकासाद् दोग्धारो निराशङ्का अग्निप्रकाशे शुक्रं पयो दुग्धवन्तः इति भावः । अथवा 'तामु हाग्निरभिदध्यौ मिथुन्यनया स्यामिति, तां संबभूव, तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्, तत् पयोऽभवत्' (शत० २, २, ४, १५) इति श्रुतेः (अस्य) अग्ने; (प्रत्नाम्) चिरन्तनीम् । (द्युतम् अनु) गवि अनुषक्तां शुक्ररूपापन्नां दीप्तिमेव पयोभूताम् (अह्रयः) संकोचरहिताः गावः दुदुह्र क्षरन्ति ।

अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तां स्वकान्तिमेव गावो दुग्धरूपेण क्षरन्तीत्यर्थः। कीदृशं पयः (सहस्रसाम्) छान्दसः लिङ्गव्यत्ययः। नवनीताद्यनेकपदार्थप्रदातृ। (ऋषिम्) गोद्रष्टृत्वं गोपयस्युपचर्यते। 'सा हैनान् उदीक्ष्य हिङ्चकार, ते देवा विदांचक्रुरेष साम्नो हिङ्कारः' (शत० २, २, ४, १२) इत्यादेर्गोद्रष्टृत्वमभ्युपगम्यते इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (अह्रयः) अनर्हत्वलज्जाहीनाः योगिनः (अस्य) ब्रह्माग्नेः प्रत्नाम् मन्त्रशास्त्रदृशा प् परा र् ब्रह्मा त् विष्णुः नः शिवः तेषां रूपस्य धारिकां (सहस्रसाम्) सहस्रज्योतिः, ब्रह्मज्योतीरसरूपाम् (द्युतम्) दीप्तम् (अनु) अनुलक्ष्य (शुक्रं) मानससूर्यम्, 'एष वै शुक्रो य एष तपति, तस्य ये रश्मयस्ते विश्वेदेवाः' (शत० ४, ३, १, २६)। पयः प्राणम् 'प्राणः पयः शीर्षंस्तत् प्राणम्' (शत० ६. ५, ४, १५), ऋषिं वेदस्य सारं तत्वमसीत्यादिमहावाक्यात्मकं महावाचं (दुदुह्रे) होमाय दुदुहिरे इति।

सात्वतास्तु— एकदा दत्तात्रेयप्रसादलब्धवरः समस्तयोगसिद्धिसम्पन्नः सहस्रबाहुरर्जुनः वने भ्रमन् जमदग्नेराश्रमं जगाम। जमदग्निमुनिना सत्कृतो लब्धातिथ्यस्तपोधनेनानेन अकिञ्चनेन येन कामधेनुमहिम्ना ससैन्यस्य मम देवदुर्लभ-विविध-भोजनादिभिर्महदातिथ्यं समाचरितम्। सा कामधेनुः मया स्वपुरीं नेतव्या। रत्नानि राज्ञः सविधे शोभन्ते तस्मात् इदमपि गोरत्नम् मया आत्मसात्कर्तव्यम् इत्यभिसन्धाय अपृष्ट्वैव मुनिं स्वानुचरान् तां नेतुम् आदिदेश। तदादिष्टाः तदनुचराः अनिच्छन्तीमपि क्रन्दन्तीं सवत्सां तां बलात् माहिष्मतीं राज्ञो नगरीं नीतवन्तः। सैषा कथा (भाग० ९। १५। २३–२७) श्लोकेषु वर्णिता अनेन मन्त्रेणावधीयते–अस्येति। 'अस्य' परशुरामतातस्य जमदग्नेः 'प्रत्नाम्' अतिप्राचीनां बहुकालं यावत् तदाश्रमेऽवस्थितां 'द्युतं' सर्वाभिलषितप्रदत्वेन द्योतमानां प्रख्यातां कामधेनुम् अनुभूय मया असाववश्यं नेतव्येति निश्चित्य तद्ग्रहणलोलुपेन तेन राज्ञा आदिष्टा अनुचराः, 'अह्रयः' निर्लज्जाः सत्कर्तुरपि मुनेर्धेनुं नेतारः। ऋषिम् गौणे कर्मणि द्वितीया ऋषेरित्यर्थः। सहस्रसाम् अनन्ताभिलषितप्रदातृ गोः शुक्रं शुद्धं पयः दुग्धमिव 'दुदुह्रे' दुदुहिरे दुग्धवन्तः। दोहनञ्चात्र सारयुक्तवस्तुनः सारस्य पृथक्करणम्। गोशरीरसारं पयः दोहनेन तस्मात् पृथक् क्रियते तद्वत्। अयमभिसन्धिः-यथा दोग्धा गोः शरीरात् सारं तद्दुग्धं पृथक्कृत्यात्मसात्कुरुते, तथैव अस्याश्रमसारभूतां धेनुं ऋषेराश्रमात् अपहरणेन पृथक्कृत्य आत्मसात्कृतवन्तः इति। सहस्रम् सनोति ददातीति सहस्रसाः। 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (पा० ३, २, ६७) इति विट्प्रत्यये' 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (पा० ६, ४, ४१) इत्याकारे वेर्लोपे सहस्रसा इति रूपम्। अपि वा अनु अनुज्ञाताः राज्ञः अनुचराः सहस्रसां प्रत्नां द्युतं दुदुह्रे इति सम्बन्धः। तत्र दृष्टान्तः शुक्रं पयो गोरिति शेषः। गोशुक्रं पयइव ऋषे तां धेनुं राजानुचराः दुग्धवन्तः, अपहरणेन ऋषेः पृथक्कृत्य आत्मसात् कृतवन्त इति भाव।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ।। य. ३।१७

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

सप्तदश्यां कण्डिकायां 'तनूपा अग्ने' इत्येको मन्त्र आहवनीयाग्न्युपस्थानः । अस्य अवत्सार ऋषिः, त्रिष्टुप् छन्दः, अग्निर्देवता (शत. २,३,४,१९-२०; का. श्रौ. ४,१२.१) ।

(अग्ने) हे आहवनीयाग्ने ! त्वं (तनूपाः) याजकसम्बन्धिशरीराणां पालयिता । तनूं पाति गोपायतीति कर्तरि विच् प्रत्ययः । एवमेव 'आयुर्दाः' 'वर्चोदाः' इत्यत्रापि ज्ञातव्यम् । (असि) प्रज्वलिते जठराग्नावेव शरीररक्षेति भावः । (मे)मम (तन्वं) शरीरम् । तनूमिति पूर्वरूपे प्राप्ते 'वा छन्दसि' (पा. ६, १, १०६) इत्यस्य 'अमि पूर्वः' (पा. ६, १, १०७) इत्यत्रापि वाक्यभेदेन सम्बन्धात् तदभावे 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (पा. वा. ६।४।८६) इत्यनेन यणादेशः । (पाहि) रक्ष । (अग्ने) त्वम् (आयुर्दाः) चिरायुष्यप्रदः (असि),(आयुः मे देहि) अपमृत्युनिरासपूर्वकं चिरजीवितं मह्यं देहि । शरीरस्वास्थ्ये मृत्योर्भयं नाशङ्क्यते इति तदेव चिरजीवितम् । (अग्ने) त्वं (वर्चोदाः) वैदिककर्मानुष्ठानसमृद्धं तेजो वर्चः ब्रह्मवर्चसमित्यर्थः तस्य दाता (असि) । ब्रह्मवर्चसिनो विप्रास्तपसेद्धा अग्निरिव ज्वलन्ति दीप्यन्ते । तद् (वर्चो मे देहि) । (अग्ने) (मे) मम (तन्वाः) देहस्य (यत्) यत्किंचित् वैकल्यं, न्यूनता, इन्द्रियाणां दर्शनश्रवणादिराहित्यम् (तत्) सर्वं (मे) मम(आपृण) समन्तात् पूरय समर्धयेत्यर्थः । पृण प्रीणने (१३३०) तौदादिकः परस्मैपदी, इह पूरणार्थे प्रयुक्त इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— (अग्ने) हे ब्रह्माग्ने! त्वं (तनूपाः) तनूं ब्रह्माण्डरूपं शरीरं पाति पालयतीति तनूपाः (असि) (मे) मम (तन्वम्) लिङ्गशरीरम् (पाहि) संसाराद रक्ष । (अग्ने) ब्रह्माग्ने! (आयुर्दा असि, आयुर्मे देहि) । (अग्ने) ब्रह्माग्ने! त्वं (वर्चोदाः) ब्रह्मवर्चसस्य दाता (असि) (मे) मह्यं (वर्चः) ब्रह्मवर्चसं (देहि) । (अग्ने) हे ब्रह्माग्ने (मे) मम (तन्वाः) शरीरस्य (यत्) चक्षुःकरादिरूपम् (ऊनम्) ज्ञानयज्ञानुष्ठानेऽशक्तं (तत्) तदङ्गं (मे) (आपृण) सर्वतः पूरयेति ।

सात्वतास्तु— रथमारुह्य द्वारिकां जिगमिषुं हरिम् अभिधावन्ती,द्रोणपुत्रेण अश्वत्थाम्नः प्रयुक्तस्य ब्रह्मास्त्रस्य प्रभावात् स्वमभिगच्छन्तं जाज्वल्यमानशरं दर्शंदर्शमतिभीता त्रायस्व, कामं दहतु मदीयं शरीरमयं शरः, मा गर्भसत्त्वं धाक्षीदिति, व्याहरन्ती साश्रुनयना अर्जुनपुत्रवधूरुत्तरा परीक्षितो जननी बद्धकरा रुदन्ती श्रीकृष्णमभ्यर्थयांचक्रे । तदीया अभ्यर्थनोक्तिः- तनूपा इति ।

अग्ने जगदग्रणीः परमात्मन् ! मे तन्वं तनूं सगर्भां पाहि रक्ष । अतस्त्वं तनूपाः सर्वस्य जगतः तनूनां शरीराणां पालकोऽसि, ब्रह्मणः सर्जनं रुद्रस्य संहरणमिव च विष्णोस्तव जगद्रक्षणमेव व्रतमिति भावः । स जीवः तत्तेजश्च रक्षणीयम् । का नाम रक्षा मृतस्य निस्तेजसश्चेत्याशयेनाह—'आयुर्दा' आयुषो दाता 'वर्चोदा' वर्चसो दाता यतस्त्वमसि, हे अग्ने ! तस्मात् तद्द्वयं मह्यं देहि प्रयच्छ । अमोघं द्रौणेरस्त्रम्, अतस्तेन क्रियमाणं 'ऊनम्' यत्किञ्चित् सम्भाव्यमानम् अङ्गवैकल्यं तत् मे मम 'आपृण' पूरय, वैकल्यपरिहारेण यथापूर्वं शरीरसाकल्यं सम्पादय, अस्त्रबलात् सगर्भस्य काचिद् हानिर्माभूदित्यर्थः । अस्त्र-निवारणेन प्रसादयेति भावः ।

"इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि ।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् ।
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ।। य. ३।१८

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अष्टादश्यां कण्डिकायाम् 'इन्धानास्त्वा' इति मन्त्र आहवनीयाग्न्युपस्थानः । अस्य अवत्सारः ऋषिः, निचृद् ब्राह्मी पङ्क्तिर्वा महापङ्क्तिर्वा छन्दः, अग्निर्देवता । 'चित्रावसो' इति यजुषः रात्रिर्देवता । 'चित्रावसो' इति यजुर्मन्त्रोऽपि स्थित्वा त्रिर्जप्य इति वात्सप्रे विशेषः । यस्याः षट् पादा अष्टाक्षराः सा महापंक्तिः । अत्र षष्ठः पादः सप्ताक्षरः (शत. २, ३, ४, २१-२२) (का. श्रौ. ४, १२, १-३) ।

(अग्ने) हे आहवनीयाग्ने! पादादित्वात् 'आमन्त्रितस्य च' (पा. ६, १, १९८) इत्यनेन 'अग्ने' इत्यत्राद्युदात्तत्वम् (शतं) अनन्तान् (हिमाः) हेमन्तान् । अतएव तैत्तिरीयाश्रुतिः 'शतं हिमाः' (१, ५, ८, ५) इत्याह । शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वा चैतदाहेति । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' (पा. २, ३, ५) इत्यनेन द्वितीया । (इन्धानाः) स्वयं दीप्यमानाः । ञिइन्धी दीप्तौ (१४४९) रौधादिकः आत्मनेपदी । वर्तमाने लटः शानजादेशे श्नमि 'श्नान्नलोपः'(पा. ६, ४, २३)इति श्नमः परस्य धात्ववयवस्य नकारस्य लोपे 'श्नसोरल्लोपः' (पा. ६, ४, १११) इत्यनेन श्नमोऽकारस्य लोपे 'इन्धानाः' इत्यत्र 'तास्यनुदात्तेत्' (पा. ६, १, १८६) इत्यादिना लसार्वधातुकस्य शानचो निघातत्वे प्राप्ते 'विन्दीन्धिखिदिभ्यो न' इति तत्रत्येन वार्तिकेन तन्निषेधात् शानचश्चित्त्वात् चित्स्वरेणान्तोदात्तत्वे प्राप्ते 'विभाषा वेण्विन्धानयोः' (पा. ६, १, २१५) इत्याद्युदात्तत्वम् । (त्वा) त्वाम् (द्युमन्तं) दीप्तिमन्तम् अर्चिष्मन्तं (समिधीमहि) संदीपयामहे । कीदृशाः वयम् (वयस्वन्तः) वयस् इत्यन्ननाम (निघ. २, ७, ७) ततो भूम्नि मतुप्प्रत्ययः, बहुविधान्नोपेताः वयं(वयस्कृतं) वयोऽन्नं करोति

वृष्टिलक्षणाभिरद्भिः सम्पादयतीति कर्तरि क्विप्प्रत्ययः, तम् एवं (सहस्वन्तः) सह इति बलनाम (निघ. २, ९, १७) इहात्मबलमभिप्रेतम् । 'षह मर्षणे'(८५२)भौवादिकः आत्मनेपदी, इह त्वभिभवे । सहते अभिभवति शत्रूननेन तम्, करणे औणादिकः असुन् प्रत्ययः प्रशस्तोत्साहवन्तः प्रशंसायां मतुप्प्रत्ययः (सहस्कृतम्) सह उत्साहं करोति वर्धयति तम् त्वां समिधीमहीत्यनुषज्यते । पुनः कीदृशाः वयम् (अदब्धासः) शत्रुभिरपराभूताः अहिंसिताः सर्वदा विजिगीषव इत्यर्थः । दभ्नोतिर्हिंसानामसु पठितः (निघ. २, १९) कर्मणि निष्ठायां दब्धो हिंसितोऽभिभूतः । न दब्धा अदब्धाः । 'आज्जसेरसुक्' (पा. ७, १, ५०) इति जसेर् असुगागमः । अदब्धासः वयम् । कीदृशम् अग्निम् (सपत्नदम्भनम्) सपत्नाः शत्रवो दभ्यन्ते हिंस्यन्तेऽनेनेति करणे ल्युटि उत्तरपदप्रकृतिस्वरमहिम्ना लिति पूर्वस्य धातोर् उदात्तत्वेन मध्योदात्तत्वम् । शत्रूणां हिंसितारम् । पुनः कीदृशमग्निं समिधीमहि (अदाभ्यम्) केनापि हिंसितुमशक्यमिति ।

'चित्रावसो' इति यजुः रात्रिदेवत्यम् । 'रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयं संगृह्येव चित्राणि वसति । (शत. २, ३, ४, २२) इति श्रुतेः । चित्राणि आश्चर्याणि वसूनि ग्रहनक्षत्रतारकादीनि धनानि यस्याः इति बहुव्रीहिसमासः । 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा. ६, ३, १३७) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । हे विचित्रवसुमति रात्रे ! (स्वस्ति) स्वस्तीत्यविनाशिनामसु पठितम् (निघ. ५, ५, ३३) शोभना अस्ति सत्ता यस्याः सेति देवराजयज्वा, तथा चान्तोदात्तत्वम् । इदं क्रियाविशेषणम् । कल्याणं यथा स्यात् तथा (ते) तव (पारम्) अपरं तीरम् अन्तमित्यर्थः । (अशीय) अशू व्याप्तौ (१२६५) सौवादिकः आत्मनेपदी, 'बहुलं छन्दसि' (पा. २, ४, ७३) इत्यनेन व्यत्ययेन शपो लुकि लिङि उत्तमैकवचने रूपमिति, प्राप्नुयामिति । अस्मास्वनवहितेषु सुप्तेषु राक्षसा देवयजनं मा प्रविक्षन् इति रक्षार्थं रात्रिः प्रार्थ्यते इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— वागादयः कथयन्ति (अग्ने) आत्माग्ने ! (इन्धानाः) त्वदनुग्रहेण दीप्यमानाः (वयस्वन्तः) मन्त्रशास्त्रदृशा वः निवृत्तात्मा, अः सर्वव्यापी, सः ईश्वरः, यः योगः जीवेशयोगवन्तः (सहस्वन्तः) योगबलवन्तः (अदब्धासः) कामादिभिरनुपहिंसिता वयम् (शतं हिमाः) पूर्णायुःपर्यन्तम् (त्वा) त्वां (द्युमन्तम्)परा नाम ज्योतिस्तद्वन्तम् (वयस्कृतं) जीवेशयोगकारकम् (सहस्कृतम्) योगबलजनकं (सपत्नदम्भनम्) कामादीनां हिंसितारम् (अदाभ्यम्) केनापि हिंसितुमयोग्यम् अविनाशिनं (समिधीमहि) प्राणसमिधा तथा इन्द्रियशक्तिरूपाज्येन सम्यग् दीपयाम (चित्रावसो) हे संसाररूपरात्रे ! (स्वस्ति) क्षेमं यथा स्यात् तथा (ते) तव (पारम्) (अशीय)प्राप्नवानि । यथा लोके मनुष्येषु सुप्तेषु चौरा गृहे प्रविशन्ति तद्वत् अत्र योगयज्ञे कामादयः प्रविशन्तीति शङ्कया तन्निवारणाय संसाररात्रेः प्रार्थनमिति ।

सात्वतास्तु – द्वारिकायां भगवतः आधिपत्ये चिरं सानन्दम् वसन्तो निर्भयं समुपभुक्त-

देवदुर्लभवैभवोपभोगाः, कृतकृत्यमात्मानं मन्वानाः यादवा ऊचुः—इन्धानास्त्वेति—

शतं हिमाः शतं वर्षाणि यावज्जीवं 'जिजीविषेच्छतं समाः' 'शतायुर्वै पुरुषः' इति च श्रुतेः। इन्धानाः दीप्यमानाः समृद्ध्या विद्यया तेजसा चेत्यर्थः। वयस्वन्तः प्रशस्तान्नाः, सहस्वन्तः प्रचुरबलाः, क्रमेण प्रशंसायां भूम्नि च मतुप्। अदब्धाः केनचित्सपत्नेन अनुपहताः, वयस्कृतम् अन्नबलयोः सम्पादकम्, अदाभ्यम् देवैर्दैत्यैश्च अनभिभवनीयम् किमुत मनुष्यैः। सर्वस्य जेतारं केनाप्यपराजितम्, द्युमन्तं तेजःप्रचुरम्, तेजपुञ्जमूर्तिम्. सपत्नदम्भनम् शत्रूणां घातकं, त्वा त्वां समिधीमहि दीपयाम। "पयसा कमलं कमलेन पयः, पयसा कमलेन विभाति सरः" इति सुकविसुभाषितन्यायेन त्वया वयं अस्माभिश्च त्वं, त्वया अस्माभिश्च द्वारिकेयं, किं बहुनैते वयं सर्वे मिथः सम्पृक्ताः नितरां विभ्राजामहे। द्वारिकायां त्वद्भुजबलपालितायां चित्राणि विचित्राणि स्वर्गादानीतानि परिजातादीनि संगृह्य वसति इति चित्रावसुः। अथवा चित्राणां शृङ्गारादीनां रसानां 'मल्लानामशनिः इति। पद्योक्तप्रकारेण वसुः निवासः आश्रयः रसकदम्बमूर्तिः तत्सम्बोधने चित्रावसो! द्वारिकायां लोकोत्तारविविधपदार्थसंग्राहक रसकदम्बमूर्ते वा भगवन् ते त्वत्प्रसादात् 'स्वस्ति' कल्याणं यथा स्यात् तथा जीवितस्य पारं समाप्तिमशीय प्राप्नुयाम। वचनव्यत्ययः आर्षः। यथाऽद्यत्वे जनसमाजसेवकं विहितपरोपकारं राष्ट्रकल्याणनिरतं जनं मानपत्रादिना सम्मानयन्ति तथेदं यदुभिः भगवते दत्ताम् अभिनन्दनपत्रमेवेति भावः।

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा संप्रजया
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय॥ य. ३।१६

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

ऊनविंश्यां कण्डिकायां 'सं त्वमग्ने' इति मन्त्रोऽग्न्युपस्थानः। अस्य अवत्सारः ऋषिः, जगतीछन्दः, अग्निर्देवता (शत. २, ३, ४, २४; का. श्री. ४, १४, १; ४)।

पूर्वोक्तैर्महोपस्थानमन्त्रैर् उपस्थायाग्निमुपतिष्ठते। अनेनोपविश्यैव। 'अथासीनः' (शत. २, ३, ४, २४) इति श्रुतेः।

(अग्ने) हे आहवनीयाग्ने! (त्वं) (सूर्यस्य) आदित्यसंबन्धिना (वर्चसा) तेजसा (सम् अगथाः) समगच्छथाः। 'तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह' (शत. २, ३, ४, २४) इति श्रुतेः। 'लुङि मध्यमपुरुषैकवचने 'समो गम्यृच्छिभ्याम्' (पा. १, ३, २९) इत्यत्मनेपदत्वम्। 'वा गमः' (पा. १, २, १३)इति कित्वम्। 'अनुदात्तोपदेश'(पा. ६,४,३७) इत्यादिना मकारलोपे, 'मन्त्रे घसह्वर' (पा. २, ४, ८०) इत्यनेन च्लेर्लुकि रूपम्। (ऋषी-

णाम्) मन्त्रदृष्टॄणाम् (स्तुतेन) भावे क्तः प्रत्ययः, स्तुत्या । अथवा ऋषीणां मन्त्राणां स्तुतेन स्तोत्रेणेति योज्यम् । अनन्ता मन्त्राः स्तुवन्त्यग्निम् । 'तद् यदुपतिष्ठते तेनैतदाह (शत. २, ३, ४, २४) इति श्रुतेः (सम्) समगथाः । (प्रियेण धाम्ना) प्रियाभिर् आहुतिभिः 'आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम आहुतिभिरेव तदाह' (शत. २, ३, ४, २४) इति श्रुतेः । (सं) समगथाः ।

यथा त्वमेतैः समगच्छथाः एवम् (अहम्) अहमपि यष्टा (आयुषा) अपमृत्युनिरासपूर्वकं दीर्घायुषा त्वदनुग्रहेण (संग्मिषीय) संगतो भूयासम् । आशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने 'इटोऽत्' (पा. ३, ४, १०६) इत्यकारे, सीयुटि छान्दसे इडागमे, 'गमहन' (पा. ६, ४, ९८) इत्युपधालोपे रूपम् । (वर्चसा) ब्रह्मचर्यनिष्ठानजनिततेजसा । (सं)संगंसीय । (प्रजया)पुत्रपौत्रादिसन्तानेन (सं) संगंसीय (रायः) धनादेः, राय इति धननाम (निघ. २, १०, १६) (पोषेण) पुष्ट्या समृद्ध्या (सं) संगंसीयेति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु– भूतात्मा प्रार्थयते– (अग्ने) हे ब्रह्माग्ने ! त्वं (सूर्यस्य) मानससूर्यस्य (वर्चसा) ज्योतिषा (समगथाः) संगतोऽसि । (ऋषीणाम्) मन्त्राणां (स्तुतेन) ईशनेन सामर्थ्येन (सं) समगथाः । (प्रियेण धाम्ना) इन्द्रियशक्तिसमूहेन (सम्) समगथाः । (अहम्) भूतात्मा (आयुषा) अपमृत्युदोषरहितेनायुषा (सं ग्मिषीय) संगतो भूयासम् (वर्चसा) ब्रह्मतेजसा (सं) संग्मिषीय (प्रजया) शिष्यैः (सं) संग्मिषीय (रायस्पोषेण) योगलक्ष्म्या (सं) संग्मिषीयेति ।

सात्वतास्तु– कुरुक्षेत्रे सूर्योपरागे समागतस्य दृष्टयदुवैभवस्य भगवत्पितुर्वसुदेवस्य महर्षिपुञ्जैर्यथाविध्यनुष्ठापितस्यावलोकनेन प्रसीदतः समातृभ्रातृकस्य सभार्यस्य युधिष्ठिरस्य वाक्यम्-'सं त्वमग्ने' इति । अग्ने ! विश्वाग्रणीः परमात्मन् कृष्ण ! त्वं सूर्यस्य वर्चसा तेजसा समगथाः सङ्गतोऽभवः, सूर्यसमानतेजाः सञ्जातस्त्वमितिभावः । एवम् ऋषीणां कुरुक्षेत्रे समागतानां सर्वेषां महर्षीणां स्तुतेन स्तवनेन तथा प्रियेण धाम्ना विश्वप्रीत्यास्पदेन धाम्ना द्वारिकाख्यनगरेण तत्रत्यस्वनिवासभवनेन वा समगथा इति सम्बन्धः । सर्वे ऋषयस्त्वां स्तुवन्ति, तत्रत्यं नगरं त्वद्भवनञ्चावलोक्यावलोक्य समाकृष्टमानसा सर्वे जनाः विस्मिताः मुक्तकण्ठं श्लाघन्ते त्वाम् इति भावः । अतस्त्वमिव त्वदनुग्रहात् आयुषा अपमृत्युभयरहितेन जीवितेन शतवर्षपरिमितेन आयुषा सङ्ग्मिषीय सङ्गतः स्याम्, एवं वर्चसा तेजसा प्रजया पुत्रपौत्रादिना मदधिष्ठितजनसमाजेन वा रायस्पोषेण धनपुष्ट्या प्रभूतेन धनेन चेति यावत् । संग्मिषीय इति सर्वत्र सम्बद्ध्यते । त्वमिव सर्वथा सर्वत्र सदा समृद्धः स्याम् इति निष्कर्षः । युधिष्ठिरस्य मानसो चैषा विचारणा न बहिः स किमपि व्याहृतवान् गाम्भीर्यादितिभावः ।

अन्धस्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं
वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ।। य. ३।२०

गवोपसर्पणम्

विंश्यां कण्डिकायां 'अन्ध स्थ' इत्यादिर्मन्त्रो गवोपसर्पणः । अस्य याज्ञवल्क्यः ऋषिः, भुरिग्बृहतीच्छन्दः, गौर्देवता (शत. २, ३, ४, २५; का. श्रौ. ४, १२, ५) ।

अथ कर्माङ्गभूताम् अग्निहोत्रपयसो दोग्ध्रीं गां प्रति गच्छति हे गावः ! यूयम् (अन्धः) अन्नरूपाः क्षीरादिष्वन्नत्वमुपचर्यते अन्नस्य क्षीरादिजनकत्वात् । अन्ध इत्यन्ननाम (निघ. २, ७, १) 'आध्यानीयं भवति' (निरु. ५, १, १) इति यास्कदृशा रूपमिदम् आङ्पूर्वकाद् ध्यायतेः, ध्यै चिन्तायाम् (९०८) भौवादिकः परस्मैपदी इत्यतः निष्पन्नम् । 'अदेर्नुम्धौ च' (उ. पा. ४, ६४५) इत्युणादेरिदम् असुनि नुमागमे धादेशे च, अद् भक्षणे (१०११) आदादिकः परस्मैपदी इत्यतो निष्पन्नम् । अन् प्राणने (१०७०) आदादिकः परस्मैपदी इत्यस्माद् असुन् प्रत्ययो बाहुलकाद् धुग् – आगमश्चेति – क्षीरस्वामी । सर्वमिदं यज्वना विशदीकृतम् । (स्थ) भवथ । 'अन्ध स्थ' इत्यत्र 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' (पा. वा. ८, ३, ३६) इति विसर्गलोपः । अथवा 'अन्ध'इत्यनेन वीर्यजनकत्वादिह लक्षणया वीर्यं ग्राह्यम् । वीर्यरूपाः स्थ । (वः) युष्मदनुग्रहेण (अन्धः) क्षीराज्याद्युपचरितम् अन्नम् (भक्षीय) भज सेवायाम् (९९८) भौवादिकः उभयपदी, इत्यस्य आशीर्लिङि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम् । सेविषीय प्राप्यासमित्यर्थः । यूयं (महः) पूजास्वरूपाः पूज्याः । मह पूजायाम् (७३०) भौवादिकः परस्मैपदी । भावे असुन्-प्रत्यय औणादिकः । (स्थ) भवथ (वः) युष्मत्सकाशात् (महः) पूज्यत्वम् (भक्षीय) लप्सीयेति । 'गां पदा न स्पृशेत्' इति स्मृतिसमयाद् गवां पूज्यत्वप्रसिद्धेः । अथवा महःशब्देन दश वीर्याणि ग्राह्याणि—"गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्" (शत. ३।३।३।२) इति श्रुत्योक्तानि । तत्र प्रतिधुक् दुग्धम्, शृतम् उष्णीकृतं दुग्धम्, शरः 'मलाई' इत्याख्यो दुग्धमण्डः, मस्तु दधिद्रवः, आतञ्चनं दधिघनीभावः, आमिक्षा स्फुटितं पयः, वाजिनम् आमिक्षाजलमिति । गव्यानि दशेमानि वीर्यकराणि द्रव्याणि महसस्तेजसः सम्पादकत्वात् महःपदवाच्यानि । उक्तं दशविधं वीर्यम् युष्मत्प्रसादाल्लप्सीयेति भावः । (ऊर्जः) यूयं बलस्वरूपाः । ऊर्ज बलप्राणनयोः (१५५०) चौरादिकः उभयपदी । ऊर्जयति बलयतीति कर्तरि क्विप् प्रत्ययः । (स्थ) भवथ । ऊर्ज् शब्दो रसवचन इत्युव्वटः । (वः) युष्मत्सकाशात (ऊर्जम्) बलं (भक्षीय) सेविषीय, लप्सीयेत्यर्थः । यूयं (रायः) धनस्य (पोषः) पुष्टिः धनसमृद्धिकराः (स्थ) (वः) युष्मत्प्रसादात् (रायः पोषम्) धनपुष्टिं धनसमृद्धिं (भक्षीय) सेविषीयेति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—आत्मा कथयति, हे चक्षुरादयः! यूयम् (अन्धः) अन्नरूपाः (स्थ=) (वः) युष्मतसम्बन्धि (अन्धः) अन्नं (भक्षीय) सेवेय । (महः) तेजोरूपाः (स्थ) (वः) युष्मत्सम्बन्धि (महः) तेजः (भक्षीय) तथा (ऊर्जः) बलरूपाः (स्थ) (वः) युष्माकम् (ऊर्जं) बलं (भक्षीय) । (रायस्पोषः) धनपुष्टिरूपाः (स्थ) (वः) युष्माकं (रायस्पोषं) धनपुष्टिं (भक्षीय) । आत्मनीन्द्रियाणां लय उक्तः' इति ।

सात्वतास्तु—भगवान् कृष्णः गाश्चारयन् गोस्तुतिव्याजेन स्वसखेभ्यः गोपालबालेभ्यः गोर्महत्त्वं प्रख्यापयितुं गाः सम्बोध्य आह । अस्मिन्मन्त्रे अन्धःशब्दः महःशब्दः ऊर्ज् शब्दः रायस्पोषशब्दश्च क्रमेण अन्न–पूज्य–बल–धन–समृद्धिवचनाः । तथा च भो गावः यूयम् अन्नादिरूपाः स्थ भवथ । युष्मत्प्रसादाद् वयं सर्वे गोपालाः भक्षीय भजेम अन्नादिकं सर्वम्, वचनव्यत्ययः । सगोपालबालोऽहं कृष्णः भजेय सेवेय लभेय इत्यर्थो वा । विशेषाभावात् महीधरव्याख्यैव अत्र सात्वतानामभीष्टा । अन्ध इत्यन्ननाम (निघ. २।७।१) आध्यानीयं भवति(निरु. ५।१।१)इति भाष्यम् । आभिमुख्येन हि ध्यातव्यं सर्वेणान्नं,प्रीतेः शरीरस्थितेश्च तदायत्तत्वात् इति स्कन्दस्वामी । आङ्पूर्वात् ध्यायतेरसुनि बाहुलकात् यकाराकारयोर्लोपः, उपसर्गस्य ह्रस्वत्वं नुडागमश्च धातोः । यद्वा 'अद्' भक्षणे (अदा. प.) इत्यस्मात् अदेर्नुम्-धौ च (उ. ४।६४५) इति कर्मणि कर्तरि वा कारके असुनि नुमागमो धकारश्चान्त्रादेशः । अद्यते प्राणिभिः अत्ति तान् वा स्वयमिति । तथा च श्रुतिः 'अद्यते अत्ति च भूतानि (तै. उ. २।२) इति । 'अनिति अनेनान्धः' इति क्षीरस्वामी । अनितेरसुनि बाहुलकात् धुगागमः ।

"रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये ।
इहैव स्त मापगात ।। —य. ३।२१

गवोपसर्पणम्

एकविंश्यां कण्डिकायां 'रेवतीरमध्वम् इत्येक एव मन्त्रो गवोपसर्पणः । अस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः, उष्णिक् छन्दः, गौर्देवता । (शत. २, ३, ४, २६) (का. श्रौ. ४, १२, ५) ।

(रेवतीः) हे धनसमृद्धिसम्पन्नाः गावः! 'रेवन्तो हि पशवः (शत. २, ३, ४, २६) इति श्रुतेः । प्रशस्तः क्षीरादिरयिरस्ति यासामित्यर्थे रयिशब्दात् प्रशंसायां मतुपि 'रयेर्मती बहुलम्' (पा. वा. ६, १, ३४)इति सम्प्रसारणे र इ इ मत् इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' (पा. ६, १, १०८) इति पूर्वरूपे रइ मत् इति स्थिते 'छन्दसीरः' (पा. ८, २, १५) इति मकारस्य वकारादेशे गुणे रेवत् शब्दे 'रेशब्दाच्च' (पा. वा. ६, १, १७६) इति मतुपः उदात्तत्वे, स्त्रीत्वविवक्षायाम्, 'उगितश्च' (पा ४, १, ६) इति ङीपि रेवती इति मध्योदात्तः शब्दः । अत्र मन्त्रादौ 'आमन्त्रितस्य च' (पा. ६, १, १९८) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम् । (अस्मिन्)

प्रत्यक्षं दृश्यमाने (योनौ) दोहनस्थाने अथवा गोयूथसम्बन्धिनि प्रजनने (रमध्वम्) क्रीडत प्रसीदतेत्यर्थः। (अस्मिन्) दृश्यमाने (गोष्ठे) गोवाटे। गोष्ठगृहाद् बहिर्गवां सञ्चारभूमिरिह गोष्ठः। (अस्मिन्) एतस्मिन् (लोके) यजमानकर्तृकदर्शने। लोकृ दर्शने (७६) भौवादिकः आत्मनेपदी। (अस्मिन् क्षये) सद्मनि, 'क्षि निवासगत्योः'(१४०८)तौदादिकः परस्मैपदी। क्षियन्ति निवसन्त्यत्रेति विग्रहे, 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा. ३, ३, ११८) इति सूत्रेणाऽधिकरणे घः प्रत्ययः। ततः 'क्षयो निवासे' (पा. ६, १, २०१)इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्। अस्मिन् यजमानस्य गोष्ठाने रमध्वम्—इति। हे गावः ! (इह) यजमानगेहे (एव) (स्त) तिष्ठत। (मा अपगात) यजमानं मां त्यक्त्वाऽन्यत्र नापगच्छतेति। इण् गतौ' (१०४५) आदादिकः परस्मैपदी लुङि मध्यमपुरुषबहुवचने 'इणो गा लुङि' (पा. २,४,४५) इतीणो 'गा' इत्यादेशे, च्लेः सिचः 'गातिस्था०' (पा. २, ४, ७७) इत्यादिना लुकि, माङो योगाद् अडागमाऽभावे रूपम्। अपपूर्वक एतिर्दूरीभवने द्रष्टव्य इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (रेवतीः) शमादिधनवत्यः हे वागादयः ! (अस्मिन्, योनौ) जीवरूपायां परशक्तौ। यथा श्रुतिः 'इयं वा अस्य सर्वस्य योनिरस्यै वा इमाः प्रजाः प्रजाताः' (शत. ४, १, २, ९)। (अस्मिन्) (गोष्ठे) इन्द्रियालये (अस्मिन्, लोके)शरीरे (अस्मिन्, क्षये) संसारे (रमध्वम्) क्रीडत। (इह, एव) संसार एव (स्त) (मा अपगात) अन्यत्र समाध्यादौ मा गच्छतेति।

सात्वतास्तु—एषा कण्डिका पूर्ववत् भगवदुक्तगोसम्बोधनात्मिका 'रमध्व' सुखंविहरत, यथेष्टं शष्पादिकं भक्षयत, अर्थात् मयि तिष्ठति नास्ति हिंस्रादि-प्राणिभ्यो भवतीनां भयम्। 'इहैव स्त' अस्मिन्नेव प्रदेशे तिष्ठत 'मापगात' प्रदेशान्तरं न व्रजत। तथा सति अस्माकं भवदनुचराणां भवद्गवेषणाक्लेशः सिंहाद्याक्रमणाशङ्का च स्यादिति भावः। शब्दार्थस्तु महीधरव्याख्यातवर्त्मनैव अवसेयः। अपि वा मधुर - मुरलीनिनादसमाकृष्टमानसाः भगवत्पादमूलमुपागता गोपिकाः प्रति कृष्णोक्तिः। रेवती रेवत्यः गवादि-धनसम्पन्ना वस्त्रालङ्कारादिसमलङ्कृतगात्रा यूयं (योनौ) जन्मभूमौ अभिजने पितृगृहे (गोष्ठे) ग्रामतो नातिदवीयसि गवावस्थानप्रदेशे दोहनाय (लोके) उपभोगस्थाने पतिगृहे, (क्षये) निवासे पतिपुत्रादिनिर्मिते नूतननिवासस्थाने, यत्र स्वयं वसति स निवासः, यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजनः (पा. ४, ३, ९०) सिद्धान्तकौमुदी। (इहैव स्त) तिष्ठत, एतेषु स्थानेषु भवतीनां रमणमवस्थानञ्च युज्यते (मापगात) ततोऽपेत्य दूरे मा गात मा गच्छत, तानि स्थानानि परित्यज्य अस्मत्समीपं न गच्छत। मत्समीपे रात्रौ कुलवधूनामवस्थानमनुचितमिति भावः। अथवा (योनौ जगत्कारणे, (गोष्ठे) गोग्रहणम् इन्द्रियशरीरादीनां सर्वेषामुपलक्षकम्, जगतोऽधिष्ठाने लोके सर्वसाक्षिणि (क्षये) क्षयन्ति निवसन्ति सर्वे यत्र इति व्युत्पत्त्या

जगन्निवासे मयि मत्समीपे रमध्वम् विहरत । इहैव स्त मत्समीपे एव स्त, तिष्ठत 'मापगात' व्रजं न गच्छत । 'स्त मापगात' इति वाक्यमन्वयवैलक्षण्यानुप्राणितश्लेषेण विधि-निषेधपरकं स्वीकृतिप्रत्याख्यानद्वयाभिप्रायकमनूदितम "प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः" इति श्लोके (भाग. १०।२९।१९) सुमध्यमाः गोपिकाः यूयं व्रजं प्रतियात प्रतिगच्छत । इह मत्समीपे अरण्ये स्त्रीभिः भवतीभिः न स्थेयम् इति निराकरणम् (निषेधः) । प्रतियात व्रजं न इत्यन्वयेन यूयं व्रजं न प्रतिगच्छत । इह मत्समीपे स्थेयं स्थातव्यम् इति स्वीकृतिरिति तदर्थः ।

"संहितासि विश्वरूप्यूर्जमाविश गौपत्येन ।
उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥२२॥

१—गवोपस्पर्शनम् २—गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

द्वाविंशयामस्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ 'संहितासि' इत्येको मन्त्रो गवोपस्पर्शनः । अस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः, भुरिग् आसुरी गायत्री छन्दः,गौर्देवता ।'उप त्वाग्ने'इति द्वितीयो मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः, अस्य ऋषि प्रागुक्तः, गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता ।(शत. २, ३, ४, २७-२८; का. श्रौ. ४, १२, ६-७) ।

प्रथमेन मन्त्रेण यजमानो गाम् अभिमृशति—हे गोः ! त्वं (संहिता) क्षीरदानाय यज्ञकर्मणि संपृक्ता (असि) 'प्रवृद्धादीनां च' (पा. ६, २, १४७) इत्यन्तोदात्तत्वम् । अथवा क्षीणप्राणिनां पयोदानैः सन्धानं स्वास्थ्यसम्पादनं संहिता सा अस्त्यस्या इति मत्वर्थे 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा. ५, २, १२७) इति अच् प्रत्ययः । चित्त्वाच्चान्तोदात्तत्वम् (विश्वरूपी) विश्वानि शुक्लकृष्णादीनि विविधानि रूपाणि यस्याः सा, 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (पा. ४, १, ६३) इत्यर्वाचीनसंमतः ङीप्प्रत्ययो न रमणीयः, विश्वरूपीशब्दस्य गुणवाचकत्वेन जातित्वाभावात् । तस्माद् 'षिद् गौरादिभ्यश्च' (पा. ४, १, ४१) इत्यत्र गौरादेर् आकृतिगणत्वाद् ङीष्, प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वं च । त्वम् (ऊर्जा) क्षीरादिरसेन तथा (गौपत्येनं) गोस्वामित्वेन । गवां पतिर्गोपतिः । गोपतेर्भावः इत्यर्थे 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' (पा. ५, १, १२८) इत्यनेन यक्प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणाऽन्तोदात्तत्वं च । (मा) माम् यजमानं (आविश) मयि सर्वतः प्रविश । त्वत्कृपया मम गृहे क्षीरादिरसप्राचुर्यम् प्रवर्तताम्, मदीयं गोपतित्वं च प्रथतामिति ।

अनन्तरं 'उप त्वा' इत्यृचा गार्हपत्यमग्निमुपतिष्ठते । आहवनीयस्याग्नेर्योनिर्नाम

१—'उपत्वा' ऋग्वेद १, १, ७ । साम. १४ । तै. सं. १, ५, ६, २ ।

गार्हपत्योऽग्निः। गार्हपत्यं योनिभूतं त्यक्त्वा प्राग् आहवनीयमग्निमुपस्थितेत्यागसा क्रुद्धो गार्हपत्याग्निर्यजमानं न हिंस्यादित्यपराधक्षमापनार्थं गार्हपत्यं नमस्करोति—'नम एवास्मा एतत् करोति यथैनं न हिंस्यात्' (शत. २, ३, ४, २८) इति श्रुतेः। (दोषावस्तः) रात्रौ अपि प्रकाशमानो वसति न शाम्यति, द्योतते इति यावत् दोषावस्ता तत्सम्बोधनं दोषावस्तः बस निवासे (१००५) भौवादिकः परस्मैपदी अनिट्। दोषा रात्रिं वस्ते स्वतेजसा आच्छादयतीति दोषावस्ता अग्निर् इत्यर्वाचीना न साधवः, वस्तेः सेट्कत्वात्। "अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् पशून्निदधिरे, ये च ग्राम्याः ये चारण्याः विजयं वोपप्रैष्यन्तः कामचारस्य वा कामाय अयं नो गोपिष्ठो गोपायद् इति वा। तानु हाग्निर् निचकमे। तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश। (शत. २, ३, ४, १-२) इति श्रुतेः। ऋग्भाष्ये (१, १, ७) सायणः दोषा रात्रौ वस्तर् अहनि चेति द्वन्द्वसमासे कार्तकौजपादित्वात् (पा. ६, २, ३७) आद्युदात्तत्वमाह, तन्नास्मभ्यं रोचते, मन्त्रपठितेन 'दिवेदिवे' (प्रतिदिनम्) इत्यनेनैव 'अहर्निशम्' इत्यर्थस्य गतार्थत्वात्। (निघ. १, ९) अहर्नामसु 'वस्तोः' इत्यस्यैव समुपलम्भात्, स्वतन्त्रस्याहर्वाचकस्य वस्तर्' इति शब्दस्यानुपलब्धेश्च।

(अग्ने) गार्हपत्याग्ने! (दिवेदिवे) अहन्यहनि प्रतिदिनम्, दिवेदिवे इत्यहर्नामसु पठितम् (निघ. १, ९, १०)। दिवु धातुः क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युत्याद्यर्थः (११०७) दैवादिकः परस्मैपदी। ततो दीव्यति द्योतते प्रकाशते अत्र पदार्थजातमित्यर्थे 'दिवेर्डिविः' इति डिविः प्रत्ययः। 'ऊडिदंपदाद्यप्पुंरैद्युभ्यः' (पा. ६ १, १७१) इति विभक्तिस्वरेण 'दिवे' इत्यन्तोदात्तम्। (वयं) कृतापराधाः (धिया) श्रद्धान्वितया प्रज्ञया। धीः इति प्रज्ञानाम (निघ. ३, ९, ७) (नमः) नमस्कारं (भरन्तः) तुभ्यं समर्पयन्तः। यद्वा नम इत्यन्ननाम (निघ. २, ७. २१) तुभ्यं त्वत्प्रीतये हविष्यं भरन्त आहरन्तः (त्वा) त्वाम् (उप आ इमसि) सर्वतोभावेन उपगच्छामः। 'व्यवहिताश्च' (पा. १, ४, ८८) इत्युपेति आ इमसि इत्यनेन सम्बन्ध्यते। इमः इति वक्तव्ये 'इदन्तो मसि' (पा. ७, १, ४६) इत्यनेन 'मस्' इत्यस्य इदागमः। इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—आत्मा कथयति— हे बुद्धे! (विश्वरूपी) त्वं (संहिता) योगवर्त्मनि सम्यग् हिता (असि) (ऊर्जा) ब्रह्मज्ञानरसेन (गोपत्येन) इन्द्रियाणां स्वामित्वेन (मा) माम् आत्मानम् (आविश) सर्वतः प्रविश। प्राणाः कथयन्ति-(दोषावस्तः) हे रात्रिरूपशरीरे वसनशील! (अग्ने) आत्मप्रतिबिम्ब! (वयं) (दिवेदिवे) प्रतिदिनं (धिया) ब्रह्ममत्या (नमः) अन्नरूपं (त्वा) त्वाम् (भरन्तः) बिभ्रतः ब्रह्मणि धारयन्तः (उपैमसि) प्राप्नुमः। अथवा नमो भरन्तः—नमस्कारं कुर्वन्तः अर्थात् अस्मभ्यं चैतन्यप्रदातृत्वेन पूज्यं मन्यमानाः त्वाम् (आत्मानम्)। उपैमसि वयं प्राप्नुमः इति।

सात्वतास्तु– इन्द्रेण सहिताम् अभिषेक्तुमुपगतां कामधेनुं प्रति भगवतः उक्तिरियम्— हे कामधेनो! त्वं (संहिता) सन्निहिता मम सविधे उपगतासि। सम्यक् हिता सर्वाभीष्टप्रदानादतीव हितकारिणी वा असि भवसि। किञ्च (विश्वरूपी) संकल्पवशात् बहुविधरूपधारिणी, वशिष्ठाश्रमे वशिष्ठेन स्पर्धमानस्य विश्वामित्रस्य ससैन्यस्य तत्सेनाधिकप्रबलसेनारूपं धृत्वा पराजयकारिणी,यथाकामं विविधरूपधारणक्षमाऽसि। त्वं(गोपत्येन)गोपालत्वेन (ऊर्जा) क्षीरदध्यादिविविधरसेन च(मा)माम् एकत्वमविवक्षितम्अस्मान् व्रजवासिनस्सर्वान् (आविश) प्रविश, त्वदनुग्रहात् क्षीरदध्यादिरसप्रचुराः बहुगोस्वामिनश्च वयं भवेमेत्यर्थः। 'उप त्वा' इत्यादिना 'स नः पितेव' इत्यन्तेन मन्त्रत्रयेण जरासन्धकारानिबद्धानां राज्ञां सन्देशस्य विवरणम् 'उप त्वा' इति। (अग्ने) दुर्जनवनदाहक! स्वदर्शनेन स्वान्तध्वान्तनिवारक!(दोषावस्तः)दोषा अविद्यारजनी तां वस्ते आच्छादयति निवारयति तत्सम्बोधनम् (वयं) (नमः) नमस्कारं (भरन्तः) सम्पादयन्तः (धिया) मनसा (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (उप)समीपे (आ इमसि) आगच्छामः त्वां सततं ध्यायामः। अपि वा दोषा शारदी पूर्णिमा तस्यां गोपिकाभिः वसति सह निवसन् रासक्रीड़ां करोति तत्सम्बोधनं शरत्पौर्णमास्यां रासक्रीड़ाकारिन्! तत्र योगबलात् अनेकरूपग्रहणेन योगेश्वर ! एतेन जरासन्धकारातो विमोक्षो न दुष्कर इति भावः।

"राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे" ॥ य. ३।२३॥[1]

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

त्रयोविंश्यां कण्डिकायां 'राजन्तम्' इत्येक एव ऋगात्मको मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः। अस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः, गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता (शत. २, ३, ४, २८; का. श्रौ. ४, १२, ७)।

द्वाविंश्या कण्डिकाया इहापि 'उप एमसि' इति क्रियापदमनुवर्तते। गार्हपत्याग्निश्चोपस्थातुं प्रक्रान्त एव। तस्माद् गार्हपत्याग्नि वयं उप एमसि। कथंभूतमग्निं वयं उप एमसि। कथंभूतमग्निम्। (राजन्तम्) प्रकाशमानम् (अध्वराणां) क्रतूनां (गोपाम्) रक्षितारम्। गोपायतीति गोपाः, गुपू रक्षणे (३९५) भौवादिकः परस्मैपदी। कर्तरि विच् प्रत्ययः। 'आयादय आर्धधातुके वा' (पा. ३, १, ३१) इत्यनेन कृतस्य 'आय' इत्यस्याकारयकारयोर्लोपे रूपम्। (ऋतस्य) सत्यलक्षणस्य व्रतस्य, ऋतमिति सत्यनाम (निघ. ३, १०, ६)। (दीदिविम्) दीपयितारम् दिवु क्रीडाविजिगीषाद्यर्थः (११०७) दैवादिकः परस्मैपदी।

१—(ऋ. १।१।८) (तै. सं. १।५।६।२)।

तस्मात् 'दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य' (पा. ३, ४, ५५) इति क्विन् प्रत्ययः धातोर्द्वित्वं दीर्घश्चाभ्यासस्य। नित्त्वादाद्युदात्तत्वं च। अग्निसांनिध्ये व्रतं स्वीकृत्य व्रतिनः सत्यां वाचं प्रकाशयन्त इत्यभिप्रायः। (स्वे) स्वकीये (दमे) गृहे, दाम्यन्ति उपशाम्यन्ति विश्राम्यन्ति गृहिणो यत्र, दमु उपशमे(१२०३)दैवादिकः परस्मैपदी। अधिकरणे घञ् प्रत्ययः 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (पा. ७, ३, ३४) इत्यनेन वृद्ध्यभावः। ञित्त्वादाद्युदात्तत्वम्। (वर्धमानम्) चातुर्मास्यादिभिरेधमानम् इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु– वयं (राजन्तम्) ब्रह्मवर्चसेन भ्राजमानं (अध्वराणां) ज्ञानयज्ञानां मध्ये (गोपां) इन्द्रियाणां गोप्तारम् (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य ब्रह्माग्नेः (दीदिविम्) प्रदीपयितारम् (स्वे) आत्मस्वरूपे (दमे) विष्णौ (वर्धमानम्) एधमानम् आत्माग्निम् उपैम इति।

अथवा (अध्वराणां) सत्वनिष्ठतयाऽऽत्मस्वरूपाहिंसकानां (गोपाम्) इन्द्रियाणां गोप्तारम्। (ऋतस्य) कर्मात्मकस्य जगतः, ऋतमिति कर्मनाम (दीदिविम्) प्रदीपयितारं, प्रकाशकम् इत्यर्थः।

सात्वतास्तु– (राजन्तं) स्वतेजसा सर्वत्र विभ्राजमानं क्षत्रियप्रवरं वा (अध्वराणाम्) अध्वना वेददर्शितवर्त्मना रान्ति ददति-धनादिकं यागाद्यर्थं प्रयच्छन्ति ते अध्वराः वदान्यास्तेषां 'गोपां' रक्षकम्। (ऋतस्य) सत्यस्य स्वकीयपारमार्थिकस्वरूपस्य (दीदिविम्) अतिशयेन दीपयितारं प्रकाशकमुपासकान् ज्ञानिनश्च प्रतीत्यर्थः। (स्वे) स्वकीये (दमे) गृहे, (वर्धमानं) वृद्धिमन्तं सर्वैर्यदुभिः शिरोनिहितनिदेशम् उपैम इति शेषः।

" [1]स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये" ॥ य. ३।२४॥

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

चतुर्विंश्यां कण्डिकायां 'स नः पितेव' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः। अस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः, विराड्गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता (शत. २, ३, ४, २९; का० श्रौ० ४, १२, ७)।

(अग्ने) हे गार्हपत्याग्ने! पादादित्वात् 'आमन्त्रितस्य च' (पा. ६, १, १९८) इत्यनेनाद्युदात्तत्वम्। (सः) उक्तगुणः त्वं (नः) अस्मत्कृते (सूनवे) तनुजाय, सूनुरित्यपत्यनाम

१—ऋग्वेद १, १, ९। तै. सं. १, ५, ६, २।

(निघ. २, २, १२)। (पिता इव) जनक इव (सूपायनः) सुष्ठु प्राप्तव्यः। सु उपेत्युपसर्गद्वयपूर्वकाद् एतेः 'छन्दसि गत्यर्थेभ्यः' (पा. ३, ३, १२९) इति कर्मणि युच्प्रत्ययः। चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। अथवा शोभनम् सुखम् उपायनम् उप आसन्ना अयनं प्राप्तिर्यस्येति, यद्वा सु शोभनानि उपायनान्युपहारा दातव्यत्वेन यस्येति, पितरो हि पुत्रेभ्यो नानाविधान् उपहारान् आहरन्ति इति बहुव्रीहिसमासे 'नञ्सुभ्याम्' (पा. ६, २, १७२) इत्यन्तोदात्तत्वम्। (भव) एधि। (नः) अस्माकं यजमानानां (स्वस्तये) कल्याणाय (सचस्व) समवेहि। षच समवाये (९९७) भौवादिकः उभयपदी। यद्वा (नः) अस्मान् त्वत्पुत्रकल्पान् (स्वस्तये) सुरक्षणाय (सचस्व) सेवस्व, सावधानो रक्षेत्यर्थः। षच सेवने (१६३) भौवादिकः आत्मनेपदीति 'सचस्वा' इति सांहितिको दीर्घ इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— आत्मा ब्रवीति (अग्ने) हे परमेश्वराग्ने! (सः) विष्णुस्वरूपस्त्वं (नः) योगिनामस्माकं कृते (सूपायनः) मन्त्रशास्त्ररूढ्या स् विष्णुः ऊः शम्भुः पः प्रजापतिः, तेषामयनम् आश्रयो महाविष्णुः (भव)। (पितेव) यथा पिता (सूनवे) पुत्राय गुरुस्वरूपो भवति, तथा (नः) अस्माकं (स्वस्तये) मुक्तिस्वरूपकल्याणाय (सचस्व) मया सह समवेतो भव जीवेशयोरेकीभाव एव मोक्षः इति।

सात्वतास्तु— अन्ते राजानः प्रार्थयन्ते स नः पितेवेति' अर्थः स्पष्टः। अस्मत्सुहृदस्तु द्वाविंशकण्डिकाया अर्धं विद्याप्रार्थनापरं ततः सार्धकण्डिकाद्वयं गुरुं सम्बोध्य शिष्यप्रार्थनाया अभिधायकम् इति मन्यन्ते। हे विद्याभिमानिनि देवि! त्वं(संहिता)अतिशयेन अस्माकं हितकारिणी, तस्मात् (ऊर्जा) स्वशक्त्या तद्बलाद्, (गौपत्येन) वाचस्पत्येन निमित्तेन तदर्थं (मा) माम् (आविश) प्रविश। करुणया स्वदिव्यशक्तिप्रभावात् वाचस्पतिं माम् विधेहि इति भावः। विद्यागुरुविशेषणानि सुस्पष्टान्येव। विद्यागुरो! त्वां वयम् उपेमः विधिवदुपसीदामः। त्वञ्च सुतं पितेव अस्मान् रक्षेतिभावः।

[1]"अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥य. ३।२५॥"

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

पञ्चविंश्यां कण्डिकायां 'अग्ने त्वं नः'इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः। अस्य सुबन्धुर्ऋषिः, भुरिग्बृहतीछन्दः, अग्निर्देवता। (शत. २, ३, ४, ३१; का. श्रौ. ४, १२, ७)।

(अग्ने) हे गार्हपत्याग्ने! मन्त्रादावामन्त्रितमाद्युदात्तमिति पूर्वमुक्तम्। (त्वं) (नः)

१—(ऋ. ५।२४।१) (साम. ४४८; ११०७) (तै. सं. १।५।६।२; ४।४।४।८)।

अस्माकं (अन्तमः) अन्तिकतमः, अन्तम इति समीपनाम (निघ. २ १६६) अतिशयेनाऽन्तिक इत्यर्थे तमपि प्रत्यये 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा. ६, ३, १०९) इत्यनेन तादिवर्णलोपः । यत्तु पक्षान्तरे महीधरः अम् गतौ इत्यतः अमति समीपं प्राप्नोतीति कर्तरि क्विपा अम् इति तमपि अन्तम इति शब्दसिद्धिमाह । अर्वाचीनाश्च 'अन प्राणने' आदादिकः परस्मैपदी, इत्यतः अनिति जीवयति इति सोऽतिशयित इत्याहुस्तन्न साधु-पुरीतत्, संयत् इत्यादिषु 'गमादीनामिति वक्तव्यम्'(पा. वा. ६, ४, ४०)इति वार्तिकेन क्विपि अनुनासिकलोपे ह्रस्वस्य पिति कृति तुगागम इव क्विबन्ते'अम्''अन्'इत्यनयोरप्यनुनासिकलोपादिप्रसक्तेः। ब्रह्मचर्याश्रमाद् आरभ्य व्रतं चरतामग्निरन्तम इत्यभिसन्धिः । अग्निः संनिहिततमः, जन्मप्रभृति मरणं यावत् अग्नेर्व्यापृतत्वात्, अन्ये देवाश्चाग्निद्वारकसम्बन्धाद् असंनिहिता इत्यभिप्रायो वा । (उत) अपि च (त्राता) रक्षकः जठराग्निरूपेण भुक्तं रसादिशुक्रान्तं परिणमयन् प्राणिमात्रस्य जीवनप्रदत्वेम त्रातृत्वमग्नेः । (वरूथ्यः) गृह्यः गार्हपत्यः । वरूथमिति गृहनाम (निघ. ३, ४, १७) । वृञ् वरणे (१२५५) सौवादिकः उभयपदी । ततः जॄवृञ्भ्यामूथन्' (उ. २, ६) इति ऊथन्प्रत्यय औणादिकः । वरूथे भव इत्यर्थे भवार्थे यत् प्रत्ययः । तित्वात् स्वरितश्च । अथवा वृणोति परित आच्छादयति वरूथः पुत्रपौत्रादिसन्तानस्तस्मै हितो वरूथ्यः । अयं गार्हपत्याग्निर्न केवलं गृहपतेरेव पालकस्तदीयपुत्रपोत्रादिसन्तानस्यापि हित इति भावः । यतस्त्वं नः अन्तमः त्राता वरूथ्यश्च, अतः प्रार्थयामहे अस्मभ्यं त्वं (शिवः) मङ्गलकारी शान्तः (भवा) (भव) 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा. ६, ३, १३५) इति सहितायां दीर्घे 'भवा' इति अयम् (अग्निः) गार्हपत्याग्निरेव अङ्गनाद् उद्धरणाद् आहवनीयो भवतीति शेषः ।(वसुः)प्राणिमात्रस्य वासयिता जीवनहेतुः । वस निवासे(१००५) भौवादिकः परस्मैपदी, ततः 'शॄस्वृस्निहिः' (पा. उ. २, १०) इत्यादिना उन् प्रत्ययः । नित्त्वादाद्युदात्तः वसुशब्दः । यद्वा वसु धननाम (निघ. २, १०, १५) तापपाकप्रकाशैरुपकुर्वन् उपस्कर इव (वसुश्रवाः) वसुना धनादिदानेन श्रवो यशो यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । याजकानामभीष्टपूरणैः प्रथितयशा इत्यर्थः । एवंभूत हे अग्ने ! (अच्छा नक्षि) अभिव्याप्नुहि सर्वानस्मान् । 'अच्छाभेर् आप्तुमिति शाकपूणिः' (निरु. ५, २८) इति यास्कवचनाद् अभेरर्थे अच्छ शब्दः । 'निपातस्य च' (पा. ६, ३, १३६) इति संहितायां दीर्घे अच्छा इति । नक्षतिः गतिकर्मा (निघ. २, १४, ३१) । नक्ष गतौ (६६२) भौवादिकः परस्मैपदी । मध्यमपुरुषैकवचने 'बहुलं छन्दसि' (पा. २, ४, ७३) इति शपो लुकि नक्षि । यद्वा नक्षतिः व्याप्तिकर्मा (निघ. २, १८, २) ग्राह्यः । यद्वा व्याप्तिकर्मसु (निघ. २, १८) 'नशत्' इति दर्शनाद् व्याप्त्यर्थे नश्धातुर्मन्तव्यः । तस्येदं प्रागुक्तप्रकारेण रूपम् । महीधरः स्वच्छार्थे अच्छशब्दं संबुद्धावाह । (द्युमत्तमम्) अतिशयेन द्युमत् कान्तिमद् द्युमत्तमम् अतिशयकान्तिप्रदम् (रयिम्) धनसम्पत्तिम् (दाः) देहि । ददातेर्लुङि मध्यमपुरुषैकवचनेऽमाङ्योगेऽपि छान्दसोऽडभाव इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—(अच्छ) हे मायामलविरहित! (अग्ने) ब्रह्मानल! (वसुः) व् ब्रह्मा अः परा, स् विष्णुः उः शिवः एवं चतुष्प्रकारः(अग्निः)मायाविकारभक्षकः स्वात्मलयकारकः 'अन्नाद एवाग्निः' (शत. ११, १, ६, १) 'अन्नं वै विराट्' (शत. १२, २, ४, ५) इति श्रुतेः। (वसुश्रवाः) विष्णवादीनां स्वरूपमेव यशःकारणं यस्य सः (त्वं) (नः) अस्माकम् (अन्तमः) अन्ते अन्तिके भवनशीलः। (उत) अपि च (त्राता) संसाराद् गोपायिता(शिवः) सुखस्वरूपः (वरूथ्यः) संसारविजये त्रिः परिधिरूपकवचार्हः (भव)। (अच्छा नक्षि) अस्मान् अभिव्याप्नुहि, नक्षिराप्नोतिकर्मा। (द्युमत्तमम्) पूर्णब्रह्मवर्चसयुक्तं (रयिं) योगसमृद्धि (दाः) देहीति।

सात्वतास्तु— उत्तराक्रन्दन–(भाग. १, ८, ९-१०) समुपजातदयार्द्रहृदयेन भगवता स्वसुदर्शनतेजसा ब्रह्मास्त्रे अमोघेऽपि निजजनरक्षणाय निवारिते अस्त्रज्वालावियुक्तैः स्वपुत्रैः पुत्रवध्वा द्रौपद्या चोपेता कुन्ती समागत्य भगवन्तं स्तौति (भाग. १, ८, १७-४३) 'अग्ने त्वम्' इति।

(नः) अस्माकम् (अन्तम!) अन्तिकतम! अतिशयेन सन्निकटसम्बन्धिन्! भ्रातृपुत्रत्वादिति भावः। (अग्ने!) विपद्दाहक! (त्राता) रक्षकः (शिवः) कल्याणकारी। अतएव (उत) अपि वरूथ्यः वरूथः पुत्रादिसमूहः तस्मै हितः। वरूथमिति गृहनाम (निघ. ३, ४, १७) वरूथम् 'वृञ्' वरणे सौवादिक उभयपदी 'जॄवृञ्भ्यामूथन्' (उ. २।६)। शत्रुप्रहाराद् वर्मवत् शीतोष्णादेः प्रहारात् रक्षकं स्वस्थित्याच्छादकत्वात्। तस्मै गृहाय हितः, गृहग्रहणम् सपरिकरगृहस्वामिन उपलक्षकम्, सपरिवारम् अस्मदुपकारको भव। त्वं (वसुः) जगतां वासयिता (वसुश्रवाः) वसोः मम भ्रातुर्वसुदेवस्य 'श्रवः' कीर्तिर्येन तादृशः मद्भ्रातृकीर्तिवर्धनः। सत्पुत्रेण पितुः कीर्तिर्वर्धत एव। अस्मत्पितृकुलकीर्तिवर्धनस्त्वमिति भावः। वसुश्रवःपदेन सम्बन्धातिशयो ध्वन्यते। (अग्निः) अङ्गिता स्वभक्तत्राणार्थं सर्वत्र गन्ता। अतो नः परित्यज्य द्वारिकां न गच्छ, प्रतिनिवर्तस्व अस्मद्गृहम् आर्तानामस्माकं त्राणाय इत्यभिप्रायः। (अच्छ) आभिमुख्येन (नक्षि) व्याप्नुहि। अभिव्याप्नुहि सततं सन्निहितो भव। अपि वा (अच्छ) निर्मलहृदय! नक्षि गच्छ नो गृहं परित्यज्य द्वारिका-प्रस्थानसंकल्पम्, किञ्च (द्युमत्तमम्) अतिशयेन द्योतमानं (रयिं) धनं लौकिकसमृद्धिमामुष्मिकसमृद्धिञ्च मोक्षाख्यां (दाः) देहि।

[1]"तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्या णो अघायतः समस्मात्॥३।२६॥"

१—(ऋ. ५।२४।६) (साम. ११०९) (तै. सं. १, ५, ६, ३; ४।४।४।८)।

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

षड्विंश्यां कण्डिकायां 'तं त्वा शोचिष्ठ' इत्येको मन्त्र ऋग्द्वयात्मकः। 'तं त्वा शोचिष्ठ' इत्यर्धर्चः ऋग्वेदे पश्चादाम्नातः । 'स नो बोधि' इति च प्रागिति विशेषः। अस्य सुबन्धुर्ऋषिः, स्वराड्बृहतीछन्दः, अग्निर्देवता गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः। (शत. २, ३, ४, ३१) (का. श्रौ. ४, १२, ७)।

(शोचिष्ठ) अतिशयेन शोचिष्मन् द्युतिमन् ! शोचिरिति ज्वालानामसु पठितम् (निघ. १, १७, ६)। शोचतिर्ज्वलतिकर्मा (निघ. १, १६, ५) शुच शोके (१८३) भौवादिकः परस्मैपदी। वेदे प्रायेणाऽयं दीप्त्यर्थः। 'अर्चिशुचि०' (पा. ३, २, १०८) इत्यादिना इसिः प्रत्ययः; शोचिर्दीप्तिः अग्निज्वालेति यावत्। शोचिरस्यातीति शोचिष्मान्, अतिशयेन शोचिष्मान् शोचिष्ठः। इष्ठनि प्रत्यये 'विन्मतोर्लुक्' (पा. ५, ३, ६५) इत्यनेन मतुपो लुकि, 'टेः' (पा. ६, ४, १५५) इत्यनेन च टेः 'इस्' इत्यस्य लोपे शोचिष्ठ इति रूपम्। तत्सम्बोधनम्। (दीदिवः) अन्येषां दोपयितः ! अस्ति दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (१०७६) आदादिक आत्मनेपदी, इत्यस्य पर्यायो वेदे दीप्त्यर्थकः दी धातुस्तस्येदं क्वसुप्रत्यये छान्दसं रूपम्। यद्वा दिवुधातुः क्रीडाद्यर्थकः (११०७) दैवादिकः परस्मैपदी, अस्माद् लिडादेशे क्वसौ द्वित्वे छान्दसे इडागमाऽभावे 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (पा. ६, १, ७) इत्यभ्यासदीर्घे 'मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि' (पा. ८, ३, १) इत्यनेन सकारस्य 'रु' इत्यादेशे विसर्गे रूपम्। (तं) तथागुणोपेतं (त्वा) त्वां गार्हपत्याग्निम् (सुम्नाय) सुखाय, सुम्नमिति सुखनाम (निघ. ३, ६, १६) सुष्ठु मीयते परिच्छिद्यते इति सुम्नम् 'रास्नासास्नासुम्नद्युम्ननिम्नेति भोज इति देवराजयज्वा। अथवा द्वितीयार्थे चतुर्थी। सुम्नं सुखं (नूनम्) निश्चयेन (ईमहे) याच्ञाकर्मसु पठितम् (निघ. ३, १९, १) याचामहे (सखिभ्यः) सुहृद्भ्यः सुहृदां कल्याणाय च त्वां सुम्नमीमह इति। (सः) त्वम् (नः) अस्माकं प्रार्थनां 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा. ८, ४,२७) इत्यनेन णत्वम्, (बोधि) बुध्यस्व। बुध अवगमने (८५८) भौवादिकः परस्मैपदी। लोटि मध्यमपुरुषैकवचने 'सेर्ह्यपिच्च' (पा. ३, ४, ८) इति सेर्हिरादेशः। छान्दसे शपो लुकि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा. ६, ४, १०१) इति 'धि' इत्यादेशे। धकारलोपे गुणे च रूपम्। न केवलं नः बोधि, (हवम्) अस्माकं आह्वानं प्रार्थनां 'भावेऽनुपसर्गस्य' (पा. ३, ३, ७५) इति ह्वयतेर्भावे 'अप्' प्रत्ययः मम्प्रसारणं च। प्रत्ययस्य पित्त्वाद् 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' (पा. ३, १, ४) इत्यनेनानुदात्तत्वात् पारिशेष्याद् धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। (श्रुधी) शृणु। श्रु श्रवणे (९४२) भौवादिकः परस्मैपदी, लोटि मध्यमपुरुषैकवचने 'श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि' (पा. ६, ४, १०२) इति हेर्धिरादेशः, 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा. ६, ३, १३७) इति संहितायां दीर्घः। (नः) अस्मान् (समस्मात्) सर्वस्मात् । सर्वपर्यायः

समशब्दः,'त्वत्व समसिमेत्यनुच्चानि' (फिट्सूत्र४,१०)इति फिट्सूत्रात् सर्वानुदात्तत्वम् । (अघायतः) अस्माकं पापमिच्छतः शत्रोः । 'अघं' परस्येच्छति' इति विग्रहे 'छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्' (पा. वा. ३, १, ८) इत्यनेन क्यच्प्रत्ययः । 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यघशब्दाच्छन्दसि परेच्छायां क्यजिति, यदयम् 'अश्वाघस्यात्' (पा. ७, ४, ३७) इति क्यचि प्रकृते ईत्वबाधनार्थं आकारं शास्ति '(महाभाष्यम् ३, १, ८) । क्यजन्तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' (पा. ३, १, ३२)इति धातुसंज्ञायां वर्तमाने लटः शत्रादेशे 'तास्यनुदात्तेत्०' (पा. ६, १, १८६) इत्यनेन लसार्वधातुकस्य 'अत्' इत्यस्याऽनुदात्तत्वे 'धातोः' (पा. ६, १, १६२) इत्यनेन 'अघाय' इत्यस्यान्तोदात्तत्वे पररूपैकादेशे 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा. ८, २, ५) इत्यनेनैकादेशस्योदात्तत्वे सिद्धे अन्तोदात्तः अध्यायत् शब्दः । पञ्चम्या विभक्तेर् एकवचने ङसेः 'शतुरनुमो नद्यजादी' (पा. ६, १, १७३) इत्यनेनोदात्तत्वात् अन्तोदात्तः अघायतः इति पञ्चम्यन्तः शब्दः । (उरुष्य) रक्ष, उरुष्यती रक्षकर्मा (निरु. ५।२३) कण्ड्वादेर् आकृतिगणत्वाद् उरुष् शब्दादपि यकि प्रत्यये प्राग्वद् यगन्तस्य धातुत्वे उरुष्य धातोर् लोटि मध्यमपुरुषैकवचने प्राग्वत् सिपो 'हि' इत्यादेशे तस्य च 'अतो हेः' (पाः ६, ४, १०५) इति लोपे 'ऋचि तुनुघम०' (पा. ६, ३, १३३ इत्यनेन संहितायां दीर्घे उरुष्या इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—(शोचिष्ठ) हे ज्योतिःस्वरूप! (दीदिवः) ब्रह्माण्डे प्रकाशमान परमेश्वर! (तं) अविनाशिनममृतस्वरूपं (त्वा) त्वां (सखिभ्यः) समानख्यानेभ्यः आत्मप्रतिबिम्बरूपेभ्यो जीवेभ्यः अर्थात् तेषां कल्याणाय (सुम्नाय) मुक्तिसुखाय (नूनम्) निश्चयेन (ईमहे) याचामहे । (सः) विष्णुस्वरूपस्त्वं (नः) अस्मान् (बोधि) जानीहि । (इ) हे रुद्ररूप ! (हवम्) अस्मदीयम् आह्वानम् (श्रुधि) शृणु । (समस्मात्) सर्वस्मात् (अघायतः) पापमाचरतः कामादेः (नः) अस्मान् (उरुष्य) रक्षेति ।

सात्वतास्तु—प्रचण्डदावानले गाः गोपालबालांश्च दग्धुमुपक्रान्ते सति कश्चित् अन्तरङ्गः भगवत्सखा संरक्षणाय व्याहरति 'तं त्वेति'—

(शोचिष्ठ) स्वतो दीप्तिमन् । स्वप्रकाशतेजोमूर्ते (दीदिवः) अन्येषां दीपयितः । (तं) विपन्निवारकत्वेन प्रसिद्धम् । (त्वा) त्वां सखिभ्यः षष्ठ्यर्थे चतुर्थी सखीनां दावदहनदन्दह्यमानानां भवन्मित्राणां गोभिः सहितानाम् (सुम्नाय) कल्याणाय अग्निदाहतो रक्षणाय (त्वा) त्वाम् (ईमहे) याचामहे । त्वत्तः गवां गोपालबालानाञ्च त्राणं याचास इत्यर्थः । त्वरितं सर्वान् अग्नितो रक्षेति तात्पर्यम् । (सः) त्वं नः अस्मान् स्वानुचरान् (बोधि) बुध्यस्व (हवम्) आह्वानं श्रोतव्यम् अस्मदीयप्रार्थनम् (श्रुधी) शृणु । तदेवाह सर्वस्मात् (अघायतः) अघम् कामयमानात् अस्मदपकारकात् शत्रोः (समस्मात्) सर्वस्मात् नः अस्मान् (उरुष्य)

रक्ष पालय दैवोत्पातात् अतिवृष्ट्यग्निदाहादिरूपात्, चेतनात् बकराक्षसादिप्राणिवर्गाद्वा, एतस्मात् सर्वस्मात् अस्मान् पाहि इति भावः ।

"इड एह्यदित एहि काम्या एत ।
मयि वः कामधरणं भूयात् ॥३।२७॥"

१—गवोपसर्पणम् २—गवोपस्पर्शनम्

सप्तविंश्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ 'इड एहि' इति प्रथमो गवोपसर्पणः । 'काम्याः' इत्यादि द्वितीयो गवोपस्पर्शनः । द्वयोः श्रुतबन्धुर्ऋषिः, विराड्गायत्रीछन्दः, गौर्देवता (शत. २, ३, ४, ३४; का. श्रौ. ४, १२, ८, ९) ।

(इडे) इडेति गोनाम (निघ. १, १, १५) मन्त्रादित्वाद् आमन्त्रितम् 'इडे' इत्याद्युदात्तम् । हे धेनो! (एहि) दोहनार्थम् अग्निहोत्रस्थानमागच्छ । (अदिते) अदितिरिति गोनाम (निघ. १, १, १४) दो अवखण्डने (१४४८) दैवादिकः परस्मैपदी । दितिरवखण्डनीया हन्तव्या, कर्मणि क्तिनि, 'द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति' (पा. ७, ४, ४०) इतीकारादेशः । देवराजयज्वा दीङ् क्षये इत्यतो निष्पत्तिमाह । न दितिरदितिर् अध्न्येति । ऐतिहासिकपक्षे इडा मनोर्दुहिता, अदितिर्देवमाता 'अदितिरदीना देवमाता' (निरु. ४, २२) इति यास्कोक्तेः । अतस्मिंस्तच्छन्दस् तद्वदतिदेशार्थं इति न्यायेनाऽत्रोपमार्थः संगच्छते । इडा मनोर्दुहिता मनुमिव अस्मान्प्रति आगच्छ । अदितिरादित्यानिव अस्मान् प्रत्यागच्छेति । वाक्यादित्वाद् 'अदिते' इत्यामन्त्रितमाद्युदात्तमिति ।

द्वितीयेन मन्त्रेण गां स्पृशति–(काम्याः) 'मनुष्याणां ह्येतासु कामाः प्रविष्टा.' (शत. २, ३, ४, ३४) इति श्रुतेः । हे कमनीयाः गावः! अत्रापि वाक्यादित्वादाद्युदात्तत्वम् । (एत) अस्मत्समीप आगच्छेति । (वः) युष्मत्सम्बन्धि (कामधरणम्) कामानां काम्यानां पदार्थानां धरणं फलधारकत्वं, युष्मदधिकरणकमिष्टसिद्धिरूपफलधारकत्वं युष्मत्प्रसादात् (मयि) यष्टर्यपि (भूयात्) भवतात् इष्टफलोपभोगशक्तिराविर्भूयादिति । 'अहं वः प्रियो भूयासम्' (शत. २, ३, ४, ३४) इति श्रुतेः—इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—आत्मा वदति–(इडे) हे महावाक् ! (एहि) आयाहि । (अदिते) हे जीवरूपे परशक्ते! (एहि) । (काम्याः) हे सर्वैः कामयितव्यानि इन्द्रियाणि ! (एत) ज्ञानयज्ञस्थले हार्दान्तरिक्षे आगच्छत । (वः) युष्मत्सम्बन्धि (कामधरणं) इष्टफलधारणं (मयि) आत्मनि (भूयात्) भवेत् न सांसारिकपदार्थेष्विति । भगवतः स्नेहातिरेकात् तद्रक्षितविशेषनामधेयाः काश्चिद् गाः दूरगमनभयेन नामग्राहं समाह्वयति श्रीकृष्णः-इडे इतिः—

(इडे) इडानामिके (अदिते) तदभिधाने (एहि) आगच्छ (काम्याः) काम्यमाना-

स्तन्नामधेया गावः (एत आ इत) मत्समीपमागच्छत । दूरं गतासु भवतीषु भवदनिष्टशङ्कया मम मन उद्विजेत । (मयि) युष्मासु स्निह्यति (वः) कृष्णो युष्माकं (कामधरणं) मदभीष्टफलधारकत्वम्, मदिच्छानुसारेण गमनमवस्थानं वा (भूयात्) भवतु, यथाऽहमिच्छेयं गच्छन्तु अवतिष्ठन्तां वा भवत्य इति तथैव युष्माभिश्चरणीयमिति भावः ।

"सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ य. ३।२८ ॥"

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अष्टाविंश्यां कण्डिकायां 'सोमानम्' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः । अस्य मेधातिथिऋंषिः, ब्रह्मणस्पतिरेवर्षिरिति महीधरः । गायत्री छन्दः, ब्रह्मणस्पतिर्देवता (शत. २, ३, ४, ३५; का. श्रौ. ४, १२, १०) ।

'सोमानं स्वरणं' इत्यारभ्य 'परिते दूडभः' इत्यन्तं नवर्चम् आहवनीयाग्न्युपस्थानम् ।

अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राच्यां स्थितोऽग्निमीक्षमाणः पठति—(ब्रह्मणस्पते) बृहस्पतिरेव ब्रह्मणस्पतिः स हि ब्रह्मणो वेदवाचः पतिः पालकः । बृहि वृद्धौ (७३६) भौवादिकः परस्मैपदी । बृंहेर्नोऽच्च' (उ. ५८५) इत्यनेनौणादिको मनिन् प्रत्ययः । 'बृ' इत्युत्तरवर्तिना 'न्' इत्यस्याऽकारादेशे यणि ब्रह्मन् इति । माम् (सोमानम्) अभिषोतारम् षुञ् अभिषवे (१२४८) सौवादिकः उभयपदी । छान्दसो मनिः प्रत्यय औणादिकः । प्रत्ययस्वरेण सोमन् शब्दोऽन्तोदात्तः । कर्तरि मनिन्प्रत्ययं व्याचक्षाणौ उव्वटमहीधरौ स्वरदोषान्न रमणीयौ । (स्वरणम्) शब्दयितारं देवस्तुतीनाम् । स्वृ शब्दोपतापयोः (९३२) भौवादिकः परस्मैपदी । 'नन्द्यादित्वात्' (पा. ३, १, १३४) कर्तरि ल्युः प्रत्ययः । 'लिति' (पा. ६, १, १९३) इत्यनेन प्रत्ययात् पूर्वस्य 'स्वर्' इति धात्वकारस्योदात्तत्वात् आद्युदात्तः स्वरण शब्दः । (कृणुहि) कुरु । (कक्षीवन्तम्) तदाख्यं दीर्घतमस ऋषेरपत्यम् । कक्षीवन्तमित्यौपमिकम् । यथा कक्षीवन्तं सम्पन्नसोमाभिषवं विहितदेवस्तोत्रं च त्वं चकर्थ, मामपि तथा कुरु । कक्ष्या अस्ति यस्येत्यर्थे 'कक्ष्यायाः संज्ञायां मतौ संप्रसारणं कर्तव्यम्' (पा. वा. ६ १, ३७) इति वार्तिकेन सम्प्रसारणे 'आसन्दीवदष्ठीवत्०' (पा. ८, २, १२) इत्यादिना मतोर्मस्य वकारादेशः । (यः) दैर्घतमसः कक्षीवान् ऋषिर् (औशिजः) उशिजः मातुरौरसः पुत्रः, अत्र यास्कः —कक्षीवान् कक्ष्यावान् औशिजः, उशिजः पुत्रः, उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः । अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात् । तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते (निरु. ६, १०) इति देवयाजिनः ।

१—ऋग्वेद १, १८, १ । साम. १३९, १४६३ । तै. सं. १, ५, ६, ४ । तै. आ. १०, १, ११ ।

आत्मयाजिनस्तु—(वन्) हे त्रिदेवरूप (ब्रह्मणस्पते) वेदस्य गोप्तः ईश्वर ! त्वं (तं) यष्टारं (सोमानम्) सोमम् आत्मप्रतिबिम्बं ब्रह्मण्यानयतीति सोमानस्तं (स्वरणम्) अहं ब्रह्माऽस्मीतिशब्दवन्तं (कृणुहि) कुरु। (यः) (कक्षी) पापयुक्तः सन् (औशिजः) योगेच्छया सम्पन्न इति।

सात्वतास्तु—स्वसमीपमागतं भगवन्तं युधिष्ठिरः प्रार्थयते -सोमानमिति। 'सोमान' राजसूयाश्वमेघादिबृहत्तमयागकारिणं 'स्वरणं' शब्दायमानं समागतेभ्योऽतिथिभ्यः यथोक्त-स्वागतवचनादेर्वक्तारम्। 'कृणुहि' कुरु 'ब्रह्मणस्पते'! हयग्रीवादिभिरवतारैर्वेदरक्षक किञ्च 'कक्षीवन्तं' कक्षा हिंसादुराचारादेः परित्यागः यज्ञविघातकवधो वा। कष् हिंसायाम् ततः (वृतृ.) (उ. ३४२) इत्युणादिसूत्रेण 'स' प्रत्ययः। तद्वन्तं कामादिषड्रिपुविजयिनम्। यज्ञ-विघातकदुर्जनादिवधसमर्थं वा। उशिजो मेधावी (निरु. ३।१५।१९) वश कान्तौ (आदा-दिकः परस्मैपदी) वशेः कित् (उ. २२९) इति इजिप्रत्ययः। ग्रहिज्या (पा. ६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। कामयते शास्त्राण्यभ्यसितुं व्याख्यातुं वा, इति देवराजः। तेषां मेधाविनाम् अयम् औशिजः मेधाविसम्बन्धी, मेधाविषु मुख्यः यः तं तादृशं च मां कृणु इति सम्बन्धः। निष्प्रत्यूहं यष्टा, अतिथीनां यथायथं स्तावकः, पराजितकामादिशत्रुषट्कः, यज्ञविरोधिसपत्नविध्वंसकः, सभायां मेधाविनामग्र्यश्च स्यां त्वत्प्रसादादितिभावः।

"यो रेवान्यो अमोवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः।
स नः सिषक्तु यस्तुरः॥ शु. ३।२९॥

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

एकोनत्रिंश्यां कण्डिकायां 'यो रेवान्' इत्यृगात्मक एव मन्त्रः। अस्य मेधातिथिः ऋषिः, गायत्री छन्दः, ब्रह्मणस्पतिः देवता (शत. २, ३, ४, ३५; का. श्रौ. ४, १२, १०)।

(यः) ब्रह्मणस्पतिः (रेवान्) धनाढ्यः। एकविंश्यां कण्डिकायामस्य व्युत्पत्तिरुक्ता। (यः) यश्च (अमोवहा) रोगाणामपहन्ता। अम रोगे (१७२१) चौरादिकः उभयपदी। अस्माद् औणादिकः ईवन्प्रत्ययः। अमीवान् रोगान् हन्ति अमीवहा, 'बहुलं छन्दसि' (पा. ३, २, ८८) इत्यनेन क्विपि रूपम्। (वसुवित्) वसुनो धनस्योपयोगितां वेत्ति—इति वसुवित्। यद्वा वसु धनं भक्तेभ्यो वेदयति लम्भयतीति वसुवित्। उत्तरपदे विद ज्ञाने इत्यतो वा विद्लृ लाभे इत्यतो वा 'सत्सूद्विष॰' इत्यादिना क्विप् प्रत्ययः। (पुष्टिवर्धनः) पोषणं पुष्टिः। पुष् पुष्टौ (७००) भौवादिकः परस्मैपदी। भावे क्तिन्प्रत्ययः। पुष्टिं वर्धयते 'नन्दिग्रहिपचा-

---

१—ऋग्वेद १, १८, २।

दिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा. ३, १, १३४) इत्यनेन नन्द्यादित्वमाश्रित्य ल्युः प्रत्ययः। उत्तरपदप्रकृतिस्वरेण लित्स्वरे स्थिते मध्योदात्तः शब्दः। (यः) यो ब्रह्मणस्पतिः (तुरः) भक्तानामभीष्टपूरणे त्वराशीलः। तुर त्वरणे (११०२) जौहोत्यादिकः परस्मैपदी। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः (पा. ३, १, १५३) इत्यनेन कर्तरि कः प्रत्यय। प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तश्च शब्दः। (सः) एवंगुणविशिष्टः (नः) अस्मान् (सिषक्तु) 'सिषक्तु सचत इति सेवमानस्य' (निरु. ३, २१) इति यास्कोक्तेः सेवताम् पालयतामित्यर्थः। षच सेवने (१६३) भौवादिकः आत्मनेपदी। 'बहुलं छन्दसि' (पा. २, ४, ७६) इति शपः श्लुः द्विर्भावः अभ्यासस्येत्वं च।

अथवा अग्निप्रसादाद् अस्मिन् मन्त्रे पुत्रः प्रार्थ्यते—एवंगुणविशिष्टो मम पुत्रो जायताम् यो धनवान् यः पित्रोर्व्याधिग्रस्तयोर् औषधाद्युपचारैर्यथार्हपरिचरणैश्च रोगाणामपहन्ता यश्च सात्विकैरुपायैर् धनं लब्धा, यः स्वशरीरपुष्टिपूर्वकं सुमधुरसरसभोजनादिभिः पित्रोः पुष्टिं वर्धयिता, यश्च कर्तव्यकर्मसम्पादने क्षिप्रकारी, सोऽस्मान् सेवतामिति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— (यः) महाविष्णुः (रेवान्) रः ब्रह्मानलः एः पराशक्तिस्तयोरधिष्ठानं (यः) (अमीवहा) अमीवानां जन्ममृत्युरोगादीनां हन्ता (वसुवित्) वसन्ति भगवद्भक्ता यत्र तद् वसु वैकुण्ठं तस्य दाता लम्भयिता अथवा स्वस्य वैकुण्ठरूपस्य प्रापकः (पुष्टिवर्धनः) पुष्टेर्विष्णुभक्तिभावनाया वर्धयिता (यः) (तुरः) त्रिदेवरूपस्य धारकः (सः) (नः) अस्मान् (सिषक्तु) सचतां सेवतामिति।

सात्वतास्तु— धर्मराजः स्नेहातिरेकात् पौनःपुन्येन श्रीकृष्णं स्तौति 'यो रेवान्' इति। रेवान् प्रशस्तधनयुक्तः लक्ष्मीपतिर्वा। यः अमोवहा प्रपन्नार्तिव्याधिहन्ता अविद्यारोगनिवर्तको वा। वसुवित् वसुना मम मातुलेन वसुदेवेन तपश्चर्याप्राप्तवरबलात् विद्यते लभ्यते। वसुवित् वसुपूर्वाद् विदेः बाहुलकात् कर्माणि क्विप्। यद्वा वसुना द्रोणवसोरवतारेण व्रजाधीशनन्देन विद् लब्धा तत्पतत्नी यशोदा च धरावतारः, ताभ्यां द्वाभ्यां पूर्वजन्मनि तपस्यद्भ्यां समासादितस्वगृहभगवदाविर्भाववराभ्यां पुत्रात्मना भगवान् लब्ध इति भावः। (पुष्टिवर्धनः) यदूनाम् अतिशयेत समर्धयिता (तुरः) भक्तपरित्राणार्थं त्वरमाणः, अविलम्बेन गरुडमारुह्य समागत्य भक्तपरित्राता (यः) एवंविधः (सः) भवान् (नः) अस्मान् (सिषक्तु) सचतां सेवतामनुगृह्णातु शिष्यपुत्रभक्तादेः गुरुपितृप्रभ्वादिभिः सस्नेहमनुग्रहणमेव तत्सेवनम्। तुर इति तरतेर्वा त्वरतेर्वा त्वरया तूर्णगतिः इतियास्कः (निरु. १२।१४) षच् सेचने सेवने च (भ्वा. आ १६३) यद्वा (सिषक्तु) समवैतु नित्यं संयुनक्तु स्वेन समं अस्मान् नित्यं संबध्नातु। कदापि वयं त्वद्वियुक्ता न भवेमेति भावः (सिषक्तु) अवबुद्ध्यतां वा स्वस्मिन् अस्मदनुरागम्। षच् समवाये (भ्वा. उ. ८८७) समवायः नित्यसम्बन्धः सम्यक् अवबोधो वा।

[1]"मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ य. ३।३० ॥"

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

त्रिंशयां कण्डिकायां 'मा नः शंसः 'इत्यृगात्मक एको मन्त्रः । अस्य सत्यधृतिर्वारुणिः ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, ब्रह्मणस्पतिर्देवता (शत. २,३,४,३५; का. श्रौ. ४, १२,१०)।

(अररुषः) अप्रदातुः कृपणस्य । रा दाने (१०५७) आदादिकः परस्मैपदी । अस्मात् लिटि क्वसुप्रत्ययः । ररौ इति ररिवान् । तस्य प्रतिषेधः । नञा सह तत्पुरुषसमासे न ररिवान्, अररिवान् । षष्ठ्येकवचने 'वसोः सम्प्रसारणम् (पा. ६, ४, १३१) इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च अररुषः इति । (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य । मर्त्य इति मनुष्यनाम (निघ. २, ३, १२) म्रियत इति मर्त्यः । मृङ् प्राणत्यागे(१४०४) तौदादिकः आत्मनेपदी । अस्मात् 'हसिमृङ्०' (पा. ३, ८३) इत्यादिना सूत्रेण तन्प्रत्ययः । ततो मर्त-शब्दात् 'नवसूरमर्तयविष्ठेभ्यो यत्' (पा वा. ५, ४, २५) इत्यनेन स्वार्थे यति 'यतोऽनावः' (पा. ६, १, २१२) इत्यनेनाद्युदात्तो मर्त्यशब्दः । (शंसः) अभिशापः अनिष्टचिन्ता वा । शंसु स्तुतौ (७२८) भौवादिकः परस्मैपदी । भावे घञ् । शंसनं शंसः (धूर्तिः) हिंसा 'धूर्वति, इति वधकर्मसु पठितम्(निघ. २, १९, ४) धुर्वी हिंसार्थः (५७३) भौवादिकः परस्मैपदी, भावे क्तिनि 'राल्लोपः' (पा. ६, ४, २१) इति वलोपः । छान्दसमन्तोदात्तत्वम् (नः) अस्मान् (मा) न (प्रणक्) व्याप्नोतु प्रपूर्वकाद् नशेर्व्याप्त्यर्थकाद् लुङि प्रथमपुरुषैकवचने 'मन्त्रे घसह्वर०' (पा. २, ४, ८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि 'हल्ङ्याब्भ्य०' (पा. ६, १, ६८) इत्यादिना विभक्तिलोपे 'नशेर्वा' (पा. ८, २, ६३) इति कुत्वे 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (पा. ८, ४, १४) इति णत्वे रूपम् । अथवा णश अदर्शने (११९४) दैवादिकः परस्मैपदी एव प्रकृते ग्राह्यः । अस्मान् न विनाशयत्वित्यर्थः । (ब्रह्मणस्पते) हे वेदरक्षक ! 'षष्ठ्याः पतिपुत्र०' (पा. ८, ३, ५३) इत्यादिना विसर्गस्य सादेशः । (नः)अस्मान् त्वच्छरणं प्रपन्नान् (रक्ष) गोपाय । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा. ६, ३, १३५) इति संहितायां दीर्घे रक्षा इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— (ब्रह्मणस्पते) हे वेदरक्षक महाविष्णो ! (अररुषः) आत्माग्नावाहुतिमदत्तवतः (मर्त्यस्य) विषयासक्तेर्मरणधर्मणो मनसः (शंसः) अनिष्टचिन्ता (धूर्तिः) हिंसा च (नः) अस्मान् योगिनः (मा प्रणक्) न नाशयतु । (नः) अस्मान् योगारूढपुरुषान् (रक्ष) इति ।

१—ऋग्वेद १, १८, ३ ।

सात्वतास्तु— युधिष्ठिर एवं व्याहरति (अररुषः) रातिः दानकर्मा क्वसौ द्विर्वचने ररिवान्, छन्दसि कालानियमात् दाता धार्मिकः। तद्विरुद्धो अरविवान् अधार्मिको दुर्जनः तस्य, यः स्वयं न ददाति कृपणत्वात् दातॄंश्च विरुणद्धि तस्य (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (शंसः) अनिष्टचिन्ता मानसी हिंसा। (धूर्तिः) बहिर्हिंसा वाचिकी शारीरिकी च। धुर्वी हिंसायाम् क्तिनि रूपम्। (नः) अस्मान् (मा प्रणक्) न प्रकर्षेण व्याप्नोतु 'नशिर्' व्याप्तिकर्मा (नि. २।१८) 'णश्' अदर्शने अन्तर्भावितण्यर्थः, मा पृथक् करोतु न विनाशयतु। मनसा वाचा कर्मणा वा ये हिंसकाः दुर्जनाः ते पराजिता भवन्तु। अस्मान् दुःखीकर्तुं न प्रभवेयुरिति भावः।

[1]"महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ य. ३।३१ ॥"

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अस्यां एकत्रिंश्यां कण्डिकायां 'महि त्रीणाम् इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः। अस्य सत्यधृतिर्वारुणिः ऋषिः, विराड् गायत्री छन्दः, ब्रह्मणस्पतिर्देवता (शत. २, ३, ४, ३७; का. श्रौ. ४, १२, १०)।

(मित्रस्य) तदाख्यस्य देवस्य (अर्यम्णः) तदाख्यस्य देवस्य (वरुणस्य) तदाख्यस्य देवस्य (त्रीणाम्) एतेषां त्रयाणाम् आदित्यस्वरूपाणाम्। त्रेरामि छन्दसि त्रयादेशो वेति वाच्यम् इति त्रयादेशविकल्पः (पा. वा. ७, १, ५३)। (महि) महत् (द्युक्षं) द्युतिमन्तः पदार्थाः क्षियन्ति निवसन्ति यत्र, छान्दसः औणादिकः डः प्रत्ययः (दुराधर्षम्) दुःखेनाधर्षयितुमर्हम्। दुर् आङ् इति-पूर्वकाद् धृषेः कर्मणि खल् प्रत्ययः, 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा ३, ३, १२६) इति खल्प्रत्यये लित्स्वरेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरः। (अवः) रक्षणम् (अस्तु) भवतु इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु– (मित्रस्य) प्राणस्य 'प्राणो वै मित्रः' (शत. १२, ९, २, १२)। (अर्यम्णः) मनसः 'मनः पितरः' (शत. १४, ४, ३, १३)। 'पितॄणामर्यमा चास्मि' (गीता १०।२९) इति भगवदुक्तेः। (वरुणस्य) अपानस्य, 'अपानो वरुणः' (शत. १२, ९, २, १२)। (त्रीणाम्) त्रयाणाम् (महि) महत् (द्युक्षं) ब्रह्मवर्चसतेजोयुक्तम् (दुराधर्षम्) कामादिशत्रुभिराधर्षयितुमशक्यम् (अवः) रक्षणम् (अस्तु) भवत्विति।

सात्वतास्तु–मथुरायां कंसे निहिते स्नेहातिरेकात् सहलधरं कृष्णं वक्षसा समालिङ्गन् वसुदेव

१—ऋग्वेद १०, १८५, १। साम. १९२।

आचष्टे,—'महि' इति । 'मित्रस्य' मम मित्रस्य नन्दस्य तदुपलक्षितव्रजवासिवृन्दस्य (अर्यम्णः) अरीन् पूतनादीन् कंसान्त न् नियच्छतो भवतः, भवदुपलक्षितस्य यदुकुलस्य 'अर्यमा' आदित्यः अरीन्नियच्छति, इति यास्कः (निरु. ११।२३) अर्यं स्वामिनं राजानं मिमीते निर्मिमीते कंसस्य स्थाने तत्पितुः उग्रसेनस्य राज्ञो निर्माता अर्यमा अर्योपपदात् माङः (कनिनि) साधुः । तस्य उग्रसेनं राजानं विदधतस्तव त्वदुपलक्षितस्य यदुवृन्दस्य इति वा । (वरुणस्य) वरणीयस्य सम्भजनीयस्य भगिनीपुत्रत्वात् स्नेहास्पदस्य पाण्डवगणस्य च । (त्रीणाम्) त्रयाणाम् (अवः) रक्षणम् (अस्तु) स्यात् । रक्षणं विशनष्टि— (महि) महत् (द्युक्षं) द्योतमानसुवर्णादिनिवासभूतं तद्बहुलं (दुराधर्षं) केनाऽपि अतिरस्करणीयम् । तात! त्वत्तेजसा रक्षितं व्रजराजकुलं, पाण्डव-वृन्दञ्च सुवर्णरजतादिसमृद्धं निहतसपत्नञ्च स्यादिति भावः ।

अपि वा (मित्रस्य) सर्वेषां सुहृदः अजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य (अर्यम्णः) शौर्यातिरेकेण वकनिवातकवचादिशत्रुघातकस्य भीमार्जुनयुगलस्य, स्वबाहुबलात् शत्रून् व्यापाद्य स्वस्यार्यं ज्येष्ठं भ्रातरं अर्यं स्वामिनं राजानं निर्मिमाणस्य इति वा (वरुणस्य) सम्भजनीयस्य लावण्यातिशयेन लोकस्पृहणीयस्य निःसीमस्नेहभाजो नकुलसहदेवद्विकस्य, एवं पञ्चत्वेऽपि पाण्डवानां चतुर्णां युगलद्वयेन क्रोड़ीकरणात् (त्रीणाम्) त्रयाणाम् युधिष्ठिरस्य भीमार्जुनयुग्मस्य नकुलसहदेवयुगलस्य च । (अवः) अवनम् रक्षणं भवतु । यदवो गोपालाश्च सनाथाः, मम भगिनी कुन्ती विगतभर्तृका स्वज्येष्ठात् तत्सुतशताच्च पीडयमाना नितान्तमार्ता, प्रतिपदं विपदमाशङ्कमाना अत्यातुरा दुस्तरदुःखसागरनिमग्नेति महता कृच्छ्रेण तया अनाथाः स्वसुताः परिपाल्यन्ते तस्मात् तातो वसुदेवः विशेषतः स्वभागिनेयानां रक्षणं प्रार्थयत इति भावः ।

[1]"नहि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु ।
ईशे रिपुरघशंसः ॥ य. ३।३२ ॥"

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

द्वात्रिंशयां कण्डिकायां 'नहि तेषाम्' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः । अस्य सत्यधृतिर्वारुणिः ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, आदित्यो देवता (शत. २, ३, ४, ३७; का. श्रौ. ४,१२,१०) ।

(तेषाम्) आदित्यादिभिः रक्षितानां यष्टॄणां (नहि) निषेधार्थको निपातः नैव (अमा) गृहे, अमशब्दो गृहनामसु पठितः (निघ. ३, ४, ११) । अम गत्यादिषु (४६५) भौवादिकः परस्मैपदी । अमन्ति गच्छन्ति यत्रेत्यर्थः, 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (पा. ३, ३, ११८) इत्यनेनाधिकरणे घः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तश्च । अमे इत्येवं सतः 'सुपां सुलुक्' (पा. ७, १३९) इत्यादिनाऽऽकारः । अथवा अमाशब्दो गृहवचन इत्युव्वटोक्तेर्गृहार्थे

१—ऋग्वेद १०, १८५, २ ।

निपातोऽयम् । (चन) अपि, गृहेऽपि, (न)नापि (वारणेषु) वारयन्ति चौरादयो यत्र स्थिताः पथिकान् इति, वृञ् आवरणे (१८१४) चौरादिकः उभयपदी । अधिकरणे युच्प्रत्ययः, 'सुयुरुवृञो युच्' (उ. २।७६) इत्युणादिसूत्रम् । चित्त्वादन्तोदात्तः । तथाविधेष्वरण्येष्वपि । कश्चिदपि (अघशंसः) पापचिन्तकः, शंसनं शंसः, भावे घञ् । चिन्तनं वा कथनम् वा । अघस्य पापस्यैव शंसश्चिन्तनं कथनं वा यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । उव्वट-महीधरादयः कृद्वृत्या व्युत्पादयन्तः स्वरदोषतश्चिन्त्याः । 'आहन्ता वधस्वभावः आशंसमान-श्चेति देवराजयज्वापि (निघ. ३, २४, १३) क्लिष्टकल्पनया न रमणीयः । (रिपुः) अरिरपि (ईशे) ईष्टे समर्थो भवति । ईश ऐश्वर्ये (१०२०) आदादिक आत्मनेपदी । लटि प्रथम-पुरुषैकवचने ईष्टे इत्येवं सतः 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (पा. ७, १, ४१)इत्यनेन 'ते' इत्यात्मने-पदप्रत्ययावयवस्य 'त्' इत्यस्य लोपे रूपम् । युष्मत्कृपाभिरक्षितानां नापि गृहे नापि बहिः कश्चिदप्यनिष्टचिन्तकः शत्रुरपकर्तुं समर्थो भवतीत्याशय इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— (अमा) इन्द्रियाणां गृहेषु (तेषां) प्राणापानमनसाम् (अघशंसः) पापचिन्तकः (रिपुः) शत्रुः अज्ञानं (नहि ईशे) न पारयते, समर्थो न भवतीत्यर्थः । (रणेषु) कामादीनां शत्रूणां संग्रामेषु (वा) अथवा (अध्वसु) योगवर्त्मसु (चन) अपि (न) इति ।

सात्वतास्तु– भगवद्बाहुबलसमुत्पन्नप्रत्ययेन तातेन वसुदेवेन सम्प्रति वयं सर्वे विगत-त्रासाः गृहे, वने,युधि वा कुत्रापि किन्न वर्तेमहि इति व्याह्रियते इति वर्ण्यते—'न हि' इति । तेषां पूर्वोक्तानां यदुगोपपाण्डुनतयानां वा 'अमा' गृहं, अम इति गृहनाम (निघ. ३ ४।११) 'अमा' अम गतिभक्षशब्देषु (भ्वा. प. ४६५) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण (३।३।११८) इति घः । गमयन्तेऽस्मिन् भक्षयन्ते शब्दायन्ते वा । अमशब्दः सप्तम्येकवचने,विभक्तेराकारः । अपि वा अमाशब्दो गृहवचनः सहवचनश्च निपातः (ऋ.सं. ५, २, २०१) इत्युव्वटः । 'चन' अपि नहि नैव 'अध्वसु' मार्गेषु पथिषु 'वारणेषु' संग्रामेषु वा 'अघशंसः' अनिष्टोत्प्रेक्षकः 'रिपुः'सपत्नः 'ईशे' इष्टे नेति सम्बन्धः । भगवद्भुजपालितानां जनानां सर्वत्राभयमिति भावः ।

[1]"ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय ।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ।। य. ३।३३ ।।

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अथस्त्रिंश्यां कण्डिकायां 'ते हि पुत्रासः' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः । अस्य सत्यधृति-र्वारुणिः ऋषिः, विराड्गायत्री छन्दः, आदित्यो देवता (शत. २, ३, ४, ३७; का. श्रौ. ४, १२, १०) ।

१—ऋग्वेद ८, १८, ५ ।

आदित्यैस्त्रिभिरभिपालितं नाघशंसो रिपुरीष्टे, सर्वथा सुरक्षितजीवनो यजमानो भवति, (हि) यत यस्मात् कारणात् (ते) उक्तास्त्रयः (अदितेः) अक्षीणाया देवमातुः (पुत्राः) तनूजाः (मर्त्याय) तस्मै कृपापात्राय मानवश्रेष्ठाय (जीवसे) जीवितुम् 'तुमर्थे सेसेनसे०' इत्यादिना तुमर्थे असेप्रत्ययः। प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तश्च शब्दः। (अजस्रम्) अक्षीणम् जसिर् नञ्-पूर्वः क्रियासातत्ये वर्तते। तस्माद् 'नमिकम्पि०' (पा. ३, २, १६७) इति रप्रत्ययः निरन्तर-मित्यर्थः। (ज्योतिः) चिरायुष्यप्रदं प्रकाशं (प्रयच्छन्ति) ददति। व्यवहितस्यापि 'प्र' इत्युपसर्गस्य क्रियया सम्बन्धः। मन्त्रे 'हि' पदं श्रूयते तद्योगात् 'हि च' (पा. ८, १, ३४) इति सूत्रसामर्थ्यात् 'यच्छन्ति' इति तिङन्ते 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८, १, २८) इति प्राप्तमनु-दात्तत्वं न प्रसजति, इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(हि) यस्मात् (ते) (अदितेः) जीवस्वरूपायाः परशक्तेः (पुत्रासः) मनःप्राणापानाः (मर्त्याय) साधकाय (अजस्रम्) अक्षीणं सन्ततं परिपूर्णं (ज्योतिः) ब्रह्म-ज्योतिः (प्रजीवसे) कैवल्यमोक्षाय (यच्छन्ति) प्रददतीति।

सात्वतास्तु– तदेवाविष्करोति 'तेहि'–इति। ते यदवः ब्रह्मणानुज्ञाता (भाग०१०।१।२२) भगवत्सेवार्थं धरायामवतीर्णाः,गोपा अपि गोगोवर्धनगोपीगणोपेतगोलोकेन सह भगवत्क्रीडार्थं धरायामायाताः। पाण्डवा अपि कुन्त्याः मन्त्रशक्तिप्रभावात् समाहूतानां देवानां प्रसादात् लब्धजन्मानः क्रमेण धर्मवातेन्द्राश्वियुगलांशा एव। तस्मात् (ते) यदुगोपपाण्डुतनयाः, (अदितेः पुत्रासः) अदितिपुत्रा देवा एव। तान् विशिनष्टि ये (प्रजीवसे) जीवनाय, सुख-पुरस्सरं जीवितुम्, (मर्त्याय) मनुष्याय एकत्वमविवक्षितम्। सर्वेभ्यः मनुष्येभ्यः अजस्रं सततं (ज्योतिः) प्रकाशं ज्ञानं प्रयच्छन्ति प्रददति उपदिशन्ति येन तैः दर्शितभगवद्भक्ति-मार्गाः तान् अनुकुर्वाणाः प्रभुमाराधयन्तो मानवाः ससुखं जीवन्ति।

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥ इतिवचनात्।

[1]"कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते॥ य. ३।३४॥

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

चतुस्त्रिंश्यां कण्डिकायां 'कदाचन स्तरीरसि' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः। अस्य वैश्वा-मित्रो मधुच्छन्दाः ऋषिः, पथ्याबृहती छन्दः, यस्यास्तृतीयः पादो द्वादशाक्षरोऽन्ये, त्रयोष्टाऽ-

---

१—ऋ. ८, ५१, ७। साम. ३००। तै. सं. १, ४, २२, १; ५, ६, ४।

क्षराः सा पथ्याबृहती इन्द्रो देवता (शत. २, ३, ४, ३८; का. श्रौ. ४, १२, १०)।

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यान्वित देव ! (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि कदापीत्यर्थः। (स्तरीः) हिंसकः क्रुद्ध इति यावत्। स्तॄ ञ्‌ आच्छादने (१४८५) क्रैयादिक उभयपदी। वेदेऽयं हिंसायां दृष्टः 'वधकर्मसु स्तृणाति' (निघ. २, १९, १२) इति पठितत्वात्। ततः अवितॄस्तॄतन्त्रिभ्य ईः' (उ. ३, १५८) इत्यौणादिकः ई प्रत्ययः। (न) नैव (असि) भवसि। अनेकधा याच्यमानोऽपि यजमानं नाभिक्रुध्यसि प्रत्युत (दाशुषे) हविर्दत्तवते यजमानाय दाशृ दाने (८८८) भौवादिकः उभयदी, इत्यस्मात् लिटि 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा. ६, १, १२) इत्यनेन क्वसुप्रत्ययान्तो दाश्वान्शब्दः। चतुर्थ्यामेकवचने रूपम्। 'सश्चसि' धनपुत्रपौत्रादिसमृद्धिं प्रापयसि ददासीत्यर्थः। 'गतिकर्मसु' सश्चति इति पाठात्' (निघ. २, १४, ४१)। अथवा 'दाशुषे' इति द्वितीयार्थे चतुर्थी। दाश्वांसं दानशीलं यजमानं सश्चसि सेवसे। सश्चतिः सेवार्थः। (मघवन्)। अभीष्टफलादिसमृद्धिसम्पन्न देव (देवस्य) द्योतमानस्वरूपस्य (ते) तव (दानं) स्वभूतं दातव्यं (भूयः) बहुलम् (इत्) एव (नु) क्षिप्रवचनो निपातः (निघ. २, १५, १), क्षिप्रम् अतिशीघ्रम्। इन्नु इति निपातयोरभ्यासो दाढ्यार्थः। (उपोप पृच्यते) उपेत्यस्य द्विर्भावः पादपूरणार्थः 'प्रसमुपोदः पादपूरणे' (पा. ८, १, ६) इति पाणीनीयाऽनुशासनात्। उपपृच्यते उपगच्छति। पृची सम्पर्के (१४६३) रौधादिकः परस्मैपदी। कर्मकर्तरि रूपम्। पुनः पुनः प्रार्थ्यमानोऽपि त्वं न क्रुध्यसि अपितु तत्काल एव भूयिष्ठं दातव्यं दानशीलाय प्रत्यर्पयसीति भाव इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— ईशोपासना— (इन्द्र) हे परमेश्वर महानारायण! 'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शत. १३. १, ७, ४) त्वं (कदाचन) कदापि (स्तरीः) हिंसकः (न असि) न भवसि। शुद्धसत्त्वस्वरूपत्वात्त्वयि तमःकार्याभावः (दाशुषे) मनःप्राणबुद्ध्यादिकं सर्वस्वं दत्तवते तुभ्यं समर्पितवते भक्तप्रवराय (उप) उः शिव. प् पितामहः अः विष्णुः तत्सम्बुद्धौ त्रिदेवस्वरूप (इन्नु) सर्वदैव (सश्चसि) सेवसे। त्रिदेवरूपेण वरदानाय तस्मै सर्वस्वं हुतवते प्रादुर्भवसीत्यर्थः। सश्चतिः सेवनकर्मा। (मघवन्) म् ब्रह्मा अः विष्णुः घः शिवः तद्युक्त हे त्रिदेवमय (ते) तव (देवस्य) ज्योतिःस्वरूपस्य (भूयः) बहुतरम् (इत्) एव (दानम्) धर्मकामार्थमोक्षाणां पुरुषार्थचतुष्टयानां साधनं (नु इत्) क्षिप्रमेव (उप पृच्यते) यजमानेन सह सम्बध्यत इति।

सात्वतास्तु—गोवर्धनधारणेन व्रजे रक्षिते विगतमदाय क्षमाप्रार्थनार्थं भगवत्समीपमुपगताय इन्द्राय भगवान् उपदिशति— 'कदाचन' इति। (इन्द्र) (दाशुषे) मह्यमात्मानं निवेदयते परं मद्भक्ताय तम् अपकर्तुं अधुना व्रजजनमिव भविष्यति समये कदाचित् कदापि (स्तरीः) घातकः (असि न) मा भूत्, न भव, मद्भक्तस्य अवज्ञां विस्मृत्यापि न

कुरुष्वेति भावः। क्षमे कृतमपराधं व्रजोपप्लावनलक्षणम् (सश्चसि) यथासुखम् अमरावतीं स्वराजधानीं गच्छ। छन्दसि कालानियमात् द्वयोः'उप' शब्दयोः एकः पादपूरणः, अपरस्य च 'पृच्यत' इति क्रियान्वयः, 'इन्नु' इत् नु इति निपातद्वयं एवार्थकम्। द्वितीयं 'इन्नु' निपातद्वयम् अत्र नु' क्षिप्तं 'इत्' एव इत्यर्थकम्। तथा सति मघवन्! धनवन् बहुधनेन्द्र! देवस्य देवेन मया दानं दीयमानं भूयः यद् बहुलमेव वैभवं तत् क्षिप्रमेव(ते)तव (उपपृच्यते) सम्पृक्तं भवति। मद्दत्तवैभवस्यैव त्वं स्वामी उपभोक्ता च। मनागपि ते स्वकीयं न वर्तते। धिक् त्वां न त्रपसे,मदाश्रितोऽपि मद्भक्तान् दुःखीकर्तुं समीहसे। अतः ऊर्ध्वं न त्वया प्रमदितव्यम्। मत्प्रिया मदुपासकाः सदा सर्वथा सर्वत्र त्वया सम्मान्याः इति निष्कर्षः।

[1]"तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥ य. ३।३५॥"

आहवनीयाग्न्युपस्थानम्

अस्यां पञ्चत्रिंश्यां कण्डिकायां 'तत्सवितुः' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः। अस्य विश्वामित्र ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, सविता देवता (शत. २, ३, ४, ३९; का. श्रौ. ४, १२, १०)।

'सविता वै देवानां प्रसविता तथो हास्मा एते सवितृप्रसूता एव सर्वे कामाः समृध्यन्ते' (शत. २, ३, ४, ३९) इति श्रुतेः। (तत्) षष्ठ्यर्थे प्रथमा। (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य, 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्' (यजु. ४०।१७) इति श्रुतेः सूर्यमण्डलान्तःस्थितपुरुषस्य सर्वान्तर्यामिणो हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य विज्ञानानन्दमयस्य ब्रह्मणः (देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (वरेण्यम्) वरणीयं सर्वैः संभजनीयम्। वृङ् संभक्तौ (१५१०) क्र्यादिकः आत्मनेपदी ततः औणादिकः एण्यन् प्रत्ययः। नित्त्वादाद्युदात्तत्वं च। (भर्गः) सर्वकिल्विषाणां भर्जने समर्थं तेजः। अत्र सूर्यमण्डलं, मण्डलान्तर्गतो हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नः पुरुष, सूर्यरश्मयो वा त्रयो भर्गशब्दवाच्याः। वीर्यं वा भर्गः। 'वरुणाद्ध वाऽभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम वीर्यं वै भर्गः' (शत. ५, ४, ५, १) इति श्रुतेः। भृज्जत्यनेन सर्वं किल्विषमिति भर्गः। भ्रस्ज पाके (१२८५) तौदादिकः उभयपदी। तस्मात् 'अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च' (उः ४, २१५) इत्यनेन असुन्प्रत्यये कुत्वे च नित्स्वरेणाद्युदात्तो भर्गशब्दः। (धीमहि) ध्यायामः विचिन्तयामः। छान्दसं सम्प्रसारणम्। डुधाञ् धारणपोषणयोः,इत्यतः प्रार्थनायां लिङि रूपमित्यर्वाचीनाः। अथवा 'तत्' इति पदं भर्गविशेषणम्।

१—ऋ. ३।६२।१०। साम. १४६२। तै. ब्रा. १, ५, ६, ४; ४, २, ११, १। तै. आ. १, ११, २।

सवितुर्देवस्य तद् वरेण्यं भर्गो धीमहीति योजना। (यः) सविता (नः) अस्माकं (धियः) धीरिति प्रजानमसु पठितम्'(निघ. ३,९.७)बुद्धीः, कर्मवचनो वाग्वचनो वा धीशब्दः, कर्माणि वाचो वा (प्रचोदयात्) प्रकर्षेण सत्कर्मसु प्रवर्तयेत्। चुद संचोदने (१५९३) चौरादिकः उभयपदी, लेटि रूपम्। तत्पदं भर्गविशेषणमिति पक्षे 'धियो यः' इत्यत्र 'यः' शब्दो लिङ्ग-व्यत्ययेन 'यत्' इत्यवगन्तव्यः। गायत्रीमन्त्रनिर्वचने याज्ञवल्क्यः—

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः।
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः ॥१॥
सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते।
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥२॥
दीव्यते क्रीडते यस्माद् द्योतते रोचते दिवि।
तस्माद् देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥३॥
चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात्।
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥४॥
भ्रस्ज पाके भवेद् धातुर्यस्मात् पाजयते ह्यसौ।
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥५॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः।
भ्राजते यत्स्वरूपेण तस्माद् भर्गः स उच्यते ॥६॥
भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः।
गेत्यागच्छत्यजस्रं यो भगवान् भर्ग उच्यते ॥७॥
वरेण्यं वरणीयं च संसारभयभीरुभिः।
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः ॥८॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च।
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले ॥९॥

इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—यत् ब्रह्म (सवितुः) विराट्स्वरूपस्य सूर्यस्य (वरेण्यम्) अभ्यर्थनीयं (देवस्य) दिवु क्रीडायां जिगीषायाम् अर्दे च। रामकृष्णाद्यवतारैः क्रीडति देवशत्रून् असुरान् जिगीषति अर्दयति वा तस्य साकारब्रह्मणः (भर्गः) आविर्भावः भः व्याप्तिः र् रमणम् गः प्राप्तिः। रामकृष्णादेः प्रादुर्भावस्य प्राप्तिर्यस्मात् स भर्गः। अथवा भर्गस्तेजः। यथा

भवगद्वाक्यम्– न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (गी. १५।६)। (यः) (नः) अस्माकं (धियः) ध्-धीः प्रजाशक्तिः, इः मनः, यः प्राणः स् मानसः सूर्यः तेषां समूहः। धियः नपुंसके, द्वितीयाविभक्तेरेकवचनान्तम् (तत्) (प्रचोदयात्) प्रकर्षेण प्रेरयेत् प्रेरयति वा। (तत्) सत्यज्ञानान्दस्वरूपं वेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्म (धीमहि स्वात्मनि ध्यायाम इति ॥

सात्वतास्तु– वेदमाता गायत्री मुक्तकण्ठं भगवन्तं स्तौति-तत्सवितुरिति– (यः) कृष्णः (नः) अस्माकं (धियः) बुद्धीः कुमार्गान्निवर्त्य गीतोपदेशेन सन्मार्गे (प्रचोदयात्) प्रेरयति प्रवर्तयति। तं (धीमहि) ध्यायेम इतिसम्बन्धः। लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः। कीदृशं (सवितुः) सूर्यस्य (वरेण्यं) कन्यावरत्वेन अङ्गीकरणीयम्। तपनतनया कालिन्दी कृष्णेन परिणीता इति हि पौराणिकी कथा। (भर्गः) भ्राष्ट्रे निक्षिप्तचणकादिवत् 'नरकमुरादिरक्षोवृन्दभर्जकम्'।

रामपक्षे आदर्शचरितेन सन्मार्गप्रवर्तकं (सवितुः) सूर्यस्य (वरेण्यं) स्ववंशकीर्तिवर्धकत्वात् स्पृहणीयं निःसीमस्नेहास्पदं (भर्गः) रावणादिदुर्दान्तदैत्यभर्जकम् इत्यवसेयम्।

तथा च भगवतस्तत्प्रतिपाद्यत्वे समास्थिते अन्येषां समेषां वेदमन्त्राणां भगवत्परत्वमवश्यमास्थेयं 'पुत्राः मातुरनुहरन्ति' इति न्यायात्। अतएव 'यस्मिन्' विश्वानि काव्या (ऋ.सं. ८।४१।६) 'सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति' (कठोप० २।१५) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता (१५।१५) इति च वर्णितं सर्ववेदवेद्यत्वं निष्प्रत्यूहं सिद्ध्यति इति भावः।

[1]"परि ते दूडभो रथोऽस्माँ अश्नोतु विश्वतः।
येन रक्षसि दाशुषः॥ य. ३।३६॥"

आहवनीयोपस्थानम्

षट्त्रिंशयां कण्डिकायां 'परि ते' इति मन्त्रो ऋगात्मकः। अस्य वामदेव ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, अग्निर्देवता (शत. २, ३, ४, ४०; का. श्रौ. ४, १२, १०-११)।

हे अग्ने (ते) तव स्वभूतः (दूडभः) दुरपक्षय्यः। दभ्नोति इति वधकर्मसु पठितम् '(निघ. २, १९, १) दम्भु दम्भने, (१२७१) सौवादिकः परस्मैपदी। दुःखेन दम्भितुं हिंसितुं शक्यो दूडभः। 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' (पा. ३, ३, १२६) इति 'खल्' प्रत्ययः। 'दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च" (पा. वा. ६, ३, १०९) इति भाष्यवार्तिकेन पूर्वपदस्य दुरो रेफस्य 'ऊत्वे' नकारलोपे ष्टुत्वे च रूपम् (रथः) रथो

१—ऋग्वेद ४, ९, ८।

रंहतेर्गतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य, रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा, रपतेर्वा, रसतेर्वा (निरु. ९, ११)। (अस्मान्) त्वां प्रपन्नान् यजमानान् (विश्वतः) सर्वदिक्षु (परि अश्नोतु) सर्वतो व्याप्नोतु। नः सर्वान् सर्वतोभावेन रक्षत्विति भावः। अशू व्याप्तौ (१२६५) सौवादिकः आत्मनेपदी। परस्मैपदत्वं छान्दसम्। (येन) स्वीयेन रथेन (दाशुषः) दानशीलान् हविर्दत्तवतो यजमानान् 'यजमानो वै दाश्वान्" (शत. २, ३, ४, ३८) इति श्रुतेः (रक्षसि) गोपायसीति देवयाजिनः।

अस्मिंश्चतुर्थे महोपस्थानानुवाके एकादशीं कण्डिकामारभ्य षट्त्रिंशीं यावत् षट्विंशत्यां कण्डिकासु मन्त्राणामष्टाविंशतिः। (११ तारभ्य१६ पर्यन्तम् ऋचः षट्, द्वाविंश्याम् ऋग् एका, त्रयोविंशीमारभ्य षड्विंशीं यावत् ऋचः चतस्रः, अष्टाविंशीम् आरभ्य षड्त्रिंशीं यावत् ऋचो नव, सर्वयोगे विंशतिः ऋचः। शेषाः१७,१८,१९,२०,२१,२२ कण्डिकासु(एकैको मन्त्रः), २७कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ, सर्वयोगे ८ मन्त्राः (ऋङ्मन्त्रयोः समुदिता संख्या २८)। तेषां आद्या नव मन्त्राः (एकादशीमारभ्य एकोनविंशीं यावत्)आहवनीयाग्न्युपस्थानाः। विंशी एकाविंशी च द्वे गवोपसर्पणे। द्वाविंश्याः प्रथमो मन्त्रो गवोपस्पर्शनः, अपरा ऋग् गार्हपत्याग्न्युपस्थाना, २३-२६ चतस्रः गार्हपत्याग्न्युपस्थानाः। सप्तविंश्यां द्वौ मन्त्रौ, प्रथमो गवोपसर्पणः,अपरो गवोपस्पर्शनः। २८-३६ कण्डिकासु आहवनीयग्न्युपस्थानम् इति क्रिया व्याख्याताः। संक्षेपतो महोपस्थाने कण्डिकाः २६, मन्त्राः २८ (तासु २० ऋचः,८ मन्त्राः) ५ मन्त्रा गवोपसर्पणा वा गवोपस्पर्शना वा, ५ ऋचः गार्हपत्याग्न्युस्थानाः, शेषाः १८ मन्त्रा आहवनीयाग्न्युपस्थानाः।

चतुर्षु अनुवाकेषु कण्डिकाः ३६, मन्त्राः ४६ (ऋचः २६)।

आत्मयाजिनस्तु— हे ब्रह्माग्ने ! (ते) तव (दूडभः) मन्त्रशास्त्रप्रक्रियया द ब्रह्मा ऊः विष्णुः डः शिवः भः भगवती तेषां समूहो दूडभो देवरूपोऽतएवानाधृष्यः (रथः) (अस्मान्) यजमानान् (विश्वतः) सर्वासु दिक्षु (पर्यश्नोतु) सर्वतो व्याप्नोतु। (येन) देवात्मना रथेन (दाशुषः) स्वात्माहुतिं दत्तवतः (रक्षसि) पासीति।

सात्वतास्तु—नरकापहृत-षोडशसस्रसङ्ख्याकाः राजन्यकुमार्यः श्रीकृष्णे युधिष्ठिरसाहाय्यार्थं द्वारिकातः इन्द्रप्रस्थं प्रस्थिते समाक्रान्तुः शाल्वात् त्रस्ता यदुनार्यश्च सविनयमाचक्षते स्वपरित्राणार्थं भगवदागमनं प्रतीक्षमाणाः-परि त इति।

(येन) रथेन (दाशुषः) आत्मनिवेदकान् त्वदर्पितसर्वस्वान् त्वां प्रपन्नान् प्राणिनः त्वं (रक्षसि) सः त्वदीयः (दूडभः) दुर्दम्भनीयः कुतश्चित् कदाचित् कथञ्चित् अनभिवनीयः। (अस्मान्) (विश्वतः) सर्वतः (पर्यश्नोतु) परिव्याप्नोतु, अस्मद् - दृष्टिपथमवतरतु, शीघ्र-

गामिना शत्रुभिरतिरस्करणीयेन रथेन समागत्य प्रपन्नपरित्राणैकजीवनव्रतेन रक्षणीयाः इति भावः।

(क्षुल्लकोपस्थानाऽनुवाकः)

अत्र १ सामान्येन गार्हपत्याहवनीययोरुपस्थानम्।
२ प्रवत्स्यतो गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्।
३ प्रवत्स्यत आहवनीयाग्न्युपस्थानम्।
४ प्रवत्स्यतो दक्षिणाग्न्युपस्थानम्।

"भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि शंस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ य. ३।३७॥

सप्तत्रिंश्यां कण्डिकायां चत्वारो मन्त्राः। 'भूर्भुवः' इत्येकः क्षुल्लकोपस्थाने सामान्येन गार्हपत्याहवनीयोपस्थानः। अस्य ब्राह्मी उष्णिक् छन्दः। 'नर्य प्रजाम्' इति द्वितीयः प्रवासकाले गार्हपत्याग्न्युपस्थानः। 'शंस्य पशून्' इति तृतीयः प्रवासकाले आहवनीयाग्न्युपस्थानः। अथार्य इति चतुर्थो मन्त्रो दक्षिणाग्न्युपस्थानः परेषां त्रयाणांयजुश्छन्दः। चतुर्णामपि मन्त्राणां वामदेव ऋषिः, अग्नि- देवता (शत. २, ४, १, १–७; का. श्रौ. ३, १२, १२–१३)।

महोपस्थानेनाग्न्युपस्थानं सम्पन्नं, कृतमधुना क्षुल्लकोपस्थानविधयाऽग्न्युपस्थानेनेत्याशङ्कायाम् श्रुतिर् आह-'यद्वा अदो दीर्घमग्न्युपस्थानम् आशीरेव सा, आशीरियं, तदेतावत्यैवैतत् सर्वमाप्नोति तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेत, एतेनैव न्वेव वयमुपचराम इति हि स्माहासुरिः' (शत. २, ४, १, २)। उक्तं महोपास्थनमप्याशीःप्रार्थनम्। इदं क्षुल्लकोपस्थानमप्याशीः-प्रार्थनम्। उभयोरुपस्थानयोः समानकार्यकारित्वे सर्वं प्राप्तव्यं फलमनेन लघुनोपस्थानेनैव यदि प्राप्यते कृतं बहुकर्तव्यतासाध्येन महोपस्थानेन। तस्मादेतेन लघुनोपस्थानेनैवाग्निरुपचरितव्यः। वयमपि लघुनैतेनैवोपस्थानेनोपचराम इत्यासुरिराचार्य आहेति श्रुत्यर्थः।

तस्मादनेन क्षुल्लकोपस्थानेन द्वावप्यग्नी गार्हपत्याहवनीयौ युगपद् उपतिष्ठते—हे अग्ने! त्वं (भूः) भूर्-व्याहृतिस्वरूपः, (भुवः) भुवर् व्याहृतिरूपः (स्वः) स्वर्-व्याहृत्यात्मकश्च। एवं व्याहृतित्रयात्मकत्वेन त्वं त्रिषु पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेषु प्रतिष्ठित इति, 'भूरित्यृग्वेदात्, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्' (ऐ. ब्रा. ५, ५, ७) इति श्रुतेस्तिसृणां व्याहृतीनां त्रयीसारत्वात् सत्यरूपत्वम्। व्याहृत्यात्मकाश्चाग्नयः सत्याः सत्यफलप्रसवा इति। (प्रजाभिः) पुत्रपौत्रबान्धवादिभिः (सुप्रजाः) स्वानुकूलशोभनप्रजोपेतः। शोभनाः

प्रजा यस्येति बहुव्रीहिसमासे 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' (पा. ५, ४, १२२) इत्यनेनासिच्-प्रत्ययः। 'नञ्सुभ्याम्'(पा. ६, २, १७-१) इत्यन्तोदात्तश्च।(स्याम्) भवेयम्। प्रार्थनायां लिङ्। (वीरैः) पुत्रैः भ्रातृभिर्वा। (सुवीरः) शोभनवीरोपेतः, 'वीरवीर्यौ च' (पा ६, २, १२०)इत्यनेनोत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। (स्याम्)। (पोषैः) पुष्टिसाधनैः, पुष्टिस्वरूपैर्वा गोहिरण्यधान्यादिभिः (सुपोषः) शोभनपुष्टिपदार्थान्वितः। बहुव्रीहिसमासे क्रत्वादित्वमाश्रित्य वा द्व्यच्कमाद्युदात्तमुत्तरपदं मत्वा वोत्तरपदाद्युदात्तत्वम्' (पा. ६. २, ११८, ११९) (स्याम्)।

यदि कदाचित् यजमानः प्रवसति ग्रामान्तरे नगरान्तरे वा सीमामतीत्य रात्रौ वसति अग्नीन् उपतिष्ठते। तत्र प्राग् गार्हपत्याग्निमुपतिष्ठते–(नर्य) नरेभ्यो हित नर्य, आमन्त्रितं पादादावाद्युदात्तम्। हे गृहस्थजनोपकारक ! (मे) मदीयां (प्रजां) सन्ततिं (पाहि) पालय। तत आहवनीयम् उपतिष्ठते-(शंस्य) हे प्रशंसनीयदीप्ते! आहवनीयाग्ने! 'शंसिदुहिगुहिभ्यो वा' (काशिका ३, १, १०९) इति विभाषया क्यपोऽभावपक्षे ण्यति रूपम्। 'तित्स्वरितम्' (पा. ६, १, १८५) इति प्राप्ते, 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः (पा. ६, १, २१४) इत्याद्युदात्तत्वम्, (मे) मम (पशून्) गवादीन् (पाहि) गोपाय। अन्ते दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते- (अथर्य) हे अतनवन् गतिशील दक्षिणाग्ने ! गार्हपत्यात् स्वस्थानं सदा दक्षिणाग्निर्गच्छतीत्यभिप्रायेणोक्तम्। अत सातत्यगमने (३८) भौवादिकः परस्मैपदी। अतनमथर् अतने अथरि साधुरथर्यः यत्प्रत्ययान्तः। अत्रामन्त्रितत्वात् पादादावाद्युदात्तत्वम्। (मे) मम (पितुम्) अन्नम् अन्ननामसु पाठात् (निघ. २, ७, ६)। (पाहि) रक्षेति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु– भूतात्मोवाच– हे ब्रह्माग्ने ! त्वं (भूः भुव. स्वः) त्रिलोकीरूपो विराट्-स्वरूपश्चासि। (प्रजाभिः) प्राणैः 'प्राणः प्रजाः' (शत. १४, ४, ३, १४)। (सुप्रजाः) योगानुष्ठानयोग्यप्राणोपेतः (वीरैः) मन्त्रशास्त्ररूढ्या–व् प्राणस्तेन ईरैर् ईरितैरिन्द्रियैः (सुवीरः) जितैरिन्द्रियैः समन्वितः (पोषैः) योगैश्वर्यपुष्टिभिः (सुपोषः) सुपुष्टियुक्तो योगोपेतः (स्याम्) भवेयम्। (नर्य) हे नररूपजीवहितकारिन् परमात्मन् ! (मे) मम (प्रजां) प्राणं (पाहि) रक्ष। (शंस्य) हे स्तुत्य नारायण! (मे) मम (पशून्) इन्द्रियग्रामान् (पाहि) संसाराद् रक्ष। (अथर्य) जीवभावेन नरभावं प्रेप्सो परमात्मन्! (मे) मम (पितुम्) अन्नस्वरूपं देहं (पाहि) योगचर्यायां विघ्नकारकाद् अशनात् पाहीति।

सात्वतास्तु– चिरं प्रतीक्षमाणौ श्रुतदेवबहुलाश्वौ विप्रराजानौ वपुर्द्वयं गृहीत्वा युगपद् अकस्मात् स्वगृहमुपयातं यदुनाथमुपतिष्ठेते-भूर्भुवरिति :—

त्रीणि भूरादीनि सम्बोधनानि। (भूः) स्वयं भवनशीलः अन्येनानुत्पाद्यः, (भुवः)

भावयितः जगदुत्पादनार्थं परमाणुपुञ्जं संग्रहीतः, सर्वव्यापक वा 'भू' प्राप्तौ आत्मनेपदी। सर्वं जगद् आप्नोति व्याप्नोति इति निरुक्तेः। (स्वः) असुरोपतापक! 'स्वृ' शब्दोपतापयोः। यद्वा भूरादीनां त्रयाणां सम्भूयार्थः-सच्चिदानन्द-विग्रह परमात्मन्! (प्रजाभिः) स्वशासितजनैः विप्रपक्षे प्रजाभिः स्वसन्ततिपुत्रपौत्रादिभिः (सुप्रजाः स्यां) शोभनप्रजो भवेयम्। किञ्च (वीरैः) स्वानुचरैः सैनिकैः (सुवीरः) शोभनैर्योद्धृभिरुपेतः। विप्रपक्षे (वीरैः) इन्द्रियविजेतृभिः स्वशिष्यैः (सुवीरः) शोभनसंयतेन्द्रियच्छात्रः। (पोषैः) पुष्टिसाधनैः धनादिभिः (सुपोषः) शोभनपोषकधनादिभिर्युक्तः। (नर्य) नर्यः नरेभ्यो हितः नरहितकरः तत्सम्बोधने नरहितकारिन्! (मे) मम (प्रजां) जनताम्, विप्रपक्षे शिष्यपुत्रादिसन्ततिं (पाहि) रक्ष। (शंस्य) स्तुत्य (पशून्) गवादीन्, (अथर्य) 'अत सातत्यगमने' अतनम् सातत्येन गमनम्, तदर्हतीति अतन्यः तकारनकारयोः थरेफौ पृषोदरादित्वात्, तत्सम्बोधने अथर्य सदागामिन् भक्तत्राणार्थम्, (मे) मम (पितुं) शरीरादिरक्षाप्यायनादिसाधनान्नादिकलापम्। पितुरित्यन्ननाम (निरु. २।७।६) पा रक्षणे (अ. प. ११३२) तुप्रत्ययो बाहुलकादिकारः। प्यायतेः 'ओप्यायी वृद्धौ' (भ्वा. आ. ५२२) तुप्रत्ययो धातोः पिभावश्च इति देवराजः।

"आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व॥" य. ३।३८॥

प्रत्यागतस्याहवनीयोपस्थानम्

अष्टत्रिंश्यां कण्डिकायां 'आगन्म विश्ववेदसम्' इत्येक एव मन्त्र आहवनीयाग्न्युपस्थानः। अस्यासुरिः ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, आहवनीयाग्निर्देवता (शत. २, ४, १, ७-८; का० श्रौ० ४, १२, १७)।

प्रवासादेत्य समित्पाणिर्बान्धवान्तरमभाषमाणः प्रागाहवनीयाग्निमुपतिष्ठते। 'स आहवनीयमेवाग्र उपतिष्ठतेऽथ गार्हपत्यम्' (शत २, ४, १, ७) इति श्रुतेः। (अग्ने) हे आहवनीयाग्ने! पादादित्वात् आद्युदात्तत्वम्। (सम्राट्) सम्यग् राजते भ्राजते इति सम्राट्। राजृ दीप्तौ (८२२) भौवादिकः उभयपदी। 'सत्सूद्विष०' (पा. ३, २, ६१) इति कर्तरि क्विप् प्रत्ययः, 'मो राजि समः क्वौ' (पा. ८, ३, २५) इति मकारभावे रूपम्। हे भ्राजमानदीप्ते! त्वां वयम् (आ गन्म) प्रपन्नाः स्मः। 'आगमाम' इत्यस्य स्थाने छान्दसं रूपम्। कथंभूतं त्वाम् (विश्ववेदसम्) सर्वविदं सर्वधनं वा। विश्वं वेत्ति वेदयति वा विश्ववेदास्तम्। 'विदिभुजिभ्यां विश्वे' (उ. ४, २३७) इत्यनेन असिः प्रत्ययः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च। यद्यपि विश्वशब्द आद्युदात्तः परन्तु 'बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' (पा. ६, २, १०६) इत्यनेन समासे पूर्वपदान्तोदात्तत्वमनुमोयते। अथवा विश्वं वेदो धनं यस्येति बहुव्रीहि-

समासे पूर्ववद् पूर्वपदस्यान्तोदात्तत्वम्, पुनः कीदृशम् (अस्मभ्यम्) यजमानानामस्माकं कृते (वसुवित्तमम्) वसूनि विन्दतीति वसुवित् पूर्ववद् कर्तरि क्विप्प्रत्ययः । अतिशयितः वसुवित् वसुवित्तमः । अनेकविधद्रव्यस्य लम्भयितारम्, एवंभूतस्त्वं (द्युम्नम्) अन्नं वा यशो वा । द्युत दीप्तौ (७४१) भौवादिक आत्मनेपदी । द्योतते प्रकाशते इति । 'द्युम्नं द्योततेयंशो वाऽन्नं वा' (निरु. ५,५) धनं वा, 'द्युम्नम्' इति धननामसु पाठात् निघ. २. १०, १३) द्यु अभिगमने (१०४०) आदादिकः परस्मैपदी इत्यतो निष्पत्तिं क्षीरस्वामी प्राहेति देवराजयज्वा । दिवं मनतीति द्युपूर्वकाद् 'म्ना' अभ्यासे इत्यतो निष्पत्तिमाह भानुजिदीक्षितः । (अभि) अभिलक्ष्य (आ यच्छस्व) उद्युङ्क्ष्व । यम उपरमे (९८४) भौवादिकः परस्मैपदी । 'आङो यमहनः' (पा. १, ३, २८) इत्यनेनाङ्पूर्वकाद् यच्छतेर् आत्मनेपदत्वं भवति । (सहः) बलम् । 'सहः इति बलनाम (निघ. २, ९, १७) । षह मर्षणे (८५२) भौवादिकः आत्मनेपदी । सहते अभिभवति शत्रूननेनेति करणे औणादिकोऽसुन्प्रत्ययः । नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वं च । (अभि) अभिलक्ष्य (आयच्छस्व) उद्घुङ्क्ष्व । अस्माकमन्नलाभाय यशोलाभाय शक्तिलाभाय च सतत प्रयतस्वेति । अथवा आयच्छतिः स्थापनार्थः । 'अभि' इत्यस्य च 'आयच्छस्व' इति क्रियया सम्बन्धः । अस्मभ्यं धनं यशोऽन्नं वा अभ्यायच्छस्व स्थापय समर्पयेत्यर्थः, बलं वाभ्यायच्छस्व स्थापय समर्पयेत्यर्थः इति देवयाजिन :।

आत्मयाजिनस्तु—जीवात्मा ब्रवीति— (सम्राट्) हे त्रैलोक्याधिप ! (अग्ने) नारायण (विश्ववेदसम्) सर्वविदितारम् (वसुवित्तमम्) लक्ष्मीपतिं त्वाम् (अभि आगन्म) भक्तिभावनयाऽऽभिमुख्यं प्राप्ताः स्म (द्युम्नं) यशः (सहः) योगशक्तिम् (अस्मभ्यम्) (अभि) सर्वतः (आयच्छस्व) प्रदेहि इति ।

सात्वतास्तु—तौ तत्परिकरौ च सम्भूय उपतिष्ठन्ते-आगन्म इति । आगन्म आगच्छामः त्वां शरणं प्रपद्यामहे । विशिनष्टि- (विश्ववेदसम्) सर्वज्ञम् (अस्मभ्यम्) भवदुपासकेभ्यः (वसुवित्तमम्) अतिशयेन धनादिवसुनो लम्भकम् प्रापकम् 'विद्लृ लाभे' इत्यतो निष्पन्नम् । (अग्ने) तेजस्विन् ! (सम्राट्) निरंकुश-शासक भगवन् अन्ये राजानो माण्डलिकाः एव । भवानेव सर्वोपरि विश्वशासकत्वात् चक्रवर्ती भूपतिरिति भावः । (द्युम्नन्) अन्नं यशो वा (अभि) आभिमुख्येन (सहः) बलञ्च (अभि) आभिमुख्येन आयच्छस्व, आगमय, स्थापय वा । आयच्छतिरत्र स्थापनार्थः । अस्मभ्यं यशोऽन्नं वा प्रदेहि इति तात्पर्यम् ।

"अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥" य. ३।३९ ॥

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

एकोनचत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'अयमग्निः' इत्येक एव मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः ।

अस्य आसुरिर्ऋषिः, न्यङ्कुसारिणी बृहती छन्दः, गार्हपत्याग्निर्देवता (शत. १, ४, १, ९; का. श्रौ. ४, १२, १७)।

आहवनीयमुपस्थाय प्रवासादागतो यजमानो गार्हपत्यमग्निमुपतिष्ठते— (अयम्) प्रार्थ्यमानः (गार्हपत्यः) गार्हपत्याख्यः (अग्निः) (गृहपतिः) गृहस्य आयतनस्य पतिः पालकः। षष्ठीसमासे 'पत्यावैश्वर्ये (पा ६, २, १८) इत्यनेन पूर्वपदस्य प्रकृतेर् गृहशब्दस्यान्तोदात्तः स्वरः प्रतिष्ठते। गृहपतित्वादेव गृहे वर्तमानायाः प्रजायाः पुत्रपौत्रादिसंततेः (वसुवित्तमः) अतिशयेस वित्तस्य लम्भयिता। यतस्त्वमुक्तगुणोऽसि तस्माद् (गृहपते) (अग्ने) अस्माकं (द्युम्नम्) अन्नं यशो धनं वा (अभि) अभिलक्ष्य (आयच्छस्व) प्रयतस्व। (सहः) बलम् (अभि) अभिलक्ष्य (आयच्छस्व)। यद्वा 'अभि' इत्युपसर्गस्य 'आयच्छस्व' इति क्रियया सम्बन्धः पूर्वमन्त्रे उक्तः इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— भूतात्मा जीवात्मानमभ्यर्थयते (अयं गार्हपत्यः) क्षेत्रज्ञरूपः (अग्निः) जीवः (गृहपतिः) क्षेत्रपतिः (प्रजायाः) प्राणभूतायाः सन्ततेर् अनुग्राहकः तथा (वसुवित्तमः) इन्द्रियरूपवित्तस्यातिशयेन लम्भकः। (गृहपते अग्ने) (द्युम्नं) शमादिरूपं धनम् (अभि) सर्वतः (आयच्छस्व) देहि (सहः) बलम् (अभि आयच्छस्व) इति।

सात्वतास्तु—पुनराह 'अयम्' इति। पुरस्ताद् वर्तमानः (गृहपतिः) गृहस्य सर्वनिवासस्य ब्रह्माण्डस्य पतिः पालकः। अग्निः वैश्वानरोऽग्निः- अतिथिरिति यावत्। वैश्वानरः प्रविशति अतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् (कठोप० १।६) इतिश्रुतेः। जलमाहरन्त्वनुचराः, पादप्रक्षालनादिभिरेव श्रीकृष्णः सत्करणीय इतिभावः। कीदृशः (गार्हपत्यः) गृहपतीनामस्माकं गृहस्थानां अनुकम्पकः निजागमनेन इत्यर्थः। प्रजायाः जनतायाः (वसुवित्तमः) अतिशयेन धनादिप्रापकः। उत्तरार्धं व्याख्यातपूर्वम्।

"अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आ याच्छस्व॥" य. ३ ॥४०॥

दक्षिणाग्न्युपस्थानम्

अस्यां चत्वारिंश्यां कण्डिकायाम् 'अयमग्निः पुरीष्य' इति मन्त्र एक एव। अस्य आसुरिर्ऋषिः, निचृदनुष्टुप् छन्दः, दक्षिणाग्निर्देवता। (का. श्रौ. ४, १२, १७)।

आहवनीयं गार्हपत्यं चोपस्थाय दक्षिणाग्निमुपतिष्ठते–(अयम्) उपस्थीयमानः (अग्निः) दक्षिणाग्निः (पुरीष्यः) पशव्यः 'पशवो वै पुरीषम्' (शत. ७, ५, १९) इति श्रुतेः। पुरीषेभ्यः पशुभ्यो हित इति तस्मै हितमित्यर्थे यत्प्रत्ययः। 'तित् स्वरितम्' (६, १, १८५)

इत्यनेन स्वरितत्वम् । पुनः कीदृशः (रयिमान्) रयिः इति धननाम (निघ. २, १०, ८) धनवान् । (पुष्टिवर्धनः) पुष्टेः धनधान्यादिसमृद्धेः शरीरस्वास्थ्यस्य च वर्धयिता । (पुरीष्य अग्ने) हे पशव्य दक्षिणाग्ने (अभिद्युम्नम् अभि सह आयच्छस्व) इति व्याख्यातम् इति देवयाजिनः ।

पञ्चमे क्षुल्लकोपस्थानानुवाके सप्तत्रिंशीमारभ्य चत्वरिंशीं कण्डिकां यावत् सप्त मन्त्रा (सप्तविंश्यां ४ अन्यत्र एकः एकः) तेषु प्रथमे गार्हपत्याहवनीययोः सामान्येनोपस्थानम्, द्वितीये प्रवत्स्यतो गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्, तृतीये प्रवत्स्यत आहवनीयाग्न्युपस्थानम्, चतुर्थे प्रवत्स्यतो दक्षिणाग्न्युपस्थानम्, पञ्चमे प्रवासादागतस्याहवनीयोपस्थानम्, षष्ठे प्रवासादागतस्य गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्, सप्तमे प्रवासादेत्य दक्षिणाग्न्युपस्थानम् इति क्रिया व्याख्याताः । पञ्चस्वनुवाकेषु चत्वारिंशतः कण्डिकानां समुदिता मन्त्रसंख्या ५३ (येषां २६ ऋचः) ।

आत्मयाजिनस्तु—भूतात्मा नरं प्रार्थयते—(अयम् अग्निः) नराणामुत्तमो नरः (पुरीष्यः) जीवानां हितः (रयिमान्) योगसंपत्तिशाली (पुष्टिवर्धनः) तं याचे । (पुरीष्य) हे पुरीषाणां जीवानां हितचिन्तक ! (अग्ने) नर ! (द्युम्नं) योगसम्पदम् (अभि) सर्वतः (आयच्छस्व) देहि (सहः) योगक्रियासामर्थ्यम् (अभि) सर्वतः (आयच्छस्व) देहीति ॥

सात्वतास्तु— पुनः प्रार्थयते—अयमग्निरिति । (अयं) पुरस्ताद् वर्तमानः (अग्निः) अस्माकमतिथिः तद्वत् पाद्यार्घ्यादिजलेन शमनीयत्वात् । (पुरीष्यः) पिपर्ति जगद् इति पुरीषः 'पॄ' 'पालनपूरणयोः' ततः शॄपॄभ्यां किच्च (उ० ४।२७) इत्यौणादिक ईषन् प्रत्ययः । पुरीष एव पुरीष्यः छान्दसत्वात् स्वार्थिको यत् । (रयिमान्) रयिर्धनादिः स दातव्यत्वेन विद्यते यस्य सः (रयिमान्) बहुधनादिप्रदाता । भूम्नि मतुप् । (पुष्टिवर्धनः) पुष्टिः मानसी सद्विचारसम्पत्तिः तस्या वर्धकः । सद्विचारादिपोषकः । उत्तरार्धं व्याख्यातपूर्वम् ।

जगत्पालको ब्रह्माण्ड-स्वामी, बहुवैभवप्रदाता, सद्विचारततिपोषकः, निरङ्कुशशासकः, स्वभक्तवत्सलः, श्रीकृष्णः परमात्मा अस्मान् अनुग्रहीतुम् अतिथिः सन् अस्मद्-गृहं निजागमनेन समलङ्कुरुते । किमतोऽधिकं सौभाग्यमकारणकरुणावरुणालयः कल-कलाप-सनाथः त्रिलोकीनाथः परःसहस्रजन्मानुष्ठितसाधनैर्योगिभिरपि दुरापः शं नः, सप्रणयं सादरमालपन्नयनसदनातिथ्यं भजते । दीनदयालुत्वमेवात्र हेतुरिति भावः ।

गृहोपस्थानाऽनुवाकः

"गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ य० ३।४१

गृहोपस्थानम्

एकचत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'गृहा मा बिभीत' इत्येक एव मन्त्रः। अस्य आसुरिर्ऋषिः, आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः,वास्तुपतिरग्निर्देवता(उव्वटमहीधरौ तु एकचत्वारिंशीम् आरभ्य तिसृणां कण्डिकानां शंयुर्ऋषिः, विराट्त्रिष्टुप्छन्दः, वास्तुपतिर्देवता इत्याहतुः)। (शत० २, ४, १, १४; का० श्रौ० ४, १२, २१)।

'अथातो गृहाणामेवोपचारः एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुषः किंवा करिष्यतीति, स यो ह तत्र किंचिद् वदति वा करोति वा तस्माद् गृहाः प्रत्रसन्ति, तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः। अथ यो ह तत्र न वदति न किंचन करोति तं गृहा उपसंश्रयन्ते (शत० २, ४, १, १४) इति श्रुतेः। प्रवासादेत्य यजमानो गृहान् उपतिष्ठते—(गृहा) मन्त्रादावामन्त्रितमाद्युदात्तं भवति। हे गृहाः! (मा) नैव (बिभीत) भीतिं कुरुध्वम्। गृहपतिर्यजमानः क्व गतोऽयं च योऽपरिचितः कुत आगत इत्याशङ्कां मा कार्ष्ट। ञिभी भये (१०८४) जौहोत्यादिकः परस्मैपदी। (मा) नैव (वेपध्वम्) कम्पध्वम्। टुवेपृ कम्पने (३६७) भौवादिकः आत्मनेपदी। (ऊर्जम्) अन्नादिसमृद्धिं (बिभ्रतः) धारयमाणान् युष्मान् प्रति। डुभृञ् धारणपोषणयोः (१०८७) जौहोत्यादिकः उभयपदी। अस्माल्लटः शत्रादेशे 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६, १, १८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। (एमसि) आ इमः. प्रवासाद् आगच्छामः। 'इदन्तो मसि' (पा. ७, १, ४६) इतीदन्तादेशः 'अस्मदो द्वयोश्च' (पा. १, २, ५९) इति विभाषया बहुत्वम्। ऊर्जमन्नादि बिभ्रतो (वः) युष्मान् (गृहान्) प्रति अहं गृहपतिरपि (ऊर्जम्)। अन्नादिसमृद्धिं (बिभ्रत्) धारयन् (सुमनाः) प्रसन्नचेतस्कः (सुमेधाः) सद्बुद्धियुक्तः। शोभना मेधा बुद्धिर्यस्येति बहुव्रीहिसमासे 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' (पा. ५, ४, १२२) इत्यसिच् प्रत्ययः। (मनसा) चेतसा (मोदमानः) प्रसीदन् हृदयाह्लादान्वितः (ऐमि) आगच्छामीति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— भृकुटिप्रदेशं सुषुम्णामार्गेण गच्छन् आह– (गृहाः) हे इन्द्रियमनोबुद्धिस्वरूपा गृहाः। यूयं (मा बिभीत) जीवात्मा युष्मांस्त्यक्ष्यतीति भियं मा श्रयत (मा वेपध्वम्)। (एमसि) मन्त्रशास्त्ररूढ्या एः प्राणवायुः, म् ब्रह्मा, अः विष्णुः सः शिवः इति त्रिदेवरूप आत्मा तयोर्मध्ये (ऊर्जम्) इन्द्रियसामर्थ्यस्वरूपम् अन्नं (बिभ्रतः) धारयन्तः। (सुमनाः सुमेधाः) (मनसा) 'मनो वै ब्रह्म' (शत. १४, ६, १०) तेन मनसा (मोदमानः) ब्रह्मानन्दसम्पन्नः (ऊर्जम्) आनन्दरसं (बिभ्रत्) धारयन्नहमपि (वः) गृहान् (ऐमि) आगच्छामीति।

सात्वतास्तु— युधिष्ठिरसमाहूतो भगवान् राजसूययागे तत्साहाय्यार्थम् इन्द्रप्रस्थं जगाम। तदा लब्धावसरः प्रतिपक्षाग्रणीः शाल्वः भगवत्पुरमाचक्राम। राजसूये निर्वृत्ते

शिशुपाले च निहते अतिघोरनिमित्तदर्शनेन सञ्जातद्वारिकावास्तव्यविपदाशङ्काः कुरुवृद्धेभ्यो मुनिभ्यः ससुतायाः कुन्त्याश्च लब्धानुमतिः प्रत्यावर्त्य स्वपुरीं तत्रत्यान्नरान्नायंश्च शाल्वाक्रमणत्रस्तमनसः सान्त्वयन् आह—गृहा मेति । गृहशब्दो नगरगृहवासिनो लक्षणया आचष्टे । गृहशब्दो बहुवचनान्तः दारवाचको वा । पुरुषानपेक्ष्य नारीगणस्य हृदयं अतितरां बिभेतीत्यभिप्रायेण ता एव वा सम्बोध्यन्ते । (गृहाः) अस्या नगर्याः नागरिकाः नरनारीगणाः, अपि वा गृहदारा नार्यो वा बहुवचनान्तगृहशब्दः पुंसि दारवचनः इति कोशसमयः । (मा बिभीत) न त्रस्यत (मा वेपध्वम्) त्रासेन न कम्पध्वम् । किं तर्हि (ऊर्जम्) बलम् (बिभ्रतः) धारयन्तः तिष्ठतेति शेषः, सबलहृदया भवतेति यावत् । यद्वा (बिभ्रत) धारयत बिभर्तेः छान्दसम् (एमसि) एम आगच्छामः युष्मद्रक्षणार्थं वयं सर्वे समायाताः । मा कुरुत प्रतिपक्षिणः शाल्वस्य शौर्याशङ्काम्, ततोऽप्यधिकम् ऊर्जं बलं पराक्रमं बिभ्रत् धारयन् अहं साग्रजः अतिशूरैः अन्यैश्च यदुभिरुपेतः (वः) युष्मान् गृहान् गृहवासिनो जनान् दारानिति वा ।(ऐमि) रक्षितुमागच्छामि उपजातोऽहं रक्षणायालं त्रासेनेति भावः । (सुमेधाः) शोभना मेधा अविस्मृतिहेतुः सततं भवत्स्मरणक्षमा मनोवृत्तिर्यस्य तादृशः प्रतिक्षणं युष्मान् चिन्तयन् निरन्तरं ध्यायन् स्नेहातिरेकात् । यद्वा मेधा इति धननाम (निघण्टु २।१०।३२) अत्र देवराजः 'मेधा' मिधृ मेधृ सङ्गमे च(८६८,८७७भ्वा० उ०)चकारात् हिंसामेधयोश्च । मिधिः सङ्गत्यर्थः इति माधवः । ततो घञ् । सङ्गच्छतेऽनेन सर्वं तद्वता, हिंस्यते वा तद्वान् चौरादिभिः, 'घ्नन्ति चैवार्थकरणात्' इति महाभारतम् । यद्वा मतौ धीयते अर्जियतव्यं रक्षियतव्यं दातव्यमिति धनवता बुद्धौ धनं धार्य्यते । तत्र मतिशब्द उपपदे धाधातोः घञर्थे कविधनम् (३।३।५८ वा) इति कः । पृषोदरादित्वात् (६, ३, १०९) मतिशब्दस्य मेभावः इति । तथा च सुष्ठु शत्रुपराजयकृत् मेधा लोकोत्तरयुद्धसामग्रीरूपशस्त्रादिलक्षणं धनं यस्य तादृशः । शस्त्रमेव शस्त्रभृतां धनमिति भावः (सुमनाः) शोभनमनाः युष्मासु स्निग्धहृदयः । मदनुपस्थितावपि प्रद्युम्नादिभिः शाल्वस्य सेनापतिर्द्युमान् सकला च सेना विनाशितेति वृत्तान्तश्रवणेन मनसा मोदमानः हृष्टचेताः शौर्यातिरेकेण यदूनामिति भावः । वृत्तान्तश्चायं (भाग० १०।७७) अध्याये सविस्तृतं निरूपितं तत एवावसेयम् ।

"येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुपह्वयामहे ते नो जानन्तु जानतः ॥" य. ३।४२ ॥

गृहोपस्थानम्

द्विचत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'येषामध्येति' इति मन्त्रो गृहोपस्थानः । अस्य शंयुर्ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, वास्तुपतिरग्निर्देवता । (का. श्रौ ४, १२, २१) ।

(प्रवसन्) प्रवासं कुर्वाणः, देशान्तरे वसन् गृहपतिः (येषाम्) गृहाणाम् (अध्येति) स्मरति। इक् स्मरणे (१०४७) आदादिकः परस्मैपदी। अयं नित्यमधिपूर्वः। 'अधीगर्थ-दयेशां कर्मणि' (पा. २, ३, ५२) इत्यनेन येषामिति षष्ठी। (येषु) गृहेषु प्रवासी जनः (बहुः) अत्यधिकः (सौमनसः) सौमनस्ययुक्तः। सुष्ठु मनो यस्य सुमनाः, सुमनसो भावः सौमनस्यं, भावेष्यञ्प्रत्ययः। सौमनस्यम् अस्त्यस्येति मत्वर्थे 'अर्श आदिभ्योऽच्' (पा, ५, २, १२७) इत्यनेनाचि प्रत्यये छान्दसो यलोपः। चित्वादन्तोदात्तत्वम्। यद्वा सुष्ठु मनः सुमनः, तस्येदमित्यर्थेऽण्प्रत्ययः। (गृहान्) तान् गृहपतिस्मर्तव्यान् गृहान् (उपह्वयामहे) सादरं आह्वयामः। (ते) गृहाः (जानतः) इमे नो गृहा न परकीया इति प्रत्यभिज्ञावतः (नः) अस्मान् (जानन्तु) परिचिन्वन्तु इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु— प्राणजीवेशा वदन्ति- (प्रवसन्) समाधिं कुर्वाणः (येषाम्) मनोबुद्धीन्द्रियालयानाम् (अध्येति) व्युत्थानावस्थायां स्मरति। (येषु) इन्द्रियालयेषु (बहुः सौमनसः) ऋत्विग्रूपत्वेन तेषां प्रीत्यतिशयः, यथा श्रुतिः- 'आत्मा वै यज्ञस्य यजमानोऽङ्गान्यृत्विजः' (शत. ९, ४, २, १६) तान् (गृहान्) इन्द्रियालयान् (उपह्वयामहे)। (ते) (जानतः) सर्वज्ञान् (नः) अस्मान् (जानन्तु) इति।

सात्वतास्तु— स्नेहातिरेकं प्रकटयति—येषामिति —

(प्रवसन्) देशान्तरं गतो दूरेऽवस्थितोऽपि (येषां) यान् भवतः कर्मणि षष्ठी अध्येति स्मरति 'इक्' स्मरणे अधिपूर्वः। (अदादि.१०४७) अयं सुहृज्जनः श्रीकृष्णाख्यः। विनयातिरेकप्रदर्शनार्थं प्रथमपुरुषैकवचनम्। अपिवा तृतीयचरणे उपह्वयामहे इति उत्तमपुरुष-बहुवचनदर्शनात् तदनुरोधेन अध्येति इत्यस्य अधीमः सततं स्मरामः इत्यर्थः। पुरुषवचन-व्यत्ययः छान्दसः। मया यूयं विस्मृता इति स्वप्नेऽपि न भ्रमितव्यमिति भावः। अस्मिन् प्रवसन्निति एकवचनान्तं पदं प्रवसन्तः इति बहुवचनेन परिवर्तनीयं (येषु) भवत्सु (सौमनस) सुमनसो भावः प्रीत्यतिरेकः, (बहुः) महान्। अतः (गृहान्)युष्मान् गृहशब्दार्थो व्याख्यातः। (उह्वयामहे) आह्वयामः आहूय सादरं सप्रणयमालपामः। (ते) गृहाः भवन्तः (जानतः) स्वेषु स्नेहातिरेकात् सततं स्मरतो ध्यायतश्चिन्तयमानान् (नः) अस्मान् (जानन्तु) अनुभवन्तु। क्षणमेकमपि अस्माभिर्यूयं न विस्मृताः किमुत बहुकालमिति भावः।

"उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवं शग्मं शंयोः शंयोः॥" य: ३।४३॥

१—गृहोपस्थानम् २—गृहप्रवेशः

त्रिचत्वारिंश्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ। 'उपहूता इह गावः' इत्येको मन्त्रः। 'क्षेमाय वः' इत्यपरः। अनयोः शंयुर्ऋषिः। प्रथमस्य भुरिग्जगती छन्दः, अपरस्य यजुश्छन्दः, वास्तुपतिरग्निर्देवता (का. श्रौ. ४, १२, २१-२२)।

(इह) अत्र (नः) अस्माकं (गृहेषु) भवनेषु (गावः) सवत्साः धेनवः (उपहूताः) आमन्त्रिताः। दोग्ध्र्यो धेनवः सवत्सा मम सद्मनि वर्धन्तामित्येवमभ्यनुज्ञाताः। (अजावयः) अजाश्च अवयश्च तेषां द्वन्द्वे 'समासस्य' (पा. ६, १, २२३) इत्यन्तोदात्तत्वम्। (उपहूताः) (अथो) अपि च अथ-उ इत्यनयोर्निपातयोः समुच्चयः (अन्नस्य कीलालः) कीलालम् इत्यन्ननामसु पाठात् (निघ. २, ७, २७) पुनरुक्तिर्न प्रतीयेतेति प्रकृते कीलालशब्दोऽन्नरसवाची। अन्नसम्बन्धी षड्विधो रसः (उपहूतः) आमन्त्रितः। अहं मम गृहे अनेकान् गवाजाविप्रभृतीन् पशून् आह्वयामि षड्रसमन्नं च सर्वदा समृध्यमानं गृहे मदीये आमन्त्रयामीति भावः।

एवं गृहान उपस्थाय सहर्षं गेहं प्रविशति (वः) युष्मान् गृहान् (क्षेमाय) प्राप्तस्य पदार्थस्य रक्षा क्षेमः तस्मै गृहवस्तुरक्षणाय (शान्त्यै) सर्वविधानिष्टपरिहाराय च (प्रपद्ये) प्राप्नोमि, युष्मासु प्रविशामीत्यर्थः। (शंयोः) शं कल्याणमिच्छतः कल्याणयुक्तस्य वा 'इदंयुरिदं कामयमानः'। अथापि तद्वदर्थे भाष्यते वसूयुरिन्द्रो वसुमानित्यर्थः (निघ. ४, ३, ३१) इति यास्कवचनात्। शमिति सुखनामसु पठितम् (निघ. ३, ६, १९)। 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' (पा. ५, २, १३८) इत्यनेन शंशब्दात् मत्वर्थे युस्प्रत्ययः। पुनरुक्तिरादरार्था। (शिवं शग्मम्) द्वे अपि सुखनामनी (निघ. ३, ६, १२, १८) सुखमपि द्विविधम्। ऐहिकम् आमुष्मिकं च। तद् द्वाभ्यां सहाम्नाताभ्याम् सुखनामभ्यां युगपद् ऐहिकं पुत्रदारादिसुखम् आमुष्मिकं स्वर्गसुखं च कामयत इति देवयाजिनः।

अस्मिन् षष्ठे गृहोपस्थानेऽनुवाके तिसृषु कण्डिकासु चत्वारो मन्त्राः। तत्राद्यैस्त्रिभिर्मन्त्रैर्गृहोपस्थानम्। त्रिचत्वारिंश्याः कण्डिकाया द्वितीयेन मन्त्रेण च गृहप्रवेशः। षट्सु अनुवाकेषु त्रिचत्वारिंशति कण्डिकासु समुदिता मन्त्रसंख्या ५७।

आत्मयाजिनस्तु—(इह) उत्थानदशायां (नः) अस्माकं (गृहेषु) शरीरावयवेषु (गावः) कर्मभक्तिज्ञानप्रकाशिकाः बुद्धिवृत्तयः (उपहूताः) सांनिध्यं गमिताः। (अजावयः) अज आत्मा तस्यावयः अवानि रक्षकाणि ज्ञानेन्द्रियाणि (उपहूताः) सांनिध्यं प्रापिताः। (अथ) तथा (अन्नस्य कीलालः) अन्नसम्बन्धी रसविशेषः सकर्मेन्द्रियो भूतात्मा (उपहूतः) चिद्वशं गमितः। हे देहाङ्गानि! (क्षेमाय) तपसो रक्षणाय (शान्त्यै) शमार्थं च (वः) युष्मान् (प्रपद्ये) प्राप्तोऽस्मि। (उ) हे विष्णो अथवा हे योगेश्वर शम्भो! (शंयोः) शं योगैश्वर्यसुखं

कामयत इति शंयुरारुरुक्षुः तस्य (शिवं) कल्याणम् (शंयोः) शं कैवल्यमोक्षं कामयत इति शंयुः योगारूढस्तस्य (शग्मम्) मोक्षसुखं भूयादिति शेषः इति ।

सात्वतास्तु—मनसा मोदमानः(य.३०।४१) इत्युक्तं तदेव विवृणोति उपहूता इति ।(इह) अस्मिन् नगरे (नः) अस्माकं (गृहेषु) निवासिषु भवनेषु (गावः अजावयश्च उपहूताः) आनीताः, इतस्ततः समानीय संगृहीताः । (अथो) अपि (अन्नस्य) भक्षणीयस्य वस्तुजालस्य विविधभोज्यसमूहस्य (कीलालः) दर्शनमात्रेण लालायितान्नपयोदधिनवनीतघृतादि-लक्षणसारभूतो रसः । (उपहूतः)आनीय संगृहीतः । पशुधनं कृत्स्नं भोग्य - सामग्री च यथा-पूर्वमेव अवस्थिते । अस्मन्नगरं शत्रवो न लुण्ठितुम् अशक्नुवन्, यदुवीरैः अभिद्राविताः । अस्माकं किमपि शत्रुभिर्नापहृतं, यदुवीरैः शौर्यातिरेकेण रक्षितं यथापूर्वमेवालोक्यते । तदेव मे मनसः अतीव मोदकारणमिति भावः । गतः भीतिसमयः, पराजितप्रायाः शत्रवः, निहतो द्युमान् सेनापतिः प्रद्युम्नेन, सेना प्रायः पलायिता विनष्टा च, शिष्यते नराधमः शाल्व एव एकः, अधुनैव गत्वा सौभविमानसहितं तं सपदि विनाशयिष्यामि । यमः प्रतीक्षते तदा-तिथ्यायेति बहुधा सान्त्वयन् आचष्टे-क्षेमाय इति । (क्षेमाय) अवस्थितपूर्वसमस्तवस्तु-संरक्षणाय, लब्धस्य संरक्षणं क्षेमः, (शान्त्यै) शत्रूणाम् उपद्रवनिवारणाय च (वः) युष्मान् (प्रपद्ये) साग्रजः प्राप्नोमि एकवचनं पूर्ववत् विनयातिरेकसूचनाय । अहं ममाग्रजो बलरामः अन्ये च मया सार्धं इन्द्रप्रस्थे गता यदुप्रवीराः वयं सर्वे पुरो रक्षणाय शत्रुनिहननाय च भवत्समीपमागताः । अतो न भेतव्यं सम्प्रति । (शंयोः) एकत्वमतन्त्रम् । सुखं कामयमा-नानाम् अस्माकमतिशीघ्रं शिवं कल्याणं मनस्त्रासविध्वंसनम् तथा (शग्मम्) शत्रुविजय-जनितं सुखमानन्दः हर्षातिरेकश्च सद्यो बोभवीतु, शंयोरिति प्रमोदातिरेकसूचनाय। शर्ममिति सुखनाम (निघ० ३।६।१२) शग्मम् शं शब्दे उपपदे गमेः 'गेहे कः' (३।१।१४४) इति कः। गमहनेत्युपधालोपः (६४६८) । पृषोदरादित्वात् शमो मलोपः । सुखं गम्यतेऽनेन दुष्कृतादि-शमनेन वा । यद्वा शकेः 'युजितिजिरुजां कुश्च (उ० १।१४३) इति बाहुलकात् मक्प्रत्ययः ककारस्य गकारश्च । शक्नोति तृप्तिं जनयितुमिति देवराजः ।

केचिदास्तिकधौरेयाः (गावः) वेदवाचः वेदा इति यावत् । (अजावयः) अजन्ति गच्छन्ति जनानुपदेश्यान् इत्यजा विद्वांसः अवेर्बहुवचने अवयः रक्षकाश्च ज्ञानप्रदानसदाचारादि शिक्षणाभ्याम् । (अन्नस्य) जीवनहेतोः सामर्थ्यस्य, आनयति प्राणयति जीवयति इत्यन्नमिति अन्नशब्दव्युत्पत्तेः । (कीलालः) कीलः बाधकः 'कील बन्धने' तस्यालः बाधकः 'अलं भूषण-पर्याप्तिवारणेषु' जीवनशक्तिविनाशकविनाशकः । (समाहूताः) आनीताः, ते समेऽपि तिष्ठन्तु इति शेषः (क्षेमाय) लब्धसंरक्षणाय (शान्त्यै) अनिष्टनिवारणाय च (वः) युष्मान् प्रपद्ये प्राप्नोमि । भद्रदत्तज्ञानेन (शिवं) शान्तं सर्वविकाररहितं निर्विकारं ब्रह्मतत्त्वं प्राप्तं

भवतु। किञ्च (शम्मम्) तत् सुखं निरतिशयानन्दलक्षणं भूयात् (शंयो) सुखकामानाम-स्माकं समेषाम्। पदाभ्यासः समादरसूचक इति।

वरुणप्रघासाऽनुवाकः

"प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः।
करम्भेण सजोषसः॥" य. ३।४४॥

पत्नीवाचनम्

चतुश्चत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'प्रघासिनो हवामहे 'इत्येको मन्त्रः। अस्य प्रजापतिर्ऋषिः, गायत्री छन्दः, मरुतो देवताः, (शत. २, ५, २, १-२१; का. श्रौ. ५, ५, ९)।

चतुर्षु चतुर्षु मासेषु क्रियमाणानि चत्वारि पर्वाणि चातुर्मास्यप्रयोगाख्यानि वैश्वदेव-वरुणप्रघाससाकमेध-शुनासीरीयसंज्ञकानि। 'चातुर्मास्यप्रयोगः फाल्गुन्याम्' (का. श्रौ ५, १, १) इति कात्यायनोक्तेः फाल्गुन्यां पौर्णमास्यामस्य प्रारम्भः। अत्र तावत् द्वितीयं पर्व वरुणप्रघासाख्यमुपक्रमते। आषाढपूर्णिमायां वरुणप्रघासाख्यं कर्म प्रयुज्यते। वरुणप्रघासयाग-महिम्ना पुरा प्रजापतिः प्रजाः ससर्ज। ताः क्षुधार्त्ता वरुण्यान् यवान् भक्षितवत्यः। वरुण्यानां यवानां प्रघासेन भक्षणेन प्रजा वरुणप्रघासाः सम्पन्नाः। वरुणस्ता निजग्राह। वरुणगृही-तास्ताः प्राणत्योऽपि व्यापारान्तरं कर्तुमसमर्था निष्क्रियाः शिश्यिरे। प्रजापतिरनेन वरुणप्रघासाख्यप्रयोगेण ता अभिषज्यत्। वरुणप्रघासाख्ययाऽनया भिषज्यया उपचरिताः प्रजा अनमीवा अजायन्त (शत. २, ५, २, १-४)। अस्मिन् वरुणप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वणि दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर् हवींषि आसादितानि भवन्ति। अतः प्रतिप्रस्थाता यजमानपत्नीं तदीयं पातिव्रत्यं पृच्छति। पत्न्या प्रश्ने समाहिते प्रतिप्रस्थाता तामेतं मन्त्रं वाचयति— (प्रघासिनः) प्रकर्षेण घस्यते भक्ष्यते इति प्रघासो हविः। घस्लृ अदने (७६१) भौवादिकः परस्मैपदी। कर्मणि घञ् प्रत्ययः। स प्रघासोऽस्त्येषां ते प्रघासिनः (हवामहे) स्तोतुमाह्वयामः। ह्वेञ् शब्दे (१०७०) भौवादिकः उभयपदी। 'बहुलं छन्दसि' (पा. ६, १, ३४) इति सम्प्रसारणम्। प्रघासिनः के (मरुतः) 'शुक्रज्योतिश्च' इत्यारभ्य 'विक्षिपः' इत्यन्तं (वाज. सं. १७,८०-८६) मरुतां सप्त सप्तका निर्दिष्ठाः। तेषां 'स्वतवांश्च प्रघासी च' इति मरुतां गणसप्तके आम्नाताः। ते प्रघासिनो मरुतः (च) अन्ये च तेषां गणाः (रिशादसः) अत्र पदपाठोऽनवग्रहः। तस्माद् विविधा व्युत्पत्तयः प्रकल्प्याः। रिश हिंसायाम् (१५१४) तौदादिकः परस्मैपदी। दमु उपक्षये (१२९०) दैवादिकः परस्मैपदी। रिशतो हिंसकान् दस्यन्तीति क्षिण्वन्तीति विग्रहे दस्यतेः क्विपि रिशद्दसः पृषोदरादित्वाद् रिशादसः

इत्युव्वटः । यद्वा रिशतो हिंसकान् अस्यन्ति क्षिपन्तीति अस्यतेर्विच् प्रत्ययः इति देवराजयज्वा (निघ. ४, ३, ५३) महीधरश्च । रिशां वैरिकृतां हिंसां दस्यन्ति इति च, 'रिशन्ति हिंसन्तीति रिशाः हिंसकाः तान् दस्यन्ति इति च महीधरः । रिशान् दोषान् अदन्ति हिंसन्ति इत्येवम् उत्तरपदम् अत्तेरित्यर्वाचीनाः । तत्र रिशानां हिंसकानां दसः क्षयो येभ्य इति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरोऽस्मान् भाति । (करम्भेण) यवमयो हविर्विशेषः करम्भस्तेन । यद्वा तात्स्थ्यात् ताच्छब्द्यम, इति नयेन करम्भः करम्भपात्रं तेन (सजोषसः) समानो जोषः जोषणं प्रीतिर्येषां ते सजोषसः समानप्रीतयः । एवंभूतान् मरुतो हवामहे इति देवयाज्ञिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—(रिशादसः) कामजन्यहिंसाया निवर्तकाः यद्वा कामादीनां नाशकाः (करम्भेण) मन्त्रशास्त्रदृशा क् विष्णुः अः ब्रह्मा रः ब्रह्मागिनः म् शिवः भः पराशक्तिः तेषां समूहः करम्भः तेन (सजोषसः) समानप्रीतयस्तान् (च) तथा (प्रघासिनः) अन्नादान् यथा श्रुतिः 'यदिदं किं चाश्वभ्य आकृमिभ्यः आ कीटपतङ्गेभ्यः तत्प्राणस्यान्नम् आपो वास इति' (शत. १४, ९, २, १४) । (मरुतः) प्राणान् (हवामहे) आह्वयामः इति ।

सात्वतास्तु– एकचक्राभिधानायां नगर्यां धृतराष्ट्रभूपतिभयात् निवसन्ती सपुत्रा कुन्ती प्रतिवेशिविप्रपरिवारार्तवादश्रवणदयार्द्रहृदया तदुपकण्ठं गत्वा तं परिवारम् आश्वासयन्ती व्याहरति प्रघासिन इति ।

नेदं द्वितोयाबहुवचनान्तं किं तर्हि कर्मणि षष्ठ्या एकवचनम्, (प्रघासिनः) प्रघासिनं भूरिभोजिनमेतेन बलातिरेकः सूच्यते । बलवान् हि भूयो भुङ्क्ते पुष्टगात्रश्च दृश्यते । (रिशादसः) रिशादसं रिशां शत्रूणां दसमुपक्षयितारम्, दसु उपक्षये (दिवादि १२९०) शत्रुनाशनक्षमम्, रिशेति छान्दसो दीर्घः । (मरुतः) मरुतं वायुं तत्पुत्रत्वात् वायोरवतारं वा । मम पुत्रं भीमं (करम्भेण) कं सुखं रम्भयति उत्पादयति इति करम्भः सुखोत्पादकः हर्षकारकः । अपि वा दधिसक्तुवचनेन करम्भशब्दे नात्र रक्षः सन्तोषणाय निर्मितो भोज्यविशेषो लक्ष्यते । तेन करम्भेण बकनामधेयस्य रक्षसः कृते निर्मितेन विविधभोज्यसमूहेन सह तदुपकण्ठं गन्तुं हवामहे आह्वयामहे । 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनं, सम्बोध्य प्रेषयामि इत्यर्थः । अत्र यास्कः-मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा । महद्द्रवन्तीति वा (निरुक्त ११।१३) तदनुसारेण शत्रुं विनाशयितुमतिशयेन धावन्तं मरुतं भीमम् । म्रियन्ते शत्रवोऽनेनेति अमरकोशे सुधाव्याख्यायां भानुजिदीक्षितः, तन्मतेन 'मृग्रोरुतिः' (उ० १।९४) इति उतिप्रत्यये गुणे मरुत् तं शत्रुव्यापादकमिति वा । (सजोषसः) सजोषसं जोषः सेवनं तत्समानं यस्य सः सजोषास्तं भ्रातृनिर्विशेषं जनसेवने निरतम्, एतेन न प्रसह्य भीमः प्रेष्यते अपि तु सहर्षमार्तरक्षणाय स्वयमेव तथाचरितुमुत्सुक इति सूचितम् । एकचक्रान्तिके नरभक्षको बका-

भिधानः एको राक्षसः आसीत् । तत्रत्याः समे तस्य जनपदस्य अध्यक्षं मेनिरे । प्रतिवासरं विविधभोज्योपेतं महिषद्वयं नरञ्चैकं त्रासात् कृतप्रतिज्ञाः प्रेषयामासुः । अयं वासरः तस्य ब्राह्मणपरिवारस्य क्रमेण आयातः, तस्मात् रोदितुम् आरेभे असौ परिवारः । सञ्जात निजपुत्रपराक्रमप्रत्यया पृथा तत्परिवारं निवार्य तत्स्थाने रक्षोभक्ष्यविविधभोजनं दत्त्वा भीमं प्रहिणोति स्म । रक्षोऽन्तिकम् उपगतो भीमः क्रोधातिरेकेण प्रारब्धसंग्रामं तं नराधमं क्षणादेव मृत्युसदनातिथिञ्चकार । सेयं कथा महाभारतस्यादिपर्वणि निबद्धा । सविस्तरं ततः एवावसेया । तामिमां प्रधासिन इति मन्त्रो वदतीति हृदयम् ।

दक्षिणाग्नौ करम्भहोमः

"यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा" ॥ य० ३।४५ ॥

पञ्चचत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'यद् ग्रामे०' इत्येक एव मन्त्रो दक्षिणाग्निहोमार्थः । अस्य प्रजापतिर्ऋषिः, स्वराडनुष्टुप्छन्दः, मरुतो देवता (शत० २, ५, २, २५; का० श्रौ० ५, ५, १०) ।

जुहूस्थानीयेन शूर्पेण यजमानपत्नी यवपिष्टनिर्मितानि करम्भपात्राणि दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । अथवा जायापती वेदेः पूर्वतः पश्चिमतो वा स्थित्वा दक्षिणेनाहृतानि करम्भपात्राणि जुहुयाताम् । जुह्वती पत्नी मन्त्रं पठसि—(यत्) यादृशम् (एनः) पापं (ग्रामे) जनसमुदाये ग्रामाशान्तिकरं (वयं चकृम) वयम् अकार्ष्म । डुकृञ् करणे (१५६६) तानादिकः उभयपदी । लिटि मध्यमपुरुषबहुवचने रूपम् 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६, ३, १३७) इति संहितादीर्घे चकृमा इति । मन्त्रे 'यत्' इति यद्वृत्तं रूपं श्रूयते, तत्सामर्थ्यात्, 'यद्वृत्तान्नित्यम्' (पा० ८, १, ६६) इति सूत्रेण 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८, १, २८)' इत्यनेन प्राप्तस्याऽनुदात्तत्वस्य निषेधे प्रत्ययस्वरेणाऽन्तोदात्तत्वम् । (यत्) यादृश च पापम् (अरण्ये) आखेटकविधयाऽरण्ये पशुवधरूपं वयं चकृम । (यत्) यादृशं च (सभायाम्) सभ्यजनापमानस्वरूपं नगरेषु वयं चकृम । (यत्) यादृशं च (इन्द्रिये) देवनिमित्तम् 'यदिन्द्रिये' इति यद् देवत्रेति' (शत० २, ५, २, २५) इति श्रुतेः । इन्द्रेण जुष्टं सेवितमित्यर्थे 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०' (पा० ५, २, ९३) इत्यादिना घच् - प्रत्ययः । चित्स्वरेणान्तोदात्तत्वं च । प्रजननार्थं इन्द्रियमित्युव्वटमहीधरौ । जिह्वास्वाद इति महीधरश्च । (इदं तत्) तत् सर्वमिदं एनः (अवयजामहे) अनया करम्भपात्राहुत्योपशमयामः । अवपूर्वकयज्धातुर्विनाशे वोपशमने वा द्रष्टव्यः (स्वाहा) इदं मम समर्पितं हविः सुहुतमस्त्विति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— वयं (ग्रामे) ब्रह्मचर्यावस्थायां गुरुकुले गृहस्थे च पितृभ्रातृबान्धवेषु

(यद् एनः) यमपराधं (अरण्ये) वानप्रस्थाश्रमे (यत्) यत् पापं, (सभायाम्) साधुजनेषु (यत्) यत् पापं शास्त्रविरुद्धाचरणादिकं (यत्) यत्पापम् (इन्द्रिये) चतुर्दशभेदसंयुक्ते (चकृम) कृतवन्तः (तत् इदं) पापम् (अवयजामहे) नाशयामः (स्वाहा) अहं ब्रह्मास्मीति महावाक्येनेति।

सात्वतास्तु – विश्वरूपावलोकनावगतभगवन्महिमा वेपमानोऽर्जुनः क्षमां याचते– 'यद्ग्राम' इति।

(ग्रामे) जनसमक्षमितिभावः। (अरण्ये) विजने रहसि (सभायां) गोष्ठ्यां नरपुङ्गव-भूषितायाम्, इन्द्रिय-व्यापारे भोजनादौ (एनः) अपराधं (यत्) (चकृम) वयं कृतवन्तः भवत्प्रभावापरिज्ञानात्। इदं तत् सर्वमपराधजातम् अवयाजामहे दयालोस्त्वत्तः विनाशयामहे अवपूर्वो यजिर्वियोजनकर्मा। (स्वाहा) सु-सम्यक् आ-समन्तात् मनसा कर्मणा वाचा च। 'हा' जिहीते प्राप्नोति इति हा। ओहाङ्गतौ कर्तरि विच्। त्वां प्राप्तोऽस्मि इत्यर्थः। तदिदं (गीता अ. ११।४१) सखेत्यादिश्लोकेषु विस्पष्टम्।

यजमानजपः

[1]"मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥" य. ३।४६॥

षट्चत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'मो षूण इन्द्र' इत्यृमात्मक एक एव मन्त्रः। अस्यागस्त्य ऋषिः, भुरिक्पङ्क्तिश्छन्दः, (विराट् छन्द इत्युव्वटमहोधरौ) इन्द्रामरुतौ देवते (शत. २, ५, २, २६-२८; का. श्रौ. ५, ५, ११)।

"यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे तद्धेक्षांचक्रऽइमे ह मे प्रआ न विमथ्नीरन्निति। स एतामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत्।" (शत. २, ५, २, २६-२७)। वरुण-पाशबद्धानां प्रजापतेः प्रजानां बन्धनरूपंपापं मरुतो विनाशितवन्तः। प्रजापतिरचिन्तयत्-मरुतो मम प्रजा न पीडयेयुरितीमाम् इन्द्रामरुद्देवत्यामृचमपठत्। यजमानोऽप्यत एव इमामृचं पठति– (इन्द्र) हे ऐश्वर्यसम्पन्न देव! (अत्र) एषु (पृत्सु) युद्धेषु। पृत्सु इति संग्रामनामसु पठितम् (निघ. २, १७,२१) पृतनासु इत्येवं सतः "मांसपृतनासानूनां मांसपृत्स्नवो वाच्याः' (पा० वा० ६, १, ६३) इत्यनेन पृतनायाः पृत् इत्यादेशे रूपम्। (देवैः,) दीप्यमानैः स्वसखिभिर्मरुद्भिर्युवतरत्वं (मो) नैव, मा उ इत्यनयोर्निपातयोः समुच्चयः (नः)

---

१ ऋग्वेद १, १७३, १२।

अस्मान् (सु) अतिशयेन विनाशयेति शेषः । मो षू णः इत्यत्र 'सुञः' (पा० ८, ३, १०७) इत्यनेन 'सु' इत्यस्य षत्वम्, 'निपातस्य च' (पा. ६, ३, १३६) इत्यनेन 'षु' इत्यस्य संहितायां दीर्घः । 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा. ८, ४, २७) इत्यनेन 'न' इत्यस्य णत्वे 'ण.' इति । सु शब्दः क्रियादार्ढ्यं दर्शयति । सर्वथा नास्मान् विनाशयेति भावः । किं कारणम् ? (हि) यस्मात् कारणात् । 'स्म' इत्यनर्थकः (शुष्मिन्) बलवन्. शुष्मम् इति बलनामसु पठितम् (निघ. २, ६, ११) शोषयतीति सतः (निरु. २, ७. २) इति यास्कोक्तिः, शुष शोषणे (११८३) दैवादिकः परस्मैपदी । अस्माद् धातोः 'अविसिविसिशुषिभ्यः कित्' (उ. १, १४१) इति मक् प्रत्ययः । शुष्मोऽस्त्यस्येति । (अवयाः) प्रथमाविभक्त्यन्तं रूपम् । अवयजनरूपः करम्भपात्रहोमः । अवपूर्वकाद् यज देवपूजादिषु (१००२) भौवादिक उभयपदी इत्यतः 'अवे यजः' (पा. ३, २, ७२) इत्यनेन पदत्वसम्भावनायां ङस् प्रत्ययः । अवयुतो यागः पृथग् भागः इत्युव्वटमहीधरौ । 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा० ८, २, ६७) इति विजन्तो निपात इति वदन् सायणः (शत० २, ५, २, २८) महीधरश्च चिन्त्यौ । उक्तसूत्रेण सम्बुद्धावेव तन्निपातनात् । (अस्ति) विद्यते । अस्माभिः त्वत्सेवायामुपहूतः करम्भपात्रहोमः वर्ततेऽतो मरुद्भिः सहितस्त्वम् मैवास्मान् विमन्थीरिति भावः । (यस्य) इन्द्रस्य (महः) महतो महामहिम्नः, महः पूजा, अकारान्तः शब्द इति महीधरः । (चित्) खलु (मीढुषः) फलसेक्तुः । मिह सेचने (९९२) भौवादिकः परस्मैपदी, 'दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च' (पा० ६, १, १२) इत्यनेन क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । (यव्या) 'सुपां सुलुक्' (पा० ७, १, ३९) इत्यनेन भिसो विभक्तेर् याङ् आदेशः । यवमयैः करम्भपात्रैः । (हविष्मतः) हविर्युक्तस्य ते (मरुतः) सखिभूतान् (गोः) अस्माक स्तुतिः । गीरिति वाङ्नामसु पठितम् (निघ० १. ११. ३६) । गृणातिरर्चतिकर्मा (निघ० ३, १४) गॄ शब्दे (१४९९) क्रैयादिकः परस्मैपदी । क्विप् प्रत्ययः (वन्दते) स्तौति । वदि अभिवादनस्तुत्योः (११) भौवादिकः आत्मनेपदी । (यस्य) इति यद्वृत्तयोगान्न 'वन्दते' इति तिङोऽनुदात्तत्वम् । अतः 'तास्यनुदात्तेत्' (पा० ६, १, १८६) इत्यनेन 'ते' इत्यस्य लसार्वधातुकस्यानुदात्तत्वे शपश्च पित्त्वादनुदात्तत्वे पारिशेष्यात् धातुस्वरेणानुदात्तत्वम् इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु– आत्मरूपो यजमानः पठति–(शुष्मिन्) योगबलान्वित (इन्द्र) मनः । 'मन एवेन्द्रः' (शत० १२, ९, १, १३) । त्वं (पृत्सु) कामादीनां संग्रामेषु (णः) नः अस्मान् योगिजनान् । (मा ऊ षू) न प्रेरय । स संग्रामः (देवैः) इन्द्रियैः (अस्ति) । (अत्र) अस्मिन् युद्धे (याः) गच्छ (अव) अस्मान् रक्ष (हि) यस्मात् वयं (ते) त्वदीयाः (स्मः) (यस्य मीढुषः) अमृतवर्षणेन सेक्तुः (हविष्मतः) इन्द्रियस्वरूपहविरर्हस्य तव (महः) पूजा (चित्) खलु (यव्या) यः प्राणवायुः वः वन्दना, प्राणवन्दनानिष्पन्ना, तस्मात् (गोः) वेदवाणी (मरुतः)

प्राणान् (वन्दते) नमस्करोति । यथा श्रुति।—तस्य वा एतस्य पुरुषस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणाः, दक्षिणा दिक् दक्षिणाः प्राणाः, प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणाः, उदीची दिक् उदञ्चः प्राणाः, ऊर्ध्वा दिग् ऊर्ध्वाः प्राणाः, अवाची दिग् अवाञ्चः प्राणाः, सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः' (शत० १४, ६, ११, ५) । 'प्राणो हीदं सर्वमुत्थापयति, प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि' (शत० १४, ८, १४, १-३) ।' सा वा एषा देवता, एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहृत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद् गमयांचकार, तदासां पाप्मनो विन्यदधात् तस्मान्न जवमियात्, नान्तमियात्, नेत् पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति । सा वा एषा देवता । एतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहृत्याथैना मृत्युमत्यवहृदिति ।।

सात्वतास्तु— महाप्रतिपक्षं शाल्वं निहत्य द्वारिकामायातः कृष्णः आकर्णितसमस्तपाण्डवः वृत्तान्तः तद्वनमाजगाम । यत्र कपटद्यूतेन हारितराज्याः पाण्डुतनयाः निवसन्ति स्म । स्वसुहृदं समीपमुपयातमालोक्य सञ्जातहर्षेण अर्जुनेन सत्कृतः स्तुतः द्रौपद्या भृशमुपालब्धश्च भगवान् वासुदेव उवाच- 'मो षूणं' ति ।

(इन्द्र) अर्जुन! इन्द्रांशत्वात्, (शुष्मिन्) महापराक्रम अतुलबलधाम (नः) अस्माकं (सु) सुहृद, उ इति निपातः पादपूरणः एवार्थो वा । मैव ग्लासीरिति शेषः । अस्माकं राज्यं कपटद्यूतेन अपहृतः धार्तराष्ट्रैः दुर्योधनादिभिः । न केवलम् एतावदेव किं तर्हि इन्द्रप्रस्थात् निष्कासिताः वनं प्रेषिताश्च, वयंद्वादशवर्षाणि यावत् भवद्भिः वस्तव्यमरण्ये, त्रयोदशे वर्षे अज्ञातवासैः स्थातव्यम् ज्ञाते पुनर्दण्डावृत्तिः इत्येवमादिष्टाः । कीदृशोऽस्माकमनागतसमयो बोभविता । दुस्तरे दुःखसागरे निमग्नान् न कश्चिदुद्धर्तुं करं गृह्णाति । वामो विधाता, नियतिरपि अतितरां दुस्सहदुःखदानदक्षा, न जाने कदा को विपत्पर्वतपातो नः शिरसि भवेत् इति अनुतापं मा कार्षीरिति भावः । (हि) यस्मात् (अत्र पृत्सु) एषु प्रवर्तिष्यमाणेषु संग्रामेषु, भाविनोऽपि संग्रामस्य बुद्धिस्थत्वात् इदमा निर्देशः । (देवैः) इन्द्राग्न्यादिभिरनुगृह्यमाणस्य, कारकेण योगात् क्रियाऽध्याहारः । (ते) तव (अवयाः) अवयजति पृथक् करोति, इतरेभ्यो भिनत्ति इति अवयाः कोऽपि विशेषः अस्ति विद्यते खलु । अग्निना देवेन युद्धसाधनाक्षय्यमहेषुधिदिव्यरथगाण्डीवधनूंषि प्रदत्तानि । वनवासव्याजेन इन्द्रकीलके तपस्यन् युधि प्रसादितात् त्रिशूल-पाणेः पाशुपतास्त्रम्, तपसैव परितुष्टात् तातात् सस्नेहं स्वर्गे समाहूतो भवान् पञ्चवर्षाणि यावत्, तत्पादमूलमुपासीनः प्रहारप्रतिसंहारादिकृत्स्नविधिसंयुक्तं दिव्यास्त्रपञ्चदशकम्, अन्येभ्यः वरुणयमकुबेरेभ्यः क्रमशः दण्डपाशसान्तर्धानप्रक्षेपणास्त्रञ्च लप्स्यते । इन्द्रेण गुरुदक्षिणां याचितोऽधिसमुद्रतटं युधि व्यापादितनिवातकवचाद्यसुरगणः स्वर्गं प्रत्यावर्त्य हिरण्मयीं मालां देवदत्तशंखं दुर्भेद्यकवचञ्च हृष्टात् शक्रात् अवाप्स्यति । ततः लब्धविविधास्त्रं भवन्तं कोऽपि जेतुं न शक्ष्यते, का कथा

कौरवाणां वराकाणां, तस्मात् वनवासोऽयं न अभिशापः अपितु वर एव । निखिलसपत्न-विजयक्षमदिव्यशक्तिसम्पादनहेतुरिति दुर्दैवोपनतदुर्बुद्धिना दुर्योधनेन भवद्भ्यो वनवासं प्रयच्छता नूनं विहितःस्वपादे कुठाराघातः ।

उषित्वा वने न चेत् दिव्यानि देवानुग्रहसमासादित्तानि विविधानि अस्त्राणि लभेथास्त्वम्, तदा कथं कथापथातीतपराक्रमान् भीष्मद्रोणकर्णप्रमुखान् त्रिभुवनलब्धसपर्यान् योधवर्यान् जेतुं क्षमेथाः । अतः देवानुग्रहलक्षणो विशेषस्त्वयि वर्तते । अतः अनागतकालः अतीव शोभनः सुखावहः । शत्रुभिरपहृतं राज्यमनायासेन प्रत्यायास्यति । अचिरादेव स्वभर्तृ निहननात् शोकाश्रुनयना विलपिष्यन्ति शत्रुवरारोहाः । अतोऽनिष्टशंकया न भेतव्यमिति भावः । किञ्च (मीढुषः) अभीष्टवर्षकस्य (यस्य) देवगणस्य (यव्या) यौति कुटुम्बिभ्यो वियुनक्ति पृथक्करोति इति यवस्तपश्चर्या 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' ततः कर्तरि पचाद्यच् तत्रभवा तत्साध्या महादेवेन्द्रादिसाक्षात्कृतिः (महश्चित्) महती प्रसक्ता एव । महती वा (यव्या) संसर्ग इति कश्चित् । यस्य इत्युक्त्या यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् तस्येति अध्याह्रियते । तस्य देववर्गस्य इन्द्रादेः(हविष्मतः) प्रशस्तहविर्लक्षणान्नधनादिदानवतः । हविर्हूयते दीयते हि अन्नधनादिकम्, प्रशसायां मतुप् सर्वोत्कृष्टदातुरित्यर्थः मरुतः कर्मणि षष्ठी मरुतां रूपं, रूपं रोचतेः (निघ० ३ । १५) । महैश्वर्यलक्षणं (गीः) वेदवाक् इन्द्रस्य नु कं वीर्याणि प्रवोचम् (ऋ. १ । १५४ । १) 'इदं पित्रे मरुतामुच्यते' (ऋ. १ । ११४ । १) कद्रुद्राय प्रचेतसे' (ऋ. १ । ४३ । १) इत्यादिका । वन्दते स्तौति 'पृत्' इति पृतनायाः स्थानेऽयमादेशः । पृतना 'पृङ् व्यायामे' (तु० आ०) औणादिकस्ततन्प्रत्ययः । पृत् इति संग्रामनाम (निघ० २।१७।२१) व्यापियन्तेऽत्र योधाः । मरुत् इति रूपनाम केषाञ्चिन्मतेन (निघ० ३, ७, १२) हिरण्यनामस्वपि पठितम् (निघ. १।२। १३) तत्रैव व्याख्यातं देवराजेन मितममितं वा रोचते, मितममितं वा रोचयति । मातेः पूर्वार्द्धं रोचतेर्वोत्तारार्द्धम्, पृषोदरादित्वात् (पा. ६, ३, १०९) साधुः । हिरण्यं हि अग्न्यादि- तेजस्वि-पदार्थेभ्यो मितं भोगादिभ्योऽमितं रोचते अर्थिभ्यो दीयमानं लोकद्वयेऽपि कीर्ति कारयति । यद्वा 'मृग्रोरुतिः' (उ. १, ९४) इति सूत्रेण म्रियतेर्धातोः (तु. आ.) उतिप्रत्यये रूपम् । म्रियन्तेऽनेन पुरुषा इति मरुत्, एतदर्थं हि चौरादिभिः पुरुषा हन्यन्ते इति एतत्सर्वं रूपेऽतिसंजाघटीति इति । रूपेण सौन्दर्यातिरेकेणाकृष्टैः कामुकैः रूपवत्या युवत्या रक्षकाः पितृपतिभ्रात्रादयो व्यापाद्यन्ते । (शुष्मिन्) बलवन् शुष्म इति बलनाम (निघ. २, ९, ११) शुष् शोषणे (दि. प.) अविसिविशुषिभ्यः कित् (उ. १, १४१) मन् - प्रत्ययः । शुष्यत्यनेनारिः । शुषिः प्रीणनार्थं इति माधवः । प्रियं हि बलम्, शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः (निरुक्त २.२४) इति भाष्यम् । अपि वा अवया इति द्रौपद्याः सम्बोधनम्, अवयजति कोपातिरेकेण भविष्यन्तं भारताभिधानं सङ्ग्रामं प्रवर्त्य भूभार-दुर्योधनादि

राजन्यगणस्य तद्देहेभ्यः प्राणान् वियोजयति। दुराचारनिरतराजन्यगणप्राणवियोजिके! द्रौपदीवपुषा चण्डिका एवात्याचारिणो राजन्यान् निहन्तुं यज्ञकुण्डात् समुद्भूतेति पौराणिकसमयः। अथवा अवयजति अधर्माद्धर्मं विविनक्ति पृथक्करोति इति, अवयाः तत्सम्बोधने धर्माधर्मसारज्ञ युधिष्ठिर! शुष्मिन् बलशालिन् भीम इति वा। इत्थम् अर्जुनभीमद्रौपद्यो युधिष्ठिर-भीमार्जुनाः वा अस्मिन् मन्त्रे सम्बोध्यन्ते। 'अव' पूर्वात् यजेर्विचि सौ रुत्वम् दीर्घश्च 'अवयाः श्वेतवाः पुराडाश्च' (पा. ८, २, ६७) इति सूत्रेण रुत्वं दीर्घश्च निपात्यते। ननु 'मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्' (पा. ३।२।६१) 'अवेर्यजः' (पा. ३, २, ७२) इति च सूत्रेण ण्विनि प्रत्यये उपधावृद्धौ श्वेतवाहौ श्वेतवाहः, अवयाजौ अवयाजः इत्यादीनि रूपाणि त्रयोदशस्वजादिषु विभक्तिषु सिद्ध्यन्ति। भादौ षट्के सौ सुपि च अष्टसु हलादिविभक्तिषु 'श्वेतवहादीनां डस् पदस्येति वक्तव्यमिति वार्तिकेन यत्र पदत्वं भावि तत्र ण्विनोऽपवादस्य डसो विधानत्। श्वेतवाः अवयाः पुरोडा इत्यादिरूपाणां निष्पत्तिर्निष्प्रत्यूहैव, तत्कृतमनेन 'अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च' (पा. ८, २, ६७) इति सूत्रेण इतिचेत्; सत्यम्, असम्बुद्धौ सौ डसि प्रत्यये 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति दीर्घे तद्रूपसिद्धावपि सम्बुद्धौ दीर्घो न स्यात्। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धाविति सूत्रात् 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' इति सूत्रे असम्बुद्धाविति पदानुवृत्तेः। अन्यथा हे, धीमन् हे पयः इत्यादिकं न निष्पद्येत। तदेतत्सर्वं काशिकायां न्यासे च तस्मिन्नेव सूत्रे स्पष्टम्।

पत्नीवाचनम्

"अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचाभुवः" ॥ य० ३।४७ ॥

अस्यां सप्तचत्वारिंश्यां कण्डिकायां 'अक्रन् कर्म' इत्येक एव मन्त्रः। अस्यागस्त्यः ऋषिः, विराडनुष्टुप् छन्दः, अग्निर्देवता (शत० २, ५, २, २६; का० श्रौ० ५, ५, १२)।

प्रतिप्रस्थाता पत्नीं वाचयति—(कर्मकृतः) वरुणप्रघासप्रयोगानुष्ठातारः ऋत्विजः (मयोभुवा) मयः इति सुखनाम (निघ० ३, ६. ७) मयः सुखं कल्याणं वा भावयति सम्पादयति मयोभूस्तया कल्याणकारिण्या अथवा मयः सुखं भवतीति तया स्वयं सुखस्वरूपया (वाचा) स्तुत्या (सह) सार्धं (कर्म) वरुणप्रघासाख्यं पर्व (अक्रन्) अकार्षुः। 'मन्त्रे घस०' (पा० २, ४, ८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि रूपम्। मन्त्रादित्वात् अतिङ्परत्वं नास्ति। अतः 'तिङ्ङतिङः' (पा० ८, १, २८) इत्यनुदात्तत्वं न। 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' (पा० ८, ४, ७१) इत्यनेनाडागम उदात्तः। (सचाभुवः) समाने वरुणप्रघासकर्मणि कार्यार्थं सह युञ्जाना हे ऋत्विजः। सचा सहार्थेऽव्ययम्। (देवेभ्यः) देवानां

प्रसादार्थं (कर्म) आरब्धं कार्यं (कृत्वा) विधाय (अस्तम्) गृहम् अस्तमिति गृहनामसु पठितम् (निघ० ३, ४, ५) (प्रेत) प्रकर्षेण निश्चिन्ततया इत गच्छतेति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(कर्मकृतः) वागादयः (मयोभुवा) ब्रह्मानन्दस्वरूपया (वाचा) वेदर्चा (सह) (कर्म) मनःसंस्कारकं निष्कामकर्म (अक्रन्) कृतवन्तः। (सचाभुवः) हे शरीरे सहभवनशीला वागादयो यूयं (देवेभ्यः) ब्रह्मपरानारायणेभ्यः (कर्म) मनःसंस्काररूपं निष्कामकर्म (कृत्वा) (अस्तम्) आत्मस्वरूपं गेहं (प्रेत) गच्छतेति ॥

सात्वतास्तु–एकदा ब्रह्मरुद्रप्रमुखाः सर्वे देवाः द्वारिकामायाताः अभ्यर्थयाञ्चक्रिरे च पुरुषोत्तम ! यदर्थम् अस्मत्प्रार्थितो भवान् भुवमवतीर्णः सिद्धं नस्तत् समीहितं, सम्प्रति साम्प्रतं स्वधामप्रस्थानं, कृतं भवता स्वकार्यं स्वानुचराणामस्माकमनुग्रहाय 'यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम। शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशत्यधिकं प्रभो।' (भाग० ११, २५) इत्यादि तदेव विवृणोति-अक्रन् कर्म कर्मकृत इति। (कर्मकृतः) साधुपरित्राणधर्मरक्षणादिकार्यकारिणो भवन्तः, आदरार्थंबहुवचनम् सहचराभिप्रायं वा। (अक्रन्)-कृतवन्तः,कर्म जगदुद्धारलक्षणम्, (मयोभुवा) सुखोत्पादिकया अविद्यानिरासेन निरतिशयानन्ददायिन्या वाचा गीतोपदेशलक्षणया (सह) (देवेभ्यः) देवहितार्थं तद्द्रोहि - शत्रुगणनिहननलक्षणं (कर्म) कार्यं (कृत्वा) निष्पाद्य, (अस्तं) गृहं स्वधाम, (प्रेत) प्रगच्छत प्रतिष्ठध्वम्, प्रस्थातुं निर्धारयत। अस्तम् इति गृहनाम (निघ० ३।४।५) अस् भुवि (अदा० ७०) अस् गतिदीप्त्यादानेषु (८८ भ्वादि. भू. उ.) असु क्षेपणे (१२०९ दि. प.) 'हसिमृग्रिण्वामिदमिलूपूधुर्विभ्यस्तन् (उ. ३।८६) इति बाहुलकात् तन, द्वितीयैकवचनं, भवत्यस्मिन् सुखं, दीप्यते हि तत्। आदीयते स्वीक्रियते वा तदर्थिभिः, क्षिप्यन्तेऽस्मिन् पदार्थाः इति वा, इति देवराजः। न केवलं भवानेव, किं तर्हि (सचाभुवः) सचेति निपातो सहवचनः सहवासिनः भवत्सेवार्थं साकं भूमौ आविर्भूताः। सानुचरो भवान् स्वलोकं व्रजतु इति भावः। राजसूये युधिष्ठिरकृतेषु त्रिषु अश्वमेधेषु अधिकुरुक्षेत्रं वसुदेवकृते यागे वा निर्वृते ऋत्विजां प्रस्थापनेऽयं मन्त्रो योज्यः। (कर्म) यागलक्षणम्, (कर्मकृतः) ऋत्विजः (वाचा) स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वेदवाचा यथासवनमुच्चार्यमाणया लब्धदक्षिणा यूयं (सचाभुवः) यागे साकं वर्तमानाः अस्तं-स्वस्वगृहं गच्छत इति।

जायापती-स्नानम्

"अवभृथ निचम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः।
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि" ॥

(य० ३।४८)

अस्याम् अष्टाचत्वारिंश्यां कण्डिकायां, 'अवभृथ' इत्येक एव मन्त्रो जायापत्योः स्नाने विनियुक्तः। अस्य और्णवाभ ऋषिः, ब्राह्मीअनुष्टुप् छन्दः, यज्ञो देवता (शत० २, ५, २, ४७) (का० श्रौ० ५, ५, २९)।

वरुणप्रघासाख्यस्य कर्मणोऽन्ते यजमानो यजमानपत्नी च जलेऽनिमज्जन्तौ तदङ्गभूतमवभृथाख्यं स्नानमाचरतः (निचुम्पुण) हे नीचैः क्वणनयुक्त ! अवभृथस्नानं मन्दस्वरेण कर्तव्यमतो नीचैः क्वणनं युक्तम् 'उपांश्ववभृथेष्ट्या चरन्ति' इति श्रुतेः। हे अतिशयपुण्यप्रद ! 'अवभृथोऽपि निचुम्पुण उच्यते, नीचैरस्मिन् क्वणन्ति नीचैर्दधतीति वा' (निरु. ५, १८) इति यास्कवचनात् नैरुक्तप्रक्रियया नीचैः क्वणनशब्दान्निष्पन्नो निचुम्पणशब्दः। अथवा चुप मन्दायां गतौ (४३१) भौवादिकः परस्मैपदी धातुरिह नि-पूर्वो द्रष्टव्य इति महीधरः। अथवा पुण कर्मणि शुभे (१४२०) तौदादिकः परस्मैपदी धातुर्वा नि पूर्वः। पुनः पुनः निपुणति यष्टारं शुभे कर्मणि प्रवर्तयतीति विग्रहे 'धातोरेकाचः' (पा. ३, १, २२) इत्यनेन यङ् प्रत्ययः। द्वित्वेऽभ्यासस्य चुत्वं छान्दसम्। ततः कर्तरि अच्। (अवभृथ) हे अवभृथाख्यस्नानरूप यज्ञ! अवभ्रियन्ते अवाचीनानि पात्राणि धार्यन्ते यस्मिन् इत्यधिकरणे 'अवे भृञः' (उ. २, ३) इत्यनेन क्थन् प्रत्ययः। 'थाथघञ्' (पा. ६, २, १४४) इत्यनेनान्तोदात्तत्वं च। अत्र मन्त्रारम्भे आमन्त्रितत्वाद् आद्युदात्तत्वम्। त्वम् (निचेरुः) नीचैश्चरणशीलः। अवभृथाख्ये कर्मणि सर्वस्य कर्मणो नीचैर्भावात् (असि)। (निचुम्पुणः) नीचैःक्वणनो निरतिशयपुण्यप्रदश्च असीति शेषः। (देव) हे द्योतमान ! स्नानाद्धि व्यपगतमलानां द्युतिरेधते। अनेनाऽवभृथस्नानेनाऽहं सपत्नीको यजमानः (देवैः) सख्यं नीताभिर्देवशक्तिभिः देवानां साहाय्येनेत्यर्थः (देवकृतम्) देवनिमित्तं कृतम्। निमित्ते तृतीया। देवेष्वाचरितमित्यर्थः। तृतीया कर्मणि' (पा. ६, २, ४८) इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। (एनः) अपराधम्। 'इण आगसि' (उ. ४, १९७) इत्यनेन गत्यर्थकाद् एतेर् असुन् प्रत्ययः। नित्वाद् आद्युदात्तत्वम्। (अव अयासिषम्) अपनीतवानस्मि। या प्रापणे (१०४९) आदादिकः परस्मैपदी धातुर् अवपूर्वः 'व्यवहिताश्च' (पा. १, ४, ८२) इत्यनेन वेदे उपसर्गक्रिययोर्व्यवधानेनापि दर्शनेन व्यवहितस्याप्युपसर्गस्य क्रियया सम्बन्धात्। लुङि उत्तमपुरुषैकवचने रूपम्। मर्त्यैः) सहायैर्ऋत्विग्भिश्च (मर्त्यकृतम्) मर्त्यनिमित्तं कृतम् मर्त्येष्वाचरितमित्यर्थः (अव) अयासिषमिति अनुवर्तते। पापं अपनीतवानस्मि। (पुरुराव्णः) अनेकसंज्ञाया नानाविधाया इत्यर्थः। पुरु बहु विविधं वा रौति शब्दं करोतीति 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (पा. ३, २, ७५) इति कर्तरि वनिप् प्रत्ययः। छान्दसम् आत्वम्। अथवा विविधदुःखदानशीलायाः, पुरूणि विविधानि दुःखानि राति ददातीति रा दाने (१०५७) आदादिकः परस्मैपदी द्रष्टव्यः। (रिषः) हिंसायाः, रिष हिंसायाम्, भौवादिकः परस्मैपदी। (पाहि) गोपाय, पा रक्षणे (१०५६) आदादिकः परस्मैदीति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(अवभृथ) ज्ञानयज्ञसमाप्तौ क्रियमाणस्नानविधे ! (निचुम्पुण) हे आत्मसमुद्र ! त्वं (निचेरुः) अचलोऽपि जीवरूपांशुभिर्नितरां गमनशीलः (निचुम्पुणः) समुद्रः (असि) । (देवैः) ज्ञानेन्द्रियैः सह (देवकृतम्) देवेन जीवात्मना कृतम् (एनः) पापम् (अवायासिषम्) दूरे त्यक्तवानस्मि, तथा (मर्त्यैः) कर्मेन्द्रियैः सह (मर्त्यकृतम्) भूतात्मना कृतं पापम् (अव) अवायासिषम् त्यक्तवास्मि । (देव) हे ज्योतिःस्वरूपात्मसमुद्र ! (पुरुराव्णः) बहु विरुद्धफलं ददातीति पुरुरावा तस्याः (रिषः) हिंसायाः (पाहि) रक्ष । हिंसाशून्ये ब्रह्मयज्ञे निष्ठां देहि । यथा मनुः 'जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्याद् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते (मनु. २, ८७) । महाभारते च 'आत्मा नदी संयमतोयतीर्था सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः । तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा' इति ।

अस्मिन् वरुणप्रघासाख्ये सप्तमेऽनुवाके पञ्चसु कण्डिकासु पञ्च एव मन्त्राः । तत्र प्रतिमन्त्रं १. पत्नीवाचनं, २. दक्षिणाग्नौ करम्भहोमः ३. यजमानजपः ४. पत्नीवाचनं ५. जायापत्योःस्नानं कर्माणीमानि वर्णितानि (चतुश्चत्वारिंशीमारभ्याऽष्टाचत्वारिंशीं यावत्) ।

सप्तस्वनुवाकेषु अष्टाचत्वारिंशति कण्डिकासु समुदिता मन्त्रसंख्या ६२ (तासां कण्डिकानां षट्चत्वारिंशी कण्डिका ऋग् वर्तते) ।

सात्वतास्तु— व्रजे वयोवृद्धाभीष्टकुप्रथां दूरीकर्तुं नग्नस्नातानां व्रजौकसां व्रजाङ्गनानां कात्यायनीव्रतवैगुण्यञ्च परिहर्तुमकृतपादध्वनिः शनैरागत्य, इत ऊर्ध्वम् एता नैवमाचरेयुः इति गूढाभिसन्धिः व्रजकुमारिकाणां वस्त्राण्यपजहार तूर्णमारुरोह च कदम्बशाखिशाखाग्रम् । तदा जलात् निर्गन्तुकामाः अदृष्टस्ववस्त्राः कुमारिकाः वियति विक्षिप्तनयना अपरमेव नवबटुं पञ्चवर्षदेशीयं नन्दनन्दनं विश्वनन्दनमानन्दसदनं नयनसदनातिथिं प्राप्य सव्यञ्जनं बभाषिरे-अवभृथेति ।

अवं बभर्ति अवाचीनानधःस्थितान् धारयति पोषयति वा इति अवभृथः तत्सम्बोधने (अवभृथ) दीनबन्धो ! 'अवे भृञः' इति (उ. २, ३) सूत्रेण क्थनि साधु. । अधःस्थितपालकस्त्वं तथाभूतान् अस्मान् क्लिश्नासि इति विस्मयातिरेको व्यज्यते । (निचुम्पुण) अतिशयेन मन्दगामिन् 'चुप मन्दायां गतौ' उणप्रत्ययो मुमागमश्च,चौरः, चौरो हि गृहाध्यक्ष-जागरणभयात् अतितरां शनैः प्रचरति त्वमपि तथैव आचरसि, तस्मात् चौरनिर्विशेषं कशाघातैस्ताडनीयो भवान् इति भावः । कटुवाक्येन क्रुद्धो माभूद् इत्याशङ्कमानाः प्रशंसन्ति– (निचेरुः) नितरां चरिष्णुः सततं गतिमान् । अथ पि निचुम्पुणः अतिमन्दगमनः इति विरोधः । निचेरुः सर्वव्यापकः, इति तत्परिहारः, सर्वव्यापकस्य सर्वदा सर्वत्र सर्वं पश्यतस्तव पुरस्तात् नग्नोभवनं

न दोषाय । तस्माद् शनैरागत्य वस्त्रापहृतिर्न युज्यते इति भावः । नाहमत्र एक एव, नेदं पिहितद्वारं स्नानागारम्, देशान्तरीयः कलुषितमानसो वा यदि आगच्छेत् तदा कुप्रथाम् इमां पश्यन् अस्माकं व्रजजनपदमुपहसेत्, भृशं निन्देत् च । कामोपहतचेताश्च कश्चित् कुमारीणां भवतीनां किंचिदत्याहितं कुर्याद् अतः भविष्यति काले भवतीभिः तथा नाचरणीयमिति शिक्षणाय वस्त्रापहृतिर्युक्तेति वक्तुकाममिव कृष्णमालक्ष्य आहुः—(देवैः) देवेषु जलाधिप-वरुणसूर्यादिषु सप्तम्यर्थे तृतीया (एनः) पापं देवावहेलनं नग्नस्नानादिलक्षणम् (अवायासिषम्) विनाशयामि स्म । (मर्त्यैः) मर्त्येषु कृतञ्च स्वजनहासादिलक्षणं सूर्यनमस्कारादिना प्रायश्चित्तेन । आह च महाभागो मतिमान् व्यासो भागवते—

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम् ॥

(भाग० १०, २२, १९)

(मर्त्यैः) मर्त्येषु देशान्तरीयकामुकादिमनुष्यनिमित्त-स्वजनपदोपहासादिलक्षणं एनश्च (अव) अवायासिषम् इति सम्बन्धः । त्वया शिक्षिता अनागतेऽनेहसि कदापि तथा नाचरिष्यामः इति प्रतिज्ञानमेव तत्प्रायश्चित्तमिति भावः । (देव) स्वामिन् ! भगवन् ! देवाधिपते ! (मर्त्य) मायामानुष भगवन्, सम्बोधनमेतद्द्वयम् । (रिषः) हिंसकान् दुःसहदुःखप्रदान् (पुरुरावणः) संसारात् पुरु अधिकं रुवन्ति पीडातिरेकेण हा कष्टम्, हा हन्त हता वयं घोरेषु विविध-जन्ममृति-परम्परा-लक्षणेषु अङ्गारेषु, दन्दह्यते चेतः, वेपते शरीरम्, इत्येवं शब्दं कुर्वन्ति अत्र स पुरुरावेति व्युत्पत्तेः । भगवन् तथा अनुगृहाण यथा भवतः सान्निध्यम् निरतिशया-नन्दावाप्तिस्वरूपमासाद्य निवृत्तप्रेत्यभावा भवेम इति भावः । गोलोके त्वत्सेवननिरता निवृत्तयातायाताः सदा हृष्टाः स्यामेति भावः ।

"पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥ य. ३।४९ ॥

८. साकमेधाऽनुवाकः स्थाल्याश्चरुग्रहणम्

एकोनपञ्चाशयां कण्डिकायां 'पूर्णा दर्वि' इत्येक एव मन्त्रः स्थाल्याश्चरोर्ग्रहणार्थः । अस्याप्यौर्णवाभः ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, इन्द्रो देवता (शत. २, ५, ३, १७; का. श्रौ. ५, ७, ३०) ।

अधुना चातुर्मास्यस्य तृतीयं पर्व साकमेधाख्यमुपक्रमते । सोमो राजा गायत्र्यादीनि

छन्दांसि चाऽनेन साकमेधपर्वाऽनुष्ठानेन सहैव समैधन्त तस्माद् उच्यते साकमेध इति । 'यत् सोमश्च राजा छन्दांसि च समैधन्त तत् साकमेधानां साकमेधत्वम्' (तै. ब्रा. १ ४, १०, ७-८) इति श्रुतेः । अस्मिन् कर्मणि प्रातरग्निहोत्रं कृत्वा वाऽनेन मन्त्रेण दर्व्यां स्थाल्या ओदनं चर्वाख्यमादत्ते— (दर्वि) हे हविष्यादिसंप्रदानसाधनभूते काष्ठादिनिर्मिते ! भाषायां 'कड्छी' इति दर्वीशब्दाभिधानं प्रसिद्धम् । इह चाहुतिसम्प्रदानसाधनं पात्रं परिगृह्यते । 'वृदृभ्यां विन्' (उ. ४, ५३) इत्यौणादिको दृणातेर्विन् प्रत्ययः । स्थाल्या ओदनं दारयति निष्कासयतीति संप्रत्ययात् ।(पूर्णा)ओदनपरिपूर्णा सती । पूरी आप्यायने(१८०४)चौरादिकः उभयपदी । अस्मान्निष्ठायां 'वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः' (पा. ७, २, २७) इत्यनेनेडागमाभावे पूर्णशब्दो निपात्यते । (परापत) इन्द्रं प्रति याहि । महीधरः 'परा' इति 'उत्कृष्टा' इत्याह । वस्तुतः परोपसृष्टः 'पत्लृ गतौ' इत्यर्थं धातुरिहाभिप्रेतः । (सुपूर्णा) अस्मदभीष्टफलसम्प्रदानायात्यन्तं पूर्णा । निष्ठायां गतिसमासे 'गतिरनन्तरः (पा.६,२,४९) इत्यनेनाऽनन्तरपूर्वस्य गतेः 'सु' इत्यस्योदात्तत्वम् । (पुनः) अनन्तरम् (आपत) अस्मान् प्रत्यागच्छ । अस्माकं श्रद्धाञ्जलिं गृहीत्वा इन्द्रं प्रति गच्छ, इन्द्रप्रसादाद् अभीष्टफल-सिद्धिपरिपूर्णाऽस्मान् प्रत्यावर्तस्वेति भावः दर्वीमुक्त्वाऽधुनेन्द्रमाह— (शतक्रतो) शतं क्रतवो श्रद्धालुजनसमृद्ध्यर्थं विविधानि अनुष्ठेयकर्माणि यस्य स शतक्रतुरिन्द्रः । हे इन्द्र! (वस्नेव) वस्नम् मूल्यम् । मूल्येनेव । 'वस्ना' इति 'सुपां सुलुक्'० (पा. ७,१,३९) इत्यादिना तृतीया-विभक्तेः पूर्वसवर्णः । बस निवासे (१००५) भौवादिकः परस्मैपदी । अस्मात् 'धापॄवस्य-ज्यतिभ्यो नः' (उ ३, ६) इत्यनेन नः प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण चान्तोदात्तः शब्दः । यथा वस्तुविनिमयेन मूल्येन वा कश्चिद् वणिक् पण्यं ददात्येवं वयमपि (इषम्) इदं हविःस्वरूपम् दर्वीपूर्णमोदनम् । (ऊर्जम्) हविष्यप्रदानफलस्वरूपं चित्ताऽभीप्सितं वरदानरूपं रसं च (विक्रीणावहै) आवाम् अध्वर्युयजमानौ परस्परादानभूतं विक्रयं करवाव । डुक्रीञ् द्रव्य-विनिमये (१४७३) क्रैयादिकः उभयपदी । विपूर्वो द्रष्टव्यः । लोटि आत्मनेपदे उत्तमपुरुषे द्विवचनस्य रूपमिति । वयं तुभ्यं हविष्यान्नं समर्पयामः, त्वं च श्रद्धोपनतोऽस्मभ्यमभीष्ट-फलं देहीति वस्तुविनिमय इति देवयाजिनः

आत्मयाजिनस्तु—(दर्वि) इन्द्रियहव्यसम्प्रदानकारणीभूते प्राणाधिष्ठातृदेवते! (पूर्णा) इन्द्रियशक्तिस्वरूपेण हव्येन सम्पन्ना त्वं (परा) परशक्तिस्वरूपा (पत) मानसात्मानं प्रति गच्छ। (सुपूर्णा) मानसात्मना चात्यन्तं परिपूर्णा सती (पुनर् आपत) ब्रह्माणि पुनर्गच्छ। (शतक्रतो) मन्त्रशास्त्ररूढ्या 'श्' शिवः, 'अः' विष्णुः, 'तः' ब्रह्मा एते त्रयो देवा शतं क्रतवः संकल्पसृष्टिर्यस्य स शतक्रतुर्महाविष्णुः । हे महाविष्णो ! (वस्नेव) मूल्येनेव (इषम्) प्राणं जीवं वा 'अन्नं हि प्राणः' (शत. २, २, १, ७) इति श्रुतेः । 'जीवं वै देवानां

हविरमृतममृतानाम् (शत, १. २, १, २०) इति श्रुतेश्च। (ऊर्जम्) मोक्षरूपं रसं (विक्रीणावहै) परस्परं द्रव्यादानप्रदानस्वरूपं विक्रयं करवावहै। अहं तुभ्यं प्राणं जीवं वा समर्पयामि त्वं मह्यं प्रसन्नो मोक्षं देहीति भाव इति।

दर्वि भोजनपरिवेषणसाधिके! पश्चात् सरलहस्तका अग्रे चतुरङ्गुलनिम्नप्रदेशा काष्ठादिमयी पात्रिका या भोक्तॄणां भोजनसमये परिवेषणायोपयुज्यते। दर्वी दीर्णवती, दीर्णावयवा, दृढावयवाः वा इति हि तन्निरुक्तिः। अपि वा दलनात्। तथा हि बुभुक्षूणां परिवेषणेन क्षुधा दल्यते। (पूर्णा) स्थालीं प्रवेश्य अन्नभृता सती भोक्तृभ्यः (परापत) प्रत्यावर्तस्व। पुनः वारं वारं, वीप्सार्थगर्भितः पुनः शब्दः। (सुपूर्णा) अतिशयेन शोभनान्नादिभृता (आपत) आगच्छ धौम्योपदिष्टयुधिष्ठिरानुष्ठितसूर्याराधनेन सूर्याल्लब्धा अक्षय्यभोजनस्थली यावद् द्रौपदी न भुङ्क्ते कृत्स्नस्यापि विश्वस्य परितर्पणक्षमा। तस्यां दर्व्यां सहस्रशोऽपि ओदनाद्यादाने सा न क्षीयते स्म स्थाली इति भावः। वस्ना वस्नेन विभक्तेराकारः, मूल्येन इव (विक्रीणावहै) विक्रीणीमहे वयं सपत्नीकाः पाण्डुतनयाः। (शतक्रतो) सहस्वन् इन्द्र। (इषम) अन्नम् (ऊर्जं) बलं दध्यादिरसं वा विशेषेण सम्पादयामः विपूर्वकक्रीणातिरत्र सम्पादनकर्मा। यथा मूल्येन किंचिद् आत्मसात् क्रियते तथा भास्कराराधनेन इयम् अक्षय्यस्थाली लब्धेति भावः। वस्नः वसति येन 'धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः (उ० ३।६) इति वसेर्नप्रत्ययः।

ओदनहवनम्

'देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा" ॥५०॥

अस्यां पञ्चाशयां कण्डिकायां 'देहि मे' इत्येक एव मन्त्र ओदनहवनार्थः। अस्य और्णवाभ ऋषिः, भुरिग् अनुष्टुप् छन्दः, इन्द्रो देवता (शत. २, ५, ३, १९; का. श्री. ५. ७, २४)

स्थाल्याः सकाशात् दर्व्योदनादानं पूर्वमन्त्रे उक्तम्। तम् हविष्यादानाऽभीष्टफलप्रतिदानकारिणे इन्द्राय जुहोति—तत्र तावत् इन्द्रः प्रतिदाता दातारं यजमानं पूर्वमाह— हे यजमान! (देहि मे) श्रद्धोपनतं हविष्यान्नं पूर्वं मह्यं समर्पय। (ददामि ते) ततः प्रीतोऽहमपि तुभ्यमभीष्टफलं दातास्मि। विक्रयस्यैष एव सामान्यः प्रकारो मूल्यमादाय पण्यदानमिति। यजमानश्रद्धयाऽत्यन्तमनुकूल इन्द्रः पुनराह—(मे) मह्यम् (निधेहि) भो यजमान! स्वहविष्यं नितरां सम्यक् धेहि सम्पादय। अहं (ते) तुभ्यम् (निदधे) अभीष्टफलं सम्यक् सम्पादयितास्मीति। मन्त्रार्धेनोक्तो यजमानो मन्त्रशेषेणेन्द्रं प्रत्याह—हे इन्द्र! त्वं (निहारं

च) देयमभीष्टफलं निहृत्य अवचित्याऽवचित्य । निपूर्वकाद् हरतेर्णमुलन्तस्येदं रूपम् । नितरां ह्रियत इति निहारो घञन्तः क्रेतव्यपदार्थपर्यायः शब्द इतीवाभिमन्यमानो महीधरः स्वरदोषादमान्यः । (मे) मह्यं (हरासि) ददासि । अहमपि कृतज्ञत्वप्रतिपन्नः (ते) तुभ्यम् इन्द्राय (निहारम्) निहृत्य चित्वा चित्वा यत् मत्समोपे सर्वोत्तमं देयं द्रव्यं तत् (निहराणि) निःशेषेण नितरां वा समर्पयानि (स्वाहा) मदोयमिदं हव्यं स्वाहुतमस्त्विति देवयाजिनः ।

अस्मिन्नष्टमे साकमेधाऽनुवाके द्वयोः कण्डिकयोः (एकोनपञ्चाशयां, पञ्चाशयां च द्वावेव मन्त्रौ । तयोः क्रमशः १ स्थाल्या ओदनरूपचरुग्रहणं, २ ओदनहवनं च द्वे कर्मणी वर्णिते । अष्टस्वनुवाकेषु पञ्चाशीं कण्डिकां यावत् समुदिता मन्त्रसंख्या ६४ ।

आत्मयाजिनस्तु—महाविष्णुः प्रत्याह हे योगिप्रवर ! त्वं (मे) मह्यं (देहि) जीवस्वरूपं हविष्यं समर्पय । अहमपि (ते) तुभ्यं भक्तप्रवराय (ददामि) मोक्षसिद्धिं ददामि । (मे) मयि (निधेहि) नितरां स्वात्मानं धारय । (ते) त्वयि (निदधे) अहमपि स्वात्मानं धारयामि । एवमुक्तो योगी प्रत्युवाच (निहारम्) श्रद्धामूल्येन क्रेतव्यं मोक्षाख्यं फलम् (मे) मह्यं भक्तायानुरक्ताय (हरासि) प्रददासि (निहारम्) मोक्षमूल्यं स्वात्मानं च सश्रद्धं (ते) तुभ्यम् (निहराणि) नितरां समर्पयानि । (स्वाहा) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ. उ. ४, ४, १९) महावाक्येन इदं संपत्स्यत इति ।

सात्वतास्तु—दध्यादिकं विक्रेतुकामो गोपिकागणः वृन्दारण्यात् मधुपुरीं प्रस्थितो मध्येमार्गं सङ्गतेन कृष्णेन दध्यादिकं याचितः कथयति 'देहि' इति । अयि! कृष्ण त्वं प्रथमं (मे) मह्यं (देहि) स्वपादपद्मानुरागं सदा सन्निधिवसनं वा, ततः परं अहं गोपिकागणः (ते) तुभ्यं दध्यादिकं सर्वं (ददामि) प्रयच्छामि । किञ्च त्वं (मे) मम शिरसि स्वकरसरोरुहं (धेहि) स्थापय । ततः परं अहं गोपी-गणः, (ते) तव हस्ते आत्मीयं सर्वस्वं (निदधे) स्थापयामि अर्पयामि आत्मानं निवेदयामि अपि च, (निहारं) नितरां ह्रियते इति निहारः अनन्यभावस्तं (हरासि) हरसि प्रापयसि (मे) माम् । अहं गोपिकागणः (निहारं) नितरां हरणीयं प्रापणीयं सम्पादनीयं वस्तुजातं श्रीचरणयोः (निहराणि) प्रापयामि, धनम् मनः शरीरं वा भवद्हस्ते निवेदयामि । भगवान् अनुमोदते— 'स्वाहेति' गोपीगणः सु आह साधु ब्रूते आ समन्तात् सर्वथेत्यर्थः ।

अपि वा साधकेन गुरुदेवाय देवाधिदेवपरमेश्वराय च तनुमनोधनानि समर्पणीयानि इति साधनाविदां समयः । अत एव जनको भूपतिरष्टावक्राय स्वाचार्याय तत् त्रयमर्पयाञ्चकार । श्रूयते च बृहदारण्यकोपनिषदि 'नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि' इति (बृहदा० ४, २, ४) जनपदवाचिविदेहग्रहणं राज्यधनाद्युपलक्षकम् । अहमिति पदेन जीवोपाधिभूते शरीर-

मनसी निर्दिष्टे । लब्धविद्यो राजा जनकः स्वाचार्याय याज्ञवल्क्याय शरीरं मनः धनञ्च गुरुदक्षिणारूपेण ददावित्यर्थः । तदित्थं निश्चीयते अस्मिन्मन्त्रे प्रथमचरणेन धनस्य, द्वितीयचरणेन मनसः, उत्तरार्धेन च शरीरस्य समर्पणमिति भावः ।

६. पैतृकाऽनुवाकः

[1]"अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ।। य. ३।५१ ।।

१. पितृयजनार्थम् आहवनीयोपस्थानम्

अस्यामेकपञ्चाशयां कण्डिकायां 'अक्षन्०' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः पितृयजनार्थः, अस्य गोतम, ऋषिः विराट् पङ्क्तिश्छन्दः, इन्द्रो देवता (शत. १, ६, १, ३८; का. श्रौ. ५, ६, १६) ।

साकमेधपर्वान्तर्गतपितृयज्ञाख्ये कर्मण्याहवनीयमग्निं द्वाभ्यामिन्द्रदेवत्याभ्याम् ऋग्भ्यामुपतिष्ठन्ते । यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्चः 'अक्षन्नमीमदन्त' इत्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते द्वाभ्याम् (का. श्रौ. ५, ६, १६) इति कात्यायनोक्तेः ।

(हि) यस्मात् कारणात् मम पितरः (अक्षन्) अस्मिन् पितृयज्ञाख्ये कर्मणि श्रद्धया मयोपनतमन्नं आश्नन् । अद भक्षणे (१०११) आदादिकः परस्मैपदी । तस्य लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने 'लुङ्सनोर्घस्लृ' (पा. २, ४, ३७) इत्यनेन अत्तेः 'घस्लृ' आदेशः । 'मन्त्रे घसह्वर०' (पा. २, ४, ८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि 'गमहनजनखनघसां' (पा. ६, ४, ९८) इत्यनेन घसेर् उपधालोपे 'खरि च' (पा. ८, ४, ५५) इति घस्य चर्त्वेन कुत्वे 'शासिवसिघसीनां च' (पा. ८, ३, ६०) इत्यनेन घसेः सस्य षत्वे, कषयोः संयोगे क्षे अक्षन् इति रूपम् । मदीयं दत्तं कव्यं चाऽशित्वा ते (अमीमदन्त) प्रहृष्टाः । मद तृप्तियोगे (१७०६) चौरादिकः उभयपदी । अस्य प्रथमपुरुषबहुवचने रूपमिदम् । (प्रियाः) प्रीताः च (अव अधूषत) स्वीयानि शिरांसि अधस्तात् कम्पितवन्तः । अवधूननं नाम कव्यस्वीकारार्थमधस्तात् शिरःकम्पनम् । धूञ् कम्पने (१४८७) क्रैयादिकः उभयपदी । अस्मात् लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने सिचि छान्दसो गुणाऽभावः । (स्वभानवः) स्वयंप्रकाशाः स्वो भानुः दीप्तिर्येषां ते बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । (विप्राः) मेधाविनश्च ते पितरः । (नविष्ठया) नवनवोन्मेषशालिन्या । अतिशयेन नवा नविष्ठा । अतिशायने इष्ठन् प्रत्ययः । (मती) मत्या स्तुत्या 'सुपां सुलुक्०' (पा. ७, १, ३९) इत्यादिना

१—ऋग्वेद १, ८२, २ ।

तृतीयायाः पूर्वसवर्णः (अस्तोषत) स्तुतवन्तः । ष्टुञ् स्तुतौ (१०४३) आदादिक उभयपदो, अस्माल्लुङि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । पुत्रनप्तृभिः श्रद्धया समर्पितेन स्वादिष्ठेन कव्येन वयं प्रीताश्च तृप्ताश्च स्म सम्पन्ना इत्युक्तवन्त इत्यर्थः । अथवा कव्यदातार एव पितॄन् दृष्ट्वा प्रसन्नतातिशयेन सुदीप्तमुखाः सुप्रज्ञाः नवनवया स्तुत्या तान् स्तुतवन्त इति पितॄन् संतर्प्य अधुनेन्द्रं सम्बोधयन्ति—(इन्द्र) पितृयज्ञसाङ्गतासिद्धचर्थं हे मघवन् (नु) क्षिप्रं अधुनैव 'नु' इति क्षिप्रनाम (निघ. २, १५, १) । (ते) तवात्मीयौ (हरी) हरितौ अश्वौ (योजा) रथे संयोजय । युजिर् योगे (१४४४) रौधादिकः उभयपदी । अस्मात् ण्यन्ताल्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने छान्दसं शप आर्धधातुकत्वं तन्निमित्तो णिलोपश्च । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (पा. ६, ३, १३५) इत्यनेन संहितायां दीर्घत्वे योजा इति, पादादित्वाद् अतिङः परत्वा भावात् 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८१, २८) इति तिङ् निघातो न प्रवर्तते । भो इन्द्र ! रथे हरी योजय, तृप्तैः पितृभिस्त्वमपि यथास्थानं गच्छेति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु– (स्वभानवः) स्वः आत्मैव भानुर्दीपको येषां ते (विप्राः) प्राज्ञाः मनोवृत्तयः (अक्षन्) इन्द्रियरूपाणि हवींषि भक्षितवन्तः । (नविष्ठया) नवनवया संस्कृते- न्द्रियहविषा (अमीमदन्त) तृप्तिं प्राप्ताः । (हि) यस्मात् (प्रियाः) तनूः (अवाधूषत) अव- कम्पितवन्तः । तृप्ता वयमिति सूचितवन्तः (अस्तोषत) स्तुतिं च चक्रुः । अतः (इन्द्र) हे समर्थमहाविष्णो ! (नु) क्षिप्रमेव (ते) तव (मती) मन्त्रशास्त्रदृशा मः मानसभास्करः जीव इत्यर्थः बुद्धिरूपमनोऽवच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य जीवत्वात्, तः तस्येशः, जीवेशरूपौ (हरी) स्वांशौ (आ योज) संयोजयेति ।

सात्वतास्तु—इन्द्रेण समाहूतः तदादिष्टमातलिना उपवेश्य दिव्ये रथे स्वर्गं समानीतः तत्र उषित्वा पञ्चवर्षाणि शिक्षिताखिलदिव्यास्त्रविद्यः शक्रानुमतो धनञ्जयः चिरं प्रोषितः स्वं प्रतीक्षमाणान् सभार्यान् भ्रातॄन् उपजगाम । तमवलोक्य ते प्रमोदस्य परां काष्ठाम् ईयुः। तदानीमेव इन्द्रोऽपि युधिष्ठिरादिभिः संगन्तुम् इयेष, तदन्तिकमुपाययौ च । तदिदं वृत्तं व्याहरति मन्त्रोऽयमक्षन्निति ।

(अव) अवधार्य स्वसमीपमागच्छन्तं धनञ्जयं (प्रियाः) प्रिया च प्रियाश्चेति एक- शेषेण प्रिया द्रौपदी प्रियाः भीमादिभ्रातरः । (अमीमदन्त) मोदन्ते स्म । तान् विशिनष्टि (स्वभानवः) शौर्यातिरेकेण स्ववंशभास्कराः, कुलगौरवाधायकं जनमस्य कुलस्य भास्कर इति ब्रुवते लोकाः । प्रवृद्धतेजसा असति च प्रदीपादौ नक्तं तमस्यपि प्रकाशान्तरमनपेक्ष्य भास्वरगात्राः इति वा । 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' इति कविकुलगुरोः कालिदासस्य सुभा- षितमनुसृत्य परदर्शितमार्गगाः मूढाः अविवेकिनः, इमे तु न तथा किं तर्हि स्वभानवः स्वयं बुद्धया विविच्य कार्यकारिणः विवेवयग्रगण्या इति वा । (अधूषत)आनन्दातिरेकेण शिरांसि

चालितवन्तः । कीर्त्यते हि लोके अस्य प्रवक्तुः साधीयसी कथा । पुनः कीदृशाः (विप्राः) विशेषेण पूर्णाः विशिष्टगुणगणयुक्ताः । (नविष्ठया) नवतमया अति-नवीनया (मती) मत्या स्तुत्या । यामाकर्ण्य श्रोतृवर्गः शिरो धुनोतीति । राजसूयदिग्विजययात्रायां सपत्नान् वेपितवन्तः इति वा । चिरकालानन्तरसङ्गता अद्य सहोपविश्य(अक्षन्)भुक्तवन्तः सहभोजे सुखमनुभूतवन्तः, चिरप्रोषितः भ्राता धनञ्जयः अद्य अस्मदन्तिकमायातः । न केवलं एतावदेव अपितु विश्ववन्दितचरणो देवराजोऽपि निजागमनेन अस्माननुगृह्णाति। निजानुग्राहकं देवराजं मुक्तकण्ठम् (अस्तोषत) प्रशंसितवन्तः । ततः स्वाभिप्रायमाविष्कुर्वाणाः ऊचुः । (इन्द्र) भक्तवत्सल देवराज ! महान् भवदनुग्रहः अस्मासु (नु) क्षिप्रं अत्रागन्तुं (हरी) स्वाश्वौ रथे (योजा) योज युक्तवान् असि । तूर्णगामिभ्यां हयाभ्यां युक्ते रथे उपविश्य अस्मदन्तिकमुपतिष्ठसि इति भावः ।

[1]"सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि ।
प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशाँ अनु
योजा न्विन्द्र ते हरी ॥" य. ३ ॥५२॥

आहवनीयोपस्थानम्

अस्यां द्वापञ्चाशयां कण्डिकायां 'सुसंदृशं त्वा०' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्र आहवनीयोपस्थानः । अस्यापि गौतमः ऋषिः, विराट्पङ्क्तिश्छन्दः, इन्द्रो देवता (शत. १, ६, १, ३८; का. श्रौ. ५, ६, १६) ।

इन्द्रं प्रति वदन्ति— (मघवन्) हे अभीष्टफलरूपधनवन् ! पादादित्वात् आमन्त्रितस्याद्युदात्तत्वम् । (त्वा(त्वां (सुसंदृशं) सुष्ठु सम्यक् पश्यति भक्तान् सम्यग् अनुगृह्णाति सुसंदृक् । दृशिर् प्रेक्षणे (९८८) भौवादिकः परस्मैपदी । कर्तरि क्विप् प्रत्ययः । तादृशं (वयम्) (वन्दिषीमहि) स्तूयास्म । वदि अभिवादनस्तुत्योः (११) भौवादिकः आत्मनेपदी । तस्माद् आशीर्लिङि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम् । पूर्ववर्तिनः आमन्त्रितस्य 'मघवन्' इत्यस्याऽविद्यमानत्वात् 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८, १, २८) इति तिङ्निघाताप्रवृत्तेः प्रत्ययस्वरेण 'महि' इति प्रत्ययस्याद्युदात्तत्वम् । (स्तुतः) अभीष्टफसिद्धिं कामयमानैः स्तोतृभिरस्माभिर्वन्दितः (नूनम्) निश्चयेन (पूर्णबन्धुरः) बन्धुरशब्दो रथनीडवाचकः । स्तोतृभ्यो भक्तेभ्यः प्रदेयैर्द्रव्यैः सम्पूर्णो बन्धुरो यस्य तथाभूतः (वशान्) उशन्ति कामयन्त इति वशाः । वश कान्तौ (१०८०) आदादिकः परस्मैपदी । 'नन्दिग्रहि०' (पा. ३, १, १३४)

१— ऋग्वेद १, ८२, ३ ।

इत्यादिना कर्तर्यच् प्रत्ययः। 'वृषादीनां च' (पा. ६. १. १३४) इत्यादिनाऽऽद्युदात्तत्वम्। अथवा उश्यते काम्यते इति वशः कामः। 'वशिरण्योरुपसंख्यानम्' (पा. वा. ३, ३, ५८) इति वार्तिकेन वष्टेः कर्मणि अप् प्रत्ययः। प्रत्ययस्य पित्त्वकृतेऽनुदात्तत्वे धातुस्वरेण वशशब्द आद्युदात्तः। कृपादृष्टिं कामयमानान् भक्तान्, भक्तकामनां वा (अनु) अनुलक्ष्य। 'निपाताः' (फिट् सू. ४।८०) इति निपातस्य 'अनु' इत्यस्याद्युदात्तत्वम्। (प्रयासि) प्रकर्षेण अत्यन्तं गच्छसि। 'व्यवहिताश्च' (पा १,४,८२) इति सूत्रेण छन्दसि व्यवहितस्याप्युपसर्गस्य प्रयोगात् 'प्र' इत्युपसर्गस्य व्यवहितस्यापि क्रियया सम्बन्धः। (इन्द्र ते हरी नु योजा) इति व्याख्यातचरम् इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(मघवन्)मन्त्रशास्त्रदृष्ट्या 'मः' ब्रह्मा 'अः' विष्णुः 'घः' शिवः मघैस्त्रिभिर्देवैर्युक्तो महाविष्णुर्मघवान् तत्सम्बोधनम् हे महाविष्णो! (वयं) योगमार्गप्रवृत्ता योगिनः (त्वा) त्वां (सुसंदृशम्) अनुग्रहदृष्ट्या सर्वेषां द्रष्टारं (वन्दिषीमहि) स्तुविषीमहि। (अः) महाविष्णुस्त्वम् (पूर्णबन्धुः) सपूर्णमित्रः सर्वहितः (अः) महाविष्णुः (स्तुतः) वन्दितः (वशान्) कामयमानान् योगिनः (अनु) लक्ष्यीकृत्य (नूनम्) अवश्यं (प्रयासि) प्राप्नोषि। (इन्द्र) इं कामं द्रावयतीति इन्द्रः तत्सम्बुद्धौ। हे कामनाशक महाविष्णो! त्वं (नु) क्षिप्रं (ते) तव (हरी) आभासभूतौ जीवेशौ स्वांशौ (आयोज) स्वात्मनि लीनौ कुरु इति।

सात्वतास्तु—नमस्कारादिना सत्कुर्वन्ति-सुसंदृशमिति 'सु' शोभना हितकरी 'सं' समीचीना स्नेहपरिप्लुता 'दृक्' दृष्टिर्यस्य तथाभूतम्। अथवा 'सु' शोभनेन रूपेण 'सं' समीचीनेन लावण्येन च दृश्यमानं रूपलावण्याभ्यां कमनीयगात्रम्, रूपं गौरादिवर्णः, सर्वाङ्गसौष्ठवं लावण्यमिति तद्भेदः (त्वा) त्वां (वयं) सर्वे (मघवान्) पूजनीय विविधधनसम्पन्न वा इन्द्र (वन्दिषीमहि) सश्रद्धं नमस्कुर्मः। छन्दसि कालानियमात्। नूनं निश्चितं (पूर्णबन्धुरः) पूर्णधनदाता पूर्णधनस्वामी। बन्धुरिति धननाम (निघ० २, १०, २१) तं लाति बन्धुलः ला आदाने'(अदादिः परस्मैपदी) रलयोरैक्यात्। बन्ध-बन्धने(क्रैयादिकः परस्मैपदी) ततः औणादिकः उप्रत्ययः। बध्नात्यनेन भृत्यादीन् इति। यद्वा बन्धुरिव बन्धुरिति देवराजः। (स्तुत) कृतगुणानुवादः। अतएव प्रहृष्टः(वशान्)स्वाधीनान् स्वं कामयमानान् वा स्वोपासकान् वा। (प्रयासि) प्रकर्षेण दयाऽतिरेकेण अनुगृहीतान् यासि गच्छसि तेषामन्तिकम्। योजा इति पादो व्याख्यातपूर्वः। अरण्यपर्वणि महाभारते द्विषष्टितमेऽध्याये वृत्तमिदमनुसन्धेयम्।

[1]"मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन।
पितॄणां च मन्मभिः ॥" य. ३ ॥५३॥

---

१ ऋग्वेद १०, ५७, ३।

गार्हपत्योपस्थानम्

अस्यां त्रिपञ्चाशयां कण्डिकायां 'मनो न्वाह्वामहे'– इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः । अस्य बन्धुर्ऋषिः, अतिपादनिचृद्गायत्री छन्दः, मनो देवता (शत. १, ६, १, ३९; का. श्रौ. ५, ६, १७)।

अथानन्तरं तिसृभिः ऋग्भिर्गार्हपत्याग्निमुपतिष्ठन्ते– (मनः) पितृध्यानापन्नं स्वं चित्तं (नु) क्षिप्रं तत्कालमेव वयं (आह्वामहे) आह्वयामः, अथवा मनोऽभिमानिदैवतमाह्वयामः । आह्वयामहे इत्यस्य स्थाने आह्वामहे इति छान्दसं रूपम् । केन साधनेन मन आह्वयामः, (नाराशंसेन) नरान् यूयं पुत्रादिसन्तानवन्तो धनवन्तो दीर्घायुष्यवन्तश्च भूयास्तेति शंसति नराशंसः तत्सम्बन्धिना (स्तोमेन) स्तोत्रेण । स्तोत्रं खलु द्विविधम् । दैवं मानुषं च । येन देवान् स्तुवन्ति तद् दैवं स्तोत्रम् । नरान् येन प्रशंसन्ति तन्नाराशंसाख्यं स्तोत्रम् । (च) तथा (पितॄणाम्) (मन्मभिः) मननीयैः स्तोत्रैः मन्यन्ते ज्ञायन्ते यैस्तानि मन्मानि तादृशैः पितृप्रसादकारिभिः स्तोत्रैः स्वं मन आह्वयाम इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु– यदि योगोक्तमन्त्राणां प्रयोगो न स्यात् तर्हि योगिनो देहपातः सम्भवेत् । तस्मात् प्रारब्धसमाप्तिं यावत् प्रार्थयते– (नाराशंसेन) नर आत्मा ततो जातं मनो नारं, तस्य आशंसः प्रशंसा, मनोयोग्यः शंसो नाराशंसः तेन (स्तोमेन) स्तोत्रेण (च) (पितॄणाम्) मनोवृत्तीनां 'मनः पितरः' (शत. १४, ४, ३, १३) । (मन्मभिः) आकाङ्क्षिताभिः वाग्भिः (नु) क्षिप्रम् (मनः) मनोऽभिमानिदैवतम् (आह्वामहे) आह्वयाम इति ।

सात्वतास्तु–विदूषिताम्बुपानेन गोभिः सहितान् गोपालान् उद्दिश्य उक्तिरेषा-मनो नु इति। व्रजवासिभिः कृतानुरोधः श्रीकृष्णः विदूषितपयःपानेन मृतान् पुनरुज्जीवयितुकामः कथयति; भो व्रजवासिनो न खिद्यध्वम्, अहम् अधुनैव एतेषु मृतशरीरेषु विषप्रकोपेन निर्गतं (मनः) अन्त.करणम् सप्तदशतत्त्वात्मकं सूक्ष्मशरीरम् । (आह्वामहे) आह्वयामः । 'अस्मदो द्वयोश्चेति बहुवचनम्' आह्वयामि इत्यर्थः । केन (नाराशंसेन) आशंसनं आशसा, आङः शसि इच्छायाम् (भ्वा.आ. ६२९)ततः 'गुरोश्च हलः' इति स्त्रियां 'अ' प्रत्ययः टाप् आशंसा भावि शुभाशंसनं नराणां मनुष्याणां सा नराशंसा तस्या अयं नाराशंसः मनुष्याभिलाषपूरकस्तेन (स्तोमेन) मम अमृतवर्षिदृष्टिपातसमूहेन तन्मात्रेण (पितॄणां) पितृतुल्यानां व्रजौकसां वयोवृद्धानां (मन्मभिः) आकाङ्क्षाभिः ज्ञानवाचिनो मन्धातोः ज्ञानकार्ये अभिलाषे प्रयोगः । मम मृता पुत्राः गावश्च जीवेयुरिति वयोवृद्धानामनुरोधात् दृष्टिपातमात्रेण प्रोषितं तेषां लिङ्गशरीरं समाहूय मृतशरीरेषु चानुप्रविश्य सम्प्रत्येव गोभिः सहितान् तान् गोपान् पुनर्जीवयामि इति भावः ।

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥ (भा० १०, १५, ५०)

अत्रेदं बोध्यम्, आङः शसि इच्छायां (भ्वा० आ० ६२९) तस्य आशंसते आशंसाते इत्यादि रूपम् । आङः शासु इच्छायाम् (अदा० आ० १०२२) तस्य आशास्ते आशासाते इत्यादि रूपम्, 'शंसु स्तुतौ' (भ्वा० प० ७२८) तस्य प्रशंसामि इत्यादिकं रूपम् । 'आङः शासु इच्छायां' इत्यत्र आङः पूर्वत्वं न सार्वत्रिकं, तथा निर्देशस्तु प्रायिकत्वाभिप्रायेण तस्मात् 'नमोवाकं प्रशास्महे' प्रशासा प्रशासनम् इत्यादिकं सिद्ध्यतीति ।

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

" 'आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे" ॥ (य० ३।५४)

अस्यां चतुःपञ्चाशयां कण्डिकायाम् 'आ न एतु.' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः । अस्य बन्धुर्ऋषिः, विराड् गायत्री छन्दः, मनो देवता (शत० १, ६, १, ३९; का. श्री. ५, ६, १७) ।

(नः) अस्माकं (मनः) चित्तं (पुनः) पौनःपुन्येन (क्रत्वे) यज्ञं कर्तुं संकल्पशक्तिलाभाय, क्रतवे इति प्राप्ते 'तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्' (पा. वा. ६, ४, ८६) इति यणादेशः । (दक्षाय) संकल्पशक्तेः समृद्ध्यै ।' स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्याद् इदं कुर्वीयेति, स एव क्रतुः, अथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षः' शत. ४, १, ४, १) इति श्रुतेः । (जीवसे) जीवितुं च । जीव प्राणधारणे । (५६२) भौवादिकः परस्मैपदी । 'तुमर्थे सेसेनसे०' (पा ३, ४, ९) इति सूत्रेण तुमर्थे असे-प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तत्वम् । (च) तथा (ज्योक्) चिराय, ज्योग् इति निपातश्चिरवाची । (सूर्यम्) भास्करं (दृशे) द्रष्टुम् ।' 'दृशे विख्ये च' (पा. ३. ४, ११) इत्यनेन तुमर्थे केप्रत्ययः । प्रत्ययस्वरेणाऽन्तोदात्तत्वं च । अथवा चिरं जीवितुम् अतएव सूर्यं द्रष्टुमित्यन्वयः । (आ एतु) आयातु । उपसर्गक्रियावचनयोर्व्यवहितयोरपि सम्बन्ध इत्याभीक्ष्ण्येन व्याख्यातम् । पितृसंनिधौ गतमस्मदीयं मनः शुभसंकल्पेन देवकर्मनिर्वर्तनाय अस्माकं चिरजीवनाय सुखं सूर्यदर्शनसामर्थ्यलाभाय च पुनरागच्छत्विति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—(नः) अस्माकं योगिनां (मनः) चेतः (क्रत्वे) योगयागं सत्संकल्पेन

---

१ ऋग्वेद १०, ५७, ४ ।

निर्वर्तयितुं (दक्षाय) संकल्पस्य समृद्धये (ज्योक्) आ प्रारब्धपरिसमाप्तेः (जीवसे) जीवितुम् (च) तथा (सूर्यं दृशे) समाधौ ब्रह्म द्रष्टुं (पुनः) भूयः (आ एतु) आगच्छत्विति ।

सात्वतास्तु—युधिष्ठिरदत्तस्वप्रश्नोत्तरतुष्टहृदयो यक्षः वरं वृणीष्व इति युधिष्ठिरम् अब्रवीत् । युधिष्ठिरः तत्र गतासून् भ्रातॄन् प्राणयितुकामः यक्षमुवाच, ताम् इमां कथां सूचयत्ययं मन्त्रः- आ न इति । (नः) अस्माकं भ्रातॄणां भवदादेशोल्लंघनकारणात् तच्छरीरविनिर्गतं चैतन्यसम्पादकं (मनः) लिङ्गशरीरं (पुनः) (आ एतु) तत्र प्रत्यागच्छतु, तेषां शरीरेषु पुनः प्रविशतु इति यावत् । (क्रत्वे) क्रतवे पूर्ववत्, दिग्विजयानीत-धनैर्यज्ञसम्पदनाय श्रौतकर्मार्थमित्यर्थः । किञ्च (दक्षाय) स्मार्तपूर्तदत्ताख्यकर्मसमर्थाय परोपकारप्रधानाय (जीवसे) जीवनाय, यथा ते जीविताः सन्तः परेषामुपकाराय श्रौतस्मार्तञ्च कर्मानुतिष्ठेयुः । तदपि जीवनं दीर्घकालिकम् अर्थये तदेतदाह (ज्योक्च सूर्यं दृशे), चिरं सूर्यं द्रष्टुं यावत् चन्द्र-दिवाकरौ जीवेयुर्ममानुजाः इति भावः ।

[1]"पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ।
जीवं व्रातं सचेमहि ।।" य. ३।५५ ।।

गार्हपत्याग्न्युपस्थानम्

अस्यां पञ्चपञ्चाशयां कण्डिकायाम्, 'पुनर्नः पितरः'— इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रो गार्हपत्याग्न्युपस्थानः । अस्य बन्धुर्ऋषिः, निचृद्गायत्री छन्दः, मनो देवता (शत. १, ६ १, १९; का. श्रौ. ५, ९, १७) ।

(नः) अस्माकं (मनः) चित्तं पितृगतं (पितरः) ददतु प्रत्यावर्तयन्त्विति शेषः । (दैव्यः) देवसंबन्धी 'देवाद्यञञौ' (पा. वा. ४, १, ८५) इति वार्तिकेन सम्बन्धार्थे देवशब्दाद् यञ् प्रत्ययः । ञित्वाद् आद्युदात्तत्वम् । (जनः) पुरुषः अस्मभ्यं मनः (ददातु) प्रत्यावर्तयतु । पितरः स्वात्मगतं अस्मदीयं मनः देवाश्च स्वगतम् अस्मदीयं मनः प्रत्यावर्तयन्त्विति भावः । किमर्थं मनःप्रत्यावर्तनं प्रार्थ्यते । यथा (जीवम्) जीवन्तम् । कर्तरि अच् प्रत्ययः (व्रातम्) पुत्रपौत्रभार्यापश्वादिकं जीवल्लक्षणं संघं (सचेमहि) सेवेमहि । षच सेवने (१६३)भौवादिकः आत्मनेपदी । ष्वञ्ज परिष्वङ्गे (९७६) भौवादिकः आत्मनेपदी इत्यतः 'सचेमहि' इति रूपं सिषाधयिषन् उव्वटश्चिन्त्य इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— (पितरः) मनोवृत्तयः अस्मभ्यम् (मनः) (पुनः) प्रत्यावर्तयन्तु । (दैव्यः) ब्रह्मसम्बन्धी (जनः) नरोत्तमः (नः) अस्मभ्यम् मनः (पुनः) (ददातु) प्रत्यावर्तयतु ।

---

१. ऋग्वेद- १०, ५७ ५ ।

येन (जोवम्) जीवांशभूतम् (व्रातम्) इन्द्रियगणम् (सचेमहि) सेवेमहीति।

सात्वतास्तु—(पितरः) पितः आदरार्थं बहुवचनम्। न त्वं यक्षः किं तर्हि मम पिता धर्म एव अलं गोपनेन इति पितृपदेन व्यज्यते। (दैव्यः) लोकोत्तरः निगूढस्वस्वरूपः (जनः) अन्तर्भावितणिजर्थोऽत्र जनिः, जनयिता इत्यर्थः। भवान् निष्कासितं (मनः) तदुपाधिकं लिङ्गशरीरावच्छिन्नं जोवं मद्भ्रातॄणां (पुनः ददातु) प्रत्यावर्तयतु, मृतेषु तद्देहेषु यथापूर्वं तं स्थापयतु इति भावः। युधिष्ठिरेण तत्स्वरूपेऽवगते धर्मोऽप्यन्ते 'अहं धर्मः' एवेति अभ्युपजगाम। स्पष्टमिदमरण्यपर्वान्तिवर्तिनि यक्षप्रश्नपर्वणि। पश्चात् करुणया उज्जीवितेषु धर्मेण भीमादिषु युधिष्ठिरो ब्रूते। (व्रातं) व्रतमिति कर्मनाम तत्सम्बन्धि व्रातं त्वदनुमतकर्तव्यपथे स्थितं, (जोवं) जीवनं वयं सर्वे भ्रातरः (सचेमहि) सेवेमहि अनुतिष्ठेम। न कदापि धर्म-मार्गात् भ्रंशामहे।

दक्षिणाग्न्युपस्थानम्

[1]"वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि"। (य० ३।५६)॥

अस्यां षट्पञ्चाशयां कण्डिकायाम् 'वयं सोम०' इत्यृगात्मक एक एव मन्त्रः दक्षिणाग्न्युपस्थानः। अस्य मन्त्रस्याऽग्न्युपस्थानेऽवमार्जने विनियोगः इति सायणः (तै० ब्रा० २, ४, २, ७)। अस्य बन्धुर्ऋषिः, गायत्री छन्दः, सोमो देवता (शत० २, ६, २, १०; का. श्रौ. ५, ६, ५)।

'पितृदेवत्यो वै सोमः' (शत० २, ४, २, १२)। 'सोमाय पितृमते स्वाहा' (यजु० २, २९; शत. २, ४, २, १३) इति दर्शनात् पितृकर्मणि समाराधनीयां सोमाख्यां देवतां सम्बोधयति—(सोम) हे तदाख्य देव! (वयं) यजमानाः (तव) त्वदीये (व्रते) कर्मणि, व्रतमिति कर्मनाम (निघ० २, १, ७)। संलग्नाः (तनूषु) जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्तिस्वरूपास्ववस्थासु यद्वा पितृशरीरेषु (मनः) आत्मनश्चित्तं (बिभ्रतः) धारयन्तः, डुभृञ् धारणपोषणयोः (१०८७) जौहोत्यादिकः उभयपदो। शत्रन्ते 'उभे अभ्यस्तम्' (पा. ६, १, ५) इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (पा. ७ १, ७८) इति नुमो निषेधः। 'अभ्यस्तानामादिः' (पा. ६, १, १८९) इत्याद्युदात्तत्वम्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु तिसृषु दसासु स्वस्थचेतसो यद्वा पितृसेवासमर्पितशरीरक्रियासु मनः सावधानं कुर्वन्त इति भावः (प्रजावन्तः) पुत्रादिसन्तानवन्तः (सचेमहि) सेवेमहि सांसारिकान् भोगानिति देवयाजिनः।

१ ऋग्वेद १०, ५७, ६। प्रजावन्तः अक्षीमहि इति तै० ब्रा० (२, ४, २, ७)

अस्मिन् पैतृके नवमाऽनुवाके षट् कण्डिकाः (एकपञ्चाशीमारभ्य षट्पञ्चाशीं यावत्) तासु षडेव मन्त्राः। ते च षड् ऋचः। तत्र यथाक्रमं द्वाभ्यां मन्त्राभ्याम् आहवनीयाग्न्युपस्थानं, त्रिभिर्मन्त्रैः गार्हपत्याग्न्युपस्थानं, एकेन मन्त्रेण दक्षिणाग्न्युपस्थानम् इति कर्माणि वर्णितानि। नवस्वनुवाकेषु षट्पञ्चाशीं कण्डिकां यावत् समुदिता मन्त्रसंख्या ७०।

आत्मयाजिनस्तु–(सोम) हे आत्मप्रतिबिम्ब ! 'सोमो वै भ्राट्' (शत० ३, २, ४, ६) इति श्रुतेः। (प्रजावन्तः) प्राणवन्तः, 'प्राणः प्रजाः' (शत० १४, ४, ३, १४) (वयं) योगिनः (व्रते) आत्माहुतिकर्मणि (तव) त्वदीयेषु (तनूषू) इन्द्रियेषु (मनः) (बिभ्रतः) धारयन्तः (सचेमहि) प्रारब्धपरिपाकपर्यन्तं इन्द्रियाणि सर्वाणि सेवेमहि इति।

सात्वतास्तु– राज्ञीभिरभ्यर्थितः कृष्णः सद्गुरोः शैवाचार्यादुपमन्योर्गृहीतशैवदीक्षः धृततापसवेष भूतिभूषितगात्रः शंकरं प्रार्थयते वयं सोम इति।

(सोम) उमया पार्वत्या सहित त्रिपुरारे ! (तनूषु) ममताऽतिरेकेण संसर्गाऽध्यासात् गौणात्मसु सन्ततिषु पुत्रपौत्रादिषु (मनो बिभ्रतः) संलग्नचेतसः तत्प्राप्त्युत्कण्ठाभिलाषा वयं राज्ञ्यः अहं च सर्वे (प्रजावन्तः) लब्धप्रशस्तसन्ततयः (सचेमहि) त्वां सेवेमहि। त्वत्प्रसादाद् अस्माकं गृहे वीराः, दातारः, प्रभुभक्ताश्च पुत्रपौत्रादयः समुत्पद्यन्ताम् इति भावः। स्कन्दपुराणे शिवपुराणे च निबद्धा एषा कथा विस्तरेण तत एवावसेया।

अयमात्मा त्रिविधः मुख्यो, मिथ्या, गौणश्चेति, असङ्गसाक्षिसच्चिदानन्दाखण्डैकरसः प्रत्यक्कूटस्थादिशब्दव्यपदेश्यो मुख्यः, तेन तादात्म्याध्यासात् तद्भावभावापन्न इव शरीरेन्द्रियमनःप्राणाद्यन्नमयादिपञ्चकोशात्मा मिथ्यात्मा द्वितीयः। तदीया अनात्मपदवाच्याः गृहपुत्रादयः अतदात्मानोऽपि असंसृष्टा अपि वस्तुतः संसर्गाध्यासेन तत्तामापन्ना इव गौणात्मत्वेन व्यपदेश्या इति।

१० त्र्यम्बकाऽनुवाकः

"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व।
स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः ॥" य. ३।५७ ॥

१ अवदानहोमः २. पुरोडाशनिर्वापः

अस्यां सप्तपञ्चाश्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ। प्रथमः 'एष ते' इति मन्त्रोऽवदानहोमार्थः। अपरः 'एष ते०' इति मन्त्रः आखूत्करे पुरोडाशनिर्वापार्थः। उभयोर्मन्त्रयोर्बन्धुः ऋषिः, रुद्रश्च देवता, छन्दसी भिन्ने। पूर्वस्य प्राजापत्या बृहती छन्दः, अपरस्य याजुषी जगती छन्दः (शत. २, ६, २, ९-१०; का. श्रौ. ५, १०, १०-११)।

एकस्या पात्र्यां पुरोडाशान् एककपालान् (एकस्मिन् कपाले संस्कृतान्) रुद्रदेवत्यान् एकाधिकान्, यजमानस्य कुटुम्बे सम्बन्धिषु च यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषाः सन्ति तान् सर्वान् गणयित्वा प्रतिपुरुषं एकैकं पुरोडाशं निर्वापार्थं पृथग् रक्षित्वा तेभ्योऽतिरिक्तं (एकं पुरोडाशं पृथग् रक्षन्ति) एकं रक्षित्वा दक्षिणाग्नेर् एकमुल्मुकमादाय चतुष्पथे गत्वा तत्रोल्मुकं मध्ये स्थापयित्वा तत्र पलाशपत्राणां मध्यमेन पत्रेण जुहूस्थानीयेन पुत्रभृत्यादि-स्वजनानां नामग्राहम् एकैकं पुरोडाशम् 'एष ते०' इति मन्त्रेण यजमानो जुहोतीत्येष त्रैयम्बकहोमः। 'अम्बिका ह वै नामाऽस्य स्वसा। तयाऽस्यैष स्त्रिया सह भागस् तस्मात् त्र्यम्बका नामेति श्रुतेः। (शत. २, ६, २, ९)। महाकालाख्यो रुद्रो देवः स्वविरोधिनो दुराचारांश्च स्वस्राऽम्बिकया शरद्रूपया हन्ति, शरदि हि घातकरोगोत्पत्तेः। अनेन त्रैयम्बकेन हविषा तदीया शान्तिर्भवति। अतएव तैत्तिरीयाः 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकयेत्याह। शरद् वा अस्याम्बिका, तया वा एष हिनस्ति। यं हिनस्ति तयैवैनं सह शमयति।' (तै. ब्रा. १, ६, १०, ४)। स्त्री अम्बका इत्यत्र यणादेशे स्त्र्यम्बका पृषोदरादित्वाद् आद्यस्य सकारवर्णस्य लोपे त्र्यम्बका तत्प्रतिपादकत्वात् त्र्यम्बका होमा इति ख्यातिः, अतएव शतपथब्राह्मणभाष्ये सायणाचार्यः— 'स्त्रीरूपाऽम्बिकासंबन्धाद् रुद्रस्यैते पुरोडाशा त्र्यम्बका इत्याख्यायन्ते इत्याह। (रुद्र) हे भगवन् रुद्रदेव ! रोदयति शत्रून् इति रुद्रः। अत्र यास्कः (निरु. १०, ५) 'रुद्रो रौतीति सतः। रोरूयमाणो द्रवतीति वा, रोदयतेर्वा। यद् अरुदत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् 'इति काठकम्। 'यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्' इति हारिद्रविकम्। (एषः) अयं हूयमानः पुरोडाशः (ते) तव स्वभूतः (भागः) भजनीयः अङ्गीकर्तव्यः। भज सेवायाम् (९९८) भौवादिकः उभयपदी। कर्मणि घञ् प्रत्ययः। 'कर्षात्वतो घञोऽन्तोदात्तः' (पा. ६, १, १५९) इत्यन्तोदात्तत्वम्। (स्वस्रा) भगिन्या, भगवत्या। 'या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाऽम्बिका नाम सा ह वै भगस्येष्टे इति श्रुतेः (शत. २, ६, २, १३)। अत्र भट्टभास्करः (तै. सं. १, ८, ६, १)—'लक्षितलक्षणया स्वसा भगिनी लक्ष्यते। भगिन्या भगवत्या। यद्वा स्वसृत्वेन सहजत्वं लक्ष्यते, तेन चाऽविनाभावः। यद्वा स्वं आत्मानं सरति भजते इति स्वसा देहार्धभूता। पृषोदरादिः। सुष्ठु वाऽऽत्मना अस्यते प्राप्यत इति स्वसा। 'असु गत्यादि'षु तस्माद् ऋन् प्रत्ययः। (अम्बिकया) अम्बिकाख्यया देव्या (सह) साकं (तं) हवीरूपं पुरोडाशं भागं (जुषस्व) सेवस्व। जुषी प्रीतिसेवनयोः (१२८९) तौदादिकः आत्मनेपदी। लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपम्। (स्वाहा) इदं हविः सुहुमस्तु।

आखुनिमित्तं पुरोडाशार्पणेन प्रीतः सह स्वस्राम्बिकया रुद्रो यजमानस्य पुत्रभृत्यादीन् पशूंश्च न हिनस्तीति विश्वासेनाऽतिरिक्तं रौद्रं पुरोडाशं मूषिकैरुत्कीर्णे पांशुराशावुप-

किरति- (रुद्र) हे भगवान् रुद्र ! (एषः) अयं आखूत्करे निरूप्यमाणः (ते) त्वत्प्रीत्यर्थं (भागः) पुरोडाशः । (ते) त्वदीयः (आखुः) मूषिकः (पशुः) पशुत्वेन समर्पितः । आखुरूप-पुरोडाशहविषो निर्वापेण त्वं प्रीयस्व मम पुत्रभृत्यादीन् बान्धवांश्च रक्षेति भाव इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु— प्राणान् प्रार्थयते- (रुद्र) हे प्राणरूपाग्ने ! 'दशेमे पुरुषे प्राणाः; आत्मैवैकादशः; ते यदाऽस्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तस्माद् रुद्राः'[1] (शत. १४, ६, ६, ५) । (अम्बिकया) अम्बिका परात्मशक्तिः तया (स्वस्रा) भगिनीस्वरूपया (सह), (ते) त्वया (एषः) इन्द्रियशक्तिसमूहरूपः (भागः) भजनीयः, अङ्गीकार्यः । (तम्) (स्वाहा) मन्त्रशक्तिप्रभावेण (जुषस्व) सेवस्व । (रुद्र) हे प्राणाग्ने ! (एषः) आत्मप्रतिबिम्बरूपः (ते) त्वया (भागः) भजनीयः (आखुः) चोरः कामः (ते) तव (पशुः) इति ।

सात्वतास्तु—गिरिमहनाम्नि महोत्सवे यदवः सपरिवाराः रैवतकं गताः । तत्र रैवतकं परिक्रम्य द्वारिकां प्रति निवर्तमानां सुभद्रां श्रीकृष्ण-भगिनीं कृष्णानुमतोऽपजहारार्जुनः । रथेउपवेश्य ताम् इन्द्रप्रस्थं प्रतस्थे । तदुदन्तमाकर्ण्य सयदुः बलरामः रोषारुणनयनो बभूव, पश्चात् कृष्णेन अन्यैश्च सुहृद्भिः विबोधितः शान्तचेताः सकृष्णः भोजवृष्णिस्वजाति-परिवृतः वरवध्वोरुपहारं ज्ञातिदेयं महाधनं यौतुकं, कृष्णपरामर्शेन स्वयमेव इन्द्रप्रस्थमागत्य युधिष्ठिरेण सत्कृतः स्नेहनिर्भरमानसः पार्थं धनञ्जयं स्वभगिनीपतिमर्पयन् व्याहरति एषते इति । (एषः) पुरस्तादुपस्थाप्यमानः (ते) तव (भागः) भजनीयो वरवधूपहारलक्षणः । (रुद्र) ! शौर्यातिरेकेण शत्रुरोदक रुद्रावतार वा । महाभारतसारे बहुभिः वृषभैरनुगम्यमानां गां दर्शं दर्शं गिरिजा जहास, त्वमपि पंचभर्तृका भविष्यतीति सा गवा शप्ता । ततः खिन्नां तां प्रसादयितुं महादेव उवाच, अलं विषादेन, अहमेव द्वापरान्ते पाण्डुतनयपचकवपुषा अवतीर्य यज्ञकुण्डसमुद्भूतां त्वां द्रौपदीनामधेयां परिणेष्ये ततः न ते सतीत्वं विनङ्क्ष्यति मोक्ष्यसे च शापात् इति कथा अनुसन्धेया । तं मयोपहृतं महाधनं स्वस्रा मम पितृ-भगिन्या (सह जुषस्व) सेवस्व 'एषते' इति पुनरुक्तिः आदरातिरेकसूचनाय । (पशुः) पश्यति इति व्युत्पत्त्या अनागतदूरदर्शी मानुषः बुद्धिधरिति यावत् । (ते) तव (आखुः) मूषक इव धराया-माखनेन यथार्थ-तत्त्वे अन्तः प्रविशति । सत्तर्कादिना मीमांसैवात्राखननम् ।

पुरोडाशनिर्वापः

[2]"अव रुद्रमदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।
यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् । य० ३।५८॥"

१—(क) यत् समरुजत् तद् रुद्रस्द रुद्रत्वम् (काठ.२५, १) । (ख) तै. सं. १, ५, १, १ ।
२—तै. सं. १, ८, ६, २ । तै. ब्रा. १, ६, १०, ४ । 'अवाम्ब रुद्रमदीमहि इति पाठः ।

अस्यां अष्टपञ्चाशयां कण्डिकायाम् 'अव रुद्रम्' इत्येक एव मन्त्रः। अस्य बन्धुर्ऋषिः, विराट्पङ्क्तिश्छन्दः, रुद्रो देवता (शत० २, ६, २. ११; का. श्री. ५, १०, १२)।

ततः पुनरावृत्य जपन्ति—(रुद्रम्) कदाचाराणां जीवानां संहारकं देवम् (अव अदीमहि) पुरोडाशहविषां निर्वपेणाऽयं रुद्रः प्रसीदतीत्यवेत्य निश्चित्य तम् अदीमहि पुरोडाशं भोजयामः। अद भक्षणे (१०११) आदादिक. परस्मैपदी। अथवा दो अवखण्डने (११४८) दैवादिकः परस्मैपदी, तस्येदं लुङि रूपम्। रुद्रं पुरोडाशहविषाम् अवदानहोमैस्तोषयामः। अतएव भट्टभास्करः 'अवदानसाध्या देवतातृप्तिरवदानेन लक्ष्यते'—इति (तै. सं. १, ८, ६, २)। 'अदीमहि' इत्यत्र छान्दसे लुङि व्यत्ययेनात्मनेपदम्। (त्र्यम्बकम्) स्त्रिया स्वस्राऽम्बिकया सह वर्तत इति त्र्यम्बकस्तादृशं (देवम्) दीव्यमानम् (अव) अव-अदीमहि निश्चयेन पुरोडाशावदानसमर्पणेन संतोषयाम इति। किमर्थं वयं रुद्रं त्र्यम्बकं देवं अव-अदीमहि, (यथा) येन कारणेन (नः) अस्मान् सः देवः (वस्यसः) वसीयसः। वसतिरिह दीप्त्यर्थः। अतिशयेन वसन्ति दीप्यन्ते पुत्रधनादिसमृद्धिद्वारा जीवने प्रकाशन्त इति वसीयांसः। अतिशयेन वस्तेति विग्रहे 'तुश्छन्दसि' (पा. ५, ३, ५९) इति तृन्प्रत्ययान्ताद् वस्तृशब्दाद् ईयसुनि प्रत्यये 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (पा. ६, ४, १५४) इति तृनो लोपे वसीयस् इति, छान्दसे ईकारलोपे वस्यस् इति, तस्य द्वितीयाबहुवचने रूपम्। अथवा वस निवासे (१००५) भौवादिकः परस्मैपदी इत्यस्यैव धातोरिदं रूपम् अतिशयेन स्थितिशीलान् 'करत्' करोतु, डुकृञ् करणे (१४७२) तानादिकः उभयपदी। 'लिङर्थे लेट्' (पा. ३ ४, ७) इति लेटि शपि अडागमः। शपः पित्त्वान्निघाते यद्वृत्तयोगीयः तिङ्निघाताभावानुबन्धनो धातुस्वरः। न केवलं प्रकाशमयजीवनान् स्थितिशीलान् वास्मान् रुद्रः करोतु (यथा) येन (न) अस्मान् (श्रेयसः) प्रशंसातिशयेन यशस्विनः। अतिशयेन प्रशस्य इत्यर्थे ईयसुनि प्रत्यये 'प्रशस्यस्य श्रः' (पा. ५, ३, ६०) इति श्रादेशः 'प्रकृत्यैकाच्' (पा. ६, ४, १६३) इत्यनेन प्रकृतिभावे च निष्पन्नः श्रेयस्शब्दः (करत्) करोतु। जीवनसौख्येऽप्ययशसा ग्लानिर्माभूदिति श्रेयस्त्वमपि प्रार्थयन्ते। जीवनसमृद्धावपि यशस्विनोऽपि पुरुषा अव्यवस्थितचेतसो न साकल्येन साफल्यं प्राप्नुवन्तीति निश्चयदार्ढ्याय प्रार्थयन्ते—(यथा) येन (नः) अस्मान् (व्यवसाययात्) निश्चयदार्ढ्याय प्रेरयेत्। तदनुग्रहेणास्माकं व्यवसायात्मिका मतिः समुदेत्विति। व्यवौ द्वावुपसर्गौ तत्पूर्वकाद् ण्यन्तात् स्यतेः 'षोऽन्तकर्मणि' (११४७) इति दैवादिकात् परस्मैपदिनः धातोः लिङर्थे लेटि 'लेटोऽडाटौ' (पा. ३, ४, ९४) इत्यडागमे 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (पा. ३, ४, ९७) इति तिङः इकारस्य लोपे रूपम्। यद्वृत्तीययोगात् धातुस्वरेण मध्योदात्तत्वमिति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—(त्र्यम्बकम्) पूरकरेचककुम्भकाख्यानि त्रीणि अम्बकानि नेत्राणि यस्य तादृशं (देवम्) द्युतिमन्तम् (रुद्रं) प्राणम् (अव) अवगत्य (अदीमहि) हार्दान्तरिक्षे

धारयामः । (यथा) प्रारब्धक्षये (नः) अस्मान् (वस्यसः) ब्रह्मनिवासशीलान् (करत्) करोतु । (यथा) (नः) अस्मान् (श्रेयसः) जीवन्मुक्तान् (करत्) कुर्यात् । (यथा) (नः) अस्मान् (व्यवसाययात्) अध्यात्मज्ञाने निश्चययुक्तान् करोत्विति ।

सात्वतास्तु— स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।
दिव्यान्यस्त्राणि संस्मृत्य सज्यं गाण्डीवमाददे ।।
(भा० १०, ८९ ३७)

इति श्लोकात् परमशिवभागवतोऽर्जुन इत्यवगम्यते, यो यस्य देवस्योपासकः स तं देवं संस्मृत्य समस्तं कार्यं कुरुते । तस्मात् शिवं स्वनिष्ठां विज्ञापयन् प्रणतार्तिहरमाशुतोपं स्वाभीष्टं याचते पार्थः-अव रुद्रमिति ।

मम आराध्यदेव ! अहम् अयं भगवान् रुद्र इति (अव) अवगत्य त्वत्स्मरणपुरस्सरम्, (अदीमहि) बहुत्वमार्षम्, अद्यां भुञ्जीय, स्वभ्रातृतात्पर्यकं वा, वयं सर्वे भ्रातरः (अदीमहि) भोजयामः । 'छन्दस्युभयथा' (पा. ३, ४, ११७) इत्यार्धधातुकत्वात् लिङि णिचो लोपः अपि वा (अव) अवयुत्यान्यदेवताभ्यः पृथक्कृत्य (अदीमहि) (त्र्यम्बकं) त्रिनयनं भगवन्तं महादेवं त्वामेव (देवं)दानादिगुणयुक्तं(अव)अवधारयेम, त्वमेव भक्ताभिलषितप्रदाता नान्य इति भावः । देवो दानाद् वा दीपनाद्वा द्योतनाद् वा इति यास्कः (निरुक्त ७, १५) (यथा) येन प्रकारेण (वस्यसः) वस्तृतरान् अतिशयेन निवासकर्तॄन् स्वयं निवसतः अन्यांश्च निवासयतः (करत्) करोतु, यथा च (श्रेयसः) ज्ञातिषु प्रशस्यतरान् (करत्) कुर्यात्, यथा (नः) अस्मान् (व्यवसाययात्) सर्वेषु कार्येषु व्यवसायबुद्ध्या दृढनिश्चयेन युक्तान् कुर्यात् भवान्, तथा त्वां प्रार्थये । त्वत्प्रसादात् शोभननिवासाः क्षत्रियेषु लब्धप्रतिष्ठा निश्चितकर्तव्याः वयं भवेम इति भावः ।

जपः

"भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् ।
सुखं मेषाय मेष्यै" ।। यज० ३।५९ ।।

एकोनषष्ट्यां कण्डिकायां, 'भेषजमसि०' इति मन्त्र एक एव जपार्थः । अस्य बन्धुऋषिः, स्वराड्गायत्री छन्दः, रुद्रो देवता (शत. २, ६, २, ११) ।

हे रुद्र ! त्वं (भेषजम्) कदाचाराणां निवारणात् सदाचाराणां च नराणां दुःखानामुपशमाद् औषधं (असि) भवसि । (गवे) गवां गृहपशूनाम् (अश्वाय) युद्धोपयोगिनाम् अश्वानां च (भेषजं) औषधम्, कष्टनिवारको भवसि । (पुरुषाय) प्राणिमात्रस्य चासि

(भेषजम्) औषधमिव । (मेषाय) च (मेष्यै) च सुखम् क्षेमङ्करः । सु हितं खेभ्यः प्राणेभ्यः इति सुखम् । सर्वत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अनेनर्षीणां गोपालकत्वं संग्रामेऽश्वसाधनेन विजिगीषुत्वं, प्राणिमात्रस्य कल्याणचिन्तकत्वं, पशूनामपि सुखप्रदत्वं च व्यज्यत इति देवयजिनः।

आत्मयाजिनस्तु—हे प्राण ! त्वं (गवे) इन्द्रियसंघाय (भेषजम्) विश्वव्याधिनाशकम् औषधम् (असि) । (अश्वाय) जाठराग्नये अश्नाति सर्वमित्यश्वः तस्मै (भेषजम्) रोगनाशकं औषधमसि । (पुरुषाय) जीवात्मने च सर्वकष्टपरिहारकम् औषधमसि । (मेषाय) गगनमण्डलमार्गगमनेन सर्वेषाम् इन्द्रियाणां सेक्त्रे मनसे । मिषु सेचने (६९९) (मेष्यै) ज्ञानेन्द्रियाणां सेक्त्र्यै बुद्ध्यै (सुखं) आनन्दरूपमसीति ।

सात्वतास्तु– अक्रूरमुखेन कंसाहूतः कृष्णः यदा वृन्दारण्यात मधुपुरीं प्रतस्थे, तदा स्नेहातिरेकात् नन्दादयोऽपि मधुपुरीं सहायाताः। कंसो नो द्वेष्टि, क्रूरश्चासो देवः, किं भवितेति पर्याकुलमानसा मथुराधिपं भूतनाथं स्तुवन्ति 'भेषजमसि' इति ।

प्रपन्नपारिजात भगवन् भूतनाथ! त्वं (भेषजम्) आधीनां व्याधीनाञ्च (भेषजम्) तद्वन्निवृत्तिहेतुः (असि) भवसि । पशुपालैः सह पशुधनस्य सर्वविधस्य क्षेमं कामयमाना ऊचुः– (गवे) गोधनाय (अश्वाय) हयाय (पुरुषाय) पशुधनपालकाय व्रजवास्तव्यजनाय भेपजमिति द्विरुक्त्या पशुधनक्षेमं, पशुपालजनस्य च क्षेमं पृथक् याच्यते । अस्माकं पशुधनं पशुपालाश्च निरुपद्रवाः सानन्दमासताम् । शीतर्तौ कम्बलादीनामत्युपयुक्तत्वात् तत्साधनमेषदम्पतीक्षेममभिलष्यन्ति-सुखमिति । (मेषाय) पुंसे (मेष्यै) तत्पत्न्यै सुखं भूयात् । 'मेष' शब्देन दम्पतीग्रहणम् । तच्च सर्वेषां पशुदम्पतीनां पशुपालदम्पतीनाञ्चोपलक्षणम्। अत्र मिथः स्निह्यन्तः पशुपशुपालदम्पतयः सर्वाऽपेक्षितप्रदानेन व्रज-जनपदमुपकुर्युरिति भावः । मेषदम्पतिपृथग्ग्रहणम् शीतार्तप्राणिनां कम्बलादिद्वारा तदीयो महानुपकार इति सूचनाय । उत्कृष्टो वा जात्या निकृष्टो वा सर्वोऽपि राष्ट्रस्योपकर्ता समादरणीय इति भावः । त्वत्प्रसादात् अस्माकं कृष्णस्य विजयो भवेत् । अन्यथा कंसोऽस्मान् कृष्णसम्बन्धिनः, पशुधनं च लुण्ठयित्वा कारायां नः सर्वान् निक्षिपेदिति भीतास्त्वां वयम् अर्थयामहे श्रद्धातिरेकात् इति भावः।

[1]"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ।।" य. ३।६०।।

१—ऋग्वेद ७, ५९, १२ ।

१. यजमानादिपरिक्रमणम्

२. कन्यापरिक्रमणम्

अस्यां षष्ठ्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ । प्रथमस् 'त्र्यम्बकं यजामहे०' इति मन्त्रो यजमानादीनां परिक्रमणार्थः । अपरः कन्यापरिक्रमणार्थः । द्वयोः वसिष्ठ ऋषिः, विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् छन्दः, (अनुष्टुप् छन्द इत्युव्वटमहीधरौ) रुद्रो देवता (शत. २, ६, २, १३-१४; का. श्रौ. ५, १०, १३) ।

दक्षिणोरूंस्ताडयन्तो देवकार्यवत्, वामोरूंस्ताडयन्तः पितृकार्यवच्च यजमानसंबन्धिनः पुत्रादयः पुरुषा दक्षिणेन पाणिना सव्यान् उरूंस्ताडयन्तोऽग्निम् अप्रदक्षिणं परियन्तो जपन्ति॰ (त्र्यम्बकं) तदाख्यं भगवन्तं रुद्रं देवं (यजामहे) आराधयामः । यज देवपूजाद्यर्थेषु (१००२) भौवादिकः उभयपदी । कीदृशं त्र्यम्बकम् । (सुगन्धिम्) दिव्यगन्धयुक्तम् । 'गन्धस्येद् उत्पूतिसुसुरभिभ्यः' (पा. ५, ४, १३५)इत्यनेन बहुव्रीहिसमासे समासान्त इकारः । (पुष्टिवर्धनम्) भक्तानां धनधान्यादिसमृद्धेर्वर्धयितारम् । पुष्टिं वर्धयतीति कर्तरि ल्युः प्रत्ययः । 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (पा. ६, २,१३९) इति सूत्रेणोत्तरपदप्रकृतिस्वरविधया लित्स्वरः । (उर्वारुकमिव) कर्कन्ध्वादेः सुपक्वं फलमिव । (बन्धनात्) यथा तत्फलं सुपक्वं सत् अनायासेन स्वयमेव व्रततिवृन्ताद् विमुच्यते, एवं अहमपि रुद्राराधनात् (मृत्योः) अपमृत्युभयात् एव न केवलात् अपितु मृत्युभयादपि (मुक्षीय) मुक्तो भूयासम् । मुच्लृ मोक्षणे (१४३०) तौदादिकः उभयपदी । (मा) नैव । निषेधार्थे माङ् इति चाव्ययम् । (अमृतात्) अमरणधर्मणो ब्रह्मसायुज्याद् न मुक्षीय । मङ्गलमयात् शिवपूजनात् मृत्युपरपर्यायात् संसारभयाद् विमुक्तो भूयासम् न ब्रह्मसांनिध्यादिति भावः ।

यजमानस्याऽपरिणीताः कुमार्यः पतिकाम्यया सौभाग्यकाम्यया वाऽग्निं परिक्रामन्त्यः एवं जपन्ति— (त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्) गतार्थम् । (पतिवेदनम्) भर्तुर्लम्भयितारम् पतिं विन्दन्ति लभन्तेऽनेनेति करणे ल्युट् प्रत्ययः । विद्लृ लाभे (१४३२) तौदादिक उभयपदी । यजमानकन्याऽऽशास्ते व्रततिबन्धनाद् उर्वारुकमिवाऽहं (इतः) पितृकुलात् (मा) नैव कदाचित् (अमुतः) अमुष्मात् तस्माद् भविष्यतो भर्तृकुलात् श्वशुरकुलाद् वा मुक्ता भूयासम् । अत एवात्र श्रुतिः—'तदु हाऽपि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति । या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाऽम्बिका नाम, सा ह वै भगस्येष्टे तस्मादु हापि कुमार्यः परीयुर्भगस्य भजामहा इति । तासाम् उतासां मन्त्रोऽस्ति—'त्र्यम्बकम्०' इति । सा यद् इत इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह । मामुत इति पतिभ्यस्तदाह, पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह मामुत इति ।' शत० २, ६, २, १३) इति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—'आत्मा वै यज्ञस्य यजमानः' (शत. ९, ५, २, १६) इति श्रुतेर्

आत्मा यजमानरूपः प्रार्थयते–(पुष्टिवर्धनम्) देहमोक्षसम्बन्धिन्याः पुष्टेर्वर्धयितारं(त्र्यम्बकम्) पूरककुम्भकरेचकाख्यविविधक्रियावन्तं प्राणं (यजामहे) पूजयामहे गगनमार्गेण प्राणातिसारणाद् अहमात्मा (मृत्योः) सांसारिकाद् विषयसेवनात् (मुक्षीय) मुक्तो भूयासम्। (सुगन्धिम्) शोभनगन्धोपेतं पक्वम् (उर्वारुकमिव) कर्कन्ध्वादेः फलमिव (बन्धनात्) स्ववृन्तात् (अमृतात्) विषयनिवृत्तिपूर्वकब्रह्मसाक्षात्कारात् (मा) न मुक्षीयेति शेषः। अनन्तरं यजमानपत्नी बुद्धिः प्रार्थयते–(पतिवेदनम्) आत्मस्वरूपस्य भर्तुरापकं (त्र्यम्बकम्) उक्तगुणविशिष्टं प्राणं (यजामहे) पूजयामः। हे प्राण! (इतः) संसारात् (मुक्षीय) तत्साहाय्येन मुक्ता भूयासम् (मा) नैव (अमुतः) स्वभर्तुर् आत्मनः सकाशादिति।

सात्वतास्तु–द्रोणपर्वणि कृतायाः जयद्रथवधप्रतिज्ञायाः भङ्गमुत्प्रेक्षमाणः द्वारिकायां ब्राह्मणस्य मृतेषु नवसु पुत्रेषु प्रसोष्यमाणस्य दशमस्य कृतरक्षणप्रतिज्ञः रक्षितुमक्षमः पूर्वेषामिव तस्यापि म्रियमाणत्वात्, पार्थो वह्निं प्रविश्य मुमूर्षुः सङ्कटहारिणं त्रिपुरारिं श्रद्धापुरस्सरं स्मरति त्र्यम्बकमिति।

(सुगन्धि) भक्ताभिलषितप्रदातृत्वात् पुण्यकीर्ति 'गन्धोऽत्र कीर्तिवचनः' दातुर्दानगन्धः सर्वत्र प्रसरतीत्यादौ तथा दर्शनात्। अथवा 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोरिति विश्वकोशात् शोभनसम्बन्धम्। यथा लोके सम्बन्धिनः उपकुर्वन्ति स्वबन्धुम्, तथाऽयं ततोऽपि स्वोपासकं नितान्तमुपकरोतीति भावः (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टेर्विविधभोगसम्पत्तेर्वर्धनम् वृद्धिकरम्। (त्र्यम्बकं)त्रिनयनम् त्रयाणां लोकानां जनकं वा। (यजामहे) पूजयामः पुष्पादिभिः, ध्यायामश्च मनसा। (मृत्युः) प्रतिज्ञाभङ्गः अकीर्तिकरत्वात्। गीयते च गीतायां (२, ४४) 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इति। यशोधनस्य अपयशस्तु मृत्योरधिकमिति हि मन्यन्ते यशोधनाः। तदतिरिक्तं प्रतिश्रुतिरक्षणं निरतिशयहर्षरूपत्वात् अमृतं मोक्षोपमम्। तदेतदभिसन्धाय ब्रूते उर्वारुकमिति। बन्धनात् शाखायां स्वस्थानात् (उर्वारुकं) फलविशेषमिव (मृत्योः) प्रतिश्रुतिभङ्गात् (मुक्षीय) मुक्तः स्याम्, अपिच प्रतिश्रुतनिर्वाहको भवेयमिति भावः। पार्थस्तुतितुष्टस्य भगवतो रुद्रस्य प्रसादात् जयद्रथवधसम्पत्त्या, सकृष्णेन पार्थेन महाकालपुरं गत्वा नरनारायणयोः पार्थकृष्णयोर्दिदृक्षया स्वपुरे महाविष्णुना नीतानां विप्रपुत्राणां मृतपूर्वाणां महाविष्णुनिर्देशेन द्वारिकायां प्रत्यानयनेन च प्रतिश्रुतिरर्जुनस्य पूर्तिपथं लेभे। वृतान्तद्वयञ्च इदं क्रमेण द्रोणपर्वणि, भागवते च (१०. ८९) अध्याये सुनिरूपितम्। दिदृक्षुभिः कणेहत्य तत्रैव निरीक्षणीयम्।

सुभद्रा कृष्णभगिनी रैवतकं परिक्रम्य रैवतकोपत्यकायां वर्तमानं शिवमन्दिरमुपगता। स्वाभीष्टपतिप्राप्त्यर्थं भगवन्तं रुद्रं प्रशंसति। द्वितीयकण्डिकांशेन पतिवेदनपदघटितेन। (पतिवेदनं) अभीप्सितपतिप्रापकम्, (इतः) पितृगृहात्, (अमुतः) भर्तृगृहात् शिष्टं समानम्।

१. स्थाणौ वंशयष्टि-आसंजनम् २. उदकोपस्पर्शनम्।

"एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि ।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा अहिंसन्नः शिवोऽतीहि" ।।६१।।

अस्यां एकषष्ट्यामपि कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ । प्रथमः 'एतत् ते रुद्र०' इति स्थाण्वादौ वंशयष्ट्यासंजनार्थः । अपरः 'कृत्तिवासाः' इत्युदकोपस्पर्शनः । द्वयोर् वसिष्ठ ऋषिः भुरिग् आस्तारपङ्क्तिश्छन्दः, रुद्रो देवता (शत. २, ६, २, १५-१७; का. श्रौ. ५, १०, १८-१९)।

हुतावशिष्टान् रौद्रान् पुरोडाशान् अञ्जलिनाऽन्तरिक्षे तथा यजमान उत्क्षिपति यथा गौर्न प्राप्नुयात् । अन्तरिक्षाद् अधः पतत एनान् यजमानः स्वयमेव गृह्णीयात् । शिक्याकाररज्ज्वा निर्मितयोश्च मूतयोः(यत्र तृणमय आवपने धान्यं बध्यते तन्मूतम् तत्र)पुरोडाशान् धृत्वा कस्यांचिद् वेणुयष्ट्यां (यज्ञियवृक्षजे तुलादण्डे) कुपे (वेणुनिर्मितपात्रद्वयान्विते बीवधापरपर्याये दण्डविशेषे) तौ मूतौ उभयतः प्रान्तयोर्बद्ध्वा स्थाणुवृक्षवंशवल्मीकानामन्यतस्मिन् अगोःप्रापणे देशे उत्क्षेपणवद् आसजति मन्त्रं चेमं जपति—(का. श्रौ. ५, १०, १३, १६, १८, १९) (रुद्र) हे तदाख्य देव ! (एतत्) इदं पुरस्कृतं (ते) तव (अवसम्) पाथेयं भोजनम् । प्रवसतो मध्येमार्गं भोक्तव्यम् अवसमाचक्षते । (तेन) पाथेयेन सहितस्त्वं (मूजवतः) मूजवान् नाम पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानं ततोऽपि (परः) विप्रकृष्टे देशे (अतीहि) अतिक्रम्य याहि । कीदृशस्त्वम् । (अवततधन्वा) अवरोपितधन्वा अवततम् अवरोपितप्रत्यञ्चं धनुर्यस्येति बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः । कदाचाराणां विरोधिनां सर्वथा विनाशाद् अधिज्यं धनुरधुनाऽनावश्यकमिति भावः । (पिनाकावसः) पिनाको रुद्राङ्कुशो रुद्रधनुर्वा तेनैवाऽवसं रक्षणं कुशलं वा यस्य तथाभूतः, स्वधनुष्कृतकुशलस्त्वं, समासादिः प्राग्वत्, अतीहीत्यन्वयः । उत्तरपदे वस्त्रापरपर्यायोऽवमशब्दो महीधराभिप्रेतो न मनोज्ञः । उन्नते वृक्षदौ मूतद्वये आसक्तान् पुरोडाशान् कृत्वा ततः प्रत्यावृत्तो वेदिसमीपे समागत्योदकं स्पृशति (कृत्तिवासाः) कृतिः कर्तनादिना निष्पादित वैयाघ्रं चर्म वासोऽम्बरम् उत्तरावरणं यस्य तादृशस्त्वं (नः) अस्मान् (अहिंसन्) अमारयन् अस्मादृशां त्वद्भक्तानामाराधनेन प्रीतः अतएव (शिवः) शान्तः कल्याणस्वरूपः (अतीहि) मूजवन्तं पर्वतमतिक्रम्य गच्छेति देवयाजिनः ।

आत्मयाजिनस्तु—(रुद्र) हे प्राण ! (एतत्) ब्रह्माण्डम् (ते) त्वदीयम् (अवसम्) अन्नम् । 'अन्नं वै विराट्' (शत. १२, २, ४, ५) इति श्रुतेः । (तेन) तत्साधनेन (परः) श्रेष्ठस्त्वं (मूजवतः) नाडीवेष्टितहृदयस्थलस्योन्नतं स्थानम् (अतीहि) अतिक्रम्य भृकुटिं गच्छ । ततः (अवततधन्वा) अवरोपितप्रणवधन्वा (पिनाकावसः) पिनाकः प्रणवोऽवसः अन्नं यस्य तथाभूतः स्वात्मनि प्रणवलयस्य कारकः(कृत्तिवासाः) भृकुटिरूपा कृत्तिर्गृहमेव वासो वस्त्रं यस्य सः (शिवः) कल्याणरूपस्त्वं (नः) अस्मान् योगिनः (अहिंसन्) अविनाशयन् अविचालयन्नित्यर्थः (अतीहि) गगनमण्डलमतिक्रम्य याहीति ।

उषानाम्नी बाणपुत्री श्रीकृष्णपौत्रेऽनुरक्ता बभूव। तत्सखी चित्रलेखा द्वारिकातः सपर्यङ्कं सुप्तमनिरुद्धं निद्राणं गृहीत्वा गगनमार्गेण शोणितपुरे बाणसुताभवनं निनाय। तदनुरागवशंवदो अनिरुद्धः कियन्तं कालं यावत् प्रियासङ्गमसुखमनुभवन् तत्र तस्थौ। तयोरार्कणितोदन्तो बाणः सुताभवनमागत्य तदुपकण्ठे समासीनं तमवलोक्य संग्रामे पराजित्य बबन्ध। अनिरुद्धनिग्रहं श्रुत्वा ससैन्यः सरामः भगवान् श्रीकृष्णः शार्ङ्गधन्वा शोणितपुरमरीत्सीत्। भक्तवत्सलः बाणाय दत्तनगरीरक्षणवरः वृषभध्वजः रामकृष्णाभ्यां योद्धुमुपचक्रमे। शङ्करप्रयुक्तविविधास्त्राणि प्रत्यस्त्रैर्निवार्य जृम्भणास्त्रेण मोहयित्वा जृम्भमाणं रुद्रं गच्छ रुद्र ! स्वस्थानं मूजवन्नामपर्वतम्। ततोऽपि वा परस्तात् व्रज। शिव ! इच्छसि चेच्छिवम्, परित्यज भक्तपक्षपातम्। मोदयुंक्थाः यदून् मत्प्रपन्नान् परिभवितुमिति इमां कथां (भाग १०, ६३, ६-१३) श्लोकेषु वर्णितां कृष्णशङ्करसंग्रामात्मिकां आलक्ष्यायं मन्त्रः- एतत्ते रुद्राऽवसम इति।

साक्षेपं कृष्णः कथयति यस्मात् (रुद्र) (ते) तव (एतत्) युद्धभूमितः पलायनं सङ्ग्रामभूमिपरित्यजनं वा (अवसं) रक्षासाधनम्, 'अव रक्षणे' (६००) बाहुलकात् करणे असच्। (तेन)तस्मात् हेतोः मूजवतः पर्वतात् (परः)परस्तात्(अतीहि)अतिगच्छ। आत्मरक्षणमिच्छतस्तव शोणितपुरतो मूजवति पर्वते ततोऽपि परवर्तिन्यतिदवीयसि प्रदेशे गमनं श्रेयस्करमिति भावः। अतः (अवततधन्वा) अवतरितज्यधन्वा, (पिनाकावसः) पिनाकनाम्नः स्वधनुषः समाच्छादकः तस्य धनुषोऽन्तर्धानं गोपनं कुर्वाणः (कृत्तिवासाः) चर्मवस्त्रः, यथा तपस्विनः मृगाजिनं परिदधति तद्वत् व्याघ्राजिनं परिदधानः, एतेन त्यक्तयुद्धाग्रहः तापसव्रतं गृहाण इति भावः। (नः) अस्मान् (अहिंसन्) अप्रहरन् पराजेतुं युद्धविचारं परित्यज इति भावः। अतः (शिवः) शान्तस्सन् (अतीहि) अतिगच्छ, दूरे प्रयाहि, भवतस्नेहवशात् दूरे गन्तुं असमर्थश्चेत् तर्हि तूष्णीं कोणे तिष्ठ इति निष्कर्षः।

पिनाकम् इति दण्डनाम (निरुक्त० ३, २१) पिनाकं प्रतिपिनष्टयनेन इति यास्कः। पिनाकोऽजगवं धनुः' (अमर० १, १, ३५ स्वर्गवर्गः) तत्र पाति 'पिनाकादयश्च' (उ० ४, १५) इति पातेराक इत्वं नुम् च। 'पिनाकः शिवकोदण्डे पांसुवृष्टित्रिशूलयोः' इति भानुजिदीक्षितः। 'पिनाकोऽस्त्री शूलधन्वनोः (अमर० ३, ४) तद्व्याख्यायां 'पनायते' पन स्तुतौ (४४०) (भ्वा. आ.) पिनाकादयश्च (उ. ४, १५) इति साधु, इति भानुजिदीक्षितः। कृत्तिः कृन्ततेर्यशोवाऽन्नं वेति निरुक्तम् (५, ६८) गृहनामधेयं वा (निघ० ३, ४, १३) कृत्तिः 'कृती छेदने'(१४३५ तु. उ. प.)इत्यतः क्तिन्, कृत्यते छिद्यतेऽनेन क्लेशः। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' (अमर० २, ७, ४६) इत्यैतिहासिकत्वताः।

केवलसात्वतास्तु इत्थं व्याचक्षतेः-(रुद्र) दुष्टानां रोदक परमेश्वर ! (ते) तव जन्म-

मरणपरम्परालक्षणात् संसारात् (अवसं) रक्षणम् एतत् सुप्रथितम्। 'मुज मुजि धातू शब्दार्थौ' (२५०, २६६ भ्वा. प.) (मूजवतः 'मूजः शब्दः' दैर्घ्यं छान्दसम्, तद्वतः आर्तनाद कुर्वतः दीनान् (अतीहि) अतिशयेन प्राप्नुहि तत्त्राणाय इत्यर्थः। (पिनाकावसः) दण्डेन रक्षकः पापिनो दण्डयित्वा पापान्निवारकः (अवततधन्वा) विस्तृतधान्यादियुक्तः, विस्तृतगतिमान् वा, धन धान्ये, घविर्गत्यर्थः (कृत्तिवासाः) सर्वेषु गृहेषु निवासात् सर्वव्यापकः, (शिवः) जगदाधारः शेते तिष्ठति जगदस्मिन्निति व्युत्पत्तेः। नः अहिंसन् (अतीहि) अतिशयेन प्राप्नुहि। यतः परः पालयिता सर्वेषां, पॄ पालनपूरणयोरिति।

यजमानवपनम्

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥" य. ३।६२॥

अस्यां द्विषष्ट्यां कण्डिकायां, 'त्र्यायुषम्' इत्येको मन्त्रो यजमानवपनीयः। अस्य नारायणः ऋषिः, उष्णिक् छन्दः, रुद्रो देवता (का. श्रौ. ५, २, १६)।

अपरेण दक्षिणाग्निं प्राङ्मुखोपविष्टस्य यजमानस्य दक्षिणं गोदानम् (दक्षिणकर्णवर्तिनं शिरःप्रदेशम्) अध्वर्युरुन्दति। त्र्येण्या (त्रिषु स्थानेषु श्वेतया) शलल्या ('सेह' इत्याख्यस्य कण्टकेन) कङ्कनिकास्थानीयया विलग्नान् केशान् पृथक् पृथक् कृत्वा यजमानो जपति–(यत्) यावत्प्रमाणम् (जमदग्नेः) जमन् ज्वलन् तपोऽग्निर्यस्य स जमदग्निः तस्य महर्षेः, अग्निर्हि प्रज्वलन् सर्वमत्तीति भक्षणेन ज्वलनमुपचर्यते। बहुव्रीहिसमासे पूर्वपदप्रकृतिस्वरः। जमत् इत्यत्र च 'जमु अदने' (४७१) भौवादिकः परस्मैपदी। तस्माद् औणादिकः अतिः प्रत्ययः। अथवा 'इङ्धार्योः शत्रकृच्छ्रिणि' (पा. ३, २, १३०) इत्यनेनाऽन्वाख्यातः शता प्रत्ययो जमेरपि द्रष्टव्यः। (त्र्यायुषं) बाल्ययौवनवार्धक्यानां त्रयाणां आयुषां समाहारः त्र्यायुषम्। द्विगुसमासे 'अचतुरविचतुरसुचतुर०' (पा. ५, ४, ७७) इत्यादिना समासान्तः अच् प्रत्ययः। चित्वादन्तोदात्तश्च। (कश्यपस्य) कश्यपनाम्नः प्रजापतेः यावत्प्रमाणं (त्र्यायुषम्) (देवेषु) इन्द्रादिषु च यत् (त्र्यायुषम्), (तत्) तावत्प्रमाणम् (नः) अस्माकं यजमानसहितानां तत्पुत्रदारादिसंबन्धिनाम् (त्र्यायुषम्) बाल्यतारुण्यवार्धक्यानाम् आयुषां पूर्णत्वम् (अस्तु) भूयात् इति देवयाजिनः।

आत्मयाजिनस्तु — पूर्वमन्त्रप्रभावेण प्रारब्धक्षयेऽपि यजमानो देहत्यागभयात् त्र्यायुषं प्रार्थयत इति।

सात्वतास्तु–आयुर्वर्धनार्थोऽयं मन्त्रः यथा। मनुना'अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः' चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् मनु. २।१२१)। इत्यत्र वृद्धाभिवादनं वृद्धसे-

वनञ्च विद्याकीर्तिबलैः सहायुषो वृद्धेः कारणमिति वर्णितम्,तथा मन्त्रस्यास्य जपः क्षीणायुषं अल्पायुषं वा दीर्घजीविनं विदधाति ।

आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।।

इति सुभाषितन्तु आयुर्वर्धकोपायाननुष्ठातृपुरुषविषयम् । परित्यज्य च अपवाद-विषयमुत्सर्गः प्रवर्तते इति सामान्यतो विशेषो बलीयान् इति च शास्त्रविदां समयः पुराणेषु बहुशः पठ्यते । अल्पवयस्कोऽपि मार्कण्डेयः शिवोपासनात् चिरजीवितं लेभे । अन्ये च भूयांसश्चिरजीविनो वर्णिताः । यदाहुः—

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ।।

किं बहुना दीर्घजीवनप्रदा मृतसञ्जीवनी च विद्या वेदेषु आम्नाता । मृतं सुबन्धुं तत्सहोदरा बन्धु-श्रुतबन्धु - विप्रबन्धवः पुनरुज्जीवितवन्तः "यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोर्मन आभरम् । जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्टतातये" ऋ० १०, ६०) इति मन्त्रेण मृतस्य सुम्बन्धोः पुनर्जीवनकथा (ऋ० १०, ५७-६०) सूक्तेषु संक्षिप्योक्ता बृहद्देवतायां, सायणभाष्ये, नीतिमञ्जर्यां, मत्कृतौ वेदोपदेशचन्द्रिकायाञ्च सविस्तरं निरूपिता । मार्कण्डेयाय तपश्चर्यासंयमादित आत्ततोषेण आशुतोषेण दीर्घजीवित्ववरः (प्रादायि । तदेतत् (भाग० १२, १०, ३५-३७) श्लोकेषु प्रत्यपादि । अनुमेवार्थं मन्त्र आचष्टे ।

तात ! मार्कण्डेय (जमदग्नेः) तदाख्यमुनेः (कश्यपस्य) प्रजापतेः (देवेषु) देवानां इन्द्रादीनां, सप्तमो षष्ठ्यर्थे । प्रत्येकमन्वयतात्पर्येण त्र्यायुषपदस्य निरुक्तिः । आशास्ते शङ्करः (नः) अस्माकं परमभक्ते त्वयि यत् जमदग्न्यादीनां त्र्यायुषं त्रिगुणितमायुः, तत् त्र्यायुषं ते भूयात् चिरजीवी त्वं भूयाः इति भावः । अयमभिसन्धिः—यथा अद्यत्वे वाणिज्यसंस्थानेषु (शेयर) पदवाच्या अंशाः भागाः शतस्य शतस्य वर्तन्ते, कश्चिदेकं, कश्चिद्द्वौ, कश्चिद्बहून् भजते, एवं शतपरिमितमायुरेकं कश्चिदाप्नोति । कश्चिद्द्वे, कश्चिद्बहूनि इत्यतः 'जिजीविषेच्छतं समाः' (शु. य. माध्य. ४०, २) मन्त्रे एकस्यायुषः परिमाणं शतवर्षपरिमितं प्रोक्तम् । प्रायः मानवाः तदेकैकं सामान्यतः समासादयन्ति । 'नहि प्रयत्नः फलादि व्यतिरिच्य' इति न्यायेन तपश्चर्यादिसाधनन्यूनाधिक्यहेतोः कश्चिद् द्वे ,कश्चिद्बहूनि तान्यायूंषि समासादयति। सामान्येन विशेषो न बाध्यते प्रत्युत सामान्यमेव विशेषेणापोद्यते। तस्मात्'शतायुर्वै पुरुषः' इति सामान्यनियमं प्रबाध्य साधनविशेषानुष्ठानात् भूयांसः साधकाः दीर्घमायुर्लेभिरे, शक्नुवन्ति इदानीं लब्धुं तथा शिक्षयन्ति च श्रद्धाधनाः वेदपान्था इति ।

वैज्ञानिकास्तु एवं ब्रूवते—पुरा भारते बभूवुः त्रीणि आयुर्वर्धनप्रयोगभवनानि । जमदग्नेः कश्यपस्य इन्द्रादिदेवस्य च । प्रथमे भवने शतायुषे पुरुषाय, अपरे द्वे आयुषी शतवर्षपरिमिते

स्वाविष्कारप्रभावात् प्रदाय शतत्रयपरिमितजीवनं तं नरं विधातुं क्षमन्ते। तद्भवनानुगृहीता जनाः त्रीणि शतानि वर्षाणि जीवन्ति स्म।

द्वितीयभवने एकमायुः दशसहस्रपरिमितम्। प्राकृतजनानां शतं दिनानि दशाधिकास्त्रयो मासास्तेषामेकं दिनमासीत्। अतः तत्परिमाणानुरूपं तदीयं वर्षशतं प्राकृतजनानां वर्षदशसहस्रम्। तस्मात् ते स्वाश्रितं जनं त्रिंशद्वर्षसहस्रपरिमितायुष्कं कर्तुं शेकिरे।

तृतीये भवने मानवानां वर्षमेकं दिव्यमेकं दिनम्। अतो दिव्यवर्षशतं मानवानां षट्त्रिंशद्वर्षसहस्रात्मकं, तत् त्रिगुणितमष्टसहस्राधिकं लक्षपरिमितं जायते। तदेवं तद्भुवनं प्रपन्ना मानवाः तावद्दीर्घं जीवितं समासेदिरे। आशासानः शङ्करः समाचष्टे-वत्स मार्कण्डेय प्रथमभवनस्य वर्षशतत्रयं, द्वितीयभवनस्य त्रिंशद्वर्षसहस्राणि, तृतीयभवनस्य अष्टसहस्राधिकलक्षपरिमितं जीवनमाप्नुहि। चिरजीवी भूया इति निष्कर्षः।

अपि वा चतुर्थचरणस्य (नः) अस्माकं चतुर्वक्त्रचतुर्भुजपञ्चवक्त्राणाम् 'त्रि' इति लुप्तषष्ठी, त्रयाणाम् रजस्सत्वतमोगुणानां हरेः ब्रह्मणो शिवस्य च आयुरेव आयुषम् स्वार्थिकोऽण्।

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ (गीता ८।१७)

इति गीतावचनानुसारेण सहस्रचतुर्युगीपरिमितं ब्रह्मणोऽहस्तावती रात्रिः, तादृशाहोरात्रपरिमाणेन वर्षशतं द्विपरार्धपरिमितं यद् ब्राह्ममहः तत्ते भूयादित्यर्थः। इदमाकूतम्-बृहदारण्यकोपनिषदि 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्। तदात्मनमेवावेद्–अहं ब्रह्मास्मि इति, तस्मात् तत् सर्वमभवत्, तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' (१, ४, १०) इत्यत्र ऋषिमनुष्याभ्यां सह 'देवस्य पाठो दृष्टः, तस्माद् यद्देवेषु इत्यस्मिन् मन्त्रे' (यजु० ३, ६२) पाठात् देवसहचरिताः मनुष्या ऋषयश्च ग्राह्याः, तदेवं जमदग्निपदेन मनुष्यस्य, कश्यपपदेन ऋषेश्चोपलक्षणात् मानुषमार्षं दैवं चतुर्थञ्च ब्राह्मम् आयुरिति पर्यवस्यति। आर्षमायुः मानुषादायुषोऽधिकं दशसहस्रपरिमितम्, मनुष्याणां शतं दिनानि ऋषीणामेकं दिनमिति पुरस्तादुक्तम्। युक्तञ्चैतत् प्रहरणशतं यत् सुवर्णकारस्य, तदेकमयस्कारस्य इति न्यायेनाल्पशक्तेर्यच्छतं तत्तुल्यं बलवत एकमिति लोकप्रसिद्धेः। अतः आर्षं वर्षशतमायुः मनुष्याणां दशसहस्रम्, तच्च त्रिगुणितं त्रिंशत्सहस्रम्, निष्पद्यते। दिव्यं तु वर्षशतं मनुष्याणां षट्त्रिंशत्सहस्रं त्रिगुणितं सत् अष्टसहस्राधिकलक्षं सम्पद्यते। ब्रह्मायुषि द्विपरार्धपरिमिते सहस्रचतुर्युगीपरिमितेन दिवसेन तावत्या च रात्र्या परिणते ब्राह्मवर्षशते नास्ति काचिद् विप्रतिपत्तिः। तस्मात् शिववरात् मार्कण्डेयः चिरजीवितमाभूतसंप्लवमवस्थानं महाकल्पपर्यन्तमवस्थानम् अमृतत्वापरपर्यायं समासादितवान्। तद्वीदानीन्तनोऽपि शिवोपासकः शिवप्रसादकस्य मन्त्रस्य जपेन दीर्घजीवी भवितुमर्हति इति।

अर्वाचीनास्तु 'त्र्यायुषम्' इत्यस्य पदस्य चतुरावृत्या त्रिगुणादप्यधिकं चतुर्गुणं चतुः-शतपरिमितं जीवनम्, ईश्वराराधनतपश्चर्यादिपुरुषार्थसम्पाद्यमित्याहुः। (शु यजु. ३,६२)

अपत्यं प्राप्तुकामः कृष्णः शिवमाशुतोषं तोषयितुं तपस्यामासेति इत्युक्तं पुरस्तात् (३।५६) मन्त्रव्याख्यायाम्। सम्प्रति तपस्यता तेन षट् पदार्थान् शिवो याचितः इत्याह। अथवा युधि शौर्यानुरूपात् शिवं प्रति साक्षेपवचनात् न स कुप्येदित्यत्र आह-नमस्कुर्वन्—

१. क्षुरग्रहणम् २. वपनम्

"शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः।
निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥"
(य० ३।६३)

अस्यां त्रिषष्ट्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ। प्रथमः 'शिवो नामासि०' इति क्षुरग्रहणार्थः। अस्य नारायणः ऋषिः भुरिग्जगती छन्दः, क्षुरो देवता। अपरः 'निवर्तयामि०' इति वपनार्थः। अस्य ऋषिच्छन्दसी उक्ते, लिङ्गोक्ता देवता (यजमानो दैवतमिति महीधरः) का. श्रौ. ५, २, १७)।

अध्वर्युर्लोहक्षुरमादित्सुर्मन्त्रं जपति—हे क्षुर ! त्वं (शिवः) सुखकरः (नाम) प्रसिद्धार्थे नामेत्यव्ययम्। त्वं क्षुरत्वेन हिंस्रतया प्रसिद्धोऽपि मम यजमानार्थं शिवः (असि) भवसि इत्याशासे। (स्वधितिः) अतिकठोरो वज्रः (ते) तव (पिता) जनकः। अतिकठोरादेव वज्रोपमाद् लोहात् क्षुरनिर्वृतेः। हे क्षुर ! (ते) तुभ्यं (नमः) नमस्कारः (अस्तु) भवतु। (मा) माम् मदीयं यजमानमित्यर्थः। (मा हिंसीः) क्षतविक्षतं न कुरु।

क्षुरमादाय वपनार्थं जपति—हे क्षुर ! त्वां (निवर्तयामि) यजमानशिरसोऽनायासेन मुण्डनार्थं त्वां शिलापुत्रके घर्षयामि। अथवा निपूर्वो वृतिर्मुण्डनार्थः। यजमानस्य शिरो मुण्डयामि। त्वयेति शेषः। किमर्थं त्वां निवर्तयामि। स्वस्य यजमानस्य (आयुषे) दीर्घायुष्यलाभाय (अन्नाद्याय) अन्नादेर्भक्षणाय। उत्तरपदे अद्यमिति भावे क्यपा द्रष्टव्यम्। (प्रजननाय) सन्तानोत्पादनाय। (रायः) धनधान्यादेः (पोषाय) समृद्धये (सुप्रजास्त्वाय) सुखप्रदाः प्रजा अपत्यादयः सन्त्यस्यासौ सुप्रजाः समासान्तोऽसिच् प्रत्ययः। चित्वादन्तोदात्तत्वं च। भावे त्वप्रत्यये सुप्रजास्त्वम् तस्मै। आज्ञाकारिणः पुत्रादयो यजमानस्य सन्त्वित्येतदर्थम् (सुवीर्याय) शोभनं वीर्यं सामर्थ्यं यस्येति बहुव्रीहिसमासे 'वीरवीर्यौ च' (पा. ६, २, १२० इत्यनेनोत्तरपदस्याद्युदात्तत्वम्। यजमानस्य शोभनं सामर्थ्यमर्थापत्त्योपचर्यते। अथवा उव्वट-महीधरौ यथोचतुः तथैवास्तु निवर्तयामि मुण्डयामि यजमानमेवायुषेऽन्नाद्यायेत्यादि पूर्ववत् इति देवयाजिनः।

अस्मिन् त्र्यम्बकाख्ये दशमेऽनुवाके सप्त कण्डिकाः (सप्तपञ्चाशीमारभ्य त्रिषष्टीं यावत्)। तासु एकादश मन्त्राः। (षष्ठ्यां कण्डिकायां द्वौ मन्त्रौ ऋगात्मकौ)। तेषु यथाक्रमम् १. अवदानहोमः २. पुरोडाशनिर्वापः ३. पुरोडाशनिर्वापः ४. जपः ५. यजमानादि परिक्रमणम् ६ कन्यापरिक्रमणम् ७ स्थाणौ वंशयष्टि-आसंजनम् ८ उदकोपस्पर्शनं ९ यज-

मानवपनं १० क्षुरग्रहणम् ११. वपनम् इति कर्माणि वर्णितानि। दशस्वनुवाकेषु त्रिषष्टिकण्डिकासु समुदिता मन्त्रसंख्या ८१)।

आत्मयाजिनस्तु–हे मनः! त्वं (नाम) नाम्ना (शिवः) शान्तः सुखकरः (असि)। (स्वधितिः) ज्ञानवज्रं (ते) तव (पिता) जनकः (ते) तुभ्यम् (नमः) विराट्रूपम् अन्नम् (अस्तु) भवतु। (मा) माम् आत्मानं (मा) (हिंसीः) नैव विनाशय। विषयासक्त्यामासक्तो मनोऽभिमानो देवः प्राह—हे यजमान! त्वाम् (आयुषे) नित्यायुषे (अन्नाद्याय)' अन्नं वै विराट्। तस्यान्नस्य विराड्रूपस्य स्वात्मनि लयकारणत्वाय (प्रजननाय) अष्टसिद्धयुत्पत्तये (रायः) योगलक्ष्म्याः (पोषाय) समृद्धये (सुप्रजास्त्वाय) शोभनप्राणलाभाय (सुवीर्याय) श्रेष्ठस्य योगबलस्य प्राप्तये (निवर्तयामि) आ प्रारब्धक्षयात् देहत्यागान्निवारयामीति।

सात्वतास्तु— भक्तवत्सल रुद्र! त्वम् (शिवः) जगदाधारः कल्याणकारी (नामा) नमयिता शत्रूणाम् (असि) भवसि। अपि वा 'नाम' निपातः प्रख्यातिवचनः। प्रख्यातमेतत् इति भावः। किञ्च (पिता) पालकः (स्वधितिः) सुष्ठु धारकः, स्वस्थितौ परानपेक्षणम् सौष्ठवम्। (ते) तवानुग्राह्योऽहमिति शेषः। (ते) तुभ्यम् (नमः) नमस्कारः (अस्तु) भवतु मा (मां) (माहिंसीः) न घातय, तपसि स्थितोऽहं निवर्तयामि इन्द्रियार्थेभ्य इन्द्रियाणि प्रत्याहरामि। निगृहीतेन्द्रियस्त्वां सततं चिन्तयामि। किमर्थम् (आयुषे) दीर्घजीवनाय (अन्नाद्याय) भोक्तव्यविविधान्नलाभाय, (प्रजननाय) प्रकृष्टं जननं प्रजननं तस्मै पुत्रादीनां प्रकृष्टजन्मने (रायस्पोषाय) धनस्य वर्धनाय (सुप्रजास्त्वाय) शोभनस्य सौभाग्यशालिनः शौर्यादिसद्गुणविभूषितस्य पुत्रादेः पितृत्वाय। (सुवीर्याय) शोभनसामर्थ्याय, शोभनत्वं दीनोपकारकत्वं, परपीडनं हि शक्तेर्दुरुपयोगः, सदुपयोगस्तु तु आर्ताऽऽर्तिपरिहरणम्।

अर्वाचीनास्तु–शिष्यम् आचार्य उपदिशति, भो शिष्य! त्वं (शिवः) शेते सुखं यत्रेति व्युत्पत्त्या सर्वसुखाधारः। (नामा) स्वसद्गुणप्रभावेण सर्वस्य जगतो नमयिता। इन्द्रियाणां दमयिता वा। (ते) (पिता) पालकः परमात्मा (स्वधितिः) स्वस्य धारकः त्वत्पालकस्य परमेश्वरस्य स्थितिर्न परायत्तेति निष्कर्षः (ते) एवंविधाय तुभ्यं (नमः) अन्नं तदुपलक्षितधनधान्यादिसमृद्धिः (अस्तु) भूयात्। नमः इति अन्ननाम (निघ० २, ७, २२) तद्धि कर्मवशात् उपनतं भवति।

(मा) लक्ष्मीस्ताम् द्वितीयार्थे प्रथमा। (मा हिंसीः) न विनाशय त्वां (निवर्तयामि) आयुरादिपदार्थषट्कलाभाय इत्याहुः।

अस्मिन्समन्वये भाष्ये भूरि पक्षाः प्रदर्शिताः।
यो यस्मै रोचते पक्षः स बुधस्तेन मोदताम्॥

निखिलशास्त्रनिष्णात-उदासीनवर्याऽनन्तश्रीविभूषितपरमहंसपरिव्राजकाचार्य-सद्गुरु-रामानन्दभगवत्पादशिष्येण वेददर्शनाचार्य-स्वामिगङ्गेश्वरानन्देन निर्मिते शुक्लयजुर्वेदीय-माध्यन्दिनवाजसनेयि संहितायाः समन्वयभाष्ये तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

शतपथब्राह्मण - द्वितीयकाण्डम्

हिन्दीविज्ञानभाष्यभूषितं हिन्दीभाषानुवादसहितं च

भूमिका

शतपथब्राह्मण के इस एकपदिका नामक द्वितीय काण्ड में ६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार ब्राह्मण हैं इस प्रकार इसमें कुल २४ ब्राह्मण हैं। ये २४ ब्राह्मण चार प्रकरणों में विभक्त हैं। प्रारम्भ के सात ब्राह्मणों में अग्न्याधान का प्रतिपादन होने से ७ ब्राह्मणों का अग्न्याधान प्रकरण है। तदनन्तर ६ ब्राह्मणों में अग्निहोत्र का निरूपण होने से ६ ब्राह्मणों का अग्निहोत्र प्रकरण है। तत्पश्चात् ३ ब्राह्मणों में पिण्डपितृ-इष्टि, आग्रयणेष्टि तथा दाक्षायणेष्टि इन इष्टियों का निरूपण होने से तीन ब्राह्मणों का इष्टिप्रकरण कहलाता है और अन्त में आठ ब्राह्मणों में चातुर्मास्य यागों का प्रतिपादन होने से ८ ब्राह्मणों का चातुर्मास्य प्रकरण कहलाता है। इस प्रकार २४ ब्राह्मणों में अग्न्याधान अग्निहोत्र, इष्टि तथा चातुर्मास्य इन चार प्रकरणों का सोपपत्तिक निरूपण इस द्वितीय काण्ड में किया गया है

यहां इस भूमिका के द्वितीय काण्ड में प्रत्येक ब्राह्मण में बतलाये हुए विषयों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जाता है जिससे इस भूमिका के द्वारा ही इस काण्ड में प्रतिपादित विषयों का सामान्य ज्ञान पाठकों को हो सके, क्योंकि यज्ञ का विषय पठन पाठन से प्रायः बहिर्भूत होने से सामान्य जन के लिए दुरुह सा प्रतीत होता है। इस भूमिका में केवल सामान्य यज्ञिय विषयों का तथा उन से सम्बन्धित कतिपय वैज्ञानिक उपपत्तियों का संक्षेप से किया निरूपण किया जा रहा है।

शतपथब्राह्मण के एकपदिका नामक द्वितीयकाण्ड में भगवान् याज्ञवल्क्य ने अनेक वैज्ञानिक विषयों का प्रतिपादन-अग्न्याधान, अग्निहोत्र आदि कर्मों में क्रियमाण विधियों की उपपत्ति के रूप में किया है। जैसे प्रथम 'सम्भार ब्राह्मण' में ही सम्भार किस लिए किया जाता है इसका प्रतिपादन करते हुए बतलाया गया है कि प्रकृति में व्याप्त व्यापक ऋताग्नि प्रवृक्त (पृथक्) होकर जिन जिन पदार्थों में प्रविष्ट हो गया है उन उन पदार्थों के संभरण द्वारा उनमें प्रविष्ट अग्नि का ही संभरण किया जाता है अर्थात् उदकादिसंभरण द्वारा उस अग्नि को एकत्रित किया जाता है।

इसी प्रकार प्रथम उदक – संभरण की उपपत्ति बतलाते हुए कहा है कि पानी से अन्न की उत्पत्ति व वृद्धि होती है। यह अग्नि प्रचुर अन्न देने वाला बने इसलिए उदकसम्भरण किया जाता है। अथवा अन्न उपकरणसामग्री होने से पशु है अतः पशुभाग से अग्नि की समृद्धि के लिए भी उदकसम्भरण किया जाता है। तथा यज्ञ का स्वरूप अग्नि व सोम के मिथुन से बनता है। उदक योषा है और जिसके लिए इसका सम्भरण किया जाता है वह अग्नि वृषा है। इस प्रकार योषा-वृषा व अग्नि-सोमरूप मिथुन के द्वारा यज्ञस्वरूपनिष्पत्ति के

लिए भी उदकसम्भरण किया जाता है। इसी प्रकार अन्य सुवर्ण, ऊष (क्षार) आखु-करोष आदि संभरणों की उपपत्ति बतलाते हुए भी भिन्न-भिन्न प्राकृतिक रहस्यों का उद्घाटन किया है।

द्वितीय 'ऋतुब्राह्मण' तथा तृतीय 'नक्षत्रब्राह्मण' में भी अग्न्याधान भिन्न भिन्न ऋतुओं में तथा भिन्न भिन्न नक्षत्रों में क्यों किया जाना चाहिए इसकी उपपत्ति का विवेचन करते हुए अनेक वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन किया है। जैसे प्रजापति ने अपनी दुहिता सरस्वती का अनुधावन किया इस उपाख्यान का तात्पर्य प्रजापति ने अपनी दुहिता का अनुधावन किया इस अर्थ में नहीं, अपितु द्युलोकीय नक्षत्रविद्या के परिज्ञान में तथा सौरसंवत्सराग्नि की पार्थिव उषाग्नि में आहुति से पृथिवी, जल, तेज आदि ८ अग्नियों व वैश्नानरपदवाच्य कुमाराग्नि के स्वरूपनिर्माणबोधन में है, इस रहस्य का भी उद्घाटन किया गया है।

'ऋतु ब्राह्मण' में प्राकृतिक पितृप्राण का तथा दिव्य, आर्तव, प्रेत भेद से भिन्न त्रिविध पितरों का और उनके अवान्तर भेदों के वेदप्रतिपादित स्वरूप का विवेचन किया गया है। इन पितरों का वैज्ञानिक स्वरूप आगे आने वाले पिण्डपितृयज्ञ में तथा साकमेधान्तर्गत पितृयज्ञ के निरूपण के अवसर पर भी बतलाया गया है।

चतुर्थ 'उपवसथ ब्राह्मण' में अग्न्याधान से प्रथम दिन देवताओं का निवास यजमान के घर में हो जाता है उन्हें भोजन कराये बिना स्वयं भोजन करना अनुचित है अतः यजमान को उपवास रखना चाहिए इस पूर्वाचार्यों के मत को मानने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अग्न्याधान से पूर्व किसी प्रकार की व्रतचर्या यजमान के लिए नहीं है।

इसी प्रकार (१) उपवसथाह के दिन रात्रि को गार्हपत्यागार में किसी अज को बांधना चाहिए, (२) देवताओं के वाहनभूत गायत्र्यादि छन्दों को तृप्ति के लिए चातुष्प्राश्य ओदन पकाना चाहिए (३) यज्ञस्वरूप विष्णु की प्राप्ति के लिए आश्वत्थी तीन समिधाओं को घृत से सिक्त कर समिच्छब्दयुक्त तथा घृतशब्दयुक्त ऋचाओं का उच्चारण करते हुए अग्नि में डालना चाहिए (४) अग्न्याधान से पूर्व रात्रि में यजमान देवप्रवण होने के लिए जागता रहे (५) सूर्योदय से पूर्व अग्नि का मन्थन कर सूर्योदय होने पर उसका आहवनीय में उद्धरण करे' इत्यादि पूर्वाचार्यों की निरर्थक विधियों का सोपपत्तिक निराकरण कर अग्न्याधान ऋग्यजुर्मन्त्रादिशब्दात्मक वाक् से न कर उनकी मूल-भूता तत्त्वात्मिका 'भूः भुवः स्वः' इस व्याहृतित्रयात्मक सत्या वाक् से करना चाहिए यह बतलाया है।

इसके अतिरिक्त अग्नि मन्थन से पूर्व अश्वस्थापन क्यों करना चाहिए, इसकी उपपत्ति बतलाते हुए अश्वस्थापनकाल, अश्व को आहवनीय से पूर्व की ओर ले जाना, अग्न्याहरण-प्रकार, अश्वक्रमण आदि विधियों का निरूपण कर सार्पराज्ञी ऋचाओं द्वारा अग्नि का उपस्थान भी इस ब्राह्मणों में बतलाया गया है।

पञ्चम 'पूर्णाहुति ब्रह्मण' में मन्थन द्वारा उत्पादित अग्नि की शान्ति के लिए अन्नाद्य-प्रदानरूप पूर्णाहुति प्रदान करने की आवश्यकता का प्रतिपादन कर जुहू को घृत से पूर्ण करके ही आहुति देनी चाहिए। पूर्णाहुति के करने पर भी मन्थन द्वारा उत्पादित अग्नि में प्राणाधान, अन्नाधान तथा वीर्याधानार्थ पवमानरूप पार्थिवाग्नि, पावकरूप आन्तरिक्ष्याग्नि, शुचिरूप दिव्याग्नि में उत्तरवर्ती तीनों आहुतियों की उपादेयता बतलाई गयी है तथा अन्त में अदितिदेवताक चरु का निर्वाप तथा गोरूप दक्षिणादान का सोपपत्तिक निरूपण किया गया है।

षष्ठ 'दक्षिणा ब्राह्मण' में यज्ञ में वितान द्वारा सोमलता के च्छेदन, कूटने तथा तण्डुलावघात आदि के द्वारा होने वाली हिंसा से यज्ञ के शक्तिरहित हो जाने से उसमें समृद्धि व शक्तता उत्पादनार्थ दक्षिणा की उपादेयता बतला कर, दक्षिणा की संख्या, तथा दक्षिणा वेदपारंगत मनुष्यदेवों को दी जाती है इसका उपपादन किया गया है। अन्त में फलश्रुति बतलाकर अग्निहोत्री का सत्यभाषण व्रत है यह बतलायाया गया है।

सप्तम 'पुनराधानब्राह्मण' में भुवनस्वर्गवासी देवताओं में वरुण ने स्वाराज्य-प्राप्त्यर्थ तथा सोम ने यशःप्राप्त्यर्थ पुनराधान किया यह बतलाकर अग्न्याधान करने के बाद भी विशेषफल-प्राप्त्यर्थं बीच में पुनः अग्न्याधान करना पुनराधान कहलाता है इस तथ्य का निरूपण किया है। तथा वरुण व सोम का वैज्ञानिक रहस्य बतलाकर पुनराधान के काल आदि का निरूपण भी किया गया है। इस प्रकार अग्निहोत्र प्रकरण के इन सात ब्राह्मणों में अग्न्याधान का प्रतिपादन है।

'अग्निहोत्र ब्राह्मण' में प्राकृतिक अग्निहोत्र का स्वरूप बतलाने के लिए एक उपाख्यान बतलाया है कि प्रजापति पहिले एकाकी थे उनने अपने मनोव्यापाररूप काम, प्राणव्यापाररूप तप तथा वाग्व्यापाररूप श्रम से सर्वप्रथम अग्नि को उत्पन्न किया। अग्नि अन्नाद है उसे अन्न की आवश्यकता है। उत्पन्न होने पर अन्य अन्न के उपलब्ध न होने से वह प्रजापति को खाने के लिए ही दौड़ा। प्रजापति डर गये और इससे उनकी वाग्रूप महिमा उत्क्रान्त हुई। यह वाक् अग्नि ही था। यह अग्नि मुझ से उत्क्रान्त न हो जाय इसलिए प्रजापति ने उसमें अन्नाहुति की इच्छा की। उसने पय (दुग्ध) की जो प्रथम आहुति दी, उस आहुति से प्रजापति कृतकार्य न हो सके। क्योंकि वह आहुति विशकलित थी ऋतरूप थी। प्रजापति ने उस आहुति का पृथ्वीपिण्ड पर सेचन किया और कहा कि 'ओषं धय' अर्थात् ऊष्मा को धारण करो। उससे पृथिवी पर तृण घासादि उत्पन्न हुये। उन्होंने दूसरी आहुति दी क्योंकि प्रथमाहुति का, स्वल्प होने से पृथिवीपिण्ड से ही सम्बन्ध हो सका, केन्द्रस्थ अग्नि से नहीं। इस आहुति से प्रजापति कृतकार्य हो गए और उनका सम्बन्ध केन्द्रस्थ प्रजापतिरूप अग्नि से हो गया और अग्नि उत्क्रान्त नहीं हुआ। इसके बाद भी प्रजापति ने विचार किया कि अब आहुति देनो चाहिए या नहीं, तब वाग्रूप महिमा के कहने से उन्होंने पुनः आहुति दी, इससे केन्द्र से निकलकर २१ वें अहर्गण तक जाने वाले अग्नि के घन, तरल, विरलरूप अग्नि, वायु, आदित्य की भी

उत्क्रान्ति बच गई। इस उपाख्यान द्वारा अग्निहोत्रविज्ञान का प्रतिपादन किया है। अन्त में शरीरत्यागानन्तर अग्निहोत्री के देह का अग्नि में दाह होने पर हंसात्मा की उत्पत्ति आदि तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। इस उपाख्यान का रहस्य हिन्दी विज्ञान भाष्य में बतलाया है वह अत्यन्त मार्मिक है। साथ ही पार्थिव प्रजापति कैसे उत्पन्न हुए इसके लिए परात्पर से आरम्भ कर सम्पूर्ण सृष्टिप्रक्रिया का भी हिन्दी विज्ञान भाष्य में प्रतिपादन किया है। दोनों ही विषय अत्यन्त उपादेय हैं पाठकों को उनका अध्ययन हिन्दी विज्ञान भाष्य से ही करना चाहिए जो कि इसी पुस्तक में इसी ब्राह्मण के भाष्य में दिया गया है। इसमें दूध का निर्माण प्रकृति में २१ वे अहर्गण से ऊपर ३६ वें अहर्गण तक परमेष्ठिलोक में उत्पन्न होने वाले गोतत्त्व द्वारा आनीत सोम तत्त्व में आग्नेय प्राण के प्रवेश से होता है इसीलिए दूध परिपक्व व उष्ण होता है। प्रकाश न अग्नि में है न सोम में है दोनों के संयोग में है। दोनों के संयोग से ही प्राकृतिक व भौतिक दूध का निर्माण होता है अतः वह वर्ण में शुक्ल है।

इसके अतिरिक्त गोतत्त्व की उत्पत्ति कहाँ होती है? वह संख्या में जितनी प्रकार का है? वही गोतत्त्व सभी पदार्थों का उपादान है, वही गोतत्त्व परमेष्ठी से, सूर्य व पृथिवी में भी आता है। साम का हिङ्कार क्या है? साम क्या तत्त्व है ? पृथिवीपिण्ड के ऊपर विद्यमान वायु में पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व के प्रवेश होने पर वह अप्तत्त्व वायु को विदीर्ण कर ७ सतह बना लेता है। विभिन्न जातीय वायुस्तर ही दधि, घृत, मधु, क्षीर आदि सात समुद्र हैं इत्यादि तत्त्वों का सुन्दर विवेचन इस ब्राह्मण के भाष्य में किया गया है।

द्वितीय 'सूर्यो वा अग्निहोत्रम्' इत्यादि अग्निहोत्रहोमविधि ब्राह्मण में सूर्य के अग्निहोत्रत्व का, अग्निहोत्र में सायमाहुति सूर्य के अस्त होने पर तथा प्रातराहुति सूर्योदय से पूर्व करने का, सूर्यास्त से पूर्व आहवनीय से भस्मादि के उद्धरण का, सर्वप्रथम पय आहुति का, अग्निहोत्र की अनन्तयज्ञता का, दूध को सामान्य रूप से गर्म कर आहुति देने का, दुग्ध के चतुरुन्नयन का अर्थात् चार भाग कर स्रुक् में भरने का, होमद्रव्य को हाथ में लिए ही प्रथम आहुति देने का, द्वितीय आहुति को बैठकर देने का, दो उपमार्जनों का, दो प्राशनों का उपपत्तिसहित निरूपण किया गया है। अन्त में जिन मन्त्रों के द्वारा आहुति दी जाती है उनका भी प्रतिपादन किया गया है। साथ ही सायंकालिक आहुति के, उत्पद्यमान—दिव्यात्मरुपगर्भ-निष्पत्त्यर्थं उभयतः अग्निदेवता से परिगृहीत 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र के द्वारा दी जाने पर भी प्रातःकालिक आहुति 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इस मन्त्र से न देकर ज्योतिः सूर्यःसूर्यो ज्योतिः स्वाहा इस मन्त्र से देनी चाहिए जिससे गर्भ योनि से बाहर निकल सके अन्यथा उभयतः देवता से परिगृहीत होने पर उसका बहिर्निष्कासन नहीं होगा, इसका भी निरूपण किया गया है। इसके बाद यह भी बतलाया गया है कि उपर्युक्त आहुति-मन्त्रों में देवता के लिए आहुति का स्पष्ट निर्देश न होने से 'सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या' इत्यादि मन्त्र से सायंकालिक तथा 'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवया' इत्यादि मन्त्र से प्रातःकालिक आहुति देनी चाहिए। अन्त में यजमान के कहीं बाहर चले जाने पर भी यजमान के प्रतिनिधिभूत ब्राह्मण द्वारा अग्निहोत्र अवश्य किया जाना चाहिए, क्योंकि अग्निहोत्र जरामर्य सत्र है उसका करना आवश्यक है यह प्रतिपादित किया गया है।

तृतीय 'उपस्थान ब्रह्मण' में इन्द्ररूप आहवनीयाग्नि यमराजारूप गार्हपत्याग्नि, नैषिध नडरूप दक्षिणाग्नि, अनश्नन् साङ्गमनरूप सम्याग्नि, असन् पांसवरूप भस्माच्छन्न आवसथ्याग्नि इन पांचों अग्नियों का उपस्थान, अन्वाहार्यपचनरूप दक्षिणाग्नि का उपवसथाह के दिन ही आहरण, अग्नि का सार्वदैवत्य, अग्नि के अवस्थाभेद रुद्र, वरुण, इन्द्र, मित्र, ब्रह्म का निरूपण, तथा इनमें आहुति द्वारा विभिन्न फलों की प्राप्ति के लिए अग्नि के उपर्युक्त रुद्रादि भेदों की कम से कम एक वर्ष तक उपासना, पूर्वब्राह्मणोक्त दो आहुतियों में प्रथम आहुति से देवता का, द्वितीय आहुति से मनुष्य का. और स्रुक् में अवशिष्ट पय की आहुति से पशु का निर्माण इन विषयों का प्रतिपादन किया गया है।

चतुर्थ 'अग्निहोत्ररहस्य' के प्रतिपादक ब्राह्मण में प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया। उसने जब अन्नि को उत्पन्न किया तो उसने प्रजाओं को जलाना प्रारम्भ किया, प्रजाओं ने उस पर आक्रमण किया, वह भय से पुरुष प्रजापति के पास पहुँचा और अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना की तथा कहा कि यदि आप मेरा भरण करेंगे तो मैं आपका भरण करूंगा। इस सृष्टिविषयक कल्पित उपाख्यान का तात्पर्य यह है कि पुरुष–प्रजापति ने जब विकार-क्षरसृष्टि उत्पन्न की और अग्नि उत्पन्न हुआ, अन्नाद अग्नि ने अन्न की इच्छा की, अन्य अन्न न मिलने पर उसने शरीरधातुओं को जलाना प्रारंभ किया और वह स्वयं भी उच्छिन्न होने लगा। प्रजापति की शरण में जाने पर विष्णु अक्षर द्वारा आनीत सोमरूप अन्न से अग्नि का भरण किया गया इससे न अग्नि उच्छिन्न हुआ और उसके उच्छिन्न न होने से प्रजापति का भी नाश नहीं हुआ। अन्यथा अग्नि के अभाव में प्रजापति की सत्ता भी नहीं रह सकती थी इत्यादि रहस्य का विस्तृत प्रतिपादन हिन्दीविज्ञानभाष्य में स्पष्ट किया गया है। इस अग्निहोत्र के द्वारा ही अग्नि का भरण होकर प्रजापति की स्थिति रहती है और उसी प्राकृतिक अग्निहोत्र से सौराग्नि तथा पार्थिवाग्नि की स्थिति रहती है। इस प्रकार अग्निहोत्र की कर्तव्यता का प्रतिपादन कर बताया गया है कि इस अग्निहोत्र से दिव्यात्मा का यजमान की आत्माग्नि से सम्बन्ध कर दिया जाता है, अतः शरीरत्यागानन्तर वह आत्मा स्वर्गलोक में पहुँच जाता है। जिस प्रकार यह यजमान वैध अग्नि को उत्पन्न कर सायंप्रातराहुति द्वारा उसका भरण पोषण यावज्जीवन करता है उसी प्रकार यह उत्पादित अग्नि नवीन यजमानात्मा को उत्पन्न कर स्वर्ग में उसका भरण पोषण करता है। इस प्रकार सौर प्रजापति द्वारा उत्पादित प्राकृतिक यज्ञाग्नि का सृष्टिपर्यन्त उच्छेद नहीं होता। उसी की प्रतिकृति पर यजमान इस वैध अग्निहोत्र को करता है जतः इसको यावज्जीवन चालू रखना चाहिए। आहिताग्नि का शरीर अग्निहोत्र की अग्नि में ही जलाया जाता है। उस समय उस अग्नि से यजमान का नवीन दिव्यामा अग्नि से उत्पन्न होता है। जो कि स्वर्गफल भोगता है। इस प्रकार जो अग्निहोत्राग्नि यजमान के द्वारा उत्पन्न किये जाने से उसका पुत्र था वह अब यजमान के नवीन दिव्यामा को उत्पन्न कर उसका पिता बन जाता है जिसका प्रतिपादन 'पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति' के द्वारा किया गया है।

इसी ब्राह्मण में पौराणिक ब्रह्माण्ड सौरमण्डल तक हो है किन्तु वैदिक ब्रह्माण्ड प्राणमय स्वयंभूमण्डल तक है। इस वैदिक ब्रह्माण्ड में सूर्य से ऊपर के परमेष्ठी व

स्वयंभू ये दो लोक और समाविष्ट हैं। सभी प्राणी मृत्यु से आक्रान्त हैं किन्तु अग्निहोत्र में सायं प्रातः दी हुई चार आहुतियों से वह मृत्यु पर आरूढ होकर उसका अतिक्रमण कर जाता है। यही अग्निहोत्रजन्य मृत्यु की अतिमुक्ति है। अग्निहोत्री अग्निहोत्रजन्य अमृतप्राणद्वारा मृत्यु का अतिक्रमण करता हुआ अहोरात्रचक्र को भी पार कर जाता है। अहोरात्रचक्र उसकी आयु का नाश नहीं कर सकता। अग्निहोत्र अन्तरिक्ष समुद्र को पारकर स्वर्ग में पहुंचने की नौका है। अग्निहोत्र नौका में उत्तर की ओर से आरोहण करना अर्थात् उत्तर की ओर से आहवनीय में प्रवेश करना चाहिए। अग्निहोत्र में चयनभाव का प्रवेश भी है। इसमें महदुक्थ-सम्पत्ति भी है इत्यादि विषयों का निरूपण इसमें किया गया है। इस प्रकार इस ब्राह्मण में अग्निहोत्र के रहस्य का प्रतिपादन किया गया है।

पञ्चम 'अग्न्युपस्थान ब्राह्मण' में प्रारम्भ में देवताओं ने जब असुरविजय के लिए प्रस्थान किया तब सभी पशुओं को अग्नि के पास धरोहर रूप में रखा, इत्यादि उपाख्यान के द्वारा अग्न्युपस्थान का प्रतिपादन किया है। इस उपाख्यान में देवपदसे सौर प्राणदेवताओं का ग्रहण है। अग्नि में पशुओं को रखने का अभिप्राय प्रवृक्त सौर प्राण-देवताओं के द्वारा पृथिवी का निर्माण है। सौर प्राणों का प्रवृक्त भाग ही पृथिवी की उपकरणसामग्री होने से पशु कहलाता है। पशु-वीर्य, छन्द, शिपिविष्ट (पदार्थस्वरूपनिर्मापक भौतिक अग्नि) पशु तथा ऋतु भेद से ५ हैं। ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र ये ४ वीर्य हैं। गायत्री आदि ७ छन्द हैं। शिपिविष्ट पदार्थस्वरूपनिर्मापक भौतिक अग्नि हैं। पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज ये ५ पशु हैं, तथा ग्रीष्मादि ६ ऋतुएं हैं। ये सब प्रवृक्त सौरप्राणभाग ही हैं। इन्हीं से पृथिवी व पार्थिव पदार्थों का निर्माण होता है। यही सौरप्राणदेवताओं का अग्नि के पास पशुओं को रखना है। किन्तु दिन में सूर्यसत्ताकाल में सूर्यरश्मियों के प्रबल आक्रमण के कारण अग्नि का रुख सूर्य की ओर नहीं रहता। पार्थिवाग्नि में प्रविष्ट पशु अग्नि के साथ सम्बन्द्ध हैं। अतः अग्नि का सूर्य-प्रतिदिक् होना ही अग्नि का पशुओं को लेकर तिरोहित होना है। उन देवताओं ने उस अग्नि को रात्रि में प्राप्त किया अर्थात् रात्रि में सूर्यरश्मियों के आक्रमण के अभाव से अग्नि प्राप्त हो जाता है और रात्रि में सूर्यप्राण अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है यही सौर प्राण-देवताओं का अग्नि को तलाशकर प्राप्त करना तथा उसमें रखे हुये अपने पशुओं को प्राप्त करना है। इस उपाख्यान से यह सिद्ध किया कि देवता सायं अग्नि का उपस्थान किया करते हैं और उपस्थान से अपनी सम्पत्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यजमान भी पश्वादिरूप फल-प्राप्ति के लिए सायंकाल अग्नि का उपस्थान करे।

उपस्थान की अवश्यकर्त्तव्यता बतलाने के बाद इस ब्राह्मण में बृहदुपस्थान का निरूपण किया गया है। इसमें प्रथम आहवनीयाग्नि के उपस्थान-मन्त्रों का तथा पश्चात् गार्हपत्याग्निके उपस्थान मन्त्रों का प्रतिपादन किया है।

षष्ठ 'क्षुल्लकोपस्थान ब्राह्मण' में गार्हपत्य तथा आहवनीय अग्नि का उपस्थान अधिक मन्त्रों से न बतलाकर केवल एक एक मन्त्र से बतलाया गया है। बहुमन्त्रसाध्य बृहदुपस्थान पर कटाक्ष करते हुए आसुरि कहते हैं कि बृहदुपस्थान भी आशीः (फलप्रार्थना) मात्र है अतः

वह फलप्रार्थना रूप आशी: लघूपस्थान से हो जाय और उसी से सर्वफलप्राप्ति हो जाय तो बृहदुपस्थान की आवश्यकता क्या है ? इस क्षुल्लकोपस्थान (लघूपस्थान) में विदेश जाते समय गार्हपत्य का उपस्थान 'नर्य प्रजां मे पाहि' इत्यादि मन्त्र से तथा आहवनीयोपस्थान 'शंस्य पशून् मे पाहि' इस मन्त्र से किया जाता है। तत्पश्चात् ग्रामसीमा पार करने के बाद वाग्वि-सर्जन कर देना चाहिए और लौटते समय ग्रामसीमा पर पहुंचते ही पुन: वाग्यमन कर लेना चाहिए । आने के बाद पहिले 'आगन्म विश्ववेदसम्' इत्यादि मन्त्र से आयवनीयोपस्थान तथा तदनन्तर 'अयमग्निर्गृहपति:' इत्यादि मन्त्र से गार्हपत्योपस्थान करना चाहिए। याज्ञवल्क्य का कथन है कि देवता मनुष्य के मन को जानते हैं उसकी कामना को वे बिना प्रकट किये ही पूर्ण कर देते है अत: जाते व आते दोनों ही समय बिना मन्त्र के अग्नियों का उपस्थान करना चाहिए। घर लौटने पर यजमान आने के दिन. पीछे से किसी का अपराध होने पर भी उसे फटकारे नहीं किन्तु शान्तिपूर्ण व्यवहार करे ।

'पिण्डपितृयज्ञब्राह्मण' में बतलाया गया है कि देव, असुर, पितर,मनुष्य तथा पशुप्रजायें अन्न के लिए प्रजापति के पास पहुँची, क्योंकि उनकी सत्ता अन्न पर ही आश्रित है। इनमें देव-प्रजा यज्ञोपवीती बनकर अर्थात् यज्ञसूत्र को वामस्कन्ध पर स्थापित कर दक्षिण जानु को नीचा कर अर्थात् भूपृष्ठ पर लगा कर प्रजा-पति के पास अन्नप्राप्ति के लिए पहुँची। पितृ-प्रजा प्राचीनावीती बनकर अर्थात् यज्ञसूत्र को दक्षिणस्कन्ध पर स्थापित कर; वामजानु को नीचाकर (भूतल पर रख कर) प्रजापति के पास अन्नप्राप्ति के लिए तथा मनुष्य निवीती अर्थात् दोनों कन्धों पर समानरूप से यज्ञसूत्र को रखकर तथा दोनों जानुओं का सम रखकर अर्थात् पर्यङ्कासन लगाकर प्रजापति के पास पहुंची । यज्ञसूत्र का इन्हीं तीन प्रजाओं से सम्बन्ध है, असुर तथा पशु प्रजा से नहीं। पर्युक्त तीनों देवादि प्रजायें इस रूप में क्यों पहुँची इसका कारण प्राकृतिक प्रजापति प्रकृति में इसी प्रकार यज्ञसूत्र रखकर तीनों प्रजाओं से सम्बन्ध रखता है । इस उपाख्यान का वैज्ञानिक रहस्य यहाँ संक्षेप से बतलाया जा रहा है—

विषुवद्वृत्त को केन्द्र मानकर २४ अंश के व्यासार्ध से जो एक वृत्त बनता है वह ४८ अंशात्मक सौर आग्नेय मण्डल ही क्रान्तिवृत्त कहलाता है। यही संवत्सर प्रजापति है। इस क्रान्तिवृत्त पर ही पृथिवी सूर्य की परिक्रमा एक वर्ष में समाप्त करलेती है और इस पृथ्वी की परिक्रमा दक्षवृत्त पर चन्द्रमा एक चान्द्र मास में समाप्त कर लेता है। यह प्राकृतिक स्थिति है। चन्द्रमण्डलावच्छिन्न सौरसंवत्सरमण्डल ही संवत्सर प्रजापति व यज्ञप्रजापति है। इसको परिच्छिन्न बनानेवाला चन्द्रमा ही इसका यज्ञसूत्र है। इस यज्ञसूत्र की तीन स्थितियाँ होती हैं। कभी वह संवत्सरप्रजापति के वामस्कन्धपर प्रतिष्ठित रहता है, कभी दक्षिणस्कन्ध पर और कभी समस्थिति में वर्तमान दोनों स्कन्धों पर।

पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा पूर्व से उत्तर की ओर जाती हुई किया करती है । जब पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती हुई सौरमण्डल के उत्तर भाग में पहुँचती है तब वह पृथ्वी का उत्तरायण है और यही सूर्य का दक्षिणायन है। क्योंकि पृथ्वी उत्तरगोल में है और उसकी

अपेक्षा से सूर्य दक्षिण गोल में है। पृथ्वी का दक्षिणभाग उत्तर में होने से ऊँचा है और उत्तर भाग नीचा है। उत्तर को ऊर्ध्व तथा दक्षिण को निम्न कहाजाता है। जब पृथ्वी का दक्षिण भाग ऊँचा और वाम भाग नीचा है तब संवत्सर प्रजापति का वाम भाग ऊँचा तथा दक्षिण भाग नीचा है। क्योंकि पृथिवी का उत्तरायण होना सूर्य का दक्षिणायन होना है। अर्थात् पृथ्वी को अपेक्षा संवत्सर प्रजापति की स्थिति विपरीत है। जब सूर्य दक्षिण की परमक्रान्ति पर पहुँच जाता है उस समय संवतत्सरप्रजापति का दक्षिण भाग नीचा है और मकरवृत्तोपलक्षित गायत्रीछन्द की ओर उसका नमन है तथा उसका वामभागरूप वामस्कन्ध उन्नत है। इस उत्तरस्कन्धरूप वामभाग से ही पृथिवी का सम्बन्ध होने से पृथिवी की परिक्रमा करते हुए चन्द्रमारूप यज्ञसूत्र भी संवत्सर प्रजापति के वामस्कन्ध पर प्रतिष्ठित है तथा संवत्सर प्रजापति का दक्षिण भाग गायत्री छन्द की ओर नत है यही उसकी दक्षिण जानु का नीचा होना है। ऐसी स्थिति में ही दक्षिणगोल की परम क्रान्ति पर पहुँच कर सूर्य उत्तर की ओर गमन करता है और सूर्य के उत्तरायण का प्रारम्भ होता है। यहीं से सौर देवप्राणों की वृद्धि प्रारम्भ होती है। यहो देवताओं का साम्राज्य है। इस समय संवत्सर प्रजापति की उपर्युक्त स्थिति है जिसमें चन्द्रमारूप यज्ञसूत्र संवत्सर प्रजापति के उन्नत वामस्कन्ध पर प्रतिष्ठत है तथा उसका दक्षिण भाग रूप दक्षिण जानु गायत्री छन्द की ओर नत (झुका हुआ) है। इस समय सौर आग्नेय देवप्राणों की वृद्धि होने से वे ही क्रान्तिवृत्त पर पृथ्वी की परिक्रमा से आने वाले पार्थिव प्राणों का भोग करते हैं यही देवताओं का भोजन है। सौर देवप्राणों का भिन्न भिन्न पार्थिवभागों से संवत्सर में एक वार ही सम्बन्ध होता है क्योंकि पृथ्वी के जिस भाग का आज सौर संवत्सररूप देवप्राण से सम्बन्ध हुआ है उसका पुनः पृथ्वी से सम्बन्ध एक वर्ष बाद ही होगा। शरीर में स्फूर्तिप्रदायक सौर बल ही उर्क् कहलाता है। सौर देवप्राणों में इस चन्द्र की व पृथ्वी की परिक्रमा से आने वाला चान्द्र व पार्थिव भाग का सम्बन्ध ही यजन है। यही यज्ञ उनका भोजन है इसी प्रकार सोममय अमृत देवप्राणों का भोज्य है, सौर देवप्राणों के लिए सूर्य ही ज्योति है, सूर्यप्रकाश में ही सौर देवताओं की स्थिति है, क्योंकि सौर प्रकाश ही तो देवता कहलाते हैं। उपर्युक्त प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए ही कहा है-'ततोदेवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्य उपासीदन्। तानब्रवीत्-यज्ञो वोऽन्नम्, अमृतत्वं वः, उर्ग्वः, सूर्यो व ज्योतिः' इति।

किन्तु जब पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती हुई दक्षिण गोल में आती है तब सूर्य उत्तर गोल की परमक्रान्ति पर पहुंच जाता है। उस समय संवत्सर प्रजापति का उत्तरभागरूप वाम भाग कर्कवृत्तोपलक्षित जगती छन्द की ओर झुका हुआ है। पृथ्वी का दक्षिण भाग दक्षिण गोल में स्थित होने से नीचा और वामभाग ऊँचा है। इसके विपरीत संवत्सररूप सूर्य प्रजापति का दक्षिण भाग ऊँचा और वामभाग झुका हुआ होने से नीचा है। सूर्य का उत्तर गोल की परमक्रान्ति पर पहुंचने पर उसका दक्षिणायन प्रारम्भ हो जाता है और उस समय अग्नि का ह्रास प्रारम्भ होने से सौर आग्नेय देवताओं का साम्राज्य न होकर सोम की वृद्धि के कारण सौम्य पितरों का साम्राज्य प्रारम्भ होता है। इस समय पार्थिव भाग का उपभोग पितर करते हैं। उस समय चन्द्रमारूप यज्ञसूत्र संवत्सर प्रजापति के दक्षिणभागरूप दक्षिण स्कन्ध पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि पृथ्वी का परिक्रमण करता हुआ चन्द्रमा पृथ्वी से सम्बद्ध

है। पृथ्वी जब दक्षिण भाग में है तो चन्द्रमा भी संवत्सर प्रजापति के दक्षिणभागरूप दक्षिण स्कन्ध पर ही प्रतिष्ठित है। सौर संवत्सर प्रजापति का उत्तरभागरूप वामस्कन्ध कर्क-वृत्तोपलक्षित जगती छन्द की ओर नत (झुका हुआ) है। अतः दक्षिण भाग सुतरां उन्नत है। इसीलिए ऐसी स्थिति में जबकि सूर्य के दक्षिणायन होने पर सौम्य पितरों की वृद्धि का समय आता है, चन्द्रमा संवत्सर प्रजापति के दक्षिण स्कन्ध पर है तथा उसका वाम भाग नत है। वामभाग का नत होना ही वामजानु का नीचा होना है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर कहा है—

'पितरः प्राचीनावीतिनः, सव्यं जान्वाच्य, उपासीदन्।'

चान्द्र सौम्य पितर एक मास में पुनः पृथ्वी के उस भाग से सम्बद्ध हो जाते हैं जिस भाग से उनका एक मास पूर्व सम्बन्ध था। पार्थिव भाग का सौम्यपितरों से सम्बन्ध ही पितरों का भोजन है। यह भोजन उनको एक मास में प्राप्त होता है। अतः 'मासि मासि वोऽशनम्' कहा है।

देव आग्नेय होने से विशकलनधर्मा हैं उनका पार्थिव प्राणों के साथ व्याप्तिरूप बहिर्याम सम्बन्ध होता है न कि अन्तर्याम। उसी व्याप्तिरूप बहिर्याम सम्बन्ध को ही 'स्वमह्नोति व्याप्नोति' इस व्युत्पत्ति से स्वाहा कहा जाता है। अतः देवताओं का भोजन स्वाहा कहलाता है। स्वाहा शब्द का उच्चारण करके ही उन्हें आहुति-रूप भोजन दिया जाता है। इसीलिए श्रुति में कहा है—

'न वै देवा अश्नन्ति न वा पिबन्ति, किन्तु दृष्ट्वैव तृप्यन्ति।'

किन्तु पितर सौम्य हैं। सोम स्नेहनशील होने से संकोचधर्मा है। उनका पार्थिव प्राणों से सम्बन्ध आत्मा में आधानरूप अन्तर्याम सम्बन्ध होता है इस अन्तर्याम सम्बन्ध को ही स्वस्मिन् धत्ते इस व्युत्पत्ति से स्वधा कहा जाता है। इसीलिए पितरों को आहुतिरूप भोजन स्वधा शब्द का उच्चारण कर दिया जाता है। इस स्वधारूप भोजन का आगमन पितरों में मनोरूप श्रद्धासूत्र के द्वारा होता है। तथा चान्द्र सौम्य पितरों की स्थिति चान्द्रज्योति में होती है। इसी को लक्ष्य में रखकर 'स्वधा वोऽन्नम्, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः' यह कहा है।

जब पृथ्वी परिक्रमा करती हुई मध्य के विषुवद्वृत्त पर आ जाती है तब ऊँचा नीचा भाव हट जाता है और संवत्सर प्रजापति में समभाव का उदय हो जाता है। इस समय समभाव के उदय से अहोरात्र (दिन व रात) समान हो जाते है। विषुवद्वृत्त पर पृथ्वी के आ जाने पर पृथ्वी से सम्बद्ध चन्द्ररूप यज्ञसूत्र भी संवत्सर प्रजापति के दोनों स्कन्धों अर्थात् वाम व दक्षिणभागों पर समानरूप से रहता है। संवत्सर प्रजापति के दोनों स्कन्धों पर चन्द्ररूप यज्ञसूत्र की समस्थिति ही निवीतावस्था कहलाती हैं। इस समय प्रजापति के उत्तर, दक्षिण भागरूप दोनों जानु भी समान रूप में रहते हैं, न कोई नीचा और न कोई ऊँचा। यही

पर्यङ्कासन की अवस्था है। अहोरात्र की समान अवस्था वाले विषुवद्वृत्तस्थ प्रजापति से ही मानव का निर्माण हुआ है अतः मानुषभावों में यज्ञसूत्र की स्थिति निवीतरूप में ही मानी गयी है।

विषुवद्वृत्त पर पृथ्वी अहोरात्र में परिक्रमा कर लेती है अतः इस विषुवद्वृत्त से निर्मित होने वाले मानव का भोजन अहः व रात्रि में दो बार माना गया है। अहोरात्रचक्र में घूमना ही मृत्यु से आक्रान्त होना है अतः मानव भी मृत्यु से आक्रान्त माने गये हैं। वैश्वानराग्नि से निर्मित होने वाले मानव की स्थिति अग्नि पर निर्भर है अतः अग्नि इनकी ज्योति मानी गई है। दाम्पत्यभावापन्न प्रजा से इनका सम्बन्ध है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर कहा है—'अथैवं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदन्। तानब्रवीत् सायंप्रातर्वोऽशनं, प्रजावः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः' इति।

संवत्सर प्रजापति के उत्तरभाग से देवसृष्टि, दक्षिण भाग से पितृसृष्टि, मध्य भाग से पार्थिव सृष्टि (मानव सृष्टि) होती है। यज्ञसूत्र की उत्तर स्कन्ध पर स्थिति उपवीत दक्षिण भाग पर स्थिति प्राचीनावीत तथा मध्य भाग पर स्थिति निवीत या प्रावृत कहलाती है। अतः उत्तर भाग से उत्पन्न होने वाले देवों के कार्य में यज्ञसूत्र की उपवीत स्थिति दक्षिण भाग से उत्पन्न होने वाले पितरों के कार्य में प्राचीनावीतस्थिति तथा मध्यभाग से उत्पन्न होने वाले मानवों के कार्य में निवीत स्थिति मानी गई है। यही देवों के यज्ञोपवीती, पितरों के प्राचीनावीती तथा मनुष्यों के निवीती होकर प्रजापति के पास अन्नयाचनार्थ जाने वाले उपाख्यान का रहस्य है। क्योंकि प्राकृतिक प्रजापति की भिन्न भिन्न कार्यों में ऐसी स्थिति है अतः उसी की प्रतिकृति पर यहां भी देवकार्यों में उपवीती, पितृकार्यों में प्राचीनावीती तथा मनुष्यकार्यों में निवीती स्थिति मानी गई है।

आग्रयणेष्टि ब्राह्मण में बतलाया गया है कि आग्रयण इष्टियज्ञ है। इष्टियज्ञ में आज्याहुति होती है न सोमाहुति और न पशु हिंसा ही। अपितु इसमें पुरोडाश की आहुति होती है। आग्रयणेष्टि क्यों की जाती है इसकी उपपत्ति बतलाते हुये कहा गया है कि यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति द्युलोक तथा पृथिवीलोक के रसों से होती है। पृथिवी से उत्पत्ति तो पदार्थों की प्रत्यक्षसिद्ध है और द्युलोक का रस ऋतुओं के माध्यम से आता है क्योंकि सभी पदार्थों की उत्पत्ति किसी न किसी ऋतु में ही होती है। अतः अन्नोत्पत्ति भी द्युलोक तथा पृथिवी दोनों के रसों से होती है। दिव्य प्राणों का अन्न में मिश्रण होने से अन्न में देवताओं का भी भाग है अतः उन्हें आहुति देकर ही मनुष्यों को अन्न ही काम में लाना चाहिए। इसलिए यह इष्टि की जाती है क्योंकि इस इष्टि में नवोत्पन्न अन्न की आहुति दी जाती है ऐसी कहोड ऋषि की मान्यता है। किन्तु याज्ञवल्क्य ने इस आग्रयणेष्टि की उपपत्ति बतलाते हुये कहा कि उत्पद्यमान अन्न में दैव (सात्विक) भाग तथा आसुर (तामस) भाग दोनों हैं। आसुर तामस भाग, जो कि अन्न का विष कहलाता है, को हटा कर ही अन्न काम में लाना चाहिए अन्यथा प्रजा रोगाक्रान्त होकर नष्ट हो जायेंगी। इसी अन्न के आसुर (तामस) विष भाग को दूर करने के लिए भौमदेवताओं ने इस आग्रयणेष्टि उपाय की गवेषणा की थी। आज भी यजमान अपने को तथा अपनी

प्रजा को अन्नविषजन्य अपमृत्यु से बचाने के लिए अन्नविषपरिहारार्थ इस आग्रयणेष्टि का अनुष्ठान करता है। इसके लिए उन्होंने एक आख्यायिका की कल्पना की कि देवता और असुर दोनों में परस्पर कलह छिड़ा। असुरों ने देवों की प्रजा मनुष्य व पशुओं के जीवनोपयोगी औषधियों को विष तथा कृत्या से युक्त कर दिया जिससे वे रोगाक्रान्त होकर तथा भूखे रह कर मरने लगे। तब देवताओं ने इसके परिहार के लिए आग्रयणेष्टियज्ञरूप उपाय तलाश किया और उसके द्वारा अन्नविष का परिहार किया। इस अन्न-विषपरिहार के प्रतीकार रूप में दीयमान फल का भागी कौन बने, इस कलह में देवों में परस्पर विवाद होने पर अग्नि व इन्द्र देवों में विजयी बने। अतः इस इष्टि में इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल हवि की आहुति दी जाती है। अन्य देवताओं ने भी इसमें कुछ भाग के लिए उनसे प्रार्थना की, क्योंकि इस कार्य में कुछ भाग उनका भी था, तथा क्षत्र रूप इन्द्र अग्नि की वे प्रज थे अतः ये भी फल के भागीदार अवश्य थे। अतः विश्वेदेवों के लिए भी विश्वेदेवदेवताक चरु की इसमें आहुति दी जाती है। चूंकि इस इष्टि में जिस अन्न की आहुति दी जाती है वह द्यावापृथिव्य रस से युक्त हैं। अतः इसमें द्यावापृथिव्य एककपाल की आहुति दी जाती है।

द्यावापृथिव्य एककपाल हवि की आहुति देने पर एककपालत्व की उपपत्ति के लिए सारे ही पुरोडाश की आहुति हो जाने से इष्टि में दुरिष्टनिवारणार्थ क्रियमाण स्विष्टकृद्याग सम्पन्न न हो सकेगा। इस दोष के परिहार के लिए द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश की आहुति न देकर आज्य की आहुति देनी चाहिए। आज्य द्यावापृथिवी का प्रत्यक्ष रस है और वह सर्वदेवसाधारण है। अतः उसकी आहुति से स्विष्टकृद् देवता का भी यजन होने से पृथक् स्विष्टकृद् देवता के यजन की ओर उसके लिए किसी द्रव्य की आवश्यकता नहीं है।

प्राणदेवताओं की इन आहुतियों से तृप्ति हो जाने पर भी अनूचान व शुश्रुवान् मनुष्य-देवों की तृप्ति के लिए इस में चातुःप्राश्य ओदनरूपी ब्राह्मणभोजन दिया जाता है। यह इष्टि जब नवीन अन्न आता है तब वर्ष के आरम्भ में की जाती है। वर्ष में उत्पन्न होनेवाला नवीन अन्न मार्गशीर्ष में आता है प्राचीन समय में तभी वर्ष का आरंभ माना जाता था। हायन (वर्ष) के आरम्भ में होने से मार्गशीर्ष को अग्रहायण कहा जाता है। अग्रहायण शब्द ही परोक्षभाषा में आग्रयण कहलाता है। अतः इसका हायन के आरंभ में होने से 'अग्रे हायनस्य' इस व्युत्पत्ति से अग्रहायण नाम पड़ा है। हायन शब्द का प्रयोग अन्न से सम्बन्धित है। इसका अध्ययन हिन्दी विज्ञान भाष्य में देखना चाहिये।

दाक्षायणेष्टि–ब्राह्मण में बतलाया गया है कि वैधयज्ञों का आधार भौमदेवताओं द्वारा अनुष्ठित यज्ञ है और भौमदेवताओं द्वारा अनुष्ठित यज्ञ का मूल आधार प्राकृतिक यज्ञ है. किन्तु दाक्षायणेष्टि प्राकृतिक नहीं अपितु मानव भौमस्वर्गीय देवताओं द्वारा आविष्कृत है। सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति ने इस इष्टि से यजन किया तथा प्रचुर प्रजा व पशुसम्पत्ति प्राप्त की अतः इसका नाम दाक्षायण पड़ा। दक्षप्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ है अतः उसे वसिष्ठ भी कहा जाता है, इसी

आधार पर दाक्षायणेष्टि को वसिष्ठ यज्ञ भी कहा जाता । इसके बाद श्विक्न के पुत्र प्रतीदश, सृञ्जय के पुत्र सुप्ला तथा श्रुतर्षि के पुत्र देवभाग, ने इस यज्ञ का अनुष्ठान कर भिन्न-भिन्न अभीष्ट फलों को प्राप्त किया । अतः अब भी यजमान प्रचुरप्रजा, पशु आदि फलप्राप्ति के लिए इसका अनुष्ठान करे । इसके बाद यह यज्ञ, पूर्णिमा, पूर्णिमोत्तर प्रतिपद्, अमा तथा अमोत्तर प्रतिपद् इन चार दिनों में सम्पन्न होता है यह बतलाकर इन दिनों में होने वाली क्रमशः अग्नीषोमीय पुरोडाश, आग्नेय पुरोडाश तथा ऐन्द्र सांनाय्य, ऐन्द्राग्न याग, आग्नेय पुरोडाश व मैत्रावरुणी पयस्या की आहुति का सोपपत्तिक व प्रयोजनसहित विवेचन है। दाक्षायण याग, सोमयाग का अनुकल्प है अतः इसमें सोमयाग की समानता का भी प्रतिपादन है ।

पयस्या दधि व दुग्ध का विकार है अर्थात् दोनों के संमिश्रण से बनती है । दूध में दधि का मिश्रण करने पर दूध फट कर घन व तरल भागों में विभक्त हो जाता है । घन भाग पयस्या कहलाता है, तरल भाग वाजिन कहलाता है । पयस्या की आहुति के बाद इस वाजिन भाग की आहुति ऋतुरूप वाजिदेवताओं के लिए दी जाती है । आहुति से बचे हुए वाजिन को पांचों दिशाओं के लिए अग्नि में आहुत कर दिया जाता है। हुतशेष को दक्षिणारूप से होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र व यजमान को भक्षण के लिए दे दिया जाता है । उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त वरुण में मित्र की आहुति से चन्द्रमा की उत्पत्ति, अमा में मित्र और वरुण दोनों की सत्ता आदि विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है जिसे हिन्दी विज्ञान भाष्य में देखना चाहिए ।

वैश्वदेव ब्राह्मण से आरम्भ कर शुनासीरीय ब्राह्मण पर्यन्त चातुर्मास्य यागों का निरूपण है । सौर दिव्याग्नि को वैध उपायों से आत्मसात् करना ही यज्ञ है । सौर संवत्सराग्नि अग्नि, वायु, सोम रूप में परिणत होकर चार चार मास के तीन विभागों में विभक्त हैं । फाल्गुनपूर्णिमा से आषाढ शु० १४ तक अग्नि का, आषाढी पूर्णिमा से कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी तक वायु का तथा कार्तिकी पूर्णिमा से फाल्गुन शु० १४ तक सोम का प्राधान्य है । चार चार मास के तीन विभागों में अग्नि, वायु, सोम रूप से परिणत संवत्सराग्नि का अपनी आत्मा में आधान करने के लिए ही वैश्वदेव, वरुणप्रघास तथा साकमेध ये तीन यज्ञ किए जाते हैं । ये तीन याग ही प्रधानतया चातुर्मास्य याग हैं । शुनासीरीय याग गौण चातुर्मास्य है जो फाल्गुनशुक्लपूर्णिमा से पूर्व होता है । वैध चातुर्मास्य यागों का आधार प्राकृतिक चातुर्मास्य है । वैश्वदेव याग आग्नेय चातुर्मास्य याग है । उसी का इस ब्राह्मण में निरूपण है । प्राकृतिक वैश्वदेव चातुर्मास्य को बतलाने के लिए सृष्टि के प्रारम्भिक इतिहास का अवलम्बन किया गया है ।

सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति एकाकी थे, उनने प्रजोत्पत्ति का संकल्प किया और प्रजा उत्पन्न की । किन्तु प्रजापति जो प्रजा उत्पन्न करते वही प्रजापति से पृथक् हो जाती और प्रजापति एकाकी रह जाते । उन्होंने पक्षी, क्षुद्र सरीसृप तथा सर्प भेद से ३ प्रकार की प्रजा उत्पन्न की वे सब प्रजा प्रजापति को छोड़ कर चली गई । तब प्रजपति ने उनके छोड़ने

का कारण मालूम किया कि अन्न के न मिलने से ये प्रजाएं मुझे छोड़ देती हैं। अतः उन्होंने सर्वप्रथम माता के स्तनों में दूध उत्पन्न किया और मनुष्य प्रजा को उत्पन्न किया। तब उसे छोड़ कर नहीं गई। निष्कर्ष यह है कि अन्नपरिणाम से प्रजा उत्पन्न होती हैं उसी से परिपुष्ट होती है और जीवित रहती हैं। प्रजापति ने प्रजोत्पत्तिकामना से ही यह वैश्वदेव याग किया था। अतः आज भी प्रजाकाम पुरुष को इस याग का अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकार वैश्वदेव याग की प्राकृतिक उपपत्ति बतला कर इस याग में होने वाली आहुतियों का सोपपत्तिक निरूपण किया है। इसमें क्रमशः (१) अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश (२) सौम्य चरु, (३) सावित्र द्वादशकपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश (४) सारस्वत चरु (५) पूषदेवताक चरु, ये ५ आहुतियां होती हैं, इनसे प्रजा की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर प्राणदेवताओं की प्रजारूप 'स्वतवस्' मरुतों की शान्ति के लिए मारुत सप्तकपाल पुरोडाश की आहुति, तत्पश्चात् प्रजास्थितिसम्पादिका विश्वेदेवदेवत्या पयस्याऽऽहुति होती है और सर्वान्त में द्यावापृथिवीदेवताक एकपाल पुरोडाश की आहुति होती है। आहुति-निरूपणानन्तर सोपपत्तिक पद्धति का प्रतिपादन है। इसी ब्राह्मण के हिन्दी विज्ञान भाष्य में सृष्टिप्रक्रिया, सृष्ट्युत्पादक सप्तपुरुषात्मक पुरुष प्रजापति, स्तौम्या त्रिलोकी, ३३ यज्ञिय देवता, देवताओं में अग्निप्राधान्य, शरीरनिर्माणार्थ काम में आने वाले, नाभानेदिष्ठ, बालखिल्य, वृषाकपि, एवयामरुत् इन चार सहचारी प्राणों तथा उनके कार्यों आदि बहुत से विषयों का निरूपण किया गया है।

वरुणप्रघासनामक ब्राह्मण में आषाढी पूर्णिमा को होने वाले वरुणप्रघास याग का निरूपण है। यहां बतलाया गया है कि वैश्वदेव याग द्वारा उत्पादित प्रजाओं ने आप्य वारुण यव का भक्षण किया है। यव आप्य होने से शैत्यप्रधान है अत एव वरुणदेवताक है, क्योंकि अप्तत्त्व का देवता वरुण कहलाता है। इससे वे प्रजायें शैत्य में जकड़ कर निष्क्रिय हो गयीं। तब प्रजापति ने वरुणप्रघासेष्टि के द्वारा ही उनकी चिकित्सा की और ऊर्ध्वा अर्थात् सूर्य में वर्त्तमान ऊर्ध्वा प्रजा तथा सूर्य से नीचे वर्तमान अवाची प्रजा एवं जात व अजात दोनों प्रजाओं को उत्तर व दक्षिण दोनों तरफ से वरुणपाश से मुक्त किया। इस प्रकार वरुणप्रघासेष्टि की प्राकृतिक उपपत्ति बतला कर उसमें होने वाली आहुतियों का सोपपत्तिक प्रतिपादन किया गया है। इसमें भी वैश्वदेव याग में प्रतिपादित पांच हवियां होती हैं। यद्यपि ये आहुतियाँ वैश्वदेवयागोक्त आहुतियों से भिन्न हैं, तथापि नाम इनके वे ही हैं और उन्हीं देवताओं को दी जाती हैं।

इस इष्टि में ६ प्रयाज, ६ अनुयाज, आग्नेय आज्यभाग, सौम्य आज्यभाग, आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र द्वादशकपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु, पौष्ण चरु तथा इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश ये अङ्गकर्म तथा वारुणी व मारुती पयस्यारूप आवाप (प्रधानकर्म) किये जाते हैं। तदनन्तर दुरिष्टनिवारणार्थ स्विष्टकृद् यजन किया जाता है। वारुणी व मारुती पयस्या की आहुति देने से पूर्व अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता मेष तथा मेषी का विपर्यय कर लेते हैं। मारुती पयस्या के मेष को वारुणी पयस्या में तथा वारुणी पयस्या की मेषी को मारुती पयस्या में रख देते हैं। स्विष्टकृद् यजन

में अध्वर्यु काय (अनिरुक्त प्रजापतिदेवताक) एककपाल पुरोडाश की आहुति देता है। स्विष्टकृद्यजन के लिए सभी आहुतियों से थोड़ा थोड़ा हविर्भाग निकाल लिया जाता हैं। मारुती पयस्या में से प्रतिप्रस्थाता तथा अन्य आहुतियों में से अध्वर्यु हविर्भाग निकाल लेता है और उसी की आहुति अध्वर्यु व प्रतिप्रस्थाता स्विष्टकृत् अग्नि के लिए दे देते हैं। तदनन्तर इडाप्राशन, ९ अनुयाज, स्रुग्व्यूहनादि कर्म समिष्टयजु, पत्नीसंयाज, अवभृथगमन आदि कर्म किये जाते हैं। आदि में ९ प्रयाज तथा इडाप्राशन के बाद अन्त में ९ अनुयाज होते हैं। इस याग में दो हवियां व दो अग्नियां होती हैं। वारुणी पयस्या उत्तरवेदि में तथा मारुती पयस्या दक्षिणवेदि में दी जाती है। मारुती-पयस्या की आहुति प्रतिप्रस्थाता देता है तथा शेष आहुतियां अध्वर्यु देता हैं। इस इष्टि में दक्षिणावेदि में आहुति प्रतिप्रस्थाता देता है किन्तु वह अध्वर्यु का कृतानुकर होता है। अर्थात् वह मन्त्रादि का उच्चारण नहीं करता, यह कार्य तो अध्वर्यु ही करता है वह तो जैसा अध्वर्यु करता है तदनुसार कार्य करता रहता है। हिन्दी विज्ञान भाष्य में प्रजा का वरुण द्वारा ग्रहण, देवताओं की उत्क्रान्ति तथा सभी कर्मों की उपपत्ति आदि का सुन्दर निरूपण किया गया है। इस ब्राह्मण में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ सर्वसाधारणगम्य नहीं है। अतः उनका अर्थ भी सामान्य रूप से बतला देना आवश्यक है :-

स्रुग्व्यूहन=जुहू व उपभृत् के अग्रभागों को मिला देना। परिधि=आहवनीय के तीनों भागों में रखी हुई तीन समिधायें। व्यानयन—घृत से आसेचन। प्रस्तर—कुशमुष्टि, समुल्लुम्पति—कुशमुष्टि में से कुशतृण को अलग रख लेता है। अनुप्रहरण—कुशमुष्टि का अग्नि में प्रक्षेप।

साकमेध ब्राह्मण में बतलाया गया है कि प्रजाओं में, उत्पत्ति के साथ बलाधान करना साकमेधेष्टि का प्रयोजन है। साक (प्रजोत्पत्ति के साथ) मेध (बलाधान) साकमेध का शब्दार्थ है। बलप्रद पदार्थ की मेध संज्ञा है। इस बलाधान द्वारा उत्पन्न नीरोग प्रजाओं को विजित-पाप असुराक्रमणासमर्थ बनाया जाता है। साकमेधेष्टि का निरूपण करते हुए यह कहा है कि भौमस्वर्गवासी इन्द्रादि देवों ने वृत्रासुर का वध किया तथा असुरों पर विजय प्राप्त की। यह इष्टि कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को होती है। साकमेध याग निरन्तर दो दिन तक होता है। इस इष्टि में कार्तिक शुक्ला चतुर्दशी को अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप, मध्याह्न में सान्तपन मरुतों के लिए चरु का निर्वाप, तत्पश्चात् गृहमेधी मरुतों के लिए चरुनिर्वाप, स्विष्टकृद् याग, तदनन्तर इडाप्राशन होता है, दूसरे दिन अर्थात् पूर्णिमा को चरु से दर्वीपूर्ण होम का अनुष्ठान, क्रीडी मरुतों के लिए सप्तकपाल पुरोडाश-प्रदानरूप विधियां होती है। गृहमेधि याग के अनुष्ठान की दो पदधतियों का भी इसमें प्रतिपादन है। साकमेधानुष्ठानान्तर साकमेधाङ्गभूत महाहवि का अनुष्ठान किया जाता है। वरुणप्रधास याग ही महाहविर्याग कहलाता है क्योंकि वरुणप्रधास में बहुतसी हवियां दी जाती हैं। करिष्यमाण महाहविर्याग का अनुष्ठानप्रकार भी वरुणप्रधास की तरह ही हैं। साकमेध प्रजा में बलाधानार्थ किया जाता है वरुणप्रधासीय इन्द्रादि देवताओं

को आहुति प्रदान भी आत्मबलवृद्धि करता है अतः बलाधानसम्पादक साकमेध के अनन्तर साकमेधाङ्गत्वेन महेन्द्रादि देवताओं को भी आहुतिप्रदान करना श्रेयस्कर है।

महाहविर्याग ब्राह्मण में महाहविर्याग की पद्धति का निरूपण किया गया है। महाहविर्याग में उत्तरवेदिनिवपन, पृषदाज्यग्रहण, अग्निमन्थन, ६ प्रयाजों का तथा ६ अनुयाजों का अनुष्ठान तथा तीन समिष्टयजुओं का अनुष्ठान वरुण-प्रघास की तरह ही होता है। तदनन्तर आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्यचरु, सावित्र द्वादशकपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु, पौष्ण चरु, ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश, माहेन्द्रचरु, दी जाती है। तदनन्तर विश्वकर्मदेवताक एककपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

साकमेधाङ्गभूत महाविर्याग में सांवत्सरिक देवताओं का यज्ञ द्वारा बलवर्धन किया जाता है। संवत्सर में जैसे देवताओं की सत्ता है उसी प्रकार पितरों की भी। इन्हीं पितरों का यजन इस पितृयाग में बतलाया गया है। ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति से ऋतु की निष्पत्ति होती है। इन्हीं ऋतुओं से अर्थात् ऋत्वग्नि से संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति होतो है। ऋताग्नि में ऋतसोम की आहुति से ऋतु की उत्पत्ति बतलायी गयी है। वसन्त, ग्रीष्म व वर्षा में ऋताग्नि का प्राधान्य है और देवता आग्नेय होते हैं। अतः अग्नि-प्राधान्य के कारण इन तीनों ऋतुओं को देवता कहा है। तथा शरद्, हेमन्त व शिशिर में सोम की प्रधानता है। तथा पितर सौम्य होते हैं अतः इन तीनों ऋतुओं को पितर कहा है। वसन्तादि तीन ऋतुओं में अग्नि तत्त्व की वृद्धि होती है अतः देवताओं को उपचयभाक् कहा जाता है 'उपचयभाजो वै देवाः' इति। शरदादि तीन ऋतुओं में अग्निका अपचय होता है। ये तीनों ऋतु पितर हैं अतः पितरों को अपक्षयभाक् कहा जाता है—'अपक्षवभाजो वै वितरः' इति।

वसन्तादि तीन ऋतुओं में अग्नि-प्राधान्य के कारण आग्नेयप्राणरूप आग्नेय देवता विजयी बने तथा आप्यभाग के नाश से आप्यप्राणरूप वृत्रादि असुरों का नाश हुआ। अप् तथा सोम का साहचर्य है। अतः वसन्तादि ऋतुओं में आप्यप्राण के साथ सौम्य प्राणरूप पितरों का भी नाश होगया। उन मृत पितरों को पुनर्जीवित करने के लिए पितृयाग का विधान है। पितृयज्ञ से सोम की वृद्धि होकर पितरों का पुनरुज्जीवन होता है किन्तु आप्य प्राणों का पुनरुज्जीवन न होने से असुर पुनर्जीवित नहीं होते। पितृयज्ञ से प्राकृतिक पितरों कीं तो क्षतिपूर्ति होती ही है। साथ ही मानव के प्रेत पितरों की भी प्राकृतिक पितरों के साथ तृप्ति होती है, क्योकि अश्रुमुख प्रेतपितर भी शरीरत्यागानन्तर इस पितृयज्ञ के कारण अधोगति परित्यागकर नान्दीमुख बनते हुए दिव्यपितरों में स्थान प्राप्त करलेते हैं।

पितर अन्न अन्नाद भेद से दो प्रकार के हैं। अन्नाद पितर आज्यपा, सोमपा व हविर्भुक् भेद से त्रिविध है। घृतादि तरल पदार्थों का भक्षण करने वाले आज्यपा, सोम का पान करने वाले सोमपा तथा देवभोज्य अन्नरूप— हवि का भक्षण करने वालों को हविर्भुक् कहा जाता है। इसी प्रकार अन्नपितर भी

सोमसत्, अग्निष्वात्त, बर्हिषद् भेद से तीन प्रकार के हैं। सोमयाग से उत्तम लोकों को प्राप्त करने वाले पितर सोमसत्, पुरोडाशादि पक्व हवि से उत्तम लोकों को प्राप्त करने वाले बर्हिषद् कहलाते हैं तथा जो न सोमयाग करते हैं और न हविर्याग ही करते हैं किन्तु जिनका अग्नि ही भक्षण करता है, वे अग्नि द्वारा आत्त (गृहीत) होने से अग्निष्वात्त कहलाते हैं। एक सुकाली पितर और होता है जो इससे भिन्न है। इस प्रकार ७ प्रकार के पितर हैं। इसमें अन्नपितररूप-सोमसत्, बर्हिषद् व अग्निष्वात्त इन तीनों पितरों को ही पितृयाग में आहुति दी जाती हैं। इनमें सोमवान् पितरों के लिए षट्कपालं पुरोडाश की, बर्हिषद् पितरों के लिए अर्धपिष्ट धानाओं की तथा अग्निष्वात्त पितरों लिए निवान्या (मृतवत्सा) गो के दूध में एक शलाका द्वारा एकवार उपमथित मन्थ (धानाचूर्ण) की आहुति दी जाती है। तदनन्तर पितृयाग की पद्धति का सोपपत्तिक प्रतिपादन इस ब्राह्मण में किया गया है। तदनन्तर स्विष्टकृद् याग व इडाप्राशन का प्रतिपादन है। इडाप्राशन विषय में याज्ञिकों के मतभेद का भी निरूपण किया गया है। पितृयाग प्राचीनावीनी बनकर किया जाता है। पितृयाग की समाप्ति के बाद पुनः यज्ञोपवीती बनकर पुनः आहवनीय का उपस्थान किया जाता है। अन्त में दो अनुयाज याग किये जाते हैं। यहाँ अनुप्रहरति तथा अनुसमस्यति का अर्थ अग्नि में प्रक्षेप करता है, यह है। हिन्दी विज्ञानभाष्य में पितरों के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया गया है।

साकमेध याग के अङ्गभूत सभी कर्म महाहवि कहलाते हैं। अतः साकमेधाङ्गभूत त्र्यम्बक हविर्याग के लिए भी महाहवि शब्द का प्रयोग 'महाहविषा वै' इस रूप से किया गया है। पारमेष्ठ्य शिववायु को त्र्यम्बक तथा रौद्र रूक्ष वायु को रुद्र कहते हैं। रूक्ष रुद्र वायु ही वृत्र है। इसका शमन पारमेष्ठ्य शिववायुरूप त्र्यम्बक के द्वारा ही होता है। इसी अभिप्राय से त्र्यम्बक हविर्याग में त्र्यम्बकरूप महाहवि के द्वारा अर्थात् पारमेष्ठ्य शिववायु के द्वारा वृत्र अर्थात् रूक्ष रौद्रवायु का विनाश बतलाया गया है।

त्र्यम्बक हवियां रुद्रदेवताक होती हैं। इनका देवता एकाकी रुद्र हैं अतः ये हवियां एक कपाल में संस्कृत करके ही दी जाती हैं। इन हवियों की संख्या बतलाते हुए कहा है कि घर में जितने सदस्य हों उन से एक अधिक हवि दी जानी चाहिए। प्रतिपुरुष प्रदत्त हवि के द्वारा परिवार में उत्पन्न व्यक्ति रुद्रपाश से मुक्त हो जाते हैं तथा अतिरिक्त एक हवि के द्वारा यजमान की अनुत्पन्न प्रजा को रुद्रपाश से मुक्त किया जाता है। इसके पश्चात् इस याग की पद्धति का निरूपण इस ब्राह्मण में किया गया है।

शुनासीरीयब्राह्मण में चातुर्मास्य याग के द्वारा सम्पूर्ण सांवत्सरिक अग्नि का ग्रहण हो जाने से उसका फल अक्षय्यलोक की प्राप्ति है क्योंकि अक्षय्य अग्नि के आत्मसात् करने से उसका फल भी अक्षय्य होना चाहिए यह बतलाकर चातुर्मास्य यागों के बाद वृत्रासुर को जीतने वाले देवों की श्री तथा वैश्वदेवादि यागों द्वारा जीते हुए संवत्सर के रसको अपने में आहित करने के लिए शुनासीरीय याग की आवश्यकता है यह कहा है। शुन का अर्थ श्री तथा सीर का अर्थ संवत्सर रस है। अतः शुनासीर शब्द श्री व संवत्सरके रस का बोधक है। अतः शुनासीर शब्द ही यह बतलारहा है कि श्री व संवत्सर-रस को अपने में आधान करने के लिए;

शुनासीरीय याग करना आवश्यक है। इस याग में उत्तरवेदि का कुशा से आस्तरण, पृषदाज्य-ग्रहण तथा अग्निमन्थन नहीं किया जाता। इसमें पञ्चप्रयाज, तीन अनुयाज व एक समिष्ट-यजु होता है। इसमें आग्नेय अष्टकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र द्वादशकपाल या अष्टकपाल पुरोडाश, सारस्वतचरु, पौष्ण चरु ये पाँचों हवियाँ वैश्वदेवादि यागों की तरह होती हैं। इस याग में द्वादशकपाल पुरोडाश किया जाता है। शुनासीरीययाग इन्द्रवायु-देवताक है। अर्थात् इसके इन्द्र व वायु दो देवता हैं। शुन इन्द्र को तथा सीर सततगतिशील वायु को कहते हैं। अतः शुनासीर शब्द से ही इस याग को इन्द्रवायुदेवताकत्व की प्रतीति होरही है। इन दोनों देवताओं को एक साथ तथा पृथक् पृथक् भी हवि दी जाती है। पृथक् हवियों में वायु को पय की आहुति दी जाती है। इन्द्र के आदित्य होने से सूर्यदेवताक एक-कपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। आदित्य चित्य (मर्त्य) चितेनिधेय (अमृतप्राण) भेद से द्विविध हैं। उसमें चितेनिधेय अमृतप्राणरूप ऐन्द्रवायव्य द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जा चुकी है अतः अब चित्य आदित्य (मर्त्य सूर्यपिण्ड) को एककपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। साकमेधानुष्ठान के अनन्तर ही बलाधायक शुनासीरीय याग कर लेना चाहिए। कितने ही याज्ञिक शुनासीरीय याग से संवत्सर की ३६० रात्रियों का ग्रहण मानते हैं। क्योंकि वैश्वदेवादियागों के अग्निप्रधान होने से अग्निप्रधान संवत्सर के ३६० दिनों का तो ग्रहण होजाता है परन्तु रात्रि का नहीं। उनका ग्रहण इस याग से किया जाता है। इसके अनन्तर सोमयाग के लिए दीक्षा ग्रहण करे।

अन्तिम सर्वशेषब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि कितने ही याज्ञिक यह मानते हैं कि देवताओं ने साकमेध से ही वृत्र को मारा व विजय प्राप्त की, किन्तु यह उचित नहीं। सभी चातुर्मास्यों से उन्होंने वृत्र को मारा व असुरों पर विजय प्राप्त की। देवताओं ने अग्नि को सेनापति व राजा बना कर चैत्र से आषाढ पर्यन्त के चार मासा को, वरुण को राजा व सेनापति बना कर श्रावण से कार्तिक तक के चार मासों को तथा इन्द्र को राजा व सेनापति बना कर मार्गशीर्ष से फाल्गुन तक के चार मासों को जीत लिया तथा ब्रह्म (चित्याग्नि) व त्रयी विद्या (अमृताग्नि) के द्वारा उन्हें परिगृहीत किया। इस प्रकार सम्पूर्ण संवत्सराग्नि को आत्मसात् कर लिया।

वैश्वदेव से याग करना अग्नि द्वारा चैत्रादि मासों को जीतना तथा अग्निभाव को प्राप्त होना है। वरुणप्रघास से यजन करना श्रावणादि मासों को जीतना व वरुणरूप होना है तथा साकमेध से याग करना इन्द्र से मार्गशीर्षादि चार मासों को जीतना व इन्द्र-रूपता को प्राप्त करना है। चातुर्मास्ययाजी परमगति को प्राप्त करता है उसका पुनजन्म नहीं होता।

चातुर्मास्य यागों में तीन स्थानों में शलली (श्वेतवर्ण वाले श्वाविन्नामक मृग की रोमावलि) तथा ताम्बे का छुरा रखा जाता हैं। ये क्रमशः त्रयी विद्या व ब्रह्माग्नि के स्वरूप हैं।

संस्कृत विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय,
जोधपुर

सूरजनदास स्वामी

भाषानुवाद तथा हिन्दीविज्ञानभाष्ययुत शतपथब्राह्मण के द्वितीय काण्ड की संक्षिप्त विषयसूची

नक्षत्र ब्राह्मण

ऋतु ब्राह्मण

उपवसथ ब्राह्मण

पूर्णाहुतिब्राह्मण

दक्षिणा ब्राह्मण

पुनराधान ब्राह्मण

अग्निहोत्र ब्राह्मण

अग्निहोत्रहोमविधिब्राह्मण

॥ श्रीः ॥

एकपादिकानाम-द्वितीय काण्डे प्रथमः प्रपाठकः

प्रथमोऽध्यायः प्रारभ्यते

तत्र प्रथमं ब्राह्मणम् (सम्भारब्राह्मणम्)

(मूल) हरि÷ ओ३म्। स यद्वा इतश्चेतश्च सम्भरति ततुसम्भाराणां सम्भारत्वम्। यत्र—यत्राग्नेर्न्यक्तं ततस्ततः सम्भरति। तद् यशसेव त्वद्—एवैनमेतद समर्द्धयति। पशुभिरिव त्वत्। मिथुनेनेव त्वतु सम्भरन् ॥१॥

अथोल्लिखति, तद्—यदेवास्यै पृथिव्या अभिष्ठितं वा, अभिष्ठयूतं वा तदेवास्या एतदुद्धन्ति। अथ यज्ञियायामेव पृथिव्यामाधत्ते तस्माद्वा उल्लिखति ॥२॥

अथाद्भिरभ्युक्षति। एष वा सम्भारो यदद्भिरभ्युक्षति। तद् यद्—अपः सम्भरति—अन्नं वा आपः—अन्नं हि वा आपस्तस्माद् यदेमं लोकमाप आगच्छन्ति अथेहान्नाद्यं जायते। तदन्नाद्येनैवैनमेतत् समर्द्धयति ॥३॥

योषा वा आपः, वृषाग्निः। मिथुनेनैवैनमेतत् प्रजननेन समर्द्धयति। अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। अद्भिरेवैनमेतदाप्त्वाधत्ते—तस्मादपः सम्भरति॥४॥

अथ हिरण्यं सम्भरति। अग्निर्हि वा अपोऽभिदध्यौ—"मिथुन्याभिः स्यामिति"। ताः सम्बभूव, तासु रेतः प्रासिञ्चत्—तद्धिरण्यमभवत्; तस्मादेतदग्निसङ्काशम्। अग्नेर्हि रेतः। तस्मादप्सु विन्दन्ति, अप्सु हि प्रासिञ्चत्। तस्मादनेन न धावयति, न किञ्चन करोति। अथ यशो देवरेतसं हि। तद्यशसैवैनमेतत् समर्द्धयति। सरेतसमेव कृत्स्नमग्निमाधत्ते। तस्माद्धिरण्यं सम्भरति ॥५॥

अथोषान् सम्भरति। असौ ह वै द्यौरस्यै पृथिव्या एतान् पशून् प्रददौ, तस्मात् पशव्यमूषरमित्याहुः। पशवो ह्येवैते साक्षादेव। तत् पशुभिरेवैनमेतत् समर्द्धयति। तेऽमुत आगता अस्यां पृथिव्यां प्रतिष्ठिताः। तमनयोर्द्यावा-पृथिव्यो रसं मन्यन्ते। तदनयोरेवैनमेतद् द्यावापृथिव्यो रसेन समर्द्धयति। तस्मादूषान् सम्भरति ॥६॥

अथाखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वा अस्यै पृथिव्यै रसं विदुः, तस्मा-त्तेऽधोऽध इमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाः, अस्यै हि रसं विदुस्ते। यत्र तेऽस्यै पृथिव्यै रसं विदुः, ततः उत्किरन्ति।

तदस्या एवैनमेतत् पृथिव्यै रसेन समर्द्धयति। तस्मादाखुकरीषं सम्भरति, पुरीष्य इति वैतमाहुः—यः श्रियं गच्छति। समानं वै पुरीषं च करीषं च। तदेतस्यैवावरुद्ध्यै,—तस्मादाखुकरीषं सम्भरति ॥७॥

अथ शर्क्कराः सम्भरति। देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृ-धिरे। सा हेयं पृथिव्यलेलायत्, यथा—पुष्करपर्णमेवम्। तां ह स्म वातः संवहति। सोपैव देवान् जगामोपासुरात्। सा यत्र देवानुपजगाम ॥८॥

तद्धोचुः—"हन्तेमां प्रतिष्ठां दृंहामहै, तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नी आदधामहै; ततोऽस्यै सपत्नान् निर्भक्ष्याम इति ॥६॥

तद्यथा शङ्कुभिश्चर्म विहन्यात्, एवमिमां प्रतिष्ठां शर्क्कराभिः पर्य-बृंहन्त। सेयं ध्रुवाऽशिथिला प्रतिष्ठा। तस्यां ध्रुवायामशिथिलायामग्नी आदधत। ततोऽस्यै सपत्नान्निरभजन् ॥१०॥

ततो एवैष एतत् इमां प्रतिष्ठां शर्क्कराभिः परिबृंहते। तस्यां ध्रुवा यामशिथिलायामग्नी आधत्ते। ततोऽस्यै सपत्नान् निर्भजति। तस्माच्छ-र्कराभिः सम्भरति ॥११॥

तान्वा एतान् पञ्च सम्भारान् सम्भरति। पाङ्क्तो यज्ञः। पाङ्क्तः पशुः। पञ्चर्तवः संवत्सरस्य ॥१२॥

तदाहुः—षडेवर्तवः संवत्सरस्य इति। न्यूनमु तर्हि मिथुनं प्रजननं क्रियते। न्यूनाद्धा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। तच्छ्वःश्रेयसमुत्तरावत्। तस्मात् पञ्च भवन्ति। यद्यु षडेवर्तवः संवत्सरस्येति। अग्निरेवैतेषां षष्ठः, तथो एवैतदन्यूनं भवति ॥१३॥

तदाहुः—नैवैकञ्चन सम्भारं सम्भरेदिति। अस्यां वा एते सर्वे पृथिव्यां भवन्ति। स यदेवास्यामाधत्ते, तत्सर्वान् सम्भारानाप्नोति। तस्मात्—नैवैकञ्चन सम्भारं सम्भरेदिति। तदु समेव भरेत्। यदहैवास्यामाधत्ते—तत् सर्वान् सम्भारानाप्नोति। यदु सम्भारैः सम्भृतैर्भवति, तदु भवति। तस्मादु समेव भरेत् ॥१४॥१॥

इत्यग्न्याधानप्रकरणे सम्भारब्राह्मणम्।

(अनुवाद) हविर्यज्ञनामक प्रथम काण्ड में अन्य इष्टियों की प्रकृतिभूत[1] इष्टि होने से 'दर्शपूर्णमासेष्टि का प्रतिपादन किया जा चुका है। 'एकपादिका-नामक' द्वितीय काण्ड में चातुर्मास्यादिक हविर्यज्ञों का प्रतिपादन किया जा रहा है। इस काण्ड में सर्वप्रथम सात ब्राह्मणों में पवमानेष्टि आदि इष्टियों के आधारभूत अग्न्याधान प्रकरण का, तत्पश्चात् ६ ब्राह्मणों में अग्निहोत्र प्रकरण का, तदनन्तर तीन ब्राह्मणों में पवमानादि तीन इष्टियों का और अन्त में ८ ब्राह्मणों में चातुर्मास्य प्रकरण का निरूपण है। इन प्रत्येक प्रकरणों में भिन्न ब्राह्मणों में विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। जैसे अग्न्याधान प्रकरण में ही प्रथम ब्राह्मण में सम्भारों का, द्वितीय ब्राह्मण में अग्न्याधानोपयुक्त नक्षत्रों का, तृतीय ब्राह्मण में

१. 'प्रकर्षेण-कर्मान्तरनैरपेक्ष्येण कृतिः कर्तव्यम् उपदिश्यते यत्र' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ सम्पूर्ण कर्त्तव्य (क्रियाकलाप) का कर्मान्तर की अपेक्षा न रखते हुए उपदेश किया गया है उसे प्रकृतियाग (प्रकृति कर्म) कहते हैं।

अग्न्याधानोपयोगी ऋतुओं का, चतुर्थ ब्राह्मण में उपवसथ का, पञ्चम ब्राह्मण में पूर्णाहुति का, षष्ठ ब्राह्मण में प्रदेय दक्षिणा का और सप्तम ब्राह्मण में पुनराधान का निरूपण है। जिस ब्राह्मण में जिस वस्तु का प्रतिपादन किया गया है वह ब्राह्मण उसी वस्तु के नाम से व्यपदिष्ट हुआ है। जैसे प्रथम ब्राह्मण में सम्भारों का निरूपण है। अतः उस ब्राह्मण की संज्ञा भी सम्भारब्राह्मण है। यही स्थिति अन्य ब्राह्मणनामों में है।

यह निश्चित है कि पवमानादि इष्टियाँ त्रेताग्निरूप श्रौताग्नि के बिना निष्पन्न नहीं होतीं और न उसके बिना अग्निहोत्र ही निष्पन्न हो सकता है। अतः इन सबके लिए अपेक्षित त्रेताग्निरूप श्रौताग्नि का आधान सर्वप्रथम आवश्यक है। इसीलिए सर्वप्रथम अग्न्याधान प्रकरण का निरूपण किया गया है। त्रेताग्नि गार्हपत्य (पार्थिव अग्नि) धिष्ण्य (आन्तरीक्ष्य अग्नि) और आहवनीय (दिव्याग्नि) भेद से तीन प्रकार की है। इन्हीं का आधान प्रथम करना होता है। आधानोपयोगी तत्वों का निरूपण अग्न्याधान प्रकरण में है।

सर्वप्रथम यह ऋत्विक् इधर-उधर से जो अग्नि का सम्भरण करता है, वही संभारों का सम्भारत्व (संभारपना) है। अर्थात् इधर-उधर से जो अग्नि का एकत्र करना है, यही संभारों का संभारत्व है। जिन जिन पदार्थों से अग्नि (व्यापक सर्वत्र वर्तमान अग्नि) का भाग प्रवृक्त होकर निलीन हो गया है और इस प्रकार अग्नि का भाग न्यून हो गया है। उस अग्नि-भाग को उन-उन पदार्थों के संभरण से एकत्र करते हैं। इस तरह संभरणों द्वारा न्यून हुए अग्निभाग की पूर्ति व समृद्धि होती है। यह अग्नि यश, पशु और मिथुन इन तीन भागों में विभक्त है। अतः यश से, पशु से तथा मिथुन से इस अग्नि को समृद्ध करते हैं (बढ़ाते हैं) अर्थात् कुछ तो इस अग्नि को यशोऽग्नि से, कुछ पशुओं से तथा कुछ मिथुन से बढ़ाते हैं। (अतः हिरण्य का संभरण करता हुआ अध्वर्यु इस अग्नि को यश से ऊष द्रव्य का संभरण करता हुआ पशुओं से तथा उदक द्रव्य का संभरण करता हुआ मिथुन से मानो इसे समृद्ध करता है)॥१॥

संभरणसामग्री एकत्र करने के पश्चात् अग्न्याधानस्थान का उल्लेख किया जाता है अर्थात् अग्न्याधानस्थान की ऊपर की थोड़ीसी मिट्टी कुरेद कर फेंक दी

जाती है। इससे इस पृथिवी के ऊपर के तृण-कंकर-टोले आदि जो कि पृथिवी के स्वरूप से अतिरिक्त आगन्तुक भाग हैं एवं निष्ठीवनादिजन्य अमेध्यभाग हैं, उसी को पृथिवी से पृथक् किया जाता है। ऐसा करता हुआ अध्वर्यु यज्ञिय (यज्ञार्ह) पृथिवी में ही अग्नि का आधान करता है। अतः यज्ञिय पृथिवी में आधान करने के लिए ही आगन्तुक तृण, कंकड़ आदि का उल्लेख किया जाता है ॥२॥

तदनन्तर परिष्कृत भूमि पर अध्वर्यु जल से प्रोक्षण करता है। जल से चौतरफ प्रोक्षण करना ही जल का संभरण है। जल का संभरण क्यों किया जाता है इसकी उपपत्ति बतलाते हैं कि जल ही अन्न है और जल अन्न इसलिए है कि जल से ही अन्न उत्पन्न होता है। इसलिए जब जल इस पृथिवीलोक में आता है तभी अन्नादि उत्पन्न होते हैं। अतः जल से प्रोक्षण करने से अर्थात् जल-संभार के द्वारा अध्वर्यु अन्नाद्य से ही इस अग्नि को समृद्ध करता है ॥३॥

अथवा जल योषा (स्त्री) रूप है और अग्नि वृषा (पुरुष) रूप है। अतः जल का प्रोक्षण करता हुआ अध्वर्यु योषावृषारूप मिथुनरूप प्रजनन से इस अग्नि को बढ़ाते हैं अथवा यह जगत् व्यापनशील अप्तत्त्व से व्याप्त है। अतः जल से इस अग्नि को व्याप्त कर आधान करने के लिए अप् का संभार किया जाता है ॥४॥

तदनन्तर हिरण्य का संभरण करता है। अर्थात् वहाँ पर सुवर्ण रखते हैं। सुवर्ण-संभरण का कारण बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्नि ने जल की ओर रुख किया कि मैं इसके साथ मिथुन (संयोग) प्राप्त करूँ। अग्नि ने उनके साथ योग किया और उसने उस पानी में अपना वीर्य (आग्नेय परमाणुओं) का सेचन किया। वही सुवर्ण बन गया। आग्नेय वीर्य से उत्पन्न होने के कारण ही यह सुवर्ण अग्नि के समान ही पीतवर्ण का है क्योंकि यह सुवर्ण अग्नि का रेत (आग्नेय परमाणु) रूप है। जब कभी सुवर्ण को प्राप्त करते हैं जल में ही प्राप्त करते हैं क्योंकि जल में ही अग्नि ने वीर्य-सेचन किया था। अतः सुवर्ण का उल्लंघन नहीं करते हैं क्योंकि इसका उल्लंघन अग्नि देवता का उल्लंघन है। इसीलिए सुवर्ण से सामान्य कार्य नहीं किये जाते हैं। यह सुवर्ण देवता है अतएव यश.स्वरूप है। अर्थात् सुवर्ण सूर्य के आग्नेय परमाणुओं से बना है और वह दिव्य है। द्युलोक

की वस्तु ही यश कहलाती है अतः दिव्यवीर्योत्पन्न यह सुवर्ण भी यश है। अतः हिरण्यसंभरण द्वारा यश से ही अग्नि को समृद्ध करते हैं। सुवर्ण का वीर्य अग्नि है, अतः इसका संभरण वीर्यसहित सारी अग्नि का आधान है। अग्नि को सर्वात्मना ग्रहण करने के लिए हिरण्य का संभरण किया जाता है ॥५॥

तदनन्तर ऊष (क्षार) का संभरण अध्वर्यु करता है। इसकी उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि द्युलोक ने इस पृथिवी के लिए इन पशुओं (क्षार) को प्रदान किया। अतः क्षारप्रधान ऊषर भूमि को पशव्य कहते हैं। क्योंकि क्षार साक्षात् पशु ही है। अतः क्षारसंभरण द्वारा पशुओं से अग्नि को समृद्ध किया जाता है। पशु (क्षार) द्युलोक से इस पृथिवी में आकर प्रतिष्ठित हुए। अतः इस क्षार को द्यावापृथिवी का रस मानते हैं, क्योंकि दोनों से उसका सम्बन्ध है। अतः ऊष (क्षार) का संभरण करना द्यावापृथिवी के रस से अग्नि को समृद्ध करना है। अतः ऊष (क्षार) का संभरण किया जाता है ॥६॥

इसके पश्चात् मूषक के बिल की मृत्तिका (आखुकरीष) का संभरण करता है। मूषक में इस पृथिवी के रस को जानने की शक्ति है। इसलिए मूषक पृथिवी के अत्यन्त अधोभाग में जाकर रसमयी मृत्तिका के रसभाग को खाकर उस नीरस मिट्टी को विवर के बाहर फेंक देते हैं। पृथिवी के रसभाग को खाने के कारण ही मूषक अत्यन्त परिपुष्ट होते हैं। अतः मूषक के द्वारा विवर से बाहर फेंकी हुई मिट्टी यज्ञिय मिट्टी है। मूषक मिट्टी के रसभाग को जानते हैं अतः जहाँ यह रसभाग होता है उसे ही वे खोदते हैं। अतः पृथिवीरस से अग्नि को समृद्ध करने के लिए इस आखुकरीष का संभरण किया जाता है। लोक में जो मनुष्य श्रीसम्पन्न होता है उसे पुरीष्य कहा जाता है, अतः इस अग्नि को श्रीसम्पन्न बनाने के लिए आखुकरीष का संभरण किया जाता है। यद्यपि श्रीसम्पन्न पुरुष को पुरीष्य कहा जाता है न कि करीष्य, अतः आखुकरीष के संभरण से श्रीप्राप्ति कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान करते हुऐ याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पुरीष व करीष समानार्थक हैं। अतः पुरीष्यताप्राप्ति के लिए आखुकरीष-संभरण करना उचित है ॥७॥

तदनन्तर (आखुकरीष के संभरणानन्तर) शर्करा (बालू मिट्टी) का संभरण अध्वर्यु करता है। शर्करासंभरण की उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि देवता

(सूर्याभिमुखस्थ[१] प्रकाशमय पार्थिव प्राण), असुर (सूर्यप्रतिदिक्स्थ अर्थात् सूर्य की विरुद्ध दिशा में स्थित तमोमय पार्थिव प्राण) दोनों में संघर्ष (मुठभेड़) हुई। उन दोनों तमोमय तथा प्रकाशमय पार्थिव प्राणों के बीच यह पृथिवी पुष्करपर्ण (कमलपत्र) की तरह हिल रही थी; चञ्चल थी। इस पृथिवी को वायु (एमूषवराह नामक भूवायु) ही धारण करता था। इस स्पर्धा में कभी वह देवताओं की तरफ तथा कभी असुरों की तरफ जाती थी। (अर्थात् क्रान्तिवृत्त पर पृथिवीपरिभ्रमण के कारण आज जो पृथिवी का भाग सूर्याभिमुख होने से प्रकाशमय है, ६ मास बाद वही सूर्य की विरुद्ध दिशा में चले जाने से तमोमय बन जायेगा। इसी अभिप्राय से कहा है कि कभी वह देवताओं की तरफ जाती थी और कभी असुरों की तरफ।।८।।

जब वह देवताओं की तरफ पहुँची, तब देवताओं ने कहा कि हम इस पृथिवी को दृढ़ बनावें और इस दृढ़ व अशिथिल पृथिवी पर अग्नि का आधान कर तमोमय असुररूप शत्रुओं को निकाल दें, इस पृथिवी में उनका हिस्सा न रहने दें।।९।।

यह विचार कर जिस प्रकार झिल्ली आदि रूप चर्म को शंकु (ताकू) आदि से उस पर चर्म की परत चढ़ा कर उसे जैसे मोटा व दृढ़ बना देते हैं उसी प्रकार चौतरफ शर्कराओं से इस प्रतिष्ठारूप पृथिवी को दृढ़ बनाया इस शर्करास्थापन से यह पृथिवी ध्रुव (निश्चल) व अशिथिल (दृढ़) बन गई। उस निश्चल व अशिथिल पृथिवी पर अग्नि का आधान किया और इस प्रकार शत्रुओं का भाग उस पृथिवी से हटा दिया।।१०।।

उसी प्रकार यजमान का प्रतिनिधि यह अध्वर्यु भी इस प्रतिष्ठारूप पृथिवी को चौतरफ शर्कराओं के द्वारा दृढ़ बनाता है और उस निश्चल व दृढ़ पृथिवी में अग्नि का आधान करता है और ऐसा करता हुआ इस पृथिवी से शत्रुओं को निकाल देता है।।११।।

इस प्रकार १. अपां सम्भार, २. हिरण्यसम्भार, ३. ऊष (क्षार) सम्भार

१. वैदिक सिद्धान्तानुसार पार्थिव पदार्थ सूर्य से उत्पन्न होते हैं। जैसा कि 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' यह श्रुति बतला रही है।

४. आखुकरीषसम्भार तथा ५. शर्करासंभार इन पाँच संभारों का संभरण करता है। आधिदैविक यज्ञ स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवीभेद से पांक्त (पञ्चावयव) हैं। सूर्ययज्ञ से पुरुष, अश्व, गो, अज अवि ये पाँच ही पशु उत्पन्न होते हैं। तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त (हेमन्त और शिशिर दोनों का हेमन्त से हो ग्रहण है, ६०-६० दिन की जहाँ ६ ऋतु होती हैं वहाँ ७२-७२ दिन की पाँच ही ऋतु होती हैं) ये पाँच ही संवत्सर को ऋतु है इस पांक्तत्व की सम्पत्ति के लिए पाँच संभारों का संभरण किया जाता है ॥१२॥

कतिपय आचार्य कहते हैं कि संवत्सर में वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त व शिशिर ये ५ ऋतु होती हैं। अतः संवत्सराग्नि की सम्पत्ति के लिए ६ संभार करने चाहिए। किन्तु याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि संवत्सर में ऋतुओं के होने पर भो पाँच संभार इसलिए किए गये हैं कि 'न्यूनाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते' इस नियम के अनुसार न्यून से प्रजनन होता है। योषा, वृषा के मिथुन से होने वाली प्रजोत्पत्ति वृषा (पुरुष) की अपेक्षा योषा (स्त्री) के न्यूनशक्तिशाली होने से ही होती है। अन्यथा समान बल होने पर सृष्टि नहीं होती। इसलिए इस आगामिनी प्रजावृद्धि की जनिका मिथुनसम्पत्ति के लिए न्यूनता की आवश्यकता है और उस न्यूनत्वसम्पत्ति के लिए पूरे ६ संभार न कर न्यून पाँच संभार किये जाते हैं।

और यदि संवत्सराग्नि के अवयव ६ ऋतु हैं। अतः संवत्सराग्नि की परिपूर्णता के लिए ६ संभार करने का ही आग्रह हो, तो पाँच संभार करने पर भो अग्नि को ६ठा मानकर षट्त्वसंख्या की पूर्ति हो जाती है। अतः अतिरिक्त छठे सम्भार की आवश्कता नहीं है ॥१३॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि एक भी संभार नहीं करना चाहिए। क्योंकि जितने भी जल, हिरण्य आदि संभार हैं, वे सब पृथिवी पर हैं। इस पृथिवी पर अग्न्याधान करने से उन संभारों की स्वतः प्राप्ति हो जाती है, अतः इन संभारों के पृथक् संभरण की आवश्यकता नहीं है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि संभार अवश्य करने चाहिए क्योंकि पृथिवी में यद्यपि सारे संभार विद्यमान हैं किन्तु यजमान या अध्वर्यु पृथिवी के एकदेश जिस वेदि में अग्न्याधान करता है वहाँ सारे संभार विद्यमान नहीं हैं। अतः संभारों से

संभृत करके अग्न्याधान करने से ही संभृत (संभारयुक्त) पृथिवी बन सकती है। अतः संभार अवश्य करने चाहिएँ ।।१४।।

विज्ञानभाष्य—

"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर"—इस भगवद्वाक्य से सिद्ध होता है कि अखिल विश्व यज्ञोदर में भुक्त है। इस संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जो कि यज्ञसीमा से बाहर हो। यज्ञ किसे कहते हैं ? संसार के सभी पदार्थ यज्ञ के अन्तर्गत किस प्रकार हैं ? इत्यादि विषयों का विवेचन प्रकृत से सम्बद्ध नहीं है। अतः उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। फिर भी अग्न्याधानादि कर्मों के आधारभूत आधिदैविक यज्ञ का विवेचन आवश्यक होने से संक्षेप में यहाँ उसका प्रतिपादन किया जा रहा है।

आधिदैविकयज्ञ-प्रतिपादन—

सृष्टि से पूर्व सर्वबलविशिष्ट रस रूप अव्यक्त तत्व के अतिरिक्त इस विश्व में कुछ भी नहीं था। उस सर्वबलविशिष्ट रसतत्व का मायाबल के कारण परिच्छेद हुआ। मायाबल से परिच्छिन्न होते ही मायावच्छिन्न रस में हृद्‌बल (केन्द्र बल) का प्रादुर्भाव हुआ। इसी हृद्‌बल में से उस परिच्छेद को भंग करने वाले अशनाया बल का उदय हुआ जिसे कि बुभुक्षा कहा जाता है। इससे मायापरिच्छिन्न शांतरस में क्षोभबल उत्पन्न हुआ। इस क्षोभ से सर्वप्रथम अप्‌तत्व (पानी) उत्पन्न हुआ। तदनन्तर अप्‌तत्व के घर्षण से अग्नि-तत्व उत्पन्न हुआ। अग्नितत्व का उपादानभूत यह अप्‌तत्व वायुरूप है जो कि आधुनिक विज्ञान के अनुसार पवमान-वायु नाम से प्रसिद्ध है। यह पवमान-वायुरूप अप्‌तत्व स्थूल पानी का उपादान कारण है जो स्थूल पानी अग्नि के घर्षण से उत्पन्न होता है। इस प्रकार अग्नि से पुनः स्थूल पानी उत्पन्न हुआ, और उससे पृथिवी उत्पन्न हुई। आरम्भ में सृष्टि इसी प्रक्रिया से उत्पन्न हुई है। इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है—

"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी" इति।

इस सृष्टिक्रम का दूसरे प्रकार से इस प्रकार विवेचन किया जा सकता है कि "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः" इत्यादि श्रुति में 'आत्म' पद अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीनों की समष्टि का बोधक है। इनमें मायावच्छिन्न रस अव्यय है। अव्यय के केन्द्र में रहने वाले ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र तथा केन्द्र से बाहर तक जाने वाले अग्नि और सोम ये पाँचों तत्त्व अक्षर हैं। इन्हीं पाँचों अक्षरों से अखिल विश्व का निर्माण होता है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—

"तदेतत्सत्यम्, यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः,
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।

तथा अक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति"।

यह अक्षर सृष्टि का निमित्त कारण है न कि उपादान कारण। किन्तु क्षर भाग इस अक्षर भाग से संश्लिष्ट है। अपि च अक्षर, क्षर दोनों के मिलने से प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न होता है जैसा कि "अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" इस श्रुति में बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से उपर्युक्त श्रुति में "अक्षराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते" इस रूप से अक्षर से पदार्थों की उत्पत्ति बतला कर अक्षर को उपादान कारण कह दिया गया है। किन्तु वस्तुतः अक्षर निमित्त कारण ही है न कि उपादान। यह अक्षर-रूप कुम्भकार अव्ययरूप जमीन (आलम्बन) पर बैठ कर क्षररूप मृत्तिका से विश्वरूप घट का निर्माण किया करता है।

क्षरतत्व आत्मा, विकार, यज्ञभेद से तीन प्रकार का है। अक्षर के साथ जो क्षर संश्लिष्ट रहता है वही आत्मक्षर कहलाता है। संसार में जितनी भी विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं वे सब इसी आत्मक्षर से सम्बन्धित हैं अर्थात् उनका उपादान आत्मक्षर ही है। वह इन सब विकृतियों की प्रकृति (आत्मा) है। इसीलिए इसे आत्मक्षर कहते हैं। इससे सर्वप्रथम ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम इन पाँचों के विकार उत्पन्न होते हैं। वे ही क्रमशः प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद व अन्न कहलाते हैं। ये ही पाँचों विकारक्षर हैं। परन्तु ये पाँचों स्वतन्त्ररूप से नहीं रहते परन्तु पाँचों में पाँचों की आहुति हो जाती है। इसे ही सर्वहुत् यज्ञ कहते हैं। इस सर्वहुत् यज्ञ से स्वयम्भू आदि पाँच यज्ञक्षरों की उत्पत्ति होती है। इस रीति से पञ्चीकृत प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद, अन्न को क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी एवं चन्द्रमा कहते हैं। सबसे पहिला यही यज्ञ है। सर्वप्रथम होने से इसको मौलिक यज्ञ कहते हैं।

पूर्व प्रतिपादित ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम इन पाँचों अक्षरों में जो ब्रह्मा है वही प्रतिष्ठातत्व है। इस प्रतिष्ठातत्व को प्रतिक्षण उखाड़ने का प्रयत्न करने वाली विक्षेपण-धर्मयुक्त शक्ति को इन्द्र कहते हैं। इसके विपरीत ब्रह्मरूप प्रतिष्ठातत्व को सुरक्षित रखने के लिए बाहर से अन्न लाकर उसको प्रतिष्ठित रखने वाली शक्ति को विष्णु कहा जाता है। इन्द्र प्रतिक्षण वस्तुओं को केन्द्र से बाहर फेंका करता है तथा विष्णु प्रतिक्षण बाहर से वस्तुओं को लाकर केन्द्र में जमा करता रहता है। यह आदान और विसर्ग प्रतिक्षण वस्तु-केन्द्र में होता रहता है। विष्णु जिस पदार्थ को बाहर से लाता है वह सोम तथा इन्द्र जिस वस्तु को बाहर फेंकता है वह अग्नि कहलाता है।

हमारे शरीर में रोमावलियों द्वारा जितना सा अग्नि बाहर निकल जाता है शरीर-

स्थित विष्णुशक्ति सोमाहुति द्वारा उस अग्नि की पूर्ति कर देता है। यद्यपि इस यज्ञ में अग्नि और सोम की प्रधानता है। क्योंकि उन्हीं से यज्ञ का स्वरूप बनता है तथापि इस यज्ञ की स्थिति विष्णुशक्ति पर ही निर्भर है। क्योंकि वही सोमाहुति द्वारा यज्ञ निष्पन्न करती है। अतः 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि वचनों में विष्णु को यज्ञ बतलाया गया है। पञ्चीकृत प्राणादि से निष्पन्न होने वाले स्वयम्भू आदि पाँचों मण्डलों में सोम परमेष्ठीमण्डल की वस्तु है। इस परमेष्ठीमण्डल में भृगु, अंगिरा, अत्रि ये तीन मनोता उत्पन्न होते हैं। इनमें जो भृगु है वही आप्, वायु व सोमरूप है। यह सोम सूर्य से भी ऊपर तीसरे द्युलोक में है। अतएव श्रुति में 'तृतीयस्यां दिवि वै सोम आसीत्' यह कहा गया है। यही सोम अग्नि में आहुत होकर विश्वयज्ञ का निष्पादक बनता है। पृथिवी के रथन्तर साम तक व्याप्त जो गायत्री (प्रतिफलित सूर्यरश्मियाँ) है उसमें इसकी आहुति होती रहती है। इस सोम की आहुति से ही सम्पूर्ण विश्व का निर्माण होता है। इसीलिए श्रुति ने जगत् को अग्नि-सोमात्मक बतलाया है— 'अग्नीषोमात्मकं जगदिति'।

यह उपरिप्रतिपादित सर्वहुत् यज्ञ स्वयम्भू परमेष्ठी आदि भेद से पञ्चावयव है, अतएव 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' इस वचन के द्वारा यज्ञ को पाङ्क्त बतलाया गया है। यह मौलिक यज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) है, अतः संसार के सभी यज्ञ पञ्चावयव ही समझने चाहिए। इसी पाङ्क्तत्व के कारण शरीर पाञ्चभौतिक कहलाता है। हाथ, पैरों की अङ्गुलियाँ भी पाँच पाँच होती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच पाँच ही हैं। निष्कर्ष यह है कि यज्ञ-मात्र पाङ्क्त है। इसी यज्ञ से अखिल विश्व का निर्माण होता है, अतएव भगवान् ने गीता में कहा है——

'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ गीता तृ. ३।१०

इसी प्राकृत यज्ञ के अनुसार भारतीय महर्षियों ने यज्ञप्रक्रिया का निर्माण किया। जैसी स्थिति इस आधिदैविक यज्ञ की थी ठीक उसी की नकल पर यज्ञविद्या का आविष्कार उन्होंने किया।

ऊपर बतलाया गया है कि सूर्य से भी ऊपर परमेष्ठी मंडल में रहने वाला सोम पृथिवी की राथन्तर अग्नि में आहुत होता रहता है। इसी सोमाहुति से विश्वयज्ञ की निष्पत्ति होती है, अतः सोम को भी यज्ञ कहा जाता है।

वैधयज्ञ—

भारतीय महर्षियों ने इसी प्राकृतिक सोम तत्व को पहचान कर विचार किया कि क्या कोई ऐसा भी उपाय है जिससे जीवित अवस्था में ही इस सूर्य के उपरिभागस्थित

सोम की प्राप्ति हो जाय, अर्थात् उस सोम से हम अपनी आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध कर सकें। इस विचार से उन्होंने उपाय को खोजना शुरू किया और अंततोगत्वा उस उपाय को मालूम कर लिया जो उपाय आज यज्ञविद्या नाम से प्रसिद्ध है। इसी यज्ञविद्या के प्रभाव से भारतीय महर्षियों ने उस उच्चासन को प्राप्त किया जिसके दर्शन भी औरों के लिए दुर्लभ है। दयालु महर्षियों ने न केवल अपने को उस पद पर पहुँचाया अपितु यज्ञविद्या का शास्त्ररूप में संकलन कर अपने वंशजों को भी इस महानिधि का स्वामी तथा इस उच्चपद का अधिकारी बना दिया। इस वेदविद्या के प्रभाव से ही सम्प्रति भाहत यह भारत आज भी अपने को सर्वश्रेष्ठ कहने का दावा कर रहा है। अस्तु, प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि भारतीय महर्षियों ने उस मार्ग को ढूंढ निकाला जिससे कि सूर्य के उपरिभागस्थित सोम का सम्बन्ध मानव की आत्मा से हो सकता है।

सूर्य हमारे से बहुत दूर है अर्थात् पृथिवी के इक्कीसवें अहर्गण पर है। इस इक्कीसवें अहर्गण तक पृथिवी का अमृताग्नि वितत रहता है। इस अमृताग्नि की मात्रा अर्चिः, अहः, शुक्लपक्षः, ऋतवः, उत्तरायणमासाः, संवत्सरः इन भागों में विभक्त हैं। निष्कर्ष यह है कि हमारे शरीर का अग्नि जितनी दूर तक मंडल बनाता है वही 'अर्चिः' नाम से प्रसिद्ध है। तदनन्तर जिनका जो अग्निमंडल है जो कि अर्चिष् से भी बड़ा है वही 'अहः' कहलाता है। तत्पश्चात् शुक्लपक्ष का अग्निमंडल जो कि अहः से भी बड़ा है 'पक्ष' कहलाता है। इसके पश्चात् इससे भी व्यापक जो ऋतु की अग्नि है वही 'आर्तव' अग्नि कहलाती है। इसके बाद इससे भी जो व्यापक अग्नि है वह उत्तरायण कहा गया है। अन्त में जो सूर्य का ज्योतिर्मण्डल है उसे ही 'संवत्सर' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि अग्नि क्रमशः अर्चिष् से प्रारम्भ कर संवत्सरपर्यन्त अपना पूरा स्वरूप समाप्त कर लेता है। इस प्रकार पृथिवी से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त अहः आदि विभागों में विभक्त होता हुआ यह राथन्तर अग्नि सूर्य तक वितत रहता है। इसी अग्नि में सूर्योपरिभागस्थित सोम की आहुति होती रहती है। यह राथन्तर अग्नि ही अमृताग्नि व दिव्याग्नि कहलाता है।

हमारे शरीर में जो वैश्वानराग्नि है वह भौतिक अग्नि है न कि दिव्याग्नि। जब तक दिव्याग्नि को आत्मसात् नहीं कर लिया जाता, तब तक उस पारमेष्ठ्य सोम का हमारे से साक्षात् सम्बन्ध नहीं बन सकता। यद्यपि दिव्याग्नि ब्रह्मरन्ध्र द्वारा हमारे में आता है किंतु वह इतनी अल्प मात्रा में आता है कि हम केवल इसी की सहायता से उस सोम को प्राप्त नहीं कर सकते। अतः इस सोम की प्राप्ति के लिए वैध अग्नि का आधान करना पड़ता है। सोमप्राप्ति के लिए जो वैध दिव्य अग्नि का आधान है वही अग्न्याधान कहलाता है।

यह बतलाया जा चुका है कि अग्नि क्रमशः अर्चिष्, अहः, शुक्लपक्ष आदि रूप से विभक्त है। जब तक वह अग्नि 'अर्चिष्' में नहीं पहुँचेगा तब तक 'अहः' में नहीं पहुँचेगा।

'अह:' में बिना पहुँचे 'शुक्लपक्ष' में नहीं पहुँच सकता। शुक्लपक्ष में बिना पहुँचे आर्तव-अग्नि में नहीं पहुँच सकता। आर्तव अग्नि में बिना पहुँचे उत्तरायण में तथा उत्तरायण में बिना पहुँचे संवत्सर में नहीं पहुँच सकता और संवत्सर में पहुँचे बिना सोम की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः सोमप्राप्ति के लिए 'अह:' आदि सारी कोटियों (मंजिलों) को पार करना आवश्यक है। इसीलिए महर्षियों ने आधिदैविक यज्ञ के अनुसार सर्वप्रथम वैज्ञानिक अग्न्याधान का आविष्कार किया। यह अग्न्याधान अर्चिस्स्थानापन्न है। तदनन्तर अग्निहोत्र आदि यज्ञों का विधान किया। अग्निहोत्र में सायं प्रात: जो आहुति दी जाती है उससे अह: अग्नि को आत्मसात् किया जाता है। तत्पश्चात् दर्शपूर्णमास में पन्द्रहवें दिन जो आहुति दी जाती है उससे पाक्षिक अग्नि को आत्मसात् किया जाता है। तदनन्तर चातुर्मास्य यज्ञ से आर्तव अग्नि, अयनयाग अर्थात् पशुबन्ध इष्टि से उत्तरायणस्थित अग्नि को आत्मसात् किया जाता है तत्पश्चात् संवत्सर की प्राप्ति होती है। इसी सांवत्सरिक सोमयज्ञ से सोम की प्राप्ति होती है। निष्कर्ष यह है कि अग्न्याधान के बिना अग्निहोत्र का, अग्निहोत्र के बिना दर्शपूर्णमास का, दर्शपूर्णमास के बिना चातुर्मास्य का, चातुर्मास्य के बिना अयनयाग (पशुबन्ध इष्टि) का और अयन याग के बिना मानव सोम याग का अधिकारी नहीं हो सकता। और जब तक संवत्सर अग्नि तक नहीं पहुँचता तब तक सोम की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

१. अग्न्याधान	=	अर्चिस्साधक कर्म (वसन्तादि ऋतु में अग्न्याधान)
२. अग्निहोत्र	=	अह: साधक कर्म (सायं प्रात:)
३. दर्शपूर्णमास	=	पक्षाग्नि साधक कर्म (अमा, पूर्णिमा)
४. आग्रायण (चातुर्मास्य)	=	आर्तव अग्नि साधक कर्म (शीत, उष्ण, वर्षा, चार-चार मास के अनन्तर)
५. अयन (पशुबन्ध)	=	अयनाग्निसाधक कर्म (छ: छ: मासों में)
६. सोमयाग	=	सोमप्राप्त्यर्थ (सांवत्सरिक)

पूर्वोक्त तालिका से सिद्ध हो जाता है कि सर्वप्रथम अग्न्याधान ही करना चाहिए तथा तत्पश्चात् दर्शपूर्णमास। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य ने पहिले दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण किया है। इसका कारण यही है कि सोमयाग से पहिले जितने भी यज्ञ होते हैं वे यज्ञ न कहलाकर इष्टियाँ कहलाती हैं। ये इष्टियाँ कुल एक हजार प्रकार की हैं। अग्निहोत्र इष्टि दर्शपूर्णमासेष्टि की विकृति है। जो जो कर्म दर्शपूर्णमास में होते हैं वे ही अग्निहोत्र में होते हैं। जैसा कि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश वचन से सिद्ध है। अतः विकृति इष्टि अग्निहोत्र के निरूपण के लिए उसके प्रकृतिभूत दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण प्रथम

आवश्यक है। इसी दृष्टि से दर्शपूर्णमास का निरूपण शतपथ में पहिले किया गया है तत्पश्चात् अग्निहोत्र का। किन्तु अग्निहोत्र के बिना दर्शपूर्णमास का अधिकार प्राप्त नहीं होता अतः कर्मानुष्ठान में पहिले अग्निहोत्र का अनुष्ठान होगा तत्पश्चात् दर्शपूर्णमास का।

उपर्युक्त दृष्टि से निरूपणक्रम में प्रथम काण्ड में दर्शपूर्णमासेष्टि का निरूपण करने के पश्चात् अब द्वितीय काण्ड में 'अग्न्याधान' कर्म का निरूपण किया जा रहा है।

अग्न्याधान प्रकरण

१ सम्भार-ब्राह्मण

अग्निहोत्रादि कर्म गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय इन तीन अग्नियों से सिद्ध होते हैं। अतः त्रेताग्निसाध्य होने से उनके कारणभूत अग्न्याधान का निरूपण आवश्यक है। इस अग्न्याधान प्रकरण में सात ब्राह्मण हैं। उनमें सर्वप्रथम सम्भार ब्राह्मण है जिसमें व्यापक अग्नि जिन जिन स्थानों व वस्तुओं में प्रवर्ग्य बन गया है उन उन स्थानों से उसका सम्भार (इकट्ठा करना) बतलाया गया हैं।

व्याख्या :—सर्वप्रथम यह ऋत्विक् इधर-उधर से जो अग्नि का सम्भरण करता है, यह सम्भरण ही सम्भारों का सम्भारत्व है, अर्थात् इधर-उधर से तत्तत् वस्तुओं से जो अग्नि को इकट्ठा करता है, यही सम्भारों (सामग्री) का सम्भारत्व है। इसी को स्पष्ट करते हुए ग्रंथकार कहते हैं कि जहाँ जहाँ (जिस जिस स्थान में) अग्नि का भाग निलीन हो गया है, घट गया है अर्थात् व्यापक अग्नि जिन जिन स्थानों में—जिन जिन वस्तुओं में प्रवृक्त बन गया है उन उन स्थानों में इसको इकट्ठा किया जाता है।

यह अग्नि यश, पशु और मिथुन इन तीन भागों में विभक्त है, अतः इस अग्नि को कुछ तो यश से, कुछ पशुओं से, कुछ मिथुन से बढ़ाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–मिथुन और पशु से तो अग्नि का सम्भरण किया ही जाता है परन्तु जो यशोग्नि है उसी से अधिकांशतः इस अग्नि को बढ़ाते हैं। अर्थात् पूर्वोक्त तीनों में यशोग्नि ही श्रेष्ठ है। यशोभाग पशु और मिथुन की अपेक्षा श्रेष्ठ इस कारण से है कि 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इस निगम के अनुसार संसार के यावन्मात्र पदार्थों में चार अवस्थायें विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि समस्त पदार्थ चार ही प्रकार के हैं—

१. भर्गः, २. महः, ३. यशः, ४. श्रीः।

आग्नेय पदार्थों को भर्ग कहते हैं। अग्नि का सम्बन्ध पृथिवी से है। अतः 'भर्ग' को पार्थिव पदार्थ भी कहा जा सकता है। जो पदार्थ ऐन्द्र अर्थात् अन्तरिक्षस्थित मरुत्वान् इन्द्र से सम्बन्धित हैं उन्हें 'महः' कहते हैं। तथा मघवा इन्द्र से सम्बन्धित द्युलोकस्थित पदार्थों को

'यश:' कहा जाता है तथा पारमेष्ठ्य पदार्थों को 'श्री:' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। पृथिवी मण्डल में ये चार प्रकार के पदार्थ हैं। यद्यपि ये भिन्न भिन्न लोकों के पदार्थ हैं तथापि जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं उन सब में इन चारों भावों की सत्ता है।

यद्यपि 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' इस श्रुति में सौर पदार्थों को भर्ग कहा गया है तथापि सूर्य में इन्द्र की तरह अग्नि की भी सत्ता विद्यमान है अतः उस आग्नेय भाग को लक्ष्य में रखकर ही सूर्य में भर्ग की सत्ता बतलायी गयी है। दूसरा कारण यह भी है कि 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्र गायत्रीमन्त्र है। गायत्री अग्नि का छन्द है। इस गायत्री छन्द से सूर्यस्थित अग्निमयी गायत्री की आराधना की जाती है। इसी को सूचित करने के लिए मन्त्र में 'भर्ग' पद दिया गया है। यजुर्वेद में जिसे 'श्री:' कहते हैं, अथर्ववेद में उसी के लिए 'सर्वम्' का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि वेद में जहाँ 'भर्ग' पद का प्रयोग हो वहाँ उससे अग्नि का, जहाँ 'मह:' पद का प्रयोग हो, वहाँ उससे आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्र का, जहाँ 'यश:' पद आए, वहाँ सौर मघवा इन्द्र का तथा 'श्री:' एवं 'सर्वम्' पद आवे वहाँ परमेष्ठीमण्डल का अर्थ समझना चाहिए। ये चारों भाग एक ही पदार्थ में भिन्न भिन्न प्रकार से रहते हैं। उदाहरण के लिए बल को लीजिए। जो आत्मीय बल है, जिस बल से प्राणी जीवित है, वह बल भर्ग कहलाता है। यह भर्ग प्रत्येक प्राणी में होता है। दुर्बल से दुर्बल प्राणी भी जो जीवित है वह इसी भर्ग की महिमा है। तात्पर्य यह है कि जिस बल के विना प्राणी की स्थिति नहीं रह सकती वह बल भर्ग कहलाता है किन्तु जो बल आगन्तुक है, जिस बल से प्राणी की पुष्टि होती है उस बल को 'मह:' कहते हैं। एक दुर्बल मानव जो व्यायाम द्वारा अपने शरीर को पुष्ट कर लेता है तो उसको पुष्ट करने वाला जो आगन्तुक बल है वही 'मह:' कहलाता है। इस आगन्तुक बल के बिना भी वह मनुष्य जीवित रह सकता था, क्यों कि उसके पास उसका आत्मीय बल 'भर्ग' विद्यमान था। इसी प्रकार तपोबल से साध्य जो विशेष ज्ञान है, जो कि वैध प्रक्रिया द्वारा सम्पादित किया जाता है, जो कि सामान्य मनुष्य में नहीं होता उसे ही 'यश:' कहते हैं। यह बल श्रेष्ठ वर्ण वाले पुरुष जिनका वंश अति पवित्र है, उनमें तपश्चर्या द्वारा उत्पन्न होता है। 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्त' यह बल 'भर्ग' और 'मह:' दोनों का ही दमन करने वाला एवं ज्ञानात्मक है। इस यश के अनन्तर जो एक अतिशयविशेष मानव में उत्पन्न होता है, जिसे कि प्रभाव या रौब कहते हैं, वह 'श्री:' कहलाता है। जिसमें यशोबल(तपोबल) उत्पन्न हो जाता है, उसकी तरफ सहसा कोई दृष्टिपात भी नहीं कर सकता। बस, यही चौथा बल 'श्री:' कहलाता है।

घटादि में भी इन चारों भावों की सत्ता है। अग्नि के ताप से घट को जब परिपक्व कर लिया जाता है, उस समय जो आग्नेय तेज घट की अपनी वस्तु बन गया है एवं जिस

आग्नेय तेज के कारण घड़ा लाल दिखाई देता है वही 'भर्ग' है। तत्पश्चात् उस घट को फिर अग्नि में तपाया जाय तो वह आगन्तुक ताप 'महः' कहलाता है एवं उस ताप के आधिक्य से घट में जो चमक पैदा होती है, वही 'यश' है। इन सारी क्रियाओं से पूर्व घट की अपेक्षा इस घट में जो अतिशय उत्पन्न हो जाता है, वही 'श्री' है। उपर्युक्त रीति से संसार के प्रत्येक पदार्थ में ये चारों अवस्थायें हैं।

१. भर्गः = पार्थिवम् = अग्नि (आत्मीय बल भर्ग)

२. महः = आन्तरिक्ष्यम् = आन्तरिक्ष्य मरुत्वान् इन्द्र (आगंतुक बल)

३. यशः = सौर या पारमेष्ठ्य = सौर मघवा इन्द्र (तपोबल)

४. श्रीः = पारमेष्ठ्य या स्वायम्भुव = पारमेष्ठ्य (शोभाधायक बल)।

महः यशः आदि का विस्तृत विवेचन शतपथ के छठे काण्ड के प्रथम तथा द्वितीय ब्राह्मण में किया गया है।

उपर्युक्त तालिका से यह सिद्ध होता है कि 'यश' सौरमण्डल की वस्तु है। यज्ञ से सौरमण्डल में ही पहुँचा जाता है, अतः अग्नि का जो यश भाग है उसे मिथुन व पशु की अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया गया है ॥१॥

यह अग्नि का सम्भार पाँच स्थानों से किया जाता है, जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है। यद्यपि इन पाँचों का उपयोग क्रम क्रम से ही होता है तथापि इनको पहिले ही इकठ्ठा कर लिया जाता है क्योंकि सामग्री का सम्भार पहिले ही आवश्यक है।

भूम्युल्लेख—

तदनन्तर जिस जगह अग्न्याधान किया जाता है उस स्थान की थोड़ी सी मिट्टी ऊपर से कुरेदकर फेंक दी जाती है। पृथिवी के ऊपर जो कंकड़ आदि बाहर से उड़कर आ जाते हैं उनके इकट्ठे होने से भूमि का वास्तविक रूप अन्तर्हित हो जाता है, उन पृथिवी के स्वरूप से अतिरिक्त आगन्तुक तृणादि पदार्थों को तथा अमेध्य भाव को ही इस पृथिवी के ऊपर से हटाकर फेंक दिया जाता है। ऐसा करने से यज्ञिय पृथिवी में ही आधान हो जाता है। हम यज्ञिय पृथिवी में ही अग्न्याधान करें इसीलिए भूमि का उल्लेखन किया जाता है। पृथिवी में से एक अग्नि निकलता रहता है। इस अग्नि के प्रभाव से ही यह पृथिवी 'यज्ञिया' कहलाती है। इस यज्ञिय पृथिवी पर जब कूड़ा करकट इकट्ठा हो जाता है तो उससे निकलते हुए अग्नि का स्वरूप दूषित एवम् आवृत हो जाता है। ऐसा होने से वह स्थान एक प्रकार से थूकने लायक (अभिष्ठ्यूत) अर्थात् अमेध्य हो जाता है। इस अमेध्य भाग को हटाने के लिए तथा तृणादि रहित पृथिवी के वास्तविक यज्ञिय स्वरूप पर अग्न्याधान करने के लिए ही

भूमि का उल्लेखन किया जाता है । तात्पर्य यह है कि जहां अग्न्याधान करना है उस भूमि को पहिले साफ कर लेना चाहिए ।।२।।

१. उदकसम्भरण

तदनन्तर साफ की हुई पृथिवी पर जल का प्रोक्षण करते हैं । पाँच सम्भारों में से यह पहिला सम्भार है जो कि पानी से प्रोक्षण करते हैं । इसका कारण बतलाते हुए कहा गया है कि जिस पृथिवी पर हम बैठे हुए हैं उस पृथिवी पिण्ड के सबसे पहिला वायुस्तर है जिसे कि 'भू वायु' या 'एमूषवराह' कहते हैं । इस वायुस्तर के बाद पानी का स्तर है । शरीरस्थ एवं नदी आदि में स्थित जो चार प्रकार का पानी है, जो कि सूर्य किरणों द्वारा ऊपर खिंच कर जमा होता रहता है, वही पानी का स्तर है । इसके पश्चात् तेज का स्तर है अर्थात् सूर्य है । तदनन्तर वायु (पारमेष्ठ्य समुद्र) का स्तर है । तत्पश्चात् आकाशस्तर है । इसी अभिप्राय से 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादि कहा जाता है ।

पृथिवी के ऊपर जो पानी का स्तर है, इसी पानी से आपः फेन आदि क्रम से पृथिवी की उत्पत्ति होती है । तात्पर्य यह है कि सूर्य किरणों द्वारा खिंचा हुआ जो पानी है वही अन्नस्वरूप है । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पानी वास्तव में अन्न ही है क्योंकि जब पानी इस पृथिवी लोक में आता है तभी अन्नादि की उत्पत्ति होती है, अर्थात् वह पानी ही अन्नरूप में परिणत होता है । इस प्रकार प्रकृत में पानी का प्रोक्षण करते हुए अन्न से इस पृथिवी को बढ़ाते हैं । अर्थात् यह अग्नि खूब समृद्ध अन्न देने वाला बने इस भावना से ही पानी का प्रोक्षण किया जाता है ।

वैदिक परिभाषा में उपकरणसामग्री को पशु कहते हैं । क्योंकि अन्न उपकरण है अतः यह भी पशु ही कहा जाता है । इस प्रकार पानी का प्रोक्षण करना एक प्रकार से पशुभाग से अग्नि को समृद्ध करना है ।।३।।

पानी के प्रोक्षण का तीसरा कारण और भी है—यह पानी योषा (स्त्री) स्वरूप है एवं अग्नि वृषा (पुरुष) स्वरूप है । अतः पानी का प्रोक्षण करते हुए अग्नि पानी को अर्थात् योषा वृषा के मिथुन को ही प्रजनन क्रिया से बढ़ाना है ।

यह बतलाया जा चुका है कि अग्नि में सोम की आहुति से यज्ञ निष्पन्न होता है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि योषा वृषा के मेल से ही यज्ञ होता है । प्रकृत में हमें यज्ञ करना है अतः प्राकृतिक नियमानुसार यहाँ भी उसी मिथुन की सम्पत्ति के लिए पानी का प्रोक्षण किया जाता है । क्योंकि यज्ञ दिव्यात्मा की उत्पत्ति के लिए किया जाता है और दिव्यात्मोत्पत्ति बिना प्रजनन के नहीं हो सकती इसलिए इस मिथुन रूप प्रयोजन के लिए ही पानी का प्रोक्षण करते हैं ।

चौथा कारण यह है कि स्वयम्भू मण्डल से सर्वप्रथम पानी की उत्पत्ति होती है एवं इस पानी से ही मैथुनी सृष्टि होती है। इसलिए यह कहा जाता है कि यह सम्पूर्ण विश्व इस पानी से ही व्याप्त है। अतः सर्वत्र व्याप्त पानीरूप यज्ञ से यज्ञ को सर्वात्मना सम्पन्न करने के लिए यज्ञस्वरूप पानी का प्रोक्षणरूप संभार किया जाता है। प्रारम्भ में बतलाया गया था कि कुछ मिथुन-भाग से एवं कुछ पशुभाग से इस यज्ञ को बढ़ाते हैं, किन्तु इन दोनों का समावेश इस पानी में ही हो जाता है, क्योंकि पानी का प्रोक्षण योषात्मक है इसलिए इससे मिथुनभाव का संग्रह हो जाता है और पानी अन्नस्वरूप है एवं अन्न उपकरण है। अतः उपकरण होने से उपकरणरूप पशुभाव का भी इससे संग्रह हो जाता है। अतः पानी के सम्भरण से इस यज्ञ को पशु और मिथुन इन दोनों भावों से समृद्ध करते हैं ॥४॥

२. सुवर्णसम्भरण

तदनन्तर सुवर्ण का सम्भार करते हैं अर्थात् उस भूमि पर सुवर्ण रखते हैं। पाषाणों की जहाँ बड़ी बड़ी गुफाएँ होती हैं वहाँ उष्मा के कारण पत्थर पिघल जाते हैं। यह द्रुत-भाग ही आती हुई सूर्यरश्मियों को पीकर सुवर्णरूप में परिणत हो जाता है। सभी पाषाण सुवर्ण नहीं बनते, किन्तु जिस पाषाण में सुवर्ण निर्माण करने वाली सूर्य-रश्मियों के ग्रहण करने की शक्ति होती है वही पाषाण सुवर्णरूप में परिणत होता है। तात्पर्य यह है कि सुवर्ण साक्षात् सूर्य-तेज है, जो कि उष्मा से द्रवीभूत पाषाण रस की पकड़ में आ गया है। सुवर्ण के तैजस होने में दूसरा प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सुवर्ण वर्ण हिरण्मय है और सूर्य तेज भी हिरण्मय होता है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि सुवर्ण इस लोक की वस्तु नहीं अपितु द्युलोक की वस्तु है। द्युलोक की वस्तु उपर्युक्त रीति से यशस्स्वरूप होती है, अतः हिरण्य का सम्भरण यशोभाग से यज्ञ को समृद्ध करना है।

सूर्यस्थित पदार्थों को देवता कहते हैं। इसी अभिप्राय से सुवर्णोत्पत्तिविज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'मैं इस पानी के साथ मिथुनी बनूं' इस इच्छा से अग्नि ने पानी की तरफ अपना रुख किया और इस प्रकार अग्नि (सौर तेज) ने पानी के साथ योग कर लिया। योग करके अग्नि ने उस पानी में अपने वीर्य्य (अग्नि-परमाणु) का सिञ्चन किया। बस, वही सुवर्ण बन गया। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—यह सुवर्ण अग्नि के रेत (परमाणु) से उत्पन्न हुआ है, अतः अग्नि के समान ही यह सुवर्ण पीला है। सुवर्ण को जब कभी प्राप्त करते हैं पानी में ही प्राप्त करते है, क्योंकि सुवर्ण अग्नि का रेत (वीर्य्य) है और अग्नि ने पानी में ही अपने वीर्य का सेचन किया था। याज्ञवल्क्य इस कथन के द्वारा यह भी संकेत देना चाहते हैं कि सुवर्ण की खान वहीं हो सकती है जहाँ पर

पानी का बाहुल्य हो । क्योंकि रस भाग से ही आग्नेय परमाणु प्रवृक्त होते हैं। सुवर्ण अग्नि का रेत है, अतः इसका उल्लङ्घन नहीं किया जाता । क्योंकि सुवर्ण का उल्लङ्घन अग्नि का उल्लङ्घन है, और अग्नि का उल्लङ्घन देवता का उल्लङ्घन है । इसीलिए सुवर्ण का सामान्य कार्यों में भी उपयोग नहीं होता । सुवर्ण सौरतेजोरूप होने से यशरूप है इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा है—यह सुवर्णरूप सौरतेज अग्नि देवता के वीर्य से उत्पन्न हुआ है अतः यशस्स्वरूप है । इसका सम्भार करना यशस्तत्व से यज्ञ को समृद्ध करना है और सुवर्ण अग्नि का वीर्य्य है, अतः इसका सम्भार वीर्य्यसहित अग्नि का आधान करना है अर्थात् अग्नि का सर्वात्मना ग्रहण करना है ॥५॥

३. ऊष (क्षार) सम्भरण

इसके बाद क्षार का सम्भरण किया जाता है। वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि पार्थिव मण्डल के यावन्मात्र पदार्थ सूर्य से ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिए श्रुति ने कहा है— 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' । इति । पानी के स्थान में जो क्षार जम जाता है वह भी उपर्युक्त सिद्धांत से द्युलोक का ही भाग है । उपकरण सामग्री को पशु कहा जाता है यह क्षारभाग तृणादि की तरह पृथिवी का उपकरणभूत है, अतः इसे क्षार (पशु) कहा जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस द्युलोक ने पृथिवी के लिए इन पशुओं (क्षार) को दिया। इसीलिए तात्कालिक लोग ऊषर स्थान को अर्थात् क्षारभूमि को 'पशव्य' कहा करते थे, क्योंकि यह क्षारभूपि वास्तव में साक्षात् पशु ही है । इसीलिए पशु अधिकांश रूप से क्षार-प्रधान भूमि में ही बैठते हैं एवं इस क्षार से पशुओं के कितने ही रोग नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार ऊष (क्षार) का सम्भरण करना पशुओं से इस यज्ञ को समृद्ध करना है। यह ऊष (क्षारभाग) द्युलोक से आकर पृथिवी में प्रतिष्ठित होता है, अतः इसके उभयलोकसंबंधी होने से वैज्ञानिक लोग क्षार को दोनों लोकों का रस मानते हैं। इस प्रकार ऊषसम्भरण द्युलोक तथा पृथिवीलोक के रस से यज्ञ को समृद्ध करना है। अतः ऊष का सम्भरण किया जाता है ॥६॥

४. आखुकरीष-सम्भरण

इसके पश्चात् मूषक के बिल की मिट्टी (आखुकरीष) का सम्भरण किया जाता है। संसार में जितने भी प्राणी हैं, परमेश्वर ने उनको भिन्न भिन्न शक्तियाँ प्रदान की हैं। जिस प्राणी में जो शक्ति है वही उस तत्व को पहिचानने में समर्थ होता है। उदाहरणार्थ कुत्ते में विषसम्पृक्त अन्न को पहिचानने की, काक में अतिथि आगमन के पहिचानने की, सर्पराज में धन-परीक्षण की, कच्छप में वृष्टिपरिचय की शक्तियाँ होती हैं। उपर्युक्त प्राणियों में ये शक्तियाँ हैं यह बात लोकानुभवसिद्ध है। इसी प्रकार मूषक में पार्थिव

रस को पहिचानने की शक्ति है। मिट्टी का जो वास्तविक याज्ञिक रस भाग है उसको केवल मूषक पहिचानता है।

अष्टविध पृथिवीनिरूपण—

मृत्तिका की निम्नलिखित आठ जातियाँ हैं—१. आपः, २. फेन, ३. उषः, ४. सिकता, ५. शर्करा, ६. अश्मा, ७. अयः, ८. हिरण्य। अप् से लेकर हिरण्य तक सब मृत्तिका के ही भेद हैं। इन आठों की उत्पत्ति संक्षेपतः निम्न प्रकार से है—प्रकृति में आकाश तत्व से वायु उत्पन्न होता है जो कि 'परमेष्ठी समुद्र' कहलाता है। इस वायु के घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है। तदनन्तर अग्नि के घर्षण से पानी तथा पानी से इस पृथिवी का निर्माण होता है। पृथिवी का आरम्भक यह जल स्थूल जल है न कि सूक्ष्म—यह पहिले बतलाया जा चुका है। इसी तथ्य को श्रुति बतला रही है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी'। संसार के सभी पदार्थ अग्नि और सोम के संयोग से उत्पन्न होते हैं, यह वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है। जल भी सोम की घनावस्था होने से सोमरूप ही है, अतः जब इस 'आप् (जल) में रात की ओस एवं दिन की गर्मी पड़ती है तो इस ओस (सोम) और गर्मी (अग्नि) से उस आप् का हिस्सा जो गाढ़ा हो जाता है अर्थात् उसके ऊपर का भाग ओस और धूप के कारण कुछ घनता में परिणत हो जाता है, यही घन द्रव्य 'पुष्करपर्ण' कहलाता है। तालाब या समुद्र के किनारे जो छोटे छोटे गोल गोल, हरे हरे पत्ते से दिखाई देते हैं, उन्हें ही 'पुष्करपर्ण' कहते हैं। पानी से सर्वप्रथम यही पुष्करपर्ण उत्पन्न होता है। यदि इस पुष्कर-पर्ण को हाथ से मसल दिया जाय तो उसी समय यह पानी हो जाता है। आप् (पानी) से स्वरूपान्तरित हो जाने पर भी, इसी कारण, इसे 'आपः' ही कहते हैं। किन्तु यह शुद्ध आप् से विजातीय पदार्थ है क्योंकि घन है और पृथिवी का प्रथम रूप है अतः इसे पृथिवी जाति में ही माना जाता है। यही पृथिवी की प्रथमावस्था है। इसके पश्चात् इस पुष्कर-पर्णरूप आप् से फेन उत्पन्न होते हैं।

जिस समय पानी में रुद्र वायु प्रवेश करता है उस समय पानी में बुद्बुद उत्पन्न होता है। जब भी यह बुद्बुद बड़ा होता है तो स्वभावतः गोल बुद्बुद के ऊपर का पानी इधर-उधर लुढ़क जाता है और रुद्रवायु बाहर निकल जाता है। परन्तु जब छोटे बुदबुद होते हैं तो उनमें पानी के बार बार के प्रहार से वायु निकलने नहीं पाता और करीब एक घंटे बाद वह वायु और पानी दोनों ही सूक्ष्मरूप से च्युत होकर मृत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। यही वायु और पानी के मेल से उत्पन्न पदार्थ फेन कहलाता है। वह वायु पानी में स्वतः प्रविष्ट नहीं होता अपितु पानी में एक प्रकार के कीड़े होते हैं वे जो श्वास लेते हैं तब उनके श्वास से रुद्रवायु खिच कर पानी में प्रविष्ट हो जाता है। रुद्रवायु और पानी का

स्वाभाविक वैर है। एक घंटे से अधिक समय तक वायु पानी में नहीं ठहर सकता और उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है, वही स्वस्वरूपच्युत वायु और पानी फेन कहलाते हैं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार ये कीड़े ही फेन के उपादानकारण हैं। यह बात वैदिक विज्ञान के विरुद्ध है। वैदिक विज्ञान के अनुसार फेन का कारण केवल वायु है। फेन का ही नहीं अपितु संसार के यावन्मात्र पदार्थों का उपादान कारण वायुमय भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही है। कीट केवल निमित्त कारण ही हो सकते हैं। यह फेन न आर्द्र है और न शुष्क। अतएव वेद में इसके लिए 'नार्द्रं न शुष्कम्' ऐसा कहा गया है। यह फेन चार प्रकार का होता है। तदनन्तर इस फेन से ऊष (क्षार) की उत्पत्ति होती है जिसे कि वैदिक विज्ञान 'मृत्' कहता है। फेन पर जब रात्रि की ओस एवं दिन की गर्मी का सम्बन्ध होता है तब उसमें ओस के संबंध से स्नेह (चिकनाई) उत्पन्न होता है एवं धूप से उसमें आग्नेय रुद्रवायु का प्रवेश हो जाता है। इन दोनों के प्रवेश से फेन अपने 'नार्द्रं न शुष्कं' इस भाव से हट कर कुछ शुष्क भाव में परिणत हो जाता है। फेन की इसी अवस्था को 'ऊष' कहते हैं जो कि 'क्षार' अथवा 'मृत्' नाम से प्रसिद्ध है। यह 'ऊष' तीन प्रकार का है।

तत्पश्चात् ऊषरूप क्षार में जब अग्निसोममय धूप और ओस का संबंध होता है तब वही क्षार सिकता (चिकनी मिट्टी) रूप में परिणत हो जाता है। ओस (सोम) के कारण उस क्षार में स्नेह पैदा होता है और धूप (रुद्रवायु) के कारण सुखाव होता है। इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध में क्षार क्षारत्व से हटकर चिकनाई और कुछ घनता के रूप में परिणत हो जाता है। पृथिवी की यही अवस्था सिकता कहलाती है। सिकता चिकनी मिट्टी है, इसी अभिप्राय से वेद में कहा गया है कि – 'यदि किसी वस्तु को खूब मथा जाता है, उस पर खूब बल लगाया जाता है तो वह पिसते पिसते सिकता के समान हो जाती है अर्थात् नर्म हो जाती है। (शतपथ ६।१।३।४) ये सिकताएं (मिट्टी) कुल ६३ प्रकार की होती हैं।

इसके बाद जब इस सिकता पर ओस और धूप का सम्बन्ध होता है तब वह शर्करा (बालू मिट्टी) के रूप में परिणत हो जाती है। अर्थात् जो मिट्टी अब तक चिकनी थी वह अग्नि और सोम के सम्बन्ध से कुछ और घनता को प्राप्त करती हुई रुक्षता में परिणत हो जाती है। सिकता के जो परमाणु चिकनाई के कारण परस्पर मिले हुए थे वे अग्नि और सोम के प्रवेश से पृथक् पृथक् वर्तुलरूप में परिणत हो जाते हैं। सिकता को जहाँ से उठाते थे वहीं से उसका समूह उठ जाता था किन्तु शर्करा को यदि उठाना चाहते हैं तो उसके कण-कण इधर उधर बिखर जाते हैं। इस शर्करा से ही पत्थर बनता है। अर्थात् शर्करा में अग्नि और सोम के पुनर्व्यापार से शर्करा के कण परस्परबद्ध हो जाते हैं। शर्करा की इसी अवस्था को 'अश्मा' कहते हैं। शर्करा भी पाषाण का पूर्वरूप होने से पाषाण ही है, अतएव

भवननिर्माणादि कार्य में दृढ़ता के लिए 'बजरी' नाम से प्रसिद्ध इस शर्करा का व्यवहार किया जाता है। यह शर्करा वज्र के समान कठोर होती है। इसीलिए लोक में इसे 'बजरी' कहते हैं। यह शर्करा ग्राठ तरह की होती है ग्रौर इस शर्करा से निर्मित पाषाण ८४ प्रकार के होते हैं। पन्ना, माणिक्य, लाल, गोमेध, नीलम, पुखराज, हीरा इत्यादि रत्न पाषाणजाति के ही रूप हैं। इस शर्करा ग्रौर पाषाण के बीच की एक ग्रवस्था ग्रौर होती है जो कि लोक में 'मोरीडा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को वेद में 'स्वयमातृण्णा' कहते हैं।

तत्पश्चात् इस ग्रश्मा पर ग्रग्नि सोम का ग्रर्थात् ग्रोस ग्रौर धूप का पुनः सम्बन्ध होने पर वह ग्रश्मा 'ग्रयः' रूप में परिणत हो जाता है। जहाँ शर्करा के बड़े बड़े टीले होते हैं वहाँ उन टीलों के ग्रन्दर से एक प्रकार के काले काले ग्रत्यन्त भारी पदार्थ निकलते हैं, वैद्य लोग जिनकी 'मण्डूरभस्म' बनाते हैं। इन्हीं पदार्थों को 'ग्रयः' कहते हैं। लोक में जिसे हम लोहा कहते हैं, वह 'ग्रयः' नहीं है ग्रपितु ग्राधुनिक वैज्ञानिक वाटरवर्क्स ग्रादि में बड़े बड़े बम्बों को काम में लाते हैं वह पथरीला लोहा ही 'ग्रयः' है।

इसके बाद जब इस 'ग्रयः' पर ग्रग्नि ग्रौर सोम का पुनर्व्यापार होता है तो उससे वह 'ग्रयः' 'हिरण्य' रूप में परिणत हो जाता है। ग्रयः ही हिरण्य बनता है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब 'ग्रयः' को तपाया जाता है तो उसका रंग सर्वथा हिरण्य का सा हो जाता है। ताम्बा, रांग, जस्त, लोहा, चाँदी, सुवर्ण इत्यादि सब धातुएं हिरण्य ही हैं। इसी ग्रभिप्राय से श्रुति में चाँदी को 'हिरण्यवर्णा' कहा गया है।

इस हिरण्य पर ग्राकर पृथिवीनिर्माण-प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। परमेष्ठी (पानी) प्रजापति ने इन सब हिरण्यादि को पैदा किया, यह उसका क्षरण है। ग्रर्थात् यह पानी क्रमशः पुष्करपर्ण से प्रारम्भ कर हिरण्यपर्यन्त रूप में परिणत होता हुग्रा क्षरित होता रहता है। ग्रतः 'यस्मादक्षरत्' इस व्युत्पत्ति में ग्रट्सहित क्षर धातु का ग्रनुकरण कर इन हिरण्यादि को भी ग्रक्षर कहा जाने लगा है।

गायत्री शब्द की व्युत्पत्ति—

इस ग्रप्रूप परमेष्ठी प्रजापति का ग्रापः फेन ग्रादि भेद से ग्राठ बार क्षरण किया गया। ग्रतः ग्रष्टसंख्यासम्पत्ति के कारण यह पृथिवी गायत्री कहलायी। क्योंकि ग्रष्टाक्षरा गायत्री के ग्रनुसार जिसमें ग्रष्टसंख्या की सम्पत्ति हो जाती है, उसे गायत्री कहते हैं। पृथिवी के इन ग्राठों रूपों से वनस्पतियों ग्रौर ग्रोषधियों की उत्पत्ति हुई है। ग्रतः ग्रोषधियों ग्रौर वनस्पतियों में इन ग्राठों का रूप है। इस प्रकार ग्रापः फेनादि नौ सृष्टियाँ कहलाती हैं। जब तक पृथिवी हिरण्यादि स्वरूपों से युक्त नहीं बनी थी तब तक यह प्रतिष्ठित नहीं थी किन्तु जब ग्रापः से हिरण्यपर्यन्त ग्राठों स्वरूप निष्पन्न हो गये तो यह प्रतिष्ठास्वरूप में

निष्पन्न हो गयी। अतः 'अभूत्' इस व्युत्पत्ति से यह भूमि कहलायी। अपिच आठवें स्वरूप में परिणत होकर इस पृथिवी ने अपने को सुसम्पन्न बना लिया, अतएव 'अगायत्' - 'समपादयत्' इस व्युत्पत्ति से इसे गायत्री भी कहा जाता है। किञ्च अग्नि की मात्रा भी आठवें स्वरूप में पहुंच कर समाप्त हो गयी अतः अग्नि को भी 'यदगायत् तस्माद्गायत्री' इस व्युत्पत्ति से गायत्री कहा जाने लगा। अपि च इसी अभिप्राय से 'गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः' यह कहा जाता है। इसी सृष्टिक्रम को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदित्यादि'। 'सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधीमां प्रजनयेयम्, शतपथ ६।१।१।१२।

प्रकृत में यहाँ बतलाना है कि यह जो मूषक है वह इस पृथिवी के रस को पहिचानता है। जिस समय मूषक बिल बनाकर उसमें प्रविष्ट होता है तो गहराई में पहुँचकर वहाँ जो रसमयी मिट्टी है उसे दाँतों से काटना शुरू करता है। थोड़े समय में दाँतों से उस मिट्टी को कुतर कुतर कर उसके रसमय भाग को खा जाता है एवं अवशिष्ट मिट्टी को बाहर डाल देता है। मूषक से बाहर फेंकी हुई वह मिट्टी ही यज्ञियमृत्तिका है। तात्पर्य यह है कि यज्ञिय मिट्टी के प्रतिबन्धक भाव को मूषक खा कर नष्ट कर देता है। तदनन्तर शुद्ध याज्ञिक मृत्तिका बच जाती है। पृथिवी के रसभाग को ही मूषक पहिचानते हैं अतः ये पृथिवी के अन्तस्तल तक प्रविष्ट होकर तथा उसके रसभाग को खाकर अत्यन्त पुष्ट हो जाते हैं। इसी कारण जंगली मूषक, जो कि बिल बना कर रहते हैं, शहर के मूषकों की अपेक्षा अधिक परिपुष्ट होते हैं। निष्कर्ष यह है कि मूषक यज्ञिय मृत्तिका के प्रतिबन्धक भाव को हटा देते हैं, अतः यज्ञ को इससे समृद्ध करने के लिए यज्ञिय रसमयी मृत्तिका 'आखुकरीष' का सम्भार किया जाता है।

मृत्तिका करीष, पुरीष और पशु इन तीन भेदों में विभक्त है। लोक में जो मनुष्य सम्पन्न होता है उसे 'पुरीष्य' कहते हैं। यद्यपि करीष और पुरीष भिन्न भिन्न पदार्थ हैं तथापि मृत्तिकात्वेन दोनों एक ही वस्तु हैं। इसी सम्पत्ति के लिए करीष का सम्भार किया जाता है। हमारा यज्ञ भी पुरीष्य (सम्पन्न) हो जाय इसीलिए 'आखुकरीष' का सम्भरण किया जाता है॥७॥

५. शर्करासम्भरण

इसके अनन्तर शर्करा (बालू मिट्टी) का सम्भरण किया जाता है। इसके सम्भरण का कारण निम्नलिखित है—

पदार्थों का चातुर्विध्य—

संसार में कुल चार प्रकार के पदार्थ हैं—१. स्वज्योति, २. परज्योति, ३. रूप-

ज्योति, ४. अज्योति । स्वज्योति पदार्थों को वैदिक परिभाषा में सूर्य कहा जाता है, अतएव स्वाति नक्षत्र को भी स्वज्योति मानने के कारण सूर्य की तरह 'सविता' कहा गया है ।

इस प्रकार सूर्य, स्वाति, लुब्धक इत्यादि नक्षत्र स्वप्रकाश होने से स्वज्योति कहे जाते हैं । दूसरे प्रकार के पदार्थ परज्योति हैं । जिनमें स्वयं का प्रकाश नहीं अपितु जो सूर्य-प्रकाश से प्रकाशित होते हैं वे 'परज्योति' कहलाते हैं जैसे चन्द्रमा । चन्द्रमा प्रातिस्विक रूप से सर्वथा काला है । जैसा कि 'ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु' इस श्रुति से सिद्ध है । यह चंद्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है । जैसा कि—"अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ।" यह श्रुति बतला रही है ।

इसके अतिरिक्त संसार में जो पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे रूपज्योति पदार्थ हैं । क्योंकि बिना रूप के किसी पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता । तात्पर्य यह है कि जो असम धरातल वाले पदार्थ हैं उन पर सूर्य की किरणें टेढ़ी होकर गिरती हैं । पदार्थ के परमाणु का जैसा आकार होता है उसी वक्रादिगति से सूर्यकिरणों का उस पर प्रतिबिंब पड़ता है । असम धरातल के कारण काँच की तरह सूर्यकिरणों का पूरा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । अतः उनमें सूर्य की ज्योति आती अवश्य है किन्तु वह रूपज्योति में ही परिणत हो जाती है ।

इन तीनों से भिन्न जो पानी आदि पदार्थ हैं वे सब अज्योति हैं । चाहे लाख वर्ष तक सूर्य का संबंध पानी के साथ किया जाय तथापि पानी कभी ज्योतिर्मय नहीं हो सकता ।

इन चारों प्रकार के पदार्थों में स्वज्योति पदार्थों को वैदिक परिभाषा में देवता कहते हैं एवं अज्योति पदार्थों को 'असुर' । अर्थात् ज्योतिर्मय प्राण देवता तथा तमोमय प्राण 'असुर' है । पृथिवी मण्डल के जितने भी पदार्थ हैं वे सब सूर्य से बने हुए हैं क्योंकि सूर्यस्थित अग्नि देवता ही प्रवर्ग्य बन कर पृथिवी में आता है । इसीलिए श्रुति में कहा गया है – "जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः" । "नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः" । इति उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि पृथिवी वस्तुतः अग्नि का ही स्वरूप है क्योंकि जब सूर्य से पृथिवी के पदार्थों का निर्माण होता है तो यह पृथिवी भी अवश्य आग्नेयी है, इस अग्नि में ही समस्त देवता निवास करते हैं । अग्नि वायु आदित्य भेद से देवता तीन प्रकार के हैं पर वस्तुतः वे तीनों अग्नि ही है, क्योंकि घन, तरल, विरल भेद से अग्नि की तीन अवस्थाएं हैं । इनमें घनावस्थापन्न अग्नि 'अग्नि' कहलाती है, तरलावस्थापन्न अग्नि 'वायु' और विरलावस्थापन्न अग्नि 'आदित्य' । घनावस्थापन्न अग्नि आठ भागों में विभक्त है । इन आठों को 'आठ वसु' कहते हैं । तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु)

११ प्रकार का है, जिन्हें ११ रुद्र कहते हैं। विरलावस्थापन्न अग्नि (आदित्य) द्वादश भागों में विभक्त है, अतः आदित्य १२ कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त दो सान्ध्य देवता हैं। इस प्रकार एक अग्नि ३३ देवताओं के स्वरूप में परिणत हो जाती है। इसीलिए अग्नि के लिए 'अग्निः सर्वा देवताः' कहा जाता है।

[1]ऊपर बतलाया गया है कि ज्योतिर्मय शुक्ल प्राण को देवता कहते हैं। शुक्लप्राण सूर्य में रहते हैं, अतः सूर्य देवताओं का समूह कहलाता है। जैसा कि—"चित्रं देवानामुदगादनीकम्" इस मन्त्र से सिद्ध हो रहा है। यह पृथिवी गोल है एवं सूर्य के चारों तरफ यह परिक्रमा लगाती है। पृथिवी के आधे भाग में जो कि सूर्य के सम्मुख है, सूर्य का प्रकाश रहता है एवं विरुद्ध दिक् में 'तामिस्र प्राण' रहता है। सूर्य का जो प्रकाश पृथिवी पर पड़ता है वह पृथिवी से अवरुद्ध होने के कारण उसी रूप में प्रतिफलित होता है। यह प्रतिफलित 'अश्व' नामक प्रकाश 'शुक्ल प्राणसमूह' है। उसी का प्रकृत में हम देवतापद से व्यवहार करेंगे। एवं उसके विरुद्ध जो पृथिवी के प्रतिदिक् में इस अश्व के आकार का 'कृष्ण प्राण समूह' है उसे 'असुर' कहेंगे। इन असुर (तामिस्र प्राण) और देवता (ज्योतिर्मय अश्व प्राण) के बीच में विद्यमान यह पृथिवीपिण्ड सूर्य के चारों तरफ परिक्रमा लगाया करता है। इस पृथिवीपिण्ड में एक तरफ से शुक्लप्राण का आगमन है तथा दूसरी तरफ से कृष्ण प्राण का। यही देव और असुरों की परस्पर प्रतिस्पर्धा (मुठभेड़) है। इन दोनों प्राणों के बीच रहती हुई यह पृथिवी घूमती रहती है। इसी अभिप्राय से देवासुर आक्रमण से पुष्करपर्णवत् पृथिवी का कम्पन बतलाया है।

यह ऊपर बतला दिया गया है कि पार्थिव सभी पदार्थ आग्नेय हैं। तथापि पृथिवी में अग्नि का पूर्ण स्वरूप विशद होता है जबकि इसके आपः, फेन, शर्करादि आठों स्वरूप बन जाते हैं। अर्थात् शर्करारूपनिर्माणोत्तर जब तक यह पृथिवी स्थिर रूप से परिणत नहीं हो जाती तब तक अग्निमात्रा परिपूर्ण नहीं होती है।

इस प्रतिस्पर्धा में देवों की विजय और असुरों की पराजय बतलायी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी अग्निमयी है, अतः इसके जितने भी पदार्थ हैं उनको जब जलाया जाता है तब वे द्युलोक में चले जाते हैं। अर्थात् पार्थिव पदार्थों का अग्नि से सम्बन्ध होने पर वे विशकलित होकर देवों में अर्थात् सूर्य में चले जाते हैं। यही पृथिवी का देवों की तरफ जाना है। यही असुरों की पराजय व देवों की विजय है। इसी वैज्ञानिक रहस्य

१. 'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे' इस आख्यान का वैज्ञानिक रहस्य का यहाँ स्पष्टीकरण है।

को भगवान् याज्ञवल्क्य कथा के स्वरूप में रूपक द्वारा बतला रहे हैं कि :—देवता और असुर जो प्राजापत्य थे, परस्पर स्पर्धा करने लगे। उनकी स्पर्धा से यह पृथिवी पुष्करपर्ण-वत् (कमलवत्) हिल पड़ी। इस पृथिवी को वायु ही धारण करता है, अर्थात् 'एमूषवराह' नामक भूवायु से ही इस आग्नेय पृथिवी की स्थिति है। यह पृथिवी कभी देवताओं के पास आती थी और कभी असुरों के पास। इसका तात्पर्य यह है कि यदि आज पृथिवी फल्गुनी नक्षत्र पर है तो जो आज का आकाशमण्डल प्रकाशमय अर्थात् देवतामय है। वही आज के छः मास बाद तामिस्रप्राण से युक्त हो जायगा। इस प्रकार पृथिवी-परिभ्रमण के कारण नक्षत्रों के हिसाब से जो पृथिवी का भाग कभी देवताओं की तरफ रहता है अर्थात् प्रकाशाभिमुख रहता है वही भाग कभी असुरों की तरफ अर्थात् तामिस्राभिमुख हो जाता है। इसी अभिप्राय से 'सोपैव देवाञ्जगाम। सोपासुरान्।' यह कहा गया है।

इस प्रकार जिस समय वह पृथिवी देवताओं की तरफ आयी, उस समय देवताओं ने विचारा कि—"हम इस पृथिवी की प्रतिष्ठा को किसी उपाय से अत्यन्त दृढ़ करदें और दृढ़ कर अशिथिल इस पृथिवी में अग्न्याधान करें। इसके बाद उस पृथिवी में शत्रुओं को हिस्सेदार न रहने दें।" जिस प्रकार कोई ताकू से पतले चमड़े को बींध बींध कर इकट्ठा कर लेता है और उस पर चमड़े के स्तर चढ़ा कर उसको मोटा और सख्त बना देता है, उसी प्रकार शर्करा से इस पृथिवी को ठोस बना डाला और इसमें से शत्रुओं को निकाल दिया। शर्करास्वरूपनिष्पत्ति के बाद ही अग्नि का स्वरूप पूर्ण होता है इसीलिए शर्करा से इसे दृढ़ बना दिया - यह कहा गया है। यह पृथिवी अग्निमयी है। आग्नेय सभी पदार्थ द्युलोक में देवों में जा मिलते हैं. इसी अभिप्राय से देवों ने पृथिवी को अपने अधिकार में कर लिया एवं उससे शत्रुओं को निकाल दिया, यह कहा गया है।

इस प्रकार आधिदैविक यज्ञान्तर्गत अग्न्याधान की तरह आज यह यजमान भी इस प्रतिष्ठा को शर्करा से युक्त करता है एवं शर्करा से इसे प्रतिष्ठित बनाकर इस ध्रुव और अशिथिल पृथिवी में -'यद्वै देवाः अकुर्वन् तत्करवाणि।' इस नियम के पालनार्थ अग्न्याधान करता है। ऐसा करता हुआ शत्रुओं को इस पृथिवी से निकाल देता है। शर्करासम्भरण का यही कारण है।

हिरण्य, ऊष, आखुकरीष, (सिकता) शर्करा आदि पृथिवी के स्वरूप हैं। एवं आधि-दैविक यज्ञ में शर्करानिर्माणानन्तर अग्न्याधान हुआ था, उसी की नकल पर आज यजमान भी इन चारों का और इनके मूलभूत अप् का सम्भरण करके पृथिवी को प्रतिष्ठित करता है एवं प्रतिष्ठित पृथिवी में अग्न्याधान करता है। इसी प्रतिष्ठा के लिए ही शर्करासम्भरण किया जाता है। ८,९,१०,११।

इस प्रकार अपां सम्भार, हिरण्यसम्भार, ऊषसम्भार, आखुकरीषसम्भार, शर्करा-सम्भार इन पाँच सम्भारों का सम्भरण किया जाता है। स्वयम्भू परमेष्ठी सूर्य, चन्द्र, पृथिवी भेद से आधिदैविक यज्ञ भी पञ्चावयव है। एवं सूर्ययज्ञ से पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज ये पाँच पशु उत्पन्न होते हैं तथा वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त ये पाँच ही संवत्सर की ऋतुएं होती हैं। इस प्रकार यज्ञस्वरूप पाङ्क्तत्व को, पञ्च पशुत्व को, पञ्चर्तुस्वरूप संवत्सर को यज्ञ द्वारा अपने अधिकार में करने के लिए पांच सम्भार किये जाते हैं ।।१२।।

कई आचार्य कहते हैं कि संवत्सर में छः ऋतुएं होती हैं न कि पाँच। अतः सम्भार भी ६ करने चाहिएँ न कि पाँच। भगवान् याज्ञवल्क्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—आपके अनुसार ६ ऋतुएं मान लेने पर भी न्यून मिथुन से ही प्रजनन क्रिया की जाती है. क्योंकि न्यून से ही प्रजा उत्पन्न होती है। अतः पाँच सम्भार करना ही उचित है। तात्पर्य यह है कि योषा और वृषा (स्त्री व पुरुष) के मेल से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। इनमें योषा (स्त्री) कम शक्ति वाली होती है तभी उससे सन्तान पैदा होती है। यदि स्त्री और पुरुष का समान वीर्य होता तो वह सर्वथा निष्फल जाता। अतः मिथुन प्रजनन के लिए न्यून भाग की आवश्यकता है। हमें भी नया देवात्मा उत्पन्न करना है, अतः मिथुन को न्यून बनाने के लिए ६ ऋतुएं मानने पर भी पाँच सम्भार करना उचित है।

कई पूर्वपक्ष करते हैं कि संवत्सर की ऋतु तो ६ हैं, यदि सम्भार पाँच किये जायेंगे तो संवत्सराग्नि का पूरा स्वरूप पकड़ में नहीं आयेगा। ऐसी स्थिति में देवात्मप्रजनन अधूरा ही रह जायेगा। अतः ६ ऋतुओं के हिसाब से ६ सम्भार करने चाहिएँ। भगवान् याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि—यदि ६ सम्भार करने का ही आग्रह है तो प्रकारान्तर से पाँच सम्भार मानने पर भी ६ सम्भार सिद्ध हो जाते हैं। इनमें आपः हिरण्यादि पाँच सम्भार बतला दिये गये हैं और इनमें अग्नि को ही छठा सम्भार मान लेना चाहिए। अग्नि को छठा सम्भार मान लेने पर ६ ऋतुओं के अनुसार ६ सम्भार सिद्ध हो जाते हैं। ऐसा करने से सम्पूर्ण संवत्सराग्नि पकड़ में नहीं आया, यह दोष हट जाता है ।।१३।।

पुनः पूर्वपक्ष किया जाता है कि अग्न्याधान करते समय किसी भी सम्भार के सम्भरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जिस वस्तु की कमी होती है उसी का सम्भरण किया जाता हैं। जब इस पृथिवी पर ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, फिर सम्भार करने की आवश्यकता ही क्या है? पृथिवी पर ही यज्ञ करना है। पृथिवी पर ही हिरण्य, ऊष, आखुकरीष आदि सब प्रतिष्ठित ही हैं। जब यजमान इस पृथिवी में अग्न्याधान करता है तब वह उसी से सारे सम्भारों को प्राप्त कर लेता है, अतः सम्भारों के सम्भरण की क्या आवश्यकता है ?

भगवान् याज्ञवल्क्य इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि सम्भार अवश्य ही करने

चाहिएँ, क्योंकि देवसमूह जब इसमें अग्न्याधान करता है तो वह अवश्य ही बिना सम्भार के ही सारे सम्भारों को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् आधिदैविक यज्ञ में यह सारी पृथिवी ही वेदि है और पृथिवी पर सब कुछ प्रतिष्ठित है, अतः वहाँ सम्भार की आवश्यकता नहीं है। किन्तु हम जिस स्थान पर यज्ञ कर रहे हैं अर्थात् हमारी जो वेदि है वहाँ सारे पदार्थ नहीं हैं, अतः इसमें पाँचों सम्भारों को करना आवश्यक है, नहीं तो उसके अभाव में अग्न्याधान निष्पन्न नहीं होगा ।।१४।।

'इति द्वितीयकाण्डे प्रथमं सम्भारब्राह्मणं समाप्तम् ।'

अथ नक्षत्रब्राह्मणम्

कृत्तिकास्वग्नी आदधीत। एता वा अग्निनक्षत्रं यत् कृत्तिकाः तद्वै सलोम—योऽग्निनक्षत्रेऽग्नी आदधातै। तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥१॥

एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्राणि। अथैता एव भूयिष्ठाः यत् कृत्तिकाः तद् भूमानमेवैतदुपैति। तस्मात् कृत्तिकास्वादधीत ॥२॥

एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते। तत्प्राच्यामेवास्यैतद्दिश्याहितौ भवतः। तस्मात्—कृत्तिकास्वादधीत ॥३॥

अथ यस्मात्—न कृत्तिकास्वादधीत। ऋक्षाणां ह वा एता अग्ने पत्न्य आसुः। सप्तर्षीनु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते। ता मिथुनेन व्यार्ध्यन्त। अमी ह्युत्तरा हि सप्तर्षय उद्यन्ति, पुर एताः। अशमिव वै तत्—यो मिथुनेन व्यृद्धः। स नेन्मिथुनेन व्यृद्धयै इति। तस्मात्—न कृत्तिकास्वादधीत ॥४॥

तद्वैव दधीत। अग्निर्वा एतासां मिथुनम्। अग्निनैता मिथुनेन समृद्धाः तस्मादेव दधीत ॥५॥

रोहिण्यामग्नी आदधीत। रोहिण्यां ह वै प्रजापतिः प्रजाकामोऽग्नी आदधे स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टा एकरूपा उपस्तब्धास्तस्थुः, रोहिण्य इवैव। तद्वै रोहिण्यै रोहिणीत्वम् बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति—य एवं विद्वान् रोहिण्यामाधत्ते ॥६॥

रोहिण्यामु ह वै पशवोऽग्नी आदधिरे—मनुष्याणां कामं रोहेमेति। ते मनुष्याणां काममरोहन्। यमु हैव तत् पशवो मनुष्येषु काममरोहन्, तमु हैव पशुषु कामं रोहति—य एवं विद्वान् रोहिण्यामाधत्ते ॥७॥

मृगशीर्षेऽग्नी आदधीत। एतद्वै प्रजापतेः शिरो यन्मृगशीर्षम्। श्रीर्वै शिरः, श्रीर्हि वै शिरस्तस्मात् योऽर्द्धस्य श्रेष्ठो भवति, असावमुष्यार्द्धस्य शिर इत्याहुः। श्रियं ह गच्छति—य एवं विद्वान् मृगशीर्ष आधत्ते ॥८॥

अथ यस्मात् - न मृगशीर्ष आदधीत। प्रजापतेर्वा एतच्छरीरं यत्र वा एवं तदविध्यँस्तदिषुणा त्रिकाण्डेनेत्याहुः। स एतच्छरीरमजहात्। वास्तु वै शरीरमयज्ञियं निर्वीयम्। तस्मात्—न मृगशीर्ष आदधीत ॥९॥

तद्वैव दधीत। न वा एतस्य देवस्य वास्तु, नायज्ञियम्, न शरीरमस्ति; यत्प्रजापतेः। तस्मादैव दधीत। पुनर्वस्वोः पुनराधेयमादधीतेति ॥१०॥

फाल्गुनीष्वग्नी आदधीत। एता वा इन्द्रनक्षत्रं यत् फल्गुन्यः। अप्यस्य प्रतिनाम्न्यः। अर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम अर्जुन्यो वै नामैताः। ता एतत् परोक्षमाचक्षते—फल्गुन्य इति। को ह्येतस्यार्हति गुह्यं नाम ग्रहीतुम्। इन्द्रो वै यजमानः। तत् स्व एवैतन्नक्षत्रेऽग्नी आधत्ते। इन्द्रो यज्ञस्य देवता। एतेनो हास्यैतत् सेन्द्रमग्न्याधेयं भवति। पूर्वयोरादधीत—पुरस्तात्क्रतुर्हैवास्मै भवति। उत्तरयोरादधीत—श्वः श्रेयसं हैवास्या उत्तरावद् भवति ॥११॥

हस्तेऽग्नी आदधीत—य इच्छेत्। 'प्र मे दीयेतेति'। तद्वा अनुष्ठया, यद्धस्तेन प्रदीयते। प्र हैवास्मै दीयते ॥१२॥

चित्रायामग्नी आदधीत। देवाश्च वा असुराश्चोभ येप्राजापत्याः पस्पृधिरे त उभय एवामुं लोकं समारुरुक्षाञ्चक्रुर्दिवमेव। ततोऽसुरा रौहिणमित्यग्निं चिक्यिरे—"अनेनामुं लोकं समारोक्ष्याम" इति ॥१३॥

इन्द्रो ह वा ईक्षाञ्चक्रे इमं चेद्वा इमे चिन्वते, तत एव नोऽभिभवन्ति। इति। स ब्राह्मणो ब्रुवाण एकेष्टकां प्रबध्येयाय ॥१४॥

स होवाच—'हन्ताहमिमामप्युपदधै' इति। तथेति तामुपाधत्त। तेषामल्पकादेवाग्निरसञ्चित आस ॥१५॥

अथ होवाच—'अन्वा अहं तां दास्ये या ममेह' इति। तामभिपद्याबबर्ह। तस्यामाबृढायामग्निर्व्यवशशाद। अग्नेर्व्यवशादमनु असुरा व्यवशेदुः। स ता एवेष्टका वज्रान् कृत्वा ग्रीवाः प्रचिच्छेद ॥१६॥

ते ह देवाः समेत्योचुः—'चित्रं वा अभूम, य इयतः सपत्नानवधिष्म' इति। तद्वै चित्रायै चित्रात्वम्। चित्रं ह भवति, हन्ति सपत्नान्, हन्ति द्विषन्तं भ्रातृव्यम्, य एवं विद्वांश्चित्रायामाधत्ते। तस्मादेतत् क्षत्रिय एव नक्षत्रमुपेत्सेंत्। जिघांसतीव ह्येष सपत्नान्, वीव जिगीषते ॥१७॥

नाना ह वा एतान्यग्रे क्षत्राण्यासुः—यथैवासौ सूर्यः, एवम्। तेषामेष उद्यन्नेव वीर्यं क्षत्रमादत्त। तस्मादादित्यो नाम—यदेषां वीर्यं क्षत्रमादत्त ॥१८॥

ते ह देवा ऊचुः—'यानि वै तानि क्षत्राण्यभूवन्, न वै तानि क्षत्राण्यभूवन्' न वै तानि क्षत्राण्यभूवन् इति; तद्वै नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। तस्मादु सूर्यनक्षत्र एव स्यात्, एष ह्येषां वीर्यं क्षत्रमादत्त। यद्यु नक्षत्रकामः स्यात्। एतद्वा अनपराद्धं नक्षत्रं यत् सूर्यः। स एतेनैव पुण्याहेन यदेतेषां नक्षत्राणां कामयेत तदुपेत्सेंत्। तस्मादु सूर्यनक्षत्र एव स्यात् ॥१९॥

इत्यग्न्याधानप्रकरणे नक्षत्रब्राह्मणम्।

नक्षत्रब्राह्मण

(अनुवाद) पूर्वब्राह्मण में संभारों का संभरण बतलाने के बाद अग्न्याधान किस नक्षत्र में करना चाहिए, यह इस नक्षत्रब्राह्मण में बतलाया जा रहा है।

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। कृत्तिका नक्षत्र में सात[1] तारे हैं अतः यहाँ बहुत्वबोधक 'कृत्तिकासु' पद का प्रयोग किया गया है। कृत्तिकायें अग्निनक्षत्र हैं (आग्नेय प्राणप्रधान नक्षत्र हैं[2])। अतः कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्या-

१. सातों के वैदिक नाम—अम्बा, दुला, नितली, भ्रमयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती, चुपुणिका। पौराणिक नाम—अनसूया, संभूति सन्मति, लज्जा, प्रीति, विनता, क्षमा।

२. भिन्न-भिन्न नक्षत्रों से भिन्न-भिन्न प्राण संसार में आते हैं। कृत्तिका से आग्नेय प्राण प्राप्त होता है अतः इसे अग्नि कहा गया है।

धान करना अग्न्याधान के सर्वथा अनुकूल है। अतः कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करे ॥१॥

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान की दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं। कृत्तिका के अतिरिक्त अन्य अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र संख्या में कोई दो, कितने हो तीन व कितने ही चार होते हैं। जैसे स्वाति, चित्रा, अभिजित् रेवती एक एक हैं। पुनर्वसु, प्रोष्ठपदा, अषाढा आदि दो हैं। श्रवणा, ज्येष्ठा आदि तीन हैं। मृगशिरा आदि चार हैं। किन्तु कृत्तिका नक्षत्र ही संख्या में (भूयिष्ठ) सर्वाधिक हैं। अतः इसमें अग्न्याधान करने वाला भूमा (बहुत्व) को प्राप्त होता है। अतः कृत्तिका में अग्न्याधान करे ॥२॥

तृतीय उपपत्ति

ये कृत्तिका नक्षत्र पूर्वदिशा (पूर्वबिन्दु अर्थात् विषुवदावृत्त) से नहीं हटते हैं। अन्य सभी नक्षत्र पूर्वदिशा (पूर्व बिन्दु) से च्युत होते रहते हैं। अतः कृत्तिका में आधान करने से आधेय गार्हपत्य व आहवनीय अग्नियाँ पूर्व दिशा में आहित होती हैं। पूर्वदिशा देवताओं की दिशा है, देवताओं का यजन करना है। अतः कृत्तिकाओं में ही अग्न्याधान करे ॥३॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि कृत्रिका नक्षत्र में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र के सात तारे किसी समय उत्तर दिशा में दिखाई देने वाले सप्तर्षिरूप ऋक्षों की पत्नियाँ थीं। सप्तर्षियों को ही प्राचीन समय में नक्षत्र कहा करते थे। ये सप्तर्षि तारे ऋक्ष (रींछ) के आकार के हैं। अतः इन्हें रींछ के बोधक ऋक्ष शब्द से व्यवहृत किया गया है। जिस प्रकार कूर्माकार कश्यपप्राण को कूर्म कहा गया है। सप्तर्षियों की पत्नीरूप ये कृत्तिकायें सप्तर्षियों के मिथुन से पृथक् हो गईं। क्योंकि सप्तर्षि उत्तर में उदित होते हैं और कृत्तिका पूर्व में। जो मिथुन से अलग हो जाता है वह अशित की तरह हो जाता है अर्थात् नष्टप्राय हो जाता है। कृत्तिका में आधान करने से मिथुन से पृथक् होकर नष्टप्राय न हो जाय, अतः कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान न करे ॥४॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि कृत्तिका में अग्न्याधान अवश्य करे, क्योंकि कृत्तिका

के सातों तारों में जो अत्यन्त चमकीला होने से अग्नि के समान तारा है, वही इन कृत्तिकाओं का मिथुन है। अतः कृत्तिकाओं में अग्न्याधान करने से मिथुन से व्यृद्धि न होकर अग्नि रूप मिथुन के होने से समृद्धि है। अतः इसे समृद्धि की प्राप्ति के लिए कृत्तिकाओं में अग्न्याधान करे ॥५॥

रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान

रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्रजा की कामना रखने वाले प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान किया था। रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करने से प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया। प्रजापति के द्वारा उत्पादित वे प्रजायें एकरूप (अविच्छन्न प्रवाहवाली) तथा निश्चल भाव से स्थिर हो गईं। अर्थात् जैसे रोहिणी नक्षत्र स्थिर है उसी प्रकार वे प्रजायें भी स्थिर हो गईं। वही रोहिणी का रोहिणीत्व है। रोहिणी नक्षत्र को लक्ष्मी कहते हैं। क्योंकि इस नक्षत्र में प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं।[1] प्रजा और पशु ही वित्त है। और वित्त को ही लक्ष्मी कहते हैं। जो रोहिणी के इस रोहिणीत्व को जानता हुआ इस नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह बहु प्रजा तथा बहुत पशुओं से युक्त होता है ॥६॥

इन पशुओं ने रोहिणी में गार्हपत्य व आहवनीय अग्नि का आधान किया कि हम मनुष्यों के काम आवें अर्थात् मनुष्य हमें चाहें। इसका तात्पर्य यही है कि आग्नेय रोहिणी नक्षत्र में उसके मध्य में स्थित पश्वाकार तारों के रस की आहुति हुई उससे पार्थिव पशु उत्पन्न हुए। पशुओं के द्वारा रोहिणी में अग्न्याधानरूप यज्ञ करने से पशु मनुष्यों की बुद्धि में आरूढ़ हुए। मनुष्य उसकी उपयोगिता समझ कर इन्हें काम में लेने लगे। अतः इस रहस्य को जानता हुआ जो रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है उसकी पशुओं में कामना हो जाती है अर्थात् पशुसम्पत्ति से युक्त हो जाता है ॥७॥

---

१. प्रजा आन्तर वित्त है तथा पशु आदि बाह्य वित्त। यह पहिले बतलाया जा चुका है कि नक्षत्रों में भिन्न भिन्न जाति के प्राण रहते हैं और उन्हीं से संसार के विभिन्न पदार्थ उत्पन्न होते हैं। रोहिणी नक्षत्र शकटाकार है और उसमें बहुत सी छोटी छोटी पशु के आकार की आकृतियां हैं। अर्थात् छोटे छोटे पश्वाकार तारे हैं। उन्हीं से विभिन्न पशुओं का निर्माण होता है। ये रोहिणी के बीच में निश्चल रूप से स्थित हैं। अतः इसमें अग्न्याधान से पशु-सम्पत्ति-प्राप्ति तथा प्रजाओं की निश्चलता बतलाई गई है।

मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान

मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान करे। क्योंकि आकाशस्थ मृगशिरा नक्षत्र प्रजापति का छिन्न मस्तक है। जैसा कि 'प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्' इत्यादि सन्दर्भ से एतरेयारण्यक में बतलाया गया है। श्रीभाग (रस भाग) को ही शिर कहते हैं। क्योंकि शरीर में जो सप्त पुरुष प्रजापति है जिसमें चत्वारः आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छमेकम्, ये सात प्राण आते हैं। इन सप्त प्राणों के रस भाग से मस्तक का निर्माण हुआ अतः यह सप्तपुरुषात्मक शरीर का श्रीभाग होने से 'श्रीर्वै शिरः' इस परिभाषा से शिरस् या मस्तक कहलाया है। लोक में जो भी अर्द्ध (समुदाय) का जो प्रधान होता है, श्रेष्ठ होता है उसे उस समुदाय का शिर कहा जाता है। जो प्रजापति के मस्तकरूप मृगशिरा नक्षत्र में आधान करता है वह श्री (श्रेष्ठत्व) को प्राप्त करता है। अतः मृगशिरा नक्षत्र में आधान करे ॥८॥

कतिपय आचार्यों का कथन है कि मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रजापति ने मृगरूप धारण कर रोहिणी का पीछा किया था तब उनके शरीर को रुद्र ने अपने बाण से बींध डाला था और प्रजापति ने अपना शरीर तत्काल छोड़ दिया था। उस समय जमीन पर गिरा हुआ प्रजापति का शरीर प्राणरहित अतएव अयज्ञिय व निर्वीर्य हो गया था। वही तो अयज्ञिय व निर्वीर्य प्रजापति शरीर मृगशिरा नक्षत्र है। अतः उसमें अग्न्याधान करने से अग्नि अयज्ञिय व निर्वीर्य होगा। अतः इसमें अग्न्याधान न करे ॥९॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अवश्य ही मृगशिरा में आधान करे, क्योंकि प्रजापति का शरीर न पतित (नष्ट) हुआ है न उसका शरीर अयज्ञिय है, यह सब कथा नक्षत्र-विज्ञान को समझाने के लिए मिथ्या काल्पनिक है। अतः मृगशिरा में अग्न्याधान करे।

पुनर्वसु नक्षत्र में अग्न्याधान

अपूर्वाधान, पुनराधान, विच्छिन्नाधान भेद से अग्न्याधान तीन प्रकार का है। सर्वप्रथम नवीन अग्नि का आधान अपूर्वाधान कहलाता है। स्वतः बुझी हुई अग्नि का आधान पुनराधान तथा दोषवशात् बुझी हुई अग्नि का पुनरा-

धान विच्छिन्नाधान कहलाता है। पुनर्वसु नक्षत्र में विच्छिन्नाधानरूपी पुनराधान का विधान किया गया है। खोई वस्तु की पुनः प्राप्ति या बिगड़ी हुई वस्तु की परिपूर्णता पुनर्वसु नक्षत्र में हो जाती है। अतः 'पुनर्वसुप्राप्तिः यस्मिन्' इस व्युत्पत्ति से इसे पुनर्वसु कहा गया है। इसीलिए सायणाचार्य ने कहा है— 'नक्षत्रं चैतत् नष्टस्य वस्तुनः पुनः प्राप्तिहेतुत्वात् पुनर्वस्वाख्यम्। तथा च तैत्तिरीयके स्पष्टमाम्नातम् 'स पुनर्वस्वोः अग्निमादधीत, पुनरेवैनं वामं वसूपावर्तते' इति ॥१०॥

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे, क्योंकि फल्गुनी नक्षत्र का देवता इन्द्र है। उसीसे फल्गुनीनक्षत्रात्मक पिण्ड का निर्माण हुआ है। इन्द्र का नाम फल्गुनी है। फल्गुनी नक्षत्रों का देवता इन्द्र है, अतः फल्गुनी नाम से ही इन्हें भी कहा जाता है। इन्द्र का प्रातिस्विक गुप्त नाम अर्जुन है। क्योंकि प्रकाश का विभाग इन्द्र के अधीन है। अतः इन्द्र को अर्जुन (शुक्ल) नाम से कहा जाता है। जब इन्द्र का गुप्त नाम अर्जुन है तब इन्द्र देवता के फल्गुनी नक्षत्रों का नाम भी वस्तुतः अर्जुनी है, किन्तु देवताओं के परोक्ष का प्रिय होने से परोक्षभाषा में उन्हें अर्जुनी न कह कर फल्गुनी कहा जाता है। इन्द्र देवताओं का राजा था अतः अधिपति होने से उसके अधिकारिक नाम इन्द्र को छोड़ कर गुप्त वास्तविक अर्जुन नाम से कौन कह सकता था अतएव इन्द्र देवता व फल्गुनी नक्षत्रों को भी गुप्त अर्जुनी नाम से कोई नहीं कह सकता था। इसीलिए फल्गुनी नाम से कहा जाता था।

जैसे देवताओं का अधिपति इन्द्र है उसी प्रकार इस यज्ञ का अधिपति यजमान है। अतः इन्द्र देवता व फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना यज्ञाधिपति अतएव यज्ञेन्द्र यजमान का अपने में ही आधान करना है। अपिच इन्द्र यज्ञ का देवता है। क्योंकि अग्नि में आहुत सभी वस्तुयें देव सूर्य में जाती हैं और उनमें इन्द्र प्रधान है। अतः इन्द्र देवता व फल्गुनी नक्षत्र में आधान से अग्न्याधेय सेन्द्र (इन्द्र सहित) होता है। फल्गुनी के ४ नक्षत्रों के दो विभाग हैं। दो नक्षत्र पूर्वा फल्गुनी तथा दो नक्षत्र उत्तरा फल्गुनी। पूर्वा फल्गुनी नक्षत्रों में अग्न्याधान

करने से अग्न्याधान करने वाले का यज्ञ पूर्व में (देवताओं की ओर) जाता है और उत्तरा फल्गुनी नक्षत्रों में अग्न्याधान करने से यज्ञ उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। ११॥

हस्तनक्षत्र में अग्न्याधान

हस्तनक्षत्र में वह अग्न्याधान करे जो यह चाहता है कि कोई मेरे को सम्पत्ति दे। हाथ से साक्षात् दिया हुआ ही दिया हुआ कहलाता है। और यह हस्तनक्षत्र प्रजापति का हाथ है। अत इसमें अग्न्याधान करने से अग्न्याधान करने वाले को अवश्य ही सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥१२॥

चित्रानक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्राचीन समय में भौम स्वर्ग में रहने वाले देवताओं तथा अफ्रीकादि में रहने वाले असुरों में जो कि प्रजापति के पुत्र थे, परस्पर स्पर्धा हुई। इन दोनों ने ही द्युलोक में आरूढ़ होने की इच्छा की। तब असुरों ने रौहिण नामक अग्नि का चयन कर उसके द्वारा द्युलोक में पहुँचने का का उपाय निकाला ॥१३॥

इस प्रकार असुरों को अग्नि-चयन करते देख इन्द्र ने विचार किया कि यदि वे इस अग्नि का चयन कर लेंगे, तो हमें परास्त कर देंगे। अतः वे ब्राह्मण का वेष बनाकर अपने को ब्राह्मण बतलाते हुए एक विजातीय अग्नि की ईंट लेकर यज्ञशाला में पहुँचे ॥१४॥

इन्द्र ने असुरों से कहा था कि मैं भी अपनी ईंट को आपकी ईंटों में रख दूँ। उनके हाँ कह देने से उस ईंट को उनमें रख दिया। उस विजातीय ईंट के बीच में आ जाने से उस थोड़े से स्थान में वह अग्नि असंचित रह गया। अर्थात् जितनी दूर में वह विजातीय ईंट रखी गई उतने स्थान में वह रौहिण अग्नि खण्डित हो गया ॥१५॥

इसके पश्चात् ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र ने कहा जो ईंट मेरी इनमें है, उसे मैं लूंगा। यह कहकर उसके पास पहुँचकर उसे पकड़कर खींच लिया। उसके निकलते ही वह रौहिण अग्नि विच्छिन्न होकर स्वरूप से च्युत हो गई। अग्नि के नष्ट होते ही असुर भी नष्ट हो गये। उस इन्द्र ने उन्हीं ईंटों को वज्र बना कर असुरों की ग्रीवा काट दी ॥१६॥

देवता उस स्थान पर पहुँचे और कहने लगे कि बड़े आश्चर्य की बात है कि हमने इतने शत्रुओं को मार गिराया। जिस समय असुरों की यह आश्चर्यमयी घटना घटी, उस समय चित्रा नक्षत्र था। इस आश्चर्यमयी घटना के घटित होने के कारण उस नक्षत्र का चित्रा नाम पड़ा। पहिले उसका नाम रौहिण था। इस रहस्य को समझ कर जो चित्रा नक्षत्र में अग्न्याधान करता है वह आश्चर्यमयी घटनाओं से युक्त हो जाता है अर्थात् उसको ऐसी विजय होती है जैसी देवताओं की। वह अपने शत्रुओं तथा द्वेष करने वालों को मार देता है। इसलिए क्षत्रिय ही इस नक्षत्र में अग्न्याधान करे क्योंकि क्षत्रिय शत्रुओं को नष्ट करना तथा विजय प्राप्त करना चाहता है ॥१७॥

पहिले नाना क्षत्र थे, जैसा कि यह सूर्य क्षत्र है। यह सूर्य क्षत्र उदित होते ही उनके वीर्य (शक्ति को) ग्रहण कर लेता है। अर्थात् सूर्य के उदित होते ही वे तारे हतप्रभ हो जाते हैं, क्योंकि उनके वीर्य को सूर्य हर लेता है। अन्य नक्षत्रों के वीर्यादान के कारण ही यह सूर्य 'आदत्ते इत्यादित्यः' इस व्युत्पत्ति से आदित्य कहलाया ॥१८॥

उन देवताओं ने कहा जो पहिले (सूर्योदय से पूर्व) जो क्षत्र थे; प्रकाशरूपी वीर्य-युक्त थे, वे सूर्योदय के पश्चात् क्षत्र नहीं रहे। अतः 'न क्षत्राणि अर्थात् न विद्यते क्षत्रं येषु तानि' इस व्युत्पत्ति से वे नक्षत्र नक्षत्र कहलाये। और सूर्य ने इन सबके वीर्य का अपहरण कर इन्हें नक्षत्र बनाया अतः नक्षत्रत्व का सम्पादक होने से सूर्य भी नक्षत्र कहलाया। क्योंकि यह उदित होते ही उनके वीर्य का अपहरण कर उन्हें क्षत्रहीन अर्थात् नक्षत्र बना देता है। अतः तेजस्विता के लिए सूर्य नक्षत्र में ही आधान करे। अतः सूर्य नक्षत्र से यहाँ हस्त नक्षत्र का ग्रहण है। इसी में अग्न्याधान करना चाहिए। क्योंकि यह हस्त-नक्षत्ररूपी सूर्यनक्षत्र तेजस्वी नक्षत्र है अतः इस शुभ नक्षत्र में ही अग्न्याधान करे। इससे अन्य नक्षत्रों में अग्न्याधान करने के फल को यजमान प्राप्त कर लेता है। अतः इस सूर्य नक्षत्र (हस्त नक्षत्र) में ही आधान करे ॥१९॥

॥ द्वितीयं नक्षत्रब्राह्मणं समाप्तम् ॥

अथ नक्षत्रब्राह्मणम्

(भाष्य) इस ब्राह्मण में अग्न्याधान किस नक्षत्र में करना चाहिए—इसका प्रतिपादन है।

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान—

कृत्तिका नक्षत्र पर जब चन्द्रमा हो, तब अग्न्याधान करना चाहिए। कृत्तिका नक्षत्र में सात तारे हैं, अतः 'कृत्तिकासु' इस प्रकार बहु वचन का निर्देश किया गया है। कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान का कारण बतलाने से पूर्व प्रसङ्गागत देवाकाशमण्डल व असुराकाश-मण्डल का विवेचन आवश्यक होने से उसका संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

दैवाकाशमण्डल तथा आसुराकाशमण्डल-निरूपण

सम्पूर्ण आकाशमण्डल, देवमण्डल तथा आसुरमण्डल भेद से दो भागों में विभक्त है। वैदिक समय में देवमण्डल की गणना कृत्तिका से प्रारम्भ होती थी। कृत्तिका नक्षत्र से प्रारम्भ कर विशाखा नक्षत्र तक का जो नक्षत्रमण्डल है वह 'अदितिमण्डल' अर्थात् देव-मण्डल कहलाता था। और अनुराधा नक्षत्र से प्रारम्भ कर भरणी नक्षत्र तक का नक्षत्र-मण्डल 'दितिमण्डल' या 'आसुरमण्डल' कहलाता था। इसी आधार पर कृत्तिका से विशाखा तक के १४ नक्षत्र देवनक्षत्र कहलाते थे। एवं अनुराधा से भरणी तक के १४ नक्षत्र यम नक्षत्र कहलाते थे। प्रायः सभी ब्राह्मणग्रंथों में दैवाकाश व आसुराकाश का यही विभाग माना गया है। पूर्वोक्त देवमण्डल में अदितिबिन्दु 'अश्लेषा' पर मानी जाती थी। इस 'अश्लेषा' से ९० अंश पूर्व कृत्तिका तक एवं ९० अंश पश्चिम विशाखा तक जो आकाशमण्डल था, वही दैवाकाश था। एवं अश्लेषा से ठीक १८० अंश पर करीब 'श्रवणा' के पास दिति बिन्दु थी। इस दिति बिन्दु से ९० अंश पूर्व भरणी तक एवं ९० अंश पश्चिम अनुराधा तक का जो आकाशमण्डल था वही आसुराकाश था। परन्तु बाद में किसी विशेष वैज्ञा-निक रहस्य के कारण महर्षियों को पूर्वोक्त दैवाकाश तथा आसुराकाश की व्यवस्था तोड़नी पड़ी एवं अश्विनी नक्षत्र से दैवाकाश की व्यवस्था माननी पड़ी।

चन्द्रमा जिस रेखा पर घूमता है उसे ही 'दक्ष प्रजापति' कहते हैं। जिस वैज्ञानिक भाव को लेकर यह नवीन व्यवस्था प्रारम्भ की गई उस सारे वैज्ञानिक रहस्य को दक्ष-प्रजापति के यज्ञविध्वंस एवं सतीदाहरूप कथा से सम्बद्ध कर दिया गया। वस्तुतः कृत्तिका नक्षत्र से नक्षत्रचक्र प्रारम्भ को तोड़ना ही दक्ष (चन्द्रकक्षा) प्रजापति का यज्ञ-विध्वंस है। तात्पर्य यह है कि कृत्तिका नक्षत्र से नक्षत्रचक्र के प्रारम्भक्रम को तोड़ कर अश्विनी नक्षत्र से जो प्रारम्भ किया गया था, इसीके लिए दक्ष प्रजापति के यज्ञविध्वंस की ऐतिहासिक कथा बनायी गयी। अतः दक्ष प्रजापति आदि का सारा रहस्य नाक्षत्रिक ही मानना चाहिए। कृत्तिका से दैवाकाश मण्डल की व्यवस्था तोड़ कर अश्विनी से प्रारम्भ

की गयी इसमें निम्न श्रुति प्रमाण है—'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे नार्य्यसि'।

"सवितुः देवस्य प्रसवे। अश्विनोः बाहुभ्याम्। पूष्णो हस्ताभ्याम्। हे अदिते—त्वाम् आददे, त्वं नारी असि'। इति

सविता (स्वाति) देवता के प्रसव में (आज्ञा में) अश्विनी के बाहुओं में, पूषा (रेवती) के हाथों में-हे अदिते ! मैंने तुम्हें ग्रहण किया। हे अदिते ! तुम नारी हो अर्थात् मारुती हो।

जिस समय पूषा अर्थात् रेवती का तारा डूब जाय (पश्चिम क्षितिज में चला जाय) एवं अश्विनी का तारा अस्त होने वाला हो, इन दोनों पूषा एवं अश्विनी के ठीक बीच के स्थान से लेकर स्वाति नक्षत्र जो कि उस समय क्षितिज पर है, तक का १८० अंशात्मक जो आकाश मण्डल है वह 'आदित्यमण्डल' अर्थात् दैवमण्डल कहलाता है। इस १८० अंशात्मक मण्डल में पुनर्वसु के तृतीय चरण पर अदिति-बिन्दु रहती है। इस अदिति-बिन्दु के ठीक १८० अंश पर मूल नक्षत्र पर दिति-बिन्दु से ९० अंश पूर्व तथा ९० अंश पश्चिम का जो आकाशः मण्डल है वह 'दितिमण्डल' अर्थात् दैत्यमण्डल कहलाता है। उपर्युक्त सन्दर्भ से सिद्ध हुआ कि अश्विनी से चित्रा तक दैवमण्डल है एवं स्वाति से रेवती तक दैत्यमण्डल है। यह जो आकाशमण्डल की व्यवस्था है वह सर्वथा स्थिर समझनी चाहिए।

पहिले मेषादि राशिक्रम कृत्तिका से प्रारम्भ होता था। पश्चात् अश्विनी से हो गया। इसका वैज्ञानिक तत्व न समझने के कारण लोग भ्रान्त कल्पना किया करते हैं कि जब कृत्तिका पर अयन था अर्थात् विषुवत्सम्पात था तो वहाँ से मेषादिक्रम माना जाता था। जब अयन अश्विनी पर आ गया तो वहाँ से मेषादिक्रम माना जाने लगा। परन्तु आज उत्तरा भाद्रपदा के तृतीय चरण पर विषुवत्सम्पात् होता है, अतः अब मेषादिराशिक्रम यहाँ से मानना चाहिए। परन्तु यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है। यदि अयन से ही राशिविभाग माना जाता तो कभी राशिगणना कृत्तिका के बाद में स्थित भरणी से भी होनी चाहिए थी, एवं उत्तरा भाद्रपदा से पहिले स्थित रेवती नक्षत्र से भी मानी जानी चाहिए थी। किन्तु वेद में कृत्तिका अश्विनी के सिवाय अन्य नक्षत्र से दैवाकाशव्यवस्था एवं राशिव्यवस्था नहीं मिलती है, अतः उपर्युक्त कल्पना भ्रान्त है। अयन का अर्थात् विषुवत्सम्पात का दैवाकाशव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रासङ्गिक देवचक्र का निर्णय करने के बाद प्रकृत का अनुसरण किया जाता है। वैदिक समय में वारगणना नहीं थी। उस समय नाक्षत्रिक गणना से ही मुहूर्त देखा जाता था। इसी अभिप्राय से यहाँ वार का निरूपण न कर नक्षत्र का ही निरूपण करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'कृत्तिकासु अग्निमादधीत।'

कृत्तिका में अग्न्याधान की प्रथम उत्पत्ति—

आकाशमण्डल में जितने भी तारे हैं उन सबका रस हमारे शरीर में रोमावलियों द्वारा आता है। अतः जितने नक्षत्र हैं उतनी ही रोमावलियाँ हमारे शरीर में हैं। जैसा कि श्रुति बतला रही है—'तस्य तपस्तेपानस्य एभ्यो लोमगर्तेभ्यः ऊर्ध्वानि ज्योतींषि-आयन्। तद्यानि तानि ज्योतींषि एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्ति एतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ताः। यावन्तो लोमगर्तास्तावन्तः सहस्रसंवत्सरस्य मुहूर्ताः।' शतपथ दशमकाण्ड ५३१ पृष्ठ ३ ब्रा० २क०।

ये नक्षत्र भिन्न-भिन्न प्राणों से युक्त हैं। किसी में सौम्य प्राण, किसी में ऋषिप्राण, किसी में आप्य प्राण एवं किसी में आग्नेय प्राण हैं। कृत्तिका नक्षत्र में आग्नेय प्राण होने से यह अग्निनक्षत्र है। 'नक्षत्रम्' यह एकवचन कृत्तिका के सातों नक्षत्रों पर व्यासज्यवृत्ति से समझना चाहिए अर्थात् प्रत्येक के साथ उसका सम्बन्ध मानना चाहिए। कृत्तिका के सातों नक्षत्रों के वैदिक नाम—अम्बा, दुला, नितली, भ्रमयन्ती, मेघयन्ती, पर्षयन्ती, चुपुणिका हैं। इन्हीं सातों के पौराणिक नाम—अनसूया, सम्भूति, सन्मति, लज्जा, प्रीति, विनता तथा क्षमा (देवसेना) हैं। इन सातों की समष्टि को ही छुरे के आकार का होने के कारण कृत्तिका कहा जाता है। कृत्तिका नक्षत्र आग्नेय है, अतः इसी में अग्नि का आधान करना उचित है। अर्थात् हमारी अग्नि में जब आधिदैविकमण्डलस्थ अग्नि भी सहायक हो तो उससे अच्छा अग्न्याधान का मुहूर्त क्या हो सकता है? अतः कृत्तिका में ही अग्न्याधान करना चाहिए ॥१॥

द्वितीय उपपत्ति—

आश्विनी भरणी आदि जो अन्य नक्षत्र हैं वे संख्या में कोई एक है जैसे स्वाति, चित्रा, अभिजित्। कितने ही दो हैं जैसे—पुनर्वसु, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपद आदि। कई तीन हैं जैसे श्रवणा, ज्येष्ठा इत्यादि। कई चार हैं जैसे मृगशिरा आदि। किन्तु यह कृत्तिका नक्षत्र ही संख्या में सबसे अधिक है। अधिक होना भूमासम्पत्ति है और भूमा समृद्धि या सुख को कहते हैं। जैसा कि—'यो वै भूमा तत्सुखम् अथ यदल्पं तद्दुःखम्।' यह श्रुति बतला रही है। अतः सात संख्या वाले कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करता हुआ यजमान भूमा (समृद्धि) को ही प्राप्त करता है। अतः भूमा की प्राप्ति के लिए भी कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिए। यही कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान की दूसरी उपपत्ति है ॥१.२॥

तृतीय उपपत्ति—

आज यद्यपि विषुवद्वृत्त कृत्तिका से १० अंश दक्षिण हटा हुआ है, परन्तु जिस समय शतपथ का निर्माण हुआ था उस समय विषुवद्वृत्त ठीक कृत्तिका नक्षत्र पर था। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि—यह जो कृत्तिका नक्षत्र है वह पूर्व बिन्दु से (विषुवद्वृत्त से) कभी

नहीं हटते हैं। अन्य जो नक्षत्र हैं वे अवश्य ही पूर्व बिन्दु से अर्थात् विषुवद्वृत्त से इधर उधर च्युत हो जाते हैं। क्षितिजमण्डल, क्रान्तिमण्डल, विषुवन्मण्डल एवं विक्षेपमण्डल (ध्रुवप्रोतमण्डल) इन चारों का जहाँ सम्पात होता है—वही 'पूर्वबिन्दु' किंवा 'पूर्वदिशा' कहलाती है। केवल कृत्तिका ही इस बिन्दु पर था, अतएव 'एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते' यह कहा गया है। पूर्व दिशा देवों की दिक् कहलाती है। देवों का ही यजन करना है, अतः इस नक्षत्र में अग्न्याधान करने से इस यजमान का आध्यात्मिक अग्नि और आधान किया हुआ अग्नि देवताओं की दिक् इस प्राची में ही आहित हो जाता है अर्थात् इसका अग्नि देवताओं की तरफ मुख कर लेता है, अतः कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिए। यह कृत्तिका में अग्न्याधान की तीसरी उपपत्ति है ।।३।।

यहाँ पर प्रसङ्गागत एक बात का और निरूपण कर दिया जाता है। आधुनिक ज्योतिषी लोग जो पृथिवी को स्थिर मानते हैं, उनका यह सिद्धान्त पूर्वोक्त कथन से सर्वथा मिथ्या सिद्ध हो जाता है। पूर्व में बतलाया गया है कि याज्ञवल्क्य के समय में विषुवद्वृत्त कृत्तिका नक्षत्र में था परन्तु आज यह विषुवद्वृत्त कृत्तिका से १० अंश दक्षिण में हटा हुआ है। जिस समय विषुवद्वृत्त पर कृत्तिका था, उस समय शनि ने शकटवेध किया था। अतः उस समय दशरथ के राज्य में महा अकाल पड़ा था। विषुवद्वृत्त का सम्बन्ध पृथिवी से रहता है। यदि पृथिवी चलती होती तो यह विषुवद्वृत्त १० अंश दक्षिण में कैसे हट गया। परन्तु आज हम इस विषुवद्वृत्त को प्रत्यक्ष ही कृत्तिका से १० अंश हटा हुआ देखते हैं। अतः मानना पड़ेगा कि पृथिवी अवश्य चलती है।

कई आचार्यों का मत है कि कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए। इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि ये सात तारे किसी समय में ऋक्षों की पत्नियाँ थीं। उत्तर दिशा में जो सप्तर्षि दिखाई देते हैं उन्हीं को प्राचीन समय में 'ऋक्ष' कहा करते थे। ये सप्तर्षि मण्डल भी दो हैं। एक तो वह है जिसके पुच्छ पर ध्रुव है। जिसके लिए श्रुति कहती है—'अग्निः पुच्छस्य प्रथमं काण्डम्। ततः इन्द्रः, ततः प्रजापतिः, अभयं चतुर्थम्।' इस छोटे ऋक्ष को आधुनिक वैज्ञानिक 'उरसा माइनर' कहते हैं। और दूसरा बड़ा ऋक्ष स्पष्ट ही दिखलाई पड़ता है जिसको कि वेद में 'सप्तमातरः' नाम से कहा जाता है—'जज्ञानः सप्तमातृभिः' इति। इस बड़े ऋक्ष को 'उरसा मेजर' कहते हैं। प्रकृत में यही बतलाना है कि वैदिक परिभाषा में प्राण को ऋषि कहते हैं। आकाशमण्डलस्थ सम्पूर्ण तारे प्राणघन हैं, अतः वे ऋषि कहलाते हैं। इनसे हमें प्राण मिलता है, अतएव इन्हें ऋक्ष ऋषि (प्राण) प्रद कहते हैं। इन सात ऋषिप्रद तारों की प्रतिकृति पर ही पृथिवी का यह रींछ बना हुआ है। अतः कश्यप शब्द की तरह इन तारों का वाचक ऋषि (प्राण) प्रद होने से जो ऋक्ष शब्द था, उसका इस रींछ पशु के लिए भी प्रयोग होने लगा। वस्तुतः

ऋक्ष नाम उन तारों का ही समझना चाहिए। यह जो ऋक्ष है वह मिथुन से हट गया अर्थात् इस ऋक्ष की स्त्री (कृत्तिका) इसको छोड़ कर भाग गयी। भगवान् याज्ञवल्क्य इसका प्रमाण देते हुए कहते हैं कि सप्तर्षि उत्तर दिशा में उदित होते हैं और कृत्तिका पूर्व में। जो मिथुन से व्यृद्ध (विरत) हो जाता है अर्थात् जो पत्नी से अलग हो जाता है वह एक प्रकार से अशितवत् ही हो जाता है अर्थात् नष्टप्राय हो जाता है। यह यजमान भी मिथुन से अलग न हो जाय अर्थात् उसकी स्त्री कृत्तिका की तरह उसे न छोड़ दे, अतः कृत्तिका में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए ॥४॥

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस मिथुन की व्यृद्धि दिखला कर आप कृत्तिका में अग्न्याधान का निषेध करते हैं वह सर्वथा असङ्गत है। क्योंकि जिस मिथुनाभाव की आप आशङ्का कर रहे हैं वह सर्वथा निर्मूल है। इन सातों नक्षत्रों में जो एक चमकीला नक्षत्र है वही तो इन छहों का मिथुन है। इस अग्नि मिथुन से यह मिथुन सर्वथा समृद्ध ही है, अतः कृत्तिका में ही अग्न्याधान करना चाहिए।

कृत्तिका में अग्न्याधान की प्रसङ्गागत चतुर्थ उपपत्ति

कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान क्यों करना चाहिए, इसके प्रसङ्गागत एक कारण का निर्देश यहाँ और कर दिया जाता है। संसार के यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण वायु से होता है। अग्नि की तरलावस्था ही वायु है। यह आग्नेय वायु ११ प्रकार का है। ये ही एकादश रुद्र कहलाते हैं। पूर्व प्रकरण में कितनी ही बार यह बतलाया जा चुका है कि आधिदैविक यज्ञ के अनुकरण पर ही इस वैध यज्ञ का वितान किया जाता है अर्थात् जैसी स्थिति आधिदैविक यज्ञ की है, ठीक उसीके अनुकरण पर इस यज्ञ की रचना की जाती है। आधिदैविक यज्ञ में अजएकपात्, अहिर्बुध्न्य आदि नामों से प्रसिद्ध एकादश रुद्र प्रजननक्रिया के अधिष्ठाता है। उन्हीं एकादश रुद्रों के अनुकरण पर प्रकृति यज्ञ में गार्हपत्य, आहवनीय एवं आठ प्रकार की धिष्ण्याग्नियों को कल्पना की गई है। आधिदैविक यज्ञ में जो 'अजएकपात्' और अहिर्बुध्न्य हैं वे प्रकृति यज्ञ में गार्हपत्यस्थानापन्न है एवं अवशिष्ट रुद्र (वायु) आहवनीय और धिष्ण्याग्निस्थानापन्न है। इन ग्यारह रुद्रों के चित्र आकाश मे बने हुए हैं। इनमें नाक्षत्रिक अग्नि को धिष्ण्याग्नि कहते हैं। धिष्ण्याग्नि आदि ग्यारह अग्नियों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनमें से एक अग्नि का ग्रहण करने पर ग्यारहों अग्नियां गृहीत हो जाती हैं। कृत्तिका नक्षत्र अग्निमय है, अतः वह नाक्षत्रिक अग्निरूप धिष्ण्याग्नि का स्थानापन्न है। इसलिए यदि इस नक्षत्र में अग्न्याधान किया जाएगा तो ग्यारहों अग्नियों का प्रकृतियज्ञ में सम्बन्ध हो जाएगा। ऐसा होने पर दैवात्मप्रजनन के लिए किया जाने वाला यह यज्ञ सर्वथा सुसम्पन्न हो जाएगा, क्योंकि प्रजननक्रिया के अधिष्ठाता ये एकादश रुद्र ही हैं, इसलिए कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिए।

यह पहिले बतला दिया गया है कि प्राचीन समय में राशिक्रम कृत्तिका से प्रारम्भ होता था किन्तु किसी विशेष वैज्ञानिक भाव के कारण नक्षत्रचक्रक्रम को कृत्तिका से प्रारम्भ न कर अश्विनी से प्रारम्भ किया गया। इसी नक्षत्रचक्र-परिवर्तन-रहस्य को समझाने के लिए दक्ष प्रजापति की कथा की कल्पना की गई। दक्ष प्रजापति के रहस्य का निरूपण अप्रकृत होने से प्रकृत में संक्षिप्त निर्देशनमात्र कर दिया जाता है, जिससे आने वाला दक्ष का चरित सम्यक् प्रकार से समझ में आ सके।

सूर्य बृहती छन्द पर अर्थात् विषुवद्वृत्त पर स्थिर रूप से तपा करता है—"सूर्यो बृहती-मध्यूढस्तपति"। यह श्रुति इसी तथ्य का निर्देश कर रही है। सूर्य के चारों तरफ बुध, बुध के बाद शुक्र और शुक्र के अनन्तर पृथिवी परिभ्रमण कर रही है। इस पृथिवी के बाद मङ्गल, मङ्गल के बाद देवसेना, देवसेना के बाद बृहस्पति और बृहस्पति के बाद शनि परि-भ्रमण करता है तथा शनि के बाद हर्सल तथा हर्सल के बाद नेपचून परिभ्रमण करता है। तत्पश्चात् नक्षत्रकक्षा है। ग्रहों की इसी क्रम से स्थिति है। इन ग्रहों में पृथिवी के चारों तरफ चन्द्रमा परिभ्रमण करता है। पृथिवी-परिभ्रमण-वृत्त को जैसे क्रान्तिवृत्त कहते हैं उसी प्रकार चन्द्रपरिभ्रमणवृत्त को दक्ष कहते हैं। पुराणों में प्रतिपादन किया है कि भगवान् दक्ष प्रजापति के ६० कन्याएँ थीं। इनमें से २७ चन्द्रमा को, १० धर्मराज को, १३ कश्यप को, २ अङ्गिरा को, २ कृशाश्व को, २ भृगुपुत्र को और ४ अरिष्टनेमि को दी गई थीं। इस प्रकार चन्द्र, धर्म, कश्यप, अङ्गिरा, कृशाश्व, भार्गव, अरिष्टनेमि ये कुल सात जामाता दक्ष प्रजापति के हुए। जैसा कि 'भागवत पुराण' में बतलाया गया है कि—

"दक्षस्य षष्टिकन्यास्तु सप्तविंशतिमिन्दवे।
ददौ स दश धर्माय, कश्यपाय त्रयोदश ॥१॥
द्वे चैवाङ्गिरसे प्रादाद द्वे कृशाश्वाय धीमते।
द्वे चैव भृगुपुत्राय चतस्रोऽरिष्टनेमये ॥२॥"

इसका तात्पर्य यही है कि एक ही चन्द्रपरिभ्रमणवृत्त दक्षवृत्त के अवस्थाभेद से साठ भाग किए जाते हैं, यही दक्ष प्रजापति की साठ कन्याएँ हैं।

रासायनिक प्रक्रिया में पदार्थों के स्वरूप में थोड़े से आधिक्य एवं न्यूनता के कारण परिवर्तन हो जाता है। अतः दक्षवृत्त भी उसके विभागों के तारतम्य से नाना भावो में परिणत हो जाता है। एक ही पदार्थ जब आठ अवयवों से परिच्छिन्न है तब तक वह अग्नि है परन्तु यदि एक अवयव और बढा दिया जाय तो वह अग्निस्वरूप से च्युत होकर ऐन्द्रभाव में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार यदि दक्षवृत्त को इन ३६-३६ अंशात्मक १० भागों में विभक्त किया जाय तो इससे धर्म का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसीलिए १०

कन्याएँ धर्म को दी गयीं, यह कहा गया है। यदि चान्द्र संवत्सर की दृष्टि से दक्षवृत्त को १३ भागों में विभक्त माना जाय तो इस त्रयोदशभागात्मक दक्ष से प्राणिसमूह की उत्पत्ति होती है और इधर सूर्य से भी प्राणिसमूह की उत्पत्ति बतलायी गयी है। जैसा कि—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' इस श्रुति से सिद्ध है। सूर्य को ही वेद में कश्यप कहा गया है। इस सूर्यरूप कश्यप का जब दक्षवृत्त के १३ विभागों के साथ सम्बन्ध होता है तो उससे सर्प, देवता, दानव, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। दक्ष के उन १३ विभागों को दिति, अदिति, कला, दनु, कद्रू, विनता आदि नामों से कहा जाता है। इसी अभिप्राय से १३ कन्याएँ कश्यप को दीं, यह कहा जाता है। इसी प्रकार यदि चन्द्रमा की दृष्टि से दक्षवृत्त का विभाग किया जाता है, तो उसके २७ विभाग होते हैं। इसी को नाक्षत्रिक विभाग कहते हैं। इन २७ नक्षत्रों का चन्द्रमा से सम्बन्ध है। अतः २७ कन्याएँ चन्द्रमा को दीं, यह कहा गया है। यदि अरिष्टनेमि की दृष्टि से दक्षवृत्त को विभक्त करें तो उसके चार विभाग होते हैं। जैसा कि निम्न श्रुति बतला रही है—

'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।। इति।

यदि कृशाश्व, भार्गव और अङ्गिरा की दृष्टि से दक्षवृत्त को विभक्त किया जाय तो इसके दो दो विभाग होंगे, इसीलिए दक्ष की २–२ कन्याएँ इनको दी गईं यह कहा गया है।

उपर्युक्त सन्दर्भ से हमें यह बतलाना है कि भिन्न भिन्न दृष्टि से दक्षवृत्त के भिन्न-भिन्न विभाग होते हैं। किसी समय राशिक्रम कृत्तिका नक्षत्र से माना जाता था और कृत्तिका से दक्षवृत्त का विभाग किया जाता था, इसीलिए इस कृत्तिका को दक्ष का मस्तक माना गया था। किन्तु किसी विशेष कारण से कृत्तिका से नक्षत्रचक्र प्रारम्भ न कर अर्थात् दक्षवृत्त का विभाग न मान कर अश्विनी से प्रारम्भ किया गया, यही दक्ष प्रजापति का शिरश्छेद है। पुराणों में बतलाया गया है कि दक्ष प्रजापति का मस्तक काट कर उसके बकरे का मस्तक जोड़ दिया। इस का यही तात्पर्य है कि पहिले कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिर का एकपाद मेष इस प्रकार दक्षवृत्त का विभाग माना जाता था, परन्तु अश्विनी से राशि प्रारम्भ मानने पर अश्विनी, भरणी, कृत्तिका का एक चरण मेष माना जाने लगा। अर्थात् कृत्तिका का एक चरण मेष राशि में समाविष्ट हुआ और कृत्तिका के तीन चरण मेष राशि में भुक्त नहीं हुए। कृत्तिका से राशिक्रम प्रारम्भ करने पर कृत्तिका नक्षत्रों में प्रमुख होने से वही दक्ष प्रजापति का मस्तक माना जाता था। कृत्तिका से राशिक्रम का प्रारम्भ न मानने पर कृत्तिकारूप प्रजापति का मस्तक छिन्न हो गया। नवीन क्रम में कृत्तिका का एक चरण मेष राशि में समाविष्ट हुआ, यही छिन्न दक्ष प्रजापति के बकरे का मस्तक

जोड़ना है। नवीन राशिक्रम अश्विनी से प्रारम्भ होता है, अतः सभी धार्मिक कृत्य अश्विनी से ही प्रारम्भ किए जाते हैं। परन्तु ऋतुपरिवर्तन अयन विषुवत्सम्पात से ही माना जाता है।

रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान—

अब दूसरे नक्षत्र में अग्न्याधान बतलाते हैं। अर्थात् रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करें। क्योंकि प्रजा को उत्पन्न करने वाले प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान किया था। रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करने से प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया, तथा उत्पन्न प्रजाएँ अविच्छिन्न, विनाशरहित तथा निश्चल भाव से रोहिणी नक्षत्र की तरह स्थिर हो गयीं। यही रोहिणी का रोहिणीत्व है। इस रोहिणी को 'लक्ष्मी' कहते हैं। प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में प्रजा उत्पन्न की, अतः इसका रोहिणी (लःमी) यह नाम चरितार्थ हो गया। जो विद्वान् इस रोहिणी के रोहिणीत्व को जान कर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है, वह प्रचुर सन्तान तथा पशुओं से युक्त होता है।

रोहिणी नक्षत्र के पास प्रजापति नाम का एक तारा है। इस प्रजापति का रस जब शकटाकार रोहिणी नक्षत्र में मिश्रित होता है तो उससे अखिल विश्व का निर्माण होता है। वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थ इन तारों के रस से बनते हैं। प्रत्येक तारा में भिन्न-भिन्न जाति के प्राण हैं। इस भिन्नता के कारण ही संसार में पदार्थों का परस्पर भेद उत्पन्न होता है। जो इन तारों के रस को पहिचान लेता है वह नवीन सृष्टि का निर्माण कर सकता है। महर्षि विश्वामित्र ने दक्षिण दिक् के इन नाक्षत्रिक प्राणों को पहिचाना था, इसी बल पर उन्होंने स्पर्धा से नवीन सृष्टि का निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। तात्पर्य यह है कि जो इस ब्रह्मविद्या से परिचित होता है वह सब कुछ कर सकता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—"ब्रह्मविद्यया ह वै मनुष्याः सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते।' इति।

प्रकृत में यहीं बतलाना है कि प्रजापति नक्षत्र का रस आग्नेय रोहिणी नक्षत्र में आहुत होकर ससार के पदार्थों का निर्माण करता है। चूँकि यह रोहिणी नक्षत्र प्रजोत्पादन का साधक है अतएव इसे 'धनदा' तथा 'लक्ष्मी' भी कहते हैं। इस रोहिणी नक्षत्र के बीच में छोटे छोटे पशुओं की आकृतियाँ बनी हुई हैं। इन तारों से गाय, बैल आदि पशुओं का निर्माण होता है, अतएव इन तारों को पशु कहते हैं। ये पशु (तारे) रोहिणी के बीच में निश्चेष्ट, अचलभाव से सदा स्थिर रहते हैं अतएव 'एकरूपाः उपस्तब्धाः तस्थुः' यह कहा गया है। तात्पर्य यह है कि रोहिणी नक्षत्र आग्नेय है। प्रजापति नक्षत्र के रस से युक्त हो कर प्रजा, पशु उत्पन्न करता है। अतः इस नक्षत्र में यदि अग्न्याधान किया जायगा तो यज्ञाग्नि समृद्ध होगा और यजमान भी प्रजाओं तथा पशुओं से युक्त होगा, अतः रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए।।६।।

जब प्रजापतिरस तथा रोहिणी के रस से पशु उत्पन्न हो गये, तब उन पशुओं ने 'हम मनुष्यों के काम आवें, इस दृष्टि से रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान किया। उस अग्न्याधान के कारण वे पशु मनुष्य की कामना में आरूढ़ हो गये अर्थात् मनुष्य पशुओं को चाहने लगे। इसका अभिप्राय यह है कि आकाश में जितने भी नक्षत्र हैं उनसे ही संसार के पदार्थों का निर्माण होता है तथा जिस आकार के आकाशस्थित नक्षत्र होते हैं उन नक्षत्रों के रस से उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी उसी आकार के होते हैं। उदाहरणार्थ आकाश में कर्कोटक, तक्षक, वासुकि, अनन्त आदि आठ नाक्षत्रिक सर्प हैं। इनसे जो सर्प उत्पन्न होते हैं उनका वैसा ही आकार होता है, जैसा उन नक्षत्रों का। इसी तरह ऋक्षपदवाच्य सप्तर्षि के आकार से उत्पन्न होने वाले रींछ की आकृति भी सप्तर्षि की आकृति के समान ही होती है। एवमेव कूर्मरस से उत्पन्न होने वाले कछुए की भी वैसी ही आकृति है जैसी दधिमधुघृतात्मक कूर्मरस की है। इस प्रकार से शकटाकार रोहिणी नक्षत्र के बीच में जो पशुओं के आकार के तारे हैं, उनके रस से इन पार्थिव पशुओं का निर्माण होता है। अतः इन पशुओं का वैसा ही आकार है, जैसा कि नाक्षत्रिक पशुओं का।

रोहिणी नक्षत्र अग्निमय है। इसमें जब नाक्षत्रिक पशुओं का रस आहुत होता है, तो उससे पार्थिव पशु उत्पन्न होते हैं अर्थात् रोहिणी और रोहिणीस्थ पशुओं से ही इन पार्थिव पशुओं की उत्पत्ति होती है। इसीलिए पशुओं ने रोहिणी में अग्न्याधान किया—यह कहा गया है।

सृष्टि के प्रारम्भ में जब कि पदार्थविद्या को कोई नहीं जानता था, उस समय मनुष्य गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशुओं से सर्वथा अपरिचित थे। वे मनुष्य इन पशुओं को सर्वथा अनुपादेय समझते थे। परन्तु जब वैज्ञानिक युग आरम्भ हुआ तब मनुष्यों ने यन्त्रों द्वारा इन नक्षत्रों को पहिचानना प्रारम्भ किया। प्रारम्भ में उन्होंने नक्षत्रों की आकृति को पहिचाना, पश्चात् उनके रसों की परीक्षा की। तदनन्तर किस नक्षत्र के रस से किसका निर्माण हुआ, यह मालूम किया। अन्त में विज्ञान द्वारा उन्होंने यह मालूम कर लिया कि इन नक्षत्रों से ही यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण होता है। तब वे उन पदार्थों को अपने उपयोग में लाने लगे जिनको कि अज्ञानवश पहिले उपयोग में नहीं लाते थे। उन्होंने देखा कि इन नाक्षत्रिक पशुओं के रस से इन्हीं के आकार के ये पशु बने हैं और इनमें भी वे ही गुण हैं जो कि इनके उपादानभूत नक्षत्रों में। इस आधिदैविक पशुयज्ञ को पहिचान कर उन्होंने इन पार्थिव पशुओं को पहिचान लिया। तभी से जो पार्थिव पशु मनुष्यों के अनुपादेय हो रहे थे वे उनके उपयोग में आने लगे। सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि नाक्षत्रिक पशुयज्ञ को पहिचान कर ही मनुष्य पार्थिव पशुओं को अपने काम में लाने लगे। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हम पार्थिव पशु मनुष्यों के

काम आवे इसलिए पशुओं ने (नाक्षत्रिक) रोहिणी में अग्न्याधान किया अर्थात् यज्ञ किया। उस यज्ञ के प्रभाव से वे मनुष्यों की कामना में आरूढ (सवार) हो गए। अर्थात् आधिदैविक यज्ञ को पहिचाने बिना मनुष्य कदापि पशुओं को नहीं पहिचान सकते थे, इसलिए उन नाक्षत्रिक पशुयज्ञ को ही प्राधान्येन पशुओं के जानने में कारण बतलाया गया है।

पशु(नक्षत्र)ओं ने रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान कर अपने को मनुष्यों के काम का बनाया था। अतः जो विद्वान् इस वैज्ञानिक रहस्य को समझ कर रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है उसको जैसे आदि सृष्टि में मनुष्य पशुओं को यथेच्छ व्यवहार में लाते थे, वैसे ही आज रोहिणी नक्षत्र में यज्ञ करने वाले इस विद्वान् को यह रोहिणी नक्षत्र पशुओं में यथेच्छ सवार करवा देता है। अर्थात् रोहिणी में अग्न्याधान करने से यजमान सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं से युक्त हो जाता है। अतः जिसे सम्पत्ति, प्रजा तथा पशुओं से सम्पन्न बनने की इच्छा है, वह रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करे ।।७।।

मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान

अब तीसरे नक्षत्र में अग्न्याधान का निरूपण किया जाता है। मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान करे। क्योंकि यह प्रजापति का कटा हुआ मस्तक है जो कि 'मृगशिरा' नक्षत्र है। जो रसभाग अर्थात् तात्त्विक भाग होता है, वही शिर कहलाता है। यह पुरुष सप्त-पुरुष-समष्टिरूप होता है। अर्थात् इस पुरुष में ७ प्राण रहते हैं। बीच के धड़ में चार प्राण होते हैं। इन्हीं चारों की समष्टि को आत्मा कहते हैं। उत्तर व दक्षिण पक्ष में एक एक प्राण होते हैं। एक प्राण से रीढ बनती है जो कि पुच्छ नाम से प्रख्यात है। इसी पुच्छ के आधार पर सारा शरीर स्थित रहता है। यदि यह पुच्छात्मक प्रतिष्ठाप्राण निकल जाय तो यह शरीर उसी समय गिर जाएगा। इसी प्राण के कारण यह मनुष्य शरीर तना हुआ खड़ा रहता है। इसी प्रतिष्ठा प्राण के लिए श्रुति कहती है—

'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।' इति

इन सातों प्राणों के रसभाग से मस्तक बनता है। चूँकि यह मस्तक सातों प्राणों के रसभाग (तात्विक भाग) से बनता है, अतएव इसे शिर कहते हैं। अर्थात् श्री (रस) भाग से बनने के कारण ही इस मस्तक को 'शिर' कहा जाता है। इसके श्रेष्ठत्व का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मस्तक ही सारे शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थित है। एव यही अन्न द्वारा सारे शरीर की रक्षा करता है। अतएव यह श्रीः-श्रेष्ठ रसभाग है। इसी सप्त पुरुष का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

'त एतान् सप्त पुरुषान् एकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, अर्वाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः, प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस

आसोत् तमूर्ध्वं समुदौहन् तदस्य शिरोऽभवन् । यच्छ्रियं समुदौहत् तस्मात् शिरः । तस्मिन् एतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वा एतच्छिरः ।। इति । शत० ६।१ (३३१) पृ.

चूँकि मृगशिरा भगवान् प्रजापति का रसभाग है, अतएव उसे श्री होने के कारण 'शिरः' कहा गया है । क्योंकि श्री को ही शिर कहते हैं—'श्रीर्वै शिरः इति ।' भगवान् याज्ञवल्क्य श्री को शिर कहने में कारण बतलाते हैं—श्री इसलिए शिर कहलाती है कि लोक में मण्डली में जो श्रेष्ठ होता है उसके लिए 'यह इस थोक का शिर है' ऐसा कहा जाता है । अतः मृगशिरा प्रजापति का श्रेष्ठ भाग (श्रीभाग) होने से शिर कहलाता है । इस प्रकार जो विद्वान् प्रजापति के शिरस्त्व को जान कर मृगशिरा में अग्न्याधान करता है वह शिरस्त्व (मुखियापन, सरदारगिरी) को प्राप्त करता है । इसलिए जिसे श्रीधार (सरदार) बनना हो वह मृगशिरा में अग्न्याधान करे ।।८।।

कई आचार्यों का मत है कि मृगशिरा में अग्न्याधान न करे । इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि—भगवान् प्रजापति ने मृगरूप धारण कर रोहिणी पर आक्रमण किया था तब उनके इस शरीर को इस त्रिपर्वा बाण से बींध दिया गया था । अर्थात् लुब्धक प्रजापति ने बाण से इस प्रजापति के मस्तक को काट गिराया था । प्रजापति के विषय में निम्न आख्यायिका सुनी जाती है—जिस समय लुब्धक पशुपति प्रजापति ने बाण मारा तो उसी समय प्रजापति ने शरीर छोड़ दिया । उस समय पृथिवी पर गिरा हुआ जो प्रजापति का शरीर था वह सर्वथा अयज्ञिय और निर्वीर्य हो गया था । क्योंकि जब तक शरीर में प्राण रहते हैं तभी तक अन्नाहुतिव्यापार हुआ करता है । और इस अन्नाहुति के होने से ही शरीर यज्ञ कहलाता है । तथा जब तक शरीराग्नि में अन्नात्मक सोम की आहुति होती रहती है तभी तक शरीर वीर्ययुक्त रहता है, किन्तु बाण से प्रजापति का मस्तक कट गया, अतः प्राणविच्युति से अन्नाहुतिरूप यज्ञ बन्द हो गया । अतः वह अयज्ञिय और निर्वीर्य है। इस अयज्ञिय और निर्वीर्य प्रजापति मृगशिरा में यजमान अग्न्याधान करेगा तो इसका यज्ञ भी अयज्ञिय और निर्वीर्य होगा । अतः मृगशिरा में अग्न्याधान नहीं करना चाहिए ।।९।।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि मृगशिरा में अग्न्याधान करना ही चाहिए । क्योंकि मृगशिरा में अग्न्याधान के निषेध का जो कारण बतलाया गया है, वह सर्वथा असंगत है । क्योंकि इस प्रजापति का कोई भाग अपवित्र, वास्तु (आत्मपरित्यक्त, पतित) नहीं है । अर्थात् न इसका मस्तक कटा है और न यह अयज्ञिय है । और न इस प्रजापति का कोई शरीर है । तात्पर्य यह है कि 'प्रजापति रोहिणी की तरफ दौड़े, इन पर लुब्धक ने बाण चलाया एवं इस बाण से प्रजापति का मस्तक कट कर गिर गया' इत्यादि सारी कथा काल्पनिक है, अर्थात् सर्वथा मिथ्या है, केवल नक्षत्रों के गुण समझाने के लिए तथा इनके संख्यादि का बोध कराने के लिए ऐसी कल्पना की गयी है । यदि वास्तव

में प्रजापति का मस्तक कटा होता तो अवश्य उपर्युक्त दोष आता, परन्तु ऐसा नहीं है। अतः मृगशिरा नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए।

पुनर्वसु नक्षत्र में अग्न्याधान

अग्न्याधान तीन प्रकार का होता है :—

१. अपूर्वाधान, २. पुनराधान, ३. विच्छिन्नाधान।

सर्वप्रथम वसन्त ऋतु में जो अग्न्याधान किया जाता है उसे अपूर्वाधान कहते हैं। जब यह अग्नि स्वतः बुझ जाता है तब उसका जो पुनः आधान किया जाता है उसे पुनराधान कहते हैं। यह पुनराधान श्रावण कृष्णा अमावस्या को होता है। और यदि किसी दोष से अग्नि बुझ जाती है तब प्रायश्चित्तपूर्वक इसका जो पुनराधान किया जाता है उसे विच्छिन्नाधान कहते हैं। पुनर्वसु नक्षत्र में यदि किसी बिगड़े हुए काम को किया जाता है तो वह अवश्य पूरा होता है एवं खोई हुई वस्तु पुनर्वसु में तलाश करने से मिल जाती है इसीलिए इसे पुनर्वसु कहते हैं। अतः जिसे पुनराधान करना हो, वह पुनर्वसु नक्षत्र में अग्न्याधान करे। ऐसा करने से उसका गया हुआ अग्नि पुनः उसी मात्रा से समृद्ध हो जाता है ॥१०॥

फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान

प्रथम उपपत्ति—फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करें। फल्गुनी नक्षत्र में चार तारे हैं, अतएव 'फल्गुनीषु' इस बहुवचन का प्रयोग किया गया है। जो भी नक्षत्र दिखाई देते हैं वे सब पिण्डात्मक हैं। पिण्ड का निर्माण बिना देवता के नहीं होता। इसीलिए श्रुति कहती है—

"जायमानो वै जायते सर्वाभ्यः एताभ्यो देवताभ्यः।" इति।

देवता-अग्नि, वायु, इन्द्र भेद से तीन हैं। कितने ही पदार्थ अग्नि द्वारा बनते हैं, कितने ही वायु द्वारा और कितने ही इन्द्र द्वारा। ये फल्गुनी पिण्ड इन्द्र द्वारा बनते हैं। अतः फल्गुनी नक्षत्र को इन्द्र का नक्षत्र बतलाया गया है। इन्द्र इनका देवता है। इन्द्र का नाम 'फल्गुनी' है। इस प्रकार ये फल्गुनी नक्षत्र इन्द्र के नाम से व्यवहृत होते हैं। जिस प्रकार अग्नि आठ प्रकार का है, वायु ४९ प्रकार का है, इसी प्रकार इन्द्र १४ प्रकार का है। तथा जैसे अग्नि का 'अग्नि' आधिकारिक नाम है तथा उसका वास्तविक नाम 'यविष्ठ' है उसी प्रकार इन्द्र का 'इन्द्र' नाम आधिकारिक है और उसका प्रातिस्विक नाम अर्जुन है। प्रकाश का विभाग इन्द्र के अधीन है अतएव इसको 'अर्जुन' (शुक्ल) कहते हैं। फाल्गुन-शुक्ला पूर्णिमा को फल्गुनीनक्षत्र में अर्जुन का जन्म हुआ था, इसलिए उसको इन्द्रपुत्र कहा करते थे और इसीसे उसका नाम अर्जुन' रखा गया था। निष्कर्ष यह है कि इन्द्र का गुह्य नाम अर्थात् माता पिता का रखा हुआ नाम 'अर्जुन' ही था। इस दृष्टि से इन्द्ररूप फल्गुनीनक्षत्रों

को 'अर्जुन्यः' कहना चाहिए था क्योंकि इसी अर्जुन से उनका निर्माण हुआ है। तथापि परोक्षभाव से इनको 'फल्गुन्यः' कहा जाता है। इन्द्र देवताओं के राजा थे अतः उनको वास्तविक नाम से न कहकर इन्द्ररूप इन अर्जुन-नक्षत्रों को 'फल्गुनी' नाम से ही कहते हैं। जिस प्रकार देवताओं का अधिपति इन्द्र है उसी प्रकार इस यज्ञ का अधिपति यजमान है। अतः अधिपतित्वसाधर्म्य से यजमान को भी इन्द्र कहते हैं। अर्थात् यजमान इन्द्ररूप ही है। पूर्वा फल्गुनी में अग्न्याधान करता हुआ यजमान अपने नक्षत्र में ही आधान करता है। इसमें आधान करने से अधिपति इन्द्रप्राण के आने से यजमान का आधिपत्य और भी बलिष्ठ होता है।

द्वितीय उपपत्ति—अपिच, इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। यज्ञ द्वारा सूर्य तक देवात्मा वितत होता है। तथा अग्नि में जो कुछ भी आहुति दी जाती है वह सब उस सूर्य में ही जाती है, और सूर्य में इन्द्र प्राण रहता है, अतः आये हुए हविरादि पदार्थों को यह इन्द्र ही ग्रहण करता है। अतएव इन्द्र को अधिपति कहा है। इस इन्द्र से यजमान का यह अग्न्याधान सेन्द्र (इन्द्रसहित) हो जाता है। इन्द्र-सहित होने से यज्ञस्वरूप समृद्ध होता है। पूर्वा फल्गुनी और उत्तरा फल्गुनी इन दोनों पर व्यासज्यवृत्त्या नक्षत्रत्त्व है। चन्द्रमा प्रतिदिन १३ अंश २० कला अर्थात् पूरी ८०० कला चलता है। जिससे इस चन्द्रगति का विभाग होता है उसे ही नक्षत्र कहते हैं। जिस बिन्दु पर आज चन्द्रमा दिखलायी पड़ता है, दूसरे दिन उससे जितनी दूरी पर दिखाई दे – वह बीच का एक स्थान एक नक्षत्र कहलाता है। अतः "नक्षति अनेन" इस व्युत्पत्ति से जो चन्द्रगति का विभाजक तत्व है उसे नक्षत्र कहते हैं। इस स्थान के बीच जो अधिक चमकीला तारा होता है उसी के नाम से उस गतिविभाजक नक्षत्र का नाम रख दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र १३ अंश २० कला का होता है। परन्तु फल्गुनी नक्षत्र को चन्द्रमा दो दिन में पार करता है। क्योंकि यह नक्षत्र २६ अंश ४० कला (१६००) कला का है। अतएव नक्षत्र के एक होते हुए भी गतिद्वय के हिसाब से इस फल्गुनीनक्षत्र को पूर्वा फल्गुनी और उत्तरा फल्गुनी इन दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। यही बात पूर्वाषाढ़ा व उत्तराषाढ़ा, पूर्वाभाद्रपदा व उत्तराभाद्रपदा में समझनी चाहिए। पूर्वा फल्गुनी नक्षत्र को 'अर्यमा' कहते हैं और उत्तरा फल्गुनी को 'भग'। अतएव जिसका पूर्वा फल्गुनी में जन्म होता है वह अत्यन्त दाता होता है तथा जिसका उत्तरा फल्गुनी में जन्म होता है वह भाग्यशाली होता है। जैसे —'यः कामयेत दानकामा मे प्रजाःस्युरिति-स पूर्वयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत। अर्यम्णो वा एतन्नक्षत्रम्—य पूर्वे फल्गुनी। अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति। दानकामा अस्मै प्रजा भवन्ति।' इति। (तै०ब्रा०प्र०का० ९ पृष्ठ)। 'यः कामयेत भगी स्याम् इति। स उत्तरयोः फल्गुन्योरग्निमादधीत। भगस्य वा एतन्नक्षत्रम्। यदुत्तरे फल्गुनी। भग्येव भवति।' तै०ब्रा० प्र०का० ९ पृष्ठ।

प्रकृत में यही बतलाना है कि जो पूर्वा फल्गुनी में आधान करता है उसका यज्ञ पूर्व में अर्थात् देवताओं की तरफ जाता है तथा जो उत्तरा फल्गुनी में अग्न्याधान करता है उसका यज्ञ उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। अतः जो यज्ञ को सेन्द्र बनाना चाहे तथा जो अपना आधिपत्य सुरक्षित रखना चाहे वह फल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करे ॥११॥

हस्तनक्षत्र में अग्न्याधान

जो 'मेरे को कोई सम्पत्ति दे' यह इच्छा करता हो, वह हस्तनक्षत्र में अग्न्याधान करे। आकाशमण्डल में कई प्रजापति हैं। कृत्तिका से मृगशिरा के प्रथम चरण तक पहिला प्रजापतिमण्डल है तथा अश्विनी से कृत्तिका के प्रथम चरण तक दूसरा प्रजापतिमण्डल है। ब्रह्महृदय के पास तीसरे प्रजापति हैं। ध्रुव के पास चतुर्थ कश्यप प्रजापति हैं। पाँचवें लुब्धक प्रजापति हैं। इस प्रकार अन्य भी कई प्रजपति हैं। यह जो ∷ हस्तनक्षत्र है, वह प्रजापति का हाथ कहलाता है। ये हस्त दो माने जाते हैं (˙..˙) (∵.) । इनमें जो पहिला हस्त है वह वैदिक हस्त है एवं दूसरा ज्योतिषियों का हस्त है। भाद्रपद-शुक्ला त्रयोदशी से पितृपक्ष तक जो गजच्छाया पर्व होता है उसका इसी वैदिकहस्त से सम्बन्ध है। यह हाथी की सूंड के समान है। अतएव हस्त को गजच्छाया कहते हैं। पितर सूर्यप्रकाश में नहीं रहते, अतः 'अपल्हीका वै पितरः' ऐसा कहा गया है। इसीलिए इसे गजच्छाया कहा जाता है।

प्रकृत में यह बतलाना है कि जिसको किसी से कुछ लेने की इच्छा हो वह हस्तनक्षत्र में अग्न्याधान करे। 'इसको यह वस्तु दे देना' ऐसा अनुचर को कहने की अपेक्षा स्वामी अपने हाथ से जो कोई वस्तु देता है उसका वह देना 'समञ्जस' होता है। अर्थात् हाथ से देना ही वास्तविक देना है। अतः हस्तनक्षत्र में जो अग्न्याधान करता है उसे अवश्य किसी न किसी से सम्पत्ति मिलती है। इसलिए सम्पत्ति की इच्छा वाले को हस्तनक्षत्र में ही अग्न्याधान करना चाहिए ॥१२॥

चित्रानक्षत्र में अग्न्याधान

यजमान चित्रानक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्राचीनकाल में 'भुवन स्वर्ग' में रहने वाले देवता तथा अफ्रिका आदि आसुरी त्रिलोकी में रहने वाले असुरों में परस्पर स्पर्धा चली। ये देवता और असुर दोनों ही प्रजापति के पुत्र थे। इन दोनों ने ही इस लोक में आरूढ़ होने की इच्छा की जो कि 'द्युलोक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह विचार कर देवता व असुर दोनों ने अपने अपने दल में मन्त्रणा प्रारम्भ की कि हम किस उपाय से इस स्वर्ग में चलें। अन्त-तो गत्वा असुरों ने स्वर्ग जाने का उपाय ढूंढ निकाला। अग्नि क्रव्यात्, आमात्, हविर्भुक्,

पशु आदि भेदों से ४९ प्रकार का होता है। इनमें एक अग्नि का नाम 'रौहिण' अग्नि है। असुरों ने 'इस रौहिण अग्नि से हम स्वर्गलोक में पहुँच जायेंगे' यह निर्णय कर इस अग्नि का चयन प्रारम्भ किया ॥१३॥

इस प्रकार असुरों को अग्निचयन करते देख इन्द्र ने विचार किया कि—असुर इस रौहिण अग्नि का चयन कर हमें परास्त ही करते हैं। अर्थात् ये चयनयज्ञ कर हमें परास्त कर देंगे। इस विभीषिका से भयभीत हो इन्द्र ने ब्राह्मण का वेष बनाकर 'अहं ब्राह्मणोऽस्मि' यह कहते हुए एक विजातीय अग्नि की इष्टका (ईंट) साथ में लेकर असुरों की यज्ञशाला में पहुँचे ॥१४॥

इन्द्र ने वहाँ जाकर असुरों से कहा कि—हे असुरो ! यदि आप अनुमति दें तो मैं भी अपनी इस इष्टका को आपकी इष्टकाओं में रख दूँ। चयनयज्ञ में करीब २६ लाख इष्टकाएँ होती हैं। पहिले बकरों को मारकर उनको पानी में सड़ाया जाता है। तदनन्तर ब्राह्मण ही इस स्थान की मिट्टी को लाते हैं और उससे वे इष्टकाएँ बनाते हैं। इन्द्र ब्राह्मण के वेश में थे, अतः असुर उनको मना न कर सके, और कह दिया कि आप भी अपनी इष्टकाओं को रख सकते हैं। इन्द्र ने उसी समय उस इष्टका को रौहिण अग्नि से परिपक्व इष्टकाओं के बीच में रख दिया। उस इष्टका के रखने से असुरों का वह रौहिण अग्नि थोड़े स्थान में असञ्चित हो गया अर्थात् जितनी दूर में इन्द्र की विजातीय अग्नि से परिपक्व इष्टका रखी गयी उतने स्थान में रौहिण अग्नि खंडित हो गया ॥१५॥

इसके बाद ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र बोला—मैं उस इष्टका को लूँगा जो इस चयनयज्ञ में मैंने रखी है—यह कहकर इन्द्र ने अपनी इष्टका को पकड़कर उस चयन से बाहर खींच लिया। उसके निकलते ही वह रौहिण अग्नि विच्छिन्न होकर स्वस्वरूप से च्युत हो गया, अर्थात् रोहिण अग्नि का स्वरूप नष्ट हो गया। उस रौहिण अग्नि के च्युत होते ही सारे असुर भी च्युत हो गये। अर्थात् उनका यज्ञ भ्रष्ट हो गया। उस च्युत रौहिण अग्नि ने उन्हीं इष्टकाओं को वज्र बनाकर उन असुरों का मस्तक काट गिराया। अर्थात् उससे असुरों का नाश होगया ॥१६॥

उसी समय देवता उस स्थान पर आकर कहने लगे कि बड़े आश्चर्य की बात है जो हमने सहज में ही इतने शत्रुओं को मार दिया। रौहिण नक्षत्र में असुरों ने चयन किया था उसी में यह आश्चर्यमयी घटना घटी थी। अतएव इस नक्षत्र का नाम चित्रा हो गया। यही चित्रा नक्षत्र का चित्रात्व है। अपिच, इसी नक्षत्र में असुरों ने चयन किया था, अतः 'चित्या' के कारण भी इसका नाम चित्रा पडा। इससे पूर्व इस नक्षत्र को रौहिण कहते थे।

जो मनुष्य इस चित्रा में अग्न्याधान करता है, वह आश्चर्यमयी घटनाओं से युक्त हो जाता है। अर्थात् उसको ऐसी विजय होती है कि वह स्वयं अपनी विजय पर आश्चर्य प्रकट किया करता है। तथा वह सपत्नों को मार देता है। अर्थात् असुरों की तरह उसके सारे शत्रु नष्ट हो जाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसीलिए इस नक्षत्र में अग्न्याधान क्षत्रिय को ही करना चाहिए। क्योंकि चित्रा में अग्न्याधान करने वाला यजमान शत्रुओं को मार देता है और हर समय 'इसे जीतूँ, इसे जीतूँ' यह इच्छा किया करता है। यह मार काट करना क्षत्रिय का धर्म है न कि ब्राह्मण का। अतः क्षत्रिय को ही इस नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए।

अग्रे अर्थात् रात्रि में, जैसे दिन में यह सूर्य क्षत्र है वैसे नाना क्षत्र थे। अर्थात् जैसे सूर्य अपने क्षत्रवीर्य से चमकता रहता है वैसे पृथिव्यादि ग्रहों को छोड़ कर शेष सारे नक्षत्र 'स्वप्रकाश' हैं। तथा सूर्य के सदृश अथवा सूर्य से अधिक क्षत्र (बल) वाले है। 'लुब्धक में ही ऐसा प्रकाश तथा ऐसा ताप है कि सूर्य उसके सन्निधान से एक क्षण में भाप बनकर उड़ सकता है। किन्तु जिस समय सूर्य उदय होता है उस समय वह इनके सारे क्षत्रवीर्य को ले लेता है अर्थात् सूर्य के उदय होते ही सारे तारे अस्त हो जाते हैं। क्योंकि वह सूर्य इन नक्षत्रों के क्षत्रवीर्य को ले लेता है अतएव 'क्षत्रमादत्ते' इस व्युत्पत्ति से इसे 'आदित्य' कहते है ॥१८॥

इस प्रकार देवताओं ने जब नक्षत्र के क्षत्र को छिना हुआ देखा तो उन्होंने कहा कि— जो रात को क्षत्र अर्थात् वीर्ययुक्त व महाप्रकाशयुक्त थे वे इस समय 'क्षत्र' नहीं हैं। अर्थात् उनका क्षत्रवीर्य इस सूर्य ने छीन लिया है। सूर्य से वे नक्षत्र 'क्षत्ररहित' हो गये यही नक्षत्रों का नक्षत्रत्व है। अपिच सूर्यद्वारा ये सब कृत्तिकादि-नक्षत्र अर्थात् क्षत्ररहित बने अतः 'न क्षत्रत्वं येन क्रियते' इस व्युत्पत्ति से सूर्य का नाम भी नक्षत्र पड़ गया।

जिस प्रकार पृथिवी, रेवती (पूषा) पर रहती है उसी प्रकार यह सूर्य हस्त नक्षत्र पर रहता है। अतः सूर्यनक्षत्र अर्थात् हस्त नक्षत्र में ही आधान उचित है। अर्थात् हस्तनक्षत्र में ही अग्न्याधान करना चाहिए। इसी सूर्य ने इनके वीर्यरूप क्षत्र का ग्रहण कर लिया है, अतः वह आदित्य कहलाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि अग्न्याधान के लिए नक्षत्र मालूम करना चाहते हो तो हमारे विचार से यह सूर्य अर्थात् हस्तनक्षत्र ही सारे नक्षत्रों से अच्युत है, अतः इसी शुभ मुहूर्त में वह सारे नक्षत्रों के फल को प्राप्त कर लेता है, जो हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान करता है। अर्थात् जो फल अन्य नक्षत्रों में अग्न्याधान करने से होता है वह समस्त फल इस हस्त नक्षत्र में अग्न्याधान से हो जाता है अतः सूर्य अर्थात् हस्तनक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए।

॥ इति प्रथमाध्याये द्वितीयं नक्षत्रब्राह्मणम् ॥

अथ ऋतुब्राह्मणम्

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः—ते देवा ऋतवः। शरद् हेमन्तः शिशिरः—ते पितरः। य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः स देवाः। योऽपक्षीयते स पितरः। अहरेव देवाः। रात्रिः पितरः। पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः। अपराह्णः पितरः ॥१॥

ते वा एत ऋतवः—देवाः, पितरः। स यो हैवं विद्वान् 'देवाः पितरः' इति ह्वयति—आ हास्य देवा देवहूयं गच्छन्ति, आ पितरः पितृहूयम्। अवन्ति हैनं देवा देवहूये, अवन्ति पितरः पितृहूये—य एवं विद्वान् 'देवाः, पितरः' इति ह्वयति ॥२॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते—देवेषु तर्हि भवति, देवाँस्तर्ह्यभिगोपायति। अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते—पितृषु तर्हि भवति, पितॄँस्तर्ह्यभिगोपायति ॥३॥

स यत्रोदङ्ङावर्त्तते, तर्ह्यग्नी आदधीत। अपहतपाप्मानो देवाः, अप पाप्मानं हते, अमृता देवाः—नामृतत्वस्याशास्ति, सर्वमायुरेति यस्तर्ह्याधत्ते। अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, यस्तर्ह्याधते—अनपहतपाप्मानः पितरः, न पाप्मानमपहते। मर्त्याः पितरः पुरा हायुषो म्रियते—यस्तर्ह्याधत्ते ॥४॥

ब्रह्मैव वसन्तः, क्षत्रं ग्रीष्मो, विडेव वर्षाः। तस्माद् ब्राह्मणो वसन्त आदधीत, ब्रह्म हि वसन्तः। तस्मात् क्षत्रियो ग्रीष्म आदधीत, क्षत्रं हि ग्रीष्मः। तस्माद् वैश्यो वर्षास्वादधीत, विड्ढि वर्षाः ॥५॥

स यः कामयेत—'ब्रह्मवर्चसी स्याम्' इति, वसन्ते स आदधीत। ब्रह्म वै वसन्तो, ब्रह्मवर्चसी हैव भवति ॥६॥

अथ यः कामयेत—'क्षत्रं श्रिया, यशसा स्याम्' इति, ग्रीष्मे स आदधीत। क्षत्रं वै ग्रीष्मः। क्षत्रं हैव श्रिया यशसा भवति ॥७॥

अथ यः कामयेत—'बहुः प्रजया पशुभिः स्याम्' इति, वर्षासु स आदधीत। विड् वै वर्षाः, अन्नं विशः। बहुर्हैव प्रजया पशुभिर्भवति य एवं विद्वान् वर्षास्वाधत्ते ॥८॥

ते वा एत ऋतवः—उभय एवापहतपाप्मानः। सूर्य एवैषां पाप्मनोऽपहन्ता। उद्यन्नेवैषामुभयेषां पाप्मानमपहन्ति। तस्माद्—यदैवैनं कदा च यज्ञ उपनमेत्, अथाग्नी आदधीत। न श्वः श्वमुपासीत। को हि मनुष्यस्य श्वो वेद ॥९॥

इत्यग्न्याधानप्रकरणे तृतीयमृतुब्राह्मणम्

अथ ऋतुब्राह्मणम्

(अनुवाद) वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, ये ऋतुएँ देव कहलाती हैं तथा शरद्, हेमन्त व शिशिर ये ऋतुएँ पितर कहलाती हैं। जो आपूर्यमाण अर्धमास अर्थात् शुक्लपक्ष है वह देव हैं एवं अपक्षीयमाण अर्धमास अर्थात् कृष्ण पक्ष है वे पितर हैं। अहः भाग देव है तथा रात्रि भाग पितर हैं। अहः में पूर्वाह्ण भाग देव हैं तथा अपराह्ण भाग पितर हैं। तात्पर्य यह है कि ऋताग्नि तथा ऋत सोम की समष्टि ही ऋतु कहलाती हैं। उनमें कभी अग्नि का प्राधान्य (उद्ग्राभ) तथा सोम का अप्राधान्य (निग्राभ), एवं कभी सोम का प्राधान्य (उद्ग्राभ) तथा अग्नि का अप्राधान्य (निग्राभ) होता है। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन तीन ऋतुओं में अग्नि का प्राधान्य तथा सोम का अप्राधान्य है। और देव सौराग्निमय है अतः इन ऋतुओं को देव कहा गया है। तथा शरद्, हेमन्त, शिशिर इन तीन ऋतुओं में सोम का प्राधान्य है तथा अग्नि का अप्राधान्य है और पितर सौम्य है अतः इन ऋतुओं को सौम्य पितर कहा गया है। यही स्थिति शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, अहः तथा रात्रि में है। शुक्लपक्ष, अहः तथा पूर्वाह्ण में अग्निप्राधान्य होने से उन्हें आग्नेय देवरूप बतलाया गया है तथा कृष्णपक्ष, रात्रि व अपराह्ण में सोम का प्राधान्य होने से उन्हें सौम्य पितररूप बतलाया गया है ॥१॥

प्रकारान्तर से ये सभी ऋतुएँ देव भी हैं व पितर भी, क्योंकि सभी ऋतुओं में अग्नि व सोम दोनों की सत्ता है। यह बात दूसरी है कि किन्हीं में अग्नि की व किन्हीं में सोम की प्रधानता है। ऋतुएँ अग्नि व सोम की समष्टि हैं। अतः अग्नि की सत्ता होने से वे देव हैं तथा सोम की सत्ता होने से वे पितर भी कहलाती हैं। इस प्रकार ऋतुओं के देवत्व व पितृत्व को जानता हुआ जो व्यक्ति हे देवो ! आइये, इस प्रकार देवताओं को बुलाता है तो देवता उसमें सम्मिलित हो जाते हैं और हे पितरो ! आइये, इस प्रकार पितरों को बुलाता है तो पितर (पितृ प्राण) उसमें आ जाते हैं। अर्थात् देव-ऋतुओं में देवप्राण व पितृप्राण दोनों मिश्रित हैं, किन्तु इस रहस्य को जानने वाला यदि पृथक्-पृथक् इनका आह्वान करता है तो वे पृथक्-पृथक् आ जाते हैं। देवहूय में (देवताओं को बुलाने पर) देव उसकी रक्षा करते हैं और पितृहूय में पितर उसकी रक्षा करते हैं ॥२॥

जब सूर्य विषुवद्वृत्त से उत्तर की ओर रहता है अर्थात् उत्तरायण होता है वह देवों में रहता है और देवों की रक्षा करता है। सूर्य विषुवद् वृत्त से दक्षिण की ओर अर्थात् दक्षिणायन होता है तब वह पितरों में रहता है और उस समय वह पितरों की रक्षा करता है ॥३॥

जब सूर्य उत्तरायण होता है तब अग्नि का आधान करे, क्योंकि उस समय देवताओं की सत्ता है। देव पापरहित हैं। अतः उस समय आधान करने वाला सब पापों को नष्ट कर देता है। अमृतत्व की आशा तो उत्तरायण में अग्न्याधान करने से नहीं हो सकती। किन्तु पूर्ण आयु की प्राप्ति उसको अवश्य होती है क्योंकि समय से पूर्व मृत्यु पाप से होती है और उस समय आधान करने से उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। जब सूर्य दक्षिणायन होता है उस समय आधान करने से उसमें पितरों की सत्ता होती है। वे पापरहित नहीं हैं और मरणधर्मा हैं अतः उस समय आधान करने वाला पापों को नष्ट नहीं कर सकता, इसलिये दोषरूप पापों के होने से उस समय आधान करने वाले की अकाल मृत्यु दूर नहीं होती और पूर्ण आयु पर पहुँचने से पूर्व ही मर जाता है ॥४॥

ब्रह्म, क्षत्र, विड् भेद से तीन प्रकार के वीर्य हैं, उनमें वसन्ताग्नि से ब्रह्मवीर्य, ग्रीष्माग्नि से क्षत्रवीर्य तथा वर्षाग्नि से विड्वीर्य की उत्पत्ति होती है।

अतः तदुत्पादकत्वेन उत्पाद्य-उत्पादक का अभेद मानकर ब्रह्म हा वसन्त है, ग्रीष्म ही क्षत्र है, विड्वीर्य ही वर्षा है ऐसा कहा है। अतः ब्रह्मवीर्यप्रधान ब्राह्मण वसन्त में आधान करे क्योंकि ब्रह्म वसन्त ऋतु है, क्षत्रवीर्य-प्रधान क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में आधान करे क्योंकि ग्रीष्म क्षत्र है। विड्वीर्य प्रधान वैश्य वर्षा ऋतु में आधान करे क्योंकि वर्षा ही विड्वीर्य है ॥५॥

जो यह इच्छा करता है कि मैं ब्रह्मवर्चस्वी बनूँ वह वसन्त ऋतु में आधान करे, क्योंकि ब्रह्म वसन्त है, उसमें आधान करने से ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती है और ब्रह्मवर्चस्वी बनता है ॥६॥

जो मनुष्य यह चाहता है कि सम्पत्ति व कीर्त्ति से युक्त क्षत्रवीर्य को प्राप्त करूँ वह ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान करे क्योंकि क्षत्र ग्रीष्म ऋतु है। अतः इसमें आधान करने से वह सम्पत्ति व कीर्त्ति से युक्त तथा क्षत्रवीर्यसम्पन्न बनता है ॥७॥

जो यह चाहता है कि मैं प्रजा और पशुओं से बहुल बनूँ, वह वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे क्योंकि विड्वीर्य वर्षा है। अन्न ही विड्वीर्य है, इस रहस्य को जानता हुआ जो वर्षा में अग्न्याधान करता है वह बहुप्रजा वाला और प्रचुर पशु-सम्पत्ति से युक्त होता है ॥८॥

इस प्रकार अग्निप्रधान अतएव देवप्रधान वसन्तादि ऋतुओं में अग्न्याधान बतला कर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अथवा वसन्तादि अग्निप्रधान देवरूप ऋतुएँ और शरदादि सोमप्रधान पितररूप वस्तुएँ दोनों ही पापरहित हैं। क्योंकि अग्निरूप सूर्य आग्नेय होने से अपनी सौर रश्मियों से इन ऋतुओं के दोषजन्य पापों को नष्ट कर देता है। यह सूर्य उदित होते ही देव और पितर भेद से भिन्न दोनों प्रकार की ऋतुओं के पाप को नष्ट कर देता है। इसलिये जब भी यज्ञ करने में श्रद्धा उत्पन्न हो, उसी ऋतु में अग्न्याधान कर ले। 'कल करूँगा, कल करूँगा' उस प्रकार कल की प्रतीक्षा न करे क्योंकि मनुष्य के कल को कौन जानता है अर्थात् कल क्या स्थिति होगी यह कौन जानता है ॥९॥

इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम्

ऋतु ब्राह्मण

भाष्य—इस ब्राह्मण में ऋतुओं का विवेचन किया गया है। वैदिक विज्ञान में देवता-वाचक जितने भी शब्द हैं, वे परस्पर भिन्नार्थक हैं। एक शब्द दूसरे का पर्याय होता है, यह सिद्धान्त वैदिक पदार्थविद्या में सर्वथा त्याज्य है। उदाहरणार्थ अमरकोष में एक ही देवता के नाना पर्याय बतलाये हैं, वे केवल शब्दमात्र के परिचायक हैं। ब्रह्मा के नाम बतलाते समय एक ही ब्रह्मा के परमेष्ठी, हिरण्यगर्भ, पद्मभू इत्यादि अनेक नाम बतलाये गये हैं। इसी प्रकार स्वामी कार्तिकेय के कुमार, स्कन्द, कार्तिकेय, शरजन्मा इत्यादि अनेक नाम बतलाये गये हैं। एवमेव देव, देवता, दैवत, वृन्दारक आदि भी पर्याय शब्द माने गये हैं। किन्तु एक शब्द दूसरे का पर्यायवाची नहीं होता। जैसे परमेष्ठी हिरण्यगर्भ का तथा पद्मभू का एवं हिरण्यगर्भ परमेष्ठी व पद्मभू का तथा पद्मभू परमेष्ठी व हिरण्यगर्भ का पर्याय नहीं है। ये पदार्थ सर्वथा एक दूसरे से भिन्न हैं। पारमेष्ठ्य ब्रह्मा परमेष्ठी कहलाता है, सूर्य का ब्रह्मा 'हिरण्यगर्भ' तथा पृथिवी का ब्रह्मा 'पद्मभू' है। किन्तु ब्रह्मा सभी हैं, अतः ब्रह्मत्व सामान्य के कारण ही इन्हें कोश में पर्यायवाची बतला दिया गया है। इसी प्रकार कार्तिकेय, कुमार व स्कन्द शब्द भी विभिन्न पदार्थों के बोधक हैं। कृत्तिका नक्षत्र में जो अग्नि का तारा है—वह 'कार्तिकेय' कहलाता है। पार्थिव उषा में जो अग्नि पैदा होता है, वह 'कुमार' कहलाता है। इसका प्रतिपादन शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड में पृष्ठ ३१४ से ३१८ तक किया गया है। इसी प्रकार देव और देवता शब्द भी विभिन्नार्थक हैं। देव देवता से विभिन्न वस्तु है। देवता शब्द ऋषि, पितर, देव, असुर आदि सभी प्राणों का वाचक है जब कि देव शब्द सौर प्राणों का बोधक है। तात्पर्य यह है कि पदार्थविद्या में कोई शब्द किसी का पर्याय नहीं होता।

प्रकृत में यह बतलाना है कि अखिल विश्व में—'पाङ्क्तो वै यज्ञः'—इस सिद्धान्त के अनुसार कुल ५ मण्डल हैं जो कि दैवत मण्डल कहलाते हैं। इन पाँचों के नाम स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र तथा पृथिवी हैं। ये पाँच लोक हैं। इन पाँचों लोकों के पाँच लोकी भी हैं जो कि इन लोकों के अधिष्ठाता हैं। उनके नाम ऋषि, पितर, देव, असुर, गन्धर्व हैं। पूर्वोक्तपदार्थधर्मानुसार देव केवल सौर पदार्थ है, जबकि देवता पाँचों कहलाते हैं। जिसकी स्तुति की जाती है, जिसके लिए कुछ दिया जाता है उस स्थान पर वही देवता होता है। यदि असुर की स्तुति की जा रही है, असुर को कुछ दिया जा रहा है वहाँ पर असुर ही देवता है। जहाँ गुरु की पूजा की जा रही है वहाँ गुरु देवता, जहाँ गन्धर्वों की स्तुति की जा रही है वहाँ गन्धर्व देवता हैं। तात्पर्य यह है कि 'या स्तूयते यदर्थं वा किञ्चिद् दीयते तत्र सा देवता' यही देवता की सामान्य परिभाषा है। इस परिभाषा के अनुसार चाहे वे ऋषि, पितर, असुर,

गन्धर्व कोई भी क्यों न हों, देवता कहला सकते हैं। परन्तु देव केवल सौर पदार्थ ही हैं जो कि संख्या में ३३ हैं। देवता करोड़ों हैं परन्तु देव ३३ ही हैं। ऋषि, परमेष्ठी, असुर आदि देवता कहला सकते हैं देव नहीं। क्योंकि देव शब्द शुद्ध आग्नेय प्राण को ही बतलाता है।

प्रकृत में ऋषि, पितर, देव, गन्धर्व, असुर इन प्राणों में से पितर प्राण और देवप्राण के विषय में बतलाना है। उनमें भी सर्वप्रथम पितृप्राण का विवेचन किया जाता है।

पितृप्राणविवेचन

जिस प्रकार आग्नेय प्राण को देव कहते हैं, उसी प्रकार सौम्य प्राण को पितर कहा जाता है। परमेष्ठिमण्डल के भृगु. अङ्गिरा, अत्रि ये तीन मनोता हैं। इनमें भृगु 'अप्:' 'वायु', 'सोम' भेद से तीन प्रकार का है। इस प्रकार सौम्य प्राण परमेष्ठी में रहता है, इसीलिए परमेष्ठी को पितृलोक बतलाया गया है। ये पितर दिव्यपितर, अवान्तरपितर तथा अश्रुमुखपितर भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें दिव्यपितर भी अन्नपितर, अन्नाद-पितर और अनुभयपितर भेद से तीन प्रकार के हैं। संसार के यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण ऋषि, पितर, असुर, गन्धर्व तथा देव प्राणों से होता है। इन पाँचों को ही देवता कहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है कि - 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्य:'। मानव शरीर में ८४ पितर, १२ ऋषि, २७ गन्धर्व, ९९ असुर तथा ३३ देव हैं। केवल मानव-शरीर में ही नहीं अपितु यावन्मात्र पदार्थों में इन प्राणों की सत्ता है। वस्तु के हृदयकेन्द्र से एक अशनाया बल निकलता है जो 'बुभुक्षा' नाम से प्रसिद्ध है। यह अश-नाया बल अर्क, अशिति द्वारा बाहर के पदार्थों को लाकर केन्द्र में आहुत किया करता है। इसी आहुति से शरीर या वस्तु की स्थिति रहती है। जिस प्रकार हमारे शरीर में हमारी अशनाया द्वारा बाहर का अन्न आहुत होता रहता है, उसी प्रकार हमारे शरीर से जो पदार्थ रोमावलियों द्वारा तथा मलादि द्वारा बाहर निकलते रहते हैं उनको दूसरा पदार्थ अपनी अशनाया द्वारा ग्रहण करता रहता है। अर्थात् जैसे बाहर के पदार्थ हमारे अन्न हैं वैसे हम भी किसी के अन्न हैं। इस आदान विसर्ग के कारण यह कहा जा सकता है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थ अन्न भी हैं और अन्नाद भी। अर्थात् सभी पदार्थ अपेक्षाबुद्ध्या भोक्ता और भोग्य हैं। इन दोनों पितरों से भिन्न एक तीसरे पितर और होते हैं, जो अनुभय पितर कहलाते हैं। उपर्युक्त रीति से दिव्य पितर तीन प्रकार के हैं।

संसार में पदार्थ भी तीन ही प्रकार के हैं। उष्ण, शीत तथा अनुष्णाशीत। अत: अन्न और अन्नाद पितर भी तीन-तीन प्रकार के हो जाते हैं। जो उष्ण पदार्थों से खाये जाने वाले पितर हैं वे 'अग्निष्वात्त' कहलाते हैं। अर्थात् वे अग्नि से स्वादित अथवा अग्नि से आत्त (गृहीत) अर्थात् अग्नि से भुक्त हैं। जो शीत पदार्थों द्वारा खाये जाते हैं वे सोमसत् पितर

कहलाते हैं जो अनुष्णाशीत पदार्थों द्वारा भुक्त हैं वे 'बर्हिषत्' पितर कहलाते हैं। पानी जब अग्नि में जम जाता है तो वह पदार्थ अनुष्णाशीत कहलाता है। चूँकि पार्थिवाग्नि में सोम अर्थात् पानी के जम जाने से बर्हि (कुशा) की उत्पत्ति होती है। अतएव बर्हि को अनुष्णाशीत कोटि में रखा है। पानी ही आग में जम कर बर्हि बन जाता है अतएव इसको 'पानी' ही कहते हैं। इस बर्हि की अर्थात् बर्हि से उपलक्षित यावन्मात्र अनुष्णाशीत पदार्थों की अशनाया से भुक्त पितर बर्हिषत् पितर कहलाते हैं। इन पितर आदि पाँचों देवताओं से ही यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण होता है। इस प्रकार के पितर हमारे शरीर में अन्न-रूप से प्रतिदिन आते रहते हैं वे ही पितर अन्नपितर कहलाते हैं।

जैसे ये पदार्थ दूसरी वस्तुओं को खाते हैं उसी प्रकार इन पदार्थों को भी कोई अवश्य खाता है। अर्थात् जैसे ये पदार्थ अन्नाद हैं उसी प्रकार दूसरे के अन्न भी हैं। जो पितर इन पदार्थों को खाते हैं अर्थात् जिन पदार्थों के पितृ-प्राण में इस अन्न का समावेश होता है वे अन्नाद अर्थात् भोक्ता पितर कहलाते हैं। संसार में अन्न दो प्रकार का है—खाद्य और पेय। खाद्य अन्न पिण्डात्मक है और पेय अन्न तरलात्मक है। पिण्डरूप अन्न हवि अर्थात् पुरोडाश कहलाता है एवं तरल अन्न आज्य और सोम। इस प्रकार अन्न-हवि, आज्य, सोम भेद से तीन प्रकार का है अतः अन्नाद (भोक्ता) पितर भी तीन प्रकार के हो जाते हैं। जो हवि अर्थात् पिण्डात्मक अन्न को खाते हैं वे 'हविर्भुक्', जो आज्य को पीने वाले हैं वे 'आज्यपा' तथा जो सोमपान करने वाले हैं वे 'सोमपा' कहलाते हैं। इनसे भिन्न एक पितर जाति ऐसी भी है जो न अन्न है और न अन्नाद। अर्थात् जिसका सृष्टि में कोई उपयोग नहीं है। इसी अनुभय पितर को 'शूद्रपितर' भी कहते हैं। इसका नाम 'सुकालपितर' है। जिनके साथ यथेच्छ व्यवहार हो सके, वे ही 'सुकालपितर' कहलाते हैं। यथेच्छ व्यवहार में आने के कारण ही इन्हें शूद्रपितर भी कहा जाता है। एक आठवाँ पितर और होता है जो कि अर्यमा नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार दिव्यपितर जो कि पारमेष्ठ्य कहलाते हैं, आठ प्रकार के हैं। ये आठों पितर सौम्यप्राणयुक्त हैं।

दिव्यपितरः

		१	२	३
अन्नपितरः	=	१. अग्निष्वात्ताः,	२. सोमसदः,	३. बर्हिषदः।
		४	५	३
अन्नादपितरः	=	१. हविर्भुजः,	२. आज्यपाः,	३. सोमपाः।
		७	८	
अनुभयपितरः	=	१. सुकाली,	२. अर्यमा।	

इत्यष्टौ दिव्यपितरः।

अवान्तरपितर भी तीन प्रकार के हैं :—१. अवर, २. मध्यम व ३. पर। दिव्य पितरों के साथ पार्थिवपितरों का सम्बन्ध इन्हीं आन्तरिक्ष्य अवान्तरपितरों के द्वारा होता है। इन्हीं अवान्तरपितरों के लिए श्रुति कहती है—

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥
यजु० १९अ ४९ मन्त्र ९० पृष्ठ।

प्रेतपितर

प्रेतपितर भी तीन प्रकार के हैं—१. अश्रुमुख, २. विश्वेदेव तथा ३. नान्दीमुख। इन प्रेतपितरों को पार्थिवपितर भी कहते हैं।

हमारे शरीर का निर्माण पृथिवी, चन्द्रमा व सूर्य से हुआ करता है। शरीरान्तर्वर्ती सौरभाग 'विज्ञानात्मा', पार्थिव रसभाग 'प्रज्ञानात्मा' तथा चान्द्ररसभाग 'महानात्मा' कहलाता है। जिस समय आत्मा शरीर से उत्क्रान्त होता है उस समय विज्ञानात्मा सूर्य में चला जाता है। प्रज्ञानात्मा कर्मफल भोगने के लिए कर्मानुसार लोकान्तर में चला जाता है और महानात्मा जो कि सौम्यप्राणयुक्त होने से पितर कहलाता है चन्द्रमा में चला जाता है। मुक्त पुरुष का भी यह महानात्मा चन्द्रलोक में ही जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति
चन्द्रमसमेव ते सर्वेऽभिगच्छन्ति।

जब तक सन्तान नहीं होती तब तक इस 'महानात्मा' का मोक्ष नहीं होता। ७वीं पीढ़ी के अनन्तर इस महानात्मा का मोक्ष होता है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह वचन महानात्मा के विषय में ही है। इसी पितृऋण को चुकाने के लिए सन्तान की आवश्यकता है।

प्रकृत में यह बतलाना है कि शरीरस्थित सौम्यप्राणयुक्त 'महानात्मा' जब शरीर से उत्क्रांत होता है तब पितर कहलाने लगता है। यह आत्मा शरीर को छोड़कर ऊपर चंद्रमण्डल की ओर जाता हुआ पितर संज्ञा प्राप्त करता है। इसीलिए चंद्रमण्डल में जाते हुए इस महानात्मा को प्रेतपितर कहते हैं।

पृथिवी, अंतरिक्ष और द्यौः ये तीन लोक माने जाते हैं। इन तीनों के देवता अग्नि, वायु व सूर्य नाम से प्रसिद्ध हैं तथा इन तीनों के गणदेवता वसु, रुद्र, आदित्य कहलाते हैं। पार्थिव अग्नि आठ अवयवों में विभक्त है। ये ही आठ वसु कहलाते हैं। आंतरिक्ष वायु ११ अवयवों में विभक्त हैं, ये ही ११ रुद्र कहलाते हैं तथा दिव्य सूर्य द्वादश प्राणघन है

ये ही १२ आदित्य कहलाते हैं। वस्तुतः अग्नि, वायु, आदित्य तीनों अग्नि ही हैं। किन्तु घन, तरल, विरल इन अवस्थाओं के भेद से यह एक अग्नि ही अग्नि, वायु, आदित्य इन तीन भेदों में विभक्त हो जाता है। ऊपर बतलाया गया है कि प्रेतपितर-अश्रुमुख, विश्वेदेव तथा नांदी-मुख भेद से तीन प्रकार के हैं। इस शरीर से उत्क्रांत पितर (महानात्मा) को वसु, रुद्र, आदित्य नाम से प्रसिद्ध अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों को पार करना पड़ता है। इन तीनों तक इस पितर की अधःस्थिति रहती है। सूक्ष्म शरीरधारी इस पितर के वसु, रुद्र, आदित्य लोकों में पाँव ऊपर रहते हैं और मस्तक नीचे। पितरों की यह अवस्था अत्यंत निकृष्ट एवं दुःखद है। इसलिए इन लोकों में विद्यमान ये प्रेतपितर 'अश्रुमुख' कहलाते हैं। जब ये इन लोकों को छोड़कर अपनी समस्थिति पर आ जाते हैं, तब ये विश्वेदेव कहलाने लगते हैं। और जब अवांतर पितरों द्वारा दिव्य पितरों में सम्मिलित हो जाते हैं तब नांदीमुख पितर कहलाते हैं। इन तीनों प्रेत पितरों में अश्रुमुख और विश्वेदेव 'अमाङ्गलिक पितर' कहलाते हैं। इनका श्राद्ध करके उसी समय भगवान् शिव की पूजा करनी चाहिए, अन्यथा उस मनुष्य का अमङ्गल होगा। परन्तु नांदीमुख पितर दिव्य पितरों के संबंध से मङ्गलमूर्ति बन जाते हैं, अत. मांगलिक कार्यों में नान्दीमुख पितरों का ही यजन किया जाता है। मनुष्य पितर की देवरूप से जो पूजा की जाती है वे पितर 'नान्दीमुख पितर' ही हैं। इन तीनों प्रेतपितरों में अश्रुमुख पितर 'पिण्डभाक्' हैं क्योंकि वे पार्थिवपिण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। अतः उनको पिण्डदान दिया जाता है। परन्तु नान्दीमुख पितर पार्थिव सम्बन्ध से मुक्त हो दिव्य भाव को प्राप्त हो जाते हैं, अतः वे 'लेपभाक्' हैं। उनके लिए पिण्ड नहीं दिया जाता है किन्तु आज्य का लेपन किया जाता है।

देवनिरूपण

देवता दो प्रकार के होते हैं--कर्मदेवता और आजान (स्वाभाविक) देवता। आजान देवता ३३ प्रकार के हैं। ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, प्रजापति और वषट्कार। इनका देवत्व जन्मसिद्ध है, अतः ये 'आजानदेवता' कहलाते हैं। इनको देवभाव के लिए या देवत्व प्राप्ति के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं। कर्मदेवता वे हैं जो जन्मसिद्ध देवता नहीं हैं अपितु, यज्ञादिकर्मों द्वारा देव बने हैं। जो इन्द्र नहीं है वह भी १०० अश्व-मेध यज्ञ करके इन्द्र बन जाता है। जो अमृताग्नि रूप नहीं है वह भी चयन द्वारा अग्नि देवता रूप बन जाता है। ये ही कर्मदेवता कहलाते हैं। मनुष्य भी यज्ञ द्वारा देवत्व को प्राप्त कर सकता है। इसी कर्मदेवत्व के अभिप्राय से श्रुति कहती है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।

'मैंने देवताओं को पहिचान लिया। मैं अमृतत्व को प्राप्त हो गया, अर्थात् देवता बन गया।' इससे स्पष्ट सिद्ध है कि मनुष्य भी यज्ञादि कर्म द्वारा देवता बन जाते हैं।

इसी प्रकार मनुष्यशरीरस्थ गन्धर्वशरीरात्मक महानात्मा भी पितर बन जाते हैं। अर्थात् जैसे देवत्व दो प्रकार का है उसी प्रकार पितृत्व भी दो प्रकार का है—स्वाभाविक पितृत्व और कर्मपितृत्व। जो स्वभाव से पितर हैं वे स्वाभाविक पितर कहलाते हैं। इन्हें ही दिव्यपितर कहते हैं। ये परमेष्ठी मण्डल में रहते हैं। परन्तु गन्धर्वशरीरधारी महानात्मायें इन दिव्यपितरों से सम्बन्धित हो जाती हैं। अर्थात् जिनमें यह पितृभाव प्रविष्ट हो जाता है, वे कर्मपितर कहलाते हैं। अवान्तरपितर तथा प्रेतपितरों में नान्दीमुखपितर कर्मपितर हैं। इनमें जब दिव्यपितरों का समावेश होता है तभी पितर कहलाने के अधिकारी हैं। जब तक इनमें पितृप्राण नहीं आता तब तक ये गन्धर्व ही कहलाते हैं। इन अश्रुमुखपितरों में, जो कि दिव्य पितृपाण के सम्बन्ध से 'नान्दीमुख' बनने वाले हैं, दिव्यपितृप्राण का सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य अवान्तरपितरों द्वारा होता है। दिव्यपितर अग्निष्वात्तादि भेदों से आठ प्रकार का है जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। इसी दिव्यपितृप्राण का आवान्तरपितर तथा प्रेतपितरों में सम्बन्ध होता है। अतः ये भी ८-८ प्रकार के हो[जाते हैं। इसीलिए पुराणों में दिव्यपितरों की तरह अवान्तरपितर तथा प्रेतपितरों के भी अग्निष्वात्तादि नाम बतलाये गये हैं। प्रेतपितरों तथा अवान्तरपितरों में अग्निष्वात्तादि पितरों में से जिस पितर का सम्बन्ध होता है उसी नाम से वे व्यवहृत होते हैं। उदाहरणार्थ प्रेतपितरों में यदि अग्निष्वात्तरूप दिव्यपितृप्राण का सम्बन्ध हुआ है तो वह प्रेतपितर भी अग्निष्वात्त कहलायेगा। उपर्युक्त सन्दर्भ का निष्कर्ष यह है कि पितर तीन प्रकार के हैं तथा प्रत्येक पितर आठ-आठ अवस्थाओं में परिणत होते हैं। इनमें दिव्यपितर स्वाभाविक है तथा अवान्तरपितर और प्रेतपितर 'कर्मपितर' हैं।

१. दिव्यपितर	= १. अन्न	= २. अन्नाद	= ३. अनुभय
२. अवान्तरपितर	= १. अवर	= २. मध्यम	= ३. पर (आर्त्तवपितरः)
३. प्रेतपितर	= १. अश्रुमुख	= २. विश्वेदेव	= ३. नान्दीमुख

१. अन्नम्	= अग्निष्वात्ताः	= बर्हिषदः	=सोमसदः। इति त्रयः।
२. अन्नादः	= हविर्भुजः	= सोमपाः	=आज्यपाः। इति त्रयः।
३. अनुभय	= सुकाली (शूद्रपितृप्राणः)		इत्येकः।
४. अर्यमा			इत्येकः।

उपर्युक्त दिव्य, अवान्तर तथा प्रेतपितरों में से अवर, मध्यम, पर भेद से जो अवान्तर पितर हैं उन्हीं का प्रकृत से सम्बन्ध है। इन अवान्तरपितरों को ही 'ऋतु' कहते हैं। श्रुति में जहाँ 'ऋतवः पितरः' लिखा रहता है वहाँ इन अवान्तरपितरों से अभिप्राय है।

संसार के यावन्मात्र पदार्थ ऋतु से उत्पन्न होते हैं। जब तक ऋतु नहीं होती तब तक किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। आम, नारंगी आदि सभी पदार्थ अपनी-अपनी ऋतु में ही पैदा होते हैं। भिन्न ऋतु में जो चीजें पैदा की जाती हैं वहाँ भी प्रकारान्तर से कृत्रिम ऋतु का सम्बन्ध उस वस्तु से करना पड़ता है। जो इस ऋतुविज्ञान को समझ जाता है, वह अवश्य ही सर्वदा सब वस्तुओं को उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार ऋतु ही सब पदार्थों का उत्पादक है अतएव इन्हें 'ऋतवः पितरः' यह कहा जाता है।

ऋतु में पितृत्व की उपपत्ति

संसार के यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण अग्नि और सोम से होता है। अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है और सोम उत्तर से दक्षिण की ओर। इस अग्नि और सोम के मेल से एक दूसरा अग्नि पैदा होता है जो 'ऋतु-अग्नि' कहलाता है। अग्नि दो प्रकार का है—ऋताग्नि तथा सत्याग्नि। पिण्ड में रहने वाला अग्नि सत्याग्नि है तथा तरल पदार्थों में अर्थात् निष्केन्द्र पदार्थों में रहने वाला अग्नि ऋताग्नि है। प्रकृत में ऋतु-अग्नि से यह ऋताग्नि ही अभिप्रेत है। वायु में रहने वाला ऋताग्नि ही ऋतुरूप में परिणत होता है। इस ऋताग्नि के 'उद्ग्राम' (आधिक्य) तथा निग्राम (न्यूनता) से ही ६ ऋतुओं का स्वरूप बनता है। ऋताग्नि का आधिक्य व न्यूनता समन्ताद् व्याप्त सोम के कारण होती है। यह सोम सर्वत्र व्याप्त है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

त्वमिमा ओषधीः सोम ! विश्वास्त्वमपोऽजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं—त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ ॥

ऋक् स० १।९।१।२२।

जहाँ अग्नि की मात्रा कम होती है उस रिक्त स्थान में—विपुल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम भर जाता है। प्रकाश के लिए दीपक की आवश्यकता होती है न कि अन्धकार के लिए। प्रकाश के हटते ही व्यापक अन्धकार स्वतः वहाँ व्याप्त हो जाता है। इसी प्रकार चारों तरफ व्याप्त सोम, अग्नि की मात्रा के कम होते ही उस रिक्त स्थान में भर जाता है। इस प्रकार सोम के कारण ही अग्नि की मात्रा में न्यूनाधिक्य तारतम्य आता है। इसी तारतम्य से ऋताग्नि ६ भावों में परिणत हो जाता है। इन्हीं को ६ ऋतु कहते हैं। जिस समय दिन सबसे छोटा होता है और रात सब से बड़ी, उस समय सोम की मात्रा सब से अधिक रहती है और अग्नि की मात्रा सर्वथा कम। इसलिए 'अहः स्वरूप' अग्नि की स्थिति कम और रात्रिस्वरूप सोम की स्थिति अधिक रहती है। इस समय अग्नि के परमाणु सर्वथा अत्यल्प मात्रा में रहते हैं, अतः अग्नि मात्रा के अत्यन्त 'शीर्ण' होने से इसे शिशिर ऋतु कहते हैं। इसके बाद जब सूर्य उत्तरायण में होता है तो दिन कुछ बड़े होने

लगते हैं और रात कुछ छोटी होने लगती है अर्थात् अग्नि-परमाणु बढ़ने लगते हैं अर्थात् अभिवृद्ध सोम में अग्निकण प्रविष्ट होकर निवास करने लगते हैं। अतः 'वसन्तो भवन्ति अग्नि-परमाणवः यस्मिन् काले' इस व्युत्पत्ति से यह ऋतु वसन्त कहलाती है। तदनन्तर जब दिन और भी बड़े होने लगते हैं, तो सभी पदार्थों को अग्नि अपनी पूर्ण मात्रा से ग्रहण कर लेता है। अग्नि-ग्रहणक्रियोपलक्षित यह काल ग्रीष्म कहलाता है। इस समय अभिवृद्ध यह अग्नि अतिमात्रा में पदार्थों को जलाने लगता है अतः 'नितरां दहति, इस व्युत्पत्ति से इस ग्रीष्मकाल को 'निदाघ' भी कहा जाता है। इसके बाद बढ़ते-बढ़ते जब अग्नि की मात्रा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है और दिन सबसे बड़े और रातें सबसे छोटी होती हैं तब अग्नि के अत्यन्त उरु हो जाने से यह काल 'अतिशयेन उरवः अग्निकणाः यस्मिन्काले' इस व्युत्पत्ति से वर्षा ऋतु कहलाती है। अग्नि पराकाष्ठा में पहुँचने पर वह जलरूप में परिणत हो जाती है अतः इस समय वृष्टि होती है। 'अग्नेरापः' यह श्रुति भी इसी तथ्य को बतला रही है। यही काल 'प्रकर्षेण वर्षति जलं यत्र' इस व्युत्पत्ति से 'प्रावृट्' कहलाता है। वसन्त ऋतु से जो अग्नि का उद्ग्राभ अर्थात् वृद्धि प्रारम्भ हुई थी उसकी पराकाष्ठा होने पर समाप्ति हो जाती है। इसीलिए वर्षा को 'उद्गीथ' कहते हैं। उद्ग्राभ व निग्राभ का जो केन्द्र होता है वही वैदिक परिभाषा में 'उद्गीथ' कहलाता है। यहाँ से उस अभिवृद्ध अग्नि का क्रमशः ह्रास होने लगता है और सोम की वृद्धि होने लगती है। अतएव अग्निरूप अहः धीरे-धीरे छोटे होने लगते हैं और सोमरूप रात्रि बढ़ने लगती है। अब अग्नि के कण शीर्ण होने लगते हैं अतः 'शीर्णाः अग्निकणाः यत्र' इस व्युत्पत्ति से यह ऋतु 'शरत्' कहलाती है। धीरे-धीरे अग्निकण और भी कम होने लगते हैं अर्थात् हीनता को प्राप्त होने लगते हैं। अतः यह अग्नि और तदुपलक्षित काल 'हेमन्त' कहलाता है। तत्पश्चात् जब अग्निपरमाणु अतिशय मात्रा में शीर्ण होते है तब 'अतिशयेन शीर्णाः अग्निकणाः' इस व्युत्पत्ति से अग्नि तथा तदुपलक्षित काल 'शिशिर' कहलाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा अमावस्या के बाद उदय होकर आने वाले अमावस्या के दिन सर्वथा लुप्त हो जाता है उसी प्रकार यह ऋताग्नि उत्तरायण के आदि से प्रारम्भ होकर दक्षिणायनान्त में सर्वथा शीर्ण और क्षीण हो जाता है। इस ऋताग्नि का जो एक वर्ष का भोगकाल है यही संवत्सर कहलाता है। इसी संवत्सर से अखिल पदार्थों की उत्पत्ति होती है, अतएव संवत्सर को प्रजापति कहा गया है—'संवत्सरो वै प्रजापतिः'। इस संवत्सर के अग्निवृद्धिह्रासोपलक्षित जो ६ अवयव हैं वे ही ६ ऋतुएँ कहलाती हैं। ये ऋतुएँ अग्निस्वरूप हैं। इन ऋतुओं से ही संसार की सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। अतएव ऋतुओं को पितर कहा गया है—'ऋतवः पितरः' इति। यह अग्नि दिवस, मास व संवत्सर इन तीन रूपों में परिणत रहती है। अग्नि के ये ही तीन रूप पिता, पितामह और प्रपितामह पितर कहलाते हैं।

अग्नि के न्यूनाधिक्यतारतम्य से ऋतुएँ बनती हैं अतः अग्नि को ही ऋतु कहते हैं। परन्तु वस्तुतः सोमविशिष्ट अग्नि ही ऋतु है। क्योंकि ऋतु में जैसे अग्नि अविनाभूत है वैसे ही सोम भी। वसन्त से वर्षा तक अग्नि का उद्ग्राभ और सोम का निग्राभ है, तो शरत् से शिशिर तक अग्नि का निग्राभ और सोम का उद्ग्राभ है। इस प्रकार ऋतुओं में, संवत्सर में अग्नि और सोम दोनों की स्थिति रहती है।

आग्नेय प्राणों को देवता कहते हैं और सौम्य प्राणों को पितर। ऋतुएँ अग्नि और सोम उभयात्मक है अतः अग्नि की अपेक्षा से 'देवाः वै ऋतवः' कहा जाता है और सोम की अपेक्षा से 'पितरो वै ऋतवः' कहा जाता है। संवत्सर उत्तरायण तथा दक्षिणायन इन दो भागों में विभक्त है। अर्थात् यदि संवत्सर के दो भाग किये जायें तो वे उत्तरायण व दक्षिणायन कहलायेंगे। वसन्त से वर्षा तक अर्थात् २३ दिसम्बर से २१ जून तक का समय उत्तरायण कहलाता है तथा शरत् से शिशिर तक अर्थात् २२ जून से २२ दिसम्बर तक का समय दक्षिणायन कहलाता है। वसन्त से वर्षा तक अग्नि का उद्ग्राभ है, अतः अग्नि प्राधान्यात् उत्तरायण को अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा को देवता कहते हैं एवं वसन्त से शिशिर तक अग्नि का निग्राभ है और सौम्यप्राण का उद्ग्राभ है, अतएव सौम्यप्राणप्राधान्यात् दक्षिणायन अर्थात् शरद्, हेमन्त, शिशिर को पितर कहते हैं। वसन्त से अग्नि का उद्ग्राभ होता है अतः इस अग्निमात्रा की वृद्धि को लेकर ही देवताओं को 'उपचयभाक्' बतलाया है। और शरत् से अग्नि का ह्रास होता है अतः पितरों को अपक्षय (ह्रास) भाक् बतलाया जाता है। जैसे—'उपचयभाजो वै देवाः अपक्षयभाजो वै पितरः' इति। इस प्रकार उत्तरायण, दक्षिणायन भेद से यह पहिला देव-पितर-विभाग है। इसके बाद शुक्ल पक्ष देवता, कृष्णपक्ष पितर कहे जाते हैं। दिनों में भी अग्नि के इस उद्ग्राभ, निग्राभ के नियम से 'अहः' देवता तथा रात्रि पितर कहे जाते हैं। अहः में भी जो पूर्वाह्ण भाग है वह देवता कहलाता है एवं अपराह्ण भाग पितर। इस प्रकार सर्वत्र देवता व पितर मिले रहते हैं। क्योंकि अग्नि व सोम परस्पर अविनाभूत हैं। आग्नेयप्राण देवता तथा सौम्यप्राण पितर कहलाते हैं। अग्नि तथा सोम की समष्टि को ऋतु कहते हैं अतः ऋतुओं को भी सोम की अपेक्षा से पितर कह सकते हैं एवं अग्नि की अपेक्षा से देवता। इसी अभिप्राय से 'ते वा एते ऋतवो देवाः पितरः इति।' यह कहा जाता है।

उपर्युक्त विज्ञान को लक्ष्य रखते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि— 'वसंन्त, ग्रीष्म, वर्षा ये तीन ऋतुएँ देवता हैं तथा शरत्, हेमन्त और शिशिर ये तीनों ऋतुएँ पितर। उत्तरायण मास देवता हैं दक्षिणायन मास पितर। शुक्लपक्ष देवता है, कृष्णपक्ष पितर। अहः देवता है, रात्रि पितर। अहः का पूर्वाह्ण भाग देवता है, अपराह्ण भाग पितर ॥१०॥

अन्त में अग्नि और सोम के अविनाभाव को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—ये जो ऋतुएँ हैं वे देवता भी हैं और पितर भी। इस प्रकार इस देव और पितर के भेद को भली प्रकार जानने वाला यह विद्वान्—हे देवो ! तुम आओ। हे पितरो ! तुम आओ—इस रूप से देवता और पितरों का आह्वान करता है तो इस यजमान के देवहूय में देवता आ जाते हैं और पितृहूय में पितर। अर्थात् देव और पितरों को सर्वथा एकीभूत (सम्मिश्रित) होने पर भी जो मनुष्य इनके तत्व को समझता है, वह देव और पितर को पृथक् पृथक् अपने में समाविष्ट कर सकता है। देवहूय में उस यजमान की देवता रक्षा करते हैं और पितृहूय में पितर। जो यजमान इस देव और पितर तत्व को पहिचान कर देवों और पितरों का आह्वान करता है ॥२॥

पूर्व प्रकरण से यह सिद्ध हो जाता है कि जो आग्नेय प्राण हैं वे ही देवता हैं एवं जो सौम्यप्राण है—वे ही पितर हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस समय सूर्य विषुवद्वृत्त से उत्तर की ओर (उत्तरी गोलार्द्ध) में आ जाता है उस समय वह देवताओं में रहता है। सोम उत्तर से दक्षिण को जाया करता है। परन्तु जब सूर्य उत्तर में चला जाता है तो सूर्य के ताप से सोम कुछ मात्रा में अग्निरूप में परिणत हो जाता है, और कुछ मात्रा में सूर्य के प्रत्याघात से दूर हट जाता है। ऐसे समय में हमारे पास सोम की मात्रा बहुत ही कम आती है। उस समय ज्यादा प्रभाव अग्नि का ही रहता है। सूर्य जब उत्तरी गोलार्द्ध में आ जाता है तब वह देवताओं में रहता है व देवताओं की रक्षा करता है। अर्थात् उस समय देवप्राण वृद्धियुक्त रहते हैं। परन्तु जब सूर्य बिषुवत् से दक्षिण की ओर (दक्षिणी गोलार्द्ध की ओर) आ जाता है तब यह पितरों में रहता है एवं पितरों की रक्षा करता है। अर्थात् उस समय हमारे पास अग्नि की मात्रा कम व सोम की मात्रा अधिक आती है ॥३॥

जिस समय सूर्य उत्तरगोल में आता है उसी समय अग्न्याधान करना चाहिए, क्योंकि देवताओं का यही समय है। देवता 'अपहतपाप्मा' होते हैं। देवों को आग्नेय बतलाया है और अग्नि का स्वभाव विशकलन है। अग्नि प्रतिक्षण पदार्थों को विशकलित किया करता है। इसीलिए आग्नेय पदार्थों पर दूषित परमाणुओं का कभी प्रभाव नहीं होता। यहाँ तक कि जिन पदार्थों का अग्नि से परिपाक कर लिया जाता है वे पदार्थ भी स्वच्छ हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से 'अपहतपाप्मानो देवाः' यह कहा गया है। अतः जो मनुष्य इस समय अग्न्याधान करता है वह अपने सब पापों को दूर कर देता है।

अपि च, ये देव अमृतस्वरूप हैं अर्थात् 'उपचयभाक्' हैं। यद्यपि ये अमृतस्वरूप हैं परन्तु इनमें अग्न्याधान करने से अमृतत्व (मोक्ष) की आशा सर्वथा नहीं। अर्थात् चयनयज्ञ को

छोड़ कर अन्य किसी यज्ञ से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इतना अवश्य है कि जो मनुष्य इस देवसमय में अग्न्याधान करता है उसे पूर्ण आयु प्राप्त होती है। अर्थात् किसी दोष से उसकी अकालमृत्यु नहीं होती। जब सूर्य दक्षिणगोल में आता है उस समय यदि कोई अग्न्याधान करता है तो पितरों के अनहतपाप्मा होने से इस समय अग्न्याधान करने से यजमान अपने पापों को नष्ट नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि सोम संकोच-धर्मा है। उसमें दूषित परमाणुओं का संबंध शीघ्र हो जाता है। पानी में तृणादि आ जाने से उसी समय वह दूषित हो जाता है। परन्तु अग्नि उसी समय उन तृणादियों को जला देता है। इसी अभिप्राय से कहा है—'अनहतापप्मानो पितरः' अर्थात् पितर मर्त्य हैं, 'अप-क्षयभाक्' हैं। इनमें जो अग्न्याधान करता है वह आयु समाप्ति के पहिले ही मर जाता है। अतः इस समय अग्न्याधान नहीं करना चाहिए ॥४॥

त्रिविध वीर्य्यनिरूपण

वीर्य्य तीन प्रकार का होता है—ब्रह्मवीर्य्य, क्षत्रवीर्य्य और विड्वीर्य्य। वसन्ताग्नि से ब्रह्मवीर्य्य उत्पन्न होता है, ग्रीष्माग्नि से क्षत्रवीर्य्य व वर्षाग्नि से विड्वीर्य्य उत्पन्न होता है। इन्हीं वीर्य्यों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का आत्मा बनता है। वसन्त में अग्नि ठंडा एवं सबको सुहाने वाला होता है, अतएव ब्राह्मण वर्चस्वी होते हुए भी शान्त होते हैं। ग्रीष्माग्नि में प्रखरता होने के कारण क्षत्रियों में भी प्रखरता होती है। वर्षाग्नि के बुझी हुई सी होने के कारण वैश्य ओजस्वी कहलाते हैं। इसी अभिप्राय से वसन्त को ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्मवीर्य्ययुक्त, ग्रीष्म को क्षत्रवीर्य्ययुक्त एवं वर्षा को विड्वीर्य्ययुक्त कहते हैं। चूंकि यही वीर्य्य क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में रहते हैं, अतएव ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याधान करे, क्योंकि ब्रह्म ही तो वसन्त है। क्षत्रिय ग्रीष्म में अग्न्याधान करे, क्योंकि ग्रीष्म ही तो क्षत्रवीर्य्ययुक्त है। वैश्य वर्षा में अग्न्याधान करें, क्योंकि वर्षा ही तो विड्वीर्य्य होता है। निष्कर्ष यह है कि सभी को अपने अपने वीर्य्य वाले ऋतु में ही अग्न्याधान करना चाहिए ॥५॥

अब कामचार बतलाते हैं—जो मनुष्य 'मैं ब्रह्मवर्चस्वी बनूं" यह इच्छा रखता है—वह वसन्त में अग्न्याधान करे। क्योंकि ब्रह्मवीर्य्ययुक्त ही वसन्त है। अतः उसमें अग्न्याधान करने से मनुष्य अवश्य ही ब्रह्मवर्चस्वी ही होता है ॥६॥

जो मनुष्य (श्री से) 'वित्त से एवं यश से युक्त क्षत्रत्व को मैं प्राप्त करूँ' यह इच्छा रखता हो, वह ग्रीष्म में अग्न्याधान करे। ग्रीष्म के क्षत्रवीर्य्ययुक्त होने से इसमें अग्न्याधान करने से मनुष्य अवश्य श्री और यशयुक्त क्षत्रत्व को प्राप्त हो जाता है ॥७॥

अपि च, जो मनुष्य 'मेरे बहुत प्रजा हो, मेरे बहुत पशु हों' यह इच्छा रखता है वह

वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे क्योंकि विड्वीर्य वर्षायुक्त होता है। अन्न ही विट् कहलाता है। इस प्रकार इस ऋतुविज्ञान को समझता हुआ जो विद्वान् वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करता है वह बहु प्रजाओं व पशुओं से युक्त होता है ॥८॥

इस प्रकार उत्तरगोलस्थ सौर स्थिति में अग्न्याधान का विधान बतला कर सामान्य रूप से सर्वदा ही अग्न्याधान का विधान बतलाया जाता है –

वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर ये सभी ऋतुएँ अपहतपाप्मा ही हैं क्योंकि भगवान् सूर्य ही इन पाप्माओं (दोषों) को नष्ट करने वाले हैं। अतः हमारे विचार से जब भी यज्ञ का अवसर आ जाय अर्थात् श्रद्धा, सामग्री, ब्राह्मण, देवभूमि आदि देवयजन-संपत्ति उपलब्ध हो जाय उसी समय अग्न्याधान कर ले। कल करेंगे, कल करेंगे इस प्रकार कल पर बात न छोड़े, क्योंकि मनुष्य के कल को कौन जानता है। अर्थात् कल कौन आपत्ति आने वाली है इसे कौन जानता है। अतः जब हस्तनक्षत्र (सूर्य) हो, चाहे उत्तर में या दक्षिण में, तभी अग्न्याधान कर ले। यदि हस्तनक्षत्र न हो तो वही पूर्व की व्यवस्था समझनी चाहिए।

इति तृतीयं नक्षत्रब्राह्मणं समाप्तम्।

उपवसथब्राह्मणम्

यदहरस्य श्वोऽग्न्याधेयं स्यात् दिवैव अश्नीयात्। मनो ह वै देवा मनुष्यस्य आजानन्ति। ते अस्य हैतत् श्वोऽग्न्याधेयं विदुः। तेऽस्य विश्वे देवा गृहानागच्छन्ति, तेऽस्य गृहेषु उपवसन्ति स उपवसथः ॥१॥

तन्न्वेवानवक्लृप्तं यो मनुष्येषु अनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्। अथ किमु यो देवेषु अनश्नत्सु पूर्वोऽश्नीयात्। तस्मादु दिवैव अश्नीयात्। तद्वपि काममेव नक्तमश्नीयात्। नो ह्यनाहिताग्नेः व्रतचर्याऽस्ति। मानुषो ह्येवैष तावद् भवति यावदनाहिताग्निः, तस्माद्वपि काममेव नक्तमश्नीयात् ॥२॥

तद्धैके अजमुपबध्नन्ति-आग्नेयोऽज. अग्नेरेव सर्वत्वायेति वदन्तः। तदु तथा न कुर्यात्। यद्यस्याजः स्यात् अग्नीध एवैनं प्रातर्दद्यात् तेनैव तं काममवाप्नोति। तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥३॥

अथ चातुष्प्राश्यमोदनं पचति, छन्दांस्यनेन प्रीणीम इति। यथा येन वाहनेन स्यन्स्यन्त्स्यात् तत् सुहितं कर्तवै ब्रूयादेवमेतदिति वदन्तः। तदु तथा न कुर्यात्। यद्वा अस्य ब्राह्मणाः कुले वसन्ति ऋत्विजश्च अनृत्विजश्च तेनैव तं काममाप्नोति। तस्मात् तन्नाद्रियेत ॥४॥

तस्य सर्पिरासेचनं कृत्वा सर्पिरासिच्याश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरभ्यादधति शमीगर्भमेतदाप्नुम इति वदन्तः। स यः पुरस्तात् संवत्सरमभ्यादध्यात् स ह तं काममाप्नुयात्। तस्मादु तन्नाद्रियेत ॥५॥

तदु होवाच भाल्लवेयः—यथा वा अन्यत् करिष्यन्त्सोऽन्यत् कुर्यात्। यथा वा अन्यद् वदिष्यन्त्सोऽन्यद् वदेत्। यथा अन्येन पथा एष्यन् सः अन्येन प्रतिपदयेत। एवं तत् य एतं चातुष्प्राश्यमोदनं पचेत्, अपराद्धिरेव सा इति, न हि तद् अवकल्पते-यस्मिन् अग्नौ ऋचा वा साम्ना वा

यजुषा वा समिधं वा अभ्यादध्यात् आहुतिं वा जुहुयात् यत् तं दक्षिणा वा हरेयुः अनु वा गमयेयुः। दक्षिणा वा ह्येनं हरन्ति अन्वाहार्यपचनो भविष्यतीति अनु वा गमयन्ति ॥६॥

अथ जाग्रति जाग्रति देवाः तद्देवानेवैतदुपावर्तते। स सदेवतरः श्रान्ततरः तपस्वितरः अग्नी आधत्ते। तद्धपि काममेव स्वप्यात्। नो ह्यनाहिताग्नेः व्रतचर्यास्ति। मानुषो ह्येवैष तावद् भवति यावदनाहिताग्निः। तस्माद्धपि काममेव स्वप्यात् ॥७॥

तद्धैके अनुदिते मथित्वा तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति। तदु तदुभे अहोरात्रे परिगृह्णीमः, प्राणोदानयोर्मनसश्च वाचश्च पर्याप्त्या इति वदन्तः। तदु तथा न कुर्यात्। उभौ हैवास्य तथाऽनुदिते आहितौ भवतः। अनुदिते हि मथित्वा तमुदिते प्राञ्चमुद्धरन्ति। स य उदिते आहवनीयं मन्थेत् स ह तत् पर्याप्नुयात् ॥८॥

अहर्वै देवाः। अनपहतपाप्मानः पितरो न पाप्मानमपहते। मर्त्याः पितरः पुरा ह्यायुषो म्रियते योऽनुदिते मन्थति। अपहतपाप्मानो देवाः। अप पाप्मानं हते। अमृता देवाः। नामृतत्वस्य आशास्ति। सर्वमायुरेति। श्रीर्देवाः। श्रियं गच्छति। यशो देवाः। यशो ह भवति य एवं विद्वानुदिते मन्थति ॥९॥

तदाहुः—यन्न ऋचा न साम्ना न यजुषा अग्निराधीयते अथ केन आधीयते इति। ब्रह्मणो हैवैष ब्रह्मणाऽऽधीयते। वाग् वै ब्रह्म। तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म। ता वा एताः सत्यमेव व्याहृतयो भवन्ति। तदस्य सत्येनैवाधीयते ॥१०॥

भूरिति वै प्रजापतेः इमामजनयत। भुव इत्यन्तरिक्षम्। स्वरिति दिवम्। एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥११॥

भूरिति वै प्रजापतिः ब्रह्माजनयत। भुव इति क्षत्रम्। स्वरिति विशम्। एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः सर्वेणैवाधीयते ॥१२॥

भूरिति वै प्रजापतिः आत्मानमजनयत। भुव इति प्रजाम्। स्वरिति पशून् एतावद्वा इदं सर्वं यावदात्मा प्रजा पशवः सर्वेणैवाधीयते ॥१३॥

स वै भूर्भुव इति एतावतैव गार्हपत्यमादधाति। अथ यत् सर्वैरादध्यात् केनाहवनीयमादध्यात्। द्वे अक्षरे परिशिनष्टि। तेनो एतानि अयातयामानि भवन्ति। तैः सर्वैः पञ्चभिराहवनीयमादधाति भूर्भुवः स्वरिति। तान्यष्टावक्षराणि सम्पद्यन्ते। अष्टाक्षरा वै गायत्री। गायत्रमग्नेश्छन्दः। स्वेनैवमेतच्छन्दसाधत्ते ॥१४॥

देवान् ह वा अग्नी आधास्यमानान् तानसुररक्षसानि ररक्षुः। नाग्निर्जनिष्यते नाग्नी आधास्यध्वे इति। तद्यदरक्षन् तस्माद् रक्षांसि ॥१५॥

ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदश्वम्। तं पुरस्तादुदश्रयन्। तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निरजायत। तस्माद् यत्राग्निं मन्थिष्यन् स्यात् तदश्वमानेतवै ब्रूयात्। स पूर्वेणैवोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति। तस्याभयेऽनाष्ट्रे निवातेऽग्निर्जायते ॥१६॥

स वै पूर्ववाट् स्यात्। स ह्यपरिमितं वीर्यमभिवर्धते। यदि पूर्ववाहं न विन्देत् अपि य एव कश्चाश्वः स्यात्। यदि अश्वं न विन्देत् अपि अनड्वानेव स्यात्। एष ह्येवानुडुहो बन्धुः ॥१७॥

तं यत्र प्राञ्चं हरन्ति तत्पुरस्तादश्वं नयन्ति। तत् पुरस्तादेवैतत् नाष्ट्रा रक्षांसि अपघ्नन् एति अथाभयेनानाष्ट्रेण हरन्ति ॥१८॥

तं वै तथैव हरेयुः यथैनमेष प्रत्यङ् उपाचरेत्। एष वै यज्ञो यदग्निः। प्रत्यङ् हैवैनं प्रविशति। तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमति। अथ यस्मात् पराङ् भवति, पराङ् हैव अस्माद् यज्ञो भवति। स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत् पराङ् अस्माद् यज्ञोऽभूदितीश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥१९॥

एष उ वै प्राणः। तं वै तथैव हरेयुः यथैनमेष प्रत्यङ् उपाचरेत्। प्रत्यङ्

हैवैनं प्राणः प्रविशति। अथ यस्मात् पराङ् भवति पराङु हैवास्मात् प्राणो भवति। स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत् पराङस्मात् प्राणोऽभूत् इति, ईश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२०॥

अथ वै यज्ञो योऽयं पवते। तं वै तथैव हरेयुः यथैनमेष प्रत्यङ् उपचारेत् प्रत्यङ् हैवैनं यज्ञः प्रविशति। तं क्षिप्रे यज्ञ उपनमति अथ यस्मात् पराङ् भवति पराङु हैवास्माद् यज्ञो भवति। स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत् पराङस्माद् यज्ञोऽभूदिति, ईश्वरो ह यत्तथैव स्यात् ॥२१॥

एष उ वै प्राणः। तं वै तथैव हरेयुः यथैनमेष प्रत्यङ् उपाचरेत्। प्रत्यङ् हैवैनं प्राणः प्रविशति। अथ यस्मात् पराङ् भवति, पराङु हैवास्मात् प्राणो भवति। स यो हैनं तत्रानुव्याहरेत्-पराङस्मात्प्राणोऽभूदिति। ईश्वरो ह यत्तथैव स्यात्। तस्मादु तथैव हरेयुः ॥२२॥

अथाश्वमाक्रमयति। तमाक्रमय्य प्राञ्चमुन्नयति। तं पुनरावर्तयति। तमुदञ्चं प्रमुञ्चति। वीर्यं वा अश्वः नेदस्मादिदं पराग् वीर्यमसदिति तस्मात् पुनरावर्तयति ॥२३॥

तमश्वस्य पदे आधत्ते। वीर्यं वा अश्वः। वीर्य एवैनमेतदाधत्ते। तस्मादश्वस्य पदे आधत्ते ॥२४॥

स वै तूष्णीमेवाग्रे उपस्पृशति। अथोदयच्छति। अथोपस्पृशति भूर्भुवः स्वरित्येव तृतीयेनादधाति। त्रयो वा इमे लोकाः। तदिमानेवैतल्लोकान् आप्नोति एतन्नु एकम् ॥२५॥

अथेदं द्वितीयम्। तूष्णीमेवाग्रे उपस्पृशति। अथोद्यच्छति भूर्भुवः स्वरित्येव द्वितीयेनादधाति। यो वा अस्मामप्रतिष्ठितो भारमुद्यच्छति, नैनं शक्नोति उद्यन्तुं सं हैनं शृणाति ॥२६॥

स यत् तूष्णीमुपस्पृशति। तदस्यां प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठन्ति। सोऽस्यां प्रति-

ष्ठित आधत्ते। तथा न व्यथते। तदु हैतत् पश्चेव दध्रिरे आसुरिः, पाञ्चिः, माधुकिः। सर्वं वा अन्यदियसितमिव। प्रथमेनैव उदयति आदध्यात्-भूर्भुवः स्वरिति। तदेवानियसितमित्यतो यतमथा कामयेत तथा कुर्यात् ॥२७॥

अथ पुरस्तात् परीत्य पूर्वार्धमुल्मुकानामभिपद्य जपति 'द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा' इति। यथाऽसौ द्यौर्बह्वी नक्षत्रैः, एवं बहुर्भूयासम् 'इत्येव एतदाह-यदाह द्यौरिव भूम्नेति पृथिवीव वरिम्णेति। यथेयं पृथिवी उर्वी एवमेव उरुर्भूयासम् इत्येवैतदाह। 'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे' इत्यस्यै ह्येनं पृष्ठे आधत्ते। 'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' इत्यन्नादोऽग्निः, अन्नादो भूयासम् इत्येवैतदाह। सैषाशीरेव। स यदि कामयेत जपेदेतत्। यद्यु कामयेत अपि नाद्रियेत ॥२८॥

अथ सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते। 'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः।' 'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्।' 'त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः'॥ इति। तद्यदेवास्यात्र सम्भारैर्वा ऋतुभिर्वा आधानेन वा अनाप्तं भवति तदेवास्यानेन सर्वमाप्तं भवति। तस्मात् सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठते ॥२९॥

तदाहुः न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति। इयं वै सर्पराज्ञी। स यदेवास्यामाधत्ते तत् सर्वान् कामानाप्नोति। तस्मान्न सर्पराज्ञ्या ऋग्भिरुपतिष्ठेतेति ॥३०॥

उपवसथब्राह्मणम्

(अनुवाद) जब यजमान यह संकल्प करे कि कल (आने वाले दिन) मुझे अग्नि का आधान करना है तब वह पहिले दिन, दिन में ही भोजन करे, रात में नहीं, क्योंकि देव मनुष्य के मन को जानते हैं। अतः वे कल यजमान के द्वारा करिष्यमाण (किए जाने वाले) अग्न्याधेय को जानते हैं। अतः सारे देव अग्न्याधान करने वाले यजमान के घर आ जाते हैं और वे उसके घर में उसके पास रहते

हैं। इसीलिए इस दिन को उपवसथाह कहा जाता है, क्योंकि देवता आकर उसके पास निवास करते हैं ।।१।।

जब घर में आए हुए मनुष्य के भोजन न करने पर भी गृहपति यजमान का पहिले भोजन करना अनुचित है तो फिर घर में आए हुए देवताओं के भूखे रहते हुए यजमान का भोजन करना कैसे उचित हो सकता है। अतः उस दिन, दिन में ही भोजन करे न कि रात्रि में। किन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यथेच्छ रात्रि में भी यजमान भोजन कर सकता है क्योंकि अग्न्याधान से पूर्व कोई व्रतचर्या नहीं है। दिव्य त्रेताग्नि का आधान करने से पूर्व यजमान मनुष्य भाव में ही रहता है। उस समय तक उसमें दिव्य भाव का प्रवेश न होने से दिव्य नियमपालन का विधान नहीं है। अतः वह स्वेच्छा से दिन में रात्रि में किसी भी समय भोजन कर सकता है ।।२।।

कितने ही आचार्य उपवसथाह की रात्रि में गार्हपत्यागार में किसी अज को बांधना चाहिए, ऐसा मानते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि अज आग्नेय पशु है। अतः अग्नि की मात्रा को सर्वात्मना ग्रहण करने के लिए आग्नेय अज का बन्धन आवश्यक है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा न करे। यदि किसी के घर में अज हो और उसके द्वारा यज्ञसामग्री नष्ट करने का भय हो तो वह उस अज को प्रातःकाल आग्नीध्र ऋत्विक् को दे दे। उसीसे यज्ञसामग्री के नष्ट होने के भय का परिहार हो जायगा जिसको कि तुम गार्हपत्यागार में अज को बांध कर सम्पन्न करना चाहते हो। अतः अजबन्धनपद्धति का आदर नहीं करना चाहिए। अर्थात् अज-बन्धन नहीं करना चाहिए। इसीलिए कात्यायन श्रौत सूत्र में लिखा है कि गार्हपत्यागारे अजं बध्नाति, न वा विद्यमानं प्रातरग्नीधे दद्यात् (का. श्रौ. सू. ४. १६०) ।।३।।

कई याज्ञिक लोग चातुष्प्राश्य (चार व्यक्ति जितने से तृप्त हो सकें उतना) ओदन पकाते हैं और कहते हैं कि हम इस ओदन से देववाहनभूत गायत्र्यादिच्छन्दों को तृप्त करते हैं। जैसे लोक में जिस वाहन से हम जाना चाहते हैं उन अश्वादि को तृप्त करने के लिए पहिले नौकर आदि से कह देते हैं और उन्हें तृप्त करवाते हैं। उसी प्रकार यज्ञ में इन्द्रादि देवताओं के जाने योग्य उनके वाहनभूत गायत्र्यादिच्छन्दों की तृप्ति पूर्व आवश्यक है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा न करे क्योंकि इस यजमान के घर में जो ऋत्विक् या ऋत्विग्भिन्न ब्राह्मण रहते हैं उनको जो भोजन से तृप्त किया जाएगा, उसीसे उन गायत्र्यादिच्छन्दों की तृप्ति हो जाती है। अतः पृथक् चातुःप्राश्य ओदन पकाने की आवश्यकता नहीं ॥४॥

कितने ही याज्ञिक सर्पिरासेचन कर घृतधारणार्थ ओदन को नीचा कर घृत से सिक्त कर) अश्वत्थ (पिप्पल वृक्ष) की तीन समिधाओं को समिच्छब्द-युक्त तथा घृतशब्दयुक्त ऋचाओं का उच्चारण करते हुए अग्नि में डालते हैं। उसकी उपपत्ति वे यह बतलाते हैं कि इन आश्वत्थी घृताप्लुप्त समिधाओं से शमीगर्भ यज्ञरूप भगवान् विष्णु की प्राप्ति होती है अर्थात् इससे विष्णु यज्ञ में सम्मिलित हो जाते हैं और इस प्रकार यज्ञ सुसम्पन्न हो जाता है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि संवत्सर के पहिले एक पात्र में अग्नि रखी जाती है वही संवत्सर सत्र में काम में लाई जाती है। उस पात्रस्थित अग्नि से ही यजमान यज्ञरूपी विष्णु को प्राप्त कर लेता है क्योंकि अग्नि ही यज्ञ है। अतः विष्णुस्वरूप यज्ञ की प्राप्ति के लिए पृथक् आश्वत्थी घृताप्लुत समिधाओं के अग्नि में प्रक्षेपरूप कर्म की आवश्यकता नहीं है ॥५॥

इस विषय में आचार्य भाल्लवेय महर्षि की सम्मति प्रदर्शित करते हैं कि जैसे अन्य कार्य करना चाहता हुआ अन्य कार्य कर बैठे। अन्य बात कहने की इच्छा रखता हुआ अन्य बात कह बैठे, दूसरे रास्ते से जाना चाहता हुआ तद्भिन्न मार्ग से चला जाय, उसी प्रकार अग्न्याधान करना चाहते हुए पुरुष का चातुःप्राश्य ओदनपाक है। वह एक अपराध है। इसी प्रकार अग्नि में समिधा को डालने की बात है।' अग्न्याधान के पूर्व जो मनुष्य ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र, साम-

१. यज्ञ में गार्हपत्याग्नि आहवनीयाग्नि व दक्षिणाग्नि ये तीन अग्नियां होती हैं। गार्हपत्य में अग्न्याधान किया जाता है। आहवनीय में देवताओं को आहुति दी जाती है। तथा दक्षिणाग्नि में अन्त में ऋत्विजों के लिए दक्षिणारूप चातुःप्राश्य ब्रह्मौदन का परिपाक किया जाता है। इस प्रकार पृथिवीस्थ यजमान के अन्तरात्मा का आहवनीय अर्थात् द्युलोकस्थ देवताओं से सम्बन्ध हो जाता है। किन्तु पहिले चातुःप्राश्य ओदन पकाने या आश्वत्थी घृताप्लुत समिधाओं को अग्नि में डालने पर यजमान का सम्बन्ध दक्षिणाग्नि से हो जाएगा और गार्हपत्य से जिससे कि अग्न्याधान करना है, सम्बन्ध टूट जाएगा। गार्हपत्य से यजमान का सम्बन्ध हटना पृथिवीलोक से हटना है जो कि दूसरे शब्दों में यजमान की मृत्यु होना है। अतः ऐसा नहीं करना चाहिए।

मन्त्र से समिधा का आधान करता है अथवा घृत की आहुति देता है वह इस यज्ञ को गार्हपत्य का अनुगामी न बनाकर दक्षिणाग्नि का अनुगामी बनाता है। और इस अग्नि को अन्वाहार्यपचनाग्नि[1] बना देता है और इस प्रकार का कार्य करना यजमान का पृथिवीरूप गार्हपत्याग्नि से विच्छेद करना होगा जो कि उचित नहीं है ॥६॥

देवता सदा जागते रहते हैं। जो मनुष्य अग्न्याधान करता है वह देवताओं में सम्मिलित हो जाता है अतः उसे भी पूर्वरात्रि में जागते रहना चाहिए। इस प्रकार यह यजमान देवप्रवण होता हुआ श्रम व तप में तत्पर रहता हुआ अग्नियों का आधान करता है। अतः यजमान को अग्न्याधान से पूर्व रात्रि में जागते रहना चाहिए ऐसा कुछ याज्ञिक कहते हैं। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि अग्न्याधान से पूर्व यजमान में मानुषत्व है देवत्व नहीं, अतः वह स्वेच्छा से सो सकता है क्योंकि अनाहिताग्नि के लिए कोई नियमपालन नहीं बतलाया गया है। क्योंकि जब तक आहिताग्नि नहीं होता तब तक उसके लिए व्रतविधान नहीं है। और जब तक व्रतविधान नहीं हो तब तक उसके घर में देवता नहीं आते। अतः उनकी सेवा के लिए यजमान का रात्रि में जागरण करना निरर्थक है ॥७॥

कई आचार्य कहते हैं कि सूर्योदय से पूर्व अग्नि का मन्थन कर सूर्योदय होने पर उस अग्नि का पूर्व की तरफ (आहवनीय में) उद्धरण करते हैं। इसकी उपपत्ति यह है कि इस प्रकार अहः और रात्रि दोनों का ग्रहण हो जाता है। अर्थात् सूर्योदय से पूर्व अग्निमंथन करने से रात्रि का अग्नि पकड़ में आ जाता है और सूर्योदय के बाद उसका आहवनीय में उद्धरण करने से अहःकाल के अग्नि का भी ग्रहण हो जाता है। अपि च सूर्य का रस प्राण है तथा पृथिवी का रस उदान। इस प्रकार उदान प्राण दोनों के ग्रहण के लिए हमें सूर्योदय से पूर्व अग्निमंथन तथा सूर्योदय के पश्चात् उसका आहवनीय में उद्धरण करना चाहिए। अपिच सूर्य मनरूप है पृथिवी वाक्रूप है। अतः इन दोनों के ग्रहण के लिए भी

१. दक्षिणाग्नि ही अन्वहार्यपचन कहलाता है क्योंकि इसमें यज्ञानन्तर ऋत्विजों के लिए दक्षिणारूप में आहार्य (भोज्य) ओदन पकाया जाता है अतः इसकी अन्वाहार्यपचन संज्ञा अन्वर्थ है।

सूर्योदय से पूर्व अग्नि-मंथन तथा सूर्योदय के पश्चात् आहवनीय में अग्नि का उद्धरण आवश्यक है।

किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा न करे। क्योंकि ऐसा करने से गार्हपत्याग्नि व आहवनीयाग्नि दोनों ही अनुदित में ही आहित होती हैं। क्यों कि वे अनुदित में अग्नि का मन्थन कर उदित में उसका पूर्व की तरफ उद्धरण करते हैं। इस प्रकार अनुदित में मन्थन कर सूर्योदय होने पर आधान करने से गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि दोनों का अनुदित में ही आधान होगा। यद्यपि आहवनीय का आधान उदित में करे—यह वचन है, फिर भी अनुदित में उसका मन्थन करने से उसमें रात्रि का सम्बन्ध हो ही जाता है और इस प्रकार पृथिवी का सम्बन्ध हो जाता है। जब कि आहवनीय एकान्ततः दिव्याग्नि है अतः आहवनीयाग्नि की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए उसका उदित में ही मन्थन और उदित में ही आधान करना चाहिए। तभी अहः और रात्रि का प्राण और उदान का तथा मन और वाक् का ग्रहणरूप प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ॥८॥

सूर्य के उदित होने पर अग्निमन्थन के विषय में दूसरी उपपत्ति बतलाते हैं कि अहः देवरूप है और रात्रि पितृरूप। पितर अनपहतपाप्मा होते हैं अर्थात् वे अपने पापों (दोषों) को दूर नहीं कर सकते। इसी कारण पितर मर्त्य (मरणशील) हैं। अतः रात्रि में मन्थन करने से रात्रिरूप पितृप्राण से सम्बन्ध होता है

---

१. (मनुष्य के शरीर में पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक, तीनों लोकों की तापरहित निराकार अग्नियों से प्राणिशरीर में एक तापधर्मा वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। उस वैश्वानराग्नि में यज्ञ प्रक्रिया द्वारा महावेदि के १७वें स्थान पर विद्यमान आहवनीय कुण्ड के आहवनीयाग्नि (दिव्याग्नि) का सम्बन्ध किया जाता है। यही अग्न्याधान है। वैश्वानर से दिव्याग्नि का सम्बन्ध वाग्ब्रह्म से किया जाता है। केवल ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र व साममन्त्रों से वह अग्न्याधान सम्पन्न नहीं होता अपितु वाग्ब्रह्म के ब्रह्मत्व (सत्यत्व) से होता है। यह वाक् लौकिक वैदिक भेद से दो प्रकार की है। क-च-ट-त-प आदि शब्दरूप वाक् लौकिक व मर्त्य वाक् है तथा उसकी मूलभूत सर्वत्र व्यापक तत्त्वात्मिका वाक् अमृता कहलाती है। इस तत्त्वात्मिका अमृता वाक् में ही सारा विश्व अर्पित है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

इस कण्डिका में इसी रहस्य का प्रतिपादन है।

और उससे पापों के दूर न होने से यजमान पूर्ण आयु प्राप्त करने से पूर्व ही मर जाता है। और दिन में मन्थन करने से अहः रूप देवप्राणों से यजमान का सम्बन्ध होता है। देवता पापरहित हैं। वे पापों का नाश कर देते हैं। देवता अमृत (अमरधर्मा) होते हैं। अतः दोषों के नष्ट हो जाने से दोष-जन्य अकाल मृत्यु यजमान को नहीं होती अपितु पूर्ण आयु की प्राप्ति होती है। तथा देवता श्री (सम्पत्ति) रूप हैं। अतः दिन में जो मन्थन करता है उसे श्री की प्राप्ति होती है। अपि च देवता यशःस्वरूप है। अतः दिन में मन्थन करने से यश की प्राप्ति उस यजमान को होती है जो यजमान इस रहस्य को जानता हुआ सूर्य के उदित होने पर अर्थात् अहःकाल में अग्नि का मन्थन करता है ॥६॥

याज्ञिक कहते हैं कि ऋङ्मन्त्र, यजुर्मन्त्र, साममन्त्र रूप शब्दात्मक मर्त्य वाक् से दिव्याग्नि का आधान नहीं किया जाता है अपितु वाग्ब्रह्म अर्थात् शब्दात्मक वाक् की मूलभूत तत्वात्मिका अमृता वाक् से किया जाता है। यह अमृता वाक् ही ब्रह्म है, सत्य है। और इस अमृत वाग्ब्रह्म का सत्यत्व भूः-भुवः-स्वः ये व्याहृतियाँ हैं। इस अमृत वाग्ब्रह्म के सत्यस्वरूप भूरादि व्याहृतियों से ही दिव्याग्नि का आधान किया जाता है ॥१०॥

भूः आदि व्याहृतियों से अग्नि का आधान करने में उपपत्ति बतलाते हैं कि प्रजापति (एमूषवराह नामक भूवायु) ने 'भूः' इस व्याहृति से इस पृथिवीलोक को, 'भुवः' इत्याकारक व्याहृति से अन्तरिक्ष लोक को, 'स्वः' इत्याकारक व्याहृति से द्युलोक को उत्पन्न किया। ये तीनों लोक ही तो सब कुछ हैं। इन तीनों में ही सारा विश्व समाविष्ट है। अतः भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों से आधान करना सर्व से आधान करना है। अतः सर्वात्मना अग्नि का संग्रह करने के लिए भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों से आधान करना चाहिए ॥११॥

प्रजापति ने 'भूः' से ब्रह्मवीर्य को, 'भुवः' से क्षत्रवीर्य को, 'स्वः' से विड्वीर्य को उत्पन्न किया। ब्रह्म, क्षत्र, विड् ये तीनों वीर्य ही तो सब कुछ हैं। अतः ब्रह्म-क्षत्र-विडात्मक वीर्योत्पादक भूः, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों से अग्न्याधान करना सर्वतासम्पादक है। इसी सर्वतासम्पत्ति के लिए इन व्याहृतियों से आधान करना चाहिए ॥१२॥

'प्रजापति ने 'भूः' इस व्याहृति से आत्मा को, 'भुवः' से प्रजाओं को तथा 'स्वः' इस व्याहृति से पशुओं को उत्पन्न किया। अतः आत्मा, प्रजा और पशु क्रमशः भूः, भुवः, स्वः स्वरूप हैं। आत्मा, प्रजा व पशु ही तो सर्वस्व हैं। अतः इन तीनों व्याहृतियों से आधान करना सर्व से आधान करना है। अतः आत्मा प्रजा पशुरूप सर्वतासम्पत्त्यर्थं इन तीनों व्याहृतियों से आधान करना चाहिए ॥१३॥

यह यजमान 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' (सुवः) इन पञ्चाक्षरात्मक तीन व्याहृतियों में भूः, भुवः इन द्वलक्षरात्मक दो व्याहृतियों से ही गार्हपत्याग्नि का आधान करता है। अक्षरद्वयात्मक स्वः (सुवः) इस व्याहृति को बचाये रखता है। क्योंकि पञ्चाक्षरात्मक भूः, भुवः, सुवः, इन तीनों व्याहृतियों से यदि गार्हपत्य का आधान करेगा तो फिर आहवनीयाग्नि का आधान किससे करेगा क्योंकि गार्हपत्याधान से वे पाँचों अक्षर यातयाम हो जायेंगे। अतः भूः, भुवः इन दो व्याहृतियों से अर्थात् तीन अक्षरों से ही गार्हपत्य का आधान करे। 'सुवः' इन दो अक्षरो को बचा रखे। पश्चात् गार्हपत्याधान करके 'भूः' 'भुवः' इन तीन अक्षरों सहित 'सुवः' इन दो अक्षरों से अर्थात् मिलाकर 'भूः, भुवः, सुवः' इन पाँच अक्षरों से आहवनीयाग्नि का आधान करे। इन पाँच अक्षरों में तीन अक्षर गार्हपत्याधान में काम आ चुके हैं, तथापि गार्हपत्याधान में अनुपयुक्त 'सुवः' इन दो अक्षरों के साहचर्य से भूः, भुवः ये तीनों अक्षर भी अयातयाम बन जाते हैं। इस प्रकार गार्हपत्याधान में उपयुक्त 'भूः भुवः' ये तीन अक्षर तथा आहवनीयाधान में उपयुक्त 'भूः भुवः' सुवः' ये पाँच अक्षर मिल कर आठ अक्षर हो जाते हैं। अष्टाक्षरसम्पत्ति ही गायत्री है। गायत्री अग्नि का छन्द है। अतः आठ अक्षरों से अग्न्याधान करना अग्नि का अपने छन्द से ही आधान करना है ॥१४॥

देवताओं (भौम देवताओं) ने जब अग्न्याधान करना चाहा, तो असुर और राक्षसों ने उन्हें रोका कि तुम न अग्नि उत्पन्न कर सकोगे और न उसका आधान

---

१. (आत्मा-प्रजा और पशु में आत्मा सर्वान्तरङ्ग है अतएव सन्निकट है। प्रजा उससे बहिर्भूत व दूर है और पशु उससे भी बहिर्भूत व विप्रकृष्ट (दूर) हैं। उसी प्रकार भूलोक हमारे अति संनिकट है, भुवर्लोक (अन्तरिक्ष) उससे दूर और स्वर्लोक उससे भी दूर है। इस सादृश्य के कारण भूः को आत्मा प्रजाओं को भुवः, तथा पशुओं को स्वः माना गया है।)

ही कर सकोगे। असुर और राक्षसों ने देवताओं को अग्निमंथन व अग्न्याधान से रोका। अतएव रक्षणात् (अवरोधनात्) वे रक्षस् कहलाए ॥१५॥

तब देवताओं ने अश्वरूपी वज्र को देखा तथा उन्होंने असुर राक्षसों के प्रतिरोध के लिए आहवनीय कुण्ड के पूर्व की तरफ उस घुड़सवार सेना को खड़ा किया। पश्चात् उसके भय से असुरों के पलायन कर जाने से असुर-राक्षस-रहित निर्भय, निर्विघ्न प्रदेश में अग्नि का आधान किया। अत: मानुष वैधयज्ञ में भी जब यजमान अग्नि-मंथन करना चाहे और उस अग्नि का आधान करना चाहे तो 'यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस नियम के परिपालनार्थ पूर्व की तरफ अश्व को खड़ा करना चाहिए। अश्व को पूर्व की तरफ खड़ा करना वज्र को उठाना है। इस प्रकार वज्र-भय से राक्षसों से रहित निर्विघ्न प्रदेश में अग्नि उत्पन्न हो जाती है ॥१६॥

जिस अश्व को आहवनीय कुण्ड के पूर्व में खड़ा किया जाता है वह सर्वप्रथम सवारी के काम में आने वाला अश्व होना चाहिए। अर्थात् पहिले सवारी के काम में नहीं आया हुआ युवा[1] अश्व होना चाहिए। क्योंकि ऐसा अश्व यज्ञ में अपरिमित वीर्य को उत्पन्न करता है। यदि ऐसा अश्व न मिले तो चाहे जैसा अश्व हो, उसे ही उपकल्प के रूप में खड़ा करना चाहिए। यदि अश्व ही न मिले तो अनड्वान् को हो खड़ा करना चाहिए, क्योंकि जो कार्य अश्व से सिद्ध होता है, वही अनड्वान् से भी सिद्ध होता है ॥१७॥

इस अश्व को खड़ा करने का समय बतलाते हैं कि जब मंथन की हुई अग्नि को गार्हपत्य से पूर्व को ओर अर्थात् आहवनीय की ओर ले जाते हैं तब पहिले अश्व को और उसके पोछे-पीछे अग्नि को ले जाना चाहिए। अग्नि के पोछे अश्व को ले जाने से इस अश्वरूप वज्र से अग्निविनाशक राक्षस आदि का नाश हो जाता है और अनाष्ट्र तथा भयरहित मार्ग से अग्नि का आहरण हो जाता है ॥१८॥

इस अग्नि का इस प्रकार आहरण करे जिससे यह यजमान के अभिमुख रहे। अर्थात् यजमान अपना रुख अग्नि के अभिमुख रखे। क्योंकि यजमान को

१. अश्वः पुरस्ताद् युवा, तदभावेऽयुवा, अश्वाभावेऽनड्वान्।
(का० श्रौ० सू० ४।११।)

इस दिव्याग्नि का अपने आत्मा से सम्बन्ध करना है और वह अभिमुख होने पर ही बन सकता है। यह अग्नि ही यज्ञ है क्योंकि अग्नि में सोमाहुति से ही यज्ञ सम्पन्न होता है। इन दोनों में भी अग्नि अन्नाद है अतः वही प्रधान है अतः अग्नि ही यज्ञ है। यह यज्ञ अभिमुख होने से ही शीघ्र ही यजमान में प्रविष्ट हो जाता है। यदि अग्नि पराङ्मुख होता है अर्थात् यजमान की ओर उसका रुख नहीं होता तो यज्ञ भी यजमान से पराङ्मुख हो जाता है। यदि उस समय यजमान से कोई यह कह दे कि इस यजमान से यज्ञ पराङ्मुख हो गया, तो वस्तुतः वैसा ही हो जाएगा ॥१९॥

यह यज्ञरूप अग्नि ही प्राण है। अतः इस प्राणरूप अग्नि का इस प्रकार आहरण करना चाहिए जिससे कि वह यजमान के अभिमुख रहे। ऐसा करने से प्राण यजमान में प्रवेश करता है। यदि प्राणरूप अग्नि का रुख यजमान से पराङ्मुख होता है तो प्राण ही यजमान से पराङ्मुख हो जाता है। यदि कोई उस समय यजमान से यह कह दे कि प्राण यजमान से पराङ्मुख है तो यह उसका कथन वैसा ही अर्थात् सत्य ही हो जाता है ॥२०॥

जो यह वायु बह रहा है (चल रहा) है, वही यज्ञ है। अतः इस अग्नि का इस प्रकार आहरण करना चाहिए जिससे वायुरूप यज्ञ यजमान के अभिमुख हो। अभिमुख होने पर वह यज्ञ शीघ्रता से यजमान में प्रवेश करता है। और यदि यज्ञरूप वायु पराङ्मुख होता है अर्थात् उसका रुख यजमान की तरफ नहीं होता है तो यज्ञ ही उससे पराङ्मुख हो जाता है। यदि उस समय कोई यजमान से कह दे कि यज्ञ इस यजमान से पराङ्मुख हो गया तो वस्तुतः वैसा ही हो जाएगा ॥२१॥

यह वायु ही प्राणरूप है। इसका इस प्रकार से आहरण करे जिससे उसका रुख यजमान की ओर रहे। क्योंकि अभिमुख होने पर ही वायुरूप प्राण यजमान में प्रवेश करता है। यदि यह वायुरूप अग्नि पराङ्मुख हो जाता है तो उससे प्राण ही पराङ्मुख हो जाता है। उस समय कोई यजमान से यह कहे कि प्राण तुम से पराङ्मुख हो गया तो वस्तुतः ऐसा ही हो जाएगा ॥२२॥

इसके बाद अश्व को आहवनीयस्थान पर परिक्रमा करवाते हैं। आवहनीय-स्थान पर परिक्रमा करवा कर उसे आहवनीय के पूर्व की ओर ले जाते हैं। वहाँ से उसे पुनः लौटाते हैं। इसके बाद आवहनीय के उत्तर की तरफ उसे छोड़ देते हैं। यह अश्व वीर्य (पराक्रम) का स्वरूप है। यदि वीर्यस्वरूप अश्व को आहवनीय के पूर्व की ओर ले जाकर पुनः उत्तर की तरफ नहीं लाया जायगा तो पूर्व की ओर जाने वाले यजमान की दिव्यात्मा के साथ ही यजमान का वीर्य चला जायगा। और इस प्रकार यजमान वीर्य से पराङ्मुख हो जाएगा। इसलिए उसे उत्तर की तरफ पुनः लाया जाता है ॥२३॥

उस अग्नि को (गार्हपत्य से आवहनीय में आनीत अग्नि को) सर्वप्रथम अश्व के पैर में रखते हैं। क्योंकि अश्व वीर्यस्वरूप है। अश्व के पैर में इसे स्थापित करना इस अग्नि को वीर्य में स्थापित करना है। इसलिए इसे अश्व के पैर में रखते हैं ॥२४॥

इसके बाद पहिले वह (यजमान या यजमान का प्रतिनिधि अध्वर्यु) उस अग्नि का अश्वपद पर ही चुपचाप (मंत्रोच्चारण के बिना) स्पर्श करता है। तत्पश्चात् उसे (अग्नि को) उठाता है। तदनन्तर उसका पुनः स्पर्श करता है। पश्चात् 'भूर्भुवः स्वः' यह उच्चारण करता हुआ 'स्वः' इस अक्षर के साथ अर्थात् इसका उच्चारण करते समय आहवनीय कुण्ड में इस अग्नि का आधान कर देता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः ये तीन लोक हैं। 'भूर्भुवः स्वः' इन तीन व्याहृतियों के उच्चारण के द्वारा इन्हीं तीनों लोकों को वह प्राप्त कर लेता है। यह एक मत है ॥२५॥

दूसरा मत यह है कि वह सर्वप्रथम मौन रहते हुए ही उस अग्नि का स्पर्श करता है। तदनन्तर उसे उठाता है और 'भूर्भुवः स्वः' इन व्याहृतियों का उच्चारण करते हुए 'भुवः' इस द्वितीय व्याहृति के उच्चारण के साथ उस अग्नि को आहवनीयकुण्ड में स्थापित कर देता है। तूष्णीम् (बिना मन्त्रोच्चारण) अग्नि के स्पर्श का कारण बतलाते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य इस पृथिवी पर अप्रतिष्ठित होकर भार उठाता है वह उस भार को उठा नहीं सकता। अपितु, वह भार उसे नष्ट कर देता है ॥२६॥

अतः यह यजमान चुपचाप जो अग्नि का स्पर्श करता है वह पृथिवीरूप प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होता है। और इस प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित होकर अग्नि को उठा कर आहवनीयकुण्ड में स्थापित करता है। ऐसा करने से वह भार से पीड़ित नहीं होता। आसुरि, पाञ्चि और माधुकि ने 'भूः' का उच्चारण करने के बाद 'भुवः' और 'स्वः' के उच्चारण के साथ ही अग्नि का आधान किया। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ये उपर्युक्त मत वैज्ञानिकता से च्युत (स्खलित) हैं। 'भूः' इस प्रथम व्याहृति का उच्चारण करते हुए ही अग्नि का आहवनीयकुण्ड में आधान उचित है। क्योंकि अग्नि को पृथिवी पर स्थापित करना है। अतः पृथिवीलोक की व्याहृति 'भूः' के उच्चारण के साथ ही अग्नि का आधान करना चाहिए। यही अस्खलित क्रम है। अथवा कामचार बतलाते हुए कहते हैं कि तीनों में से किसी भी व्याहृति के उच्चारण के साथ अग्नि का आधान किया जा सकता है ॥२७॥

इसके पश्चात् आहवनीय से पूर्व भाग की ओर परिक्रमा कर पूर्वभागस्थ अङ्गारे के पास बैठ कर निम्नलिखित मंत्र से जाप करता है—

'द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा'

अर्थात् हे देवयजनि पृथिवी ! आप भूमा (बहुत्व) से द्यौः के समान हैं एवं वरिमा (विपुलता) से पृथ्वी के समान हैं। अर्थात् जिस प्रकार द्युलोक नक्षत्रमण्डलों के कारण भूमायुक्त है उसी प्रकार मैं भी भूमायुक्त बनूं। तथा जिस प्रकार यह पृथिवी अमृता स्तौम्या पृथिवी-रूप महिमा के कारण अत्यंत विशाल है उसी प्रकार मैं भी बनूं। यही अभिप्राय इस मंत्र-जाप करने का है। यजमान इस मंत्र-जप के द्वारा अपने आपको द्यौः की तरह भूमायुक्त अर्थात् महाशरीर सम्पत्ति से युक्त तथा प्रजापशुवर्गादि परिकर से पृथिवी की तरह विशाल अपने आपको चाहता है। पश्चात् उपर्युक्त मंत्र के शेष भाग का जप करता है—

'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठे।' इति

इसका उच्चारण कर उस अग्नि का पृथिवीपृष्ठ पर आधान करता है तथा 'अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे' इस मंत्रशेष का उच्चारण करता है।

अर्थात् मैं अन्नाद्य बनने के लिए अन्नाद अग्नि का आधान करूं। क्योंकि अग्नि अन्नाद है। मैं भी इसी प्रकार अन्नाद बनूं। इसीलिए इस मंत्र का उच्चारण किया जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पूर्वोक्त मंत्र केवल प्रार्थनामात्र है। इसका अग्न्याधान कर्म में समावेश नहीं है अतः यदि भूमा, विशाल व अन्नाद बनने की कामना है तो इस मंत्र का उच्चारण करे, अन्यथा नहीं ॥२८॥

पश्चात् सर्पराज्ञीसम्बन्धिनी ऋचाओं से इस अग्नि का उपस्थान करे। सपराज्ञी-सम्बन्धी मंत्र निम्न हैं—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्॥

त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः।

प्रातःकाल माता (पृथिवी) की ओर खड़े हुए तथा पिता (द्युलोक) की ओर जाते हुए नानारूपवाले इस सूर्य ने सारे विश्व पर आक्रमण किया अर्थात् सारे विश्व को व्याप्त कर लिया। तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल सूर्य पृथिवी की गोद में है क्योंकि वह पूर्व क्षितिज पर दिखाई देता है और वहां से वह द्युलोक की तरफ जाता है। अतः यह उदित होते ही विश्व के अन्धकार को नष्ट कर देता है। यही सूर्य द्वारा विश्व की व्याप्ति है।

इस सूर्य की किरणें समस्त प्राणियों के अंतःकरण में प्राणन-अपानन क्रिया करती रहती हैं। ऐसा महान् यह सूर्य उदित होते ही सारे द्युमण्डल में व्याप्त हो जाता है।

यह ३० घड़ी तक रहता है। कौन रहता है इसका उत्तर—तीस घड़ी तक यह सूर्य रहता है। अहः के प्रकाश से विदित होता है कि सूर्य तीस घड़ी तक रहता है क्योंकि अहः-प्रकाश तीस घड़ी तक ही रहता है।

इन मंत्रों द्वारा उपस्थान करने से हिरण्यादि पञ्च सम्भारों द्वारा, नक्षत्रों

द्वारा, ऋतुओं द्वारा तथा आधान द्वारा जो वस्तु प्राप्त नहीं हो सकी है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। अतः सर्पराज्ञी ऋचाओं से आधान करे ॥२९॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि सर्पराज्ञी ऋचाओं से आधान न करे। क्योंकि यह पृथिवी ही सर्पराज्ञी है। अतः इस पृथिवी पर अग्नि का आधान करने से सब कार्यों की प्राप्ति हो जाती है। अतः सर्वकामप्राप्त्यर्थं सर्पराज्ञी ऋचाओं से उपस्थान की आवश्यकता नहीं है ॥३०॥

इति चतुर्थब्राह्मणम् ।

अग्न्याधानब्राह्मण

उपवसथदिन कर्म—

भाष्य—जिस दिन यजमान यह संकल्प करे कि—'कल मैं अग्न्याधान करूंगा' उस दिन वह दिन में ही भोजन करे रात्रि में नहीं। क्योंकि जिस समय यजमान अग्न्याधान करने का संकल्प करता है उस समय यजमान के संकल्प को देव पहचान जाते हैं। देव आग्नेय हैं, सोम इनका भक्ष्य है। मन चन्द्रात्मक सोम से ही बनता है। इसीलिए कहा है—'मनश्चन्द्रे निलीयते'। अतः यजमान के मन में अग्न्याधान का संकल्प होते ही देव इस सोमात्मक मन की तरफ आकृष्ट हो जाते हैं। यही देवों का मनुष्य के मन को जानना है। कल प्रातः-काल यजमान अग्न्याधान करेगा अर्थात् हमारा यजन करेगा—इस बात को जानते ही देव उसके घर में आ जाते हैं और उसके पास ठहर जाते हैं। इसी दिन को देवों के यजमान के पास रहने के कारण 'उपवसथ अहः' कहते हैं ॥१॥

यदि मनुष्य अतिथि भी घर में आ जाता है तो उसके भोजन कराये बिना गृहस्वामी भोजन नहीं करता तब यदि जिस यजमान के घर में देवता आए हैं उन देवों को भोजन कराए बिना यजमान का भोजन करना सर्वथा अनुचित है। इसलिए यजमान जिस दिन अग्न्याधान करे उससे पूर्व दिन, दिन में भोजन करे न कि रात्रि में। क्योंकि सारे देव अतिथि बन कर उसके घर में आए हुए हैं—ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि रात्रि में उपवास करने की कोई आवश्यकता नहीं। जिस दिन यजमान अग्न्याधान का संकल्प करता है उस दिन रात्रि में वह स्वेच्छा से भोजन कर सकता है। क्योंकि अनाहिताग्नि के लिए व्रतचर्या (नियमपालन) नहीं है। जब तक यजमान अनाहिताग्नि रहता है तब तक वह साग्निक नहीं होता, अपितु स्वाभाविक मनुष्यभाव में ही रहता है। तात्पर्य यह है कि जब तक अग्न्याधान नहीं कर लेता तब तक वह व्रतग्रहण नहीं कर सकता, और जब तक

व्रत ग्रहण नहीं कर लेता तब तक उसमें देव भाव का प्रवेश नहीं होता। क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही अनृतभाषी होने के कारण अमेध्य (अपवित्र) है। अमेध्य वस्तु में देवभाव का प्रवेश नहीं हो सकता। अतः जब तक आचमनस्वरूप पानी से व्रत-ग्रहण कर अपने आत्मा को मेध्य व पवित्र नहीं बना लेता तब तक देव उसके पास नहीं आ सकते। अतः अग्न्याधान से पूर्व देवताओं की स्थिति उसके पास न होने से मिथ्या उपवास करने की क्या आवश्यकता है? इसलिए अनाहिताग्नि यजमान अग्न्याधान के पूर्व दिन दिन में या रात्रि में जब चाहे तब भोजन कर सकता है ॥२॥

प्राचीन समय में जो कार्य या पद्धति पितामहादि से चली आती थी उसे छोड़ना मर्यादाविरुद्ध माना जाता था। यदि किसी कारणवश या परिस्थितिवश मनुष्य किसी काम को कर लेते थे तो उस समय भी, परिस्थिति के हट जाने पर भी उस कार्य का धर्म में समावेश कर लिया जाता था। इसी कारण यज्ञ-प्रक्रिया में ऐसे व्यर्थ कर्मों का समावेश हो गया था, जिनका यज्ञ-विज्ञान में कोई उपयोग न था। भगवान् याज्ञवल्क्य ने अनुसन्धान द्वारा यज्ञ-विद्या में ऐसे अनुपयोगी कर्मों का समावेश देखा तो उन्होंने ऐसे अनुपयोगी कर्मों को यज्ञपद्धति से बाहर निकाल कर यज्ञविद्या को स्वच्छ बना डाला। तभी से यजुर्वेद के कृष्ण और शुक्ल ये दो भेद हो गये। याज्ञवल्क्य से पहिले अनुपयोगी कर्मों के समावेश से यज्ञविद्या के अस्वच्छ होने से यजुर्वेद 'कृष्णयजुः' कहलाता था। किन्तु जब याज्ञवल्क्य ने उन अनुपयोगी कर्मों को निकाल कर यज्ञविद्या का परिष्कार कर दिया, तब से यह वेद शुक्ल यजुः कहलाने लगा। प्रकृत में ऐसे अनुपयोगी कर्म जो कि यज्ञविद्या में समाविष्ट हो गए थे, उन्हीं का भगवान् याज्ञवल्क्य खण्डन कर रहे हैं—

प्राचीन समय में एक महर्षि के घर में बहुत से बकरे रहते थे। जिस समय वे यज्ञ करते थे तब बकरे उनकी यज्ञ-सामग्री को मुँह लगा कर भ्रष्ट कर देते थे। एक समय बकरों के इस कार्य से दुखी होकर उन्होंने उनको यज्ञ करते समय उसे एक तरफ बांध दिया। उसी दिन से यज्ञ में बकरा बांधने की रूढ़ि चल पड़ी। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'कई याज्ञिक लोग यज्ञ करते समय उस स्थान पर बकरा बांधते हैं और उसकी उपपत्ति बतलाते हैं कि बकरा आग्नेय पशु है और हमें अग्न्याधान करना है अतः प्राकृतिक अग्नि जहां जहां घट गई है उसको सम्मिलित करने के लिए अर्थात् अग्नि की मात्रा को सर्वात्मना ग्रहण करने के लिए आग्नेय अज को अग्न्याधान पद्धति में सम्मिलित करते हैं।' इस प्रकार 'आग्नेयः अजः अग्नेरेव सर्वत्वाय' यह कहते हुए वे अज को बांधना आवश्यक बतलाते हैं।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अज को बांधने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि अग्नि की पूर्णता के लिए अज को बांधना आवश्यक है तो

पुरुष, अश्व, गो, अवि इनको भी बांधना चाहिए। क्योंकि ये भी आग्नेय पशु हैं। अपिच, यज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) है। ऐसी स्थिति में पांच सम्भारों से अतिरिक्त यदि बकरे आदि का सम्भार और किया जाएगा तो यज्ञ का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा। भगवान् याज्ञवल्क्य उपर्युक्त रूढ़ि का उपहास करते हुए कहते हैं कि यदि किसी यजमान के पास बकरा है और वह यज्ञ-सामग्री को नष्ट करता है तो यजमान प्रातःकाल होते ही इस अज को 'अग्नीध्र' को दे दें। क्योंकि जिस कार्य के लिए यज्ञ-कर्म में अज को बाँधते हैं वह कर्म अग्नीध्र को बकरा दे देने से भी हो जाएगा। जब यज्ञ-सामग्री की रक्षा बकरे को देने पर हो सकती है तो व्यर्थ ही इसका पद्धति में समावेश क्यों किया जाए ।।३।।

कितने ही याज्ञिक लोग हम—'इस ओदन से गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् इन छन्दों को तृप्त करते हैं" इस विचार से चार मनुष्यों के तृप्ति-योग्य ओदन पकाते हैं। इसकी उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार जिस घोड़े पर या अन्य वाहन पर सरदार सवार होकर बाहर जाने वाला है तो वह सरदार नौकर से उस वाहन को तृप्त करने के लिए कहता है अर्थात् जाने के पहिले इस वाहन को खिला-पिला कर तैयार कर दो यह कहता है। इसी प्रकार प्रकृत में देवों का यजन करना है। देवों के वाहन गायत्री आदि छंद हैं। क्योंकि इन छंदों से ही देवों का स्वरूप बनता है अतः उन देव-वाहनरूप गायत्री आदि छन्दों की तृप्ति आवश्यक है। इसलिए इन छन्दों की तृप्ति के लिए यहां 'चातुःप्राश्य ओदन' पकाना आवश्यक है। इस कारण से जो याज्ञिक 'येन वाहनेन स्यन्त्स्यन्त्स्यात्' यह कहते हुए 'एवं छन्दांसि अनेन प्रीणीमः' यह हेतु बतलाते हुए अग्न्याधान से पूर्व चातुःप्राश्य ओदन पकाते हैं वह उचित नहीं है। क्योंकि सर्वप्रथम तो यह चातुःप्राश्य ओदन यज्ञ के अन्त में किया जाता है। यदि अभ्युपगमवाद से यहां मान भी लिया जाय तब भी इसका स्वतन्त्रतया विधान नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस यजमान के घर में ऋत्विक् और अनृत्विक् ब्राह्मण रहते हैं। उनके भोजन से ही यजमान को उस फल की प्राप्ति हो जाती है जिसके लिए यजमान स्वतंत्र चातुःप्राश्य पकाता है ।।४।।

कई याज्ञिक लोग उस यजमान के अग्न्याधान में, समिध् में घृत का सेचन करते हैं। इसकी उपपत्ति बतलाते हुए वे कहते हैं कि ऋत्विक् इस समिदाहुति-क्रिया से शमीगर्भ भगवान् विष्णुस्वरूप यज्ञ को प्राप्त करते हैं। अतः जिसमें खेजड़ा भी उत्पन्न हुआ हो ऐसे वटवृक्ष की तीन समिधाएँ लेकर उनमें घृत लगाकर अर्थात् उनके दोनों भागों को घृत से ओत-प्रोत कर जिन मन्त्रों में 'समिध्' एवं 'घृत' का प्रयोग हो ऐसी समिद्वती तथा घृतवती ऋचाओं का उच्चारण करते हुए उन तीनों आश्वत्थी समिधाओं को अग्नि में डालते हैं। शमीगर्भ भगवान् विष्णु यज्ञस्वरूप है। संसार के सभी पदार्थों में ब्रह्मा, विष्णु

श्रौर महेश तीनों देव विद्यमान रहते हैं। प्रतिष्ठातत्व को ब्रह्मा, विक्षेपणधर्मा प्राण को इन्द्र तथा आकर्षणधर्मा प्राण को विष्णु कहते हैं। संसार के पदार्थों में जो प्रतिष्ठा दिखाई देती है वही ब्रह्मा का साक्षात् रूप है। जो शक्ति बाहर से पदार्थ में अन्नाहुति द्वारा उस पदार्थ के स्वरूप को स्थिर रखती है वही विष्णु का स्वरूप है। तथा जो शक्ति केन्द्र से पदार्थों को बाहर फेंका करती है वही शिव अथवा इन्द्र है।

निष्कर्ष यह है कि पदार्थों में यज्ञ की स्थिति इस विष्णुशक्ति द्वारा ही होती है। अतएव 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि वचनों द्वारा यज्ञ को विष्णु बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से पुराणों में कहा है—

"मूलतो ब्रह्मरूपाय मध्यतो विष्णुरूपिणे।
अग्रतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥"

इस प्रकार इन याज्ञिकों की धारणा है कि यदि सर्वप्रथम इन आश्वत्थी समिधाओं को अग्नि में डाला जाएगा तो शमीगर्भ भगवान् यज्ञविष्णु इस यज्ञ में सम्मिलित हो जायेंगे और विष्णुरूप यज्ञ के सम्मिलित होने से यह यज्ञ सुसम्पन्न हो जाएगा। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि सवत्सर से पहिले एक मिट्टी के पात्र-विशेष में जो अग्नि रखते हैं उसी से वह फल प्राप्त हो सकता है। अर्थात् अग्न्याधान के समय एक पात्र में अग्नि रख ली जाती है। वही अग्नि संवत्सरसत्र में काम आती है। यह अग्नि को जो पात्र में रखता है उसी से यजमान यज्ञविष्णु को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि अग्नि ही विष्णु का स्वरूप है। अतः विष्णुरूप यज्ञ की प्राप्ति के लिए समित्प्रक्षेपणरूप स्वतन्त्र कर्म करने की आवश्यकता नहीं है॥५॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हमने जो पूर्वोक्त कर्मों का खण्डन किया है वह बिना समझे नहीं किया है। हमारी ही तरह अन्य कितने ही आचार्यों ने इन कर्मों को व्यर्थ बतलाया है। इन्द्रद्युम्न नाम के भाल्लवेय महर्षि इन कर्मों के विषय में कहते हैं कि जिस प्रकार कोई मनुष्य काम करना चाहे कुछ और कर बैठे कुछ और, कहना हो कुछ और कह बैठे कुछ और, जाना चाहे किसी और मार्ग से और चला जाए किसी और मार्ग से। उसी प्रकार का अग्न्याधान के समय यह चातुःप्राश्य ओदन कर्म है। तात्पर्य यह है कि यजमान का कर्म तो अग्न्याधान करना है उसी के लिए सारा सम्भार एकत्रित किया गया है। अतः उसको छोड़ कर सर्वथा अप्रासङ्गिक चातुःप्राश्य ओदनादि कर्मों को करना अनुचित व प्रकरणविरुद्ध है। तथा इन कर्मों को करने से यज्ञविध्वंस भी होता है।

इसी प्रकार अग्न्याधान से पूर्व दक्षिणाग्नि में ऋचा से, साम से किंवा यजुर्मन्त्र से समिधाओं को डालना अथवा घृत की आहुति देना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि जो मनुष्य

अग्न्याधान से पूर्व समिधा का अभ्याधान किं वा घृतवती — आहुति का प्रक्षेपण करते हैं वे इस यज्ञ को गार्हपत्य का अनुगामी न बना कर दक्षिणाग्नि में आहरण करते हुए इस यज्ञ को दक्षिणाग्नि का अनुगामी बनाते हैं। तात्पर्य यह है कि यज्ञ का स्वरूप गार्हपत्य से आहवनीय तक माना जाता है। यदि प्रथम गार्हपत्य में अग्न्याधान न कर दक्षिणाग्नि में समिधा का अभ्याधान तथा ब्रह्मौदन का परिपाक किया जाएगा तो यह यज्ञ दक्षिणाग्नि का अनुगामी बन जाएगा। ऐसी स्थिति में पृथिवीरूप गार्हपत्य से यज्ञ का संबंध टूट जाने पर इस यजमान का पृथिवी से संबंध टूट जायेगा अर्थात् यजमान की मृत्यु हो जाएगी। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि जो मनुष्य दक्षिणाग्नि में ब्रह्मौदन का परिपाक करते हैं वे ऋत्विक् यज्ञ को दक्षिणाग्नि का आहरण करने वाला बनाते हैं एवं इस कर्म से यज्ञ अन्वाहार्यपचन हो जाता है। अतः पहिले ब्रह्मौदन करते हुए वे यज्ञ को इस दक्षिणाग्नि का ही अनुगामी बनाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यज्ञ में गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि ये तीन अग्निकुण्ड होते हैं। इनमें से गार्हपत्य कुण्ड में अग्न्याधान किया जाता है। आहवनीयकुण्ड में देवताओं के लिये आहुति दी जाती है। और यज्ञसमाप्ति के पश्चात् दक्षिणाग्निकुण्ड में ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता, आग्नीध्र इन ऋत्विजों के लिये दक्षिणा के रूप में ओदन पकाया जाता है जो कि 'ब्रह्मप्राशित्र' कहलाता है। इस चातुःप्राश्य ओदन का परिपाक चूंकि यज्ञ के अंत में होता है इसलिए इस दक्षिणाग्निकुण्ड को अन्वाहार्यपचनीयाग्नि कुण्ड कहते हैं। अनु=यज्ञसमाप्त्यनन्तरम्, आहार्यम्=भोग्यम्, तस्य यत्र परिपाकः सः अन्वाहार्यपचनीयोऽग्निः। इस प्रकार चातुःप्राश्यादि कर्मों के करने से ही यज्ञ का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अतः इन्द्रद्युम्न नाम के महर्षि का मत है कि समिधाओं का अभ्याधान एवं ब्रह्मौदन का परिपाक आदि कर्म अग्न्याधान से पहले नहीं करने चाहिएँ ॥६॥

देव सदा जागते ही रहते हैं। जो मनुष्य अग्न्याधान करता है वह उस रात्रि को देवों में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार वह यजमान देवप्रवण होता हुआ तप एवं श्रम में रत होता हुआ दूसरे दिन अग्न्याधान करता है। तात्पर्य यह है कि जब यजमान अग्न्याधान करना चाहता है उससे पहले दिन सारे देवता उसके घर में आ जाते हैं। देवता सदा जागते ही रहते हैं। यजमान उस रात्रि में देवताओं से युक्त हो जाता है। अतः सेवाधर्मानुसार इसे देवप्रवण होकर देवताओं की अच्छी प्रकार से परिचर्या करते हुए इसके घर में अग्न्याधान करना चाहिए। अर्थात् इसके घर में आये हुए देवता जागते रहें और यह सो जाये यह सर्वथा अनुचित है। अतः उस रात्रि को यजमान को जागरण करना चाहिए। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि रात्रि को जागरण करने की कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि जब तक वह अनाहिताग्नि है तब तक व्रतचर्या से रहित तथा मनुष्यभाव से युक्त रहता

है। अतः अग्न्याधान से पूर्व इसके घर में देवों का आगमन नहीं है, ऐसी स्थिति में व्यर्थ जागरण करने की क्या आवश्यकता है ? अतः उसे आराम से सोना चाहिये ।।७।।

अग्निमन्थन के विषय में आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कई आचार्य सूर्योदय से पूर्व जब थोड़ी रात्रि अवशिष्ट रहती है उस समय अग्निमन्थन करके सूर्योदय होने पर उस अग्नि का पूर्व (आहवनीय) में उद्धरण करते हैं। अर्थात् सूर्योदय से पूर्व उपले, रूई, काष्ठ, कपूर इत्यादि से अग्निमन्थन करते हैं एवं सूर्योदय के पश्चात् उसका आहवनीय में आधान करते हैं। ऐसा करने में वे निम्न उपपत्तियां बतलाते हैं—

रात्रि में अग्नि दूसरे प्रकार का होता है और दिन में दूसरे प्रकार का। रात्रि में मन्थन करने से रात्रि के अग्नि का ग्रहण हो जाता है एवं दिन में आधान करने से दिन की अग्नि का। इस प्रकार रात्रि में मन्थन एवं दिन में आधान करते हुए वे अहोरात्र की अग्नि का ग्रहण कर लेते हैं। अपि च, सूर्य का रस प्राण कहलाता है और वह रस पृथिवी में आकर जब ऊपर की ओर जाता है तब उदान कहलाता है। दिन में सूर्य का रस आता रहता है अतः दिन प्राणस्वरूप है। रात्रि में यह रस निकला करता है अतः रात्रि उदानस्वरूप है। इस प्राण व उदान की पर्याप्ति के लिए ही रात्रि में अग्नि का मन्थन और दिन में उसका उद्धरण किया जाता है।

अपि च, सूर्य मनःस्वरूप है, अन्तरिक्ष प्राणस्वरूप और पृथिवी वाक्स्वरूप। जब तक मन, प्राण, वाक् इन तीनों का सम्बन्ध नहीं होता तब तक कोई भी कार्य सर्वात्मना सम्पन्न नहीं होता। प्राण-व्यापार तो कर्म में हो ही रहा है इसमें मन और वाक् को सम्मिलित करने के लिए रात्रि में मन्थन और दिन में उद्धरण किया जाता है। रात्रि पृथिवी-रूप है। उसमें मन्थन करने से वाक् का ग्रहण हो जाता है। तथा दिन सूर्य-स्वरूप है अतः उसमें उद्धरण करने से मन का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार अहोरात्र की अग्नि के लिए प्राण-उदान और मन-वाक् की पर्याप्ति के लिए रात्रि में मन्थन और दिन में उसका उद्धरण किया जाता है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाले मनुष्यों के आहवनीय व गार्हपत्य दोनों ही अग्नियों का आधान नहीं होता है क्योंकि जब अनुदित में मन्थन किया जाता है तो उससे गार्हपत्याग्नि का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। परन्तु उदित में उसका आधान करने से आधान आहवनीयाग्नि का होता है न कि गार्हपत्याग्नि। का क्योंकि उदित में गार्हपत्याग्नि का स्वरूप नहीं रहता। इस प्रकार गार्हपत्याग्नि का आधान नहीं होता। तथा जिसका आधान किया जाता है वह अग्नि वस्तुतः गार्हपत्य है आहवनीय नहीं। क्योंकि रात्रि में मथित अग्नि गार्हपत्य ही है। अतः आहवनीयाग्नि का भी आधान नहीं होता। इस प्रकार अनुदित में मन्थन तथा उदित में आधान से दोनों ही अग्नियों का आधान नहीं होता।

यदि अनुदित में मथित अग्नि का उसी समय गार्हपत्य में आधान कर लिया जाता तो उससे गार्हपत्याग्नि का स्वरूप आहित होता है और उदित में मन्थन कर उसका आहवनीय में आधान किया जाता तो उससे आहवनीय का स्वरूप निष्पन्न होता। किन्तु अनुदित में मन्थन कर उदित मे आधान करने से दोनों का ही स्वरूप निष्पन्न नहीं होता। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'उभौ हैवास्य तथानुदित आहितौ भवतः' इत्यादि। अतः उदित में ही अग्नि का मन्थन एवं उदित में ही उसका आधान करना चाहिए ॥८॥

अपि च, उदित में मन्थन और आधान करने का दूसरा यह कारण भी है कि दिन देवताओं का स्वरूप है और रात्रि पितरों का। पितर अपहतपाप्मा होते हैं। अतः जो रात्रि में मन्थन करता है वह अपने पाप्माओं (दोषों) को दूर नहीं कर सकता। किञ्च पितर मर्त्य अर्थात् मरणधर्मा है। अतः जो अनुदित में मन्थन करता है वह अपनी आयु के पहले ही मर जाता है। अतः अनुदित में अग्निमन्थन नहीं करना चाहिए। तथा देवता अपहतपाप्मा है। अतः जो देवतास्वरूप अहःकाल में मन्थन करता है वह अपने सारे दोषों को दूर कर देता है।

अपि च, देवता अमृतस्वरूप हैं अतः अहःकाल में मन्थन करने से चाहे मुक्ति न हो तथापि वह यजमान पूरी आयु तक जीवित अवश्य रहता है। किञ्च देवता, श्रीः (सम्पत्ति) स्वरूप हैं। अतः जो अहःकाल में मन्थन करता है वह श्रीयुक्त हो जाता है। इसी प्रकार देवता यशःस्वरूप हैं अतः देवतारूप अहःकाल में जो मन्थन करता है वह देवताओं की तरह यशस्वी बन जाता है। अतः उदित में ही मन्थन करना चाहिए ॥९॥

हमारे शरीर में एक वैश्वानर अग्नि रहता है जिसके प्रभाव से इस शरीर की स्थिति है। शरीर का स्पर्श करने पर जो एक प्रकार को गर्मी मालूम देती है वही वैश्वानर अग्नि है। ताप इसी अग्नि का धर्म है। हमारे शरीर की रचना पार्थिव एवं सौर पदार्थों से होती है। हमारे शरीर में पार्थिव, आंतरिक्ष्य व सौर तीनों अग्नि आते हैं। इन तीनों के मेल से जो एक नवीन अग्नि पैदा होती है वही वैश्वानर अग्नि है। लोक को विश्व तथा उनके अधिष्ठाताओं को नर कहते हैं। यह वैश्वानराग्नि पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक इन तीनों लोकों के नरों के अर्थात् इन लोकों के अधिष्ठाता अग्निओं के मेल से उत्पन्न होता है। अतः 'विश्वेभ्यो नरेभ्यो जातः' इस व्युत्पत्ति से इसे वैश्वानर अग्नि कहा जाता है। यह अग्नि प्राणिमात्र में रहता है। इस अग्नि में याज्ञिक प्रक्रिया से एक अग्नि का आधान और किया जाता है जो आधान सर्वसाधारण मे सुलभ नहीं है। हमारा जो मस्तक है वह इक्कीसवें स्तोम तक जाने वाली महावेदि का गार्हपत्यकुण्ड है। इस महावेदि के अन्तर्गत सत्रहवें स्थान पर जो अग्निकुण्ड है वही आहवनीयकुण्ड है। यज्ञ-प्रक्रिया द्वारा सत्रहवें

स्थान में स्थित आहवनीय अग्नि का सम्बन्ध इस वैश्वानर के साथ किया जाता है। उस दिव्य अग्नि का वाग्ब्रह्म से इस वैश्वानर के साथ जो संबंध किया जाता है वही अग्नि का आधान है। केवल मन्त्र बोल कर गार्हपत्यादि में अग्नि-स्थापन को भी अग्न्याधान नहीं कहते। क्योंकि ऐसा अग्न्याधान तो शूद्र भी कर सकता है। दिव्य अग्नि का अपनी आत्मा में संबंध ही वास्तविक अग्न्याधान है। अग्न्याधान वाग्ब्रह्म से ही होता है।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि ऋक्, साम और यजुर्मन्त्रों से अग्न्याधान नहीं होता तो फिर किससे अग्न्याधान किया जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वास्तव में ऋक्, साम, यजुर्मन्त्रों का उच्चारण कर गार्हपत्याग्निकुण्ड में अग्नि के स्थापन से ही अग्न्याधान नहीं होता अपितु वाग्ब्रह्म के बल से अर्थात् सत्यत्व से ही अग्नि का आधान होता है। वाक् ही ब्रह्म है। इस वाक् का जो सत्यत्व है वही ब्रह्म का ब्रह्मत्व है। अतः 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' इन व्याहृति-रूप ब्रह्म से जो अग्न्याधान करता है वह सत्य से ही अग्नि का आधान करता है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म को सच्चिदानन्द माना गया है। इसमें सत्ता के मन, प्राण, वाक् भेद से तीन भेद हैं। यह ब्रह्म ही संसार का निमित्त, असमवायि तथा समवायिकारण है। निमित्त कारण मन कहलाता है, असमवायि कारण प्राण तथा समवायिकारण (उपादान कारण) वाक् कहलाता है। मन का व्यापार इच्छा, प्राण का व्यापार यत्न अर्थात् तप एवं वाक् का व्यापार श्रम कहलाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'सोऽकामयत। स तपोऽतप्यत। सोऽश्राम्यत्। इति।' तथा
'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते॥' इति।

चूंकि यह आत्मा इच्छा, तप व श्रम इन तीनों भागों में अपने कार्यों की समाप्ति करता है इसीलिए 'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' यह कहा जाता है। वाक् लौकिक वैदिक भेद से दो प्रकार की है। क, च, ट, त, प आदि शब्द ही लौकिक वाक् है। हम जिन शब्दों को सुनते हैं वे शब्द सर्वथा मर्त्य हैं। जब तक वायु से आहत वाक्तरंग का प्रज्ञा से सम्बन्ध रहता है तभी तक क, च, ट, त, प का श्रवण होता है। जहाँ वाक्-तरंग बन्द हुई क, च, ट, त, प आदि शब्द भी नष्ट हो जाते हैं। अतः इस शब्दसमष्टि वाक् को वाक् न कह कर शब्द ही कहा जाता है। परन्तु ऋक्, यजुः सामात्मिका जो आग्नेयी अमृत वाक् है वह सर्वत्र व्यापक है। उसी वाक् में अखिल विश्व ओतप्रोत है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥ इति

यह वाक्‌समुद्र समन्तात् भरा हुआ है। जिस समय इस वाक्‌समुद्र में वायु का आघात होता है उससे व्यापक अमृता वाक् में लहर पैदा होती है। वह लहर श्रोता के कान तक पहुँचती है। उसके आघात से लोम व नखाग्र तक व्याप्त कर्णेन्द्रिय पर स्थित प्रज्ञा-प्राण हिल पड़ता है। उससे ही क, च, ट, त, प शब्द उत्पन्न होते हैं। ये वर्ण तात्कालिक व अस्थायी हैं। ये पैदा होते ही नष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि जो ऋक्, यजुः सामात्मिका वाक् है वह सत्ता-रूप ब्रह्म का ही एक भाग है, अतः वह ब्रह्म कहलाता है। यह वाक् प्राण और मन के बिना एक क्षण भी नहीं रहती, क्योंकि मन, प्राण, वाक् तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। अतः जहाँ वाक् का उपपादन है वहाँ मन, प्राण का भी ग्रहण है। अतः वाक् से तात्पर्य मन, वाक्, प्राण तीनों का है और मन, वाक्, प्राण को ही सत्ता कहते हैं तथा सत्ता ब्रह्मस्वरूप है इसलिए 'वाग् वै ब्रह्म' यह कहा गया है। यह वाक् अमृतस्वरूप है अतएव सत्य है। तथा जो लौकिकी शब्दरूपा वाक् है, वह अनृता एवं मर्त्या है। इनमें ऋग्यजुः सामात्मिका अमृता-वाक् सत्या है, अतएव 'वेदाः सत्यम्' यह कहा जाता है। यह वाग् ब्रह्म है। इस वाग्ब्रह्म का जो ब्रह्म है अर्थात् अमृता वाक् का जो सत्यत्व है उसी से अग्न्याधान किया जाता है। यह अग्नि वाक्‌स्वरूप ही है। इसीलिए कहा गया है—'तस्य वा एतस्याग्नेः वागेवोप-निषत्'। क्योंकि हमें अग्न्याधान करना है अतः उस वाक्‌स्वरूप दिव्य अग्नि के आधान के लिए वाग्ब्रह्मस्वरूप सत्यत्व का ही प्रयोग करना चाहिए। ब्रह्म को ही प्रजापति कहते हैं तथा प्रजापति वाक्‌स्वरूप है। इस प्रजापति की 'भूः, भुवः स्वः' ये तीन व्याहृतियाँ हैं। अर्थात् इस प्रजापति का स्वरूप भूः भुवः स्वः इन तीन नामों से ही बतलाया जाता है। अतः 'भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा' इन प्रजापति व्याहृतियों से ही अग्न्याधान करना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि दिव्याग्नि का ही आधान होता है। वह दिव्याग्नि वाक्‌स्वरूप है। वाक् सत्यस्वरूपा अर्थात् अमृता है अतः दिव्याग्नि को पकड़ने के लिए भूः भुवः स्वः स्वरूप वाक्‌सत्य से ही अग्न्याधान करना चाहिए। इस आधान में ऋक्, यजुः, साम मन्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं ॥१०॥

इस ब्रह्माण्ड में कई प्रकार से त्रिलोकीविभाग माना गया है। अतः उस त्रिलोकी के १ उदूढ़ त्रिलोकी, २ स्तौम्यत्रिलोकी, ३ भौमत्रिलोकी, ४ रोदसी त्रिलोकी, ५ क्रन्दसी त्रिलोकी, ६ संयती त्रिलोकी, ७ शारीर त्रिलोकी आदि भेद हैं। इन त्रिलोकियों में प्रकृत में स्तौम्य त्रिलोकी का प्रसङ्ग है। स्तौम्य त्रिलोकी वषट्कार के भीतर आती है। इस संसार के यावन्मात्र पदार्थ अग्नीषोमात्मक है। जितने पिण्ड पदार्थ हैं उन सब में अग्नि और सोम भरा रहता है। जहाँ तक इस अमृता अग्नि और सोम की परिधि होती है वहाँ तक का मण्डल वषट्कारमण्डल कहलाता है। इस वषट्कार-मण्डल के एक हजार गो-प्राणों के

हिसाब से ३३ विभाग कर दिए जाते हैं। इन्हीं को 'अहर्गण' किं वा 'अहः' कहते हैं। इसी वषट्कार में तीन लोकों की कल्पना की जाती है। पूर्वोक्त ३३ अहर्गणों में ६-६ अहर्गण का एक-एक स्तोम माना जाता है। पहिला स्तोम ३ अहर्गणों का शेष ५ स्तोम ६-६ अहर्गणों के होते हैं। इस प्रकार ३३ अहर्गणों में ६ स्तोम हो जाते हैं। उनके नाम त्रिवृत्स्तोम, पञ्चदशस्तोम, सप्तदशस्तोम, एकविंशस्तोम, त्रिणवस्तोम तथा त्रयस्त्रिंशस्तोम हैं। शेष जो दस गोप्राण बच जाते हैं वही ३४ वां प्रजापति है। इस वषट्कार-मण्डल में एकविंश स्तोम तक आग्नेय त्रिलोकी बनती है। स्तोमों से निष्पन्न होने के कारण उसी त्रिलोकी को स्तौम्य त्रिलोकी कहा जाता है। यह त्रिलोकी-विभाग प्रत्येक पिण्ड में हुआ करता है। त्रिवृत् स्तोम तक पृथिवीलोक पञ्चदशस्तोम तक अन्तरिक्ष एवं एकविंशस्तोम तक द्युलोक कहलाता है। यही अग्नि की निबिड, तरल व विरल अवस्थाएँ हैं। इनकी समाप्ति एकविंशस्तोम पर हो जाती है। तदनन्तर त्रिणवस्तोम तक भास्वर सोम की एवं त्रयस्त्रिंशस्तोम तक दिक् सोम की सत्ता रहती है। इन दोनों को ही—'चतुर्थ आपोलोक' कहते हैं। जैसा कि—'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इस श्रुति से सिद्ध हो रहा है।

सृष्टि से पूर्व सर्वबलविशिष्ट रस, जो कि अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध है, के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसमें मायाबल उत्पन्न होता है। मायाबल से क्षोभबल उत्पन्न होता है। उस क्षोभ से सर्वप्रथम आप् (पानी) उत्पन्न होता है जो कि वायुरूप है। वायु से अग्नि पैदा होता है। यह जो आग्नेय वायु है वही हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहलाता है। इसी से ब्रह्माण्ड की रचना होती है। इस सौराग्नि से वायुमय हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मा के व्यापार से पानी पैदा होता है और पानी से पृथिवी पैदा होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।' तात्पर्य यह है कि अप् (पानी) में रुद्र वायु के प्रवेश से वह अप् फेन रूप में परिणत हो जाता है। यह फेन पृथिवी की दूसरी व्याहृति है। इस अप् में फैले हुए पार्थिव कणों को एमूष वायु संवरण कर दबा देता है उसीसे पृथिवी का स्वरूप बन जाता है। यदि चारों तरफ से एक साथ संवरणक्रिया नहीं होती तो पार्थिव कण जमने ही नहीं पाते। अतः एककालावच्छेदेन संवरणक्रिया बतलाई गयी है। चूंकि यह वायु प्रजापति चारों तरफ फैले हुए परमाणुओं को एकत्र जमा कर देता है अतएव 'बहुत्वात् भूः' इस व्युत्पत्ति से इस पिण्ड को 'भूः' कहते हैं। इसी एमूषवराह को भूवायु भी कहते हैं। पारमेष्ठ्य आपोमय समुद्र में सर्वप्रथम यह वायु पार्थिव कणों का संवरण करता है तदनन्तर उन्हें दबाकर पृथिवी का स्वरूप बनाता है। इसी अभिप्राय से 'पानी में डूबती हुई पृथिवी का भगवान् वराह अवतार ने उद्धार किया' यह कहा जाता है। यह वायु आ = समन्तात्, ईम् पृथिवीम् वसतीति = एमूषः। वृणुते इति वरः। अह्लोतीति अहः, वरश्चासौ अहश्च इति

वराहः' इस व्युत्पत्ति से एमूषवराह कहलाता है। तात्पर्य यह है कि इस पृथिवी में से एक अमृताग्नि निकला करता है। अङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध यह अमृताग्नि इस पृथिवी को खण्ड-खण्ड करना चाहता है। किन्तु इस पार्थिव पिण्ड के चारों तरफ ४८ कोस तक एमूषवराह नामक भूवायु, जिसे कि ज्यौतिषी 'आवह' कहते हैं, स्वगत संकुचितधर्मा सोम के कारण इस पृथिवी को नष्ट नहीं होने देता। वराह भगवान् का यही पृथिवी की रक्षा करना है। इस प्रकार प्रजापति एमूषवराह भगवान् ने सर्वप्रथम इस भूः को उत्पन्न किया। यही भूः जब इसका अमृताग्नि पञ्चदशस्तोम तक फैल गया तब 'भुवः' कहलाने लगा। तत्पश्चात् जब यह अग्नि विरलावस्था में परिणत होता हुआ सप्तदशस्तोम तक पहुँच गया तब यह 'स्वः' कहलाने लगा। इस प्रकार यही पार्थिवाग्नि निबिड, तरल, विरल अवस्थाओं के कारण तीन लोकों में परिणत हो जाता है। इस पृथिवी की रचना प्रजापति से ही है अतएव 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' ये प्रजापति के नाम कहलाते हैं। हमें सत्रहवें स्तोम पर रहने वाले दिव्याग्नि का अपनी आत्मा से सम्बन्ध करना है यही वास्तविक अग्न्याधान है। किन्तु पार्थिव व आन्तरिक्ष्य अग्नि को पकड़े बिना दिव्याग्नि पकड़ में नहीं आ सकता, अतः अगत्या भूः भुवः पूर्वक स्वः का उच्चारण करते हुए इन व्याहृतियों द्वारा उस दिव्य अग्नि का आधान किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि—एमूषवराह प्रजापति ने भूः इत्याकारक पृथिवी को, 'भुवः' इत्याकारक अन्तरिक्ष को एवं स्वः इत्याकारक द्यौः को उत्पन्न किया। इन तीनों लोकों में ही सारा विश्व अन्तर्गत होने से ये तीन लोक ही सब कुछ हैं। अतः भू, भुवः, स्वः इन व्याहृतियों से आधान करता हुआ यजमान सभी से आधान करता है। अर्थात् इन तीनों से आधान करने पर अग्नि का सर्वात्मना संग्रह हो जाता है क्योंकि सप्तदश स्तोम ही अग्नि है ॥११॥

बल, वीर्य्य, पराक्रम भेद से शक्ति तीन प्रकार की है। इनमें शारीरिकबल, धनबल, ऐश्वर्यबल, विद्याबल व तपोबल भेद से बल ५ प्रकार का है तथा ब्रह्मवीर्य्य, क्षत्रवीर्य्य, विड्वीर्य्य भेद से वीर्य ३ प्रकार का है। अग्नि का उद्ग्राभ ब्रह्मवीर्य्य है। उसका उद्गीथ क्षत्रवीर्य्य है तथा निग्राभ विड्वीर्य्य है। वासन्ताग्नि ब्रह्मवीर्य्य, ग्रीष्माग्नि क्षत्रवीर्य्य तथा वर्षाग्नि विड्वीर्य्य होती है। पार्थिवाग्नि ब्रह्मस्वरूप है इसीलिये अग्निमय होते हुए भी पृथिवी सर्वथा शान्त अर्थात् तापरहित है। अन्तरिक्षाग्नि क्षत्रस्वरूप है एवं दिव्याग्नि विट्स्वरूप है। विश्व में ये तीनों वीर्य ही सब कुछ हैं। इसी अभिप्राय से कहा है कि—प्रजापति ने भूः से ब्रह्मवीर्य्य को उत्पन्न किया, भुवः से क्षत्रवीर्य्य को एवं स्वः से वीड्वीर्य्य को। अतः भूः भुवः स्वः इनसे अग्न्याधान करता हुआ यह यजमान ब्रह्म, क्षत्र व विट्स्वरूप सारी सम्पत्ति से ही अग्न्याधान करता है ॥१२॥

यह भू-लोक सर्वथा हमारे निकट है। अथवा यह हमसे अत्यन्त अन्तरङ्ग है। अन्त-

रिक्ष हमसे दूर है एवं स्वर्लोक बहुत ही दूर है अतः वह अत्यन्त बहिरङ्ग है। इसी प्रकार हमारी आत्मा हमसे अत्यन्त अन्तरङ्ग है अतः भूस्थानीय है। तथा सन्तान उससे बाहर की वस्तु है अतः वह भुवःस्थानीय है और पशु हमारे से अत्यन्त ही बहिरङ्ग हैं अतः वे स्वःस्थानीय हैं। तात्पर्य यह है कि हमारा अग्नि ही पशु तक जाता है। उस पशु तक हमारा आग्नेय आत्मा व्याप्त रहता है अतएव 'यावद्वित्तं तावदात्मा' यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से कहा है कि—'भूः' से प्रजापति ने आत्मा को, 'भुवः' से प्रजा को तथा 'स्वः' से पशुओं को उत्पन्न किया। आत्मा, प्रजा, पशु ही सब कुछ हैं, अतः आत्माग्नि, प्रजाग्नि व पश्वग्नि इन तीनों अग्निमात्राओं के ग्रहण करने के लिए यजमान 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' से अग्न्याधान करता है ॥१३॥

यह यजमान 'भूः' 'भुवः' इन दो से ही गार्हपत्य का आधान करता है। यदि 'भूः' 'भुवः' 'स्वः' इन तीनों से गार्हपत्य में अग्न्याधान करेगा तो फिर आहवनीय में किससे आधान किया जाएगा ? अतः गार्हपत्य का आधान 'भूः' 'भुवः' इन दो से ही करना चाहिए। इसके बाद 'सुव.' (स्वः) ये दो अक्षर बच जाते हैं। इन दोनों अक्षरों से पूर्व के प्रजादि जितने आधान हैं वे व्यर्थ नहीं जाते अपितु सार्थक हो जाते हैं। यदि पाँचों अक्षरों से अर्थात् 'भूः, भुवः, सुवः' इन तीनों से गार्हपत्य का ही आधान होता तो आहवनीय का आधान न होने से अग्न्याधान व्यर्थ हो जाता। तत्पश्चात् 'सुवः' इन दो अक्षरों को तथा 'भूः' 'भुवः' इन तीन अक्षरों को मिला कर पांच अक्षरों से आहवनीय का आधान करता है। इस प्रकार तीन अक्षरों से गार्हपत्य का आधान तथा पांच अक्षरों से आहवनीय का आधान इस प्रकार मिल कर आठ अक्षर हो जाते हैं। गायत्री अष्टाक्षरा होती है। गायत्री ही अग्नि का छन्द है, अतः आठ अक्षरों से अग्नि का आधान करता हुआ यजमान अग्नि के ही छन्द से आधान करता है। इसलिए अग्निसम्पत्तिप्राप्त्यर्थं आठ अक्षरों से ही अग्न्याधान करना चाहिए। अर्थात् भूः, भुवः से गार्हपत्य का आधान तथा 'भूः भुवः सुवः' से आहवनीय का आधान करना चाहिए ॥१४॥

जो यज्ञविद्या आज हम देख रहे हैं वह सर्वप्रथम साध्यदेवों में प्रचलित थी। इस यज्ञविद्या के प्रथम आविष्कारक साध्य देव ही थे। इसमें निम्न श्रुति प्रमाण है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

इन साध्यदेवों में ब्रह्मतत्व के प्रतिष्ठापक ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध प्रजापति ने एक नवीन दैव-व्यवस्था कायम की। प्राणदेवों की परिस्थिति को पहिचान कर, भगवान् प्रजापति ने ठीक उसके अनुकरण पर सारे जनसमुदाय की स्थिति निश्चित की। प्राणदेवों की व्यवस्था-

नुसार भौम देवों की व्यवस्था व्यवस्थित की। तत्तत्प्राणोपासना से तत्तद्भौमदेवों के वे ही नाम रखे गये। जैसी त्रिलोकी आधिदैविक मण्डल में है ठीक उसी की प्रतिकृति पर भौम-त्रिलोकी की स्थापना की। आधिदैविक यज्ञ (प्राणयज्ञ) की प्रतिकृति पर आधिभौतिक यज्ञ का वितान किया। परन्तु इस आधिभौतिक यज्ञ में कई नवीन बातों की भी कल्पना करनी पड़ी जिन की सत्ता प्राणयज्ञ में नहीं थी। उदाहरणार्थ प्राणयज्ञमण्डल में सूर्य अग्नि-होत्रदर्शपूर्णमासादि इष्टियाँ करता है, परन्तु उसे असुरों का भय नहीं है। किन्तु भौमदेवों को असुराक्रमणभीतिजन्य-विघ्नविनाशार्थ तत्तत्स्थानों में अश्वारोही रखने पड़ते थे। इन भौमदेवों के यज्ञ के अनुकरण पर सर्वप्रथम भारतवर्ष के सम्राट् भगवान् मनु ने भारतवर्ष में यज्ञ का वितान किया। इन्हीं मनु के कारण मनुष्यों में यज्ञविद्या प्रचलित हुई। जैसा कि श्रुति कहती है :—

'मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे। तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते। तदाह मनुष्वदिति'

—(शत० ३५ पृष्ठ)

पहिले बतलाया गया है कि कई बातों को, जो कि प्राणयज्ञ में नहीं थीं, भौमदेवों ने अपने यज्ञ में समाविष्ट कीं। इसी प्रकार अग्निमन्थनादि कई कर्म, जो कि भौमदेवयज्ञ में नहीं थे, मनुष्यों को अपने यज्ञ में समाविष्ट करने पड़े। देवता चूंकि वैध अग्नि को पहिचानते थे अतः उनको अरणिमन्थन नहीं करना पड़ता था। वे बिना मन्थन के ही अग्न्याधान कर लेते थे। परन्तु मनुष्यों को २४ अङ्गुल की अरणि से २१वें अङ्गुलस्थ वैध अग्नि का ग्रहण करना पड़ता है। भौमदेवों ने अपने यज्ञ में जिन कर्मों का समावेश किया उनका 'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस नियम के अनुसार मनुष्यों को अपने यज्ञ में समावेश करना ही पड़ा था। प्रकृत में उन्हीं में से एक कर्म का देवाख्यानपुरस्सर विधान बतलाया जा रहा है :—

जिस समय भौमस्वर्गनिवासी देवों ने अग्न्याधान प्रारम्भ किया उस समय असुरों और राक्षसों ने इन देवों को अग्न्याधान से रोक दिया और कहा कि—तुम लोग न तो अग्नि को उत्पन्न कर सकते हो एवं न उसका आधान ही कर सकते हो। इन आक्रमणकारियों ने देवों को रोका इसी कारण उस दिन से 'अरक्षन्' इस व्युत्पत्ति से वे राक्षस कहलाये ॥१५॥

इस प्रकार जब असुरों को अपने ऊपर आक्रमण करते देखा तो देवताओं ने वज्रस्वरूप अश्व को देखा। अर्थात् असुरविनाशार्थं उन्होंने घुड़सेना को उचित समझा। अतः पूर्व से आक्रमण करने वाले असुरों के प्रतिरोधार्थ देवों ने आहवनीयकुण्ड के पूर्व की ओर उस अश्व को खड़ा कर दिया। अश्व को खड़ा करते ही सारे असुर राक्षस डर कर भग गये। इस प्रकार उस अश्व के कारण अभय एवं शांत वातावरण में अग्नि उत्पन्न किया गया।

देवताओं ने अग्न्याधान करते समय पूर्व की ओर अश्व खड़ा किया था, अतः आज हमारे यज्ञ में असुरों का आक्रमण न होने पर भी —'यद्वै देवा अकुर्वन् तत्करवाणि' इस मर्यादा के पालनार्थ जिस समय यजमान अग्निमंथन करने वाला हो उस समय ऋत्विक् लोग वहाँ पर अश्व को लाने के लिए कहें। अर्थात् आज भी अग्न्याधान के समय अश्व को पूर्व की ओर खड़ा करना चाहिए। यह अश्व आहवनीय के पूर्व की ओर खड़ा किया जाता है। इस अश्व को आहवनीय के पूर्व की ओर खड़ा करना पूर्व की ओर से आक्रमण करने वाले असुरों के संहार के लिए वज्र उठाना है। इस प्रकार इस अश्व के द्वारा अभय एवं अनाष्ट्र स्थान में अग्नि उत्पन्न हो जाता है ॥१६॥

जिस अश्व को यहाँ खड़ा किया जाता है वह पूर्ववाट् होना चाहिए। सबसे प्रथम सवारी में काम आने वाले अश्व को ही वहां खड़ा करना चाहिए। क्योंकि ऐसा पूर्ववाट्-अश्व यज्ञ में अपरिमित वीर्य को उत्पन्न करता है अर्थात् जो पूर्ववाट् अश्व होता है उसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह कितना बलिष्ठ होगा ? क्योंकि अभी वह वृद्ध्युन्मुख है। ऐसे वृद्ध्युन्मुख अश्व को यज्ञ में खड़ा किया जाएगा तो यज्ञ भी वृद्ध्युन्मुख होगा। यदि संयोगवश पूर्ववाट् अश्व न मिले तो फिर चाहे जैसे अश्व को 'अभावे शालि-चूर्णम्' इस न्याय से खड़ा कर देना चाहिए। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अश्व क्षत्रिय की सम्पत्ति है। अतः यदि उसका मिलना कठिन हो तो 'उक्षा' (नया बैल) को ही खड़ा करदें और यदि वह भी न मिले तो अनड्वान् को ही लाने के लिए कहदें। क्योंकि यह भी अश्व की तरह ही बलवान् है। अतएव यह बलीवर्द कहलाता है। जो काम अश्व के खड़े करने का बतलाया था वही काम इस अनड्वान् के खड़े करने का समझना चाहिए ॥१७॥

अश्वस्थापनकालः—

अब अश्व को आहवनीय के पूर्व किस समय खड़ा करना चाहिए, यह बतलाते हैं। सर्वप्रथम छाने, रूई और लकड़ी के बुरादे पर अरणि द्वारा मन्थन-क्रिया से अग्नि उत्पन्न किया जाता है। फिर उस अग्नि का पहिले गार्हपत्य में आधान होता है तदनन्तर उसे आहवनीय में ले जाया जाता है। जिस समय उस अग्नि को गार्हपत्य से पूर्व की ओर अर्थात् आहवनीय की ओर ले जाते हैं उससे पूर्व उस अश्व को आहवनीय के पूर्व में ले जाते हैं। अर्थात् प्रथम अश्व को तथा पश्चात् मथित अग्नि को आहवनीय की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार अग्नि से आगे विद्यमान यह अश्व पूर्व से आने वाले राक्षस व असुरों का नाश करता हुआ आगे बढ़ता है एवं उनके नष्ट हो जाने पर अनाष्ट्र अतएव शान्त वातावरण में गार्हपत्य से आहवनीय की ओर अग्नि का आहरण किया जाता है। क्योंकि देवताओं ने अग्न्याहरण के पूर्व ही अश्व का पूर्व की ओर गमन करवाया था, उसी मर्यादा के अनुसार यजमान को भी पहिले अश्व को ले जाना चाहिए तत्पश्चात् अग्नि का आहरण करना चाहिए ॥१८॥

अग्न्याहरणप्रकार:—

उस अग्नि का इस प्रकार आहरण करना चाहिए जिससे अग्नि की ज्वालायें यजमान के अभिमुख आवें। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि-ज्वाला का यजमान की ओर झुकाव हो उसी प्रकार उसका आहरण करना चाहिए। यह जो अग्नि है वह यज्ञ है। अग्नि में ही सोमाहुति से यज्ञ निष्पन्न होता है, अतः इस अग्नि को ही यज्ञ कह सकते हैं। अपि च, ज़ब तक वैश्वानराग्नि हमारे शरीर में रहता है तभी तक आध्यात्मिक यज्ञ की स्थिति रहती है। इस कारण से भी अग्नि को यज्ञ कह सकते हैं। यजमान को यज्ञस्वरूप अग्नि को अपनी आत्मा में आहित करना है। यह तभी हो सकता है जब कि अग्नि का रुख यजमान की ओर हो। अतः जिस प्रकार अग्नि का रुख यजमान की ओर हो, उसी प्रकार उसका आहरण करना चाहिए। ऐसा करने से यह यज्ञ (अग्नि) प्रत्यङ् (अभिमुख) होकर यजमान में प्रविष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यजमान को उस ओर खड़ा रहना चाहिए जिस ओर अग्नि का रुख हो। जो यजमान अग्नि के अभिमुख खड़ा रहता है उसमें अग्निस्वरूप यज्ञ अतिशीघ्र प्रविष्ट हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि यह जो नया वैध अग्नि उत्पन्न किया गया है वह सत्रहवें स्थान तक वितत रहता है। इसी अग्नि को यज्ञ कहते हैं। इस अग्नि का यदि हमारे शारीर अग्नि से सम्बन्ध हो जाता है तो हमारी आत्मा भी उस यज्ञात्मा से बँधा हुआ यज्ञस्थान (१७वें स्थान) तक वितत हो जाता है। इसी सम्बन्ध को जोड़ने के लिए यज्ञ किया गया है। यह तभी हो सकता है जब वैध अग्नि का रुख हमारी ओर हो। अतः यज्ञसम्पत्ति—प्राप्त्यर्थ यजमान को अवश्य ही अग्नि की ओर अपना रुख रखना चाहिए। यदि यह अग्नि किसी से पराङ्मुख हो गया अर्थात् यदि इसका रुख यजमान की ओर न रहा तो उस यजमान से यह यज्ञ (अग्निमय दैवात्मा) परावर्तित हो जाता है, अर्थात् उस यज्ञात्मा का संबंध यजमान के साथ नहीं होने पाता। इस प्रकार वह यज्ञफल से सर्वथा वंचित रहता है। यदि यह अग्नि पराङ्मुख हो जाय उस समय यदि कोई इस यजमान को यह कह दे कि इस यजमान से यह यज्ञ पराङ्मुख हो गया तो उसका यह कहना वास्तव में सत्य हो जाता है। उसका यह कथन सत्य न हो इसलिए यजमान को उसी स्थान पर खड़ा होना चाहिए जिस तरफ उस अग्निमय यज्ञ का रुख हो ॥१६॥

अपि च, यह अग्नि जैसे यज्ञस्वरूप है वैसे प्राणस्वरूप भी है। शरीर से बाहर पृथिवी के सत्रहवें स्थान तक वितत अग्नि ही यज्ञ कहलाता है और यही अग्नि शरीर में प्रविष्ट हो मनुष्य के शरीर की स्थिति को रखने के कारण प्राण कहलाता है। दैवात्मा की स्थिति भी इसी अग्नि पर अवलम्बित है। और मानुषात्मा की स्थिति भी इसी अग्नि पर आश्रित है। इसलिए इस अग्नि को यज्ञ कहा जाता है और प्राण भी। इसी अभिप्राय से—'एष उ वै

प्राणः' यह कहा गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि इस प्राणस्वरूप अग्नि का इस तरह आहरण करना चाहिए जिससे कि यह अग्निमयप्राण यजमान की ओर ही रहे। ऐसा होने से यह प्राण प्रत्यङ्मुख होकर यजमान में प्रविष्ट हो जाता है। परन्तु जिससे यह अग्निमयप्राण पराङ्मुख हो जाता है अर्थात् अग्नि का रुख यजमान-विरुद्ध दिक् में हो जाता है उस यजमान से यह प्राण भी पराङ्मुख हो जाता है। अर्थात् जिस अग्नि को आत्मसात् करने के लिए आहरण किया था उसके प्रतिदिक् में चले जाने से उस जाते हुए प्राणात्मक अग्नि से यजमान का शारीरप्राण भी निकल जाता है। ऐसे समय में यदि कोई मनुष्य यजमान से यह कहे कि इस यजमान से प्राण पराङ्मुख हो गया तो उसका यह कहना सत्य हो जाता है। उसका यह कहना सत्य न हो, इस लिए उस प्राणमय अग्नि का उधर ही रुख रखना चाहिए जिस ओर यजमान की स्थिति हो ॥२०॥

अपि च, यह जो बह रहा है, वह यज्ञस्वरूप है। अर्थात् यह वायु भी अग्नि की तरह यज्ञस्वरूप ही है। क्योंकि अग्नि ही घनावस्था में अग्नि नाम से व्यवहृत होता है एवं तरलावस्था में यह अग्नि वायु कहलाने लगना है तथा विरलावस्था में आदित्य अथवा प्राण। इसी अभिप्राय से—'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते' यह कहा गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि उस अग्नि का इस प्रकार आहरण करना चाहिए जिससे यह यज्ञस्वरूप वायु यजमान के प्रत्यङ्मुख हो जाये। ऐसा करने से प्रत्यङ्मुख हो कर यह यज्ञस्वरूप अग्नि यजमान में प्रविष्ट हो जाता है और यह यज्ञस्वरूप अग्नि यजमान की ओर झुक जाता है। अर्थात् यज्ञात्मा का मानुषात्मा से सम्बन्ध हो जाता है। परन्तु जिस यजमान से यह यज्ञस्वरूप वायु पराङ्मुख हो जाता है उससे यज्ञ भी पराङ्मुख हो जाता है। क्योंकि वायु के प्रतिदिक् में चले जाने से अग्नि का रुख भी बदल जाता है। अतः इस अग्निमय दैवात्मा (यज्ञात्मा) का सम्बन्ध यजमान के मानुषात्मा के साथ नहीं हो पाता है।

अपि च, जिस समय यह अग्नि (यज्ञ) यजमान से पराङ्मुख हो जाता है उस समय यदि कोई 'इस यजमान से यज्ञ पराङ्मुख हो गया' यह कह देता है तो सम्भवतः उसका यह कहना सत्य ही हो जाता है। अतः इस यज्ञ की पराङ्मुखता को हटाने के लिए उसी तरफ यजमान को खड़ा होना चाहिए जिस ओर वायु का रुख हो। निष्कर्ष यह है कि जिस तरफ वायु का रुख होगा उसी तरफ अग्नि की ज्वाला जायेगी। इसलिए यजमान को, यज्ञात्मा को आत्मसात् करने के लिए, वायु की तरफ ही अपना रुख करना चाहिए ॥२१॥

अपि च, यह वायु प्राणस्वरूप है। जब तक हमारे शरीर में श्वासोच्छ्वास चलता रहता है तभी तक हमारा जीवन है। अतः वायु के लिए 'एष उ वै प्राणः" यह कहा गया

है। इस अग्नि का इसी प्रकार आहरण करना चाहिए जिससे कि यह प्राणस्वरूप वायु यजमान के प्रत्यङ्मुख रहे। ऐसा होने से प्रत्यङ्मुख होकर यह प्राण यजमान में प्रविष्ट हो जाता है, अन्यथा जिससे यह प्राणरूप वायु पराङ्मुख हो जाता है उस यजमान से प्राण भी पराङ्मुख हो जाता है। अर्थात् यजमान का प्राणबल क्षीण हो जाता है। किञ्च ऐसे समय कोई मनुष्य 'इस यजमान से प्राणात्मा पराङ्मुख हो गया' यह कह देता है तो उसका यह कथन सत्य ही हो जाता है। यह कथन सत्य न हो, अतः यजमान को अपनी स्थिति उधर ही रखनी चाहिए जिस ओर वायु का रुख हो। अर्थात् जिस तरफ अग्नि की ज्वाला हो, यजमान को उसी तरफ खड़ा रहना चाहिए ॥२२॥

अवक्रमण—

इसके पश्चात् उस अश्व को आहवनीय स्थान पर घुमाते हैं। आहवनीय स्थान पर अश्व को घुमाकर उसकी लगाम पकड़ कर उसे आहवनीय के पूर्व की ओर ले जाते हैं। थोड़ी दूर ले जाकर इसे वापस ले आते हैं। इसके बाद आहवनीय के उत्तरदिग्भाग में लाकर उसे छोड़ देते हैं। अर्थात् पहिले अश्व को आहवनीय स्थान की परिक्रमा करनी चाहिए, तत्पश्चात् आहवनीय से पूर्व की ओर कुछ दूर उसे ले जाकर वापिस ले आना चाहिए। तदनन्तर उत्तर दिशा में लाकर उसे छोड़ देना चाहिए। अश्व बड़ा ही शक्तिशाली वाहन है। अतः आज भी शक्ति के मानदण्ड के रूप में अश्व का ही नाम लिया जाता है। विद्युत् शक्ति की 'सौ होर्सपावर' इत्यादि रूप से अश्वशक्ति से ही तुलना की जाती है। इससे मानना पड़ता है कि यह अश्व वीर्य्य की जीती जागती प्रतिमा है। इस वीर्य्यस्वरूप अश्व को यदि पूर्व की ओर ही ले जाया जाएगा और वापिस उत्तर में नहीं लौटाया जाएगा, तो इस यजमान के दैवात्मा के साथ, जोकि पूर्व की ओर जा रहा है यजमान का वीर्य्य भी चला जाएगा। इस यजमान से यह वीर्य्य पराङ्मुख न हो, इसलिए घोड़े को वापिस लौटा देते हैं। इससे दोनों काम सिद्ध हो जाते हैं। पूर्व की ओर ले जाने से दैवमर्यादा का पालन हो जाता है और वापिस लौटाने से यजमान का वीर्य्य भी सुरक्षित रह जाता है। पूर्व दिशा देवताओं की दिशा है और उत्तर दिशा मनुष्यों की। इस मानुषदिक् में अश्वस्वरूप वीर्य्य को प्रतिष्ठित रखने के लिए अश्व को उत्तर दिशा में छोड़ते हैं ॥२३॥

गार्हपत्य से जो अग्नि आहवनीय की ओर लाया गया था उसे सर्वप्रथम उस अश्वपद में रखते हैं अर्थात् अश्वक्रमण में जो सबसे आगे का खुर है उसी में प्रथम लाये हुए अग्नि को रखना चाहिए। अश्व वीर्य्यस्वरूप है, अतः निदानेन इस अग्नि को अश्वपद में रखता हुआ यजमान इसे वीर्य्य में ही स्थापित करता है। अर्थात् अग्नि को वीर्य्ययुक्त बनाता है ॥२४॥

इसके बाद चुपचाप (बिना मंत्र बोले हो) वह उस अग्नि का वहीं अश्वपद पर ही स्पर्श कर लेता है। तदनन्तर उसे उठाता है। तत्पश्चात् दूसरे हाथ से पुनः उसका स्पर्श करता है। बाद में 'भूः भुवः स्वः' यह बोलता हुआ 'स्वः' इस तीसरे अक्षर के साथ आहवनीय-कुण्ड में इस अग्नि का आधान कर देता है। अर्थात् स्पर्श करना, उठाना, पुनः स्पर्श करना इत्यादि कार्य बिना मंत्र के करने चाहिए। पश्चात् 'भूः भुवः स्वः' यह बोलते हुए अग्नि को आहवनीय में रख दे। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः ये तीन लोक हैं। 'भूः भुवः स्वः' यह बोलता हुआ यजमान उन तीनों लोकों को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्वः इस तीसरे अक्षर के उच्चारण के साथ अग्नि को रखना यह एक मत है ।।२५।।

इस विषय में एक दूसरा मत भी है कि यजमान सर्वप्रथम चुपचाप ही (बिना मन्त्रोच्चारण किए) अग्नि का स्पर्श करता है तत्पश्चात् उसें वहाँ से उठाता है। तदनन्तर 'भूः भुवः स्वः' यह उच्चारण करता हुआ 'भुवः' इस उच्चारण के साथ ही अग्नि को आहवनीय में रख देता है। अर्थात् पहिले 'भूः' उच्चारण करता है बाद में 'भुवः' का उच्चारण करता हुआ आहवनीय में अग्नि को रख देता है। तत्पश्चात् 'स्वः' का उच्चारण करता है। 'भुवः' का उच्चारण करते हुए आहवनीय में अग्नि रखता है। यही इस मत की पूर्वमत से विशेषता है। अश्वपद में रखे हुए अग्नि का तूष्णीम् ही स्पर्श क्यों करना चाहिये ? एवं तूष्णीम् ही उसे क्यों उठाना चाहिये ? इसका कारण यह है कि कोई मनुष्य इस पृथिवी में अप्रतिष्ठित होकर यदि भार को उठाता है तो वह उस भार को उठाने में समर्थ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं अपितु ऐसी स्थिति में यह भार उठाने वाले का ही नाश कर देता है। पृथिवी पर पैरों को प्रतिष्ठित किए बिना कोई अपने शरीर को भी स्थित नहीं रख सकता ।।२६।।

यह यजमान जो बिना मन्त्र उच्चारण किये ही इस अग्नि का स्पर्श कर इसे उठाता है, वह इस प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार इस प्रतिष्ठास्वरूप पृथिवी में प्रतिष्ठित होकर ही वह भारस्वरूप अग्नि को आहवनीय में रखता है। ऐसा करने से वह यजमान अग्निभार से पीड़ित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस समय वाग्व्यापार होता है उस समय प्राण को उसमें आहुति हो जाती है। एवं जब प्राणव्यापार होता है तो उसमें वाक् की आहुति होती है। अग्नि को आत्मसात् करने के लिए एवं इसे आहवनीय में रखने के लिए प्राणव्यापार की आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में यदि कुछ उच्चारण किया जायेगा तो प्राण के वाक् में आहुत होने से प्राणव्यापार में शैथिल्य आएगा। प्राण-शैथिल्य आते ही अग्नि का सम्यक्तया आधान नहीं हो सकेगा। इसीलिए प्राणव्यापार की प्रधानता के लिए तूष्णीम् ही अग्नि का स्पर्श किया जाता है।

इस विषय में एक तीसरा मत और भी है—

'आसुरि', 'पाञ्चि' एवं 'माधुकि' महर्षियों ने 'भुवः' और 'स्वः' के उच्चारण के साथ ही अग्नि का आधान किया था। इनके मतानुसार 'भूः' का उच्चारण कर 'भुवः' और 'स्वः' दोनों शब्दों के उच्चारण के साथ ही आहवनीय में अग्नि का रखना सिद्ध होता है।

'स्वः' इस उच्चारण के साथ रखने वाले का अभिप्राय यह है कि यज्ञ (अग्न्याधान) से त्रिलोकी की अग्नि का ग्रहण करना है। अतः 'स्वः' शब्द के उच्चारण के साथ आधान करना चाहिए, यह प्रथम मत है।

'भुवः' इस उच्चारण के साथ आधान करने वाले का अभिप्राय यह है कि अन्तरिक्ष को पकड़े बिना द्युलोक में नहीं पहुँच सकते। अतः अन्तरिक्षवाचक 'भुवः' शब्द के उच्चारण के साथ अग्नि का आधान करना चाहिए। क्योंकि अन्तरिक्ष में पहुँचने पर द्युलोक का अग्नि स्वयं सम्बद्ध हो जाता है, यह द्वितीय मत है।

'भुवः' और 'स्वः' इन दोनों का उच्चारण करते हुए अग्नि का आधान करने वाले 'आसुरि', 'पाञ्चि' एवं 'माधुकि' महर्षियों का अभिप्राय यह है कि अन्तरिक्षमात्र के ग्रहण से द्युलोक का अग्नि गृहीत नहीं होता। अतः उसके ग्रहण के लिए 'स्वः' का भी उच्चारण करना चाहिए, यह तृतीय मत है।

भगवान् याज्ञवल्क्य इन तीनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ये तीनों मत अवैज्ञानिक हैं। हमारे विचार से तो 'भूः भुवः स्वः' इनका उच्चारण करते हुए 'भूः' इस प्रथमाक्षर के उच्चारण के साथ ही अग्न्याधान कर देना चाहिए। क्योंकि पृथिवी पर अग्नि का आधान करना है, अतः पृथिवी-वाचक 'भूः' शब्द के उच्चारण के साथ ही आधान करना उचित है। सर्वप्रथम इस पृथिवी में अग्नि को प्रतिष्ठित करना है, अतः उसी के वाचक 'भूः' शब्द का उच्चारण करते हुए आधान करना चाहिए।

अन्त में भगवान् याज्ञवल्क्य यथेच्छाचार बतलाते हुए कहते हैं कि इन पूर्वोक्त चारों मतों में जैसी जिसकी इच्छा हो उसी के अनुसार आधान करे ॥२७॥

इसके पश्चात् आहवनीय से पूर्व भाग की ओर से परिक्रमा कर आहवनीयस्थित अङ्गारे के पास बैठ कर निम्नलिखित मन्त्र से यजमान जप करता है—

'द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा'

हे पृथिवि ! हे देवयजनि ! आप भूमा से तो द्युलोक के तुल्य हो और वरिमा (विपुलता) से पृथिवी हो।

त्रिलोकीविभाग आठ प्रकार का माना जाता है। इनमें एक स्तौम्य त्रिलोकी भी

विभाग है। प्रत्येक पिण्ड में स्तोम विभाग से पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः इनकी जो कल्पना की जाती है वही स्तौम्य त्रिलोकी कहलाती है। प्रत्येक पिण्ड में आत्मा, शरीर, महिमा ये तीन विभाग होते हैं। आत्मा केन्द्र में रहता है। शरीर पिण्ड को कहते हैं तथा ३३वें अहर्गण तक इस पिण्ड का अपना स्वरूप पहुँचता है वही महिमा कहलाती है। द्युलोक जैसे बहुत दूर फैला हुआ है उसी प्रकार यह पृथिवी भी अपनी महिमा की दृष्टि से बहुत दूर फैलने के कारण द्युस्वरूप है। एवं स्वरूप से यह पृथिवी है। इसी अभिप्राय से 'द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा' कहा गया है।

भगवान् याज्ञवल्क्य इस कथन का तात्पर्य बतलाते हैं कि 'जिस प्रकार यह द्युलोक नक्षत्रमण्डलों के कारण बहुत अधिक भूमायुक्त है उसी प्रकार मैं भी भूमायुक्त बनूं' यह 'द्यौरिव भूम्ना' इस कथन का तात्पर्य है। तथा जिस प्रकार यह पृथिवी अतिशयेन उर्वी—(विपुला) है उसी प्रकार मैं भी विपुल बनूं' यह 'पृथिवीव वरिम्णा' इस कथन का अभिप्राय है। यजमान 'महिम्ना' शब्द से अपनी शरीरमहिमा माँगता है। एवं 'वरिम्णा' से प्रजा पशुवर्गादि परिकर मांगता है। 'तस्यास्ते पृथिवि ! देवयजनि ! पृष्ठे आधत्ते अग्निमन्नाद-मन्नादचायादधे' अर्थात् इस अग्नि का आधान इस पृथिवी के पृष्ठ पर ही होता है यही बात 'पृष्ठे आधत्ते' इससे बतलाई गई है। तथा 'मेरा अग्नि खूब अन्नाद बने' इस अभिप्राय से 'अन्नादमन्नाद्यायादधे' यह कहा गया है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पूर्वोक्त मन्त्र केवल आशीर्मात्र है। इसका कर्म में कोई समावेश नहीं है। अतः जिसको भूमा आदि की कामना हो, वही इसका जप करे। जिसको भूमा आदि की कामना न हो वह इसका जप न करे ॥२८॥

अग्न्युपस्थान-कर्म—

इसके पश्चात् 'सर्पराज्ञ्या' अर्थात् सर्पराज्ञी-सम्बन्धिनी तीन ऋचाओं से अग्नि का उपस्थान करता है। वे मन्त्र निम्नलिखित हैं—

'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥

'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥

त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते। प्रतिवस्तोरह द्युभिः ॥३॥

'मातरं, पुरः, असदन्, स्वः पितरं च प्रयन्—अयं पृश्नि, गौः, आ अक्रमत्'। प्रातःकाल ही पृथिवी की ओर खड़े एवं पिता (द्युलोक) की ओर जाते हुए चित्र-विचित्र रंग वाले इस सूर्य ने सारे विश्व पर आक्रमण कर लिया। तात्पर्य यह है कि प्रातःकाल सूर्य माता पृथिवी की गोद में अर्थात् पूर्व क्षितिज पर दिखलाई पड़ता है एवं साथ ही में पिता द्यौः की तरफ भी जाता रहता है। यह सूर्य उदित होते ही सारे अन्धकार को नष्ट कर उस पर अपना प्रभाव जमा लेता है ॥१॥

'अस्य, रोचना, प्राणदपानती, अन्तश्चरति । एतादृशः महिषः दिवं व्यख्यत्' अर्थात् इस सूर्य की किरणें तमाम प्राणियों के अन्तःकरण में प्राणन-अपानन क्रिया से व्यापार करती रहती हैं । अर्थात् प्रणिमात्र के आत्मा इसी सूर्य पर अवलम्बित हैं । जैसा कि—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस श्रुति में कहा है । बड़ी महिमा वाला जो यह सूर्य है वह उगते ही सारे द्युमण्डल में व्याप्त हो गया है ॥२॥

३० घड़ी तक विराजमान रहता है । भगवती श्रुति 'कौन ३० घड़ी तक रहता है ?' यह प्रश्न उपस्थित कर उत्तर देती है—'वाक् पतङ्गाय धीयते' । तीस घड़ी रहता है–यह बात वाक्पतङ्ग के लिए (सूर्य के लिए) कही गई है । फिर श्रुति पूर्वपक्ष करती है कि यह कैसे मालुम हुआ कि—यह ३० घड़ी तक रहता है ? इसका फिर स्वयं ही उत्तर देती है—अहः के प्रकाश से अनुमान होता है कि यह सूर्य प्रतिदिन (प्रतिवस्तोः) ३० घड़ी तक रहता है ॥३॥

इस यजमान के यज्ञ में सम्भारों से, नक्षत्रों से, ऋतुओं से, किंवा आधान से जो कुछ अवशेष रह गया है—अर्थात् पूर्वोक्त कर्मों में जो कुछ त्रुटि रह गई है, वह इस तृच से पूरी हो जाती है । क्योंकि प्रजापति ऊनातिरिक्त दोष को पूरा कर देता है । जैसा कि श्रुति कहती है—'प्रजापतिरूनातिरिक्तयोः प्रतिष्ठाः' इति इसीलिए इस सर्पराज्ञी तृच से अग्नि का उपस्थान किया जाता है ॥२९॥

कई आचार्यों का मत है कि सर्पराज्ञी तृच के उपस्थान करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह पृथिवी ही सर्पराज्ञी है । अतः जो इस पृथिवी पर आधान करता है वह सारी कामनाओं को प्राप्त कर लेता है । अतः सर्पराज्ञी तृच से उपस्थान करने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥३०॥

सर्पणे राज्ञी (चलने में बहादुर) इस व्युत्पत्ति से श्रुति स्पष्ट ही पृथिवी का चलना बतला रही है । अतः पृथिवी को स्थिर मानने वालों को अपना भ्रम दूर कर देना चाहिए ॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

प्रथमाध्यायः समाप्तः ।

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

पूर्णाहुतिहोमब्राह्मणम् ।

उद्धृत्याहवनीयं पूर्णाहुतिं जुहोति। तद्यत्पूर्णाहुतिं जुहोत्यन्नादं वाऽएतमात्मनो जनयते यदग्निं तस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति, यथा कुमाराय वा जाताय वत्साय वा स्तनमपिदध्यादेवमस्माऽएतदन्नाद्यमपिदधाति ॥१॥

स एतेनान्नेन शान्तः उत्तराणि हवींषि श्रप्यमाणान्युपरमति शश्वद्ध वाऽअध्वर्युं वा यजमानं वा प्रदहेत्तौ ह्यस्य नेदिष्ठं चरतो यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्तस्माद्वाऽएतामाहुतिं जुहोति ॥२॥

तां वै पूर्णां जुहोति। सर्वं वै पूर्णं सर्वेणैवैनमेतच्छमयति। स्वाहाकारेण जुहोत्यनिरुक्तो वै स्वाहाकारः। सर्वं वाऽअनिरुक्तं सर्वेणैवैनमेतच्छमयति ॥३॥

यां वै प्रजापतिः प्रथमामाहुतिमजुहोत्स्वाहेति वै तामजुहोत्सो स्विदेषा निदानेन तस्मात्स्वाहेति जुहोति। तस्यां वरं ददाति। सर्वं वै वरः, सर्वेणैवैनमेतच्छमयति ॥४॥

तदाहुः। एतामेवाहुतिं हुत्वाथोत्तराणि हवींषि नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभिकाममुत्तराणि हवींषि निर्वपतीति ॥५॥

स वाऽअग्नये पवमानाय निर्व्वपति। प्राणो वै पवमानः। प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधात्यन्नं हि प्राणोऽन्नमेषाहुतिः ॥६॥

अथाग्नये पावकाय निर्वपति। अन्नं वै पावकमन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधात्येषा ह्येव प्रत्यक्षमन्नमाहुतिः ॥७॥

अथाग्नये शुचये निर्वपति। वीर्य्यं वै शुचि यद्वाऽस्यैतदुज्ज्वलत्येतदस्य वीर्य्यं शुचि वीर्य्यमेवास्मिन्नेतद्दधाति तद्वेतयैवास्मिंस्तद्दधाति। यदा ह्येवास्मिन्नेतामाहुतिं जुहोत्यथास्यैतद्वीर्य्यं शुच्युज्ज्वलति ॥८॥

तस्मादाहुः । एतामेवाहुतिं हुत्वाथोत्तराणि हवींषि नाद्रियेतैतयैव तं काममाप्नोति यमभिकाममुत्तराणि हवींषि निर्वपतीति तदु निर्वपेदेवोत्तराणि हवींषि, परोऽक्षमिव वाऽएतद्यददस्तदिदमितीव ॥९॥

स यदग्नये पवमानाय निर्व्वपति । प्राणो वै पावमानो यदा वै जायतेऽथ प्राणोऽथ यावन्न जायते मातुर्वैव तावत्प्राणमनुप्राणिति यथा वा तज्जातऽएवास्मिन्नेतत्प्राणं दधाति ॥१०॥

अथ यदग्नये पावकाय निर्व्वपति । अन्नं वै पावकं तज्जातऽएवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥११॥

अथ यदग्नये शुचये निर्व्वपति । वीर्य्यं वै शुचि यदा वाऽअन्नेन वर्द्धतेऽथ वीर्य्यं तदन्नेनैवैनमेतद्वर्द्धयित्वाथास्मिन्नेतद्वीर्य्यं शुचि दधाति तस्मादग्नये शुचये ॥१२॥

तद्धैतदेव सद्विपर्यस्तमिव । अग्निर्ह यत्र देवेभ्यो मनुष्यानभ्युपावर्ततेतद्धेक्षाञ्चक्रे मैव सर्व्वेणैवात्मना मनुष्यानभ्युपावृतमिति ॥१३॥

स एतास्तिस्रस्तनूरेषु लोकेषु विन्यधत्त । यदस्य पवमानं रूपमासीत् तदस्यां पृथिव्यां न्यधत्त । अथ यत्पावकम्, तदन्तरिक्षे । अथ यच्छुचि, तद्दिवि। तद्वा ऋषयः प्रतिबुबुधिरे; य उ तर्ह्यृषय आसुः । असर्वेणैव च आत्मनाग्निरभ्युपावृतदिति । तस्मा एतानि हवींषि निरवपन् ॥१४॥

स यदग्नये पवमानाय निर्वपति—यदेवास्यास्यां पृथिव्यां रूपम्, तदेवास्यैतेनाप्नोति । अथ यदग्नये पावकाय निर्वपति, यदेवास्यान्तरिक्षे रूपम्, तदेवास्यैतेनाप्नोति । अथ यदग्नये शुचये निर्वपति यदेवास्य दिवि रूपम्, तदेवास्यैतेनाप्नोति । एवमु कृत्स्नमेवाग्निमनपनिहितमाधत्ते । तस्मादु निर्वपेदेवोत्तराणि हवींषि ॥१५॥

केवलबर्हिः प्रथमं हविर्भवति । समानबर्हिषी उत्तरे । अयं वै लोकः प्रथमं

हविः, अथेदमन्तरिक्षं द्वितीयम्, द्यौरेव तृतीयम्। बहुलेव वा इयं पृथिवी, लेलयेवान्तरिक्षम्, लेलयेवासौ द्यौः, उभे चिदेनां प्रत्युद्यामिनी स्तामिति। तस्मात्समानबर्हिषी ॥१६॥

अष्टाकपालाः सर्वे पुरोडाशा भवन्ति। अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्ने-श्छन्दः, स्वेनैवैनमेतच्छन्दसाधत्ते। तानि सर्वाणि चतुर्विंशतिः कपालानि सम्पद्यन्ते। चतुर्विंशत्यक्षरा वै गायत्री, गायत्रमग्नेश्छन्दः, स्वेनैवैनमेतच्छन्द-साधत्ते। गायत्र्यो याज्यानुवाक्या भवन्ति। गायत्रमग्नेश्छन्दः, स्वेनैवैनमेत-च्छन्दसाधत्ते ॥१७॥

अथादित्यै चरुं निर्वपति। प्रच्यवत इव वा एषोऽस्माल्लोकाद्—य एतानि हवींषि निर्वपति, इमान् हि लोकान् समारोहन्नेति ॥१८॥

स यददित्यै चरुं निर्वपति, इयं वै पृथिव्यदितिः सेयं प्रतिष्ठा—तदस्यामेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति। तस्माददित्यै चरुं निर्वपति ॥१९॥

तस्यै विराजौ संयाज्ये स्यातामित्याहुः विराड्ढीयमिति। अथो त्रिष्टुभौ। त्रिष्टुब्भीयमिति। अथो जगत्यौ। जगती हीयमिति। विराजाविर्त्वेव स्याताम् ॥२०॥

तस्यै धेनुर्दक्षिणा धेनुरिव वा इयं मनुष्येभ्यः सर्वान् कामान् दुहे। माता धेनुः। मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्ति। तस्माद्धेनुर्दक्षिणा। एतन्न्वेक-मयनम् ॥२१॥

अथेदं द्वितीयम्, आग्नेयमेवाष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति। परोक्षमिव वा एतत्—यदग्नये पवमानाय, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये इतीव। अथाञ्जसैवैनमेतत् प्रत्यक्षमाधत्ते—तस्मादग्नये। अथादित्यै चरुं निर्वपति। स य एव चरोर्बन्धुः स बन्धुः ॥२२॥

इति द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्।

पूर्णाहुतिब्राह्मण

आहवनीय अग्नि का उद्धरण करने के पश्चात् उसको प्रज्वलित कर उसमें पूर्णाहुति का हवन करता है। मंथनक्रिया द्वारा यजमान ने अग्नि को उत्पन्न किया है, वह अन्नाद है। पूर्णाहुति का हवन उस अन्नाद अग्नि के लिए अन्नाद्य (अन्न) प्रदान करना है। जैसे उत्पन्न कुमार या पशु आदि के वत्स को उत्पन्न होते ही स्तन्य (दूध) पिलाया जाता है उसी प्रकार इस मन्थनक्रिया द्वारा उत्पन्न अग्नि के लिए पूर्णाहुति द्वारा अन्नाद्य दिया जाता है ॥१॥

पूर्णाहुति द्वारा प्रदत्त अन्न से यह अन्नाद अग्नि शान्त हो जाता है और आहवनीय-स्थान में देवताओं के लिए पकाए जाने वाले हवि के भक्षण की इच्छा से वह विरत हो जाता है। यदि पूर्णाहुति प्रदान द्वारा इसे शान्त नहीं किया जाता तो वह उत्पन्न अन्नाद अग्नि केवल इसके पश्चात् इन्द्रादि देवताओं को दी जाने वाली हवि का ही भक्षण नहीं कर जाता अपितु अध्वर्यु व यजमान को भी यह अग्नि जला डालता क्योंकि वे ही इस क्रिया में उसके सर्वाधिक सन्निकट हैं। इस लिए भी यह पूर्णाहुति दी जाती है ॥२॥

(अध्वर्यु) उस आहुति को पूर्ण करके ही हवन करता है। अर्थात् जुहू को पूर्णतया कर कर पूर्णाहुति देनी चाहिए। क्योंकि सर्व को ही पूर्ण कहा जाता है। अतः पूर्ण जुहूपात्र से हवन करना सर्वात्मना इस अग्नि को शान्त करता है। स्वाहाकार से आहुति का हवन करता है। अर्थात् किसी देवताविशेष का नाम न लेकर स्वाहा शब्द के उच्चारण द्वारा पूर्णाहुति का हवन करता है। स्वाहा शब्द सभी देवताओं के लिए सामान्य होने से अनिरुक्त है। स्वाहा शब्द से आहुति देना अनिरुक्त रूप से आहुति देना है। अनिरुक्त रूप ते आहुति देना सर्वरूप से आहुति देना है। क्योंकि अनिरुक्त प्रजापति में सभी देवताओं का संनिवेश है। अतः अनिरुक्त स्वाहा शब्द से आहुति देना सर्वात्मना अग्नि को शान्त करना है ॥३॥

प्रजापति ने यज्ञ में जिस आहुति का हवन किया था उसका 'स्वाहा' इसी शब्द से किया था। अर्थात् प्रजापति ने अपनी वाक् में अहुति देने के लिए उस वाक् द्वारा 'मयि जुहुधि' ऐसा कहलवाया था। अतः 'स्वाहा' शब्द स्वाआत्मीया वाक् आह 'मयि जुहुधि' इत्याह इस व्युत्पत्ति से स्वाहा कहलाता है। अतः

निदानविधया पूर्णाहुति भी प्रजापति यज्ञ ही है। अतः इसकी भी आहुति 'स्वाहा' शब्द से देनी चाहिए। इस पूर्णाहुति में जो श्रेष्ठ वस्तु होती है, उसे ही प्रदान किया जाता है। श्रेष्ठ वस्तु बिल्वफल या सर्वश्रेष्ठ श्रीफल है। श्री सब का सार भाग है अतः श्रीफल सर्वश्रेष्ठ है। श्रीफल को आहुति देना सबके श्रीभाग का अर्थात् सब की आहुति प्रदान करना है। उससे सर्वात्मना अग्नि को तृप्त करना है। सर्वात्मना अग्नि को तृप्त करने के लिए सर्वरूप श्रेष्ठ (श्रीफल) का प्रदान किया जाता है और उससे इस अग्नि को शान्त किया जाता है ॥४।

कतिपय याज्ञिकों का मत है कि पूर्णाहुति करने के बाद उत्तरवर्ती तीन आहुतियाँ नहीं करनी चाहिएँ। क्योंकि उत्तरवर्ती तीन आहुतियों से जिस कामना की पूर्ति होती है, उस कामना की प्राप्ति इस पूर्णाहुति के हवन से ही हो जाती है ॥५॥

पूर्णाहुति के बाद की जाने वाली उत्तरवर्ती तीन आहुतियों का प्रतिपादन किया जा रहा है। 'रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवान्या च' इस श्रुति के अनुसार अग्नि के शिव तथा घोर ये दो भेद हैं। इनमें शिवाग्नि ११ प्रकार की है—हविर्याग तथा सोमयागभेद से विभिन्न दो गार्हपत्याग्नियाँ, ८ प्रकार की धिष्ण्याग्नि और १ प्रकार का आहवनीय। ये ही ११ रुद्र कहलाते हैं क्योंकि अग्नि ही रुद्र है। घोराग्नि पवमान पावक, शुचिभेद से तीन प्रकार की है। पवमान पार्थिवाग्नि, पावक, आन्तरिक्ष्याग्नि तथा शुचि दिव्याग्नि है। अग्नि की 'सर्वात्मकता' के लिए इन तीनों अग्नियों की आहुति दी जाती है।

सर्वप्रथम यजमान पवमान अग्नि के लिए हवि का निर्वाप करता है। पवमानाग्नि प्राणस्वरूप है। पवमानाग्नि के लिए आहुति देना मन्थनक्रिया द्वारा उत्पादित अग्नि में प्राणाधान करता है। इस आहुति के द्वारा प्राण का ही इस मन्थनोत्पन्न अग्नि में आधान करता है। प्राण अन्नस्वरूप है, क्योंकि अन्न खाने से ही प्राणव्यापार होता है। अतः यह प्राणरूप पवमानाहुति एक प्रकार से अन्नाहुति है ॥६॥

तत्पश्चात् आन्तरिक्ष्य पावक अग्नि के लिए निर्वाप करता है। पावक अन्न-

रूप है। पावक के लिए आहुति देना उत्पन्न अग्नि के लिए अन्नाधान करना है। इस आहुति के द्वारा उत्पन्न अग्नि में अन्नाधान यजमान करता है। पवमानाहुति परोक्षरूप से अन्नाहुति थी क्योंकि पवमान प्राणरूप था और प्राण अन्न-जनित होने से अन्नरूप था। इस प्रकार पवमानाहुति परम्परया अन्नाहुति है किन्तु पावकाहुति साक्षात् अन्नाहुति है क्योंकि पावक साक्षात् अन्नरूप है ॥७॥

तदनन्तर दिव्य शुचि अग्नि के लिए हवि का निर्वाप करता है। यह शुचि अग्नि वीर्यरूप है। इस अग्नि की जो प्रज्वलित ज्वाला निकलती है, यही इसका वीर्य है। अग्नि में शुचि के लिए आहुति देने से ही इस अग्नि में वीर्य का ही आधान करता है। इस आहुति से ही यजमान अग्नि में वीर्याधान ही करता है। जब यजमान इस अग्नि में इस आहुति का आधान करता है, इस अग्नि का शुचिवीर्य प्रज्वलित हो जाता है ॥८॥

कतिपय याज्ञिकों का कथन है कि पूर्णाहुति का हवन करने के बाद उत्तर-वर्ती पवमान, पावक व शुचि अग्नि के लिए की जाने वाली आहुतियाँ नहीं देनी चाहिएँ। क्योंकि जिस कामना से उत्तरवर्त्ती हवियों का निर्वाप किया जाता है, उस कामना की पूर्ति पूर्णाहुति से हो जाती है।

भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि उरवर्त्ती हवियों का अवश्य ही निर्वाप करे, क्योंकि पूर्णाहुति जो अग्नि के लिए दी गई है वह परोक्ष है क्योंकि वह अग्नियों का नाम निर्देश करके नहीं दी गई है। और उत्तरवर्ती आहुतियों में 'पवमानायाग्नये निर्वपति' इत्यादि प्रकार से नाम निर्देश करके आहुति दी गई है। अतः वह प्रत्यक्ष की तरह है। अतः परोक्षरूप से हवि देने से अग्नि की अशनाया शान्त नहीं होती जो कि प्रत्यक्षरूप से देने में होती है। अतः उत्तर-वर्ती आहुतियों का निर्वाप अवश्य करना चाहिए ॥९॥

सर्वप्रथम अध्वर्यु पवमान के लिए निर्वाप करता है, क्योंकि 'पुनाति' इस व्युत्पत्ति से पवमान प्राणरूप है। जब बच्चा उत्पन्न होता है, तभी उसमें स्वतन्त्र प्राण प्रवेश करता है। उत्पत्ति से पूर्व वह माता के प्राण से ही जीता है। उसी प्रकार मन्थनक्रिया द्वारा उत्पन्न अग्नि में पवमान के लिए हवि-निर्वाप द्वारा अध्वर्यु प्राण का आधान कर रहा है ॥१०॥

पश्चात् पावक अग्नि के लिए जो हवि का निर्वाप है, वह मन्थन द्वारा उत्पन्न अग्नि में अन्न का आधान करना है, क्योंकि पावक अन्नरूप है ॥११॥

तदनन्तर शुचि अग्नि में जो हवि का निर्वाप है वह उस उत्पन्न अग्नि में वीर्य का आधान करना है। क्योंकि शुचि अग्नि वीर्यस्वरूप है। जब बालक अन्न से बढ़ने लगता है तब उसमें वीर्य का आधान किया जाता है। अतः यहाँ भी उत्पन्न अग्नि को पावकरूप अन्न के द्वारा बढ़ा कर उसमें शुचिरूप वीर्य का आधान किया जाता है ॥१२॥

पवमानादि इष्टियों के करने का केवल उपर्युक्त ही कारण नहीं है, अपितु आधीयमान अग्नि की कृत्स्नताप्राप्ति भी है। उसी कारण को 'अग्निर्ह' इत्यादि के द्वारा आख्यान से स्पष्ट कर रहे हैं—

अग्नि जब देवताओं की ओर से मनुष्यों की ओर आया, तब उसने विचार किया कि मैं सर्वात्मना मनुष्यों की ओर ही न जाऊँ। अतः उसने इन तीन शरीरों को (भागों को) पृथिव्यादि तीन लोकों में स्थापित किया ॥१३॥

अपने पवमानस्वरूप को उसने पृथिवीलोक में स्थापित किया, पावकरूप को अन्तरिक्ष में तथा शुचिरूप को द्युलोक में। इस प्रकार अग्नि चार भागों में विभक्त होगया। उसका एक रूप मनुष्यों में और तीन रूप तीन लोकों में। शिवाग्नि मनुष्यों में तथा पवमान, पावक व शुचि ये तीन घोराग्नि तीनों लोकों में स्थापित की गईं। ऋषि इस बात को समझते थे कि अग्नि असर्वरूप से ही मनुष्यों में आया है सर्वात्मना नहीं। क्योंकि उसके तीन रूप मनुष्यों में न आकर (मानव-निर्माण हेतु काम में न आकर) तीनों लोकों में हैं। अतः पवमानादि हवियों का निर्वाप किया जाता है ॥१४॥

यजमान पवमान अग्नि के लिए जिस हवि का निर्वाप करता है, उससे पृथिवी में जो अग्नि का रूप है उसकी प्राप्ति करता है। पावक अग्नि के लिए जो हवि का निर्वाप करता है उससे अन्तरिक्षलोक में जो अग्नि का रूप है उसको प्राप्त करता है। और शुचि अग्नि के लिए जो हवि का निर्वाप करता है, उससे द्युलोक में जो इस अग्नि का रूप है, उसे प्राप्त करता है। इस प्रकार

अग्नि के सम्पूर्ण रूप को प्राप्त कर लेता है। अतः कृत्स्न अग्नि-स्वरूप के प्राप्त्यर्थ पूर्णाहुति के उत्तरवर्ती हवियों का अवश्य निर्वाप करे ।१५।।

पहिली हवि केवलबर्हि होती है। और उत्तर हवियाँ समानबर्हि होती हैं। अर्थात् पवमान के लिए स्वतन्त्र हवि दी जाती है। तथा पावक व शुचि के लिए एक हवि दी जाती है। क्योंकि प्रथम हवि पृथिवी स्थापनापन्न है। दूसरी हवि अन्तरिक्षस्थानापन्न तथा तृतीय हवि द्युस्थानापन्न है। यह पृथिवी स्थूल सी है तथा अन्तरिक्ष लोक व द्युलोक परस्पर संक्रान्त से हैं। अर्थात् पृथिवीलोक स्वतन्त्र दिखाई देता है तथा अन्तरिक्ष व 'द्यौः' मिले हुए से प्रतीत होते हैं। ये दोनों ही पृथिवी का सामना सा करते हैं, अतः इनको समानबर्हि हवि दी जाती है ।।१६।।

पवमान, पावक व शुचि तीनों अग्नियों में प्रत्येक को अष्टाकपाल पुरोडाश दिया जाता है। गायत्री आठ अक्षरों वाली है। अर्थात् अष्टत्वसम्पत्ति से युक्त है। गायत्री ही अग्नि का छन्द है। अतः आठ कपालों से आधान करना अग्नि का अपने छन्द से आधान करना है। और तीनों को मिला कर २४ कपाल हो जाते हैं। २४ अक्षर ही गायत्री छन्द के होते हैं। गायत्री ही अग्नि का छन्द है। अतः २४ कपालों से आधान करना अग्नि का अपने छन्द से आधान करना है। इस याग में याज्या तथा अनुवाक्या सभी गायत्री छन्द से ही होती हैं। गायत्री अग्नि का छन्द है। अतः गायत्री छन्द से याज्या व अनुवाक्या करना अग्नि का अपने छन्द से आधान करना है ।।१७।।

पवमानादि तीनों अग्नियों के लिए पृथक् पृथक् अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करने के पश्चात् अदिति के लिए चरु (पक्व चावल) का निर्वाप करता है। जो यजमान पूर्वोक्त तीनों हवियों का निर्वाप करता है वह इस लोक से च्युत सा हो जाता है क्योंकि वह पृथिव्यादि लोकों में आरूढ हुआ ऊपर की ओर जाता है ।।१८।।

वह अदिति के लिए जो चरु का निर्वाप करता है वह इस पृथिवीरूप प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित होता है, क्योंकि यह पृथिवी अदितिरूप है। यही प्रतिष्ठा है। इसलिए अदिति के लिए चरुनिर्वाप किया जाता है ।।१९।।

इस अदिति के लिए याज्या और अनुवाक्या विराट् छन्दों से की जाती है क्योंकि यह पृथिवी विराट्रूपा है। कितनों का ही कहना है कि इसमें याज्या और अनुवाक्या त्रिष्टुप् छन्द से करनी चाहिएँ। क्योंकि यह पृथिवी त्रिष्टुप्रूप है। और कुछ कहते हैं कि याज्या और अनुवाक्या जगती छन्द से करनी चाहिएँ, क्योंकि यह पृथिवी जगतीरूपा है। क्योंकि स्तोम्या त्रिलोकी में त्रिष्टुप् व जगती भी पृथिवी में ही आ जाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि याज्या व अनुवाक्या विराट् छन्द से ही करनी चाहिएँ। क्योंकि हमें पृथिवी-पृष्ठ पर आधान करना है और वहाँ की पृथिवी विराट्रूपा ही है ॥२०॥

चरु-निर्वापानन्तर इस अदिति के लिए गौ की दक्षिणा देनी चाहिए। क्योंकि यह पृथिवी धेनुरूपा है। क्योंकि यह धेनु की तरह प्राणियों के सब कामों का दोहन करती है। धेनु माता-रूपा है और यह पृथिवी भी माता की तरह मनुष्यों का भरण-पोषण करती है। इसलिए दक्षिणा-रूप में धेनु देनी चाहिए। यह एक मत है ॥२१॥

दूसरा मत यह है कि पूर्णाहुति के बाद 'अग्नये पवमानाय', 'अग्नये पावकाय', 'अग्नये शुचये' इस प्रकार से तीनों अग्नियों में हवि का निर्वाप करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जैसे पूर्णाहुति में दी हुई हवि अनिरुक्त स्वाहा शब्द से होने के कारण परोक्ष है। उसी प्रकार पवमानादि विशेषणों से युक्त अग्नि को हवि देने पर भी इस अग्नि को परोक्षरूप से ही हवि प्राप्त होगी, प्रत्यक्ष रूप से नहीं। अतः पवमानादि विशेषण-रहित अग्नि को अष्टाकपाल पुरोडाशरूप हवि देनी चाहिए। ऐसा करने से अग्नि का प्रत्यक्ष रूप से आधान होगा। अतः 'अग्नये निर्वपति' ऐसा कहकर प्रत्यक्ष अग्नि को हवि का निर्वाप करना चाहिए, तदनन्तर अदिति को चरु का निर्वाप करना चाहिए। इस ब्राह्मण में चरु का तात्पर्य वही है जो पहिले में था।

अथ पूर्णाहुतिप्रकरणम्

भाष्य—इस प्रकार 'द्यौरिवभूम्ना' इत्यादि मन्त्र से आहवनीय अग्नि का उपस्थान कर तत्पश्चात् उसका उद्धरण कर अर्थात् उसके चौतरफ की राख आदि हटाकर उसे प्रज्वलित कर पूर्णाहुति का हवन करते हैं। जब कोई कर्म समाप्त हो जाता है तब उसके अन्त में

पूर्णाहुति की जाती है। चूंकि अग्न्याधान कर्म समाप्त हो गया है अतएव पूर्णाहुति हवन किया जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य पूर्णाहुति-हवन का कारण बतलाते हैं :–

प्रथम कारण—

जो यजमान इस अग्नि को मन्थन-क्रिया द्वारा उत्पन्न करता है वह अन्नाद (भोक्ता) को ही उत्पन्न करता है। संसार में अन्न और अन्नाद ये दो ही पदार्थ हैं। इन्हीं को सोम व अग्नि कहते हैं। हमारे शरीर का जो अग्नि है वह प्रतिक्षण सोम (अन्न) को खाया करता है। इसी सोमान्नभक्षण से शरीर की स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि प्रकृत में उत्पन्न जो अग्नि है वह अन्नाद है अतः इस अन्नाद (अग्नि) के लिए अन्नाद्य (अन्न) स्वरूप की पूर्णाहुति डाली जाती है।

जिस प्रकार उसी समय (सद्यः) उत्पन्न होने वाले कुमार को एवं पशुओं के वत्सों को स्तन का दूध पिलाया जाता है उसी प्रकार नवजातकुमारसदृश इस नवोत्पन्न अग्नि के लिए पूर्णाहुति दी जाती है। आहित अग्नि के लिए पूर्णाहुति डालने का यही कारण है ॥१॥

द्वितीय कारण—

वह अन्नाद अग्नि पूर्णाहुति द्वारा दिये हुए अन्न से शान्त होने के कारण उत्तरकाल में पकने वाले जो हवि हैं उसकी इच्छा नहीं करता है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण देवों के लिए ही इस आहवनीय में आहुति डाली जाती है। परन्तु यदि अन्य सम्पूर्ण देवों के लिए आहुति दी जायगी और इस होता अग्नि के लिए न दी जायगी तो यह स्वाशनायावशात् उन देवभागों को अपने में ही आहुत कर लेगा। ऐसी स्थिति में यज्ञ नष्ट हो जायगा। किन्तु जब प्रथम अग्नि को पूर्णाहुतिस्वरूप अपना भाग दे दिया जाता है तो फिर वह अपनी ज्वाला में परिपक्व होने वाले अन्य देवों की हवि की अभिलाषा छोड़ देता है। यह पूर्णाहुति देने का द्वितीय कारण है।

तृतीय कारण—

अपिच यदि प्रथम पूर्णाहुति का हवन न किया जायगा तो अध्वर्यु और यजमान को यह अग्नि जला देगा। क्योंकि अध्वर्यु और यजमान ही तो इस यज्ञाग्नि के अत्यन्त समीप रहने वाले हैं। ऊपर बतलाया गया है कि यह अग्नि, जिसका कि आधान किया जाता है १७वें स्थान तक वितत रहता है। इस अग्नि को अपनी आत्मा से बद्ध करना ही (दिव्याग्नि को आत्मसात् करना ही) अग्न्याधान है। जब आधान द्वारा दिव्य अन्नादाग्नि यजमान की शरीराग्नि से बद्ध हो जाता है तो उस समय उस उत्पन्न अग्नि के लिए अन्नाहुतिप्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि अन्न न मिलने से यह अग्नि यजमानात्मा से बद्ध होने के कारण उसे जला डालेगा।

हम प्रतिदिन अपनी शरीराग्नि में अन्नरूप सोम की आहुति दिया करते हैं। इसीलिए यह शरीराग्नि शान्त रहता है। यदि पाँच सात दिन अन्न न दिया जाय तो वह अग्नि शरीरस्थ अस्थिमांसादि को जलाने लगेगा। अतः जैसे इसके लिए प्रतिदिन अन्न की आहुति दी जाती है उसी तरह प्रकृत में दिव्याग्नि के लिए यह पूर्णाहुति अत्यन्त आवश्यक है। पूर्णाहुति देने का यह तीसरा कारण है ॥३॥

उस आहुति को पूर्ण करके ही आहुत करता है। अर्थात् जुहू को ऊपर तक भर कर ही पूर्णाहुति हवन करना चाहिए। इसका कारण यह है कि–सर्व को ही पूर्ण कहते हैं। अखिल विश्व के लिए – जैसे सर्व शब्द प्रयुक्त होता है उसी प्रकार वैदिक लोग सर्व की जगह 'पूर्ण' शब्द का भी प्रयोग कर दिया करते हैं।

प्रकृत में जुहू को पूरा भरकर जो आहुति देना है वह सर्वात्मना इस अग्नि को शान्त करना है अर्थात् तृप्त करना है। यदि एकदेश को ही तृप्ति होगी तो अवशिष्ट रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए अग्नि अन्य देवताओं की हवि को अपने में आहुत कर लेगा। अतः जुहू को पूरा भर कर ही आहुति देनी चाहिए।

अग्नि के लिए 'स्वाहा' इस स्वाहाकार से आहुति दी जाती है। किसी भी देवता का नाम न लेकर केवल 'स्वाहा' से जो आहुति दी जाती है वहाँ 'स्वाहा' शब्द अनिरुक्त बन जाता है। एवं अनिरुक्त से सर्वभाव प्रकट होता है। अर्थात् जैसे व्यक्तिविशेष का नाम न लेकर सामान्यतया निमन्त्रण देने पर सब मनुष्यों का ग्रहण होता है, उसी प्रकार किसी देवता का नाम न लेकर 'स्वाहा' इस सामान्यरूप से (अनिरुक्त रूप से) आहुति देना सर्वभाव का प्रवेश करना है। अतः 'स्वाहा' से 'सर्वात्मना' ही इस अग्नि को शान्त करते हैं ॥३॥

अपि च, प्रजापति ने प्रथम अपने यज्ञ में जिस आहुति का हवन किया था उसका 'स्वाहा' शब्द से ही हवन किया था। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम भगवान् प्रजापति ने अपनी आत्मीय वाक् में ही आहुति देने के लिए आत्मीया वाक् द्वारा ही 'मयि जुहुधि' ऐसा कहा था, अतएव उस प्रथमाहुति का नाम 'स्वाहा' हो गया। 'स्वा (आत्मीया वाक्) यतः 'मयि जुहुधि' इत्येवमाह अतएव तस्या आहुतेः स्वाहा इति नाम संजातम्'। प्रकृत में प्रजापतियज्ञवत् निदानेन यह प्रथम पूर्णाहुति है। प्रजापति न्यूनातिरिक्त दोषों को दूर करने वाले हैं। अतः 'स्वाहा' शब्द से आहुति देने पर यज्ञदोष की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि 'स्वाहा' शब्द प्रजापतियज्ञ की आहुति का प्रथम स्वरूप है। अतः अपने यज्ञ को प्रजापतियुक्त बनाने के लिए 'स्वाहा' शब्द से आहुति दी जाती है।

इस पूर्णाहुति में श्रेष्ठ वस्तु का प्रदान किया जाता है। वे श्रेष्ठ वस्तु बिल्व आदि हैं।

अथवा श्रीफल ही देना चाहिए । क्योंकि श्री सब का रसभाग होता है अतः श्रीफल की आहुति देना सब से ही इसको तृप्त करना है । अग्नि को सर्वात्मना तृप्त करने के लिए पूर्णाहुति श्रीफल द्वारा अथवा बिल्वादिफल द्वारा करनी चाहिए ।।४।।

पूर्वपक्ष—

कितने ही याज्ञिकों का मत है कि इस पूर्णाहुति के बाद आगे दी जाने वाली अन्य तीन आहुतियों की आवश्यकता नहीं है । जिस कामना के लिए उत्तर की तीन आहुतियों का निर्वाप किया जाता है वह कामना इस पूर्णाहुति से ही प्राप्त की जा सकती है । अतः उन तीनों आहु तियों की कोई आवश्यकता नहीं है ।।५।।

उत्तराहुति-निरूपण—

अग्नि ही रुद्र नाम से व्यवहृत होती है । इस रुद्राग्नि के शिव और घोर ये दो भेद हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते द्वेतन्वौ घोराऽन्याच शिवाऽन्या च । यह शिव और घोर अग्नि ११-११ प्रकार का है । हमारी जो वस्तिगुहा है वह हविर्यज्ञ में गार्हपत्य है, मस्तक आहवनीय है । किन्तु महायज्ञ में शिर तक का स्थान गार्हपत्य कहलाता है तथा महावेदि के अन्तर्गत उतरा वेदि में जो १७ वाँ स्थान है वह आहवनीय कहलाता है । एवं इस आहवनीय और शिरःस्थानीय गार्हपत्य के मध्य धिष्ण्याग्नि (नक्षत्राग्नि) और है । पूर्वोक्त गार्हपत्याग्नि हविर्याग और सोमयाग भेद से दो प्रकार की है । इस प्रकार २ गार्हपत्याग्नि १ आहवनीयाग्नि एवं ८ धिष्ण्याग्नि कुल ११ अग्नि हो जाते हैं । जो हविर्याग का गार्हपत्य है उसे 'अज एकपान्' कहते हैं । एवं सोमयाग के गार्हपत्य को 'अहिर्बुध्न्य' कहते हैं । इस प्रकार ये ११ शिवाग्नि हैं । इसी प्रकार पवमान, पावक और शुचि ये तीन घोराग्नि हैं । गार्हपत्यादि भेद से ये भी ११ प्रकार की हैं । पार्थिव अग्नि को 'पवमान' आन्तरिक्ष्य अग्नि को 'पावक' एवं दिव्याग्नि को 'शुचि' कहते हैं । अग्नि की सर्वात्मकता के लिए तीनों स्थानों के तीनों अग्नियों की आहुति दी जाती है ।

सर्वप्रथम यह अध्वर्यु 'पवमान' अग्नि के लिए हवि का निर्वाप करता है । यह पवमान अग्नि प्राणस्वरूप है । अर्थात् जब तक पार्थिवाग्नि का शरीर में प्रपद द्वारा प्रवेश नहीं होता तब तक प्राणव्यापार नहीं होता । मन्थनक्रिया के द्वारा जो उत्पन्न अग्नि है उसमें पवमान के लिए आहुति देते हुए प्राणाधान ही करते हैं । इस आहुति से ही उस प्राण को इसमें स्थापित करते हैं । यह जो प्राण है वह अन्नस्वरूप है अर्थात् अन्न खाने से प्राणव्यापार होता है अतः प्राण अन्नस्वरूप है । अतः यह जो पवमानाहुति है उसे एक प्रकार की अन्नाहुति ही समझना चाहिए ।।६।।

इसके बाद पावक अग्नि के लिए हवि का निर्वाप करते हैं। जिस प्रकार पवमान प्राणस्वरूप है उसी प्रकार पावक अन्नस्वरूप है अतः पावक के लिए आहुति देता हुआ यजमान उस उत्पन्न अग्नि के लिए साक्षात् अन्न ही प्रदान करता है। इस आहुति से इस अन्न का ही उस अग्नि में यह यजमान आधान करता है। पूर्व की जो आहुति थी वह परोक्ष आहुति थी और यह आहुति प्रत्यक्ष अन्नाहुति है। अर्थात् वह प्राण के नाम से परम्परासम्बन्ध से अन्नाहुति थी एवं यह साक्षात् अन्न के नाम से ही अन्नाहुति है ।।७।।

इसके अनन्तर शुचि अग्नि के लिए हवि का निर्वाप करते हैं। यह शुचि अग्नि वीर्य-स्वरूप है। इस अग्नि से जो प्रज्वलित ज्वाला निकलती है यही इसका वीर्य है। इस तीसरी आहुति से इसमें वीर्याधान ही किया जाता है। इस आहुति से ही यजमान अग्नि में वीर्याधान करता है। जब इस अग्नि में इस तीसरी आहुति का हवन करता है उसी समय इस अग्नि का वीर्य प्रज्वलित हो जाता है। अर्थात् आहुति डालते ही अग्नि अत्यन्त प्रज्वलित हो जाता है ।।८।।

ये ही तीन आहुतियाँ पूर्णाहुति के अनन्तर और दी जाती हैं। इन्हीं के विषय में कितने ही याज्ञिकों का कथन है कि पूर्णाहुति के हवन के बाद इन आहुतियों की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जिस कामना से ये आहुतियाँ दी जाती हैं वह कामना पूर्णाहुति से ही सिद्ध हो जाती है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि पूर्णाहुति के अनन्तर अवश्य ही इन तीनों अग्नियों के लिए तीन निर्वाप करने चाहिएँ। क्योंकि अग्नि के लिए पूर्व में जो पूर्णाहुति दी गई है वह सर्वथा परोक्ष है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को परोक्षरूप से 'हम तुम को बहुत कुछ देंगे कह दिया जाता है तो उस परोक्ष कथन से उसकी अशनाया शान्त नहीं होती जब तक कि हम तुम्हें यह देंगे यह निश्चित नहीं कहा जाता। उसी प्रकार उन्मुग्ध रूप से पूर्णाहुति देने मात्र से उस अग्नि की अशनाया शान्त नहीं होती। अतः इस अग्नि की अशनाया शान्त करने के लिए प्रत्यक्ष रूप से इन तीनों आहुतियों का निर्वाप किया जाता है। पूर्व में दी हुई पूर्णाहुति परोक्ष-रूपा है जब कि ये तीनों आहुतियों 'इतीव' रूप से प्रत्यक्षरूपा हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—परोक्षमिव वा एतद्यददः। तदिदमितीव ।।इति

सर्वप्रथम अध्वर्यु 'पवमान' अग्नि के लिए निर्वाप करता है। इसका कारण यह है कि 'पूयते' इस व्युत्पत्ति से पवमान प्राणस्वरूप है। जिस समय शिशु माता के गर्भ से बाहर निकलता है तभी वह प्रातिस्विक प्राणयुक्त बनता है। परन्तु जब तक बच्चा पैदा नहीं होता है अर्थात् जब तक नालच्छेद नहीं होता तब तक वह बच्चा माता के प्राण से जीवित रहता है। परन्तु नालच्छेद होते ही उसमें स्वतन्त्र प्रातिस्विक प्राण का प्रवेश हो जाता

है। इस उत्पत्तिक्रिया में जैसे नालच्छेदानन्तर समन्तात् व्यापक प्राण बच्चे में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार सद्यः मन्थन क्रिया द्वारा उत्पन्न अग्नि में इस पवमान आहुति से प्राण की ही स्थापना की जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे प्राकृत यज्ञ में उत्पन्न वस्तु में प्राणस्थापना होती है तथैव प्रकृत अग्नि में प्राणस्थापन के लिए पवमान के लिए आहुति दी जाती है ॥१०॥

इसके बाद पावक अग्नि में आहुति का कारण बतलाते हैं—

यह पावकाहुति अन्नस्वरूप है। जिस प्रकार उत्पन्न होते ही बच्चे के लिए अन्न दिया जाता है तद्वत् इस अग्नि के उत्पन्न होते ही पावकाहुतिस्वरूप अन्न दिया जाता है ॥११॥

इसके पश्चात् 'शुचि' अग्नि में आहुति का कारण बतलाया जाता है। वीर्य को ही 'शुचि' कहते हैं। जिस समय बच्चा अन्न से बढ़ने लगता है उस समय क्रमशः उसमें वीर्याधान होने लगता है। इसी प्राकृतिकनियमानुसार पावकान्न ने उस अग्नि को बढ़ा कर इसमें शुच्याहुतिरूप वीर्य आधान किया जाता है।

उत्पत्तिकाल में तीन ही व्यापार होते हैं—प्राणाधान, अन्नाधान व वीर्याधान। प्राणाहुति जीवनार्थ होती है। अन्नाहुति पुष्ट्यर्थ होती है। एवं वीर्याहुति ओज के लिए होती है। जीवन, पोषण, ओज इन तीनों के लिए ही तीन आहुतियाँ दी जाती हैं ॥१२॥

जिस समय अग्नि देवताओं की ओर से मनुष्यों की ओर लौटा उस समय उसने विचार किया कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए जिससे कि मैं सर्वात्मना मनुष्यों की ओर ही न आ जाऊँ। मेरा कुछ भाग ही मनुष्यों मे आना चाहिए, बाकी शेष देवताओं में ही रहना चाहिए ॥१३॥

यह विचार कर उस अग्नि ने अपने तीन शरीर बनाकर इन तीनों लोकों में रख दिए और एक भाग मनुष्यों में रख दिया। इस अग्नि का जो पवमान रूप था उसको इस पृथिवी में रख दिया, पावक को अन्तरिक्ष में तथा शुचि को दिव्य लोक में। तात्पर्य यह है कि अग्नि का कुछ भाग तो मनुष्यसृष्टि में काम आता है, कुछ पृथिवी में रहता है, कुछ अन्तरिक्ष में तथा कुछ द्युलोक में। इस प्रकार एक ही अग्नि स्थानभेद के कारण चार भागों में विभक्त होकर भिन्न-भिन्न स्वरूपों को धारण कर लेता है। इसी बात को आख्यानरूप में बतलाया गया है।

उस युग के जो ऋषि अर्थात् वैज्ञानिक थे उन वैज्ञानिक महर्षियों ने इस बात को समझ रखा था कि यह अग्नि सर्वात्मना हमारी तरफ नहीं लौटा है अर्थात् अग्नि का कुछ भाग ही मनुष्यसृष्टि में आया है। इसके अतिरिक्त और भी अग्नि है। उन्हीं महर्षियों ने इस अग्नि की सर्वात्मकता के लिए मनुष्य यज्ञ में इन तीन हवियों का निर्वाप और किया।

हमारे शरीर में जो अग्नि प्रविष्ट होता है वह शिव अग्नि कहलाता है। जिस प्रकार बाहर का पावक-अग्नि शरीर को जला देता है वैसे सदा शरीर में रहता हुआ भी यह शिवाग्नि हमारे शरीर को नहीं जलाता, इसके शिवत्व में यही प्रमाण है ॥१४॥

इस प्रकार यजमान पवमान अग्नि के लिए जो निर्वाप करता है उससे इस पृथिवी में इस अग्नि का जो रूप है उसे प्राप्त कर लेता है एवं पावक अग्नि के लिए जो निर्वाप करता है उससे इस अग्नि का जो अन्तरिक्षस्थ स्वरूप है उसे प्राप्त कर लेता है। तथा शुचि अग्नि के लिए जो निर्वाप किया जाता है उससे इस अग्नि के द्युलोकस्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार सम्पूर्ण अग्नि को प्रत्यक्षरूप से आहित कर लेते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्नि की सर्वात्मकता के लिए अवश्यमेव इन उत्तरहवियों का निर्वाप करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि किसी कामना के लिए इन उत्तरहवियों का निर्वाप नहीं किया जाता अपितु अग्नि की कृत्स्नता के लिए ही इनका निर्वाप किया जाता है। पूर्णाहुति शरीराग्नि के लिए हैं एवं बाद की तीन हवियाँ तीनों लोकों की अग्नियों के लिए हैं ॥१५॥

पहली जो हवि है वह केवलबर्हि की होती है और उत्तर की दो हवियाँ समानबर्हि-युक्त होती हैं। अर्थात् पवमान के लिए स्वतन्त्र हवि दी जाती है तथा पावक और शुचि दोनों को मिलाकर एक आहुति दी जाती है। पहिला हवि पृथिवीलोकस्थानापन्न है, द्वितीय अन्तरिक्षस्थानापन्न तथा तृतीय द्युस्थानापन्न है। यह पृथिवी स्थूल सी है एवं अन्तरिक्ष और द्यौः संक्रान्त (मिले हुए) से हैं। तात्पर्य यह है कि पृथिवीलोक पृथक् दिखलाई पड़ता है, परन्तु अन्तरिक्ष व द्युलोक में विभाग नहीं किया जा सकता कि यहाँ तक अन्तरिक्ष है, यहाँ तक द्यौः। ये दोनों परस्पर मिश्रित से हैं। इस प्रकार अन्तरिक्ष और द्युलोक ही दोनों ही इसका मुकाबिला करने वाले बने, इसलिए इनके लिए समानबर्हि करते हैं ॥१६॥

पवमान पावक और शुचि इन्हीं तीनों अग्नियों के लिए ही अष्टाकपाल पुरोडाश दिया जाता है। क्योंकि गायत्री आठ अक्षर की है एवं गायत्र अग्नि का छन्द है अतः आठकपाल से आधान करता हुआ यजमान अग्नि के अपने छन्द से ही प्राणाधानादि करता है। अपि च, तीनों अग्नियों के कपालों को मिलाकर २४ कपाल हो जाते हैं। गायत्री भी तीनों चरणों को मिलाकर कुछ २४ अक्षरों की होती है। एवं गायत्र अग्नि का छन्द है इस प्रकार अग्नि के अपने छन्द से ही आधान हो जाता है। यज्ञ की यही समृद्धि है जो कि स्वानुरूप कार्य हो। आठ अक्षर एवं २४ अक्षर का गायत्री छन्द है और यह गायत्री अग्नि का छन्द है अतः इसकी मात्रा से हवि देने से अग्नि का स्वरूप सम्यक्तया गृहीत हो जाता है ॥१७॥

इस प्रकार पवमान, पावक व शुचि अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाशों का निर्वाप कर अदिति के लिए चरु (पके हुए चाँवल) का निर्वाप करते हैं। जो मनुष्य पूर्वोक्त तीनों हवियों का निर्वाप करता है वह इस पृथिवीलोक से च्युत सा हो जाता है। उसकी प्रतिष्ठा इस लोक से उखड़ सी जाती है। क्योंकि वह क्रमशः इन लोकों में आरूढ़ होता हुआ ऊपर की ओर जाता रहता है। पवमानाग्नि से पृथिवीलोक से ऊपर पावक से अन्तरिक्ष में एवं शुचि से द्युलोक में जाता है। अर्थात् आहुतियों के साथ मनःसंलग्नता के कारण यजमान की प्रतिष्ठा एक प्रकार से पृथिवी से उखड़ जाती है ॥१८॥

परन्तु जो अग्नि के लिए चरु का निर्वाप करता है उस यजमान को प्रतिष्ठा पृथिवीलोक से उखड़ने नहीं पाती। क्योंकि यह पृथिवी अदितिस्वरूप है और अदिति प्रतिष्ठास्वरूप है। चरुनिर्वाप से यजमानात्मा पुनः पृथिवी की इस प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। यही चरुनिर्वाप की उपपत्ति है।

इस अदिति के लिए याज्या और अनुवाक्या दोनों विराट् छन्द की होनी चाहिएँ, ऐसा कितने ही याज्ञिकों का मत है। उनका कथन है कि यह पृथिवी भी विराट्स्वरूप ही है। कितनों का मत है कि याज्या और अनुवाक्या त्रिष्टुप् छन्द वाली होनी चाहिएँ क्योंकि यह पृथिवी भी तो त्रिष्टुप् ही है। एवं कितनों का यह मत है कि दोनों जगती छन्द वाली ही होनी चाहिएँ क्योंकि यह पृथिवी भी जगती ही है।

स्तौम्यत्रिलोकी के हिसाब से पृथिवी में ही तीनों छन्दों की व्यवस्था है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—हमें पृथिवीपृष्ठ पर ही आधान करना है अतः याज्या व अनुवाक्या दोनों ही विराट् छन्द से करनी चाहिएँ ॥२०॥

इस चरुनिर्वाप के अनन्तर इस अदिति के लिए गौ की दक्षिणा देनी चाहिए। यह पृथिवी गौ माता के लिए सारी कामनाओं का दोहन करती है। धेनु माता है। जिस प्रकार माता धेनु जगत् का पालन करती है उसी प्रकार यह पृथिवी भी सारी कामनाओं को पूरा करती है। अतः स्वानुरूप धेनु की ही दक्षिणा देना उचित है। इस प्रकार अदिति के लिए चरु का निर्वाप करना यह पहिला मत है ॥२१॥

दूसरा मत यह है कि तीनों के बाद आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप और करना चाहिए। 'अग्नये पवमानाय, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये' इस रूप से जो हवि का आधान करता है वह परोक्षस्वरूप ही हो जाता है। परन्तु, एक 'अग्नये' कह करके चौथा निर्वाप और कर दिया जाता है, तो ऐसा करता हुआ यह यजमान इस अग्नि का प्रत्यक्ष रूप से आधान कर देता है। तात्पर्य यह है कि 'अग्नये' कह कर चौथा आधान

नहीं किया जाएगा तो पवमानादि तीनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा। अतः इन तीनों को एक कड़ी में मिलाने के लिए 'अग्नये' कह कर चौथा आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश और करना चाहिए। इसके अनन्तर अदिति के लिए चरुनिर्वाप करना चाहिए। पूर्वोक्त चरु का जो तात्पर्य है वही इस चरु का समझना चाहिए ॥२२॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम्।

घ्नन्ति वा एतद्‌यज्ञं यदेनं तन्वते। यन्न्वेव राजानमभिषुण्वन्ति, तत्तं घ्नन्ति। यत् पशुं संज्ञपयन्ति, विशासति, तत्तं घ्नन्ति। उलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञं घ्नन्ति ॥१॥

स एष यज्ञो हतो न ददक्षे। तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयन्। तद् यदेनं दक्षिणाभिरदक्षयन्, तस्माद्दक्षिणा नाम। तद्‌यदेवात्र यज्ञस्य हतस्य व्यथते तदेवास्यैतद्दक्षिणाभिर्दक्षयति, अथ समृद्ध एव यज्ञो भवति। तस्माद्दक्षिणा ददाति ॥२॥

ता वै षड् दद्यात्। षड् वा ऋतवः संवत्सरस्य, सम्वत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। स यावानेव यज्ञः, यावत्यस्य मात्रा, तावतीभिर्दक्षयति ॥३॥

द्वादश दद्यात्। द्वादश वै मासाः सम्वत्सरस्य। सम्वत्सरो यज्ञः प्रजापतिः। स यावानेव यज्ञः यावत्यस्य मात्रा, तावतीभिर्दक्षयति ॥४॥

चतुर्विंशतिं दद्यात्। चतुर्विंशतिर्वै सम्वत्सरस्यार्द्धमासाः। सम्वत्सरो यज्ञः, प्रजापतिः। स यावानेव यज्ञः यावत्यस्य मात्रा, तावतीभिर्दक्षयति। एषा मात्रा दक्षिणानाम्। दद्यात् त्वेव यथाश्रद्धम्। भूयसीस्तत्—यद् दक्षिणा ददाति ॥५॥

द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः, ते मनुष्यदेवाः। तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञः। आहुतयः एव देवानाम्, दक्षिणा मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानाम् शुश्रुवुषामनूचानानाम्। आहुतिभिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषोऽनूचानान्। त एनमुभये देवाः प्रीताः सुधायां दधति ॥६॥

तद्यथा—योनौ रेतो दध्यात्, एवमेवैतद्दत्विजो यजमानं लोके दधति। तद् यदेभ्य एतददाति। ये मेदं सम्प्रापिपन्, इति नु दक्षिणानाम् ॥७॥

फलवादब्राह्मणम्

देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। त उभय एवानात्मान आसुः मर्त्या आसुः, अनात्मा हि मर्त्यः। तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत आस। तं ह स्मोभयेऽमृतमुपजीवन्ति। स यं ह स्मैषां घ्नन्ति, तद्ध स्म वै स भवति ॥८॥

ततो देवास्तनीयांस इव परिशिशिषिरे। तेऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः—उतासुरान् सपत्नान् मर्त्यानभिभवेम इति। त एतदमृतमग्न्याधेयं ददृशुः ॥९॥

ते होचुः—हन्तेदममृतमन्तरात्मन्नादधामहै, त इदममृतमन्तरात्मन्नाधाय, अमृता भूत्वा, अस्तर्या भूत्वा; स्तर्यान् सपत्नान् मर्त्यान् अभिभविष्याम इति ॥१०॥

ते होचुः—उभयेषु वै नोऽयमग्निः, प्र तु एवासुरेभ्यो ब्रवामेति ॥११॥

ते होचुः—आ वै वयमग्नी धास्यामहे, अथ यूयं किं करिष्यथेति ॥१२॥

ते होचुः—अथैनं वयं न्येव धास्यामहे 'अत्र तृणानि दह' 'अत्र दारूणि दह' अत्रोदनं पच' 'अत्र मांसं पच' इति। स यं तमसुरा न्यदधत, तेनानेन मनुष्या भुञ्जते ॥१३॥

अथैनं देवा अन्तरात्मन्नादधत। त इमममृतमन्तरात्मन्नाधाय, अमृता भूत्वा, अस्तर्या भूत्वा, स्तर्यान् सपत्नान्मर्त्यानभ्यभवन्। तथो एवैष एतदमृतमन्तरात्मन्नाधत्ते। नामृतत्वस्याशास्ति, सर्वमायुरेति; अस्तर्यो हैव भवति। न हैनं सपत्नस्तुस्तूर्षमाणश्चन स्तृणुते। तस्माद् यदाहिताग्निश्चानाहिताग्निश्च स्पर्द्धेते, आहिताग्निरेवाभिभवति। अस्तर्यो हि खलु स तर्हि भवत्यमृतः ॥१४॥

तद् यत्रैनमदो मन्थति तज्जातमभिप्राणिति। प्राणो वा अग्निः, जात-

मेवैनमेतत्सन्तं जनयति। स पुनरपानिति। तदेनमन्तरात्मन्नाधत्ते। सोऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१५॥

तमुद्दीप्य समिन्धे। इह यक्ष्ये, इह सुकृतं करिष्यामि, इत्येवैनमेतत्समिन्धे। योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१६॥

अन्तरेणागाद् व्यवृतदिति। न ह वा अस्यैतं कश्चनान्तरेणैति, यावज्जीवति; योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति। तस्मादु तं नाद्रियेत, यदनुगच्छेत्। न ह वा अस्यैषोऽनुगच्छति, यावज्जीवति, योऽस्यैषोऽन्तरात्मन्नग्निराहितो भवति ॥१७॥

ते वा एते प्राणा एव, यदग्नयः। प्राणोदानावेव, आहवनीयश्च गार्हपत्यश्च। व्यानोऽन्वाहार्यपचनः ॥१८॥

आहिताग्नेर्व्रतब्राह्मणम्

व्रतविधि

तस्य वा एतस्याग्न्याधेयस्य सत्यमेवोपचारः। स यः सत्यं वदति, यथा-अग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स उद्दीपयति। तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति, यथा अग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्, एवं हैनं स जासयति। तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति। तस्माद् सत्यमेव वदेत् ॥१९॥

तदु हाप्यरुणमौपवेशिं ज्ञातय ऊचुः—स्थविरो वा असि, अग्नी आधत्स्वेति। स होवाच—ते मैतद् ब्रूथ, वाचंयम एवैधि। न वा आहिताग्निनानृतं वदितव्यम्। न वदन् जातु नानृतं वदेत्। तावत् सत्यमेवोपचार इति ॥२०॥

इत्यग्न्याधानविधिः सम्पूर्णः।

दक्षिणाब्राह्मणम्

अनुवाद—

यजमान-ऋत्विगादि इस यज्ञ की हिंसा करते हैं। क्योंकि दिव्याग्नि को आत्मसात् कर १७वें स्थान तक उसे वितत करना ही यज्ञ है। वितत करना हिंसा होती है जैसे त्वचा को फैलाने में। तथा इसमें सोम का अभिषव करते हैं। इसमें सोमलता को काटकर उसकी १०।। अंगुल के टुकड़े बनाकर पूलियां बनाई जाती हैं। इनको कूटकर इनका रस निकाला जाता है फिर उसकी आहुति दी जाती है। यह भी हिंसा है। इस प्रकार कितने ही यागों में याज्ञिक पशु को मारते हैं, उसकी त्वचा को खींचते हैं तथा चीरते हैं। हविर्यज्ञ में यवसमष्टि या तण्डुल-समष्टि को पहिले ऊखल में मूसल आदि से कूट कर उसका फलीकरण (वितुषी-करण) किया जाता है। पश्चात् शिल-लोढी से पीसा जाता है। इस प्रकार यज्ञ की ऋत्विक् लोग हिंसा करते हैं ॥१॥

इस प्रकार यज्ञ मारा गया और शक्तिरहित हो गया। उस हतवीर्य यज्ञ को भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने दक्षिणा द्वारा शक्तिशाली बनाया। क्योंकि देवताओं ने दक्षिणाओं द्वारा यज्ञ को शक्तिशाली बनाया। दक्षिणा में देय द्रव्य यज्ञ में दक्ष (शक्ति) उत्पन्न करता है इस व्युत्पत्ति से दक्षिणा कहलाया। इसी विज्ञान के आधार पर आज भी यजमान उपर्युक्त हिंसाओं से यज्ञ में जो क्षोभ या कमी उत्पन्न होती है, उसकी पूर्त्ति दक्षिणाओं के द्वारा करता है। इस प्रकार क्षोभ के कारण व्यृद्ध यज्ञ को यजमान दक्षिणाओं द्वारा समृद्ध बनाता है। इसीलिए वह ऋत्विजों तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा देता है ॥२॥

दक्षिणा संख्या में ६ देनी चाहिए, क्योंकि जिस अग्नि का आधान किया है वह संवत्सर में व्याप्त है। संवत्सर में ६ ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर ही यज्ञ प्रजापति है। जितने इस यज्ञ प्रजापति के अवयव हैं, उतनी ही मात्रा में दक्षिणा देने से सर्वात्मना यज्ञ दीक्षित हो जाता है। अतः इसकी कृत्स्नता के लिए दक्षिणा संख्या में ६ देनी चाहिएँ ॥३॥

अथवा १२ दक्षिणायें देनी चाहिएँ क्योंकि जिस संवत्सर में यह अग्नि व्याप्त है उसके मास-भेद से १२ अवयव हैं। संवत्सर ही यज्ञ प्रजापति है।

जितना स्वरूप यज्ञ प्रजापति का हैं; जितने संवत्सररूप यज्ञ प्रजापति के अवयव हैं, उतनी ही मात्रा में दक्षिणा देने से वह कृत्स्न प्रजापति को समृद्ध करता है ।।४।।

अथवा दक्षिणा संख्या में २४ देनी चाहिये । क्योंकि संवत्सर प्रजापति के अर्धमास (पक्ष) भेद से २४ अवयव हैं । संवत्सर ही यज्ञ प्रजापति हैं । जितना स्वरूप यज्ञ प्रजापति का है, संवत्सर प्रजापति के जितने अवयव हैं, उतनी मात्रा में दक्षिणा देने से कृत्स्न प्रजापति समृद्ध होता है । दक्षिणाओं का यही परिणाम है । अर्थात् कम से कम ६ तथा अधिक से अधिक २४ । उपर्युक्त संख्या में दक्षिणा न मिलने पर श्रद्धानुसार कुछ हो दक्षिणा दे दे । यदि कम भी दक्षिणा देता है तो भी बहुत कुछ दे देता है । किन्तु दक्षिणा देनी अवश्य चाहिये अन्यथा बिना दक्षिणा का यज्ञ नष्ट हो जाता है ।।५।।

देवता दो प्रकार के हैं—प्राणदेवता तथा मनुष्यदेवता । प्राणदेवता देव हैं तथा बहुश्रुत तथा वेदपारंगत जो ब्राह्मण हैं वे मनुष्यदेव कहलाते हैं । यज्ञ उन दोनों देवों में विभक्त है । अर्थात् यज्ञ में देय सामग्री देवताभेद से दो भागों में विभक्त है । पुरोडाशादि आहुतियाँ प्राणदेवताओं को दी जाती हैं और दक्षिणा मनुष्यदेवों को । आहुतियों के द्वारा अग्न्यादि प्राणदेवताओं को तृप्त करते हैं और दक्षिणा द्वारा वेदतत्त्वपारंगत, बहुश्रुत मनुष्यदेवों को । इस प्रकार प्राणदेवता तथा मनुष्यदेवता तृप्त होकर इस यजमान को अमृतलोक में स्थापित कर देते हैं ।।६।।

जैसे योनि में रेत (वीर्य) का आधान किया जाता है उसी प्रकार ऋत्विक् यजमान को दिव्यलोक में स्थापित करते हैं । मुझे ऋत्विजों नें स्वर्ग लोक में पहुंचाया इसीलिये यजमान ऋत्विजों को दक्षिणा देता है ।।७।।

फलश्रुतिप्रकरण

एक समय प्रजापति के पुत्र देवों व असुरों में परस्पर स्पर्धा चली । वे दोनों ही अनात्मा थे, मर्त्य थे । अनात्मा का अर्थ मर्त्य (मरणधर्मा) है । इसीलिये कहा है 'अनात्मा हि मर्त्यः' । उनमें केवल अग्नि ही अमृत (अमरणधर्मा) था । अर्थात् पृथ्वीकेन्द्र से निकलने वाले अग्नि प्रजापति से देवों व असुरों की स्थिति

थी। देवों व असुरों में से किन्हीं ने भी अपने में अमृताग्नि का आधान नहीं किया था। इनमें जो जिसको मार देता था वह मर ही जाता था ।।८।।

तब देवता बहुत कम रह गए, क्योंकि वे निर्बल थे और असुर उन्हें मार देते थे। तब देवता अर्चन (मानसव्यापार) एवं श्रम (वाग्व्यापार) करते हुए इधर-उधर विचरने लगे अर्थात् मन व शरीर से असुरों के पराभव का उपाय तलाश करने लगे कि हम इन मर्त्य असुरों का अभिनव कर दें। इन्हें परास्त कर दें। तब उन्होंने असुरपराभवकारी अग्न्याधान को तलाश किया ।।९।।

देवताओं ने कहा हम इस अमृताग्नि का अपनी अन्तरात्मा में आधान करें। हम इस अमृताग्नि का अपनी अन्तरात्मा में आधान कर अमर बन कर शत्रुओं द्वारा अनाक्रमणीय बनकर आक्रमणीय व मरणधर्मा शत्रु असुरों का अभिभव कर देंगे ।।१०।।

देवताओं ने विचार किया कि यह अमृताग्नि हम दोनों (देवासुरों) में ही है। अतः असुरों से भी इस विषय में परामर्श करें ।।११।।

देवताओं ने कहा हम इस अमृताग्नि का आधान करेंगे। तुम क्या करोगे?

असुरों ने कहा हम इस अग्नि का निधान ही करेंगे। अर्थात् इस अमृताग्नि को आत्मसात् नहीं करेंगे अपितु इससे अन्य कार्य लेंगे कि यहाँ तृणों को जलाओ, यहाँ लकड़ियों को जलाओ, यहाँ चावल पकाओ, यहाँ मांस पकाओ। असुरों ने जिस अग्नि का उपर्युक्त रीति से निधान किया था उस लौकिक अवैध अग्नि से मनुष्य भोजन आदि पकाते हैं। तात्पर्य यह है कि साधारण बुद्धि के व्यक्ति आज भी अग्नि से यही कार्य लेते हैं। वे उसकी लौकिक शक्ति को ही जानते हैं, दिव्य शक्ति को नहीं ।।१३।।

तब देवताओं ने उस अग्नि के दिव्य स्वरूप को पहिचान कर उसका अपने में आधान किया। उन्होंने उसका अपने में आधान कर अमरणधर्मा बन कर अनाक्रमणीय बन कर, आक्रमणीय मर्त्य असुरों को परास्त किया। उसी प्रकार

जो यजमान इस अमृताग्नि का अपने में आधान करता है, उससे अमृतत्व की तो आशा नहीं, परन्तु वह पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। शत्रुओं से अनाक्रमणीय बन जाता है। अपि च आक्रमण करने की इच्छा वाला शत्रु भी उसका अनिष्ट नहीं कर सकता। इसलिए जब आहिताग्नि व अनाहिताग्नि पुरुष में स्पर्धा होती है, तब आहिताग्नि ही अनाहिताग्नि का अभिभव करता है। वह अधृष्य होता है वह अमृत (अमरणधर्मा) हो जाता है ॥१४॥

जिस समय ऋत्विक् अग्नि का मन्थन करते हैं वे उस अग्नि में प्राणाधान ही करते हैं। अग्नि प्राणरूप है। क्योंकि जब तक प्राणी में ताप है, तभी तक प्राणसत्ता है। ताप शान्त होते ही प्राणसत्ता भी समाप्त हो जाती है। अतः अग्नि प्राणस्वरूप है। ऋत्विक् लोग अरणि में उत्पन्न हुए अर्थात् अरणि में पूर्वस्थित अग्नि को ही मन्थनक्रिया द्वारा उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार अग्नि मन्थनक्रिया द्वारा प्राणरूप में परिणत होता है। पश्चात् उसी उत्पन्न अग्नि का अपानन भी होने लगता है। अर्थात् वह ज्वाला के द्वारा नष्ट होता रहता है। इस ज्वाला निकलते हुए अग्नि का आधान करने से वह अग्नि यजमान के अन्तरात्मा में आहित हो जाती है ॥१५॥

उस अग्नि को उद्दीप्त कर समिधा घृत आदि से उसका समिन्धन करते हैं। अग्न्याधान-कर्म समाप्त हो जाने के पश्चात् भी समिन्धन की आवश्यकता बतलाते हुए कहते हैं कि मैं इसमें यजन करूंगा एवं दर्शपूर्णमासादि यज्ञ करूंगा, इसलिये इसको समिद्ध रखने की आवश्यकता हैं। इस अग्नि के समिद्ध रहने से अन्तरात्मा में अग्नि अर्थात् आत्माग्नि प्रज्वलित रहता है ॥१६॥

ऐसा करने से अग्नि और यजमान के मध्य कोई विच्छेद नहीं हो सकता। उस आहिताग्नि पुरुष के अग्नि के बीच में यावज्जीवन कोई नहीं आ सकता। अर्थात् अग्निप्राबल्य के कारण कोई भी व्यक्ति उस अहिताग्नि पुरुष का यावज्जीवन उस आहित अग्नि से विच्छेद नहीं कर सकता। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि बाह्याग्नि के समिन्धन करने से आत्माग्नि प्रज्वलित रहता है और इस प्रकार अग्नि और आहिताग्नि पुरुष का यावज्जीवन विच्छेद नहीं होता। इस बात की उपेक्षा ही करनी चाहिए। क्योंकि बाह्याग्नि के शान्त होने पर

भी जो एक बार अग्नि अन्तरात्मा में आहित हो चुकी है, आत्मसात् हो चुकी है, उस अग्नि का यावज्जीवन शमन नहीं होता ।।१७।।

ये गार्हपत्यादि तीनों अग्नियाँ ही मानवशरीर में आकर प्राण, उदान, व्यान बनती हैं। इनमें प्राण आहवनीय है, उदान गार्हपत्य है तथा व्यान अन्वाहार्यपचन अर्थात् दक्षिणाग्नि है ।।१८।।

इति फलश्रुतिप्रकरणम्

व्रतविधि

इस अग्न्याधेय का सत्य ही उपचार है। यावज्जीवन आहित अग्नि को पृथक् न होने देने की चिकित्सा सत्यभाषण ही है। जैसे समिद्ध अग्नि को कोई घृत से सींचे और उसे प्रज्वलित करे उसी प्रकार सत्यभाषण करने वाला उस आत्माग्नि को प्रज्वलित करता है। सत्यभाषण से उस अग्नि का तेज उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है और उसकी सम्पत्तिवृद्धि भी होती रहती है। और मिथ्या भाषण इस समिद्ध अग्नि को जल से सींच कर शमन करता है अर्थात् नष्ट करता है। मिथ्या भाषण करने वाले का तेज उत्तरोत्तर क्षीण होता रहता है और वह उत्तरोत्तर पापी बनता रहता है। अतः आहिताग्नि को सत्यभाषण ही करना चाहिए ।।१९।।

इसीलिये उपवेश के पुत्र अरुण को उसके सम्बन्धियों ने कहा कि आप वृद्ध हो गये हो अतः एक बार अग्न्याधान और कर लीजिये जिससे दुर्बलता दूर हो जाय। अरुण ने कहा कि ऐसा मत कहिए। आप तो यही कहिए—तुम मौनी बनो। क्योंकि आहिताग्नि को मिथ्या भाषण नहीं करना चाहिए। और भाषण करता हुआ मनुष्य झूठ न बोले—यह सम्भव नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि आहिताग्नि की चिकित्सा एकमात्र सत्यभाषण है ।।२०।।

इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम्।

दक्षिणाब्राह्मण

दक्षिणाप्रकरण

भाष्य—दिव्याग्नि का आत्माग्नि में सम्बन्ध कर दिव्याग्नि को यज्ञप्रक्रिया द्वारा सत्रहवें अहर्गण तक वितत करना ही यज्ञ है। यज्ञ द्वारा अपनी आत्मा से सम्बद्ध दिव्याग्नि का

सत्रहवें स्थान तक वितानमात्र किया जाता है। जिस समय यजमान का शारीर आत्मा इस लोक से उत्क्रान्त होता है उस समय सत्रहवें स्थान तक वितत दिव्याग्नि के आकर्षण से सीधा स्वर्गलोक में चला जाता है, यही यज्ञ का रहस्य है।

यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं। इन यज्ञों में ऋत्विक्-संख्या का भी भेद है। कहीं चार ऋत्विक् होते हैं, कहीं सात। सोमयाग में सत्रह तक ऋत्विक् होते हैं। ऋत्विजों के अतिरिक्त इधर-उधर का काम करने वाले अनुचर और होते हैं। इस प्रकार कई मनुष्यों के प्राणव्यापार व वाग्व्यापार से यजमान का यह यज्ञ सम्पन्न होता है। जिस समय मनुष्य परिश्रम का काम करता है तो अधिक परिश्रम के कारण उसका आत्मा क्षुब्ध व विह्वल हो जाता है। परिश्रम के पहिले जो आत्मा सर्वथा शान्तिमय था वह परिश्रमानन्तर व्याकुल हो उठता है। विवाहादि सामान्य गृहयज्ञों में भी जब होता आदि का प्राण परिश्रम से क्षुब्ध हो जाता है तो फिर श्रौत यज्ञ वाले ऋत्विजों के प्राण का तो कहना ही क्या ?

प्रकृत में यह बतलाना है कि इस अग्न्याधानकर्म में जो कि पूर्णाहुति द्वारा समाप्त-प्राय हो चला है, चार ऋत्विजों का एवं अन्य अनुचरों का प्राणव्यापार सम्मिलित रहता है। इन सबके प्राणव्यापार से ही अग्न्याधानकर्म सम्पन्न हुआ है। ऊपर बतलाया गया है कि यज्ञ में अधिक परिश्रम करना पड़ता है, अतः इन ऋत्विजों व अनुचरों का आत्मा विक्षुब्ध सा हो उठता है। अग्न्याधानकर्म में ऋत्विक् आदि का मनोव्यापार भी सन्निविष्ट रहता है। इस मनोव्यापार के साथ क्षुब्ध आत्मा की क्षुब्धता उस यज्ञात्मा में भी प्रविष्ट हो जाती है अर्थात् ऋत्विजादि की प्राणव्याकुलता उत्पन्न होने वाले दैवात्मा में भी मन द्वारा प्रविष्ट हो जाती है और इस प्रकार वह दिव्यात्मा भी क्षुब्ध हो उठता है। इस क्षोभ को शान्त करने के लिए ही यज्ञ के परोक्ष रहस्य को जानने वाले महर्षियों ने यज्ञान्त में दक्षिणा का विधान किया है। ऋत्विजों का प्राणव्यापार शान्त हो जाये, इसलिए इनको दक्षिणा दी जाती है। दक्षिणा देते ही उनकी वह अशान्ति दूर हो जाती है जो कि परिश्रम-जन्या थी। इनकी अशान्ति शान्त होते ही उत्पन्न शान्ति द्वारा दिव्याग्नि का क्षोभ भी शान्त हो जाता है। लोक में भी हम प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य से अत्यन्त परिश्रम करवा कर उसको वाञ्छित पुरस्कार दे दिया जाता है तो वह अपने परिश्रमजन्य सारे दुःख को भूल जाता है—एवं उसका आत्मा परितृप्त हो जाता है। अतएव इसी लौकिक दृष्टान्त द्वारा दक्षिणाविधान का कारण समझ लेना चाहिए। यह बतलाया जा चुका है कि ऋत्विजों और अनुचरों के प्राणव्यापार इसमें शामिल रहते हैं। परन्तु इतना और समझ लेना चाहिए कि यज्ञ में आगन्तुक जो ब्राह्मणमण्डली है—उसके प्राण भी शामिल रहते हैं। यदि हम कोई उत्सव देखने जाते हैं और वहाँ पर दस-बीस घण्टे हमको लगते

हैं तो अन्त में हम उत्सव समाप्त होने पर उकता से (खिन्न से) हो जाते हैं। ऐसे समय में उत्सवाधिपति यदि हमें भोजन करवादे अथवा अन्य कुछ द्रव्यप्रदान करदे तो हमारी वह सारी व्याकुलता एवं थकान उतर जाती है, यह लोकसिद्ध विज्ञान है। इसी प्रकार से इस यज्ञोत्सव में जो ब्राह्मण द्रष्टारूप से आते हैं, उनका भी प्राण इस यज्ञ में सम्मिलित होता है, एवं यज्ञान्त में उनका भी आत्मा परिश्रम से व्याकुल हो जाता है। अतः जिस प्रकार से ऋत्विजों एवं अनुचरों की आत्म-विह्वलता यज्ञ में प्रविष्ट हो जाती है, तद्वत् इन आगन्तुक ब्राह्मणों की क्षुब्धता भी दिव्यात्मा में प्रविष्ट हो जाती है। जैसे अनुचरों का क्षोभ शान्त करने के लिए उन्हें वेतन एवं पुरस्कार दिया जाता है तथा जैसे ऋत्विजों के क्षोभ को शान्त करने के लिए हिरण्यादि, उनकी इच्छानुसार, उन्हें दक्षिणारूप में दिये जाते हैं तद्वत् इन आगन्तुक ब्राह्मणों को भी यथाशक्ति दक्षिणा दी जाती है, जिसे कि 'भूयसी दक्षिणा' कहते हैं। चूंकि यह दक्षिणा अज्ञात-दोषनिवृत्ति के लिए दी जाती है अतएव इसमें किसी व्यक्तिविशेष का (इतने ही व्यक्तियों को दो इस प्रकार का) नियम नहीं रखा जाता है। यद्यपि इस आत्म-क्षोभ का विषय परोक्ष है क्योंकि हम इस क्षोभ का प्रत्यक्ष इन्द्रिय द्वारा नहीं कर सकते। तथापि यज्ञविद्या के अनुसन्धान करने वाले व्यक्तियों ने इसका विधान किया है अतः वह अवश्य ही सत्यमूलक होने से हमारे द्वारा मान्य है। यह विधान 'हमारी समझ में नहीं आता', केवल इस मूर्खतापूर्ण उत्तर से हम इसके अनुशासन की अवहेलना नहीं कर सकते।

अतः यज्ञान्त में दक्षिणा अवश्य ही देनी चाहिए। इसी दक्षिणारहस्य को समझने के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य दक्षिणाप्रकरण को प्रारम्भ करते हैं। यह बतलाया जा चुका है कि दिव्याग्नि को आत्मसात् करके सत्रह तक वितत करने का नाम ही यज्ञ है। जो अग्नि समष्टिरूप में था उसको सत्रहवें स्थान तक वितत किया जाता है, अतएव इस अग्नि-स्वरूप यज्ञ को ही वितान यज्ञ कहते हैं। जिस प्रकार से शरीर की त्वचा के उत्पाटन में हिंसा होती है तद्वत् एक समष्टिस्वरूप यज्ञ (अग्नि) को फैलाकर सत्रह तक ले जाना एक प्रकार से उसकी हिंसा करना ही है। समष्टियज्ञ को जब सत्रह तक वितत किया जाता है तो उसका प्राण विशकलित होता है। इस प्राणविशकलन को ही हिंसा कहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य इस यज्ञ का वितान करते हैं वे इस यज्ञ की हिंसा ही करते हैं। अपि च, सोमयाग में सोमवल्ली को काट कर लाया जाता है। उसके प्रादेशमात्र (१०॥ अंगुल) के टुकड़े कर उन टुकड़ों की एक एक पूली बनाली जाती है। सोमयाग में ऐसी ४० पूलियाँ होती हैं। पश्चात् इन पूलियों (अंशों) को कूटकर इनका रस निकाला जाता है। वैदिक-विज्ञानानुसार यावन्मात्र वस्तुजात में आत्मा माना गया है। पाषाण एकात्मक जीव है। वृक्षलतादि

द्व्यात्मक जीव है एवं मनुष्यादि-वैश्वानर, प्राज्ञ, तैजस—इन तीनों को मिला कर त्र्यात्मक जीव हैं। प्रकृत में यह बतलाने का तात्पर्य यही है कि कोई—'सोमलता में, किंवा अग्नि, पुरोडाश में आत्मा तो है ही नहीं, ये तो जड़ पदार्थ हैं उनकी हिंसा ही क्या हो सकती है'—इस भ्रम में न पड़ जाय। वैदिक विज्ञान सबको चेतन स्वीकार करता है। उसमें जड़ शब्द का स्थान नहीं है। प्रकृत में यही बतलाना है कि सोमयज्ञ में याज्ञिक जिस सोम राजा को कूटते हैं वह एक प्रकार से उसकी हिंसा करना ही है। अपि च पशुयाग में याज्ञिक लोक पशु को मारते हैं एवं इसकी त्वचा को खींचते हैं, विदीर्ण करते हैं जो कि प्रत्यक्ष हिंसा है। इसी प्रकार हविर्यज्ञ में यवसमष्टि को उलूखल और मूसल द्वारा कूटते हैं एवं उसका फलीकरण (तुस छाँटना) करते हैं तत्पश्चात् शिला पर लोढ़ी से उसे पीसा जाता है। यह व्यापार करते हुए वे हविर्यज्ञ की हिंसा करते हैं ॥१॥

इस प्रकार जब पूर्वोक्तप्रकारेण यज्ञ की सर्वथा हिंसा की जाती है तो वह शक्ति-रहित हो जाता है। अर्थात् देवात्मा में क्षुब्ध हिंसात्मक प्राण प्रविष्ट होने से उसकी सारी शक्ति नष्ट हो जाती है जिससे वह हतवीर्य्य हो जाता है। सर्वप्रथम दक्षिणाविज्ञान को भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने ही पहिचाना था, क्योंकि वे ही तो यज्ञविद्या के प्रवर्तक थे। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—इल प्रकार यज्ञ को देवताओं ने जब हतवीर्य्य देखा तो उन्होंने दक्षिणा से उसकी वह शक्तिह्रासता दूर कर दी। चूंकि दक्षिणा से उसको पुनः 'दक्ष' (शक्तिशाली) बनाया गया अतएव 'दक्षिणाभिरदक्षयँस्तस्माद्दक्षिणा' इस व्युत्पत्ति से उसका नाम दक्षिणा हो गया। 'इना' रस को कहते हैं। क्योंकि यह द्रव्य दक्षरस को उत्पन्न करता है अतएव इसे 'दक्षिणा' कहते हैं। यज्ञ मे हिंसाप्रयुक्त जो कुछ क्षोभ उत्पन्न होता है जिसे यजमान दक्षिणा द्वारा दक्षित (पूर्ण) कर देता है—इसलिए भी इसे दक्षिणा कहते हैं। वह यज्ञ जो कि क्षोभ के कारण व्यृद्ध हो गया था, उसे यजमान दक्षिणा द्वारा समृद्ध करता है। इस कारण से भी प्रकृत अग्न्याधानकर्म्मान्त में यजमान ब्राह्मणों को 'भूयसी दक्षिणा' देता है ॥२॥

दक्षिणा कितनी देनी चाहिए ? इसका नियमन करते हैं—दक्षिणा संख्या में ६ देनी चाहिएँ, चाहे वह गौ हो, द्रव्य हो अथवा और कुछ हो। प्रकृत में हमने जिस अग्नि का आधान किया वह अग्नि अपने पूरे स्वरूप से संवत्सर में रहता है। इसी अग्नि के तारतम्य से संवत्सर की ६ ऋतुएँ होती हैं। संवत्सर ही यज्ञप्रजापति हैं। इसी संवत्सर से विश्वयज्ञ हो रहा है। अतः जितना बड़ा स्वरूप इस प्राकृतिक यज्ञ का है, एवं जितने भागों में अग्निस्वरूप यज्ञप्रजापति विभक्त हो रहा, उतनी ही मात्रा में इस अग्न्याधान यज्ञ को यजमान दक्षिणा द्वारा दक्षित करता है। तात्पर्य यह है कि चूँकि संवत्सराग्नि ६ भागों में विभक्त रहता है, अतः इसकी कृत्स्नता के लिए दक्षिणा भी ६ की संख्या में ही देनी चाहिए ॥३॥

यह दक्षिणा १२ की संख्या में भी दी जा सकती है। एक संवत्सर के १२ महीने होते हैं अतः जितना बड़ा स्वरूप इस संवत्सररूप यज्ञप्रजापति का है एवं जितने भागों में यह विभक्त है उतनी मात्रा से ही दक्षिणा देकर यजमान को इसे समृद्ध करना चाहिए ।।४।।

यह दक्षिणा २४ की संख्या में भी दी जा सकती है। एक संवत्सर के २४ पक्ष होते हैं, अतः जितना बड़ा स्वरूप इस संवत्सररूप यज्ञप्रजापति का है एवं जितने भागों में यह विभक्त है, उतनी मात्रा में ही दक्षिणा देकर इसे समृद्ध करना चाहिए।

इस प्रकार दक्षिणा कम से कम ६ की संख्या में तथा अधिक से अधिक २४ की संख्या में देनी चाहिए। यदि ६ की संख्या में दक्षिणा न दे सकता हो तो श्रद्धानुसार ही दे, किन्तु देनी अवश्य चाहिए। श्रद्धापूर्वक दी गई उसकी थोड़ी दक्षिणा भी बहुत होती है क्योंकि दक्षिणा के बिलकुल न देने से यज्ञ नष्ट हो जाता है। जैसा कि—'हतोयज्ञस्त्वदक्षिणः, यह कहा जाता है ।।५।।

देवता दो प्रकार के हैं—१ प्राणदेवता जो प्रसिद्ध ही है, तथा २—मनुष्यदेवता किंवा भूदेवता जो कि वेद के तत्व को जानने वाले एवं उसकी व्याख्या करने वाले ब्राह्मण होते हैं। इस प्रकार यज्ञ में ये देवता दो भागों में विभक्त है। यज्ञ में अग्नि में दी गयी पुरोडाशादि की आहुतियाँ प्राणदेवताओं के लिए, एवं यज्ञान्त में दी गई दक्षिणा अथवा कराया गया ब्राह्मणभोजन भूदेव एवं मनुष्यदेवों के लिए समझना चाहिए। जो ब्राह्मण साग्निक होता है उसमें सान्तपन नाम का एक अग्नि और उत्पन्न होता है जो कि अनग्निक ब्राह्मणों में नहीं होता। ऐसे संस्कृत एवं साग्निक ब्राह्मण को ही दक्षिणा दी जाती है। इस प्रकार देवता एवं मनुष्यदेवता (ऋत्विक्) क्रमशः आहुति एवं दक्षिणा से तृप्त एवं प्रसन्न होकर इस यजमान को अमृतलोक (सुधा) में स्थिर (अच्युत) स्थान में पहुँचा देते हैं, अर्थात् इसके शरीर आत्मा का सम्बन्ध सत्रहवें स्थान से करा देते हैं ।।६।।

जिस प्रकार पुत्रोत्पत्ति के लिए योनि में रेत का सेचन किया जाता है उसी प्रकार सप्तदश लोक में स्थापित होने के लिए यजमान द्वारा ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है। तात्पर्य यह है कि वीर्य्याधान करने से जैसे ९ मास बाद पुत्र उत्पन्न हो जाता है तद्वत् बीजस्वरूप दिव्याग्नि की स्थापना से अन्त समय में यजमान के शरीर आत्मा को उस लोक (सत्रहवें स्थान) में पहुँचने वाला दैवात्मा उत्पन्न होता है। 'आज ऋत्विजों ने यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक में उस बीज को बोया है जो यजमान को स्वर्गलोक में पहुँचायेगा। मुझको इन ब्राह्मणों ने स्वर्गस्थान में पहुँचाया है इसी विचार से यजमान उन ब्राह्मणों को दक्षिणा देता है। दक्षिणा देने का यही रहस्य है ।।७।।

इति दक्षिणाप्रकरणम्।

फलश्रुतिप्रकरण

एक समय देवों और असुरों में जो कि दोनों ही भगवान् प्रजापति की सन्तान थीं, परस्पर स्पर्द्धा चली। इस पृथिवीपिण्ड को अग्निमय समझना चाहिए। इसके केन्द्र में से एक अग्नि निकलता है जो कि पृथिवी के ३३ वें स्थान तक जाता है। इसी अग्नि को प्रजापति कहते हैं जो केन्द्र का अग्नि है, वह अनिरुक्त प्रजापति कहलाता है। १७वें स्थान का अग्नि उद्गीथ प्रजापति एवं वषट्कारमण्डलसमष्टियुक्त अग्नि सर्वप्रजापति कहलाता है। पृथिवी का आधा भाग सदा सूर्य की ओर रहता है एवं आधा भाग सूर्य के प्रतिदिक् में। पृथिवी का जितना हिस्सा सूर्याभिमुख रहता है उतना हिस्सा प्रकाशमय रहता है एवं प्रतिदिक् का हिस्सा प्रकाशाभावात् अन्धकारमय रहता है। जो शुक्ल प्राण है उसे देव कहते हैं एवं जो तमोमय प्राण है उसको असुर कहते हैं—यह सामान्य परिभाषा समझनी चाहिए। पृथिवीपिण्डस्थ अग्नि प्रजापति चारों तरफ निकलता है। इस अग्नि प्रजापति के आधार पर शुक्ल प्राण रहते हैं एवं इसी के आधार पर कृष्ण प्राण रहते हैं। इसीलिए देव और असुर को एक प्रजापति की सन्तान बतलाया गया है। पहिले बतलाया जा चुका है कि उन देवों व अशुरों में परस्पर स्पर्द्धा चली। उस समय दोनों ही (देव-असुर) आत्मरहित थे। यहाँ प्रश्न होता है कि बिना आत्मा के तो कोई रह नहीं सकता, फिर 'अनात्मान आसुः' कैसे कहा गया।

इसका उत्तर भगवान् याज्ञवल्क्य देते हैं कि—यहाँ आपेक्षिक पारिभाषिक अनात्मत्व समझना चाहिए। अनात्मा वाले थे—इसका तात्पर्य यही है कि वे मर्त्य थे, मरणधर्मा थे। सबमें मिला करके एकात्मा नहीं था। सारे प्राण विशकलित थे। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि जो अनात्मा वाला होता है, वह सरसों की ढेरी की तरह मर्त्य ही होता है। इन देव और असुर दोनों मर्त्यो में केवल अग्नि ही 'अमृतस्वरूप' था। दोनों ही इसी अग्नि के आधार पर अपना जीवननिर्वाह करते हैं, अर्थात् इसी अग्नि प्रजापति के आधार पर शुक्ल प्राण एवं तमोमय प्राण की स्थिति रहती है। जब तक अमृताग्नि को दोनों में से एक ने भी अपने में आहित नहीं कर लिया था, तब तक देवों और असुरों में से जो जिसको मार देता था वह मर ही जाता था। क्योंकि बिना अमृताग्नि के दोनों ही मर्त्य थे अतः दोनों ही मर जाते थे ॥८॥

परन्तु इतना विशेष था कि देव स्वरूप से ही यद्यपि निर्बल थे, किन्तु बुद्धिमान् थे एवं असुर स्वभाव से ही सबल थे किन्तु निर्बुद्धि थे, अतः वे देवों को खूब मारा करते थे। अन्त में मरते-मरते देव बहुत थोड़ी सी संख्या में बाकी बच गये। 'आप्य प्राण' को असुर कहते हैं—क्योंकि इसमें प्रकाश प्रविष्ट नही होने पाता, एवं आग्नेय प्राण को देव कहते हैं। पानी स्वभाव से ही संकोचधर्मा है। जो वस्तु संकुचित होती है, वह धन

होती है तथा ठोस होती है। इसी अभिप्राय से असुरों को (आप्यप्राण को) बलिष्ठ कहा है। परन्तु जहाँ भूतज्योति रहती है, वहीं ज्ञानज्योति रहती है। क्योंकि आप्यप्राण में भूतज्योति नहीं रहती अतएव वहाँ ज्ञानज्योति भी नहीं रहती। इसीलिए असुरों को निर्बुद्धि बतलाया है। आग्नेय प्राण को देवता कहते हैं। अग्नि विशकलनधर्मा है। जो वस्तु विशकलनधर्मा होती है वह ठोस नहीं बनने पाती। इसी अभिप्राय से देवताओं को निर्बल कहा गया है। इसी प्रकार अग्नि, क्योंकि भूतज्योति है तथा भूतज्योति और ज्ञान-ज्योति परस्पर अविनाभूत है, अतः देवताओं को बुद्धिमान् कहा गया है। अस्तु, पहिले बतलाया था कि मरते-मरते देवता बहुत थोड़ी संख्या में रह गए। तब देवताओं ने अपनी कमी को पूरा करने के लिए–'हम अपने शत्रु असुरों को सर्वथा नष्ट कर डालें'—इस अभि-प्राय से मानसव्यापार रूप अर्चन करते हुए एवं श्रम करते हुए विचरना प्रारम्भ किया, अर्थात् तन-मन से असुर पराभव का उपाय ढूँढ़ने लगे। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते देवताओं ने अमृत-स्वरूप इस अग्न्याधेय को देखा।

वेद में जितनी भी कथाएँ होती हैं, वे त्रिपथगा होती हैं–आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। तीनों पर ये कथाएँ सामान्यरूप से लागू होती हैं। आधिदैविक विषय के परोक्ष होने से कहीं-कहीं अवश्य ही इन कथाओं में वैमत्य हो जाता है। देवता व असुर एक ही प्रजापति की सन्तान हैं, जिसमें पार्थिवाग्नि प्रजापतिप्राण है तथा तमोमयप्राण व प्रकाश-मयप्राण देवासुर हैं–यह बतलाया जा चुका है। ठीक इसी को प्रतिकृति पर भुवनत्रिलोकी में मानुष-देवासुरव्यवस्था भी समझनी चाहिए। जिस प्राण की आराधना जो मनुष्य करता है वह उस प्राणसदृश ही हो जाता है। इस विज्ञान को साध्य मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले भगवान् ब्रह्मा ने सर्वप्रथम पहिचाना। उन्होंने भुवनत्रिलोकी की व्यवस्था की जो कि हरिवाहन इन्द्र (महाभारतयुद्ध के पूर्व) के समय तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। अन्त में तारतूर एवं प्रह्लाद ने ७२ लाख फौज लेकर देववीर्य्य (सोमवल्ली तथा सूर्य-सदन) का सर्वथा नाश कर दिया। प्रकृत में यही बतलाना है कि इन भौमस्वर्गवासी देवों व असुरों में स्वाभाविक वैर था। क्योंकि असुर सदा बाह्य शक्ति को श्रेष्ठ मानते थे और देव आत्मशक्ति को। देवता निर्बल किन्तु बुद्धिमान् थे तथा असुर सबल किन्तु निर्बुद्धि थे। ये असुर निर्बल देवताओं को सर्वथा सताया करते थे। परन्तु देवता आत्मबल के कारण उनको प्रायः परास्त करते रहते थे। देवता समय-समय पर आत्मबल-सम्पादन के लिए नये उपायों की भी गवेषणा किया करते थे। वे योग, तप, दान एवं यज्ञ से तथा अन्य प्रकार की विद्याओं से आत्मबल का संचय किया करते थे। इन असुरों के भय से देवों ने यज्ञबल सम्पन्न कर असुरों को परास्त कर दिया, यही यहाँ बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा है–'त एतममृतमग्न्याधेयम् ददृशुः' इति

इस प्रकार देवताओं ने आत्मन्वी बनने के लिए अर्थात् आत्मबल बढ़ाने के लिए अमृताग्निस्वरूप इस अग्न्याधेय को देखा। जिस अग्न्याधान के कारण प्राणदेवता प्राणासुरों को परास्त किया करते हैं उस विज्ञान को इन्होंने प्रकृतयज्ञ में पहिचाना ।।९।।

उस विज्ञान को पहिचान कर वे आपस में विचार-विमर्श करने लगे कि इस अमृत (दिव्याग्नि) को अपनी अन्तरात्मा में आहित अर्थात् आत्मसात् करें। इस प्रकार अमृताग्नि का आधान कर इससे अमृतस्वरूप बन कर और अनाक्रमणीय होकर आक्रमण करने वाले शत्रुओं की पराजय हम आसानी से कर देंगे ।।१०।।

फिर उन्होंने विचारा कि—अन्तरात्मा तथा शरीर दोनों में स्थित अग्नि द्वारा इन असुरों का अवश्य प्रतीकार करेंगे। अर्थात् आत्म-बल और शरीर-बल दोनों से असुरों को अवश्य परास्त कर देंगे। अथवा यह अग्नि हमारी आत्मा और शरीर में एवं गार्हपत्यकुण्ड एवं आहवनीयकुण्ड दोनों में है। इधर से तो हमने अग्नि को आत्मसात् कर आत्मबल बढ़ा लिया है। उधर से भी यज्ञ द्वारा बाहर १७वें स्तोम तक अग्नि का वितान कर दिया है। इस प्रकार दोनों ही स्थानों में स्थित स्वभाव से ही असुरविरोधी इस अग्नि के द्वारा हम अवश्य ही असुरों का सर्वनाश कर देंगे ।।११।।

इस प्रकार अमृताग्नि को आत्मसात् करने का विचार कर देवताओं ने असुरों से कहा कि—'हम अग्नि का आधान करेंगे, तुम क्या करोगे ?' ।।१२।।

असुरों का स्वभाव था कि देव जिस काम को करते थे वे उसके विपरीत ही करते थे। इसलिए देवताओं के "तुम क्या करोगे ?" यह पूछते ही असुर बोले 'हम तुम्हारी तरह इस अग्नि का आधान न कर निधान ही करेंगे अर्थात् हम इस अग्नि को आत्मसात् नहीं करेंगे। तुम्हारी दृष्टि में अग्नि बड़ा होगा हमारा तो वह अनुचर है। हम उसका निधान ही करेंगे अर्थात् बाहरी कामों में उसे काम लेंगे। हम इस अग्नि से कहेंगे—यहाँ तृण को जलाओ ! यहां लकड़ियों को जलाओ ! यहाँ इस भात को पकाओ ! यहाँ इस माँस को पकाओ ! हम अग्नि से ये बाहरी काम लेंगे। हमें इसको आत्मसात् करने की आवश्यकता नहीं है।' भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य (सामान्य बुद्धि या निर्बुद्धि मनुष्यों को ही प्राय: मनुष्य कहा जाता है) हैं। वे जिस अग्नि का असुरों ने निधान किया था उसी लौकिक अवैध अग्नि से भोजनादि तैयार करते हैं। अर्थात् साधारण कोटि के अवैज्ञानिक मनुष्य आज भी अग्नि के इस प्रभाव को न पहचान कर असुरों की तरह इसका तृणादि को जलाना, मांस भोजनादि पकाना आदि लौकिक कार्यों में ही उपयोग करते हैं ।।१३।।

इस प्रकार देवताओं ने इस अमृताग्नि का अन्तरात्मा में आधान कर लिया। उन्होंने

इसको अन्तरात्मा में आहित कर अमृतस्वरूप अतएव अघर्षणीय बन कर घर्षणीय मर्त्य असुरों का अभिभव कर डाला । आज भी यजमान उन देवताओं की तरह ही इस अग्नि का अन्तरात्मा में आधान करता है । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस अमृताग्नि का आधान करने से अमृतत्व अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती, अतः इससे मुक्ति की आशा सर्वथा नहीं करनी चाहिए। किन्तु जितनी इसकी आयु है तब तक यह मनुष्य आनन्द से जीएगा, व्याधि आदि से उसकी अकालमृत्यु नहीं होगी । तथा इस अग्नि के बल से यह यजमान अघर्षणीय बन जाता है, इस पर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता और आक्रमण करने की इच्छा वाले शत्रु भी इसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकते । अतः आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों यदि परस्पर स्पर्द्धा करते हैं तो आहिताग्नि ही अनाहिताग्नि को परास्त करता है क्योंकि आहिताग्नि अग्न्याधान के बल से सर्वथा अनाक्रमणीय और अमृतस्वरूप बन जाता है ॥१४॥

जिस समय ऋत्विक् अग्नि का मन्थन करता है, वह उत्पन्न होते हुए उस अग्नि में प्राणाधान ही करता है । यह अग्नि प्राणस्वरूप है । तात्पर्य यह है कि जब तक यह अग्नि (उष्णता) हमारे शरीर में रहती है तभी तक शरीर में प्राण रहता है । अतः प्राणसत्ता के अग्निसत्ता पर अवलम्बित होने से अग्नि को प्राण कहा जाता है। इसी अभिप्राय से 'प्राणो वा अग्निः' कहा गया है । उत्पन्न होते हुए इस अग्नि को मन्थनक्रिया द्वारा उत्पन्न करते हैं। अर्थात् गर्भाशय से निकलते हुए बालक को जैसे धात्री (दाई) उत्पन्न करती है, बालक को बाहर निकाल कर नालच्छेदक्रिया द्वारा प्राणाधान करती है उसी प्रकार यह ऋत्विक् अरणि में स्थित अग्नि को जो कि बाहर निकलेगा, मन्थनक्रिया द्वारा बाहर निकालता है । इस प्रकार जब अग्नि मन्थनक्रिया द्वारा प्राणरूप में परिणत हो जाता है तो उसका अपानन भी होने लगता है अर्थात् मन्थनोत्पन्न अग्नि ज्वाला के द्वारा नष्ट भी होता रहता है। इसी समय प्राणन-व्यापार करते हुए अग्नि का ही यजमान आधान करता है अतः ज्वालायुक्त इस अग्नि का आधान करने से यह अग्नि यजमान की अन्तरात्मा में आहित हो जाती है ॥१५॥

मन्थनक्रिया द्वारा उस सोती हुई अग्नि को उद्दीप्त कर समिधा आदि डाल कर उस उत्पन्न अग्नि का समिन्धन करते हैं । यद्यपि अग्न्याधान कर्म समाप्त हो चुका, अग्नि आत्मा में आहित हो चुका तथापि 'अभी मैं यजन करूँगा तथा दर्शपूर्णमासादि यज्ञ करूँगा' इसलिए इस अग्नि को सदा प्रज्वलित रखने के लिए समिन्धनक्रिया करता है । क्योंकि इसके प्रज्वलित रहने से ही आत्माग्नि प्रज्वलित रहती है । इसी अभिप्राय से कहते हैं कि जो अग्नि इस यजमान में आहित हो गया है उस आहिताग्नि का ही इस बहिरग्नि के प्रज्वलन से प्रज्वलन करते हैं ॥१६॥

चूँकि सदा समिन्धन करते रहने से आत्माग्नि प्रज्वलित रहता है, अतः उस अहिताग्नि को किंवा यजमान को बीच में से कोई लाँघ नहीं सकता । अर्थात् अग्निप्रावल्य के कारण कोई भी मनुष्य यजमान का उसकी आत्मा से विच्छेद नहीं कर सकता । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि समिन्धन करने से आत्माग्नि प्रज्वलित रहता है, इस बात की उपेक्षा ही करनी चाहिए । एक बार यजमानात्मा में जिस अग्नि का आधान कर दिया है उसी से यजमान पर कोई शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता, अर्थात् एक बार आत्मसात् किया हुआ आहित तथा प्रज्वलित अग्नि यावज्जीवन शत्रुनाश में समर्थ है अतः बार-बार समिन्धन की आवश्यकता नहीं ।।१७।।

जो अग्नि शरीर के बाहर एक रूप से प्रज्वलित रहता है, वह शरीर में आकर प्राण, उदान, व्यान इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है । ये तीनों प्राण अग्नि ही हैं । जिस प्रकार शरीरपुरुष में प्राण, उदान, व्यान हैं उसी प्रकार यज्ञपुरुष में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्यपचन) हैं । इनमें आहवनीय प्राण, गार्हपत्य उदान और दक्षिणाग्नि व्यान हैं । ये प्राण मनुष्य में स्वभावतः ही होते हैं परन्तु याज्ञिक मनुष्य में उसका अपान (पार्थिव प्राण) प्राणोदान के अधीन रहता है, और अयाज्ञिक पुरुष में प्राण और उदान अपान के अधीन रहते हैं ।।१८।।

व्रतविधि

इस अग्न्याधेय का सत्य ही उपचार है अर्थात् आहिताग्नि हमारी आत्मा में से यावज्जीवन पृथक् न हो, इसकी एकमात्र चिकित्सा सत्यभाषण है । जो आहिताग्नि यजमान सदा सत्य बोलता है वह समिद्ध अग्नि को घृत से सींचने की तरह सत्यभाषण से आत्माग्नि को प्रज्वलित करता है । उस यजमानाग्नि का प्रज्वलन सत्यभाषण से उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है, तथा उत्तरोत्तर उस यजमान की सम्पद्वृद्धि होती रहती है । परन्तु जो आहिताग्नि मिथ्या बोलता है वह जिस प्रकार कोई समिद्ध अग्नि को जल से सींच कर बुझा देता है उसी प्रकार वह मिथ्या भाषण से उस आत्माग्नि को बुझा देता है । प्रतिदिन उसका तेज क्षीण ही होता रहता है एवं उत्तरोत्तर उसकी हानि ही होती रहती है अतः आहिताग्नि को सदा सत्यभाषण ही करना चाहिए ।।१९।।

उद्दालक के पिता एवं उपवेश के पुत्र औपवेशिक अरुण को वृद्धावस्था से अत्यन्त कमजोर देख कर उनके भाई-बन्धुओं ने उनसे कहा कि—'हे अरुण ! आप अत्यन्त वृद्ध हो गये है अतः एक बार अग्न्याधान और कर लीजिए जिससे आपकी यह कमजोरी दूर हो जाए ।' अरुण ने कहा कि 'अब ऐसा कभी नहीं हो सकता । आप तो मुझे वाचंयम (मौनी) बनने का आदेश दीजिए । क्योंकि आहिताग्नि को कभी झूठ नहीं बोलना चाहिए

और बोलता हुआ मनुष्य कभी झूठ न बोले, यह सम्भव नहीं। अतः मैं मौन रहूँ इसी से मेरी सारी कमजोरी दूर हो जाएगी।' इससे सिद्ध है कि आहिताग्नि की चिकित्सा एकमात्र सत्यभाषण ही है।

इति व्रतविधि

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमब्राह्मणम्। प्रथम प्रपाठके च षष्ठं ब्राह्मणम्॥

प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम्

द्वितियप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्

अथ पुनराधानम्—

वरुणो हैनद् राज्यकाम आदधे। स राज्यमागच्छत्। तस्माद्यश्च वेद, यश्च न; वरुणो राजेत्येवाहुः। सोमो यशस्कामः। स यशोऽभवत्। तस्माद्यश्च सोमे लभते, यश्च न; उभावेवागच्छतः यश एवैतद् द्रष्टुमागच्छन्ति। यशो ह भवति, राज्यं गच्छति—य एवं विद्वानाधत्ते ॥१॥

अग्नौ ह वै देवाः सर्वाणि रूपाणि निदधिरे। यानि च ग्राम्याणि, यानि चारण्यानि, विजयं वोपप्रैष्यन्तः, कामचारस्य वा कामाय, अयं नो गोपिष्ठो गोपायदिति वा ॥२॥

तान्यु हाग्निर्निचक्रमे। तैः सङ्गृह्यर्तून् प्रविवेश। पुनरेम इति देवा एदग्निं तिरोभूतम्। तेषां—हेयसेवास—किमिह कर्तव्यम्? केह प्रज्ञेति? वा ॥३॥

तत एतत् त्वष्टा पुनराधेयं ददर्श। तदादधे तेनाग्नेः प्रियं धामोपजगाम। सोऽस्मा उभयानि रूपाणि प्रतिनिःससर्ज—यानि च ग्राम्याणि, यानि चारण्यानि। तस्मादाहुस्त्वाष्ट्राणि वै रूपाणीति। त्वष्टुर्ह्येव सर्वं रूपम्। उप ह त्वेवान्याः प्रजा यावच्छो यावच्छः इव तिष्ठन्ते ॥४॥

तस्मै कं पुनराधेयमादधीत। एवं हैवाग्नेः प्रियं धामोपगच्छति। सोऽस्मा उभयानि रूपाणि प्रतिनिःसृजति—यानि च ग्राम्याणि, यानि चारण्यानि। तस्मिन्नेतान्युभयानि रूपाणि दृश्यन्ते। परमता वै सा। स्पृहयन्त्यु हास्मै तथा पुष्यति लोक्यम्वेवापि ॥५॥

आग्नेयोऽयं यज्ञः। ज्योतिरग्निः पाप्मनो दग्धा। सोऽस्य पाप्मानं दहति

स इह ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति। ज्योतिरमुत्र पुण्यलोकत्वा। एतन्नु तद्यस्मादादधीत ॥६॥

स वै वर्षास्वादधीत वर्षा वै सर्व ऋतवः। वर्षा हि वै सर्व ऋतवः—अथादो वर्षमकुर्म, अदो वर्षमकुर्मेति संवत्सरान् संपश्यन्ति। वर्षा ह त्वेव सर्वेषामृतूनां रूपम्, उत हि तद् वर्षासु भवति। यदाहुः—ग्रीष्म इव वा अद्येति। उतो तद् वर्षासु भवति। यदाहुः—शिशिर इव वा अद्येति। वर्षादिद्वर्षाः ॥७॥

अथैतदेव परोक्षं रूपम्। यदेव पुरस्ताद्वाति, तद्वसन्तस्य रूपम्। यत्स्तनयति, तद् ग्रीष्मस्य। यद् वर्षति, तद् वर्षाणाम्। यद् विद्योतते तच्छरदः। यद् वृष्ट्वोद्गृह्णाति, तद्धेमन्तस्य। वर्षाः सर्व ऋतवः। ऋतून् प्राविशत्, ऋतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥८॥

आदित्यस्त्वेव सर्व ऋतवः। यदैवोदेति—अथ वसन्तः। यदा सङ्गवः-अथ ग्रीष्मः। यदा मध्यन्दिनः—अथ वर्षाः। यदापराह्णः—अथ शरत्। यदैवास्तमेति—अथ हेमन्तः। तस्मादु मध्यन्दिन एवादधीत तर्ह्येषोऽस्य लोकस्य नेदिष्ठं भवति, तन्नेदिष्ठादेवैनमेतन्मध्यान्निर्मिते ॥६॥

छाययेव वा अयं पुरुषः पाप्मनानुषक्तः। सोऽस्यात्र कनिष्ठो भवति—अधस्पदमिवेयस्यते। तत् कनिष्ठमेवैतत्पाप्मानमवबाधते। तस्मादु मध्यन्दिन एवादधीत ॥१०॥

तं वै दर्भैरुद्धरति। दारुभिर्वै पूर्वमुद्धरति। दारुभिः पूर्वम्, दारुभिरपरम्, जामि कुर्यात्, समदं कुर्यात्, आपो दर्भाः, आपो वर्षाः, ऋतून् प्राविशत्। अद्भिरेवैनमेतदद्भ्यो निर्मिमीते। तस्माद् दर्भैरुद्धरति ॥११॥

अर्कपलाशाभ्यां व्रीहिमयमपूपं यत्र गार्हपत्यमाधास्यन् भवति, तन्निदधाति, तद् गार्हपत्यमादधाति ॥१२॥

अर्कपलाशाभ्यां यवमयमपूपं कृत्वा यत्राहवनीयमाधास्यन् भवति, तन्निदधाति; तदाहवनीयमादधाति । पूर्वाभ्यामेवैनावेतदग्निभ्यामन्तर्दध्म इति वदन्तः । तदु तथा न कुर्यात्—रात्रिभिर्ह्येवान्तर्हितौ भवतः ॥१३॥

आग्नेयमेव पञ्चकपालं पुरोडाशं निर्वपति । तस्य पञ्चपदाः पङ्क्तयो याज्यानुवाक्या भवन्ति । पञ्च वा ऋतवः ऋतून् प्राविशत् । ऋतुभ्य एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥१४॥

सर्व आग्नेयो भवति । एवं हि त्वष्टाग्नेः प्रियं धामोपागच्छत् । तस्मात् सर्व आग्नेयो भवति ॥१५॥

तेनोपांशु चरन्ति । यद् वै ज्ञातये वा सख्ये वा निष्केवल्यं चिकीर्षति, तिर इवैतेन बोभवत् । वैश्वदेवोऽन्यो यज्ञः—अथैष निष्केवल्य आग्नेयः । यद् वै तिर इव, तदुपांशु । तस्मादुपांशु चरन्ति ॥१६॥

उच्चैरुत्तममनुयाजं यजति । कृतकर्मेव हि स तर्हि भवति । सर्वो हि कृतमनुबुध्यते ॥१७॥

स आश्राव्याह—"समिधो यज"—इति । तदाग्नेयं रूपम्, परोक्षं तु "अग्नीन्यज" इति त्वेव ब्रूयात् । तदेव प्रत्यक्षमाग्नेयं रूपम् ॥१८॥

स यजति—"अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौषक् । अग्निमाज्यस्य वेतु वौषक् । अग्निनाऽऽज्यस्य व्यन्तु वौषक्-अग्निराज्यस्य वेतु वौषक्" इति ॥१९॥

अथ स्वाहाग्निमित्याह—आग्नेयमाज्यभागम्–"स्वाहाग्निं पवमानम्" इति । यदि पवमानाय म्रियेरन् । "स्वाहाग्निमिन्दुमन्तम्" इति । यद्यग्नय इन्दुमते म्रियेरन् "स्वाहाग्निं स्वाहाऽग्नीनाज्यपान् जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु" इति यजति ॥२०॥

अथाह अग्नयेऽनुब्रूहि इति आग्नेयमाज्यभागम्, सोऽन्वाह–अग्निं

स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम् । हव्या देवेषु नो दधत्" इति (ऋ. सं. मं. ५ सू. १४ ऋ. ११ वा. स. अ. २२ मं. १५) स्वपितीव खलु वा एतद् यदुद्वासितो भवति। सम्प्रबोधयत्येवैनमेतत्समुदीर्ययति—"जुषाणो अग्नि-राज्यस्य वेतु" इति यजति ॥२१॥

अथ यद्यग्नये पवमानाय ध्रियेरन्—"अग्नये पवमानायानुब्रूहि" इति ब्रूयात्। सोऽन्वाह—"अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्ज्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनाम्"—(वा. सं. अ. १९ मं. ३८) इति। तथा हाग्नेयो भवति। सोमो वै पवमानः। तदु सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति—"जुषाणोऽग्निः पवमानः आज्यस्य वेतु" इति यजति ॥२२॥

अथ यद्यग्नय इन्दुमते ध्रियेरन्—"अग्नय इन्दुमतेऽनुब्रूहीति ब्रूयात्। सोऽन्वाह—एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः। एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः" इति। (वा. सं. अ. २६ मं. १३) तथाहाग्नेयो भवति। सोमो वा इन्दुः। तदु सौम्यादाज्यभागान्नयन्ति "जुषाणो अग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेतु" इति यजति। एवमु सर्वमाग्नेयं करोति ॥२३॥

अथाह—"अग्नयेऽनुब्रूहि" इति "हविषोऽग्निं यज" "अग्नये स्विष्ट-कृतेऽनुब्रूहि" "अग्निं स्विष्टकृतं यज" इति। अथ यद् "देवान् यज" इति। अग्नीन् यजेत्येवैतदाह ॥२४॥

स यजति—अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौक्षक् अग्ना उ वसुवने वसुधे-यस्य वेतु वौक्षक् देवो अग्निः स्विष्टकृत्—"इति स्वयमाग्नेयस्तृतीयः। एवं वा आग्नेयाननुयाजान् करोति ॥२५॥

ता वा एताः षड् विभक्तीर्यजति। चतस्रः प्रयाजेषु द्वे अनुयाजेषु। षड् वा ऋतवः। ऋतून् प्राविशत्। ऋतुभ्यः एवैनमेतन्निर्मिमीते ॥२६॥

द्वादश वा त्रयोदश वा अक्षराणि भवन्ति। द्वादश वा वै त्रयोदश वा

सम्वत्सरस्य मासाः। सम्वत्सरमृतून् प्राविशत्। ऋतुभ्य एवैनमेतत् सम्वत्सरान्निर्म्मिमीते। न द्वे चन सहाजामितायै जामि ह कुर्याद् यद् द्वे चित् सह स्याताम्। "व्यन्तु वेतु" इत्येव प्रयाजानां रूपम्। "वसुवने वसुधेयस्य" इत्यनुयाजानाम् ॥२७॥

तस्य हिरण्यं दक्षिणा। आग्नेयो वा एष यज्ञो भवति, अग्ने रेतो हिरण्यम्, तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा। अनड्वान्वा। स हि वहेनाग्नेयः। अग्नि दग्धमिव ह्यस्य वहं भवति। देवानां हव्यवाहनोऽग्निरिति। वहति वा एष मनुष्येभ्यः। तस्मादनड्वान् दक्षिणा ॥२८॥

इति पुनराधेयविधिः सम्पूर्णः।

इत्याधानब्राह्मणं समाप्तम्।

अथ पुनराधानम्

अग्न्याधान अपूर्वाधान, पुनराधान व विच्छिन्नाधानभेद से तीन प्रकार का है। सर्व प्रथम जो अग्नि का आधान किया जाता है उसे अपूर्वाधान कहते हैं तथा पूर्व अग्नि को स्थिर रखते हुए किसी कामना के लिए जो बीच में पुनः अग्न्याधान किया जाता है, वह पुनराधान कहलाता है। एवं प्रथम आहिताग्नि के किसी कारण से शान्त हो जाने पर यजमान की आत्माग्नि विच्छिन्न न हो जाय इसलिये जो प्रायश्चित्तस्वरूप अग्न्याधान किया जाता है, उसे विच्छिन्नाधान कहते हैं। इनमें अपूर्वाधान का निरूपण करने के पश्चात् पुनराधान के निरूपण के लिए आख्यायिका से उसका प्रारम्भ करते हैं—वरुण इत्यादि।

अर्थात् भुवन-स्वर्ग-निवासी वरुण ने राजा बनने की इच्छा से अपूर्वाधान से अतिरिक्त इस पुनराधानरूप अग्न्याधान का अनुष्ठान किया। इस पुनराधानरूप अग्न्याधान के बल से उन्होंने राज्य प्राप्त किया जिसके कारण जो वरुण को राजा जानते थे और जो नहीं जानते थे वे दोनों ही 'वरुण राजा है' ऐसा कहने लगे। इसी प्रकार चन्द्रमा ने यशःप्राप्ति के लिए पुनराधान किया था,

उन्होंने उसके द्वारा यश प्राप्त किया। अर्थात् इस पुनराधानरूप अग्न्याधान के द्वारा चन्द्रमा सोमसमूह का लोकपाल बना। अतः जब भारत में सोमलता के गट्ठर आते थे, उस समय सोमलता के सम्बन्ध से जो सोमलता को लेने वाले और जो नहीं लेने वाले थे, दोनों ही सोमलता के सम्बन्ध से उसके लोकपाल चन्द्रमा का यश सुन कर उसके देखने के लिए आते थे। जो इस प्रकार पुनराधान करता है वह वरुण की तरह राज्य प्राप्त करता है और चन्द्रमा की तरह यशोभाजन बनता ॥१॥

जब भौमस्वर्गनिवासी देवता असुरों से युद्ध करने के लिए जाने लगे, तब उन्होंने अपने सब रूपों को जो कि ग्राम्य और आरण्य थे अग्नि के पास रख दिया। रूप का अर्थ सम्पत्ति (उपकरण सामग्री) है। उपकरण-सामग्री को वेद में सामान्यतः पशु शब्द से व्यवहृत किया जाता है। जो जिसका भोग्य होता है, वह उसका पशु कहलाता है। भारतवर्ष भी देवताओं के अधीन था। उसमें देवताओं के प्रतिनिधि शासक अग्नि थे। अतः देवताओं ने विचारा कि हम विजय के लिए जा रहे हैं अतः हम अपने इन पशुओं को मनुष्यों व पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज आदि को अग्नि के सुपुर्द कर जायें जिससे इन्हे कोई क्षति न पहुँचा सके। अथवा इनकी रक्षा का भार और कौन लेगा—इस प्रकार की इच्छा से अथवा अग्नि ही सबसे श्रेष्ठ रक्षक है अतः वह इन पशुओं की रक्षा करेगा इस बुद्धि से उन्होंने इन्हें अग्नि को समर्पित कर दिया ॥२॥

अग्नि ने देवताओं की उस सम्पत्ति को हड़पने की इच्छा की। उस सम्पत्ति को संगृहीत कर उस अग्नि ने ऋतुओं में प्रवेश किया। अर्थात् ऋतुओं में अग्नि छिप गया। देवताओं ने विचार किया कि अपनी सम्पत्ति को सम्भाल आवें, पुनः लौट आयेंगे। अतः वे अग्नि के पास गये। वहाँ अग्नि को नहीं पाया। वे कुछ निश्चय नहीं कर सके; किंकर्त्तव्यविमूढ़ से हो गए कि अब क्या करना चाहिए। क्या इसका उपाय है, कहाँ वह अग्नि मिलेगा ॥३॥

तब त्वष्टा ने पुनराधेय नामक उपाय को मालूम किया। उसने पुनराधान किया अर्थात् अग्नि को बुलाया। उससे त्वष्टा अग्नि के प्रिय स्थान में पहुँच गये अर्थात् अग्नि को उन्होंने तलाश कर लिया। अग्नि ने देवताओं के ग्राम्य

व आरण्य दोनों पशुओं को त्वष्टा को लौटा दिया। तभी से सभी रूप त्वष्टा के हैं यह कथानक चल पड़ा। वस्तुतः सभी रूप त्वष्टा के ही हैं। अन्य देवप्राण तो जहाँ त्वष्टा उस वस्तु का रूप (आकार) बनाता है, उसी में रहते हैं। वैज्ञानिक परिभाषा में रूप शब्द से वस्तु का आकार अभिप्रेत है। काटछाँट कर वस्तु को आकार प्रदान करना त्वष्टृप्राण का कार्य है। जितना सा आकार वस्तु का त्वष्टा द्वारा बनाया जाता है, अन्य प्राण (देवता) उसी में निवास करते हैं ॥४॥

अतः कामनापूर्ति के लिए पुनराधान करना चाहिए। इस प्रकार पुनराधान द्वारा अग्नि के प्रिय धाम १७वें स्थान की प्राप्ति यजमान को होती है और उस यजमान को वह पुनराहित अग्नि ग्राम्य व आरण्य दोनों प्रकार की सम्पत्ति (उपकरण सामग्री, पशु) प्रदान करता है। पुनराधान करने वाले यजमान में दोनों प्रकार की सम्पत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यही उसकी परमता (सर्वोत्कर्ष) है। सारे मनुष्य इसकी स्पृहा करते हैं (चाहते हैं)। वह पुष्ट हो जाता हैं अर्थात् सम्पत्तियुक्त हो जाता है तथा लोक्यत्व (शरण्यत्व) को भी प्राप्त हो जाता है अर्थात् दूसरों को शरण देने वाला बन जाता है ॥५॥

यह यज्ञ आग्नेय है। अग्नि ज्योतिःस्वरूप है। यह अग्निज्योति पाप को जलाने वाला है सत्यधर्मा होने से। अतः वह अग्निज्योति पुनराधान करने वाले यजमान के पापों को जला देता है। वह लक्ष्मी व यश से युक्त हो जाता है। परलोक में भी वह पुण्यात्मारूप से प्रकाशित होता है। अतः इन फलों की प्राप्ति के लिए पुनराधान करे ॥६॥

यजमान वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे। क्योंकि अग्नि ऋतुरूप है। और वर्षा सर्वर्तुसमष्टि है। इसलिए तो ऋतुसमष्टिरूप से संवत्सर को वर्ष नाम से कहते हैं। अपि च, वर्षा ही सर्वर्तु रूप है क्योंकि वर्षा ऋतु में ही आज तो पर्याप्त गर्मी पड़ती है, आज तो ठण्ड पड़ती है, इस प्रकार वर्षा ऋतु में ही ग्रीष्म तथा शिशिर का भी व्यवहार होता है और वर्षणक्रिया से वर्षा स्वयं वर्षा है ही। इस प्रकार ग्रीष्म, शिशिर व वर्षा तीनों व्यवहार वर्षा ऋतु में होते हैं, अतः वर्षा सर्वर्तुसमष्टिरूप है ॥७॥

परोक्षरूप से भी वर्षा सर्व ऋतुओं का रूप है। जबकि वर्षा में वृष्टिजनक पुरोवात चलता है, वह साक्षात् वसन्त का रूप है, क्योंकि जैसी वायु वसन्त में चलती है वैसा ही पुरोवात का स्वरूप है। जो गर्जना होती है, वह ग्रीष्म का रूप है। जो वृष्टि होती है, वही वर्षा का स्वरूप है। जो बिजली चमकती है वह शरद् का रूप है। अर्थात् शरद् में जैसी चन्द्रिका होती है वैसा ही प्रकाश बिजली चमकने पर होता है। जब वृष्टि होकर दूर होती है और मेघ हट जाते हैं, वह हेमन्त का स्वरूप है, क्योंकि उस समय ठण्ड हो जाती है।' हेमन्त शिशिरयोः समासेन' इस न्याय के अनुसार हेमन्त में ही शिशिर का अन्तर्भाव है। इस प्रकार वर्षा सर्वर्तुस्वरूप है। अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो ही गया था जैसा कि अभी पहिले बतलाया जा चुका है। अतः वर्षा में अग्न्याधान करना सारी ऋतुओं से अग्नि का सर्वात्मना ग्रहण ही है। अतः वर्षा में पुनराधान करे ॥८॥

भगवान् याज्ञवल्क्य उपर्युक्त पक्ष का 'तु' शब्द से निराकरण करते हुए कहते हैं कि वस्तुतः आदित्य ही सर्वर्तुरूप है। जब सूर्य उदित होता है, वह वसन्त है, क्योंकि वह समय वसन्त की तरह बड़ा सुहावना व मधुर लगता है। जब सूर्य ऊपर आता है तो वह समय तापाधिक्य के कारण ग्रीष्म है। जब मध्यान्ह में सूर्य आता है उग्र ताप के होने के कारण वह समय वर्षा है। जब सूर्य अपराह्ण में आता है, वही समय शरद् का रूप है। जब सूर्य अस्त होता है वह समय हेमन्त है। अतः आदित्य सर्वर्तुसमष्टिरूप है। अतः मध्यान्ह में पुनराधान करे। क्योंकि उस समय सूर्य प्रातः सायं की अपेक्षा पृथिवी के सर्वाधिक संनिकट रहता है। अतः अग्नि का, अत्यधिक संबंध के लिए, मध्यान्ह में पुनराधान करे ॥९॥

हमारी आत्मा अग्नि से निर्मित है। जैसा कि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इस मन्त्र से सिद्ध हो रहा है। सूर्य अग्निरूप ही है। छाया अन्धकारमय होने से असुरप्रधाना है। यह पुरुष (आत्मा) छाया से प्रतिक्षण आवृत रहता है। छाया ही पाप्मा है अतः एक प्रकार से वह पाप से सम्बद्ध रहता है। किन्तु वह छायास्वरूप पाप्मा मध्याह्न में अत्यन्त क्षीण व न्यून होती है और पैरों के नीचे

ही रहती है। इस प्रकार इस समय पुनराधान करता हुआ यजमान क्षीणबल शत्रु को नष्ट करता है। अतः मध्यान्ह में ही आधान करे ॥१०॥

पुनराधान की उपपत्ति बतला कर अब पद्धति बतलाते हैं—गार्हपत्य व आहवनीय में प्रथम दिन की पड़ी हुई राख आदि को कुशाग्रों से दूर करता है। अपूर्वाधान कर्म में राख आदि का उद्धरण काष्ठ आदि से किया जाता है और पुनराधान कर्म में कुशाग्रों से किया जाता है। क्योंकि यदि अपूर्वाधेय अग्नि की तरह इस पुनराधेय अग्नि में काष्ठ को ही उद्धरण के लिए ग्रहण किया जायेगा, तो जामिता दोष होगा तथा इस पुनराधान कर्म में भी काष्ठ द्वारा उद्धरण करने पर अपूर्वाधेयरूप सांवत्सरिक अग्नि तथा पुनराधेयरूप वर्षाग्नि में परस्पर कलह होगा अर्थात् पुनराधेय अग्नि में रुष्टता का भाव उत्पन्न होगा। दर्भ जलरूप हैं और वर्षा भी जलरूप है। वर्षा-अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो गई। अतः अग्निमय पानी रूप दर्भ में प्रविष्ट इस अग्नि को पानी से निकालते हैं। इसलिए दर्भों से उसका उद्धरण कर सकते हैं ॥११॥

आधान[1] से पूर्व आक के दो पत्तों के बीच में व्रीहि की रोटी रखकर उनको गार्हपत्य में रख देते हैं। इस प्रकार गार्हपत्य में आधान करता है ॥१२॥

आहवनीय में पुनराधेय अग्नि का आधान करने से पूर्व आक के पत्तों के बीच यव की रोटी रख कर उसे आहवनीय में रख देते हैं। इस प्रकार आहवनीय में आधान करता है।

अपूप का कारण बतलाते हुए वे कहते हैं कि गार्हपत्य व आहवनीय में आहित अपूर्वाधेय अग्नियों से इन पुनराधेय अग्नियों का व्यवधान करने के लिए ही इन व्रीहिमय व यवमव अपूपों को रखा जाता है। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा न करें। क्योंकि अपूर्वाधान के दूसरे दिन मध्यपतित पुनराधान किया जाता है। अतः अपूर्वाधेय तथा पुनराधेय अग्नियों का व्यवधान (विभाजन) मध्यपतित रात्रियों के द्वारा ही हो जाता है ॥१३॥

---

१. व्रीह्यपूपमर्कपलाशयोः पक्वं गार्हपत्यस्य स्थाने निदधात्येवमाहवनीयस्य याव सदयश्चेत्
(का श्रौ. सू. ४/२६४–२६६)

इस कर्म में केवल अग्नि ही देवता है, अतः आग्नेय पञ्चकपाल[1] पुरोडाश का ही निर्वाप किया जाता है। इस पुनराधान कर्म में याज्यायें व अनुवाक्यायें दशाक्षर पञ्च पद वाले पंक्ति छन्दों से की जाती हैं। ऋतु पाँच ही है। यह अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया था, तो पञ्चपदा पंक्ति छन्द से याज्या व अनुवाक्या करता हुआ इस अग्नि का आधान करता है। इस प्रकार सर्वात्मना अग्नि का ग्रहण हो जाता है ॥१४॥

इस पुनराधान कर्म में सब कुछ आग्नेय ही होता हैं। त्वष्टा ने इसी प्रकार अग्नि के प्रिय धाम को प्राप्त किया था, अतः यहाँ सब कुछ आग्नेय ही होता हैं ॥१५॥

इस पुनराधेय अग्नि में उपांशु रूप से पुरोडाश दिया जाता है। अपने भाई बंधुओं तथा मित्रों के लिए यदि कोई निष्केवल (औरों से भिन्न) विशिष्ट पदार्थ बनाना चाहे, तो उसे चुपचाप ही बनाना चाहिए। उसी प्रकार यह कर्म अग्नि के लिए ही हैं अतः इसे उपांशु ही पुरोडाश देना चाहिए। अन्य यज्ञ विश्वेदेवदेवताक हैं और यह केवल आग्नेय। जो कर्म अन्यों से तिरोहित की तरह होता हैं, वह उपांशु कहलाता हैं ॥१६॥

इस कर्म में ४ प्रयाज तथा २ अनुयाज होते हैं। इनमें ४ प्रयाज व १ अनुयाज का उपांशुयजन होता हैं और अंतिम द्वितीय अनुयाज का यजन उच्च स्वर से मन्त्र बोलते हुए किया जाता हैं क्योंकि उस समय अग्नि कृतकार्य हो जाता हैं। जो कर्म हो चुका है वह सबको विदित हो चुका है। अतः अब उच्च स्वर से यजन करने में कोई दोष नहीं हैं ॥१७॥

पद्धतिप्रतिपादन—

'ओश्रावय' इस रूप से आश्रवण के बाद होता प्रथम 'समिध्' नामक प्रयाज के लिए 'समिधो यज' ऐसा कहता है। समिध् का यजन परोक्षरूप से अग्नि का यजन है। अतः प्रत्यक्षता के लिए 'समिधो यज' न कह कर 'अग्नीन् यज' ऐसा कहना चाहिए। क्योंकि 'अग्नीन् यज' ही प्रत्यक्ष अग्नि का रूप है ॥१८॥

---

१. 'आग्नेयः पञ्चकपाल उपांशु प्रागुत्तमादनुयाजात्' "तद्वर्जं वा" (का. श्रौ. सू. ४/२६४–२६६)

आश्रावण के अनन्तर होता निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ ४ प्रयाजों का यजन करता है—

'अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौक्ष्क् ।।१।। अग्निमाज्यस्य वेतु वौक्ष्क् ।।२।। अग्निनाज्यस्य व्यन्तु वौक्ष्क् ।।३।। अग्निराज्यस्य वेतु वौक्ष्क् ।।४।। १९।।

तत्पश्चात् अग्नेय आज्यभाग व सौम्य आज्यभाग करने पड़ते हैं। आग्नेय आज्यभाग में 'अग्नयेऽनुब्रूहि' यह अनुवाक्या कर 'स्वाहाऽग्निम्' कह कर आहुति दे देनी चाहिए। किन्तु सौम्य आज्यभाग में सोम का नाम लेकर आहुति दी जाती है तो "सर्व आग्नेयो भवति' इस प्रतिज्ञा का भङ्ग होता है। और यदि 'अग्नये' ऐसा कहा जाता है, तो सौम्य आज्यभाग नहीं रहता है। अतः इस उभयतस्पाशा रज्जु से विमुक्ति के लिए उपाय बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पावक अग्नि तथा इन्दुमान् अग्नि का नाम लेकर यजन करना चाहिए। इससे 'सर्व आग्नेयो भवति' इसका भंग नहीं होगा और न आज्यभाग की सौम्यता ही नष्ट होगी। यदि पवमान अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग हो, तो 'स्वाहाऽग्निं पवमानम्' ऐसा कहना चाहिए तथा इन्दुमान् (सोमवान्) अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग देना हो तो 'स्वाहाऽग्निमिन्दुमन्तम्' ऐसा कहना चाहिए। यजन करते समय 'स्वाहाग्निं, स्वाहाग्नीनाज्यपान् जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु' यह मन्त्र कहना चाहिए ।।२०।।

जब आग्नेय आज्यभाग करना हो, तब 'अग्नयेऽनुब्रूहि' यह प्रैष करना चाहिए। उस प्रैष को सुन कर होता निम्नलिखित अनुवाक्यामन्त्र कहे—

अग्निं स्तोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम् ।
हव्या देवेषु नो दधत् जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु ।।

अर्थात् समिधा से अग्नि को प्रज्वलित करते हुए इस अमृताग्नि को स्तुति से जगाओ। क्योंकि यह अग्नि हमारे दिए हुए हवियों को देवताओं के पास पहुँचाए। तथा यह अग्नि प्रसन्न होकर इस घृत का भक्षण करे। जब तक आज्य नहीं डाला जाता, तब तक यह अग्नि सोता सा ही रहता है। इसकी भस्म आदि हटा दी जाती है, तब यह उद्वासित हो जाता है। अर्थात् उसका आच्छादितरूप प्रकट हो जाता है। ऐसा करते हुए इस अग्नि को मानो जगाते

हैं। अन्त में मन्त्र के अन्तिम भाग को उच्चारण कर उस अग्नि का यजन करता है ॥२१॥

यदि पवमान अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग दिया जाय तो 'अग्नये पवमानायानुब्रूहि' यह अध्वर्यु कहे और तदनन्तर होता निम्न मन्त्र का उच्चारण करे—

अग्नऽआयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुना जुषाणोऽग्निः पवमान आज्यस्य वेतु ॥

हे अग्ने, आप आयु को चलाते हो अर्थात् जीवनसत्ता आपके अधीन है। ऐसे आप हमारे लिए अन्न और ऊर्क्-रस प्रदान कीजिए। हमारे शत्रुओं को हम से दूर ले जाकर सर्वथा नष्ट कर दो। ऐसा कहने से सौम्य आज्यभाग आग्नेय हो जाता है, क्योंकि सोम पवमान अग्नि है। इस प्रकार सौम्य आज्य-भागों को 'जुषाणोऽग्निः पवमान आज्यस्य वेतु' कह कर सौम्य आज्यभाग का यजन करता है ॥२२॥

यदि इन्दुमान् अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग करे, तो वहाँ अध्वर्यु 'अग्नय इन्दुमतेऽनुब्रूहि' ऐसा कहे तथा होता निम्न मन्त्र का उच्चारण करे—

'एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः जुषाणोऽग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेतु' ॥

अर्थात् हे अग्ने, आप मेरे यज्ञ में आइये। हे अग्ने, मैंने आपके लिए सुन्दर वचन (स्तुति) कहे हैं। मेरी इतर वाणी भी ऐसी ही बने। हे अग्ने, आप सोम से बढ़ें। ऐसा कहने से यह सौम्य आज्यभाग आग्नेय हो जाता है, क्योंकि इन्दु सोम है, अतः यह आज्यभाग सौम्य भी हो जाता है। क्योंकि यहाँ की अग्नि इन्दुमान् (सोमयुक्त) अग्नि है। इस प्रकार सौम्य आज्य-भागों का 'जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु' कह कर यजन करता है। उपर्युक्त रीति से सौम्य आज्यभाग भी आग्नेय हो जाते हैं और 'सर्वं आग्नेयो भवति' की उपपत्ति हो जाती है ॥२३॥

हविसम्बन्धी आग्नेय अनुयाजों में 'अग्नयेऽनुब्रूहि' ऐसा अध्वर्यु कहे तथा होता 'अग्नि यज' यह कहे। स्विष्टकृत् अग्नियजन में 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि'

ऐसा अध्वर्यु कहे तथा होता 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' यह कहे। कई आचार्य 'अग्नीन् यज' न कह कर 'देवान् यज' ऐसा कहते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि 'अग्नीन् यज' ऐसा ही कहना चाहिए, क्योंकि पुनराधानकर्म आग्नेय है। अतः 'अग्नीन् यज' कहना ही उचित है ॥२४॥

अध्वर्यु प्रथम अनुयाज में 'अग्नेर्वसुवने वेतु वौष्क्' इस मन्त्र को कहे तथा द्वितीय अनुयाज में 'अग्ना उ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौष्क्' इस मंत्र का उच्चारण करे। इन अनुयाजों में देवता अग्नि है तथा स्विष्टकृत् स्वयं अग्नि है। इस प्रकार करता हुआ अध्वर्यु आग्नेय अनुयाजों का ही यजन करता है ॥२५॥

इस प्रकार अध्वर्यु ४ प्रयाजों तथा २ अनुयाजों का यजन करता है। संवत्सर में ६ ऋतुएँ होती हैं। यह पुनराधेय अग्नि इन सांवत्सरिक ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया था। ऐसा करता हुआ वह संवत्सररूप ६ ऋतुओं से इस अग्निस्वरूप की निष्पत्ति करता है ॥२६॥

पूर्वोक्त प्रयाज मन्त्रों में किसी में १२ तथा किसी में १३ अक्षर होते हैं। १२ अथवा १३ ही संवत्सर के मास होते हैं। पुनराधेय अग्नि संवत्सररूप ऋतुओं में प्रविष्ट है। ऋतुरूप संवत्सर से इस अग्नि को निकालते हैं, उसके स्वरूप का निष्पादन करते हैं। 'अग्निराज्यस्य वेतु वेतु' ऐसा दो बार न बोले, नहीं तो जामिता दोष की आपत्ति होगी। अतः 'व्यन्तु वेतु' ऐसा कहे। यही प्रयाजों के स्वरूप के अनुरूप है। 'वसुवने वसुधेयस्य' यह अनुयाजकर्मों के अनुरूप है ॥२७॥

इस पुनराधेय यज्ञ की दक्षिणा सुवर्ण है। पुनराधान कर्म आग्नेय यज्ञ है। हिरण्य अग्नि का वीर्य है। अतः आग्नेय कर्म में आग्नेय हिरण्य की दक्षिणा ही देनी चाहिए। यदि हिरण्य न मिले तो अनड्वान् (बैल) को दक्षिणारूप में देना चाहिए। क्योंकि वह भी अपने स्कन्ध से आग्नेय है। उसका स्कन्ध अग्नि-दग्ध सा होता है। किं च देवताओं की हवि को वहन करने वाला अग्नि है। यह बैल मनुष्यों के लिए हवि (अन्न) का वहन करता है। अतः हव्यवहनकर्तृत्व-साम्य से इस आग्नेय याग में अग्निरूप बैल की दक्षिणा भी उचित है ॥२८॥

पुनराधेयविधि-प्रारम्भ

भाष्य–अग्न्याधान तीन प्रकार का हुआ करता है—१. अपूर्वाधान, २. पुनराधान, ३. विच्छिन्नाधान। सर्वप्रथम जिस अग्नि का आधान किया जाता है, वह 'अपूर्वाधान' कहलाता है। तदनन्तर बीच-बीच में पूर्व अग्नि को स्थिर रखते हुए किसी काम्यकर्म के लिए जिस अग्नि का आधान किया जाता है वह पुनराधान अर्थात् काम्याग्न्याधान कहलाता है। यदि सर्वप्रथम आहित किया हुआ अग्नि किसी कारण से बुझ जाता है तो ऐसा होने से यजमान का आत्मा भी विच्छिन्न हो जाता है जिसकी पूर्ति के लिए प्रायश्चित-स्वरूप जिस अग्नि का आधान किया जाता है वह विच्छिन्नाधान कहलाता है। पूर्व प्रकरण में अपूर्वाधान कर्म बतला दिया है, अब काम्यकर्मस्वरूप पुनराधान-प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

आजकल विद्वान् लोग जिसे स्वर्गनाम से कहा करते हैं वह स्वर्ग इसी पृथिवीमण्डल पर था। वही स्वर्ग 'भुवनस्वर्ग' नाम से प्रख्यात था। आज इसे 'एशिया' कहते हैं वही 'भुवनत्रिलोकी' थी। साध्य जाति में उत्पन्न भगवान् स्वयम्भू प्रजापति ने सर्वप्रथम ब्रह्मतत्व की स्थापनापुरस्सर स्वर्गादि की व्यवस्था व्यवस्थित की। प्रकृतिमण्डल के अनुसार अर्थात् आधिदैविकमण्डल के अनुसार इस भुवनत्रिलोकी की व्यवस्था की थी। उन भगवान् ब्रह्मा ने इन्द्र, विष्णु, रुद्र, वरुण, चन्द्रमा, आदित्य, अश्विनी, अग्नि, यम, वायु, अर्य्यमा, भग, पूषा, त्वष्टा इत्यादि प्राणों की दिव्य दृष्टि से परीक्षा कर तत्तत्-प्राणोपासना से जिन पृथिवीमण्डलस्थ मनुष्यों को वैसा ही आत्मा बना था उनका उन प्राणों के नामानुसार ही नाम रख कर आधिदैविकमण्डल की सारी प्रतिकृति इस पृथिवी-मण्डल पर स्थापित कर दी थी। श्रीगुरुचरणरचित 'देवासुरख्याति' में इन सारी व्यवस्थाओं का विशद विवेचन किया हुआ है। प्रकृत में यही बतलाना है कि ब्रह्मा के द्वारा व्यवस्थापित त्रिलोकी में अधिष्ठाताओं के राजा, सम्राट्, विराट् एवं स्वराट् ये चार विभाग रखे थे। इनमें से प्रत्येक विभाग के दो दो अवान्तर विभाग थे। राजा के भोज और महाभोज ये दो अवान्तर विभाग थे। १०० ग्रामों का स्वामी भोज एवं १००० (सहस्र) ग्रामों का अधिपति महाभोज कहलाता था। ये भोज व महाभोज जिसके अधीन रहते थे वह सम्राट् कहलाता था। सम्राट् पदवी भी चक्रवर्ती और सार्वभौम इन दो भेदों में विभक्त थी। जिसके राज्य में १४ चक्र का प्रबन्ध होता था जिसका कि विस्तृत विवरण शतपथ के अश्वमेध प्रकरण में किया गया है, चक्रवर्ती कहलाता था, तथा जिसके राज्य में कभी सूर्य अस्त नहीं होता था, वह सार्वभौम कहलाता था। ये दोनों सम्राट् जिसकी सेवा करते थे, वह शाहों का भी शाह अर्थात् सम्राजों का भी सम्राट् स्वराट् कहलाता था। यह स्वराट्

पदवी भी इन्द्र और महेन्द्र इन दो भेदों में विभक्त थी। जिस प्रकार पृथिवीमण्डल पर दैवत्रिलोकी थी, उसी प्रकार आसुरत्रिलोकी भी थी। दैवत्रिलोकी के अधिपति 'देवेन्द्र' और आसुरत्रिलोकी के अधिपति 'असुरेन्द्र' कहलाते थे। 'असुरेन्द्र' का नाम विरोचन था। पहले दोनों ही इन्द्र कहलाते थे। परन्तु जब देवेन्द्र ने अपने शत्रु असुरेन्द्र को मार डाला तब वही इन्द्र महेन्द्र हो गये। अर्थात् दूसरे स्वराट् के न रहने पर इन्द्र ही महेन्द्र बन जाता है। राजा, सम्राट् और स्वराट् यहाँ तक शासनप्रबन्ध था। ये लोग सम्पत्ति के आधार पर राज्यभार वहन करते थे। इसके बाद की जो विराट् श्रेणी थी उसका राज्य-प्रपञ्चों से कोई सम्बन्ध नहीं था। वह श्रेणी संन्यासी की तरह सर्वथा स्वतन्त्र थी। परन्तु इसके अधीन अखिल चराचर थे। विराट् पदवी में भी दो भेद थे—ब्रह्मा तथा विष्णु ये दोनों सारे विश्व के निश्शस्त्र शासक थे। इनकी कृपा पर स्वराट् आदि की स्थिति निर्भर थी। इनमें ब्रह्मा हिरण्यश्रृङ्ग पर्वत पर रहते थे जो कि उस समय 'प्राङ्मेरु' नाम से तथा आजकल 'पामीर' नाम से प्रसिद्ध है। विष्णु भद्राश्व पर्वत पर रहते थे जहाँ से भद्रसोमा नदी बहती है। ब्रह्मा की व्यवस्थानुसार एशिया—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौः इन तीन विभागों में विभक्त था। इनमें पृथिवीलोक को भारतवर्ष कहते थे। एवं जो आज 'रूस' के नाम से प्रसिद्ध है वही स्वर्ग नाम से कहा जाता था। इन दोनों के बीच का स्थान अन्तरिक्ष कहलाता था। भारतवर्ष के सम्राट् श्राद्धदेव नामक मनु थे। देवताओं की तरफ से भारतवर्ष के 'वायसराय' अग्नि थे। इनका प्रातिस्विक नाम भरत था इन्हीं के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ। जिस प्रकार भारत के सम्राट् श्राद्ध मनु थे। इस सम्राट् को भी अपने अधीन रखते हुए स्वराट्पदधारी देवेन्द्र स्वर्ग के सम्राट् थे। इनकी राजधानी का नाम अमरावती था। इस अमरावती में सुधर्मा नाम की संसद थी जिसमें दश लोकपाल व दश दिक्पाल रहते थे। जो दिक्पाल होते थे वे ही लोकपाल भी होते थे। इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि, राक्षसाधिपति, महादेव, वायु, बृहस्पति और अनन्त ये दश दिक्पाल थे। पूर्व दिशा के इन्द्र, पश्चिम दिशा के वरुण, दक्षिण के यम, उत्तर के कुबेर, आग्नेय कोण के अग्नि, नैर्ऋत्य कोण के राक्षस, ईशान कोण के महादेव, वायुकोण के वायु, ऊर्ध्वलोक के बृहस्पति एवं अधोलोक के अनन्त थे। तत्तत् दिशाओं का प्रबन्ध करना, वहाँ का फैसला करना, तत्तत् दिक्पालों के हाथ में था। ये ही दशों लोक-पाल भी होते थे। दिक्पाल में तो लोकनियम था परन्तु लोकपाल में दिक्नियम नहीं था। उसमें वस्तु की ही प्रधानता रहती थी। जैसे जल के अधिपति वरुण थे। जल चाहे किसी भी दिशा में हो तद्विषयक निर्णय वरुण ही करते थे। इतना आवश्यक था कि पहिले वह अभियोग उस दिक्पाल के पास जाता था जिस दिशा का वह अभियोग था। वह उसको जिसके अधिकार का वह अभियोग होता था, उसके पास भेज देता था। पहिले उत्तर

दिशा के लोकपाल कुबेर ही थे। परन्तु किसी कारणविशेष से भगवान् ब्रह्मा ने चन्द्रमा को ब्राह्मणों का दिक्पाल एवं लोकपाल बना दिया था। जल के लोकपाल जैसे वरुण थे वैसे ही ओषधि, वनस्पति तथा ब्राह्मणों के लोकपाल चन्द्रमा ही थे। इसी कारण 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' यह कहा गया है। फाँसी आदि क्रूर कर्मों के विभाग के लोकपाल राक्षस थे। आकाशचारी विमानों के लोकपाल वायु थे। धर्म व अधर्म विभाग के लोकपाल यमराज थे। ये जब धर्म-विषयक निर्णय करते थे तो 'धर्मराज' कहलाते थे। 'पुलिस' के लोकपाल महादेव थे। अर्थात् रक्षक पुलिस जिसे कि वेद में 'पयस्वान्' नाम से कहा गया है उसके अधिपति महादेव थे जो शिव नाम से प्रसिद्ध थे। सजा देने वाले विभाग की जो पुलिस थी उसके अधिपति 'घोर' नामक रुद्र थे।

ऊपर बतलाया गया है कि सुधर्मा नाम की संसद् में दश दिक्पाल एवं दश लोकपाल थे। यह नियम था कि जो राजा होता था वही लोकपाल अथवा दिक्पाल हो सकता था। अतः जिस समय वरुण राजा नहीं थे उस समय राजा बन कर दिक्पाल होने की कामना से अपूर्वाधान के अतिरिक्त काम्यकर्मस्वरूप पुनराधान उनने किया था। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं 'वरुणो हैनत् राज्यकाम आदधे' इति। अर्थात् असुराधिपति वरुण, जो कि आजकल 'बलख' नाम से प्रसिद्ध वाह्लीक में रहते थे, ने इस पुनराधेय कर्म द्वारा राज्य-प्राप्त्यर्थ फिर अग्न्याधान किया। इस पुनराधान के प्रभाव से उन्होंने राज्य प्राप्त कर लिया। इसीके प्रभाव से वरुण सुधर्मा सभा के सदस्य बनाये गये। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वरुण ने पुनराधान के प्रभाव से उस राज्यख्याति को प्राप्त किया जिससे जो वरुण को राजा जानते थे और जो नहीं जानते थे, वे दोनों ही 'वरुण राजा है' यह कहने लग गये। तात्पर्य यही है कि पुनराधान से वरुण ने भी राजा की प्रख्याति प्राप्त कर ली।

जिस प्रकार से वरुण ने राज्य-कामना के लिए पुनराधान किया था तथैव चन्द्रमा ने यशःप्राप्ति के लिए पुनराधान किया। उस पुनराधान के प्रभाव से चन्द्रमा अत्यन्त यशस्वी हो गए। सर्वसाधारण मनुष्यों के हृदयों में जिसका महत्त्व पाया जाय ऐसे महत्त्वरूप संस्कार को ही 'यश' कहते हैं। कीर्ति शब्दात्मिका होती है। इस कीर्ति-श्रवण से जो मन में उसके प्रति एक प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न है वही 'यश' कहलाता है। 'कीर्ति' शब्दात्मिका हैं, 'यश' संस्कारात्मक है। १. 'सर्वसाधारणहृदयेषु तन्महत्त्वप्रभावाभिव्याप्तिर्यशः श्रद्धासंस्कारात्मकम् २. महत्त्वप्रयोजकगुणाख्यानं कीर्तिः।'

प्रकृत में यही बतलाना है कि चन्द्रमा ने इसी अग्न्याधान के प्रभाव से यश प्राप्त किया। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उस यश के प्रभाव से—जिसको सोम में कुछ हिस्सा लेना है अथवा जिसको नहीं लेना है दोनों ही प्रकार के मनुष्य सोम के आने पर

उसको देखने आते हैं। सोम का देखना ही यश का देखना है। तात्पर्य यह है कि चन्द्रमा सोम की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है, क्योंकि भगवान् ब्रह्मा ने इस चन्द्रमा की आत्मा को संस्कारविशेषों से—अभिषेकों से—सौम्य ही बना दिया था। जिस प्राण से जिसका आत्मा बनता है वह उनके सारे रहस्यों को शीघ्र ही अवगत करा लेता है। इसी विचार से ब्रह्मा ने सोम-समूह का लोकपाल चन्द्रमा को बनाया। वैदिक परिभाषानुसार लोक और लोकी में अभेदव्यवहार होता है, अतः आपोलोक के लोकी वरुण को 'आपो वै वरुणः' इस रूप से आपः नाम से भी कह दिया करते हैं। जैसे वरुण को आपः कहा गया है, वैसे चन्द्रमा को भी सोमलोक का अधिपति होने से सोम कह दिया जाता है। यह सोमलता प्रायः शर्यणावत पर्वत पर ही उत्पन्न होती थी जो कि 'ईरान' में है। भारतवर्ष में उस समय यज्ञविद्या का प्रचार अधिक था अतः वहाँ से भारत में सोमलता के गट्ठर आया करते थे। जिस समय सोमलता भारत में आती थी उस समय उसको देखने के लिए हजारों आदमी जाते थे। इसका कारण यही था कि चन्द्रमा का सोम पर आधिपत्य था और चन्द्रमा ने अग्न्याधान द्वारा लोकपाल पदवी को प्राप्त कर अखिल भू-मण्डल में अपना यश फैला रखा था। अतः सोम के आते ही सोमसम्बन्ध से चन्द्रमा का स्मरण उन लोगों को हो जाता था। वायसराय के न होने पर भी उनके प्राइवेट सेक्रेटरीमात्र के आ जाने से जैसे लोग उसे देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं, वैसे ही साक्षात् चन्द्रमा के न आ जाने पर भी केवल सोम के आने पर भी लोग उसे देखने के लिए दौड़ पड़ते थे। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—वे मनुष्य सोम को देखने नहीं आते, अपितु यश को ही देखने आते हैं। अर्थात् चन्द्रमा के प्रति उनकी जो श्रद्धा है वही उनको खींच लाती है। अतः जिस प्रकार पुनराधान से चन्द्रमा यशस्वी बन गये, वरुण ने राज्य प्राप्त कर लिया वैसे ही जो मनुष्य इस विज्ञान को जानता हुआ पुनराधान करता है वह यशस्वी हो जाता है तथा 'राज्यश्री' को प्राप्त कर लेता है ॥१॥

इति ऐतिहासिकपुनराधेयफलश्रुतिप्रकरणम्।

भुवनस्वर्ग के देवताओं ने अपने ग्राम्य व आरण्य सारे रूपों को अग्नि में रख दिया। रूप-वयोनाध (आकार) रूप तथा वर्णात्मकरूप भेद से दो प्रकार का है। तिरछा, चतुष्कोण, गोल, चपटा, टेढ़ा, षट्कोण, अष्टकोण आदि जो आकार हैं वे ही वैदिक भाषा में वयोनाध रूप कहलाते हैं तथा कृष्ण, पीत, श्वेतादि वर्णात्मक रूप है। आकार बनाना अग्नि का कार्य है। अग्नि के तारतम्य से वस्तु के परिमाण को घटाया-बढ़ाया जा सकता है। पिण्डाकार में वर्तमान कपूर अग्नि के प्रभाव से तरलाकार में परिणत हो जाता है। सीधे आकार वाली लकड़ी अग्निसम्बन्ध से विशेष आकार वाली बन जाती है। इसी प्रकार तरलावस्था में विद्यमान कपूर अग्निसम्बन्ध से वायुरूप में परिणत हो जाता है तथा कपूर स्वयं भी

अग्नि की एक विशेष अवस्था ही है। तात्पर्य यह है कि संसार के यावन्मात्र आकार अग्नि की अवस्थाभेद ही है। कृष्ण, पीत, हरित आदि वर्ण भी इसी अग्नि से उत्पन्न होते हैं। पीली लकड़ी अग्निसम्बन्ध से काली हो जाती है तथा वही अधिक अग्निसंयोग से अपने कृष्णस्वरूप को छोड़ती हुई भस्मस्वरूप में परिणत हो जाती है तथा अत्यधिक अग्निसंयोग से वही विश्कलित हो अदृश्य हो जाती है। अतः सारे वर्णात्मकरूप भी इस अग्नि के ही कार्य हैं।

यद्यपि 'इन्द्रो रूपाणि करीकृचरत्' 'शुक्रन्ते अन्यद् यजतं ते अन्यद्' 'त्वष्टा रूपाणि पिंशतु' इत्यादि श्रुतियों से इन्द्र, पूषा और त्पष्टा को रूप का अधिपति बतलाया गया है तथापि 'अग्निः सर्वा देवताः' इसके अनुसार सारे देवता अग्निरूप ही हैं, अतः अग्नि का ही नाम यहाँ दिया गया है। अपि च, वर्ण तथा आकार की उपलब्धि साक्षात् अग्नि द्वारा ही उपलब्ध होती हैं अतः अग्नि का ही ग्रहण किया गया है। इन वर्णों तथा आकारों की दो अवस्था होती है। १. समूहात्मिका तथा २. एकात्मिका। कई रंग मिलकर जो एक जगह इकट्ठे होते हैं तो वह उन वर्णों की समूहात्मिका अवस्था होती है, तथा जब एकाकी रंग रहता है तो वह एकात्मिका अवस्था कहलाती है। ग्राम्य शब्द समूह का वाचक है तथा अरण्य शब्द एकत्व का। इन्हीं दो भेदों को लक्ष्य में रख कर—'अग्नौह वै देवाः सर्वाणि रूपाणि निदधिरे, यानि च ग्राम्याणि (समूहात्मकानि), यानि च आरण्यानि (एकाकीनि)' यह कहा गया है। इस श्रुति का उपर्युक्त अर्थ वैज्ञानिक है। ऐतिहासिक अर्थ निम्नलिखित है :—

रूप सम्पत्ति को कहते हैं क्योंकि सम्पत्ति से ही स्वरूप-रक्षा होती है। सम्पत्ति उपकरणसामग्री है। उपकरणसामग्री को वेद में सामान्यतया पशु कहा जाता है। ये पशु ग्राम्य व आरण्यभेद से दो प्रकार के हैं। हम मनुष्य भी देवताओं के उपकरणभूत हैं, अतः हम उनके पशु कहलाते हैं। इस प्रकार पशु शब्द से प्रसिद्ध प्राणी तो पशु है ही परन्तु मनुष्य भी पशु है। इनमें पुरुष, अश्वादि पशु ग्राम में रहते हैं एवं व्याघ्रादि जङ्गल में रहते हैं। इस प्रकार ग्राम्य व आरण्य दो प्रकार के पशु हो सकते हैं। भारतवर्ष पर देवताओं का शासन था। यहाँ के देवों के प्रतिनिधि (वायसराय) अग्नि थे, यह पूर्व प्रकरण में बतला दिया गया है। देवता जिस समय असुरों से युद्ध करने के लिए जाने लगे उस समय अपने आरण्य व ग्राम्यरूपों को अर्थात् स्थिर चर सम्पत्ति को अग्नि को सौंप दिया। भगवान् याज्ञवल्क्य ने इसके तीन कारण बतलाये हैं—

(१) जब हम विजय करने के लिए लड़ाई में जायेंगे, पीछे से प्रजा को कोई कष्ट न पहुँचाये अर्थात् हमारी स्थिर चर सम्पत्ति लुट न जाय, इस विचार से रूपों (सम्पत्तिसमूह) को अग्नि को सौंप दिया।

(२) कामचार की कामना के लिए अर्थात् 'अब कौन इस प्रजा की रक्षा का भार ले ?' इस यथेच्छा से रूपों को अग्नि को सौंप दिया।

(३) अग्नि ही तो हमारा सर्वश्रेष्ठ रक्षक है। इससे अधिक रक्षक कौन हो सकता है ? इस विचार से रूपों को अग्नि को सौंप दिया ॥२॥

इधर देवताओं के जाते ही अग्नि की नियत बिगड़ गई। उसने सारी सम्पत्ति को हजम कर लिया। उन सारे रूपों को अर्थात् सम्पत्तियों को संगृहीत कर अग्नि ऋतुओं में प्रवेश कर गये अर्थात् किसी गुप्त स्थान में जा छिपे। देवताओं ने विचार किया कि एकबार अग्नि के पास चलकर अपनी सम्पत्ति को संभाल लें, फिर लौट आयेंगे—यह विचार कर देवता छिपे हुए उस अग्नि के पास गये। वहाँ देखा तो अग्नि गायब था। अग्नि को न देखकर देवता बहुत चिन्ता में पड़ गये। अनिर्धारित ज्ञान 'इयसा' है। उन्होंने कहा कि अब क्या करना चाहिए ॥३॥

अन्त में त्वष्टा नाम के देवताओं ने पुनराधेय नामक उपाय सोचा। उन्होंने देवताओं से कहा कि अग्नि की खुशामद कर उसे एकबार वापिस बुला लो। उसके आते ही फिर सारी सम्पत्ति प्राप्त हो जाएगी। त्वष्टा ने देवताओं की सम्मति प्राप्त कर उसका आधान किया अर्थात् बुलाया। उससे त्वष्टा अग्नि के प्रिय स्थान को पहुँच गये अर्थात् अग्नि को तलाश कर लिया। उस अग्नि ने इस अग्नि के लिए सारे रूप छोड़ दिये अर्थात् सारी सम्पत्ति जो कि ग्राम्य व आरण्यरूप थी, त्वष्टा को लौटा दी। तभी से रूप त्वाष्ट्र अर्थात् त्वष्टा के है यह कथन चल पड़ा।

भगवान् याज्ञवल्क्य वैज्ञानिक संकेत करते हुए कहते है कि वास्तव में सारे रूप त्वष्टा से ही सम्बन्धित है। क्योंकि अन्य प्रजा अर्थात् देवसमष्टि जहाँ तक त्वष्टा है वहीं तक रहती है। अर्थात् तक्षण करने वाले प्राण को त्वष्टा कहते हैं। यह वायुमय त्वष्टा प्राण ही विच्छेद क्रिया द्वारा आकारादि रूपों की रचना किया करता है। जितना सा रूप त्वष्टा अपना कायम करता है देवप्राणसमष्टि को उतनी ही दूर में अपनी स्थिति कायम करनी पड़ती है। उस त्वष्टा की सीमा के बाहर देवप्राण नहीं जा सकता। इसी अभिप्राय से 'त्वष्टुर्ह्येव सर्वं रूपं, उप त्वेवान्याः सर्वाः प्रजाः (देवसमष्टिः) यावच्छो यावच्छ इव तिष्ठन्ते' उपतिष्ठन्त इति भावः ॥४॥

अतः विजयादि कामना के लिए इस यजमान को पुनराधान करना चाहिए। जो इस पुनराधान कर्म को करता है वह अग्नि के प्रियधाम (१७वां स्थान) को प्राप्त हो जाता है। एवं वह अग्नि इस यजमान के लिए ग्राम्य और आरण्य दोनों प्रकार के रूप (सम्पत्ति) दे देता है। इस पुनराधान करने वाले यजमान में दोनों प्रकार के रूप (स्थिर चर-

सम्पत्ति) देखे जाते है। ऐसा होना बड़ा ही उत्कर्ष है। सारे मनुष्य इसकी स्पृहा करते रहते हैं अर्थात् लेने की इच्छा करते रहते हैं। एवं यह इस सम्पत्ति से पुष्ट हो जाता है अर्थात् भूमा वाला हो जाता है एवं स्वयं लोक्यत्व को अर्थात् शरण्यत्व को प्राप्त हो जाता है अर्थात् शरणागतों के लिए शरण्य स्थान बन जाता है एवं परलोक में भी अपनी सत्ता कायम कर लेता है ।।५।।

यह जो यज्ञ है वह आग्नेय है। अग्नि ज्योतिस्वरूप है एवं दूषित पदार्थों को जलाने वाला है। अर्थात् प्रकाश और ताप दोनों ही अग्नि के धर्म है। अतः जो इस अग्नि का आधान कर लेता है वह अग्नि उस यजमान के सारे शत्रुओं को जला डालता है, एवं वह यजमान संसार में प्रकाशित हो जाता है। अर्थात् लक्ष्मी व यश दोनों से युक्त हो जाता है। परलोक में भी इसके लिए स्थान खाली हो जाता है अर्थात् वह लोक भी इसके लिए प्रकाशित ही रहता है। पुनराधान का यही फल है। अर्थात् यह काम्य कर्म है।

इति वरुणचन्द्रमसोरैतिहासिकरहस्यम्।

वरुण और सोम का वैज्ञानिक रहस्य—

वरुण ने राज्यप्राप्ति के लिए एवं चन्द्रमा ने यशः प्राप्ति के लिए पुनराधान किया था—इसका ऐतिहासिक विवेचन हम कर चुके। अब इसीका वैज्ञानिक रहस्य बतलाते हैं—

ब्रह्म के दो स्वरूप माने जाते है—निर्गुण और सगुण। जो निर्गुण ब्रह्म है वही 'अखण्डात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। यह अखण्डात्मा सर्वथा निर्धर्मक है अतएव अनुपास्य व शास्त्रानधिकृत है। परन्तु जो सगुण ब्रह्म है वह अवश्य ही उपास्य एवं शास्त्राधिकृत है। इसी सगुण ब्रह्म का स्वरूप श्रुति बतलाती है—

'न तस्य कार्यं करणं न विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। इति।

यह सगुण ब्रह्म ही 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत होता है। यह पुरुष अव्यय अक्षर क्षरभेद से त्रेधा विभक्त है। इन तीनों भेदों में पुरुष वस्तुतः अव्यय ही है। अक्षर और क्षर इसकी परा व अपरा प्रकृतियाँ है। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्' इस श्रुति से यह सिद्ध है कि वह ब्रह्म सृष्टिनिर्माण कर स्वयं उसके केन्द्र में स्थित हो जाता है। क्योंकि सृष्टिस्वरूप 'पुर' में वह रहता है अतः 'पुरि वसति' इस व्युत्पत्ति से इसे पुरुष कहते हैं। इस पुरुष के तीन भाग है—१ आत्मा, २ शरीर, ३ महिमा। संसार के यावन्मात्र पदार्थों में (पिण्ड पदार्थो में) ये तीन विभाग समझने चाहिएँ। आत्मा पिण्ड के केन्द्र में रहता है जो कि प्रजापति नाम से कहा जाता है। जिसके लिए श्रुति कहती है—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते'। इति

इस आत्मा में स्थित आत्मक्षर से सृष्ट जो विकारक्षर है। उनसे निष्पन्न जो चित्य-पिण्ड है वही इस आत्मा का शरीर कहलाता है। क्योंकि आत्मा (ब्रह्म) इस पिण्ड के केन्द्र में रहता है अतएव इस पिण्ड को ब्रह्मपुर कहा जाता है एवं शरीर से बाहर जो एक ३३ तक अमृत मण्डल बनता है वही इसकी महिमा कहलाती हैं। तात्पर्य यह है कि अखण्ड ब्रह्म—जिसे कि सर्वबलविशिष्ट रस कहते हैं—में सर्व प्रथम माया बल उत्पन्न होता है। बल सर्वथा जड़ है और ब्रह्म निर्गुण व निष्क्रिय है तो यह मायाबल उस शान्त ब्रह्म में बिना किसी की प्रेरणा के कैसे उत्पन्न हो गया। उसका एकमात्र उत्तर निम्न श्रुति है—

को अद्धा क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेऽनाथा। इति

तात्पर्य यह है कि सर्वबलविशिष्ट रस में सर्वप्रथम मायाबल ही उत्पन्न होता है परन्तु वह कैसे उत्पन्न हो गया इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता।

माया का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है—चूंकि यह बलस्वरूप है इसलिए इसे 'सती' नहीं कह सकते, क्योंकि सत् तो 'रस' ही होता है। एवं चूंकि इसकी प्रतीति सदा होती रहती है अतः 'असती' भी नहीं कही जा सकती। एवं सत् और असत् (भावाभाव) का परस्पर विरोध है, अतः 'सदसती' भी नहीं कहला सकती। इस प्रकार से माया का स्वरूप बड़ा ही विचित्र है, जिसको स्वीकार किये बिना काम ही नहीं चलता। इसी अभिप्राय से स्मृति कहती है—

न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तु-प्रकृतिरिष्यते॥

यह मायाबल उस व्यापक अव्याकृत रस को परिच्छिन्न बना डालता है, अतएव 'अमितस्य मितकरणी' इस व्युत्पत्ति से इसे 'माया' कहा जाता हैं। जो रस अब तक व्यापक, अपरिच्छिन्न था वही प्रातिस्विकरूप से अब भी व्यापक एवं अपरिच्छिन्न ही रहता हुआ माया द्वारा परिच्छिन्न बना डाला जाता है। अतः माया के परिच्छेद के उत्पन्न होते ही व्याप्यत्वात् उस मायावच्छिन्न रस में एक हृद्बल उत्पन्न हो जाता है। हृद्बल के उत्पन्न होते ही उसमें एक प्रकार का अशनाया 'बुभुक्षा' बल उत्पन्न होता है। इस अशनाया बल के कारण मायावच्छिन्नरस पर जिसे कि 'अव्यय' किंवा 'चिदात्मा' कहा जाता है, चयन होना आरम्भ होता है। अव्यय की पाँच कलाएँ होती हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्। इनमें से आनन्द और विज्ञान तो मुक्तिसाक्षी हैं एवं प्राण और वाक् सृष्टिसाक्षी हैं। तात्पर्य यही है कि उसमें दो विजातीय बल उत्पन्न होते हैं। एक बल का नाम निवृत्त्यात्मक बल है एवं दूसरे का नाम प्रवृत्त्यात्मक बल है। इन्हीं को निवृत्तिकर्म एवं प्रवृत्तिकर्म भी कहते हैं।

जब प्रवृत्तिकर्म किया जाता है तो मन पर प्राण और वाक् का चुनाव होता है। इस चुनाव से वह अव्ययमन उत्तरोत्तर सृष्ट्युन्मुख हो जाता है। परन्तु यदि निवृत्तिकर्म किया जाता है तो वह मन धीरे-धीरे अपने प्राणवाक्स्वरूप चयन को दूर करता हुआ; विज्ञान, आनन्द की ओर अग्रसर होता हुआ, अपने वास्तविक स्वरूप में आने लगता है। बिना विज्ञान के ज्ञान (रस) अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं आता। जब तक विज्ञान नहीं जाना जाता तब तक मन को विज्ञान की ओर प्रवृत्त नहीं किया जाता और तब तक श्रेय:प्राप्ति असम्भव ही समझनी चाहिए। इसी अभिप्राय से विज्ञान को श्रेय:-साधन समझ कर भगवान् कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।

इस प्रकार से एक ही मन जब निवृत्त्यात्मक कर्म द्वारा विज्ञान और आनन्द की ओर अभिमुख हो जाता है तो वह अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाता है, एवं उसकी सारी चितियाँ दूर हो जाती हैं, एवं यदि वही मन प्रवृत्त्यात्मक कर्म द्वारा प्राण और वाक् की ओर झुक जाता है तो सृष्टि तथा आवरणों की ओर उसकी गति हो जाती है। इस प्रकार एक ही मन सृष्टिसाक्षी और मुक्तिसाक्षी दोनों भावों में परिणत हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।।

इस अव्यय पर चूंकि प्राण, वाक् का चयन होता है अतएव अव्यय को 'चिदात्मा' कहते हैं। यह चयन अक्षर द्वारा होता है। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पाँच कलाएँ होती हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र ये तीनों हृदय में—मायावच्छिन्न रस के केन्द्र में—रहते हैं। प्रतिष्ठातत्व का नाम ब्रह्मा है, विक्षेपणधर्मा प्राण का नाम इन्द्र है एवं आहरणधर्मा प्राण विष्णु है। चूँकि केन्द्र में ये तीन शक्तियाँ रहती हैं—अतएव महर्षियों ने उसका नाम 'हृदय' रखा है। हृदय में हृ-द-य ये तीन अक्षर हैं। 'हृ' से आहरणधर्मा विष्णुप्राण का संकेत किया गया है। 'द' से विक्षेपणधर्मा इन्द्रप्राण का संकेत किया गया है एवं 'य' से प्रतिष्ठातत्व ब्रह्मा का संकेत किया गया है। इस प्रकार से तीनों केन्द्र में रहते हैं। इस बात को बतलाने के लिए हृ—(हरति-आहरति), द—(दयति), य—(यच्छति) इस व्युत्पत्ति से केन्द्रबिन्दु को 'हृदय' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद् ब्रह्म। एतत्सर्वम्। तदेतत्त्र्यक्षरं हृदयमिति। हृ—इत्येकमक्षरम्, आहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एव वेद। द—इत्येकमक्षरं, ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च च य एवं वेद। यमित्येकमक्षरं एति स्वर्गलोकं य एवं वेद' शतपथ १४ का० ६ प्र० ७ ब्रा. ७३६ पृष्ठ।

इस प्रकर सर्वप्रथम केन्द्र में एक हृद्बल उत्पन्न होता है। तदनन्तर उसमें परिच्छेद के कारण उक्थार्काशित्यात्मक अशनाया बल उत्पन्न होता है। वह अशनाया बल बाहर से पदार्थों को लाया करता है। अतः जिस प्राण (शक्ति) द्वारा अशनाया रूप करण से बाह्य पदार्थों का आदान होता है उसे ही विष्णु कहते हैं। एवं साथ ही में इसमें से वस्तु बाहर की ओर जाया भी करती है अतः जो प्राण इस जाने की क्रिया में सहायता पहुँचाता है, उसे इन्द्र कहते हैं। जिस प्रतिष्ठा प्राण पर यह आदानविसर्गात्मिका क्रिया होती है उसे ब्रह्मा कहते हैं। वस्तुतः इन प्राणों को एक ही समझना चाहिए। इसीका कुछ भाग आहरणक्रिया करता है, कुछ विक्षेपणक्रिया करता है एवं अवशिष्ट केन्द्र में ही प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार से एक प्राण अवस्थाभेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। इसी अभिप्राय से पौराणिक कहा करते हैं 'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।' इति।

अब कौनसी वस्तु आती है ? कौनसी वस्तु जाती है ? यह जानना शेष रह जाता है। अक्षर की पाँच कलाएँ हैं—यह बतलाया जा चुका है। उनमें से ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र का तो स्वरूप बतला दिया। शेष अग्नि व सोम का स्वरूप बतलाना है। यह सोम ही बाहर से आता है, एवं भीतर आहुत हो अग्निस्वरूप में परिणत होता हुआ बाहर निकला करता है। इस प्रकार से यह आदान-विसर्गक्रिया प्रतिक्षण (अनवरत) होती रहती है। इस प्रकार से अव्यय पर यह अक्षर चूंकि चिति करता रहता है अतएव अव्यय पुरुष को चिदात्मा कहते हैं।

यह अक्षर, जो कि प्राणस्वरूप है—९ भागों में विभक्त रहता है। इन ९ में से एक प्राण तो ऐसा है जो कि जहाँ तक मायावच्छिन्नरस की व्याप्ति है—वहाँ तक रहता है, जो कि उसी की अर्थात् अव्यय की अपनी वस्तु (आत्मा) बन जाता है। अर्थात् यह प्राण अक्षर से प्रविविक्त होकर अव्यय के साथ संसृष्ट होकर तद्रूप ही बन जाता है। चूंकि अव्यय प्रातिस्विकरूपेण सृष्ट्यादि कर्मप्रपञ्च से सर्वथा अलग है—अतः तत्संसृष्ट वह अक्षर प्राण भी सृष्टि-निर्माण से पृथक् ही रहता है। अर्थात् हम उसे अक्षर न कह कर अव्यय ही कहेंगे। शेष आठ प्राणों में से जो चार प्राण हैं—उनसे तो आत्मा बनता है, दो प्राणों से दक्षिणोत्तर दोनों पक्ष (हाथ, पांव) बनते हैं एवं एक प्राण से पुच्छ प्रतिष्ठा बनती है। इन सातों प्राणों को मिला करके इनका जो रस भाग है, जो कि परिमाण में एक प्राणभाग जितना है उससे मस्तक बनता है जिसे कि 'शिर' कहते हैं। चूंकि सातों के रस भाग से यह बना है, अतएव इन सातों प्राणों पर यह शिर शासन करता है। चार प्राणों से निष्पन्न उपर्युक्त आत्मा नित्य अव्यय आत्मा से सर्वथा भिन्न है। यहाँ आत्मशब्द से अक्षर समझना चाहिए। चूंकि दोनों पक्ष एवं शिर इसी धड़ के आधार पर रहते हैं अतः पक्षादि की की अपेक्षा इसको आत्मा कह दिया गया है। इसमें पक्षादि की अपेक्षा चौगुना

प्राण रहता है। इस प्रकार से ४ आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ एवं एक शिर—इन सबकी समष्टि को 'अक्षर पुरुष' कहते हैं जो कि अव्ययस्वरूप आलम्बन पर अपनी स्थिति कायम करता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'एतान् सप्तपुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्। यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः, प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत्तमूर्ध्वं समुदौहंस्तदस्य शिरोऽभवत्। यच्छ्रेयः समुदौहंस्तस्माच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु एवैतच्छिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम्। स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि'। इति।

(शत. ६ का. १ ब्रा. ३।४।५ कण्डिका ३१३ पृ)

जिन अक्षरप्राणों का वर्णन किया गया है उन्हें आग्नेयप्राण समझना चाहिए। उन आठों प्राणों में से ७ प्राणों को चित्याग्नि प्राण (मर्त्याग्नि) एवं आठवें प्राण को अमृताग्नि प्राण समझना चाहिए। यह रसभाग (श्रीः) मर्त्यभाग का चूँकि निमित्त कारण है—अतएव इस अमृतभाग को निमित्त कारण कहते हैं जो कि अक्षर नाम से प्रसिद्ध है। एवं चूंकि उन सातों प्राणों से नवीन वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, अतएव क्षरणात् उस भाग को मर्त्य एवं क्षर कहते हैं। परन्तु इस क्षर में इतनी विशेषता अवश्य समझनी चाहिए कि चाहे करोड़ों विकार इसमें से निकल जायें तथापि अमृतस्वरूप अक्षर (श्रीः) से संश्लिष्ट रहने के कारण वह सदा अपने उसी स्वरूप में रहता है जैसाकि विकार निकलने से पहिले था। इसी क्षर को-चूँकि, यह अपनी ही स्थिति में रहता है-अतएव आत्मक्षर कहते हैं। इसी आत्मक्षर को 'विकारक्षर' एवं यज्ञक्षरस्वरूप प्रजा उत्पन्न करने के कारण 'प्रजापति' भी कहते हैं। सारांश यह है कि जो प्राणात्मक अक्षर था, उसी में चित्य (मर्त्य) एवं चितेनिधेय भेद से क्षर और अक्षर मर्त्य और अमृत ये दो भेद हो जाते हैं। वस्तुतः इन दो के मेल से एक प्रजापति का स्वरूप समझना चाहिए। चूँकि इस प्रजापति में मर्त्य व अमृत ये दो भाव हैं—इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्।" इति।

इस आत्मक्षरविशिष्ट अक्षर प्रजापति की—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम ये पाँच कलाएँ होती हैं—यह पूर्व प्रकरण में बतला दिया है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं—वे दूसरे स्वरूप में परिणत होते हुए अपने पहले स्वरूप को सर्वथा छोड़ देते हैं, परन्तु संसार में केवल क्षर ही ऐसा विलक्षण है जो कि अमृतस्वरूप अक्षर से संश्लिष्ट रहने के कारण हजारों विकारों के निकल जाने पर भी अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता। अतएव इसे आत्मक्षर कहा जाता है। चूंकि यह अक्षर से मिला रहता है अतएव जो अक्षर की कलाएँ हैं वे ही (ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र अग्नि, सोम) कलाएँ इस आत्मक्षरकी समझनी चाहिएँ।

इस प्रकार से सर्वबलविशिष्ट रस माया से परिच्छिन्न होता हुआ 'अव्यय' नाम से व्यवहृत होता हुआ, अपनी अक्षर और क्षर प्रकृतियों से संसार का निर्माण करता रहता है। प्रकृत में यही बतलाना है कि सर्वप्रथम अशनायावशात् आत्मक्षरस्थित—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम इन पाँच कलाओं से पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इनके नाम क्रमशः प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद एवं अन्न हैं। इस प्रकार मायावच्छिन्न रस में सर्वप्रथम ये ही पाँच विकार उत्पन्न होते हैं। ये पाँचों ही विकारक्षर स्वातन्त्र्येण एक क्षण भी नहीं ठहरते हैं। उत्पन्न होते ही पाँचों पाँचों में आहुत हो जाते हैं। इसी को सर्वहुतयज्ञ कहते हैं। इस सर्वहुतयज्ञ से पाँच यज्ञक्षर उत्पन्न होते हैं, जिनके कि नाम प्राणादि के क्रम से स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी एवं चन्द्रमा हैं। इस प्रकार यही पहला मौलिक यज्ञ है। यह पञ्च-पिण्डात्मिका समष्टि ही उस अव्यय पुरुष का शरीर है।।

चूँकि अव्ययात्मा में आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम, प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद, अन्न एवं परात्पर ये १६ वस्तुएँ रहती हैं अतएव इस अव्ययात्मा को 'षोडशी' पुरुष कहते हैं। यहाँ पर जिसे परात्पर बतलाया है उसे परिच्छिन्न अव्ययरस से पृथक् सर्वतोव्यापक सर्वबलविशिष्ट रस ही समझना चाहिए। जो वस्तु पुरुषवाचक आत्मवाचक है उसके शरीर व महिमा अवश्य ही होती है। आत्मा हो और उसका शरीर व महिमा न हो यह बात सर्वथा असंभव है। आत्मा एवं शरीर दोनों अविनाभूत हैं। जब शरीर और आत्मा सदा अविनाभूत रहते हैं तो मानना पड़ेगा कि इस अव्ययात्मा का (ईश्वर का) अवश्य ही कोई न कोई शरीर है। इसी जिज्ञासा को हटाने के लिए स्वयम्भू आदि जो पांच पिण्ड हमने बतलाये हैं जो कि पञ्चपुण्डीरा वल्शा नाम से प्रख्यात हैं उन्हें ही उस अव्यय पुरुष का शरीर समझना चाहिए। यदि शरीर मान लिया तो उसकी महिमा भी अवश्य ही माननी चाहिए। प्रत्येक पिण्ड में उसकी बहुत दूर तक एक महिमा निकलती है जो कि प्रत्यक्ष का कारण है। हम शरीर का प्रत्यक्ष नहीं करते अपितु महिमा का ही प्रत्यक्ष करते हैं। महिमा का संबंध ऋग्, यजु, साम से समझना चाहिए। शरीर पिण्ड को कहते हैं। इस पिण्ड में मर्त्य और अमृत ये दो तरह के पदार्थ रहते हैं। मर्त्य पदार्थ पिण्डपृष्ठ पर समाप्त हो जाते हैं एवं अमृत पदार्थ उस पिण्ड के चारों तरफ बहुत दूर (३३) तक जाया करते हैं। इन बाहर जाते हुए पदार्थों का ही हम प्रत्यक्ष करते हैं। हम सूर्य का प्रत्यक्ष नहीं करते, किन्तु वृहत्सामरूप में फैली हुई जो सूर्य की महिमा है—उसका ही प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार से पञ्चपुण्डीराबल्शात्मक जो शरीर है उसकी भी एक महिमा होती है जो कि पिण्ड के चारों ओर बहुत दूरी तक रहती है। इस पुण्डीरात्मक बल्शा में—स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी ये पाँच पिण्ड हैं। सबसे बड़ा स्वयम्भूपिण्ड है। उससे छोटा परमेष्ठी पिण्ड है। उससे छोटा सूर्य्यपिण्ड है, उससे

छोटा पृथिवीपिण्ड है। उससे छोटा चन्द्रपिण्ड है। जो पिण्ड जितना बड़ा होता है उसकी महिमा उतनी ही बड़ी होती है।

चूंकि स्वयम्भू पिण्ड सबसे बड़ा है अतः इसकी महिमा सबसे बड़ी है। इस स्वयम्भू-पिण्ड की महिमा के अन्तर्गत महिमासहित परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आ जाते हैं। उस आत्मतत्व को, भ्रम में पड़ कर, कोई स्वयम्भू की महिमा तक ही न समझ ले—इसके लिए श्रुति उपदेश करती है—

'एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः' इति।

कहने का तात्पर्य यही है कि जो 'षोडशी' अव्ययपुरुष है वह आत्मा है एवं पाँचों पिण्ड उसके शरीर हैं एवं उनका जो वितान है वही उसकी महिमा है। इन्हीं तीनों (आत्मा, शरीर, महिमा) को वैदिक महर्षि पुरुष, पद और पुनःपद शब्द से कहा करते हैं। इन्हीं स्वयम्भू आदि पांचों को पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश कहते हैं। आकाश से प्रकृत में 'परमाकाश' अभिप्रेत है। इस प्रकार से आधिदैविक मंडल में जो पृथिवी जलादि नाम से व्यवहृत होते हैं, वे ही अध्यात्म में अव्यक्त (स्वयम्भू) महान् (परमेष्ठी), बुद्धि (सूर्य), मन (चन्द्रमा) एवं अर्थ इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं पाँचों को चिदात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा एवं वैश्वानरात्मा भी कहते हैं। ईश्वर के शरीर में जो विराट् (अग्नि), हिरण्यगर्भ (वायु) एवं सर्वज्ञ (इन्द्र) नाम से प्रसिद्ध है। वे ही अध्यात्म में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तुएँ आधिदैविक में हैं उन्हें ही अध्यात्म में समझना चाहिए। ईश्वर के शरीर में अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन शक्तियाँ हैं। इन्हीं तीनों को वहाँ विराट्, हिरण्यगर्भ, सर्वज्ञ कहते हैं एवं ये तीनों अध्यात्म में वैश्वानर, तैजस व प्राज्ञ नाम से प्रसिद्ध हैं।

अथ आधिदैविक वर्ग

स्वयम्भू	=	प्राणमण्डल	=	आकाश	=	×	=	चिदात्मा
परमेष्ठी	=	आपोमण्डल	=	वायु	=	वायु	=	हिरण्यगर्भात्मा
सूर्य	=	वाङ्मण्डल	=	तेज	=	इन्द्र	=	सर्वज्ञात्मा
चन्द्रमा	=	अन्नमण्डल	=	जल	=	×	=	महानात्मा
पृथिवी	=	अन्नादमण्डल	=	पृथिवी	=	अग्नि	=	विराडात्मा

अव्यक्त	=चिदात्मा	(स्वयम्भू)	
महान्	=महानात्मा	(परमेष्ठी)	
बुद्धि	=विज्ञानात्मा	(सूर्य)	
मन	=प्रज्ञानात्मा	(चन्द्र)	भूतात्मा
अर्थ	=वैश्वानरात्मा	(पृथिवी)	भूतात्मा

इत्यध्यात्मम्।

पूर्वोक्त पाँचों मण्डलों में आठ प्रकार से त्रिलोकीविभाग किया जाता है। जिसमें से प्रकृत में त्रैलोक्यत्रिलोकी व स्तोम्यत्रिलोकी का विवेचन किया जा रहा है—

पृथिवी से सूर्य तक द्यावा-पृथिवी का पहिला, परमेष्ठी तक दूसरा व स्वयम्भू तक तीसरा विभाग माना जाता है। पहली त्रिलोकी को 'रोदसी', दूसरी को 'क्रन्दसी' व तीसरी को 'संयती' कहते हैं। जिस पर हम बैठे हुए हैं यह 'पृथिवी' है, सूर्य 'दयौः' है तथा पृथिवी व सूर्य का मध्यस्थान 'अन्तरिक्ष' है। परमेष्ठी 'क्रन्दसी' का एवं 'स्वयम्भू संयती' का द्युलोक हैं। इस प्रकार से तीनों त्रिलोकियों को मिलाकर कुल ६ लोक होने चाहिए थे। परन्तु जो रोदसी का 'द्यौः है वही (सूर्य) क्रन्दसी की पृथिवी बन जाता है। एवं जो परमेष्ठी 'क्रन्दसी' का 'द्यौः' हैं वही 'द्यौः' है, वही संयती की पृथिवी बन जाता है। इस प्रकार ६ की अपेक्षा ७ ही लोक रह जाते हैं। अतः अव्यय प्रजापति की ये ७ ही व्याहृतियाँ कहलाती हैं। इसी अभिप्राय से—'सप्तव्याहृतीनां प्रजापतिर्ऋषिः' – यह कहा जाता है। पृथिवी को वेद में माता एवं 'द्यौः' को पिता कहते हैं, क्योंकि तीन त्रिलोकियों में तीन पृथिवी एवं तीन ही द्यौः हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है –

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थो नेमवग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥

(ऋ० १।१६४।१०)

इसी सात लोक वाली 'द्यावापृथिवी' को त्रैलोक्य त्रिलोकी कहते हैं, एवं यही ईश्वर का शरीर है। इस ईश्वर में आत्मा, शरीर और महिमा – ये तीन विभाग रहते हैं। ये ही विभाग सारे सत्य पदार्थों में मानने चाहिएँ। जो सकेन्द्र पिण्डात्मक पदार्थ होते हैं, उनको 'सत्य' कहते हैं। वायु आदि की तरह जो निरायतन पदार्थ होते हैं उनको 'ऋत' कहते हैं। ऋत, सत्य की यह व्यवस्था व्यवस्थित समझनी चाहिए। केन्द्रत्वात् पृथिवी पिण्ड के सत्य होने से इसमें भी आत्मा, शरीर और महिमा ये तीन विभाग हैं। स्तोम्यत्रिलोकी का सम्बन्ध इसी महिमा-पृथिवी से है। महिमा को ही दूसरे शब्दों में

साम कहा जाता है। जहाँ तक जिस वस्तु का साम है वहीं तक उसकी महिमा होती है। जिस प्रकार त्रैलोक्य त्रिलोकी में ७ लोक माने जाते हैं तद्वत् इस स्तौम्य त्रिलोकी में चार लोक माने जाते हैं। इस त्रिलोकी का सम्बन्ध केवल पृथिवी से ही होता है। यह पृथिवी-पिण्ड अग्निमय है। अग्नि-मर्त्य व अमृत भेद से दो प्रकार का होता है। मर्त्य अग्नि में ताप रहता है किन्तु अमृताग्नि तापरहित, निराकार व प्राणस्वरूप होता हैं। जहाँ तक यह प्राणाग्नि जाता है, वहाँ तक इस पृथिवी की सत्ता मानी जाती है। यह अग्नि सूर्य से भी ऊपर तक जाता है। अतएव पृथिवी के साम को 'रथन्तर साम' कहते हैं। दीपक की शिखा जो हमें दिखाई पड़ती है—वह मर्त्याग्नि है एवं जो अग्नि शिखा के बाहर नीरूप होकर निकल जाता है—वह अमृताग्नि कहलाता है। वस्तु के पृष्ठ तक मर्त्याग्नि रहता है एवं २१ तक अमृताग्नि। प्रत्येक वस्तु में १००० (हजार) गौ होतो हैं। इन हजार गौओं को ३३ विभागों में बाँट दिया जाता है, जो 'अहर्गण' कहलाते हैं। इन अहर्गणों का विशद विवेचन वषट्कार प्रकरण में किया हुआ है। इनमें अग्नि और सोम की अवस्था-भेद से ६ स्तोमों की कल्पना करली जाती है। चूंकि पूर्वोक्त त्रिलोकी इन स्तोमों के आधार पर कायम की जाती है अतएव इस त्रिलोकी को 'स्तौम्य त्रिलोकी' कहते हैं। अग्नि मर्त्यामृत भेद से दो प्रकार का है यह पहिले बतलाया जा चुका है। पृथिवीपृष्ठ तक तो मर्त्याग्नि रहता है। पत्थर, सोना, लोहा, चाँदो, मिट्टी, हरताल, तांबा, पीतल, जस्ता, राँगा, विष, उपविष, रस, उपरस इत्यादि जितने भी पार्थिव पदार्थ हैं सब अग्नि की चिति से बने हुए हैं। अग्नि के चुनाव से ही पृथिवीपिण्ड का स्वरूप बना हुआ है। इसके बाद में २१ तक अमृताग्नि रहता है। अग्नि उत्तरोत्तर विशकलित होता जाता है। जहाँ पर इसके विशकलन की अन्तिमावस्था समाप्त होती है वहीं पर २१ वाँ अहर्गण है। पृथिवी के ९ वें अहर्गण तक अग्नि अपने प्रातिस्विक रूप में रहता है, अतएव इसे अग्नि ही कहते हैं। इसके बाद में अग्नि वायुस्वरूप में परिणत हो जाता है अतएव उसे अग्नि न कह कर 'वायु' ही कहते हैं। १५ के बाद में यह अग्नि विरलावस्था में परिणत हो जाता है उसे ही आदित्य कहने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि निबिड, तरल, विरला-वस्थाभेद से एक ही अग्नि—अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। वस्तुत: इन तीनों को अमृताग्नि ही मानना चाहिए। अक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम—ये पाँच कलाएँ होती हैं—यह पहिले बतलाया जा चुका है। इनमें से तीन कलायें हृदय में रहने वाली तथा अग्नि और सोम बाहर रहने वाली हैं। इन दोनों में भी अग्नि केन्द्र से बद्ध होकर २१ तक वितत रहता है एवं २१ के पश्चात् ३३ तक सोम रहता है। पृथिवी के साम का नाम 'रथन्तर साम' है। स्तोमभेद से वह रथन्तर साम—रथन्तर, वैरूप व शाक्वर—इन तीन भागों में विभक्त हो जाता है। जहाँ तक अग्नि

जाता है उसे रथन्तर साम कहते हैं। २७ तक के साम को गैरूप साम व ३३ तक के साम को शाक्वर साम कहते हैं। जिस प्रकार अग्नि तीन प्रकार का होता है वैसे ही दिक् व भास्वर भेद से यह सोम भी दो प्रकार का होता है। जो भास्वर सोम है वह २७ तक रहता है एवं दिक् सोम ३३ तक रहता है। अग्नि पृथिवी के केन्द्र से बद्ध रहता हुआ सूत्ररूप से २१ तक वितत रहता है अतएव वह सत्य कहलाता है तथा उसकी सारी अवस्थाएँ क्रमशः उत्तरोत्तर व्यवस्थित रहती हैं। परन्तु इसके बाद का जो सोम है वह किसी भी सूत्र से बद्ध नहीं रहता अतएव उसे ऋत कहते हैं। अतएव उसमें कोई भी व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। इसीलिए सोम के दो भागों में विभक्त रहने पर भी उसका व्यवहार एकत्वेन ही कर दिया जाता है। इसका कारण यही है कि ऊपर का भास्वर सोम दिक् में अनुस्यूत रहता है एवं दिक् सोम भास्वर सोम में अनुस्यूत रहता है। इसीलिए दोनों को मिला कर के 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' ही कहा जाता है। सोम को भृगु और अङ्गिरा कहते हैं। २१ के ऊपर का २७ तक का जो आपः (सोम) है वह भृगु और अङ्गिरामय है। २७ से ऊपर ३३ तक का आपः भृगु और अङ्गिरा रूप है। तात्पर्य यह है कि २७ से ३३ तक भृगु और अङ्गिरा अपनी वास्तविक स्थिति में रहते हैं अतएव वहाँ के सोम को तो तद्रूप बतलाया गया है, परन्तु २१ से २७ तक के भृगु और अङ्गिरा अपनी वास्तविक स्थिति में न रह कर विकृत हो जाते हैं अतएव उस 'आप्' को भृग्वङ्गिरोमय बतलाया गया है।

इस प्रकार पृथिवीकेन्द्र से प्रारम्भ कर ३३ तक पाँच देवता—अग्नि, वायु, आदित्य, भृग्वङ्गिरा, भृग्वङ्गिरा—हो जाते हैं। ९ तक अग्नि, १५ तक वायु, २१ तक आदित्य, २७ तक पहिला भृगु व अङ्गिरा व ३३ तक दूसरा भृगु व अङ्गिरा है। जो अग्नि है—वह ऋक्-स्वरूप है, वायुः यजुःस्वरूप व आदित्य सामस्वरूप है। दोनों सोम अथर्वा है। संसार में जो 'है' कह कर के व्यवहृत किया जाता है, बस वही वेद का स्वरूप है। अर्थात् उपलब्धि को ही वेद कहते हैं। पुरोऽवस्थित पदार्थ स्थित जो अग्नि है, जो कि भीतर दो-दो बिन्दु कम होता हुआ उत्तरोत्तर अपना स्वरूप संकुचित करता जाता है, वही 'ऋक्' है। बाहर से उत्तरोत्तर कम होता हुआ, मण्डल-रूप में परिणत होता हुआ जो अग्निकेन्द्र में जाता रहता है—वही साम है। इस ऋक्सामालम्बन पर जो एक वायुपुरुष अपना व्यापार करता रहता है जो कि 'वय' स्वरूप है, वही 'यजुः' है। इस प्रकार से एक ही अग्नि निबिड़, तरल, विरलावस्था से अग्नि वायु, आदित्य (प्राण) रूप में परिणत होता हुआ ऋक्, यजुः, साम का स्वरूप बन जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं ऋग्यजुःसामलक्षणम् ॥'

जिस प्रकार से अग्नि से वेदत्रयी का स्वरूप बनता है, तद्वत् २१ के बाद में स्थित सोम से अथर्ववेद का स्वरूप बनता है। वेद तीन प्रकार का होता है—ब्रह्मनिःश्वसित, गायत्रीमात्रिक एवं यज्ञमात्रिक। ब्रह्मा 'स्वयम्भूवेद' गायत्री 'सूर्यवेद', एवं यज्ञ 'पृथिवीवेद' है।

आदित्य के बाद में (२१ के बाद में) भृगु और अङ्गिरामय सोम, एवं २७ के बाद में भृग्वङ्गिरास्वरूप सोम होता है। इनमें पहिले के अर्थात् २१ से २७ तक का जो भृगुमय सोम है, उसे ब्रह्मणस्पति कहते हैं एवं अङ्गिरा को बृहस्पति कहते हैं। २७ के बाद में जो भृगुस्वरूप सोम है उसे वरुण कहते हैं एवं अङ्गिरा को 'इन्द्रविद्युत्' कहते हैं। इस प्रकार विपरीत क्रम से देवक्रम निम्नलिखित हो जाता है—

१ वरुण, २ इन्द्रविद्युत्, ३ बृहस्पति ४ ब्रह्मणस्पति सोम ५ आदित्य ६ वायु, ७ अग्नि (पृथिवी)। वरुण और इन्द्र विद्युत् तथा बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति ये दो युग्म एक स्थान में रहते हैं। अतः देवगणना में इन्द्रविद्युत् और वृहस्पति की गणना नहीं की जाती, अपितु वरुण और ब्रह्मणस्पति की ही गणना की जाती है। इस प्रकार स्तौम्यत्रिलोकी में—अग्नि, वायु, आदित्य, सोम, वरुण—ये पाँचों देवता पाँचों लोकों के अधिष्ठाता माने जाते हैं। दूसरे हिसाब से—अग्नि, वायु, आदित्य, बृहस्पति और भृगु—यह क्रम भी माना जाता है। त्रिवृत् तक रहने वाला अग्नि आठ स्वरूपों में विभक्त हैं जो 'आठ वसु' कहलाते हैं। वायु ११ प्रकार का है। ये ११ प्रकार के वायु ही एकादश रुद्र कहलाते हैं। आदित्य प्राण १२ भागों में विभक्त है अतएव आदित्य १२ कहलाते हैं। इन्हीं वसुरुद्रादित्य को 'गणदेवता' कहते हैं।

त्रिवृत् तक चूंकि अग्नि निबिडावस्था में रहता है अतएव त्रिवृत् तक (९ तक) पृथिवी लोक कहलाता है। १५ तक वायुरूप तरलावस्था में, अतः उसे वायव्य अन्तरिक्ष लोक एवं २१ तक आदित्यरूप विरलावस्था में अतः वह सौर 'द्यौः' कहलाता है। चूंकि २१ तक आने वाला अग्नि केन्द्र से बद्ध होने के कारण 'सत्य'—स्वरूप है अतएव यहाँ तक तो लोक व्यवस्था भी व्यवस्थित रहती है। परन्तु सोम—चूंकि किसी के केन्द्र से बद्ध नहीं है। अतः वह ऋतस्वरूप है। इसीलिए २७ और ३३ दोनों को मिलाकर एक ही लोक बतला दिया जाता है, जो कि 'आपोलोक' कहलाता है।

हमारे शरीर में जो वाक् प्राण, चक्षु, मन एवं श्रोत्र नाम से प्रसिद्ध हैं—ये ही नाम पृथिवी के अहर्गण में भी प्रसिद्ध हैं। त्रिवृत् तक वाक्, पञ्चदश तक वायुस्वरूप प्राण, एकविंश तक चक्षु, सप्तविंश तक मन, त्रयस्त्रिंश तक श्रोत्र रहता है।

इस प्रकार एक स्तौम्य त्रिलोकी में पूर्वोक्त पञ्च प्राण, पाँच लोक, पाँच वेद,

पाँच देवता एवं पाँच गणदेवता होते हैं। इन पाँच पञ्चकों में से प्राणपञ्चक को छोड़कर शेष चार पञ्चक 'अशीतिपञ्चक' नाम से व्यवहृत होते हैं।

अशीतितालिका

वेदाः	लोकाः		देवाः	गणदेवाः
ऋग्	पृथिवी	सत्य	अग्निः	वसवः
यजुः	अन्तरिक्षम्		वायुः	रुद्राः
साम	द्यौः		आदित्यः	आदित्याः
अथर्व	आपः	ऋत	भृग्वङ्गिरसः (सोमः)	विश्वेदेवाः
अथर्व	आपः		भृग्वङ्गिरसः (वरुणः)	आप्याः

इस प्रकार 'पृथिवी के केन्द्र से लेकर ३३ तक स्तौम्यत्रिलोकी-विभाग में पूर्वोक्त अशीतियाँ होती हैं। इन्हीं से सारे विश्व का निर्माण होता है। सर्वप्रथम वरुण और इन्द्र-विद्युत् हैं जो भृग्वङ्गिरास्वरूप है। तत्पश्चात् बृहस्पति व ब्रह्मणस्पति हैं, जो भृग्वङ्गिरोमय हैं। तदन्तर आदित्य, वायु एवं अग्नि हैं। इन्हीं आदित्य वायु एवं अग्नि से साम, यजुः व ऋक् की उत्पत्ति होती है, जो ऊपर बतलायी जा चुकी है। यह ऋग्, यजुः, साम—भृगु अङ्गिरा के उदर में हैं, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'आपो भृग्वङ्गिरोरूपं (३३ वाले) आपो भृग्वङ्गिरोमयम् (२७ वाले)
अन्तरैते त्रयोवेदाः (ऋग्सामयजूंषि) भृगूनङ्गिरसः श्रिताः'

आगे जिस विज्ञान को हम बतलाने वाले हैं, उसमें वरुण और सोम का ही सम्बन्ध है। अतः प्रकृत में भृगु और अङ्गिरा दोनों का ग्रहण न कर वरुण और सोम का ही ग्रहण किया जाएगा। पूर्वोक्त स्तौम्यत्रिलोकी की जो स्थिति बतलायी गई है, उसमें जितने पदार्थों का निरूपण किया गया है—उसे ही 'ब्राह्मी स्थिति' समझनी चाहिए। इसी को लक्ष्य में रख कर भगवान् ने अर्जुन को कहा है—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥'

पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति के विवेचन में बतला दिया गया है कि अखिल प्राणि-समूह का निर्माण इन्हीं अग्नि, वायु, आदित्य, सोम और वरुण से होता है। इन्हीं को क्रमशः वागादि पञ्चप्राण कहते हैं। ये पांचों पदार्थ हमारे में तीन प्रकार से आते हैं—जन्मना, संवत्सरेण व गोचरेण।

जिस समय पुरुष स्त्री की योनि में वीर्यसेचन करता है उस समय उस वीर्य्य-बिन्दु में पार्थिव व सौर रस प्रविष्ट होता है। जिस समय बिन्दु योनि में आहित होती है, उस समय

की स्थिति का कूर्माकृत्यवच्छिन्न जो सौर रस है, वह उसमें प्रविष्ट होता है। उस वीर्य की बिन्दु के समधरातल से प्रारम्भ कर एक जो गोलवृत्त खींचा जायगा वह ठीक कूर्माकार का बनेगा, अर्थात्—उस समय का जो सौर रस है वह कूर्माकार रहता है। वही रस उस बिन्दु में प्रविष्ट होता है। चूंकि वह रस कूर्माकृतियुक्त है, कूर्म को कश्यप कहते हैं अतएव इस सृष्टि को वेद में 'काश्यपी सृष्टि' कहते हैं। इसी अभिप्राय से 'कश्यपात् सकलं जगत्' कहा जाता है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सर्वप्रथम अग्नि, वायु आदि देवता जन्म के समय हमारे पास आते हैं, अर्थात् हमारा आत्मनिर्माण इन्हीं देवताओं से होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः।'

जन्म के समय में आने वाले अग्न्यादि से ही हमारे शरीर का निर्माण होता है। इन्हीं पाँचों को शरीर में 'देवचिति' नाम से कहा जाता है। क्योंकि ये पाँचों ही प्राणस्वरूप हैं, प्राण को देवता कहते हैं, अतएव इनके चयन को 'देवचिति' कहा जाता है। अग्नि से वाक्प्राण, वायु से नासिकाप्राण, आदित्य से चक्षुःप्राण, एवं भास्वरसोम से मनःप्राण दिक्-सोम से श्रोत्रप्राण का निर्माण होता है। इस प्रकार इन पाँचों देवचितियों से पाँचों इन्द्रिय-प्राणों का निर्माण होता है। इस अभिप्राय से श्रुति कहती है—'अग्निर्वाग् भूत्वा···मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशत्, ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् इति।

ये जो देवचितियाँ हैं, उन्हें निराकार चिति समझनी चाहिए। जिस प्रकार से इन प्राणों की चिति होती है तद्वत् पृथिवी-अप्तेजोवायु आदि की भी चिति होती है। यह साकार चिति कहलाती है। शरीर में अस्थिमांसादि की जो समष्टि दिखाई देती है वही भूतचिति है। प्रकृत में यही बतलाना है कि—जो अग्नि आदि देवप्राण हैं वे एक बार जन्म से आते हैं वे हमारी आत्मा बन जाते हैं। जब प्राणोत्क्रान्ति होती है तभी इन की उत्क्रान्ति होती है। अग्नि, वायु, आदित्य तीनों अग्नि ही हैं। अतः निश्चित कहा जा सकता है कि इनका चयन अग्नि का ही चयन है। जब अग्नि २१ वें अहर्गण के बाहर चला जाता है तब सोमस्वरूप में परिणत हो जाता है। एवं सोम जब १७ वें अहर्गण में स्थित अग्नि में आहुत होता है तो अग्नि बन जाता है। वस्तुतः दोनों अग्नि ही हैं।

काश्यपी सृष्टि में जो अग्नि आत्मस्वरूपेण आहित होता है वह प्रकृत यज्ञ का 'अपूर्व अग्न्याधान' कहलाता है। एक बार जब इसका आधान हो जाता है तो फिर यावज्जीवन इनका (आग्नेय इन्द्रिय प्राणों का) सम्बन्ध नहीं टूटता। इस प्राकृतिक सृष्टि में सर्वप्रथम

प्रकृत्या अग्न्याधान होता है। अतएव देवात्मप्रजनन प्रक्रिया में वैदिक विज्ञानिकों ने इस अपूर्व अग्न्याधान के अनुकरण पर इस वैध अपूर्व अग्न्याधान का विधान किया। अर्थात् यज्ञ द्वारा नया देवात्मा उत्पन्न करना है। प्रजनन क्रिया में पहिले अग्न्याधान होता है। अतः इस प्रजनन क्रिया में भी प्रथम अग्न्याधान करना आवश्यक है। वहाँ प्रकृति आधान करती है। यहाँ वैध उपायों से आधान किया जाता है। यही प्रथम अपूर्व अग्न्याधान है।

संवत्सर द्वारा अग्नि आदि प्राण हमारे पास आते रहते हैं। प्रतिसंवत्सर अग्नि, वायु, आदित्य व सोम प्राण हमारे पास आते रहते हैं परन्तु साथ भी खर्च भी होते रहते हैं। जन्म के समय अग्नि, वायु, आदित्य जैसे हमारी आत्मा बन जाते हैं वैसे ये सांवत्सरिक प्राण हमारी आत्मा नहीं बनते। किन्तु इनका आदान विसर्ग होता रहता है। 'ऋतु' नाम से कही जाने वाली जो सांवत्सरिक अग्नि है—अपूर्व अग्न्याधान में वैध उपायों द्वारा इसी का आधान होता है। अर्थात् संवत्सराग्नि को आत्मसात् करना ही अपूर्वाधान है। सवत्सर का अग्नि संवत्सरान्त में नष्ट हो जाता है अतः इस आहित अग्नि की रक्षा के लिए यजमान को प्रतिवर्ष 'सोम' का हवन करना पड़ता है। तभी वह आहित अग्नि प्रज्वलित रहता है। यदि सोमयज्ञ नहीं किया जायगा तो संवत्सरान्तर में जिस अग्नि का आधान किया गया था वह सर्वथा उच्छिन्न (नष्ट) हो जायगा।

इस प्रकार एक तो जन्मना अग्नि वायु आदित्य का आगमन होता है एक संवत्सर द्वारा। जन्मना आने वाले अग्न्यादि कभी उच्छिन्न नहीं होते। एवं संवत्सर का प्रतिवर्ष उच्छिन्न होता है। जिस प्रकार संवत्सर अग्नि हमारे शरीर में आता है वैसे ही एक तीसरा गोचर अग्नि और आता है। जो कि ग्रहनक्षत्रादि से संबंध रखता है। यह अग्नि प्रतिक्षण आया करता है। आकस्मिक घटनायें इसी गोचर के कारण होती हैं। सहसा उद्भूत होने वाली इच्छायें, अर्थात् प्रतिक्षण होने वाला विचारपरिवर्तन तथा अकस्मात् शीत, गर्मी आदि का होना तत्तद्देवताओं की प्रेरणा पर आश्रित है। जो 'ऋतु' अग्नि हमारे में आहित होता रहता है उस पर इस गोचर अग्नि (देवताओं) का आधान होता है। आकस्मिक सभी घटनायें इस गोचर अग्नि से सम्बन्धित हैं।

ऊपर बतलाया गया है कि सूर्य के ऊपर भृगु और अङ्गिरा की सत्ता है। २७ वें अहर्गण तक रहने वाले 'भृगु' को सोम तथा ३३ वें अहर्गण तक रहने वाले सोम को वरुण कहते हैं। ये दोनों ही सोम वायुरूप हैं। अन्तर यही है कि वरुण सोम 'याम्य' सोम है अर्थात् घोर वायु है तथा ब्रह्मणस्पति सोम 'शिव' वायु है। संसार में यावन्मात्र हलचल वायु के कारण होती है। वरुण के पास अङ्गिरा नामक इन्द्रविद्युत् की सत्ता बतलाई है। यह इन्द्र विक्षेपणधर्मा है। वरुण अर्थात् घोर वायु पर जब इन्द्र का आघात लगता है तो

वायु की गति में वेग उत्पन्न हो जाता है। इन्द्र द्वारा आहत यह वरुण वायु संवत्सराग्नि में उत्पात उत्पन्न किया करता है। जिस प्रकार वरुण वायु उत्पात मच ता है वैसे ही सोम वायु भी अपना व्यापार संवत्सराग्नि में करता है। अन्तर इतना ही है कि वरुण का आघात क्रूर होता है, क्यों कि वह रूक्ष वायु है। तथा सोम का आघात मृदु होता है क्यों कि वह शिव वायु है। राज्याप्राप्ति क्रूरता से होती है और यश:प्राप्ति सौम्य भाव से। इसी अभिप्राय से 'वरुणो राज्यकामः' कहा गया है तथा सोम के लिए 'सोमो यशस्कामः' कहा गया है। तात्पर्य यही है कि संवत्सराग्नि की जो प्राकृतिक स्थिति है उसे वरुण और सोम (वायु) बदल देते हैं। यही उस आहित अग्नि पर पुनः आधान करना है। क्यों कि सोम और वरुण वायु रूप हैं अतएव पररमेष्ठच समुद्र को वायुसमुद्र कहा जाता है। इस वायु के आघात से सांवत्सरिक अग्नि की स्थिति बदल जाती है यही पुनराधान है यह प्राकृतिक नहीं है, अपितु काम्य अर्थात् आकस्मिक है।

ऊपर बतलाया गया है कि अग्नि ही निबिडादि अवस्थाभेद से अग्नि, वायु, आदित्य बनता है एवं वसु, रुद्र, आदित्यादि देवता इसी के अवस्थामात्र हैं। इससे सिद्ध होता है कि सारे देवता अग्निस्वरूप ही हैं। इसी अभिप्राय से 'अग्निः सर्वा देवता' कहा जाता है। वरुण और सोम के आघात से पूर्व अग्नि पर देवों का शासन था। परन्तु वरुण के आघात के लगते ही अग्नि की स्थिति बदल गयी। अतएव 'देवताओं का शासन हट कर वरुण का हो गया' यह कहा जाता है। यही वरुण की राज्यप्राप्ति है। इस पुनराधान के रहस्य के ध्यान में आते ही देवताओं ने सारे रूप (वयोनाधात्मक, वर्णात्मक) अग्नि में डाल दिये। अन्ततोगत्वा उन्होंने अग्नि के इस पुनराधान द्वारा अपनी सारी सम्पत्ति को प्राप्त कर लिया। अर्थात् जो देवता वरुण के पुनराधान से पूर्व संवत्सराग्नि में थे वे वरुण द्वारा पुनराहित अग्नि में आ गये। अतः जो वरुण की तरह राज्यावाप्ति, और सोम की तरह यश:प्राप्ति चाहता है—वह अग्नि का पुनराधान करे।

इति सोमवरुणयोः वैज्ञानिकं रहस्यम्।

पुनराधान-काल—

अब, पुनराधान किस समय करना चाहिए ? यह बतलाते हैं—

यजमान को चाहिए कि श्रावण की अमावस्या (वैदिक हिसाब से आषाढ़ की अमावस्या) को पुनर्वसु नक्षत्र में पुनराधान करे। यह पुनराधान है, अतः इसे पुनर्वसु में ही करना चाहिए। अग्नि ऋतुस्वरूप है तथा वर्षा सारी ऋतुओं की समष्टि है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वर्षा ही तो सारी ऋतुओं की प्रतिकृति है। जब कोई मनुष्य दस-पांच संवत्सर कहीं रह कर आता है, तो लौटने पर—मैंने इतने वर्षाकाल वहाँ व्यतीत

किये, मैं इतने चौमासे वहाँ रहा- इस प्रकार चौमासों का नाम लेकर संवत्सरों की ओर संकेत करता है। इस प्रकार संवत्सर के लिए वह वर्षाकाल का प्रयोग करता है। इससे सिद्ध होता है कि वर्षा ही सब ऋतुएँ हैं। अन्यथा सर्व-ऋतु-समष्टि संवत्सर के लिए वर्षा का प्रयोग कैसे करता ?

अपिच, वर्षा ही सारी ऋतुओं का स्वरूप है। क्यों कि संवत्सर में ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर ये तीन ऋतुएँ होती हैं। आज तो बड़ी गर्मी है—यह व्यवहार वर्षा में होता है। आज अधिक वर्षा होने से कुछ सर्दी मालूम होती है—यह व्यवहार भी वर्षा में होता है। तथा वर्षण क्रिया के कारण वर्षा—वर्षा ऋतु है ही। इस प्रकार ग्रीष्म, वर्षा और शिशिर तीनों ऋतुओं का वर्षा में समावेश हो जाता है। इसी अभिप्राय से 'वर्षा हि वै सर्वे ऋतवः' यह कहा गया है ॥७॥

पूर्व में जो वर्षा का सर्वऋतुत्व बतलाया गया है, वह प्रत्यक्ष रूप से बतलाया गया है। अब परोक्षरूप से वर्षा में सारी ऋतुओं की सत्ता बतलाते हैं—वर्षा के पूर्व जिस समय पूर्व की हवा (पुरोवात) चलती है वह साक्षात् वसन्त का स्वरूप है। जैसा—मधुर वायु वसन्त में चलता है वैसा ही स्वरूप पुरोवात का होता है। जो गर्जना होती है वही ग्रीष्म का स्वरूप है। क्यों कि आग्नेय पदार्थों में जब परस्पर संघर्ष होता है तभी गर्जना होती है। अतः गर्जन ग्रीष्म का रूप है। जो मेह बरसता है, वह स्पष्ट ही वर्षा का रूप है। जो बिजली चमकती है वह शरद् का रूप है। क्यों कि शरद् में चन्द्रिका से जैसा प्रकाश होता है, वैसा ही बिजली चमकने से हो जाता है। जब वर्षा के बाद बादल हट जाते हैं तो वह हेमन्त का स्वरूप है, क्यों कि बादल हटते ही सर्दी हो जाती है। इस प्रकार यह वर्षा सारी ऋतुओं की समष्टि है। और अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया था, यह ऊपर बतलाया जा चुका है। अतः वर्षा में आधान करता हुआ यजमान सारी ऋतुओं से सर्वात्मना अग्नि का संग्रह करता है ॥८॥

भगवान् याज्ञवल्क्य 'तु' शब्द से पूर्व पक्ष का निराकरण करते हुए कहते हैं कि भगवान् सूर्य ही सारी ऋतुओं की समष्टि है। जिस समय सूर्य उदित होता है, वह समय वसन्त ऋतु है। क्यों कि वह समय वसन्त की तरह बड़ा मधुर होता है। जब सूर्य कुछ ऊपर चला जाता है, तो वह समय ताप की अधिकता के कारण ग्रीष्म का स्वरूप बन जाता है। जब सूर्य मध्याह्न पर पहुँच जाता है तो वह वर्षा का समय है। क्यों कि गर्मी की पराकाष्ठा पर ही वृष्टि होती है। अतः मध्याह्न को वर्षाकाल बतलाया गया है। तत्पश्चात् जब सूर्य अपराह्न में जाता है तो वह काल शरद् का स्वरूप है। तथा जब सूर्य अस्त हो जाता है तो अग्नि के सर्वथा हीन (परिक्षीण) हो जाने से वह समय हेमन्त का स्वरूप है।

इसलिए मेरे विचार से तो किसी भी ऋतु में मध्याह्न में पुनराधान करे। मध्याह्न में पुनराधान करने से एक कार्य और सिद्ध हो जाता है कि प्रातः सायं की अपेक्षा मध्याह्न में सूर्य पृथिवीलोक के अत्यन्त समीप आ जाता है। अतः मध्याह्न में अग्न्याधान करने से अग्नि का सम्बन्ध सर्वात्मना हो जाता है ।।६।।

हमारी आत्मा अग्नि से बनी हुई है। छाया अन्धकारमय होने से असुरप्रधाना है। अतएव छाया एक प्रकार से आत्मा का शत्रु है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यह पुरुष छायास्वरूप शत्रु से प्रतिदिन घिरा रहता है। परन्तु सायं प्रातः की अपेक्षा मध्याह्न में इसका यह शत्रु (छाया) सर्वथा क्षीणकाय हो जाता है और जो रहता है वह भी इसके पैरों के नीचे भयभीत-सा रहता है। मध्याह्न में आधान करता हुआ यजमान क्षीण दशा को प्राप्त हुए शत्रु का ही नाश करता है। अतः मध्याह्न में ही पुनराधान करना चाहिए।

पुनराधान कर्मप्रपञ्च—

पुनराधान क्यों करना चाहिए ? इसकी उपपत्ति बतला कर अब कर्मप्रपञ्च का निरूपण करते हैं। पहिले अपूर्वाधान गार्हपत्य और आहवनीय में किया गया था, अब उसी में पुनराधान करना है। अतः जो राख आदि उसमें पहिले दिन पड़ी हुई है, उसे दर्भ से दूर करते हैं। दर्भ से ही उसका उद्धरण क्यों करे ? इसका कारण बतलाते हैं कि— पुनराधान से पहिले जो प्रतिदिन अग्निहोत्र होता है उसमें एक लकड़ी इस उद्धरण के लिए नियत रहती है। प्रतिदिन अग्निहोत्र करने के पूर्व उस लकड़ी से पहिले दिन की राख आदि एक तरफ हटा दी जाती है तदनन्तर अग्निहोत्र किया जाता है। यदि अपूर्वाधान से आहित अग्नि की तरह इस पुनराधान के लिए भी उस काष्ठ से ही उद्धरण किया जायगा तो ऐसा करने वाला यजमान इस पुनराधेय अग्नि को 'यातयाम' बना देगा और अग्नियों में परस्पर द्वेषभाव उत्पन्न कर देगा। तात्पर्य यह है कि अपूर्वाधान से सांवत्सरिक अग्नि का आधान किया जाता है। अर्थात् संवत्सर की अग्नि से ही अरणि-मंथन द्वारा यह अपूर्वाधान किया जाता है किन्तु पुनराधेय अग्नि सांवत्सरिक नहीं है अपितु वर्षा में रहने वाली एक विजातीय अग्नि है। जो संवत्सराग्नि अरणि में रहता है वही संवत्सराग्नि सारे वृक्षों में रहता है। तथा जो अग्नि वर्षा में रहता है वही अग्नि दर्भ में रहता है। इस प्रकार अपूर्वाधेय तथा पुनराधेय अग्नि सर्वथा विजातीय है। काष्ठस्थित अग्नि अपूर्वाधेय अग्नि की तरह सांवत्सरिक अग्नि है एवं दर्भस्थित अग्नि पुनराधेय अग्नि की तरह वर्षाग्नि है। अतः यदि पुनराधेय अग्नि में विजातीय काष्ठ का सम्बन्ध किया जाएगा तो पुनराधान व्यर्थ होगा। क्योंकि काष्ठ का सम्बन्ध करने से उस अग्नि में न वर्षाग्नि का भाव रहेगा और न संवत्सराग्नि का। अपि च, काष्ठ से उद्धरण करने पर इस पुनराधेय अग्नि में द्वेषबुद्धि उत्पन्न हो जाएगी। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को

को विशेषतौर पर निमन्त्रण करने पर उसके साथ किसी विजातीय मनुष्य को भोजन कराया जाता है तो वह निमन्त्रित व्यक्ति अत्यन्त रुष्ट हो जाता है। उसी प्रकार पुनराधेय अग्नि को निमंत्रित कर उसमें काष्ठ में रहने वाले विजातीय अग्नि का सम्बन्ध करना पुनराधेय अग्नि में रुष्टता का भाव उत्पन्न करना है। अतः पुनराधेय अग्नि के सजातीय अग्नि से ही उसका उद्धरण करना चाहिए न कि विजातीय से। और पुनराधेय अग्नि की सजातीय अग्नि दर्भ में ही है, अतः दर्भ से ही उद्धरण करते हैं। दर्भ से उद्धरण करने पर उपर्युक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है, साथ ही अतिशय भी उत्पन्न होता है। उस अतिशय का ही निरूपण करते हैं—पुनराधान वर्षा में श्रावणी अमावस्या को किया जाता है। प्राकृत यज्ञ में वर्षा में ही अग्नि का पुनराधान होता है अतः इस गैधयज्ञ में भी वर्षा में ही पुनराधान किया जाता है।

पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है। जिस समय पृथिवी जिस नक्षत्र पर रहती है उस समय उस मास का नाम उसी नक्षत्र के नाम पर ही रखा जाता है। यदि फल्गुनी नक्षत्र पर पृथिवी है तो उस मास का नाम फाल्गुन होता है। यदि चित्रा नक्षत्र पर रहती है तो उस मास का नाम चैत्र होता है। यही बात अन्य मासों के नामों पर भी है। प्रकृत में यही बतलाना है कि परमेष्ठिपिण्ड, जो कि 'आपोमय' है, के श्रवण नक्षत्र के ठीक सामने उसी परिधिपिण्ड के ग्रह का नाम वरुण है वह भी आपोमय है। पृथिवी में यह पारमेष्ठ्य पानी सदा आया करता है। परन्तु जिस समय पृथिवी सूर्य के प्रतिदिक् में रहती है अर्थात् पुनर्वसु नक्षत्र के पास रहती हं उस समय परमेष्ठिपिण्ड पृथिवी से बहुत दूर पड़ता है अतः सूर्य के ताप के कारण पृथिवी पर आता हुआ पारमेष्ठ्य पानी विशकलित होकर उड़ जाता है। इस प्रकार पृथिवी पारमेष्ठच पानी से वञ्चित ही रहती है। परन्तु घूमते-धूमते जब पृथिवी उत्तराषाढ़ा के पास आती है तो परमेष्ठिपिण्ड के पास होने के कारण उस पानी का पृथिवी से सम्बन्ध होने लगता है अतः यहीं से वर्षा का प्रारम्भ है। जब पृथिवी श्रवणा नक्षत्र पर आ जाती है तब परमेष्ठिपिण्ड पृथिवी के सन्निकट आ जाता है, यही वर्षा का प्रधान समय है। इस प्रकार उत्तराषाढ़ा से प्रारम्भ कर उत्तराभाद्रपदा तक वर्षाकाल रहता है। वरुण और सोम वायुरूप हैं और वायु अर्थात् पुरोवात ही वर्षा का प्रधान कारण है। इसीलिए श्रुति में—'वायुर्वै वृष्ट्या ईष्टे'—यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से वृष्टिविद्या में कहा गया है—

न सूर्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्र कारणम्।
वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुनैव प्रवर्षति ॥ कादम्बिनी

क्योंकि वायु से ही वर्षा होती है और वर्षा में सारी ऋतुओं का अग्नि समाविष्ट हो जाता है अतएव वरुण ने पुनराधान किया था, यह कहा गया है।

देवताओं ने सारे रूपों को अग्नि में डाल दिया अर्थात् छहों ऋतुओं के स्वरूप को इस वर्षाग्नि में डाल दिया। इस प्रकार जो सांवत्सरिक अग्नि था वही आज इस वर्षाग्नि में आ जाता है। सांवत्सरिक अग्नि के जो ६ ऋतुस्वरूप थे वे आज इस वर्षा में आ जाते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि यह पुनराधान पानी से सम्बन्ध रखने वाला है। पुनराधान चातुर्मास्य में ही होता है। क्योंकि उसीमें, आहित संवत्सराग्नि में वरुण द्वारा पुनः अग्नि आहित होता है। प्रकृतियज्ञ में चातुर्मास्य में पुनराधान होता है अतः हमें भी चातुर्मास्य में पुनराधान करना चाहिए।

वृक्षादि की कई जातियाँ होती हैं— गुल्म, वल्ली, वनस्पति, औषधि इत्यादि। जिनमें शाखा नहीं होती, जो स्तूप की तरह सीधे खड़े रहते हैं वे गुल्म कहलाते हैं, कुशादि इसी के अन्तर्गत हैं। जो फूल के बाद में नष्ट हो जाती हैं—वे ओषधियाँ कहलाती हैं तथा जो फूल के बाद भी रहती हैं वे वनस्पति कहलाते हैं। जिसका आत्मा चन्द्ररस से बनता है, जिसके आत्मा से सूर्य का सम्बन्ध नहीं हो पाता वे ओषधियाँ कहलाती हैं परन्तु जिनका आत्मा सूर्यरस से बनता है—वे वनस्पति कहलाते हैं। प्रकृत में हमें दर्भ का स्वरूप बतलाना है—

सूर्यरश्मियाँ सदा प्राणोदान क्रिया करती रहती हैं। आती हुई सूर्य की किरणों को 'प्राण' एवं जाती हुई को 'उदान' कहते हैं। पार्थिव पानी सूर्यनाडी द्वारा ही ऊपर की ओर जाया करता है। सूर्यकिरणों से प्रतप्त जो वायु है, तत्संयोग से पार्थिव पानी सूर्य की ओर खिचता रहता है। इसीलिए भगवान् कणाद कहते हैं—'नाड्यौ वायुसंयोगादारोहणम्।' इति। (२०७ पृष्ठ अ. ५। अ. २, सू. ५वां)

एक नाडी तो अप्संवाहिनी व दूसरी वायुसंवाहिनी है। इसी अभिप्राय से 'नाड्यौ' यह प्रथमा का द्विवचन दिया है। तात्पर्य यह है कि पानी तप्तवायु के संयोग से सूर्यरश्मियों द्वारा ऊपर जाता रहता है। चूंकि वह पानी मिट्टी से मिश्रित रहता है अतः किरणों से खिचते हुए पानी के साथ जहाँ तक मिट्टी का अनुशय जाता है, वहाँ तक एक स्तूप खड़ा हो जाता है, उसी स्तूप को 'दर्भ' कहते हैं। इस प्रकार दर्भ चूंकि पानी और अग्निमय है अतएव इसे आपोमय अग्नि भी कह सकते हैं एवं अग्निमय पानी भी। अतएव आपोमय अग्नि के अभिप्राय से ही इसे 'कुशा' भी कहते हैं। आग ही पृथिवी (मिट्टी) में सो गया है अतएव इसे 'कुशा' कहते हैं। यह कुशा आपोमय भी है व अग्निमय भी। इसी अभिप्राय से—'आपो वै दर्भाः' यह कहा गया है। जो वर्षा है वह भी आपोमय है एवं यह वर्षाग्नि छहों ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया है अर्थात् वर्षाग्नि में छहों ऋतुओं का भाव आ

गया है। अतः आपोमय दर्भ से पानी में प्रविष्ट अग्नि को निकालते हैं। पानी की वस्तु का तज्जातीय वस्तु से सम्बन्ध करना ही एक प्रकार का अतिशय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि पुनराधेय अग्नि आपोमय अग्नि है। अतः इस कर्म में आपोमय अग्निस्वरूप दर्भ का ही उपयोग करना चाहिए। इसीलिए दर्भ से उसका उद्धरण किया जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'आपो दर्भाः, आपो वर्षाः ऋतून् प्राविशत् अद्भिरेवैनमेतदद्भ्यो निर्मिमीते तस्माद्दर्भैरुद्धरति ॥११॥

उद्धरणानन्तर जिस समय गार्हपत्य में पुनराधेयाग्नि का आधान करने के लिए उद्यत होते हैं उस समय आधान के पहिले आकड़े के दो पत्तों को लेकर उनके बीच में व्रीहि की रोटी रख कर उसे गार्हपत्य में रख देते हैं। चावल की हजारों जातियाँ होती हैं, वे कुल दो भागों में विभक्त हैं शालि और साठी। जो मार्गशीर्ष में पैदा होते हैं उन्हें 'शालि' चावल तथा जो वर्षाऋतु (आषाढ़) में पैदा होते हैं वे साठी चावल कहलाते हैं। चूंकि ये ६० दिन में ही परिपक्व हो जाते हैं अतएव इनको 'साठी' कहते हैं। इन्हीं साठी चावलों को वैदिक भाषा में 'व्रीहि' कहते हैं।

चूंकि प्रकृत में वर्षाग्नि का आधान करते हैं अतः वर्षा में उत्पन्न व्रीहि का ही पुरोडाश होना उचित है। इसीलिए व्रीहि का पुरोडाश रखते हैं ॥१२॥

इसी प्रकार जिस समय आहवनीय में पुनराधेयाग्नि का आधान करने के लिए उद्यत होता है, उस समय आधान के पहिले आकड़े के दो पत्तों के बीच में जौ की रोटी रख कर उसे आहवनीय में रख देते हैं। ऐसा करता हुआ आहवनीयाधान करता है। दोनों में अपूप रखता हुआ एक प्रकार से दोनों में पुनराधान ही करता है। दोनों में अपूप रखने का कारण बतलाते हुए ये लोग कहते हैं कि—पुनराधान के पहिले जो दोनों के दोनों अग्नि हैं—उनको छिपाने के लिए ही ये अपूप रखे जाते हैं अर्थात् अपूर्वाधेय अग्नि से पुनराधेय अग्नि को अलग करने के लिए ही अपूप रखे जाते हैं।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं कि ऐसा कभी नहीं करना चाहिए। जिस व्यवधान करने के लिए तुम अपूप रखते हो वह तो रात्रि से ही हो जाता है। अर्थात् अग्निहोत्र पहिले दिन किया था, अब दूसरे दिन पुनराधान किया जाता है। इस प्रकार से रात्रि के व्यवधान से ही अग्निहोत्रस्थानीय दो अपूर्वाधेयाग्नियां अन्तर्हित हो जाते हैं। अपूप रखने वालों का तात्पर्य यही था कि चूंकि अपूर्वाधेयाग्नि और पुनराधेयाग्नि सर्वथा विजातीय हैं अतः दोनों की विद्युत् का परस्पर संक्रमण न हो जाय—इसलिए उनके बीच अपूप रख देना चाहिए। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसके लिए रोटी रखने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि पुनराधान तो दूसरे दिन किया जाता

है। तब तक तो पूर्वाग्नि विद्युत् का पता नहीं कहाँ चला जाता है? रात के व्यवधान से ही पूर्वाग्निविद्युत् अन्तर्हित हो जाता है—अतः अपूप रखने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥१३॥

दर्शपूर्णमासादि में जो पुरोडाश दिया जाता है उसमें चूँकि दो-दो, चार-चार देवता शामिल रहते हैं अतः उसमें अग्निषोमीय पुरोडाश दिया जाता है, कहीं ऐन्द्राग्न द्वादश-कपाल पुरोडाश दिया जाता है। परन्तु प्रकृत में देवता केवल अग्नि ही है, अतः पुनराधान में आग्नेय पञ्चकपाल पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है। प्रत्येक इष्टि में अनुवाक्या और याज्या करनी पड़ती हैं। उनके कर्मानुसार भिन्न-भिन्न गायत्री आदि मन्त्र होते हैं। इस पुनराधेय इष्टि में, १०-१० अक्षर के एक एक चरणयुक्त जो पांच-पांच पद वाले पंक्तिछन्द हैं, तद्युक्त याज्या और अनुवाक्या करनी चाहिए। अर्थात् जिसका प्रत्येक चरण १०-१० अक्षर का हो एवं कुल ५ चरण (५० अक्षर) हो, ऐसे पंक्तिछन्द से ही याज्या और अनुवाक्या करनी चाहिए। ऋतु चूंकि पाँच ही होती है एवं यह अग्नि ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया था। अतः पाँच से अनुवाक्या व याज्या करता हुआ इस अग्नि का आधान करता है। अर्थात् अग्नि पाँच भागों में विभक्त है, अतः सर्वात्मना अग्नि के ग्रहण करने के लिए तन्मात्रास्वरूप पञ्चपदा पंक्ति छन्द से अनुवाक्या और याज्या करते हैं ॥१४॥

दर्शेष्टि आदि इष्टियों में आग्नेय आज्यभाग, सौम्य आज्यभाग, वैश्वदेव याग होता है। उभयत्र अच्युत पुरोडाश तथा अग्निषोमीय अष्टकपाल पुरोडाश होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न देवताओं के लिए भिन्न-भिन्न आहुतियाँ दी जाती हैं। किन्तु प्रकृत में सारी आहुतियाँ–सारे अवदान आग्नेय ही होते हैं। यहाँ जो कुछ दिया जाता है 'अग्नये' कह कर अग्नि को ही दिया जाता है। इसका कारण यह है कि त्वष्टा ने इसी प्रकार से अग्नि के प्रिय धाम को प्राप्त किया था अर्थात् त्वष्टा द्वारा केवल अग्नि इस वर्षा में लाया गया था। क्योंकि अग्नि का ही प्राधान्य वर्षा में होता है अतः सम्पूर्ण कार्य अग्नि के लिए ही होता है। जब अग्निमात्र का आधान (आह्वान) है तो उसीके लिए हवि देना उचित है ॥१५॥

इस पुनराधेय अग्नि के सम्बन्ध से ही उपांशु पुरोडाश दिया जाता है। क्योंकि ब्राह्मणभोजन के समय भाई-बन्धुओं अथवा विशिष्ट मित्र के लिए यदि कोई विशिष्ट पदार्थ बनाना चाहता है तो वह पदार्थ चुपचाप ही बनाया जाता है और चुपचाप ही उनको दिया जाता है उसी प्रकार यह पुरोडाश अग्नि के ही लिए है इसमें अन्य देवताओं का भाग नहीं है अतः इसे चुपचाप ही देना उचित है। अन्य जो इष्टियां हैं वे वैश्वदेव हैं अर्थात् उनमें अनेक देवता हैं। परन्तु यह आग्नेय यज्ञ केवल अग्नि के लिए है, एवं चुपचाप उसे

दिया जाता है वह छिपे हुए के समान है। अतः प्रकृत कर्म में उपांशु ही पुरोडाश दिया जाता है ॥१६॥

इस कर्म में ४ प्रयाज होते हैं एवं अन्त में २ अनुयाज होते हैं। इनमें से पाँच का तो उपांशु यजन होता है तथा अन्तिम जो अनुयाज है उसका ऊँचे स्वर से मन्त्र बोलते हुए यजन किया जाता है। क्योंकि उस समय अग्नि कृतकर्म ही हो जाता है। जो कर्म समाप्त हो जाता है अर्थात् जब उसका फल सामने आ जाता है वह सबको विदित हो जाता है उसे ऊँचे स्वर से मन्त्र बोल कर करने में कोई दोष नहीं ॥१७॥

पद्धतिनिरूपण

सर्वप्रथम आश्रावण किया जाता है, तदनन्तर 'अस्तु श्रौषट्' इस रूप से प्रत्याश्रावण। तत्पश्चात् होता 'यज' ऐसा बोलता है और अध्वर्यु 'ये यजामहे' कह कर 'वौषट' बोलकर आहुति देता है। वौषट् को छोड़ कर 'ओ श्रावय' 'अस्तु श्रौषट्' 'यज' 'ये यजामहे' इनका स्वरूप प्रायः सारे कर्मों में समान ही है। केवल 'वौषट्' के स्थान में कहीं 'स्वाहा वेट्' तथा कहीं 'वौ फाक्' कहा जाता है। एकादश प्रयाज व एकादश ही अनुयाज होते हैं। प्रयाजों को ऋतु कहते हैं और अनुयाजों को छन्द। प्रधान याग के साथ प्रयाज व अनुयाज अवश्य करने होते हैं, अन्यथा सारा यज्ञ यातयाम हो जाता है। ११ प्रयाज एकादश आप्री अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं। अग्नि के अवस्थाभेद से ही ये ११ भेद होते हैं। उनके नाम क्रमशः—१ समिध्, २ तनूनपात्, ३ नराशंस, ४ इला, ५ बर्हिः, ६ द्वारो दैव्यः, ७ नक्तोषासा, ८ दैव्या होतारौ है। इन आप्री अग्नियों से भिन्न-भिन्न कर्मों में नियत आप्री प्रयाजों का यजन होता है। जैसे दर्शपूर्णमासेष्टि में ५ प्रयाज एवं ५ अनुयाज होते हैं। परन्तु प्रकृत में क्रमशः—समिध्ः, तनूनपात्, नराशंस और इला ये ४ प्रयाज तथा दो अनुयाज होते हैं।

इस प्रकार 'ओ श्रावय' इस रूप से आश्रवण कर होता प्रथम समिध् नाम के प्रयाज के लिए कहता है—'समिधो यज'। समिध् का जो यजन किया जाता है वह परोक्षरूप से अग्नि का ही यजन किया जाता है क्योंकि समिध् में अग्नि ही परोक्ष रूप से बैठा हुआ है। तात्पर्य यह है कि पहिले पुनराधान के विषय में 'सर्वं आग्नेयो भवति' यह प्रतिज्ञा की जा चुकी है। ऐसी स्थिति में यदि समिध् में स्वतन्त्र भाव आ जायगा तो 'सर्वं आग्नेयो भवति' इस प्रतिज्ञा का भङ्ग होगा। अतः उस प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए 'तदाग्नेयं रूपं परोक्षम्' यह कहा जाता है।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब 'सर्वं आग्नेयो भवति' यह प्रतिज्ञा हो तो 'समिधो यज' यह कहने और उसके लिए 'तदाग्नेयं रूपम्' इस समाधान करने की क्या आव-

श्यकता है। हमारे विचार से तो चारों प्रयाजों में 'अग्नीन् यज' ऐसा ही बोलना उचित है। क्योंकि 'अग्नीन् यज' कहना ही प्रत्यक्ष अग्नि का स्वरूप-सम्पादन करना है। अतः चारों स्थानों में 'अग्नीन् यज' यही बोलना चाहिए ।।१८।।

आश्रावण के अनन्तर होता निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ ४ प्रयाजों का यजन करता है—

'अग्न आज्यस्य व्यन्तु वौ ऋक् ।१। अग्निमाज्यस्य वेतु वौ ऋक् ।२।
अग्निनाऽऽज्यस्य व्यन्तु वौ ऋक् ।३। अग्निराज्यस्य वेतु वौ ऋक् ।४।

इस प्रकार इन चारों वाक्यों से ४ प्रयाजों का यजन करता है ।।१९।

तदनन्तर आग्नेय आज्यभाग और सौम्य आज्यभाग ये दो आज्यभाग किये जाते हैं। इन आज्यभागों में आग्नेय आज्यभाग के विषय में कोई विवाद नहीं है। उसके लिए 'अग्नये अनुब्रूहि' यह अनुवाक्या कर 'अग्नये स्वाहा' कह कर आहुति दे देनी चाहिए। किन्तु सौम्य आज्यभाग में यदि सोम का नाम लेकर आहुति दी जाती है तो 'सर्वं आग्नेयो भवति' इस निष्केवल्य की प्रतिज्ञा भङ्ग होती है और यदि 'अग्नये' कहा जाता है तो सौम्य आज्यभाग नहीं होता है, और इस प्रकार कर्मविच्युति होती है। इस दोष के परिहार के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य उपाय बतलाते हैं कि—'पावक' अथवा 'इन्दुमान्' अग्नि के नाम-ग्रहण से अग्नि का निष्केवल्यत्व भी बना रहेगा और सौम्य आज्यभाग भी सम्पन्न हो जायगा। अतः पावक तथा इन्दुमान् अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग करो तो वहां 'स्वाहा अग्निं पवमानम्' यह कहना चाहिए। और इन्दुमान् अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग करना है तो वहाँ 'स्वाहाग्निमिन्दुमन्तम्' यह कहना चाहिए।

एक ही अग्नि के पवमान, पावक और शुचि ये तीन भेद होते हैं। जो सौम्य अग्नि है उसे पवमान कहते हैं जो कि 'आक्सिजन' नाम से प्रसिद्ध है। पवमान् और इन्दुमान् में इतना ही अन्तर है कि पवमान अग्नि स्वयं सोमरूप है। और इन्दुमान् अग्नि में सोम साथ में है न कि वह सोमरूप है। इस प्रकार पवमान या इन्दुमान् कह देने पर 'सर्वं आग्नेयो भवति' इस प्रतिज्ञा का भङ्ग भी नहीं होता और सौम्य आज्यभाग भी सम्पन्न हो जाता है। यजन करते समय—'स्वाहा अग्निम्, स्वाहा अग्नींनाज्यपान्' जुषाणोऽअग्निमाज्यस्य वेतु' यह कह देना चाहिए। इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—कि जब आग्नेय आज्यभाग करना हो तो उसके लिए 'अग्नयेऽनुब्रूहि' इस प्रकार प्रैष करना चाहिए। उस प्रैष को सुन कर होता को निम्नलिखित अनुवाक्यामन्त्र बोलना चाहिए—

'अग्निं सोमेन बोधय समिधानोऽअमर्त्यम्।
हव्या देवेषु नो दधत् जुयाषाणोऽअग्निराज्यस्य वेतु ।।इति।

समिधानः सन् अमर्त्यम् अग्निं सोमेन (स्तुत्या) बोधय। यतः नः हव्या (हव्यानि) देवेषु दधत्। अग्निः जुषाणःसन् आजस्य वेतु। समिधा डाल कर प्रज्वलित कर इस अमृताग्नि को स्तुति से जगाओ। क्यों कि यह अग्नि हमारे द्वारा दिये हुए हव्यों को देवताओं के पास पहुँचाने वाला बनेगा। तथा यह अग्नि प्रसन्न होकर इस घृत का भक्षण करे। जब तक आज्य नहीं डाला जाता है तब तक यह अग्नि सोता सा ही रहता है। इस प्रकार इसकी राख आदि हटा दी जाती है। तो यह उद्वासित हो जाता है। अर्थात् उसका प्रच्छन्न स्वरूप प्रकट हो जाता है। ऐसा करते हुए मानो अग्नि को जगाते हैं और आज्य डाल कर उसे प्रज्वलित करते हैं ॥२१॥

अब सौम्य आज्यभाग के विषय में कहते हैं– यदि पवमान अग्नि के लिए सौम्य आज्य-भाग दिया जाय तो 'अग्नये पवमानायानुब्रूहि' यह अध्वर्यु बोले और होता निम्नलिखित अनुवाक्यामन्त्र बोले—

'अग्न आयूंषि पवसऽआसुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां जुषाणोऽअग्निः पवमान आजस्य वेतु।

हे अग्नि आप आयु को चलाते हो अर्थात् आपके द्वारा जीवनसत्ता है क्योंकि जब तक शरीर में ताप (उष्णता) है तभी तक जीवनसत्ता है। ऐसे आयु प्रदान करने वाले आप हमारे लिए इट् (अन्न) और ऊर्क् रस आसुव-प्रदान करिए तथा जो हमारे शत्रु हैं उनको हम से दूर लेजाकर उनका सर्वनाश करिए। जो सोम है उसी को पवमान अग्नि कहते हैं। इस प्रकार 'अग्निः पवमान आज्यस्य वेतु' इससे सौम्य आज्यभाग से ही कर्म को युक्त करते हैं ॥२२॥

और यदि इन्दुमान् अग्नि के लिए सौम्य आज्यभाग करे तो अध्वर्यु को 'अग्नयेऽइन्दु-मतेऽनुब्रूहि' यह कहना चाहिए तथा होता को निम्नलिखित मन्त्र बोलना चाहिए—

'एह्यू षु ब्रवाणि तेऽग्नऽइत्थेतरा गिरः।
एभिर्वर्धास इन्दुभिर्जुषाणोऽग्निरिन्दुमानाज्यस्य वेतु।'

हे अग्ने आप मेरे यज्ञ में आइये। हे अग्ने मैंने आपके लिए सुन्दर वाणी कही है। साथ ही मैं आपसे यह भी चाहता हूँ कि मेरी इतर वाणी भी ऐसी ही बनें। अर्थात् मैं सदा आपकी स्तुति करूँ। हे अग्ने आप इन इन्दुओं से (सोम से) बढेंगे। सोम ही तो इन्दु है। इस प्रकार इन्दुमते कहने से दोनों काम सिद्ध हो जाते हैं—सौम्य आज्यभाग भी निष्पन्न हो जाता है तथा 'सर्वं आग्नेयो भवति' इस प्रतिज्ञा का भङ्ग भी नहीं होता ॥२३॥

अनुयाजकर्म

हविसम्बन्धी जो आग्नेय अनुयाज हैं उसमें 'अग्नयेऽनुब्रूहि' यह अध्वर्यु को बोलना

चाहिए एवं 'अग्नि यज' यह होता को। स्विष्टकृत् अग्नि यजन में 'अग्नये स्विष्टकृते-ऽनुब्रूहि यह अध्वर्यु की बोलना चाहिए एवं 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' यह होता को।

कई आचार्य 'अग्निं यज' न बोल कर 'देवान् यज' ऐसा बोलते हैं। परन्तु उसका तात्पर्य 'अग्नीन् यज' यही समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ तो सारा कार्य आग्नेय ही है। अन्यदेवता-सम्बन्धी कर्म इस पुनराधान में नहीं है ।।२४।।

अध्वर्यु निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ अनुयाजों का यजन करता है—'अग्नेर्वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौ झक्' ।१।। प्रथम अनुयाज में 'अग्रा उ वसुवने वसुधेयस्य वेतु वौ झक्' द्वितीय अनुयाज में बोले।

इन अनुयाजों में देवता 'अग्नि' है एवं स्विष्टकृत् स्वयं अग्नि है। इस प्रकार करता हुआ यजमान आग्नेय अनुयाजों का ही यजन करता है ।।२५।।

इस प्रकार से यह अध्वर्यु ४ प्रयाज और २ अनुयाज इन ६ देवताओं का यजन करता है। सवत्सर की ६ ऋतुएँ हैं। एवं यह पुनराधेय अग्नि इन ऋतुओं में प्रविष्ट हो गया था। अतः ६ विभक्ति यजन करता हुआ ६ ऋतुओं से ही इस अग्नि का स्वरूपसम्पादन करता है ।।२६।।

पूर्वोक्त प्रयाज मन्त्रों के १२ या १३ (किसी के १२ किसी के १३) अक्षर होते हैं, एवं १२ या १३ ही (सूर्य सम्बन्ध से १२—चन्द्रमा सम्बन्ध से १३) मास होते हैं। एवं सवत्सर ऋतुओं में समाविष्ट है, अतः ऋतुओं में प्रविष्ट इसको ऋतुस्वरूप संवत्सर से निकालते हैं। जामितादोष की निवृत्ति के लिए 'अग्निराज्यस्य वेतु वेतु' इस प्रकार दो बार नहीं बोलना चाहिए एवं दोनों को साथ ही नहीं बोलना चाहिए। यदि उसके मन्त्र में वेतु वेतु यह दो बार साथ साथ होंगे तो वह मनुष्य पुनरुक्ति करेगा। अतः व्यन्तु, वेतु यह तो प्रयाजों का स्वरूप बनाना चाहिए। एवं वसुवने वसुधेयस्य—यह अनुयाज कर्म में बोलना चाहिए ।।२७।।

इस पुनराधेय यज्ञ की दक्षिणा सुवर्ण की होनी चाहिए। यह जो पुनराधेय यज्ञ है—वह आग्नेय यज्ञ है, एवं अग्नि का जो वीर्य्य है, वही हिरण्य कहलाता है। अतः अग्निकर्म में अग्निस्वरूप सुवर्ण की ही दक्षिणा देनी चाहिए। यदि 'सुवर्ण' न दे सके तो फिर 'बैल' की दक्षिणा देनी चाहिए। वह बैल भी अपने स्कन्ध से आग्नेय ही बन जाता है। इसका जो भारवहन का स्थान है, वह अग्नि की तरह ही जला हुआ रहता है। अपिच, देवताओं के हव्य को वहन करने वाला जैसे यह दिव्य अग्नि है—तद्वत् मनुष्यों के लिए हव्य का वहन यह बैल ही करता है—अतः सादृश्यात् बैल की दक्षिणा देनी चाहिए।

इति पुनराधेयविधिः।
इति द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमं ब्राह्मणम्।
इति अग्न्याधान-प्रकरणम्।

प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास । स ऐक्षत—'कथं नु प्रजायेय' इति । सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत । सोऽग्निमेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे । तद् यदेनं मुखादजनयत—तस्मादन्नादोऽग्निः । स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेद, अन्नादो हैव भवति ॥१॥

तद् वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत—तस्मादग्निः । अग्निर्ह वै नामैतद्-यदग्निरिति । स जातः पूर्वः प्रेयाय । यो वै पूर्व एति—अग्र एतीति वै तमाहुः । सा उ एवास्य अग्निता ॥२॥

स ऐक्षत—प्रजापतिः । अन्नादं वा इममात्मनोऽजीजने यदग्निम् । न वा इह मदन्यदन्नमस्ति, यं वा अयं नाद्यादिति । कल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास, नौषधय आसुः, न वनस्पतयः, तदेवास्य मनस्यास ॥३॥

अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्यावंवर्त । तस्य भीतस्य स्वो महिमाऽपचक्राम । वाग्वा अस्य स्वोमहिमा । वागस्यापचक्राम । स आत्मन्येवाहुतिमीषे । स उदमृष्ट । तद् यदुदमृष्ट—तस्मादिदं चालोमकमिदं च । तत्र विवेद—घृताहुतिं वैव पयआहुतिं वा-उभयं ह त्वेव तत् पय एव ॥४॥

सा हैनं नाऽभिराधयाञ्चकार । केशमिश्रेव हास । तां व्यौक्षत् - ओषधयेति । तत ओषधयः समभवन्—तस्मादोषधयो नाम । स द्वितीयमुदमृष्ट । तत्रापरामाहुतिं विवेद, घृताहुतिं वैव पय आहुतिं वा-उभयं ह त्वेव तत्पय एव ॥५॥

सा हैनमभिराधयाञ्चकार । स व्यचिकित्सत्—जुहवानी ३मा हौषा ३ मिति । तं स्वो महिमाऽभ्युवाद—जुहुधीति । स प्रजापतिः विदाञ्चकार—स्वो वै महिमाऽऽहेति । स स्वाहेत्येवाजुहोत्—तस्मादु स्वाहेत्येव हूयते । तत एष उदियाय—य एष तपति । ततोऽयं प्रबभूव—योऽयं पवते । तत एवाग्निः पराङ् पर्य्यावंवर्त ॥६॥

स हुत्वा प्रजापतिः प्र चाजायत, अत्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत। स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति—एतां हैव प्रजातिं प्रजायते—यां प्रजापतिः प्राजायत। एवमु हैवात्स्यतोऽग्नेर्मृत्योरात्मानं त्रायते ॥७॥

स यत्र म्रियते, यत्रैनमग्नावभ्यादधति—तदेषोऽग्नेरधिजायते। अथास्य शरीरमेवाग्निर्दहति। तद् यथा पितुर्वा मातुर्वा जायेत, एवमेषोऽग्नेरधिजायते। शश्वद्ध वा एष न सम्भवति—योऽग्निहोत्रं न जुहोति—तस्माद् वा अग्निहोत्रं होतव्यम् ॥८॥

तद्वा एतदेव विचिकित्सायै जन्म—यत् प्रजापतिर्व्यचिकित्सत्। स विचिकित्सञ्छ्रेयस्यध्रियत-यः प्र चाजायत, अत्स्यतश्चाग्नेर्मृत्योरात्मानमत्रायत। स यो हैवमेतद् विचित्सायै जन्म वेद यद्ध किञ्च विचिकित्सति, श्रेयसि हैव ध्रियते ॥९॥

स हुत्वा न्यमृष्ट—ततो विकङ्कतः समभवत्। तस्मादेषः, याज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षः। तत एते देवानां वीरा अजायन्त-अग्निः, योऽयं पवते, सूर्यः। स यो हैवमेतान् देवानां वीरान् वेद—आहास्य वीरो जायते ॥१०॥

त उ हैत ऊचुः-वयं वै प्रजापतिं पितरमनु स्मः, हन्त वयं तत् सृजामहै यदस्मानन्वसदिति। ते परिश्रित्य गायत्रेणापहिंकारेण तुष्टुविरे। तद् यत्पर्यश्रयन् स समुद्रः। अथेयमेव पृथिव्या स्तावः ॥११॥

ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः—पुनरेम इति देवा एद्गां सम्भूताम्। सा हैनानुदीक्ष्य हिंचकार। ते देवाः विदाञ्चक्रुः 'एष साम्नो हिंकारः' इति। अपहिंकारं हैव पुरा ततः सामास। स एष गवि साम्नो हिंकारः—तस्मादेषोपजीवनीया। उपजीवनीयो ह वै भवति—य एवमेतं गवि साम्नो हिङ्कारं वेद ॥१२॥

ते होचुः—भद्रं वा इदमजीजनामहि—ये गामजीजनामहि यज्ञो

ह्येवेयम् नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायते। अन्नं ह्येवेयम्, यद्धि किञ्चान्नं—गौरेव तदिति ॥१३॥

तद्वा एतदेवैतासां नाम, एतद्यज्ञस्य। तस्मादेतत्परिहरेत् साधु पुण्यमिति। बह्व्यो ह वा अस्यैता भवन्ति, उपनामुक एनं यज्ञो भवति-य एवं विद्वानेतत्परिहरति—साधु पुण्यमिति ॥१४॥

तामु हाग्निरभिदध्यौ—मिथुन्यनया स्यामिति। तां सम्बभूव। तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्। तत्पयोऽभवत्। तस्मादेतदामायां गवि सत्यां शृतम्, अग्नेर्हि रेतः। तस्माद्यदि कृष्णायाम्, यदि रोहिण्याम्, शुक्लमेव भवति अग्निसङ्काशम्, अग्नेर्हि रेतः-तस्मात् प्रथमदुग्धमुष्णं भवति अग्नेर्हि रेतः ॥१५॥

ते होचुः—हन्तेदं जुहवामहा इति। कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति। मह्यमिति हैवाग्निरुवाच, मह्यमिति योऽयं पवते, मह्यमिति सूर्यः। ते न सम्पादयाञ्चक्रुः। ते हासम्पाद्योचुः—प्रजापतिमेव पितरं प्रत्ययाम, स यस्मै न इदं प्रथमाय होतव्यं वक्ष्यति तस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति। ते प्रजापतिं पितरं प्रतीत्योचुः—कस्मै न इदं प्रथमाय होष्यन्तीति ॥१६॥

स होवाच—अग्नये। अग्निरनुष्ठ्या स्वं रेतः प्रजनयिष्यते, तथा प्रजनयिष्यध्व इति। अथ तुभ्यमिति सूर्यम्। अथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते, तदेवैतस्य—योऽयं पवत इति। तदेभ्य इदमप्येतर्हि तथैव जुह्वति-अग्नय एव सायम्, सूर्याय प्रातः, अथ यदेव हूयमानस्य व्यश्नुते तदेवैतस्य-योऽयं पवते ॥१७॥

ते हुत्वा देवा इमां प्रजातिं प्राजायन्त, यैषामियं प्रजातिः, इमां विजितिं व्यजयन्त येयमेषां विजितिः। इममेव लोकमग्निरजयत् अन्तरिक्षं वायुः, दिवमेव सूर्यः। स यो हैवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति,एतां हैव प्रजातिं प्रजायते-यामेत एतत् प्राजायन्त, एतां विजितं विजयते-यामेत एतद् व्यजयन्त। एतैरु हैव सलोको भवति, य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। तस्माद्वा अग्निहोत्रं होतव्यम् ॥१८॥

इति अग्निहोत्रब्राह्मणम्।

अग्निहोत्र ब्राह्मण

अनुवाद—सृष्टि से पूर्व एकाकी[1] प्रजापति ही था। उसने इच्छा की कि मैं सृष्टि को कैसे उत्पन्न करूँ। उसने श्रम (वाग्व्यापार) तथा तप (प्राणव्यापार) किया और उसने मुख से अग्नि को ही उत्पन्न किया। इस अग्नि को मुख से उत्पन्न किया अतएव यह अग्नि अन्नाद कहलाता है। क्योंकि मुख अन्नाद (अन्न का भक्षण करने वाला) हैं। अतः उससे उत्पन्न अग्नि भी अन्नाद है। जो अग्नि की इस अन्नादता को जानता है, वह भी अन्नाद हो जाता है ॥१॥

अग्नि, इन्द्र, आदित्यादि देवताओं में सर्वप्रथम अग्नि को ही उत्पन्न किया। अतएव यह अग्नि कहलाया। क्योंकि अग्नि सर्वप्रथम उत्पन्न होने से अग्नि है। अग्रि ही परोक्ष भाषा में अग्नि कहलाता है। वह उत्पन्न होते ही बाहर की ओर पहिले चला। जो पहिले चलता है उसे आगे चलने वाला कहते हैं। यह अग्नि भी सबसे पहिले चला, अतः यह अग्रगामी होने से अग्नि कहलाता है। अग्रगामित्व ही अग्नि की अग्निता है ॥२॥

उस प्रजापति ने विचार किया कि मैंने इस अन्नाद अग्नि को उत्पन्न कर दिया। किन्तु इस समय मेरे को छोड़ कर अन्य कोई अन्न नहीं है जिसका वह अन्नाद अग्नि भक्षण करे। उस समय यह पृथिवी पङ्कमय थी। न इस पर ओषधियाँ थीं और न वनस्पतियाँ। यह सारी स्थिति प्रजापति के मन में थी। अर्थात् वे यह जानते थे कि इस समय मेरे से अतिरिक्त अन्य कोई अग्नि के लिए भक्ष्य नहीं है ॥३॥

---

१. क्षराक्षररूपप्रकृतिद्वयविशिष्ट पुरुष ही प्रजापति है। यह पुरुष अव्ययपुरुष है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्भेद से अव्यय की पाँच कलायें हैं। इनमें मन, विज्ञान, आनन्द इन तीन कलाओं को लेकर यह पुरुष प्रजापति मुक्तिसाक्षी बनता है तथा मन, प्राण, वाक् इन तीन कलाओं की अपेक्षा से यह सृष्टिसाक्षी कहलाता है। मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति ही सृष्टिकर्त्ता है। इनमें मन से इच्छा, प्राण से तप (आन्तर व्यापार) तथा वाक् से श्रम (बाह्य शारीरव्यापार) होता है। सृष्टि—इच्छा, तप व श्रम से ही होती है। सर्वप्रथम इच्छा, तदनन्तर आन्तर व्यापाररूप तप तथा तत्पश्चात् शारीरव्यापाररूप श्रम होता है। पश्चात् वस्तु की सृष्टि (उत्पत्ति) होती है। इच्छा, मन का कार्य है. इसीलिये 'कामस्तदग्रे समवर्तताग्रि मनसो रेतः' इस श्रुति में कामरूप इच्छा को मन का रेत बतलाया है।

इस अवसर पर अग्नि विवृत मुख से प्रजापति का भक्षण करने के लिए दौड़ा। डरे हुए प्रजापति की महिमा उत्क्रान्त हुई। वाग् ही इस प्रजापति की अपनी महिमा थी। वाग् ही इस प्रजापति से उत्क्रान्त हुई। उसने अपने आप में ही उसकी आहुति की कामना की। उसने हाथों से अपने शरीर का उन्मार्जन किया। इस उन्मार्जन के कारण ही दोनों हथेलियाँ बिना लोम की होती हैं। उसने उन्मार्जन कर घृत तथा पय की आहुति को प्राप्त किया। घृत तथा पय दोनों पय ही हैं, क्योंकि घृत भी पय का विकार ही है ।।४।।

वह पय की आहुति प्रजापति को तृप्त न कर सकी अर्थात् उस प्रजापति को कृतकार्य न कर सकी। वह केशमिश्रित सी थी। अर्थात् जैसे केशों का समुदाय विशकलित सा रहता है, उसी प्रकार वह पहिली पयआहुति विशकलित अर्थात् ऋजुरूपा ही थी। उस आहुति का प्रजापति ने पृथिवी पर सेचन कर दिया और कहा कि 'ओषं धय' ऊष्मा का पान करो (धारण करो)। अर्थात् ऊष्मा को अपने में ग्रहण करो। प्रजापति के 'ओषं धय' कहने से ही तृणादि उत्पन्न हुए। अतः इन्हें 'ओषधि' नाम से कहा जाता है। प्रजापति ने दुबारा उन्मर्षण किया अर्थात् दूसरी आहुति ग्रहण करने के लिए विष्णुस्वरूप अशनाया बल निकला। उसके द्वारा अपने में (अग्नि) में दूसरी आहुति डाली। वह आहुति भी घृताहुति व पयआहुति थी। घृत व पय दोनों ही पय ही हैं, क्योंकि घृत भी पय का ही विकार है ।।५।।

इस द्वितीय आहुति ने अग्निरूप प्रजापति को तृप्त कर दिया (इससे अग्नि का स्वरूप निष्पन्न हो गया तथा तृतीय द्युलोक में विद्यमान सोम का सम्बन्ध अग्नि से हो गया)। तब प्रजापति ने विचार किया कि अब आगे आहुति देनी चाहिए या नहीं और अन्त में यही विचार किया कि जब अग्नि से सोम का सम्बन्ध होकर अग्नि का स्वरूप निष्पन्न हो गया तो फिर आहुति की क्या आवश्यकता है। किन्तु प्रजापति की महिमारूप वाक् ने प्रजापति से कहा कि आहुति दो। प्रजापति ने विचार किया कि अपनी महिमा ही आहुति के लिए कह रही है। अतः उसने 'स्वा-आत्मीया वाक् आह' यह कह कर आहुति दी। अतः वह आहुति 'स्वा आह' इस व्युत्पत्ति से स्वाहा पद से ही व्यवहृत हुई।

प्रजापति ने प्रकृतियज्ञ में स्वाहा कह कर आहुति दी थी। अतः अब वैधयज्ञ में स्वाहा कहकर आहुति दी जाती है। इस आहुति से वह सूर्य उत्पन्न हुआ जो आकाश में तप रहा है और उससे यह वायु उत्पन्न हुआ जो बह रहा है। तब अग्नि प्रजापति से परावृत्त हो गया क्योंकि उसको अन्नाहुति प्राप्त हो गई। (तात्पर्य यह है कि भगवान् प्रजापति ने अग्नि को उत्पन्न कर उसमें सोमरूप पयघृतादि की आहुति डालकर अग्निहोत्र किया, उसी से अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों प्राणों की सत्ता प्रतिष्ठित की। तथा तदभिमानी पृथिवीलोक, अन्त-रिक्षलोक व द्युलोकरूप स्तौम्य त्रिलोकी की सत्ता प्रतिष्ठित की ।।६।।

प्रजापति पय की आहुति का हवन कर उत्पन्न हो गया और खाने वाले मृत्युरूप अग्नि से भी अपने आपकी रक्षा की। जो इस रहस्य को जानता हुआ अग्निहोत्र करता है, वह इस प्रजाति (पुत्रादिरूप प्रजासम्पत्ति) को उत्पन्न करता है जिस प्रजाति को अग्निहोत्र द्वारा प्रजापति ने उत्पन्न किया था। तथा मृत्युरूप अग्नि से भी अपने आपकी रक्षा कर लेता है ।।७।।

अग्निहोत्री का जब देहत्याग होता है। उसके शरीर को जब अग्नि में जलाने के लिए रखते हैं, तब उसका एक नवीन दिव्यात्मा उससे उत्पन्न होता है, उसे ही वेद में हंसात्मा कहा गया है। उस आत्मा के शरीर से पृथक् हो जाने से अग्नि शरीर को ही जलाता है। जैसे शरीर माता व पिता से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार वह दिव्यात्मा अग्नि से उत्पन्न होता है। जो अग्निहोत्र नहीं करता, उसके यह दिव्यात्मा अग्नि से उत्पन्न नहीं होता। अतः अग्निहोत्र करना चाहिए ।।८।।

प्रजापति ने प्रकृतियज्ञ में दूसरी आहुति देने के बाद यह संशय किया था कि अब आगे अग्नि में आहुति दी जाय या नहीं। उसने इस संशय के बाद ही विचारपूर्वक अन्य आहुति देकर श्रेयःप्राप्ति की थी (अर्थात् प्रजाओं की उत्पत्ति की तथा खाने वाले अग्निरूप मृत्यु से अपने को बचाया था)। इसीलिए आज भी मनुष्य के मन में संशय उत्पन्न होता है और अन्त में वह विचारपूर्वक श्रेयः-प्राप्ति करता है। अर्थात् प्रजाओं के संशय तथा तदनन्तर विचारपूर्वक श्रेयःप्राप्ति का मूल कारण प्रकृतियज्ञ में प्रजापति का संशय तथा तदनन्तर विमर्शपूर्वक श्रेयःप्राप्ति ही है ।।९।।

प्रजापति ने सोम को आहुति देने के बाद उसके अवशिष्ट अंश को फेंक दिया था। उसी अवशिष्ट अंश से विकङ्कत वृक्ष उत्पन्न हुआ। इसीलिए यह विकङ्कत यज्ञिय वृक्ष है और यज्ञ में इसी के पात्र बनाये जाते हैं। प्रजापति द्वारा प्रदत्त आहुति से ही देवताओं में वीर (शिरोमणि) अग्नि, वायु एवं सूर्य उत्पन्न हुए। जो मनुष्यदेवों के शिरोमणि इन वीरों को जान लेता है उसके वीर पुत्र ही उत्पन्न होते हैं ॥१०॥

उन देवों ने कहा कि जैसे हम पिता प्रजापति के अनुगामी हैं वैसे ही हम भी उनको पैदा करें जो हमारे अनुगामी हों। यह विचार कर उन देवताओं ने अपने को चारों तरफ से घेर कर हिङ्कारशून्य गायत्र साम से स्तुति करना प्रारम्भ किया। उस घेरे से बाहर का स्थान समुद्र हो गया। उस समुद्र के बीच में ही यह पृथिवी है ॥११॥

वे देव स्तुति कर पूर्व की तरफ उत्क्रान्त हो गये। पुनः अपने स्थान पर आ जावें यह विचार कर (पारमेष्ठ्य समुद्र में रहने वाली) गौ के पास चले गए उस गौ ने इन को देखते ही हिङ्कार किया। देवताओं ने समझ लिया कि यह साम का हिङ्कार है। इससे पूर्व साम हिङ्काररहित था। यह गौ में साम का हिङ्कार है। अतः यह गौ उपजीवनीया (जीवन देने वाली) है। जो मनुष्य इस प्रकार गौ में साम के हिङ्कार को जानता है वह उपजीवनीय होता है ॥१२॥

उन देवों ने कहा कि हमने जो गाय को उत्पन्न किया है, वह एक प्रकार से भद्र (कल्याण) को ही उत्पन्न किया है। यह गौ यज्ञ ही है। बिना गौप्राण के यज्ञ का वितान[1] नहीं हो सकता। यह गौ अन्नरूप है। जो भी कुछ अन्न है वह गौतत्त्व ही है। अर्थात् गौतत्त्व ही अन्नरूप में परिणत होता है ॥१३॥

क्योंकि अन्न ही इन गौतत्त्वों का नाम है तथा अन्न ही यज्ञ का नाम है। अतः गौ साधु है, यज्ञ पुण्यातिशय उत्पन्न करने वाला कर्म है। अतः इन दोनों

---

१. पृथिवीकेन्द्रस्थ अग्नि का वितान होकर वह १७वें स्तोम तक जाता है। उस अग्नि में ऊपर के स्तोमों में विद्यमान सोम की आहुति होती है। सोम की आहुति पारमेष्ठ्य गौतत्त्व के सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती। अग्नि में सोमाहुति ही यज्ञ है। उसका कारण पारमेष्ठ्य गौतत्त्व है। अतः यज्ञजनक होने से इस गौतत्त्व को यज्ञ कहा गया है।

की रक्षा करनी चाहिए। जो इस प्रकार इनकी रक्षा में प्रवण होता है, उसके घर में बहुत सी गायें निवास करती हैं तथा यज्ञ इसकी ओर प्रवण रहता है अर्थात् वह सदा यज्ञ करता है ॥१४॥

जब अग्नि २१ स्तोम के ऊपर पारमेष्ठय मण्डल में रहने वाले गौतत्त्व के पास पहुँचे, तो उसने विचार किया कि मैं इस गौ के साथ मिथुनी बनूँ, अतः वे इस गौ की तरफ अभिमुख हुए। अग्नि उसके पास पहुँच गये, संयुक्त हो गये, उसमें अपना वीर्याधान किया, उससे दूध उत्पन्न हुआ। इस अग्नि के सम्बन्ध से ही अपरिपक्व गौ में दूध परिपक्व होता है क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है। इसीलिए चाहे गाय कृष्णा हो, या लाल हो, दूध शुक्ल ही होता है। क्योंकि शुक्ल वर्ण अग्नि के समान है। तेज का रूप शुक्ल माना गया है क्योंकि दूध अग्नि का वीर्य है। इसीलिए सद्योदुग्ध दूध उष्ण होता है ॥१५॥

जब पय (दुग्ध) उत्पन्न हो गया, तब अग्नि, वायु व आदित्य तीनों ने विचार किया कि इस दूध की हम अपने में आहुति दें। सर्वप्रथम किसको इस दुग्ध की आहुति दी जाय, यह विचार उपस्थित होने पर अग्नि ने कहा—पहले मुझे, वायु ने कहा—पहले मुझे तथा सूर्य ने कहा—पहले मुझे आहुति दी जाय। अन्ततोगत्वा इस विवाद में वे एकमत न हो सके। तब उन्होंने कहा कि हम पिता प्रजापति के पास चलें। वह जिसे प्रथम होतव्य बतलायेगा, उसी के लिए प्रथम हवन किया जायगा ॥१६॥

प्रजापति ने उत्तर दिया कि अग्नि के लिए प्रथम आहुति दी जायगी। अग्नि ही सीधे मार्ग से ठीक अपने रेत को डालकर प्रजनन कर सकेगा। पश्चात् उसी प्रकार आप लोग प्रजननक्रिया करेंगे। अग्नि के बाद सूर्य ! तुमको आहुति दी जायगी। तत्पश्चात् हूयमान द्रव्य का जो भाग इधर-उधर रह जाता है उसे चौतरफ बहने वाला वायु ले लेगा। उसी मर्यादा के अनुसार आज भी वैसे ही हवन किया जाता है। अग्नि को सायंकाल, सूर्य को प्रातःकाल आहुति दी जाती है। हूयमान द्रव्य का शेषांश चौतरफ बहने वाले आन्तरिक्ष्य वायु को दिया जाता है ॥१७॥

उन देवों ने इस प्रकार हवन कर इस प्रजासम्पत्ति को प्राप्त किया जो

प्रजाति आजकल दिखाई देती है। उन्होंने इस विजय को प्राप्त किया जो दिखाई दे रही है। अग्नि ने पृथिवीलोक को, वायु ने अन्तरिक्षलोक को तथा सूर्य ने द्युलोक को जीत लिया। तात्पर्य यह है कि सोम की आहुति से अग्नि ही घन, तरल, विरलभेद से पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में व्यवस्थित है। ये तीनों लोक स्तौम्य त्रिलोकी कहलाते हैं। जो विद्वान् इस प्राकृतिक अग्निहोत्रविज्ञान को जान कर हवन करता है वही उस प्रजाति और विजिति को प्राप्त कर लेता है जिसको अग्न्यादि देवताओं ने प्राप्त किया था। एवं जो विद्वान् इस विज्ञान को समझ कर अग्निहोत्र करता है, वह पृथिव्यादि तीनों लोकों में स्थान बना लेता है, अर्थात् स्वर्ग तक पहुँच जाता है। अतः अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिए ॥१८।

॥ अग्निहोत्रब्राह्मण समाप्त ॥

अग्निहोत्रप्रकरणम्

भाष्य—अब क्रमप्राप्त अग्निहोत्र कर्म प्रारम्भ करते हैं। मनुष्ययज्ञ में होने वाले अग्निहोत्र को बतलाने के पहिले उस प्राकृत अग्निहोत्र का रहस्य बतलाते हैं। हमारे जितने भी यज्ञ हैं वे सारे के सारे प्रकृतियज्ञ की प्रतिकृति पर रचे गए हैं। अतएव मनुष्ययज्ञ को जानने के लिए प्रकृतियज्ञ का रहस्य जानना परम ही आवश्यक है। 'क्यों ऐसा करें ?' इस प्रश्न का उत्तर प्रकृतियज्ञ-विज्ञान के जानने पर ही मिल सकता है अन्यथा नहीं। अतएव अग्निहोत्र के प्राकृतिक रहस्य का वर्णन यहाँ किया जा रहा है—

सृष्टि के पूर्व प्रजापति भगवान् एकाकी ही थे। उस समय सिवाय प्रजापति के और कुछ न था। वेद में (शतपथ में) सैकड़ों जगह 'प्रजापति' शब्द का प्रयोग आता है। इस 'प्रजापति' शब्द के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ किये जाते हैं। कहीं 'यद्वै प्राणि स प्रजापतिः' यह कहा जाता है। कहीं—'सर्वं वै प्रजापतिः' प्रजापति का यह लक्षण किया जाता है। एवं कहीं 'आत्मा वै प्रजापतिः' यह कहा जाता है। कहीं प्रजापति का लक्षण 'प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः प्रजापतिः' यह किया जाता है। संसार में जो कुछ प्राणी कह कर व्यवहृत करने योग्य पदार्थ है, वे सारे प्रजापति हैं, इससे अनन्त प्रजापति सिद्ध होते हैं। जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है वह प्रजापति का ही स्वरूप है। अनिरुक्त, उद्गीथ एवं सर्व प्रजापतियों में से—'सर्व प्रजापति' जो कि वषट्कार-मण्डल को अपने में समाहित

किए हुए हैं—का स्वरूप ही 'सर्वम्' से बतलाया गया है। एवं वह आत्मा ही सारी प्रजाओं का (संसार का) कर्ता है, एवं उनको बनाकर आप उसमें अन्तःप्रविष्ट हो जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' अतः उस आत्मा को ही प्रजापति कहते हैं। इस प्रजापति के चार लक्षण हैं। सर्वप्रथम प्रकृतिविशिष्ट जो पुरुष है वह प्रजापति है। प्रकृत में हमारा सम्बन्ध इसी प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति से है। अतः हम सर्वप्रथम इसी का स्वरूप बतलाते हैं—

अखिल विश्व में दो तत्व माने जाते हैं—१. ब्रह्म २. कर्म। हम जो कुछ संसार में देख रहे हैं, वह कर्म ही कर्म है। जो प्रतिक्षण बदलता रहता है, अशान्त है, क्रियारूप है, अनित्य है, मर्त्य है—उसे ही कर्म कहते हैं। वैदिक परिभाषा में कर्म को बल' कहते हैं, अतः हम भी कर्म को 'बल' ही कहेंगे। विचार करने से संसार के सभी पदार्थ क्षणिक मालूम पड़ते हैं। प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्तन, क्रिया से आक्रान्त हैं। जो वस्तु पूर्वक्षण में थी, उसका उत्तरक्षण में सर्वथा अभाव है। इस प्रकार जब प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है तो स्वतः ही प्रश्न होता है कि—प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहने पर भी 'इदं जगदस्ति' इस अस्ति की प्रतीति क्यों होती है ? इस प्रश्न का निराकरण करने के लिए बल से अतिरिक्त एक तत्व और मानना पड़ता है जिसे कि 'ब्रह्म' कहते हैं। ब्रह्म तत्व को माने विना केवल बलसमष्टि से सर्वथा काम नहीं चल सकता। बल परिवर्तनीय, क्षणिक व विनाशी है। परिवर्तनीय वस्तु का परिवर्तन तब तक नहीं बन सकता जब तक कि उसका कोई अपरिवर्तनीय, स्थिर आधार न हो। अतएव अगत्या बल से अतिरिक्त एक अपरिवर्तनीय, स्थिर तत्व अवश्य ही मानना पड़ता है। बल से सर्वथा विरुद्ध स्वभाव वाला यह ब्रह्म जिसे कि हम आगे 'रस' कहेंगे—सर्वथा शान्त, निष्क्रिय, व्यापक एवं अमृतस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि अखिल विश्व में रस और बल दो ही तत्त्व हैं। रस में बल क्रीड़ा करता रहता है एवं उससे नवीन सृष्टियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अब यहाँ पर आदिसृष्टि का विचार करना है कि—सर्वप्रथम इस रस में किस कारण से बल उद्बुद्ध हुआ ? एवं क्यों उससे सृष्टि का निर्माण हुआ ? यद्यपि सृष्टिप्रकरण का सारा विवेचन प्रकृत में नहीं बतलाया जा सकता, तथापि केवल प्रजापतिमात्र का स्वरूप बतला दिया जाता है।

रसतत्व सर्वथा शान्त एवं व्यापक है। यह दिक् देश काल से अनवच्छिन्न है, असीम है एवं अमृतस्वरूप है। इसीको ब्रह्म कहते हैं। जिस समय सृष्टि नहीं बनी थी उस समय सर्वत्र यह रस ही रस व्याप्त था। उस समय इस सर्वबलविशिष्ट रस से अतिरिक्त कुछ नहीं था। सारे बल रस में सुषुप्त थे। रस का निर्वचन (व्याकरण) बल के द्वारा ही होता है। बिना बल के रस का निर्वचन कथमपि नहीं हो सकता है। चूंकि उस समय

बल सर्वथा सुषुप्तावस्था में रहता है अतः रस का निर्वचन कौन करता है ? अतएव उस समय उस रस को 'अव्याकृत तत्व' कहा जाता हैं।

बल अनन्त प्रकार के होते हैं। इन बलों के कुल १६ बलकोश होते हैं, अर्थात् असंख्य बलों के कुल १६ खजाने हैं। उन बलकोशों के नाम—माया, जाया, धारा, आपः, अम्भ इत्यादि इत्यादि हैं जिनका विस्तृत विवेचन करना अप्राकृत होगा। उन १६ बलों में से जो एक मायाबल है उसी का प्रकृत से सम्बन्ध है। उस अव्याकृत रस में—सर्व-प्रथम अमित को मित बना देने वाला, असीम को ससीम बना देने वाला 'मायाबल' उत्पन्न होता है। जब कि यह मायाबल जड़ था एवं शान्त रसतत्वमात्र था तो फिर सर्वप्रथम उस शान्त (निष्क्रिय) रस में किस प्रकार मायाबल उद्बुद्ध हो पड़ा ? इसका उत्तर निम्नलिखित श्रुति ही है—'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा इयं विसृष्टिर्यंत आबभूव। इयं विसृष्टिर्यंत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥'

श्रुति कहती है कि जो इस मायिक सृष्टि का अधिष्ठाता परमेश्वर है वह भी इसके रहस्य को अर्थात् 'माया क्यों उद्वुद्ध हो पड़ी ?' इस बात को जानता है या नहीं इसमें सन्देह है। यह मायाबल मर्त्य है अतएव सर्वथा असत् है। परन्तु साथ ही में इसकी प्रतीति भी हो रही है, अतः प्रत्यक्ष का बाध कर इस मायाबल को 'असत्' भी नहीं बतलाया जा सकता। परस्पर विरुद्धों का समन्वय न होने से 'सदसत्' भी इसे नहीं बतला सकते। इस प्रकार से न सत्, न असत्, न सदसत् स्वरूप यह मायाबल है। माया का स्वरूप बड़ा ही दुर्विज्ञेय है—विलक्षण है। इसीलिए माया का स्वरूप बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

'न सती सा नासती सा नोभयात्मा विरोधतः।
काचिद् विलक्षणा माया वस्तुप्रकृतिरिष्यते ॥' इति।

सर्वप्रथम यह मायाबल ही स्वयं उस शान्त रस में उद्वुद्ध हो उसे परिच्छिन्न बना डालता है।

उस मायावच्छिन्न रस के पेट में पश्चात् अशनायावशात् अनन्तानन्त बल उत्पन्न होने लगते हैं। मायाबल के पूर्व रस व्यापक था, दिग्देशकालानवच्छिन्न था। जो वस्तु व्यापक होती है—उसमें केन्द्र नहीं हुआ करता है। व्याप्य वस्तु में ही केन्द्र हुआ करता है। अतः जब माया से वह व्यापक रस परिच्छिन्न बना दिया गया—अवच्छिन्न कर दिया गया तो बस उसी समय उस मायावच्छिन्न रस में एक केन्द्र उत्पन्न हो गया। केन्द्र के होते ही उसमें एक हृद्‌बल उत्पन्न होता है। वह बल ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र इन तीन शक्तियों से युक्त रहता है। अर्थात् वह बल जिसे कि 'प्राण' कहेंगे तीन स्वरूपों में परिणत होता हुआ ही उत्पन्न होता है। एक बल (एक प्राण) ऐसा है जो बाहर से वस्तु को लाने वाला

होता है दूसरा फेंकने वाला होता है, तीसरा स्वस्थान में ही प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार एक ही प्राण तीन भावों में परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्रतिष्ठातत्व को 'ब्रह्मा', उत्क्षेपणतत्व को 'इन्द्र' एवं आहरण (आकर्षण) तत्व को 'विष्णु' कहते हैं। चूंकि तीनों एक ही प्राण के अवस्थाभेदमात्र हैं, अतएव पुराणों में कहा जाता है—

'एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः'

इस हृद्बल के उत्पन्न होते ही इस मायावच्छिन्न रस पर बलों का चुनाव होने लगता है। हृद्बल में जो तीन शक्तियां बतलाई हैं उनको 'अक्षर' कहते हैं। यह अक्षर सदैव क्षर से संयुक्त रहता है। अक्षर अमृतस्वरूप है, क्षर मर्त्य है। अक्षर भी एक प्रकार का प्रजापति है–चूंकि वह मर्त्य क्षरभाग से संश्लिष्ट रहता है। अतएव कहा जाता है—'अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्'।

मायावच्छिन्न जो रस है वह बलों के उद्भूत हो जाने पर भी प्रातिस्विकस्वरूप से सर्वथा अब भी अविकृत ही है, इसीलिए उसे 'अव्यय' कहा जाता है। चूंकि इसी माया-वच्छिन्न अव्यय पर आगे की सारी सृष्टि उत्पन्न होती है—इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'एतद लम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं महत्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥'

इस मायावच्छिन्न अव्यय के केन्द्र का जो रस है उसे हम 'मन' कहेंगे। इसी मन को श्रुति में 'श्वोवसीयस मन' कहा जाता है। इस अव्यय मन पर अक्षररूप चेतना द्वारा दो प्रकार का चयन होता रहता है। प्रथम प्रकार की चिति को 'बहिश्चिति' व द्वितीय प्रकार की चिति को 'अन्तश्चिति' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि इस मायावच्छिन्न रस में दो ही प्रकार के बल उत्पन्न होते हैं—प्रथम सृष्टिसाक्षी व द्वितीय मुक्तिसाक्षी। एक बल तो ऐसा उत्पन्न होता है जो उत्तरोत्तर मन को आवृत करता रहता है। इस उत्तरोत्तर होने वाली बलग्रन्थियों से अव्यय का स्वरूप आच्छन्न हो जाता है। इन्हीं ग्रन्थियों से आगे की सृष्टि होती है परन्तु एक कर्म ऐसा होता है जो शनैः शनैः इन ग्रंथियों को खोल कर अव्यय के ऊपर चुने हुए सारे आवरणों को हटा कर उसका स्वस्वरूप में दर्शन करा देता है। इसे ही मुक्तिसाक्षी कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्तिकर्म सृष्टिसाक्षी व निवृत्तिकर्म मुक्ति-साक्षी है। अक्षर से चूंकि इस अव्यय मन पर बलों का चयन होता रहता है, अतएव इसे 'चिदात्मा' कहते हैं। इस बहिश्चिति व अन्तश्चिति के कारण ही अव्यय को पांच कलाएँ हो जाती हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण व वाक्। एक ही अव्यय बलभेद से पांच स्वरूपों में परिणत हो जाता है। यह मन जब प्रवृत्त्यात्मक बल से आक्रान्त होता है तो इसका

रुख प्राण और वाक् की ओर हो जाता है, एवं निवृत्त्यात्मक बल से यही मन विज्ञान और आनन्द की ओर झुक जाता है। इस प्रकार एक ही मन वलभेद से सृष्टिसाक्षी व मुक्तिसाक्षी बन जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

'न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥'

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि—वह जो मायावच्छिन्न रस है, जो कि 'अव्यय' नाम से कहा जाता है—अपनी अक्षर और क्षर प्रकृति से युक्त रहता है। अक्षर ही क्षर-भाग से अव्यय पर चुनाव करता रहता है, अतएव अक्षर को 'चेतना' कहा जाता है। इसी अक्षर से उत्पन्न क्षरभाग अव्यय पर सवार होते रहते हैं एवं वे ही क्षरभाग निवृत्त्यात्मक कर्म से अपना आत्मसंवरण कर अक्षर में ही लीन हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधा सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति'। इति।

यद्यपि अक्षर और क्षर दोनों ही उस पुरुष प्रजापति की परा और अपरा प्रकृति हैं तथापि—'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि दृश्यन्ते' इस न्याय के अनुसार अक्षर और क्षर को भी पुरुष कह दिया करते हैं। जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है—

'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥

अतः प्रकृतिद्वयविशिष्ट अर्थात् क्षराक्षरविशिष्ट जो मायावच्छिन्न अव्यय है, उसे ही प्रकृत में 'प्रजापति' समझना चाहिए। एक ही प्रजापति दो स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

'आनन्दविज्ञानमनोमयः प्रजापतिः मुक्तिसाक्षी : एवं वाक्—प्राणमनोमयः प्रजापतिः सृष्टिसाक्षी।'

चूंकि सृष्टिसाक्षी प्रजापति आत्मा वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय है—इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः।' बृहदारण्यक।

यह प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति मायाबल के द्वारा परिच्छिन्न बनने पर भी अव्य

किसी वस्तु के उत्पन्न न होने से एकाकी था। पश्चात् अशनाया बल से इसमें योगमाया, शिवमाया एवं विष्णुमाया का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार इस महामाया से अन्य अनन्तानन्त योगमाया उत्पन्न होती हैं। महामायावच्छिन्न अव्यय प्रजापति योगमायाओं की उत्पत्ति के पूर्व एकाकी ही थे। जब माया के उदर में अनन्त योगमाया उत्पन्न हो जाती हैं तो प्रजापति के उदर में अनन्त प्रजापति उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् योगमायावच्छिन्न जितने भी पदार्थ हैं वे सारे के सारे प्रजापति ही समझने चाहिएँ। इस प्रकार सारा विश्व प्रजापति से अभिव्याप्त है। अतएव प्रजापति के लिए 'सर्वं वै प्रजापतिः' कहा जाता है। प्रकृत में सृष्टि का प्रकरण होने से प्रजापति शब्द से यहां मन:प्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी प्रजापति का ग्रहण करना चाहिए। प्रजापति के इसी स्वरूप को भगवान् याज्ञवल्क्य बतलाते हैं कि—

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास'

सृष्टि के पूर्व प्रजापति एकाकी थे। उन्होंने इच्छा कि की—'किस प्रकार सृष्टि उत्पन्न करूँ?' इच्छा करने के साथ ही उन्होंने तप एवं श्रम किया। इस तप और श्रम से उन्होंने सर्वप्रथम अपने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया।

मायावच्छिन्न रस के केन्द्रीय रस को ही अव्यय मन कहते हैं जिसे कि 'श्वोवसीयस' भी कहते हैं। जब तक वस्तु अपरिच्छिन्न रहती है तब तक उसमें किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती। अतएव जब तक रस असीम था तब तक इच्छाव्यापार से शून्य था। परन्तु माया ने उसे परिच्छिन्न बना दिया तो उसमें एक प्रकार की इच्छाशक्ति उत्पन्न हुई। जो वस्तु १० गज स्थान में रहने वाली है उसे यन्त्रविशेष की सहायता से यदि एक हाथ भर की जगह में बद्ध कर दिया जाता है तो वह वस्तु हर समय बाहर निकलने का व्यापार करती रहती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जब वस्त्र-व्यवसायी किसी कपड़े की गांठ को खोलते हैं तो उस गांठ के खुलते ही भीतर में रखी हुई वस्त्र-समष्टि एकदम उछल पड़ती है। इससे ज्ञात होता है कि अवश्य ही उस बन्धन को तोड़ने के लिए यह पहिले से ही सन्नद्ध थी। इसी प्रकार व्यापक रस के माया द्वारा परिच्छिन्न बना दिए जाने पर उसके केन्द्र में उस परिच्छेद को तोड़ने के लिए एक बल पैदा होता है जो कि इच्छा नाम से कहा जाता है। सर्वप्रथम मायावच्छिन्न अव्यय मन में इस इच्छाबल का प्रादुर्भाव होता है जिसे कि वैदिक परिभाषा में 'काम' कहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'।

पूर्वोक्त श्रुति से स्पष्ट ज्ञाता होता है कि काम अर्थात् इच्छा मन का पहिला रेत है। अर्थात् मन से सर्वप्रथम इच्छाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस इच्छा के होते ही मनः-

प्राणवाक्रूप प्रजापति का प्राणव्यापार होने लगता है। प्राणव्यापार के होते ही वाग्-व्यापार होने लगता है तत्पश्चात् एक नवीन वस्तु उत्पन्न हो जाती है। सर्वप्रथम जब हमें कोई काम करना होता है तो पहिले उसकी इच्छा होती है। इच्छा के पश्चात् प्राण-व्यापार हो उठता है जिसे कि आन्तर व्यापार एवं यत्न कहा करते हैं। प्राणव्यापार के अव्यवहितोत्तरकाल में ही वाग्व्यापार हो पड़ता हैं। हम जिस समय हाथ उठाना चाहते हैं उससे पूर्व 'हाथ उठाऊं' यह इच्छा होती है। इच्छा के होते ही हाथ में भीतर ही भीतर एक हाथ उठाने का आन्तर व्यापार होता है उस व्यापार के होते ही हाथ उठ जाता है। तात्पर्य यह है कि इच्छा, तप और श्रम इन तीनों की जब समष्टि होती है बस तब एक नयी वस्तु उत्पन्न हो जाती है। मन उस उत्पत्ति में निमित्त कारण रहता है, प्राण असमवायिकारण होता है एवं वाक् समवायिकारण। प्राण क्रिया है और उससे उत्पन्न होने वाला फल वाक् है। प्राण साधक है एवं वाक् साध्य है तद्वत् मुक्तिसाक्षी प्रजापति में विज्ञान साधक है एवं आनन्द साध्य है जिस प्रकार सृष्टिसाक्षी प्रजापति में प्राण साधक एवं वाक् साध्य है उसी प्रकार मुक्तिसाक्षी प्रजापति में विज्ञान साधक और आनंद साध्य है। विज्ञान के होते ही हृदग्रंथिविमोक से उसी समय आत्मा—स्वात्मानन्द में. जो शान्तानन्द कहलाता है—लीन हो जाता है। विषय-सम्पृष्ट जो आनन्द है उसे समृद्धानन्द समझना चाहिए जो कि लौकिक आनन्द है। मनोव्यापार को इच्छा, प्राण-व्यापार को तप एवं वाग्व्यापार को श्रम कहते हैं। इन तीनों की समष्टि होते ही तत्काल 'काम कर लिया' यह कहा जाता है। अर्थात् नया निर्माण इन तीनों व्यापारों के योग से ही होता है। इसी अभिप्राय से कहा है—

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत कृतमुच्यते ।।'

मायावच्छिन्न अव्यय मन में एक कामना उत्पन्न हुई अर्थात् इच्छाबल उत्पन्न हुआ। इच्छाबल के उत्पन्न होते ही प्राणव्यापार होने लगा एवं प्राणव्यापार के होते ही वाग्व्यापार हो पड़ा। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'स ऐक्षत, कथं नु प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत सोऽश्राम्यत् इति'

इस प्रकार से मनःप्राणवाक् के व्यापार के होते ही उससे सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ। जिस समय हम जो कुछ काम करते हैं उस समय मन, प्राण, वाक् तोनों शक्तियां उसी की ओर अपना रुख रखती हैं। तीनों का रुख एक तरफ रहता है। यदि तीनों का रुख एक ओर नहीं रह कर अन्यत्रान्यत्र रहता है तो वह काम सुसम्पन्न नहीं होता है। सारी शक्तियों का जिधर रुख होता है वह स्थान 'मुख' कहलाता है। मण्डली में किसी

मनुष्य की शक्ति यदि प्रबल रहती है तो सभी को उसी का अनुसरण करना पड़ता है, अतएव उसे 'प्रमुख' कहा जाता है। इसी प्रकार जिस ओर इनकी शक्तियाँ निकलती हैं वह स्थान ही इस पुरुष प्रजापति का मुख कहलाता है। इस प्रकार मन:प्राणवाग्व्यापार से उस मायावच्छिन्न अव्यय प्रजापति से सर्वप्रथम 'अग्नि' उत्पन्न हुआ। चूंकि इसने अग्नि को अपने मुख से पैदा किया अतएव इसे अन्नाद कहते हैं। क्योंकि मुख अन्न खाने वाला है, अतः अन्नाद है, अतः मुख से उत्पन्न इस अग्नि को भी अन्नाद कहने लग गये। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'सोऽग्निमेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे, तद्यदेनं मुखादजनयत तस्मादन्नादोऽग्निः। स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति इति।' अर्थात् जो विद्वान् इस अग्नि के अन्नादस्वरूप विज्ञान को जान जाता है, वह अवश्य ही अन्नाद हो जाता है। उसका कोई अनिष्ट नहीं कर सकता है ॥१॥

देवता, वसु, रुद्र, आदित्यादि भेद से कुल ३३ हैं। एक ही अग्नि के अवस्थाभेद से ३३ देवता बन जाते हैं। इस प्रकार देवताओं की उत्पत्ति अग्नि के अधीन है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—प्रजापति भगवान् ने सारे देवताओं के पूर्व चूंकि इसे पैदा किया, अतएव 'अग्रे भवतीति' व्युत्पत्या इसका नाम भी 'अग्नि' ही हो गया। जिसे कि 'अग्नि' नाम से कहा जाता है, वस्तुतः उसका वास्तविक नाम 'अग्रि' समझना चाहिए। उत्पन्न होते ही यह अग्नि पूर्व दिशा की ओर अभिमुख हुआ। पानी का जैसे नीचे जाने का स्वभाव है ठीक इसके विपरीत अग्नि का स्वभाव सदा चारों तरफ जाने का है। जिस ओर देवता का अर्थात् अग्नि आदि प्राण पदार्थों का रुख होता है वही दिक् पूर्वा दिक् कहलाती है। इसी अभिप्राय से—'स जातः पूर्वः प्रेयाय इति।' यह कहा गया है। चूंकि यह उत्पन्न अग्नि बाहर की ओर आगे आगे निकलता है यही इस अग्नि की अग्निता है। तात्पर्य यह है कि 'अग्नि' यह नाम अग्नि का यदृच्छा से नहीं रखा गया है, अपितु उसके स्वरूपानुसार ही उसे 'अग्नि' कहा जाता है।

जिस प्रजापति का स्वरूप पूर्व में बतलाया है वही सप्तपुरुष प्रजापति कहलाता है। भगवान् मनु कहते हैं—

'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥ इति।

इस मनुवचन से सिद्ध है कि सृष्टि के मूल 'ऋषि' ही हैं। चूंकि ऋषि जगत् का मूल है, अतएव हम इसे 'प्रजापति' कह सकते हैं। ऋषि प्रजापति कैसे है ? इसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ कर दिया जाता है।

वैदिक विज्ञान में दो तत्व माने जाते हैं—ब्रह्मतत्व व यज्ञतत्व। आधुनिक वैज्ञानिक

फीजिक्स व केमेस्ट्री ये दो तत्व मानते हैं। इन दोनों को क्रमशः मौलिक व यौगिक तत्व कहा जाता है। जो ब्रह्म तत्व है वही हमारा मौलिक तत्व व यज्ञ तत्व ही यौगिक तत्व है। उस मौलिक तत्व को जिससे कि सृष्टिनिर्माण होता है—ऋषिशब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह ऋषितत्व प्राणात्मक है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्दरहित निराकार जो एक स्थानावरोधी तत्व है, जो सारे विश्व में व्याप्त है, उसे ही 'प्राण' कहते हैं। जिस वस्तु में प्राण होता है वह 'सत्' कहलाती है परन्तु चूंकि प्राण में प्राण नहीं रहता अतएव प्राण को 'असत्' कहते हैं। सृष्टि के पूर्व इस मौलिक ऋषिप्राण के अतिरिक्त जो कि असत् है और कुछ न था। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः, ते यत् पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस्तस्माद्ऋषयः इति।

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
तेऽग्नेः परिजज्ञिरे तेऽङ्गिरसः सूनवः॥

'अङ्गिरसः सूनवः' इससे श्रुति संकेत करती है कि वे ऋषिप्राण आग्नेय हैं। ये प्राण भिन्न-भिन्न स्वरूप से अपना संस्थान कायम करते हैं। कई एक प्राण ऐसे हैं जो साथ मिल कर रहते हैं। कई एकर्षि प्राण हैं—कश्यप और विश्वामित्र ये दोनों एकर्षि प्राण ही हैं। ये अलग अलग स्वच्छन्दरूप से ही रहते हैं, परन्तु पुलस्त्य और पुलह, ऋतु और दक्ष ये दोनों सदा साथ रहते हैं। अर्थात् पुलस्त्य और पुलह तथा क्रतु और दक्ष ये दोनों अविनाभूत हैं। जहां पुलस्त्य रहता है वहाँ पुलह अवश्य रहता है, जहां ऋतु रहता है वहां दक्ष अवश्य रहता है। एवमेव कई प्राण त्र्यात्मक भी हैं जैसे—भृगु-अङ्गिरा व अत्रि, मत्स्य, वशिष्ठ व अगस्त्य ये तीनों प्राण सदा साथ-साथ रहते हैं। इसी प्रकार एक सप्तर्षि प्राण होता है जिसका कि प्रकृत सृष्टि से सम्बन्ध है। सारे ऋषि प्राणों की अपेक्षा यह सप्तर्षि प्राण ही अत्यन्त बलिष्ठ है। सारी सृष्टि का निर्माण इसी सप्तर्षिप्राण से होता है इसी अभिप्राय से—'स वै सप्तपुरुषो भवति इति।' यह कहा है।

संसार के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी सप्तर्षि-प्राणमय हैं। ये प्राण अग्निमय बतलाए गये हैं। इन आग्नेय ७ प्राणों में से जो ४ प्राण हैं, उनसे तो आत्मा बनता है। आत्मा शब्द को यहां गौण समझना चाहिये। दोनों पक्ष और शिर इन्हीं चार प्राणों (धड़) के आधार पर रहते हैं तदपेक्षया—'चत्वारः आत्मा' यह कह दिया गया है। दो प्राणों से इधर-उधर के दोनों हाथ पांव बनते हैं एवं एक प्राण से पुच्छ प्रतिष्ठा बनती है। इन

सातों का जो अमृतभाग है - रसभाग है उससे मस्तक बनता है। चूंकि यह मस्तक सातों की श्री है अतएव इसे श्रीः कहते हैं। श्री को ही शिरः कहते हैं। यह सातों प्राणों वाला रसात्मक 'श्री' भाग सब पर शासन करता है अर्थात् यह मस्तक सारे शरीर पर अधिष्ठित रहता है। इसीलिए इसे (आठवें प्राणात्मक रसभाग को) प्रजापति कहते हैं।

इस प्रकार मायावच्छिन्न रसरूप प्रजापति से आग्नेयप्राण बाहर निकलते हैं—जिसे 'ऋषिप्राण' भी कहते हैं—इसीसे सृष्टि होती है। चूंकि यह सप्तर्षिप्राण उस मनःप्राण-वाङ्मय प्रजापति का ही एक अंग है अतएव हम इस सप्तर्षिप्राण को भी प्रजापति कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से 'स वै सप्तपुरुषो भवति' यह कहा गया है। अर्थात् वह जो मायावच्छिन्न रस है वह सात प्राणों की समष्टि को लेकर अखिल विश्व का निर्माण करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः, चत्वार आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि। चत्वारो हि तस्य पुरुषस्य आत्मा, त्रयः पक्षपुच्छानि। अथ यदेकेन पुरुषेणात्मानं वर्धयति तेन वीर्य्येणायमात्मा पक्षपुच्छान्युद्‌यच्छति' इति।

तात्पर्य यह है कि जिस समय प्राण सृष्टि करने लगते हैं, उस समय स्वभाव से ही ४ प्राण मध्य में बैठ जाते हैं, दो नीचे चले जाते हैं एवं एक दोनों के बीच में प्रतिष्ठित हो जाता है। जिस किसी भी वस्तु का ये प्राण सर्जन करेंगे, वहाँ इसी रूप से ये अपना संस्थान कायम करेंगे। यही कारण है कि हमारे शरीर का जो मध्यभाग का धड़भाग है, वह एकरूप से स्थिर है, क्योंकि इसमें वे ही चार प्राण स्थित हैं। इसमें सबसे ज्यादा प्राण होने से यह दोनों हाथ पैरों पर अपना यथेच्छ व्यवहार कर सकता है। प्राणाधिक्य के कारण ही इन चारों प्राणों को आत्मा कहा गया है। मस्तक इन सातों के रसभाग से बनता है अतएव वह सब पर शासन करता है। यदि मस्तक न हो, मुख न हो तो किसी प्रकार से आत्मा (धड़) किंवा हाथ पैरों (पक्षों) की स्थिति नहीं रह सकती। हाथ काट देने पर, पैर काट देने पर मनुष्य जीवित रह सकता है, फेफड़े खराब होने पर उनकी किसी प्रकार चिकित्सा हो सकती है, परन्तु मस्तक कटते ही क्षण मात्र में प्राणोत्क्रान्ति हो जाती है। इस प्रकार इसके रसभागयुक्त होने में इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है। शरीरस्थित सारे देवता इसके आश्रित हैं। सारे देवताओं के लिये इस रस-भाग में (मुख में) चूंकि आहुति दी जाती है, अतएव इनका नाम 'शिर' रखा गया। जैसा कि श्रुति कहती है—

'अथ यश्चितेग्निर्निधीयते। यैवैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो रसस्तमेतदूर्ध्वं समु-

दूहन्ति । तदस्यैतच्छिरः । तस्मिन्ने तस्मिन् सर्वे देवाः श्रिताः । अत्र हि सर्वेभ्यो देवेभ्यो जुह्वति तस्मादु एवैतच्छिरः । इति ।'

पहले प्रजापति को प्रकृतिविशिष्ट पुरुष एवं अक्षर और अक्षर को उसकी परा और अपरा प्रकृति बतलाया है। उनमें अव्यय निमित्तकारण, अक्षर असमवायिकारण एवं क्षर समवायिकारण है। क्षररूप ब्रह्म कार्य है। अनन्तक्षरसमष्टियों पर एक अक्षर हावी रहता है। इसी अभिप्राय से अक्षर के लिए 'बहुब्रह्मैकमक्षरम्' कहा जाता है।

अक्षर और क्षर दोनों ही प्राणात्मक है। जो क्षरभाग है वही सप्तर्षि-प्राणसमष्टि है, इन सातों का जो रसभाग है जिसेकि 'शिर' बतलाया है वही अक्षर है। अक्षर एवं श्रीः सप्तर्षि व क्षर ये दोनों एक ही हैं। क्षर मर्त्य है, अक्षर अमृत है। ये दोनों ही प्रकार के प्राण आग्नेय हैं। अग्निचित्य व चितेनिधेय भेद से दो प्रकार का होता है। क्षर मर्त्याग्नि है, अतः उसे मर्त्य सप्तर्षिप्राण बतलाया है; एवं अक्षर चितेनिधेय है, अतः उसे रसभाग (अमृतभाग) बतलाया है। इसी अक्षरात्मक रसभाग को अमृतस्वरूप बतलाने के लिये ही—'अथ यश्चितेऽग्निर्निधीयते'—यह कहा जाता है।

क्षर—आत्मा, विकार, यज्ञ भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों में से जो सप्तर्षि-प्राणात्मक क्षर है, वह आत्मक्षर है। उससे विकार यद्यपि अवश्य ही उत्पन्न होते हैं परन्तु वह अमृताक्षर के संयोग से सदा अपने उसी स्वरूप में रहता है जैसे कि विकार निकलने के पूर्व था। अतः उस अक्षरसंश्लिष्ट क्षरभाग को 'आत्मकोटि' में प्रविष्ट कर लिया जाता है। अतएव दोनों को प्रजापति कह दिया जाता है। यदि इस अक्षरसंश्लिष्ट क्षर-भाग की विकाररूप में परिणति हो जाती तो इसे आत्मक्षर एवं प्रजापति क्यों कहते। परन्तु श्रुति ने क्षरभागसहित अक्षर को प्रजापति कहा है, अतः मानना पड़ता है कि अक्षरसंश्लिष्ट क्षर विकृति में परिणत नहीं होता अपितु इससे विकार उत्पन्न होते रहते हैं। परन्तु साथ ही में श्रुति क्षर के मर्त्य भाव को भी बतलाती है। इसी अभिप्राय से वह कहती है—'अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम् इति।'

अक्षर और क्षर दोनों एक ही प्रजापति के स्वरूप हैं, अतः इस अभेद को बतलाने के लिये 'विकारों के क्षर से उत्पन्न होने पर भी श्रुति अक्षरभाग का नाम लेती है।' इससे दोनों में व्यासज्यवृत्त्या प्रजापतित्व सूचित करती है—जैसा कि श्रुति कहती है—

'तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विबुधाः सौम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति' इति।

सारांश यह है कि मायावच्छिन्न अक्षरक्षरप्रकृतिविशिष्ट जो पुरुष है वही प्रजापति कहलाता है। एवं चूंकि उस प्रजापति का अक्षरभाग रसात्मक व क्षरभाग सप्तर्षि-

प्राणात्मक है एवं उसीसे आगे की सृष्टियां होने वाली हैं, अतः इस प्रजापति को सप्त-पुरुष प्रजापति भी कह सकते हैं। इसी कारण से 'प्रजापतिर्वेदमग्र आस' इस श्रुति का और 'असद्वेदमग्रेऽआसीत्' इसका परस्पर कोई विरोध नहीं होता है क्योंकि जो माया-वच्छिन्न प्रकृतिविशिष्ट प्रजापति है वही तो सप्तपुरुष प्रजापति है।

यह प्रजापति सृष्टि के पूर्व एकाकी था अर्थात् केवल प्राणात्मक था। इसीलिए 'किं तदसदासीत्' यह प्रश्न कर श्रुति उत्तर देती है—'ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्'। पुनः के ते ऋषयः ?' यह प्रश्न कर उत्तर देती है 'प्राणा वा ऋषयः'। इन्हीं प्राणप्रजापति के व्यापार से आगे की सारी सृष्टियां उत्पन्न होती हैं। यही प्राणप्रजापति 'इस विश्व को बनाऊँ' यह इच्छा कर तदनुकूल व्यापार करता है अतएव इस प्राणप्रजापति को 'ऋषि' कहते हैं। अतः 'ते यत् पुराऽस्मात् सर्वस्मात् इदं (जगत्) इच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस्त-स्माद् ऋषय.' कहा जाता है।

इस प्रकार से उस मायावच्छिन्न सप्तपुरुषात्मक प्राणप्रजापति से सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ—यह बतलाया गया है। संसार में जिस प्रतिष्ठातत्व का हम अवलोकन कर रहे हैं, अर्थात् संसार के यावन्मात्र पदार्थों में जो एक प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर होती है वह वेद ही की महिमा है। ऋग्यजुःसामात्मिका त्रयीविद्या ही उस प्रतिष्ठा में कारण है। एवं साथ ही में जो एक प्रकाश देखते हैं जो कि हमें 'अस्ति' प्रत्यय करवाता है अर्थात् संसार के यावन्मात्र पदार्थों का प्रत्यक्ष करवाता है। वह भी वेद ही की महिमा है। वेदत्रयी से प्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु वेदत्रयी का ही प्रत्यक्ष होता है एवं संसार के जितने भी पदार्थों में स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है वह यज्ञ से ही है। अग्नि में सोम की आहुति का नाम ही यज्ञ है। यह अग्नीषोमात्मक यज्ञ इसी वेद के कारण होता है। अर्थात् यह यज्ञ भी वेदमय ही है। इस प्रकार से प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ इन तीन भेदों से वेद भी तीन ही प्रकार का होता है—प्रथम प्रतिष्ठावेद, द्वितीय—ज्योतिर्वेद, तृतीय—यज्ञवेद। उस मायावच्छिन्न ईश्वर के शरीर में स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र एवं पृथिवी—ये पांच अव-यव माने जाते हैं। इन पांचों में से स्वयम्भूमण्डल का जो वेद है जो कि मौलिक ऋषि-प्राण से सम्बन्ध रखता है—प्रतिष्ठावेद कहलाता है। इसी प्रतिष्ठावेद को ब्रह्मनिश्वसित वेद कहते हैं। सूर्यमण्डल के वेद को 'ज्योतिर्वेद' कहते हैं, इसी वेद को गायत्री-मात्रिक वेद भी कहते हैं। पृथिवी के वेद को यज्ञिय वेद कहते हैं जिसका कि प्रकृत से सम्बन्ध है।

यह वेद किसका रूप है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि वेद अग्निस्वरूप है। अग्नि ही निबिड़, तरल, विरलावस्थाभेद से ऋक्, यजुः, सामस्वरूप में परिणत हो जाता है। अग्नि की निबिड़ावस्था को तो अग्नि ही कहते हैं एवं इसकी तरलावस्था को वायु व विरला-

वस्था को आदित्य। इन तीनों में से जो ऋक् और साम हैं वे तो सर्वथा स्थिर हैं एवं 'यजुः' में 'यत्' और 'जू' ये दो भाग हैं। 'यत्' गतिप्रकृतिक वायु पदार्थ है एवं 'जू' स्थिर-प्रकृतिक आकाश पदार्थ है। इस प्रकार से अग्नि का ऋग्वेद, वायु का यजुर्वेद व आदित्य का सामवेद है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'प्रजापतिस्तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं प्रावृहत्, अपानादन्तरिक्षलोकं, व्यानादमुं लोकम्। स एतांस्त्रील्लोकानभ्यतप्यत। सो अग्निमेवास्माल्लोकादसृजत्। वायु-मन्तरिक्षलोकात्। आदित्यं दिवः। स एतानि त्रीणि ज्योतींष्यभ्यतप्यत। सोऽग्निरेवर्चोऽसृजत, वायोर्मंजूषि आदित्यात् सामानि'। (कौषीतकि ब्राह्मण ६ अ० १० ब्रा० २० पृ०)

ज्यों ज्यों दूर हटते जाते हैं त्यों त्यों वस्तु छोटी दिखलाई पड़ने लगती है, यह इसी वेदत्रयी की महिमा है जिसका कि विशद विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। अतः इस विषय को यहीं समाप्त कर पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं—

प्रजापति सृष्टि के पूर्व एकाकी था। उसने विचार किया कि 'मैं सृष्टि उत्पन्न करूँ एवं भूमायुक्त बनूं।' इच्छा के पश्चात् उस प्रजापति ने प्राणव्यापार अर्थात् तप एवं वाग्व्यापार अर्थात् श्रम कर डाला। इस तप और श्रम से सर्वप्रथम त्रयीविद्या का प्रादुर्भाव हुआ। यही त्रयीविद्या इस प्रजापति की प्रतिष्ठा बनी। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि वेद अग्निस्वरूप ही है, अतः वेदत्रयी को उत्पन्न करने का यही तात्पर्य है कि उसने सर्वप्रथम अग्नि को उत्पन्न किया। ऋत और सत्य दो तत्व माने जाते हैं जो निरायतन पदार्थ हैं वे ऋत कहलाते हैं एवं उन्हीं को अप्रतिष्ठित कहते हैं। जो सायतन—सकेन्द्र पदार्थ हैं उनको सत्य कहते हैं एवं वे ही प्रतिष्ठित कहलाते हैं। जब तक प्रजापति से अग्नि उत्पन्न नहीं हुआ था तब तक वह प्राणस्वरूप प्रजापति सर्वथा निरायतन था, अत-एव अप्रतिष्ठित एवं ऋतस्वरूप था। परन्तु जब इच्छा तप श्रम व्यापार से अग्नि उत्पन्न हो गया तो उससे वह प्राणप्रजापति प्रतिष्ठित हो गया। अर्थात् उस सप्तपुरुष प्राण-प्रजापति को ठहरने के लिए एक स्थान मिल गया। संसार के जितने भी प्राण हैं वे पहिले वेद (अग्नि) से प्रतिष्ठित होते हैं तदनन्तर उन प्रतिष्ठित प्राणों पर भूत-संचय होता है तब जाकर पदार्थ का स्वरूप बनता है। इस प्रकार उस प्रजापति से वेदत्रयी अर्थात् अग्नि उत्पन्न हुई। वह प्रजापति जो कि अब तक निराधार था अब उस अग्निप्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो गया। चूंकि भगवान प्रजापति की यह वेद प्रतिष्ठा है एवं प्रजापति का ही सारा जगत् है, इसी अभिप्राय से कहा जाता है कि 'संसार के यावन्मात्र पदार्थों की प्रतिष्ठा यह ब्रह्म अर्थात् वेद ही है।' भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यही कारण है कि—'जो वेदविद्या का अनुवचन करता है वह भी लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी अग्नि

की उत्पत्ति को बतलाते हुए श्रुति कहती है –

'सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेति । सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत । स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाऽभवत् । तस्माद्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति । तस्मादनूच्य प्रतितिष्ठति । प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत ।' इति ।

अग्नि उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः उस प्रजापति ने तप और श्रम किया । अभिप्राय यह है कि मायावच्छिन्न रस के केन्द्र में से उठने वाली जो अशनया (बुभुक्षा) है वह एक क्षण के लिए भी बन्द नहीं होती । बस इन अनवरत होने वाले अशनाया-व्यापार से उत्तरोत्तर सृष्टि होने लगती है । इस प्रकार सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ तत्पश्चात् जब उस अग्नि में प्रतिष्ठित उस प्राण प्रजापति का व्यापार हुआ तो उससे पानी उत्पन्न हुआ। वह पानी वाक् लोक से उत्पन्न हुआ । वेदत्रयी को ही वाक् कहते हैं । इसमें से जो ऋक् और साम है वे दोनों तो स्थिर है । तीसरा जो यजु है उसमें भी गतिप्रकृतिक जो वायु भाग है, उससे पानी पैदा हुआ । अर्थात् उत्पन्न अग्नि में जब यद्रूप वायु का परस्पर घर्षण हुआ तो उस घर्षण से पानी उत्पन्न हो गया ।

इस प्रकार सर्वप्रथम प्रजापति अन्धकार को दूर करते हुए प्रकट हुए अर्थात् इससे अग्नि उत्पन्न हुआ । तदनन्तर वायु द्वारा अग्निघर्षण से पानी पैदा हुआ । इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं––

ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ।।
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ।।

इस प्रकार से जिस वेद को इस प्रजापति की प्रतिष्ठा बतलाया है उससे ही 'प्रतिष्ठा' किंवा ब्रह्मनिश्वसितवेद समझना चाहिये ।

जब वाक् लोग से अर्थात् यजु वायु से घर्षणात् पानी उत्पन्न हो गया तो तदनन्तर– 'इन जलों के साथ में और कुछ उत्पन्न करूं' इस इच्छा से उस त्रयीविद्या अर्थात् प्रतिष्ठा-स्वरूप अग्नि के साथ प्राणप्रजापति उन जलों में समाविष्ट हो गया । वहां उन जलों से उसने एक गोल अण्ड बना लिया । उन जलों में प्रविष्ट हो उस प्राण प्रजापति ने पुनः तप और श्रम किया जिससे पुनः ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध त्रयीविद्या को उत्पन्न किया । प्रजापति प्राण के साथ उसके केन्द्र भाग में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् के अनुसार स्थिर हो गया । केन्द्र भाग में जब अग्नि प्रविष्ट हो गया तो पुनः उस जगह उस अग्नि का एक

केन्द्र बन गया। केन्द्र बनते ही उस चारों तरफ रहने वाले त्रयीवेदाग्नि का अशनाया बल द्वारा केन्द्र पर घर्षण होने लगा। उस घर्षण से पानी और अग्नि (योषा वृषा) के मेल से एक वेद और उत्पन्न हुआ अर्थात् केन्द्र में एक अग्निपिण्ड उत्पन्न हुआ। वही व्यापक अग्नि केन्द्र पर जमा होते-होते पिण्डरूप में परिणत हो गया जो कि सूर्यपिण्ड कहलाता है।

यद्यपि प्रथम बार (जलोत्पत्ति से पूर्व) उत्पन्न होने वाला भी वेद अग्निमय ही था एवं यह वेद भी अग्निमय ही है तब भी अग्नि की जाति में अंतर है। एक ही पदार्थ अवस्थाभेद से जैसे भिन्न प्रकार का हो जाता है ठीक वैसे ही एक ही अग्नि अर्थात् वेद उत्पत्तिक्रम के भेद से विभिन्नजातीय हो जाता है। यह जो वेद है वह ज्योतिर्वेद कहलाता है एवं यही सब की प्रतिष्ठा है। पूर्व में अग्नि से जिस पानी का उत्पन्न होना बतलाया है, उस पानी को वायुमय समझना चाहिए। अर्थात् जिसे हम पानी कहते हैं वह पानी वह नहीं है। पानी चार प्रकार का होता है। उसमें जो 'अम्भः' नाम का जिसे कि 'ओक्सिजन' कहते हैं—पानी ही यहां पानी शब्द से अभिप्रेत है। इस प्रकार प्रथम अग्नि उत्पन्न हुआ तत्पश्चात् पानी (अम्भः), तत्पश्चात् चित्य सूर्यपिण्ड उत्पन्न हुआ जो कि वेदत्रयीमय है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्। ता ऋचः। स ऋचां वेदः। अथ तदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम्। तानि सामानि। स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः। तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति इति।

(शत० १० काण्ड पृ. ५।२)

सूर्यपिण्ड के अंतर्गर्भित जो यजुवायु है उसे ही हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहते हैं। आगे की सृष्टियां इसी हिरण्यगर्भ ब्रह्मा से होती है। सृष्टि में सृष्टि का पैदा करने वाला सर्वप्रथम यह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ही उत्पन्न होता है। इसीलिये कहा जाता है कि यह ब्रह्मा ही सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला है। यह जो ब्रह्म है अर्थात् वेदत्रयी है वह अग्निप्राणप्रधान प्रजापति के मुखस्थानापन्न ही है। इसी अभिप्राय को श्रुति बतला रही है—

'तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत। सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्। वागेवास्य साऽसृज्यत। सेदं सर्वमाप्नोत्-यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्तस्मादापः। यदवृणोत् तस्माद्वाः। सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत्। तत आण्डं समवर्तत। ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या। तस्माद्‌ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्। अपि ह तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत-तस्य तन्मुखमेवासृज्यत। तस्मादनूचानमाहुरग्निकल्प इति। मुखं ह्येतदग्नेर्यद् ब्रह्म॥ इति

यद्यपि यह बाद में पैदा होने वाला अग्नि (वेदत्रयी) है परन्तु वही वेदाग्नि पिण्डरूप में परिणत होकर गायत्रीमात्रिक कहलाती हैं अतः इसे 'प्रथमज' मानने में कोई विरोध नहीं। इसी हिरण्यगर्भ वायुमय आग्नेय वेदमय ब्रह्मा के लिए भगवती श्रुति कहती है—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।'

आगे यजुर्वेद की उत्पत्ति बतलाई जाने वाली है जो कि पृथिवी से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यह अग्नि भी वस्तुतः उस अग्नि से अभिन्न है जो कि सबसे पहिले उत्पन्न हुआ है। अतः इस यजुर्वेद को भी 'प्रथमज' कहा जा सकता है। प्रकृत प्रकरण इस यजुर्वेद से ही सम्बन्धित है, क्योंकि हमारा सम्बन्ध पृथिवी से है और पृथिवी का वेद ही यजुर्वेद है।

प्रजापति एकाकी थे। उन्होंने तप व श्रम द्वारा सर्वप्रथम अग्नि को उत्पन्न किया। यही अग्नि की अग्निता है कि वह सबसे आगे अर्थात् पहिले उत्पन्न हुआ। इस अग्नि से 'अप्' उत्पन्न होता है और 'अप्' से पृथिवी। इसीलिए 'अद्भ्यः पृथिवी' यह कहा गया है। जिस समय भगवान् प्रजापति ने अग्नि को उत्पन्न किया, उस समय उन्होंने विचार किया कि—'मैंने आत्मना (स्वयं) जिस अग्नि को पैदा किया है वह अग्नि अन्नाद (भोक्ता) है और इस समय मेरे से अतिरिक्त और कोई अन्न नहीं है, अतः अग्नि मेरे को ही न खा जाय।' भगवान् याज्ञवल्क्य उस समय की अवस्था बतलाते हुए कहते हैं कि—उस समय यह पृथिवी काल्वालीकृत (कर्दमयुक्त) थी। न उस समय ओषधियां थीं और न वनस्पतियां। सर्वप्रथम उस आप् तत्व में पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ जो कि 'शैवाल' की ही एक जातिविशेष है। इस प्रकार जब अनेक पुष्करपर्ण उत्पन्न हो गये तब प्राणात्मक अग्नि ने उन्हें सुखाना प्रारम्भ किया। अन्ततोगत्वा पुष्करपर्ण मिट्टी के रूप में परिणत हो गया। जितनी दूर में पृथिवीपर्ण अप् में ओतप्रोत हो गये, उतनी दूर को अप् उस मिट्टी के कारण कुछ घन हो गया। किन्तु अग्नि का अधिक भाग उस अप् में प्रविष्ट नहीं हुआ था, अतः उस समय यह पृथिवी पङ्कयुक्त ही थी। इसी अवस्था के लिए—'काल्वालीकृता हैव तर्हि पृथिव्यास न ओषधय आसुः न वनस्पतयः' कहा है तत्पश्चात् 'एमूष' नामक वायु ने एककालावच्छेदेन उन मृत्तिकाकणों को एकत्रित कर उनको संघरूप में परिणत कर दिया। इस प्रकार जब यह घन हो गया तो घनता के कारण वह अग्नि भी अधिक मात्रा में प्रज्वलित हो उठा, अर्थात् विशकलित अग्नि एक केन्द्र में संहत होकर अधिक प्रज्वलित हो गया। उस प्राणप्रजापति से विशिष्ट अग्नि ने उस पृथिवी को सुखा डाला और उस रूप में बना डाला जिस रूप में वह आज दिखाई देती है ।।३।।

इसी अभिप्राय से कहते हैं कि 'प्रजापति तो इधर विचार ही कर रहे थे, उधर वह अग्नि झटिति इनको निगल गया अर्थात् पार्थिव प्रजापति पर वह अग्नि व्याप्त हो गया। तब भयभीत उस प्रजापति की जो महिमा थी वह भय से बाहर निकल पड़ी। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वाक् ही वह महिमा थी। सृष्टिसाक्षी प्रजापति मनःप्राणवाङ्मय है। इसके वाग भाग को ही उसकी महिमा कहते हैं। यही महिमा अमृताग्नि है अर्थात् पार्थिव अग्नि वाग्रूप से ३३वें अहर्गण तक वितत रहता है। इसे ही वषट्कारमण्डल कहते हैं। इसी अभिप्राय से 'वाग् वा अस्यस्वो महिमा' यह कहा है। मनःप्राणवाङ्मय प्रजापति का वाग्भाग क्षर, प्राणभाग अक्षर एवं मनोभाग अव्यय कहलाता है। इन तीनों की समष्टि को ही 'आत्मा' कहते हैं जो कि 'षोडशी' पुरुष नाम से प्रसिद्ध है। अव्यय अक्षर और क्षर तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। निवृत्त्यात्मक कर्म से क्षर का जो चुनाव होता है वह हट जाता है। इस प्रकार सृष्टि से पूर्व अव्यय अक्षर व क्षरसहित पुरुष प्रजापति ही था। किसी प्रकार के विकार का चयन इस पर नहीं हुआ था। इसने इच्छा की कि—'मैं सृष्टि उत्पन्न करूँ'। इच्छा के साथ ही उसने तदनुरूप तप व श्रम किया। उससे अग्नि उत्पन्न हुआ। यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण 'अग्रि' अर्थात् अग्नि कहलाया।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'अग्नि' को मुख से उत्पन्न किया, अर्थात् मायावच्छिन्न प्रकृति-विशिष्ट पुरुष प्रजापति के वाग्व्यापार द्वारा हृदय (केन्द्र) से अग्नि निकल पड़ा। हृदय को ही मुख कहते हैं। पहिले पुरुष में अशनाया बल उत्पन्न होता है। उससे प्रजापति में क्षोभ उत्पन्न होता है। उसमें वाक्क्षोभ से (वाग्घर्षण से) अग्नि उत्पन्न हो जाता है। अग्नि का स्वभाव विशकलित होकर बाहर निकलने का है। केन्द्र से उत्तरोत्तर विशकलित होते हुए चारों तरफ फ़ैलता हुआ यह अग्नि बाहर निकलता है। अतएव 'स जातः पूर्वः प्रेयाय' यह कहा गया है। अग्नि के उत्पन्न होने पर प्रजापति ने विचार किया कि मैंने अपने से इस अन्नाद (भोक्ता) अग्नि को पैदा किया है। इसको खाने के लिये और दूसरा अन्न न होने से यह मेरे को ही न खा जाय।

इस प्रकार प्रजापतिसहित पृथिवीपिण्ड पर अग्नि व्याप्त हो गया। इसी अभिप्राय से लिखा है कि उस अग्नि से इस प्रजापति को निगल लिया—'अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्यावर्तत'।

ऊपर बतलाया गया है कि अग्नि केन्द्र से विशकलित होकर बाहर को ओर जाया करता है। इस अग्नि के साथ उस प्रजापति की वाग् भी जाती है जो वाग् इस प्रजापति की महिमा है। अर्थात् जैसे सूर्यकिरणें पदार्थों पर प्रतिफलित होकर वापिस जाती हैं उस समय अपने साथ पानी को भी ले जाती हैं उसी प्रकार उत्पन्न हो बाहर जाता हुआ अग्नि

पृथिवीकेन्द्र से वाग्भाग को भी बाहर ले जाता है। वाग् अमृत मर्त्यभेद से दो प्रकार की है। अव्यय, अक्षर और क्षर में जो वाक् आत्मक्षररूप है, वह अमृता वाक् कहलाती है तथा इस आत्मक्षर से उत्पन्न विकारक्षररूप वाक् ही मर्त्यवाक् है। अमृता वाक् प्राणात्मिका एवं मर्त्या वाक् पिण्डात्मिका है। जिस वाक् की उत्क्रान्ति अर्थात् केन्द्र से बहिर्गमन बतलाया गया है वह पिण्डात्मिका मर्त्या वाक् है। अर्थात् जाते हुए अग्नि के साथ पार्थिवकण भी जाते हैं। ऊपर की ओर जाता हुआ धूम काला दिखलायी पड़ता है। यह कृष्ण भाग ही शुद्ध मृत्तिकाभाग है। जिस प्रकार धूम के साथ मिट्टी जाती है उसी प्रकार पार्थिव केन्द्र से विनिसृत अग्नि के साथ पार्थिव वाक् भी जाती है।

शरीर में एक प्रकार की गर्मी रहती है। जब तक यह गर्मी है तभी तक शरीर स्थित है। इसे ही वैश्वानराग्नि कहते हैं। अग्नि अन्नादस्वरूप है। हर समय इसमें कुछ न कुछ आहुत होते रहना चाहिये। यदि इसमें किसी वस्तु की आहुति नहीं डाली जाती है तो धीरे-धीरे शरीर के रस, असृक्, मांस, मेद अस्थि आदि धातुओं को यह जला देती है। अतः इनकी रक्षा के लिये अन्न की आहुति देना परमावश्यक है। हमारे शरीर में तीन करोड़ पचास लाख लोमगर्त हैं। जिस समय स्त्री की योनि में बीजवपन होता है उस समय तारों की रश्मियाँ उसमें प्रविष्ट हो जाती हैं। जितने तारे हैं उतने ही लोमगर्त शरीर में बन जाते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—'एभ्यो लोमगर्तेभ्यः ऊर्ध्वानि ज्योतींष्यायन् तद्यानि ज्योतींषि, एतानि तानि नक्षत्राणि। यावन्ति एतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ताः, (शतपथ ५३१ पृ.)

तात्पर्य यह है कि हमारा शरीराग्नि जो कि प्राणस्वरूप है प्रतिक्षण इन रोमकूपों से निकला करता है। किन्तु जो अन्न हम खाते हैं वह अग्निरूप में परिणत होता हुआ उस क्षति की पूर्ति किया करता है। प्रतिक्षण होने वाली यह आदान विसर्ग क्रिया ही यज्ञ कहलाती है। इस अग्नि की सत्ता के लिये अन्नाहुति की परमावश्यकता है, अन्यथा यह अग्नि सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

इससे सिद्ध है कि अग्नि अपनी सत्ता के लिये सोमाहुति की अपेक्षा रखती है। अतः इस प्राजापत्याग्नि की सत्ता के लिये भी सोमाहुति की परमावश्यकता है, अन्यथा पृथिवीपिण्ड की स्थिति एक क्षण भी नहीं रह सकती। इसीलिये इस आहुति प्रकरण का प्रारम्भ किया जाता है—

पृथिवीपिण्ड का निर्माण 'अद्भ्यः पृथिवी' इस श्रुति के अनुसार 'अप् तत्व' से होता है। आपोमय समुद्र को ही परमेष्ठी मण्डल कहते हैं। इक्कीसवें अहः से प्रारम्भ कर छत्तीसवें अहः तक एक गोसव यज्ञ होता है, जिसके ठीक मध्य में उनतीसवें अहः पर परमेष्ठी पिण्ड स्थिर है। इस यज्ञ में आप्, वायु और सोम की आहुति से १००० (एक हजार) 'गोतत्व'

उत्पन्न होते हैं जो कि सांसारिक पदार्थों का निर्माण करते हैं। गोतत्व संख्या में १००० (एक हजार) है अतः जगत् में पदार्थ की जातियां भी ७ धातु, ७ उपधातु, ७ विष, ७ उपविष आदि भेद से सहस्र ही हैं। इस यज्ञ में विश्व के पदार्थों का निर्माण करने वाला गोतत्व उत्पन्न होता है अतः इस यज्ञ को 'गोसव' कहते हैं। पुराणों में इसी स्थान को 'गोलोक' कहा गया है। यह गोतत्व पहले सूर्य में, तत्पश्चात् पृथिवी में आता है। अतः 'ज्योतिः' 'गौः' 'आयुः' इन सूर्य के मनोताओं में तथा वाक्, गौः, द्यौः इन पृथिवी के मनोताओं में गोतत्व विद्यमान है। पृथिवी के तीनों मनोताओं में 'गौः' और 'वाक्' का ही प्रकृत से सम्बन्ध है। यह 'गौः' सूर्य द्वारा पृथिवी पर आकर पृथिवी की अपनी वस्तु बन जाती है। ये गौः १००० होती हैं। इन गोतत्वों का जहां तक वितान होता है उस मण्डल के ३३ विभाग कर लिए जाते हैं जैसा कि आगे बतलाया जाएगा। मन, प्राण, वाक् तीनों सृष्टिसाक्षी प्रजापति के स्वरूप (आत्मा) हैं। इस मन प्राण, वाक् की समष्टि से एक विकारी मन, प्राण, वाक् और उत्पन्न होते हैं, जिनका कि ३३ तक वितान होता है। प्रजापति के मन, प्राण, वाक् स्थिर व नित्य है एवं क्षरात्मक मन, प्राण वाक् अस्थिर व विनाशी है। अव्यय अक्षर और क्षर में स्थित क्षरभाग (आत्मक्षर) से इन विकारक्षरों की उत्पत्ति होती है। आत्मक्षर वाक् से उत्पन्न जो विकारक्षर वाक् है वही प्रजापति की महिमा है। यह वाक् भी मन और प्राण से अविनाभूत है। इस प्रकार प्रजापति की महिमा मन, प्राण व वाक् तीनों ही है। नित्य अतएव अविनाशी आत्मक्षररूपी मन, प्राण, वाक् वस्तु की आत्मा है और अनित्य अतएव विनाशी विकारक्षररूपी मन, प्राण, वाक् उस आत्मा की महिमा है। यह महिमा ३३ तक वितत रहती है तथा पृथिवीपिण्ड उस आत्मा का शरीर है, जो कि ब्रह्मपुर नाम से कहा जाता है। इस प्रकार पुरुष (आत्मा) पद (शरीर) और पुनःपद (महिमा) इन तीनों की समष्टि ही ब्रह्माण्ड का स्वरूप है। यह महिमास्वरूपी वाक् गोतत्व ही है क्योंकि मन-प्राणगर्भित वाक् को ही 'गौः' कहते हैं। यह गौ तीन भावों में परिणत रहती है—१-प्राणमयी गौ, २-वाङ्मयी गौ, ३-आपोमयी गौ। प्राणमयी गौ को वेद, वाङ्मयी गौ को वषट्कार एवं आपोमयी गौ को लोक कहते हैं। इन्हीं तीनों वेदसाहस्री, लोकसाहस्री एवं वाक्साहस्री भी कहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है कि—'किं तत् सहस्रमिति, इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथो वागिति ब्रूयात्'। ये सारी साहस्रियां अव्यय पुरुष पर स्थित विष्णु और इन्द्र अक्षर से ही वितत होती हैं। इन्हीं के आदान और विसर्ग से तीनों साहस्रियों का स्वरूप बनता है। इसीलिए श्रुति में कहा गया है—

'उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेयां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥'

प्रकृत में यही बताना है कि निरन्तर केन्द्र से निकलने वाले प्राजापत्य अग्नि की स्थिति रिक्तक्षतिपूरक अन्नाहुति के बिना नहीं बन सकती। उसी आहुति-क्रम को बतलाते हैं—भगवान् प्रजापति को जब अग्नि अपने पेट में निगल गया अर्थात् केन्द्रीय अग्नि पृथिवी के चारों तरफ व्याप्त होकर निकला तो प्रजापति डर गए। इस भयसे उनकी वाक्रूप महिमा उत्क्रान्त हो गयी। अर्थात् अग्नि के साथ क्षर भाग का भी उत्क्रमण हो गया। यह अग्नि-मिश्रित वाक् अग्नि ही है। इसे अपने में से निकलते देखकर प्रजापति ने विचारा कि इस अग्नि का मेरे से विच्छेद न हो जाय, अतः उसने इसकी रक्षा के लिए आहुति की इच्छा की। इस इच्छा के साथ ही उन्होंने उत्क्रमण किया, अर्थात् जाते हुए वाग्रूप अग्नि को हाथ ऊँचा कर पकड़ लिया। इसीसे अन्तरिक्ष और द्युलोक का स्वरूप बन गया। इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि के ही तरल, विरल भेद से अन्तरिक्ष और द्युलोक का निर्माण होता है। क्योंकि यह उत्क्रान्त अग्नि पृथिवीकेन्द्र से २१ तक जाता है। इसमें ९वें अहर्गण तक पृथिवी लोक, १५वें अहर्गण तक अन्तरिक्ष लोक और २१वें अहर्गण तक द्युलोक माना जाता है। यदि प्रजापति का सम्बन्ध उस वाक् अग्नि से टूट जाता तो जैसे लकड़ी का अग्नि अन्तरिक्ष में लीन हो जाता है वैसे ही पार्थिव अग्नि भी कहीं लीन हो जाता। इस वितत अग्नि से तीनों लोक बने हैं, इसका संकेत भगवान् याज्ञवल्क्य ने—'इदञ्चालोमकमिदञ्च' इससे किया है। पृथिवीलोक से तो यह अग्नि जाता ही है अतः उसका नाम न लेकर अन्तरिक्ष और द्यौः का ही नाम लिया है, अतएव 'इदं' का विशेषण 'अलोमकम्' दिया है। तात्पर्य यह है कि पृथिवीपिण्ड ओषधि वनस्पतियों के कारण सलोमक कहलाता है परन्तु अन्तरिक्ष और द्युलोक का अग्नि 'अलोमक' कहलाता है। प्रजापति ने इस अग्नि का सम्बन्ध अपने से विच्छिन्न न हो—इस इच्छा से अन्नाहुति की इच्छा की। क्योंकि अन्नाहुति के बिना अग्निप्राण उच्छिन्न हो जाता। जब तक अग्निहोत्र होता है, जब तक इस अग्नि में सोम की आहुति पड़ती है, तभी तक संसार के यावन्मात्र पदार्थों की स्थिति रहती है। इसीलिए प्रजापति ने उस अग्नि की स्थिरता के लिए घृत तथा दूध की आहुति के लिए विचार किया। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पयस् और घृत दोनों पयस् ही है। क्योंकि पयस् ही घृत रूप में परिणत होता है।

तात्पर्य यह है कि जब यह अग्नि पृथिवीकेन्द्र से बाहर जाता है तो २१वें अहर्गण पर जाकर सोमरूप में परिणत हो जाता है। पृथिवीमण्डल से ऊपर सूर्यमण्डल है और उससे ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। इस परमेष्ठिमण्डल के भृगु अङ्गिरा और अत्रि ये तीन मनोता हैं। इनमें से भृगु अप्-वायु-सोमात्मक हैं। यह परमेष्ठिमण्डल से आकर सारे विश्व में व्याप्त रहता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमाततनोरुर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थं ॥ इति ॥

ऊपर बतलाया गया है कि परमेष्ठिमण्डल को केन्द्र में रख कर गोसव नामक एक पञ्चदशाह यज्ञ होता है, जो कि गोतत्व का उत्पादक है। इस कारण परमेष्ठिमण्डल को 'गोलोक' कहते हैं। सोम उसी परमेष्ठि मण्डल में उत्पन्न होता है अतः उस सोम को दूध (पयस्) कहा गया है। यह सोम सारी ओषधियों में तथा पानी में प्रविष्ट हो जाता है। उस पानी को पीकर गायें दूध देती हैं, अतः वही सोम परम्परासम्बन्ध से 'पयस्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। जैसे इस लोक में गाय के उदर से दूध निकलता है, वैसे ही प्राकृतिक यज्ञ में परमेष्ठिस्थित गोप्राण से दूध (सोम) निकलता है। यही विशाल अन्तरिक्ष में व्याप्त सोम जो कि प्रकृति में पयस् नाम से कहा गया है इस अग्नि में आहुत होता रहता है। चूंकि प्राकृत यज्ञ में गोतत्वनिर्मित पयस् (सोम) की आहुति होती रहती है उसी प्रकार मनुष्यकृत वैध अग्निहोत्र में प्रकृति में गोप्राण से निर्मित सोम की—जो कि वनस्पतियों में आया हुआ है—आहुति देना आवश्यक हो जाता है।

पृथिवीपिण्ड से ऊपर वायु है। इस वायु के उदर में सर्वत्र पारमेष्ठ्य पानी (आप्) प्रविष्ट हो जाता है। यह पानी वायु को फाड़ कर अपनी ७ सतह बना लेता है, जो कि 'सप्त वायुस्तर' कहलाते हैं। ये वायुस्तर विभिन्नजातीय हैं। ये विभिन्नजातीय वायुस्तर ही विभिन्न स्वादों में परिणत होते हुए दधि, मधु, घृत, क्षारादि सात समुद्र कहे जाते हैं। चूंकि सोम सर्वत्र व्यापक है, वह नीचे आकर घृतसमुद्र से युक्त होकर घृतरूप में परिणत हो जाता है। इसी अभिप्राय से प्रकृत में पय और घृत दोनों को पयस् ही बतलाया है। इसी अभिप्राय से कहा है—"उभयं हैव तत्पय एव"। सारांश यह है कि सर्वप्रथम सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति के अशनायाव्यापार द्वारा निःसृत २१वें अहर्गण तक वितत अग्नि सोम की आहुति से ही अनुच्छिन्न बना था। प्रजापति ने उस अग्नि में सोमाहुति डालकर अग्निहोत्र द्वारा पृथिवी की सत्ता रखी थी, जो सत्ता आज उस आहुतिक्रम से हमें दिखलायी दे रही है। उसी प्रकृतियज्ञ-वितान को दृष्टि में रखकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'अथैनमग्निर्व्यात्तेनोपपर्यावर्तत। तस्य भीतस्य स्वो महिमापचक्राम। वाग् वा अस्य स्वो महिमा। वागस्यापचक्राम। स आत्मन्नेवाहुतिमीषे। स उदमृष्ट। तदयदुदमृष्ट तस्मादिदं चालोमकमिदं च। तत्र विवेद घृताहुतिं वैव पयआहुतिं वा। उभयं ह त्वेव पय एव'॥ ४॥

इस प्रकार जब प्रजापति ने पय की आहुति अपने में दी तो वह पहली आहुति इस प्रजापति को कृतकार्य न बना सकी। वह पहली आहुति परमाणु रूप से ही युक्त थी। अर्थात् जैसे बालों का सङ्घ विशकलित सा रहता है वैसे यह पहली आहुति ऋतरूपा ही

थी। उस आहुति का प्रजापति ने पृथिवी पर सेचन कर दिया और कहा कि—'ऊष्मा को धारण करो'। चूं कि प्रजापति ने "ओषं धय" यह कहा और उसी से तृण घास आदि पैदा हुए, अतः इनको 'ओषधि' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि—जब पार्थिव वाग् अग्नि में प्रथम सोम की आहुति पड़ी तो वह ऋत रूप से पड़ी। वह उस अग्नि में एकदम लीन हो गयी। उस पहिली आहुति का सोम—उस अग्नि को तृप्त करने के लिए पर्याप्त न हो सका। जैसे पहिली वर्षा का पानी बिन्दु रूप से इधर-उधर बिखर जाता है उसी प्रकार पहिला सोम ओस के समान इधर-उधर बिखर गया। यह सोम "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्" इस श्रुति के अनुसार तीसरे द्युलोक में था। अतः प्रथम सोम इतनी दूर से आते आते लघु बिन्दु में परिणत होता हुआ अतिस्वल्प मात्रा में पृथिवी पर आ सका। उस सोम से पृथिवी की जो पशु अर्थात् मर्त्य अग्नि थी, वह पकड़ में आ गयी। उसी से औषधि वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। अग्नि जैसे विशकलनधर्मा है, वैसे ही ठीक इसके विपरीत सोम संकोचधर्मा है। यह सोम अवस्थाभेद से ध्रुव, धर्त्र, धरुण एवं धर्म इन चार रूपों में परिणत हो जाता है। जब तक अग्नि में सोम की आहुति नहीं होती, जब तक सोम अग्नि से सम्बद्ध नहीं होता, तब तक नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। अतः पृथिवी से निकलने वाला पिण्ड का अग्नि जब ऊपर से आहुत सोम से मिला, तब मिलते ही संकोचधर्मा सोम ने उस अग्नि (उष्मा) को पकड़ लिया। उस अग्निसोम के अर्थात् वृषायोषा के सम्बन्ध से पृथिवीपिण्ड पर ओषधि वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। इसी प्राथमिक औषधिउत्पत्ति-रहस्य को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'सा हैनं नाभिराधयांचकार केशमिश्रेव (परमाणुरूपेव) हास। तां व्यौक्षन् ओषं धयेति (ऊष्माणं धारय) तत ओषधयः समभवन् तस्मादोषधयो नाम।' इति

इस प्रकार पहिली आहुति से प्रजापति कृतकार्य नहीं हुए अर्थात् पहिली आहुति से आने वाले सोम का सम्बन्ध केन्द्रीय प्रजापति से नहीं हुआ तो उन्होंने दुबारा उन्मर्षण किया, अर्थात् दूसरी आहुति लेने के लिए विष्णुस्वरूप अशनाया बल निकला। उसके द्वारा प्रजापति ने अपने (अग्नि) में दूसरी आहुति डाली। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह आहुति चाहे घृत की हो या चाहे दूध की। क्योंकि दूध और घृत वास्तव में पयस् अर्थात् सोम ही है। इस दूसरी आहुति ने प्रजापति को कृतकार्य कर दिया। अर्थात् प्रथम आहुत सोम पृथिवी पर आते-आते समाप्त हो गया अतः दुबारा जो सोम आया, उसका पार्थिव प्रजापति के केन्द्र से सम्बन्ध हो गया। इस प्रकार सोम प्रजापति अर्थात् केन्द्रस्थ अग्नि के सूत्र में बन्ध गया। इसी अभिप्राय से वे कहते हैं—

'स द्वितीयमुदमृष्ट । तत्रापरामाहुतिं विवेद । घृताहुतिं वैव पय आहुतिं वा । उभयं त्वेव तत्पय एव ॥५॥ स हैनमभिराधयाञ्चकार ।' इति ।

इस प्रकार जब उस सोमाहुति से प्रजापति का सम्बन्ध हो गया, तब प्रजापति ने विचार किया कि—अग्नि के साथ सोम का सम्बन्ध तो हो ही गया, अब इसमें और आहुति डालें या नहीं ? उस समय प्रजापति को वाक्‌रूपा उनकी महिमा ने प्रत्युत्तर दिया कि– हे प्रजापते ! अवश्य ही आहुति डालो । जब वाक् ने इस प्रकार 'जुहुधि' यह शब्द कहा तो प्रजापति ने विचार किया कि—जब मेरी महिमा ही कह रही है कि तुम अवश्य हवन करो, अतः मुझे अवश्य ही हवन करना चाहिए । यह विचार कर प्रजापति ने 'यद्यपि मेरी इच्छा तो आहुति देने की नहीं है, किन्तु मेरी आत्मीय वाक् कह रही है अतः आहुति देता हूँ'– यह कह कर 'स्वा आह' यह कहते हुए आहुति दे दी । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्राकृतिक यज्ञ में सर्वप्रथम भगवान् प्रजापति ने 'स्वा आह' यह कह कर आहुति दी थी, अतः 'यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि' इस नियम का पालन करते हुए आज भी याज्ञिक लोग 'स्वाहा' कह कर ही आहुति डालते हैं । उस आहुति के डालने से जो कि आकाश में तप रहा है वह आदित्यप्राण उत्पन्न हुआ और अग्नि भी लौट आया ।

ऊपर बतलाया गया है कि पार्थिव १००० गौ का वितान जहां तक होता है, वहां तक के ३३ विभाग कर दिए जाते हैं । ये विभाग अग्नि और सोम के कारण होते हैं । अग्नि मर्त्य व अमृत भेद से दो प्रकार का है । मर्त्य अग्नि पृथिवीपिण्ड तक रहता है तथा अमृताग्नि २१वें अहर्गण तक जाता है । २१ से ऊपर २७ तक भास्वर सोम तथा ३३वें अहर्गण तक दिक् सोम रहता है । सोम ऋत पदार्थ है । उसमें कोई व्यवस्था (भेद) नहीं हो सकती । अतः उन दोनों को एक लोक मान लिया जाता है । इसी अभिप्राय से कहा जाता है 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' । २१वें अहर्गण तक वितत रहने वाला अग्नि वस्तुतः १७वें अहर्गण तक ही रहता है, परन्तु सोम की प्रबल आहुति से जो कि तीसरी आहुति बतलाई गई है—२१वें अहर्गण तक प्रज्वलित हो जाता है । २१ तक का यह अग्नि पृथिवी के केन्द्र से बद्ध रहता है । दूसरी आहुति से इस केन्द्रस्थित अग्नि से सोम सर्वात्मना सम्बद्ध हो चुका तथापि वाक् के कहने से प्रजापति ने और आहुति दी । इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि द्वितीय आहुति से उस समय के लिए अवश्य तृप्त हो गया परन्तु उतना सा ही सोम सदा के लिए अग्नि की स्थिरता के लिए यथेष्ट न हो सका । क्योंकि सोम अग्नि में पड़ते ही अग्निमय बन जाता है, एवं अग्निमय बनते ही फिर बाहर निकल जाता है । ऐसी स्थिति में यदि और आहुति न डाली जाएगी तो अग्नि सदा के लिए स्थिर नहीं रह सकता । इसीलिए प्रजापति ने और आहुति दी । अनवरत सोम की आहुति २१वें

अहर्गण तक वितत रहने वाली अग्नि में हुआ करती है और सोम अग्नि में परिणत होकर बाहर निकलता रहता है। इस निरन्तर होने वाले अग्निषोमात्मक यज्ञ से ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः इन लोकों की तथा अग्नि, वायु, आदित्य इन लोकियों की स्थिति रहती है।

पहिले वाक्, वेद, लोक ये तीन साहस्रियां बतलायी गयी हैं, उनमें से देवता का स्वरूप वाक्साहस्री से अर्थात् वषट्कारमण्डल से बनता है। अग्नि, वायु आदित्य इन तीनों का स्वरूप प्रजापति के वाग्व्यापार से बनता है, अतएव प्रजापति की महिमा वाक् ने कहा कि—और आहुति डालिये। यदि सोम की निरन्तर आहुति न हो तो २१वें अहर्गण के अग्नि की स्थिति नहीं रह सकती। यदि अग्नि की स्थिति न रही तो तत्स्वरूप वायु और आदित्य प्राण की स्थिति भी नहीं रह सकती।

अपिच, यदि सोम की आहुति नहीं होती तो २१ तक जाने वाला अग्नि प्रजापति के पास वापिस नहीं आता तथा क्रमशः उच्छिन्न हो जाता। सोमाहुति के कारण ही २१ तक बाहर जाकर वह अग्नि प्रजापति के पास लौट आता है, अर्थात् अग्नि का सम्बन्ध प्रजापति (केन्द्र) से उच्छिन्न नहीं होता है। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स व्यचिकित्सत्-जुहवानी ३ (जुहवानि) मा हौषाम् ३ (माहौषम्)। तं स्वो महिमा अभ्युवाद, जुहुधीति। स प्रजापतिर्विदाञ्चकार-स्वो वै मा महिमा आहेति। स स्वाहेत्येवा-जुहोत्। तस्माद् स्वाहेत्येव हूयते। तत एव उदियाय य एष तपति। ततोऽयं प्रबभूव योऽयं पवते। तत एवाग्निः पराङ् पर्यावर्तत।।' इति।।

यद्यपि सूर्य पृथिवी से बहुत पहिले ही उत्पन्न हो गया था तथापि २१वें अहर्गण के पास के प्राणाग्नि में सूर्य प्राण और प्रविष्ट हो जाता है। इसी एकीभाव को बतलाने के लिए 'तपति' यह कहा गया है। प्रकृत में "योऽयं तपति" से आदित्य प्राण ही अभिप्रेत है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रजापति ने अग्नि उत्पन्न कर, उसमें सोमाहुति देकर अग्निहोत्र किया और उससे अग्नि, वायु, आदित्य इन प्राणों को तथा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक की सत्ता कायम की तथा पृथिवीपिण्ड को ओषधि व वनस्पतियों से युक्त किया, उसी प्रकार आज भी पार्थिव अग्नि में सोम की आहुति होती रहती है और उस आहुति से अखिल विश्व के चराचर उत्पन्न होते रहते हैं, यही प्राकृतिक अग्निहोत्र का वैज्ञानिक रहस्य है।।६।।

इस प्रकार सोमाहुति के प्रभाव से एक ही अग्नि मर्त्यामृतभेद से ओषधि वनस्पतियों का एवं स्तौम्य त्रिलोकी का व्यवस्थापक बना। यदि सोम की आहुति न होती तो इनमें से कोई भी उत्पन्न नहीं होता। मनःप्राणवाङ्मय पुरुषप्रजापतिस्थित आत्मक्षर की

विकारभूत वाक् जो कि गोस्वरूप है तथा जो मन:प्राणगर्भिता है तथा अग्निमय है उसी से प्रजापति की प्रजारूप सारा प्रपञ्च उत्पन्न होता है। और यदि सोम की आहुति नहीं होती तो अग्नि बाहर निकलता हुआ प्रजापति के स्वरूप को ही उच्छिन्न कर देता। परन्तु अग्निहोत्र के प्रभाव से उन्होंने अग्नि की भी रक्षा कर ली और प्रजा भी उत्पन्न कर ली।

फलश्रुति

प्रजापति पय की आहुति देकर प्रजा से युक्त हो गया एवं अत्तास्वरूप उस अग्नि से उसने अपना परित्राण भी कर लिया। इस प्रकार इस प्राकृतिक अग्निहोत्र के विज्ञान को जानता हुआ जो कोई अग्निहोत्र करता है वह इस प्रजाति (पुत्र-सम्पत्ति) को उत्पन्न करता है तथा अग्निस्वरूप यम से अपने आपको बचा लेता है अर्थात् उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती ॥७॥

फलान्तरश्रुति—

अपि च, हमारे शरीर में चित्य तथा चिते निधेय—यह दो प्रकार का अग्नि रहता है। चित्याग्नि से अस्थि त्वक्, मांसादि का चुनाव होता है। इसीको भूतचिति कहा जाता है। अमृताग्नि से प्राणचिति होती है। चितिनिधेय आत्मा को कर्मात्मा कहते हैं। यह विज्ञान से सम्पृक्त रहता है। और चित्यात्मा भूतानुसम्पृक्त रहता है। जिस समय प्राणोत्क्रान्ति होती है उस समय चितिनिधेय प्रज्ञानात्मा विज्ञान से सम्पृक्त होकर कर्मभोग के लिए लोकान्तर में चला जाता है। अवशिष्ट भूतानुसम्पृक्त आत्मा जो हंसात्मा नाम से प्रसिद्ध है, भूतों को जलाने के बाद उनसे अलग होकर इसी लोक में परिभ्रमण किया करता है परन्तु जब तक शरीर नहीं जलाया जाता, तब तक इस आत्मा का शरीर से बन्धन नहीं हटता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—जिस समय मनुष्य मरता है एवं इसको अग्नि में जला दिया जाता है, उस समय यह हंसात्मा मृत शरीर से अलग हट जाता है। जिस प्रकार माता पिता के योग से पुत्रोत्पत्ति होती है उसी प्रकार यह हंसात्मा अग्नि से पैदा होता है अर्थात् मृत शरीर की चित्यानि से इसका स्वरूप बनता है। जो मनुष्य अग्निहोत्र नहीं करता उसका आत्मा अग्नि की मात्रा से हीन सा ही रहता है, अत: उस मनुष्य का वह आत्मा उत्पन्न नहीं होता है। किसी के पूर्वकर्मानुसार हो भी सकता है। परन्तु प्राय: अनाहिताग्नि के वह आत्मा नहीं होता है। अर्थात् उत्पन्न होने पर भी खण्डखण्डों में परिणत हो जाता है तथा अत्यन्त दुखी रहता है। अत: जैसे महानात्मा को शक्ति पहुँचाने के लित श्राद्ध करना आवश्यक है वैसे ही हंसात्मा के आनन्द के लिए भी अग्निहोत्र करना आवश्यक है॥

प्रजापति ने दूसरी आहुति से केन्द्रीय अग्नि का स्वरूप बनाकर—अब आहुति डालें या नहीं ? यह संकल्प-विकल्प किया था। आज लोक में जो हम संकल्प-विकल्प-क्रिया देखते हैं उसकी जन्मदात्री प्रजापति की वही विचिकित्सा है। जो मनुष्य विचिकित्सा के इस जन्म-रहस्य को जानता है, तथा जो विचारपूर्वक सारे कार्य करता है वह श्रेयःप्राप्ति-युक्त रहता है।

प्रजापति ने जिस सोम की आहुति दी थी—आहुति के बाद उसका अवशिष्ट भाग अलग फेंक दिया गया था। यही कारण है कि आज यज्ञान्त में कुछ शेष बचा लिया जाता है। उस अवशिष्ट भाग से विकङ्कत वृक्ष पैदा हुआ अतः यह यज्ञिय वृक्ष है क्योंकि यह यज्ञभाग से पैदा हुआ है। यज्ञ में इसीके पात्र बनते हैं। प्रकृत में यही बतलाना है कि उस आहुति से ही देवताओं के वीर अर्थात् देवताओं में शिरोमणिभूत अग्नि, वायु, आदित्य पैदा हुए। अतः जो मनुष्य इन देवताओं के वीरों को पहचान जाता है अर्थात् अग्निहोत्ररहस्य समझ जाता है, उसके वैसे ही वीर पुत्र पैदा होते हैं।

फलश्रुतिप्रकरण समाप्त।

पूर्ण प्रकरण में बतलाया गया है कि भगवान् प्रजापति के अग्निहोत्र से अग्नि, वायु, आदित्य—ये तीन देवता उत्पन्न हुए जो कि अवस्थाभेद से ३३ कहलाये। अब उन देवताओं ने उत्पन्न होकर क्या किया ? किस तरह उनकी स्थिति व्यवस्थित हुई ? कैसे वे अपने स्वरूप को स्थिर रख सके ? क्योंकि अग्नि विशकलनधर्मा है तथा तीनों देवता अग्निमय हैं। तब प्रतिक्षण में नष्ट होने वाला अग्नि कैसे स्थिर हो सका ? इस विज्ञान को बतलाने के लिए आगे का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

सप्तपुरुषात्मक पुरुष प्रजापति (पृथिवीपिण्डस्थ प्रजापति) से अग्नि, वायु, आदित्य पैदा हुए। उत्पन्न होते ही वे परस्पर कहने लगे कि—भाइयों हम प्रजापति के अनुगामी हैं, जिधर प्रजापति रहता है उधर ही हमें जाना पड़ता है। तो जिस प्रकार हम प्रजापति के अधीन हैं वैसे ही हम उस वस्तु को पैदा करें जो हमारे अधीन रहे तथा हमसे पृथक् न रह सके। यह विचार कर उन्होंने अपने आपको चारों तरफ से घेर कर हिंकारशून्य गायत्रसाम से स्तुति करना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपने आपको चौतरफ से घेर लिया। उनके घेरे से बाहर का स्थान समुद्र हो गया। उस समुद्र के बीच में यह पृथिवी थी। इसीको उन्होंने अपना आधार बनाया।

तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम भगवान् प्रजापति से अग्नि उत्पन्न होता है। अग्नि केन्द्र से उत्पन्न होता है अतएव 'मुखात् जनयाञ्चक्रे' यह कहा जाता है। यह अग्नि उत्पन्न होकर पार्थिव वाक् को साथ लेते हुए पृथिवी के २१वें अहर्गण तक जाता है। ज्यों ज्यों

अग्नि ऊपर की ओर जाता है, त्यों त्यों अधिक विशकलित होता जाता है। यहां तक कि २१वें अहर्गण तक पहुँच कर वह सर्वथा समाप्त हो जाता है। उत्तरोत्तर अधिक विशकलन के कारण एक ही अग्नि के घन, तरल, विरल भेद से अग्नि, वायु, आदित्य ये भेद हो जाते हैं। किन्तु २१ तक जाने वाले इस अग्नि का पृथिवीकेन्द्र से सम्बन्ध बना रहता है। पृथिवीकेन्द्र ही प्रजापति है। इसी अभिप्राय से—'वयं वै प्रजापतिं पितरमनु स्मः' यह कहा गया है।

ऊपर बतलाया गया है कि इस पृथिवी का निर्माण पानी से होता है। पानी में अग्नि के कारण पहिले पुष्करपर्ण उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् अग्नि द्वारा एवं एमूषवराह द्वारा सुखाये हुए एकत्रित किये हुए ये पुष्करपर्ण पृथिवीपिण्ड में परिणत हो जाते हैं। जिस पानी के समुद्र में इनका निर्माण होता है उसे पारमेष्ठ्य समुद्र कहते हैं, जो पृथिवीपिण्ड के चारों ओर दूर तक व्याप्त रहता है।

ऋग्, यजुः, साम ये तीनों अग्निवेद कहलाते हैं। केन्द्र से बाहर की ओर उत्तरोत्तर ह्रस्वीभूत जो एक पदार्थ आता है जो कि अग्नि ही है, ऋक् कहलाता है। यह ऋक् साम के बराबर ही है। अर्थात् जितना ऋक् होता है उतना ही साम होता है। इस प्रकार "ऋचा समं मेने" इस सिद्धान्त के अनुसार केन्द्र से बाहर जाते हुए मण्डलात्मक साम को साम कहा जाता है। यह साम १. हिङ्कार २. प्रस्ताव ३. उद्गीथ ४. प्रतीहार ५. निधन—इस प्रकार पञ्चावयव होता है। पाँचों साम एक ही स्थान पर रहते हैं, यह नियम नहीं। कहीं हिङ्कार साम रहता है, कहीं प्रस्ताव, कहीं उद्गीथ। इसीलिए उपासनाप्रकरण में भिन्न भिन्न प्रकार से 'उद्गीथमुपासीत' इत्यादि रूप से साम की उपासना बतलायी जाती है। प्रकृत में हिङ्कार साम का सम्बन्ध है। जिसे लौकिक गायनविद्या में श्रुति कहते हैं, उसे ही वैदिक गायन में हिङ्कार कहते हैं। गवैया जब गाने बैठता है तो पहिले आ, आ, आ इत्यादि रूप से श्रुति का उच्चारण करता है। इस श्रुति से ही स्वरों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार श्रुति के बिना स्वर नहीं होता, वैसे ही बिना हिङ्कार के सामगान नहीं होता। सामगान के प्रारम्भ में हिङ्-हिङ्-हिङ् इस प्रकार से हिङ्कार करना पड़ता है। इसीलिए "नासामा यज्ञोऽस्ति इति वा आहुः न वा अहिङ्कृत्य साम गीयते। स यत् हिङ्करोति तद् हिङ्कारस्य रूपं क्रियते।" (शतपथ ब्रा० २६ पृष्ठ) यह कहा जाता है। यद्यपि साम बिना हिङ्कार के नहीं रहता, तथापि प्रकृत में जो बिना हिङ्कार के गायत्र साम बतलाया है, वह 'ऋचा समं मेने' इस अभिप्राय से है। जब तक अग्नि, वायु, आदित्य अग्नि में सोम का सम्बन्ध नहीं होता, तब तक इनका साम हिङ्काररहित रहता है। सोम के सम्बन्ध को ही हिङ्कार कहते हैं। सोमसम्बन्ध से ही स्तोत्र होता है, अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य में किरणरूप से लहर उत्पन्न होती हैं, किंतु अग्नि में जब तक सोम का सम्बन्ध नहीं

होता तब तक इनमें किरणरूप लहरें उत्पन्न नहीं होतीं। सूर्य में जो हम रश्मियाँ देखते हैं वह इसी सोम की महिमा है। लहर को ही स्तोत्र कहते हैं और यह सोम के सम्बन्ध से होती है। अतएव सामप्रक्रिया को स्तोत्र कहते हैं।

अग्नि के आठ अवयव होते हैं जो वसु नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में तीनों देवता आग्नेय हैं। अत एव 'गायत्रेण हिङ्कारेण तुष्टुविरे' यह कहा गया है। अर्थात् २१ तक जाने वाले तथा तीन देवों में परिणत होने वाले गायत्र अग्नि ने स्तोत्र किया। अर्थात् वीचियाँ सोमसम्बन्ध से उत्पन्न हुईं। इन देवताओं के चारों तरफ आपोमय परमेष्ठी रहता है और उसके बीच में चारों तरफ घेरा देकर २१ वें अहर्गण तक ये अग्नि, वायु, आदित्य स्थिर रहते हैं। अतएव–'तद्यत् पर्यश्रयन् स समुद्रः' यह कहा गया है। उस समय उन्होंने पृथिवी को ही अपना आधार बनाकर स्तोत्र किया। अर्थात् पृथिवी के केन्द्र से बद्ध इस अग्नि में सोम आहुत हुआ। तात्पर्य यह है कि आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के मध्य में विद्यमान अग्नि, वायु, आदित्य ने पृथिवीकेन्द्र से बद्ध रहते हुए अशनाया व्यापार से सोम लेने की इच्छा की ॥११॥

इस प्रकार पृथिवी पर स्थिर होकर, स्तुति कर ये पूर्व की ओर उत्क्रान्त हो गए। हम फिर अपने स्थान में आ जायेंगे यह विचार कर वे पारमेष्ठ्य समुद्र में विद्यमान गो के पास चले गये। उस गो ने इन्हें देखते ही हिङ्कार किया। देवताओं ने उसी समय पहिचान लिया कि यह साम का हिङ्कार है। इसीलिए गौः उपजीवनीया (जीवन देने वाली) मानी जाती है। जो मनुष्य गोस्वरूप इस साम के हिङ्कार को जानता है वह गौ की तरह उपजीवनीय बन जाता हैं।

पृथिवी के २२वें अहर्गण से लेकर ३६वें अहर्गण तक पञ्चदशाहनामक यज्ञ होता है। जिस यज्ञ को वेद में गोसव एवं पुराणों में गोलोक कहते हैं। इस पञ्चदशाह यज्ञ में १००० गोतत्व उत्पन्न होते हैं, जो कि अखिल विश्व के उपादान हैं। इन गौओं का पार्थिव अग्नि के साथ सम्बन्ध होता है, जो अग्नि २१ तक वितत रहता हैं। अग्नि के अग्नि, वायु, आदित्य ये तीन भेद बतलाये हैं। इनमें अग्नि ८ प्रकार का, वायु ११ प्रकार का तथा आदित्य १२ प्रकार का होता है। इन्हीं को वसु, रुद्र, आदित्य नाम से कहते हैं। ये ही गणदेवता कहलाते हैं। १००० गोतत्वों में ३३३ गो वसुओं में रहती हैं। ३३३ रुद्रों में और ३३३ आदित्यों में। अवशिष्ट गो कामगवी कहलाती है जिसका सम्बन्ध प्रजापति से है। प्रजापति अग्नि, वायु, आदित्य इन सब पर आक्रान्त रहता है और उसकी गो कामगवी कहलाती है अतएव इसे सार्वदेवत्य भी कहते हैं। प्रजापति सत्यस्वरूप था। किन्तु इससे उत्पन्न होने वाले अग्नि, वायु, आदित्य एक प्रकार से ऋत रहते हैं। जब

इनमें गो के हिङ्कार का सम्बन्ध होता है तो ये भी सत्य कहलाने लगते हैं। यह गोप्राण अप्वायुसोमात्मक है। २१ तक रहने वाले अग्नि में पारमेष्ठ्य सोम का आगमन होता है। अग्निमय सौम्यप्राण को ही गो कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि सोमसम्बन्ध को ही हिङ्कार कहते हैं। वह हिङ्कार गो का होता है और अग्नि में सोम के मिलने से जो एक नया प्राण उत्पन्न होता है जो २१ के ऊपर पञ्चदशाह यज्ञ में रहता है, उसे ही गोप्राण कहते हैं एवं उसके द्वारा ही अग्नि में सोम का सम्बन्ध हो जाता है। अतः यह निसंकोच कहा जा सकता है कि हिङ्कार अर्थात् सोम का सम्बन्ध गो प्राण के द्वारा ही होता है। २१ तक वितत अग्नि में जब सोम का सम्बन्ध होता है तो वह गायत्र साम हिङ्कारयुक्त हो जाता है अर्थात् सोमसम्बन्ध का होना ही गायत्र साम का हिङ्कारयुक्त होना है।

साम का तात्पर्य समीकरण है। जब तक अग्नि में सोम नहीं आया था तब तक वह अत्यन्त प्रज्वलित था। सोम शैत्य की अधिकता से असहनीय था। परन्तु जब यह सोम इस प्रज्वलित अग्नि में आहुत हो जाता है तो अग्नि में वह ताप की प्रखरता नहीं रहती और सोम में शैत्य नहीं रहता। दोनों के मेल से एक अनुष्णाशीत स्वरूप बनता है। यही साम कहलाता है, यही समीकरण है। परन्तु यह सोमसम्बन्ध गो के द्वारा ही होता है अतएव इस साम को हिङ्कारयुक्त कहते हैं।

पानी स्वर के रूप में लहर लेता रहता है एवं अग्नि नार रूप से रहता है। जब पानी (सोम) इन अग्नि में मिल जाता है तो यह अग्नि हिङ्कारयुक्त (लहरयुक्त) हो जाता है। अर्थात् इसमें से वीचिस्वरूप रश्मियां निकला करती हैं। ये किरणें इसी सोमसम्बन्ध से निकला करती हैं। इन किरणों में जो एक प्रकार का सोममिश्रित आग्नेय प्राण है वही 'गो कहलाता है। इसीलिए रश्मि को 'गो' कह देते हैं। इसी अभिप्राय से सूर्य को भी 'गो' कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः।' इति।

पहिले अग्नि में विशकलन धर्म ही था एवं सोम में संकोच। परन्तु जब सोम विशकलनधर्मा अग्नि में मिल गया तो न अग्नि का धर्म विशकलन ही रहा तथा न सोम का धर्म संकोच ही। अर्थात् पाषाणादि पदार्थों को छोड़ कर पत्र आदि पदार्थों को न अग्नि विशकलित ही कर सकता है और न सोम उन्हें संकुचित ही कर सकता है। संकोच और विकास दोनों भाव पदार्थों में समान रूप से रहते हैं। पृथिवीपिण्ड की स्थिरता का यही कारण है। यदि अग्नि में सोम नहीं आता तो यह अग्नि पृथिवी के टुकड़े-टुकड़े कर डालता और यदि अग्नि नहीं रहता तो यह पृथिवीपिण्ड वज्र के समान ठोस बन जाता। परन्तु

अग्नि जितना ही इसे विशकलित करना चाहता है सोम उतनी ही मात्रा में उसे घन बनाता रहता है ।

उपर्युक्त रीति से परमेष्ठी में होने वाले 'गोसव' यज्ञ में उत्पन्न १००० गोप्राणोंका सम्बन्ध इस सोम द्वारा पार्थिव अग्नि से हो जाता है । यह गोप्राण सोम द्वारा परमेष्ठी में आकर आग्नेय बनकर पृथिवी की अपनी वस्तु बन जाता है और उसका सम्बन्ध परमेष्ठी से टूट जाता है । इस गोरूप सोम की आहुति से ही इस अग्नि की स्थिति रहती है । गोसम्बन्ध से सम्बद्ध होकर सोम अनवरत अग्नि में आहुत होता रहता है । अतएव जो अग्नि सोमाहुति से पूर्व ऋतरूप था अब सत्यस्वरूप में परिणत होता हुआ स्थिर हो जाता है । अग्नि में जो रश्मियाँ हैं वह भी इस गोप्राण की महिमा है । अतः जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य प्रजापति की प्रजा हैं और वे प्रजापति की अधीनता से पृथक् नहीं हो सकते इसी प्रकार वे अग्नि, वायु, आदित्य की प्रजा हैं अतः वे कभी इनसे अलग नहीं होती । तात्पर्य यह है कि जैसे २१ तक वितत रहने वाला अग्नि पृथिवीकेन्द्र से बद्ध है उसी प्रकार रश्मिसमूह इन अग्नि सूर्य पिण्डों से बद्ध रहता है । इसी अभिप्राय से कहा है—'तत्सृजामहै यत् अस्मान् अन्ववसत् इति ।' इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'ते स्तुत्वा प्राञ्च उच्चक्रमुः । पुनरेम इति देवाः एद्गां सम्भूताम् । सा हैनानुदीक्ष्य (दृष्ट्वा) हिञ्चकार । ते देवा विदाञ्चक्रुरेष साम्नो हिङ्कारः (सोमसम्बन्धः) । अपहिङ्कारं हैव पुरा ततः साम आस । स एष गवि साम्नो हिङ्कारः । तस्मादेषोपजीवनीया । उपजीवनीयो ह वै भवति य एवमेतं गवि साम्नो हिङ्कारं वेद ।।' इति ।।

अर्थात् सोमाहुति के पूर्व साम हिङ्काररहित (गोप्राणरहित, सोमरहित) था । परन्तु सोम की आहुति इसमें हो गयी तो वह गायत्रसाम हिङ्कारयुक्त हो गया ।।१२।।

इस प्रकार 'उपजीवनीयतम' गो का सम्बन्ध इन देवताओं से हो गया तो इन्होंने कहा कि—'हमने इस गाय को उत्पन्न किया है वह भद्र ही उत्पन्न किया है । अर्थात् गोप्राण का उत्पन्न करना अपने लिए कल्याण का विषय है । क्योंकि यह गौ ही तो यज्ञ है । गौ के बिना यज्ञ का वितान नहीं हो सकता । अग्नि में सोमाहुति का नाम यज्ञ है । सोम की आहुति पारमेष्ठ्य गोप्राणों के बिना नहीं हो सकती । अतः यह यज्ञ अवश्य ही गोस्वरूप है । जिस प्राणी का आत्मा जिस प्राण से बनता है उस प्राणी का नाम भी वही रख दिया जाता है । जैसे मनुष्यों का आत्मा पुरुषरूप वैश्वानर से बनता है, अतः इन्हें पुरुष कहा जाता है । गो प्राणी का आत्मा गोप्राण से बनता है, अतः इसे गौ कहा जाता है । वैधयज्ञ प्रकृतियज्ञ की प्रतिकृति पर वितत किया जाता है और प्रकृतियज्ञ बिना गोप्राण के नहीं होता । अतः जैसे प्राकृतिक अग्निहोत्र में गोप्राण की आवश्यकता है उसी प्रकार वैध अग्नि-

होत्र में गो प्राणी की आवश्यकता है। इन दोनों यज्ञों की तरफ सङ्केत करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'यज्ञो ह्येवेयं। नो हि ऋते गोर्यज्ञस्तायते ।।इति।।'

अपिच, यह गो ही अन्नस्वरूप है। संसार में जो कुछ अन्न शब्द से व्यवहृत किया जाता है वह गो की ही महिमा है। अग्नि सदा दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है एवं सोम उत्तर से दक्षिण की तरफ। इस अग्नि और सोम के मेल से एक ऋतु अग्नि पैदा होता है। इस ऋतु अग्नि से ही संसार के यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यह ऋत्वग्नि अग्नि के उद्ग्राम, निग्राम (चढाव उतार) से ६ विभागों में परिणत हो जाता है। ये ही ६ ऋतुएँ कहलाती हैं। इन्हीं ६ ऋतुओं में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती है। अर्थात् संसार में अन्न अग्नि और सोम के मेल से उत्पन्न ऋत्वग्नि से उत्पन्न होते हैं और सोम गोप्राण के द्वारा ही उस अग्नि में आहुत होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि सारे अन्न (पदार्थ) गो से ही पैदा होते हैं। जैसा कि श्रुति बतला रही है—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः।' सूर्य गोसमष्टि है जैसा कि—'आयं गौः पृश्निरक्रमोत्' इस श्रुति से सिद्ध है। अतः सम्पूर्ण वस्तुएँ गोस्वरूप हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अन्नं ह्येवेयम्। यदि किञ्चान्नं गौरेव तत्, इति ।।१३।।

ऊपर बतलाया गया है कि किरणों में जो सौम्यप्राण-मिश्रित आग्नेयप्राण रहता है वही गोप्राण है। इसीके कारण सूर्य को भी गौ कहा जाता है। संसार के सभी अन्न सूर्य की किरणों से ही परिपक्व होते हैं अतः ये अन्न गौस्वरूप ही है। इसी अभिप्राय से—'तद्वै तत् (अन्नं) एव एतासां नाम' यह कहा गया है। जिस प्रकार अन्न इन का नाम है उसी प्रकार यज्ञ भी इनका नाम है। क्योंकि अग्निषोमात्मक प्राकृतिक यज्ञ भी इन्हीं गो-प्राणों के आधार पर होता है अतः गो साधु है एवं यज्ञ पुण्य है। इसलिए यज्ञ और गो पर जरा भी आपत्ति आये, उसे हटाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यज्ञ के समान संसार में कोई पुण्यातिशय पैदा करने वाली क्रिया नहीं और गौ के समान संसार में कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं। प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही इस वैध यज्ञ का स्वरूप बनाया जाता है तथा प्राकृतिक गौ प्राण से ही इस गाय का आत्मा बनता है, अतः इस लोक में भी यज्ञक्रिया से अतिरिक्त दूसरी कोई पुण्यमयी क्रिया नहीं और गाय के समान कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं। अतः जब कभी यज्ञ अथवा गाय का अनिष्ट देखो, भले ही वह यज्ञ व गाय तुम्हारे न हों उस अनिष्ट को दूर करने का प्रयत्न करो। अतः गाय की हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए। उसका उपदेश करती हुई भगवती श्रुति कहती है—

'माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नुवोचं चिकितुषे जनाय मागामनागामदितिं वधिष्ट ।।

जो मनुष्य इस तरह गाय और यज्ञ की रक्षा में प्रवण रहता है, उसके घर में गायें अधिक मात्रा में रहती हैं और यज्ञ इसकी ओर झुकने वाला (उपनामुक) होता है। अर्थात् वह सदा यज्ञ करता रहता है और गायें उसके घर में सदा निवास करती हैं ॥१४॥

जिस समय अग्नि, वायु, आदित्य २१वें स्तोम के ऊपर रहने वाली गौ के पास पहुँचे तब अग्नि सर्वप्रथम—मैं इस गौ के साथ मिथुनी बनूं—इस विचार से उस गौ की ओर अभिमुख हुए। अभिमुख होकर अग्नि ने गौ के साथ योग कर लिया और उसमें अपना वीर्य्य डाल दिया। वीर्य्य डालते ही गौ के उदर में दूध उत्पन्न हो गया अर्थात् वह वीर्य्य दूध के रूप में परिणत हो गया।

तात्पर्य यह है कि पार्थिव अग्नि का जब गौ के साथ सम्बन्ध होता है तो आग्नेय परमाणु उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। उनके प्रविष्ट होते ही आग्नेय परमाणु व गौ के मेल से एक स्वच्छ एवं तेजोमय विजातीय पदार्थ उत्पन्न होता है, यही दूध कहलाता है। इसमें सोम की मात्रा अधिक रहती है। जब पानी बहुत वेग से आता है तो वहां संघर्ष उत्पन्न होता है। संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होता है। अग्नि और पानी में मिश्रित सोम जो कि गौ के आधार पर आता है—दूध रूप में परिणत हो जाता है। पर्वत प्रदेशों में जब पर्वतों से पानी गिरता है तो वहाँ इस दूध का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। जिस समय वेग से आने वाले पानी पर हम दृष्टिपात करते हैं तो वह अत्यन्त सफेद दृष्टिगोचर होता है। इस शुक्ल वस्तु को ही दूध समझना चाहिए। आकाश में जो सफेदी दिखाई देती है संभवतः वह अग्नीषोमात्मक दूध की है। श्वेतता न अग्नि में है और न दूध में है, किन्तु दोनों के संयोग में है। यह दूध सोममयी गौ में अग्निपरमाणुओं के मेल से ही उत्पन्न होता है। इस बात को प्रमाणित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य उपहास सा करते हुए कहते हैं कि—इसी कारण से अपरिपक्व गाय में परिपक्व दूध उत्पन्न होता है। अर्थात् गाय अपरिपक्व है, यदि उसमें आग्नेय परमाणु प्रविष्ट नहीं होते तो परिपक्व दूध कैसे उत्पन्न होता ? अतः मानना पड़ता है कि अवश्य आग्नेय परमाणु (गर्मी) उस गौ में प्रविष्ट हुए। दूध की गर्मी अग्नि का ही वीर्य्य है।

अपि च, गौ और अग्नि के मेल से जो एक विजातीय पदार्थ उत्पन्न होता है वह सर्वथा शुक्ल है। इसमें प्रबल प्रमाण यही है कि काली या लाल किसी भी गाय से दूध निकालो—वह श्वेत ही होगा। क्योंकि अग्नि का ही तो रेत उसमें प्रविष्ट हुआ है। दूसरा प्रमाण यह है कि जब दूध निकाला जाता है तब वह पर्याप्त उष्ण होता है। अतः सिद्ध है कि उसमें अग्नि के परमाणु प्रविष्ट हैं। तात्पर्य यह है कि गौ व अग्नि के मेल से एक

शुक्ल विजातीय पयस् नामक पदार्थ उत्पन्न हुआ, जो कि आकाश में दिखाई देता है तथा जो क्षीरसमुद्र के नाम से प्रसिद्ध है ।।१५।।

जब दूध उत्पन्न हो गया तो उन तीनों देवताओं ने विचार किया कि—इस दूध की आहुति अपने में डालें । डालने का निश्चय होने पर सबसे पहिले किसके लिए इस आहुति को डालें ? यह विचार हुआ । अग्नि ने कहा—यह आहुति पहिले मेरे लिए होनी चाहिए, वायु ने कहा मेरे लिए, सूर्य ने कहा मेरे लिए । विवाद को मिटाने में असमर्थ हो उन्होंने प्रजापति के पास चलने का विचार किया और कहा कि प्रजापति जिसके लिए पहिले आहुति देने के लिए कहेंगे, उसीको पहिले आहुति दी जायगी । यह विचार कर वे प्रजापति के पास पहुँचे और बोले—हे पिता ! मनुष्य किसको पहिली आहुति देंगे ? ।।१६।।

प्रजापति ने उत्तर दिया—अग्नि के लिए ही पहिले आहुति दी जायगी । अग्नि ही सीधे मार्ग से अपने रेत को उस में डाल कर प्रजनन कर सकेगा । इस प्रकार आप तीनों ही क्रमश: प्रजननक्रिया कर सकेंगे । फिर प्रजापति ने कहा कि सूर्य ! अग्नि के बाद तुम्हें आहुति दी जायेगी एवं हवन किये हुए द्रव्य का जो भाग इधर-उधर रहता है, उसे सर्वत्र बहने वाला वायु ले लेगा ।

तात्पर्य यह है कि अग्नि घन है और वायु तरल है । अत: सबसे पहिले उस पय का सम्बन्ध अग्नि से ही होता है । तत्पश्चात् सूर्य से । क्योंकि सूर्य वायु की अपेक्षा प्रत्यक्ष है । अत: अप्रत्यक्ष होने से सर्वान्त में वायु से सम्बन्ध होता है । इसीलि दूध को सबसे पहिले पार्थिवाग्नि चूसता है तदनन्तर उसमें सोम होने से सूर्यस्थित इन्द्र चूसता है पश्चात् वायु में रहने वाला इन्द्र उसे इधर-उधर उड़ा ले जाता है । इस प्रकार दूध के रस भाग को चूंसने वाले ये ही तीन देवता हैं । प्रकृतियज्ञ में पहिले अग्नि को बाद में सूर्य को आहुति दी जाती है । उसी मर्यादा के अनुसार इस वैध यज्ञ में भी उसी क्रम से हवन किया जाता है । अग्नि के लिए सायंकाल आहुति दी जाती है, सूर्य के लिए प्रात:काल । उस हूयमान द्रव्य से जो कुछ शेष रह जाता है उसकी अन्तरिक्षस्थित वायु में आहुति होती है ।

इस प्रकार देवताओं ने अपने में आहुति डाल उस प्रजा-सम्पत्ति को प्राप्त किया जो आज इनकी प्रजाति दिखाई पड़ती है, तथा उस विजय को प्राप्त किया जो कि आज दिखलाई पड़ रही है । इस पृथिवीलोक को आहुतिबल से अग्नि ने, अन्तरिक्ष को वायु ने तथा द्युलोक को सूर्य ने जीत लिया ।

निष्कर्ष यह है कि प्रजापति से उत्पन्न अग्नि २१ तक वितत रहता है और उसमें सोम की आहुति सदा पड़ती रहती है । इस आहुति से अग्नि की घन, तरल, विरल–इन

अवस्थाओं के भेद से पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ—ये तीन लोक व्यवस्थित हैं। जो मनुष्य इस प्राकृतिक अग्निहोत्रविज्ञान को समझ कर अग्निहोत्र करता है, वह उसी प्रजाति और विजय को प्राप्त करता है जिसको देवताओं ने प्राप्त किया था तथा वह क्रमशः इन तीनों लोकों मे अपना स्थान बना लेता है, अर्थात् उसे स्वर्ग मिल जाता है। १८॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्, द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्तः।

अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम्

सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम् । तद्यदेतस्या अग्रे आहुतेरुदैत्, तस्मात् सूर्योऽग्निहोत्रम् ॥१॥

स यत्सायमस्तमिते जुहोति—य इदं तस्मिन्, इह सति जुहवानीति। अथ यत् प्रातरनुदिते जुहेति—य इदं तस्मिन्—इह जुहवानीति। तस्माद्धै सूर्योऽग्निहोत्रमित्याहुः ॥२॥

अथ यदस्तमेति, तदाग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति। तं गर्भं भवन्तमिमाः सर्वाः प्रजा अनुगर्भा भवन्ति ईलिता हि शेरते सञ्जानानाः। अथ यद् रात्रिः, तिर एवैतत्करोति। तिर इव हि गर्भाः ॥३॥

स यत् सायमस्तमिते जुहोति—गर्भमेवैतत् सन्तमभि जुहोति, गर्भं सन्तमभि करोति। स यद् गर्भं सन्तमभि जुहोति—तस्मादिमे गर्भा अनश्नन्तो जीवन्ति ॥४॥

अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति—प्रजनयत्येवैनमेतत्सोऽयं तेजो भूत्वा विभ्राजमानः उदेति। शश्वद्ध वै नोदियाद्—यदस्मिन्नेतामाहुतिं न जुहुयात्, तस्माद् वा एतामाहुतिं जुहोतिं ॥५॥

स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्येत—एवं रात्रेः पाप्मनो निर्मुच्यते। यथा ह वा अहिस्त्वचो निर्मुच्येत—एवं सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते—य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। तदेतस्यैवानु प्रजातिमिमाः सर्वाः प्रजा—अनु प्रजायन्ते। वि हि सृज्यन्ते यथार्थम् ॥६॥

स यः पुराऽऽदित्यस्यास्तमयादाहवनीयमुद्धरति। एते वै विश्वे देवाः रश्मयः, योऽथ यत्परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वा। तदु ह वै विश्वे देवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहानागच्छन्ति। स यस्यानुद्धृतमागच्छन्ति, तस्माद् अपप्रयन्ति। तद् वा अस्मै तद् व्यृध्यते—यस्माद् देवा अपप्रयन्ति। तस्यानु

व्यृद्धि—यश्च, वेद, यश्च न,—अनुद्धृतमभ्यस्तमगादित्याहुः ॥७॥

अथ यः पुरा आदित्यस्यास्तमयादाहवनीयमुद्धरति। यथा श्रेयसि आगमिष्यति आवसथेनोपक्लृप्तेनोपासीत एवं तत्। स यस्योद्धृतमागच्छन्ति तस्याहवनीयं प्रविशन्ति तस्याहवनीये निविशन्ते ॥८॥

स यत्सायमस्तमिते जुहोति अग्नावेवैभ्य एतत् प्रविष्टेभ्यो जुहोति। अथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति-अप्रेतेभ्य एवैभ्य एतज्जुहोति। तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामह—इति ह स्माहासुरिः। यथा शून्यमावसथमाहरेद् एवं तदिति ॥६॥

द्वयं वा इदं जीवनम्-मूलि चैवामूलं च। तदुभयं देवानां सन्मनुष्या उपजीवन्ति। पशवो मूलाः ओषधयो मूलिन्यः। ते पशवो मूला ओषधी-मूंलिनीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति ॥१०॥

स यत् सायमस्तमिते जुहोति—अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदं सदुपजीवाम इति। स यत्ततो रात्र्याऽश्नाति, हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्तबल्यश्नाति। हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता ॥११॥

यथ यत्प्रातरनुदिते जुहोति—अस्य रसस्य जीवनस्य देवेभ्यो जुहवानि यदेषामिदं सदुपजीवाम इति। स यत्ततोऽह्नाश्नाति, हुतोच्छिष्टमेव तन्निरवत्त-बल्यश्नाति। हुतोच्छिष्टस्य ह्येवाग्निहोत्रं जुह्वदशिता ॥१२॥

तदाहुः—समेवान्ये यज्ञास्तिष्ठन्ते, अग्निहोत्रमेव न सन्तिष्ठते, अपि द्वादशसंवत्सरम्-अन्तवदेव। अथैतदेवानन्तम्। सायं हि हुत्वा वेद—प्रात-र्होष्यामीति। प्रातर्हुत्वा वेद—पुनः सायं होष्यामीति। तदेतदनुपस्थित-मग्निहोत्रम्। तस्यानुपस्थितिमन्वनुपस्थिता इमाः प्रजाः प्रजायन्ते। अनुप-स्थितो ह वै श्रिया प्रजया प्रजायते य एवमेतदनुपस्थितमग्निहोत्रं वेद ॥१३॥

तद् दुग्ध्वाधिश्रयति। शृतमसदिति। तदाहुः यर्ह्युदन्तं तर्हि शृतं तर्हि

जुहुयादिति । तद्वै नोदन्तं कुर्यात् उप ह दहेद् यदुदन्तं कुर्यात् । अप्रजज्ञि वै रेत उपदग्धम् । तस्मान्नोदन्तं कुर्यात् ॥१४॥

अधिश्रित्यैव जुहुयात् । यन्न्वेवैतदग्ने रेतस्तेन न्वेव शृतम् । यद्वेनदग्नावधिश्रयन्ति तेनो एव शृतम् । तस्मादधिश्रित्यैव जुहुयात् ॥१५॥

तदवज्योतयति–शृतं वेदानीति । अथापः प्रत्यानयति-शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय । इदं हि यदा वर्षति-अथौषधयो जायन्ते । ओषधीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एष रसः सम्भवति–तस्मादु रसस्यो चैव सर्वत्वाय। तस्माद् यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेत्–उदस्तोकमाश्चोतयितवै ब्रूयात्-शान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय ॥१६॥

अथ चतुरुन्नयति । चतुर्धा विहितं हीदं पयोऽथ समिधमादायोदाद्रवति समिद्धहोमायैव । सोऽनुपसादय पूर्वामाहुतिं जुहोति । स यदुपसादयेद् यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन् स्यात्, तदन्तरा निदध्याद्, एवं तत् । स यदनुपसादय यथा यस्मा अशनमाहरेत् तस्मा आहृत्यैवोपनिदध्याद् एवं तत् । उपसादयोत्तरां नानावीर्ये एवैने एतत् करोति । मनश्च ह वै वाक् चैते आहुती । तन्मनश्चैवैतद् वाचं व्यावर्तयति । तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव ॥१७॥

स वै द्विरग्नौ जुहोति, द्विरुपमार्ष्टि, द्विः प्राश्नाति, चतुरुन्नयति तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥१८॥

स यदग्नौ जुहोति–तद्देवेषु जुहोति, तस्माद्देवाः सन्नि । अथ यदुपमार्ष्टि तत् पितृषु चौषधीषु च जुहोति । तस्मात् पितरश्चौषधयश्च सन्ति । अथ यद् हुत्वा प्राश्नाति–तन्मनुष्येषु जुहोति, तस्मान्मनुष्याः सन्ति ॥१९॥

या वै प्रजा यज्ञेऽनन्वाभक्ताः पराभूता वै ताः । एवमेवैतद् या इमाः प्रजा

अपराभूतास्ता यज्ञमुख आभजति। तेनो ह पशवोऽन्वाभक्ताः-यन्मनुष्याननु पशवः ॥२०॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—न वै यज्ञ इव मन्तवै पाकयज्ञ इव वेति। इदं हि यदस्मिन् यज्ञे स्रुचि अवद्यति सर्वं तदग्नौ जुहोति। अथैतदग्नौ हुत्वोत्सृप्याचामति, निर्लेढि। तदस्य पाकयज्ञस्येवेति। तदस्य तत्पशव्यं रूपम्। पशव्यो हि पाकयज्ञः ॥२१॥

सैषैकाहुतिरेवाग्रे यामेवामूं प्रजापतिरजुहोत्। अथ यदेतत् पश्चेवाध्रियन्त अग्निर्योऽयं पवते सूर्यस्तस्मादेषा द्वितीयाहुतिर्हूयते ॥२२॥

सा या पूर्वाहुतिः साऽग्निहोत्रस्य देवता। तस्मात्तस्यै जुहोति। अथ योत्तरा स्विष्टकृद्भाजनमेव सा। तस्मात्तामुत्तरार्द्धे जुहोति, एषा हि दिक् स्विष्टकृतः। तन्मिथुनायैवैषा द्वितीयाहुतिर्हूयते। द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननम् ॥२३॥

तद् द्वयमेवैते आहुती भूतं चैव भविष्यच्च, जातं च जनिष्यमाणं च, आगतं च आशा च, अद्य च श्वश्च, तद् द्वयमेवास्तु ॥२४॥

आत्मैव भूतम्। अद्धा हि तद्, यद् भूतम् अद्धो तद् यदात्मा। प्रजैव भविष्यत्। अनद्धा हि तद्–यद् भविष्यत्। अनद्धो तद् यत् प्रजा ॥२५॥

आत्मैव जातम्। अद्धा हि तद् यज्जातमद्धो तद् यदात्मा। प्रजैव जनिष्यमाणम्। अनद्धा हि तद्–यज्जनिष्यमाणम्। अनद्धो तद् यत् प्रजा ॥२६॥

आत्मैवागतम्। अद्धा हि तद् यदागतम्। अद्धो तद् यदात्मा। प्रजैवाशा। अनद्धा हि तद् यदाशा। अनद्धो तद् यत्प्रजा ॥२७॥

आत्मैवाद्य। अद्धा हि तद् यदद्य। अद्धो तद् यदात्मा। प्रजैव श्वः। अनद्धा हि तयत्श्वः। अनद्धो तद् यत् प्रजा ॥२८॥

सा या पूर्वाहुतिः सात्मानमभिहूयते। तां मन्त्रेण जुहोति। अद्धा हि

तद्-यन्मन्त्रः। अद्धो तद्-यदात्मा। अथ योत्तरा सा प्रजामभिहूयते। तां तूष्णीं जुहोति। अनद्धा हि तद्-यत्तूष्णीम्। अनद्धो तद्-यत्प्रजा ॥२९॥

स जुहोति 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'। अथ प्रातः—'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इति। तत् सत्येनैव हूयते। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेति अथाग्निर्ज्योतिः। यदा सूर्य उदेति अथ सूर्यो ज्योतिः। यद्वै सत्येन हूयते तद् देवान् गच्छति ॥३०॥

तदु हैतदेवारुणये ब्रह्मवर्चसकामाय तद्दानूवाच 'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः'। इति। ब्रह्मवर्चसी हैव भवति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥३१॥

तद्वस्त्येव प्रजननस्येव रूपम्—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इति। तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णाति। उभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते। तदुभयत एवैतत् परिगृह्य प्रजनयति ॥३२॥

अथ प्रातः-सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इति। तदुभयतो ज्योती रेतो देवतया परिगृह्णाति। उभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते। तदुभयत एवैतत् परिगृह्य प्रजनयति तत् प्रजननस्य रूपम् ॥३३।

तदु होवाच जीवलश्चैलकिः। गर्भमेवारुणिः करोति न प्रजनयति इति। स एतेनैव सायं जुहुयात् ॥३४॥

अतः प्रातः 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा' इति। तद् बहिर्धा ज्योती रेतो देवतया करोति। बहिर्धा वै रेतः प्रजातं भवति तदेतत् प्रजनयति ॥३५॥

तदाहुः—अग्नावेवैतत्सायं सूर्यं जुहोति, सूर्ये प्रातरग्निमिति। तद्वै तदुदितहोमिनामेव। यदा ह्येव सूर्योऽस्तमेति—अथाग्निर्ज्योतिः। यदा सूर्य उदेति—अथ सूर्यो ज्योतिः। नास्य सा परिचक्षा। इयमेव परिचक्षा—यत् तस्यै नाद्धा देवतायै हूयते याऽग्निहोत्रस्य देवता। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः

स्वाहा'—इति, तत्र नाग्नये स्वाहेति। अथ प्रातः। 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा—'इति, तत्र न सूर्याय स्वाहेति ॥३६॥

अनेनैव जुहुयात्—'सजूर्देवेन सवित्रा'—(वा. सं., अ. ३ मं. १०) इति तत् सवितृमत्प्रसवाय। 'सजू रात्र्येन्द्रवत्या'—इति। तद् रात्र्या मिथुनं करोति सेन्द्रं करोति, इन्द्रो हि यज्ञस्य देवता। जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'—(वा.सं., अ. ३ मं. १०) इति, तद् अग्नये प्रत्यक्षं जुहोति ॥३७॥

अथ प्रातः 'सजूर्देवेन सवित्रा'—(वा. सं., अ. ३ मं. १०) इति, तत् सवितृमत्प्रसवाय। 'सजूरुषसेन्द्रवत्या'—(वा. सं. अ. ३ मं. १०) इति अह्ना-इति वा। तद् अह्ना वोषसा वा मिथुनं करोति। सेन्द्रं करोति। इन्द्रो हि यज्ञस्य देवता। 'जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा'—(वा. सं. अ. ३ मं. १०) इति, तत् सूर्याय प्रत्यक्षं जुहोति। तस्मादेवमेव जुहोति ॥३८॥

ते होचुः—'को न इदं होष्यति' इति। ब्राह्मण एवेति। ब्राह्मण ! इद नो जुहुधि 'इति,' किं ? मे ततो भविष्यति 'इति,' अग्निहोत्रोच्छिष्टमेव इति। स तत् स्रुचि परिशिनष्टि तद्, अग्निहोत्रोच्छिष्टम्। अथ यत् स्थाल्याम्—यथा परीणहो निर्वपेद् एवं तत्। तस्मात्तद् य एव कश्च पिबेत्। तद्वै नाब्राह्मणः पिबेत्। अग्नौ ह्यधिश्रयन्ति। तस्मान्नाब्राह्मणः पिबेत् ॥३९॥

इति अग्निहोत्रे होमविधिः।

अग्निहोत्रकर्मब्राह्मण

(अनुवाद) पृथिव्यादि सभी पदार्थों की स्थिति अग्निहोत्र पर आश्रित है। उसी प्रकार सूर्य में भी ब्रह्मणस्पति सोम की निरन्तर आहुति होती रहती है। अतः 'अग्नौ सोमाहुतिरग्निहोत्रम्' इस नियम के अनुसार सूर्य भी अग्निहोत्र है। उसीका यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है, 'सूर्यो वा अग्निहोत्रम्'। क्योंकि यह सूर्यपिण्ड सर्वप्रथम सोमाहुति से ही उत्पन्न हुआ, अतः सूर्य अग्निहोत्र है।

इस प्रकृतियज्ञ की प्रतिकृति पर निर्मित मनुष्य यज्ञरूप वैधयज्ञ में[१] सायं सूर्यास्त होने पर तथा प्रातः सूर्य के[२] उदित होने से पूर्व आहुति दी जाती है। इसीका उपपादन कर रहे हैं कि सायं सूर्य के अस्त होने पर जो आहुति दी जाती है उसका तात्पर्य यही है कि 'मैं सूर्य के अग्नि में रहने पर आहवनीव द्रव्य की आहुति दूं' और प्रातः सूर्योदय से पूर्व आहुति देने का भी यही अभिप्राय है कि उदय से पूर्व सूर्य[३] अग्नि से एकीभूत है। अतः अग्नि में सूर्य के प्रविष्ट रहने पर ही आहुति दूं। अतः सूर्य अग्निहोत्र है ॥२॥

जब सूर्य अस्त होता है तब यह पार्थिवाग्नि की योनि में गर्भस्वरूप बन कर प्रविष्ट हो जाता है। अग्नि में सूर्य के गर्भीभूत होते ही सारी प्रजा भी गर्भीभूत हो जाती है। इसीलिए रात्रि में सारी प्रजा[४] एक प्रकार के ज्ञान को प्राप्त होकर प्रसन्नता से सोती रहती हैं। गर्भरूप से अवस्थित सूर्य को रात्रि तिरोहित कर देती है। गर्भ भी तिरोहित ही होता है। अतः सूर्य पार्थिवाग्नि में रात्रि में गर्भीभूत हो जाता है, यह कहना संगत है ॥३॥

सायंकाल सूर्य के अस्त होने पर हवन करता है, वह अग्नि में गर्भीभूत सूर्य को ही आहुति देता है। ऐसा करता हुआ वह सूर्य को अपनी ओर करता है, अपने से उसका सम्बन्ध करता है, उसे दूसरे दिन फिर उत्पन्न होने के लिए बढ़ाता है। जिस प्रकार पार्थिवाग्नि में गर्भीभूत सूर्य में आहुति दी जाती है, वह प्रत्यक्षरूप से आहुति पार्थिवाग्नि में दी जाती है और तद्द्वारा तद्गर्भीभूत सूर्य का जीवन रहता है, उसी प्रकार मातृगर्भीभूत गर्भों के लिए प्रत्यक्ष रूप में अन्नाहुति मातृशरीर में दी जाती है। उसीसे गर्भों का पोषण होता है। गर्भ साक्षात् भोजन न करते हुए भी मातृशरीरस्थ रस से ही जीवित रहते हैं और वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥४॥

---

१. अस्तमिते जुहोति। का० श्रौ० सू० ४।१४।६

२. प्रातर्जुहोत्यनुदिते। का० श्रौ० सू० ४।१५।१

३. अग्निं वाव आदित्यः सायं प्रविशति (तै० ब्रा० २।१।३।६

४. जिस प्रकार सूर्य रात्रि में अग्नि के गर्भ में चला जाता है उसी प्रकार सूर्य से निर्मित प्राणी का आत्मा भी रात्रि में पार्थिवप्राणमय पुरीतत् नाडी में चला जाता है और पार्थिव प्राण में गर्भीभूत हो जाता है। जो दशा इस समय सूर्य की है वही तन्निर्मित आत्मा की है। इसी अभिप्राय से मूल में 'संजानानाः' कहा है।

सायं होम को गर्भवृद्धि (गर्भीभूत सूर्य की वृद्धि) का कारण बतला कर प्रतर्होम को सूर्यजनन का कारण बतलाते हैं—प्रातः सूर्योदय से पूर्व जो हवन करता है, वह इस सूर्य को ही उत्पन्न करता है। इस आहुति से वह तेजस्वी बन कर चमकता हुआ उदित होता है। यदि यह प्रातराहुति न हो तो यह सूर्य सम्भवतः उदित न हो। अतः यह आहुति दी जाती है ॥५॥

जिस प्रकार सर्प कञ्चुकी से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार अग्निहोत्र करने वाला विद्वान् रात्रि-पाप से मुक्त हो जाता। जो इस रहस्य को जानता हुआ विद्वान् अग्निहोत्र करता है, वह उसी प्रकार सब पापों से मुक्त हो जाता है जिस प्रकार सर्प कंचुकी से मुक्त हो जाता है। तथा सूर्य की प्रजाति के अनुसार ही वह विद्वान् भी प्रजा से युक्त हो जाता है। क्योंकि वस्तुतः सारी प्रजायें सूर्य की प्रजाति के अनुसार ही उत्पन्न होती हैं।

प्राचीन समय में याज्ञिक लोग अग्निहोत्र करने से पूर्व सूर्यसत्ता में ही आहवनीय कुण्ड में पड़ी हुई भस्म आदि की सफाई कर देते थे। उसी आधार पर यहां कहा गया है कि यजमान आदित्य के अस्त होने से पूर्व ही आहवनीय कुण्ड से भस्म आदि का उद्धरण करता है। सूर्य की रश्मियां ही विश्वेदेव हैं। जसा कि—'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इत्यादि ऋङ्मन्त्र से स्पष्ट है तथा प्रकाशमान सूर्य-पिण्ड प्रजापति अथवा इन्द्र है। ये विश्वेदेव प्राण अग्निहोत्र करने वाले के घर में आते हैं और आहवनोयकुंड में भी वे विश्वेदेव प्राण प्रविष्ट होते हैं। यदि सूर्यास्त से पूर्व आहवनीय कुण्ड के भस्मादि का उद्धरण न किया जाय तो सूर्यास्त के बाद उद्धरण करने पर उसमें आगत विश्वेदेव प्राणों का भी उद्धरण हो जाएगा और वहाँ उन प्राणों की सत्ता नहीं रहेगी। जिससे देवप्राण निकल जाते हैं, वह अग्निहोत्र ऋद्धिशून्य हो जाता है। अग्निहोत्र को ऋद्धिशून्यता से यजमान ऋद्धिशून्य हो जाता है तथा यजमान की उस ऋद्धिशून्यता से जो मनुष्य इस प्राणविज्ञान को जानते हैं तथा जो नहीं जानते हैं वे 'अरे बिना उद्धरण के ही सूर्यास्त हो गया' यह कह कर उस यजमान की निंदा किया करते हैं। अतः इस निंदा से बचने के लिए तथा यज्ञ को समृद्ध बनाने के लिए सूर्य सत्ताकाल में ही भस्मादि का उद्धरण करना चाहिए ॥७॥

और जो सूर्यास्त से पूर्व आहवनीय कुण्ड से भस्मादि का उद्धरण कर देता है वह उसी प्रकार कार्य करता है जिस प्रकार कोई किसी श्रेष्ठ अतिथि के आने से पूर्व उसके लिए आसन बिछा कर उसके आगमन की प्रतीक्षा करता है। उद्धरणानन्तर जिसके घर में विश्वेदेव प्राण आते हैं वे उसके आहवनीय कुण्ड में प्रविष्ट हो जाते हैं और आहवनीय अग्नि में स्थित हो जाते हैं ॥८॥

जो यह यजमान सायं सूर्य के अस्त होने पर आहुति देता है वह अग्नि में प्रविष्ट इन विश्वेदेव प्राणों को ही आहुति देता है। और जो प्रातः सूर्योदय से पूर्व आहुति देता है वह भी अग्नि में प्रविष्ट इन विश्वेदेवों के लिए ही देता है। अतः सूर्योदय पर अग्निहोत्र करने वालों का अग्निहोत्र विच्छिन्न हो जाता है, ऐसा आसुरि ने कहा है। सूर्योदय के बाद अग्निहोत्र करना देवशून्य घर में अग्नि का आहरण करना है क्योंकि सूर्योदय होते ही विश्वेदेव प्राण अग्नि से निकल जाते हैं ॥९॥

अन्न दो प्रकार का है—मूली तथा अमूल। भूमि से बद्ध ओषधि, वनस्पति आदि मूली है तथा भूमि से अबद्ध पशु, आदि अमूल हैं। ये दोनों देवताओं के अन्न हैं। सूर्यरश्मिरूप देव इन दोनों प्रकार के अन्नों का भक्षण किया करते हैं। किन्तु ये देवों के अन्न होते हुए भी मनुष्यों के भी अन्न हैं। मनुष्य इन्हीं से जीवन-निर्वाह करता है। अमूल गौ आदि पशु मूलिनी तृण आदि ओषधियाँ खाकर और पानी पीकर जीवित रहते हैं। यह दूधरूपी रस अमूली ओषधि खाने वाले पशुओं से उत्पन्न होता है। अतः दूध में दोनों प्रकार के अन्नों का समावेश होने से सर्वप्रथम दूध की आहुति दी जाती है ॥१०॥

जो यह यजमान सूर्यास्त होने पर हवन करता है वह इस जीवनप्रद अन्न को' मैं पहिले यह जिनका अन्न है, उन देवताओं को दूँ और तब उससे मैं भी अपना जीवननिर्वाह करूँ, इस अभिप्राय से करता है। देवताओं के हवन के बाद जो यह यजमान रात्रि में उस अन्न को खाता है वह हवन करने से बचे हुए अन्न को ही खाता है जिससे देवताओं की बलि (देयभाग) निकाल ली गयी है। अग्निहोत्र करता हुआ वह यजमान हुतोच्छिष्ट (हवन से बचे हुए) अन्न को ही खाता है ॥११॥

जो यह यजमान प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व हवन करता है वह 'इस जीवनाधायक अन्न को मैं प्रथम देवताओं को दूं जिनका कि यह अन्न है और तब मैं इससे अपना जीवननिर्वाह करूँ' इस अभिप्राय से करता है। हवन के पश्चात् दिन में जो वह खाता है वह हवन से बचे हुए अन्न को ही खाता है जिससे देवताओं के लिए बलि निकाल ली गयी है। अग्निहोत्रहवन करता हुआ यजमान हुतोच्छिष्ट अन्न ही खाता है ॥१२॥

इसीलिए याज्ञिक लोग कहते हैं कि अन्य सब यज्ञ परिसमाप्त होते हैं किन्तु अग्निहोत्र समाप्तिरहित है। बड़े से बड़ा यज्ञ १२ वर्ष का होता है। उसका भी अन्त होता है। किन्तु अग्निहोत्र अन्तरहित है। सायं हवन करने के बाद पुनः हवन करूँगा, प्रातः हवन करने के बाद सायं हवन करूँगा इस प्रकार यह परिसमाप्तिरहित है। क्योंकि अग्निहोत्र समाप्तिरहित है। उसकी अपरिसमाप्ति के साथ जो ये प्रजायें उत्पन्न होती हैं वे सभी समाप्तिरहित होती हैं। इस प्रकार अग्निहोत्र को अविश्रान्ति या असमाप्ति को जो जानता है वह भी लक्ष्मी व प्रजा से विश्रान्ति या समाप्तिरहित हो जाता है ॥१३॥

'दूध को दुह कर अग्नि पर रख देते हैं जिससे कि वह परिपक्व हो जाय। जब इसमें उफान आ जाय तब समझना चाहिए कि यह पक्व हो गया, तब इसकी आहुति देनी चाहिए ऐसा याज्ञिक मानते हैं। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि दूध में उफान न आने दें, इससे दूध जल जायगा, और इससे उसमें प्रजननशक्ति नहीं रहेगी। क्योंकि दग्ध रेत (वीर्य) प्रजननशक्तिरहित हो जाता है। अतः उफान आने से पूर्व ही दूध को उतार देना चाहिए ॥१४॥

दूध को अग्नि पर रख कर गर्म करके ही आहुति दे देनी चाहिए क्योंकि दूध अग्नि का वीर्य है अतः पक्व है। तथा इसे पुनः अग्नि पर रख दिया गया है इससे भी यह परिपक्व हो जाता है। अतः अग्नि पर रख कर पका कर उफान से पूर्व उसकी आहुति दे देनी चाहिए ॥१५॥

ज्वालायुक्त दर्भ को दूध के ऊपर अवाङ्मुख कर मालूम करते हैं कि वह दूध परिपक्व हुआ या नहीं। पश्चात् थोड़ा जल उसमें डाल देते हैं। जल

१. पूर्वेणाहवनीयमाहृत्य गार्हपत्येऽधिश्रयति, उत्तरतो निरुह्याङ्गारान्' ।—कौ.श्रौ सू. ४।३१६

डालने से उस दूध की शान्ति हो जाती है और रस की पूर्ति हो जाती है। इसी शान्ति तथा रस की पूर्ति के लिए दूध में जल डाला जाता है। जब यह जल बरसता है तब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधि (अन्न) खाते है और पानी पीते हैं तभी रस बनता है। अर्थात् ओषधि-रूप अन्न खाने से तथा पानी पीने से ही दूध-रूप रस की उत्पत्ति होती है। अतः इस रस की परिपूर्णता के लिए इसमें पानी डालना चाहिए। इसलिए यज्ञ के बिना भी यदि कोई दूध पीवे तो उसकी शान्ति तथा रस की परिपूर्णता के लिए उसमें पानी अवश्य डाले। 'उदस्तोकमाश्चोतयितवै' का अर्थ 'थोडा जलसेचन करे' है ॥१६॥

उस दूध का चार[1] बार उन्नयन करते हैं। चूंकि दूध स्तनों से निकला है अतः इसको चार बार करके डालते हैं (चार भाग करते हैं)। पश्चात् प्रज्वलित अग्नि में आहुति देने के लिए विकङ्कत काष्ठ की बनी हुई स्रुक् जिसमें कि चार बार अर्थात् चार भाग करके दूध भरा है, में एक समिध् को ऊपर रख कर गार्हपत्यस्थान से आहवनीय स्थान को ओर जाता है। प्रज्वलित अग्नि में आहुति देने से यज्ञ भी समिद्ध अर्थात् समृद्ध होता है। वह अग्निहोत्रकर्ता आहवनीयस्थल में होम द्रव्य को न रख कर हाथ में लिए हो प्रथम आहुति दे। यदि पहिले बैठ कर आहुति देगा तो वह ऐसा ही कार्य होगा जैसा कि जिसके लिए भोजन ले जाया जा रहा है उसको भोजन न देकर बीच में हो कोई भोजन को रख दे। और जो होम द्रव्य को न रख कर पहिले आहुति देगा वह जिसके लिए भोजन ले जाया जा रहा है उसको देकर पोछे भोजन रखने के समान होगा। अतः प्रथम आहुति होमद्रव्य को पहिले आहवनीयस्थल में न रख कर हाथ में होमद्रव्य को लिए ही देनी चाहिए। किन्तु द्वितीय आहुति उपसादन के बाद ही देनी चाहिए। प्रथम आहुति को बिना उपसादन के तथा द्वितोय को उपसादन के बाद देता हुआ यजमान दोनों आहुतियों को नाना सामर्थ्ययुक्त (भिन्नसामर्थ्ययुक्त) ही करता है। ये दोनों आहुतियाँ मन और

१. चतुरः स्रुवानुन्नयति। का० श्रौ० सू० ४।३२४।

२. यहाँ याज्ञवल्क्य ने 'उन्नीयोपसादयति, पृथिवीमेव प्रीणाति। होष्यन्नुपसादयति अन्तरिक्षमेव प्रीणाति। हुत्वोपसादयति दिवमेव प्रीणाति। तै० ब्रा० २।१।५।६ में प्रतिपादित बैठे हुए प्रथम आहुति देने वाले के मत का खण्डन किया है।

वाग्रूप हैं दोनों को भिन्न प्रकार से देता हुआ मन और वाक् का पृथक्करण करता है। अतः मन और वाक् आहुतित्वेन समान होते हुए भी और दोनों यज्ञ-साधन होते हुए भी पृथक्-पृथक् हैं ॥१८॥

यजमान दो बार आहुति अग्नि में डालता है। दो बार स्रुक् में लगे हुए अवशिष्ट दूध को अग्निकुण्ड के पास रखी हुई सुराही में डालता है। दो बार उसका लेहन करता है तथा चार बार इस दूध को स्रुक् पात्र में डालता है। इस प्रकार ४ उन्नयन, २ आहुतियाँ, २ उपमार्जन, २ प्राशन, भेद से अग्निहोत्र दश कर्मों से युक्त हो जाता है। दशाक्षर विराट् छन्द होता है। विराट् ही यज्ञ है। इस प्रकार अग्निहोत्र को दश सम्पत्तियों से युक्त करता हुआ वह इस यज्ञ को विराट् सम्पत्ति से युक्त करता है ॥१८॥

यह यजमान जो अग्नि में यजन करता है वह देवताओं में यजन करता है अर्थात् इसी आहुति से देवताओं को सत्ता रहती है। और जो उपमार्जन करता है, वह पितरों में और ओषधियों में हवन करता है। अर्थात् उससे मनुष्यों की सत्ता रहती है ॥१९॥

जो प्रजा (असुर आदि) यज्ञ (संवत्सर) में सम्मिलित नहीं हैं, वे पराभूत हैं, यज्ञबहिर्भूत हैं, उन्हें आहुति नहीं दी जाती। और जो प्रजा (देवता, पितर, मनुष्य, पशु) अपराभूत हैं, उन्हें वह यज्ञ के मुखभूत अर्थात् सोमयाग के आरम्भिक आद्यवयव अग्निहोत्र में आहुतिमान् बनाता है। यद्यपि उपर्युक्त १९वीं कारिका में देवता, पितर, मनुष्यों को आहुतिमान् बतलाया गया है, पशुओं को नहीं, तथापि मनुष्यों को जो आहुति दी जाती है उसीसे पशुओं को भी आहुति प्राप्त हो जाती है क्योंकि पशु मनुष्यानुगामी हैं। अतः मनुष्य के द्वारा वे भी आहुति को प्राप्त कर लेते हैं ॥२०॥

किन्तु याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस अग्निहोत्र को सोमयागादि की तरह यज्ञ नहीं मानना चाहिए। यह पाक यज्ञ के समान है अर्थात् अग्निहोत्र सोमयाग का मुख (आद्यवयव) होने से सर्वथा पाकयज्ञ भी नहीं है और अग्निहोत्र घर में भी हो सकता है, अतः सर्वथा यज्ञ भी नहीं है किन्तु पाकयज्ञ सा है। क्योंकि यज्ञ में स्रुक् में जो घृतादि आहुति रख ली जाती है उस सम्पूर्ण की अग्नि में आहुति

दे दी जाती है। और अग्निहोत्र में आहुति के अनन्तर कुछ शेष रख लेते हैं। उसका आहवनीय से हट कर यजमान आचमन[1] लेहन अर्थात् कर लेता है। यह आहुतिशेषप्राशन अग्निहोत्र में पाकयज्ञ के समान है। क्योंकि पाकयज्ञ में इडा-प्राशन होता है। यहाँ आहुतिशेष का लेहन (भक्षण) करना भी इडाप्राशन के समान होने से इस अग्निहोत्र की पाकयज्ञ से समानता है। अतः अग्निहोत्र को पाकयज्ञ सा बतलाया गया है। इडा का अर्थ पशु है। यह आहुतिशेष का लेहन पशव्य है। पाकयज्ञ पशव्य होता है। अतः इस प्राशन के द्वारा पशु को भी आहुति प्राप्त हो जाती है ॥२१॥

आहुतिद्वय की प्रथम उपपत्ति—इस अग्निहोत्र में जो प्रथम आहुति दी जाती है, उसे वही आहुति समझनी चाहिए जिसे प्रजापति ने सृष्टि के लिए सर्वप्रथम दी थी। पश्चात् अग्नि, वायु तथा सूर्य ने जिस द्वितीय आहुति को सृष्टि के आरम्भ में धारण किया था, वही अग्निहोत्र में दूसरी आहुति है।२२॥

द्वितीय उपपत्ति—अग्निहोत्र में जो पूर्वाहुति है वह अग्निहोत्र का जो प्रधान देवता है उसके लिए दी जाती हैं। तथा द्वितीयाहुति है वह स्विष्टकृत् देवता के लिए दी जाती है। अर्थात् द्वितीय आहुति दुरिष्ट (बिगड़े) को स्विष्ट करने (सुधारने) के लिए है। बिगड़े को सुधारना बाद में ही होता है। अतः स्विष्टकृत् को आहुति बाद में दी जाती है। क्योंकि स्विष्टकृत् को आहुति देने का यही तो अवसर है।

तृतीय उपपत्ति—प्रजनन क्रिया के लिए मिथुन (द्वन्द्व) अपेक्षित है। इस मिथुन के लिए ही दूसरी आहुति दी जाती है। दो के बिना मिथुनीभाव नहीं और मिथुनीभाव के बिना प्रजनन नहीं। अतः दिव्यात्मप्रजननार्थं आहुतिद्वय अपेक्षित है ॥२३॥

चतुर्थ उपपत्ति—चूंकि आहुति, भूत व भविष्यत् जात व जनिष्यमाण, अतीत व आशा, आज व कल इन दो-दो भागों में ही विभक्त है। अतः दो आहुतियाँ दी जाती हैं ॥२४॥

---

१. उत्सृप्य निर्लेढि आचम्य उत्सिञ्चति, देवान् जिन्व पितॄन् जिन्व तृतीयामुदुक्षति सप्तऋषीन् जिन्व इति। का०श्रौ० सू० ४।३४१

आत्मा स्वयं ही भूत है क्योंकि जो भूत है, वह स्पष्ट है। आत्मा भी स्पष्ट (प्रत्यक्ष) है। प्रजा भविष्यत् है आगे होने वाली है। अतएव अस्पष्ट व अप्रत्यक्ष है। क्योंकि भविष्यत् अप्रत्यक्ष होता है और प्रजा भी अप्रत्यक्ष है। अतः वह भविष्यत् है ॥२५॥

आत्मा ही जात (उत्पन्न) है। जो प्रत्यक्ष होता है, वही उत्पन्न कहलाता है। आत्मा प्रत्यक्ष है, अतः जात है। प्रजा ही जनिष्यमाण (उत्पन्न होने वाली) है। जो अप्रत्यक्ष होता है, वह जनिष्यमाण होता है। प्रजा अप्रत्यक्ष है, अतः जनिष्यमाण है ॥२६॥

आत्मा ही आगत (प्राप्त) है। जो प्रत्यक्ष होता है वही प्राप्त कहलाता है। यह आत्मा प्रत्यक्ष है, अतः प्राप्त है। प्रजा ही आशा है। अप्रत्यक्ष वस्तु ही आशा होती है। प्रजा अप्रत्यक्ष है, अतः (आशंसनीय) है ॥२७॥

आत्मा ही अदद्य (विद्यमान वस्तु) है। क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष होती है वह अद्य पद से व्यवहृत होती है। आत्मा प्रत्यक्ष है, अतः अद्यपदवाच्य है। प्रजा श्वःपदवाच्य है। क्योंकि जो अप्रत्यक्ष होती है वह 'श्वः' कहलाती है। प्रजा अप्रत्यक्ष है, आगे होने वाली है अतः 'श्वः' है ॥२८॥

आत्मा और प्रजा ये दो ही तत्व संसार में हैं। हम स्वयं आत्मा हैं। पुत्रादि हमारी प्रजा है। प्रजनन-क्रिया आत्मा और प्रजारूप दो तत्वों से ही निष्पन्न होती है। अतः अग्निहोत्र में भी दिव्यात्मप्रजननार्थ दोनों की प्रतिनिधिरूप दो आहुतियां दी जाती हैं। अग्निहोत्र में जो पूर्वाहुति है वह आत्मा के लिए दी जाती है। वह आहुति मन्त्रोच्चारणपूर्वक दी जाती है। मन्त्र द्वारा जो हवन किया जाता है वह प्रत्यक्ष होता है। आत्मा भी प्रत्यक्ष है। अतः प्रत्यक्ष मन्त्र से प्रत्यक्ष आत्मा के लिए आहुति दी जाती है। उत्तर आहुति प्रजा के लिए दी जाती है। वह बिना मन्त्रोच्चारण के दी जाती है। क्योंकि तूष्णीम् (चुपचाप) आहुति देना अप्रत्यक्ष है, प्रजा भी अप्रत्यक्ष है। अतः अप्रत्यक्ष प्रजा के लिए दी जाने वाली उत्तराहुति भी अप्रत्यक्ष (बिना मन्त्र के) ही दी जाती है ॥२९॥

वह यजमान सायंकाल 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र से तथा प्रातः-काल 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देता है। ऐसा करता

हुआ यजमान सत्य से ही आहुति देता है। जब सूर्य अस्त होता है तब अग्नि ही ज्योति रहती है। जब सूर्य उदित होता है तब सूर्य ज्योति रहती है। जो सत्य से हवन करता है वह देवताओं को प्राप्त होता है ॥३०॥

यदि कामनाविशेष हो तो उस कामना की पूर्ति के लिए भिन्न मन्त्र से आहुति दी जाती है। अतएव अरुण के पुत्र उद्दालक ब्रह्मवर्चसी बनने की इच्छा से महर्षि तक्षा के पास गए। उन्होंने उद्दालक को इस कामनापूर्ति के लिए 'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा' इस मन्त्र का उपदेश दिया। इस प्रकार इस रहस्य को जानता हुआ इस मन्त्र से जो अग्निहोत्र करता है वह ब्रह्मवर्चसी बनता है ॥३१॥

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' यह प्रजनन का ही स्वरूप है। 'अग्नि-ज्योतिः' इत्यादि मन्त्र से यजमान दोनों ओर से ज्योतिर्मय रेत को देवता द्वारा परिगृहीत कर लेता है। दोनों ओर से परिगृहीत रेत ही प्रजननक्रिया में समर्थ होता है। अतः दोनों ओर से उसे परिगृहीत कर दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है ॥३२॥

प्रातःकाल 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इस मन्त्र से देवता द्वारा दोनों ओर से ज्योतिःस्वरूप रेत का परिग्रहण करता है। दोनों ओर से परिगृहीत रेत प्रजननक्रिया में समर्थ होता है। अतः दोनों ओर से ज्योतिर्मय रेत को परिगृहीत कर दिव्यात्मा का प्रजनन करता है। यही प्रजनन का स्वरूप है ॥३३॥

उपर्युक्त 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इन दोनों मन्त्रों में ज्योतिःशब्द के दोनों ओर अग्नि और सूर्य देवता का प्रयोग होने से ज्योतिर्मय रेत दोनों ओर से देवता से परिगृहीत हो जाता है। इस प्रकार गर्भ का रूप तो बन जाता है और परिपुष्ट भी हो जाता है। किन्तु इससे गर्भ का प्रजनन नहीं हो सकता क्योंकि वह दोनों ओर से देवता से बद्ध है। इसीलिए उपर्युक्त मन्त्रों द्वारा प्रजनन का स्व-रूप बतलाने वाले आरुणि उद्दालक के मत पर कटाक्ष करते हुए चेलक के पुत्र जीवल ने कहा कि इस प्रकार करते हुए आरुणि गर्भ का स्वरूप तो निष्पन्न कर देते हैं किन्तु गर्भ का प्रजनन नहीं कर सकते। अतः सायंकाल तो दोनों

ओर देवता से परिगृहीत 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' ऐसा मन्त्र बोलना चाहिए ॥३४॥

किन्तु प्रातःकाल 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' न कह कर 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा' ऐसा कहना चाहिए। इससे यह ज्योतीरूप रेत देवता की पकड़ से बाहर हो जाता है और गर्भ बाहर निकलने में समर्थ हो जाता है। देवता की पकड़ से बहिर्भूत रेत ही उत्पन्न होता है। अतः उपर्युक्त रीति से मन्त्र बोलता हुआ वह प्रजननक्रिया करता है ॥३५॥

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र से सायङ्काल अग्नि-प्रविष्ट सूर्य में तथा 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इस मन्त्र से प्रातः सूर्यप्रविष्ट अग्नि में आहुति दी जाती है। किन्तु यह उदितहोमियों के मत में है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब अग्नि ही ज्योति है। जब सूर्य उदित होता है तब सूर्य ही ज्योति है। भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि हम उदितहोमियों के मत का प्रतिवाद नहीं करना चाहते किन्तु इतना ही कहना है कि सायं 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र का उच्चारण कर आहुति देने से अग्निहोत्र की देवता अग्नि के लिए हवन नहीं होता। इसी प्रकार प्रातः 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' यह मन्त्र उच्चारण कर आहुति देने से अग्निहोत्र की देवता सूर्य को आहुति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि इन मन्त्रों में देवता का स्पष्ट निर्देश नहीं है। इन मन्त्रों में अग्नि और सूर्य देवता का प्रथमा विभक्ति से निर्देश है न कि सम्प्रदानकारकबोधक विभक्ति से। अतः चतुर्थी विभक्ति के अभाव से देवता का स्पष्ट निर्देश नहीं ॥३६॥

अतः निम्न मन्त्र से आहुति देनी चाहिए—

'सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा' इस मन्त्र से आहुति देने पर 'जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा' यह कहने से यजमान अग्नि के लिए प्रत्यक्ष हवन करता है। क्योंकि यहाँ 'जुषाणः' का अर्थ सेवन करता हुआ है। इस प्रकार अग्नि हवि को प्राप्त करता है, यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। इस मन्त्र से आहुति देने पर चार कार्य सिद्ध होते हैं। 'सवित्रा' कहने से प्रजनन की प्रेरणा प्राप्त होती है, क्योंकि सविता ही प्रेरक है। 'सजू रात्र्या इन्द्रवत्या' कहने से मिथुनसम्पत्ति द्वारा प्रजननसम्पत्ति की उपपत्ति हो जाती है। तथा

यज्ञदेवता इन्द्र भी यज्ञ में सम्मिलित हो जाता है। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। 'जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा' कहने से अग्नि के लिए प्रत्यक्ष हवन भी हो जाता है ॥३७॥

और प्रातःकाल 'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा' अर्थात् सविता देवता के तथा इन्द्रवती उषा या दिन के साथ सूर्य प्रसन्न होकर इस हवि को ग्रहण करे इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिए। ऐसा करने से पूर्व-प्रतिपादित रीति से प्रजननसम्पत्त्याधायक मिथुन सिद्ध हो जाता है। यज्ञ का देवता इन्द्र यज्ञ में सम्मिलित हो जाता है तथा सूर्य के लिए प्रत्यक्ष हवि का निर्देश हो जाता है। अतः इन्हीं मन्त्रों से आहुति देनी चाहिए ॥३८॥

यदि यजमान किसी कार्यवश अग्निहोत्र न कर सके तो अग्निहोत्र कौन करेगा। क्योंकि अग्निहोत्र जरामर्य सत्र है। वह तो जरा से जीर्ण होने पर या मृत्यु से विशीर्ण होने पर बन्द किया जा सकता है अन्यथा नहीं। तब महर्षियों ने कहा कि यजमान के प्रतिनिधि रूप में उस समय ब्राह्मण हवन करे। ब्राह्मण ने कहा कि इससे मुझे क्या लाभ होगा अर्थात् मेरी क्या दक्षिणा होगी? तो उत्तर मिला कि अग्निहोत्र के बाद स्रुक् पात्र में बची हुई हवि ब्राह्मण को प्राप्त होगी। किन्तु स्थाली (ध्रुवा) में बची हुई जो हवि है उसे आगे दूसरे कार्य के लिए सुरक्षित रखे और उस कर्म में उसका निर्वाप करे उसके समान है। अर्थात् वह अग्नि अग्निहोत्र का उच्छिष्ट (अवशिष्ट) नहीं है। अतः उसका कोई भी पान कर सकता है। किन्तु ब्राह्मणेतर उसका पान न करे। क्योंकि उसे अग्नि पर रख दिया है अतः वह आग्नेय है। और आग्नेय घृत का आग्नेय ब्राह्मण ही पान कर सकता है दूसरा नहीं ॥३९॥

अग्निहोत्रकर्मब्राह्मण

(भाष्य) पृथिवी की स्थिति एवं उत्पत्ति अहर्निश होने वाले अग्निहोत्र के बल पर ही है। ३३ तक जाने वाले वषट्कारमण्डल में से २ स्तोम सोम के हैं एवं ३ स्तोम अग्नि के हैं। इन तीनो में इस सोम की, जो कि गो के आधार पर अवलम्बित रहता है एवं अग्निसम्मिश्रण से पयस्वरूप में परिणत हो जाता है—आहुति होती रहती है। इस प्रकार

अनवरत होने वाली इस सोमाहुति किंवा पयआहुति के प्रभाव से पार्थिव अग्नि कभी विच्छिन्न नहीं होने पाता। यदि एक पलमात्र भी सोम की आहुति न हो तो कथमपि पृथिवीपिण्ड की स्थिति नहीं रह सकती है। अग्नि अन्नाद है (भोक्ता है) अतः हर समय वह खाने के लिए कुछ चाहता है। प्रतिक्षण उसमें अन्न आहुत होते रहना चाहिए अन्यथा वह क्षणमात्र भी स्थिर नहीं रह सकता है। अतः इस पृथिवीपिण्ड के स्थितिमूलक अग्निहोत्र का विवेचन पूर्व प्रकरण में कर दिया गया। अब सूर्यपिण्ड के अग्निहोत्र का थोड़ासा विवेचन कर देते हैं। सूर्य एक अग्निपिण्ड है, यह सदा प्रज्वलित रहता है। अग्नि में जब तक आहुति होती रहती है तभी तक वह प्रज्वलित रहता है। आहुति के बन्द होते ही अग्नि बुझ जाता है। अतः सदा प्रज्वलित दिखाई पड़ने वाले सूर्य में भी अवश्य किसी की आहुति माननी पड़ेगी, अन्यथा किसी भी स्थिति में सूर्यपिण्ड स्थिर एवं प्रज्वलित नहीं रह सकता है। पूर्व प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि सर्वप्रथम स्वयम्भूपिण्ड की, तत्पश्चात् पार्थिवपिण्ड की उत्पत्ति होती है। जब यह बात है तो सुतरां सिद्ध हो जाता है कि इस सूर्य का अग्निहोत्र पृथिवी के पहिले से ही होने लगा था एवं आज भी हो रहा है। परमेष्ठिसमुद्र में परमेष्ठिपिण्ड के नीचे एक ब्रह्मणस्पति नाम का सोम है जिसके लिए श्रुति कहती है—

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि सर्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामः समश्नुते शृतं पक्वास········ ।।'

इस सूर्यपिण्ड में ही सर्वप्रथम उस ब्रह्मणस्पतिसोम की आहुति पड़ी थी एवं वही सोम आज भी इस सूर्य में आहुत हो रहा है। अग्नि में सोम की आहुति होने का नाम ही अग्निहोत्र है—

'अग्नौ सोमस्य हवनमग्निहोत्रम् इति।'

चूंकि पृथिवी से भी पूर्व इस सूर्यपिण्ड में सोम की आहुति हुई थी एवं आज भी हो रही है, अतएव सूर्य को 'अग्निहोत्र' कहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्। तद्यदेतस्या (पृथिव्याः) अग्र आहुतेरुदैत् तस्मात् सूर्य्योऽग्निहोत्रम्।'

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सूर्य की स्थिति ही इस आहुति से नहीं रहती है अपितु सूर्यपिण्ड की उत्पत्ति भी इसी सोमाहुतिस्वरूप अग्निहोत्र से ही होती है। ध्रुव, धर्त्र, धरुण एवं धर्म—इन भेदों से सोम चार प्रकार का है। संसार के पदार्थों में घनता उत्पन्न करना इसी सोम का काम है। पिण्डोत्पत्ति सोम के बिना नहीं हो सकती। अग्नि स्वभाव से ही विशकलनधर्मा है। वह सोमसम्बन्ध के बिना पकड़ में नहीं आता। इस सोममात्रा की

न्यूनता व अधिकता के कारण ध्रुव, धर्त्र, धर्म व धरुण स्वरूप में परिणत हो जाता है। ये ही अवस्थाय निविड, तरल व विरल कहलाती हैं। सूर्यपिण्ड है और पिण्ड का निर्माण सोम के बिना नहीं हो सकता। अतः यह मानना होता है कि इसमें सोम आहुत हुआ है। सोम की आहुति ही अग्निहोत्र है। सोम की आहुति से ही सूर्यपिण्ड का उदय हुआ है अतएव सूर्य को भी अग्निहोत्र कहते हैं। इसी अभिप्राय से कहा है—

'आहुतेरुदैत् तस्मात् सूर्य्योऽग्निहोत्रम्' ॥१॥

यह प्राकृतिक यज्ञ की बात हुई। अब मनुष्ययज्ञ नाम से प्रसिद्ध विधेय यज्ञ का विचार करना है, जिस प्रकृतियज्ञ की प्रतिकृति पर इस यज्ञ की रचना की गयी है। इस यज्ञ में सायङ्काल सूर्यास्त होने पर एवं प्रातःकाल सूर्योदय होने से पूर्व आहुति दी जाती है। अर्थात् रात्रि में ही आहुति दी जाती है। इस प्रकार यजमान इस हवनीयद्रव्य को 'मैं सूर्य के यहाँ मेरी पृथिवी में रहने पर हवन करूं–इस अभिप्राय से सायङ्काल सूर्यास्त होने पर आहुति देता है तथा इस हवनीय द्रव्य का–मैं सूर्य के मेरी पृथिवी पर रहने पर ही हवन करूं–इस अभिप्राय से प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व आहुति देता है। इस कारण से भी सूर्य अग्निहोत्र है। सायङ्काल दृश्यमण्डल के हिसाब से सूर्य हमारी पृथिवी की ओर आ जाता है एवं रात्रिभर पृथिवी में ही रहकर प्रातःकाल पुनः हमसे अलग होता हुआ पिता द्युलोक की तरफ चला जाता है। उस प्राकृतिक अग्निहोत्र के अनुकरण पर यह अग्निहोत्र किया जाता है। अर्थात् हमें आत्मरूप सूर्य में आहुति देनी है, क्योंकि हमारी आत्मा सूर्य से बनी हुई है। अतः जिस समय वह सूर्य हमारे पास हो, अर्थात् हम से सम्बद्ध हो, तभी आहुति देना उचित होगा। हमें उसी समय आहुति देनी चाहिए जब कि सूर्य हमारी पृथिवी की ओर रहे। रात्रि में ही सूर्य हमारी पृथिवी में रहता है, अतः सायङ्काल सूर्य के बाद, प्रातः सूर्योदय के पूर्व आहुति देने से हमारे आत्मरूपी सूर्य में आहुति सम्यक्-रूप से होती है। इस अभिप्राय से भी सूर्य को अग्निहोत्र बतलाया जाता है।

यह आहुति सोमात्मक पयस् की होती है। प्राकृतिक यज्ञ में भी सोमात्मक पयस् की ही आहुति होती है। प्राचीन याज्ञिक लोग इस आहुतिसाम्य को लेकर ही 'सूर्यो ह वा अग्नि-होत्रम्'—यह कहा करते थे। वे लक्ष्य रखते हैं आत्मरूप सूर्याग्नि पर और निर्देश करते हैं प्रकृति यज्ञ की ओर। यदि पृथिवी में जब सूर्य नहीं रहता, उस समय अग्निहोत्र किया जाता तो 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' यह कथमपि नहीं कह सकते थे। क्योंकि उस समय सूर्य हमसे पृथक् होकर द्युलोक की ओर चला जाता है। हमें आत्मा में अतिशय उत्पन्न करना है, वह सूर्याग्निहोत्र की प्रतिकृति पर ही हो सकता है। और यह बात तभी बन सकती है जब सूर्य पृथिवी से सम्बन्ध रखता हो। ऐसा समय सूर्यास्त के बाद का और सूर्योदय से पूर्व का ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स यत्सायमस्तमिते जुहोति य इदं तस्मिन्निह सति जुहवानि । अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति य इदं तस्मिन्निह (सूर्ये पृथिव्यां) सति जुहवानि ॥इति॥

तस्माद्वै सूर्योऽग्निहोत्रम् इत्याहुः ॥२॥

यहाँ यह प्रश्न होता है कि—आपने सायं सूर्यास्त होने पर एवं प्रातः अनुदित में आहुति डाल कर सूर्य को अग्निहोत्र बताया । आपका विचार है कि उस समय सूर्य हमारे से सम्बद्ध है किन्तु यह विचार सङ्गत नहीं । सूर्य का सम्बन्ध तो दिन में हुआ करता है रात्रि में नहीं । रात्रि में तो पार्थिव अग्नि से सम्बन्ध होता है न कि सूर्य से । सूर्य तो उस समय तिरोहित हो जाता है । अतः उपर्युक्त समय में आहुति देना पृथिवी में आहुति देना है । अतः 'पृथिवी वा अग्निहोत्रं' यह कहना चाहिए न कि—'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' ।

इसका उत्तर भगवान् याज्ञवल्क्य देते हैं कि जिस समय सूर्य अस्त होता है उस समय वह पार्थिवाग्नि की योनि में गर्भ रूप बन कर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् रात्रि में सूर्य पृथिवी-अग्नि के गर्भ में रहता है । यदि रात्रि के समय सूर्य गर्भ रूप से पार्थिव अग्नि में प्रविष्ट न रहता तो अग्नि में प्रकाश कथमपि नहीं हो सकता था । चूंकि प्रकाश सूर्य का धर्म है न कि अग्नि का । अग्नि में ताप है प्रकाश नहीं । अतः मानना पड़ता है कि सायंकाल सूर्य पार्थिवाग्नि में गर्भ रूप से प्रविष्ट रहता है । जब सूर्य गर्भी हो जाता है तो उसके साथ ही सारी प्रजा अर्थात् प्राणिमात्र सगर्भ हो जाते हैं एवं उसकी प्रेरणा से सो जाते हैं । तात्पर्य यही है कि हमारा आत्मा सूर्य से बना हुआ है । जैसा कि—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

यह श्रुति बतला रही है । रात्रि के समय सूर्य पार्थिवाग्नि में गर्भस्वरूप से प्रविष्ट हो जाता है । प्रवल प्रमाण यही है कि रात्रि होते ही पार्थिव प्राणरूपी पुरीतत् नाडी में हमारा आत्मा गर्भस्वरूप में परिणत हो जाता है । जब तक सूर्य गर्भ में नहीं आता तब तक सूर्य द्वारा बना हुआ हमारा आत्मा पुरीतत् नाड़ी में कैसे जा सकता है ? जो दशा सूर्य की होगी वही आत्मा की होगी । दोनों की सलाह एक है । इसलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने 'सञ्जानाना' यह कहा है । रात्रि के समय पार्थिवाग्नियोनि में प्रविष्ट होते हुए सूर्य के साथ ही उसकी रश्मियों से बद्ध हमारी आत्मा इसका धक्का खाकर स्वयं भी पृथिवी की ओर गर्भित हो जाता है । सूर्य पृथिवी की अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है—इसमें अधिक क्या प्रमाण हो सकता है । अपि च, जब सूर्य गर्भरूप में परिणत होता है तो रात्रि इस गर्भीभूत सूर्य को छिपा सी लेती है । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रकृति में सूर्य गर्भ में रहता हुआ काली चदर से छिपा रहता है, उसी से आत्मा का स्वरूप बनता है ।

अतः जब तक वह गर्भ में रहता है तब तक उसे तिरोहित रूप में रहना पड़ता है। क्योंकि गर्भ सदा अदृश्य ही रहता है, अतः रात्रि में सूर्य का अभाव मानना सर्वथा भ्रान्त है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथ यदस्तमेति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति । तं गर्भं भवन्तमिमाः सर्वाः प्रजा अनुगर्भा भवन्ति । ईलिता ह्रि शेरे संजानानाः । अथ यद् रात्रिस्तिर एगैतत् करोति। तिर इव गर्भा ॥३॥

इस प्रकार जो यजमान सायंकाल सूर्य के अस्त होने पर आहुति डालता है वह गर्भीभूत सूर्य के लिए ही हवन करता है। ऐसा करता हुआ गर्भीभूत सूर्य को अपनी ओर करता है, अर्थात् उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि – चूंकि वह गर्भीभूत सूर्य को आहुति देता है, अतएव यह गर्भ बिना खाये ही जीवित रहते हैं। तात्पर्य यह है कि—कदाचित् कोई प्रश्न करे कि—सूर्य पृथिवी की अग्नि में प्रविष्ट है–यह हमें स्वीकार नहीं है, परन्तु इससे सूर्य को आहुति मिल गई यह बात तो सर्वथा गलत है क्योंकि आहुति तो पृथिवी की अग्नि में डाली गई। इसका उत्तर यह है कि—माता के पेट में जब गर्भ रहता है तो उसको खाने के लिए पृथक् नहीं दिया जाता। माता जो कुछ खाती है वह नाल द्वारा उस गर्भ को मिल जाता है। बच्चे को अर्थात् गर्भ को जिस वस्तु की इच्छा होती है वही इच्छा माता को होती है। माता की इच्छापूर्ति से उसकी इच्छा पूरी हो जाती है। यह विज्ञानसिद्ध बात है कि माता को देने से गर्भ को मिल जाता हैं तो क्यों न पार्थिव शरीर को आहुति देने से वह सूर्य को मिलेगी जो कि गर्भीभूत हो रहा है। अर्थात् माता को दे और गर्भ को मिले इसका यह कारण है कि रात्रि में पार्थिव अग्नि में प्रविष्ट सूर्य पृथिवी पर आने वाले सोम को स्वयं खाया करता है। आता है सोम पार्थिवाग्नि में खाता है गर्भीभूत सूर्य। चूंकि प्रकृतियज्ञ में ऐसा होता है तभी तो आत्मयज्ञ में माता को देने पर गर्भ खा लेता है। हमारा यज्ञ भी उसी को प्रतिकृति पर है अतः अवश्य ही हमारी आहुति गर्भस्थित आत्मसूर्य को मिल सकती है। इसी अभिप्राय से कहते है—'स यत् सायमस्तमिते जुहोति गर्भमेगैतत् सन्तमभि जुहोति। गर्भं सन्तमभि करोति। स यद् गर्भं सन्तमभिजुहोति, तस्मादिमे गर्भा अनश्नन्तो जीवन्ति ॥४॥

इसके बाद जो प्रातःकाल अनुदित हवन करते हैं उससे गर्भीभूत सूर्य (आत्मसूर्य) को उत्पन्न करते हैं अर्थात् गर्भ को बाहर निकालते हैं। उस आहुति से तेजःस्वरूप में परिणत होता हुआ सूर्य चमकता हुआ बाहर निकल आता है। यदि यह सायं प्रातः की आहुति न पड़े तो शायद कभी भी सूर्योदय न हो। अतएव सायं प्रातः अनुदित में आहुति डाली जाती है।

तात्पर्य यह है कि सूर्य को प्राणघन बतलाया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है— 'प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्य:'।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दरहित जो एक अनवरोधी निराकार तत्व है उसी को प्राण कहते हैं। सूर्य का जो पिण्ड हम देखते हैं वह सर्वथा काला है। इसीलिए भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

'आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेनादेवो याति भुवनानि पश्यन्।' इति।

उस काले पिण्ड में से जो ऋग्यजु:सामात्मक प्राण निकलते हैं–वे सर्वथा रूपरसादि-रहित हैं। पृथिवी के ४८ कोस के ऊपर तक एक भू-वायुस्तर है जो कि एमूषवराह नाम से प्रसिद्ध है वह वायुस्तर सोमात्मक है। उसी सोम के दबाव से पृथिवोपिण्ड —पिण्डरूप से स्थिर रहता है। यह सोम दाह्य पदार्थ है। जिस समय आता हुआ सूर्यप्राण इस सोम में मिलता है उस समय इस प्राणसंयोग से वह सोम जल पड़ता है। उसके जलते ही प्रकाश हो जाता है जो हमें दिखलायी पड़ रहा हैं। ४८ कोस से ऊपर प्रकाश नहीं है यह सिद्धांत समझना चाहिए। उस प्रकाश के पर्दे में हो हम उस काले पिण्ड को श्वेत देखने लगते हैं।

प्रकृत में यही बतलाना है कि इस सूर्य का प्रत्यक्ष हमें इस पृथिवी के सोम के कारण ही है। प्राण और सोम दोनों के मेल होने पर ही प्रकाश होता है। यदि दोनों में से एक भी नहीं रहता है तो प्रकाश नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यदि पृथिवी के सोम का तथा उन सौर प्राणों का सम्बन्ध न होता तो कभी भी उस काले सूर्यपिण्ड का प्रत्यक्ष न होता। पार्थिव सोमसम्बन्ध से प्रात:काल होते ही सूर्यप्राण चमक पड़ते हैं। उसी के द्वारा हमें सूर्य का प्रत्यक्ष होता है। चूंकि प्रकृति में ऐसा होता है, अत: यदि हम भी अपने आत्म-सूर्य में आहुति डालेंगे तो वह सदा प्रज्वलित रहेगा। भगवान् याज्ञवल्क्य दोनों तरफ इशारा करते हुए कहते हैं कि यदि आहुति न पड़े तो सूर्य भी कभी उदित ही न हो। इसका तात्पर्य यही है कि प्रकृति में जैसे सूर्य के लिए सोमाहुति की आवश्यकता है अन्यथा प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता, तद्वत् बिना अग्निहोत्र के मनुष्य का आत्मा नहीं के बराबर ही रहता है। जो अग्निहोत्र नहीं करता है, उसका आत्मा कभी बलवान् हो ही नहीं सकता है। दोनों की तरफ लक्ष्य करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ यत् प्रातरनुदिते जुहोति प्रजनयत्येवैनमेतत्। सोऽस्यं तेजो भूत्वा विभ्राजमान उदेति। शश्वद्ध (कदापि) वै नोदियात्-यद्यस्मिन् एतामाहुतिं न जुहुयात्। तस्माद्वा एतामाहुतिं जुहोति' ॥इति॥५॥

जिस प्रकार सांप अपनी केंचुली छोड़कर उससे सर्वथा अलग हो जाता है तद्वत् वह सूर्य उस आहुति के बल पर रात्रि के अन्धकार से सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाता है एवं जैसे सांप केंचुली छोड़कर उससे सर्वथा अलग हो जाता है तद्वत् इस अग्निहोत्ररहस्य को जानकर जो विद्वान् अग्निहोत्र करता है वह भी सारे पाप्माओं से अलग हो जाता है। अर्थात् सूर्यवत् उसका आत्मा निर्मूल एवं विभ्राजमान हो जाता है। अपि च, जिस प्रकार सूर्य की यह सारी प्रजाति है तद्वत् यह प्रजा से युक्त हो जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि— इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए। वस्तुतः ही यह नवीन प्रजा उत्पन्न करता है। अर्थात् अवश्य ही इसका आत्मा निर्मल हो जाता है और सम्पत्तियुक्त हो जाता है। अतः अग्नि-होत्र अवश्य ही करना चाहिए ॥६॥

॥ इति अग्निहोत्रोपपत्तिप्रकरणम् ॥

प्राचीन समय में याज्ञिक लोग अग्निहोत्र करने से पूर्व सूर्यसत्ता में ही, आहवनीयकुण्ड में पड़ी हुई राख आदि को बाहर उठाकर फेंक देते थे तदनन्तर सूर्यास्त होने पर उसमें अग्नि प्रज्वलित कर आहुति देते थे। जो सूर्य की सत्ता में अग्निहोत्र के पूर्व राख आदि का उद्धरण नहीं करता था उस मनुष्य की कान पर यज्ञोपवीत न चढ़ा कर लघुशङ्का करने वाले की तरह निन्दा होती थी। जो मनुष्य अग्निहोत्र के पूर्व सूर्यसत्ता में ही आहवनीय-कुण्ड को साफ नहीं करता था वह अत्यन्त निन्दनीय एवं उपहासास्पद होता था। ऐसा करने वाले के लिए लोग कहा करते थे कि इसका तो यज्ञ सर्वथा समृद्धिशून्य हो गया। सूर्यास्त से पूर्व आहवनीय कुण्ड में पड़ी हुई राख आदि के उद्धरण की उपपत्ति यह है कि—

'स यत् पुरादित्यस्यास्तमयात्-आहवनीयमुद्धरति-तदुच्यते ॥इति॥'

संसार के यावन्मात्र पदार्थों का निर्माण भगवान् सूर्य द्वारा हुआ करता है। सूर्य दिन भर तपा करता है। सायङ्काल अस्त होता हुआ वह अपनी गर्मी इन्हीं पार्थिव पदार्थों में छोड़ जाता है। वह गर्मी सूर्य की वस्तु न रह कर पृथिवी की अपनी चीज बन जाती है। सूर्यप्रवृक्त्त ऊष्मा से पार्थिव पदार्थों का परिपाक होता है। यह गर्मी सूर्य से अलग हो जाती है, अतएव यह उसका उच्छिष्ट भाग कहलाता है। इसी से जगत् का निर्माण होता है, अतएव—'उच्छिष्टात् सकलञ्जगत्' यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः।' इति ॥

सूर्य की रश्मि को विश्वेदेव कहते हैं। ये विश्वेदेव दो प्रकार के हैं— नियतगण और अनियतगण। व्यवस्थित विश्वेदेव 'नियतगण' और व्यवस्थारहित विश्वेदेव 'अनियतगण' कहलाते हैं। १०, ५ जितने भी देवताओं का योग मिल जाय, वे विश्वेदेव कहलाने लगते

हैं। नियतगण विश्वेदेव १३ हैं। उनके नाम—वसु, रुद्र, आदित्य, भृगु, अङ्गिरा, ऋतु एवं ७ मरुद्गण हैं प्रकृत में जिन विश्वेदेवों का निरूपण किया जा रहा है वे अनियत विश्वेदेव हैं। प्रकृत में 'विश्वेदेव' शब्द 'सर्वेदेवा.' का बोधक है और सारे देवता सूर्य की रश्मियों में रहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥'

यह प्राणरूप विश्वेदेव निराकार हैं, और सायङ्काल सूर्यास्त होते ही रश्मियों द्वारा सारे पदार्थों में प्रविष्ट हो जाते हैं। सूर्य में दो प्रकार के प्राण है—१. प्रातिस्विक प्राण—जो कि सूर्य की आत्मा है तथा २. महिमामय प्राण—जो कि उच्छिष्ट रूप में परिणत हो कर अर्थात् उससे प्रवृक्त होकर पृथिवी की चीज बनते हैं। जिस समय सूर्य उदित होता है—तब वह संसार के यावन्मात्र जड़ चेतन पदार्थों के प्राणों को खींचने लगता है। प्रतिक्षण अस्थि, मांस, रक्त, वसा, वनस्पतियों के रस इत्यादि वस्तुओं को रश्मियों द्वारा यह सूर्य अपने में खींचा करता है। जिस प्रकार सूर्य में प्रातिस्विक एवं उच्छिष्ट दो प्रकार के प्राण हैं उसी प्रकार हमारे में भी दो प्रकार के प्राण हैं। एक प्राण हमारी आत्मा बना हुआ है जिसके उत्क्रांत होते ही मृत्यु हो जाती है। दूसरे प्राण आगन्तुक हैं—इन आगन्तुक विश्वेदेव प्राणों को ही सूर्य खींचा करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।' तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम्—

'विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥' प्रश्न उ०

नील, हरित, रक्त, कर्बुर, पीत इत्यादि संसार के यावन्मात्र रूपों के समूह, जिसके बिना किसी भी रंग का प्रत्यक्ष नहीं होता एवं जो प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ का हरण करता है, जिससे प्राणियों की बुद्धि में विशेषता उत्पन्न होती है अर्थात् जिससे ज्ञानमात्रा बनती है, ऐसे जातवेदा को तथा यावन्मात्र पदार्थों के एकमात्र आश्रयभूत, तपने वाले, ज्योतिः-स्वरूप एकाकी भगवान् सूर्य को विद्वान् लोग जानते हैं। सहस्ररश्मियों वाला, सैकड़ों बार अर्थात् प्रतिदिन उदित होने वाला, सारी प्रजाओं का प्राणस्वरूप, यह सूर्य उदित होता है।

सारे रूपों का प्रत्यक्ष भगवान् सूर्य के द्वारा ही होता है अतः उन्हें विश्वरूप बतलाया गया है। तथा वह प्रतिक्षण हमारे प्राणों का हरण किया करता है, अतः उन्हें 'हरिणम्' कहा गया है। प्रखर धूप में हमारा मुंह सूख जाता है, शरीर व्याकुल हो जाता है—सूर्य के प्राण-

हरण करने में यही प्रमाण है क्योंकि यदि प्राणरूप रस का हरण नहीं होता तो मुख में शुष्कता व शरीर में व्याकुलता प्रखर धूप में नहीं होती। हमारे शरीर में जितनी ज्ञानमात्रा है, वह उसीसे आती है। इसीलिए 'धियो यो नः प्रचोदयात्' यह सूर्य के लिए कहा जाता है। इसी बात को बतलाने के लिए उपर्युक्त मन्त्र में 'जातवेदसं' पद दिया गया है। अपि च, इस ब्रह्माण्ड के जितने भी पदार्थ हैं—वे प्रतिसञ्चरक्रम से सूर्य में ही मिलते हैं क्योंकि वे उससे उत्पन्न हुए हैं। जैसे—घड़ा नष्ट होने पर मिट्टी में लीन होता है, मिट्टी पानी में, पानी तेज में, तेज वायु में, वायु प्राण में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार प्राण मनःस्वरूप में परिणत होता है तथा मन सूर्य में लीन हो जाता है। बस यही अन्तिम गति है। इसीलिए आत्मा को मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय बतलाया गया है। जैसा कि—'स वा एष आत्मा, वाङ्मयः, प्राणमयः, मनोमयः' इस श्रुति से सिद्ध हो रहा है। आत्मा का वाग्भाग ही आकाश कहलाता है। इसी वाग्रूप आकाश से वायु आदि क्रम से सृष्टि उत्पन्न होती है जैसा कि निम्न श्रुति से सिद्ध हो रहा है—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।' इति।

इस प्रकार सबका आश्रय सूर्य केन्द्र में बैठा हुआ एकमात्र आत्मा है। इसी अभिप्राय से मन्त्र में 'परायणम्' पद दिया गया है। इस ब्रह्माण्ड में स्वज्योतिकेन्द्र सूर्य है, अतः 'ज्योतिरेकं' कहा गया है।

प्रकृत में यही बतलाया गया है कि दिन भर सूर्य प्राणों का हरण किया करता है एवं सायङ्काल होते ही सारे पदार्थों में उन प्राणों को छोड़ जाता है, जब तक हमारे प्रातिस्विक आत्मीय प्राणों पर किसी अन्य बलिष्ठ प्राण का आक्रमण नहीं होता तब तक हम आनन्द से विचरण किया करते हैं। परन्तु जहाँ किसी बलिष्ठ प्राण ने हमारे ऊपर आक्रमण किया कि वहीं हम अचेत हो जाते हैं। सायङ्काल होते ही विश्वेदेव रूप सौर प्राण हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं, अतः हमारा आत्मप्राण दब जाता है और हम अचेत होकर सो जाते हैं। परन्तु प्रातःकाल होते ही सूर्य अपने प्राणों को जो कि रात्रि को आये थे, खींचने लगता है, अतः हमारा आत्मीयप्राण उद्बुद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सायङ्काल सौर प्राण यावन्मात्र पदार्थों में प्रवेश कर जाते हैं, जो कि विश्वेदेव कहलाते हैं। ये विश्वेदेव प्राण प्रकाशरहित हैं एवं प्रवर्ग्य हैं, अतएव इनके प्रवेश व निष्क्रमण को हम आँखों से नहीं देख सकते। रश्मियों के केन्द्र में स्थित जो एक पिण्ड चमकता हुआ मालूम पड़ता है—जिसमें से कि ये सारे विश्वेदेव प्राण निकले हैं—उसी सूर्यपिण्ड को प्रजापति एवं इन्द्र कहते हैं। उस सूर्यात्मा में ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र—ये तीन हृद्य अक्षर रहते हैं। इन सारे देवताओं का

अधिष्ठाता (राजा) वह सूर्य है। इसी अभिप्राय से उसे इन्द्र कहा जाता है। चूंकि उसी से ये देवता उत्पन्न होते हैं, इसीलिए उसे प्रजापति कहा जाता है। यज्ञमय होने से वह विष्णु कहा जाता है। इसी अभिप्राय से—'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः' यह कहा जाता है। इस प्रकार वही सूर्य उत्पादकत्वात् प्रजापति, प्राश्रयत्वेन इन्द्र एवं यज्ञत्वेन विष्णु कहलाता है। इसीलिए—'एका मूर्तिस्त्रयोदेवा ब्रह्मविष्णु-महेश्वराः' कहा जाता है। यही प्रकृतियज्ञ की व्यवस्था है। सायङ्काल होते ही सूर्यरश्मिस्थ विश्वेदेवप्राण यावन्मात्र संसार के पदार्थों में प्रवेश कर जाते हैं एवं प्रातःकाल होते ही सूर्य-रश्मियों द्वारा खिचकर ऊपर चले जाते हैं। यह चक्र अनवरत रात-दिन चलता रहता है।

प्रकृत में हमें अग्निहोत्र करना है। जैसे यावन्मात्र पदार्थों में ये सूर्यरश्मियाँ अर्थात् विश्वेदेव प्राण प्रविष्ट होते हैं, तद्वत् आहवनीयकुण्ड में भी इनका प्रवेश अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में यदि सूर्यास्त के पहिले-पहिले आहवनीयकुण्ड की राख को बाहर निकाल कर न फेंक दी जायगी तो वे विश्वेदेव प्राण उसमें (राख में) ही प्रविष्ट हो जायेंगे। सूर्यास्त के अनन्तर जब उस राख को फेंक दिया जायगा तो सारे देवता—जो कि राख में प्रविष्ट हो गये थे—उस राख के साथ आहवनीय में से निकल जायेंगे। ऐसी स्थिति में वह आहवनीय देव-प्राणों से सर्वथा शून्य हो जायगा। उस देवप्राणशून्य आहवनीय में आहुति देना बिल्कुल व्यर्थ होगा। अतः सूर्यास्त के पूर्व ही राख निकाल लेनी चाहिए। जब सूर्यास्त में ही राख निकाल दी जाती है तो उस स्वच्छ आहवनीयकुण्डस्थित वायु में देवप्राण प्रविष्ट हो जाते हैं। अतः उसमें जो आहुति दी जाती है—वह देवताओं को ही मिलती है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एते वै विश्वेदेवा रश्मयः। अथ यत् परं भाः प्रजापतिर्वा स इन्द्रो वा। एतदु ह वै विश्वेदेवा अग्निहोत्रं जुह्वतो गृहानागच्छन्ति। स यस्य अनुद्धृतमागच्छति, तस्माद्देवा अप-प्रयन्ति (पलायनं कुर्वन्ति)। तद्वा—अस्मै तद् व्यृध्यते—यस्माद्देवा अपप्रयन्ति। तस्यानु व्यृद्धि यश्च वेद यश्च न अनुद्धृतमभ्यस्तमगादित्याहुः ॥इति॥

ये जो रश्मियाँ हैं, वे विश्वेदेव हैं। इन रश्मियों में ही प्राणरूप सारे देवता रहते हैं। तथा चमकता हुआ जो पिण्ड दिखाई देता है जिसे कि 'भाः' कहा गया है, उसे प्रजापति तथा इन्द्र शब्द से कहा जाता है। जैसे सबके घर में ये रश्मिप्राण प्रविष्ट होते हैं, उसी प्रकार अग्निहोत्र करने वाले यजमान के घर में भी ये विश्वेदेव आते हैं। ये प्राण जिस यजमान के अनुद्धरणयुक्त (राख सहित) आहवनीयकुण्ड में आते हैं वे उद्धरण के समय राख के साथ ही बाहर निकल जाते हैं। अतः उसका यह अग्निहोत्र सर्वथा असम्पन्न हो जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान की इस व्यृद्धि के साथ जो मनुष्य इस प्राण-विज्ञान को जानते हैं अथवा जो नहीं जानते हैं—वे दोनों ही—'अरे! बिना उद्धरण के

ही सूर्य अस्त हो गया' यह कहकर उसकी निन्दा करते हैं। अतः इस निन्दा से बचने एवं यज्ञ को समृद्ध बनाने के लिए सूर्यसत्ता में ही उद्धरण करना चाहिए ॥७॥

सूर्यास्तमन से पूर्व उद्धरण में उपपत्ति—

जो मनुष्य आदित्य के अस्त होने से पूर्व ही आहवनीय का उद्धरण कर देता है अर्थात् राख आदि निकालकर उसे साफ कर देता है, उसका यह काम उसी प्रकार का होता है—जैसे किसी अतिथि के आने से पूर्व घर-को साफ कर आसन बिछा कर उसकी प्रतीक्षा की जाय। अतः जो देवता के आगमन से पूर्व राख आदि को साफ कर आहवनीय को स्वच्छ बना देता है। उसका यह कार्य उत्तम व सभ्यतापूर्ण है। अपिच, जिस यजमान के उद्धरण के अनन्तर विश्वेदेव आते हैं वे उस आहवनीय कुण्ड में प्रविष्ट होकर आहवनीयाग्नि में स्थित हो जाते हैं। सूर्यास्त से पूर्व उद्धरण करने वाले के लिए यह समृद्धिफल बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—

'अथ यः पुरादित्यस्यास्तमयात् आहवनीयमुद्धरति यथा श्रेयस्यागमिष्यति आवसथेनोपक्लृप्तेनोपासीत एवं तत् (उद्धरणम्)। स यस्योद्धृमागच्छन्ति तस्माहवनीयं (कुण्डं) प्रविशन्ति तस्याहवनीये (अग्नौ)। निविशन्ते।' इति ॥८॥

इस प्रकार जो उद्धरण करके अग्निहोत्र करता है उसी का अग्निहोत्र समृद्ध होता है। यह बतलाते हुए वे कहते हैं कि—उद्धरण करके जो सायंकाल सूर्यास्त होने पर हवन करता है, वह अग्नि में प्रविष्ट विश्वेदेवों के लिए हवन करता है तथा जो प्रातःकाल सूर्योदय से पहिले हवन करता है, वह जाते हुए इन देवताओं के लिए ही आहुति डालता है। अर्थात् उद्धरणपूर्वक सायं सूर्यास्त होने पर एवं प्रातः सूर्योदय के पूर्व जो अग्निहोत्र करता है उसकी आहुति देवताओं को ही मिलती है।

कई आचार्यों का मत है कि उदित में हवन करना चाहिए, कितनों का मत है कि अनुदित में हवन करना चाहिए और कितने ही आचार्य इसमें समय की कोई व्यवस्था नहीं मानते, अर्थात् जब चाहे तब हवन कर सकते हैं। इस प्रकार अग्निहोत्र के विषय में ये तीन मत हैं। इन तीनों में से—अनुदित में हवन करना चाहिए। इसका उपपादन किया गया। इस मत को श्रेष्ठ मानने वाले आसुरि नामक महर्षि कहते हैं कि अनुदित में ही देवता रहते हैं, उदित में वे सूर्य में चले जाते हैं, अतः जो अनुदित में अग्निहोत्र न कर उदित में करते हैं, उन अग्निहोत्रियों के अग्निहोत्र को मैं सर्वथा विच्छिन्न मानता हूँ, अर्थात् उदित में अग्निहोत्र करने से कोई फल नहीं मिलता। जब घर में कोई अतिथि आये, उस समय उसका सत्कार न कर उसके चले जाने के बाद शून्य गृह में भोजनादि से

सत्कार करना जैसे सर्वथा व्यर्थ है वैसे ही उदित में हवन करना व्यर्थ है। इसी अभि-प्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स यत् सायमस्तमिते जुहोति, अग्नावेवैभ्य एतत् प्रविष्टेभ्यो जुहोति। अथ यत् प्रातरनुदिते जुहौति, अप्रेतेभ्य एवैभ्य एतत् जुहोति। तस्मादुदितहोमिनां विच्छिन्नमग्निहोत्रं मन्यामहे, इति हस्माह–आसुरिः। यथाशून्यमावसथमाहरेदेवं तत्' ॥ इति ॥९॥

संसार में अन्न दो ही प्रकार का है—(१) मूली एवं (२) अमूल। जो अन्न जमीन से बद्ध रहता है, उसे मूली कहते हैं और जो अन्न जमीन से बद्ध न रहकर स्वतन्त्र रहता है उसे अमूल कहते हैं। ओषधि वनस्पत्यादि अन्न जमीन से बद्ध रहते हैं. अतः वे मूली हैं और पशु जमीन से बद्ध न रहने के कारण अमूल है। यह दोनों ही प्रकार का अन्न देवताओं का है। प्रत्येक क्षण सूर्यरश्मिरूप विश्वेदेव प्राण इनको खाया करते हैं अतः इस प्रकार यह अन्न देवताओं का है। तथापि मनुष्य भी इससे अपना जीवननिर्वाह करते हैं।

देवान्न को मनुष्य भक्षण करे यह अपराध है। इस अपराध से बचने का एक ही उपाय है कि देवताओं के उच्छिष्ट अर्थात् उनके द्वारा छोड़े हुए अन्न का ही भक्षण करे। इसीलिए यह अग्निहोत्र किया जाता है।

पूर्व में मूली, अमूल भेद से दो प्रकार का अन्न बताया गया है तथा दोनों प्रकार के अन्न देवताओं के हैं यह भी बतलाया। यहाँ हमें देवताओं को आहुति देनी है तो ऐसा कौन-सा उपाय है कि जिससे एक ही अन्न की आहुति देने से दोनों का ग्रहण हो जाय। इसी का निरूपण करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पशु (गाय) स्वयं अमूल है तथा मूली घासादि को खाकर पानी पीकर जीवित रहती है। उससे यह दूध उत्पन्न होता है। इस दूध की आहुति देने से दोनों अन्नों का ग्रहण हो जाता है। क्योंकि पशु से यह दूध निकलता है, इसीलिए यह अमूल अन्न है, मूली तृणादि खाने से एवं पानी पीने से इसका निर्माण होता है, अतः यह मूली अन्न है। इसीलिए अग्निहोत्रसम्बन्धी आठ आहुतियों में सर्वप्रथम उभयविध अन्नाहुतिसिद्ध्यर्थं दूध की ही आहुति दी जाती है ॥१०॥

यह यजमान सूर्यास्त होने पर जो अग्निहोत्र करता है वह इस विचार से करता है कि जीवनसत्ता रखने वाले इस रस की देवता को पहले आहुति दे दूं, तदनन्तर इसके उच्छिष्ट अन्न से मैं भी अपना निर्वाह करूँ, क्योंकि अन्न देवताओं का है अतः उनकी वस्तु को पहिले उन्हें देकर उससे बचे हुए अन्न से अपना जीवन-निर्वाह करना उचित है। इस प्रकार अग्निहोत्र करने के बाद अवशिष्ट अन्न को जो यजमान खाता है, वह देवहवन से बचे हुए देवोच्छिष्ट जो 'निरवत्त बलि' है उसे ही खाता है। अर्थात् निःशेषेण देवताओं को दी हुई जो बलि है उसे ही खाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्निहोत्र करने वाला हुतोच्छिष्ट अन्न को ही खाने वाला है ॥११॥

इसके बाद जो कि प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व अनुदित में देवताओं का हवन करता है वह इस अभिप्राय से करता है कि जीवनसत्ता रखने वाले इस रस को देवताओं को देकर अवशिष्ट अन्न से मैं अपना जीवननिर्वाह करूँ। इस प्रकार प्रातःकाल देवताओं को देकर तत्पश्चात् जो यजमान दिन में भोजन करता है, वह हुतोच्छिष्ट निरवत्त अर्थात् देवताओं के लिए निःशेषेण प्रदत्त एवं उससे बचे हुए अन्न को ही खाता है। अतः अग्निहोत्र करने वाला देवोच्छिष्ट को ही खाने वाला है ॥१२॥

याज्ञिक लोग कहते हैं कि अग्निहोत्र को छोड़कर अन्य सभी यज्ञों की कभी न कभी समाप्ति होती है। अग्निहोत्र ही ऐसा यज्ञ है, जो कभी समाप्त नहीं होता जिसे यावज्जीवन करना पड़ता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रम्। जरया वा जीर्यते मृत्युना वा शीर्यते।' इति।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि बड़े से बड़ा यज्ञ १२ वर्ष का एवं उनमें सबसे बड़ा २३ वर्ष का है किन्तु उसका भी अन्त है। केवल अग्निहोत्र अनन्त है, इसकी कभी समाप्ति नहीं है। सायङ्काल हवन कर विचार करता है—प्रातःकाल हवन करेंगे। प्रातःकाल हवन कर विचार करता है—सायङ्काल हवन करेंगे। इस प्रकार यह अग्निहोत्र सर्वथा विश्राम-रहित है। सायं के बाद प्रातः, प्रातः के बाद सायं यह धारा यावज्जीवन चलती रहती है। जो मनुष्य इस विश्रामरहित अग्निहोत्र को करता है, उसके अविश्रान्तरूप से प्रजा उत्पन्न होती रहती है। उसका सन्तानक्रम कभी समाप्त नहीं होता। उत्तरोत्तर प्रजावृद्धि होती रहती है। इस प्रकार वह अनुपस्थित (अपरिमित) लक्ष्मी व प्रजा से युक्त होता है—जो अनुपस्थितधर्मा इस अग्निहोत्र के रहस्य को जानता है तथा तदनुकूल अग्निहोत्र करता है ॥१३॥

अग्निहोत्र में दूध ही की आहुति होती है क्योंकि उसमें उभयविध अन्न का भाव रहता है। दूध का विधान करके – कैसे दूध की आहुति देनी चाहिए ? यह बतलाते हैं–

दूध को दुहकर पकाने के लिए उसे अग्नि पर चढ़ा देते हैं। कितने समय में – किस अवस्था तक दूध का परिपाक हो जाता है—इसमें मत बतलाते हैं—

कई आचार्य कहते हैं—जिस समय अग्निसम्बन्धेन वह दूध उफानयुक्त हो जाता है, वही अवस्था उसके पकने की समझनी चाहिए अर्थात् एक उफान आने के बाद उसे पका हुआ समझ लेना चाहिए। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—दूध को कभी उदन्त (उफान वाला) नहीं करना चाहिए, क्योंकि उफान आना दूध के हिस्से का जलना है। जब तक सामान्य गर्मी ही दूध में घुसती है तब तक तो उसके स्वरूप में कोई क्षति नहीं आती, परन्तु जब अधिक अग्नि का प्रवेश होता है तो दूध

की मात्रा भी जलने लगती है। उफान आना ही उसके जलने का प्रारम्भ है। अतः उफान आने के पूर्व ही दूध को आग से नीचे उतार लेना चाहिए, जिससे वह जले नहीं। इसमें दोष यही है कि—जो जला हुआ रेत (वीर्य्य) होता है, वह प्रजोत्पादन क्रिया में सर्वथा असमर्थ रहता है। अर्थात् जले हुए वीर्य्य का भ्रूण नष्ट हो जाता है, अतः उसमें उत्पादन-क्षमता नहीं रहती। जौ, गेहूँ आदि से यदि धुँआ का सम्बन्ध हो जाता है तो उससे वे जौ, गेहूँ सर्वथा नष्टप्राय हो जाते हैं। उनसे पुनः जौ, गेहूँ उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। प्रकृत में अग्निहोत्र द्वारा हमें नया 'दैवात्मा' उत्पन्न करना है, अतः शुद्ध वीर्य से ही काम लेना चाहिए जो कि दूध है। यदि दूध जला दिया जायगा तो दैवात्म-प्रजनन क्रिया न हो सकेगी। अतः उस दूध को उफानयुक्त नहीं करना चाहिए। कच्चे दूध में जो एक हीक सी आती है—जो कि आसुर भाव है केवल उसको नष्ट करने मात्र के लिए इस दूध को अग्नि पर चढ़ाया जाता है। अतः जरा गरम करके उफान आने के पूर्व ही उसे अग्नि से नीचे उतार लेना चाहिए ॥१४॥

'उफान न आने दें तो फिर कैसे दूध से आहुति दें ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि—यह दूध अग्नि का रेत है, जैसा कि पूर्व ब्राह्मण में बतलाया गया है। अर्थात् एक तो दूध ही स्वयं आग्नेय है, एवं दूसरे इसे अग्नि पर रख देते हैं तो उससे और पक जाता है जिससे रही सही हीक बहिरग्निसम्बन्धेन चली जाती है। अतः अग्नि पर चढ़ाकर, जरा गरम करके ही उसे उतार लेना चाहिए, एवं इस प्रकार के दूध से आहुति देनी चाहिए ॥१५॥

'यह दूध पका या नहीं ?'—इसकी पहिचान के लिए डाभ को जला कर उस दूध के ऊपर फिरा देते हैं। सायंकाल सूर्यास्त होने पर एवं प्रातः सूर्योदय के पूर्व अग्निहोत्र किया जाता है अतः अंधकार के रहने से सम्भवतः दूध के पकने का पता न चले, इसीलिए डाभ को जला कर इसके पकने का पता लगाया जाता है। तत्पश्चात् उसमें थोड़ा सा पानी डाल देते हैं। पानी से शान्ति होती है व रस की पूर्ति होती है। यह पानी आप्, जाया एवं धारा ये तीन शक्तियाँ रखता है। जिस प्रकार स्वयम्भू वेद जो कि ब्रह्मनिःश्वसित नाम से कहा जाता है—ऋग् यजुः साम भेद से तीन प्रकार का है तद्वत् यह पारमेष्ठ्य ब्रह्म स्वेद-वेद भी आप्, जाया, धारा भेद से तीन ही प्रकार का है। इस पानी में धारण, प्रजनन एवं व्याप्त होने की शक्ति है। इसी पानी से संसार के यावन्मात्र भूतों की उत्पत्ति होती है, इसीलिए इसे 'जाया' कहते हैं। उत्पन्न वस्तु इसी आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र पर अव-लम्बित रहती है इसीलिए इसे 'धारा' कहते हैं एवं यही चारों तरफ व्याप्त है, इसीलिए इसे 'आप्' कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है –

'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत । सा इदमाप्नोत् यदिदं किञ्च । यदाप्नोत्तस्मादापः यदवृणोत् तस्माद्वाः' शत० ३।४ पृ० ६ का० ।

अपि च, यह पानी ही सबको उत्पन्न करता है । जैसा कि श्रुति कहती है—

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न उर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ।
यो वः शिवतमो रसः । तस्य भाजयते ह नः ।।
उशतीरिव मातरः ।
तस्मा अरं गमाम वः यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ।।

प्रकृत में दैवात्मप्रजनन करना है । प्रजननक्रिया में पानी भी सम्मिलित है । इसीलिए उस आपोमय, जननशील, शिवतमरस के लिए ही—इस दूध में जल डाला जाता है । अपि च, दूध में जो अग्नि का सम्बन्ध होता है उससे वह जलता जाता है, उस अग्निदाह को शान्त करने के लिए भी पानी डालते हैं । जब पानी बरसता है तब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं । ओषधियों को खाकर एवं पानी पीकर पशु जीवन-लाभ करते हैं । उन पशुओं से यह रस निकलता है । अतः यह दूध भी पानी ही है । अतः यदि रस (दूध) में पूर्णता न होगी तो इस पानी के सम्बन्ध से वह कमी दूर हो जायगी । इसी अभिप्राय से—'रसस्यो चैव सर्वत्वाय' कहा गया है । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पानी 'रस' है, उससे इस दुग्धरस की क्षतिपूर्ति हो जाती है । इसलिए बिना यज्ञ के भी—यदि कोई दूध पीना चाहे तो उसे 'इस दूध में थोड़ासा पानी डाल देना चाहिए' यह कह दो । यह कहना—शांति के लिए तथा रस की कृत्स्नता के लिए ही है ।।१६।।

इस प्रकार दूध को गर्म कर बिना उफान आए ही उसे नीचे उतार कर उसका चार बार उन्नयन करते हैं । क्योंकि दूध चार स्तनों से निकला है अतएव उस दूध को चार बार करके डालते हैं । समिद्ध (प्रज्वलित) अग्नि में आहुति डालना यज्ञ को समृद्ध करना है । अतः वैकङ्कत काष्ठ की बनी हुई स्रुचि, जिसमें कि आहुति देने के लिए ४ बार करके दूध भरा हुआ है, पर एक समिधा को रख कर गार्हपत्यस्थान से आहुति देने के लिए आहवनीय की ओर जाता है (आद्रवति) । तात्पर्य यह है कि दूध भरी हुई स्रुचि पर लकड़ी रख कर आहुति देने से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है । प्रज्वलित अग्नि आहुत द्रव्य को विशकलित कर उसे सम्यक्तया देवताओं में पहुँचा देता है । अतएव उसमें आहुति के साथ अग्नि को अधिक प्रज्वलित करने के लिए समिधा और डालदी जाती है ।

आहवनीय में आहुति प्रक्षेप प्रकार

वह अग्निहोत्रकर्ता ब्राह्मण आहवनीय के पास पहुँच कर ही आहुति डालता है ।

अर्थात् पहिले जाने के साथ ही आहुति देनी चाहिए तदनन्तर कुण्ड के पास बैठना चाहिए। लोक में जब अनुचर अपने स्वामी की सेवा में उपस्थित होता है तो पहिले वह नजर करता है। हाथ में भेंट रख कर हाथ को आगे रखता हुआ स्वामी से भेंट करता है। जब स्वामी भेंट ग्रहण कर लेता है तब अनुचर बैठ कर अन्य बातें करता है। अग्नि चूंकि यजमान का स्वामी है इसके लिए ही यह आहुति ले जाई जाती है। यदि बैठने के बाद आहुति दी जायगी तो यह बात अनुचित होगी। जैसे स्वामी के पास पहुँच कर बैठ जाना तथा बाद में उपहार के लिए रु० निकालना। अतः पहिले आहुति डाल कर पश्चात् ही बैठना चाहिए यह तो लौकिक उपपत्ति है।

उपवेशन से पूर्व आहुति प्रक्षेप में वैज्ञानिक उपपत्ति—

यदि पहिले आहवनीय कुण्ड के पास बैठेगा और फिर आहुति देगा तो वह कार्य उसी प्रकार का होगा जैसे कोई व्यक्ति भोजन करने के लिए बैठे हुए पुरुष को भोजन न पहुंचा कर उस अन्न को मार्ग में ही रख दे। तात्पर्य यह है कि अग्नि अन्नाद (भोक्ता) हैं। वह आहुति चाहता है। इस आहुति से हमें दैवात्मा का निर्माण करना है। ऐसी स्थिति में आहुति से पूर्व यदि यजमान आहवनीय अग्नि के पास बैठ जायेगा तो उसके शरीर की गर्मी उस अग्नि की गर्मी में अन्तराय डाल देगी, अर्थात् वह भी आहुति में सम्मिलित हो जायेगी। परन्तु जब पहिले आगे हाथ करके अनुपसाद्य आहुति डालते हैं तो शारीराग्नि और आहवनीयाग्नि के बीच में आहुति आ जाती है और इस प्रकार आहवनीय अग्नि और आहुति के बीच में कोई व्यवधान नहीं आता।

तैत्तिरीय संहिता में आहुति डालते हुए ही बैठने के लिये लिखा है—

'उन्नीयोपसादयति पृथिवीमेव प्रीणाति। होष्यन्नुपसादयति-अन्तरिक्षमेव प्रीणाति। हुत्वोपसादयति- दिवमेव प्रीणाति। (२।१।५।८ तै. ब्रा.)

इस तैत्तिरीय मत में दूषण बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'स यद्युपसादयेत् यथा यस्मा अशनमाहरिष्यन् अन्तरा निदध्यात् एवं तत्।' इति।

अर्थात् किसी के लिए भोजन ले जाता हुआ भोजन और भोजन करने वाले मनुष्यों के बीच किसी अन्य वस्तु का व्यवधान करना जैसे अनुचित है, पहिले बैठ कर बाद में आहुति देना भी वैसे ही अनुचित हैं।

'यदनुपसाद्य यथा यस्माऽअशनमाहरेत् तस्माऽआहृत्यैव उपनिदध्यात् एवं तत्।' अर्थात् जो अनुपसाद्य आहुति डालता है, उसका बिना बैठे आहुति डालना ऐसा है जैसा कि जिसके लिए भोजन ले जाया जाता है उसने सामने पहिले भोजन रख कर बाद में वहीं उसके पास बैठना।

अग्निहोत्र में दो आहुतियां डाली जाती हैं। इनमें से पहिली आहुति तो अनुपसाद्य ही डालनो चाहिए। परन्तु जो उत्तराहुति है उसे बैठ कर डालना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'उपसाद्य उत्तराम्' इति।

तात्पर्य यही है कि भोजन का पात्र लाते समय भोक्ता के समक्ष खड़े-खड़े ही रखा जाता है बाद में बैठा जाता है परन्तु दुबारा उसे जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो फिर खड़े होने की जरूरत नहीं, अपितु बैठे ही बैठे अन्य सामग्री परोस दी जाती है। इसी प्रकार दूसरी आहुति बैठे ही डाल देनी चाहिए। अपि च, आहुति डालने के प्रकार में भेद करता हुआ यह यजमान आहुतियों को नानावीर्य्य-युक्त करता है। अपि च, दो प्रकार से आहुति देने का दूसरा कारण यह भी है कि जिस समय यजमान यज्ञ करता है, उसका आत्मा भी इस यज्ञ में सम्मिलित होता है। आत्मा मनोमय, प्राणमय व वाङ्मय है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—'स वा एष आत्मा वाङ्-मयः, प्राणमयः, मनोमय इति।' यज्ञ में जो क्रिया करनी पड़ती है वह यजमान का प्राण-व्यापार है। मन्त्रोच्चारण करना वाग्व्यापार है तथा वाक् बिना मन के नहीं रह सकती, क्योंकि प्राण, वाक् बिना मन के नहीं रह सकते। क्योंकि मन, प्राण, वाक् तीनों परस्पर अविनाभूत हैं। वाक् तभी उच्चारित होती है, जब मन साथ रहता है। मन ही क, च, ट, त, प—इन अक्षरों को यथाक्रम सन्निविष्ट करता हुआ वाक् को बोलने के लिए प्रेरित करता है। यदि मन साथ नहीं है तो वह वाक् विक्षिप्तवाक् कहलाती है। अतः साधारण-तया सिद्धान्त है कि मन व वाक् सदा साथ रहते हैं। इस प्रकार मन, प्राण, वाक् तीनों अविनाभूत हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'सर्वाणि इन्द्रियाणि मनांसि एव। सर्वाणि इन्द्रियाणि प्राणाः एव। सर्वाणि इन्द्रियाणि वाच एव।'

कौषीतकि उपनिषद् प्रकृत में यही बताता है कि मन, प्राण, वाक् तीनों यज्ञ में सम्मिलित रहते हैं तथा इस यज्ञ द्वारा जो एक नया देवात्मा बनता है वह भी मन-प्राण-वाङ्मय ही होता है। यजमान के मन, प्राण, वाक् देवात्मा के मन, प्राण, वाक् से बद्ध रहते हैं। यह जो आहुति दी जाती है, वह मन वाक् के लिए ही दी जाती है। तथापि मन व वाक् पङ्गु हैं। बिना प्राण के न मन का न वाक् का ही व्यापार हो सकता है। अतः प्राण भी इस आहुतिक्रम में सम्मिलित रहता है।

मन और वाक् साथ रहते हुत भी दो वस्तु हैं। यद्यपि दोनों एक से ही मालूम होते हैं तथापि वैज्ञानिक दृष्टि से ये दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। क्योंकि इन दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है, अतः आहुति भी भिन्न-भिन्न प्रकार से डालनी चाहिए। यदि अनुपसाद्य ही आहुति

डाली जायगी तो दोनों आहुतियाँ वाक् के लिए ही हो जायेंगी, और यदि उपसाद्य ही दी जायेगी तो दोनों मन के लिए ही हो जायेंगी। क्योंकि मन के लिए बैठकर मन्त्र बोलते हुए आहुति दी जाती है और वाक् के लिए खड़े हो कर मंत्र बोलते हुए आहुति दी जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'आसीनस्तमाघारयति यं मनसा आधारयति। तिष्ठंस्तं यं वाचे।'

—शतपथ पृ० ३२

इस प्रकार एक प्रकार से ही आहुति देने पर मन या वाक् एक को ही मिलेगी, इसलिए एक आहुति बैठ कर दी जाती है एवं एक खड़े होकर। पहिली आहुति आने के साथ खड़े-खड़े हो दी जाती है तथा दूसरी बैठ कर। ऐसा करता हुआ यजमान मन और वाक् में रूपभेद करता है। दोनों में वैजात्य कर दोनों के लिए आहुति देता है। अग्नि-होत्र एक है परन्तु आहुतियां दो होती हैं। इसलिए मन और वाक् के एक से होने पर भी वे नाना स्वरूपों में परिणत रहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'मनश्च ह वै वाक् चैतेऽआहुती। तन्मनश्चैतद् वाचं च व्यावर्तयति। तस्मादिदं मनश्च वाक् च समानमेव सन्नाना' इति ॥१७॥

यह यजमान दो बार अग्नि में आहुति डालता है। तदनन्तर आहुति दिये बाद जो दूध स्रुचि में शेष रह जाता है—उसे आहुतिक्रम से दो बार ही आहवनीय कुण्ड के पास रखी हुई सुराही में डाल देता है जो कि उपमार्जन कहलाता है। बाद में उसे दो बार कर के चाटता है। एवं इन सब कामों के पहिले उस दूध को स्रुचि में ४ बार करके डालता है। इस प्रकार से ४ उन्नयन, २ आहुति, २ उपमार्जन, २ प्राशन इस सब को मिला कर अग्निहोत्र १० कर्मयुक्त होता है। जो विराट् छन्द है उसमें १० अक्षर होते हैं एवं विराट् ही यज्ञ कहलाता है। प्राकृतिक यज्ञ १० अवयवों में जाकर समाप्त होता है। उसमें १० अवयव रहते हैं अतएव उसे विराट् यज्ञ कहते हैं। चूंकि विराट् यज्ञ का स्वरूप दशावयव हैं, अतएव उसकी सम्पत्ति के लिये वैदिक लोगों ने १० अक्षर का ही छन्द बना कर उसका नाम विराट् रखा है। यज्ञ वायुसमुद्र में चारों तरफ व्याप्त रहता है, इसीलिए—'अयं वै यज्ञो योऽयं पवते' कहा जाता है। उस वायुलहर में अर्थात् वाक्-लहर में व्यापक जो १० भक्तियुक्त विराट् यज्ञ है, वह १० अक्षर युक्त छन्द से पकड़ में आ जाता है। जिस लहर में, उस यज्ञ का संस्थान है उसी उच्चावच लहर के सदृश शब्द बोलना पड़ता है। यदि मन्त्र उस नियत स्वर से जरा भी विच्युत हो जाता है तो उसी समय यज्ञ भ्रष्ट हो जाता है क्योंकि उस वाक् लहर की हमारी वाक् लहर से कड़ी नहीं मिलने पाती। इसीलिए कहा जाता है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

चूंकि प्राकृत विराट्यज्ञ-जिसका कि प्रकृत में विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना होगा। अतः इसका विवेचन न कर पुनः प्रकृत की तरफ आते हैं । यज्ञ में १० अवयव है । अतएव उसको पकड़ने के लिए ऋषियों ने १० अक्षर का छन्द बनाया, जो कि विराट् कहलाता है । जैसे अष्टावयव अग्नि के लिए गायत्री छन्द आठ अक्षर का है, तद्वत् दशावयव विराट यज्ञ को पकड़ने के लिए विराट् छन्द १० अक्षर का है । प्रकृत में हमें केवल इतना ही बतलाना है कि प्राकृतिक विराट्यज्ञ १० अवयवात्मक है। १० भक्ति में विराट् यज्ञ सम्पन्न होता है । चूंकि प्रकृत में भी १० कर्म हो जाते हैं, अतः यह यज्ञ विराट्यज्ञवत् ही हो जाता है । अर्थात् यज्ञसम्पत्ति १० कर्म करने से प्राप्त हो जाती है । क्योंकि प्राकृतिक यज्ञ में १० ही तो अवयव हैं । इस प्रकार से १० कर्म करके अपने यज्ञ को विराट्यज्ञ-सम्पत्ति से अभिनिष्पन्न कर लेता है—

स वै द्विरग्नौ जुहोति । द्विः प्राश्नाति । चतुरुन्नयति । तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति ॥१८॥

वह यजमान जो कि दो बार करके अग्नि में हवन करता है—वह देवताओं में हवन करता है, इसीलिए देवता है अर्थात् इस से देवताओं की सत्ता है। इसके बाद में जो दो बार करके उपमार्जन करता है–वह पितर और ओषधियों में आहुति डालता है । इसी से पितर और ओषधियों की सत्ता है । एवं हवन करके यज्ञोच्छिष्ट को जो आप खाता है, इससे मनुष्यों में आहुति डालता है । इसी आहुति से मनुष्य जीवित हैं ।

संसार के यावन्मात्र पदार्थ अग्निहोत्र से जीवित हैं—यह बतलाया जा चुका है । जहाँ जिस पदार्थ का अग्निहोत्र हुआ, वहीं उसका सर्वनाश हुआ । अग्नि में सोम को आहुति पड़ने का नाम ही अग्निहोत्र है ।

अखिल विश्व में १. देवप्राण, २. पितरप्राण, ३. असुरप्राण, ४. गन्धर्वप्राण, ५. मनुष्यप्राण, ६. पशुप्राण, ७. ऋषिप्राण – ये ७ तरह के प्राण माने जाते हैं । इन सातों में से जो ऋषिप्राण एवं असुरप्राण हैं—वे दोनों ही नित्य हैं, अतः उनका यज्ञ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

देवप्राण-अग्निमय है, पितरप्राण-सोममय है, मनुष्यप्राण अग्नीषोमात्मक है, गन्धर्व प्राण सोमात्मक है, पशुप्राण भी अग्नीषोमात्मक है । इन्हीं प्राणों से अखिल विश्व का निर्माण होता है । सूर्य अग्नि का पिण्ड है । उसमें सोम की आहुति होती रहती है । इसी अग्निहोत्र से—इस अग्नि की सत्ता है । यदि एक क्षण भी आहुति आना बन्द हो जाय तो उसी समय

सूर्य मर जाय। अग्नि को ही देवता कहते हैं। अग्नि की ही निबिड, तरल, विरल—अवस्था भेद से ३३ देवता हो जाते हैं। ये सभी देवता सूर्य में रहते हैं। अर्थात् हर समय इनमें सोम की आहुति होती रहती है। इसी आहुति से वे जीवित हैं—इसी विज्ञान का बतलाने के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'तस्माद्द्वाः सन्ति।' इति। ये सोमप्राण ही पितर और ओषधि रूप में परिणत होते रहते हैं। अर्थात् सोम की दो गति होती है एक ऊपर व दूसरी नीचे को। नीचे का जो सोम पृथिवी की पकड़ में आ जाता है, उसीसे ओषधियों का निर्माण होता है। क्योंकि पृथिवी की अग्नि में जब सोम की आहुति होती है, तब ओषधियों का निर्माण होता है। ऊपर का सोम पितर प्राण कहलाता है। यह पितररूपी सोम-प्राण भी इसी अग्निहोत्रसे ही स्थिर है। क्योंकि आदान विसर्ग की क्रिया को ही यज्ञ कहते हैं। पृथिवी का अग्नि प्रतिक्षण सोम को ग्रहण करता रहता है। साथ ही वह सोम विसर्ग द्वारा निकलता रहता है। २१ तक वितत अग्नि सोम का ग्रहण करता रहता है और वह आहुत सोम अग्नि के रूप में परिणत होता है। साथ ही विसर्ग क्रिया से २१वें अहर्गण से बाहर जाकर वही अग्नि सोमरूप में परिणत हो जाता है। यदि यह आदान विसर्ग क्रिया न होती तो कदापि सोम की स्थिति नहीं रहती। क्योंकि सारा ही सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि बन जाता। परन्तु आदान क्रिया द्वारा जितना सोम अग्नि बन जाता है, उतना ही अग्नि विसर्ग क्रिया द्वारा सोम बन जाता है। इसी आदानविसर्गात्मक क्रिया से अग्नि अर्थात् देवताओं की तथा सोम अर्थात् पितरों की स्थिति रहती है। इस अग्नीषोमात्मक यज्ञ से ओषधियों की भी स्थिति रहती है और उच्छिष्ट से मष्नुयों की स्थिति रहती है। सूर्य यज्ञ से उच्छिष्ट को ही मनुष्य खाते हैं। सूर्य की गर्मी सूर्य से पृथक् हो भूतादि में प्रविष्ट होती है, उसी से अन्न का निर्माण होता है। उसी को मनुष्य खाते हैं। सूर्य का जितना प्राण सूर्य से प्रवृक्त हो जाता है वह यज्ञोच्छिष्ट कहलाता है। उसी गर्मी से उत्पन्न अन्न से एवं गर्मी से मनुष्य शरीर की स्थिति रहती है। प्रतिक्षण मनुष्य की आत्माग्नि में उच्छिष्ट अन्न की आहुति देनी पड़ती है। उसीसे मनुष्य की स्थिति है। तात्पर्य यह है कि इस यज्ञ से ही देवता पितर मनुष्य एवं ओषधियों की सत्ता रहती है। जिसका यज्ञ बंद हो जाता है उसका नाश हो जाता है। प्रकृति यज्ञ में ऐसा हो रहा है अतः 'यद्वै देवाः अकुर्वन् तत्करवाणि' इस सिद्धान्त के अनुसार हम भी अपने अग्निहोत्र में वैसा ही करते हैं। अग्निहोत्र द्वारा एक नवीन दैवात्मा का निर्माण होता है। उसकी स्थिति के लिए यह आहुति देनी पड़ती है। 'जयमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्य.' इस सिद्धान्त के अनुसार देव-पितर मनुष्यादि सारे प्राण हमारे शरीर में रहते हैं। शरीरस्थ देव-पितर-मनुष्यादि प्राणों की स्थिति के लिए प्रकृतियज्ञ काम कर रहा है। परन्तु हम जो दैवात्मा उत्पन्न कर रहे हैं उसके लिए हमें आहुति देनी पड़ती है। उस प्राकृतिक विज्ञान को

बतलाने के लिए ही भगवान् याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—'स यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति। तस्माद्देवाः सन्ति। यदुपमार्ष्टि तत्पितृषु चौषधीसु च जुहोति। तस्मात् पितरश्च ओषधयश्च सन्ति। अथ यद् हुत्वा प्राश्नाति तन्मनुष्येषु जुहोति तस्मान्मनुष्याः सन्ति'।

तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक यज्ञ में पूर्वोक्त आहुतियां हुआ करती हैं एवं उन्हीं आहुतियों से तत्तत् प्राणों की स्थिति रहती हैं। उसीके अनुसार दैवात्मसम्पादन के लिए हमें भी आहुति देनी चाहिए ।।१९।।

यज्ञ में भाग न लेने वाली प्रजाओं का पराभव—

जो प्रजा यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुई वह पराभूत हो गई। यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि और सोम से है। असुर अग्निविरोधी है अतः उनमें यज्ञ नहीं होता। अर्थात् उनका यज्ञ से कोई संबंध नहीं। अग्नि की सत्ता के लिए दियासलाई की आवश्यकता है, परन्तु अन्धकार के लिए नहीं। जहाँ देवता (प्रकाश) नहीं रहते हैं वहाँ अन्धकार स्वयं आ जाता है। अंधकार नित्य व मौलिक तत्व है। देवता यौगिक है अतः उनकी सत्ता के लिए यज्ञ अपेक्षित हैं। जब कुछ न था उस समय भी असुर (अन्धकार) थे। इसी अभिप्राय से—'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'। यह कहा गया हैं।

इसी आधार पर असुरों को देवताओं से बड़ा बतलाया जाता है। क्योंकि असुर यज्ञ के पूर्व की वस्तु है, यज्ञ से बाहर है, नित्य है, अतएव 'या वै प्रजाः यज्ञेऽनन्वाभक्ताः पराभूता वै ताः' यह कहा गया है।

संसार में 'इदमस्ति' यह कहने योग्य देवता, मनुष्य, पितर, पशु हैं। असुर तो कुछ नहीं का नाम ही है। अतः 'पराभूता वै ताः' यह कहा गया है।

एवं जो प्रजा यज्ञ में शामिल होने वाली है—उन्हीं को यज्ञ के मुख में ही भागी बनाते हैं। संवत्सर ही यज्ञ का स्वरूप है, वस्तुतः इसी को यज्ञ कहते हैं। परन्तु संवत्सर—उत्तरायण व दक्षिणायन—इन दो भागों में विभक्त है, अतः चातुर्मास्य से भी पूर्व दर्शपूर्णमासेष्टि करनी पड़ती है। यह अग्नि भी ३० दिनों में विभक्त है, अतः इस अग्नि की सम्पत्ति के लिए अग्निहोत्र करना चाहिए। अतः जब तक अग्निहोत्रादि पूर्व कर्म नहीं कर लिए जाते, तब तक सोमयज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता। चूंकि सोमयज्ञ का प्रारम्भ अग्निहोत्र से ही होता है, अतएव इसे 'यज्ञमुख' कहा गया है। प्राकृतिक अग्निहोत्र में देव-पितर-ओषधि-मनुष्यपशुओं को ही आहुति मिलती है, अतः 'यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि के अनुसार हमें उन्हीं को आहुति देनी पड़ती है।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि—'और सब को तो आहुति दे दी गयी, परन्तु—पशुओं को तो आहुति नहीं दी गयी। इसका उत्तर अनेक आचार्य देते हैं—जो मनुष्यों को आहुति दी

जाती है उससे पशुओं को भी यज्ञ में शामिल समझ लेना चाहिए। तात्पर्य उनका यही है कि—मनुष्य भी तो पांच पशुओं में से एक पशु है। अतः इसको देने से अन्य पशुओं को भी मिल जाती है ॥२०॥

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि—मनुष्यत्व पशुत्व की व्याप्य जाति है एवं पशुत्व व्यापक जाति है। अतः मनुष्य से सारे पशुओं का ग्रहण नहीं हो सकता। हाँ—पशु के लिए होती है—यह कह देते तो व्यापक पशु जाति से व्याप्य मनुष्य पशु का भी ग्रहण हो जाता। परन्तु मनुष्य से सारे पशुओं का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिए—इसके लिए कोई दूसरा ही उपाय निकालना चाहिए।

वही उपाय बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—यह जो अग्निहोत्र यज्ञ है—उसे अन्य सोमयज्ञादि की तरह नहीं मानना चाहिए। वस्तुतस्तु सोमयज्ञ का यह मुख है, अतः वितानयज्ञ ही है। परन्तु यह घर में भी हो सकता है। इसी अभिप्राय से—'यज्ञ इव' यह कह दिया है। अर्थात् यह यज्ञ का अङ्ग ही है, यज्ञ नहीं। यह यज्ञ पाकयज्ञ की तरह है, क्योंकि यह वितानयज्ञ का अङ्ग है अतः सर्वथा पाकयज्ञ भी नहीं हो सकता। इसीलिए—'पाकयज्ञ इव' यह कहा गया है। अग्निहोत्र के अतिरिक्त अन्य यज्ञ में स्रुक् में जितना भी हव्य लिया जाता है वह सब अग्नि में डाल दिया जाता है, परन्तु अग्निहोत्र में यह बात नहीं। यहाँ आहुति के अनन्तर कुछ बचा लेते हैं, एवं आहवनीय से हटकर उसे चाटते हैं। उसका यह कर्म (चाटना) पाकयज्ञ के सदृश ही हो जाता है। क्योंकि पाकयज्ञ में इडाप्राशन किया जाता है। इडा पशु है। उस इडाप्राशन को पाकयज्ञ कहते हैं। प्रकृति-यज्ञ में भी प्राशन होता है, अतः यह प्राशन भी एक प्रकार से इडाप्राशन ही है। इडा पशु है उसका प्राशन पशव्य कहलाता है, ऐसा करने से सारे पशुओं का ग्रहण हो जायेगा' ॥२१॥

पूर्व प्रकरण में बतलाया गया है कि जो प्रजा यज्ञ से अनन्वाभक्त हो गई उसे यज्ञ में शामिल नहीं किया गया अर्थात् उसके लिए अग्निहोत्र में आहुति नहीं दी जाती। तथा जो प्रजा यज्ञ में सम्मिलित करली गई—उन देवता, पितर, मनुष्य, पशु, ओषधि के लिए अग्निहोत्र में आहुति दी जाती है। प्राकृतिक अग्नीषोमात्मक यज्ञ में देवता, पितर, मनुष्य, ओषधि एवं पशुओं के लिए आहुति पड़ती रहती है, अर्थात् उनका अग्निहोत्र जारी रहता है। उसी से देवता, पितर आदि की स्थिति है। असुर अग्निविरोधी है, यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि से है अतः आसुर प्रजा यज्ञ से अनन्वाभक्त मानी जाती है। उस प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति पर हमारा यह अग्निहोत्र है। उस (प्राकृतिक) अग्निहोत्र से जैसे देवादि का निर्माण होता है वैसे इस अग्निहोत्र से दैवात्मा का निर्माण किया जाता है। प्रजनन क्रिया में प्रकृति में जैसा आहुतिक्रम है, उसी के समान इस यज्ञ में रहता है।

प्रकृति में दो आहुतियों से सारा संसार उत्पन्न होता है, जैसा कि आगे बतलाया जाएगा, अतएव इस यज्ञ में भी दो ही आहुतियाँ दी जाती हैं। सूर्य में सोमाहुति से देवताओं की (अग्नि की) स्थिति रहती है, अतः तत्स्थानीय आहवनीय में भी यहाँ आहुति डाली जाती है। एवं पार्थिव अग्नि में सोमाहुति से ओषधियाँ एवं अन्नाद पितरों की स्थिति रहती है, इसलिए दो आहुति पृथिवी पर डाली जाती हैं। उस यज्ञ के प्रवर्ग्य भाग से जो कि उच्छिष्ट कहलाता है, पशुओं की व हमारी स्थिति रहती है, अतः तदनुसार ही इस वैध यज्ञ में यज्ञोच्छिष्ट का हमें प्राशन करना पड़ता है। 'यदेवेदह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह' का सम्यक्तया हमें परिपालन करना पड़ता है। लक्ष्य रहता है प्राकृतिक विज्ञान पर और कर्म किया जाता है दैवात्मप्रजनन के लिए। इसी तत्व को बतलाने के लिए हमारी आहुति से प्राकृतिक यज्ञ की तुलना की जाती है। न हमारी आहवनीयाहुति से देवता जीवित रहते हैं, न हमारे द्वारा पृथिवी पर दी जाने वाली दो आहुतियों से पितर व ओषधियों की सत्ता है, न हमारे प्राशन से मनुष्य और पशु जीवित रहते हैं। उन सबकी स्थिति तो प्राकृतिक यज्ञ से ही है। तथापि, उस रहस्य को बतलाने के लिए—'यदग्नौ जुहोति तद्देवेषु जुहोति, तस्माद्देवाः सन्ति।' यह कह दिया जाता है। हमारा सारा कर्म दैवात्मसंस्कार के लिए है, प्रकृति यज्ञ के अनुसार है इस बात को बतलाने के लिए प्राकृतिक और वैध दोनों यज्ञों को मिलाकर—"यज्ञेतिकर्त्तव्यता" बतलाई जाती है। प्रसङ्गवशात् यज्ञसम्बन्धी कुछ विवेचन कर प्रकृत का अनुसरण किया जाता है। पहिले बतलाया है कि अग्निहोत्र में पूर्व व उत्तर दो आहुतियाँ दी जाती हैं। उसकी उपपत्ति निम्नाङ्कित है—भगवान् प्रजापति (प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति) पहिले एकाकी थे। उन्होंने सर्वप्रथम अन्नादरूप अग्नि को पैदा किया। उस अन्नाद अग्नि से अपने आपको बचाने के लिए उन्होंने उसमें आहुति डाली। उस आहुति से अग्नि, वायु, सूर्य—ये तीन देवता उत्पन्न हुए। ये तीनों ही प्रजापति से बद्ध हैं। अर्थात् इन तीनों की स्थिति केन्द्रस्थ अनिरुक्त प्रजापति के बिना नहीं हो सकती। उन तीनों देवताओं ने विचारा कि—हम भी कोई ऐसी नवीन वस्तु पैदा करें जो हमसे कभी पृथक् नहीं हो सके, जैसे हम प्रजापति से पृथक् नहीं हो सकते। यह विचार कर उन्होंने दूसरी आहुति दी। उस आहुति से १००० गो प्राण उत्पन्न हुए, जो कि किरणों के आधार पर स्थित हैं। इन्हीं से सारा संसार बन गया। तीसरी आहुति की आवश्यकता ही नहीं रही। यह सब कैसे हुआ ? इत्यादि विषयों का विवेचन सृष्टिब्राह्मण में विशद रूप से कर दिया गया है। प्रकृत में इतना ही बतलाना है कि सृष्टि के प्रारम्भ से उसके निर्माणपर्यन्त कुल दो आहुतियाँ अग्नि में दी गईं। वे ही दो आहुतियाँ आज भी दी जाती हैं। एक आहुति प्रजापति ने दी, दूसरी अग्नि-वायु-सूर्य ने। अखिल विश्व इन दो आहुतियों से ही अभिव्याप्त है।—"यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि" इस सिद्धान्त के अनुसार

प्रकृति में देवता दो ही आहुतियाँ देते हैं, इसलिए इस अग्निहोत्र में भी यजमान दो ही आहुति डालता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

सृष्टि के पहिले जिस आहुति को प्रजापति ने अहुत की थी, हमारे इस अग्निहोत्र में जो पहिले आहुति दी जाती है वह वही है अर्थात् तत्स्थानापन्न है। तत्पश्चात् अग्नि, वायु, आदित्य ने प्रकृतियज्ञ में जो दूसरी आहुति दी उसकी प्रतिकृति पर इस अग्निहोत्र में दूसरी आहुति डाली जातो है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

'सैषैकाहुतिरेवाग्रे यामेवामूं प्रजापतिरजुहोत्। अथ यदेतऽएतत् पश्चेवाघ्रियन्त—अग्निः, योऽयं पवते, सूर्यः। तस्मादेषा द्वितीयाऽऽहुतिर्हूयते' ॥२२॥

आहुतिद्वय की द्वितीय उपपत्ति—

दो आहुति देने की दूसरी उपपत्ति यह है कि देवता सत्य-संहित कहलाते हैं और मनुष्य अनृतसंहित। जैसा कि श्रुति बतलाती है—'सत्यसंहिता वै देवा: अनृसंहिता मनुष्याः'। मनुष्य से कभी त्रुटि न हो— यह सर्वथा असंभव है। त्रुटि करना मनुष्य का स्वभाव है। प्रकृत में जो अग्निहोत्र किया जा रहा है एवं उसमें जो देवताओं के लिए आहुति दी जा रही है—इन कार्यों को पर्याप्त ध्यान से करने पर भी उसमें त्रुटि की सम्भावना रहती ही है। संभव है उस एक आहुति से अग्नि कृत्स्नतया तृप्त न हो और उससे यज्ञ भ्रष्ट हो जाय। इस दुरिष्ट को स्विष्ट बनाने के लिए अर्थात् मनुष्यसुलभ त्रुटि को क्षमा कराने के लिए दूसरी आहुति और डाल दी जाती है। दो आहुतियां देने का यही कारण है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि जो यह पूर्वाहुति है वह अग्निहोत्र का जो प्रधान देवता है उसके लिए दी जाती है। तथा जो दूसरी आहूति है वह स्विष्टकृत् देवता के लिए दी जाती है। बिगड़े हुए को सुधारना यह बाद का काम है क्योंकि पहिले बिगड़ता है तभी तो उसे सुधारा जाता है। इसलिए स्विष्टकृत् के लिए उत्तरार्ध (बाद) में ही आहुति दी जाती है। क्योंकि स्विष्टकृत् को आहुति देने का यही तो अवसर है (दिक्) है। इसी अभिप्राय से कहा है—

'सा या पूर्वाहुतिः साऽग्निहोत्रस्य देवता तस्मात्तस्यै जुहोति। अथ योत्तरा स्विष्टकृद्यजनमेव सा, तस्मादुत्तरार्धे जुहोति। एषा हि दिक् (अवसरः) स्विष्टकृतः॥ इति।'

तृतीय उपपत्ति—

संसार की जितनी भी प्रजननक्रियाएँ हैं उनमें द्वन्द्व अपेक्षित है। बिना दो के मेल के तीसरी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रकृत में इस अग्निहोत्र के द्वारा नवीन देवात्मा उत्पन्न करना है, इसके लिए मिथुनीभाव की सम्पत्ति के लिए दो आहुतियाँ डालनी पड़ती हैं। यदि एक ही आहुति डाली जायगी तो यज्ञ में मिथुनभाव का प्रवेश नहीं होगा,

तथा दैवात्मा का प्रजनन नहीं होगा जिसके लिए सारा प्रपञ्च किया जाता है। इसीलिए मिथुनसम्पत्त्यर्थं दो आहुतियां दी जाती हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'मिथुनमेवैषा द्वितीयाहुतिर्हूयते। द्वन्द्वं हि मिथुनं प्रजननम्।' इति।

चतुर्थ उपपत्ति—

दो आहुति डालने का चतुर्थ कारण यह है कि ये जो दो आहुतियाँ दी जाती हैं—वे भूत व भविष्यत् दो भावों में ही विभक्त हैं। अर्थात् अखिल विश्व में दो ही भाव हैं अतः आहुतियाँ भी दो ही दी जाती हैं। वर्तमान कोई वस्तु नहीं है। वर्तमान का ही पूर्व क्षण भूत है एवं उत्तर क्षण भविष्यत्। इस भूत और भविष्यत् की धारा को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। अपि च, उत्पन्न होने वाला इन दो को छोड़ कर कोई तीसरी वस्तु नहीं है। किञ्च प्राप्त और प्राप्तव्य को छोड़ कर और कुछ नहीं है। इन दो भावों से ही सारा विश्व व्याप्त है। मिट्टी और खाद भूत, उत्पन्न तथा प्राप्त है एवं उससे उत्पन्न होने वाला अन्न भविष्यत्, जनिष्यमाण एवं आशा ह। अन्न-भूत, जात तथा आगत है एवं रोटी भविष्यत्, जनिष्यमाण तथा आशा है। अन्न—भूत, जात तथा आगत है, उदरस्थ भुक्त रोटी-भविष्यत्-जनिष्यमाण एवं आशा है। मल—भूत, जात तथा आगत है; खाद-भविष्यत्, जनिष्यमाण तथा आशा है। पिता—भूत, जात, आगत है। पुत्र—भविष्यत्, जनिष्यमाण तथा आशा है। आत्मा-भूत, जात तथा आगत है, प्रजा--भविष्यत्, जनिष्यमाण तथा आशा है। तात्पर्य यह है कि इन्हीं दो भावों से सारा विश्व व्याप्त है। प्रतिक्षण दो आहुतियाँ होती रहती हैं। पहिली आहुति भूतस्थानापन्न है तथा दूसरी आहुति भविष्यत्स्थानापन्न है। प्रजापति की आहुति भूत है, देवताओं की आहुति भविष्यत्। इन दो आहुतियों से ही प्रजननक्रिया व्याप्त है। यहाँ भी दैवात्मप्रजनन करना है, अतः दो ही आहुतियाँ दी जाती हैं ॥२४॥

उपर्युक्त तथ्य का ही स्पष्टीकरण करते हैं कि आत्मा ही भूत, जात व आगत है और प्रजा भविष्यत्स्थानीय हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु ही भूत कहलाती है और अप्रत्यक्ष भविष्यत्। प्रजा आत्मा की अपेक्षा अप्रत्यक्ष है, अतएव भविष्यत् है ॥२५॥

आत्मा ही जात (उत्पन्न) है। जो अद्धा (प्रत्यक्ष) होता है वही उत्पन्न कहलाता है और आत्मा प्रत्यक्ष है, अतएव वह जात है। तथा प्रजा जनिष्यमाण है क्योंकि जो अनद्धा (अप्रत्यक्ष) होती हैं वही जनिष्यमाण कहलाती है। प्रजा आत्मापेक्षया अनद्धा है, अतएव जनिष्यमाण है ॥२६॥

आत्मा ही प्राप्त है। जो प्रत्यक्ष होता है उसी के लिए प्राप्त कहा जाता है। आत्मा

प्रत्यक्ष है अर्थात् हमारे पास आया हुआ है अतः वह आगत है। एवं प्रजा आशा है। जो अनद्धा वस्तु है वही आशा की कोटि में आती है। क्योंकि प्रजा अनद्धा है अतएव वह आशा है। आत्मा ही आज के स्थान में है। जो वस्तु प्रत्यक्ष है, समक्ष है वही आज कहलाने के योग्य है। आत्मा क्योंकि अद्धा है अतः वह अद्यस्थानापन्न है और जो परोक्ष हैं उसीके लिए श्वः कहा जाता है। प्रजा आत्मापेक्षया परोक्ष है अतः वह श्वःस्थानीय है ॥२८॥

आत्मा व प्रजा ये दो ही तत्व संसार में हैं। प्रजापति आत्मा है देवता प्रजा है। हम आत्मा है, शरीरपुत्रादि हमारी प्रजा है। प्रकृतिमण्डल में आत्मा व प्रजा की आहुति का क्रम अनवरत चलता रहता है। वही प्रजननक्रिया हमें अग्निहोत्र में भी करनी है, अतः आत्मा व प्रजा दोनों के लिए दो ही आहुतियां दी जाती हैं। पूर्वाहुति आत्मा के लिए दी जाती है। इस पूर्वाहुति का हवन मन्त्र से किया जाता है। आत्मा– प्रत्यक्ष है, भूत है, जात है, आगत है, और मन्त्र भी भूत है अर्थात् प्रत्यक्ष है। अतः प्रत्यक्ष मन्त्र से प्रत्यक्ष आत्मा के लिए आहुति दी जाती है। उत्तराहुति बिना मन्त्र के ही चुपचाप दी जाती है। जो तूष्णीम् है वही एक प्रकार से अनद्धा (परोक्ष) है। प्रजा अपरोक्ष है, अतः उसके लिए अपरोक्षभाव तूष्णीम् (बिना मंत्र से) ही आहुति दी जाती है ॥२९॥

॥ इति अग्निहोत्रोपपत्तिप्रकरणम् ॥

अथातो आवृत् (पद्धति)

उपपत्ति बतलाने के बाद अब अग्निहोत्र की पद्धति बतलाई जाती है कि – यजमान "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहा" इस मन्त्र से प्रातःकाल आहुति देता है। ऐसा करता हुआ वह सत्य से ही आहुति देता है क्योंकि जिस समय सूर्य अस्त हो जाता है उस समय समय अग्नि ही ज्योति रहती है तथा जिस समय सूर्योदय होता है उस समय सूर्य ही ज्योति रहती है। सायङ्काल सूर्य लोकान्तर में चला जाता है अर्थात् अग्नि के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। तथा प्रातःकाल अग्नि लोकान्तरित हो जाता है अर्थात् सूर्य के गर्भ में चला जाता है। रात्रि में सूर्य का अभिभव हो जाता है, और दिन में अग्नि का। यह प्रकृति की सत्य एवं नित्य व्यवस्था है। जो सत्य के द्वारा हवन किया जाता है वही देवताओं को मिलता है। सायङ्काल यदि यह कहा जाय कि—'सूर्यो ज्योतिः-ज्योतिःसूर्यः स्वाहा" तो यह कहना व्यर्थ होगा, क्योंकि उस समय सूर्य का रुख हमारी ओर नहीं है। प्रातःकाल अग्नि का रुख हमारी ओर नहीं है, अतः उस समय—"अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः स्वाहा" कहना व्यर्थ है।

पानी जा रहा है उधर, बर्तन का मुंह किया इधर, तो कैसे पानी उस लोटे के मुंह

में आ सकता है, उधर ही लोटे का (मन का) रुख रखना चाहिए जिधर से पानी का (देवता का) स्रोत आता हो। चूंकि सायंकाल अग्नि हमारी ओर रहता है, अतः उस समय "अग्निर्ज्योतिः" यही कहकर आहुति डालनी चाहिए। प्रातःकाल चूंकि सूर्य हमारी ओर रहता है, अतः उस समय "सूर्यो ज्योतिः स्वाहा" यह कहकर ही आहुति डालनी चाहिए। ऐसा करने से यह आहुति देवताओं में चली जाती है।

अग्नि ज्योतिःस्वरूप है एवं ज्योति ही अग्नि है। सूर्य ज्योतिःस्वरूप है एवं ज्योति ही सूर्य है। यही उसके लिए स्वाहा है। अर्थात् यह 'हे अग्ने !' एवं 'हे सूर्य !' आपके लिए दिया जाता है। यही इस मन्त्र का अर्थ है। "अग्निर्ज्योतिः"– यहाँ अग्नि उद्देश्य है एवं ज्योति विधेय है एवं "ज्योतिरग्निः"—यहाँ ज्योति उद्देश्य है और अग्नि विधेय है। इसी प्रकार "सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः"—में भी समझना चाहिए। पुनरुक्तिदोषनिवृत्त्यर्थं ही– यह उद्देश्य विधेय का परिवर्तन किया गया है ॥३०॥

दिन में अग्नि लोकान्तर में चला जाता है एवं रात्रि में सूर्य, अतएव रात्रि में अग्नि का प्रकाश दीख जाता है, धुंआ नहीं दीखता एवं दिन में धुँआ ही दीखता है लौ नहीं दीखती। अतएव "तस्माद्धूम एव दिवा ददृशे नार्चिः। रात्री अर्चिरेव ददृशे न धूमः"—यह कहा जाता है। इस प्रकार के सैंकड़ों स्थानों पर श्रुति में लोकान्तरगमन की व्यवस्था की गयी है। मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी इन वाक्यों को अर्थवादपरक लगाते हैं। उनका कहना है कि वस्तुतः न दिन में अग्नि लोकान्तर में जाता है एवं न रात्रि में सूर्य लोकान्तर में जाता है क्योंकि हम देखते हैं कि जो चांदनी रात्रि में दिखलाई पड़ती थी, वह दिन में चन्द्रमा के दीखने पर भी नहीं दिखलाई पड़ती है। इससे यही मालूम होता है कि सूर्य के प्रकाश से चाँदनी का अभिभवमात्र हो जाता है, न कि चाँदनी लोकान्तर में चली जाती है। इसी प्रकार अग्नि यहीं रहता है, केवल उसके प्रकाश का सौर प्रकाश से अभिभव हो जाता है। अतः "अग्नि लोकान्तर में चला जाता है"—ऐसे-ऐसे जो श्रुतिवाक्य हैं, उन्हें अर्थवादपरक समझना चाहिए। अर्थात् अग्नि की प्रशंसामात्र है न कि वस्तुस्थितिमात्र। वास्तव में अग्नि लोकान्तर में चला जाता है, यह बात नहीं समझनी चाहिए। अर्थवाद का यही तात्पर्य शबरस्वामी ने समझा है एवं यही सारे मीमांसक समझते आये हैं।

इन्हें अर्थवाद मानने की आवश्यकता क्या आ पड़ी ? इस प्रसंग में बौद्धों ने, चार्वाकों ने, ऐसे-ऐसे अनन्त वाक्य देकर वेद में अप्रामाण्य स्थापन करने की चेष्टा की। उन्होंने कहा कि—भला, जिस अग्नि का प्रत्यक्ष हम दिन में कर रहे हैं—उसे जो श्रुति लोकान्तर में गया हुआ बतलाती है—वह कैसे प्रमाण हो सकती है ? एवं जिस श्रुति में एक ही बात को पचास बार कहा जाता है, ऐसी पुनरुक्तिदोषाक्रान्त श्रुति कैसे प्रमाणभूत मानी जा सकती है ? एवं जहाँ शाखाभेद से परस्पर सर्वथा वैमत्य है जैसे—कोई उदितहोमी

है, कोई अनुदितहोमी है—भला, ऐसे परस्पर व्याघातवाली श्रुति प्रमाण कैसे मानी जा सकती हैं ? इस प्रकार अप्रमाण, पुनरुक्ति, व्याघात—इन तीनों दोषों को बतलाकर बौद्धों ने अप्रामाण्यवाद की स्थापना करनी चाही थी । जैसा कि भगवान् जैमिनि कहते हैं—"तदप्रमाणमनृतव्याघातपुनरुक्तिदोषेभ्यः ।"

इन दोषों का निराकरण कर, भगवान् जैमिनि ने वेद के प्रामाण्य की स्थापना की । भगवान् जैमिनिप्रणीत सूत्रों का भाष्य शबरस्वामी ने किया । उन्होंने—अग्नि लोकान्तर में चला गया—इत्यादि अप्रामाण्यबोधक वाक्यों को अर्थवादपरक बतला कर बौद्धों से पीछा छुड़ाया । उन्होंने (बौद्धों ने) अर्थवाद का अर्थ समझा प्ररोचनामात्र, प्रशंसामात्र । परन्तु हमारे विचार से अर्थवाद का प्ररोचना अर्थ करना वेद को वास्तव में सार-शून्य बनाना है । वेद उपन्यास नहीं है, जिसमें कि प्ररोचना हो । एक भी अक्षर श्रुति का तत्व से खाली नहीं है । हमारे विचार से अर्थवाद का तात्पर्य वस्तुतत्त्वकथन है । अग्नि लोकान्तर में चला जाता है, इस विज्ञान को न समझने के कारण शबरस्वामी ने उसका प्ररोचना अर्थ कर डाला । यदि उसका विज्ञान समझ लिया होता तो अर्थवाद का प्ररोचना किं वा प्रशंसा अर्थ न किया होता । अस्तु, हम ज्यादा कुछ नहीं कहेंगे । हमें केवल इतना ही कहना है कि लोकान्तर नाम है अवस्थान्तर का । भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं ये सातों लोक प्रत्येक पदार्थ में रहते हैं । संसार के यावन्मात्र पदार्थों में जो एक प्रतिष्ठा दिखलाई पड़ रही है, उस प्रतिष्ठा को ही—उस आलम्बन को ही सत्य मानना चाहिए । उसी आलम्बन पर क्रमशः—तपः, जनः, महः, स्वः, भुवः और भूः इनका चुनाव समझना चाहिए । इन छहों के चुनाव से छहों लोकों के पदार्थों से वस्तुस्वरूप बनता है । जब काष्ठ को जलाया जाता है तो सर्वप्रथम उसका भूः स्थान निकलता है, पश्चात् जलते-जलते काष्ठ सत्यरूप में अवशिष्ट रह जाता है, जो कि सफेद भस्म है, वही सत्य का स्वरूप है । इस विषय में अधिक कहना प्रकृत से दूर जाना है—अतः एक बात और कह प्रकृत विषय को समाप्त करते हैं ।

सम्पूर्ण वेद में तीन सीगे हैं—१. ज्ञानवाद, २. क्रियावाद (विधिवाद) और ३. अर्थवाद । 'इदं कुरु' 'इदं कुरु' इत्यादि जो वाक्य हैं वे तो क्रियावाद के अन्तर्गत हैं एवं उपदेश का सीगा ज्ञानवाद के अन्तर्गत है एवं वस्तुतत्व कथन का सीगा अर्थवाद के अन्तर्गत है ।

अतः—

	उपदेशः	=	ज्ञानवादः
	इतिकर्तव्यता	=	विधिवादः
	वस्तुतत्त्वकथनम्	=	अर्थवादः

ये तीन ही भाग वेद में रहते हैं, इनमें से अर्थवाद का अर्थ शबर स्वामी के मतानुसार प्ररोचना नहीं है, अपितु वस्तुतत्त्वकथन है ।

प्रसङ्गागत अर्थवाद का अर्थ बतला कर अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं । हमने बतलाया कि—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा', 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' मन्त्रों से सदा आहुति देनी चाहिए । जिस मनुष्य को किसी की कामना नहीं है, उसे इन्हीं मन्त्रों से आहुति देनी चाहिए । परन्तु यदि कोई कामना से अग्निहोत्र करे तो उस मन्त्र में उस कामना का भी निवेश करना पड़ेगा ।

उपवेश के पोते एवं अरुण के पुत्र उद्दालक जो कि श्वेतकेतु के पिता थे एवं जो आरुणि नाम से प्रसिद्ध थे—एक समय अपने को ब्रह्मवर्चस्वी बनाने की इच्छा से महर्षि तक्षा के पास गये । ब्रह्मवर्चस् कामना के लिए आये हुए उद्दालक के लिए तक्षा ने—'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा', 'सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा' इसी मन्त्र का उपदेश किया । उन्होंने कहा कि यदि तुम्हें वर्चस्वी बनना है तो इसी मन्त्र से अग्निहोत्र किया करो । अतः तक्षा के कथनानुसार पूर्वोक्त मन्त्र से अग्निहोत्र करके उद्दालक वर्चस्वी हो गये । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो विद्वान् इस रहस्य को जानता हुआ, 'अग्निर्वर्चः' इत्यादि मंत्र से अग्निहोत्र करता है, वह ब्रह्मवर्चस्वी हो जाता है ।

जिसको ब्रह्मवर्चस्वी बनना हो वह—"अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः"—इस मन्त्र से आहुति डालें । काम्यकर्म बतला कर अब पुनः — "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः"— इस पूर्वोक्त मन्त्र के विषय में प्रजननफल बतलाते हैं ।

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा"— यह वास्तव में प्रजनन का स्वरूप ही है अर्थात् जिस दैवात्मप्रजनन के लिए अग्निहोत्र किया जाता है, उस दैवात्मा का प्रजनन तो "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" इसी मंत्र से होता है । "अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः"—इस मंत्र से ब्रह्मवर्चस्वी अवश्य हो जाता है परन्तु दैवात्मप्रजनन इससे नहीं होता । क्योंकि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" इसीसे प्रजनन का स्वरूप बनता है, इसका कारण बतलाते हैं ।

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" इस मन्त्र से यजमान दोनों ओर से देवता द्वारा उस ज्योतिर्मय रेत को पकड़ लेता है । चूंकि दोनों तरफ से देवता से गृहीत वीर्य ही उत्पन्न होता है । अतः उभयतः देवता का सम्बन्ध कर प्रजननक्रिया जाता है । संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे सभी पार्थिव प्राण और सौर प्राण से उत्पन्न होते हैं । पहिले वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है, अन्न को जब पुरुष खाता है तो वह वीर्यरूप में परिणत हो जाता है । उस वीर्य में—जो भौतिक पदार्थ देवता है, जिसे कि वैदिक महर्षि प्राण शब्द से कहा करते

हैं, प्रवेश होता है। उस वीर्य में—पार्थिव देवता अर्थात् पार्थिवप्राण और सौरप्राण का प्रवेश होता है। जब तक वीर्य में प्राण का प्रवेश नहीं होता है, तब तक उसमें भ्रूण ही उत्पन्न नहीं होता है। जब तक भ्रूण उत्पन्न नहीं होता है तब तक वीर्य प्रजननक्रिया में सर्वथा बेकाम रहता है। भ्रूण एक प्रकार का कीट है, जो कि बिना पार्थिवप्राण और सौरप्राण के उत्पन्न नहीं होता। स्त्री में वीर्य की प्रतिष्ठा—वीर्य की स्थिति इसी भ्रूण द्वारा होती है। यही भ्रूण उत्पत्ति का कारण है जिसमें कि पार्थिवप्राण और सौरप्राण शामिल रहता है। पार्थिवप्राण के हिस्से से प्रज्ञानात्मा बनता है, जो कि आलोमभ्य: आनखाग्रेभ्य: व्याप्त रहता है। एवं सौरप्राण से विज्ञानात्मा बनता है जो कि शिरोगुहा में रहता है। प्रज्ञान और विज्ञान ये दो ही आत्मा के असली स्वरूप हैं। ये दोनों परस्पर अविनाभूत रहते हैं। इसीलिए—'प्रज्ञानात्मा विज्ञानात्मना संपरिष्वक्तो गच्छति' कहा जाता है।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि वीर्य जब तक पार्थिवप्राण और सौरप्राण से—दोनों ओर से गिरफ्त नहीं हो जाता है, तब तक उसमें प्रजननसामर्थ्य नहीं आती है। जब दोनों ओर से वह देवताओं से (पार्थिवप्राण और सौरप्राण से) प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी वह प्रजननक्रिया में समर्थ होता है। इस प्रकार से प्राकृतिक प्रजननक्रिया में उभयत: देववेष्टन की आवश्यकता होती है। चूंकि हमें भी दैवात्मप्रजनन करना है, प्रजनन उभयत: प्राणवेष्टन के बिना हो नहीं सकता, अतएव ज्योति:स्वरूप वीर्य के दोनों ओर देवप्राण का वेष्टन किया जाता है। दैवात्मा का निर्माण ज्योति से होता है, इसका उपादान ज्योति ही है। अत: प्रकृत में दैवप्रजनन-क्रिया ज्योति से ही बतलायी गयी है। इसी देवप्राण के सम्बन्ध के लिए—'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि: स्वाहा', सूर्यो ज्योतिर्ज्योति: सूर्य: स्वाहा' कहा जाता है। ऐसा कहने से ज्योतिर्वीर्य दोनों प्राणों के संदंशपतित हो जाता है। इस प्रकार प्रजननक्रिया इसी मन्त्र से होती है, न कि 'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्च:' इससे। क्योंकि इससे ज्योति देवताओं से उभयत: वेष्टित नहीं होती है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'तद्वस्त्येव प्रजननस्य रूपं अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि स्वाहा' इति तदुभयतो ज्योतीरेतो देवतया परिगृह्णाति ॥३२॥

जो अनुदितहोमी हैं, उन्हीं के लिए यह प्रजननक्रिया सम्यक्तया हो सकती है क्योंकि जब सूर्यास्त होने पर आहुति दी जाती है तब अग्नि में प्रविष्ट सूर्य के लिए ही दी जाती है। ऐसी स्थिति में इस ज्योतिर्वीर्य में पार्थिव और सौर दोनों प्राण प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अनुदित में होम करने से 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नि: स्वाहा' इस मंत्र से आहुति देने से ज्योति दोनों प्राणों से युक्त होकर प्रजनन में समर्थ हो जाती है। एवं प्रात:काल अनुदित में ही 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योति: सूर्य: स्वाहा' इस मंत्र से आहुति दी जाती है। यहाँ पर भी ये दोनों प्राण मिश्रित रहते हैं। सूर्य का उदय नहीं हुआ है और वह पृथ्वी की अग्नि में

ही प्रविष्ट है। इससे सौरप्राण की सत्ता हो जाती है तथा अग्नि तो है ही। इस प्रकार से अनुदित में सायं एवं प्रातः क्रमशः 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्नः स्वाहा' तथा 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इन मन्त्रों से आहुति देने से प्रजनन-क्रिया सम्यक् सम्पन्न हो जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

अथः प्रातः सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा। तदुभयतो ज्योतीरेतो देवतया परिगृह्णाति। उभयतः परिगृहीतं वै रेतः प्रजायते। तदुभयत एवैतत् परिगृह्य प्रजनयति तत् प्रजननस्य रूपम् ॥इति॥

अर्थात् प्रातःकाल भी 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः' इससे आहुति देते हैं। ऐसा करता हुआ देवता से ज्योतिःस्वरूप रेत को दोनों तरफ से ग्रहण कर लेता है। उभयतः परिगृहीत वीर्य ही उत्पादन का कारण है। इसलिए 'सूर्यो ज्योतिः' इत्यादि मन्त्र से ज्योतिर्वीर्य को उभयतः गृहीत करके अर्थात् पार्थिव और सौरप्राणों का प्रवेश करके दैवात्मा का प्रजनन करता है। इसलिए कहा गया है कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य' यही प्रजनन का स्वरूप है ॥३३॥

जिस समय भारतवर्ष में त्रैलोक्य-व्यवस्था थी, देवसाम्राज्य था, उस समय विज्ञानान्वेषण के लिए ऋषियों की विज्ञानशालाएँ बनी हुई थीं। भिन्न भिन्न विज्ञानशालाओं में भिन्न भिन्न तत्वों की परीक्षा होती थी। इन विज्ञानशालाओं को 'ब्रह्मपरिषद्' कहा जाता था। इन ब्रह्मपरिषदों के एक-एक मुख्याधिष्ठाता होते थे, जो परिषद्ब्रह्मा नाम से कहे जाते थे। उस स्वर्गीय व्यवस्था के समय बारह ब्रह्मपरिषद् थीं। इनमें से आठ भारतवर्ष में तथा चार स्वर्ग में थीं। भृगु, अङ्गिरा, उद्दालक, प्रवाहण, याज्ञवल्क्य आदि आठ महर्षि भारतवर्षीय पारिषदब्रह्मा थे। भृगु की ब्रह्मपरिषद् ईरान (वाल्हीक-बलख) में थी। अङ्गिरा की लाहौर के कुछ ऊपर थी। उद्दालक की सरयू नदी के पास बहने वाली देविका नदी के पास थी। प्रवाहण की कन्नोज में थी। याज्ञवल्क्य की मिथिला में थी। अवशिष्ट तीन परिषदें पञ्जाब, काठियावाड़ एवं केकय देश में थीं। इन आठों में भृगु, अङ्गिरा, उद्दालक, प्रवाहण इन चारों की ब्रह्मपरिषदें अत्यन्त उन्नति के शिखर पर थीं। उद्दालक ब्राह्मण व प्रवाहण क्षत्रिय थे तथा कश्यप, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह इन चारों को ब्रह्मपरिषदें स्वर्ग में थीं। इन चारों में कश्यप और अत्रि बहुत बढ़े-चढ़े थे। पुलस्त्य और पुलह का असुरों से सम्बन्ध था। अतः इन दोनों को देवपंक्ति से बाहर कर दिया था। इस प्रकार उपर्युक्त दस ब्रह्मा उसी युग के महान् वैज्ञानिक माने जाते थे। इसी अभिप्राय से पुराणों में कहा है—

'दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।' इति।

प्रकृत में यही बतलाना है कि प्रवाहण और उद्दालक की ब्रह्मपरिषद् में सदा शास्त्रार्थ

चलता रहता था। वे एक दूसरे को परास्त करने का भी भागीरथ प्रयत्न करते थे। उपवेश के पुत्र अरुण, अरुण के उद्दालक, उद्दालक के श्वेतकेतु थे। इन चारों में उपवेश को छोड़कर तीनों महामहर्षि थे। उपवेश ने विज्ञान में उन्नति नहीं की थी। इसी प्रकार चेलक के पुत्र जीवल, जीवल के प्रवाहण और प्रवाहण के बबर थे। इन चारों में भी चेलक को छोड़कर तीन ही वैज्ञानिक महर्षि थे।

भगवान् आरुणि अर्थात् उद्दालक ने 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' यह कहा था। इस प्रकार दोनों ओर से गर्भ को देवताओं अर्थात् पार्थिवप्राण और सौरप्राण से सुरक्षित रखकर प्रजनन किया जाता है, यह भगवान् आरुणि का मत था। उस पर चेलक के पुत्र जीवल कटाक्ष करते हूए कहते हैं कि आरुणि तो गर्भ के स्वरूप को ही बनाते हैं परन्तु उसे उत्पन्न नहीं करते। अर्थात् 'अग्निर्ज्योतिः' 'सूर्यो ज्योतिः' इन मन्त्रों से गर्भ अवश्य पुष्ट हो जाता है, परन्तु दोनों ओर से, दोनों देवताओं से बद्ध होकर बन्द हो जाता है। गर्भ का स्वरूप वन जाने व पुष्ट हो जाने पर भी यदि वह बाहर नहीं निकलेगा तो ऐसी पुष्टि किस काम की। अतः 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' एवं 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः दोनों ही समय में यह कहना गर्भ को बाहर न निकलने देना है। इसलिए सायंकाल गर्भपुष्टयर्थ 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' यही मन्त्र बोलना चाहिए ॥३४॥

परन्तु प्रजननार्थ प्रातःकाल'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः' यह मन्त्र बोलना चाहिए। ऐसा करता हुआ यजमान रात्रि भर पके हुए उस ज्योतिःस्वरूप गर्भ को बाहर निकालता है। क्योंकि रेत जब गर्भस्वरूप में परिणत होकर बाहर निकलता है, तभी वह उत्पन्न कहलाता है। अतः 'ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः' इस मन्त्र के द्वारा उस परिपक्व गर्भ को बाहर निकालता है अर्थात् दैवात्मा को उत्पन्न करता है ॥३५॥

'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' इस मन्त्र से सायंकाल अग्नि में प्रविष्ट सूर्य को ही आहुति दी जाती है। एवं प्रातःकाल सूर्यस्थित अग्नि में आहुति दी जाती है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सायं सूर्यास्त होने पर जो आहुति दी जाती है, वह अग्निगर्भ में प्रविष्ट सूर्य के लिए दी जाती है। एवं प्रातः जो आहुति दी जाती है, वह सूर्यगर्भ में प्रविष्ट अग्नि के लिए दी जाती है। यह क्रम उदितहोमियों के मत में समझना चाहिए। क्योंकि जिस समय सूर्य अस्त हो जाता है, उस समय अग्नि ज्योति ही रहती है। अतः उस समय 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः' कहा जाता है किन्तु जिस समय सूर्योदय हो जाता है, उस समय अग्नि का तेज सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार र्य का ही तेज रहता है। तात्पर्य यह है कि अग्नि और सूर्य में आहुति देते हैं, यह मत उदितहोमियों का ही है। क्योंकि उनके मत में ही अग्नि

में और सूर्य में आहुति सिद्ध होती है। जो अनुदितहोमी हैं, उनके मत में तो सूर्य में ही आहुति पड़ती है न कि अग्नि में।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो उदितहोमी हैं, उनके मत में हम ऊहापोह नहीं कहना चाहते। हम उनके मत का प्रतिवाद करना नहीं चाहते। किन्तु इतना अवश्य कहते कि उनके मत में अग्निहोत्र की जो प्रधान देवता है उसके लिए प्रत्यक्ष में आहुति नहीं होती। 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' यहाँ 'अग्नये स्वाहा' जब तक न कहा जाय तब तक देवता का स्पष्ट निर्देश नहीं होता है। इसी प्रकार प्रातः 'सूर्यो ज्योतिः सूर्यः' इस कथनमात्र से देवता को आहुति नहीं मिल सकती। अर्थात् जब तक 'सूर्याय स्वाहा' न कहा जाय, तब तक प्रधान देवता को प्रत्यक्ष में आहुति नहीं मिल सकती। अतः निम्न लिखित मन्त्र से ही आहुति देनी चाहिए ॥३६॥

अनेनैव जुहुयात्—

सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा इति।

सविता देवता के साथ एवं इन्द्रवती रात्रि के साथ अग्नि प्रसन्न होकर इसे खाय। सविता ही प्रजनन करता है अतः सवितृमान् प्रजनन के लिए एवं मिथुन के लिए यज्ञ-देवता इन्द्र को शामिल करने के लिए सविता इन्द्र एवं रात्रि का निर्देश किया गया है।

पूर्व में बतलाया गया था कि 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि को प्रत्यक्ष में आहुति नहीं दी जाती है परन्तु देनी चाहिए प्रत्यक्ष। इस प्रत्यक्ष-संपत्ति-सम्पादन के लिए ही 'सजूर्देवेन' इस मन्त्र से आहुति दी जाती है। 'अग्निर्वेतु स्वाहा' ऐसा बोलता हुआ यजमान अग्नि के लिए प्रत्यक्ष रूप से हवन करता है। तात्पर्य यही है कि 'सजूर्देवेन' इस मन्त्र से हवन करने से चार कार्य सिद्ध होते हैं। मिथुन होने से प्रजनन-संपत्ति हो जाती है। सविता के आने से प्रजनन की प्रेरणा हो जाती है। यज्ञदेवता इन्द्र यज्ञ में सम्मिलित हो जाते हैं। एवं अग्नि को प्रत्यक्ष रूप में आहुति मिल जाती है। अतः इसी मंत्र से सायंकाल आहुति देनी चाहिए ॥३७॥

एवं प्रातःकाल 'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या जुषाणः सूर्यो वेतु' अथवा 'सजूर्देवेन सवित्रा सजूरह्नेन्द्रवत्या' इस मन्त्र से आहुति देनी चाहिए। सविता देवता के साथ एवं इन्द्रवती उषा के अथवा अहः के साथ सूर्य प्रसन्न होकर इस हव्य को ग्रहण करें। उषसेन्द्र-वत्या, अह्नेन्द्रवत्या ऐसा कहते हुए उषा का या अहः का सम्बन्ध कर मिथुनसंपत्ति उत्पन्न की जाती है अर्थात् प्रजननक्रियोपकारक मिथुनभाव की उत्पत्ति के लिए उषा अथवा अहः का सम्बन्ध किया जाता है। यज्ञ के देवता इन्द्र हैं, उनका होना यज्ञ में आवश्यक है। इसीलिए

इन्द्रवत्या कहकर यज्ञ को सेन्द्र बनाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस मन्त्र से देवता को प्रत्यक्ष आहुति मिलती है। अतः हमारे विचार से इन्हीं मन्त्रों से अग्निहोत्र करना चाहिए ॥३८॥

प्राचीन समय में इस विषय पर विवाद चला कि यदि किसी आवश्यक कार्यवश यजमान अग्निहोत्र न कर सके तो क्या इतने दिनों तक अग्निहोत्र बन्द रहेगा और यदि बन्द न रहे तो यजमान का कौन प्रतिनिधि बनकर उतने दिन तक अग्निहोत्र करे ? इस प्रश्न का प्राचीन महर्षियों ने उत्तर दिया कि अग्निहोत्र कदापि बन्द नहीं होगा। यदि यजमान किसी कारण से अग्निहोत्र न कर सकता, तो उसके प्रतिनिधिरूप से ब्राह्मण ही उतने दिन तक अग्निहोत्र करेगा। यजमान हाथ जोड़कर विनम्रता से ब्राह्मण को कहेगा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! जब तक मुझे कार्य है, तब तक आप मेरे इस अग्निहोत्र को सम्पन्न करें। ब्राह्मण उसी समय पूछेगा कि इससे मेरा क्या उपकार होगा ? यजमान उत्तर देगा कि अग्निहोत्र से बचा हुआ यज्ञोच्छिष्ट आपको दक्षिणारूप में मिलेगा। तात्पर्य यह है कि यज्ञोच्छिष्ट दक्षिणा से यजमान की अनुपस्थिति में ब्राह्मण द्वारा अग्निहोत्र करवाना चाहिए।

ध्रुवा में से चार वार करके, स्रुक् में आहुति के लिए जो घृत लिया जाता है, तथा आहुति देने के बाद जितना घृत स्रुक् में बच जाता है, वही यज्ञोच्छिष्ट कहलाता है। यही अग्निहोत्रकर्ता ब्राह्मण की दक्षिणा है।

अग्निहोत्रकर्म के लिए एक स्थाली में घृत रखा जाता है, उस स्थाली से जो कि ध्रुवा कहलाती है, घृत स्रुक् में लिया जाता है, उस स्थाली में जो बचा हुआ घृत है वह जिस प्रकार आगे के कर्म के लिए सुरक्षितरूपेण घृत का निर्वाप करे—वैसा है। अर्थात् जिस प्रकार आगे के काम के लिए किसी वस्तु को सुरक्षित रखा जाता है उसी प्रकार स्थाली में बचा हुआ जो घृत है वह आगे के काम के लिए है। तात्पर्य यह है कि स्रुक् के तो घृत को अग्निहोत्रकर्ता ब्राह्मण ही भक्षण कर जायगा परन्तु स्थाली में बचे हुए घृत को, आगे के काम में ले सकता है। क्योंकि वह आगे के काम में लिया जा सकता है, क्योंकि वह आगे के काम के लिए सुरक्षित है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह स्थाली में रखा हुआ घृत, दूसरे काम में आसकता है, अतः उसे चाहे कोई भी पी जाय, परन्तु ब्राह्मणेतर न पीयें क्योंकि इसे अग्नि पर चढ़ा दिया जाता है। अतः वह अग्नि की वस्तु हो जाती है। ब्राह्मण आग्नेय हं, अतः वही इसे पी सकता ह अन्य कोई नहीं ॥१९॥

इति द्वितीयप्रपाठके तृतीय ब्राह्मणम्।

उपस्थानम्

(मूल) एता ह वै देवता—योऽस्ति तस्मिन्वसन्ति—इन्द्रो, यमो, राजा नडो नैषिधः, अनशनन्त्साङ्गमनः, असन् पांसवः ॥१॥

तद्वा एष एवेन्द्रो—यदाहवनीयः। अथैष एव गार्हपत्यो यमो राजा। अथैष एव नडो नैषिधो यदन्वाहार्यपचनः। तद्यदेतदहरहर्दक्षिणत आहरन्ति। तस्मादाहुः – अहरहर्वै नडो नैषिधो यमं राजानं दक्षिणत उपनयतीति ॥२॥

अथ य एष सभायामग्निः—एष एवानशनन्त्साङ्गमनः। तद् यदेतमनशित्वेवोपसङ्गच्छन्ते—तस्मादेषोऽनशनन्। अथ यदेतद् भस्मोद्धृत्य परावपन्ति, एष एवासन् पांसवः। स यो हैवमेतद्वेद—'एवं मय्येता देवता वसन्ति इति सर्वान् हैवैताँल्लोकान् जयति, सर्वांल्लोकाननुसञ्चरन्ति ॥३॥

'तेषामुपस्थानम्'। यदेव सायं—प्रातराहवनीयमुप च तिष्ठते, उप चास्ते—तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यदेव प्रतिपरेत्य गार्हपत्यम् आस्ते वा शेते वा–तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यत्रैव संव्रजन्नन्वाहार्यपचनमुपस्मरेत्-तदेव तं मनसोपतिष्ठेत, तदेव तस्योपस्थानम् ॥४॥

अथ प्रातरनशित्वा मुहूर्तं सभायामासित्वापि कामं पल्ययेत—तदेव तस्योपस्थानम्। अथ यत्रैव भस्मोद्धृतमुपनिगच्छेत्—तदेव तस्योपस्थानम् एवमु हास्यैता देवता उपस्थिता भवन्ति ॥५॥

यजमानदेवत्यो वै गार्हपत्यः। अथैष भ्रातृव्यदेवत्यो यदन्वाहार्यपचनः। तस्मादेतं नाहरहराहरेयुः न ह वा अस्य सपत्ना भवन्ति। यस्यैवं विदुष एतं नाहरहराहरन्ति—अन्वाहार्यपचनो वा एषः ॥६॥

उपवसथ एवैनमाहरेयुः। यत्रैवास्मिन्यक्ष्यन्तो भवन्ति। तथो हास्यैषोऽमोघायाहतो भवति ॥७॥

नवावसिते वैनमाहरेयुः। तस्मिन् पचेयुः, तद् ब्राह्मणा अश्नीयुः। यद्यु तन्न विन्देद् यत् पचेद्, अपि गोरेव दुग्धमधिश्रयितवै ब्रूयात् तस्मिन् ब्राह्मणान् पाययितवै ब्रूयात्। पापीयांसो ह वा अस्य सपत्ना भवन्ति, यस्यैवं विदुष एवं कुर्वन्ति। तस्मादेवमेव चिकीर्षेत् ॥८॥

तद्यत्रैतत् प्रथमं समिद्धो भवति—धूप्यत इव तर्हि हैष भवति रुद्रः। स यः कामयेत—यथेमा रुद्रः प्रजा अश्रद्धयेव त्वत् सहसेव त्वत्, निघातमिव त्वत्, सचते—'एवमन्नमद्यामिति' तर्हि ह स जुहुयात्। प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥९॥

अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति—तर्हि हैष भवति वरुणः। 'सः यः कामयेत' यथेमा वरुणः प्रजा गृह्णन्निव त्वत्, सहसेव त्वत् निघातमिव त्वत् सचते—'एवमन्नमद्यामिति' तर्हि ह स जुहुयात्। प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं—य एवं—विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१०॥

अथ यत्रैतत् प्रदीप्तो भवति—उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति—तर्हि हैष भवतीन्द्रः स यः कामयेत—'इन्द्र इव श्रिया यशसा स्याम्। इति तर्हि ह स जुहुयात्। प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥११॥

अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चि संशाम्यतो भवति, तर्हि हैष भवति मित्रः। स यः कामयेत—'मैत्रेणेदमन्नमद्यामिति। यमाहुः—सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वा अयं कंचन हिनस्तीति। तर्हि ह स जुहुयात्। प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं—य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१२॥

अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाकश्यन्त इव तर्हि हैष भवति ब्रह्म। स यः कामयेत—'ब्रह्मवर्चसी—स्यामिति' तर्हि ह स जुहुयात्। प्राप्नोति हैवैतदन्नाद्यं—य एवं विद्वांस्तर्हि जुहोति ॥१३॥

एतेषामेकं संवत्सरमुपेत्सेंत्–स्वयं जुह्वत् यदि वाऽस्यान्यो जुहुयात्। अथ योऽन्यथान्यथा जुहोति—यथाऽपो वाऽभिखनन्, अन्यद् वान्नाद्यम्, स सामि निवर्तेत—एवं तत्। अथ यः सादृ्र्धं जुहोति–यथाऽपो वाऽभिखनन्, अन्यद् वान्नाद्यम्—तत् क्षिप्रेऽभितृन्द्यात् एवं तत् ॥१४॥

अभ्रयो ह वा एता अन्नाद्यस्य यदाहुतयः। अभि हैवैतदन्नाद्यं तृणत्ति–य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥१५॥

सा या पूर्वाहुतिः—ते देवाः। अथ योत्तरा–ते मनुष्याः। अथ यत् स्रुचि परिशिनष्टि—ते पशवः ॥१६॥

स वै कनीय इव पूर्वामाहुतिं, भूय इवोत्तराम्, भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि ॥१७॥

स यत् कनीय इव पूर्वामाहुतिं जुहोति, कनीयांसो हि देवा मनुष्येभ्यः। अथ यद् भूय इवोत्तराम्–भूयांसो हि मनुष्याः देवेभ्यः। अथ यद् भूय इव स्रुचि परिशिनष्टि—भूयांसो हि पशवो मनुष्येभ्यः। कनीयांसो ह वा अस्य भार्या भवन्ति, भूयांसः पशवः। य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। तद् वै समृद्धम्। यस्य कनीयांसो भार्या असन्, भूयांसः पशवः ॥१८॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्। द्वितीयप्रपाठकः समाप्तः।

उपस्थान

(अनुवाद) जिस वस्तु में 'अस्ति' ऐसा व्यवहार होता है, उसमें इन्द्र, यम, नैषिध नड राजा, अनश्नन् सांगमन तथा असन् पांसव इन पाँच देवताओं की सत्ता है ॥१॥

इन पाँचों में जो इन्द्र[1] है, वह आहवनीयाग्नि (दिव्याग्नि) है। यम ही

१. एक ही अग्नि पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोकरूप स्थान भेद से घन, तरल, विरलभेद से तीन भेदों में विभक्त हो जाती है। घनाग्नि पार्थिवाग्नि है, तरलाग्नि (वायु) आन्तरिक्ष्याग्नि है, विरलाग्नि सूर्य (इन्द्र) दिव्याग्नि है। प्रकृत में अग्नि को यम तथा वायु को नैषिध नड राजा भी कहा गया है।

गार्हपत्याग्नि (पार्थिवाग्नि) है और नैषिध नड राजा अन्वाहार्य, पचन (दक्षिणाग्नि आन्तरिक्ष्याग्नि) है। ऋत्विक् गार्हपत्याग्नि का आहरण दक्षिणाग्नि की ओर से करते हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि प्रतिदिन नैषिध नड (अन्वाहार्य पचन, अर्थात् दक्षिणाग्नि) यम राजा (गार्हपत्याग्नि) को दक्षिण की ओर ले जाता है। तात्पर्य यह है कि गार्हपत्याग्नि दक्षिण भाग से होकर ही आहवनोय में ले जाई जाती है ॥२॥

सभ्याग्नि ही अनश्नन् साङ्गमन है क्योंकि बुभुक्षितावस्था में उस व्यापक अग्नि का हमारे से सम्बन्ध होता है क्योंकि यजमान बिना भोजन किये मान इस अग्नि के पास जाता है। तथा गार्हपत्य तथा आहवनीयगत भस्म को लेकर आवसथ में डालते हैं, यह भस्माच्छन्न अग्नि हो असन् पांसव है। क्योंकि यह भस्माच्छन्न अग्नि पांसुतुल्य होने से पाँसव है। तथा ज्वालारूप से इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है अतः इसे असन् कहते हैं। जो विद्वान् यह जानता है कि उपर्युक्त पाँचों देवता मेरे में रहते हैं, वह सब लोकों को जीत लेता है तथा सब लोकों में उनका संचार हो जाता है ॥३॥

इन पाँचों अग्नियों को जो कि यजमान के घर में रहती हैं, उपस्थान करना होता है। जो कि यजमान सायं व प्रातः आहवनीय के पास अवस्थान करता है और बैठता है, यही आहवनोयाग्नि (इन्द्र देवता) का उपस्थान है। एवं जो कि यजमान आहवनीय में आहुति देकर लौट कर गार्हपत्य में बैठता है व सोता है, यही गार्हपत्याग्नि (यम) का उपस्थान है। तथा परदेश जाते समय जो अन्वाहार्यपचन का स्मरण करता है, वही मन से उसका (नैषिध नड) का उपस्थान करना है ॥४॥

प्रातःकाल बिना भोजन किये ही मुहूर्तमात्र सभा (सदोमण्डप) में बैठ कर यथेच्छ कुण्डस्थ भस्म का उद्धरण कर बाहर ले जाता है, यही उस (असन् पांसवाग्नि) का उपस्थान है। इस प्रकार इस यजमान के सारे देवता उपस्थित हो जाते हैं ॥५॥

अन्वाहार्य का प्रतिदिन आहरण नहीं करना चाहिए, अपितु उपवसथ के दिन ही करना चाहिए, इसीकी उपपत्ति अग्रिम कण्डिका में बतलाई जा रही

है—'गृहा वै गार्हपत्याः' इस श्रुति के अनुसार घर ही गार्हपत्य है और घर यजमान की प्रतिष्ठा है, अतः गार्हपत्य यजमान की प्रतिष्ठा है। इसलिए गार्हपत्य यजमान देवता है। इस गार्हपत्याग्नि का दिव्याग्नि (आहवनीयाग्नि) से सम्बन्ध किया जाता है। मध्यस्थ आंतरिक्ष्य अन्वाहार्यपचन का दिव्यात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रत्युत उनके सम्बन्ध में बाधक है, अतः अन्वाहार्यपचनाग्नि को भ्रातृव्यदेवत्य कहा है। भ्रातृव्य शब्द 'भ्रातुर्व्यन् सपत्ने' सूत्र से भ्रातृ शब्द से व्यन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है और इसका अर्थ शत्रु है। अतः उसका प्रतिदिन आहरण नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसका प्रतिदिन आहरण शत्रुओं की वृद्धि करना है। जो इस रहस्य को जानता हुआ इसका प्रतिदिन आहरण नहीं करता उसके शत्रु नहीं होते। तथा यह अग्नि अन्वाहार्यपचन है। इसका काम पुरोडाशादि का परिपाक है। आहुति इसमें नहीं देनी है। अतः आहुति में उपादेय अग्नियों का ही प्रतिदिन आहुत्यर्थ आहरण करना चाहिए, न कि पाकार्थ उपयुक्त अन्वाहार्यपचन का ॥६॥

केवल उपवसथ के दिन ही अन्वाहार्यपचन का आहरण करना चाहिए, क्योंकि उस दिन उसमें याग करने के लिए पुरोडाश पकाना है। अतः उसका उस दिन आहरण सप्रयोजन होगा, निष्प्रयोजन नहीं। अन्य दिनों उसका आहरण निष्प्रयोजन होगा ॥७॥

आहरण के साथ ही यदि अग्नि बुझ जाय तो उस समय भी आहरण कर लेना चाहिए। इस अन्वाहार्याग्नि में पुरोडाशादि का पाक करे और ब्राह्मणों को खिलाए। यदि पाकार्थ तण्डुलादि न मिलें तो गाय के दूध का ही पाक करे और ब्राह्मणों को पिलाने के लिए कहे। जो इस रहस्य को जानता हुआ ऐसा करता है तो उस यजमान के शत्रुओं का नाश हो जाता है अतः ऐसा ही करे ॥८॥

अग्नि ही घन, तरल, विरल अवस्था में परिणत होता हुआ सभी देवताओं का स्वरूप बनता है। अर्थात् सभी देवता अग्नि के ही स्वरूप हैं। इसीलिए 'अग्निः सर्वा देवताः' यह श्रुति कह रही है। यह अग्नि जब सर्वप्रथम प्रज्वलित होती है तो वह उस समय धूमायमान सी होती है। अग्नि की उस अवस्था को

रुद्र कहते हैं। जिस प्रकार रुद्र[1] कुछ कार्यों में अश्रद्धा उत्पन्न करता है, कुछ में हठात् विघ्न उत्पन्न करता है तथा कुछ कार्यों को सर्वथा नष्ट कर देता है, उसी प्रकार जो यह चाहता है कि मैं सभी प्रकार से अन्न पर अधिकार करूं, उसे इस रुद्रावस्थापन्न अग्नि में ही आहुति देनी चाहिए। जो उस रुद्र को पहिचान कर अग्नि की उस रुद्रावस्था में आहुति देता है, वह सब प्रकार के भोग्यों को प्राप्त करता है ॥९॥

पश्चात् अग्नि जब और अधिक प्रदीप्त होता है, उस समय का धूमरहित शान्त अग्नि वरुण कहलाता है। अग्नि की यही अवस्था वरुण है। यह तात्पर्य है। जिस प्रकार वरुण[2] प्रजाओं को अपने पाश में बांधता है, बलात् ग्रहण कर लेता है तथा सर्वनाश कर देता है, उसी प्रकार जो यजमान यह चाहे कि मैं भी इसी प्रकार बंधन द्वारा बल से तथा सर्वनाशक उपायों से अपने भोग्य पर अधिकार करूं, वह अग्नि को इस अवस्था वरुण में आहुति दे। जो इस वरुण को पहिचान कर इसमें आहुति देता है, वह अन्न (भोग्य) को प्राप्त कर लेता है ॥१०॥

इसके बाद जब अग्नि और भी प्रदीप्त होता है एवं उसके ऊपर धूम निकलने लगता है एवं वह अत्यन्तवेग से भक् भक् करने लगता है। अग्नि की यही अवस्था इन्द्र कहलाती है। जो मनुष्य यह इच्छा करता है कि मैं इन्द्र की तरह श्री व यश से युक्त हो जाऊं, उसे इन्द्ररूप अग्नि की अवस्था में आहुति देनी चाहिए। जो विद्वान् इस इन्द्रस्वरूप को पहिचान कर अग्नि की उस अवस्था में आहुति देता है, वह वैसे ही श्री और यश को प्राप्त करता है ॥११॥

इसके बाद जब अग्नि की ज्वाला अलग अलग होकर विशकलित रूप में तिरछे रूप में निकलने लगे, क्योंकि बुझने के समय अग्नि की ज्वालायें तिरछी सी हो जाती हैं, अग्नि की यही अवस्था मित्र है। अतः जो यह कामना करता

---

१. रुद्र के तीन ही प्रधान कार्य हैं—१. कार्य के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करना, उत्साहभंग कर देना, २. हठात् कार्य में विघ्न पहुँचाना। ३. तथा कार्य को सर्वथा नष्ट कर देना। रुद्र के इन्हीं तीनों कार्यों को 'अश्रद्धयेव त्वत्, सहसेव त्वत्' निघातमिव त्वत् से बतलाया गया है।

२. वरुण के प्रधान कार्य प्रजाओं को बांधना, बलात्कार तथा सर्वनाश हैं। उन्हीं का यहां निर्देश किया गया है।

है कि मैं मित्रभाव से अन्न का भोग करूँ। जिसके लिए कहा जाता है कि यह ब्राह्मण सब का मित्र है, यह किसी को हानि नहीं पहुँचाता, वह इसमें आहुति दे। जो इस रहस्य को जानता हुआ जो आहुति देता है वह अन्न को प्राप्त करता है ॥१२॥

इसके बाद जब ज्वाला नहीं रहती तथा अंगारे धधकते रहते हैं, अग्नि की यह अवस्था ब्रह्म है। अतः जो यह चाहता है कि ब्रह्मवर्चसी बनूं वह अग्नि की इस ब्रह्मावस्था में आहुति दे। इसको जानता हुआ जो इसमें आहुति देता है, वह अन्नाद्य को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मवर्चसी बनता है ॥१३॥

अग्नि की इन रुद्रादि अवस्थाओं में से एक की क्रम से एक वर्ष तक उपासना करे। चाहे वह स्वयं हवन करे या उसका प्रतिनिधि हवन करे, दोनों को ही एक वर्ष तक उसी एक देवता के लिए आहुति देनी चाहिए तभी उपर्युक्त फलों की प्राप्ति होती है। जो कभी रुद्र को, कभी वरुण को, कभी मित्र को, इस प्रकार अन्यथा हवन करता है, वह उसी प्रकार का कार्य करता है जैसे कोई वापी, कूप आदि का खनन करता हुआ अथवा व्रीहि आदि अन्न का उत्पादन करता हुआ अधबीच में ही उस कार्य को छोड़ देता है। और जो एक दिन में रुद्रादि[1] सब देवताओं का हवन करता है, वह जैसे पानी के लिए कूपादि का खनन करने वाला या अन्य अन्नादि उत्पादन करने वाला शीघ्रता में सारा कार्य सम्पन्न करता है उस तरह का उसका वह हवन करना है ॥१४॥

जिस प्रकार पानी के लिये जमीन खोदने के लिए कुदाल होती है उसी प्रकार देवतायुक्त अग्नि को दी जाने वाली आहुति तत्तत्फलों को प्राप्त करने के लिए कुदाली है। अर्थात् अग्नि से आहुतियों के द्वारा दिव्यात्मा उत्पन्न किया जाता है। जो इस रहस्य को जानता हुआ अग्नि में आहुति देता है वह अपने भोग्यजात को निष्पन्न कर लेता है ॥१५॥

---

१. यह अर्थ हिन्दी भाष्यकार के अनुसार है।
यहां सायण ने यह अर्थ किया है कि जो निरन्तर वर्ष भर तक एक देवता को आहुति देता है, वह उसी प्रकार करता है जैसे कूपादि खनन करता हुआ या व्रीहि आदि अन्न को उत्पन्न करता हुआ शीघ्रता से उसका सम्पादन करता है। इस प्रकार सायण ने 'साधं' शब्द का अर्थ नैरन्तर्येण किया है।

यह पहिले बतला दिया गया है कि अग्नि में पूर्वा और उत्तरा दो आहुतियाँ दी जाती हैं और कुछ हवि स्रुक् में रख लिया जाता है। इनमें पूर्वाहुति देवता है अर्थात् इससे देवता का निर्माण होता है और उत्तराहुति मनुष्य है अर्थात् उससे मनुष्यों की सत्ता रहती है और स्रुक् में जो शेष रह जाता है, उससे पशुस्वरूप स्थित रहता है ॥१६॥

वह (यजमान) प्रथम आहुति कम द्रव्य से देता है। उत्तराहुति में अधिक द्रव्य की आहुति देता है और उससे भी अधिक द्रव्य स्रुक् में बचा लेता है॥१७।

क्योंकि पूर्वाहुति कम द्रव्य से देता है, अतः देवता संख्या में अधिक हैं व स्थूल हैं तथा स्रुक् में और भी अधिक बचा लेता है, अतः उससे सम्बन्ध रखने वाले पशु मनुष्यों से भी अधिक होते हैं। जो इस रहस्य को जानता हुआ आहुति देता है, उसके भरणीय (पोषणीय) बहुत कम होते हैं, और पशु (अन्न) अधिक होता है। समृद्धि वही है जिसके भरणीय व्यक्ति कम हों और पशु (अन्न) अधिक हों ॥१८॥

सभ्य-अग्न्युपस्थान कर्म—

संसार में जो 'अस्ति' शब्द से जो व्यवहृत होता है, उसमें इन्द्र, यम, नैषिधनड राजा, और अनशनन् साङ्गमन एवं असन् पांसव—ये पाँच देवता रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में ये पाँचों देवता रहते हैं। अनशनन् साङ्गमन एवं असन्-पांसव सभ्य और आवसथ्य हैं अर्थात् अपरोक्ष अग्नि हैं। इन्द्र, यम, राज प्रत्यक्ष हैं, अतएव शिल्पशास्त्र में एवं यज्ञवेदिनिर्माण में, इन्द्र, यम, राज की ही गणना की जाती है। आज भी इस वैदिक गणना का अनुशय हमारे भारतीय शिल्पियों में प्रत्यक्ष देखा जाता है। उनका सारा शिल्प आज भी इन्द्र, यम, राज पर ही व्यवस्थित है। आधुनिक वैज्ञानिक इस गणना का उपहास करते हैं एवं उपेक्षा करते हैं। परन्तु उनको समझ लेना चाहिए कि—अभी वे भारतीय सभ्यता से अपरिचित हैं। अतएव ये भारतीय सभ्यता को कितने ही अंशों में ढोंग से परिपूर्ण कहने का साहस करते हैं। अस्तु, प्रकृत में यही बतलाना है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थों में पूर्वोक्त पाँचों देवता रहते हैं। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एता ह वै देवता 'योऽस्ति' तस्मिन्वसन्ति इन्द्रो यमो राजा नडो नैषिधोऽनशनन् साङ्गमनोऽसन् पांसवः इति' ॥१॥

अग्नि यद्यपि एक ही है परन्तु स्थानभेद से वह तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्यौः ये स्तौम्य त्रिलोकी के तीन लोक हैं। इस लोकभेद से अग्नि भी तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है—पार्थिवाग्नि, आन्तरिक्ष्याग्नि एवं दिव्याग्नि। यह अग्निविभाग स्तौम्य त्रिलोको में है। ६ तक अग्नि है, अर्थात् अग्नि की घनावस्था है। १५ तक वायु है जो कि अग्नि की तरलावस्था है। इसे ही आन्तरिक्ष्याग्नि भी कहते हैं। २१ तक आदित्य है, जो कि दिव्याग्नि कहलाता है। पार्थिवाग्नि को गार्हपत्य, आन्तरिक्ष्य को श्रपणीय अथवा अन्वाहार्यपचन एवं दिव्याग्नि को आहवनीयाग्नि कहते हैं। गार्हपत्याग्नि व आहवनीयाग्नि घन हैं, अर्थात् इनका हम प्रत्यक्ष में अवलोकन कर रहे हैं। परन्तु श्रपणीय विरलाग्नि है। गार्हपत्यादि अग्नियों की यह एक प्रकार से व्याख्या है। इसी को दूसरे प्रकार से भी समझ सकते हैं—

संसार में स्वज्योति, परज्योति एवम् अज्योति – ये तीन प्रकार के पदार्थ हैं। जो सौरज्योति या सौराग्नि है उसे ही आवहनीयाग्नि कहते हैं। परज्योति को गार्हपत्याग्नि एवं अज्योति को अन्वाहार्यपचन। यह पहले बतला दिया गया है कि ६ तक अग्नि, १५ तक वायु, एवं २१ तक आदित्य अथवा इन्द्र रहता है। अग्नि अपने लोक में प्रधान रूप से रहता हुआ तीनों लोकों में रहता है। इसी प्रकार वायु व आदित्य भी प्रधान रूप से अपने लोक में रहते हुए भी अन्य लोकों में भी रहते हैं। अर्थात् तीनों, तीनों लोकों में रहते हैं। पार्थिवाग्नि में आन्तरिक्ष्य व दिव्याग्नि रहता है। आन्तरिक्ष्याग्नि में पार्थिव व दिव्याग्नि रहता है एवं दिव्याग्नि में आन्तरिक्ष्य व पार्थिवाग्नि रहता है। तात्पर्य यह है कि तीनों अग्नियाँ परस्पर विजातीय होने पर भी सर्वदा परस्पर अविनाभूत हैं। जहाँ पार्थिवाग्नि है, वहाँ सौर और आन्तरिक्ष्य अवश्य समझनी चाहिए। क्योंकि अग्नि से ही संसार के पदार्थों का निर्माण होता है। तीनों अग्नियाँ परस्पर अविनाभूत हैं। अतः यह सिद्ध है कि संसार के सभी पदार्थों में तीनों देवता तथा आगे प्रतिपादन किये जाने वाले दो देवता – इस प्रकार पाँचों देवता रहते हैं। पार्थिवाग्नि को गार्हपत्य, आन्तरिक्ष्य को अन्वाहार्यपचन एवं दिव्याग्नि को आहवनीय कहते हैं। इन्हीं को क्रमशः – यम राजा, नड नैषिध एवं इन्द्र कहते हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—इन पाँचों देवताओं में से जो आहवनीयाग्नि है वही इन्द्र है, गार्हपत्य ही यम राजा है एवं अन्वाहार्यपचन ही नड नैषिध है—वे संकेत करते हैं वेदिकुण्डों पर और भाव बतला रहे हैं वैज्ञानिक। अर्थात् प्रत्यक्ष करवा रहे हैं—मनुष्य निर्मित आहवनीयादि कुण्डों का, विज्ञान बतला रहे हैं—प्राकृतिक पृथिवी, अन्तरिक्ष द्युलोकस्थित अग्नियों का। वक्तव्य है मनुष्ययज्ञ, व दृष्टि है प्राकृतिक यज्ञ पर। इसी द्वैध गति से प्राकृतिक यज्ञरहस्य को भगवान् वेदमहर्षि बतलाते हैं।

अग्नि आठ प्रकार का होता है—

१. आहृत्याग्नि ।

२. पाञ्चभौतिक यज्ञाग्नि ।

३. गार्हपत्याग्नि—अग्निवायुसूर्यभेदेन त्रिविधः।

४. वैश्वानराग्नि ।

५. उख्याग्नि—अग्निवायुसूर्यभेदेन त्रिविधः ।

६. संवत्सराग्नि ।

७. प्रवर्ग्याग्नि—अग्निवायुसूर्यभेदेन त्रिविधः ।

८. गायत्राग्नि ।

पूर्वोक्त आठों में से जो वैश्वानराग्नि है, वह तो अग्नि, वायु, सूर्य तीनों के मेल से उत्पन्न होता है । तीनों के मिश्रण से एक नया अग्नि पैदा होता है । यह वैश्वानर ही तैजस और प्राज्ञ का कोश है । वैश्वानर, प्राज्ञ, तैजस ये तीनों केवल चेतन प्राणियों में रहते हैं। अतएव वे ससंज्ञ कहलाते हैं । वैश्वानर और तैजस ये दो अग्नि (आत्मा) वृक्षों में भी रहते हैं । अतएव वे अन्तःसंज्ञ कहलाते हैं । एवं धातु आदि सर्वथा जड़ पदार्थों में चूंकि केवल वैश्वानर रहता है अतएव वे असंज्ञ कहलाते हैं। वही अग्नि स्वग्थान में रहता हुआ भी तीनों लोकों में रहता है। एवं वायु और सूर्य (इन्द्र) भी तीनों में रहते हैं—यह हम बतला आये हैं। तीनों लोकों के अग्नि के मेल से जिस आत्मस्वरूप का निर्माण होता है, वह वैश्वानर आत्मा कहलाता है। तीनों लोकों के वायु के मेल से जो आत्मा उत्पन्न होता है वह प्राज्ञ आत्मा कहलताता है एवं तीनों लोकों के इन्द्र से जो आत्मा उत्पन्न होता है, वह प्राज्ञात्मा कहलाता है । प्रकृत में इस प्रपञ्च द्वारा हमें यह बतलाना है कि प्रकृत में जिस अग्नि का निरूपण किया गया है, उसे प्रवर्ग्याग्नि समझना चाहिए न कि वैश्वानराग्नि । जो अग्नि तीनों लोकों से प्रवृक्त होकर पदार्थस्वरूप में परिणत हो गया है, उसी प्रवर्ग्याग्नि का यहाँ ग्रहण है। यह अग्नि-वायु-सूर्यात्मक प्रवर्ग्याग्नि संसार के यावन्मात्र पदार्थों में अपनी स्थिति तीन प्रकार से कायम करता है—१. आत्मरूप से २. शरीररूप से ३. विभूतिरूप से । जो अग्नि पदार्थों का आत्मा बन जाता है, जो बिन्दु-बिन्दु में व्याप्त हो जाता है एवं जो नित्य है, वही आत्माग्नि कहलाता है। प्रकृत में हमारा इस आत्माग्नि से कोई प्रयोजन नहीं । दूसरे प्रकार से अग्नि शरीर-रूप से रहता है । इस अवस्था में अग्नि का चुनाव होता है । अग्नि स्तर-रूप से विद्यमान रहता है । सबसे पहिले पार्थिव अग्नि का स्तर है, बाद में वायव्य अग्नि का स्तर है, अनन्तर सौर अग्नि का स्तर है । हमने बतलाया था कि ये तीनों अग्नि प्रत्येक पदार्थ में परस्पर अविनाभूत क्रम से रहते हैं । बस इसी मूल पर इन्द्र, यम, राज की व्यवस्था की जाती है। पूर्वोक्त अग्निस्तर को दो अवस्थाओं में समझना चाहिए - १. आभिप्लविक स्तोम,

२. पृष्ठ्य स्तोम । प्रत्येक पदार्थ का एक पृष्ठ होता है, उस पृष्ठ से तेंतीस तक एक वषट्कार-मण्डल होता है । उसमें जो अग्नि, वायु आदि का विभाग किया जाता है, वह पृष्ठ्य विभाग कहलाता है । एवं उस वस्तु के इधर और उधर समधरातल की ओर से जो विभाग किया जाता है, वह आभिप्लविक विभाग कहलाता है । पुरोऽवस्थित वस्तु को अंगुलि से जो नापना है—कितने अंगुल की यह वस्तु है—यह बतलाना आभिप्लविक विभाग कहलाता है। शिल्पशास्त्र में इसी आभिप्लविक विभाग को काम में लाया जाता है । परन्तु इतना ध्यान रहे कि जो नाप एक बार कायम कर लिया जाता है, उसी का अन्त तक पालन करना पड़ता है । मान लीजिए आपने इन्द्र, यम, राज की व्यवस्था एक-एक फुट से की तो फिर उस सारे भवन-निर्माण में उसी फुट की नाप का आश्रय लेना पड़ेगा । एक ६ गज की लम्बी पट्टी है । उसमें तीन गज पहिले के इन्द्र है, बाद के तीन गज यम है, बाद के तीन गज राज हैं । परन्तु इन तीनों में भी प्रत्येक में इन्द्र, यम, राज विभाग है । इस आभिप्लविक स्तोम-विभाग में यही क्रम समझना चाहिए । प्रकृत में हमें शिल्पशास्त्र का विवेचन नहीं करना है, बतलाना केवल इतना ही है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थों में पाँच देवता रहते हैं, जो कि पाँच अग्नि हैं एवं जो कि इन्द्र, यम, नड, अनश्नन्, असन् नाम से प्रसिद्ध हैं ।

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है । दक्षिणाग्नि जिसको कि हमने अन्वाहार्यपचन एवं नड नैषिध कहा है, वह सर्वथा स्थिर रहता है । यह स्थिर दक्षिणाग्नि घूमती हुई पृथ्वी के दक्षिण भाग से स्पृष्ट रहती है अर्थात् उसका दाहिना भाग उस दक्षिणाग्नि से स्पर्श करता रहता है । चूंकि इस—गार्हपत्याग्नि (यम) को अन्वाहार्यपचन (नड नैषिध) अग्नि प्रतिदिन दक्षिण में ले जाता है अर्थात् पार्थिवाग्नि अपने दक्षिण भाग से दक्षिणाग्नि से स्पृष्ट होता रहता है । अतएव उस समय से ही यह किंवदन्तो चल पड़ी थी कि—"देखो प्रतिदिन नड नैषिध (अन्वाहार्यपचन) यम राजा को दक्षिण की ओर से ले जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तद्यदेतमहरहर्दक्षिणत आहरन्ति (ऋत्विजः) तस्मादाहुरहरहर्वै नडो नैषिधो यमं राजानं दक्षिणत उपनयतीति ।"

ऊपर बतलाया गया है कि प्रकृत मनुष्ययज्ञ में जो अन्वाहार्यपचन है वही नड नैषिध है, गार्हपत्य यम राजा है एवं आहवनीय इन्द्र है । ऋत्विक् लोग प्रतिदिन गार्हपत्याग्नि का आहरण दक्षिणाग्नि की ओर से करते हैं अर्थात् गार्हपत्य से दक्षिणाग्नि की ओर हो कर ही गार्हपत्याग्नि को आहवनीय में ऋत्विक् लोग से जाते हैं । इसी याज्ञिकप्रक्रिया को एवं पूर्वोक्त विज्ञान को लक्ष्य में रखकर तत्कालीन विद्वान् कहा करते थे कि—"भाई प्रतिदिन नैषिध नड (अन्वाहार्यपचन) यम राजा को (गार्हपत्याग्नि को) दक्षिण भाग की ओर ले जाता रहता है । गार्हपत्याग्नि दक्षिण भाग से होकर आहवनीय में ले जाई जाती है,

यही पूर्वोक्त किंवदन्ती का तात्पर्य है।" सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि संसार के यावन्मात्र पदार्थों में पूर्वोक्त पाँचों अग्नियाँ रहती हैं। एवं पार्थिवाग्नि को यम कहते हैं, आन्तरिक्ष्याग्नि को नड नैषिध तथा दिव्याग्नि को इन्द्र कहते हैं। प्रकृतियज्ञ में पृथ्वी ही गार्हपत्य है, अन्तरिक्ष अन्वाहार्यपचन है एवं द्युलोक आहवनीय है। पृथ्वी प्रतिक्षण पूर्व की ओर जाती रहती है, उस जाती हुई पृथ्वी से अर्थात् यम राजा से दक्षिणाग्नि अर्थात् आन्तरिक्ष्य वायु (नड नैषिध) स्पृष्ट होता रहता है। यही यम को (पृथ्वीस्थ गार्हपत्याग्नि को) नड नैषिध का दक्षिण भाग में ले जाना है। इसी प्रकृतियज्ञानुसार मनुष्ययज्ञ की व्यवस्था की गयी है। एवं यहाँ भी ऋत्विक् लोग गार्हपत्याग्नि का आहरण दक्षिणाग्नि के दक्षिण भाग की ओर से ही करते हैं। प्राकृतिक यज्ञ का रहस्य बतलाते हुए एवं साथ ही में मनुष्ययज्ञ की इतिकर्तव्यता बतलाते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तद्वा एष एवेन्द्रो यदाहवनीयः। अथष एव गार्हपत्यो यमो राजा .... यमं राजानं दक्षिणत उपनयतीति ॥२॥

पार्थिवान्तरिक्षद्युस्थानीय अग्नि का स्वरूप बतला चुके, अब असन् पांसव और अनशून्न् सांगमन का स्वरूप बतलाते हैं—

जिस समय पेट खाली रहता है, उस समय जिस अग्नि का हमारे से सम्बन्ध होता है—अर्थात् भूखे पेट से जो अग्नि प्राप्त किया जाता है--बुभुक्षितावस्था में जो व्यापक अग्नि-आत्मसात् होता रहता है—उस समय के अग्नि को अनश्नन् सांगमन कहते हैं एवं अग्नि के बुझ जाने पर जो पांसु में अर्थात् भस्म में अग्नि रहता है, उसे असन्पांसव कहते हैं। चूंकि अग्नि है—इसलिए तो उसे पांसवाग्नि कहते है एवं चूंकि ज्वालारूपेण किं वा अङ्गाररूपेण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः असन् कहते हैं। ये दोनों ही दिगग्नि भी कहलाते हैं। इसी अनशून्न्सांगमन के स्थान में अर्थात् प्रतिकृति रूप में मनुष्ययज्ञ में सभ्याग्नि कायम की जाती है। चूंकि प्रकृतियज्ञ में उस अग्नि का सम्बन्ध केवल उदर से ही होता है, अतएव इस सभ्याग्नि के पास भी यजमान बिना खाये ही प्रातः जाता है। चूंकि बिना खाये इसके पास जाता है, अतएव "अनशित्वैव प्रातः सभ्यैः संगम्यते" इस व्युत्पत्ति से इसे अ शून्न् सांगमन कहते हैं।

एवं कुण्ड में से जो भस्म बाहर निकाल कर फेंक दिया जाता है, उस समय का जो अग्नि है, वही असन्पांसव कहलाता है। ये ही पूर्वोक्त पांचों अग्नि प्रकृतियज्ञ में अर्थात् संसार के यावन्मात्र पदार्थों में रहते हैं। एव ये ही पांचों मनुष्ययज्ञ में रहते हैं। जो नाम प्रकृतियज्ञ में इन देवताओं का है, वही मनुष्ययज्ञ में भी। इसीलिए तो "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" कहा जाता है। चूंकि अग्नि पाँच है, इसलिए तो 'पाङ्क्तो वै यज्ञः" कहा जाता है। इस प्रकार जो विद्वान्—मेरे में ये सारे देवता रहते हैं, इस रहस्य को पहिचान

जाता है अर्थात् पाँचों अग्नियों के स्वरूप को व्यवहारिक कार्य द्वारा अपने वश में कर लेता है, वह इन सारे लोकों को जीत भी लेता है। एवं सारे लोक में उसका कामचार हो जाता है।अर्थात् पूर्वोक्त पदार्थतत्व को जानने वाला विद्वान् उन पदार्थों को यथेच्छ अपने व्यवहार में ला सकता है ।।३।।

अब तक पाँचों अग्नियों का स्वरूप बतलाया गया है, ये पाँचों अग्नि अर्थात् पाँचों देवता अग्निहोत्रकर्ता यजमान के घर में विराजमान रहते हैं अतएव यजमान को इनका उपस्थान करना पड़ता है । अपने से पूज्य व्यक्ति का प्रणामादि से सत्कार करना ही उपस्थान कहलाता है। उपस्थान को भारतीय सभ्यता में नित्यकर्म माना गया है। जो अनाहिताग्नि मनुष्य होता है, उसे माता-पिता एवं गुरु का प्रातःकाल उठते ही चरण छू कर उपस्थान करना पड़ता है । माता गार्हपत्याग्निस्थानीया है, पिता आहवनीयस्थानीय है एवं गुरु चूंकि दक्षिणासूत्र से बद्ध रहता है, अतएव वह दक्षिणाग्निस्थानीय है। परन्तु जो आहिताग्नि होता है, उसे माता-पितादि का तो उपस्थान करना ही पड़ता है परन्तु साथ ही में घर में आये हुए इन पाँचों देवताओं का भी उपस्थान करना पड़ता है। उन्हीं का उपस्थान बतलाते हुए— 'तेषामुपस्थानम्'—यह कहते हैं।

जो यजमान सायंकाल और प्रात काल आहवनीय में आकर ठहरता है एवं वहाँ बैठता है, बस वही आहवनीयाग्निका अर्थात् इन्द्रदेवता का उपस्थान है। पहिली आहुति खड़े-खड़े ही दी जाती एवं दूसरी उपसाद्य (बैठकर) दी जाती है। इसी भाव को बतलाने के लिए 'उपतिष्ठते' और 'आस्ते' कहा गया है। एवं जो यजमान आहवनीय में आहुति डाल वापिस लौट कर गार्हपत्य में बैठता है एवं सोता है, यही गार्हपत्याग्नि का उपस्थान है। अग्निहोत्रकर्ता यजमान को या तो गार्हपत्यशाला में जो कि गार्हपत्यागार नाम से प्रसिद्ध है सोना पड़ता है अथवा आहवनीयागार में। आहवनीय में आहुति देकर वापिस गार्हपत्याग्नि के पास लौटना पड़ता है, इससे भी उसका उपस्थान होता है। एवं जो वहाँ सोते हैं उससे भी उसका उपस्थान हो जाता है। इन्हीं दो बातों को बतलाने के लिए 'आस्ते' और 'शेते' कहा गया है। तथा परदेश जाते समय अन्वाहार्यपचन का स्मरण करना ही मन से उसका उपस्थान करना है। अर्थात् यह स्मरण करना ही मन से उसका उपस्थान है। गार्हपत्य और आहवनीय का उपस्थान तो प्रत्यक्ष रूप से किया जाना चाहिए एवं अन्वाहार्यपचन का उपस्थान मन (ध्यान) मात्र से करना चाहिये यही तात्पर्य है ।।४।।

इसके बाद प्रातःकाल बिना भोजन किए ही एक मुहूर्तमात्र सभा में अर्थात् सदोमण्डप में जहाँ पर कि सभ्याग्नि है बैठ कर बाद में यथेच्छ जहाँ चाहे वहाँ भ्रमण करे। अर्थात् सर्वप्रथम एक क्षणमात्र अवश्य ही उस सदोमण्डप में बैठना चाहिए। अनन्तर कहीं

भी घूम सकते हैं। क्षणमात्र सभ्याग्नि के समीप बैठना ही उस अनश्नन् साङ्गमन का (सभ्याग्नि) का उपस्थान है। एवं जहाँ पर आहवनीयकुण्डस्थ भस्म का उद्धरण कर उसे जो बाहर डालने के लिए ले जाना है यही उस असन् पांसव का उपस्थान है। पूर्वोक्त प्रकार से इस यजमान के आत्मा में एवं घर में सारे देवता उपस्थित हो जाते हैं। अर्थात् उपस्थान से देवता और यजमान आत्मा की कड़ी मिल जाती है ॥५॥

इत्युपस्थानप्रकरणम्

अन्वाहार्याहरण प्रतिदिन नहीं होना चाहिए—इसकी उपपत्ति बतलाते हैं—'गृहा वै गार्हपत्याः' यह कहा जाता है। घर ही यजमान की प्रतिष्ठा है एवं गार्हपत्य ही यजमान का घर है। इससे सिद्ध होता है कि गार्हपत्य यजमानदेवत्य है। यजमान का जो गार्हपत्य अर्थात् शरीरस्थ पार्थिव अग्नि है उसीका अग्निहोत्र द्वारा आहवनीय से अर्थात् दिव्याग्नि से सम्बन्ध किया जाता है। बीच का जो अन्वाहार्यपचन है वह चूंकि इस दिव्यात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता अपितु दिव्यात्मा में बाधा पहुँचाता है। अतएव इस अन्वाहार्यपचन को भ्रातव्यदेवत्य कहा जाता है। आहवनीय से दक्षिणाग्नि पैदा होता है एवं आहवनीय गार्हपत्य का भाई है। गार्हपत्य यजमानदेवत्य है एवं दक्षिणाग्नि भ्रातृपुत्र है। अतएव दक्षिणाग्नि को भ्रातृव्य कहते हैं। भतीजा अपने काका का स्वाभाविक शत्रु होता है। वह डाह करता रहता है कि यदि यह (काका) न होता तो सारी सम्पत्ति का अधिकारी मैं होता। इसीलिए भ्रातृव्य को वेद में शत्रु माना जाता है। दिव्यकर्म जितना भी होता है वह सब आहवनीय में ही होता है अर्थात् देवताओं के लिए आहवनीय में ही आहुति दी जाती है न कि दक्षिणाग्नि में। चूंकि वह दिव्याग्नि से विजातीय है अतः हर समय ही उस दक्षिणाग्नि का प्रज्वलित रहना अच्छा नहीं। यदि वह हर समय प्रज्वलित रहेगा तो दिव्याग्नि में उसका प्रवेश हो जायगा एवं उससे दिव्यात्मा में जो कि आहुति से पैदा होने वाला है विकृति उत्पन्न हो जाएगी। अतः प्रतिदिन दक्षिणाग्नि को प्रज्वलित नहीं करना चाहिए। दक्षिणाग्नि लौकिक कर्म के लिए है न कि दिव्य कर्म के लिए।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो यजमान प्रतिदिन आहरण करने से क्या हानि होती है इस विज्ञान को जान कर प्रतिदिन आहरण नहीं करता है उसके शत्रु उत्पन्न नहीं होते हैं। एवं जो प्रतिदिन आहरण करता है उसके खूब शत्रु उत्पन्न होते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि एक तो अन्वाहार्यपचन का प्रतिदिन उद्धरण करना शत्रुओं की वृद्धि करना है एवं दूसरे यह तो अन्वाहार्यपचन है अर्थात् पुराडोश पकाने की अग्नि है न कि आहुति देने की। जो आहुति देने की अग्नि है उसका प्रतिदिन आहरण करना

चाहिए न कि अन्वाहार्यपचन का। अतः प्रतिदिन अन्वाहार्यपचन का आहरण नहीं करना चाहिए।

पार्थिवाग्नि को गायत्राग्नि कहते हैं। एवं सौराग्नि को सावित्राग्नि कहते हैं। गायत्राग्नि को ही गार्हपत्याग्नि कहते हैं। सावित्राग्नि को आहवनीयाग्नि कहते हैं। गार्हपत्यग्नि साधक है एवं आहवनीय साध्य है परन्तु अन्वाहार्यपचन साधक और साध्य की कोटि में नहीं है अपितु साधन है। उसका काम केवल पुरोडाश पकाना है न कि दिव्यात्मा का निर्माण करना। अतः पुरोडाश को पकाने वाले इस अन्वाहार्यपचन का प्रतिदिन आहरण नहीं करना चाहिए। अग्निहोत्र के लिए जो दूध पकाया जाता है उसका परिपाक गार्हपत्य किं वा आहवनीय में ही कर लेना चाहिए। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—यजमानदेवत्यो वै गार्हप यः। अथैष भ्रातृव्यदेवत्यो यदन्वाहार्यपचनः। तस्मादेनं न अहरहराहरेयुः। न वा अस्य सपत्ना भवन्ति यस्यैवं विदुष एतं न अहरहराहरन्ति। अन्वाहार्यपचनो वा एषः' ॥६॥

इस प्रकार प्रतिदिन आहरण करने का निषेध करके उपवसथ के दिन ही आहरण करना चाहिए यह बतलाते हैं—

दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि के पहिले दिन अर्थात् अमा और पूर्णिमा को चूंकि उपवास किया जाता है, अतएव उस दिन को उपवसथ कहा जाता है। अतः उसी दिन अन्वाहार्यपचन का आहरण करना चाहिए। दर्शपूर्णमासेष्टि में ऋत्विजों को पुरोडाश खिलाया जाता है। इस पुरोडाश को पकाने के लिए ही उपवसथ के दिन अन्वाहार्यपचन का आहरण (प्रज्वलन) किया जाता है। जिस दिन अन्वाहार्यपचनीय कुण्ड में पकाने का काम करना होता है, उसी दिन वह श्रपणीयाग्नि अमोघता के लिए आहृत होता है, अर्थात् पुरोडाश पकाने के लिए जो इसका आहरण किया जाता है वह अव्यर्थ होता है। उसका उस दिन का आहरण व्यर्थ नहीं जाता है। अतः उपवसथ के दिन ही अन्वाहार्य का आहरण करना चाहिए। यदि प्रतिदिन आहरण किया जायगा तो वह आहरण व्यर्थ होगा। प्रत्येक क्रिया फलवती होनी चाहिए। व्यर्थ का कार्य आसुरभाव उत्पन्न कर देता है। प्रतिदिन व्यर्थ में ही आहरण कर दिव्यात्मा में बाधा नहीं पहुँचानी चाहिए। अतः उपवसथ के दिन ही आहरण करना चाहिए ॥७॥

पूर्णिमा व अमा को ही आहरण करना चाहिए, यह सिद्धान्त बतला कर इसीमें एक और विशेष बात बताते हैं कि आहरण करने के साथ ही यदि अग्नि बुझ जाय तो उस समय भी आहरण कर लेना चाहिए। अर्थात् उपवसथ के दिन भी आहरण किया जाय, और आहृत अन्वाहार्यपचन उसी समय हवा के झोंके से या और किसी विक्षेप के कारण

अवसित हो जाय तो उसका उसी समय दुबारा आहरण कर लेना चाहिए। इसके बाद सावधानी रखनी चाहिए जिससे कि वह अग्नि पुनः न बुझने पाये। इस प्रकार उस आहृत अन्वाहार्यपचन में पुरोडाश पकाये। उस पके हुए पुरोडाश का ब्राह्मण (ऋत्विक्) भक्षण करें। यदि किसी कारण से पकाने के लिए वह चीज (चावल) न मिले जो कि पकाने की है तो गाय के दूध को पकाने के लिए ही यजमान को कहदें, साथ ही उसे ब्राह्मण को पिलाने के लिए भी कहदें। अर्थात् वह पुरोडाश अथवा दूध दर्शपूर्णमासेष्टि में आये हुए ऋत्विजों को खिलाना व पिलाना चाहिए। इससे उस यजमान के सपत्न वेदम हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं, जिस यजमान के ऋत्विक् लोग इस रहस्य को समझ कर पूर्वोक्त विधि से इष्टि करते हैं। अर्थात् केवल उपवसथ के दिन ही आहरण करने से तो यजमान के शत्रु नष्ट हो जाते हैं तथा पुरोडाश व दूध को दक्षिणारूप में ऋत्विक् ग्रहण कर लेते हैं इससे दिव्यात्मा में बाधा नहीं पहुंचती। दोनों ही प्रकार से यजमान सम्पत्तियुक्त हो जाता है। उसके शत्रु भी मारे ज ते हैं। तथा दिव्यात्मा भी उत्पन्न हो जाता है। यदि प्रतिदिन आहरण किया जायगा तथा पुरोडाश ब्राह्मणों को नहीं खिलाया जायगा तो शत्रु भी नष्ट नहीं होंगे तथा दिव्यात्मा भी नहीं बनेगा, क्योंकि ऋत्विजों का मन, प्राण, वाक् भी यज्ञ में सम्मिलित रहता है। जब दक्षिणा से उन्हें तृप्त कर दिया जाता है तो दिव्यात्मा केवल यजमान का ही रह जाता है। और यदि दक्षिणा नहीं दी जाती है तो ऋत्विजों की आत्मा के मिश्रण से दिव्यात्मा का केवल यजमान से ही सम्बन्ध नहीं रहने पाता। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि - ऐसा करने से शत्रु नष्ट हो जाते हैं अतः यजमान को इष्टि में सदा पूर्वोक्तानुसार ही कर्म करने की इच्छा करनी चाहिए—'तस्मादेवमेव चिकीर्षेत् इति' ॥८॥

इति आहरणमीमांसा

अथ फलश्रुति (काम्यफलश्रुति) प्रकरणम्—

पार्थिव अग्नि ही अवस्थाभेद से वसुरुद्रादि ३३ रूपों में परिणत हो जाता है। इसी अभिप्राय से 'अग्निः सर्वा देवता' यह कहा जाता है। कोई भी अन्न जब तक अग्नि से स्पृष्ट नहीं होता, फीका रहता है एवं अग्नि के यथावद् परिपाक से वही मधुर हो जाता है एवं अधिक अग्नि-सम्बन्ध से वही अन्न कटु हो जाता है। एक ही अन्न अवस्थाभेद से फीका, मीठा व कटु हो जाता है। इसी तरह घन, तरल, विरल अवस्थाभेदमात्र से एक ही अग्नि—अग्नि, वायु, आदित्य बन जाता है। एक ही अग्नि ८ वसु बन जाते हैं, एक ही वायु एकादश रुद्र बन जाते हैं। एक ही आदित्य द्वादश आदित्य बन जाते हैं। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि अग्नि में चूंकि सारे देवता रहते हैं और वे केवल अग्नि की

अवस्थान्तरमात्र है अतः इस आहवनीय में प्रज्वलित अग्नि में अवस्थाभेद से उत्पन्न जो देवता हैं उनमें आहुति डालने से काम्यफलसिद्धि हो जाती है। अग्नि बिना सोम के नहीं रहता यह सिद्धान्त है। इसीलिए तो श्रुति कहती है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥"

सोम वरुणदेवताक है। सर्दी को सोम तथा गर्मी को अग्नि कहते हैं। ऐसी कोई गर्मी नहीं जिसमें सर्दी न हो, ऐसी कोई सर्दी नहीं जिसमें कोई गर्मी न हो। दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। सारे देवताओं का हमें प्रकृत में विवेचन नहीं करना है, अपितु रुद्र, वरुण (सोम), इन्द्र, मित्र एवं ब्रह्म इन पांच देवताओं का विवेचन करना है। संसार में कष्टप्रद देवता चार हैं—१. रुद्र २. वरुण ३. यम ४. निर्ऋति। गर्मी से जो पीड़ा होती है वह सब रौद्री है, इसमें सम्भवतः मृत्यु नहीं होती। एवं सर्दी से जो पीड़ा होती है उसे वारुणी कहते है, इसमें भी मृत्यु नहीं होती। यम की यातना से मृत्यु हो जाती है एवं निर्ऋति से मनुष्य दरिद्र हो जाता है। निर्ऋति की शक्ति को 'अप्वा' कहते हैं। इस 'अप्वा' के लिए श्रुति कहती है—

'अमीषा (शत्रूणां) चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सुशोकानन्धेनामित्रा सचन्ताम्' ॥इति॥

दुःखदात्री देवी को ही 'अप्वा' कहते हैं। यह बतलाया गया है कि अग्नि की अवस्था-भेद से ही नाना देव बन जाते हैं। उनमें से पाँच देवताओं का निरूपण करना है—

रुद्र—

जिस समय आहवनीयकुण्डस्थ अग्नि फूंक देते देते धूम के साथ एकदम जल पड़ता है, उस समय अग्नि रुद्र कहलाता है। अर्थात् अग्नि की प्रथमावस्था रुद्र है। जिस प्रकार रुद्र देवता कुछ कामों में अश्रद्धा उत्पादन द्वारा, कुछ को सहसा एवं कुछ का सर्वनाश कर डालता है। उसी तरह जो मनुष्य—"मैं भी रुद्र की तरह अश्रद्धा, हठात् एवं निघात कर सकूँ"—अर्थात् मेरे भोग्य अन्न पर रुद्र की तरह शासन कर सकूँ—ऐसी इच्छा करें, वे अग्नि की प्रथमावस्था में ही आहुति डालें। जो इस रुद्र को पहिचान कर उसमें आहुति डालता है वह उसी प्रकार भोग्य को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि रुद्र के अनेक कार्य हैं तथापि उनमें तीन ही प्रधान कार्य हैं—१. अश्रद्धा उत्पन्न करना, २. हठात् बाधा पहुँचाना, ३. सर्वथा कार्य का नाश कर देना।

तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार कार्य में बाधा पहुँचाना या उसे नष्ट करना रुद्र

का कार्य है। यह रुद्र साध्य, साधक (आत्मा), साधन तीनों का नाश करने वाला है। जो इन विधाओं में निपुण होना चाहें, उसे अग्नि की प्रथमावस्था (रुद्र) में आहुति डालना चाहिए ॥९॥

इसके बाद जब कि अग्नि प्रदीप्त हो जाता है, उस समय की शान्त अग्नि वरुण कहलाती है। यह अग्नि की दूसरी अवस्था है। हाथ-पाँव जकड़ना अर्थात् वातव्याधि उत्पन्न करना, बलात्कार करना व सर्वनाश करना उसके कार्य हैं। इन्हीं कार्यों के द्वारा वरुण प्रजाओं पर अधिकार रखता है। मैं भी अपने भोग्य का इसी प्रकार उपभोग करूं, उस पर वरुण की तरह अधिकार रखूँ—यह इच्छा रखने वाला व्यक्ति अग्नि की द्वितीयावस्था (वरुण) में आहुति डाले। जो विद्वान् इस वरुणस्वरूप को पहिचान कर उसमें आहुति डालता है, उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है ॥१०॥

इसके बाद जब अग्नि और भी प्रदीप्त हो जाता है एवं उसमें ऊपर धुआँ निकलने लगता है, तथा अत्यन्त वेग से भक्-भक् करने लगता है, अग्नि की इस तीसरी अवस्था को ही 'इन्द्र' कहते हैं। जो मनुष्य यह इच्छा करे कि—मैं इन्द्र की तरह श्री और शोभा से युक्त बनूँ—उसे उसी समय आहुति देनी चाहिए। जो विद्वान् इस इन्द्रस्वरूप को पहिचान कर, उस समय आहुति देता है वह अवश्य ही श्री व यश को प्राप्त हो जाता है। उसका शरीर श्रीमय हो जाता है तथा उसका यश इन्द्र की तरह चारों ओर फैल जाता है ॥११॥

इसके बाद जो अग्नि की ज्वाला अलग-अलग होकर विशकलित रूप से तिरछे रूप में निकलने लगे अर्थात् बुझने वाले अग्नि की जो इधर-उधर फली हुई तिरछी ज्वालायें हैं अग्नि की यह चतुर्थावस्था ही मित्र है। जब अग्नि बुझने लगता है तो उसमें एक ही ज्वाला नहीं रहती अपितु इधर-उधर चारों ओर छोटी-छोटी ज्वालायें निकलने लगती हैं। इस समय का अग्नि ही मित्र है। इस अग्नि में जलाने की अधिक शक्ति न रहने से तथा मन्द-मन्द ज्वालाओं के होने से भोजन का सम्यक् परिपाक हो जाता है इसलिए इसे मित्र कहा गया है। अतः जो यजमान यह इच्छा करे कि मैं मित्रता के भाव से भोग्य का भोग करूँ, मेरे बहुत से सहायक हो जायें, मेरा एक भी शत्रु न रहे तथा जिसे संसार का मित्र कहलाने की इच्छा हो वह इसी अवस्था में आहुति डाले। इस प्रकार मित्र के पूर्वोक्त स्वरूप को पहिचान कर जो अग्निहोत्र करता है वह वास्तव में संसार का मित्र बन जाता है ॥१२॥

इसके बाद जब ज्वाला बिल्कुल नहीं रहती है एवं केवल अंगारे धधकते रहते हैं, अग्नि की वह अवस्था ही ब्रह्म है। अतः जो यह इच्छा करे कि—मैं ब्रह्मवर्चस्वी बन

जाऊँ—वह अग्नि इसी अवस्था में हवन करे। जो यजमान अग्नि की इस ब्रह्मावस्था को पहिचान कर उसमें आहुति डालता है वह अवश्य ही ब्रह्मवर्चस्वी बन जाता है ॥१३॥

पूर्वोक्त रुद्र, वरुणादियों की आहुति में से प्रत्येक की कम से कम एव वर्ष उपासना करे। अर्थात् कम से कम एक वर्ष तक आहुति देने से ही पूर्वोक्त फलों की प्राप्ति हो सकती है। चाहे यजमान स्वयं हवन करे अथवा उसका प्रतिनिधि दोनों को एक वर्ष तक उस एक देवता के लिए आहुति देनी पड़ेगी। जो अन्यथा अन्यथा हवन करता है अर्थात् एक दिन रुद्र को, दूसरे दिन वरुण को, तीसरे दिन वरुण को आहुति देता है उसका यह आहुति देना उसी प्रकार का है जैसे कि कोई मनुष्य जल के लिए जमीन खोदता हुआ उसको बीच में ही छोड़ दे। इसी प्रकार जो मनुष्य एक दिन में एक साथ पांचों देवताओं के लिए आहुति देता है उसका हवन करना भी वैसा ही है जैसा कि पानी निकालने की इच्छा रखने वाले का एक साथ सारे बोझ को उठाना। अर्थात् एक साथ दस वस्तुओं को उठाने वाला जैसे व्याकुल होकर गिर जाता है वैसे ही उस व्यक्ति की दशा होती है जो एक साथ सब काम करता है। अतः एक वर्ष तक ही देवता का हवन करना चाहिए तभी फल-प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं ॥१४॥

जिस प्रकार जमीन में से पानी निकालने के लिए, मिट्टी खोदने के लिए लोहे की अभ्रि (कुदाली) होती है उसी प्रकार देवतायुक्त अग्निस्वरूप जमीन से फलरूप पानी को कुरेद कर निकालने के लिए ये आहुतियाँ अभ्रि हैं। अग्निस्वरूप जमीन से आहुतिरूप कुदाली से दिव्यात्मरूप पानी निकाल लिया जाता है। जो विद्वान् इस अभ्रिरहस्य को जानता हुआ एक वर्ष तक देवता को आहुति देता है वह अपने भोग्यजात को आहुति-स्वरूप कुदाली से कुरेदकर बाहर निकाल देता है। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति को अवश्य ही अभिलषित फल की प्राप्ति होती है ॥१५॥

यह बतलाया गया है कि पूर्वा और उत्तरा दो आहुतियाँ अग्नि में डाली जाती हैं एवं कुछ हव्य स्रुक् में बचा लिया जाता है। अग्नि में दी जाने वाली पहिली आहुति से देवता का निर्माण होता है तथा दूसरी आहुति से मनुष्यों की सत्ता होती है एवं स्रुक् में जो शेष बचता है, उससे पशुस्वरूप स्थित रहता है। प्राकृतिक यज्ञ में जितनी आहुतियाँ होती रहती हैं उतनी ही मनुष्याग्निहोत्र में दी जाती हैं। प्राकृतिक यज्ञ में पहिली आहुति से अग्नि-निर्माण होता है, दूसरी से मनुष्य-निर्माण होता है तथा अवशिष्ट से पशु बनते हैं। उस प्राकृतिक प्रजननक्रियानुसार दिव्यात्मा का प्रजनन किया जाता है। प्रजनन-क्रिया में तीन भाव से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं। अतएव प्रकृत में भी तीन ही आहुतियाँ दी जाती हैं। उस प्राकृतिक-विज्ञान को एवं प्रकृति की इतिकर्तव्यता को बतलाते हुए भगवान्

याज्ञवल्क्य कहते हैं—'सा या पूर्वाहुतिः ते देवाः । अथ योत्तरा ते मनुष्याः । अथ यत् स्रुचि परिशिनष्टि ते पशवः ।।१६।।

प्रकृतियज्ञ में पहिली आहुति कम द्रव्य की होती है, दूसरी उससे अधिक की और तीसरी उससे भी अधिक की । क्योंकि आहुतिक्रम में न्यूनाधिकभाव है, अतएव देवता बहुत कम पैदा होते हैं अर्थात् वे अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं । मनुष्य अधिक अर्थात् स्थूल होते हैं। हमारे शरीर में आत्मा अंगुष्ठमात्र है इसी आत्मा को देवता कहते हैं और हमारा शरीर उस आत्मा की अपेक्षा स्थूल है । एवं पशु एक एक मनुष्य के पचास-पचास होते हैं ।

अपि च दूसरी दृष्टि से भी देखा जाय तो देवता हमारे शरीर में तेंतीस हैं परन्तु मनुष्य एक ही है । इससे मालूम होता है कि मनुष्य की अपेक्षा देव (आत्मा) अत्यंत सूक्ष्म है । प्रकृत में यही बताना है कि प्राकृतिक यज्ञ में जिस क्रम से आहुति दी जाती है, उसी न्यूनाधिकक्रम से प्रकृत में आहुति दी जाती है । इसी विज्ञान को तथा इसी इति-कर्तव्यता को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान पूर्वाहुति को बहुत छोटी सी करके ही देता है, उत्तराहुति को अधिक मात्रा में आहुत करता है तथा इससे भी अधिक स्रुक् में बचा लेता है ।।१७।।

आहुतिक्रम बतला कर प्राकृतिकयज्ञरहस्य बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि–जिस लिए कि वह पहिली आहुति कनीयद्रव्ययुक्त डालता है अतएव मनुष्यों से देवता छोटे अर्थात् सूक्ष्म होते हैं अर्थात् अंगुष्ठमात्र ही हैं । क्योंकि दूसरी आहुति उससे ज्यादा डाली जाती है, अतएव देवताओं से मनुष्य बड़े हैं अर्थात् स्थूल हैं । चूंकि स्रुक् में मनुष्याहुति से भी ज्यादा हवनीय द्रव्य बचा लिया जाता है अतएव पशु मनुष्यों से भी अधिक संख्या में है । जो विद्वान् इस अग्निहोत्ररहस्य को जानकर आहुतिक्रम को सम्यक्-तया समझकर अग्निहोत्र करता है—उसके भार्य बहुत थोड़े होते हैं अर्थात् जिनका कि यजमान भरण-पोषण करता है वे जो भार्य हैं - भर्त्तव्य हैं—वे थोड़ी ही मात्रा में रहते हैं । एवं पशु अर्थात् अन्न अधिक मात्रा में रहता है । समृद्धि वही कहलाती है कि जिसके खाने वाले भर्त्तव्य मनुष्य थोड़े हों और पशु अर्थात् अन्न ज्यादा हो । तात्पर्य यही है कि पूर्वोक्त क्रमानुसार अग्निहोत्र करने वाला यजमान सदा प्रजा, पशु, श्री, यश से युक्त रहता है । एवं ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख का भागी बनता है ।।१८।।

इति द्वितीयकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः ।।

(मूल) यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे। स यत्राग्निं ससृजे स इदं जातः सर्वमेव दग्धुं दध्रे। इत्येवाबिलमेव ताः—यास्तर्हि प्रजा आसुः। ता हैनं सम्पेष्टुं दध्रिरे। सोऽतितिक्षमाणः पुरुषमेवाभ्येयाय ॥१॥

स होवाच—'न वा अहमिदं तितिक्षे, हन्त त्वा प्रविशानि तं मा जनयित्वा बिभृहि। स यथैव मां त्वममिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यसि एवमेवाहं त्वाममुष्मिंल्लोके जनयित्वा भरिष्यामीति ॥२॥

तथेति तं जनयित्वाऽबिभः। स यदग्नी आधत्ते—तदेनं जनयति—तं जनयित्वा बिभर्ति। स यथा हैवैष एतस्मिंल्लोके जनयित्वा बिभर्ति, एवमु हैवैष एतममुष्मिंल्लोके जनयित्वा बिभर्ति ॥३॥

तन्न साम्युद्वासयेत। सामि हास्मै स ग्लायति। स यथा हैवैष एतस्मा अमुष्मिंल्लोके सामि ग्लायति। तस्मान्न साम्युद्वासयेत ॥४॥

स यत्र म्रियते—यत्रैनमग्नावभ्यादधति—तदेषोऽग्नेरधिजायते। स एष पुत्रः सन् पिता भवति ॥५॥

तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम्—'शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः। यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति। मा नो मध्या रीरिषितायुर्गन्तोः' इति। (वा. सं. अ. २५ मं. २२) पुत्रो ह्येष सन्त्सः पुनः पिता भवति। एतन्नु तद्—यस्मादग्नी आदधीत ॥६॥

तद्वा एष एव मृत्युः—य एष तपति। तद् यदेष एव मृत्युः—तस्माद् या एतस्मादर्वाच्यः प्रजास्ता म्रियन्ते। अथ याः पराच्यस्ते देवाः। तस्मादु तेऽमृताः। तस्येमाः सर्वा प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिताः। यथाऽश्वोऽश्वाभिधान्या वाभीशुभिर्वा—एवमस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिताः तस्मादु रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते ॥७॥

स यस्य कामयते—तस्य प्राणमादायोदेति स म्रियते। स यो हैतं मृत्यु-

मनतिमुच्य—अथामुं लोकमेति—यथा हैवास्मिंल्लोके न संयतमाद्रियते—यदा यदैव कामयते—अथ मारयति—एवमु हैवामुष्मिंल्लोके पुनः पुनरेव प्रमारयति ॥८॥

स यत् सायमस्तमिते द्वे आहुती जुहोति—तदेताभ्यां पूर्वाभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठति। अथ यत् प्रातरनुदिते द्वे आहुती जुहोति—तदेताभ्यामपराभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठति। स एनमेष उद्यन्नेवादायोदेति। तदेतं मृत्युमतिमुच्यते। सैषाग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिः अति ह वै पुनर्मृत्युं मुच्यते—य एतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं वेद ॥९॥

यथा वा इषोरनीकम्—एवं यज्ञानामग्निहोत्रम् येन वा इषोरनीकमेति। सर्वा वै तेनेषुरेति। एतेनो हास्य सर्वे यज्ञक्रतवः-एतं मृत्युमतिमुक्ताः ॥१०॥

अहोरात्रे ह वा अमुष्मिंल्लोके परिप्लवमाने पुरुषस्य सुकृतं क्षिणुतः। अर्वाचीने वा अतोऽहोरात्रे तथो हास्याहोरात्रे सुकृतं न क्षिणुतः ॥११॥

स यथा रथोपस्थे तिष्ठन्नुपरिष्टाद् रथचक्रे पल्यङ्गमाने उपावेक्षेत एवं परस्तादर्वाचीनोऽहोरात्रे उपावेक्षते न ह वा अस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतः—य एवमेतामहोरात्रयोरतिमुक्तिं वेद ॥१२॥

पूर्वेणाहवनीयं परीत्यान्तरेण गार्हपत्यं चैति। न वै देवा मनुष्यं विदुः। त एनमेतदन्तरेणातियन्तं विदुः—'अयं वै न इदं जुहोति इति। अग्निर्वै पाप्मनोऽपहन्ता। तावस्याहवनीयश्च गार्हपत्यश्चान्तरेणातियतः पाप्मानमपहतः सोऽपहतपाप्मा ज्योतिरेव श्रिया यशसा भवति ॥१३॥

उत्तरतो वा अग्निहोत्रस्य द्वारम्। स यथा द्वारा प्रपद्येत एवं तत्। अथ यो दक्षिणत एत्यास्ते यथा बहिर्धा चरेद् एवं तत् ॥१४॥

नौर्ह वा एषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्। तस्या एतस्यै नावः स्वर्ग्याया

आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च नौमण्डे । अथैष एव नावाजो यत्क्षीरहोता ॥१५॥

स यत् प्राङ्ङुपोदैति–तदेनां प्राचीमभ्यजति स्वर्गं लोकमभि। तया स्वर्गं लोकं समश्नुते। तस्या उत्तरत आरोहणम्। सैनं स्वर्गं लोकं समापयति अथ यो दक्षिणत एत्यास्ते—यथा प्रतीर्णायामगच्छेत्, स विहीयेत, स तत एव बहिर्धा स्याद् एवं तत् ॥१६॥

अथ यामेतां समिधमभ्यादधाति सेष्टका। येन मन्त्रेण जुहोति—तद् यजुः। येनैतामिष्टकामुपदधाति—यदा वा इष्टकोपधीयते—अथाहुतिर्हूयते तदस्योपहितास्वेवेष्टकास्वेता आहुतयो हूयन्ते या एता अग्निहोत्राहुतयः ॥१७॥

प्रजापतिर्वा अग्निः। संवत्सरो वै प्रजापतिः। संवत्सरे संवत्सरे ह वा अस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना सन्तिष्ठते। संवत्सरे संवत्सरे चित्यमग्निमाप्नोति—य एवं विद्वान् अग्निहोत्रं जुहोति एतदु हास्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना सन्तिष्ठते चित्यमग्निमाप्नोति ॥१८॥

सप्त च वै शतान्यशीतीनामृचो विंशतिश्च ७२० (५७६००)। स यत् सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति ते द्वे आहुती। ता अस्य संवत्सर आहुतयः सम्पद्यन्ते ॥१९॥

सप्त चैव शतानि विंशतिश्च। संवत्सरे संवत्सरे ह वा अस्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते। संवत्सरे संवत्सरे महदुक्थमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति एतदु हास्याग्निहोत्रं महतोक्थेन सम्पद्यते महदुक्थमाप्नोति ॥२०॥

(अनुवाद) प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति ने अपने क्षरभाग से विकार-क्षरात्मक प्रजा को उत्पन्न किया। उस प्रजापति ने जब अग्नि को उत्पन्न किया तब उसने उत्पन्न होते ही सभी को जलाना प्रारम्भ किया। इससे प्रजा संकट में पड़ गई। उन प्रजाओं ने उस अग्नि को पेषण (मारने) के लिए पकड़ा। वह प्रजा के सम्पेषण को सहन न कर सका। और पुरुष प्रजापति की शरण में पहुँचा ॥१॥

उस अग्नि ने कहा कि मैं प्रजा के इस सम्पेषण को सहन नहीं कर सकता। मैं आप में ही प्रविष्ट होना चाहता हूँ। आपने मुझे उत्पन्न किया है, आप मेरा भरण-पोषण करें। जैसे आप मुझे उत्पन्न कर इस लोक में मेरा भरण-पोषण करेंगे, उसी प्रकार मैं परलोक में आपको उत्पन्न कर आपका भरण-पोषण करूँगा ॥२॥

प्रजापति ने 'तथास्तु' कह कर उस अग्नि को उत्पन्न कर उसका भरण-पोषण किया। जैसे यह यजमान अग्नि का गार्हपत्य व आहवनीय में आधान कर उस अग्नि को उत्पन्न करता है। (गार्हपत्य तथा आहवनीय में अग्नि का आधान ही अग्नि को उत्पन्न करता है) तथा जैसे यजमान उसे आहित कर उस अग्नि का भरण-पोषण करता है अर्थात् यावज्जीवन अग्निहोत्र द्वारा उसकी तृप्ति करता है उसी प्रकार यह आहित अग्नि यजमानात्मा को परलोक में उत्पन्न कर उसका भरण करता रहता है ॥३॥

इस आधान द्वारा उत्पादित अग्निहोत्राग्नि का मध्य में ही उद्वासन (विसर्जन) नहीं करना चाहिए अर्थात् यावज्जीवन उसे सुरक्षित रखना चाहिए। जो यजमान अधबीच में ही इसका उद्वासन कर देता है (अग्निहोत्र बन्द कर देता है) उसके लिए यह अग्नि मध्य में ही ग्लानियुक्त (सामर्थ्यहीन) हो जाता है। तथा जिस प्रकार यह अग्निहोत्र की अग्नि मध्य में ही सामर्थ्यहीन हो जाती है उसी प्रकार परलोक में भी यह अग्नि यजमानात्मा की सामर्थ्यहीनता का कारण बन जाती है अतः मध्य में ही इसका उद्वासन न करे ॥४॥

जहां पर यजमान मरता है तथा जहां इसे अग्नि पर रख देते हैं, अर्थात् मरणानन्तर इस यजमान का जिस अग्नि में दाह किया जाता है उसी अग्नि से

यह यजमान (यजमान का दिव्यात्मा) उत्पन्न होता है। इस प्रकार यजमान द्वारा उत्पादित यह अग्निहोत्राग्नि यजमान के दिव्यात्मा का उत्पादक होने से पुत्र होते हुए भी पिता बन जाता है ॥५॥

इसी अभिप्राय से वेद में कहा है—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मानो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥

हे देवताओं, आपने मनुष्यों को १०० वर्ष की आयु दी है। जहाँ पुत्र पिता बन जाते हैं, उस आयु को बीच में ही नष्ट मत कीजिए। यह अग्नि पुत्र होता हुआ भी अन्तिम अवस्था में पिता बन जाता है। इसीलिए अग्न्याधान किया जाता है ॥६॥

यही मृत्यु है जो कि यह (सूर्य) तप रहा है। चूंकि यह मृत्यु है अतएव इससे नीचे को प्रजा (भौतिक प्रजा) मरणधर्मा है। किन्तु इससे पराक् रहने वाली परमेष्ठो व स्वयम्भू की देवरूप प्रजा हैं, वे अमृत हैं। इस सूर्य की ये सारो प्रजायें रश्मियों द्वारा वैसे ही गृहोत (बद्ध) हैं जिस प्रकार अश्वाभिधानी रशना द्वारा अश्व गृहीत रहता है। इसलिए सूर्य-रश्मियां प्रजाओं के प्राणों में व्याप्त हैं ॥७॥

वह सूर्य जिसको चाहता है उसके प्राणों को लेकर उदित होता है, वह पुरुष मर जाता है। वह पुरुष उस मृत्यु से अतिमुक्त न होकर परलोक में चला जाता है। जिस प्रकार इस लोक में मृत्यु से अनतिमुक्त (बद्ध) पुरुष का आदर नहीं होता है, जब जिस समय मृत्यु चाहता है उसे मार देता है उसी प्रकार परलोक में भी उसे पुनः पुनः मृत्यु मारता ही रहता है अर्थात् वहां भी वह कष्ट ही पाया करता है और मृत्यु के अधीन हो रहता है ॥८॥

जो यह यजमान सायंकाल सूर्यास्त होने पर आहवनीयाग्नि में दो आहुतियां देता है। इन आहुतियों के द्वारा दोनों आगे के पैरों से मृत्यु पर प्रतिष्ठित होता है। तथा प्रातः सूर्योदय से पूर्व जो दो आहुतियां देता है उनके द्वारा पीछे के पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठित होता है। अतः सायं प्रातः की चार आहुतियों से निष्पन्न अमृत प्राण द्वारा यजमान उस मृत्यु पर आरूढ़ हो

जाता है। वह मृत्यु (सूर्य) जब यजमान को रश्मियों से लेकर उत्क्रान्त होता है तब वह यजमान मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, उससे अतिमुक्त हो जाता है। यही अग्निहोत्र में मृत्यु की अतिमुक्ति है अर्थात् मृत्यु से अतिमुक्ति ही अग्निहोत्र का फल है। जो इस प्रकार अग्निहोत्रजन्य मृत्यु से अतिमुक्तिरूप फल को जानता है वह भी मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है ॥९॥

जिस प्रकार बाण का अनीक (अग्रभाग) होता है वैसे ही अग्निहोत्र यज्ञों में अनीक (प्रधान) है। जिस प्रकार अनीक के मार्ग से ही बाण जाता है उसी प्रकार अग्निहोत्र की अतिमुक्ति से ही अन्य सम्पूर्ण यज्ञ अतिमुक्तिफल से युक्त होते हैं ॥१०॥

३६० दिन तथा ३६० रात्रियां इस प्रकार ७२० अरों से युक्त एक अहोरात्रचक्र घूमता रहता है। इसी अहोरात्रचक्र में सारे प्राणी घूमते रहते हैं। दिन और रात्रि रूपी अहोरात्रचक्र पुरुष के सुकृत (ज्योतिरूप आत्मा) का नाश करते रहते हैं। परन्तु जो अग्निहोत्री होता है, वह तज्जन्य अमृत-प्राण द्वारा मृत्यु से पराक् हो जाता है। अतः अहोरात्र उसके सुकृत (ज्योति-रूप आयु) का नाश नहीं कर सकते ॥११॥

जिस प्रकार रथ में बैठा हुआ घूमते हुए रथ के चक्रों को अवाङ्मुख होकर देखता रहता है उसी प्रकार अग्निहोत्र करने वाला यजमान अग्निहोत्र-जन्य अमृतप्राण के प्रभाव से सूर्य का अतिक्रमण कर अर्थात् सूर्य के बृहत् साम में पहुंच कर उसके नीचे परिवर्तमान अहोरात्रचक्र को देखता रहता है। जो उपर्युक्त अहोरात्रचक्र से अतिमुक्ति रूप फल को जानता है उस पुरुष के सुकृत को अहोरात्र नष्ट नहीं करते हैं ॥१२॥

आहवनीय[1] के पूर्व भाग में होकर गार्हपत्य और आहवनीय के बीच में आहवनीय में आहुति के लिए यजमान जाता है क्योंकि देवता मनुष्य यजमान को नहीं जानते हैं। किन्तु वह गार्हपत्य और आहवनीय के बीच में होकर जाता है तो उसे पहिचान लेते हैं और यह विचार करते हैं कि यह हमें आहुति देने जा रहा है। अग्नि पाप का नाश करने वाला है। गार्हपत्य और आहवनीय अग्नि

---

१. अन्तरेणापराग्नी गत्वा दक्षिणेन वा प्रदक्षिणमाहवनीयं परीत्योपविशति यजमानः (का० श्रौ० सू० ४।३०७)

दोनों के बीच से जाते हुए यजमान के पाप को नष्ट कर देते हैं क्योंकि सभी ३३ देवता अग्नि के अवस्थान्तरमात्र हैं। गार्हपत्याग्नि पार्थिव देवता है। आहवनीय द्युलोक के देवता हैं। दोनों ही देवों का दोनों अग्नियों के बीच से जाते हुए यजमान से सम्बन्ध होने से वे उभयविध देवता यजमान के मर्त्यभावरूप पाप्मा को नष्ट कर डालते हैं। इस प्रकार वह यजमानात्मा पापरहित होकर श्री (शरीरज्योति) तथा यश से युक्त हो जाता है ।।१३।।

अग्निहोत्र होम के लिए अग्निहोत्र के उत्तर में होकर जाना चाहिए। उत्तर की तरफ अग्निहोत्र का द्वार (मुख) है। जैसे कोई मनुष्य घर के द्वार में होकर घर में प्रवेश करता है, आहवनीय के उत्तर में होकर जाना उसी प्रकार का है। जो अग्निहोत्र के दक्षिण में जाकर आहुति के लिए आहवनीय के पास में बैठता है वह उसके बाहर ही घूमने के समान है ।।१४।।

अग्निहोत्र स्वर्ग में जाने की नौका है। अर्थात् पृथिवी लोक में स्थित यजमान को स्वर्ग में पहुँचने के लिए मध्यस्थित अन्तरिक्ष को पार करना पड़ता है। अन्तरिक्ष, आपोमय समुद्र है। उस समुद्र को पार कर स्वर्ग में पहुँचने के लिए अग्निहोत्र ही नौका है। इस अग्निहोत्ररूपी नौका के चलाने के लिए गार्हपत्य और आहवनीय दो नौदण्ड हैं। तथा क्षीर की आहुति देने वाला यजमान ही उसका नाविक (नौका का चलाने वाला खेवटिया) है ।।१५।।

यजमान पूर्व की ओर मुख करके होम के लिए गार्हपत्य से आहवनीय की ओर जाता है। ऐसा करता हुआ वह इस अग्निहोत्र नौका को पूर्व की ओर जहाँ कि स्वर्ग है, ले जाता है। और इस आहवनीयाहुति से वह स्वर्गलोक को प्राप्त कर लेता है। उस अग्निहोत्रनौका में उत्तर को तरफ से आरोहण करना चाहिए अर्थात् उत्तर की तरफ से आहवनीय में प्रवेश करना चाहिए। उत्तर[1] की तरफ से आरोहण करने पर वह अग्निहोत्रनौका यजमान को सम्यक् प्रकार

१. दक्षिण में रहने वाली अग्नि का रुख उत्तर की तरफ ही होता है। अर्थात् अग्नि अपने स्थान दक्षिण से उत्तर की तरफ जाती है। उत्तर की तरफ से यजमान अग्निहोत्र नौका पर आरोहण करता है, तो अग्नि के साथ उत्तरवर्ती स्वर्ग लोक में पहुँच जाता है और दक्षिण की ओर से आरोहण करने पर अग्नि के उत्तर भाग में चले जाने से वह उस अग्निहोत्र नौका में आरूढ़ नहीं हो सकेगा और स्वर्गलोक में नहीं पहुँच सकेगा।

से स्वर्गलोक में पहुँचा देती है। किन्तु जो दक्षिण की तरफ से आकर इस नौका पर बैठता है, उसका वह बैठना नौका के चले जाने पर उस पर बैठने के लिए आना है। ऐसी स्थिति में नौका चली जायेगी और वह वहाँ ही रह जायेगा, अतः वह स्वर्ग लोक से भी बहिर्भूत ही रहेगा ।।१६।।

अग्निहोत्र में चयनभाव का प्रवेश करने के लिए कहते हैं—इस आहवनीय में जिस घृताज्य समिधा को आहुति से पूर्व अग्नि में रखते हैं वह समिधा ही चयनयज्ञ की इष्टका है[1]। जिस मन्त्र का उच्चारण कर उसको अग्नि पर रखा जाता है अर्थात् जिस मन्त्र के द्वारा यजमान इष्टका का उपधान करता है वही यजु है। जब इष्टका का उपधान कर दिया जाता है तभी आहुति दी जाती है। इस प्रकार उपहित इष्टकाओं में ही आहुतियों का हवन होता है जो कि अग्निहोत्राहुति हैं। इस रीति से समिध्-रूप इष्टकाओं का चयन करके ही आहुति दी जाती है। अतः इस अग्निहोत्र में चयनभाव का समावेश हो जाता है ।।१७।।

चयन संवत्सराग्नि में ही होता है, अतः अग्निहोत्र में चयनभाव के समावेश के लिए संवत्सराग्निसम्पत्ति का प्रतिपादन किया जा रहा है—एक वर्ष में सूर्य की परिक्रमा करने वाली पार्थिवाग्नि ही प्रजापति है। वार्षिक ऋत्वग्नि से सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति होने से यह संवत्सराग्नि प्रजापति है। प्रतिदिन सायं-प्रातः क्रियमाण अग्निहोत्र भी संवत्सर के बाद चित्याग्नि से युक्त हो जाता है। वर्ष भर में व्याप्त चित्याग्नि को वर्ष भर में अग्निहोत्र के द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता है। अतः अग्निहोत्र वर्ष भर में सांवत्सरिक अग्नि की सम्पत्ति से युक्त होने के कारण चयनभाव से युक्त हो जाता है। इस रहस्य को जानता हुआ जो अग्निहोत्र करता है, उसका वह अग्निहोत्र सांवत्सरिक चित्याग्नि से युक्त हो जाता है। अर्थात् वह यजमान सांवत्सरिक चित्याग्नि को प्राप्त कर लेता है, उसे आत्मसात् कर लेता है ।।१८।।

जिस प्रकार चयन में महदुक्थ का समावेश है, उसी प्रकार अग्निहोत्र में[2]

---

१. चयनयज्ञ में लोकम्पृणा, यजुष्मती व परिसृत् तीन प्रकार की इष्टकाओं का चयन किया जाता है। इनमें यहां (अग्निहोत्र में) घृताज्य समिधा लोकम्पृणा, जिस मन्त्र से उसका आधान किया जाता है वह यजुष्मती इष्टका तथा उपहित इष्टकाओं में आहुति देना परिसृत् इष्टका है।

२. गायत्री तृचाशीति ८०×३=२४०। औष्णिही तृचाशीति ८०×३=२४०। बार्हती तृचाशीति ८०×३=२४० संभूय =७२० ऋचायें महदुक्थ में होती हैं।

भी है--१ गायत्री तृचाशीति, औष्णिही तृचाशीति, बार्हती तृचाशीति इन तीन तृचाशीतियों के कारण ७२० ऋचायें महदुक्थ में होती हैं। इसीलिए ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है-'गायत्री तृचाशीतिः औष्णिही तृचाशीतिः। बार्हती तृचाशीति-रिति तिस्रस्तृचाशीतयो विहिताः (ऐ. ब्रा. ५ अ. २/२ अ. ३-४-५)। अग्निहोत्र में संवत्सर में ३६० दिन होते हैं, उनमें सायं प्रातः की दो-दो आहुतियों के कारण ७२० आहुतियाँ हो जाती हैं। इस प्रकार एक संवत्सर में यजमान का अग्निहोत्र ७२० सम्पत्ति के कारण महदुक्थ की सम्पत्ति से युक्त हो जाता है। इस रहस्य को जानता हुआ जो अग्निहोत्र करता है, उसका अग्निहोत्र संवत्सर में महदुक्थसम्पत्ति से प्राप्त कर लेता है ॥१९-२०॥

इति द्वितीयकाण्डे तृतीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्

(भाष्य) प्रजापति शब्द का श्रुति में बहुतायत से प्रयोग आता है। इस प्रजापति का क्या स्वरूप है— इसका विवेचन हम पूर्व की सृष्टि-विषयक श्रुतियों में कर चुके। वहाँ उसी प्रकरण में हमने बतलाया था कि प्रजापति के अनेक स्वरूप होते हैं। जो प्राणवान् है- वह प्रजापति कहलाता है। जो प्रकृतिविशिष्ट पुरुष है, वह भी प्रजापति कहलाता है। तात्पर्य यही है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थ प्रजापति है। एक प्रजापति ऐसा है जो प्रजापति ही है एवं एक प्रजा ऐसी है जो प्रजा ही है। बीच के सब प्रजापति हैं और सब प्रजा है। संसार के यच्च यावत् पदार्थों में हम जो एक विधृति देखते हैं—स्थिरता देखते हैं, यह उसी प्रजापति की महिमा है। प्रजापति प्राणस्वरूप है। इसी विधारक प्राण की बदौ-लत पदार्थ स्थिररूप से दिखलाई पड़ता है। सौ वर्ष की पुरानी पुस्तक को जहाँ से उठाया जाता है, वहीं से उसका हिस्सा टूट आता है। इसका कारण एकमात्र विधायक प्राणका निकलना है। यदि वस्तुतः इस प्राण का स्वरूप पूछा जाय तो वह आग्नेय ही बतलाना पड़ेगा। संसार के यावन्मात्र पदार्थों में वैश्वानराग्नि रहता है, उसी अग्नि से पदार्थ-सत्ता रहती है। वह प्राण-प्रजापति वैश्वानराग्निमय है। जो सूर्य की अग्नि है, उसे सावित्राग्नि कहते हैं, एवं पार्थिवाग्नि को गायत्राग्नि कहते हैं। यही सावित्राग्नि पृथ्वी की वस्तु बनकर गायत्राग्नि कहलाने लगता है। सावित्राग्नि प्रजापति है एवं गायत्राग्नि उस सूर्य प्रजापति की प्रजा है। गायत्राग्नि से सान्तपनाग्नि उत्पन्न होता है। अतः इस सान्तपन की अपेक्षा गायत्राग्नि प्रजापति है। प्रजा और प्रजापतिक्रम धारारूप से चलता रहता है।

प्रकृत में जो प्रजापति है, उससे प्रकृतिविशिष्ट पुरुष-प्रजापति का ही ग्रहण समझना चाहिए। इस प्रकृतिविविष्ट पुरुष-प्रजापति से सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न होता है। अग्नि

अन्नाद है—भोक्ता है। अग्नि हर समय खुराक खाने की इच्छा करता है, यदि उसमें आहुति नहीं दी जाती है तो वह उस पदार्थ को ही जलाने लगता है, जो कि उसका उपादान है। जिस समय प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति से अग्नि उत्पन्न हुआ, उस उत्पन्न अग्नि ने प्रजा को अर्थात् शरीरभाग को जलाना प्रारम्भ किया। संसार के प्रत्येक पदार्थ में आत्मा, शरीर और महिमा ये तीन भाग रहते हैं। महिमा का विवेचन हम प्रकृत में नहीं करेंगे। आत्मा और शरीर इसी के विषय में कुछ कहेंगे। आत्मा षोडशी कहलाता है। अव्यय, अक्षर, एवं क्षर की समष्टि का नाम ही आत्मा किं वा पुरुष है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पाँच कला अव्यय की हैं। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम ये पाँच कला अक्षर की हैं। प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद, अन्न ये पांच कला क्षर की हैं। एवं सोलहवाँ परात्पर है। इन सोलह कलाओं के समूह को ही पुरुष कहते हैं। इस पुरुष के क्षर भाग से उत्पन्न जो विकारक्षरसृष्टि है, वही इस पुरुष का शरीर है। जब क्षर (विकार) प्रजा उत्पन्न हो गयी, तो इस पुरुष से उत्पन्न अग्नि ने उस वैकारिक प्रजा को अर्थात् शरीर को जलाना चाहा। संपूर्ण कथन का यही तात्पर्य है कि प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति से उत्पन्न अग्नि ने वैकारिक क्षरसृष्टि को—शरीर-भाग को जलाना चाहा।

हमने बतलाया था कि अग्नि भोक्ता है। उसे कुछ न कुछ खुराक चाहिए। यदि उसे खुराक नहीं मिलती है, तो वह अपने शरीर को ही जलाने लगता है। हम अन्नाहुति इस शरीरस्थ अग्नि के लिए देते रहते हैं। अतएव यह अग्नि हमारे शरीर को नहीं जलाता। यदि हम दो-चार दिन इसके लिए अन्नाहुति न दें, तो यह अग्नि शरीर को ही जलाने लगेगा। थोड़े ही दिन में हाड, माँस, चर्बी का शोषण करने लगेगा। चूंकि सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में सिवाय उस आत्मा और शरीर भाग के और कुछ न था। अतः आत्मा से अर्थात् प्रजापति से उत्पन्न अग्नि ने उस क्षरभाग को सर्वात्मना जला डालना चाहा। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे, स यत्राग्निं (सावित्रं गायत्रं वा) ससृजे, स इदं जातः सर्वमेव दग्धुं दध्रे।"—भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उस समय की जो प्रजा थी, वह आविल (कष्टमयी) थी। अर्थात् उस उत्पन्न अग्नि ने इस प्रजा को (क्षर शरीर को) जला डालना चाहा। यही एक उस प्रजा के लिए घोर कष्ट का विषय था।

जब तक अग्नि आत्मा में रहता है, तब तक वह शरीरभाग को नहीं जलाता। आत्मा को तो जला ही क्या सकता है क्योंकि वह आग्नेय है। जब यह अग्नि आत्मा से बाहर निकल पड़ता है तो फिर शरीर को जलाने लगता है। बांस में अग्नि है, परन्तु वह उसे नहीं जलाता। काष्ठ में अग्नि है परन्तु वह उसे नहीं जलाता क्योंकि वह अपने कारण आत्मा में लीन रहता है, परन्तु जब वह अपने कारणभूत उस आत्मा से बाहर निकल जाता है तो

फिर उस शरीर को अर्थात् बाँस और काष्ठ को जला डालता है। जब जला चुकता है तो फिर वह अपने कारण (आत्मा) में ही लीन हो जाता है। जो अग्नि अब तक अपने कारण में लीन था, वह कारण से बाहर निकल कर उस शरीरभाग को जलाना चाहता है। परन्तु उसी समय यदि उस काष्ठ को किंवा वंशसमूह को जल से सिक्त कर दिया जाता है तो वह अग्नि पुनः अपने कारण में ही लीन हो जाता है। इसी विज्ञान को बतलाने के अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"जब उस उत्पन्न अग्नि में अपने से ही उत्पन्न प्रजा (क्षर भाग को, शरीर को) को जलाना चाहा, तो यही उस प्रजा के सिए बड़े कष्ट का विषय था। जब प्रजा ने देखा कि यह तो अपने को सर्वात्मना जला डालेगा, अतः इसका विरोध करना चाहिए। यह विचार कर उस प्रजा ने उस अग्नि का मन्थन करना शुरू किया अर्थात् उस पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया (बुझा दिया)।" भला अग्नि प्रजा के उस आक्रमण को कैसे सहन कर सकता था। वह उस आक्रमण को न सहता हुआ, अपने कारणस्वरूप प्रजापति की ओर उन्मुख हुआ।

अग्नि केन्द्र से हर समय बाहर निकलता है, परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, इन हृद्य देवताओं की पकड़ से यह उच्छिन्न नहीं हो सकता। यदि हृद्य प्रजापति की पकड़ से अग्नि छूट जाय, तो उसी समय वह अग्नि, उस शरीरभाग को अर्थात् क्षरसृष्टि (प्रजा) को जलाता हुआ, आप स्वयं उच्छिन्न हो जाय। जिस समय अग्नि उत्पन्न हुआ, उस समय वह केन्द्र से बाहर निकलने लगा। एवं साथ ही में विकारक्षरभाग को जलाने लगा। और आप भी उच्छिन्न होने लगा एवं साथ ही में क्षरसृष्टि का संहार करने लगा। परन्तु प्रजापति की पकड़ से, उसके आकर्षण से वह अग्नि उच्छिन्न न हो पाया, अपितु नियतिस्वरूप सत्यसूत्र से बद्ध होकर उस पुरुषप्रजापति से बद्ध बना रहा, जो कि प्रजापति केन्द्र में रहता है। इसी सृष्टिविज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यत्र वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे स यत्राग्निं ससृजे, स इदं जातः, सर्वमेव दग्धुं दध्रे। इत्येवाबिलमेव यास्तर्हि प्रजा आसुः। ता हैनं संपेष्टुं दध्रिरे। सोऽतितिक्षमाणः पुरुषमेवाभ्येयाय ॥१॥

अग्नि प्रजा से मथा जा कर पुरुष की ओर गया और वहाँ जाकर उसने भगवान् प्रजापति से कहा कि—"हे प्रजापते ! मैं इस प्रजाकृत सम्पेषण को कदापि सहन नहीं कर सकता हूँ। उस सम्पेषण के प्रतिकार का और तो कोई उपाय मैं कर नहीं सकता हूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि केवल आप में प्रवेश करूँ अर्थात् आपका आश्रय लूँ। आपके आश्रय में आए हुए मुझ अग्नि को आप उत्पन्न कर मेरा भरण-पोषण कीजिए। हे

प्रजापते ! श्राप जैसे मुझे इस लोक में उत्पन्न कर मेरा भरण-पोषण करेंगे, वैसे ही मैं परलोक में श्रापको उत्पन्न कर श्रापका भरण करूँगा।"

जब अग्नि ने प्रजापति से यह कहा तो उन्होंने उसी समय 'तथास्तु' कहा। यह कह कर प्रजापति ने उस अग्नि को उत्पन्न कर उसे सुरक्षित कर दिया।

हमने बतलाया कि यदि अग्नि की पकड़ पुरुषप्रजापति से न होती तो वह अग्नि उच्छिन्न हो जाता एवं साथ ही में क्षरप्रजा का भी नाश हो जाता परन्तु हृद्य-प्रजापतिस्थ विष्णु अक्षर की अशनाया-शक्ति से वह अग्नि उच्छिन्न नहीं होने पाता। सर्वप्रथम उत्पन्न आंगिरस अग्नि अर्थात् सौराग्नि जो कि बाहर निकल उच्छिन्न होना चाहता था एवं क्षर-प्रजा को भी नष्ट करना चाहता था, वह न स्वयं नष्ट हुआ एवं न उसने क्षरप्रजा को नष्ट किया। क्योंकि वह प्रजापति के केन्द्र से बद्ध रहा। विष्णु की अशनाया शक्ति ने सोम का आहरण कर—उसे उस अग्नि में आहुत कर उस निकले हुए अग्नि की क्षतिपूर्ति करना आरम्भ किया। जितना अग्नि निकला—उतनी ही कमी को—सोमाहुति से पूरा करने का चक्र चलाना आरम्भ किया, जो कि चक्र आज तक अविच्छिन्न रूप से चलता आ रहा है। सूर्य-अग्निहोत्र में प्रजापति ने अग्नि को स्थिर कर दिया, जो कि अग्नि आज तक उसी रूप में दिखलाई पड़ता है। यह सूर्याग्निहोत्र का निरूपण हुआ। अब पृथिवी अग्निहोत्र का निरूपण किया जाता है, जिससे हमारा सम्बन्ध है। पूर्व में बतलाया गया है कि प्रजापति शब्द का व्यवहार आपेक्षिक है, जैसे गायत्राग्नि की अपेक्षा से सावित्राग्नि प्रजापति है, इसी प्रकार सान्तपनाग्नि की अपेक्षा से गायत्राग्नि प्रजापति है। प्रकृत का इसी गायत्र पार्थिव प्रजापति से सम्बन्ध है। जिस प्रकार सौराग्नि उच्छिन्न होना चाहता था, किन्तु न हो सका, उसी प्रकार पार्थिवाग्नि भी उच्छिन्न होकर उसकी प्रजा को नष्ट करना चाहता था, परन्तु न प्रजा को नष्ट कर सका और न ही स्वयं नष्ट हुआ। अपितु पार्थिव हृद्य प्रजापति के केन्द्र से बद्ध हो गया।

अग्नि को उत्पन्न कर उसका भरण करना ही इसका तात्पर्य है। उसी प्रजापति की हृद्यशक्ति से अग्नि पार्थिवाग्निहोत्र में स्थिर हो गया, जो आज तक भी स्थिर है। यदि पृथ्वी से यह अग्नि निकल जाता, तथा प्रजापति उसे उत्पन्न कर, उसे अपनी पकड़ में न रखते तो विश्व का स्वरूप ही नष्ट हो जाता। यह उस अग्नि के आधान की ही महिमा है, जिससे आज पृथ्वी और सूर्य दिखलाई दे रहे हैं।

अपि च यदि पृथ्वी में अग्नि स्थिर नहीं होता, प्रजापति उसको अपना आश्रय नहीं देते, तो प्रजापति का सम्बन्ध द्युलोक से न होता। अर्थात् प्रजापति स्वयं आग्नेय है, यदि अग्नि न रहता तो प्रजापति की सत्ता कहाँ से रहती ? उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है

कि प्रजापति से उत्पन्न अग्नि प्रजापति द्वारा पार्थिवाग्निहोत्र में स्थिर है एवं प्रजापति द्वारा इसका भरण-पोषण होता है तथा प्रजापति की द्युलोक में सत्ता इसी अग्निहोत्र के कारण होती है। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"स होवाच नत्राऽहमिदं तितिक्षे—हन्त त्वा प्रविशानि। तं मां जनयित्वा बिभृहि। स यथैव त्वमस्मिँल्लोके जनयित्वा भरिष्यस्येवमेवाहं त्वाममुष्मिँल्लोके जनयित्वा भरिष्यामि। इति। तथेति (उक्त्वा) तं जनयित्वाऽबिभः ॥२॥

हमने पूर्व के प्रकरणों में बतलाया कि प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति पर ही मनुष्ययज्ञ की रचना की गयी है जिस प्रकार प्रजापति पृथ्वी में अग्नि का आधान करते हैं एवं तद्-द्वारा अपना सम्बन्ध पार्थिव प्रजापति द्युलोक से करते हैं। एवं जैसे यावज्जन्म अर्थात् यावत्सृष्टि उनको उस अग्नि को सुरक्षित रखना पड़ता है, तद्वत् ही इस मनुष्य को भी अपने आत्म-प्रजापति में अग्न्याधान करना पड़ता है एवं अग्निहोत्र करना पड़ता है। इस अग्न्याधान और अग्निहोत्र के कारण इस मनुष्य की आत्मा का सम्बन्ध द्युलोक से हो जाता है। इस मनुष्य के मर जाने पर इस मनुष्य द्वारा आहित एवं प्रजापतिवत् यावज्जन्म सुरक्षित अग्नि उसे परलोक में उत्पन्न कर वहाँ उसका भरण करता है। तात्पर्य यही है कि वैध उपायों से दिव्याग्नि का आत्माग्नि में आहुति द्वारा सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है। जब मनुष्य इस देह को छोड़ता है तो उस दिव्याग्नि की पकड़ से वह सीधा स्वर्ग में चला जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"जो कि यजमान अग्नि का गार्हपत्य और आहवनीय में (तद्द्वारा अपने आत्मा में) आधान करता है, वह अग्नि को उत्पन्न करता है तथा यावज्जन्म अग्निहोत्र द्वारा उसका भरण करता है अर्थात् सायं-प्रातः आहुति द्वारा उस उत्पन्न किये हुए अग्नि को तृप्त करता रहता है। जैसे यह यजमान इस लोक में अपने को उत्पन्न कर यावज्जीवन उसका भरण-पोषण करता है, तद्वत् यह अग्नि इस यजमान को (आत्मा को) मरने पर परलोक में पैदा कर उसका भरण करता है।"

तात्पर्य यह है कि वैध उपायों द्वारा जिस दिव्याग्नि को आत्मसात् कर लिया जाता है एवं यावज्जीवन आहुति से उसे सुरक्षित रखा जाता है, वह दिव्याग्नि इस यजमान आत्मा को स्वर्ग में उत्पन्न कर अर्थात् स्वर्ग में ले जाकर वहाँ उसका पालन-पोषण करता है अर्थात् अग्निहोत्रकर्ता यजमान स्वर्ग में जाता है एवं वहां अनन्त सुख का उपभोग करता है ॥३॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—चूंकि भगवान् प्रजापति ने जिस अग्नि का आधान किया—उसे वे जन्म भर अर्थात् सृष्टिपर्यन्त सुरक्षित रखते हैं अर्थात् प्राकृतिक यज्ञाग्नि कभी उच्छिन्न नहीं होता है एवं उसी की प्रतिकृति पर हमारा मनुष्ययज्ञ है। अतएव

अग्निहोत्र अग्नि का बीच में ही उद्वासन नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुति कहा करती है—"एतद्वै जरामर्य्यं सत्रं यदग्निहोत्रं। जरया वा जीर्य्यते मृत्युना वा शीर्य्यते।" तात्पर्य यह है कि अग्निहोत्र की अग्नि को यावज्जीवन सुरक्षित रखना चाहिए। जो मनुष्य बीच में ही इस अग्निहोत्र को बन्द कर देता है उसके लिए यह अग्नि (दिव्यात्मा) सामर्थ्यहीन हो जाता है। जिस प्रकार यह अग्नि इस लोक में बीच में ही सामर्थ्यहीन हो जाता है तद्वत् परलोक में भी यजमान के लिए यह सामर्थ्यहीन हो जाता है। अतः बीच में कभी अग्निहोत्र बन्द नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यही है कि जिस दिव्याग्नि का आधान आत्मा में किया जाता है, उसकी रक्षा के लिए यावज्जीवन उसका सम्बन्ध बनाये रखने के लिए अग्निहोत्र करना पड़ता है। यदि अग्निहोत्र बीच में ही विच्छिन्न कर दिया जाय तो उस विद्युत् का सम्बन्ध टूट जायगा, जो दिव्य और शारीर अग्नि में मिला रहता है। वह विद्युत्—दैवात्मा—शारीरात्मा से अपना सम्बन्ध न छोड़े। अतः अग्नि का बीच में कभी उद्वासन नहीं करना चाहिए ।।४।।

किस प्रकार से आहिताग्नि परलोक में उत्पन्न होता है एवं किस प्रकार उसका परलोक में भरण करता है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं—

जिस समय यह मर जाता है एवं जहाँ इसे अग्नि में रख देते हैं अर्थात् जिस अग्नि में अग्निहोत्र किया जाता है, उसी अग्नि से चिता बनाकर उसे जलाया जाता है। वहीं उस अग्नि से यजमान उत्पन्न होता है। जिस समय प्राणोत्क्रान्ति होती है, प्रज्ञानात्मा जो कि भूतात्मा नाम से प्रसिद्ध है उसी समय निकल जाता है। यह प्रज्ञानात्मा आपामर प्राणिमात्र का समान है। इसी प्रज्ञानात्मा के लिए—"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणोऽस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्—" कहा जाता है, परन्तु जो आहिताग्नि होता है, उसके एक नया दैवात्मा उस अग्नि से और उत्पन्न होता है, जिसका कि वह आधान करता है। जब शरीर को अग्निहोत्र की अग्नि से जलाया जाता है, उस समय वह अग्नि इस यजमान के दैवात्मा को उत्पन्न करता है, जो कि स्वर्ग में आनन्दभोग करता है। इस प्रकार से जिस अग्नि को यजमान ने उत्पन्न कर यावज्जीवन आहुति द्वारा उसका भरण-पोषण किया था, वही अग्नि मर जाने पर यजमान को (दिव्यात्मा को) उत्पन्न करता है। इस प्रकार जो अग्नि यजमान का प्राथमिक अवस्था में पुत्र रहता है, वही मरणोपरान्त यजमान का पिता बन जाता है। इसी अभिप्राय से महर्षि कहते हैं ।।५।।

शतमिन्नु शरदोऽअन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ।।

हे देवाः। अग्नि (अन्तिके—मनुष्याणां समीपे) शतमित् (शतसंख्याका एव) नु

(खलु) शरदः (संवत्सराः) यत्रा (यस्मिन् आयुषि शतसंवत्सरेषु) तनूनाम् (शरीराणाम्) जरसं (जरां) चक्रा (कृतवन्तः)। यत्र (च) पुत्रासः (पुत्राः) पितरो भवन्ति नः (अस्माकं) तत् आयुर्गन्तोः (गमनात् पूर्वं) मध्या (मध्ये) मा रीरिषत (हिंसनं मा कृषत।" इति।

हे देवताओं ! आपने मनुष्यों के समीप सौ (१००) ही शरद्ऋतुयुक्त अर्थात् सौ वर्षों से युक्त शरीरों की वृद्धावस्था को किया है एवं जहाँ (जिस समय में) पुत्र पिता हो जाते हैं—हमारी आयु के उस समय तक के काल में बाधा न डालिए अर्थात् जिस समय पुत्र पिता बन जाते हैं, उस अन्तिम सौवें वर्ष के बीच में ही हमारी मृत्यु न हो जाय, यही हम आपसे चाहते हैं।

पूर्वोक्त सूक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि वही अग्नि जिसे यजमान उत्पन्न कर यावज्जीवन उसका भरण करता है, अन्तिमावस्था में यजमान की दिव्यात्मा को उत्पन्न करने के कारण पिता बन जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—"यह अग्नि पुत्र होता हुआ, अन्तिमावस्था में पिता बन जाता है। यही कारण है जिसके लिए कि अग्न्याधान किया जाता है अर्थात् अग्निहोत्र करने से यजमान स्वर्ग में चला जाता है" ॥६॥

ब्रह्माण्ड का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का माना गया है। पुराणों में जहाँ तक सौर-मण्डल अर्थात् प्रकाशमण्डल है वहाँ तक ब्रह्माण्ड का स्वरूप माना है। इसी आकाश को पुराणाकाश कहते हैं। परन्तु वेद में जो ब्रह्माण्ड का स्वरूप बतलाया गया है, वह पुराण-प्रतिपाद्य ब्रह्माण्ड से भिन्न स्वरूप वाला है। स्वयंभूमण्डलपर्यन्त जो प्राणमण्डल है, वही वेद-स्वीकृत ब्रह्माण्ड है। वैदिक विज्ञान के अनुसार सूर्य के ऊपर परमेष्ठिमण्डल है, तत्पश्चात् प्राणात्मक स्वयंभूमण्डल है। सूर्य से जो ऊपर का पारमेष्ठ्यलोक है, उसे ही "अपुनर्मार" कहते हैं। चूंकि वहाँ जरा-मृत्यु नहीं होती। अतः पौराणिक इस स्थान को 'अपुनर्मार' कहते हैं। इसे ही वैदिक लोग अशोकमहिम एवं कामप्रलोक कहते हैं। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक्—ये पाँच चितियां उस रसात्मक अव्यय पर होती हैं। अतएव उसे चिदात्मा कहते हैं। सर्वप्रथम आनन्दमयकोश है। उस आनन्दमय के आधार पर विज्ञान-मयकोश, विज्ञानमयकोश के आधार पर मनोमयकोश, मनोमयकोश के आधार पर प्राण-मयकोश, प्राणमयकोश के आधार पर वाङ्मयकोश है। जिसका कि पदार्थरूपेण हम प्रत्यक्ष करते हैं। पांचों कोशों में से प्रत्यक्ष केवल वाक् का ही होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति—"अथो वागेवेदं सर्वं" कहा करती है। प्रकृत में हमें प्राणमयकोश के अतिरिक्त अन्य कोशों का वर्णन नहीं करना है।

जो स्वयं भूमण्डल है, वह प्राणमयमण्डल है। इस प्राणमय स्वयंभूमण्डल के पेट में

आपोमय परमेष्ठिमण्डल है। परमेष्ठिमण्डल के पेट में सौरमण्डल है। सौरमण्डल के पेट में पृथ्वीमण्डल है एवं पृथ्वीमण्डल के पेट में चन्द्रमण्डल है। इस प्रकार ईश्वर का शरीर पञ्चपुण्डिराबल्शात्मक कहलाता है। चूंकि ईश्वरीय यज्ञ में पांच अवयव हैं, अतएव 'पांक्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। प्रकृत में हमें यह बतलाना है कि सूर्य से पराक्–परमेष्ठी और स्वयंभू ये दो अमृतमण्डल हैं। एवं सूर्य से अर्वाक्–पृथ्वी और चन्द्रमा ये दो मर्त्यमण्डल हैं। पार्थिव पदार्थों के साथ अर्थात् भूतों के साथ जब प्राण मिल जाता है, सूर्य से पराक् रहने वाला सूर्य द्वारा ही आने वाला प्राण जब भूत की पकड़ में आ जाता हैं, तब इस प्राणधारण को ही जीवन किंवा उत्पत्ति कहते हैं। एवं जब यह प्राण भूत के बन्धन से निकल जाता है, तो यही मृत्यु कहलाती है। 'मृङ्–प्राणत्यागे'— से मृत्यु बनता है, जिसका तात्पर्य यह है कि भूत से प्राण अलग हो कर अपने लोक में चला जाता है। यही जीवन एवं मृत्यु की मीमांसा है। चूंकि पराक्प्राण भूतों से संयुक्त हो, जीवन का कारण बनता है, एवं 'संयोगा विप्रयोगन्ताः'— इस सिद्धान्त के अनुसार एक दिन अवश्य ही प्राण को भूत से अलग होना पड़ता है। पराक् का मतलब पारमेष्ठ्य और स्वयंभू प्राण से है। अर्वाक् से—पृथ्वी और चन्द्र अभिप्रेत है। प्राण भूत में जब बद्ध वा उससे मुक्त हो जाता है, तभी जीवन-मरण की व्यवस्था है। चूंकि भूतजात (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) सूर्य से अर्वाक् है, न कि पराक्। अतः सूर्य से पराक् रहने वाले पारमेष्ठ्य और स्वयंभू मण्डल इस जीवन-मरण की व्यवस्था से अतिमुक्त रहते हैं। अर्थात् चूंकि वहां (पर० स्व०) भूत नहीं है, अतएव प्राण किसकी पकड़ में आवे। जब प्राण पकड़ में न आवे तो फिर उसके वियोग (मृत्यु) की कथा ही क्या है? इसीलिए सूर्य से पराक् लोक को 'अमृत' कहा जाता है एवं विपरीत अर्थात् अर्वाचीन लोकों को 'मर्त्य' कहते हैं क्योंकि यहां भूत रहते हैं एवं इन भूतों में प्राण बद्ध हो जाता है। सूर्य इस मर्त्य-अमृत विभाग के ठीक मध्य में है। इसमें अमृतभाग भी सम्मिलित रहता है। इसीलिए तो—'चित्रं देवानाम्' और 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' यह कहा जाता है। चूंकि मर्त्यभाग भी इसमें शामिल रहता है, अतः इसे मर्त्य भी कह देते हैं। संधिस्थानीय होने के कारण इसे मर्त्य और अमृत दोनों कह देते हैं। सूर्य से पराक् रहने वाला जो प्राण है, वह सूर्य द्वारा ही भूत में बद्ध होता है। हमारे आत्मा के जीवन का उपादान यही सूर्य है। इसीलिए तो—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'— कहा जाता है। प्राण देना और लेना ये दोनों काम सूर्य के हैं। प्राणनक्रिया से यह प्राण देता है एवं अपाननक्रिया से लेता रहता है। सूर्य रश्मिसूत्र से हर समय प्राण को अपने में लिया करता है एवं दिया करता है। इसीलिए गतिविभाग में इस गति को नित्यगति कहा जाता है। इसी नित्यगति का श्रुति उपपादन करती है—

'अहरहर्वा यज्ञस्तायते। अहरहः सन्तिष्ठते। अहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते। अहरहरेतेन स्वर्गं लोकं गच्छति' (शत० ब्रा० ४९६ पृ०)

रात्रि के समय सूर्यप्राण कमजोर हो जाता है अर्थात् पृथ्वी के गर्भ में विलीन हो जाता है। अतएव पार्थिव आकर्षण अपने अधिक प्रभाव से मनुष्य को रात्रि में नीचे डालने के लिए मजबूर कर देता है। ज्यों-ज्यों रात्रि होती जाती है, त्यों-त्यों शरीरयष्टि गिरती जाती है। इसका एक मात्र कारण सौरप्राण की निर्बलता एवं पार्थिवप्राण की प्रवलता है। परन्तु प्रातःकाल होते ही सौरप्राण प्रबल वेग से पार्थिव प्राण पर आक्रमण करता है, जिससे हम एकदम जाग उठते हैं। चूंकि सूर्य का आकर्षण दिन में ज्यादा रहता है अतएव शरीर तना हुआ रहता है। सूर्य से विज्ञानात्मा का निर्माण होता है एवं सौरप्राण प्रवर्ग्य बनकर पृथ्वी की वस्तु बन जाता है, उससे प्रज्ञानात्मा बनता है। वस्तुतः प्रज्ञान और विज्ञान एक ही वस्तु है। प्रज्ञान पर अर्थात् पार्थिवप्राण पर तो हमारा पूरा अधिकार है क्योंकि उस पर तो हम रहते ही हैं परन्तु विज्ञान यत्नसाध्य है क्योंकि वह हमारे से बहुत दूर रहने वाली वस्तु है। प्रज्ञान से विज्ञान का स्तर ऊँचा है। प्रज्ञान (बल) से जो सम्पत्ति सौ वर्ष में इकट्ठी होती है, विज्ञान (बुद्धि) उसे एक क्षणमात्र में उत्पन्न करा डालती है। अतः सब को, विशेषतया उपदेशक श्रेणी के अधिष्ठाता ब्राह्मणों को, तो अवश्य ही विज्ञान को बढाने का प्रयत्न करना चाहिए। चूंकि दिन में विज्ञान साक्षात् आता है—अधिक मात्रा से आता है, अतएव दिन में सोना नहीं चाहिए। सोने से आत्मा पार्थिव प्राणमय बन जाता है एवं उस पर विज्ञान का असर नहीं पड़ सकता है। इसी अभिप्राय से दयालु श्रुति ब्राह्मणों को उपदेश करती है—'दिवा मा स्वाप्सीः' जो मनुष्य दिन में अधिक सोते हैं, निश्चित समझो वे विज्ञानमात्रा से शून्य हैं। इस विषय में अधिक कहना प्रकृत से दूर जाना है। अतः इसे यहीं समाप्त कर पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं।

हमने बतलाया है कि सूर्य से हमारा आत्मा बनता है तथा सूर्यरश्मियाँ, जो प्राणमय हैं, हमारे प्राणों को हर समय खींचा करती है एवं दिया करती हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

> आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः।
> अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती व्यख्यन्महिषो दिवम् ।। इति ।।

सम्पूर्ण कथन का यही सारांश है कि यह सूर्य मृत्यु है क्योंकि सूर्य रश्मिरूपी रज्जु से प्राणरूप वृषभ को अपने कब्जे में रखता है। सूर्य के अधीन हमारी जीवन-सत्ता है। मृत्यु हमारे प्राण पर सवार रहता है। सूर्य हमारे प्राणों को हर समय लेता रहता है परन्तु साथ ही में देता भी रहता है। यदि वह चाहे तो प्राणदान-व्यापार से विरत भी हो सकता है। उसी समय हमारी मृत्यु हो जाती है। जैसे लगाम से खींचा हुआ घोड़ा सारथि द्वारा यथेच्छ ले जाया जाता है, तद्वत् प्राणधन सूर्य अश्वाभिधानी से—अर्थात् रश्मि-

स्वरूप लगाम से प्राणस्वरूप अश्व का यथेच्छ संचालन किया करता है। प्राणों पर रश्मियां आसमन्तात् आक्रान्त रहती हैं। इस प्रकार जो अनाहिताग्नि होते हैं, उनका प्राण, उनका आत्मा सदा मृत्यु के अधीन रहता है, मृत्यु से अनतिमुक्त रहता है। वे परवश हैं, चाहे जब मृत्यु द्वारा आक्रान्त किये जा सकते हैं। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं।

'यही मृत्यु है, जो कि यह तप रहा है। चूंकि यही मृत्यु है, इसीलिए जो इससे नीचे की प्रजा है (भौतिक प्रजा है) वे सब मरणधर्मा हैं। एवं जो सूर्य से पराक् रहने वाली प्रजा है वे देवता हैं। अतएव अमृत हैं। उस सूर्य की ये सारी प्रजाएँ रश्मि द्वारा प्राणों में बद्ध रहती हैं। क्योंकि सूर्य मृत्यु है, इसलिए वह हर समय प्राणों पर व्याप्त रहता है। "तद्वा एष एव मृत्युः य एष तपति। तद्यदेष एव मृत्युस्तस्माद्या एतस्मादर्वाच्यः प्रजास्ता म्रियन्ते। अथ याः पराच्यस्ते देवास्तस्मादु ते अमृताः। तस्येमाः सर्वाः प्रजा रश्मिभिः प्राणेष्वभिहिताः। तस्मादु रश्मयः प्राणानभ्यवतायन्ते' ।।इति।।

पूर्व में बतलाया गया है कि भगवान् सूर्य अपनी रश्मियों से प्राणियों के प्राणों का आकर्षण या ग्रहण किया करते हैं एवं प्राणनक्रिया से देते भी रहते हैं। इस प्रकार यह आदान-विसर्गात्मकक्रिया अनवरत होती रहती है। पूर्वोक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्यों की प्राणसत्ता (जीवन) सूर्य के अधीन है। वह चाहे तो एक क्षण में जीवन-यात्रा का अवसान कर सकता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि वह मृत्यु अर्थात् प्राण-प्रदाता भगवान् सूर्य जिसकी जीवन-यात्रा को समाप्त करना चाहता है, उसके प्राणों को लेकर ऊर्ध्व आक्रमण करता है। उदेति शब्द का अर्थ ऊर्ध्व आक्रमण करना है। प्राण का वह आकर्षण किया करता है और प्रदान भी करता है। सूर्य के द्वारा प्राणों के आकर्षण से मानव का प्राण-सम्बन्ध वियुक्त हो जाता है। यही मृत्यु की अनतिमुक्ति है। जिस प्रकार तृण वायु के झोंके से इधर-उधर फिरता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु के झोंके से अना-हिताग्नि का प्राण इतस्ततः विचरता रहता है। मृत्यु जब चाहे उसे गिरा देता है। जो मनुष्य इस मृत्यु को अनतिमुक्त करके परलोकगमन करता है, ऐसे अनतिमुक्त आत्मा का जैसे मृत्यु इस लोक में आदर नहीं करता, जब चाहे तब उसे पीड़ा पहुँचाया करता है। उसी प्रकार परलोक में भी वह मृत्यु इस आत्मा को पीड़ा पहुँचाया करता है। परन्तु जो आहिताग्नि होता है उसकी दशा इसके विपरीत है। क्योंकि आहिताग्नि में अमृताग्नि का और सम्बन्ध हो जाता है। इस दिव्याग्नि का सम्बन्ध ही अग्निहोत्र द्वारा किया जाता है। प्रतिदिन की आहुतियों से एवं मन्त्र-शक्तियों से उसका मर्त्यप्राण अमृताग्नि (अमृतप्राण) से बद्ध हो जाता है। अतएव मृत्यु पर सवार हो जाता है। इसका अन्तःप्राण मृत्युरूप सूर्य पर विजय प्राप्त कर लेता है। अतः इस आहिताग्नि पर मृत्यु का कुछ प्रभाव नहीं होता।

मृत्यु इसके प्राणों को खींचता अवश्य है, परन्तु मृत्यु इस पर आरूढ़ नहीं हो जाता, अपितु यही मृत्यु पर आरूढ़ रहता है। जैसे स्थिर वृक्ष प्रवल वायु के झोंके से भी नहीं हिलता, वैसे आहिताग्नि का प्राण मृत्यु से जरा भी विचलित नहीं होता। जिस प्रकार इस लोक में आहिताग्नि का प्राण मृत्यु के आक्रमण से रहित होता है, तथा अशान्तिरहित होता है, उसी प्रकार परलोकगमनान्तर भी इसका आत्मा मृत्यु से अतिमुक्त ही रहता है। सारांश यह है कि आहिताग्नि को उभयलोक में शान्ति है और अनाहिताग्नि को उभयलोक में अशान्ति। उसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स यस्य कामयते तस्य प्राणमादायोदेति-स म्रियते। स योऽहैतं मृत्युमनतिमुच्याथामुं लोकमेति। यथाहैवास्मिँल्लोके न संयतमाद्रियते यदा यदैव कामयते अथ मारयति, एवमु हैवामुष्मिँल्लोके पुनः पुनरेव प्रमारयति' ॥इति॥८॥

आहिताग्नि के अमृतप्राण मृत्यु पर किस रूप से सवार होते हैं, इसका निरूपण किया जाता है। जो यजमान सायङ्काल सूर्यास्त होने पर आहवनीयाग्नि में दो आहुतियों का हवन करता है—वह उन दो आहुतिस्वरूप आगे के दोनों पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठित हो जाता है तथा जो प्रातः सूर्योदय से पूर्व दो आहुतियों का हवन करता है—वह इन उन दो आहुतिस्वरूप पीछे के पैरों से इस मृत्यु पर प्रतिष्ठित हो जाता है। धर्म का स्वरूप वृषभ के आकार का माना गया है। इसी अभिप्राय से प्रकृत में चार पैरों की कल्पना की गयी है। तात्पर्य इसका यही है कि सायं प्रातः चारों आहुतियों से निष्पन्न अमृतप्राण उस मृत्यु पर सवार हो जाता है। वह प्राणापहर्ता सूर्य (मृत्यु) इस आहिताग्नि यजमान को रश्मियों से ग्रहण कर उत्क्रान्त होता है परन्तु वह यजमान उस मृत्यु का अतिक्रमण कर उससे अतिमुक्त हो जाता है। अर्थात् अनाहिताग्नि पर मृत्यु सवार रहता है, और आहिताग्नि मृत्यु पर सवार रहता है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्निहोत्र में सबसे बड़ा फल मृत्यु की अतिमुक्ति ही है। जो अग्निहोत्र करता है वह तो इस मृत्यु से अतिमुक्त हो ही जाता है परन्तु जो इस अग्निहोत्रजन्य अतिमुक्ति के रहस्य को जानता है वह भी मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है। वैदिक लोग ज्ञान और कर्म का समान फल मानते हैं। अतएव 'एवं वेद' यह कह कर कर्म के ज्ञान में भी कर्मसदृश ही फल बतलाया गया है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स यत् सायमस्तमिते द्वे आहुती जुहोति तदेताभ्यां पूर्वाभ्यां पद्भ्यामेतस्मिन् मृत्यौ प्रतितिष्ठति। स एनमेष उद्यन्नेवोपादायोदेति तमेतं मृत्युमतिमुच्यते। सैषाग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिः। अति ह वै पुनर्मृत्युमति मुच्यते य एवमेतामग्निहोत्रे मृत्योरतिमुक्तिं वेद।' इति।

कई आचार्य अग्निहोत्र की अतिमुक्ति पर प्रश्न करते हैं कि अन्य यज्ञ अग्निहोत्र से भी बड़े हैं जैसे दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य अध्वरादि उनमें अतिमुक्ति नहीं बतलाई गई तो अग्निहोत्र में ही अतिमुक्ति कैसे बतलाई गई ? इसका उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्निहोत्र में मृत्यु से अतिमुक्ति बतलाना सर्वथा उचित है। क्योंकि केवल अग्निहोत्र की अतिमुक्ति से ही सारे यज्ञ अतिमुक्ति-फल से युक्त हो जाते हैं। जिस प्रकार बाण का अग्रभाग अर्थात् तिरछा लोहमय फलक होता है उसी प्रकार यह अग्निहोत्र यज्ञों का अनीक अर्थात् अग्रफलक है। जिस मार्ग से होकर बाण का अनीक (फलक) जाता है, बाण का अवशिष्ट भाग भी उसीका अनुगमन करता है। क्योंकि अग्निहोत्र यज्ञों का अनीकस्थानापन्न है तथा अन्य यज्ञ बाण-स्थानापन्न है, अतः अग्निहोत्र की अतिमुक्ति से यजमान के सारे यज्ञ मृत्यु से अतिमुक्त हो जाते हैं। इसलिए उनमें स्वतंत्र अतिमुक्तत्व फल बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं ॥१०॥

एक संवत्सर में ३६० अहः तथा ३६० रात्रियां होती हैं। इन ७२० अरों से युक्त एक 'अहोरात्रचक्र' कहलाता है। इसी अहोरात्रचक्र में मनुष्य घूमते रहते हैं। पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा किया करती है। इस पृथिवी के अन्तःपृष्ठ से लेकर बहिः-पृष्ठ तक अर्थात् रथन्तर साम तक की जो परिधि है उसी में ७२० विभाग होते हैं। एक विभाग कृष्ण है तथा दूसरा श्वेत। तीसरा कृष्ण है, चतुर्थ श्वेत। इस प्रकार इनकी व्यवस्था है। पृथिवी का जैसे वार्षिक परिभ्रमण होता है वैसे स्वाक्षपरिभ्रमण भी होता है। इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से अहोरात्र की उत्पत्ति होती है। जब पृथिवी सूर्याभिमुख होती है तो 'अहः होता है तथा उस समय का पृथिवीविपरीत भाग रात्रि कहलाता है। सूर्य में 'ज्योतिः', 'गौः', 'आयु.'—ये तीन मनोता होते हैं। जिस प्रकार सूर्य से हमारी आयु का निर्माण होता है उसी प्रकार उसी सूर्य से ज्योति (प्रकाश) का भी आगमन होता है। सूर्य दिन में ज्योति को दिया करता है तथा रात्रि में लिया करता है। इस प्रकार अहोरात्र के घूमते हुए चक्र पर बैठा हुआ यह मनुष्य सूर्यज्योति के आदान-विसर्गचक्र में बद्ध रहता है। सूर्य हर समय इस सुकृत अर्थात् ज्योति का क्षय करता रहता है परन्तु दिन में दिया भी करता है। इस आदानविसर्ग का क्रम ५० तक समान रूप से रहता है एवं ५० के बाद आदान कम हो जाता है एवं रोमावलियों के बढ जाने के कारण विसर्ग अधिक होने लगता है। अन्ततो गत्वा आदान एकदम बन्द हो जाता है एवं विसर्ग से मनुष्य के प्राण उत्क्रान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार पृथिवी का साम रथन्तर कहलाता है, वैसे ही सूर्य का साम 'बृहत्' कहलाता है। इस बृहत्साम अर्थात् सौरमण्डल को 'असौ लोकः (स्वर्गलोक) कहते हैं। इस बृहत्सामरूपी स्वर्गलोक में रथन्तरसाम-सहित पृथिवी ७२० अहोरात्र चक्र के साथ परिभ्रमण किया करती है, एवं इस परिभ्रमण के साथ ही इस अहोरात्रचक्र

पर आरूढ मनुष्य भी परिभ्रमण किया करता है। साथ ही यह अहोरात्र इस परिभ्रमण करते हुए पुरुष के सुकृत अर्थात् ज्योति का नाश करते रहते हैं, अर्थात् प्रतिदिन उत्तरोत्तर इसकी आयु घटती रहती है। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

'अहोरात्रे ह वा अमुष्मिँल्लोके (बृहन्मण्डले) परिप्लवमाने (परिवर्तमाने) पुरुषस्य सुकृतं (आयुःशेषं) क्षिणुतः (विनाशयतः)' ।।इति।।

अनाहिताग्नि पुरुष के प्राण मृत्यु के अधीन रहते हैं, अतः उसे अगत्या इस चक्र पर बैठकर घूमना पड़ता है। रात्रि मृत्यु है, उस पर अवश्य इसकी स्थिति रहती है। क्योंकि यह उस रात्रिरूपी मृत्यु पर आश्रित रहता है, अतः अगत्या इसके ज्योतिर्भाग (सुकृत) को घूमते हुए अहोरात्र खींचते रहते हैं। परन्तु जो आहिताग्नि होता है—जो अमृताग्नि से अपने प्राणों को संबद्ध कर लेता है—वह अहोरात्र की पकड़ से छूट जाता है। क्योंकि जब तक अमृताग्नि का सम्बन्ध नहीं होता, तभी तक प्राण भूत की पकड़ में रहता है। मृत्यु तभी तक उस पर सवार रहती है। परन्तु जब अग्निहोत्र द्वारा दिव्याग्नि (अमृताग्नि) का सम्बन्ध हो जाता है तो यह प्राण भूत की पकड़ से छूट जाता है। भूत की पकड़ से छूटना ही प्राण का रथन्तरसाम से निकल कर बृहत्साम में प्रविष्ट होना है। अमृतप्राण सूर्य से पराक् रहता है एवं मर्त्यप्राण सूर्य से अर्वाक्। पृथिवी सौरमण्डल के अन्तर्गत है अतएव अर्वाक् व मर्त्य है। पृथिवी का अहोरात्र जो कि सूर्य से नीचे है मृत्यु है। रथन्तर साम के बाहर का जो बृहत्साम है—वह अमृतमय हैं। इस अमृतप्राण को जो आत्मसात् कर लेता है वह पार्थिव रथन्तर-सामस्थ अहोरात्रचक्र से निकल कर बृहत्साम में चला जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—जो अग्निहोत्रकर्ता मनुष्य है—उससे अहोरात्रचक्र अर्वाक् ही रह जाता है। क्योंकि अहोरात्रचक्र इससे अर्वाक् (नीचे) रह जाता है, अर्थात् यह अहोरात्रचक्र इस आहिताग्नि मनुष्य के सुकृत का नाश करने में सर्वथा असमर्थ रहता है।

तात्पर्य यही है कि अग्निहोत्र द्वारा अमृताग्नि को आत्मसात् कर लिया जाता है, तो उसका प्राण रथन्तरसाम से निकलकर अर्थात् अहोरात्र की पकड़ से अलग हो बृहत्साम में चला जाता है। यद्यपि वह रथन्तरसाम में ही, पृथ्वी में ही, रहता है, परन्तु अमृतप्राण के प्रभाव से चक्र की पकड़ से अलग रहता है, एवं उस घूमते हुए अहोरात्र का पर्यवेक्षणमात्र करता है। यदि वह चक्र पर रहता तो उसे रात्रि की तरफ भी जाना पड़ता। एवं रात्रि में जाने से प्राणक्षय हो जाता है। परन्तु जब वह उससे अलग है—उस घुमाव के ऊपर स्थित है—तो क्योंकर वह अन्धकार में (रात्रि में) जा सकता है। जब रात्रि में नहीं जायगा तो क्योंकर उसके सुकृत का नाश हो सकता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अर्वाचीने वा अतोऽहोरात्रे। तथोहास्याहोरात्रे सुकृतं न क्षिणुतः' ।।इति।।११।।

पूर्व बात को ही दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं—

उस आहिताग्नि यजमान की वैसी स्थिति हो जाती है जैसी कि कोई रथ के उपर बैठ कर रथचक्र को घूमता हुआ देखता रहता है अर्थात् रथ पर बैठा हुआ मनुष्य घूमते हुए रथ के पहिये को तो अवश्य देखता रहता है, परन्तु स्वयं उस घुमाव से अलग रहता है। वैसे ही बृहत्सामस्वरूप रथ पर बैठा हुआ आहिताग्नि मनुष्य अपने से अर्वाचीन (नीचे की ओर) जो अहोरात्र-स्वरूप रथचक्र है, उसे देखता रहता है। जो अग्निहोत्र करता है, उसको यह स्थिति है परन्तु जो इस अहोरात्र की अतिमुक्ति के रहस्य को जानता है वह भी अहोरात्र को सुकृतक्षयक्रिया से अलग रहता है अर्थात् अग्निहोत्रकर्त्ता एव उसके जानने वाले पुरुष की अकालमृत्यु नहीं होती। इसी अभिप्रमय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स यथा रथोपस्थे तिष्ठन् उपरिष्टाद्रथचक्रे पल्यङ्ङमाने (परिवर्तमाने) उपावेक्षेत—एवं परस्तादर्वाचीनेऽहोरात्रे उपावेक्षते। न ह वाऽस्याहोरात्रे सुकृतं क्षिणुतो य एवमेतामहोरात्रयोरतिमुक्तिं वेद' ॥१२॥

॥ इति अग्निहोत्रीयातिमुक्तिप्रकरणम् ॥

आहवनीयाग्नि में आहुति देने के लिए आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में होकर जाना चाहिए, इसका कारण बतलाते हैं।

आहवनीय के पूर्व में होकर गार्हपत्य के बीच में से जाता है। जिस समय हम बाजार में परिभ्रमण करने के लिए जाते हैं, उस समय हमारा किसी भी मनुष्य से सम्बन्ध नहीं होता, यद्यपि हजारों आदमियों से हमारा स्पर्श होता है तथापि हम उन्हें नहीं पहिचानते। वे अपने ध्यान में लीन रहते हैं और हम अपने ध्यान में। परन्तु यदि कोई हमारे घर आता है, तो हम जरूर जानने के लिए अभिमुख होते हैं। इसी प्रकार देवता यजमान को (मनुष्य को) नहीं जानते। वे अपने मार्ग में होकर जा रहे हैं, हम अपने मार्ग में। ऐसी अवस्था में वे हमें क्योंकर पहिचानते हैं? परन्तु जब यजमान आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में होकर जाता है, तो दोनों के बीच में होकर जाते हुए यजमान को देवता पहिचान लेते हैं और वे विचार करते हैं कि—यह हमारे घर में (गार्हपत्य-आहवनीय के बीच में) आता है—अतः हमारे लिए हवन करता है। अग्नि ही अवस्था-भेद से तेंतीस देवता हो जाता है। अतएव—'अग्निः सर्वा-देवताः'—कहा जाता है। प्रकृत अग्निहोत्र यज्ञ में जो आहवनीयाग्नि है, वह द्युस्थानीय देवता है एवं गार्हपत्याग्नि पार्थिव देवता है। गार्हपत्य से आहवनीय तक दिव्य और पार्थिव अग्नि व्याप्त रहता है। यजमान जब इस अग्नि के बीच में होकर जाता है, तो दिव्य और पार्थिव दोनों ही अग्नियों का (देवताओं का) इसके आत्मा से सम्बन्ध हो जाता है। अग्नि पाप्मा का अर्थात् आसुरभाव का—मर्त्यभाव का—विनाशक है। वह गार्हपत्य और आहव-

नीयाग्नि अपने बीच में होकर जाने वाले यजमान के पाप्माओं का नाश कर डालते हैं। इस प्रकार अग्नि से संबद्ध होकर यजमान श्री (शारीरज्योति) और यश से युक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि हमें अग्निहोत्र द्वारा दिव्याग्नि को आत्मसात् करना है। अग्नि गार्हपत्य और आहवनीय तक रहता है, अतः आत्मा में अग्निसम्बन्ध करने के लिए आहवनीय के पूर्व में होकर आहवनीय व गार्हपत्य के बीच में से जाना चाहिए ।।१३।।

अग्निहोत्र यज्ञ के लिए अग्निहोत्र के उत्तर में होकर ही आना चाहिए। इसकी उपपत्ति बतलाते हैं। प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी गार्हपत्याग्नि है एवं सूर्य आहवनीय है। यह पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। यह परिक्रमा पूर्व की ओर से होती है। सूर्य मध्य में स्थिर रहता है। उसके चारों तरफ पूर्व की ओर से पृथिवी घूमा करती है। पूर्व की ओर घूमने से अग्नि का रुख उत्तरदिक् की ओर होता रहता है। पृथिवी प्रतिबिन्दु पूर्व की ओर घूमती हुई उत्तर की तरफ रुख रखती है। अग्निहोत्र में अग्नि ही प्रधान है एवं अग्नि का रुख उत्तर की ओर है इसीलिए 'उत्तरतो वा अग्निहोत्रस्य द्वारम्' यह कहा जाता है। इसी प्रकृतियज्ञ के अनुसार मनुष्ययज्ञ में भी अग्निहोत्र का द्वार उत्तर की ओर ही रखा जाता है। आहवनीय और गार्हपत्य तो अग्नि का स्वरूप है। इससे उत्तर का भाग इसका मुख है एवं दक्षिणभाग पीठ है। अतः जो आहवनीय के उत्तर भाग में से आकर आहुति देता है, उसका उत्तरभाग में से आना ऐसा है जैसे कि कोई मनुष्य घर-द्वार में होकर घर में प्रविष्ट होता है। जो आहवनीय के दक्षिण भाग में जाकर आहुति देने के लिए आहवनीय के पास बैठता है उसका उधर से (दक्षिण से) आकर बैठना वैसा ही है जैसे कि कोई मकान के बाहर ही घूमता हो। अर्थात् दक्षिण से आना मकान के (अग्निहोत्र के) बाहर ही रहना है। अग्नि का रुख उत्तर की ओर है, उधर ही से आकर आहुति देने से यज्ञात्मा बन सकता है न कि दक्षिण भाग में होकर आने से। अतः आहुति के लिए उत्तर से होकर ही आना चाहिए ।।१४।।

रोदसी त्रिलोकी में भूः, भुवः, स्वः ये तीन लोक माने जाते हैं। यहाँ तीनों में रथन्तर साम वाली पृथिवी है तथा बृहत्साम वाला सूर्य। इन दोनों के बीच का अन्तरिक्ष लोक भुवः है। भूः, स्वः ये दोनों सत्य हैं। 'भुवः' ऋत है। जो स्थान ऋत होता है वहां अप् वायु व सोम प्रविष्ट हो जाते हैं। इस भुवःस्वरूप अन्तरिक्ष में अप्, वायु, सोम रहते है अतएव इस अंतरिक्ष को समुद्र कहा जाता है। पृथिवी पर हम स्थित हैं एवं स्वर्गलोक स्वः है। द्यौ लोक दिव्य प्राणमय होने से प्राण कहलाता है, अन्तरिक्ष व्यान तथा भू अपान कहलाता है। द्यौः आहवनीय है। पृथिवी गार्हपत्य है एवं अन्तरिक्ष अन्वाहार्यपचन है। हम पृथिवी पर हैं। हमें उस दिव्यलोक (स्वर्गलोक) में पहुंचना है अर्थात् दिव्यात्मा को उत्पन्न करना है। स्वर्ग और हमारे (द्युलोक व पृथिवी लोक के) मध्य में अन्तरिक्ष

समुद्र है जिसे पार किये बिना स्वर्गलोक में जाना कृच्छ्रसाध्य ही नहीं, अपितु असाध्य है। उस स्वर्ग में पहुँचने का एकमात्र साधन अग्निहोत्र ही है। इस अग्निहोत्र से ही दिव्य लोक की प्राप्ति होती है। इसमें जो आहुतियाँ दी जाती हैं उनसे तथा मन्त्र-शक्तियों से शारीर आत्मा का सम्बन्ध दिव्यलोक से किया जाता है। इसीलिए अग्निहोत्र को 'स्वर्ग्या नौका' (स्वर्ग में ले जाने वाली नाव) बतलाया जाता है। इस अग्निहोत्र नौका को चलाने के लिए आहवनीय व गार्हपत्य ये दोनों डांड हैं एवं क्षीरहोता (आहुति देनेवाला यजमान) नावाज (नाव को ले जाने वाला) होता है। यह केवटिया आहवनीय व गार्हपत्यरूप डाँडों से अग्निहोत्ररूपी नाव को अन्तरिक्षरूपी समुद्र में खेता हुआ स्वयं उस नाव द्वारा स्वर्ग में चला जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'नौर्ह वाऽएषा स्वर्ग्या यदग्निहोत्रम्। तस्याऽएतस्यै नावः स्वर्ग्याया आहवनीयश्चैव गार्हपत्यश्च नौमण्डे। अथैष नावाजो यत्क्षीरहोता' ॥१५॥

नाव के जिस ओर केवटिया बैठता है, उसके पीठ की ओर नाव चला करती है। यदि पूर्व की ओर नाव ले जानी होती है, तो उस नौका के पूर्व भाग के अन्तिम सिरे पर बैठकर पश्चिम की ओर मुंह करके दोनों डाँडों को पानी में आगे की ओर घुमाता है, त्यों-त्यों नाव पूर्व की ओर चलती है। अग्निहोत्र में यजमान आहुति पूर्व की ओर अर्थात् आहवनीय में देता है। ऐसा करता हुआ यजमान इस अग्निहोत्र नौका को पूर्व की ओर जहाँ कि स्वर्गलोक है ले जाता है। पूर्व में ही स्वर्ग है, अतः उधर ले जाना स्वर्ग में ले जाना है। इस प्रकार आहवनीय में आहुति देता हुआ यजमान इस नाव से स्वर्ग को पार कर लेता है।

इस नाव में किधर से बैठना चाहिए, अर्थात् आहुति किधर से देनी चाहिए, इसका निरूपण किया जाता है—

इस नाव में उत्तर भाग से आरोहण करना चाहिए। उत्तर भाग से आरोहण करने से यह नाव इस यजमान को स्वर्गलोक में ले जाती है। मनुष्य का दक्षिण भाग भारी होता है, एवं वाम भाग हलका। अतः वाम अङ्ग स्वभाव से ही झुक जाता है। अतएव शास्त्रकारों ने अश्वादि पर सवार होने में वाम भाग को मुख्य माना है। इसी आधार पर सवारी बायीं ओर—यह नियम चल गया है। अतः प्रकृति-नियमानुसार उत्तर में होकर ही इस अग्निहोत्रनाव में सवार होना चाहिए। जो मनुष्य दक्षिण से होकर जाता है तथा बैठता है, उसका दक्षिण भाग से होकर जाना दीवार उलांघना तथा उससे गिर पड़ना है। अर्थात् प्रधान द्वार से प्रवेश न कर दीवार लांघकर चलने से मनुष्य जैसे नीचे गिर पड़ता है, तथा मकान में प्रवेश नहीं कर सकता है, वैसी ही स्थिति दक्षिण भाग से होकर जाने वाले की है। निष्कर्ष यह है कि अग्नि का रुख उत्तर की ओर है, अतः ऊपर से ही आना

आहुति को सफल करना है। अतः उत्तर भाग से ही इस नाव में सवार होना चाहिए ।।१६।।

अग्निहोत्र यज्ञ में चयनप्रतिष्ठा—

यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—अध्वर व चयन। अग्नि में सोम की आहुति देना अध्वर है तथा अग्नि में अग्नि की आहुति देना चयन है। सोम अग्नि में जाकर तद्रूप बन जाता है। अग्नि की मात्रा उस आहुति से बढ़ती नहीं, इसीलिए इसे अध्वर कहते हैं। परन्तु अग्नि अग्नि को नहीं खा सकती, अर्थात् उसको तद्रूप नहीं बना सकती, अतः अग्नि में जो अग्नि की आहुति दी जाती है, उसका पहिली अग्नि पर चुनाव हो जाता है—इसीलिए इसे चयन यज्ञ कहते हैं। चयन यज्ञ में ईंटों का चुनाव किया जाता है। ये ईंटें तीन प्रकार की होती हैं—१. यजुष्मती, २. लोकम्पृणा, ३. परिश्रित्। अग्नि भी तीन प्रकार का होता है—१. आहृत्याग्नि, २. चित्याग्नि, ३. चितेनिधेयाग्नि। चार आत्मा, तीन पक्ष और पुच्छ एवं एक सातों का रसभाग—इनमें चार आत्मा ही यजुष्मती इष्टका हैं। पक्ष और पुच्छ "लोकम्पृणा" इष्टका है एवं रसभाग परिश्रित् इष्टका है। यजुष्मती में लोकम्पृणा व परिश्रित् दोनों सम्मिलित हैं। लोकम्पृणा में परिश्रित् सम्मिलित है एवं परिश्रित् में परिश्रित् ही है। इससे सिद्ध होता है कि 'यजुष्मती इष्टका' सबसे प्रवल है। चयन यज्ञ में पहिले चित्याग्निका (आत्मा, पक्ष व पुच्छ) का चुनाव होता है, बाद में अमृताग्नि का चुनाव होता है। चयन का विस्तार से वर्णन १०वें काण्ड में है, अतः यहाँ इसका विस्तृत विवेचन नहीं किया जाएगा। प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि चयन यज्ञ सारे यज्ञों से श्रेष्ठ है, इसलिए मुक्ति चयन यज्ञ से ही मानी जाती है। जैसा कि—श्रुति कहती है—

"नामृतत्वस्याशास्ति ऋते चयनयज्ञात्" ।।इति।।

हमारा यह अग्निहोत्र अध्वर यज्ञ है न कि चयन। यदि किसी उपाय से अग्निहोत्र में चयन का भाव प्रविष्ट हो जाय, तो यह अग्निहोत्र सम्यक् प्रतिष्ठित हो जाय। इस अग्निहोत्र में चयन यज्ञ का साम्य बतलाने के लिए ही भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस आहवनीय में जिस समिधा को घृत में डुबोकर आहुति से पूर्व डालते हैं, वह समिधा एक इष्टका है, एवं जिस मन्त्र से यह इष्टका (समिधा) अग्नि में रखी जाती है, वह यजुर्मन्त्र है। इस प्रकार यजुर्मन्त्र से जब इष्टका अग्नि में रख दी जाती है, तदनन्तर उसमें आहुति डाली जाती है। तात्पर्य यह है कि जो अग्नि पहिले प्रज्वलित हो रहा है, एक वह अग्नि है। समिधा को घृत में सिक्त करके जब अग्नि में डाला जाता है, तो वह समिधा भी अग्निस्वरूप में परिणत हो जाती है, अतः यह भी अग्नि है। एवं बाद में जो आहुति दी

जाती है वह भी अग्निमय बन जाती है—यह तीसरी अग्नि है। इस प्रकार तीन अग्नियों के चयन का भाव अग्निहोत्र में सम्मिलित हो जाता है। तीनों अग्नियाँ क्रमशः यजुष्मती, लोकम्पृणा तथा परिश्रित् इष्टका के स्थानापन्न हैं। चूंकि समिधा यजुर्मन्त्र से डाली जाती है, अतः वह यजुष्मती इष्टका बन जाती है। तात्पर्य यही है कि समिधा और आहुति को ईंट मान लेने तथा यजुर्मन्त्र द्वारा समिधा डालने से इन चुनी हुई ईंटों में ही—वे आहुतियों का हवन करते हैं, अर्थात् चयन के बाद ही आहुतियाँ डाली जाती हैं। इस प्रकार यह अग्निहोत्र चयनप्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ यामेतां समिधमभ्यादधाति सेष्टका। येन मन्त्रेण जुहोति तद्यजुः। येनैतामिष्टकामुपदधाति। यदा वा इष्टकोपाधीयतेऽथाहुतिर्हूयते। तदस्योपहितास्विष्टकास्वेता आहुतयो हूयन्ते, या एता अग्निहोत्राहुतयः' ॥१७॥

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यद्यपि इष्टकाओं का स्वरूप उपर्युक्त रीति से बन जाता है, परन्तु चयन का स्वरूप तो कथमपि नहीं बन सकता, क्योंकि चयन में संवत्सराग्नि होता है। अग्निहोत्राग्नि को 'उखा' में वर्ष भर तक रखा जाता है। उस वार्षिक अग्नि में ही अग्निचयन होता है और अग्निहोत्र चयनयज्ञ हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें प्रतिदिन हवन किया जाता है। अतः यह वार्षिक अग्नि न होने से अग्निहोत्र चयनयुक्त कसे बन सकता है? इसी का खंडन करते हुए एवं इसमें संवत्सरस्वरूप की स्थापना करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सूर्य के चारों ओर पृथिवी घूमती है तथा वह एक वर्ष में सूर्य की परिक्रमा कर लेती है। यह वार्षिक-अग्नि ही प्रजापति कहलाता है। सोम से ही सारे जगत् का निर्माण होता है, इसीलिए 'अग्नीषोमात्मकञ्जगत्'—यह कहा जाता है। वर्ष भर का जो ऋतुअग्नि है उसी से सारी प्रजा (पदार्थमात्र) उत्पन्न होती है अतएव 'प्रजापतिर्वाअग्निः' यह कहा गया है। वार्षिक अग्नि को प्रजापति कहते हैं, वर्ष वैदिक भाषा में संवत्सर कहलाता है। यही संवत्सराग्नि प्रजापति है, अतः 'संवत्सरो वै प्रजापतिः'—यह भी कहा जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यद्यपि एक दिन के अग्निहोत्र से चयन का स्वरूप नहीं बनता, तथापि संवत्सरान्त में अग्निहोत्र चित्याग्नि से युक्त हो जाता है। चित्याग्नि वर्ष भर में व्याप्त हो रहा है। एवं उसी अग्नि को अग्निहोत्र द्वारा वर्ष भर में यजमान आत्मसात् कर लेता है अर्थात् एक-एक वर्ष के अन्त में अग्निहोत्र करता हुआ यजमान अवश्य ही चित्याग्नि से युक्त हो जाता है।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो मनुष्य इस रहस्य को समझकर अग्निहोत्र करता है, वह प्रतिवर्ष चित्याग्नि से युक्त होता रहता है अर्थात् यजमान एक वर्ष में चित्य (सांवत्सरिक) अग्नि को प्राप्त हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहा है—

'प्रजापतिर्वा अग्निः। संवत्सरो वै प्रजापतिः। संवत्सरे संवत्सरे ह वाऽअस्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना संतिष्ठते। संवत्सरे संवत्सरे चित्याग्निमाप्नोति य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति। एतदुहास्याग्निहोत्रं चित्येनाग्निना संतिष्ठते, चित्याग्निमाप्नोति' ॥१८॥

पहिले बतलाया गया है कि—आहृत्याग्नि, चित्याग्नि व चितेनिधेयाग्नि—भेद से अग्नि तीन प्रकार का है। चयन यज्ञ में इन्हीं का चुनाव किया जाता है। इनमें से प्रत्येक अग्नि में महोक्थ, महाव्रत और अर्क्य—यह वेदत्रयी रहती है, जिसका विशद विवेचन दशम काण्ड में—चयनप्रकरण में किया गया है। महोक्थ का सम्बन्ध ऋक् से है, महाव्रत का साम से, एवं अर्क्य का—यजु से। जिस प्रकार आहृत्याग्नि महोक्थ, महाव्रत व अर्क्यमय है उसी प्रकार चित्य व चितेनिधेय भी वेदत्रयीमय है। इन्हीं तीन अग्नियों के इस महोक्थ स्वरूप को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'स एष वा अर्कः। यमेतमत्राग्निमाहरन्ति, तस्यतदन्नं क्यम्। योऽयमग्निश्चितस्तदर्क्यं यजुष्टः। एष एव वै महाँस्तस्यैतदन्नं व्रतं, तन्महाव्रतं सामतः। एष एवोक्तस्यैतदन्नं तदुक्थमृक्त। तदेतदेकं स त्रेधा व्याख्यायते।' शत० ५२४ पृ० ४ कण्डिका। आहृत्याग्निस्वरूप।

चित्याग्निस्वरूप (शत० ५२५ पृ० १५ कण्डिका)।

चितेनिधेयाग्निस्वरूप (शत० ५२५ पृ० २१ कण्डिका)।

प्रकृत में यही बतलाना है कि चयन में महदुक्थ का समावेश रहता है। जिस प्रकार आठ की संख्या से गायत्री का स्वरूप बनता है, उसी प्रकार ८० संख्या (अशीति) से महोक्थ का स्वरूप बनता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अशीतिभिर्हि महदुक्थमातमाख्यायते' ॥इति॥

संवत्सराग्नि को चयन कहते हैं। इस प्रकार ८०-८० अक्षर की ७२० ऋचाएँ चयन में प्रयुक्त होती हैं। क्योंकि संवत्सर के अहोरात्रसम्बन्ध से ७२० भाग होते हैं, अतः इतने ही महोक्थ करने पड़ते हैं। इस कथन का तात्पर्य यही है कि—जैसे चयनयज्ञ में ७२० संख्या वाले महोक्थ का सम्बन्ध हो जाता है वैसे ही अग्निहोत्र में भी महोक्थ का सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार चयन का भाव सर्वात्मना अग्निहोत्र में प्रविष्ट हो जाता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि महोक्थ में ७२० ऋचाएँ होती हैं, और प्रत्येक ऋचा ८०-८० अक्षर की होती है। यह यजमान सायं प्रातः अग्निहोत्र में २ आहुतियों का हवन करता है, उससे एक संवत्सर में ७२० आहुतियाँ हो जाती हैं। इस तरह संवत्सर-संवत्सर में उसका अग्निहोत्र चयनयज्ञ की तरह महोक्थसम्पत्ति से युक्त होता रहता है। जो यजमान महोक्थ के रहस्य को जानकर अग्निहोत्र करता है वह प्रति संवत्सर महोक्थसम्पत्ति को प्राप्त कर लेता है ॥१९,२०॥

इति तृतीये प्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्

इति द्वितीये काण्डे द्वितीयाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अग्न्युपस्थानोपपत्तिः

(मूल) अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् पशून्निदधिरे-ये च ग्राम्याः, ये चारण्याः, विजयं वोपप्रैष्यन्तः, कामचारस्य वा कामाय—'अयं नो गोपिष्ठो गोपायद्' इति वा ॥१॥

तानु हाग्निर्निचकमे। तैः संगृह्य रात्रिं प्रविवेश। 'पुनरेम' – इति देवा ऐदग्निं तिरोभूतम्। ते ह विदाञ्चक्रुः – इह वै प्राविक्षद्, रात्रिं वै प्राविक्षदिति। तमेतत् प्रत्यायत्यां रात्रौ सायमुपातिष्ठन्त-'देहि नः पशून् पुनर्नः पशून् देहि' इति। तेभ्योऽग्निः पशून् पुनरददात् ॥२॥

तस्मै कमग्नी उपतिष्ठेत। अग्नी वै दातारौ। तावेवैतद्याचते। सायमुपतिष्ठेत। सायं हि देवा उपातिष्ठन्त। दत्तो हैवास्मा एतौ पशून् – य एवं विद्वानुपतिष्ठते ॥३॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत। उभये ह वा इदमग्रे सहासुः – देवाश्च, मनुष्याश्च। तद्यद्ध स्म मनुष्याणां न भवति—तद्ध स्म देवान् याचन्ते— इदं वै नो नास्तीदं नोऽस्तु' इति। ते तस्या एव याच्ञायै द्वेषेण देवास्तिरोभूताः 'नेद्धिनसानि, नेद्द्वेष्योऽसानि' इति। तस्मान्नोपष्ठित ॥४॥

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत। यज्ञो वै देवानामाशीर्यजमानस्य। तद्वा एष एव यज्ञो यदाहुतिः। आशीरेव यजमानस्य तद्यदेवास्यात्र। तदेवैतदुपतिष्ठमानः कुरुते। तस्मादुपैव तिष्ठेत ॥५॥

अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत। यो वै ब्राह्मणं वा शंसमानोऽनुचरति, क्षत्रियं वायं मे दास्यति, अयं मे गृहान् करिष्यतीति। यो वै तं वाच्येन वा, कर्मणा वा अभिरिरिराधयिषयति। तस्मै वै स देयं मन्यते। अथ य आह–किं नु त्वं ममासि, यो मे न ददासीति। ईश्वर एनं द्वेष्टोः, ईश्वरो निर्वेदं गन्तोः। तस्मान्नो-

पतिष्ठेत । एतदिच्चैवैष एतं याचते – यदिन्धे, यज्जुहोति, तस्मान्नोपतिष्ठेत ।।६।।

अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत । उत वै याचन्दातारं लभत एव, उतो भर्त्ता भार्य्यं नानुबुध्यते । स यदैवाह—'भार्य्यो वै तेऽस्मि, बिभृहि मा' इति । अथैनं वेद, अथैनं भार्य्यं मन्यते । तस्मादुपैव तिष्ठेत–इदमित्तु समस्तम्, यस्मादुपतिष्ठेत ।।७।।

प्रजापतिर्वा एष भूत्वा यावत ईष्टे, यावदेनमनु तस्य रेतः सिञ्चति–यदग्निहोत्रं जुहोति – इदमेवैतत् – सर्वमुपतिष्ठमानोऽनुविकरोति, इदं सर्वमनु प्रजनयति ।।८।

स वा उपवत्या प्रतिपद्यते:—इयं वा उप । ह्ययेनेयमुप । यद्धीदं किञ्च जायते अस्यां तदुपजायते–अथ यत् न्यृच्छति अस्यामेव तदुपोप्यते । तदह्ना रात्र्या भूयो-भूय एवान्नाय्यं भवति, तदन्नाय्येणैवैतद् भूम्ना प्रतिपद्यते ।९।।

॥ अथ बृहदुपस्थानम् ॥

स आह । (१) "उपप्रयन्तो अध्वरम्" – इति (वा. सं. ३.११)। अध्वरो वै यज्ञः । उपप्रयन्तो यज्ञमित्येवैतदाह । "मन्त्रं वोचेमाग्नये" इति (वा.सं. ३।११) । मन्त्रमु ह्यस्मा एतद्वक्ष्यन् भवति । "आरे अस्मे च शृण्वते" इति (वा.सं. ३।११) । यद्यप्यस्मदारकादसि अथ न एतच्छृण्वेव – एवमेदैतन्मन्यस्वेत्येवैतदाह ।।१०।।

(२) "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याः अयम् । अपां रेतांसि जिन्वति" इति (वा.सं. ३।१२) । अन्वेव धावति । तद् यथा याचन् कल्याणं वदेद् "आमुष्यायणो वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि" । इत्येवमेषा ।।११।।

अथैन्द्राग्नी (३) "उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभा राधसः सह मादयध्यै। उभा दातारविषां रयीणाम्। उभा वाजस्य सातये हुवे वाम्" इति (वा.सं. ३ १३) एष वा इन्द्रो वा य एष तपति। स यदस्तमेति तदाहवनीयं प्रविशति। तदुभावेवैतत् सह सन्ता उपतिष्ठते "उभौ मे सह सन्तौ दत्ताम्" इति। तस्मादैन्द्राग्नी ॥१२॥

(४) "अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्" इति (वा.सं. ३।१४)। पुष्टं वै रयिः। भूयोभूय एव न इदं पुष्टं कुरु--इत्येवैतदाह ॥१३॥

(५) "अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे-विशे" इति (वा.सं. ३।१५)। अन्वेव धावति, तद यथा याचन् कल्याणं वदेत्-आमुष्यादणो वै त्वमसि, अलं वै त्वमेतस्मा असि इति-एवमेषा। यथो एवैष तथो एवैनमेतदाह-यदाह-"विभ्वं विशे विशे" इति। विभूर्ह्येष विशे-विशे ॥१४॥

"अस्य प्रत्नामनुद्युतम्, शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्" इति (वा.सं. ३।१६) परमा वा एषां सनीनां यत्-सहस्रसनिः तदेतस्यैवावरुध्यै, तस्मादाह पयः सहस्रसामृषिमिति ॥१५॥

तदेतत् समाहार्य्यं षड्टृचम्। तस्योपवती प्रथमा, प्रत्नवत्युत्तमा। अवोचाम तद्-यस्मादुपवती। अथाद एव प्रत्नम्। यावन्तो ह्येव सनाग्रे देवाः तावन्त एव देवाः तस्माददः प्रत्नम्। तदिमे एवान्तरेण सर्वे कामाः-ते अस्या इमे सञ्जानाने सर्वान् कामान्त्सन्नमतः ॥१६॥

स वै त्रिः प्रथमां जपति, त्रिरुत्तमाम्। त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञाः, त्रिवृदुदयनाः। तस्मात् त्रिः प्रथमां जपति, त्रिरुत्तमाम् ॥१७॥

यद्ध वा अत्राग्निहोत्रं जुह्वत्—वाचे न वा कर्मणा वा मिथ्या करोति आत्मनस्तदवद्यति—आयुषो वा, वर्चसो वा प्रजायै वा ॥१८॥

तदु खलु—तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽसि आयुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि—वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण इति (वा. सं. ३।१७) इति ॥१९॥

यद्ध वा अत्राग्निहोत्रं जुह्वत्—वाचे न वा कर्मणा वा मिथ्या करोति आत्मनस्तदवद्यति—आयुषो वा, वर्चसो वा, प्रजायै वा,—तन्मे पुनराप्यायय—इत्येवैतदाह । तथो हास्यैतत् पुनराप्यायते ॥२०॥

'इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि'—इति (वा. सं. ३।१८) शतं वर्षाणि जीव्यास्म—इत्येवैतदाह । तावत् त्वा महान्तं समिधीमहीति । यदाह—द्युमन्तं समिधीमहि इति । वयस्वन्तो वयस्कृतम् सहस्वन्तः सहस्कृतम्—इति (वा. सं. ३।१८) वयस्वन्तो वयं भूयास्म, वयस्कृत् त्वं भूयाः इत्येवैतदाह । सहस्वन्तो वयं भूयास्म, सहस्कृत् त्वं भूया इत्येवैतदाह 'अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम्' इति (वा. सं. ३।१८) त्वया वयं सपत्नान् पापीयसः क्रियास्म—इत्येवैतदाह ॥२१॥

'चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय' इति (वा. सं. ३।१८) । त्रिरेतज्जपति । रात्रिर्वै चित्रावसुरसा हीयं सङ्गृह्येव चित्राणि वसति । तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे ॥२२॥

एतेन ह स्म वा ऋषयो रात्रेः स्वस्ति पारं समश्नुवते, एतेनो ह स्मैनान् रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्दन्ति । एतेनो एवैष एतद् रात्रेः स्वस्ति पारं समश्नुते, एतेनो एनं रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्दन्ति । एतावन्नु तिष्ठन् जपति ॥२३॥

अथासीनः । 'सं त्वमग्ने सूर्य्यस्य वर्चसा गथाः'—इति (वा. सं. ३।१९)

बोलता हुआ यजमान अनुधावन करता है। जैसे याचना करता हुआ याचक कल्याणकारिणी वाणी बोलता है, उसी प्रकार यजमान कहता है कि हे अग्ने, आपका स्वर्ग से सम्बन्ध है, क्योंकि २१वें स्तोम पर विद्यमान स्वर्ग लोक तक आप वितत है। अतः आप हमें स्वर्ग में पहुँचाने में समर्थ हैं. जैसे यह अग्नि सर्वत्र व्यापक है उसी प्रकार उससे कहता है कि आप सर्वत्र व्यापक हैं ॥१४॥

पश्चात् छठा मन्त्र बोलता है—

'अस्य प्रत्नामनुद्युतम्, शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्।'

अत्यन्त प्राचीन इस अग्नि के प्रकाशभाग से निकलने वाली किरणों ने चारों ओर शुक्ररूप सोमप्राण को दोह लिया। यह सोमप्राण ही दूध है। सहस्र शब्द वेद में 'सर्वं वै सहस्रम्' 'पूर्णं वै सहस्रम् इन वचनों के अनुसार पूर्णभाव या सर्वभाव का सूचक है। और पूर्णता दातव्य वस्तुओं की परमावधि है। इसी सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए 'पयः सहस्रामृषिम्' यह कहा है ॥१५॥

इन सब ऋचाओं का संग्रह कर इनका समुदायीकृत रूप षड्ऋच होता है। इन ६ ऋचाओं में उपवती प्रथमा ऋक् है। तथा प्रत्नवती (प्रत्न शब्द वाली) अन्तिम ऋक् है। उपवती ऋक् के उपवती होने का कारण बतलाया जा चुका है। अब प्रत्नवती का कारण बतलाते हैं। द्युलोक ही प्रत्नशब्दवाच्य है। जितने देवता प्रारम्भ में थे उतने ही आज भी हैं। अर्थात् जितने प्राणदेवता सृष्टि के प्रारम्भ में थे, उतने ही आज हैं। सदातनत्व के कारण इस द्युलोक को प्रत्न कहा जाता है। इस द्यावापृथिवी के बीच में ही सब पदार्थ विद्यमान हैं। वे द्यावापृथिवी ही इस यजमान को पहिचानते हुए सारी कामनाओं को इसे प्रदान करते हैं ॥१६॥

वह यजमान तीन बार उपवती ऋचा का तथा तीन ही बार प्रत्नवती का जप करता है। यज्ञ त्रिवृत्प्रायण तथा त्रिवृदुदयन होते हैं। अर्थात् प्रारम्भ में तथा समाप्ति में वे त्रिवृत् त्रिवृत् हैं क्योंकि निर्वाप प्रोक्षण सामिधेनी अनुवचनादि में तथा आज्य प्रउगादि शस्त्रसमाप्तियों में परिधानीया ऋक् की तीन बार

आवृत्ति होती है । अतः तीन बार प्रथमा उपवती ऋचा का तथा तीन बार प्रत्नवती अन्तिम ऋचा का जप करता है ।।१७।।

अग्निहोत्र करते समय यदि वाणी से अपि च क्रिया से यह यजमान जो कुछ मिथ्या (अन्यथा भाषण या अन्यथा कार्य) कर देता है, वह आहुति के साथ अपनी आत्मा का अवदान (हिंसा) कर देता है। अर्थात् आयु व तेज की और प्रजासम्पत्ति की हिंसा या नाश कर देता है ।।१८।।

उस मिथ्या दोष की निवृत्ति के लिए 'तनूनपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽसि आयुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि, वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण' । हे अग्ने ! आप तनूनपा हो, अतः मेरे शरीर की रक्षा करो, आप आयु प्रदान करने वाले हो, अतः मुझे आयु दो । हे अग्ने ! आप तेज प्रदान करने वाले हो, अतः मुझे तेज दो । हे अग्ने ! मेरे शरीर में जो कमी है, उसकी पूर्ति कीजिए ।।१९।।

जो अग्निहोत्रहवन करते हुए वाणी अथवा कर्म से मिथ्या करता है, वह अपनी आत्मा को ही खण्डित करता है । तथा अपनी आयु, तेज व प्रजा का नाश करता है । इन सबको आप पुनः बढ़ाइए । ऐसी प्रार्थना करने से अग्नि उसकी इन तत्वों की वृद्धि कर देता है, पूर्ति कर देता है ।।२०।।

पुनः अग्नि की स्तुति करते हैं—

'इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि ।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् ।'
'अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति पारमशीय' ।।

अत्यन्त दीप्तिशाली आपको प्रज्वलित करते हुए हम १०० वर्ष तक आपका समिधन करते रहें । अन्न वाले हम अन्न उत्पन्न करने वाले आपका समिन्धन करें । हे अग्ने ! शत्रुओं के नाशक तथा अघर्षणीय आपका किसी से अभिभूत न होने वाले हम समिन्धन करें । हे चित्रावसो (रात्रि देवता)! कल्याणपूर्वक हम रात्रि के पार पहुँचें । मन्त्र की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'शतं हिमा समिधीमहि' का अर्थ १०० वर्ष तक जीवें,

यह है। 'दद्युमन्तं समिधीमहि' का अर्थ महान् आपका हम समिन्धन करें। 'वयस्वन्तो वयस्कृतं, सहस्वन्तः सहस्कृतम्' का तात्पर्य यही है कि अन्न वाले हम बनें और अन्नदाता आप बनें। बलवान् हम बनें और बलदाता आप बनें। 'अग्ने सपत्नदम्भनम्' इत्यादि ऋचा का यही तात्पर्य है कि आपकी कृपा से हम अपने शत्रुओं को पापीयान् बनावें, निकृष्ट बनावें ॥२१॥

'चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय' इस मन्त्र का तीन बार जप करता है। चित्रावसु का अर्थ रात्रि है क्योंकि वह ग्रहनक्षत्रादि नाना भावों को संगृहीत करती है। अतः रात्रि में नाना नक्षत्र दृष्टिगोचर होते हैं ॥२२॥

'चित्रावसो' इस मन्त्र के द्वारा ही ऋषियों ने कल्याण से रात्रि का पार पाया। इसी मन्त्र के कारण इन ऋषियों को रात्रि के विनाशक राक्षस आदि प्राप्त नहीं कर सके। इसीसे यह यजमान कल्याणपूर्वक रात्रि के पार पहुँचता है। इसी मन्त्र के जप से रात्रि के विनाशक राक्षस इसको प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अतः आहवनीय[२] के पास खड़े होकर इस मन्त्र का जप करता है ॥२३॥

इसके बाद बैठा हुआ (बैठ कर)

'सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन। सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सं रायष्पोषेण ग्मिषीय।'

इस मन्त्र का उच्चारण करता है। अर्थात् हे अग्ने, आप सूर्य के तेज से, ऋषियों की स्तुति से, आहुतिरूप आपके प्रिय स्थान से मिल गये हैं। वैसे हो मैं भी आयु, तेज, प्रजा व धन से युक्त हो जाऊँ ॥२४॥

उपर्युक्त मन्त्रों से उपस्थान करने के बाद यजमान गोशाला में स्थित गाय के पास जाता है और निम्न मन्त्र से गाय का उपस्थान करता है—

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय महस्थ महो वो भक्षीय।
उर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय॥

---

१. 'चित्रावसो' इत्यादिमन्त्रस्य त्रिर्जपं विधत्ते।' (का० श्रौ० सू० ४।२७६)

२. 'उपप्रयन्त' इत्यारभ्य चित्रावसो इत्येतावत्पर्यन्तमाहवनीयस्य समीपे तिष्ठन् जपेत्' (का० श्रौ० सू० ४।२७६)

आप क्षीरान्नरूप हैं, आपके वीर्य को मैं प्राप्त करूँ। आप तेजोरूप हैं, आपके तेज को मैं प्राप्त करूँ। आप ऊर्क् (बलप्रद रस) रूप हैं, आपके बलप्रद रस को मैं प्राप्त करूं। आप भूमारूप हैं, आपकी भूमा मुझे प्राप्त हो ।।२५।।

'रेवती रमध्वमस्मिन् योनावास्मिन् गोष्ठेऽस्मिंल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त मापगात।'

हे रेवती (धनयुक्त) गो माताओं! आप इस घर में, इस गोष्ठ में, इस लोक में व इस निवासस्थान में रहें और यहाँ से न जावें। इस मन्त्र में 'मापगात' का अभिप्राय यह है कि मेरे पास से न जावें ।।२६।।

दोनों मन्त्रों से गाय का उपस्थान करने के बाद निम्न मन्त्र से गाय का स्पर्श करता है—

'संहितासि विश्वरूपी ऊर्जा माविश गौपत्येन'

हे विश्वरूपी (शुक्लकृष्णादि सर्वरूपवाली) गो! आप संहिता अर्थात् मेरे से सम्बद्ध हो, आप दुग्धरूपी ऊर्क् रस से मुझे तृप्त करती रहें। इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि गो को विश्वरूपी इस लिए कहा गया है कि पशु सर्वरूप वाले होते हैं। ऊर्क् शब्द से यहाँ रस का ग्रहण है। और गौपत्य शब्द से भूमा अर्थ का ग्रहण है ।।२७।।

इस प्रकार मन्त्रपूर्वक आहवनीय के उपस्थान के अनन्तर गार्हपत्याग्नि के पास जाकर उसका निम्नलिखित मन्त्रों से उपस्थान करते हैं।

'उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि'

हे अग्नि! प्रतिदिन सायं-प्रातः मन से नमस्कार करते हुए हम आपके पास पहुँचें। नमस्कार के द्वारा अग्नि को प्रसन्न करते हैं जिससे प्रथम क्रमप्राप्त गार्हपत्याग्नि का अतिक्रमण कर आहवनीयाग्नि का उपस्थान करने से जो अपराध हुआ है उसके कारण अग्नि यजमान की हिंसा न करे ।।२८।।

'राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे'

यज्ञों में सुशोभित होने वाले ऋत (सोम) के रक्षक तथा अपने घर में

बढ़ने वाले अग्नि का हम उपस्थान करते हैं। इस मन्त्र में 'स्वे दमे' पद का अर्थ बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्थान करने वाले यजमान का कथन है कि यह मेरा घर आपका अपना ही है। अतः आप इसे बार बार हमें प्रदान कीजिए क्योंकि यह आपका ही है ॥२९॥

'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये'।

जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए नमस्कारादि उपचारों से सम्यक् सेवा करने योग्य है, उसी प्रकार हे गार्हपत्याग्ने! आप भी हमारे लिए सम्यक् सेवा करने योग्य बनिए। अर्थात् जैसे पुत्र किसी भी प्रकार पिता की हिंसा नहीं करता वैसे ही हम आपकी किसी भी प्रकार से हिंसा न करें। आपको कष्ट न पहुँचावें ॥३०॥

उपर्युक्त तृच से गार्हपत्य का उपस्थान करने के वाद द्विपदा गायत्री मन्त्रों से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान यजमान करता है—

'अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः'।
'वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छानक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः,'
'तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः'
'स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात्।'

हे अग्ने! तुम हमारे समीपवर्ती, त्राणकर्ता, कल्याणकारी तथा रक्षक बनो। सम्पत्तिरूप जो अग्नि धनबाहुल्य से कीर्तिमान् है, वह हमें अत्यन्त प्रकाशशील (जागरूक) धन दे तथा हम पर कृपादृष्टि रखे। 'हे (शोचिष्ठ प्रज्वलित प्रकाश वाले) अग्नेः इस समय हम अपने मित्रों के लिए आपका उपस्थान करते हैं।' वह तुम हमारे आह्वान (प्रार्थना) को सुनो और समझो। हमारे पर पाप-कर्म करने की इच्छा वाले शत्रुओं से सब तरफ से हमारी रक्षा करो ॥३१॥

आहवनीयाग्नि[1] का उच्चावच (विभिन्नाकार) छन्दों से तथा गार्हपत्याग्नि का गायत्र त्रिच तथा द्विपदा गायत्री से उपस्थान का कारण बतलाते हैं—चूंकि पशुओं

१. पशुओं की उत्पत्ति सूर्यस्थित पशुप्राण से होती है। वे पशुप्राण उच्चावच (विभिन्नाकारयुक्त) हैं। अतः उनकी प्राप्ति (निर्माण) जिस आहवनीय सूर्याग्नि से होती है, उसकी प्रतिनिधिभूत आहवनीयाग्नि का उपस्थान भी विभिन्नाकार छन्दों से किया जाता है।

की प्राप्ति के लिए आहवनीयाग्नि का उपस्थान किया जाता है और पशु नानाकार वाले हैं, अतः उनके लिए नानाकार छन्दों से आहवनीय का उपस्थान किया जाता है। पुरुषप्राप्ति[1] के लिए गार्हपत्याग्नि का उपस्थान किया जाता है और गार्हपत्याग्नि (पार्थिवाग्नि) अष्टावयव है। अतएव अष्टाक्षर गायत्री छन्द अग्नि का अपना छन्द है। अतः उसी से उसका उपस्थान किया जाता है ॥३२॥

द्विपदा पुरुषों का छन्द है। क्योंकि पुरुषों की प्राप्ति के लिए गार्हपत्याग्नि का उपस्थान है और पुरुष द्विपाद हैं, अतः द्विपदा गायत्री छन्द से ही गार्हपत्याग्नि का उपस्थान किया जाता है। जो उपर्युक्त रहस्य को जानता हुआ उच्चावच छन्दों से आहवनीय का तथा गायत्री छन्द से गार्हपत्य का उपस्थान करता है, उसे पशुसम्पत्ति व पुरुषसम्पत्ति की प्राप्ति होती है ॥३३॥

पुनः 'इडे एहि, अदिते एहि काम्या एत' इस मन्त्र से गाय का उपस्थान करता है। (सूर्य तथा पृथिवी दोनों लोकों के मनोताओं में गो तत्त्व है। यह गो प्राण इडा, अदिति, सरस्वती भेद से तीन प्रकार है। जिसका प्रतिपादन 'अथ गामाह्वयति–जघनेन गार्हपत्यम्। यन्नु इडे एहि, अदिते एहि, सरस्वत्येहि।' इस वचन से शतपथ के १४ काण्ड में किया गया है। सरस्वती गो का सम्बन्ध परमेष्ठी लोक से है। प्रकृत में सूर्याग्निहोत्र व पार्थिवाग्निहोत्र का सम्बन्ध होने से उन दोनों के गो प्राणों–इडा और अदिति का ही उपस्थान किया जाता है। अतः इडा और अदिति का ही मन्त्र में निवेश है।) याज्ञवल्क्य इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इडा और अदिति दोनों ही गोतत्त्व हैं। उस तत्त्व से निर्मित गाय का यहाँ स्पर्श किया जाता है। उन्हीं गायों में हमारी समस्त कामनायें निहित हैं। उन्हीं से सारी कामनाओं की प्राप्ति होती है। अतः 'काम्या एत' कहा गया है। 'मैं आपका प्रिय बनूँ' यह इसका तात्पर्य है ॥३४॥

गाय के उपस्थान के बाद गार्हपत्य और आहवनीय के मध्य में खड़े होकर आहवनीय की ओर दृष्टि रखता हुआ निम्न मन्त्रों का जप करता है––

---

१. पुरुष की उत्पत्ति पार्थिवाग्नि से होती है और पार्थिवाग्नि, आपः, फेन, उषा आदि भेद से अष्टावयव है। अतः पार्थिवाग्निप्रतिनिधिभूत यज्ञिय गार्हपत्याग्नि का अष्टाक्षर गायत्रीछन्द से उपस्थान किया जाता है।

'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः ।'

हे ब्राह्मणस्पते, उशिक् पुत्र मुझ कक्षीवान् को आप सोम की आहुति देने वाला बनाइए।

'यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः । स न सिषक्तु यस्तुरः ।'
जो अग्नि पशुमान् अमीवानामक कीटाणुओं का नाश करने वाला, धनप्रापक, पुष्टि करने वाला तथा शीघ्र फलप्रदाता है वह हमारे पर मनोरथों का सेचन करे अर्थात् हमें सम्पत्ति दे।

'मा नः शंसो अररुषो धूर्त्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य, रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ।'

मर्त्यों से शत्रुता रखने वाले धूर्त मनुष्यों का आप नाश करें। उनसे आप हमारी रक्षा करें ।।३५।।

आहवनीय का उपस्थान करता हुआ यजमान दिव्याग्नि का उपस्थान करता है, क्योंकि आहवनीय दिव्याग्नि का प्रतिनिधि है और जो गार्हपत्य का उपस्थान करता है वह पृथिवी लोक का उपस्थान करता है क्योंकि गार्हपत्य पृथिवी-स्थानीय है। दोनों अग्नियों के बीच खड़े होकर जो उपस्थान करता हैं, वह अन्तरिक्ष का उपस्थान करता है। क्योंकि अन्तरिक्ष सूर्य और पृथिवी के मध्य में है। अन्तरिक्ष बृहस्पति की दिक् है, अर्थात् अन्तरिक्ष दिक् का अधिष्ठाता बृहस्पति है। मध्य में खड़े होकर उपस्थान करना इसी बार्हस्पत्य दिक् का उपस्थान है। इसीलिए बृहस्पतिदेवताक ऋचाओं का जप करता है ।।३६।।

दोनों अग्नियों के मध्य में अर्थात् अन्तरिक्ष में खड़ा होकर निम्न मन्त्रों का उच्चारण करता है—

'महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य' ।

मित्र अर्यमा और वरुण मेरी रक्षा करें। इन तीनों में मित्र और अर्यमा द्युक्ष (सात्विकभावयुक्त) हैं, किन्तु वरुण राजसभावयुक्त है। अतः उन दोनों की रक्षा को मन्त्र में द्युक्ष तथा वरुण की रक्षा को दुराधर्ष बतलाया गया है।

'न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः ।'

मित्र, अर्यमा, वरुण से रक्षित मनुष्यों का मार्ग में भी पापकर्म का चिन्तन करने वाला कोई नहीं हो सकता।

'पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्' ।

अदिति के पुत्र मित्र, अर्यमा और वरुण मनुष्य के लिए सदा ज्योतिः प्रदान करते रहते हैं। मन्त्रस्थ 'नाध्वसु वारणेषु' की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पृथिवी और द्युलोक के बीच में जो ये मार्ग हैं, उनमें रहने वाले नाष्ट्र प्राण ही मनुष्यों के स्वर्ग में पहुँचने में बाधक हैं, अवरोधक हैं। अतः इन्हीं मार्गों का यजमान उपर्युक्त त्रिच से उपस्थान करता है ॥३७॥

तदनन्तर– [1]'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मधवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ।'

इस इन्द्रदेवताक ऋचा का उच्चारण करता है, इन्द्र इस यज्ञ का देवता है। इसकी व्याख्या करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान ही दाश्वान् है, [2]क्योंकि वह आहुतिप्रदाता है। उस यजमान से आप कभी द्रोह नहीं करते। 'भूय इन्नु ते दानं' का तात्पर्य है कि आप पुनः पुनः मुझे सम्पत्ति दें ॥३८॥

इसके बाद 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्।' इस सवितृदेवताक ऋचा का उच्चारण करता है। सविता से प्रसूत कामनायें ही समृद्ध होती हैं। इसलिए सावित्री ऋचा बोली जाती है ॥३९॥

'परि ते दूडभो रथोऽस्मान् अश्नोतु विश्वतः । येन रक्षसि दाशुषः'। इस अग्निदेवताक ऋचा को पढ़ता है। अर्थात् आपका जो अधृष्य रथ है जिससे आप यजमानों की रक्षा करते हो, वह मुझे चारों ओर से व्याप्त करे अर्थात् उससे हमारी सब ओर से रक्षा करो। अपने आप की रक्षा के लिए अग्नि को समर्पित

---

१. हे इन्द्र, आप यज्ञाहुतिप्रदाता यजमान की कभी हिंसा नहीं करते हो। हे मघवन्, आपके द्वारा दिया हुआ धन उत्तरोत्तर बढ़ता रहे। अर्थात् आप पुनः पुनः सम्पत्तिप्रदान करते रहें।

२. सविता देवता का वरणीय तेजोविशेषरूप जो भर्ग है, जो कि हमारी बुद्धि को प्रेरित करता है, उसे मैं धारण करूँ।

कर देता है। यजमान ही दाश्वान् है क्योंकि वह देवों को आहुति प्रदान करता है। अग्नि का रथ शत्रुओं से अधर्षणीय है, उससे यह अग्नि यजमान की रक्षा करता है। इस ऋचा का तीन बार जप करता है ।।४०।।

उपस्थानानन्तर पुत्र का नाम लेता है और कहता है कि यह मेरा पुत्र इस यज्ञानुष्ठान-लक्षण-वीर्य का परम्परा से सन्तनन करता रहे, इसे अविच्छिन्न बनाए। पुत्र के न होने पर यजमान अपना ही नाम लेवे। अर्थात् मैं इस वीर्य को अविच्छिन्न करूँ ।।४१।।

।। इति बृहदुपस्थान समाप्त ।।

अग्न्युपस्थानोपपत्ति

(भाष्य) सायंकाल और प्रात:काल अग्नि का उपस्थान करते हैं अर्थात् यज्ञफल मांगने के लिए अग्नि के समीप जाकर उस अग्नि की आराधना करनी पड़ती है। अग्नि की आराधना एवं उसके उपस्थान का वैज्ञानिक रहस्य बतलाते हुए कहते हैं कि प्रकृतियज्ञ में प्राणदेवता पार्थिव अग्नि का उपस्थान करते रहते हैं। अत: —"यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि"—के सिद्धान्तानुसार हमें भी अग्नि का उपस्थान करना है। देवता किस प्रकार पार्थिव अग्नि का उपस्थान करते हैं, यह बतलाते हैं।

सृष्ट्युत्पत्तिक्रम में प्रथम पानी उत्पन्न होता है, तदनन्तर उस आपोमय परमेष्ठिमण्डल के अन्तर्गत भगवान् सूर्य उत्पन्न होते हैं एवं सूर्यस्थित तेंतीस आग्नेय देवताओं से पृथ्वी उत्पन्न होती है। चूंकि पृथ्वी किं वा पार्थिव पदार्थ इन देवताओं से उत्पन्न होते हैं, अतएव श्रुति कहती है—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्य:।' इति।

प्राण दो प्रकार का होता है—मर्त्य और अमृत। जो अमृतप्राण है उसे ही देवता कहते हैं और मर्त्यप्राण को पशु। अमृतप्राण मर्त्यप्राण पर आक्रान्त रहता है। मर्त्यप्राण अमृतप्राण की उपभोग्य वस्तु है—उपकरणसामग्री है। पशु देवता के आधार पर रहते हैं। अर्थसृष्टि में जैसे देव-पशु विभाग है, वैसे ही शब्द-सृष्टि में समझना चाहिए। शब्द-सृष्टि में देवता स्वर है एवं पशु व्यञ्जन। व्यञ्जन पर स्वर सदा आक्रान्त रहता है। जो कुछ नियम अर्थ-सृष्टि का है वैसा ही शब्द-सृष्टि का। अर्थ-सृष्टि में ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि व सोम इन पाँच अक्षरों से सृष्टि होती है, तो शब्द-सृष्टि में भी, अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच अक्षरों से ही सारे वर्ण उत्पन्न होते हैं। अर्थ-सृष्टि में ब्रह्मतत्व से अन्य सभी तत्व

उत्पन्न होते हैं तो शब्द-सृष्टि में भी अकार से ही सारे वाङ्मय की उत्पत्ति होती है। इसीलिए श्रुति कहती है—

'अकारो वै सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।'

अस्तु प्रकृत में यही बतलाना है कि उपकरण-सामग्री मर्त्यधर्मा है, उसे ही पशु कहते हैं। अमृत अर्थात् देवता प्राणस्वरूप हैं, अतएव उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष पशुओं का ही होता है। अतएव इनको पशु कहा जाता है। देवता आग्नेय हैं। अतएव 'अग्निः सर्वा देवताः' यह कहा जाता है। प्राणस्वरूप अग्नि का प्रत्यक्ष पशु में ही होता है अर्थात् अग्नि के स्वरूप को पशु द्वारा ही पहिचाना जा सकता है। इसलिए 'यत्राग्निं पश्यन्ति लोकाः स पशुः' इस व्युत्पत्ति से भी इन्हें पशु कहते हैं। 'यो दृश्यते स पशुः' यही इसका अर्थ समझना चाहिए। सूर्यस्थित प्राणदेवताओं से पृथ्वी का निर्माण होता है। इन देवताओं में पाँच पशु होते हैं, जो कि पृथ्वी के उपादान कारण हैं। इन पशुओं के द्वारा ही देवता पृथ्वी का निर्माण करते हैं। ये पाँच पशु निम्नलिखित हैं—

१. वीर्य — ब्रह्म, क्षत्र, विट् (देववित्तानि)

२. छन्द — गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती (वयोनाध)

३. शिपिविष्ट— पदार्थस्वरूप (भौतिक अग्नि)

४. पशु — (i) पुरुष (ii) अश्व (iii) गौ (iv) अवि (v) अज

५. ऋतु — ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त।

सूर्यस्थित प्राणदेवताओं में पूर्वोक्त तीनों वीर्य रहते हैं। प्रातःकाल जो उषःकाल से प्रारम्भ होकर एक घण्टे तक रहने वाला सूर्यप्रकाश है, वह ब्रह्मवीर्ययुक्त है। मध्याह्न का प्रकाश क्षत्रवीर्ययुक्त है। तथा सायंकाल का प्रकाश विट्वीर्ययुक्त है। ये तीनों वीर्य देवताओं के वित्त कहलाते हैं। चौथा वीर्य वह है जो रात्रि में रहता है। रात्रि में सौर-प्राण आता अवश्य है किन्तु अन्धकार में लिप्त ही होकर आता है। अतएव उस तमोमय सौरप्राण को शूद्र-वीर्य कहते हैं। प्रकृति में ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र ये चार वीर्य हैं। अतएव भारतीय महर्षियों ने इसी आधार पर जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया। वर्ण-व्यवस्था न मानने वालों को वैज्ञानिक दृष्टि से शून्य ही समझना चाहिए।

दूसरा छन्द पशु है। इन छन्दों से ही देवता का स्वरूप बनता है। छन्दों के द्वारा ही देवता गृहीत होते हैं। आठ अवयवों द्वारा अग्नि का स्वरूप गृहीत होता है। अतएव अग्नि का छन्द आठ अक्षरों का माना जाता है। इसीलिए 'अष्टाक्षरा वै गायत्री' यह कहा जाता

है। निष्कर्ष यह है कि देवताओं को परिच्छिन्न बनाने वाले उनके स्वरूप का निर्माण करने वाले, अतएव उनके वाहन कहलाने वाले जो 'वयोनाध' हैं, उन्हीं को 'छन्द' कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई वयोनाध अवश्य होता है। वस्तु के चौतरफ जो एक घेरा है, जिस घेरे को तोड़ने से वस्तुस्वरूप नष्ट हो जाता है, उसे ही वयोनाध कहते हैं। उसे ही वैदिकपरिभाषानुसार छन्द कहा जाता है।

तीसरा पशु शिपिविष्ट है। पृथ्वी के यावन्मात्र पदार्थों में एक प्रकार का अग्नि होता है जो भौतिक अग्नि कहलाता है तथा जिससे पदार्थ का स्वरूप बनता है। वह स्वरूप वय कहा जाता है अर्थात् वयोनाध के भीतर रहने वाली जो वस्तु है उसे ही वय कहते हैं। वयोनाध के भीतर भौतिक अग्नि ही रहता है। अतः वही शिपिविष्ट कहलाता है।

चौथा पशु पशु ही कहलाता है। वेद में स्थूल रूप से पाँच पशु माने गये हैं—पुरुष, अश्व, गो, अवि, अज। ये पांचों पशु प्राणस्वरूप हैं। पुरुष, अश्व, गो, अज ये तो प्रसिद्ध ही हैं। अवि उस पशुप्राण का नाम है जो कि वृक्षों में हरियाली पैदा करने वाला है। वर्षा ऋतु में वृक्षों में जो एक प्रकार की सघनता आ जाती है, यह उस अवि पशु की ही महिमा है। इसी अविप्राण के लिए श्रुति कहती ह—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परिवृता।
तस्या रूपेणेमा वृक्षा हरितो हरितस्रजः॥

पाँचवा पशु ऋतु है। अग्नि के तारतम्य से छह ऋतुएँ बन जाती हैं अर्थात एक ही अग्नि छः स्वरूपों में परिणित हो जाता है। देवता आग्नेय हैं, ऋतु अग्निमय है। इसी अभिप्राय से ऋतुओं को भी अग्नि बताया गया है। प्रकृत में पशुओं का अग्नि में प्रवेश बतलाया जायगा एवं पुनराधेय ब्राह्मण में ऋतु में अग्नि का प्रवेश बतलाया गया है। इसका यही कारण है कि ऋतु भी अग्निस्वरूप है और अग्नि तो अग्नि है ही।

प्रकृत में यही बतलाना है कि सौर देवताओं में पूर्वोक्त पाँचों पशु रहते हैं। इन पाँचों पशुओं के समूह को ही पृथ्वीपिण्ड कहते हैं। जब देवप्राणसहित पाँचों पशु एक स्थान में आ जाते हैं, तो उसी समष्टि को पृथ्वीपिण्ड कहते हैं। पृथ्वी के केन्द्र में पृथ्वी को प्रतिष्ठित रखने वाला एक अग्नि है, जिसे प्रजापति कहते हैं। उस अग्निस्वरूप प्रजापति के अधीन ही वे पाँचों पशु रहते हैं। यदि अग्नि न रहे तो पृथ्वी न रहे। पृथ्वी न रहे तो पशु न रहें।

पशु ग्राम्य, आरण्य भेद से दो प्रकार के हैं। कितने ही पशुप्राण ऐसे हैं, जो समूहरूप में रहते हैं। ये ही पशु ग्राम्य कहलाते हैं। तथा एकाकी रहने वाले पशुप्राण आरण्य कहलाते हैं। पशुप्राणों में ग्राम्य आरण्य भाव है। अतएव इन पशुप्राणों से उत्पन्न होने

वाले गो, अवि, अज, सिंह, मनुष्य इत्यादि पशुओं में भी ये दो प्रकार होते हैं। इनमें सिंह, मनुष्य आदि पशु एकाकी रहते हैं। मृग, मेष, अज समूहरूप में रहते हैं। महाभारत में इन ग्राम्य एवं आरण्य-पशुओं की गणना कर दी गई है। वहाँ चौबीस ग्राम्यपशु और चौबीस आरण्यपशु बताये गये हैं।

पूर्वोक्त पाँचों पशु प्रत्येक देवताओं में रहते हैं। अवश्य ही देवताओं में चारों वीर्यों में से कोई न कोई वीर्य, गायत्री आदि छन्दों में से कोई न कोई छन्द रहेगा। देवता का ऋतु से भी सम्बन्ध अवश्य रहेगा। प्रकृत में यह बताना है कि सौर देवताओं ने ग्राम्य और आरण्यक पाँचों पशुओं को अग्नि को समर्पित कर दिया अर्थात् पाँचों के समूह से जो पृथ्वी-पिण्ड बना, तदनन्तर गर्भित प्रजापति अग्नि के लिए इन पांच पशुओं को समर्पित कर दिया अर्थात् सौर देवताओं के ये पांचों पशु आज पार्थिव अग्नि के बन गये। इससे यही सिद्ध होता है कि सौर पदार्थ पृथ्वी के स्वरूप में परिणत हो, पृथ्वी की अपनी वस्तु बन गये। इसी विज्ञान को लक्ष्य कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'अग्नौ (पार्थिवाग्नौ) ह वै देवा (सूर्यस्थिताः) सर्वान् पशून् निदधिरे ये च ग्राम्याः ये चारण्याः' इति।

भगवान् याज्ञवल्क्य इस कथा को विज्ञान और इतिहास दोनों पक्षों पर लगाते हुए कहते हैं कि देवताओं ने 'हम असुरों को जीतने जायेंगे या यथेच्छ इधर-उधर विचरण करेंगे, कौन इन पशुओं की रक्षा करता रहे, इस विचार से अथवा यह अग्नि अपने धन की रक्षा करने में बहुत ही कुशल है, इस अभिप्राय से सारे पशुओं को अग्नि के सुपुर्द कर दिया। देवप्राण (शुक्लप्राण) और असुरप्राण (तमोमयप्राण) का प्रकृति मंडल में सदा युद्ध होता रहता है अर्थात् प्रकाश और अंधकार सदा युद्ध किया करते हैं। यही देवासुर-संग्राम है।

इसी रहस्य को आलंकारिक ढंग से वर्णन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य "विजयं वोपप्रैष्यन्तः" कहते हैं। देवता आग्नेय है। अग्नि ही देवताओं का वास्तविक स्वरूप है। इसी अभिप्राय से "अयं नो गोपिष्ठो गोपायत्" यह कहा गया है। जिस प्रकार प्रकृतिमण्डल में देवासुर-संग्राम होता है, वैसे ही भुवनत्रिलोकी में स्थित देवासुरों में भी संग्राम होता था। जो व्यवस्था प्राकृतिक देवमण्डल की थी, उसी की प्रतिकृति पर साध्य जाति में उत्पन्न भगवान् ब्रह्मा ने भुवन-स्वर्ग की व्यवस्था की थी। जिस प्रकार प्रकृतिमण्डल में देवताओं में अग्नि प्रधान है, वैसे ही मनुष्यदेवताओं में भी अग्नि जाति प्रधान थी। देवता जब कभी असुरों से युद्ध करने लगते थे, अपनी सारी सम्पत्ति अग्नि को ही सौंपकर जाते थे। इन्हीं विज्ञान और इतिहास दोनों पर दृष्टि रखते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"अग्नौ ह वै देवाः पशून् निदधिरेये च ग्राम्याः ये चारण्याः। विजयं वोपप्रैष्यन्तः। कामचारस्य वा कामाय। अय वं नो गोपिष्ठो गोपायत्" ॥इति॥१॥

इस प्रकार से जब देवताओं ने अपने पशुओं को अग्नि के सुपुर्द कर दिया तो देवताओं के मुँह मोड़ते ही अग्नि उनको हड़प कर गए एवं रात्रि में जाकर छुप गए। अर्थात् पशुओं सहित अग्नि रात्रि की अन्धेरी गुहा में जा छुपे। देवताओं ने थोड़ी दूर जाकर विचार किया कि अरे कहीं अग्नि की नीयत न बदल जाय। अतः फिर वापिस आकर एक बार अपनी सम्पत्ति की संभाल कर आवें। बस यह कहकर देवताओं ने तिरोभूत अग्नि के पास लौटकर देखा कि अग्नि तो गायब है। अन्ततो गत्वा विचार-विमर्श कर कहा कि अग्नि इस स्थान (रात्रि) को छोड़कर अन्यत्र कहाँ जा सकता है? वह अवश्य इसी में प्रविष्ट हो गया है। अतः दूसरी तरफ गयी हुई रात्रि में देवताओं ने सायंकाल के समय इस अग्नि की उपासना की अर्थात् अग्नि को पा लिया और उससे कहा कि—हे अग्ने! आप कृपा करके हमारे पशुओं को लौटा दें। देवताओं की इस प्रार्थना पर अग्नि ने सारे पशु देवताओं को लौटा दिये।

पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि दृश्यमण्डल की अपेक्षा से पृथ्वी स्थिर एवं सूर्य चल है। प्रकृत में इसी दृश्यमण्डल को लक्ष्य में रखकर भगवती श्रुति कहती है—

"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि॥
ततो विराडजायत विराजोऽधि पूरुषः।
स जातोऽअत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः" ॥इति॥

जिस समय पूर्व दिशा में भगवान् सूर्य का उदय होता है, उस समय उसके तीन भाग इधर-उधर रहते हैं। एक भाग सूर्य के पीछे रहता है, एक अधोलोक की ओर, एक ऊपर की ओर। इस प्रकार तीन भाग इधर-उधर चले जाते हैं। एक भाग इस पृथ्वीलोक में आता है। इसके अनन्तर कुछ देर बाद भगवान् सूर्य सर्वतः व्याप्त हो जाता है अर्थात् प्रातःकाल जितनी मात्रा में सौरप्रकाश आता है, दस-ग्यारह बजे, उससे अधिक मात्रा में आने लगता है। यहाँ तक कि वह प्रकाश सर्वतः व्याप्त हो जाता है।

प्रजा दो प्रकार की होती है—अन्न और अन्नाद। जो अन्न प्रजा अर्थात् भोग्य है, उसे अनशन प्रजा कहते हैं एवं अन्नाद (भोक्ता) प्रजा को साशन प्रजा कहते हैं। उदय होते ही साशन और अनशन दोनों प्रजाओं के उपर भगवान् सूर्य अभिव्याप्त हो जाते हैं। तदनन्तर सूर्य भगवान् विराट् रूप में परिणित हो जाते हैं अर्थात् मध्याह्न में सूर्य अत्युग्र रूप में दीप्त हो जाते हैं। विराट् से अधिपुरुष हो जाते हैं अर्थात् मध्याह्न के बाद पृथ्वी की ओर झुक जाते हैं। झुकते-झुकते पृथ्वी से सर्वथा अलग हो जाते हैं। श्रुति कहती है कि—सायंकाल भगवान् सूर्य भूमि के पश्चाद भाग में चले जाते हैं। इसके बाद फिर पूर्व की ओर दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए श्रुति में कहा है 'अथो पुरः' इति।

पूर्वोक्त श्रुति से सिद्ध हो जाता है कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य चल है। पार्थिव पशु पार्थिवाग्नि के अधीन रहते हैं। जिधर अग्नि का रुख होता है, उसी ओर पशुओं का होता है। जिस समय सूर्योदय होता है, उस समय सूर्य के प्रबल आक्रमण के कारण अग्नि का रुख सूर्य की ओर नहीं रहता, पृथ्वी की प्रतिदिक् में चला जाता है। जिधर सूर्य-सत्ता रहती है, उसके विरुद्ध भाग में पशु सहित अग्नि का भाग प्रज्वलित रूप में रहता है। सौर देवताओं ने पशुओं को पार्थिवाग्नि को समर्पित किया था, उन पशुओं को लेकर अग्नि रात्रि में जा छिपा। इसका तात्पर्य यही है कि अग्नि का रुख दिन में सूर्य के विरुद्ध भाग में हो जाता है। सूर्य के प्रबल आक्रमण से अग्नि सूर्य की ओर अपनी गति न कर, पृथ्वी के उस भाग की ओर, जिधर सौरप्रकाश नहीं है अपना रुख कर लेता है। देवता अर्थात् देवप्राण विशिष्ट सूर्य उसे खोजने के लिए चलते हैं। खोजते-खोजते वे उसे रात्रि में जा पकड़ते हैं। अर्थात् सूर्य भी सायंकाल के समय उस रात्रि में जा पहुँचता है जिसमें कि अग्नि प्रविष्ट हो गया था। यही अग्नि का सारे पशुओं को लौटाना है। अर्थात् आग्नेय प्राणविशिष्ट सूर्य उस समय रात्रि की अग्नि में समाविष्ट हो जाता है। यही स्वपशु-प्राप्ति है। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

"अथ यदस्तमेति अग्नावेव तत्, अग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति।"

शत० ८९ पृ० ३ कण्डिका

सम्पूर्ण कथन का यही तात्पर्य हुआ कि देवता लोग सायंकाल अग्नि की उपासना करते हैं एवं अपनी खोयी सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं। इसी विज्ञान को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"तानु हाग्निर्निचक्रमे, तैः सङ्गृह्य रात्रिं प्रविवेश। पुनरेम इति देवाऽएदग्निं तिरोभूतम्। ते ह विदाञ्चक्रुरिह वै प्राविशत्, रात्रिं वै प्राविशत्॥इति॥

"तमेतत् प्रत्यायत्यां रात्रौ सायमुपातिष्ठन्त, देहि नः पशून् पुनर्नः पशून् देहीति। तेभ्योऽग्निः पशून् पुनरददात्"॥ इति ॥२॥

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि प्रकृतियज्ञ में देवता लोग सायंकाल में अग्नि का उपस्थान किया करते हैं एवं उस उपस्थान से वे अपनी सम्पत्ति वापिस ले लेते हैं— "यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि" इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्ययज्ञ में भी—जिसका कि आविष्कार ठीक प्रकृतियज्ञ के अनुसार हुआ है—सायंकाल ही अग्नि का उपस्थान किया जाता है। इसी बात को बतलाने के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—यजमान पशु-कामना के लिए—पशु प्राप्त करने के लिए—आहवनीय और गार्हपत्य का सायंकाल में उपस्थान करे। यहाँ 'कम्' शब्द का अर्थ पादपूर्तिकलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसीलिए यास्क मुनि कहते हैं— "कमिमीदु" इति निरर्थकाः।

गार्हपत्य और आहवनीय दोनों ही अग्नि पशु के देने वाले हैं। अर्थात् सौर देवताओं को तो पार्थिव गार्हपत्याग्नि ही पशु प्रदान करता है, परन्तु हमें तो गार्हपत्य और आहवनीय दोनों ही प्रदान करते हैं। सूर्य का रस साक्षात् भी हमें मिलता है एवं पार्थिव रस भी मिलता है। यदि वस्तुतः देखा जाय तो प्रकृतियज्ञ में भी दोनों ही अग्नि दाता हैं। क्योंकि सूर्य हर समय जैसे अपनी चीजों को पार्थिव-पदार्थों में दिया करता है, वैसे ही लिया भी करता है। यह आदान–विसर्गात्मक यज्ञ अनवरत चलता रहता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है--

"परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।"—गीता

चूंकि गार्हपत्य और आहवनीय दोनों अग्नि दान देने वाले हैं। अतएव यजमान सायंकाल में उपस्थान करता हुआ अभिवाञ्छित फल की याचना करता है। भगवान् याज्ञवल्क्य प्राकृतिक यज्ञ का स्मरण दिलाते हुए आज्ञा देते हैं कि सायंकाल में ही अग्नि का उपस्थान करना चाहिए। क्योंकि देवताओं ने सायंकाल ही उपस्थान किया था। जो इस प्राकृतिक उपस्थान-रहस्य को जानकर, सायंकाल अग्नि का उपस्थान करता है, उसे ये दोनों अग्नि पशुओं को देते हैं। आहवनीय और गार्हपत्य दोनों ही अग्नि उस यजमान को पशु प्रदान करते हैं इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तस्मै कमग्नीऽउपतिष्ठेत। अग्नी वै दातारौ त वेवैतद्याचते। सायमुपतिष्ठेत। सायं हि देवा उपातिष्ठन्त। दत्तो हैवास्माऽएतौ पशून् य एवं विद्वानुपतिष्ठते" ॥इति॥३॥

इस प्रकार से भगवान् याज्ञवल्क्य 'उपस्थान करना चाहिए' इस सिद्धान्त को स्थापित कर उपस्थान न करने वाले आचार्यों का मत प्रदर्शित करते हैं। एवं ये उपस्थान न करने में जो हेतु बताते हैं, उन्हें देते हैं।

जिस समय भारतवर्ष में भुवन-स्वर्ग की व्यवस्था थी, उस समय प्रायः देवता और मनुष्य साथ रहा करते थे। अर्थात् देवता यद्यपि भूस्वर्ग (रूस) में ही रहते थे तथापि चूंकि भारतवर्ष उनके अधीन था, अतः वे यहाँ भी रहा करते थे। उनके रहने का प्रधान स्थान कुरुक्षेत्र था। कुरुक्षेत्र में ही उनके रहने के लिए कोठी बनी हुई थी। यह जमीन भारत के सम्राट् के अधीन नहीं मानी जाती थी। इसी अभिप्राय से श्रुतियों में बीसों जगह 'कुरुक्षेत्रं वै देवयजनमास' यह कहा गया है। मनुष्यों में और देवताओं में बड़ा अन्तर था। जो सिद्धियाँ देवताओं ने प्राप्त की थीं – जैसा सामर्थ्य देवताओं में था, उसका शतांश भी मनुष्यों में नहीं था। मनुष्य सदा इच्छुक ही बने रहते थे, अतः मनुष्य के पास जो वस्तु नहीं होती थी, वे देवताओं से माँग बैठते थे। अन्ततो गत्वा देवता मनुष्यों की नानाविध याचनाओं से तंग आ गये। एवं उनसे घृणा करते हुए अन्तर्हित हो गये अर्थात् स्वलोक में चले गए।

देवताओं में ही अग्नि था, अतः वह भी देवताओं के साथ चला गया। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता लोग माँगने से तंग आकर, मनुष्यों से जैसे तिरोहित हो गये वैसे आज यह अग्नि देवता यजमान को मार न डाले एवं यह यजमान इसका द्वेष्य न बन जाय, अतः उपस्थान नहीं करना चाहिए। अर्थात् माँगने से देवप्राण विरुद्ध असर कर बैठते हैं एवं ऐसा पूर्व में भी हो चुका है। अतः उपस्थान नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से प्राचीन आचार्यों का मत दिखलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत—उभये ह वाऽइदमग्रे सहासुर्देवाश्च मनुष्याश्च। तद्ध स्म मनुष्याणां न भवति (भवतिस्म) तद्ध स्म देवान् याचन्ते 'इदं वै नो नास्ति, इदं नोऽस्तु'॥ इति॥ 'ते तस्या एव याच्ञायै द्वेषेण देवास्तिरोभूताः। नेद्धिनसाति, न द्वेष्योऽसानीति। तस्यान्नोपतिपतिष्ठेत'॥ इति॥

देवताओं ने सोचा कि—यदि इसको (यजमान को) मारते हैं तो हिंसाजनित पातक लगता है एवं नहीं मारते हैं तो शत्रुता होती है, अतः सबसे अच्छा उपाय यही है कि इनको छोड़कर कहीं दूसरे स्थान पर (स्वर्ग में) चले जायँ। ऐसा हमारे साथ भी न हो, इसलिए उपस्थान नहीं करना चाहिए॥४॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्थान अवश्य ही करना चाहिए। इसका कारण बतलाते हैं—

यह जो अग्निहोत्र किया जाता है एवं इसमें जो आहुति दी जाती है और आहुति से जो यज्ञ का स्वरूप बनता है, वह देवताओं का है। अर्थात् पुरोडाश देवताओं का है एवम् तज्जन्या आशीः (फल) यजमान के हैं। अग्निहोत्र में जो आहुति दी जाती है, यही यज्ञ है। अतः इस यजमान का इस यज्ञ में जो अधिकार है—जो अपना सत्व है, उपस्थान करता हुआ उसे ही मांगता है। अतः उपस्थान अवश्य करना चाहिए। तात्पर्य यही है कि यदि किसी से बिना कुछ दिये ही व्यर्थ ही मांगा जाय तो अवश्य ही उसके अप्रसन्न होकर चले जाने का भय है, परन्तु यदि कोई वस्तु देकर उससे कोई संपत्ति मांगी जाय तो वह अप्रसन्न नहीं होगा। जब हम पुरोडाश देते हैं एवं तद्द्वारा देवताओं को तृप्त करते हैं तो फिर उपस्थान में हानि ही क्या है? अतः अवश्य ही उपस्थान करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथ यस्मादुपैव तिष्ठेत। यज्ञो वे देवानाम् आशीर्यजमानस्य। यद्वा एष एव यज्ञो यदाहुतिः। आशीरेव यजमानस्य। तद्यदेवास्यात्र (यज्ञे) तदेवैतदुपतिष्ठमानः कुरुते तस्मादुपैव तिष्ठेत' इति॥५॥

इस पर अनुपस्थानवादी फिर यह तर्क देते हैं कि किसी भी स्थिति में उपस्थान करना अच्छा नहीं है, क्योंकि जब मनुष्य—यह मुझे कुछ देगा, यह मेरा घर बांध देगा—इस विचार से ब्राह्मण की चाटुकारिता करता हुआ उसके पीछे फिरता रहता है, अथवा क्षत्रिय के पीछे-पीछे फिरता रहता है तथा जो मनुष्य उस ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय की—अन्नदाता की जय हो—इस प्रकार की वाणी से तथा पगचम्पीरूपी कर्म से सेवा करता है—ऐसे चाटुकारक उपासक पुरुष के लिए वह ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय कुछ धन देना उचित समझता है। अर्थात् जो सेवा शुश्रूषा करता रहता है, दाता उसे ही धन देने की इच्छा करता है। परन्तु जो 'तुम कौन होते हो ? जो मेरे मांगने पर मुझे अभिलषित फल नहीं देते हो, अथवा हे देवदत्त ! तुम मुझे नहीं देते हो, अतः तुम्हारा मेरा कोई संबंध नहीं है'—यह भाषण करता है वह ऐसा करता हुआ ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय के साथ शत्रुता पैदा करने में समर्थ है एवं मनस्ताप करने में भी समर्थ हो जाता है। अर्थात् ऐसा क्रूर भाषण करने वाला मनुष्य अन्त में महा दुखी हो जाता है, अतः उपस्थान नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि उपस्थान करना एक प्रकार से बलात् मांगना है। बलात् मांगने से बुरा फल होता है तथा इस अग्नि को यजमान जो प्रज्वलित करता है एवं इसमे आहुति डालता है, इसीसे याच्ञा हो जाती है। क्योंकि देवता अन्तर्यामी हैं। वे इस बात को समझते हैं कि बिना फलेच्छा के कोई यज्ञ नहीं करता है अतः उपर्युक्त कर्म से ही जो यजमान अग्नि से अभिवांछित फल को मांग लेता है तो उसके लिए स्वतंत्र उपस्थान करने की क्या आवश्यकता है ? इसी मत का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ यस्मान्नोपतिष्ठेत (तदुच्यते) यो वै ब्राह्मणं वाशसमानोऽनुचरति क्षत्रियं वा अयं मे दास्यति, अयं मे गृहान् करिष्यतीति। यो वै त वाचेन (वचसा) वा कर्मणा वा ऽभरिराधयिषति (शुश्रूषति) तस्मै वै स देयं मन्यते। अथ य आह'किंनु त्वं ममासि, यो मे न ददासीति। ईश्वरः (समर्थः) एनं द्वेष्टोः ईश्वरो निर्वेद गन्तोः। तस्मान्नोपतिष्ठेत। एतदित्वेवैष एत याचते यदिन्धे यज्जुहोति, तस्मान्नोपतिष्ठेत' ॥६॥

इस पक्ष का खण्डन करते हुए तथा उपस्थान का औचित्य बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उपस्थान अवश्य करना चाहिए। क्योंकि लोक में हम देखते हैं कि भरणकर्ता स्वामी भर्तव्य को स्वयं नहीं पहिचानता है। उसे नहीं मालूम कि कौन गरीब है ? तथा किसे किस वस्तु की आवश्यकता है। दाता यह भी नहीं कहता-फिरता कि—लो तुम्हें क्या चाहिए। अपितु याचना करता हुआ पुरुष दाता को प्राप्त करता है। अर्थात् याचक को ही—मेरे पास इस वस्तु की कमी है—यह कहना चाहिए। जब याचक यजमान से—'हे यजमान, मैं आपका भार्य्य (पोष्य) हूँ, आप मेरा भरण-पोषण कीजिए।'—यह

कहता है तब यजमान उसे पहिचानता है और उसे भार्य्य समझता है। इस लौकिक नियमानुसार जब तक अग्नि से न माँगा जायगा, तब तक अग्नि—हमें क्या चाहिए—यह नहीं जान सकेगा। अतः अवश्य ही उपस्थान करना चाहिए।

अन्त में भगवान् याज्ञवल्क्य आवेश के साथ कहते हैं कि लौकिक दृष्टान्त को जाने दो। निम्नलिखित कारण से अवश्य ही उपस्थान करना चाहिए—

सृष्टिप्रक्रिया में किंवा लौकिक निर्माण में ३-३ अवयव होते हैं। ३ अवयवों में कला की किं वा प्रजनन की समाप्ति होती है। चित्रकार को चित्र-निर्माण में ३ कार्य करने पड़ते हैं। जिस देवता का वह चित्र बनाना चाहता है, सर्वप्रथम उसका प्रारूप अपने मस्तिष्क में बना लेता है। मस्तिष्क में चित्र के प्रारूप को तैय्यार कर लेना पहिला काम है। फिर मस्तिष्कस्थित चित्र की वह बाहर पट्ट या वस्त्र पर रेखाओं से आकृति बनाता है, यह दूसरा काम है। तत्पश्चात् उसमें रंग भरता है, यह तीसरा काम है। इन तीन कार्यों के बाद चित्र तैयार होता है। यही प्रक्रिया सृष्टिक्रम में है। श्रुति में आत्मा को—मनःप्राणवाङ्मय माना है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो मनोमयः।' इति।

जब किसी नवीन वस्तु को उत्पन्न करना होता है तो आत्मा में सर्वप्रथम इच्छा होती है। उक्थ, अर्क, अशित्यात्मक अशनाया (बुभुक्षा) बल को ही इच्छा कहते हैं। खाली पेट में जिस समय हृत्केन्द्र से खाने के लिए एक प्रकार का बल निकलता है, उसे ही अशनाया किं वा इच्छा कहते हैं। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा के मन-भाग से ही इस इच्छा का उत्थान होता है। इच्छा के होते ही प्राण-व्यापार होने लगता है। इसे ही कृति किं वा प्रयत्न भी कहते हैं। इस प्राण-व्यापार के अनन्तर वह कार्य भूत-व्यापार हो उठता है। जिस समय हम अंगुली हिलाते हैं, उस समय उसके हिलने में इच्छा, तप और श्रम तीनों कारण हैं। हम इच्छा करते हैं। इच्छा के अनन्तर प्राण-व्यापार होता है। प्राण-व्यापार के होते ही अंगुली उठ जाती है। वैदिक परिभाषा में भूत को वाक् कहते हैं तथा मनोव्यापार को इच्छा, प्राण-व्यापार को तप व वाक्-व्यापार को श्रम कहते हैं। मन अर्थात् इच्छा कार्योत्पत्ति में निमित्त कारण है। प्राण अर्थात् तप असमवायि कारण है। एवं वाक् अर्थात् श्रम समवायिकारण है। मनःप्राणवाङ्मय ब्रह्म में वाङ्मय ब्रह्म को ही 'कार्यब्रह्म' कहा जाता है। सम्पूर्ण कथन का यही तात्पर्य है कि तीन अवयवों में जाकर 'कृतम्' शब्द के व्यवहार का अवसर आता है। इसी अभिप्राय से कहा गया है—

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते॥'

चूंकि नवनिर्माण इच्छा, तप और श्रम इन तीन भागों में समाप्त होता है। इसी लिए सृष्टि-विषयक श्रुतियों में स्थान-स्थान पर लिखा रहता है—

'प्रजापतिर्ह वाऽइदमग्र एक एव आस। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। सोऽग्निमेव मुखाज्जनयाञ्चक्रे' ।। इति ।। (शत० ८७ पृ० १ कण्डिका)

यह हुई आधिदैविक पदार्थोत्पत्ति की बात। अब सन्तान-प्रजनन की बात लीजिए। सर्वप्रथम माता की योनि में रेत:सेचन किया जाता है। यह रेत:सेचन मस्तिष्क में खिंचे हुए चित्र के स्थान में समझना चाहिए। जब वह मस्तिष्क का चित्र अर्थात् रेत (वीर्य) बाहर निकलता है अर्थात् स्त्री-योनि में सिक्त होता है उसको विकृत करना पड़ता है अर्थात् उसका आकार तैयार करना पड़ता है। त्वष्टा नाम का एक वायु है, जो कि उस सिक्त वीर्य की काट-छाँट कर उसमें हाथ-पैर, मस्तिष्क, अंगुली, घुटने, जांघ, पेडू, श्रोणी इत्यादि का स्वरूप बनाता है। इसी त्वष्टा के लिए श्रुति कहती है—

'त्वष्टा वै रेत: सिक्तं विकरोति' 'त्वष्टा रूपाणि पिंशति' ।। इति ।।

छील-छाल करके, काट-छाँट करके वस्तु का ढाँचा तैयार करना लौकिक कर्म में जैसे खाती का कार्य है तद्वत् प्रजनन-क्रिया में रेत के ढाँचे को तयार करना त्वष्टा का कार्य है। अतएव त्वष्टा को देवताओं का खाती बताया जाता है। जब त्वष्टा ढाँचा तैयार कर देता है तो 'एवयामरुत्' अर्थात् अत्रिप्राण उसे प्रतिष्ठित कर देता है। जब तक 'एवयामरुत्' उन अङ्गोपाङ्गों को कठिन नहीं बना देता है, तब तक वह गर्भ बाहर नहीं निकल सकता। गर्भ को परिपक्व करके बाहर निकालना 'एवयामरुत्' नाम के अत्रिप्राण का ही काम है। अत्रि-प्राण का क्या स्वरूप है, किस प्रकार से वह काठिन्य पैदा करता है, इत्यादि बातों को जानने के लिए प्राण-विद्या-रहस्य बतलाने वाले श्री गुरुप्रणीत अत्यद्भुत 'ऋषि-रहस्य' नामक ग्रंथ को देखना चाहिए। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जैसे कला-निर्माण में मस्तिष्क का चित्र, रेखाओं द्वारा आकृति-निर्माण एवं रंग भरना ये तीन कार्य हैं। आदिदैविकी प्रजापति-सृष्टि के इच्छा, तप, श्रम ये तीन भाग हैं। इसी प्रकार प्रजोत्पत्ति में रेत:सेचन, उसका स्वरूपसम्पादन एवं प्रजनन ये तीन भाग हैं। इन्हीं में प्रजनन-क्रिया की समाप्ति होती है।

हमने बतलाया है कि इस प्राकृतिक प्रजननक्रिया के अनुसार वैध उपायों से दैवात्म-प्रजननार्थ भारतीय महर्षियों ने यज्ञविद्या का आविष्कार किया है। वैध उपायों से एक दैवात्मा को उत्पन्न किया जाता है जो कि इस यजमान को स्वर्ग में ले जाता है। इसी लिए 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। यह कहा जाता है।

चूंकि प्राकृतिक प्रजनन में तीन कार्य होते हैं। अतएव इस दिव्यात्म-प्रजनन में भी महर्षियों ने तीन कार्यों को आवश्यक समझा है। आहवनीय में जो आहुति दी जाती है वह तो रेत:सेकस्थानापन्न है। तदनन्तर जो अग्नि का उपस्थान किया जाता है वह

'त्वष्टा' स्थानीय कार्य है। अर्थात् आहुति देना इच्छास्थानीय है। उपस्थान तप:स्थानीय है। एवं तदनन्तर जो प्राशन है वही श्रमस्थानीय है। तात्पर्य यह है कि उपस्थान से हमारे प्राण का उस दिव्यात्मा से सम्बन्ध हो जाता है। यदि उपस्थान नहीं किया जायगा तो दिव्यात्मा का स्वरूप नहीं बनेगा। अतः दिव्यात्मा के स्वरूप-निर्माणार्थ आहुतिस्वरूप सिक्त रेत को विकृत करने के लिए अर्थात् उसका स्वरूप बनाने के लिए उपस्थान अवश्य ही करना चाहिए। उपस्थान मांगने के स्थान में नहीं है, जिसे कि आप पूर्वोक्त अनौचित्यादि कारण बतला कर काट दें। उपस्थान यज्ञस्वरूप के अन्तर्गत है। जैसे आहुति के विना यज्ञ का स्वरूप नहीं वन सकता, उसी प्रकार उपस्थान के बिना यज्ञ अधूरा ही रहता है। अतः उपस्थान अवश्य ही करना चाहिए। इसी अभिप्राय को लेकर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

जिस प्रकार से भगवान् प्रजापति सृष्टि उत्पन्न करते हैं, तद्वत् ही यह यजमान प्रजापति जो कि मन:-प्राण-वाङ्मय है, अग्नि का उपस्थान करता हुआ आहुति-स्वरूप सिक्त रेत का ढांचा बनाता है अर्थात् उसका स्वरूप बनाता है। अर्थात् आहवनीय में आहुति डालता हुआ प्रजापति अग्नियोनि में रेत:सेचन करता है एवं उपस्थान करता हुआ सिक्त रेत का स्वरूप बनाता है। इस प्रकार से निषिक्त रेत का विशिष्ट स्वरूप बनाता हुआ क्रमिक धारा से इस दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'प्रजापतिर्वाऽएष भूत्वा यावत ईष्टे, यावदेनमनु तस्य रेत: सिञ्चति यदग्निहोत्रं जुहोति। इदमेवैतत् सर्वमुपनिष्ठमानोऽनुविकरोति, इदं सर्वमनु प्रजनयति' ॥८॥

पद्धति-प्रतिपादन

इस प्रकार प्राकृतिक प्रजननविज्ञान तथा यज्ञ में उपस्थान कर्म की आवश्यकता वतला कर अब पद्धति का निरूपण किया जाता है—

वह यजमान उपवती ऋचा को बोलता हुआ (जिसमें उप पद हो उसे उपवती ऋचा कहते हैं) आहवनीय के पास पहुँचता है। अर्थात् उपवती ऋचा से उपस्थान करता है। क्योंकि यह पृथिवी उप अर्थात् हमारे अत्यंत सन्निकट है। इस पृथिवी के 'उप' होने में दो कारण हैं—प्रथम, संसार में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे इस पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं, उन सब का इस पृथिवी से संबंध है। हम यदि आकाश में उत्क्रमण करना चाहें तो उसी समय पार्थिव आकर्षण से इस पृथिवी की ओर आ जाते हैं। दूसरा, जो भी कोई नष्ट होता है मृत्यु को प्राप्त होता है, वह भी इसी में विलीन होता है। उत्पत्ति को दिन

तथा लय को रात्रि कहते हैं। संसार के सभी पदार्थ उत्पन्न व विलीन होते रहते हैं। यह उत्पत्ति-विनाश-क्रम अहोरात्रवत् सदा अक्षय रूप से चला करता है। जो मरता है उसका जन्म अवश्य होता है तथा जो जन्मता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च' ।।इति।।

पदार्थ की उत्पत्ति हो उसका दिन व प्रभात है, एवं उसका लय हो उसकी रात्रि व सायंकाल है। इस अनादि व अनन्त उत्पत्तिलयस्वरूप अहोरात्रचक्र में प्राणिमात्र घूमते रहते हैं। पृथिवी उत्पत्ति व लयस्वरूप से 'उपवती' है। 'उप' शब्द अहोरात्रस्वरूप (उत्पत्तिप्रलयस्वरूप) आनन्त्य का उपलक्षक है। आनन्त्य ही भूमा है। भूमा ही आनन्द व समृद्धि है। जैसा कि श्रुति बतला रही है—

'यो वै भूमा तत्सुखम्, यदल्पं तद् दुःखम्'।

अतः इस उपवती ऋचा से उपस्थान करता हुआ यजमान 'उप' शब्द से उपलक्षित अहोरात्रस्वरूप, जो अक्षय्य भूमा है उससे ही आहवनीय पर पहुँचता है। अर्थात् भूमा से उपस्थान करना है। उपस्थान एक प्रकार से अग्नि की आराधना है। उपवती से आराधना करना भूमायुक्त अर्थात् बहुत बड़ी आराधना है। निष्कर्ष यह है कि उपवती ऋचा से पहुँचना उपोपलक्षित भूमा से पहुँचना है। इसी अभिप्राय से कहा है—

'स वाऽउपवत्या प्रतिपद्यते। इयं वा उप। द्वयेनेयमुप। यद्धि इदं किञ्च जायते अस्यां तदुपजायते। अथ यत् न्यृच्छति अस्यामेव तदुपोप्यते। तदह्ना रात्र्या भूयो भूयऽएवाक्षय्यं भवति। तदक्षय्येणैवैतद् भूम्ना प्रतिपद्यते' ।।६।।

यजमान उपवती ऋचा का उच्चारण करता है—

'उप प्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये। आरे अस्मे च शृण्वते' इति। अध्वरम् (यज्ञम्) उपप्रयन्तः (प्राप्नुवन्तः वयमिति शेषः) अस्मे आरे (आरात्-दूरात्) शृण्वते अग्नये मन्त्रं वोचेम'।

यज्ञ में प्राप्त होते हुए हम, हमारी प्रार्थना को दूर से ही सुनने वाले अग्नि के लिए मन्त्र बोलते हैं।

यज्ञ ५ प्रकार के होते हैं—

१. पाकयज्ञः गृह्ययज्ञ (स्मार्तयज्ञ)
२. हविर्यज्ञ दर्शपूर्णमास चातुर्मास्यादि)
३. महायज्ञ—अध्वर (सोमयज्ञ)
४. अतियज्ञ—राजसूय[1], वाजपेय[2], अश्वमेध[3], चयन[4]
५. शिरोयज्ञ—घर्मयज्ञ।

संवत्सर में होने वाला यज्ञ ही अध्वर कहलाता है। भगवान् मनु ने चातुर्मास्य यज्ञ को भी अध्वर कह दिया है। उसका कारण यह है कि चातुर्मास्य के हविर्यज्ञ होने पर भी वैश्वदेव, वरुणप्रधास एवं शुनासीरीय इष्टियों के कारण उसमें भी पूरा एक वर्ष लग जाता है अतः संवत्सरव्याप्ति के कारण उसे अध्वर कह दिया है। उपर्युक्त रीति से जैसे चातुर्मास्य अध्वर कहलाने लगा है तद्वत् प्रकृत में अग्निहोत्र भी अध्वर कहलाने लगता है। क्योंकि संवत्सरयज्ञ में प्रविष्ट होने का द्वार अग्निहोत्र ही है। बिना अग्निहोत्र के अध्वर नहीं हो सकता। अतः अध्वराधिकार-समर्पक होने से प्रकृत में अग्निहोत्र को भी अध्वर कह दिया गया है। वस्तुतः अध्वर सोमयाग ही है अन्य नहीं।

जिस आहवनीय का हम उपस्थान कर रहे हैं वह दिव्याग्नि है अर्थात् सूर्यस्थानीय अग्नि है। सूर्याग्नि हमसे बहुत दूर है। उसीका हम शरीरस्थ पार्थिवाग्नि से सम्बन्ध करना चाहते हैं। इसी अभिप्राय से मन्त्र में 'आरे अस्मे' कहा गया है। अर्थात् हे अग्ने, यद्यपि आप हम से बहुत दूर हैं तथापि आप हमारी प्रार्थना सुन ही लेंगे। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'यद्यपि अस्मदारकात् असि अथ न एतत् शृणु एव। एव-मेवैतन्मन्त्रयस्व इत्येवैतदाह' ॥१०॥

दूसरा मन्त्र बोलता है—

'अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्। अपां रेतांसि जिन्वति।

अयम् अग्निः दिवः (स्वर्गस्य) मूर्धा मस्तकस्थानीयः (अस्तीति शेषः।) एवं पृथिव्याः ककुत्पतिरस्ति (अपिचायमग्निः) अपां (सोमस्य कमलस्य च) रेतांसि (परमाणून्) जिन्वति भक्षयति। यह अग्नि द्युलोक का मस्तक है, पृथिवी का अधिष्ठाता है। एवं पानी के और सोम के परमाणुओं को खाने वाला है।

पार्थिव अग्नि २१ तक जाता है। त्रिवृत् सोम तक अग्नि घनरूप से रहता है। पञ्च-दशस्तोम तक तरलरूप (वायुरूप) से रहता है। एवं एकविंशस्तोम तक विरल (प्राण किंवा आदित्य) रूप से रहता है। इस प्रकार एक ही पार्थिव अग्नि २१ तक वितत रहता है। पृथिवी २१ तक वितत रहने वाले अग्नि का पादस्थानीय है एवं द्यौः (२१वां स्थान) मस्तकस्थानीय है। इसी अभिप्राय से 'अग्निर्मूर्धा दिवः' कहा गया है। पार्थिव जल का शोषण करना एवं अन्तरिक्ष में व्यापक सोम का भक्षण करना भी इसी अग्नि का कार्य है। अग्नि भोक्ता है। वह हर समय सोम को खाया करता है। सोम, अप् और वायु तीनों अन्तरिक्ष की वस्तु हैं। वायु तो अग्नि ही है अतः उसका नाम न लेकर 'अप्' का नाम लिया है। अप् सोम का भी उपलक्षक है। एवं यही अग्नि पृथिवी का

अधिष्ठाता है। इसीको प्रजापति कहते हैं। यह अग्नि प्रजापति पृथिवी के केन्द्र में रहता है। इसीलिए 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते'। यह कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि—'ककुत्पति' से पार्थिव अग्नि का 'अपां रेतांसि जिन्वति' से आन्तरिक्ष्य अग्नि का एवं 'दिवो मूर्धा' से द्युस्थानीय अग्नि का ग्रहण कर लिया जाता है। २१ तक व्याप्त रहने वाली अग्नि की कृत्स्नता के लिए तीनों का ग्रहण कर लिया जाता है। हमें पृथिवी से अन्तरिक्ष में होकर दिव्याग्नि में पहुँचना है। अतः तीनों लोकों के अग्नि का सम्बन्ध अपेक्षित है। अतः पूर्वोक्त मन्त्र से उन्हीं तीनों अग्नियों का ग्रहण हैं। अग्नि में आहुति दूध की दी जाती है। दूध सोम है। एवं अग्नि सोमभक्षक है। इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि हे अग्ने! आप सोमभक्षक हैं एवं दिव्यलोक में रहने वाले हैं। अतः हमें आशा है कि आप हमारे द्वारा दिए हुए सोम को ग्रहण करेंगे और उससे तृप्त हो हमें भी स्वर्ग में ले जायेंगे।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पूर्वोक्त मन्त्र से अनुधावन करता हुआ ही यजमान अग्नि की स्तुति करता है। अर्थात् जैसे हमारे घर में कोई अतिथि आता है एवं उसको लेने के लिए उसके सत्कार के लिए हम जैसे द्वार की ओर 'पधारिये, पधारिये' कह कर दौड़ते हैं। उसी भाव से यजमान अपने घर में आए हुए अग्नि के लिए अनुधावन करता है। इसी बात को दृष्टान्त रूप से बतलाते हैं।

लोक में जिस प्रकार से याचना करता हुआ याचक 'आपका कल्याण हो, आपकी विजय हो, आपके शत्रुओं का नाश हो' इस प्रकार की शुभ वाणी बोलता है। 'एवं आप तो अमुक वंश के हो, आपके कुल का क्या कहना आप तो इस कार्य में समर्थ हैं—यह बोलता है। इसी प्रकार से यजमान की 'अग्निर्मूर्धा' यह प्रार्थना है—हे अग्ने! आप तो स्वर्ग के मस्तक है, भला आपके लिए स्वर्ग में पहुँचाना क्या कठिन कार्य है, आप तो त्रिलोकी के अधिष्ठाता हैं—लौकिक नियमानुसार यही प्रार्थना यजमान अग्नि से करता है। यजमान की यह प्रार्थना चाटुकारितामात्र ही नहीं, अपितु सत्य है। वस्तुतः अग्नि त्रिलोकी के स्वामी है। इससे समझ लेना चाहिए कि प्रशंसा करें परन्तु मिथ्या न हो। तात्पर्य यही है कि यह यजमान इस पूर्वोक्त मन्त्र से अग्नि स्वर्ग में ले जायँ इसलिए उससे प्रार्थना करता है॥११॥

तदनन्तर तीसरा मन्त्र बोलता है। अब तक अग्नि की ही स्तुति की थी। अब इन्द्र और अग्नि दोनों की स्तुति करते हैं। वह मन्त्र यह है—

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्याऽउभा राधमः सह मादयध्यै।
उभा दाताराविषां रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम्॥ इति

'(अस्मिन् यज्ञे) हे इन्द्राग्नी ! वामुभौ—आहुवध्यै । (एवं) राधसः सह उभौ मादयध्यै । अपि च—रयीणाम् इषां च उभौ दातारौ । एतादृशौ—वामुभौ, वाजस्य (उत्साहस्य) सातये हुवे' ।

हे इन्द्राग्नी ! मैं आप दोनों का इस यज्ञ में आह्वान करता हूं । हे इन्द्राग्नी ! आप दोनों समृद्धि के साथ इस यज्ञ में मस्त होइए इसलिए मैं आपको बुलाता हू । हे इन्द्राग्नी ! आप दोनों ही धन-धान्य के देने वाले हैं । ऐसे आप दोनों को उत्साह किं वा अन्न (सम्पत्ति) प्राप्ति के लिए इस यज्ञ में मैं आपका आह्वान करता हूँ ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह इन्द्र है जो कि आकाश में तप रहा है । जिस समय (सायंकाल) यह अस्त होता है उस समय यह आहवनीय कुण्ड में प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् सायंकाल होते ही पृथिवी-स्थित आहवनीय कुण्ड में सौरप्राण प्रविष्ट हो जाते हैं । इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'अथ यदस्तमेति तदग्नावेव योनौ गर्भो भूत्वा प्रविशति' । ८९ पृ. शत० ३ क० ।

तात्पर्य यह है कि सायंकाल इन्द्र (द्युप्राण) और अग्नि (पार्थिव प्राण) एक साथ रहते हैं । इन दोनों का उपस्थान पूर्वोक्त मन्त्र से सम्पत्ति-प्राप्त्यर्थ किया जाता है ।।१२।।

अब चौथा मन्त्र बतलाते हैं—

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः ।
तं जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ।। इति

हे अग्ने ! अयं ते ऋत्वियः योनिः यतो (यस्मात्) जातः (उत्पन्नः) त्वं अरोचथा ! हे अग्ने ! तञ्जानन् (उत्पत्तिस्थानं जानन्) आरोह । अथ एवं नः रयिम्-वर्द्धया (वर्द्धय) ।

हे अग्ने ! यह सूर्य तुम्हारा ऋत्विय योनि है, जिससे कि उत्पन्न होकर आप चमक रहे हैं । जो वस्तु कुसमय में उत्पन्न होती है, वह प्रभावशून्य होती है । एवं जो समय पर (ऋतु में) उत्पन्न होती है, वह प्रभावयुक्त होती है । कुसमय में उत्पन्न वस्तु प्रभावशून्य ही नहीं होती अपितु अनिष्ट करने वाली होती है । कुसमय की वृष्टि, कुसमय का शीत, कुसमय में होने वाले धान्यादि इसके दृष्टान्त हैं । परन्तु यह जो अग्नि है, ऋत्विय है, सामयिक है, अतएव प्रभावशाली व फलदाता है । अग्नि स्वतः प्रकाशशून्य हैं । इसमें जितना प्रकाशभाग दिखलाई दे रहा है, वह सूर्य (इन्द्र) का प्रकाश है। अग्नि में ताप है, इन्द्र में प्रकाश है । चूंकि सूर्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है, अतएव इसमें प्रकाश है । अर्थात् सूर्यस्थित इन्द्रप्राण-संयोग से ही अग्नि प्रकाशित हो रहा है । इसी अभिप्राय से—'यतो जातोऽअरोचथाः' कहा गया है ।

हे अग्ने ! ऐसी अपनी ऋत्विय योनि को (सूर्य को) पहिचानते हुए आप दिव्यलोक की ओर–स्वयोनि की ओर–जाइये, अर्थात् हम आपको और कहीं नहीं भेज रहे हैं अपितु स्वलोक में ही भेज रहे हैं। हे अग्ने ! वहां जाकर आप हमारे लिए सम्पत्ति को बढाइए अर्थात् स्वर्ग में हमारे लिए स्थान स्थापित कीजिए। पुष्ट को–पोषण को–रयि कहते हैं। हे अग्ने ! पुनः पुनः प्रतिदिन इस पुष्ट को आप हमारे लिए प्रदान कीजिए, यही मन्त्र का भावार्थ है ॥१३॥

फिर पाँचवां मन्त्र बोलते हैं—

'अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽध्वरेष्वीड्यः ।
यमाप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे' ॥ इति ॥

अयम् होता (अग्निः) धातृभिः इह (पृथिव्याम्) प्रथमः अधायि। (एष खलु) यजिष्ठः, अध्वरेषु च ईड्यः–स्तुत्यः। विभ्वं (व्यापकं) चित्रं (सप्तार्चिर्युक्तम्) आप्नवानः—भृगवः–वनेषु विशेविशे विरुरुचुः ॥

यह होता अग्नि धाताओं से (देवताओं से) इस पृथिवी में सर्वप्रथम स्थापित किया गया है। अर्थात् सौर देवताओं से पृथिवी में पहिले अग्नि प्रतिष्ठित होता है। जैसा कि इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही—'अग्नौ ह वै देवाः सर्वान् पशून् निदधिरे'–कहा गया है। पृथिवी में जब अग्नि प्रविष्ट होता है, तभी उसकी सत्ता रहती है एवं तभी पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं। सौर देवताओं से ही पार्थिव अग्नि किंवा जगत् के पदार्थ प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव श्रुति कहती है—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः' ॥ इति ॥

सम्पूर्ण देवताओं को आहुति पहुँचाने वाला यह अग्नि ही होता है। यज्ञों में यही यजिष्ठ है यजनीयतम है। तात्पर्य यह है कि जब भी किसी देवता के लिए आहुति दी जाती है, अग्नि में ही दी जाती है। अग्नि अपने में आहुति लेकर तत्तद्देवताओं तक पहुंचा देते हैं। जितने भी देवता हैं वे सभी आग्नेय ही हैं इसीलिए अग्नि को 'ईड्यः' कहा है। इस मन्त्र का यही तात्पर्य है कि हम तो आपको जानते हैं, आपका ही यजन करते हैं, आप ही की स्तुति करते हैं। हम और को क्या जानें। फिर अग्नि की प्रशंसा करते हैं—प्रत्येक पदार्थ में व्यापक चित्राग्नि नामक जिस अग्नि को प्राप्त होकर भृगु (सोम-प्राण) काष्ठों में एवं प्रत्येक पदार्थ में चमक जाते हैं अर्थात् प्रज्वलित हो उठते हैं।

प्रकाश न पार्थिव प्राण में है और न सोम (भृगु) में ही है। जिस समय भृगुप्राण आग्नेयप्राण से संश्लिष्ट होता है तो काष्ठ जलता है। अग्नि में जो ज्वाला दिखाई पड़ती है वह भृगु (सोम) के मेल की ही है। पार्थिवप्राण को आङ्गिरसप्राण कहते हैं

तथा सोमप्राण वो पवमान सोमात्मक भृगुप्राण। यह भृगुप्राण वायु में व्याप्त रहता है, काष्ठ में अग्नि का सम्बन्ध होते ही वायुस्थित भृगुप्राण उसमें कूद पड़ता है। उसी समय भक् से अग्नि प्रज्वलित हो जाता है। सोम दाह्य पदार्थ है। अतएव अग्निप्राण से मिलते ही वह चमक पड़ता है। अग्नि चार प्रकार का होता है। १. संवत्सराग्नि, २. कुमाराग्नि, ३. पश्वग्नि और ४. चित्राग्नि। संसार में हम जिस अग्नि का प्रत्यक्ष करते हैं वह चित्राग्नि ही है। काष्ठों में किं वा सारे पदार्थों में जिस अग्नि के सम्बन्ध से भृगु चमक पड़ते हैं उसी को देवताओं ने पृथिवी में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया था। अभिप्राय यही है कि जैसे आपके सम्पर्क से कृष्ण वर्ण वाला सोम (भृगु) चमक पड़ता है वैसे ही आपके सम्पर्क से मुझ सरीखे अधम का भी उद्धार हो सकता है। यह मन्त्र भी एक प्रकार से प्रार्थनास्वरूप ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

इस मन्त्र को बोलता हुआ अनुधावन करता है अर्थात् बड़े सत्कार के साथ इसे बोलता है। लौकिक प्रार्थनावत् यह भी प्रार्थना ही है। अग्नि की प्रशंसा तदनुरूप ही है जो कि 'विश्वं विशे विशे' अर्थात् सर्वव्यापक है।

फिर छठा मन्त्र बोलते हैं—

'अस्य प्रत्नामनुद्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। पयः सहस्रसामृषिम्'।

अत्यन्त प्राचीन इस अग्नि की शक्ति के प्रकाशभाग से निकलने वाली जो किरणें हैं उन्होंने चारों ओर प्राणस्वरूप शुक्र को दुह लिया। शुक्र सोम को कहते हैं जिसकी चार अवस्थाएँ—ध्रुव, धर्त्र, धरुण, धर्म—हैं। सोम के तारतम्य से ही ध्रुवादि भाव उत्पन्न होते हैं। अग्निकिरणों से ही शुक्र में अवस्थाभेद उत्पन्न होता है। जलाया जाने वाला अग्नि तो अपने स्थान पर ही रहता है, परन्तु उस पुरानी (स्वस्थानस्थित) अग्नि से निकलने वाली किरणों से ही शुक्र का दोहन होता है। चारों तरफ व्याप्त होने वाले जो सोममय प्राण हैं, वेही दूध है। ये किरणें इसी प्राणरूप सोम का दोहन करती हैं।

'सहस्रसनि' दान की वस्तुओं की परमावधि है। सहस्र शब्द का अर्थ वेद में हजार नहीं है, अपितु पूर्ण है। इसीलिए 'सर्वं वै सहस्रं पूर्णं वै सहस्रं' यह कहा जाता है। इस प्रकार 'सहस्रसनि' कहना दातव्य वस्तुओं की अन्तिम सीमा को सूचित करना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'परमा वा एषा सनीनां (दातव्यवस्तूनां) यत् सहस्रसनिः' ।।इति।।

इस सारी संपत्ति के संग्रह के लिए ही 'पयः सहस्रसामृषिम्' यह कहा गया है ॥१५॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार से इन छहों को एकत्र करके एक षड्ऋच्-समुदाय बन जाता है अर्थात् उपस्थान में छह ऋचाएँ बोली जाती हैं। इन छहों में सर्वप्रथम

उपवती ऋचा बोली जाती है। उपवती प्रथमा है एवं प्रत्नवती उत्तमा है। सबसे अन्त में प्रत्नवती ऋचा बोली जाती है। सर्वप्रथम उपवती ऋचा के बोले जाने की उपपत्ति भगवान् याज्ञवल्क्य बतलाते हैं।

सृष्टि के आदि में जितने प्राणदेवता थे, आज भी उतने ही विद्यमान हैं। सदा एकरूप से रहने वाली वस्तु के लिए 'सनि' शब्द का प्रयोग होता है। देवताओं के सदा विद्यमान रहने से द्युलोक को 'प्रत्नम्' कहा जाता है। भूत विनाशी हैं, उनमें न्यूनाधिकभाव अवश्य होता है परन्तु देवप्राणों के अमृतस्वरूप होने से उनमें इसका अभाव होता है। क्योंकि देवप्राण कभी नष्ट नहीं होते। इसी अभिप्राय से 'तस्माददः प्रत्नम्' कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में जितने देवता थे, उतने ही आज भी हैं। इसीलिए तदाश्रयभूता द्यौः 'प्रत्न' शब्द से कही जाती है। सारे कार्य अर्थात् सभी प्राप्तव्य वस्तु इसी द्यावापृथिवी के मध्य में हैं। सारी सम्पत्तियों को अपने उदर में रखने वाली यह द्यावापृथिवी इस यजमान के लिए सम्पूर्ण कामनाएँ प्रदान करती है। उपवती ऋचा का सम्बन्ध पृथिवी से एवं प्रयत्नवती का द्यौः से है। अतः इन दोनों के मध्य में रहने वाली सम्पूर्ण सम्पत्तियों को प्राप्त करने के लिए यजमान द्वारा इन दोनों का ध्यान किया जाता है ॥१६॥

यजमान उपवती एवं प्रत्नवती दोनों ऋचाओं का तीन-तीन बार जप करता है। यज्ञ त्रिवृत्प्रायण होते हैं एवं त्रिवृत्-उदयन होते हैं। इसी भाव को यज्ञ में शामिल करने के लिए तीन-तीन बार जप किया जाता है।

पार्थिवाग्नि से हमारा प्रज्ञानात्मा बनता है, जिसका वैध उपायों से दिव्याग्नि से सम्बन्ध किया जाता है। जिससे यजमान शरीरोत्क्रान्ति के पश्चात् उस दिव्याग्नि के आधार से सीधा स्वर्ग में चला जाता है। पार्थिवाग्नि त्रिवृत् तक (पृथ्वी के ९वें स्तोम तक) रहता है एवं यही अग्नि २१वें स्तोम तक जाता है। इस त्रिवृत् से ही यज्ञ का उदयन अर्थात् प्रारम्भ होता है एवं त्रिवृत् तक जाकर इसकी समाप्ति हो जाती है। तात्पर्य इसका यह है कि २१ तक वितत अग्नि में इस त्रिवृत् अग्नि का सम्बन्ध तो अवश्य कर दिया जाता है, परन्तु आयुः-समाप्ति तक यजमान इसी पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहे—इस विचार से यज्ञ को २१ तक ले जाकर पुनः त्रिवृत् पर समाप्त करना पड़ता है। यदि त्रिवृत् से प्रारम्भ कर २१ तक ले जाकर ही छोड़ दिया जायगा, तो उसी समय यजमान मर जायगा। परन्तु वापिस त्रिवृत् पर (पृथिवी पर) लाकर इसकी समाप्ति की जाती है, इसीलिए यजमान की मृत्यु नहीं होती है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'त्रिवृत्प्रायणा हि यज्ञास्त्रिवृदुदयनाः'। अतः त्रिवृत्स्वरूप यज्ञसम्पत्ति की प्राप्ति के लिए—'त्रिः प्रथमां जपति, त्रिरुत्तमाम्'—यह कहा गया है ॥१७॥

जिस समय व्रतग्रहण किया जाता है, उस समय यजमान को सत्य बोलने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती है। वह प्रतिज्ञा करता है कि—'मैं यज्ञ में कभी मिथ्या नहीं बोलूँगा।' इस प्रकार यज्ञ में यजमान यद्यपि मिथ्या न बोलने की एवं सत्य बोलने की प्रतिज्ञा कर लेता है, तथापि वह मनुष्य है, अतः उस प्रतिज्ञा का पूर्णतया पालन कर सके, यह सम्भव नहीं। सावधानी करने पर भी त्रुटि हो सकती है। इसीलिए तो—'सत्यसंहिता वै देवा: अनृत-संहिता: मनुष्या:'—यह कहा जाता है। अतः अग्निहोत्रहवन करते समय वाणी से अथवा क्रिया से मनुष्य-स्वभाव के कारण यजमान यज्ञ में कुछ मिथ्या बात कर बैठता है। वह आहुति के साथ अपने आत्मा का अवदान (हिस्सा) आहुत कर देता है, आयु का तथा तेज का नाश कर देता है और प्रजा का भी अनिष्ट कर देता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्या बोलने से यजमान की स्वयं की आयु घट जाती है अथवा तेज नष्ट हो जाता है अथवा उसका लड़का मर जाता है ॥१८॥ इस अज्ञात मिथ्याभाषण-जन्य दोष की निवृत्ति के लिए निम्नलिखित मंत्र बोलना चाहिए—

'तनूनपाऽअग्नेऽसि, तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽसि, आयुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि, वर्चो मे देहि। अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽआपृण' ॥१९॥

इसका अर्थ बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—अग्निहोत्रहवन करते समय वाणी से किं वा कर्म से जो यजमान मिथ्या करता है, वह अपनी आत्मा की आहुति देता है तथा प्रजा, आयु व तेज का नाश करता है। अत:—'इन सबकी पूर्ति आप कर दीजिए'—इस प्रकार प्रार्थना करने से अग्नि प्रसन्न होकर मिथ्या जनित अनिष्ट की निवृत्ति कर देते हैं तथा खण्डित की पूर्ति कर देते हैं ॥२०॥

पुनः अग्नि की स्तुति करते हैं—

'इन्धानास्त्वा शतं हिमा द्युमन्तं समिधीमहि ।
वयस्वन्तो वयस्कृतं सहस्वन्तः सहस्कृतम् ॥
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति मे पारमशीय' ॥ इति ॥

'द्युमन्तं (दीप्तिमन्तं) त्वाम् इन्धानाः वयं शतं हिमा समिधीमहि ।
वयस्वन्तः (वयं) वयस्कृतं त्वां सहस्वन्तः (वयं) सहस्कृतं त्वां समिधीमहि ।
अपि च—हे अग्ने ! सपत्नदम्भनं (शत्रुविनाशकं) अदाभ्यं (अधर्षणीयं) त्वां वय समिधीमहि । हे चित्रावसो ! स्वस्ति पारमशीय' ॥ इति ॥

अत्यन्त प्रकाशमान आपको प्रज्वलित करते हुए हम १०० हेमन्त अर्थात् १०० वर्ष तक आपका समिन्धन करें। अन्न वाले बनकर हम अन्न वाले आपका समिन्धन करें।

बलवान् होकर हम बल देने वाले आपका समिन्धन करें। हे अग्ने ! शत्रुओं का नाश करने वाले एवं शत्रुओं से अघर्षणीय आपका, किसी से भी नहीं दबने वाले हम समिन्धन करें। हे चित्रावसो ! (रात्रिदेवता) आप कुशलता से इस रात्रि के पार में पहुँचा दीजिए।

'शतं हिमा समिधीमहि'—इसका तात्पर्य हम १०० वर्ष तक जीते रहें—यह है। जब तक शरीर में अग्नि रहता है, तभी तक जीवन रहता है। उष्णता के निकलते ही प्राण उत्क्रान्त हो जाते हैं। हम १०० हेमन्त तक आपका समिन्धन करें। इसका यही तात्पर्य है कि जैसे हम १०० वर्ष तक आपकी स्थिति रखते हैं, वैसे ही आप हमारे को १०० वर्ष तक पृथिवीलोक में स्थिर रखें। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'शतं वर्षाणि जीव्यासम्, इत्येव एतदाह'—'बड़े प्रतापी आपका हम समिन्धन करें'—यह—'द्युमन्तं समिधीमहि' — का तात्पर्य है। अर्थात् हमें आप इतनी आयु दीजिए—जिससे कि १०० वर्ष तक आपका समिन्धन करते रहें। इसी लिए कहा है—

'तावत् त्वा महान्तं समिधीमहि' इति यदाह 'द्युमन्तं समिधीमहि' इति। 'वयस्वन्तो वयस्कृतम्, सहस्वन्तः सहस्कृतम्' इसका यही तात्पर्य है कि हम अन्नवाले बनें। अर्थात् हम याचक व आप दाता बनें। हम बलवान् व आप बल के देने वाले बनें। 'हे अग्ने ! सपत्नदम्भन एव अदाभ्य (अघर्षणीय) आपका किसी से भी अधृष्य हम लोग समिन्धन करें।' इसका यही भावार्थ है कि आपके द्वारा हम अपने शत्रुओं को पापीयान् बना सकें (अतिशय निकृष्ट कर सकें) ऐसा वरदान दीजिए ॥२१॥

'चित्रावसो स्वस्ति पारमशीय'—अर्थात् हे चित्रावसो ! हम कुशलतापूर्वक इस रात्रि को पार कर सकें—ऐसा अनुग्रह कीजिए। इस प्रकार 'शतं वर्षाणि' से लेकर 'पारमशीय' तक का जो मन्त्र है उसका तीन बार जप करते हैं।

क्योंकि यह रात्रि ग्रहनक्षत्रादि चित्रों को (नाना भावों को) अपने में संगृहीत कर रहती है, अतएव इस रात्रि को चित्रावसु कहते हैं। यही कारण है कि रात्रि में आकाश में तारास्वरूप चित्र दिखायी देते हैं। रात्रि के समय नभोमण्डल अनेक प्रकार से ताराओं (चित्रों) से चमका करता है। क्योंकि अग्नि की प्रधानता रात्रि में ही रहती है अतएव रात्रि को चित्रावसु कहा गया है। अर्थात् रात्रि का देवता यह अग्नि ही है। रात्रि के कुशलता के साथ निकलने के लिए रात्रि से ही प्रार्थना की जाती है। इसी अभिप्राय से कहते है—'रात्रिर्वै चित्रावसुः सा हीयं संगृह्येव चित्राणि (नक्षत्रादिनानाभावान्) वसति। तस्मान्नारकाच्चित्रं ददृशे।' इति ॥२२॥

प्राचीन समय में देवता व असुरों में घोर युद्ध होता रहता था। वे परस्पर आक्रमण करते रहते थे। देवों का आधिपत्य मनुष्यलोक (भारतवर्ष) पर था अतः असुर इन

मनुष्यों को सदा पीड़ित किया करते थे। मनुष्यों में भी विशेषरूप से ऋषियों को। क्योंकि ऋषि लोग असुर-विरोधिनी यज्ञविद्या का प्रचार करते थे। महर्षियों के पास शस्त्रबल तो था नहीं क्योंकि कुटी बना कर जंगल में रहते थे। अतः वे असुराक्रमण से बचने का अन्य उपाय न देख अग्नि की स्तुति से बचते थे। अग्नि के प्रभाव से असुर ऋषियों को नहीं सता सकते थे। जिस मन्त्र से महर्षि असुराक्रमण से बचते थे वह 'इन्धानास्त्वा' यही मन्त्र था। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'इन्धानास्त्वा' इसी प्रार्थना से महर्षि लोग रात्रि को कल्याण से बिताते थे एवं इसी मन्त्र के प्रभाव से रात्रि में विचरने वाले नाष्ट्र (निशाचर) इन महर्षियों को नहीं पहिचानते थे। अतः जिस प्रकार इस मन्त्रप्रार्थना से ऋषियों का राक्षसों से परित्राण हुआ था उसी प्रकार आज यह यजमान इस मन्त्रप्रार्थना से रात्रि को सानन्द बिता देता है और असुर तथा राक्षस इसे नहीं पाते हैं। यह इस मन्त्र का ऐतिहासिक अर्थ हुआ। आध्यात्मिक अर्थ निम्नलिखित है—

तमोमय प्राण को असुर एवं प्रकाशमय प्राण को देवता कहते हैं। हमारा आत्मा सूर्य से बना हुआ है अतः वह प्रकाश चाहता है। यदि तमोमय प्राण आत्मा पर आक्रमण करता है तो आत्मा व्याकुल हो जाता है। गहन अन्धकार में इसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। रात्रि में तमोमय प्राण का प्राधान्य है अतः उस समय यह आत्मा व्याकुल-सा रहता है। रात्रि में असुरों का महर्षियों पर आक्रमण करने का यही तात्पर्य है कि तमोमय प्राण के कारण आत्मा रात्रि में व्याकुल-सा हो जाता है। अग्नि प्रकाशमय प्राण है अतः इसके प्रभाव से ऋषियों को बचना है। इसी आध्यात्मिक व ऐतिहासिक भाव को बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एतेन ह स्म वाऽऋषयः रात्रेः स्वस्ति पारं समश्नुवते। एतेनो ह स्मैनान् रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्दन्ति। एतेनो एवंष एतद् रात्रेः स्वस्ति पारं समश्नुते। एतेनो एनं रात्रेर्नाष्ट्रा रक्षांसि न विन्दन्ति'। इति।

'उपप्रयन्तो अध्वरम्' से लेकर 'स्वस्ति ते पारमशीय' तक के मन्त्र आहवनीय के पास खड़े रह कर बोलने चाहिएं। इसीलिए कहा है 'एतावत्तु तिष्ठन् जपति' ॥२३॥

अथासीनः—इसके बाद जो मन्त्र बोले जाते हैं वे बैठ कर ही बोले जाते हैं। वे मन्त्र निम्नलिखित हैं—

'सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणां स्तुतेन।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सं रायस्पोषेण ग्मिषीय'

हे अग्ने ! त्वम् सूर्यस्य वर्चसा=तेजसा समगथाः=संगतवानसि । ऋषीणां स्तुतेन=स्तुत्या समथाः । प्रियो धाम्ना (आहुत्या) समथाः । यथा त्वं पूर्वोक्तैर्वर्चआदिभिः संगतवानसि तथैव अहम् अपि आयुषा, वर्चसा, प्रजया रायस्पोषेण (धनपुष्ट्या) संग्मिषीय संगच्छेय ।

हे अग्ने ! आप सूर्य के तेज से मिल गये हैं । एवं ऋषियों की सायंकालिक स्तुति से मिल गये हैं तथा आहुतिरूप जो आपका प्रिय स्थान है, उससे आपने सम्बन्ध कर लिया है । अतः जिस प्रकार आप वर्च, स्तुति एवं प्रियधाम से मिल गये हैं वैसे ही मैं भी वर्च, प्रजा और धन से युक्त हो जाऊँ, ऐसी कृपा कीजिए ।

क्योंकि सायंकाल सूर्य आहवनीय में प्रविष्ट हो जाता है । अतः इसी अभिप्राय से 'सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः' यह कहा गया है । सायंकाल भगवान् सूर्य का प्रवर्ग्यभाग इस पृथ्वी में ही रह जाता है एवं पृथ्वी में रहकर अग्नि में वह वर्चोदा सौरप्रकाश सम्मिलित हो जाता है । क्योंकि आहवनीयकुण्डस्थ अग्नि का उपस्थान किया जा रहा है । अतएव 'आहवनीयं प्रविशति' यह कहा गया है । अग्नि में ताप है, प्रकाश नहीं । प्रकाशभाग सूर्यस्थित इन्द्रप्राण का है । इसीलिए 'आप सूर्य के वर्च से मिल गये हैं–' यह अग्नि के लिए कहा गया है । ऋषि लोग सायंकाल मंत्रों से इसका उपस्थान किया करते थे । उनकी यह स्तुति भी अग्नि में सम्मिलित हो जाती थी । अतः ऋषियों की तरह आज यजमान भी इस अग्नि का मन्त्र द्वारा उपस्थान करता हुआ अग्नि को स्तुति से युक्त करता है । इसी अभिप्राय से 'समृषीणां स्तुतेन' यह कहा गया है । अग्नि को अन्नाद कहते हैं । वह हर समय सोमाहुति चाहता है । यदि इससे सोम (अन्न) की आहुति नहीं दी जाती है, तो अग्नि का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है । अग्नि के आराम करने के लिए, इसका प्यारा स्थान ये आहुतियां ही हैं । आहुतियां इस अग्नि में दी जाती हैं एवं आहुतियां इसका प्रिय स्थान है । इसी अभिप्राय से 'सं प्रियेण धाम्ना' यह कहा गया है । स्तुति का तात्पर्य यही है कि जैसे आप इस भूमा (प्रचुर सम्पत्ति) से युक्त हो गये हैं, उसी प्रकार भूमास्वरूप रायस्पोष (धनपुष्टि) आदि से मैं भी संगत हो जाऊँ, ऐसी कृपा कीजिए ॥२४॥

इस प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र से आहवनीय का उपस्थान कर, समीपस्थ गोशाला में उपस्थित गाय के पास जाता है अर्थात् आहवनीयोपस्थानानन्तर निम्नलिखित मन्त्र से गाय का उपस्थान करता है—

'अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय, मह स्थ महो वो भक्षीय, ऊर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय, रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ।

हे गावः यूयम्-अन्धः स्थ (क्षीरान्नरूपा भवथ) अतः वः (युष्मत्सम्बधीनि वीर्याणि) भक्षीय (संभजेय) एवं यूयं महः स्थ, अतः वः (युष्मत्सम्बन्धीनि महांसि–तेजांसि) भक्षीय (संभजेय) यूयम् ऊर्ज स्थ ऊर्जं वः भक्षीय, रायस्पोष स्थ रास्पोषं वो भक्षीय।

हे गोमाताओं ! आप क्षीरान्नरूप हैं, अतः आपसे सम्बन्ध रखने वाले जो वीर्यरूप अन्न हैं वे मुझे भी प्राप्त हों अर्थात् आप हमें खूब अन्न प्रदान करें। हे माताओं ! आप तेज वाली हैं, आपका वह तेज मुझे भी प्राप्त हो। आप बलप्रद रस वाली हैं, अतः आपका वह बलप्रद रस मुझे भी प्रदान करो। हे गोमाताओं ! आप रायस्पोष अर्थात् प्रचुर सम्पत्तिवाली हैं, अतः वह सम्पत्ति मुझे भी प्रदान करो। 'अम्' शब्द का प्रयोग एकीभाव में आता है। जैसा कि निरुक्त में कहा है—'अमित्येकीभावे—'। अन्धस्, अम्बर, अङ्ग, अंश इत्यादि में जो 'अम्' शब्द है, उसका एकीभाव अर्थ है। अन्न उदर में जाकर आत्मस्वरूप में परिणत हो जाता है अर्थात् आत्मा के साथ उसका एकीभाव हो जाता है। अतएव अन्न को 'अन्तस्' कहते हैं। अन्तस् हि 'परोक्षप्रियाः हि देवाः' इस नियमानुसार 'अन्धस्' कहलाता है। जो वस्तु शरीर के ऊपर वस्त्र की तरह परिवेष्टित रहती है, उसे 'महः' कहते हैं अर्थात् जो शरीर के बाहर का तेज है, वही 'महः' कहलाता है।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि गो माता से सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त होती है। अतः इसका उपस्थान कर यजमान इससे सब प्रकार की सम्पत्तियाँ मांगता है। गाय अन्न भी देती है। ऊर्क् रस (बलप्रद रस) उत्पन्न करती है, प्रचुर सम्पत्ति देती है। इसी सम्पत्ति के लिए गाय का उपस्थान किया जाता है ॥२५॥

फिर दूसरा मन्त्र बोलते हैं—

'रेवती रमध्वमस्मिन् योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् लोकेऽस्मिन् क्षये।
इहै व स्त मापगात' ॥ इति ॥

रेवतीः (रेवत्यः) यूयम्, अस्मिन् योनौ (गोस्वरूपे) अस्मिन् गोष्ठे, अस्मिन् लोके (एवं) अस्मिन् क्षये (गृहे) रमध्वम्। इहैव स्त, मा अपगात।

रेवती (पूषा) से पशु उत्पन्न होते हैं, अतएव पशुओं को रेवती कहा गया है। संसार के जितने भी प्राणी हैं, वे सब इन तारों के प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। रेवती नामक तारा के प्राण से पशु उत्पन्न होते हैं। अतएव रेवती रूप पूषा के लिए 'अयं वै पूषा पशूनामोष्टे' यह कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि रेवन्त का अर्थ रयिमन्त (धन वाले) होता है। अर्थात् हे धन देने वाली गो माताओं ! इसी योनि में, इसी गोशाला में एवं इसी घर में रहो। अर्थात् गो-सम्पत्ति मेरे यहाँ से कभी उच्छिन्न न हो। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'पशु रेवन्त होते हैं'—अर्थात् पूषाप्राण से पशु उत्पन्न होते हैं।

इसीलिए 'रेवती रमध्वम्' यह कहा गया है। अर्थात् आप मेरे घर को छोड़ कर कहीं न जायें। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों मन्त्रों से उपस्थान कर निम्नलिखित मन्त्र से गाय का स्पर्श करते हैं—

'संहितासि विश्वरूपी, ऊर्जा माविश गौपत्येन' ।। इति ।।
त्वं विश्वरूपी त्वं संहितासि । गौपत्येन ऊर्जा माविश ।

आप विश्वरूपी संहिता हो अर्थात् मेरे से सम्बद्ध हो। हे विश्वरूपी ! रस की अधिष्ठात्री रूप से आप मेरे में प्रवेश करो।

गाय के शुक्ल, कृष्ण, पीतादि नाना वर्ण होते हैं। अतएव इसे विश्वरूपी कहा गया है। दर्शन में श्वेत गाय, दूध देने में काली गाय एवं दान में कपिला गाय श्रेष्ठ मानी जाती है। तात्पर्य इसका यही है कि आप दूध से सदा हमें तृप्त करती रहें ।।२७।।

इसके बाद गार्हपत्य के पास आते हैं एवं वहां आकर निम्नलिखित मन्त्रों से उसका उपस्थान करते हैं—

हे अग्ने ! दिवे-दिवे (प्रतिदिनम्) दोषावस्तः (रात्रिदिवम् सायं प्रातः) धिया (बुद्ध्या–सावधानमनसा) नमो भरन्तः (नमस्कुर्वन्तः) वयं–उपैमसि–उपैमः। वेद में 'इदन्तो मसि' इससे इकार हो जाता है। अतः उपैमः का–उपैमसि हो जाता है। गच्छामः वदामः–इसके स्थान में भी गच्छामसि एवं वदामसि बोला जाता है। हे अग्ने ! प्रतिदिन सायं प्रातः सावधानी के साथ नमस्कार करते हुए हम आपके पास उपस्थित होते हैं। याज्ञवल्क्य इस मन्त्र का अभिप्राय बतलाते हुए कहते हैं कि—अग्नि यजमान की हिंसा न कर डाले अर्थात् देव आज इससे विरुद्ध न हो जायँ, इसीलिए अग्नि को नमस्कार द्वारा प्रसन्न करते हैं—

नम एवास्मै (अग्नये) एतत् करोति यथैनं (यजमानं) न हिंस्यात् ।।२८।।

फिर मन्त्र बोलते हैं –राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम् । वर्द्धमानं स्वेदमे ।।

कथंभूतमग्निमुपैमि–इत्युच्यते—

अध्वराणां-राजन्तम्–ऋतस्य (सोमस्य) दीदिवम्—(दीप्यमानं) गोपां (रक्षकं) स्वे दमे (गृहे) वर्द्धमानं एतादृशमग्निमुपैमः ।।

यज्ञों में विराजने वाले, ऋत के (सोम के) प्रतापी रक्षक एवं अपने घर में बढने वाले जो अग्नि हैं, उनका हम उपस्थान करते हैं।

संसार में कुल दो ही प्रकार के पदार्थ हैं—ऋत और सत्य। आप् वायु और सोम ये तीनों ऋत कहलाते हैं एवं अग्नि सत्य कहलाता है। सत्य सदा ऋत की रक्षा किया करता है। यह सोम सदा अग्नि में सुरक्षित रहता है अर्थात् जिस सोमात्मिका आहुति को हम अग्नि में देते हैं, उसकी रक्षा अग्नि ही करता है। एवं 'यह घर तो मेरा क्या है, आपका ही है' इस अतिथि-सत्कार को सूचित करने के लिए अर्थात् ऐसा कह कर अग्नि को प्रसन्न करने के लिए ही—'स्वे गृहे वर्द्धमानम्' कहा गया है। भगवान् याज्ञवल्क्य इस मन्त्र का भावार्थ बतलाते हुए कहते हैं—

'मेरा जो कुछ भी है यह सब कुछ आपका ही है अर्थात् यह मेरी सारी सम्पत्ति आप की ही है। अतः आप इसे दिन-दिन बढाइए अर्थात् आप इसे अपना घर समझ कर इसे संपत्तिशाली बनाइए।

स्वं वैतऽइदं यन्मम तन्नो भूयो भूय एव कुर्वित्येवैतदाह' ॥२९॥

फिर मन्त्र बोलते हैं—

'स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव। सचस्वा नः स्वस्तये'।

हे अग्ने ! स (एतादृशः पूर्वोक्तमहिमयुक्तः) त्वं पितेव सूनवे नः सूपायनो भव। नः स्वस्तये-सचस्व।

हे अग्ने ! पूर्वोक्त महिमा वाले आप जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए नमस्कारादि उपचारों से सेवा किए जाने के योग्य होता है अर्थात् पुत्र जैसे पिता की सेवा करता है, वैसे ही आप हमारे लिए सूपायन होइए अर्थात् हम सदा आपको सेवा करते रहें-यही वर हम मांगते हैं। हे अग्ने ! आप हमारे में मिलिए अर्थात् आप हमारे बनिए।

इसीका स्पष्टीकरण भगवान् याज्ञवल्क्य करते हैं—

जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए सम्यक् सेवा योग्य होता है—पिता को पुत्र किसी भी प्रकार से नाराज नहीं करता है, वैसे ही हे अग्ने ! आपकी हम सेवा कर सकें, इसके योग्य हमें बनाइए—हम आपको तन, मन से किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचावें कृपा कर हमें इस लायक बनावें। अर्थात् आप अग्नि हैं, आपका रुष्ट होना हमारे लिए अत्यन्त ही हानिकारक है। अतः हम प्रार्थना करते हैं कि आप सदा हमारे ऊपर प्रसन्न ही रहिए।

पूर्वोक्त 'उप त्वाऽग्ने दिवे दिवे' 'राजन्तमध्वराणाम्' एवं 'स नः पितेव सूनवे' ये तीनों मन्त्र त्रिपदा गायत्री कहलाती है। अर्थात् गायत्री छन्द वाले तृच से गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है ॥३०॥

इस प्रकार से पहले आहवनीय का उपस्थान कर बाद में 'उप त्वा' इत्यादि तृच से गार्हपत्य का उपस्थान कर फिर द्विपदा छन्द से उसी गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं।

'अथ द्विपदाः'

अर्थात् त्रिपदा गायत्री और द्विपदा गायत्री से गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। त्रिपदा गायत्री मन्त्र बतला चुके। अब द्विपदा मन्त्र बतलाते हैं—

'अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।'
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छानक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः'।

हे अग्ने ! त्वम् नः अन्तमः (समीपवर्ती) भवा (भव) उत त्राता (त्राणकर्ता) भव। उत शिवः (शान्ततमः) भव। उत वरूथ्यः (रक्षकः) भव। वसुभिः वसुश्रवाः वसुरग्निः द्युमत्तमं (जागरूकं) रयिं दाः अच्छा (अभिमुखं) नक्षि कृपादृष्टिम्।

हे अग्ने ! आप सदा हमारे पास रहें। आप हमारा त्राण करने वाले होवें। आप हमारे ऊपर कल्याण-मूर्ति बन कर ही शासन करें। अग्नि को ही रुद्र कहते हैं—इस रुद्र के घोर शिव और दो रूप होते हैं। जो सोमसंपृक्त अग्नि है उसे तो शिव (साम्ब सदाशिव) अग्नि कहते हैं, एवं रूक्ष—अतएव नाशक अग्नि को रुद्र (रोदयति लोकान् स रुद्रः) कहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'रुद्रो वा एष यदग्निस्तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्या च शिवाऽन्या च'।

इस प्रकार अग्नि का शिव रूप ही हमें प्राप्त हो न कि नाशक रूप। इसी अभिप्राय से 'शिवो भव' कहा गया है। एव हे अग्ने ! आप वरूथ्य (रक्षा करने वाले) बनिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष स्तुति कर अब परोक्ष रूप से स्तुति करते हैं—

संपत्ति-स्वरूप अग्नि जो कि वसुश्रुवा अर्थात् वसु के बाहुल्य के कारण कीर्तिमान् है, वह हमारे ऊपर द्युमत्तम अथवा जागरूक दृष्टि वाला बने। जो अग्नि रयि (धन) के देने वाले हैं वे सदा हमारे ऊपर कृपादृष्टि रखें। हम कभी अग्निहोत्र का परित्याग न करें। इसके लिए ही अग्नि से प्रार्थना की जाती है।

'तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।'
'स नो बोधि श्रुधी हवमुरु ष्याणो (नः) अघायतः समस्मात्' ॥ इति

हे दीदिवः=हे शोचिष्ठ नूनम्=साम्प्रतम् त्वां सखिभ्यः सुम्नाय ईमहे=उपतिष्ठामहे स त्वम्, नः हवं=प्रार्थनाम् बोधि=बुध्यस्व श्रुधी=श्रृणु, एवं समस्मात्=समन्ततः अघायतः=पापमिच्छतः शत्रून् नः उरुष्या।

हे प्रज्वलित रूप वाले, हे प्रतापी अग्नि ! इस समय हम अपने मित्रों के कल्याण के लिए आपका उपस्थान करते हैं। आप हमारी प्रार्थना को समझो और सुनो। हे अग्नि ! हमारे ऊपर बुरा विचार रखने वाले शत्रुओं को आप चारों ओर से निकाल दो ।।३१।।

इस प्रकार 'उप प्रयन्तो अध्वरम्' यहां से प्रारम्भ कर 'सं रायस्पोषेण ग्मिषीय' यहां तक के भिन्न-भिन्न छन्दों वाले मन्त्रों से आहवनीय का उपस्थान किया जाता है। एवं आहवनीयोपस्थानानन्तर 'अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय' से लेकर ऊर्जा माविश गौपत्येन' तक के मन्त्रों से गाय का उपस्थान और स्पर्श किया जाता है। तथा 'उप त्वग्ने दिवे दिवे' से प्रारम्भ कर 'उरुष्याणोऽघायतः समस्मात्' तक के त्रिपदा गायत्रीमन्त्रों से एवं द्विपदा गायत्री छन्दों से गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है।

अब यहां द्रष्टव्य यह है कि आहवनीय का उपस्थान उच्चावच छन्दों से तथा गार्हपत्य का उपस्थान त्रिपदा और द्विपदा छन्दों से किया जाता है, यह भेद क्यों ? इसका कारण बतलाते हुए कहते हैं कि अग्नि के उपस्थान से पशु और प्रजा माँगी जातो है। वीर्य, छंद, शिपिविष्ट, पशु एवं ऋतु ये पांच पशु माने जाते हैं। इनका विवेचन इसी ब्राह्मण के प्रारम्भ में किया जा चुका है। ये पशु सूर्य में रहते हैं। प्रकृत में पशु शब्द से गो, अश्व, अवि आदि ही अभिप्रेत हैं। सूर्यस्थित पशुप्राण से ही पार्थिव पशुओं का निर्माण होता है। सूर्यस्थित पशुप्राण चूंकि उच्चावच हैं अर्थात् समान आयतन वाले नहीं हैं, अतः उन प्राणों से उत्पन्न होने वाले पार्थिव पशु भी उच्चावच ही होते हैं। गाय का छन्द दूसरा है, घोड़े का उससे भिन्न, अज का उससे भी भिन्न अर्थात् सबका आकार भिन्न-भिन्न है। पशुप्राण सूर्य की वस्तु है एवं वे पशु समानाकार वाले नहीं है। इसी प्रकार प्रकृत मनुष्ययज्ञ में सूर्यस्थानीय आहवनीयाग्नि है। अतः पशु के लिए सूर्यस्थानीय आहवनीय का उपस्थान किया जाता है।

प्रत्येक वस्तु का कोई वयोनध होता है। वस्तु के स्वरूप को बनाने वाला जो एक आकारविशेष होता है, उसे ही वयोनाध कहते हैं। उसी वयोनाध को वैदिक भाषा में छन्द कहते हैं। पुरुष आदि का वयोनाध (छन्द) समानाकार वाला है, परन्तु पशुओं का छन्द उच्चावच अर्थात् विभिन्नाकार वाला है। अतएव पार्थिव पशु उच्चावच रूप में ही उत्पन्न होते हैं। आहवनीय सूर्यस्थानापन्न है और पशु सूर्य में रहते हैं तथा इन्हीं पशुओं को प्राप्ति के लिए आहवनीय का उपस्थान किया जाता है। वे पशु उच्चावचस्वरूप हैं। इसलिए आहवनीय का उपस्थान समान आयतन वाले छन्दों से न कर, उच्चावच छन्दों से किया जाता है।

पार्थिवाग्नि से पुरुष उत्पन्न होते हैं। अतः पुरुष-प्राप्त्यर्थ पार्थिवाग्निस्थानीय गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। पार्थिवाग्नि की आपः, फेनः, ऊषः, सिकता, शर्करा, अश्न्,

अयः, हिरण्य ये आठ व्याहृतियाँ होती हैं। आठों पर अग्नि समाप्त होता है। अतएव अग्नि का स्वरूपसम्पादक छन्द आठ अक्षरों का ही होता है। इस छन्द का नाम गायत्री है। इसी गायत्री छन्द से पुरुष की उत्पत्ति होती है। पुरुष में मस्तक से लेकर पैर तक आठ प्रादेश होते हैं। साढ़े दस अंगुल का एक प्रादेश होता है। इस प्रकार आठ प्रादेशों में ८४ अंगुल हो जाते हैं। अत: मानवशरीर ८४ अंगुल का होता है।

प्रकृत में यही बताना है कि पुरुष की उत्पत्ति अष्टाक्षरा गायत्री (पार्थिवाग्नि) से होती है। गार्हपत्याग्नि पार्थिवाग्निस्थानीय है। उससे पुरुष की याच्ञा की जाती है। पुरुष का अपना छन्द गायत्री है। अतएव स्वछन्द से (गायत्री छन्द से) गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। यह पार्थिव गायत्राग्नि त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश भेद से द्युलोक तक रहता है। अतएव तीनों लोकों की अग्नि-सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए अर्थात् अग्नि की कृत्स्नता के लिए त्रिपदा गायत्री से गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो यह यजमान आहवनीय का उपस्थान करता है, वह उसे पशु मानता है और पशु उच्चावच है, इसलिए आहवनीय का उपस्थान उच्चावच छन्दों से किया जाता है। तथा यजमान जो गार्हपत्य का उपस्थान करता है, उससे पुरुष (सन्तान) मांगता है। इसीलिए पहिले गायत्र तृच बोलता है। गायत्री ही अग्नि का छन्द है। इसलिए अपने छन्द से ही वह उपस्थान करता है।

'यद्वा आहवनीयमुपतिष्ठते पशूँस्तद्याचते, तस्मादुच्चावचैश्छन्दोभिरुपतिष्ठते। उच्चावचा इव हि पशवः। अथ यद् गार्हपत्यं पुरुषांस्तद्याचते। तद् गायत्रं प्रथमं त्रिचम्। गायत्रं वाऽअग्नेश्छन्दः। स्वैनैवैनमेतच्छन्दसोपपरैति'। ३२॥

अथ द्विपदा—

अब 'द्विपदा:' छन्द बोलने का कारण बतलाते हैं। द्विपदाः पुरुषों का छन्द है। पुरुष दो ही पैर वाला होता है, अतः द्विपदाः छन्द से गार्हपत्य का उपस्थान किया जाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो पशु और पुरुष के इस विज्ञान को समझकर उपस्थान करता है वह पशुमान् और पुरुषवान् होता है। अत: उपस्थान करने वाले को प्रजा व पुरुष दोनों की प्राप्ति होती है ॥३३॥

इस प्रकार गार्हपत्य का उपस्थान कर पुनः गाय का उपस्थान करते हैं। स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथिवी—ये पांच मण्डल ईश्वर-शरीर में माने जाते हैं। इन पांचों में पाँचों की स्थिति रखने वाले तीन-तीन मनोता होते हैं। यहाँ केवल सूर्य और पृथिवी (आहवनीय व गार्हपत्य) के मनोताओं से ही प्रयोजन है। सूर्य के मनोता ज्योति, गो, आयु है। ज्योतिर्भाग से देवता उत्पन्न होते हैं, आयु से आत्मा व गो से भूत बनते हैं।

पृथिवी के वाक्, गौ, और द्यौः—ये तीन मनोता हैं। सूर्य से पृथिवी बनती है, अर्थात् सौर पदार्थों से पृथिवी का निर्माण होता है। सूर्य से आकर गोतत्व का जो हिस्सा पृथिवी की अपनी वस्तु बन जाता है, वह पृथिवी की गौ कहलाती है। सूर्य में भी गोतत्व होता है। ये गोतत्व ३ प्रकार के होते हैं—इडा अदिति, सरस्वती। इडा से लोक बनते हैं, अदिति से वेदत्रयी उत्पन्न होती है व सरस्वती से देवविशेष उत्पन्न होते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है :—

'अथ गामाह्वयति–जघनेन गार्हपत्यम्। यन्विडऽएहि, अदितऽएहि, सरस्वत्येहि। इति। इडा हि गौः, अदितिर्हिगौः, सरस्वती हि गौः'॥ इति॥

—शत० १४ काण्ड ६८७ पृ० ७ कण्डिका।

प्रकृति यज्ञ में इसी त्रिविध गौ से अग्निहोत्र होता है जैसा कि 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' इस प्रकरण में बतलाया गया है।

सूर्याग्निहोत्र में भी सूर्यस्थ देवता गौ का उपस्थान करते हैं एवं पार्थिवाग्निहोत्र में पृथ्वीस्थ देवता गौ का उपस्थान करते हैं। प्रकृति में पार्थिवाग्निहोत्र तथा सौराग्निहोत्र दोनों स्थानों में गौ का उपस्थान करते हैं। अतः 'यद् वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि' इस नियमानुसार इस मनुष्ययज्ञ में भी गोप्राण से उत्पन्न इस गाय का सूर्य और पृथ्वीस्थानीय आहवनीय और गार्हपत्य दोनों में दो बार गाय का उपस्थान किया जाता है। गार्हपत्य उपस्थानानन्तर एवं आहवनीय उपस्थानानन्तर दो बार गाय के उपस्थान का यही रहस्य है।

आहवनीय के बाद होने वाले गाय के उपस्थान का मन्त्र बतलाते हैं—

'इह एहि अदित एहि काम्याऽएत। मयि वः कामधरणं भूयात्'।

हे इडे एहि, हे अदिते एहि। काम्याः = सर्वकामप्रदायिन्य एत। वः मयि कामधरणं भूयात्।

हे इडे ! हे अदिते ! आप मेरे इस यज्ञ में पधारिये। हे सब प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने वाली गो माताओं ! आप मेरे यज्ञ में पधारिये। हे गो माताओं ! आपका कामधारण मेरे में हो अर्थात् आप जो कुछ फल देने वाली हैं उन सब फलों को मेरे में ही रखो।

गौ का नाम ही अदिति है। गौ को ही इडा कहते हैं। इस मन्त्र से गाय का स्पर्श करते हैं। मनुष्यों के क्षीरदध्यादिविषयक सारे काम इस गाय में मौजूद हैं। अतएव 'काम्या एत' कहा गया है। 'मयि वः कामधरणं भूयात्' इसका तात्पर्य यही है कि मैं आपका प्रिय पात्र बनूं॥३४॥

इस प्रकार गाय का उपस्थान कर आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में खड़े होकर आहवनीय अग्नि की ओर दृष्टि करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र बोलता है—

'सोमानं स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य औशिजः' ।।

हे ब्रह्मणस्पते ! उशिक्पुत्रो यः कक्षीवान् तं कक्षीवन्तं मां स्वरणं कृणुहि । दीर्घतमा का पुत्र एवं उशिक् नाम की माता के गर्भ से उत्पन्न महर्षि कक्षीवान् ब्राह्मणस्पति की स्तुति करते हैं कि हे ब्राह्मणस्पते ! उशिक् का पुत्र जो कक्षीवान् है उसको आप सोम की आहुति देने वाला बनाइये अर्थात् मैं सदा यज्ञ करता रहूँ ऐसा बनाइये ।

फिर दूसरा मन्त्र बोलता है—

'यो रेवान् योऽमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः ।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ।'

'यः अग्निः - रेवान्, योऽमीवहा, यो वसुवित्, यश्च पुष्टिवर्धनः यश्च तुरः स नः सिषक्तु' ।

जो अग्नि पशुमान् अर्थात् पशु देने वाला है, जो अमीवा नाम के कीटाणुओं का नाशक है, जो धनञ्जय है, जो पुष्टि देने वाला है तथा शीघ्र फल देने वाला है, ऐसा अग्नि हमारे ऊपर बरसे अर्थात् हमें सम्पत्तिप्रदान करें ।

फिर तीसरा मन्त्र बोलता है—

'मा नः शंसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।
रक्ष णो (नः) ब्रह्मणस्पते ।'

हे ब्रह्मणस्पते-मर्त्यस्य अररुषः प्रणङ् धूर्तिः, मा नः शंसः । हे ब्राह्मणस्पते ! तेभ्यः नः रक्षा (रक्ष) ।

हे ब्राह्मणस्पते ! मर्त्य से शत्रुता करने वाले समाज-विरोधी धूर्त मनुष्यों के ऊपर आप शासन कीजिए । उनसे मेरी रक्षा कीजिए । इस प्रकार आहवनीय और गार्हपत्य के बीच में खड़े होकर आहवनीय अग्नि की ओर देखते हुए पूर्वोक्त मन्त्रों को बोलना चाहिए ।।३५।।

यह यजमान जो आहवनीय का उपस्थान करता है वह उपस्थान द्युलोक का उपस्थान है । क्योंकि प्रकृतियज्ञ में आहवनीय द्युस्थानीय ही है तथा जो गार्हपत्य का उपस्थान करता है, वह पृथिवी का उपस्थान करता है क्योंकि गार्हपत्याग्नि पृथिवीस्थानीय है । इसके बाद इन दोनों के बीच खड़े होकर जो उपस्थान किया जाता है वह अन्तरिक्ष का उपस्थान है । क्योंकि पृथिवी और द्युलोक के बीच में ही अन्तरिक्ष है । जिस प्रकार पूर्व

दिक् इन्द्र की है, पश्चिम दिक् वरुण की है, दक्षिण दिक् यम की है, उत्तर दिक् सोम को है, अधरा दिक अनन्त (विष्णु) की है, उसी प्रकार ऊर्ध्वा दिक् अर्थात् अन्तरिक्ष दिक् बृहस्पति की है, जो कि ब्रह्म एवं ब्रह्मणस्पति भी कहलाता है। 'ब्रह्म वै बृहस्पतिः' यह श्रुति इसमें प्रमाण है । इस अन्तरिक्ष दिक् में खड़े होकर यजमान अन्तरिक्ष का उपस्थान करता है और अन्तरिक्ष के देवता ब्रह्मणस्पति हैं । इसी बात को सूचित करने के लिए बार्हस्पत्य ऋचाओं को बोलता है ॥३६॥

अन्तरिक्ष में खड़े होकर निम्नलिखित मन्त्र भी बोलने चाहिएँ—

'महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः । दुराधर्षं वरुणस्य' ।

'त्रीणाम् = मित्रवरुणार्यम्णां महि अवः अस्तु । द्युक्षम् अवः मित्रस्य अर्यम्णश्च अस्तु । वरुणस्य च दुराधर्षम् अवः अस्तु' ।

मित्र, वरुण, अर्यमा इन तीनों की रक्षा मेरे ऊपर रहे । अर्थात् ये तीनों मेरी रक्षा करें । मित्र, अर्यमा और वरुण ये तीनों र्य के प्राण हैं । इन्हीं तीनों से हमारी चक्षु इन्द्रिय बनती है । इसीलिए—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' ।

यह कहा जाता है । मन्त्र में अग्नि से अर्यमा अभिप्रेत है । छन्दोभङ्ग के भय से 'अर्यम्णः' न कहकर 'अग्नेः' कहा है । पूर्वोक्त तीनों में जो मित्र और अर्यमा है वे तो द्युक्ष हैं अर्थात् दिव्यभाव में रहने वाले हैं परन्तु वरुण राजस भाव रखते हैं । वरुण कसकर पाश में बाँध देते हैं । इसी अभिप्राय से कहते हैं – मित्र और अर्यमा की जो द्युक्ष (सात्विक भाव-युक्त) रक्षा है, वह हमारे ऊपर रहे तथा वरुण देवता की अधर्षणीयता हमारे उपर रहे अर्थात् हे देवताओ ! हमारे ऊपर किसी भी शत्रु का आक्रमण न हो । फिर मन्त्र बोलता है –

'न हि तेषाममा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः' ॥ इति ॥

अघशंसः रिपुः तेषां (मित्रवरुणार्यमरक्षितानां) यज्ञकर्तॄणां मनुष्याणां । अमाचन अध्वसु वारणेषु न हि ईशे' ।

जिस समय यजमान मरता है, उस समय वह २१ तक वितत् दिव्याग्नि के सम्बन्ध से स्वर्ग में चला जाता है । २१ (सूर्य) स्थान में मित्र, वरुण और अर्यमा रहते हैं । यदि इन तीनों की प्रार्थना कर ली जाती है तो पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिव्य तीनों मार्गों में बुरा सोचने वाला शत्रु कोई बाधा नहीं डाल सकता । इसी अभिप्राय से कहते हैं कि बुरा सोचने वाला व्यक्ति मित्र, वरुण और अर्यमा से रक्षित मनुष्यों के मार्ग में बाधक नहीं हो।

सकता। इन तीनों से ही चक्षु बनते हैं। अतः जो आँख खोलकर अर्थात् सोच-समझकर कार्य करता है, उसके लिए कहीं भी भय नहीं है।

फिर मन्त्र बोलते हैं—

'ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्'।

ते हि मित्रवरुणार्यम्णः अदितेः पुत्रास:पुत्राः सन्ति। ते खलु मर्त्याय (यज्ञ-कर्तुर्यजमानस्य) जीवसे=जीवनाय अजस्रं ज्योतिः प्रयच्छन्ति।

अदिति के पुत्र जो मित्र, वरुण और अर्यमा हैं, वे तीनों इस मनुष्य के जीवन के लिए सदा ज्योति प्रदान करते रहते हैं। क्योंकि जीवन-यात्रा का सानन्द निर्वाह कराने वाला चक्षु-रूपी प्रकाश इन्हीं तीनों से प्राप्त होता है। उसी प्रकाश के लिए प्रार्थना करते हैं।

पूर्वोक्त तृच में 'नाध्वसु वारणेषु' यह पद पढा हुआ है। उसका तात्पर्य बतलाते हैं कि द्यावापृथ्वी के मध्य जो मार्ग फैल रहे हैं, पुरुष की फल-प्राप्ति में यही बाधक (वारण) होते हैं। इनमें रहने वाले नाष्ट्रा लोग ही यजमान को स्वर्ग में नहीं जाने देते। जाते हुए हमें कोई रोक न सके, इसीलिए द्यावापृथ्वीस्वरूप गार्हपत्य और आहवनीय के बीच में खड़े होकर उपस्थान करते हैं। इस प्रकार तृच का जप करता हुआ इन मार्गों का ही उपस्थान करता है। इन मार्गों के उपस्थित (स्तुत) हो जाने से कोई भी इस यजमान को मार्गों से हटाने में समर्थ नहीं होता। इशी अभिप्राय से 'नाध्वसु वारणेषु' कहा गया है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं :—

'तत्रास्ति नाध्वसु वारणेषु' (तस्यार्थ उच्यते) "एते ह वा अध्वानो वारणा य इमेऽन्तरेण द्यावापृथिवी। एतान् ह्येतदुपतिष्ठते-तस्मादाह-नाध्वसु वारणेषु इति।" ३७॥

इस प्रकार तृच का उपस्थान कर ऐन्द्री ऋचा बोलते हैं—

"अथैन्द्री" इति। इन्द्र ही यज्ञ का देवता है। यज्ञ द्वारा दिव्याग्नि को आत्मसात् किया जाता है। यह अग्नि २१ पर रहता है। २१ पर ही इन्द्र (सूर्य) रहता है। उस दिव्य अग्नि से इन्द्र मिला हुआ रहता है। चूंकि उसी इन्द्रमिश्रित दिव्याग्नि को आत्मसात् किया जाता है इसीलिए इन्द्र को यज्ञ का देवता कहा जाता है।

अपि च प्रकृत में आहवनीय में ही आहुति दी जाती है। एवं यह इन्द्र-(सूर्य) स्थानापन्न है। अतएव—"इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता" कहा जाता है। ऐन्द्री ऋचा से उपस्थान करता हुआ अग्नि को सेन्द्र (यज्ञदेवतायुक्त) करते हैं। वह ऋचा यह है—

"कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते"

हे इन्द्र त्वं-दाशुषे (यजमानाय) कदाचन (कदापि) स्तरीः (हिंसकः) न असि। हे मघवन्! अस्मभ्यं दीयमानं देवस्य ते दानं (धनं) भूयः इत् (एव) उपपृच्यते।

हे इन्द्र! आप यजमान के लिए कदापि हिंसा नहीं करते हैं। अर्थात् यजमान पर—यज्ञकर्ता पर तो आप सदा ही कृपा रखते हैं। हे मघवन्! हमारे लिए दिया हुआ जो धन है, वह उत्तरोत्तर बहुत मात्रा से बढ़ता ही रहता है। अर्थात् आप बारम्बार दान देते हैं एवं अधिक मात्रा से देते हैं।

'दाश् दाने' धातु से दाश्वान् बनता है। 'दाश्वान् साह्वान्' इस पाणिनीय सूत्र से दाश् धातु से क्वसु प्रत्यय द्वारा निपातनात् दाश्वान् शब्द की निष्पत्ति होती है। क्योंकि यजमान आहुतिप्रदाता है अतः उसे 'दाश्वान्' कहा जाता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यजमान को ही दाश्वान् कहा जाता है। आप यजमान के लिए द्रोह नहीं करते हैं। यही 'नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' का तात्पर्य है। आप बार-बार यजमान को सम्पत्ति प्रदान करते रहें यह 'उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ने दानं देवस्य पृच्यते' का तात्पर्य है ॥३८॥

अथ सावित्री—इसके बाद सावित्री ऋचा बोलते हैं—सविता देवता ही देवताओं के प्रसविता हैं। अर्थात् देवताओं से जो कुछ प्राप्त होता है वह सविता के द्वारा ही प्राप्त होता है। अतः सवितृप्रसूत ही सारी कामनायें समृद्ध होती हैं। अतः यज्ञ को सवितृप्रसूत करने के लिए ही सावित्री ऋचा बोली जाती है। वह मन्त्र निम्न लिखित है—

'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्' इति

सवितुः देवस्य वरेण्यम्=वरणीयम्, भर्गः धीमहि, यः नः धियः प्रचोदयात्।

सविता देवता का वरणीय जो भार्ग (तेजोविशेष) है उसे मैं धारण करूँ जो कि मेरी बुद्धि को प्रेरित करता है। इति।

पहिले बतलाया गया है कि यज्ञ त्रिवृत्प्रायण तथा त्रिवृदुदयन होते हैं। अग्नि त्रिवृत् है। जहां से उदयन था वहीं पर प्रायण (समाप्ति) करने के लिए अन्त में आग्नेयी ऋचा बोली जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यज्ञ-समाप्ति के बाद अग्नि के लिए ही अपने को रक्षार्थ समर्पित करता है। अर्थात् दिव्यात्मा को अग्नि के उत्तरदायित्व पर छोड़ता है। वह मन्त्र निम्नलिखित है—

'परि ते दूडभो रथोऽस्मां २ अश्नोतु विश्वतः।
येन रक्षसि दाशुषः' ॥

दूडभः (दुर्धर्षणीयः) ते रथः अस्मान् विश्वतः पर्यश्नोतु, येन दाशुषः रक्षसि।

हे अग्ने ! किसी से भी नहीं दबाया जाने वाला जो यह आपका रथ है वह मेरे चारों ओर वेष्टित रहे। अर्थात् आपका आग्नेय रथ मेरे चारों ओर फिरता रहे। जिस रथ से आप यजमान की रक्षा करते हैं।

इस अग्नि का जो अधर्षणीय रथ है जिससे कि वह यजमान को रक्षा किया करता है उसीसे हमारी रक्षा करे। यज्ञ को त्रिवत्प्रायण बनाने के लिए इस मन्त्र का तीन बार उच्चारण करते हैं।।४०।।

इसके बाद उपस्थान के अन्त में पुत्र का नाम लेता है।

'इदं मे वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवत्' इति।

मेरा यह पुत्र इस वीर्य का अनुकरण करता रहे अर्थात् यज्ञ-सम्पत्ति मेरे पुत्र में भी अनुस्यूत रहे। यदि पुत्र न हो तो अपना ही नाम लेवे।

'इदं मे वीर्यमहं सन्तनवम्'। इति ।।४१।।

इति बृहदुपस्थानं समाप्तम्।

क्षुल्लकोपस्थानब्राह्मणम्

(मूल) अथ हुतेऽग्निहोत्र उपतिष्ठते 'भूर्भुवः स्वः' (वां. सं. ३।३७) इति। तत् सत्येनैवैतद् वाचं समर्धयति। यदाह–भूर्भुवः स्वरिति। तया समृद्ध्याऽऽशिषमाशास्ते। 'सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम्' इति (वा. सं. ३ ३७)। तत्प्रजामाशास्ते। 'सुवीरो वीरैः' इति तद्वीरानाशास्ते। 'सुपोषः पोषैः' इति तत्पुष्टिमाशास्ते ॥१॥

यद्वा अदो दीर्घमग्न्युपस्थानम्-आशीरेव सा। आशीरियम्। तदेतावतैवैतत् सर्वमाप्नोति। तस्मादेतेनैवोपतिष्ठेत। एतेन त्वेव वयमुपचराम इति ह स्माहासुरिः ॥२॥

अथ प्रवत्स्यन् गार्हपत्यमेवाग्र उपतिष्ठते-अथाहवनीयम् ॥३॥

स गार्हपत्यमुपतिष्ठते। 'नर्य प्रजां मे पाहि' इति। प्रजाया ह्येष ईष्टे। तत् प्रजामेवास्मा एतत् परिददाति गुप्त्यै ॥४॥

अथाहवनीयमुपतिष्ठते–'शंस्य पशून्मे पाहि' इति। पशूनां ह्येष ईष्टे। तत् पशूनेवास्मा एतत् परिददाति गुप्त्यै ॥५॥

अथ प्र वा जपति, प्र वा धावयति। स यत्र वेलां मन्यते तत्स्यक्त्वा वाचं विसृजते। अथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद् वाचं यच्छति। स यद्यपि राजान्तरेण स्यात् नैव तमुपेयात् ॥६॥

स आहवनीयमेवाग्र उपतिष्ठते अथ गार्हपत्यम्। गृहा वै गार्हपत्यः। गृहा वै प्रतिष्ठा। तद् गृहेष्वेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥७॥

अथ आहवनीयमुपतिष्ठते 'आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्। अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व' इति। अथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥८॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते। 'अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः। अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व इति। अथोपविश्य तृणान्यपलुम्पति। एतन्नु जपेनैतेन न्वेव भूयिष्ठा इवोपतिष्ठन्ते ॥९॥

स वै खलु तूष्णीमेवोपतिष्ठेत। इदं वै यस्मिन् वसति ब्राह्मणो वा राजा वा श्रेयान् मनुष्योऽन्वेव-तमेव नार्हति वक्तुम् 'इदं मे त्वं गोपाय प्राहं वत्स्यामि' इति। अथास्मिन्नेते श्रेयांसो वसन्ति देवा अग्नयः। क उ तानर्हति वक्तुम्—'इदं मे यूयं गोपायत प्राहं वत्स्यामि' इति ॥१०॥

'मनो ह देवा मनुष्यस्याजानन्ति। स वेद गार्हपत्यः परिदां मेदमुपागात्' इति। तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते। स वेदाहवनीयः–'परिदां मेदमुपागात्' इति ॥११॥

अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति। स यत्र वेलां मन्यते तत् स्यत्त्वा वाचं विसृजते। अथ प्रोष्य परेत्य यत्र वेलां मन्यते तद् वाचं यच्छति। स यद्यपि राजान्तरेण स्यान्नैव तमुपेयात् ॥१२॥

स आहवनीयमेवाग्र उपतिष्ठते–अथ गार्हपत्यम्। तूष्णीमेवाहवनीयमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति। तूष्णीमेव गार्हपत्यमुपतिष्ठते तूष्णीमुपविश्य तृणान्यपलुम्पति ॥१३॥

अथातो गृहाणामेवोपचारः। एतद्ध वै गृहपतेः प्रोषुष आगताद् गृहाः समुत्त्रस्ता इव भवन्ति किमयमिह वदिष्यति किं वा करिष्यतीति। स यो ह तत्र किं चिद्वदति वा करोति वा तस्माद् गृहाः प्रत्रसन्ति। तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः। अथ यो ह तत्र न वदति न किञ्चन करोति तं गृहा उपसंश्रयन्ते न वा अयमिहावादीन्न किं चनाकरदिति। स यदिहापि सुक्रुद्ध इव स्यात् श्व एव ततस्तत्कुर्यात् यद् वदिष्यन्वा करिष्यन् वा स्यात्। एष गृहाणामुपचारः ॥१४॥

इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम्।

अथ क्षुल्लकोपस्थान—लघूपस्थान

(अनुवाद) पहिले जो अग्नि का उपस्थान बतलाया गया है, वह अनेक मन्त्रों वाला होने से बृहदुपस्थान कहलाता है। अब आसुरि-महर्षिप्रतिपादित क्षुल्लकोपस्थान का निरूपण किया जा रहा है कि वह यजमान अग्निहोत्र करने के बाद 'भूर्भुवः स्वः प्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः' इस मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करता है। भूः, भुवः, स्वः ये तीनों व्याहृतियाँ कहलाती हैं। ये व्याहृतियां प्रजापति (पार्थिव प्रजापति) की महिमारूप सत्य वाक् है। पार्थिव प्रजापति आग्नेय है। अतः उसकी महिमारूप वाक् भी अग्निरूप है। 'भूः, भुवः, स्वः' का उच्चारण करता हुआ यजमान 'भूः भुवः, स्वः' स्वरूप प्रजापति की सत्यस्वरूपा वाक् से अपने को समृद्ध करता है। तदनन्तर समृद्ध वाक् से अच्छी पुत्रपौत्रादि सन्तानवाला, वीर पुत्रों वाला तथा अच्छी सम्पत्ति वाला बनूं, ऐसी आशीः मांगता है ॥१॥

आसुरि कहते हैं कि पूर्वोक्त दीर्घोपस्थान भी आशीः—स्वरूप ही है। और यह क्षुल्लकोपस्थान भी आशीःस्वरूप ही है। इस लघूपस्थान से ही सब कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। अतः हम लघूपस्थान से ही अग्नि का उपस्थान करते हैं ॥२॥

जब यह यजमान प्रवास में जाने वाला हो तो पहिले गार्हपत्य का उपस्थान करता है और तत्पश्चात् आहवनीयाग्नि का ॥३॥

जब यजमान परदेश जाने लगे तब[2] 'नर्य प्रजां मे पाहि' इस मन्त्र से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करता है। गार्हपत्याग्नि प्रजा का स्वामी है, अतः उसे रक्षार्थ अग्नि को ही सौंपता है ॥४॥

पश्चात् आहवनीयाग्नि का[3] 'शंस्य पशून् मे पाहि' इस मन्त्र से उपस्थान करता है। आहवनीयाग्नि पशुओं का स्वामी है। पशु सौरप्राणों से ही उत्पन्न होते हैं। अतः पशु-रक्षार्थ पशुओं को इस अग्नि को दे देता है, जब कि यजमान बाहर जाना चाहता है ॥५॥

---

१. 'भूर्भुवः स्वरिति वोभौ' (का० श्रौ० सू० ४।२८५)
२. मनुष्यों के हितकारी अग्नि मेरी प्रजा की रक्षा कीजिए।
३. हे प्रशंसनीय अग्ने! आप मेरे पशुओं की रक्षा कीजिए।

इसके बाद चाहे बिना वाहन के पैदल जाता है अथवा वाहन से जाता है, उभयथापि वह जाता हुआ यजमान जिस अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है, तब वाणी का विसर्जन कर दे अर्थात् बोलना प्रारम्भ कर दे। प्रवास से लौटने के बाद गाँव की सीमा पर पुनः वाग्यमन करे। वाग्यमन के बाद यजमान और अग्निशाला के मध्यमार्ग में यदि राजा भी आ जावे तो उससे भी बात न करे ॥६॥

प्रवास से लौटने पर प्रथम आहवनीयाग्नि का उपस्थान करता है और तदनन्तर गार्हपत्याग्नि का। गार्हपत्य गृहस्थानापन्न है। घर ही प्रतिष्ठा है। अतः गार्हपत्य में उपस्थान करना घर में आकर प्रतिष्ठित होना है। (घर में आकर विश्राम करने के बाद आहवनीय का उपस्थान करना उचित नहीं। अतः गार्हपत्योपस्थान से पूर्व ही आहवनीय का उपस्थान करना चाहिए ॥७॥

आहवनीयोपस्थान—

[1]आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥

इस मन्त्र से करता है। पश्चात् पास पड़े हुए तृणादि को हटाता है ॥८॥

तत्पश्चात्—

[2]अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्य प्रजायाः वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥

इस मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करता है। उपस्थानान्तर पास बैठ कर वहाँ विद्यमान तृणादि को हटाता है। इन्हीं मन्त्रों का जप करना चाहिए अर्थात इन्हीं मन्त्रों को उपस्थान के समय बोलना चाहिए। इन्हीं मन्त्रों से बहुत से याज्ञिक उपस्थान करते हैं ॥९॥

किन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि बिना मन्त्र के ही उपस्थान करना

---

१. हे प्रज्वलित अग्नि ! सब धनों से युक्त तथा हमें धनप्राप्ति कराने में श्रेष्ठ आपके पास हम आ गये हैं आप हमें धन तथा शत्रुओं को अभिभूत करने वाला बल प्रदान कीजिए।

२. गृहों का पालन करने वाला यह गार्हपत्याग्नि प्रजा को सर्वाधिक धन प्रदान करने वाला है। हे गृहपति अग्नि ! हमें धन तथा पराभिभवसमर्थ बल दीजिए।

चाहिए। क्योंकि जिस घर में ब्राह्मण, राजा अथवा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति रहता हैं, उस आए हुए व्यक्ति को कोई घर वाला व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि आप मेरे घर की रक्षा कीजिए, मैं कुछ दिन के लिए परदेश में चला जाता हूँ। तो फिर इस यजमान के घर में तो मनुष्यों से भी श्रेष्ठ अग्निदेवता रहते हैं, उन्हें यह कैसे कहा जा सकता है कि मैं परदेश जाता हूँ, आप मेरे घर पर पशु आदि की रक्षा कीजिए। अतः उपस्थान के समय 'नर्यं प्रजां मे पाहि' इत्यादि मन्त्र नहीं बोलने चाहिए ॥१०॥

देवता लोग मनुष्य के मन की बात को जानते हैं। अतः गार्हपत्याग्नि भी यजमान के मन के भाव को जानता है कि यह यजमान मेरे पास रक्षार्थ सारी अपनी प्रजा को छोड़ कर जा रहा है। अतः उसे प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है। अतः तूष्णीं ही उपस्थान करना चाहिए ॥११॥

उपस्थानानन्तर यदि यजमान बिना वाहन के अथवा वाहन के द्वारा कहीं परदेश में जाता है, तो वह ग्राम की सीमा पर पहुँच कर वाग्-विसर्जन कर दे। और लौटते समय अपने ग्राम की सीमा पर पहुँच कर पुनः वाग्यमन कर ले। यदि उस समय वाग्यत यजमान और अग्न्यागार के मध्य में राजा भी मिल जावे तो उससे भी बात न करे ॥१२॥

प्रवास से लौटने के बाद वह पहिले आहवनीय का तथा पश्चात् गार्हपत्य का उपस्थान करे। बिना मंत्र के ही आहवनीय का उपस्थान कर और उसके पास बैठ कर तृण आदि का परिहार करे। बिना मंत्र के ही गार्हपत्य का उपस्थान करे और उसके पास बैठ कर तृणादि को हटाये १३॥

प्रवास से लौटने पर यजमान का घर वालों के प्रति करणीय व्यवहार का प्रतिपादन कर रहे हैं कि प्रवास से यजमान के लौटने पर घर वाले भयभीत-से हो जाते हैं कि यह यजमान हमसे क्या कहेगा और क्या करेगा ? यदि वह उस समय उनसे कुछ कहता है अथवा कुछ करता है अर्थात् दण्ड आदि देता है, तो वह उसके कुल को उद्विग्न करने में समर्थ होता है। यदि कुछ नहीं करता तो उस यजमान के पास घर वाले आते हैं और सोचते हैं कि इन्होंने हमें कुछ उपालम्भ नहीं दिया। यदि यजमान को क्रोध भी आ गया हो और वह कुछ कहना या करना भी चाहता हो तो भी उस दिन न कहे, दूसरे दिन कहे ॥१४॥

इति क्षुल्लकोपस्थान समाप्त

अथ क्षुल्लकोपस्थान

पूर्व में जो अग्नि का उपस्थान कहा गया है वह बड़ा है। उसमें कई मन्त्र बोले जाते हैं, किन्तु आसुरि महर्षि द्वारा प्रतिपादित यह उपस्थान छोटा है, इसी को बतलाते हैं—

वह यजमान अग्निहोत्र यज्ञ कराने के बाद निम्न लिखित मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करता है—

'भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।'

भगवान् प्रजापति की वाक् को व्याहृति कहते हैं जो कि भूः, भुवः और स्वः हैं। पार्थिव प्रजापति ही प्रकृत में प्रजापति है। ये प्रजापति आग्नेय हैं एवं पृथिवी के ठीक केन्द्र में रहते हैं। इनकी महिमास्वरूप वाक् पृथ्वी के केन्द्र से निकल कर २१ तक जाती है। वाक् से अग्नि का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि प्रजापति जब अग्निस्वरूप है, तब उसकी महिमास्वरूप वाक् का भी अग्निमयत्व होना आवश्यक ही है। यह महिमा अग्नि—त्रिवृत् स्तोम, पञ्चदश स्तोम एवं एकविंश स्तोम से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। त्रिवृत् अग्नि को भूः, पञ्चदश को भुवः एवं एकविंश को स्वः कहते हैं। उस प्रजापति की ये तीन हो व्याहृतियाँ कही जाती हैं। इस भूः, भुवः, स्वः स्वरूप प्रजापति की सत्यस्वरूपा व्याहृति से अपनी वाक् को समृद्ध करता है। जो यजमान भूः, भुवः, स्वः यह बोलता है। सत्य का अनुकरण करने से अनुकर्ता में भी सत्यबल आ जाता है। सत्य-स्वरूप प्रजापति की व्याहृति का उपस्थान करना अपनी वाक् को सत्ययुक्त करना है। सत्य वाक् ही समृद्धा वाक् कहलाती है। जैसे ईश्वरीय वाक् व्यर्थ नहीं जाती तद्वत् ईश्वरीय वाक् से समृद्ध आहिताग्नि की वाक् भी व्यर्थ नहीं जाती। अतः 'मेरी वाणी समृद्ध हो जाय, सत्य से युक्त हो जाय' इसी अभिप्राय से यजमान—'भूः, भुवः, स्वः' यह बोलता है। ऐसा बोलता हुआ वह अपनी वाक् को सत्ययुक्त कर समृद्ध बना लेता है। 'तत्सत्येनैवैतद्वाचं समर्धयति यदाह भूर्भुवः स्वरिति'। जब 'भूर्भुवः स्वः' इस प्रजापतिव्याहृति से अपनी वाक् समृद्ध हो जाती है तो तदनन्तर उस समृद्ध वाक् से आशीः मांगता है। उस मन्त्र का हिस्सा यह है जिससे कि आशीः (फल) मांगता है—'सुप्रजाः प्रजाभिः स्याम्, सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः' इति - सुप्रजाः इत्यादि से प्रजा मांगता है। 'सुवीरो वीरैः' इससे वीर पुत्र मांगता है। 'सुपोषः पोषैः' इससे धन-पुष्टि को याच्ञा करता है। क्योंकि सत्यपूत वाणी से यह 'आशीः मांगता है, अतः इसकी वाणी व्यर्थ नहीं हो सकती ॥१॥

पूर्वोक्त वृहदुपस्थान पर कटाक्ष करते हुए आसुरि कहते हैं—जो इस उपस्थान के पहिले दीर्घ उपस्थान (बहुमन्त्रोपेत) बतलाया गया है वह आशीः (फलप्रार्थना) ही है. एवं हम लोग उपस्थान बतला रहे हैं वह भी 'आशीः' ही है। जब लघूपस्थान से ही सब

कुछ फल मिल जाता है तो बृहदुपस्थान करने की क्या आवश्यकता है ? अतः लघूपस्थान से ही उपस्थान करना चाहिए। आसुरि महर्षि कहते हैं कि और कोई हमारी बात मानो न मानो हम तो इसी मन्त्र से अग्नि का उपस्थान करते हैं ।।२।।

जब यजमान परदेश में जाये तो उपस्थान किस मंत्र से करे एवं आहवनीय व गार्हपत्य दोनों में पहिले किसका उपस्थान करे यह बतलाते हैं—

प्रवास करता हुआ अर्थात् परदेश में जाने वाला यह यजमान पहिले गार्हपत्य का उपस्थान करता है, बाद में आहवनीय का। जिस समय परदेश जाने लगता है, उस समय निम्न मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करता है—

'नर्य प्रजां मे पाहि' हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! आप मेरी प्रजा को रक्षा करें। गार्हपत्याग्नि ही प्रजा का स्वामी है, अतः परदेश जाते समय प्रजा को रक्षार्थ इस अग्नि को दे देता है अर्थात् गृहपति गार्हपत्याग्नि की सुरक्षा में प्रजा को छोड़ जाता है। सन्तानोत्पत्ति का सम्बन्ध अधिकतया पार्थिवाग्नि से है। सौराग्नि भी अवश्य आता है परन्तु हमारा शरीर पृथिवी से ही बनता है। इसी अभिप्राय से पृथिवीस्थानापन्न गार्हपत्य को प्रजा का स्वामी बतलाया गया है। जैसे कहा है—'प्रजायाः हैष ईष्टे' ।।४।।

इस प्रकार पहिले गार्हपत्य का उपस्थान कर तदनन्तर आहवनीय का उपस्थान करता है। उपस्थानमंत्र यह है—'शंस्य ! पशून् मे पाहि'—इति। हे प्रशस्य ! (प्रशंसनीय, स्तुत्य, आराधनीय अग्नि) आप मेरे पशुओं की रक्षा कीजिए। प्रजा पशुओं की चीज है, परन्तु पशु द्युलोक की वस्तु है। उषा (खार) से पशु उत्पन्न होते हैं, एव वह द्युलोक की वस्तु है। (देखो सम्भार प्रकरण)। अतः पशुरक्षार्थ द्युलोकस्थानापन्न आहवनीय की प्रार्थना करते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'पशूनां हैष ईष्टे। तत्पशूनामेवास्माऽएतत् परिददाति गुप्त्यै' ।।५।।

इसके बाद उपस्थान करके वाहन के बिना ही यदि स्वयं पैदल जाता है, अथवा वाहन सहित रथादि से जाता है, उभयथापि जहाँ जिस स्थान पर बोलना उचित समझे—वहाँ अपने प्राप्तव्य स्थान में पहुँचकर वाग्व्यापार करे।

तात्पर्य यह है कि यह यजमान परदेश में चाहे सवारी पर बैठकर जाय, या पैदल जाय उभयथापि उसे उपस्थानानन्तर मौन धारण कर लेना चाहिए। उपस्थान कर बाहर निकलते ही बोलना नहीं चाहिए। परन्तु जब निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाय, तभी वाग्विसर्जन करे अर्थात् बोले। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'अथ प्र वा व्रजति प्र वा धावयति स यत्र वेलाममन्यते तत्स्यन्त्वा वाचं विसृजते।'

इसके बाद प्रवास करके जब लौटे। जहाँ गाँव का बहिर्द्वार हो वहीं से मौन धारण करले। उस वाक्संयमन करने वाले यजमान के और अग्न्यागार के बीच मार्ग में से यदि राजा भी निकल जाय तो उससे भी बात न करे, अर्थात् कितना भी प्रतिष्ठित आदरणीय व्यक्ति सामने आये, किन्तु उसे वाक्संयमन नहीं तोड़ना चाहिए ॥६॥

जब परदेश गया था तब गार्हपत्य का पहिले एवं आहवनीय का बाद में उपस्थान किया था। किंतु जब वापिस आये तब पहिले आहवनीय का तथा बाद में गार्हपत्य का उपस्थान करता है। इसका कारण निम्नलिखित है—

यह जो गार्हपत्य है, वह गृहस्थानापन्न है तथा घर ही प्रतिष्ठा है। अतः गार्हपत्य का उपस्थान घर में आकर प्रतिष्ठित होना है। ऐसी स्थिति में आहवनीय का स्थान उचित नहीं। क्योंकि आते ही उपस्थान होता है न कि आकर घर में विश्राम करने के बाद। गार्हपत्य गृहस्थानीय है, अतः पहिले इसका उपस्थान कर बाद में आहवनीय का उपस्थान करना—घर में विश्राम कर तदनन्तर उपस्थान करना है। अतः वापिस आने पर पहिले आहवनीय का और बाद में गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिए ॥७॥

वापिस आने पर वह आहिताग्नि पहिले निम्नलिखित मन्त्र से आहवनीय का उपस्थान करता है—

'आगन्म विश्ववेदसम् अस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व' ॥इति॥

हे सम्राड् अग्ने! विश्ववेदसम् (सर्वधनोपेतम्) अस्मभ्यं (अस्मदर्शम्) वसुवित्तमं (धनस्य लम्भयितृतमम्) त्वाम् आगन्य (आगमाम)। त्वं च द्युम्नं (धनं) सहः (पराभिभवहेतुभूतं बलं च) अभ्यायच्छस्व (अभिगमय)।

हे प्रज्वलित अग्ने! सर्वधनोपेत एवं हमारे लिए धन-प्राप्ति के स्थान आपके पास हम आ पहुँचे। हे वसुवित्तम! आप हमें सम्पत्ति, तथा शत्रु को पराभूत करने वाला बल दीजिए। यह मंत्र बोलकर, आहवनोय के पास बैठकर वहाँ पड़े हुए तृणादि को उठाकर बाहर फेंक देता है, अर्थात् अपने सेवा-भाव को दिखाता है ॥८॥

तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं—

'अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व'॥

गृहपतिः (गृहाणां पालयिता) अयं गार्हपत्यः अग्निः, प्रजाया वसुवित्तमः (धनदाता)। हे अग्ने गृहपते! द्युम्नम् (धनं) सहः (बलं) च त्वम् आयच्छस्व।

घर के रक्षक गार्हपत्य अग्नि प्रजा के वसुवित्तम है अर्थात प्रजा का धन बढ़ाने वाले हैं। परोक्ष स्तुति करके अब प्रत्यक्ष में कहते हैं।

हे गृहपति अग्ने ! आप मुझे संपत्ति और बल प्रदान कीजिए। आहवनीयवत् सेवाधर्म-पालनार्थ यहाँ भी बैठकर गार्हपत्य के आस-पास पड़े हुए तृण वगैरह को उठाकर फेंक देता है। बस, इन्हीं मन्त्रों से जप करना चाहिए अर्थात् इन्हीं मन्त्रों से उपस्थान करना चाहिए। आसुरि कहते हैं कि प्रवत्स्यन् (परदेश जाते समय) इन मन्त्रों से उपस्थान करना—मेरा ही मत नहीं है, अपितु अधिकांश याज्ञिक लोग इन्हीं मन्त्रों से उपस्थान करते हैं ॥६॥

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य समन्त्रक उपस्थान का खण्डन करते हुए कहते हैं कि परदेश जाते समय—किंवा आकर—चुपचाप ही उपस्थान करना चाहिए। मन्त्र कभी नहीं बोलना चाहिए—'स वै खलु तूष्णीमेवोपतिष्ठेत'—तूष्णीं रहकर उपस्थान क्यों करना चाहिए, इसका कारण बतलाते हैं—

हम लोक में देखते हैं कि ब्राह्मण, राजा अथवा और कोई प्रतिष्ठित मनुष्य जिसके घर में रहता है, वह मनुष्य उस आये हुए मनुष्य को—'मेरे घर में तो आप रहते हैं, अब मैं कुछ दिनों के लिए बाहर जाता हूँ। अतः मैं जब तक में न आऊँ, आप मेरे घर की सुरक्षा रखना। मेरे पशुओं की रखवाली करना—।' यह नहीं कह सकता तो त्रिभुवन के अधिष्ठाता अग्नि को वह यह कैसे कह सकता है कि मैं परदेश जाता हूँ, आप मेरे पशुओं की रक्षा कीजिए। अतः 'नर्यं प्रजां मे पाहि' इत्यादि मन्त्र कभी नहीं बोलना चाहिए, अपितु तूष्णीमेव उपस्थान करना चाहिए ॥१०॥

अपि च देवता लोग अन्तर्यामी होते हैं। वे मनुष्य की अन्तरात्मा के भावों को तत्क्षण जान जाते हैं। अतः अग्नि जानता है कि इस सारी प्रजा-समष्टि को मेरे विश्वास पर छोड़ कर जा रहा है। पीछे से मुझे इस प्रजा की रक्षा करनी है। अतः उसे कहने की आवश्यकता न होने से मन्त्रों द्वारा उपस्थान करने की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार आहवनीय का भी तूष्णी (अमन्त्रक) ही उपस्थान करना चाहिए। क्योंकि गार्हपत्य की तरह वह भी जानता है कि यजमान पशुओं को मेरे उत्तरदायित्व पर छोड़ गया है ॥११॥

'अथ प्रवा व्रजति' इत्यादि कण्डिकाद्वय ६-७-८ की तरह हैं ॥१२॥१३॥

गृहोपचार

यजमान परदेश से लौटकर अग्नि का उपस्थान किस प्रकार करे, इत्यादि नियम बतलाकर, अब प्रसङ्गागत लौकिक नियमों को बतलाते हैं। परदेश से आकर घर वालों तथा नौकरों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बतलाया जाता है। जिस समय

गृहपति यजमान परदेश से लौटता है, तो इस यजमान से घर के सारे व्यक्ति काँपते रहते हैं। उन्हें इस बात का भय रहता है कि ये स्वामी इतने दिनों से बाहर गये हुए थे। न मालूम हमारे पर प्रसन्न हैं अथवा अप्रसन्न। यदि हमारे से कोई भूल हो गयी, तो उसे देखकर न मालूम ये हमसे क्या कहेंगे एवं क्या दण्ड देंगे ? ऐसे समय यजमान आने के साथ ही, यदि रौब से बातें करने लगता है, भृकुटि चढ़ाकर सब पर आक्रमण-सा करने लगता है, तो घर के सारे व्यक्ति उद्विग्न हो जाते हैं। वे काँप उठते हैं। यह भय यजमान के कुल को नष्ट करने में समर्थ हो जाता है अर्थात् सारा कुटुम्ब उसका विद्वेषी बन जाता है। परन्तु यदि गृहपति आने के साथ ही उनको सान्त्वना देता है, कोई कटु बात नहीं कहता, तो घर के लोग उससे प्रेम करते हैं। वे विचारने लगते हैं कि 'देखो, अपना स्वामी कैसा दयालु है जो अपने को कुछ भी कटु वचन नहीं कहता और न दण्ड ही देता है।' याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि गृहपति किसी हानि के कारण क्रुद्ध भी हो, तो वे आने के दिन कुछ न कहें। जो कुछ कहना-सुनना हो, या दण्ड देना हो, वह सब दूसरे दिन करें। यही गृहोपचार है ।।१४।।

।। इति अग्निहोत्रप्रकरणम् ।।

अथ पिण्ड पितृ यज्ञः

(मूल) प्रजापतिं वै भूतन्युपासीदन्। प्रजा वै भूतानि। 'वि नो धेहि यथा जीवाम इति। ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदन्। तानब्रवीत् 'यज्ञो वोऽन्नम्, अमृतत्वं वः, ऊर्ग्वः, सूर्यो वो ज्योतिः इति ॥१॥

अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदन्। तानब्रवीत् 'मासि मासि वोऽशनम्, स्वधा वः, मनोजवो वः चन्द्रमा वो ज्योतिः। इति ॥२॥

अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदन् । तानब्रवीत्-'सायं प्रातर्वोऽशनम्, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः । इति ॥३॥

अथैनं पशव उपासीदन्। तेभ्यः स्वैषमेव चकार—'यदैव यूयं कदा च लभाध्वै यदि काले यद्यनाकाले अथैवाश्नाथ' इति। तस्मादेते यदैव कदा च लभन्ते यदि काले, यद्यनाकाले, अथैवाश्नन्ति ॥४॥

अथ हैनं शश्वदप्यसुरा उपसेदुरित्याहुः। तेभ्यः तमश्च मायां च प्रददौ। अस्त्यहैवासुरमायेतीव पराभूता ह त्वेव ताः प्रजाः। ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् ॥५॥

नैव देवा अतिक्रामन्ति न पितरो न पशवः। मनुष्या एवैकेऽतिक्रामन्ति। तस्माद् यो मनुष्याणां मेद्यति-अशुभे मेद्यति विहूर्च्छति हि, न हि अपनाय च न भवति। अनृतं हि कृत्वा मेद्यति। तस्मादु सायं प्रातराश्येव स्यात्। स यो हैवं विद्वान् सायं प्रातराशी भवति सर्वं हैवायुरेति। यदु ह किञ्च वाचा व्याहरति तद्‌ु हैव भवति। एतद्धि देवसत्यं गोपायति। तद्धैतत् तेजो नाम ब्राह्मणम् य एतस्य व्रतं शक्नोति चरितुम् ॥६॥

तद्वा एतत् मासि मास्येय पितृभ्यो ददतो-यदेवैष न पुरस्तात् न पश्चाद्

ददृशे अथैभ्यो ददाति। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स एतां रात्रिं क्षीयते। तस्मिन् क्षीणे ददाति। तथैभ्योऽसमदं करोति। अथ यदक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्याद् देवेभ्यश्च। तस्माद् यदैवैष न पुरस्तात् न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ददाति ॥७॥

स वा अपराह्णे ददाति। पूर्वाह्णो वै देवानाम्, मध्यन्दिनो मनुष्याणाम्, अपराह्णः पितृणाम्। तस्मादपराह्णे ददाति ॥८॥

स जघनेन गार्हपत्यं प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति। स तत एवोपोत्थायोत्तरेणाहवनीयपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति। सकृत् फलीकरोति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरस्तस्मात् सकृत् फलीकरोति ॥९॥

तं श्रपयति। तस्मिन्नधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति। अग्नौ वै देवेभ्यो जुह्वति, उद्धरन्ति मनुष्येभ्यः, अथैवं पितृणाम्। तस्मादधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति ॥१०॥

स उद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः। देवान् वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति, यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते। अथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारीत्। तद देवेभ्यो निह्नुते। स देवैः प्रसूतः अथैतत् पितृभ्यो ददाति। तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वे आहुती जुहोति देवेभ्यः ॥११॥

स वा अग्नये च सोमाय च जुहोति। स यदग्नये जुहोति, सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तः। अथ यत् सोमाय जुहोति। पितृदेवत्यो वै सोमः। तस्मादग्नये च सोमाय च जुहोति ॥१२॥

स जुहोति 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा (वा. सं. २।२९) इति। अग्नौ मेक्षणमभ्यादधाति-तत् स्विष्टकृद्भाजनम्। अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं सकृदुल्लिखति-तद् वेदिभाजनम्। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात्सकृदुल्लिखति ॥१३॥

अथ परस्तादुल्मुकं निदधाति। स यदनिधायोल्मुकमथैतत् पितृभ्यो दद्यात् असुररक्षसानि हैसामेतद्विमथ्नीरन्। तथो हैतत् पितॄणामसुररक्षसानि न विमथ्नते, तस्मादुल्मुकं निदधाति ॥१४॥

स निदधाति—'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति। परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान् लोकान् प्रणुदात्यस्मात् (वा. सं. २।३०) इति। अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता। तस्मादेवं निदधाति ॥१५॥

अथोदपात्रमादायावनेजयति 'असाववनेनिक्ष्व' इत्येव यजमानस्य पितरम्। असाववनेनिक्ष्वेति पितामहम्। असाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहम्। तद् यथा-वशिष्यते अभिषिञ्चेदेवं तत् ॥१६॥

अथ सकृदाच्छिन्नानि उपमूलं दिनानि भवन्ति। अग्रमिव देवानाम्, मध्यमिव मनुष्याणाम्, मूलमिव पितॄणाम्। तस्मादुपमूलं दिनानि भवन्ति सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात् सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ॥१७॥

तानि दक्षिणोपस्तृणाति। तत्र ददाति। स वा इति ददाति। इतीव वै देवेभ्यो जुह्वति, उद्धरन्ति मनुष्येभ्यः, अथैवं पितॄणाम्। तस्मादिति ददाति ॥१८॥

स ददाति 'असावेतत्ते' इत्येव यजमानस्य पित्रे 'ये च त्वामनु' इत्यु हैक आहुः। तदु तथा न ब्रूयात्। स्वयं वै तेषां सह येषां सह। तस्मादु ब्रूयात्। असावेतत्ते इत्येव यजमानस्य पित्रे। असावेतत्ते इति पितामहाय। असावेतत्ते इति प्रपितामहाय। तद् यदितः पराग् ददाति-सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः ॥१९॥

तत्र जपति-'अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् (वा. सं. २।३१) इति। यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह ॥२०॥

अथ पराङ् पर्यावर्तते। तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यस्तिर इवैतद् भवति। स वा आतमितोरासीतेत्याहुः। एतावान् ह्यसुरिति। स वै मुहूर्तमेवासित्वा ॥२१॥

अथोपपल्ययय्य जपति 'अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत' (वा. रा. २।३१) इति यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह ॥२२॥

अथोदपपात्रमादाय अवनेजयति 'असाववनेनिक्ष्व' इत्येव यजमानस्य पितरम्। असाववनेनिक्ष्वेति पितामहम्। असाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहम्। तद् यथा जनुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत् ॥२३॥

अथ नीविमुद्धृत्य नमस्करोति। पितृदेवत्या वै नीविः। तस्मान्नीविमुद्धृत्य नमस्करोति। यज्ञो वै नमो यज्ञियानेवैनानेतत् करोति। षट् कृत्वो नमस्करोति। षड् वा ऋतवः। ऋतवः पितरः। तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति। 'गृहान्नः पितरो दत्त' (वा. सं. २।३२) इति। गृहाणां ह पितर ईशते। एषो एतास्याशीः कर्मणः। अथावजिघ्रतेति प्रत्यवधाय पिण्डान्। स यजमानभागः। असौ सकृदाच्छिन्नान्यभ्यादधाति। पुनरुल्मुकमपिसृजति ॥२४॥

इति पिण्डपितृयज्ञाधिकारः।

पिण्ड पितृ यज्ञ

(अनुवाद) प्रजापति (क्षराक्षरप्रकृतिद्वयविशिष्ट पुरुष) के पास भूत (प्रजा) पहुंची। यहां भूत शब्द से पार्थिव प्राण का ग्रहण न होकर देव, पितर, असुर, मनुष्य तथा पशु रूप पाँचों प्रजाओं का ग्रहण है। इसीलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं—'प्रजा वै भूतानि' ये प्रजाएँ प्रजापति के पास अन्न मांगने के लिए पहुंची। उनने प्रजापति से कहा कि हमें अन्न दीजिए जिससे हम जीवन धारण कर सकें। सर्व प्रथम देवप्रजा ने यज्ञोपवीती बन कर दक्षिण जानु को ऊँचा कर प्रजापति की उपासना की, उनके पास बैठे। उस देवप्रजा को प्रजापति ने

कहा कि' यज्ञ तुम्हारा अन्न है। अमृतत्व तुम्हारा स्वरूप है। यहां अमृतत्व शब्द से देवताओं को जो अन्न दिया जाता है उसका अविकृतत्व अभिप्रेत है। देवों को 'स्वाहा' कह कर आहुति दी जाती है। यह स्वाहा ही देवताओं का एक प्रकार से अन्न है। इस अन्न का सम्बन्ध देवताओं के साथ बहिर्याम रूप से होता है। यही गीता का विभूति सम्बन्ध है जो कि वस्तु को व्याप्त कर लेता है, किन्तु उसमें किसी प्रकार का अन्तर्याम सम्बन्ध या विकार उत्पन्न नहीं करता। देवता का स्वरूप भी अविकृत होता है। वे असंग होते हैं। अतः अमृतत्व शब्द से देवता का स्वरूप अविकृतत्व विवक्षित है। अन्न के भक्षण से जो एक बल पैदा होता है जो कि सारे शरीर को स्थिर रखता है, वही ऊर्क् रस ऊक् शब्द से यहाँ विवक्षित हैं। यह बल भी सूर्य का है। सूर्य तुम्हारी (देवताओं) की ज्योति (प्रकाश) है। सौरप्राणरूप देवों की स्थिति इन्हीं तीनों सौर तत्त्व (यज्ञ, ऊर्क् व सौर तेज) से है ॥१॥

इसके बाद पितर प्राचीनावीती बन कर वाम[२] जानु को ऊँचा कर प्रजापति के पास आसीन हुए। उन्हें प्रजापति ने कहा तुम्हें मास में एक बार अन्न प्राप्त होगा। वह अन्न स्वधा रूप होगा। पितरों का अन्न के साथ अन्तर्याम रूप से सम्बन्ध है। अतः उसे 'स्वं आत्मानं धत्ते' इस व्युत्पत्ति से स्वधा कहा

---

१. बृहती (विषुववृत्त) पर स्थित सूर्य की परिक्रमा पृथिवी एक वर्ष में समाप्त करती है। उससे पार्थिव प्राणों का सम्बन्ध देवप्राणों से होता है। पार्थिव तत्त्व सूर्य में पहुँचते हैं और सौरप्राण पृथिवी में। यही परस्पर सम्बन्ध यज्ञ है। यह एक संवत्सर में पूर्ण होता है। अतः यज्ञ पद से वहां संवत्सर अर्थ भी अभिप्रेत है। अर्थात देवताओं को अन्न वर्ष में एक बार प्राप्त होता है।

२. चन्द्रमा दक्षवृत्त पर घूमता हुआ पृथिवी की परिक्रमा २८ दिन में समाप्त कर लेता है। इस प्रकार पार्थिव प्राण व चान्द्र प्राणों का सम्बन्ध होता है। वह सम्बन्ध २८ दिनात्मक चन्द्रमास में होता रहता है। अतः 'मासि मासि वोऽशनम्' कहा है। चन्द्रमा स्नेहधर्मा है, उसका सम्बन्ध पितरों से अन्तर्याम रूप से होता है। अतः उस अन्न को स्वधा कहा है। चन्द्रमा परिक्रमा करता हुआ पृथिवी की ओर झुका रहता है। सूर्य और पृथिवी के प्रतिदिक् में जाना उसीका दक्षिण दिग्गमन है। उसी समय वह चन्द्ररूप अन्न पितरों को प्राप्त होता है। सूर्य सम्मुख होने पर तो सूर्यप्रकाशस्थ देवता उसका भक्षण करते रहते हैं। अतः वह पितरों को प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रकाश में देवताओं की सत्ता है न कि पितरों की। दक्षिण की तरफ प्रवणता (झुकाव) वाम भाग को ऊंचा करने पर बनती है। अतः 'दक्षिणं जान्वाच्य' कहा है।

गया है। वह अन्न पितरों का आत्मा बन जाता है। शरीरस्थ मन, प्राण, वाक् में मन का सम्बन्ध चन्द्रमा से है। चन्द्रमा से ही हमारा मन बनता है। अतः मनोजव कहा गया है। चन्द्रमा ही पितरों की ज्योति है। क्योंकि उसी प्रकाश में उनकी सत्ता है।

अनन्तर मनुष्यप्रजा ने प्रावृत होकर अर्थात् कण्ठ में यज्ञोपवीत को सीधा डाल कर, पालथी लगा कर अर्थात् सीधे बैठ कर प्रजापति से प्रार्थना की। प्रजापति ने कहा कि हे मनुष्यों, सायं प्रातः तुम्हें अन्न प्राप्त होगा'। और यह प्रजा (पशु) तुम्हारे होंगे। मृत्यु तुम्हें प्राप्त होगी तथा अग्नि तुम्हारी ज्योति होगी ।।३।।

मनुष्यों के अनन्तर पशुप्रजा प्रजापति के पास पहुँची। प्रजापति ने उनके लिए इच्छानुसार जब चाहे तब भोजन का विधान किया। अर्थात् जब तुम्हें भोजन मिले, चाहे समय पर या असमय में, तुम भोजन कर सकते हो। अतः इनको जिस समय भोजन, चाहे समय पर या असमय में मिले, वे खा लेते हैं। ।।४।।

अनन्तर असुर भी बार-बार प्रजापति के पास पहुँचने लगे। प्रजापति ने उन्हें अन्धकार और माया प्रदान की। असुर-प्रकाश प्रजाविरोधी तमोमय प्राण है। अतः उन्हें तम ही प्रदान किया। उनकी सत्ता तम पर ही निर्भर है। असुर स्वभावतः माया (इन्द्रजाल) प्रधान है। अतः माया भो इन्हीं का प्रधान तत्त्व है। प्रजापति ने असुरों को माया प्रदान को थी। अतः आज भी लोक में माया असुरमाया नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार देव, पितर, मनुष्य, पशु और असुर रूप प्रजा में असुर ही माया, तम तथा माया के कारण पराभूत हुए। उपर्युक्त प्रजाएँ आज भी प्रजापति ने उनके लिए जिस वृत्तिनियम का विधान किया था, उसी वृत्ति से तथा नियम से जीवननिर्वाह करती हैं ।।५।।

---

१. जिस प्रकार सौर प्राणरूप देवों का सम्बन्ध पृथिवी से एक वर्ष में होता है, चान्द्र पितरों का सम्बन्ध चान्द्रगति के कारण एक मास में पृथिवी से संबंध होता है उसी प्रकार पार्थिव मनुष्य का संबंध इस पृथिवी से स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण एक दिन में हो जाता है अतः इनके लिए प्रजापति ने प्रतिदिन भोजन का विधान किया।

न देवों ने, न पितरों और न पशुओं ने उस वृत्ति या नियम का अतिक्रमण किया, किन्तु केवल मनुष्यों ने ही उसका अतिक्रमण किया। इसलिए मनुष्यों में जो परिपुष्ट होते हैं, वे नरकपातादि अनर्थहेतुभूत पाप में ही रत रहते हैं। और उस पाप से उनका अधःपतन होता है। वह पाप कर्म उनके कल्याण के लिए नहीं होता, क्योंकि वह प्रतिषिद्ध कर्म करके ही परिपुष्ट होता है। अतः मनुष्य को सायं प्रातः ही भोजन करना चाहिए। इस रहस्य को जानता हुआ जो सायं प्रातः भोजन करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। और जो वाणी से कह देता है वह सत्य होता है। क्योंकि वह प्रजापतिकल्पित सत्य की रक्षा करता है। यह—जो कि ब्राह्मण सम्बन्धी है जो प्रजापति के उपर्युक्त सत्य का पालन करने में समर्थ है वह देव सत्य की रक्षा करता है ॥६॥

उपर्युक्त रीति से पितरों को महीने महीने में ही पितृयज्ञरूपी भोजन दिया जाता है। यह पितृयज्ञ अमावस्या के दिन करना चाहिए। जब कि चन्द्रमा का न पूर्व दिशा में और न पश्चिम दिशा में दर्शन हो। यह चन्द्रमा-रूप प्रकाशमान सोम ही देवों का अन्न है। अमावस्या के दिन यह चन्द्ररूप सोम क्षीण हो जाता है। इसके क्षीण होने पर जो हवि पितरों को दी जाती है, उस हवि के विषय में देवताओं के साथ पितरों का कलह नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अमावस्या में चन्द्रमा के ऊर्ध्व भाग का सूर्य से सम्बन्ध रहता है तथा पृथिवी की ओर का चान्द्रभाग सर्वथा सौरप्रकाश से रहित होता है। सौरप्रकाशाभाव ही चन्द्रमा का क्षय है। सौरप्रकाश ही देवता है अतः पृथिवी की ओर का जो चान्द्रभाग है, वह सौरप्रकाशसम्बन्ध के सर्वथा अभाव से देवरहित है। अतः उस दिन प्रदत्त हवि पितरों को ही प्राप्त होगी, देवताओं को नहीं। क्योंकि देवताओं की उस समय पृथिवी में सत्ता ही नहीं है। अतः उनके साथ कलह का प्रश्न ही नहीं है।

यदि चन्द्रमा के सर्वथा क्षीण (सौरप्रकाशरहित) न होने पर अर्थात् चतुर्दशीविद्धा अमा (सिनीवाली) अथवा प्रतिपद्विद्धा अमा (कुहू) को हवि दी जायेगी, तो उस दिन चन्द्रमा की एक कला के सूर्यप्रकाश से युक्त होने के कारण प्रकाशरूप देवता की सत्ता होने से दीयमान हवि के विषय में

पितरों के साथ देवताओं में कलह होगा। उस कलह (समद) को बचाने के लिए जिस दिन चन्द्रमा की एक कला भी न दिखाई दे उस दर्शरूपी अमा के दिन ही पिण्डपितृयज्ञा रूप हवि देनी चाहिए ॥७॥

इसी प्रकार दिन के जो पूर्वाह्न, मध्याह्न व अपराह्न रूपी तीन भाग हैं, उनमें 'अपराह्ने में ही पितरों को हवि दी जाती है। क्योंकि पूर्वाह्ने में सौर-तेज वर्धिष्णु है और वर्धिष्णु सौरतेज में देवताओं की सत्ता है। जैसा कि 'उपचयभाजो वै देवा:' इस श्रुति से सिद्ध है। अपराह्न में सौरतेज ह्रासोन्मुख अर्थात् क्षयोन्मुख है। 'अपचयभाजो वै पितर:' इस श्रुति के अनुसार ह्रासोन्मुख सौरतेज में पितरों की सत्ता है। जो सौरतेज न वर्धिष्णु होता है और न क्षयोन्मुख उस सौरतेज में मनुष्यों की सत्ता है। अतः क्षयोन्मुख सौरतेजो-युक्त अपराह्न में पितरों की सत्ता होने से अपराह्न में ही देनी चाहिए ॥८॥

वह यजमान दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञसूत्र धारण कर गार्हपत्य के पश्चिम भाग में प्राचीनवीती होकर दक्षिणाभिमुख बठ कर पितृयज्ञ के लिए निर्वाप के लिए रखे हुए व्रीहिपूर्ण शकट से हवि लेता है।[२] तत्पश्चात् वहीं से दक्षिणाग्नि के उत्तर में दक्षिणाभिमुख खड़ा होकर उस व्रीहि को कूटता है[३] तथा एक बार उसका फलीकरण (वितुषीकरण) करता है।[४] क्योंकि जिन प्रेतपितरों को हवि दी जा रही है वे सकृत्स्वभाव वाले हैं। प्रेत पितर यदि एक बार चले गये तो चले ही गये, उनको देवप्राण की तरह पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रेतपितरों के इस सकृत्स्वभाव के कारण एक ही बार व्रीहि का फलीकरण किया जाता है ॥९॥

पश्चात् उन तण्डुलों को स्थाली में रख कर उनको दक्षिणाग्नि में पकाता[५] है। पक्व तण्डुलों में आज्य (घृत) डालता है। देवताओं के लिए अग्नि में आज्य देते हैं, मनुष्यों के लिए अग्नि पर से उतार कर आज्य प्रदान करते हैं।

---

१. अपराह्णे पिण्डपितृयज्ञः, चन्द्रादर्शनेऽमावास्यायामिति। (का० श्रौ० सू० ४।१)

२. अपरेण गार्हपत्यं चरुमपूर्णं स्रुवं स्रुचं वा तूष्णीं गृहीत्वा ॥ इति। (का० श्रौ० सू० ४।४)

३. अपरेण गार्हपत्यं चरुमपूर्ण स्रुचं वा तूष्णीं गृहीत्वोत्तरेण दक्षिणाग्निमवहन्ति तिष्ठन्।
(का० श्रौ० सू० ४।४)

४. सकृत्फलीकरोति। (का० श्रौ० सू० ४।५)

५. 'दक्षिणाग्नौ श्रपणं होमश्च। (का० श्रौ० सू० ४।२)

तथा पितरों को अग्नि पर रखे हुए ही आज्य दिया जाता है। अतः अग्नि पर रखे हुए तण्डुलों में ही घृत डालता है ॥ १०॥

वह उसे ठण्डा कर देवताओं के लिए दो आहुति अग्नि में देता है। अर्थात् अग्नि एवं सोम के लिए दो आहुति[1] देता है। वह देवलोक में देवताओं के पास जाता है जो कि आहिताग्नि होता है और दर्शपूर्णमास याग करता है। जो उपर्युक्त देवाहुति प्रदान न कर पितृयज्ञ करता है, वह देवताओं से पृथक् हो जाता है। अतः इस पितृजन्य अपराध को शान्त करने के लिए देवताओं की आज्ञा लेकर पितृयज्ञ करना उचित है। इसीलिए पक्व चरु में घृत मिला कर उसे ठण्डा कर पहिले देवताओं को (अग्नि व सोम को) दो आहुति अग्नि में देता है ॥११॥

वह यजमान अग्नि तथा सोम के लिए आहुति देता है। अग्नि के लिए हवि इस कारण दी जाती है कि अग्नि संसार के पदार्थमात्र में अनुप्रविष्ट है। अग्नि के बिना किसी भी पदार्थ व कर्म का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता। सोम के लिए हवि इस प्रयोजन से दी जाती है कि सोम पितृदेवत्य है। अतः अग्नि व सोम दोनों को आहुति दी जाती है ॥१२॥

वह यजमान 'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा' 'सोमाय पितृमते स्वाहा' इन मन्त्रों को बोल कर दोनों को आहुति देता है। तदनन्तर अग्नि में प्रादेश (१० अंगुल) परिणाम की एक मेक्षण (वह समिधा जिससे चरुस्थ हवि को लेकर आहुति दी जाती है) अग्नि में डालता है। यह मेक्षण (समिधा) स्विष्टकृत् का भाग है। देवयज्ञ के अन्त में स्विष्टकृत् याग दुरिष्ट-निवारणार्थ किया जाता है। यहां स्वतन्त्र स्विष्टकृत् याग न कर उसको प्रतिकृतिरूप में मेक्षण समिधा का आधान किया जाता है। तदनन्तर दक्षिणाग्नि के[2] दक्षिण भाग में, पितरों के लिए वेदिनिर्माणार्थ, वहाँ की भूमि का सकृत् (एक यत्न से) उल्लेखन करता है। भूमि का यह सकृत् उल्लेखन पितरों के लिए वेदनिर्माण है। प्रेत-पितर सकृत्त्व धर्म वाले हैं क्योंकि प्रेतपितर जाने के बाद लौटते नहीं। अतः भूमि का एकबार ही उल्लेखन किया जाता है।

१. श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोति अग्नय इति सोमायेति च। (का० श्रौ० सू० ४।६)

२. प्रास्य तद्दक्षिणेनोल्लिखत्यपहता इत्यपरेण वा। (का० श्रौ० सू० ४।७)

पश्चात् पितृवेदि के पश्चिम भाग में उल्मुक (जलते हुए काष्ठ) को रखता है। यदि उल्मुक बिना रखे पितृयज्ञ किया जायगा, तो उसे असुर व राक्षस नष्ट कर देंगे। असुरप्राण प्रकाशविरोधी है। और अग्नि में इन्द्रप्राण (प्रकाश) की सत्ता है। अत: उस प्रकाशप्राण के द्वारा असुरप्राणों के विनाश के लिए उल्मुक का निधान किया जाता है ।।१४।।

वह यजमान—

'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान् लोकान् प्रणुदात्यस्मात् ।।'
(का. श्रौ. सू. २।३०)

इस मन्त्र से उल्मुक को रखता है। अग्नि राक्षसों का विनाशक है। अतः उल्मुक रखा जाता है ।।१५।।

पश्चात् उदकपरिपूर्ण पात्र लेकर 'असाववनेनिक्ष्व' अर्थात् दिये जाने वाले पिण्ड को खाने के लिए अपने हाथ धो लीजिए'। इस मन्त्र से यजमान के पिता पितामह और प्रपितामह के हस्तक्षालन के लिए जल देता है। जैसे भोजन करने वाले को हस्तक्षालन के लिए जल दिया जाता है, उसी प्रकार पितरों को पिण्डदान से पूर्व हस्तशुद्ध्यर्थ यह जल दिया जाता है। 'असावनेनिक्ष्व' इस मन्त्र को पिता, पितामह तथा प्रपितामह तीनों के नाम के साथ लगा कर तीन बार उच्चारण करना चाहिए[2] ।।१६।।

इसके बाद उस पितृवेदि पर एक प्रयत्न से (एक झटके से) काटी गई मूल भाग के पास खण्डित कुशाग्रों को रखता है[3]। प्रत्येक पदार्थ में देव, मनुष्य व पितर तीनों की सत्ता रहती है। पदार्थ का अग्र भाग देवताओं का, मध्य भाग मनुष्यों का तथा मूल भाग पितरों का होता है। अतः मूल भाग से खण्डित कुशायें पितृयज्ञ में ली जाती हैं। प्रेत पितरों का सकृत्स्वभाव (सकृत्त्व)

---

१. उदपात्रेणावनेजयत्यपसव्यं सव्येन नोद्धरणसामर्थ्यात्। (का० श्रौ० सू० ४।६)

२. 'असावनेनिक्ष्वेति यजमानस्य पितृप्रभृति त्रीन्। (का० श्रौ० सू० ४।१०)

३. 'उपमूलं सकृदाच्छिन्नानि लेखायां द्धत्वा यथा वनित्यं पिण्डान् ददात्यसावेतसे इति।
(का० श्रौ० सू० ४।११)

उनका असाधारण धर्म है अतः पितृकार्य में सकृत् आच्छिन्न कुशायें काम में ली जाती हैं ॥१७॥

उन कुशाग्रों को दक्षिणाभिमुख होकर बिछाता है। उस परिस्तृत कुशा पर पिण्ड देता है। उस पिण्ड को इस प्रकार से अर्थात् अंगुष्ठ तथा तर्जनी के मध्यभागरूप पितृतीर्थ से देता है। इस प्रकार अर्थात् अंगुल्यग्र देवतीर्थ से देवताओं को हवि दी जाती है। मनुष्य के लिए जो अन्न दिया जाता है उसे स्थाली से निकाल कर दूसरे पात्र में रख देते हैं। तथा पितरों को अंगुष्ठ तथा तर्जनी के मध्यभागरूप पितृतीर्थ से पिण्ड दिया जाता है। यह सायणाचार्य-संमत अर्थ है। हिन्दी भाष्यकार ने हाथ में अवदान लेकर आगे करते हुए देवताओं को आहुति दी जाती है। मनुष्यों को नीचे के हाथ करके दी जाती है तथा पितरों को दक्षिण हाथ से दक्षिण दिशा की ओर झुक कर पिण्ड दिया जाता है। यह अर्थ किया है ॥१८॥

वह यजमान 'असावेतत्ते' यह मन्त्र बोल कर तथा 'ये च त्वामनु' अर्थात् जो तुम्हारे अनुयायी हैं यह मन्त्रशेष कह कर अनुयायियों सहित यजमानपितर को पिण्ड देता है। ऐसा कतिपय याज्ञिक (सामवेदी) कहते हैं। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसा न कहें, क्योंकि अनुयायियों के साथ तो वह स्वयं रहने वाला ही है, अतः स्वयं से ही उनका ग्रहण हो जाने से 'असावेतत्ते' इतना ही मन्त्र बोलना चाहिए। यह मन्त्र भी पिता, पितामह, प्रपितामह को पिण्ड देते समय उनका नाम लेकर पृथक् पृथक् तीन बार कहना चाहिए।

पिण्ड देते समय 'अथ पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्' (वा.सं. २।३१) इस मन्त्र का उच्चारण करता है ॥२०॥

यह कह कर पिण्ड की तरफ से अपना मुंह फेर लेता है, क्योंकि पितर मनुष्यों से छिपे रहते हैं। अर्थात् प्राणरूप प्रेतपितर मनुष्यों की दृष्टि से तिरोहित रहते हैं। कतिपय कतिपय याज्ञिकों का मत है कि श्वास रोकने पर जब

१. हे पितरों, तृप्त बनो और अपने भाग को खाओ।

दम घुटने लगता है तब तक मुंह फेरे रहे। क्योंकि जितनी देर श्वास रुक सकता है, पितरप्राण की स्थिति ही उतनी है। किन्तु दूसरों का मत है कि द्वादश क्षणात्मक मुहूर्त्त तक ही मुँह फेरे रहना चाहिए ।।२१।।

पश्चात् पिण्ड के पास पहुँच कर निम्नांकित मन्त्र का जप करना है—

'अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत' इति अर्थात् पितर प्रसन्न हो गए तथा उन्होंने अपने-अपने भाग को खाया। तदनन्तर जलपात्र लेकर 'असाववनेनिक्ष्व' मन्त्र बोलता हुआ क्रमशः पिता, पितामह तथा प्रपितामह के मुखशोधन के लिए जल देता है। यह कार्य वैसा ही है जैसा भोजन कर चुकने के बाद भोक्ता पुरुष को मुख-प्रक्षालन के लिए जल दिया जाता है ।।२३।।

पश्चात् परिधानीय वस्त्र के छोर को शिथिल कर पितरों को नमस्कार करता है। नीवीविस्रंसन का कारण बतलाते हैं कि नीवी पितृ-देवत्या है। अतः नीवी को शिथिल कर के नमस्कार करता है। यज्ञ ही नमस्कार है। अतः नमस्कार करता हुआ पितरों को याज्ञिक बनाता है। ६ बार नमस्कार करता है क्योंकि ऋतु ६ होती हैं। और ऋतु ही पितर हैं। तदनन्तर 'गृहान्नः पितरो दत्त' इस आशीर्मन्त्र का उच्चारण करता है। पितरों से गृह-कामना इसलिए करता हैं कि पितर ही गृहस्वामी है। यह पिण्डपितृयज्ञरूप कर्म की फलप्रार्थना है।

तदनन्तर पिण्डों को हाथ में लेकर सूंघता है। यह अवघ्राण पिण्डपात्र में पिण्डों को रख कर करना चाहिए। यह चार पिण्डों का अवघ्राण यजमान का भाग है। पश्चात् सकृदाच्छिन्न कुशाग्रों को अग्नि में डाल देता है। और उसके बाद उल्मुक (जलते हुए काष्ठ) को भी अग्नि में ही डाल देता है ।।२४।।

इति पिण्ड पितृ यज्ञः

अथ पिण्डपितृयज्ञब्राह्मणम्

अथ पिण्डपितृयज्ञरहस्यम्

(भाष्य) अग्निहोत्र प्रकरण की समाप्ति के बाद क्रमप्राप्त प्रतिमास अमावास्या के दिन होने वाले पिण्डपितृयज्ञ का उपादान करते हुए, उसके प्राकृतिक रहस्य का निरूपण किया जा रहा है।

संसार में जितने पदार्थ दिखाई देते हैं उनमें ब्रह्म, प्रजापति और प्रजा ये तीन भाग होते हैं। निष्कल तथा निरञ्जन तत्व जिसे कि सर्वबलविशिष्ट रस भी कह सकते हैं, ब्रह्म कहलाता है। इस ब्रह्मतत्वरूपी आलम्बन पर ही प्रजापति (आत्मा) अपनी स्थिति रखता है। अव्यय-अक्षर-क्षरसमष्टिस्वरूप प्रकृतिविशिष्ट (क्षराक्षरविशिष्ट) त्रैधातव्य पुरुष ही प्रजापति है। जो कि ब्रह्मतत्व के आधार पर रहता है। इस प्रजापति को अव्यय, अक्षर, क्षर की कलाओं तथा परात्पर के कारण षोडशी पुरुष भी कहते हैं। प्रकृतिविशिष्ट षोडशकल पुरुष प्रजापति यावन्मात्र पदार्थों में रहता है। इसीलिए—'षोडशकलं वा इदं सर्वम्'—यह कहा जाता है। इस प्रजापति का अक्षरभाग आत्म, विकार एवं यज्ञ भेद से तीन प्रकार है। यह पहिले बताया जा चुका है।

पूर्वोक्त तीनों क्षरों में, आत्मक्षर की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम ये कलायें हैं। यह आत्मक्षर अक्षर प्रजापति का आधा शरीर माना जाता है। अतः यह प्रजापति में ही अन्तर्भुक्त है। अर्थात् अमृत अक्षर के सहवास से मर्त्य क्षर मरने नहीं पाता। इसीलिए इसे आत्म-क्षर कहते हैं। इसीलिए प्रजापति का स्वरूप बतलाते हुए श्रुति कहती है—

'अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत् अर्धममृतम्।'

इन तीनों में अव्यय संसार का निमित्त कारण, अक्षर असमवायिकारण तथा क्षर समवायिकारण (उपादान कारण) है। यद्यपि सृष्टि क्षर से ही होती है तथापि क्षर, अक्षर के साथ संपृक्त है। इसी अभिप्राय से श्रुति में अक्षर से सृष्टि बतला दी जाती है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥'

निष्कर्ष यही है कि प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही प्रजापति कहलाता है जो कि ब्रह्म-आलंबन पर स्थित है। इस प्रजापति में मायाबल के कारण हृद्‌बल उत्पन्न होता है। इसके उत्पन्न होते पुरुष प्रजापति पर अक्षर द्वारा चयन कराने वाली उक्थ, अर्क, अशित्यात्मक अशनाया (बुभुक्षा) बल उत्पन्न होता है। इस अशनाया व्यापार के कारण उन क्षर कलाओं से क्रमशः प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद व अन्न—ये पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होते ही ये पाँचों पाँचों में आहुत हो जाते हैं। इसीलिए इस यज्ञ को सर्वहुतयज्ञ कहते हैं। इन्हीं पञ्चीकृत स्वरूप पाँच यज्ञक्षरों से ही आगे की सारी सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ।।'

पूर्व में जिन पाँच यज्ञक्षरों का निरूपण किया है – वे ही निम्नलिखित पाँच मण्डलों के नाम से व्यवहृत होते हैं—प्रकृतिविशिष्ट-पुरुषप्रजापतिस्वरूप अश्वत्थ वृक्ष की यह पञ्चमण्डलात्मिका पञ्चपुण्डीरा एक बल्शा (टहनी) कहलाती है। इस प्रजापति का मूल ऊपर है अर्थात् अमृत भाग ऊपर है व मर्त्य भाग अधः है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।'

पूर्वोक्त पाँचों मण्डलों में देवता, असुर, पितर, गन्धर्व, मनुष्य एवं पशु—ये ६ प्रजायें उत्पन्न होती हैं। जिनसे ये प्रजायें उत्पन्न होती हैं उन मण्डलों के नाम निम्नाङ्कित हैं—

१.	स्वयम्भूमण्डल	(प्राणमण्डल)	ब्रह्म का विकार
२.	परमेष्ठिमण्डल	(आपोमण्डल)	विष्णु का विकार
३.	सूर्य्यमण्डल	(वाङ्मण्डल)	इन्द्र का विकार
४.	पृथिवीमण्डल	(अन्नादमण्डल)	अग्नि का विकार
५.	चन्द्रमण्डल	(अन्नमण्डल)	सोम का विकार

स्वयम्भूमण्डल की प्रजा को 'ऋषि' कहते हैं। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दरहित, स्थानानवरोधी, सर्वतः व्यापक जो एक मौलिक तत्व है, उसे ऋषि कहते हैं। सृष्टि का मौलिक तत्व यही ऋषिप्राण है। जिसमें प्राण रहता है वह वस्तु सत् कहलाती है। प्राण में प्राण रहता नहीं अतः मौलिक इस ऋषिप्राण को असत् कहा जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'असद्वा इदमग्र आसीत् । तदाहुः किं तदासीदिति । ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत् । तदाहुः-के ते ऋषय इति ।' प्राणा वा ऋषयः । ते यत् पुराऽस्मात् (जगत्प्रपञ्चात्) सर्वस्मात्, इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषँस्तस्मात् ऋषयः ।।' (शत. ६ का. १ ब्रा. १ क.)

ऋषिप्राण कितने प्रकार के हैं ? इसके लिए श्रीगुरुप्रणीत 'ऋषिरहस्य' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

विजातीय ऋषिप्राणों का जब योग होता है, तब पितर-सृष्टि होती है। यह सृष्टि परमेष्ठिमण्डल में रहती है। स्वयम्भूमण्डलस्थ-सृष्टि मानसिक सृष्टि कहलाती है, तथा पितृसृष्टि मैथुनी सृष्टि कहलाती है। परमेष्ठिमण्डल से ही मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ होता है। हमें यज्ञ में दैवात्मा का प्रजनन करना है, तथा प्रजनन-क्रिया का प्रारम्भ सर्वप्रथम

परमेष्ठिमण्डल से ही होता है, इसलिए यज्ञ में सर्वप्रथम 'अपां प्रणयन' किया जाता है। इसके बाद पितृप्राणों के योग से देवसृष्टि उत्पन्न होती है, जो कि सूर्यमण्डल में रहती है। असुरसृष्टि भी इन्हीं पितरों से होती है। अन्तर दोनों में यह है कि असुर सूर्यविरोधी है, अतएव ये परमेष्ठिमण्डल में रहते हैं एवं देवता सूर्यमण्डल में रहते हैं। इन देव व असुरों से ही आगे की सारी सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥'

निष्कर्ष यह है कि सारी प्रजायें इसी प्रकृतिविशिष्टपुरुष रूप प्रजापति पर रहती हैं। इन सबका स्तम्भन कर भगवान् प्रजापति स्थिर रहते हैं। इसीलिए कहा जाता है—

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा।

जिस प्रकार लोहे से पैदा होने वाला जंग लोहे के चारों ओर ही रहता है, जिस प्रकार दूध से उत्पन्न मलाई दूध के चारों ओर रहती है, जिस प्रकार पानी से उत्पन्न होने वाले फेन पानी पर ही रहते हैं उसी प्रकार प्रकृतिविशिष्ट पुरुषप्रजापति से उत्पन्न प्रजा प्रजापति के ही अनुगत रहती है। इसीलिए 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह कहा जाता है।

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म, प्रजापति और प्रजा—ये तीन वस्तुएँ रहती हैं। ब्रह्म के आधार पर प्रजापति रहता है और प्रजापति के अनुगत प्रजा रहती है। प्रजा शब्द से देवता व भूतों का ग्रहण है। 'देवाः' कहने से भूत का भी ग्रहण हो जाता है। पार्थिव पदार्थों को भूत व सौर पदार्थों को देवता कहते हैं। सभी पार्थिव पदार्थों में देवप्राण की सत्ता रहती है। सौरप्राण के बिना भूत की स्थिति नहीं रहती एवं बिना भूत के प्राण नहीं रहते। भूत और प्राण दोनों परस्पर अविनाभूत है। इसी कारण से 'देवाः' इससे भूत व देवता दोनों का ग्रहण हो जाता है एवं 'भूतानि' कहने से देवता व भूत दोनों का ग्रहण होता है। दोनों ही प्रजापति की प्रजा हैं इसीलिए श्रुति में कहा गया है—'प्रजा वै द्विविधा दैवतानि च भूतानि च' इति।

इसी परिभाषा के अनुसार 'प्रजा' से ६ प्रजाओं का ग्रहण होता है। कई स्थल श्रुतियों में ऐसे हैं जिनमें पठित प्रजा शब्द से ६ओं प्रजाओं का ग्रहण होता है। अभी बतलाया गया है कि भूत पार्थिव पदार्थों को कहते हैं। परन्तु दूसरी परिभाषा के अनुसार 'भूत' का उत्पन्न अर्थ भी होता है। अखिल विश्व में प्रजापति से उत्पन्न प्रजा को भूत

कहा करते हैं। प्रकृत में 'भूतानि' शब्द से पार्थिव प्राण का ग्रहण न समझ कर उत्पन्नानि अर्थ का ग्रहण समझना चाहिए। प्रजापति की जो ६ उत्पन्न प्रजायें हैं उन्हीं का 'भूतानि' शब्द से यहां ग्रहण है। उन प्रजाओं के नाम निम्नाङ्कित हैं—

१. देवाः	४. असुराः	देवाननु असुराः
२. पितरः	५. गन्धर्वाः	पितॄननु गन्धर्वाः
३. मनुष्याः	६. पशवः	मनुष्याननु पशवः

यहां भूत शब्द से पार्थिव पदार्थ मात्र का ग्रहण न कर लिया जाय, अपितु देवासुर आदि ६ प्रजाओं का ग्रहण किया जाय, इसीलिए भगवान् याज्ञवल्क्य—'प्रजापतिं वै भूतानि उपासीदन्'—यह कहकर 'प्रजा वै भूतानि' इसके द्वारा 'भूतानि' का अर्थ प्रजा करते हैं। पूर्व में बतला दिया गया है कि प्रजापति का शरीर स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र व पृथिवी—एतत्पञ्चमण्डलात्मक है। इन पांचों में सूर्य के ऊपर के स्वयम्भू व परमेष्ठी—ये दो मण्डल अमृत कहलाते हैं तथा पृथिवी और चन्द्र ये सूर्य के नीचे के दो मण्डल मर्त्य कहलाते हैं। सूर्य अपने से नीचे मण्डल वाले पदार्थों के प्राणों को खींचता है अतएव वह मृत्यु कहलाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'तद्वा एष मृत्युः य एष तपति। तद्यदेष एव मृत्युस्तस्मात् या एतस्मादर्वाच्यः प्रजास्ता म्रियन्ते।' शत. ६४, पृष्ठ ५ कण्डिका।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि पृथिवी व चन्द्रलोक में अमृतभाग है ही नहीं, वह बिन्दु-बिन्दु पर व्याप्त है। परन्तु वह स्वतन्त्र है। उसकी पकड़ में हम नहीं हैं। हम तो मृत्युरूप पृथिवी की (मृत्यु की) पकड़ में हैं। इसीलिए अपनी अपेक्षा से इसे मृत्युलोक कहा है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि स्वयम्भू आदि पांच लोकों में से सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा इन तीन लोकों का ही पिण्ड-पितृयज्ञ से सम्बन्ध है। हमारी आत्मा का सम्बन्ध पृथिवी, सूर्य व चन्द्र इन तीनों से है। पार्थिव, सौर एवं चान्द्रप्राण से ही मनुष्यसृष्टि होती है। चान्द्रप्राण को सौम्यप्राण, पृथिवी प्राण को पार्थिव प्राण एवं सौरप्राण को आग्नेय प्राण कहते हैं। इन्हीं तीनों को प्राण, व्यान, अपान भी कहते हैं। प्राण सूर्य स्थानापन्न है इसीलिए सूर्य के लिए—'प्राणः प्रजानामुदय येष सूर्यः' यह कहा जाता है। व्यान अंतरिक्ष की चीज है, अपान पृथिवी की वस्तु है। व्यान अन्तरिक्ष की वस्तु है और अन्तरिक्ष में सोम भरा रहता है। सोम (अन्न) ही मनुष्य का भोज्य है। बिना सोम के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। पार्थिव और सौर इन दोनों प्राणों की स्थिति इस व्यान (आन्तरिक्ष्य सोम) से रहती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ' ।।

इसीलिए व्यान को शरीर में व्याप्त बतलाया जाता है—'व्यान: सर्वशरीरग:' इति। तात्पर्य यह है कि पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तोन लोक ही हमारी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं । हमारा आत्मा इन तीनों को छोड़ कर कभी भी बाहर नहीं जा सकता। इन तीनों में से किसी एक लोक में हमारा आत्मा रहता है ।

सूर्य, चन्द्र और पृथिवी इन तीनों से हमारा आत्मा बनता है । चूंकि तीनों में भिन्न-भिन्न जातीय पदार्थ हैं । अतएव आत्मा भी तीन ही बनते हैं । सौरप्राण का जितना हिस्सा हमारे पास आता है, उससे विज्ञानात्मा बनता है । ज्ञान का विभाग इसी विज्ञानात्मा के अधीन रहता है । चान्द्रप्राण से महान् आत्मा बनता है । जिसके लिए कि श्राद्ध किया जाता है । यह महान् आत्मा आकृति, प्रकृति और अहंकृति भेद से तीन प्रकार का होता है। आकृति कुल चौरासी लाख है । अर्थात् कुल भ्रूण चौरासी लाख तरह के हैं । मनुष्यादि भिन्न-भिन्न जा तयों के भिन्न-भिन्न भ्रूण होते हैं । उसी महान् आत्मा में प्रकृति और अहंकृति ये दो भाव भी शामिल रहते हैं । अत: मनुष्यों में भ्रूणैकत्व होने पर भी प्रकृति और अहंकृति (इन्द्रिय-सामर्थ्य) समान नहीं होती । यह प्रकृति सत्व, रज, तम भेद से तीन प्रकार की है । पार्थिव प्राण से जो आत्मा बनता है उसे प्रज्ञानात्मा कहते हैं। इस प्रकार से प्रज्ञान, महान् और विज्ञान ये तीन आत्मा हमारे शरीर में रहते है। परन्तु इतना ध्यान रहे कि विज्ञान और महान् दोनों प्रज्ञान के अधीन रहते हैं । चूंकि हम पृथिवी पर रहने वाले हैं, अत: पृथिवी के आकर्षण से हम आकर्षित रहते हैं । इसीलिए विज्ञान और महान् को उस पार्थिव प्राण से निष्पन्न प्रज्ञानात्मा के अधीन रहना पड़ता है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिए कि जिन तीन लोकों का वर्णन किया गया है वे तीनों, तीनों में मिले रहते हैं अर्थात् तीनों प्राण तीन लोकों में बिन्दु-बिन्दु पर व्याप्त हैं। तीनों परस्पर सर्वथा अविनाभूत हैं ।

तात्पर्य यह है कि तीनों लोक स्वस्थान में तो ही हैं, परन्तु प्रत्येक लोक में भी तीनों लोक विद्यमान है । इसी पृथ्वी लोक में जहां पर कि हम विद्यमान हैं, तीनों प्राण है। प्राणसत्ता से चूंकि लोकसत्ता मानी जाती है, अतएव हम कह सकते हैं कि इसी पृथ्वी पर तीनों लोक हैं । हमने बतलाया है कि हमारी पकड़ पृथ्वी से ज्यादा है । इसीलिए यदि हम ऊपर छलांग मारना चाहते हैं, तो पृथ्वी के आकर्षण से हम धड़ाम से नीचे आ गिरते हैं । हमारे पास सूर्य का रस भी मौजूद है । इसीलिए हम तने हुए खड़े रहते हैं। परन्तु जब वह सूर्य का रस (विज्ञानात्मा) निकल जाता है, तो शरीरयष्टि एकदम गिर जाती है तात्पर्य यह है कि हम प्रज्ञान (पृथिवी) की पकड़ में हैं। अतएव हम मनुष्यों के प्रज्ञान के

अधीन विज्ञान और महान् को रहना पड़ता है। यज्ञविद्या नामक उपाय से ही हम इस पार्थिव पकड़ से मुक्त हो सकते हैं। वैध उपायों से दिव्याग्नि (सौरप्राण) को आत्मसात् कर उसमें बलाधान करना पड़ता है। इस प्रकार से जो विज्ञान प्रज्ञान के अधीन था, वही यज्ञ के प्रभाव से प्रज्ञान के और महान् के ऊपर सवार हो जाता है। पृथ्वी की पकड़ से वह अलग हो जाता है एवं सूर्य के आकर्षण से आकर्षित हो जाता है। पृथ्वी की पकड़ से छूट गया—इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमारा शरीर ही आत्मा से अलग हो गया। वस्तुतः आत्मा शरीर ही में रहता है क्योंकि पूर्वजन्मकृत प्रारब्धकर्म क्षयपर्यंत पकड़ छूट जाने पर भी शरीर में आत्मा को रहना ही पड़ता है। इसीलिए भगवान् व्यास कहते हैं—

'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्।'

पकड़ छूट जाने का तात्पर्य यही है कि पृथ्वी के अधीन उनका आत्मा नहीं रहता अर्थात् प्रज्ञान की पकड़ में विज्ञान नहीं रहता अपितु विज्ञान की पकड़ में प्रज्ञान रहता है। प्राणाकर्षण से ही लोकान्तरगमन व्यवस्था बन जाती है। पृथ्वी में ही तीनों प्राण (तीनों लोक) विद्यमान हैं। यदि हम पार्थिव प्राण के नियन्त्रण में हैं तो पृथ्वीलोक में हैं। यदि चान्द्रप्राण की (महान् आत्मा) की पकड़ में हैं तो चन्द्रलोक में हैं और यदि हम सौर-प्राण के आकर्षण में हैं तो सूर्यलोक में हैं। तात्पर्य यही है कि प्राणाकर्षणभेद मात्र से इसी लोक में तीनों लोकों का व्यवहार हो जाता है। यज्ञ करके यदि हम पार्थिव प्राणाकर्षण पर विजय प्राप्त कर सौरप्राण के आकर्षण में चले गये तो इस पृथ्वीलोक में रहते हुए भी हम (लोकान्तर में) सूर्यलोक में चले गये। इसी अभिप्राय से यज्ञ के अन्त में प्रार्थना की जाती है—

'सत्रस्य ऋद्धिरसि'

पूर्वोक्त श्रुति में कहा गया है कि मैं ज्योति को प्राप्त हो गया—मनुष्य से देवता बन गया। इसका तात्पर्य यही है कि मैं पार्थिव पकड़ से छूट गया। रात्रि में चान्द्रप्रकाश इस लोक में आ जाता है अर्थात् चान्द्रप्राण का सम्बन्ध इस लोक से हो जाता है परन्तु दिन में वह लोकान्तरित हो जाता है। अर्थात् पृथ्वी के साथ सूर्यप्राण का सम्बन्ध हो जाता है एवं चान्द्रप्राण का अपने आप में हो रहता है। इसीलिए दिन में कहा जाता है—चन्द्रमा लोकान्तर में चला गया। शबरस्वामी ने इस विज्ञान को नहीं समझ कर चन्द्रमा लोकान्तर में चला गया—इसे अर्थवाद (प्रशंसा मात्र) परक माना है। उनके विचार से चन्द्रमा लोकान्तर में नहीं गया। किन्तु यह भ्रान्ति उनको लोक शब्द का यथार्थ न जानने से हुई है। वस्तुतः तीनों लोकों की सत्ता प्राण-सम्बन्ध से इसी लोक में है। अन्यथा इसी लोक में बैठे हुए हम 'सत्रस्य ऋद्धिरसि' यह प्रार्थना न करते। इससे यह भी स्पष्ट

मालूम देता है कि शबरस्वामी के समय में भारतीय विज्ञान लुप्त हो चुका था। हमें यहां केवल इतना ही बतलाना है कि पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य इन तीनों मण्डलों से हमारा सम्बन्ध है क्योंकि हमारा आत्मा इन तीनों से बनता है। जो यज्ञ नहीं करता है उसका प्रज्ञानात्मा महान् की पकड़ में रहता है। एवं जो यज्ञ करता है उसका प्रज्ञान विज्ञान की पकड़ में रहता है। पार्थिवाकर्षण छूट जाने पर अर्थात् शरीर पतन हो जाने पर वह विज्ञान के अधीन रहने वाला प्रज्ञान सीधा स्वर्ग में चला जाता है। एवं अहिताग्नि का आत्मा सदा महान् के साथ सदा चन्द्रमा में जाकर बाद में कर्मगति भोगने के लिए निकल जाता है। जो जहां की वस्तु होती है, वह वहीं जाती है—यह सिद्धान्त है। अग्नि सूर्य की वस्तु है, अतः उसकी ज्वाला सदा ऊपर जाती है। चूंकि महान आत्मा चन्द्रमा के रस से बना है। अतः शरीर को पकड़ से पृथक् होते ही इसे चन्द्रमा में जाना पड़ता है। मूर्ख से मूर्ख तथा विद्वान् से विद्वान् सभी का महान् आत्मा चन्द्रमा में जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'ये वै के च अस्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति'।

प्रसङ्गागत आत्मविषयक कुछ निरूपण कर अब प्रकृत का अनुसरण किया जाता है। पूर्वोक्त कथन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रजापति की प्रजा देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, पितर एवं पशु है। हमारा सम्बन्ध सूर्यलोक, चन्द्रलोक एवं पृथ्वीलोक तीनों से है। देवता सूर्य की, पितर चन्द्रलोक की एवं मनुष्य पृथ्वीलोक की वस्तु है। लोक तथा प्रजाओं को निम्न लिखित क्रम से विभक्त कर देना चाहिए—

देवाननु असुराः।	देवलोकः—	सू.	प्राण	द्यौ
पितॄननु गन्धर्वाः।	पितरलोकः—	चन्द्र	व्यान	अन्तरिक्ष
मनुष्याननु पशवः।	जीवलोकः—	पृथि	अपान	पृथिवी

गन्धर्व प्राण का पिण्ड पितृयज्ञ से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः उसे छोड़ दिया गया है। केवल देवता, पितर, मनुष्य असुर और पशु—इन पांच प्रजाओं का ग्रहण किया गया है अर्थात् वस्तुतः तीन लोक हैं और उनकी प्रधान प्रजा देवता, पितर और मनुष्य है। असुर, गन्धर्व और पशु तीनों गौण हैं। उस प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति की यही प्रजा है। यह प्रजा एक बार भगवान् प्रजापति के पास अन्न-याचना करने के लिए गयी और आकर उसने प्रजापति से कहा—हे प्रजापते ! आप हमारे लिए अन्न प्रदान करने का कोई नियम बना दीजिए जिससे हम जीवन धारण कर सकें। पहिले बता दिया गया है कि प्रकृतिविशिष्ट पुरुष प्रजापति है जो कि आत्मा इस नाम से प्रसिद्ध है। इस आत्मा से उपर्युक्त पाँचों प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। पाँचों के उदर में अशनया (बुभुक्षा) बल है। इसलिए हर समय इस प्रजा को हर समय अन्न खाने की इच्छा बनी रहती है। जिस

प्रकार एक ही सूर्य अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्बित रहता है उसी प्रकार यह व्यापक प्रजापति सम्पूर्ण प्रजाओं के केन्द्र में प्रतिबिम्बित रहता है। प्रत्येक का प्रजापति (आत्मा) भिन्न-भिन्न है। आत्मा अमृत है, उसे बुभुक्षा नहीं लगती परन्तु प्रजा इस आत्मा का शरीर है, उसे अवश्य भूख लगती है। शरीरस्थ अग्नि इन्द्र अक्षर के द्वारा बाहर निकला करता है, साथ ही विष्णु–अशनाया द्वारा बाहर से अन्न का आहरण कर क्षति की पूर्ति किया करता है। यदि अन्नाहुति न होती तो शरीरस्थ अग्नि शरीर को जला कर स्वयं भी शान्त हो जाता। यह पुरुषप्रजापति षोडशकलात्मक है। पांच कलायें अव्यय की, ५ अक्षर की एवं ५ क्षर की होती हैं। अक्षर की पांच कलाएँ—ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र इन तीनों का एक विभाग है—ये तीनों हृद्य हैं एवं अग्नि और सोम का एक विभाग है। यह अग्नि विष्णु द्वारा २१ तक आक्रमण करता है, अतएव विष्णु को त्रिविक्रम कहते हैं। बतलाना यही है कि उसी अव्यय आलम्बन पर ये ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र रहते हैं। ब्रह्मा प्रतिष्ठा है, इन्द्र विक्षेपणकर्ता है एवं विष्णु आहर्ता है। हम पेट भर कर अन्न खाते हैं परन्तु सुबह फिर खाली। यह पेट जिस शक्ति के द्वारा खाली होता है उसे ही —'इन्द्र' कहते हैं। परन्तु खाली पेट होते ही खाऊँ-खाऊँ, इस प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है और वही इच्छा कोशिश करके अपनी शान्ति करती है। जिससे यह इच्छा-बल अन्न को लाकर उदराग्नि में आहुत करता है, उसी शक्ति को 'विष्णु' कहते हैं। बस यह आदान-विसर्गात्मक क्रिया अनवरत होती रहती है। जो अन्न हम खाते हैं, वह ऊर्क् बनता है। ऊर्क् प्राण में परिणत होता है। प्राण रोमावलियों द्वारा बाहर जाता रहता है एवं बाहर जाकर अन्न के स्वरूप में परिणत हो जाता है। फिर हम उस निकले हुए प्राण की रिक्तता को पूर्ण करने के लिए अन्न खाते हैं। इस प्रकार प्राण, ऊर्क् और अन्न इन तीनों के अनुग्रह से यह आदान-विसर्गात्मक यज्ञ सदा चलता रहता है। इसीलिए श्रुति यज्ञ का लक्षण करती है -

'प्राणोर्गन्नानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः' इति।

यदि आदान-विसर्गात्मक यज्ञ का आलम्बन-अव्यय पुरुष (प्रजापति) न होता तो कथमपि यज्ञ नहीं हो सकता था। उसी प्रजापति के आलम्बन पर इस प्रजा (देव, मनुष्य, पितर) का आदान-विसर्गात्मक यज्ञ होता है—एवं उसीके आधार पर यह जीवित है। उसी प्रजापति के प्रभाव से इन सबको अन्न मिलता है। यदि प्रजापति (आत्मा) निकल जाय तो उसी समय सारी प्रजा उच्छिन्न हो जाय। इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन्। प्रजा वै भूतानि। वि नो धेहि–यथा जीवाम'।

प्रजापति की ओर सारे भूत आए अर्थात् प्रजापति का आश्रय लिया। प्रजा को ही

भूत कहते हैं। उस प्रजा ने कहा कि हे प्रजापते ! आप हमारे लिए अन्नप्रदान करने का कोई ऐसा तरीका निकालिए, जिससे कि हम जीवित रहें।

हमने तीन लोक बतलाए हैं। उसमें सर्वप्रथम देवलोक है, बाद में पितर (चन्द्र-लोक) हैं एवं बाद में जीवलोक (पृथिवी) है। इसी क्रम को बतलाते हुए कहते हैं—

'उन प्रजाओं में से सबसे प्रथम देवता लोगों ने उपवीती बन कर दाहिने जानु को ऊँचा करके प्रजापति की उपासना की। उन देवताओं को प्रजापति ने कहा कि हे देवताओं ! यज्ञ ही तुम्हारा अन्न है। एवं आपके हिस्से में अमृत है, ऊर्क् रस है, एवं तुम्हारी ज्योति सूर्य है।'

आधुनिक ज्योतिषी लोग, जिसे कदम्ब कहते हैं, उसे ही वैदिक महर्षि 'नाक' कहते हैं। उत्तर में ध्रुव से २४ अंश पर वासुकि के पेट में यह कदम्ब बिन्दु है। कदम्ब विष्णु का स्थान माना जाता है, जिसका कि रहस्य बतलाना अप्राकृत होगा। इस उत्तर कदम्ब से ठीक १८० अंश पर दक्षिण कदम्ब है जो कि दक्षिण ध्रुव से २४ अंश पर है।

उत्तर कदम्ब कोई तारा नहीं है, अपितु एक कल्पित स्थान है। इसी स्थान को विष्णुपद कहते हैं। ध्रुव नक्षत्र इसी कदम्ब बिन्दु के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इसीलिए पुराणों में कहा जाता है कि—ध्रुव विष्णु के परिक्रमा लगाते रहते हैं। इसी कदम्ब के लिए श्रुति कहती है—

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।'

महर्षि गौर से उस स्थान को देखा करते थे। इससे साफ मालूम होता था कि वहां कोई तारा नहीं है—अपितु स्थानमात्र है। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इस उत्तर कदम्ब से १८० अंश पर दक्षिण कदम्ब है। इसी कदम्ब को वेद में स्कम्भ (खम्भा) कहा जाता है। इस स्कम्भ के ठीक बीचोबीच ९० अंश दक्षिण-कदम्ब और ९० अंश उत्तरकदम्ब पर भगवान् सूर्य बृहती छन्द पर स्थिर रूप से तप रहे हैं। इसीलिए 'सूर्यो बृहती-मध्यूढस्तपति' यह कहा जाता है। तात्पर्य यही है कि कदम्बद्वय-प्रोत कदम्ब के ठीक बीच में भगवान् सूर्य स्थिर है। इस सूर्य की जो उदक् बिन्दु है अर्थात् उत्तर का अन्तिम सीमान्त है वही नाक कहलाता है। इसी को ऊर्ध्व गति कहते हैं। यदि आत्मा सूर्यभेदन करता हुआ इस कदम्ब पर पहुँच जाता है, तो वह मृत्यु से अतिमुक्त हो जाता है। परन्तु ठीक इसके विरुद्ध यदि दक्षिण कदम्ब की ओर चला जाता है तो उसका उद्धार असाध्य हो जाता है। इसी स्थान के लिए श्रुति कहती है—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः'॥ इति। (ईश० उप०)

बतलाना हमें यही है कि सूर्य कदम्बद्वय के ठीक बीच में है। इसी प्रकार उत्तर ध्रुव

और दक्षिण ध्रुव के ठीक बीच में सूर्य के सम धरातल पर सूर्य से २४ अंश पर पृथ्वी है। ध्रुवद्वय के ठीक बीच में पृथ्वी है। दोनों ध्रुवों में पृथ्वी प्रोत हैं एवं दोनों कदम्बों में सूर्य प्रोत है। पृथ्वी सूर्य से २४ अंश पर है। पार्थिवाग्नि को गायत्री कहते हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए गायत्री मन्त्र के २४ अक्षर बनाये गये है। सूर्य सर्वथा स्थिर है एवं पृथ्वी चल रही है। सूर्य के २४ अंश के व्यासार्ध से वृत्त बना कर पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। यह ३६० दिनों में सूर्य की परिक्रमा कर लेती है। सूर्य उत्तर में अर्थात् उत्तर कदम्ब की ओर है और पृथ्वी सूर्य से दक्षिणभाग में अर्थात् दक्षिण कदम्ब की ओर है। ज्योतिषी सूर्य को जो चल मानते हैं, उनका यह कथन दृश्यमण्डल की अपेक्षा से है। अर्थात् दृश्यमण्डल में सूर्य चल एवं पृथ्वी स्थिर मालूम देती है परन्तु प्रकृति के अनुसार सूर्य स्थिर एवं पृथ्वी चल है। सूर्य को ही देवलोक कहते हैं क्योंकि सूर्य में ही सारे देवता रहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'। इति।

पृथ्वी सूर्य की ओर घूमती है। अर्थात् परिक्रमा करती हुई पृथ्वी की प्रतिबिन्दु उत्तरस्थित सूर्य की ओर झुकती रहती है। पृथ्वी का झुकाव उत्तर की ओर रहता है। पृथ्वी में जो अग्नि है उसका सम्बन्ध सूर्य से एक वर्ष में पूरा हो जाता है। अर्थात् पार्थिवाग्नि वर्ष भर में सूर्य से सर्वात्मना मेल कर लेती हैं। इस प्रकार सूर्य एक वर्ष में पृथ्वी के पदार्थों को अपने में ले लेता है। साथ ही पृथ्वी भी सौर पदार्थों को ले लेती है। इस प्रकार पृथ्वी और सूर्य में परस्पर आदान और विसर्ग होता रहता हैं। इसीलिए कहा गया है—

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।

तात्पर्य यह है कि सौर पदार्थ पृथ्वी में आया करते हैं एवं पार्थिव पदार्थ सूर्य में।

अग्नि का सम्बन्ध सूर्य से होता है। अतएव अग्नि को यज्ञ कहते है तथा संवत्सर अग्नि में वह यज्ञ समाप्त होता है। अतः 'संवत्सरोऽग्निः' यह भी कहा जाता है। इसी संवत्सराग्नि से अखिल पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतएव 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' यह कहा जाता है। इसी यज्ञसूत्र से देवता बंधे हुए हैं। पृथ्वी सूर्य की ओर झुकती हुई परिक्रमा करती है, तो उसका दाहिना हिस्सा ऊपर की ओर उठ जाता है। यदि उत्तर की ओर झुक कर दक्षिण अंग को ऊँचा करके बैठें तो हमारा मस्तक वाम भाग में झुक जायगा। चूंकि पृथ्वी सूर्य की ओर झुकती हुई जाती है, यह देवताओं का उपवीती होना है। आज जिस देवप्राण का सम्बन्ध पार्थिवाग्नि से होता है ठीक ३६० दिन बाद पुनः उसका सम्बन्ध पार्थिवाग्नि से होता है। उस संवत्सराग्नि से देवप्राण बद्ध है। एवं

संवत्सराग्नि को ही यज्ञ कहते हैं। इसीलिए 'यज्ञोपवीतिनः' कहा गया है। पृथ्वी उत्तर की ओर प्रवण होती (झुकती) हुई सूर्य के चौतरफ घूमती है, इससे इस पृथ्वी का दक्षिण भाग ऊँचा रहता है। इसी अभिप्राय से 'दक्षिणं जान्वाच्य' कहा गया है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह हुआ कि सूर्यस्थित देवता यज्ञ (संवत्सराग्नि) सूत्र से बद्ध हैं एवं परिक्रमा करती हुई पृथ्वी उत्तर की ओर प्रवण रहती है। इसी अभिप्राय से 'देवता लोग यज्ञोपवीती होकर दाहिनी जानु को ऊँचा कर प्रजापति के पास प्रार्थना करने के लिए बैठे।' यह कहा गया है।

प्रजापति ने कहा कि तुम्हारा अन्न यज्ञ है अर्थात् संवत्सर में एक बार तुम्हें अन्न मिलेगा। सूर्य के प्रकाशभाग में देवता लोग रहते हैं एवं पृथ्वी का सम्बन्ध उनसे होता रहता है। आज पृथ्वी की अग्नि का, सूर्यस्थित जिस देवता के साथ सम्बन्ध है उसी के साथ ३६०वें दिन वापिस सम्बन्ध होता है। इस प्रकार एक वर्ष में जाकर प्रत्येक देवता अपनी पूरी खुराक लेने में समर्थ होता है। इसी वार्षिक योग को यज्ञ कहते हैं। एवं यही देवताओं का अन्न है। इसी अभिप्राय से 'यज्ञो वः अन्नम्' कहा गया है। देवता को स्वाहा' इस शब्द से आहुति दी जाती है। स्वाहा का अर्थ है—जो आत्मा को व्याप्त कर ले अर्थात् आत्मा पर वेष्टित हो जाय। देवता को जो आहुति दी जाती है वह देवताओं को विकृत नहीं बना सकती, केवल उस पर जाकर व्याप्त हो जाती है। भौतिक पदार्थ ससंग हुआ करते हैं न कि देवता। देवता तो असंग है। जल में नमक डाल देने से जैसे नमक जल में घुल जाता है परन्तु जल विकृत नहीं होता है— जल अब भी स्वस्वरूप से जल ही है। यही बात देवता में समझनी चाहिए। देवता में आहुति से कोई विकार नहीं होता। आहुति देवता पर वेष्टित हो जाती है, उसको विकृत नहीं कर सकती। देवता के स्वरूप को बतलाने के लिए ही—'अमृतत्वं वः' कहा गया है। अन्न के खाने के बाद एक प्रकार का ऊर्क् रस उत्पन्न होता है, वह ऊर्क् रस ही देवता का स्वरूप है। एक हाथी जिसका कि शरीर ४–५ मन का है जिसको कि ५ आदमी भी उठाने में असमर्थ हैं, वह बिना किसी की सहायता से अपने शरीर को इधर-उधर लिए फिरता है। इसी प्रकार जो बल हाथी को इधर-उधर नचाता फिरता है, उसी को ऊर्क् बल कहते हैं।

यह बल पृथ्वी का नहीं, अपितु सूर्य का है। इसी सूर्यबल के कारण पार्थिवाकर्षण होते हुए भी हाथी गिरता नहीं है, चलता रहता है क्योंकि पार्थिवाकर्षण के साथ ही सौराकर्षण भी (ऊर्क् बल) भी उसमें रहता है। जब वह ऊर्क् रस (सौर प्राणस्वरूप आत्मा) निकल जाता है तो उसी समय पृथ्वी का पूरा आकर्षण उसे धड़ाम से नीचे डाल देता है। तात्पर्य यही है कि शरीर को तना हुआ रखने वाला ओजोमूलक बल है उसे ही ऊर्क्

बल कहते हैं। वह देवता (सूर्य) की चीज है। इसी को बतलाने के लिए 'ऊर्वः' यह कहा गया है। सूर्य में ही ये देवता रहते हैं—अतएव 'सूर्यो वो ज्योतिः' यह कहा गया है।

इसी संवत्सरयज्ञ से, ऊर्क् से एवं सूर्यतेज से देवताओं की सत्ता रहती है। इसी विज्ञान को बतलाने के लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्य उपासीदन्। तान् अब्रवीत् यज्ञो वोऽन्नम्। अमृतत्वं वः। ऊर्वः। सूर्यो वो ज्योतिः'।

देवलोक के बाद पितृलोक अर्थात् चन्द्रलोक का क्रम आता है। चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। पृथ्वी जैसे ३६० दिन में सूर्य की परिक्रमा कर लेती है, वैसे चन्द्रमा करीब-करीब २८ दिन में पृथ्वी के चारों ओर घूम लेता है। चन्द्रमा के वृत्त को दक्ष कहते हैं। दक्ष इसलिए कहते हैं कि सोममय चन्द्रमा वहां उस पर घूमता है। सोम का स्वरूप स्नेहन करने का है। जिसमें जितना स्नेहन होता है, उसमें उतनी ही मजबूती आती है। जिस समय जिस स्थान पर चन्द्रमा पृथ्वी के प्रतिदिक् में अर्थात् सूर्य और पृथ्वी के उस पार चला जाता है, उस स्थान को ही दक्षिण दिक् कहते हैं। सूर्य के सम्मुख जब चन्द्रमा रहता है तो सूर्य के प्रखर ताप से सोम विशकलित हो जाता है। अतः सूर्य-सम्मुख रहने वाले चन्द्रमा का सोम चूंकि दक्षता पैदा नहीं कर सकता। अतएव वह दिक् दक्षिण नहीं कहलाती, परन्तु सूर्य के दक्षिण भाग में जाने वाला चन्द्रमा ही दक्षता पैदा करता है, अतएव उसे दक्षिण दिक् कहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि बायें पैर को ऊँचा करके बैठा जाता है तो समस्वस्तिक बिन्दु दक्षिण भाग की ओर झुक जाता है। हमारे पास पितर का आगमन चन्द्रमा के दक्षिण भाग में आने से ही होता है—उत्तर में तो देवता ही उसे खा जाते हैं। जैसे देवताओं की प्रवणता उत्तर में रहती है, एवं उस भाव को बतलाने के लिए 'दक्षिणं जान्वाच्य' कहा गया है, उसी प्रकार पितरों का झुकाव दक्षिण की ओर रहता है। अतएव इस दक्षिण भाग की प्रवणता को दिखलाने के लिए 'सव्यं जान्वाच्य' कहा गया है।

चन्द्रमा के अंश से पृथ्वी का जो हिस्सा आज संयुक्त हुआ है, ठीक एक महीने बाद उसका सम्बन्ध फिर होगा। अर्थात् पितरों को प्रत्येक मास में अन्न मिलता है—यही तात्पर्य है। २८ दिन में चन्द्रमा घूमता है, इसलिए इससे सिद्ध हो जाता है कि पितरों का अहोरात्र ३० दिन का है। कृष्णपक्ष पितरों का दिन है एवं शुक्लपक्ष पितरों की रात्रि है। अमावस पितरों का मध्याह्न है एवं पूर्णिमा अर्द्ध रात्रि है। पितरों को जो अन्न दिया जाता है वह उनमें आकर आसक्त हो जाता है। वह उनका आत्मा बन जाता है। देवता की तरह पितर असंग नहीं हैं अपितु ससंग हैं, विकुर्वद्रूप हैं। पानी में नमक के घुल

जाने के समान देवता का रूप है परन्तु पानी के नमक बन जाने की तरह पितरों की अवस्था है। इसीलिए पितरों के अन्त को 'स्वधा' कहा जाता है—'स्वस्मिन् धत्ते आत्मसात् करोति इति स्वधा'। जैसे देवताओं का बल ऊर्क् है, वैसे ही पितरों का बल मन है अर्थात् हमारे शरीर में प्राण, मन और वाक् ये तीन वस्तुएँ रहती हैं। प्राण का विभाग देवताओं के अधीन, मन का चन्द्रमा के अधीन है। इसीलिए 'मनश्चन्द्रे निलीयते' कहा जाता है। चन्द्रमा में चूंकि पितर रहते हैं, अतएव इनके लिए 'मनो जवो वः' कहा गया है। देवताओं की ज्योति सूर्य है, तो पितरों की ज्योति चन्द्रमा है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्य उपासीदंस्तानब्रवीत् मासि मासि वोऽशनं, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिरिति' ॥२॥

पृथ्वी सूर्य के चारों ओर भ्रमण करती है। जिस मार्ग पर पृथ्वी घूमती है उसे 'क्रान्तिवृत्त' कहते हैं। यह क्रान्तिवृत्त ४८ अंश के परिसर का है। इस ४८ अंश के सात टुकड़े किये जाते हैं. जो कि अहोरात्र नाम से प्रसिद्ध हैं। जिस रेखा पर सूर्य स्थिर है उसे विष्वद्वृत्त कहते हैं। इस विष्वद्वृत्त से क्रान्तिवृत्त को काटते हुए १२-८-४ के अन्तर पर उत्तर में एवं १२-८-४ के अन्तर पर दक्षिण में ३—३ वृत्त बनते हैं। इन्हीं को ज्यौतिष में अहोरात्रवृत्त कहते हैं एवं वेद में गायत्र्यादि छन्द कहते हैं। ये ही सूर्य के ७ घोड़े कहलाते हैं।

हमें यह बतलाना है कि जिस समय पृथ्वी उत्तरायण में आ जाती है तो दक्षिण का भाग ऊँचा हो जाता है एवं उत्तर का झुक जाता है। इस प्रकार जब दक्षिणायन में आती है तो दक्षिणभाग झुक जाता है एवं उत्तर का ऊँचा हो जाता है। अर्थात् दक्षिणायन में पितरों की ओर रहती है एवं उत्तरायण में देवताओं (सूर्य) की ओर रहती है। परन्तु विष्वद्वृत्त पर आ जाती है तो उस समय वह न इधर झुकती है और न उधर झुकती है। उस समय वह न देवताओं की ओर रहती है और न पितरों की ही ओर। उस समय वह अपने स्वरूप मनुष्यलोक में ही रहती है। चूँकि विष्वद् पर आकर वह अपने स्वरूप में आ जाती है अतः उस समय की परिस्थिति से मनुष्यों की स्थिति उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

इसके बाद मनुष्य गले में यज्ञोपवीत को सीधा रखे, सुखासन लगा करके अर्थात् सीधे बैठ कर प्रजापति से प्रार्थना करने लगे। प्रजापति ने कहा कि—हे मनुष्यों! सायं और प्रातः तुम्हें अन्न मिलेगा एवं यह प्रजा अर्थात् पशु (वाक्) तुम्हारे होंगे। एवं मृत्यु तुम्हारे हिस्से में आयेगी अर्थात् तुम देवताओं की तरह अमर नहीं रह सकोगे एवं अग्नि ही तुम्हारी ज्योति होगी।

जिस प्रकार से देवता का सम्बन्ध पृथ्वी से एक वर्ष में होता है, पितर का चन्द्रगति के अनुसार एक महीने में होता है, एवमेव स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण ठीक २४वें घंटे में पृथिवी को उसी बिन्दु का स्पर्श इस मनुष्य से हो जाता है। तात्पर्य यही है कि मनुष्यों को अहोरात्र में भोजन मिल जाता है। देवताओं को वर्ष में व पितरों को हर महीने मिलता है। हम हमारी अपेक्षा से उनके वर्ष, मास की व्यवस्था करते हैं। वस्तुतः देखा जाय तो जैसे हमारा अहोरात्र २४ घण्टे का है वैसे पितरों का ३० दिन का एवं देवताओं का ३६० दिन का होता है। सब अहोरात्र में ही भोजन करते हैं। मनुष्य सायं-प्रातः भोजन करते हैं। पितरों के लिए सायं-प्रातःस्वरूप दर्शपूर्णमासेष्टि की जाती है। देवताओं के लिए सायं-प्रातःस्वरूप उत्तरायण और दक्षिणायन में अयनयाग किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथैनं मनुष्याः प्रावृता उपस्थं कृत्वोपासीदन् तानब्रवीत् सायं प्रातर्वः अशनम्, प्रजा वः, मृ युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिरिति' ।।३।।

हमारा निर्माण विष्वद्वृत्त से हुआ है। विष्वद्वृत्त ३६० अंश का है। चूंकि हमारे पास पश्चिम और पूर्व होराइजन (१८०) का ही रस आता है अतएव हमारा मेरुदण्ड भी आधा हो रह जाता है। पत्नी द्वारा हमारे आधे अङ्ग की पूर्ति की जाती है। इस विष्वद् से (मेरुदण्ड से) २४ अंश उत्तर का पार्श्व है एवं २४ अंश का दक्षिण का पार्श्व है। हम सीधे होकर बैठते हैं तो पृथिवी की वास्तविक स्थिति में बैठते हैं। यदि दाहिनी जाँघ को ऊपर करके बैठते हैं तो हमारी समस्वस्तिक बिन्दु उत्तर (देवताओं) की ओर झुक जाती है एवं सव्य (वाम) को ऊँचा करने से पितरों की ओर झुक जाती है। इसीलिए शास्त्र की आज्ञा है— पितृकार्य में प्राचीनाषीती होकर बायीं जाँघ को ऊँचा करके बैठे, देवकार्य में यज्ञोपवीती होकर दायीं जाँघ को ऊँचा करके बैठे एवं मनुष्यकार्य में विलकुल सीधा बैठे। प्रकृति में ऐसी ही रचना है अतः तदनुसार ही हमें करना चाहिए। यही प्राचीनावीती व यज्ञोपवीती का प्राकृतिक रहस्य है ।।३।।

हमने बतलाया था कि प्रजापति की ६ प्रजायें थीं। उनमें से गन्धर्व प्रजा का प्रकृत से कोई संबंध नहीं है, केवल पाँच प्रजाओं का ही प्रकृत में ग्रहण है। इन पाँचों में से देवता, पितरों व मनुष्यों का अन्नप्राप्ति के लिए प्रजापति के पास जाना बतला दिया। देवता यज्ञोपवीती होकर एवं पितर प्राचीनावीती होकर प्रजापति के पास गये एवं उन्होंने (प्रजापति ने) देवताओं का अन्न एक वर्ष में एक बार होने वाले यज्ञ को बतलाया एवं पितरों के लिए महीने में एक बार भोजन करने की आज्ञा दी। मनुष्यों को सायं-प्रातः २४ घण्टे में दो बार भोजन करने की आज्ञा दी। शेष असुर व पशु को प्रजापति ने किस समय क्या अन्न खाने की आज्ञा दी, यह अब बतलाते हैं—

मनुष्यों के अनन्तर अन्न-प्राप्ति की इच्छा से भगवान् प्रजापति के पास पशु आये। भगवान् प्रजापति ने अन्न-कामना से आये हुए उन पशुओं को स्वैष ही बना दिया। अर्थात पशुओं को यथेच्छारी बना दिया। उनको आज्ञा दी कि हे पशुओं ! देवता, पितर, मनुष्यों के लिए जैसे भोजन का समय नियत है वैसा कोई प्रतिवन्ध तुम्हारे लिए नहीं है। जिस समय जो कुछ तुम पाओ, चाहे वह समय हो अथवा असमय हो, भोजन करो। अर्थात् चाहे आधी रात हो या सायंकाल अथवा प्रातःकाल, चौबीसों घंटे तुम्हारे लिए स्वतंत्रता है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पशुओं को चूंकि भगवान् प्रजापति ने चौबीसों घण्टे स्वतन्त्रता प्रदान की थी, अतएव प्रजापति की आज्ञानुसार ये पशु (गाय-बैल आदि) जब भी जो कुछ पा जाते हैं, चाहे समय हो या असमय, खाने लगते हैं।

प्रकृति-विशिष्ट पुरुष को ही प्रजापति कहते हैं यह बात पूर्व प्रकरण में बतलाई जा चुकी है। उसी प्रजापति का प्रकृत में ग्रहण है। यह प्रजापति—ईश्वर—प्रत्येक प्राणी के केन्द्र में रहता है। एवं केन्द्र में रह कर उस प्राणी प्रजा का संचालन किया करता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।'

यह प्रजापति जिस ओर प्रजा को प्रवृत्त करता है उसी ओर उसे चलना पड़ता है। जिस प्रकार देवता, पितर, मनुष्यों को वर्ष, मास एवं अहोरात्र में भोजन के लिए प्रजापति प्रवृत्त करता है, तद्वत् पशुओं को सदा के लिए ही स्वतन्त्रता दे रखी है। केन्द्रस्थ प्रकृति-विशिष्ट पुरुष की प्रेरणा से ही पशु चाहे जब खाने लगते हैं। प्रत्येक प्राणी अपने अपने प्रजापति की प्रेरणा से अपने-अपने मार्ग पर चल रहे हैं। इस प्रकार एक ही प्रजापति सूर्य-प्रतिबिम्बवत् सर्व प्रजाओं का संचालन किया करता है। इसीलिए तो 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' यह कहा जाता है। प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि प्रजापति ने पशुओं को यथेच्छाचार करने की आज्ञा दी। उनके लिए ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं रखा कि तुम इसी समय भोजन करो ।।४।।

अब रहे असुर। ये असुर भी अन्न की इच्छा से बार-बार निरन्तर प्रजापति के पास आने लगे। प्रजापति ने असुरों के लिए तम (अन्धकार) व माया प्रदान की। संसार में ज्योति कुल दो ही प्रकार की होती है— १. ज्ञान-ज्योति २. भूत-ज्योति। ज्ञान-ज्योति स्वयम्भू-मण्डल से आती है एवं भूतज्योतिर्धन सूर्य है। दोनों ज्योतियां परस्पर अविनाभूत रहती हैं। बिना भूत ज्योति (प्रकाश) के 'अहं जानामि' यह प्रत्यय नहीं हो सकता। एवं बिना ज्ञान के 'घटमहं जानामि' यह प्रत्यय नहीं हो सकता। प्रकाश का विभाग अर्थात् रूपप्रत्यक्ष कराने का विभाग इन्द्र के अधीन है जो कि द्युलोक का अधिष्ठाता है। असुर प्रकाश के

विरोधी प्राण हैं। जहाँ प्रकाश रहता है, वहाँ असुर नहीं रहते। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रकाश के आते ही वे नष्ट हो जाते हैं अपितु प्रकाश उस अन्धकारमय असुरसमष्टि का अभिभव कर लेता है। प्रकाश के आवरण में असुर (अन्धकार) छिप जाते हैं। असुर नष्ट नहीं होते अपितु अभिभूत हो जाते हैं—इसमें सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जिस स्थान में घोर अंधकार हो उसमें एक दीपक से जितना प्रकाश होगा, दूसरे से और अधिक व तीसरे से अपेक्षाकृत और अधिक होगा। इससे ज्ञात होता है कि वहाँ अंधकार नष्ट नहीं होता अपितु अभिभूत होता चला जाता है। इसीलिए दूसरे-दूसरे दीपकों से प्रकाश अधिकाधिक होता चला जाता है। यदि अंधकार को प्रकाश नष्ट ही कर डालता होता तो एक दीप-प्रकाश से अंधकार नष्ट हो जाता, फिर द्वितीय दीपक से अधिक चमक होती ही नहीं। परन्तु होती है, अतः मानना पड़ता है कि अंधकार का अभिभवमात्र होता है।

प्रकृत में यही बात बतलानी है कि जो तमोमय प्राण है उसे असुर एवं शुक्ल प्राण को देवता कहते हैं। असुर दीखते अवश्य हैं परन्तु वस्तुतः उनका कोई स्वरूप नहीं है, अतएव उन्हें मायास्वरूप कहा जाता है। अर्थात् उनका ज्ञान होता है परन्तु वह मिथ्या ज्ञान है। भूतज्योति के अभाव को सूचित करने के लिए 'तम' पद दिया गया है एवं ज्ञान-ज्योति के अभाव को दिखलाने के लिए 'माया' यह दिया है। इस प्रकार से चूंकि प्रजापति भगवान् ने असुरों को तम और माया प्रदान की थी। अतएव आज भी 'यह माया तो असुर की है' यह व्यवहार लोक में दिखलाई पड़ता है। अतः वे लोग मायावी कहलाते हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह असुर्य प्रजा (असुर) देव पितर मनुष्यादिवत् जीवन-स्तर रखने वाले अन्न के न मिलने से एवं तम और माया के मिलने से इन दोनों के चक्कर में पड़ कर परास्त हो गए। अर्थात् देवता, पितर, मनुष्य एवं पशु इन सब की उपलब्धि होती है। संसार का व्यवहार इनसे चलता है। केवल यही एक मात्र ऐसे हैं जो सर्वथा विना काम के हैं। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि भगवान् प्रजापति ने जिसके लिए जो वृत्ति निश्चित कर दी वह प्रजा आज तक उसी वृत्ति पर, उसी नियम पर अपना जीवन-निर्वाह करती है। प्रजापति-निर्दिष्ट उसी नियत समय पर आहार करती है।

'ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति यथैवाभ्यः प्रजापतिः व्यदधात्' ॥५॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रजापति ने अपनी प्रजा के लिए जो नियम निर्धारित किये थे, भोजन के लिए जो समय निश्चित किया था उसका न तो देव-प्रजा अतिक्रमण करती है, न पितर-प्रजा अतिक्रमण करती है। एवं न पशु-प्रजा अतिक्रमण करती है। देवता वर्ष-वर्ष में ही खाते हैं। पितर महीने-महीने में ही खाते हैं। पशु चाहे जब खाते हैं। इस प्रकार तीनों प्रजा आज तक प्रजापति की आज्ञा का पालन करती हुई चली आ रही हैं। केवल मनुष्य-प्रजा ही ऐसी है जो कि प्रजापति की आज्ञा का उल्लंघन करती है। 'अहोरात्र में सायं-

प्रात: दो समय ही भोजन करना—प्रजापति की इस आज्ञा का मनुष्य-प्रजा पालन नहीं करती। वह पशुवत् दिन में चार बार खाने लगती है। हमारे शरीर में पृथिवी का और सूर्य का प्राण आता है। जो पृथिवी का प्राण है उससे तो प्रज्ञानात्मा बनता है एवं सौर-प्राण से विज्ञानात्मा। शरीर में जो कार्य करने वाला आत्मा है उसे तो प्रज्ञानात्मा कहते हैं एवं इस प्रज्ञानात्मा से जो कार्य कराने वाला आत्मा है, वह सौरप्राण से निष्पन्न यही विज्ञानात्मा है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

'योऽस्यात्मन: कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
य: करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधै: ।।'

मनुष्य शरीर में हम विज्ञान ही को प्रजापति कहेंगे। इस प्रजापति का उस प्रज्ञान-प्रजा पर शासन रहता है। इन्द्रिय-व्यापार करना प्रज्ञान का काम है एवं विवेचन करना विज्ञान का। प्रजापति प्रज्ञान पर शासन रखता अवश्य है पर कभी-कभी मौके पर प्रज्ञान उसकी आज्ञा का उल्लंघन कर देता है। मनुष्य जिस समय कोई बुरा काम करने लगता है तो विज्ञान प्रजापति उसी समय उसे रोकता है परन्तु उसके रोकने पर भी वह पतन के मार्ग पर आरूढ़ हो ही जाता है। विज्ञान, प्रज्ञान को सावधान कर देता है कि—देखो, तुम ठीक समय पर भोजन किया करो अन्यथा अधिक खाने से आलसी और अकर्मण्य बन जाओगे। परन्तु प्रज्ञान उसकी आज्ञा की अवहेलना कर समय-असमय में इष्टानिष्ट का विचार न कर चाहे जो कुछ भी खा लेता है। इस प्रकार अपने प्रज्ञापराध से भगवान् प्रजापति की आज्ञा न मान, मनुष्य दु:खमय जीवन व्यतीत करता है। प्रकृत में यही बतलाना है कि सारी प्रजाओं में से केवल मनुष्य-प्रजा ही ऐसी है, जो कि प्रजापति को आज्ञा का अतिक्रमण करती है।

चूंकि मनुष्य प्रजापति की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं अतएव मनुष्यों में (मनुष्य-प्रजा में) जो मनुष्य मोटा होता है, वह पाप में लिप्त होता है अर्थात् ईश्वराज्ञा के विरुद्ध कुटिल मार्ग में जाता हुआ पतनाभिमुख हो जाता है। इतना ही नहीं, अपितु उसी पाप के कारण उसका अध:पतन हो जाता है। इस प्रकार का मनुष्य सर्वथा अकर्मण्य हो जाता है। परिश्रम का कार्य उससे सर्वथा नहीं होता है। अकर्मण्य मनुष्य कभी श्रेय का भागी नहीं होता है। ऐसा मनुष्य परलोक-कामना के लिए भी उपयुक्त नहीं होता है क्योंकि सत्य-मार्ग से पतित हो, असत्य-मार्ग का अवलम्बन करके ही वह मोटा होता है। प्रजापति उसे आज्ञा नहीं देता कि तू रात-दिन खा कर मोटा हुआ कर, अपितु विज्ञानस्वरूप प्रजापति सदैव उसे अच्छी बातों में प्रेरित किया करते हैं। परन्तु वह नियति-सत्य पर न चलकर मिथ्यामार्ग का—कुटिलमार्ग का आश्रयण करता है। भला, जो प्रजापति की आज्ञा का उल्लंघन करता है, उसका कल्याण क्यों कर हो सकता है ? अत: मनुष्य को प्रजापति की

आज्ञानुसार सायं-प्रातःकाल दो समय ही भोजन करना चाहिए। अतः प्रजापति की इस आज्ञा को जानकर, जो मनुष्य सायंप्रातराशी होता है, पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है अर्थात् युक्ताहार-विहार करने वाला मनुष्य पूरे सौ वर्ष तक जीवित रहता है एवं इस प्रकार का मनुष्य अपने मुँह से जो कुछ कह देता है, वैसा ही हो जाता है। इस का यही कारण है कि यह मनुष्य चूंकि प्रजापति द्वारा नियमित सत्य की रक्षा करता है अर्थात् उनके बतलाये रास्ते पर चलता है—अतः उसकी वाणी में सत्यता हो जाती है। आत्म-प्रजापति में वाक्, प्राण, मन ये तीन विभाग रहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः।' इति।

जो मनुष्य प्रजापति की आज्ञा के अनुसार चलता है—अर्थात् मनसा, वाचा, कर्म्मणा एक रेखा पर चलता है, जैसा विचारता है, तदनुकूल ही प्राणव्यापार करता है, एवं तदनुकूल ही वाग्व्यापार करता है, उस मनुष्य की वाणी में बल आ जाता है। तीनों के एक मार्ग पर चलने से तीनों की कड़ी जुड़ जाती है। उसका परिणाम यही होता है कि—वह जो कुछ कहता है—वह सत्य हो जाता है। इसीलिए तो महात्मा का लक्षण बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्।'

अन्त में उपसंहार करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

यह जो 'सत्य' है, उसी को 'तेज' कहते हैं। जो कि ब्राह्मण-सम्बन्धी रूप है, अर्थात् ब्राह्मण का असली तेज तो यही 'सत्य' है। मन, प्राण व वाक् को एक रेखा पर रखना ही 'सत्य' है, एवं सत्य ही इस ब्राह्मण का 'तेज' है। जो मनुष्य इस प्रजापति के सत्यव्रत का पालन करने में समर्थ होता है, वही तो इस 'सत्य' को रक्षा करता है। अर्थात् प्रजापति की आज्ञा को सम्यक्तया मानने वाला वही मनुष्य है जोकि— उसके बतलाये हुए मार्ग का जरा भी अतिक्रमण नहीं करता है। ६॥

पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो जाता है कि—देवता वर्ष-वर्ष में, पितर महीने-महीने में व मनुष्य सायं-प्रातः खाते हैं। हमें पिण्डपितृयज्ञ करना है, अतः और किसी का विचार न कर पितरों का ही विचार करते हैं। प्रकृति-यज्ञ में महीने-महीने पर पितरों को अन्न मिलता है। अतएव तदनुसार ही हमें भी महीने-महीने में ही पिण्डपितृयज्ञ करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

मरण के बाद वस्वादिरूप से पितरभाव को प्राप्त जो प्रेतपितर है, उनके लिए महीने-महीने में—जबकि चन्द्रमा न पूर्व में और न पश्चिम में दिखाई देता है—ऐसी दशा अमावस्या को देता है। सिनीवाली, कुहू और दर्श भेद से अमा तीन प्रकार की होती है। जो

चतुर्दशीविद्धा अमावस्या है, वह सिनीवाली कहलाती है। इसी को पूर्वविद्धा कहते हैं। इसमें चन्द्रमा की चाल के अनुसार एक सफेद कला दीखती रहती है। अतः 'वालमात्रं श्वेता' इस व्युत्पत्ति से इसे 'सिनीवाली' कहते हैं। एवं जो प्रतिपद्विद्धा है, उसे 'कुहू' कहते हैं—इसे ही परविद्धा कहते हैं। एवं जब सूर्य और चन्द्रमा का एक केन्द्र हो जाय, वह अमा 'दर्श' कहलाती है। इसी अभिप्राय से अमरकार कहते हैं—

'दर्शः सूर्येन्दुसंगमः, सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः।'

इन तीन अमाओं में से, जो दर्श नाम की अमा है, जिसमें कि चन्द्रमा न पूर्व में दिखलाई देता है एवं न पश्चिम में, उसी दिन पिण्डपितृयज्ञ करना चाहिए। यर्दैवैष (चन्द्रमाः) न पुरस्तान्न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ददाति।'

संसार में देवता कुल तीन ही प्रकार के होते हैं—

१. आम्भस (पृथिवी के)
२. नाभस (चन्द्रमा के)
३. माहस (सूर्य के)

देवता शब्द से पितर, देव, गन्धर्व, मनुष्य एवं असुर इन पाँचों का ग्रहण समझना चाहिए। अपने-अपने कर्म से सब देवता हैं। इसीलिए तो—पितृदैवत्य—देवदैवत्य—इत्यादि व्यवहार होता है। देवता पाँचों हैं, देवता शब्द पाँचों में समान है, परन्तु देव शब्द ३३ देवों में लागू होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि देवताशब्द व्यापक है एवं देवशब्द, पितृशब्द, मनुष्यशब्द एवं असुरशब्द व्याप्य हैं। हमने बतलाया है कि देवता आम्भसादि भेद से तीन प्रकार के होते हैं। देवता से कोई ३३ देव ही न समझ ले, अतएव देवता और देव की परिभाषा बतलाई गयी है। जो आम्भस देवता हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१. देवाः
२. पितरः
३. असुराः
४. मनुष्याः
} इत्याम्भसाः पार्थिवदेवताः

१. देवाः
२. पितरः
३. असुराः
४. गन्धर्वाः
} नाभसाः

१. देवाः
२. असुराः
३. पितरः
४. मनुष्याः
} माहसाः

प्रकृत में असुरादि देवताओं के विषय में कुछ भी नहीं कहना है, केवल पितर-देवताओं के विषय में कहना है। पितर कुल तीन होते हैं—१. पर २. अवर और ३. मध्यम। इन्हीं के लिए श्रुति कहती है—

'उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥'

पूर्वोक्त तीनों पितर अवान्तर पितर कहलाते हैं। पितरों की तीन प्रधान जातियां हैं—१. दिव्यपितर २. अवान्तरपितर ३. प्रेतपितर। इन तीनों में से प्रत्येक पितर आग्नेय, सौम्य एवं याम्य भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। दिव्यपितर भी आग्नेयादि भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। इसी प्रकार अवान्तरपितर एवं प्रेतपितर भी तीन-तीन प्रकार के हैं। जो अवान्तरपितर हैं, वे ही आर्त्तवपितर कहलाते हैं। दिव्यपितर परमेष्ठिमण्डल में आर्त्तव पितर सूर्य के नीचे एवं प्रेत पितर पृथ्वी में रहते हैं। जो आग्नेय दि भेद से तीन प्रकार के दिव्यपितर हैं वे अग्निष्वात्त, बर्हिषद्, सोमसद्, हविर्भुक्, आज्यपा, सोमपा, सुकाली, भेद से प्रत्येक सात प्रकार के हैं। आग्नेय दिव्यपितर भी सात प्रकार के हैं। इसी प्रकार सौम्य दिव्यपितर एवं याम्य दिव्यपितर भी। आग्नेय दिव्यपितर दक्षिण में, सौम्य दिव्यपितर उत्तर में एवं याम्य दिव्यपितर मध्य में रहते हैं।

जिस प्रकार दिव्यपितर आग्नेय सौम्यादि भेद से तीन प्रकार के हैं वैसे ही आर्त्तव-पितर भी तीन प्रकार के हैं। इन्हीं को पर, अवर और मध्यमपितर कहते हैं। फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा से आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी तक के जो ऋतुपितर हैं वे आग्नेयपितर कहलाते हैं। इन्हें ही अवरपितर भी कहते हैं। एवं आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से कार्तिक तक के ऋतुपितर याम्यपितर कहलाते हैं। इन्हीं चार मासों को यमदंष्ट्रा कहते हैं। तथा कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा से फाल्गुन तक के ऋतुपितर सौम्यपितर हैं। इन्हीं को पर-पितर कहते हैं।

इस प्रकार प्रेतपितर भी परावरादि भेद से तीन प्रकार के हैं। वसुपितर अवर आग्नेयपितर कहलाते हैं, इन्हीं को अश्रुमुखपितर भी कहते हैं। दूसरे मध्यम रुद्रपितर कहलाते हैं, इन्हें ही याम्यपितर कहा जाता है। तीसरे आदित्यपितर हैं जो कि पर एवं नान्दीमुख कहलाते हैं। प्रेतपितर जब तक पार्थिव वसु अग्नि के साथ सम्मिश्रित रहते हैं, तब तक महादुःखी रहते हैं, क्योंकि पार्थिव आकर्षण उन्हें पीड़ा पहुँचाता रहता है। अतएव इन वसु पार्थिव पितरों को अश्रुमुख कहा जाता है। इनके पैर ऊपर रहते हैं एवं मस्तक नीचे। तदनन्तर जब ये आन्तरिक्ष्य रुद्र में सम्मिलित हो जाते हैं तब याम्य कहलाने लगते हैं। यहाँ इनकी स्थिति तिर्यक् होती है। तत्पश्चात् जब ये आदित्यपितर अर्थात् दिव्यपितर से संश्लिष्ट होते हैं तब नान्दीमुख कहलाने लगते हैं। उस समय ये आनन्द में रहते हैं अतएव इनको नान्दीमुख कहा गया है। इस प्रकार प्रेतपितर तीन ही

प्रकार के हैं। दिव्य और आर्त्तवपितर प्राणपितर कहलाते हैं, तथा प्रेतपितर प्राणिपितर कहलाते हैं। इन सब के भेद निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाते हैं—

१. दिव्यपितर—पारमेष्ठ्य	१. आग्नेयाः परासः	अन्न	अन्नाद	सुकाली
	२. सौम्याः अवरासः	,,	,,	,,
	३. याम्याः मध्यमासः	,,	,,	,,
२. आर्त्तवपितर—सौर	१. आग्नेयाः परासः	,,	,,	,,
	२. सौम्याः अवरासः	,,	,,	,,
	३. याम्याः मध्यमासः	,,	,,	,,
३. प्रेतपितर—पार्थिव	१. आग्नेयाः परासः	,,	,,	,,
	२. सौम्याः अवरासः	,,	,,	,,
	३. याम्याः मध्यमासः	,,	,,	,,

अन्नपितरः { १. अग्निष्वात्त, २. सोमसत्, ३. बर्हिषत् }

अन्नादपितरः { १. हविर्भुक्, २. आज्यपा, ३. सोमपा }

अनुभय अन्नान्नाद सुकाली । एवं सप्त पितरः

दिव्य —	अन्न —	अन्नाद —	अनुभय
आर्त्तव —	अवर —	मध्यम —	पर
प्रेत —	अश्रुमुख—	विश्वदेव —	नान्दीमुख

निष्कर्ष यह है कि पितर दिव्य, आर्तव, प्रेत भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें से प्रत्येक पितर आग्नेय, सौम्य, याम्य भेद से तीन प्रकार के हैं। एवं आग्नेयादि पितर पुनः ७-७ प्रकार के हैं।

दिव्यपितर— १. आग्नेय २. सौम्य ३. याम्य।

१. आग्नेय पर	१. अन्न --	अग्निष्वात्त सोमसत् बर्हिषत्
	२. अन्नाद --	आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—	सुकाली
२. सौम्य—अवर	१. अन्न —	अग्निष्वात्त सोमसत् बर्हिषत्
	२. अन्नाद —	आज्यपा, सोममपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—	सुकाली
३. याम्य—मध्यम	१. अन्न —	अग्निष्वात्त सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद —	आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३ अनुभय—	सुकाली

अवान्तरपितर—१. आग्नेय २. सौम्य ३. याम्य

१. आग्नेय फाल्गुन शु. से आषाढ़ तक—पर १. अन्न— अग्निष्वात्त, सोमसत्, बर्हिषत्

	२. अन्नाद, आज्यपाः, सोमपाः, हविर्भुक्
	३. अनुभय –सुकाली
२. सौम्य-कार्तिक शु. से फाल्गुन तक—अवर	१. अन्न—अग्निषत्, सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद—आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—सुकाली
३. याम्य-आषाढ़ से कार्तिक तक—मध्यम	१. अन्न—अग्निषत्, सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद—आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—सुकालो

प्रेतपितर—१. आग्नेय २. सौम्य ३. याम्य

१. आग्नेय — वसु — अश्रुमुख	१. अन्न—अग्निषत्, सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद—आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—सुकाली
२. सौम्य — आदित्य — नान्दीमुख	१. अन्न—अग्निषत्, सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद—आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—सुकाली
३. याम्य—रुद्र—विश्वेदेव	१. अन्न—अग्निषत्, सोमसत्, बर्हिषत्
	२. अन्नाद—आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक्
	३. अनुभय—सुकाली

प्रसङ्गवशात् पितरों के भेद बतला दिये हैं। इनके विशद विवेचन के लिए आधिदैविक-अध्यायान्तर्गत पितृनिरूपणाध्याय देखना चाहिए। प्रकृत में इतना ही बतलाना है कि प्रेतपितरों का ही पिण्डपितृयज्ञ से सम्बन्ध है। हम जिन पितरों को पिण्डादि देते हैं वे प्रेतपितर हैं, तथा जो हमारे शरीर का निर्माण करते हैं, वे प्राणपितर हैं। दिव्यपितरों के लिए आतिथ्येष्टि की जाती है। आर्त्तवपितरों के लिए पुष्पदानादि तथा प्रेतपितरों के लिए पिण्डदान होता है। प्रकृत में प्रेतपितरों को लेना है, अतः इस यज्ञ को पिण्डपितृयज्ञ कहते हैं।

पहले बतलाया गया है कि वह यजमान प्रतिमास जब कि चन्द्रमा पूर्व और पश्चिम—दोनों ओर नहीं दिखलाई पड़ता है, पितरों के लिए देता है। वह पूर्वविद्धा एवं परविद्धा अमावस्या में न देकर दर्श में ही देता है। इसका कारण निम्नलिखित है—

यह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि चन्द्रमा है। 'सम्पूर्ण विश्व में अग्नि और सोम-ये दो तत्व हैं। देवता आग्नेय व प्राणस्वरूप हैं, अतएव निराकार हैं। इन देवप्राणों का दाह्य सोम से जब सम्बन्ध नहीं होता, तब तक देव का स्वरूप ही नहीं बनता, क्योंकि

देवता का स्वरूप प्रकाश है और यह प्रकाश सोम सम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है। जब तक सोम देवों को नहीं मिलता तब तक इनकी पुष्टि नहीं होती। सोम भास्वरदिक् आदि भेद से कई प्रकार का है। इनमें भास्वर चन्द्र सोम के सम्बन्ध से देवप्राण प्रकाशित होता है, इसीलिए 'एष सोमो वै देवानाम् अन्नं यच्चन्द्रमाः' इस श्रुति में स्पष्ट चन्द्रमा को ही देवताओं का अन्न बतलाया है। यह सोम राजा इस दर्शरात्रि में सर्वथा क्षीण हो जाता है तब वह पितरों को दिया जाता है। इस प्रकार पितरों के लिए देता हुआ यजमान इन पितरों के लिए असमद (क्लेशनिवृत्ति) करता है। तात्पर्य यह है कि देवता तथा पितर दोनों का ही अन्न चन्द्रमा है। अमा के दिन सारा सोम देवताओं की ओर चला जाता है अर्थात् चन्द्रमा का रुख सूर्य की ओर हो जाता है। यह स्थिति दर्श-अमा को ही होती है। सिनीवाली और कुहू को चन्द्रमा की एक कला पृथिवी में रहती है। ऐसी स्थिति में यदि पितरों के लिए पिण्ड दिया जायगा तो उस एक कला में रहने वाले देवता भक्षण कर जायेंगे। अतः पूर्वविद्धा व परविद्धा अमा को पिण्डपितृयज्ञ नहीं करना चाहिए, अपितु दर्श को ही करना चाहिए। उस दिन यह सोम (चन्द्रमा) सर्वथा क्षीण हो जाता है, अर्थात् सर्वात्मना देवताओं की ओर चला जाता है। अतः इस समय दिया हुआ अन्न पितरों को ही मिलेगा।

निष्कर्ष यह है कि सावित्र प्रकाश ही देवता है एवं गायत्र प्रकाश पितर तथा घोर अन्धकार असुर हैं। प्रकाश देवता, छाया पितर एवं अंधकार असुर हैं। प्रकाश और अंधकार के बीच की स्थिति को ही पितर कहते हैं। यदि सौरप्रकाश में पितृकर्म किया जाता है तो वह पितृदेवत्य न रह कर देवदेवत्य हो जाता है, क्योंकि पितर प्रकाश का सर्वथा विरोधी है, ऐसी स्थिति में एककलचन्द्रमा युक्त अमा को पिण्डपितृयज्ञ करने पर वह अन्न देवताओं को मिलेगा क्योंकि चन्द्रमा का प्रकाश वस्तुतः सूर्य का ही प्रकाश है। इसी अभिप्राय को याज्ञवल्क्य कहते हैं कि दर्श अमा को यह चन्द्रमा सर्वात्मना क्षीण (प्रकाशरहित) हो जाता है। इसके क्षीण होने पर यजमान पितरों के साथ देवताओं का कलह नहीं करता है। यदि वह अक्षीण चन्द्रमा में देगा तो पितरों व देवताओं में कलह उत्पन्न कर देगा। अतः देव व पितरों में कलह न हो, अर्थात् पितृकार्य देवकार्य बन जाय, इसके लिए जब चन्द्रमा न पूर्व में दीखता है न पश्चिम में तभी इन पितरों को देता है। इसीलिए लिखा है –

'तद्वा एतत् मासि मास्येव पितृभ्यो ददाति। यदेवैष न पुरस्तान्न पश्चाद् ददृशेऽथैभ्यो ददाति। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। स एतां रात्रिं क्षीयते। तस्मिन् क्षीणे ददाति तथैभ्योऽसमदं करोति। अथ यदक्षीणे दद्यात् समदं ह कुर्यात् देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च। तस्मात् यदैवैष न पुरस्तात् न पश्चात् ददृशे, अथैभ्यो ददाति' ॥७॥

सिनीवाली, कुहू और दर्श इन तीनों में दर्श में ही पिण्डपितृयज्ञ करना चाहिए. यह बतला कर उसका समय बतलाते हैं—

अहोरात्र में समय के तीन विभाग किये गये हैं—पूर्वाह्ण, मध्याह्न व अपराह्ण। पूर्वाह्ण देवताओं के भोजन करने का समय है। मध्याह्न मनुष्यों का एवं अपराह्ण पितरों के भोजन का है। पितर अपचयभाक् कहलाते हैं तथा देवता उपचयभाक्। उद्ग्राम को देवता तथा निग्राम को पितर कहते हैं। पितर दक्षिण में तथा देवता उत्तर में रहते हैं। देवता चढ़ते हुए हैं तथा पितर उतरते हुए। इसीलिए—'उपचयभाजो वै देवा: अपचयभाजो वै पितर:'—यह कहा जाता है। सूर्य का प्रकाश पूर्वाह्ण में बढ़ता रहता है, अत: यह देवताओं का समय है, एवं अपराह्ण में प्रकाश क्षीण होता रहता है, अत: यह पितरों का समय है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यजमान पितरों को अपराह्ण में देता है, क्योंकि पूर्वाह्ण देवताओं का, मध्याह्न मनुष्यों का एवं अपराह्ण पितरों का है ।।८।।

यह यजमान गार्हपत्य के पश्चिम में प्राचीन वीती होकर दक्षिणाभिमुख बैठकर पितृयज्ञ के लिए शकट में से धान लेता है। अर्थात् पुरोडाश बनाने के लिए अन्न लेता है। हमारा मेरुदण्ड विषुवत्स्थानापन्न है तथा उत्तर दक्षिण स्कन्ध क्रांतिवृत्तस्थानापन्न हैं। जब सूर्य उत्तर में होता है तब देवताओं का यज्ञ होता है, ऐसी स्थिति में देवता यज्ञसूत्र से बद्ध रहते हैं। इसी भाव को बतलाने के लिए यज्ञोपवीत को उत्तर स्कन्ध पर रखा जाता है। यज्ञोपवीत को उत्तर स्कन्ध पर रखना सूर्य का उत्तरभागस्थ सूचित करना है, परन्तु जब सूर्य विषुवद् से दक्षिण में आ जाता है, उस समय दक्षिण भाग ऊँचा रहता है। इस प्राकृतिक स्थिति की प्रतिकृति पर पितृकर्म्म में यज्ञसूत्र को दक्षिण स्कन्ध पर रखा जाता है। विषुवद् बिन्दु को प्राचीन बिन्दु कहते हैं। सूर्य जब दक्षिण में जाता है तो पूर्व बिन्दु से वह दूर हो जाता है अतएव पितरों को प्राचीनावीती कहते हैं। विषुवद्बिन्दु से हटकर सूर्य दक्षिण में रहता है, यही उनका प्राचीनावीतीपना है।

देवता उत्तर में एवं पितर दक्षिण में रहते हैं। अतएव दक्षिणाभिमुख होकर बैठना बतलाया गया है। इस प्रकार से दक्षिणाभिमुख बैठकर अनाज लेकर वहीं से उठकर दक्षिणाग्नि की ओर दक्षिणाभिमुख खड़ा होकर एक बार उस अनाज का फलीकरण करता है। एक ही बार फलीकरण करने के कारण को बतलाते हैं—

प्रेतपितर सकृत्स्वभाव वाले हैं—उनकी देवप्राणवत् पुनरावृत्ति नहीं होती है, अतएव सकृत् फलीकरण करते हैं।

देवता सूर्य में रहते हैं एवं सूर्य में इन्द्र रहता है। इन्द्र प्राणन और अपानन करता हुआ रहता है। देवप्राण प्राणन व अपानन व्यापार से प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट होता रहता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'आयं गौ: पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुर. । पितरं च प्रयन्त्स्व: ।।'
'अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणदपानती । व्यख्यन् महिषो दिवम् ।।'

देवता अपने प्राण-व्यापार की तीन बार आवृत्ति कर जाते हैं । एक बार देवप्राण जिसमें प्रविष्ट होता है तो पुन: उसमें से अपानन क्रिया से बाहर निकलता है, पुन: प्राणन-क्रिया से प्रविष्ट होता है । इस प्रकार तोन बार प्राणन-क्रिया करता रहता है अतएव—'त्रिषत्या वै देवा:'—कहा जाता है । परन्तु पितरप्राण अल्पप्राण है—इन्द्रशून्य है । बिना इन्द्र के प्राणन व अपानन हो नहीं सकता है, अतएव पितर को 'सकृत्' कहा जाता है । तात्पर्य यही है कि पितर में इन्द्र रहता नहीं—प्राणनापानन होता है इन्द्र में ही, अत: देववत् पितृप्राण त्रिषत्य नहीं है, अपितु एकसत्य ही है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'सकृदु ह्येव पराञ्च: पितर: । तस्मात् सकृत् फलीकरोति' ।।९।।

इस प्रकार से सकृत् (एक बार) फलीकरण करके उन तण्डुलों को स्थाली में रखकर उस स्थालीप्रक्षिप्त चरु को दक्षिणाग्नि में पकाने के लिए चढ़ाते हैं । तदनन्तर अग्नि के ऊपर स्थापित उस स्थाली में चरु के पक जाने पर घी डालते हैं । अग्नि में देवताओं के लिए हवन करते हैं । अर्थात् देवताओं के लिए साक्षात् अग्नि में आहुति दी जाती है, एवं मनुष्यों को अग्नि पर से उतार कर दिया जाता है, एवं पितरों को अग्नि पर रखे हुए स्थालीपात्र में ही दिया जाता है ।

हमने बतलाया है कि प्रकाश देवताओं का स्वरूप एवं अन्धकार असुरों का स्वरूप है । पितर दोनों के मध्य की अवस्था है । पितरों को अग्नि में ही दिया जाता है परन्तु परोक्ष भाव से (स्थाली में) देते हैं । पितर मध्य की वस्तु होने से देवता और मनुष्य के बीच की स्थिति में उनको देते हैं । इसी मध्यता के सूचनार्थ चरु को अग्नि पर चढाकर घृत डालते हैं । इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'तस्मादधिश्रित आज्यं प्रत्यानयति' ।।१०।।

तत्पश्चात् उस स्थाली को उतार, उस चरु को ठण्डा कर, पितरों के पूर्व देवताओं के लिए दो आहुति अग्नि में डालते हैं । पितृयज्ञ में पितरों के पूर्व देवताओं के लिए आहुति डालने का कारण बतलाते हैं—

जो आहिताग्नि होता है, दर्शपूर्णमास से यजन करता है, वह देवताओं के लोक में चला जाता है अर्थात् उसकी आत्मा देवताओं की ओर झुक जाती है । देवमण्डली में आने वाले इसके द्वारा देवविरोधी पितरों के लिए कैसे पिण्डपितृयज्ञ किया जा सकता है ? देवताओं से आज्ञा ले लेने पर, सम्भवत: पिण्डपितृयज्ञ किया जा सकता है । देवाज्ञा से थोड़ी देर के लिए पितरमण्डली में चले जाने में भी कोई हानि नहीं है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

इस समय देवकर्म को छोड़कर पितृकर्म किया है एवं ऐसा करना देवमण्डली में सम्मिलित होने वाले यजमान के लिए अनिष्ट की बात है। अतः उस पितृकर्मजन्य अपराध-शान्त्यर्थ पहिले देवताओं को दो आहुति देकर प्रसन्न कर लेता है। इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हुए उन देवताओं से अनुज्ञात होकर वह यजमान तदनन्तर पितरों के लिए पिण्ड देता है। इसीलिये कहा गया है—

'तस्मादुद्वास्याग्नौ द्वेऽआहुती जुहोति देवेभ्यः' ॥११॥

तदनन्तर वह यजमान अग्नि और सोम के लिए अग्नि में आहुति डालता है। जिसका कारण बतलाते हैं—

यह अग्नि संसार के यावन्मात्र पदार्थों में सम्मिलित है। बिना अग्नि के पदार्थ का स्वरूप ही नहीं बन सकता। अग्नि से ही—'स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, एवं पृथिवी'—इन पाँचों पिण्डों की स्थिति रहती है। स्वयंभूमण्डल की स्थिति प्राणाग्नि से, परमेष्ठिमण्डल की स्थिति वरुणाग्नि से, सौरमण्डल की स्थिति इन्द्राग्नि से, पार्थिवपिण्ड की स्थिति अङ्गिरोग्नि से एवं चन्द्रमण्डल की स्थिति पवमानाग्नि से बनी हुई है। तात्पर्य यह है कि अग्नि ही से यावन्मात्र पदार्थों की स्थिति रहती है।

१. प्राणाग्नि	(स्वयम्भू)	सर्वत्राग्निरन्याभक्तः।
२. वरुणाग्नि	(परमेष्ठी)	
३. इन्द्राग्नि	(सूर्य)	
४. अङ्गिरोऽग्नि	(पृथिवी)	
५. पवमानाग्नि	(चन्द्रमा)	

सर्वत्र अन्वाभक्त यह अग्नि पिण्डपितृयज्ञ में रहने वाले पितरों में भी सम्मिलित है। देवयज्ञ में सम्मिलित होने वाले अग्नि का नाम हव्यवाहन है एवं पिण्डपितृयज्ञ में अन्वाभक्त अग्नि का नाम कव्यवाहन है। चन्द्रमा की वस्तु होने से पितर सौम्य है। परमेष्ठी के मनोताओं के नाम भृगु, अङ्गिरा, अत्रि हैं। आप, वायु और सोम ये तीन भृगु हैं। भृगु का दूसरा नाम कवि है। पितरों के अन्न को वहन करने वाला यह सौम्य कवि नाम का अग्नि है। अतएव पितरान्वाभक्त अग्नि को काव्यवाहन कहते हैं। इसलिए पुराण में पितृदेवता बतलाये जाते हैं—

'कव्यवालोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा।
अग्निष्वात्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः ॥'

अग्नि दो प्रकार का है—कव्यवाट् और अर्यमा (हव्यवाट्)। इस प्रकार से आग्नेय-पितर, सौम्यपितर एवं याम्यभेद से पितर तीन प्रकार के हैं। ये तीनों ही अग्निष्वात्ता, बर्हिषत्, सोमसत् एवं आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक् व सुकाली भेदों से सात-सात प्रकार

के हैं। जो अङ्गिरोग्नि है, वह हव्यवाट् एवं कव्यग्नि कव्यवाट् है। प्रकृत में यही बतलाना है कि पिण्डपितृयज्ञ में अन्वाभक्त जो कव्ययाट् अग्नि ही है, उसके लिए ही यह प्रथम आहुति दी जाती है—

'स यदग्नये जुहोति सर्वत्र ह्येवाग्निरन्वाभक्तः'। इति।

तत्पश्चात् दी जाने वाली सोमाहुति का कारण बतलाते हैं। सोम पितृदेवत्य है एवं पितर सोमदेवत्य हैं जैसा कि कहा गया है—'सोमः पितृदेवत्यः पितरः सोमदेवत्याः'। इति।

सोम को पितरों के देवता होने के कारण लिए दूसरी आहुति दी जाती है। देवता—१. सोमपायी २. असोमपायी—भेद से दो प्रकार के होते हैं। आठ वसु एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार ये तेंतीस सोमपायी देवता हैं ऐवं एकादशानुयाज, एकादश प्रयाज एवं एकादशावयाज ये असोमपायी देवता हैं। इन्हीं को पशु-भाजन भी कहते हैं। इन्हीं दो प्रकार के देवताओं को तृप्त करने के लिए ही—अग्नि और सोम के लिए—पिण्डपितृयज्ञ के पूर्व दो आहुतियाँ दी जाती हैं ॥१२॥

'अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा', 'सोमाय पितृमते स्वाहा' इन मन्त्रों से यह यजमान अग्नि व सोम के लिए दो आहुतियाँ डालता है। तत्पश्चात् अग्नि में प्रदेशमात्र की एक समिधा डालता है। वह समिधा स्विष्टकृत् देवता का हिस्सा है। देवयज्ञ के अन्त में दुरिष्टनिवारणार्थं स्विष्ट्कृत् यज्ञ और किया जाता है क्योंकि बिना इसके देवयज्ञ अपूर्ण ही रहता है। प्रकृत में—पिण्डपितृयज्ञ में—ये दो आहुतियाँ देना देवयज्ञ करना है। बिना स्विष्टकृत् के देवयज्ञ समाप्त नहीं होता एवं यह स्विष्टकृत् स्वातन्त्र्येण नहीं किया जाता, अतः इसी स्विष्टकृत् की प्रतिकृति रूप में यह समिधा डाली जाती है।

तदनन्तर दक्षिणाग्नि के दक्षिणभाग में दक्षिणाग्नि से एक हाथ हटकर पितरों के लिए वेदिनिर्माणार्थं वहाँ की भूमि का सकृत् उल्लेखन करता है अर्थात् वहाँ की दूषित अभिष्ठ्यूत मिट्टी है, उसे खोदकर बाहर डाल देता है। प्रेतपितर सकृत् क्रिया वाले होते हैं, अतएव सकृत् ही उल्लेखन किया जाता है। पितर सकृत् क्रिया वाले कैसे हैं, यह बात पूर्व में बतला दी गयी है ॥१३॥

तत्पश्चात् उस पितृवेदि के पश्चिम भाग में उल्मुक (जलता पलीता) रख देते हैं। आप्यप्राण को असुर, सौम्यप्राण को पितर एवं आग्नेयप्राण को देवता कहते हैं। असुरप्राण सौम्यप्राण का विरोधी प्राण है। असुरसंमिश्रणात् पितरप्राण में विकृति हो जाती है। अग्नि में स्थित इन्द्र (प्रकाश) के विरोधी असुरों के नाश के लिए पितृवेदि के पश्चिम भाग में उल्मुक रखते हैं। असुरों के देवता वरुण भी पश्चिम भाग में ही रहते हैं। इसलिए भी पश्चिम भाग में ही उल्मुक रखा जाता है। वह यजमान यदि बिना उल्मुक रखे ही पितरों

को आहुति दे देगा तो पश्चिमस्थ असुर इन पितरों का मन्थन कर देंगे अर्थात् पितरस्वरूप को नष्ट कर देंगे । अतः असुर पितरों पर आक्रमण न करें, इसीलिए उल्मुक रखा जाता है ॥१४॥

वह यजमान निम्नलिखित मन्त्र बोलता हुआ उल्मुक रखता है—

'ये रूपाणि प्रतिमुञ्चाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परा पुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निष्टान् लोकान् प्रणुदात्यस्मात् ॥'

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चानाः असुराः सन्तः (विद्यमानाः) स्वधया चरन्ति । ये पुरः परा-भरन्ति-निभरन्ति च, तान् अस्मात् लोकात् अग्निः प्रणुदाति प्रणुद्यात् ॥'

रूप-रहित होते हुए भी अवश्य रहने वाले ये असुर पितृ-अन्न से विचरते हैं । अर्थात् पितृ-अन्न को खा जाते हैं एवं जो असुर उस अन्न को पितरों से पहिले ही दूर डाल देते हैं अथवा वहीं नष्ट कर देते हैं, उन असुरों को अग्नि इस लोक से निकाल दें ।

रूप वर्ण और आकार भेद से दो प्रकार का होता है । वर्णात्मक रूप के अधिष्ठाता इन्द्र हैं एवं आकारात्मक रूप के स्वामी त्वष्टा हैं । अतएव इन्द्र और त्वष्टा के लिए श्रुति कहती है—

'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' 'इन्द्रो रूपणि करीक्रदचरत्' ।
'त्वष्टा रूपाणि पिंषति' त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति' । इति ।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि इन्द्र में रूप रहता है एवं असुर इन्द्र के विरोधी हैं । जहाँ इन्द्र (प्रकाश) का सम्बन्ध हुआ कि उन्होंने (अन्धकार ने) अपना स्वरूप (काला-पन) छोड़ना प्रारम्भ किया । इसी अभिप्राय से 'रूपं प्रत्तिमुञ्चाताः' यह कहा गया है । असुर तमोमय होने से इन्द्र का सम्बन्ध न होने से—रूपरहित अवश्य हैं तथापि वे हैं ही नहीं, इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । इस भ्रम को हटाने के लिए 'सन्तः' (विद्यमानाः) पद दिया गया है ।

सोम को असुर चूस लेते हैं अथवा दूषित कर देते हैं । सेव को काटकर रखते ही, उसमें से जो मधुरता चली जाती है, यह असुरों का ही काम है । तात्पर्य यह है कि असुर पितरों के लिए प्रदत्त अन्न में विकृति न कर दें, इसीलिए अग्नि प्रज्वलित रखते हैं । इसी अभिप्राय से कहते हैं—'अग्नि राक्षसों को मारने वाले हैं'— अतएव पश्चिम भाग में इस प्रकार से उल्मुक रखते हैं ॥१५॥

इसके बाद पानी के पात्र को लेकर उस वेदि पर जल छिड़कता है एवं मन्त्र बोलता है—

'हे यज्ञदत्तशर्मन् मम पितः ! अवनेनिक्ष्व—'दास्यमानं पिण्डं भोक्तुम् आत्मीयपाणी शोधय । हे देवदत्तशर्मन् मम पितामह ! अवनेनिक्ष्व' । हे ब्रह्मदत्तशर्मन् - मम प्रपितामह ! अवनेनिक्ष्व—

जिस प्रकार भोजन करने वालों के लिए भोजन से पूर्व पानी दिया जाता है अर्थात् हाथ-पैर धुलाये जाते हैं, यह उसी तरह करना है जो कि—'हे यज्ञदत्तशर्म्मन् मम पितः ! अवनेनिक्ष्व' यह कहना है अर्थात् भोजन से पूर्व पितरों के हाथ धुलाने के लिए ही यह जल छिड़का जाता है ।।१६।।

इसके बाद उस पितृवेदि पर, जिन कुशाग्रों के मूल खण्डित होते हैं एवं जिन्हें जड़ में से एक ही बार काटी गयी हो, उनको रखता है । वैदिक विज्ञान में दो तत्त्व माने जाते हैं—सत्य और ऋत । जो वस्तु सकेन्द्र होती है उसे सत्य कहते हैं— यही प्रतिष्ठित भी होती है, परन्तु जो केन्द्ररहित आसमन्तात् व्याप्त रहती है, वह ऋत कहलाती है । देवता सत्य कहलाते हैं एवं पितर ऋत । अर्थात् देवता प्रतिष्ठित कहलाते हैं एवं पितर अप्रतिष्ठित । इसका कारण यह है कि देवता आग्नेय है और पितर सौम्य है । अग्नि सत्यस्वरूप है, सोम ऋत है । अग्नि की पकड़ केन्द्र से दूर तक २१ तक रहती है अतएव अग्नि को सत्य कहते हैं । सोम की पकड़ किसी से नहीं, अतः वह ऋत रूप से रहता है, वह उरु अन्तरिक्ष में व्याप्त है । अतएव ऋत एवं अप्रतिष्ठित है । अग्नि—अग्नि वायु आदित्य भेद से तीन प्रकार का है एवं देवता आग्नेय है । अतएव देवकार्य में कुशा तीन पोर वाली और समूला लाई जाती है । चूंकि पितर ऋत है, सकृत् है अतएव पितरकार्य में सकृत् काटी हुई एवं मूल से कटी हुई कुशा ग्रहण की जाती है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

सकृत् आच्छिन्नानि उपमूलं दिनानि (खण्डितानि बर्हींषि) भवन्ति—

अर्थात् छिन्नमूल बर्हि ही उस पितृवेदि पर रखे जाते हैं ।

प्रत्येक वस्तु में देव, पितर और मनुष्य ये तीन भाग रहते हैं । उसमें जो अग्र भाग है, वह देवताओं का है, मध्य भाग मनुष्यों का है एवं मूल भाग पितरों का है । चूंकि मूल भाग पितरों का है, अतः उसी स्थान से काटी हुई कुशा पितृ-कार्य में ग्रहण की जाती है । प्रत्येक वनस्पति में ऊपर के हिस्से में सौर रस आता है, मूल में पार्थिव रस रहता है एवं बीच का भाग मनुष्यस्थानापन्न है । पृथिवी और सूर्य के बीच में मनुष्य रहते हैं, अतएव मध्य भाग को मनुष्यों का बतला दिया गया है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

अग्रमिव वै देवानाम्, मध्यमिव मनुष्याणां, मूलमिव पितॄणाम् ।
तस्मादुपमूलानि दिनानि (खण्डितानि) भवन्ति । सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ।
सकृदु ह वै पराञ्चः पितरः । तस्मात् सकृदाच्छिन्नानि भवन्ति ।।१७।।

उन कुशाओं को दक्षिणाभिमुख करके बिछाते हैं । वहाँ पर उस चरुपिण्ड को रखते हैं । दाहिने हाथ में पिण्ड रखकर उसे दक्षिण दिशा की ओर झुकाते हुए पिण्ड दान देते हैं । हाथ में अवदान लेकर उसे आगे करते हुए देवताओं के लिए आहुति दी जाती है । मनुष्यों

को बीच के हाथ से दी जाती है तथा पितरों को दाहिने हाथ से दाहिनी तरफ झुका कर पिण्ड दिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं -

'इतीव वै (अग्रे कृत्वा) देवेभ्यो जुह्वति। उद्घरन्ति मनुष्येभ्यः। अथैवं पितॄणाम्। तस्मादिति ददाति' ॥१८॥

वह यजमान 'असावेतत् ते' इस मन्त्र से पिण्डदान देता है। हे यज्ञदत्तशर्मन्! यह पिण्डरूप हवि तुम्हारे लिए में देता हूँ। यही मन्त्र का अर्थ है। पुनः मन्त्रशेष बोलता है 'ये च त्वामनु' 'याँश्च त्वमनु' अर्थात् जो तुम्हारे अनुयायी हैं और जिनके तुम अनुयायी हो उनको भी मैं देता हूँ। अर्थात् सब के साथ आपको स्वधा से तृप्त करता हूँ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'असावेतत् ते' 'याँश्च त्वमनु ये च त्वामनु' यह मन्त्र बोलना सामवेदियों का मत है। परन्तु हमारे विचार से 'असावेतत् ते' इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि उस समय रहने वाले अपने अनुयायियों के तो वह स्वयं साथ रहने वाला है ही। अतः उसके लिए 'ये च त्वामनु' इत्यादि पृथक् कहने की आवश्यकता नहीं है।

'हे यज्ञदत्तशर्मन् - पितः एतत् ते' यह प्रकार पिता, पितामह एवं प्रपितामह तीनों में समझना चाहिए ॥१९॥

इस प्रकार उस कुशा पर पिण्ड रखकर अर्थात् पिता, पितामह, प्रपितामह के लिए पिण्डदान देकर तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्र का जप करता है।

'अमीमदन्त पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्।'

'हे पितरः अत्र मादयध्वम् – तृप्ता भवत। तदर्थं (तृप्त्यर्थं च) यथा भागं स्वं स्वं भागमनतिक्रम्य मया दत्तानि पिण्डानि आवृषायध्वम् अश्नीत'। इति।

हे पितरों! आप स्वस्थान में तृप्त होइये। मेरे द्वारा दिये हुए इन पिण्डों का आप अपने-अपने भाग के अनुसार भक्षण कीजिए। इसीलिए कहते हैं—

'यथाभागमश्नीत-इत्येवैतदाह' ॥ २० ॥

इस मन्त्र को बोलकर यजमान पिण्ड की तरफ से अपना मुख हटा लेता है। अर्थात् उसकी तरफ से दृष्टि हटा लेता है। क्योंकि देवता तो मनुष्य से साक्षात् आहुति लेते हैं। अर्थात् हम अग्नि में आहुति देते हैं और हमारे समक्ष ही वह आहुति अग्नि में भुक्त हो जाती है। परन्तु पितर मनुष्यों से छिपे रहते हैं। प्रेतपितर मनुष्यों की दृष्टि में नहीं आते जो कि प्राणस्वरूप हैं। पितर अपनी इच्छा से चौतरफ व्याप्त रहते हैं किन्तु जहाँ मनुष्य की दृष्टि पड़ी कि वे अन्तर्हित हो जाते हैं। पितरों को जो हम अन्न देते है, हमें मालूम नहीं होता कि वे कैसे और किस प्रकार चूस लेते हैं। पितरों के अन्नपानादि सर्वव्यवहार मनुष्यों से परोक्ष में ही होते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं —

'तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः ।'

अतएव वह यजमान अपना मुँह हटा लेता है ।

कितनी देर तक मुँह हटाये रहे इसका निरूपण किया जा रहा है—

कई याज्ञिकों का मत है कि श्वास रोकने पर जब प्राण घुटने लगें तब तक मुंह फेरे रहे । पितृप्राण की स्थिति चूंकि एक श्वास की स्थिति के तुल्य है अतः इतनी ही देर मुंह फेरना चाहिए । दूसरा मत है कि ऐसा नहीं करना चाहिए अपितु द्वादशक्षणात्मक एक मुहूर्त ही मुँह फेरे रहना चाहिए ।

'स वाऽआतमितोरासीत इत्याहुः । एतावान् हि असुः (पितृप्राणव्यापारः) स वै मुहूर्तमेवासित्वा' ।।२१।।

इस प्रकार पिण्ड प्रदान कर एक मुहूर्त मुंह फेर कर खड़ा रहे । तदनन्तर फिर पिण्ड की ओर दृष्टि फेर कर मन्त्र बोलता है—

'अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत'

हे पितरः आप तृप्त हो गए । आपने यथाभाग अपने-अपने हिस्से का भोजन कर लिया । 'यथाभागमाशिषुरित्येवैताह' ।।२।।

इसके बाद पानी का पात्र लेकर उससे 'असाववनेनिक्ष्व' इस मन्त्र से पानी नीचे वेदि पर डालता है ।

हे यज्ञदत्तशर्मन् मत पितः ! भोजनानन्तरं पाणी शोधय ।

जिस प्रकार भोजन के पश्चात् भोक्ता के हाथ धुलाये जाते हैं उसी तरह यह अवनेजन है । अर्थात् अवनेजन क्रिया भोजनान्तर पितरों के हाथ धुलाना है । जैसा कि कहते हैं—

'तद्यथा जक्षुषे=भुक्तवते अभिषिञ्चेत् एवं तत्' ।।२३।।

इसके पश्चात् धोती के बंधन को जरा शिथिल कर पितरों को नमस्कार करता है। नमस्कारमन्त्र निम्नाङ्कित है—

'नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वः' ।

नीवी को शिथिल कर नमस्कार करने की उपपत्ति बतलाते हैं—

नीवी पितृदेवत्या है। देवता, असुर और पितर तीनों भिन्न-भिन्न अवस्था में रहते हैं। असुर ग्रन्थि-बन्धनरूप से रहते हैं। असुरों के देवता वरुण हैं। ग्रन्थि का सीगा वरुण के अधीन है। देवता द्युलोकनिवासी प्रजा हैं अतः वे सर्वथा बन्धनरहित हैं। पितर दोनों का मध्यवर्ती प्राण है। न वह बन्धन करने वाला तथा न खुला रहने वाला (बन्धनरहित) प्राण है। ये तीनों देवता संसार के यावन्मात्र पदार्थों में रहते हैं। हमारे शरीर में अस्थि का

सीगा वरुण (असुर) के अधीन है, मांस का पितरों के, हाथ पैरों का जो इधर-उधर का व्यापार है वह देवों का काम है ।

प्रकृत में यही बतलाना है कि नीवी पितृदेवत्या है तथा पितर मध्यावस्था का प्राण है । अतएव नीवी को ढीली करके नमस्कार करता है ।

अन्नाद में अन्न की आहुति दी गई है । अर्थात् अग्नि में सोम की आहुति यज्ञ है । नमः का अर्थ 'मैं आपका भोग्य हूँ यह है । अतएव 'यज्ञो वै नमः' यह कहा गया है । इस प्रकार यह यजमान यज्ञिय देवताओं को ही नमस्कार करता है । तदनन्तर आशीर्मन्त्र बोलता है—

'गृहान्नः पितरो दत्त' पितर मेरे घर को बसावें अर्थात् प्रजासम्पत्ति से युक्त करें । पितर ही घर के स्वामी हैं । इस पिण्डपितृयज्ञ की यही आशीः (याच्ञा) है । इसके बाद उन पिण्डों को हाथ में लेकर सूंघता है । जिस प्रकार लेपन यजमान का भाग होता है वैसे ही 'घ्राणं चार्धभोजनम्' के अनुसार यह सूंघता यजमान का भाग है । इसके बाद सकृदाच्छिन्न कुशाग्रों को अग्नि में डाल देता है । तदनन्तर उस उल्मुक (पूले) को भी अग्नि में डाल देता है ।

इति पिण्डपितृयज्ञस्तृतीयः ।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

अथाग्रयणब्राह्मणम्

(मूल) तदुहोवाच कहोडः कौषीतकिः । अनयोर्वा द्यावापृथिव्यो रसः । अस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्यः अथेममश्नाम इति । तस्माद्वा आग्रयणेष्ट्या यजत इति ॥१॥

तदु होवाच याज्ञवल्क्यः—देवाश्च वा असुराश्चोभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । ततोऽसुरा उभयीरोषधीः याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्ययेव त्वद् विषेणेव त्वत् प्रलिलिपुः उतैवं चिद्देवानभिभवेमेति । ततो न मनुष्या आशुः । न पशव आलिलिशिरे । ता हेमाः प्रजा अनाशकेन नोत्पराबभूवुः ॥२॥

तद्धै देवाः शुश्रुवुः । अनाशकेन ह वा इमाः प्रजाः पराभवन्तीति ते होचुर्हन्तेदमासामपजिघांसामेति । केनेति यज्ञेनैवेति । यज्ञेन ह स्म वै तद् देवाः कल्पयन्ते यदेषां कल्प्यमास ऋषयश्च ॥३॥

ते होचुः कस्य न इदं भविष्यतीति । ते—'मम मम' इत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुः । ते हासम्पाद्योचुः—आजिमेव अस्मिन्नजामहै स यो न उज्जेष्यति तस्य न इदं भविष्यतीति । तथेति । तस्मिन्नाजिमाजन्त ॥४॥

ताविन्द्राग्नी उदजयताम् । तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति । इन्द्राग्नी ह्यस्य भागधेयमुदजयताम् । तौ यत्रेन्द्राग्नी उज्जिगीवांसौ तस्थतुः—तद् विश्वेदेवा अन्वाजग्मुः ॥५॥

क्षत्रं वा इन्द्राग्नी । विशो विश्वेदेवा । यत्र वै क्षत्रमुज्जयति अन्वाभक्ता वै तत्र विट् । तद् विश्वान् देवानन्वाभजताम् । तस्मादेष वैश्वदेवश्चरुर्भवति ॥६॥

तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः । क्षत्रं वा इन्द्राग्नी नेत् क्षत्रमभ्यारोहयाणि इति । तौ वा उभावेव नवानां स्यातामू—यद्धि पुरोडाश इतरः चरुरितरः । तेनैव क्षत्रमनभ्यारूढम् । तस्मादुभावेव नवानां स्याताम् ॥७॥

त उ ह विश्वेदेवा ऊचुः—अनयोर्वा अयं द्यावापृथिव्यो रसः—हन्तेमे अस्मिन्नाभजामेति। ताभ्यामेतं भागमकल्पयन्—एतं द्यावापृथिव्यमेककपालं पुरोडाशम्। तस्माद् द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। तस्येयमेव कपालम्, एकेव हीयम्। तस्मादेककपालो भवति ॥८॥

तस्य परिचक्षा। यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकृदन्वाभक्तः। अथैतं सर्वमेव जुहोति—न स्विष्टकृतेऽवदयति। सा परिचक्षा। उतो हुतः पर्यावर्तते ॥९॥

तदाहुः—पर्याभूद्वा अयमेककपालो मोहिष्यति राष्ट्रमिति-नास्य सा परिचक्षा। आहवनीयो वा आहुतीनां प्रतिष्ठा। स यदाहवनीयं प्राप्यापि दशकृत्वः पर्यावर्तेत न तदाद्रियेत। यदि त्वन्ये वदन्ति कस्ततसन्धमुपेयात्। तस्मादाज्यस्यैव यजेत्। आज्यं ह वा अनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसः। तत् प्रत्यक्षमेवैने एतत् स्वेन रसेन मेधेन प्रीणाति। तस्मादाज्यस्यैव यजेत् ॥१०॥

एतेन वै देवाः। यज्ञेनेष्ट्वा उभयीनामोषधीनां याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्यामिव त्वत् विषमिव त्वत् अपजघ्नुः। तत आश्नन् मनुष्याः, आलिलिशन्त पशवः ॥११॥

अथ यदेष एतेन यजते। तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कश्चन कृत्ययेव त्वद्विषेणेव त्वत् प्रलिम्पतीति देवा अकुर्वन्, इति त्वेवैष एतत् करोति। यमु चैव देवा भागमकल्पयन्त तमु चैवेभ्य एव एतद्भागं करोति। इमा उचैवैतदुभयीरोषधीः—याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः–ता अनमीवा अकिल्विषाः कुरुते। ता अस्यानमीवा अकिल्विषा इमाः प्रजा उपजीवन्ति। तस्माद्वा एष एतेन यजते ॥१२॥

तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा। आस्यमिव हीदम्। स यदीजानः स्यात्-

दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेत-अथैतेन यजेत । यद्यु अनीजानः स्यात्-चातुष्प्राश्य-मेवैतमोदनमन्वाहार्यपचने पचेयुस्तं ब्राह्मणा अश्नीयुः ॥१३॥

द्वया वै देवाः, देवाः–अहैव देवाः । अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः । तद् यथा वषट्कृतं हुतम्, एवमस्यैतद् भवति । तत्रो यच्छक्नुयात् तद् दद्यात्–नादक्षिणं हविः स्यादिति ह्याहुः । नाग्निहोत्रे जुहुयात् । समदं ह कुर्याद् यदग्निहोत्रे जुहुयात् । अन्यद्वा आग्रयणम्, अन्यदग्निहोत्रम् । तस्मान्नाग्निहोत्रे जुहुयात् ॥१४॥

इत्याग्रयणेष्टिः समाप्ता

आग्रयण ब्राह्मण

(अनुवाद) इष्ट, पशु, सोम भेद से यज्ञ तीन प्रकार के होते हैं। [1]जहाँ आज्याहुति में पशुहिंसा नहीं होती उसे इष्टि कहते हैं। जहाँ देवता के लिए मांस भी दिया जाता है, उसे पशुयाग तथा जहाँ ग्रहयाग में सोम रस की आहुति दी जाती है, उसे सोमयाग कहते हैं।

[2]आग्रयणेष्टि इष्टियाग है । यहाँ न पशुहिंसा ही होती है और न सोम रस की आहुति, अपितु पुरोडाश की आहुति दी जाती है।

संसार के यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति द्युलोक तथा पृथ्वीलोक के रसों से होती है। पृथ्वी से तो पदार्थों की उत्पत्ति स्पष्ट देखी ही जाती है, किन्तु उसमें दिव्य रस जो ऋतुओं के माध्यम से आता है, सम्मिलित रहता है। अतः भिन्न-भिन्न पदार्थों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न ऋतुओं में होती है न कि सभी ऋतुओं में सभी

---

१ यज्ञास्त्रिविधाः—इष्टयः, पशवः, सोमा इति भेदात । यत्राज्याहुतौ पशुहिंसा नास्ति तत्रेष्टिशब्दः। यत्र मांसमपि दीयते तत्र पशुशब्दः। यत्र ग्रहयागे सोमरसाहुतिस्तत्र सोमशब्द इति (यज्ञमधुसूदन, यज्ञविटपाध्याय पृ० १) ।

२ पहिले मार्गशीर्ष से वर्ष का आरम्भ माना जाता था, इसीलिए गीता में 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' कहा गया है। मार्गशीर्ष (अगहन) से हायन के अग्र अर्थात् प्रारम्भ में जो इष्टि की जाती थी, वह अग्रहायणेष्टि नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्रहायणेष्टि ही परोक्षप्रिय देवभाषा के अनुसार आग्रयणेष्टि कहलाई।

पदार्थों की। जो दिव्य रस भी पृथिवी से उत्पन्न अन्न में रहता है, तो जैसे यह अन्न पार्थिव होने से हम पार्थिव प्राणियों का भोग्य है, उसी प्रकार दिव्य सौररस के मिश्रण से उस अन्न में देवप्राणों का भी भाग है। अतः इस अन्न को हमें देवताओं के लिए आहुति देकर ही काम में लाना चाहिए। इसी रहस्य का प्रतिपादन कुषीतक के पुत्र कहोड महर्षि कर रहे हैं कि यह पार्थिव अन्न द्युलोक और पृथिवी दोनों का रस है। दोनों के मिश्रण से उत्पन्न हुआ है, अतः हम इसे देवभाग होने से देवताओं को आहुति देकर ही खावें, अतः इस आग्रयणेष्टि से देवताओं का यजन करते हैं ॥१॥

भगवान् याज्ञवल्क्य आग्रयणेष्टि से देवताओं का यजन करने में दूसरी उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं कि' देवता और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानों में परस्पर कलह छिड़ा। असुरों ने दोनों प्रकार की ओषधियों (अन्न) को जिनसे कि मनुष्य व पशु निर्वाह करते हैं, कृत्या तथा विष से युक्त कर दिया। क्योंकि हम अन्य प्रकार से तो देवों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु जिन पर देव (प्राण) आश्रित रहता है उन मनुष्यों व पशुओं को नष्ट कर दें तो देव अभिभूत हो जायेंगे। कृत्या व विष से युक्त होने के कारण उस अन्न को मनुष्य व पशुओं ने खाना छोड़ दिया। और अनाशक (अनशन) से ये दोनों प्रजायें पराभूत हो गईं ॥२॥

देवताओं ने जब यह बात सुनी कि मनुष्य व पशु प्रजायें अनशन के द्वारा पराभूत (नष्ट) हो रही हैं, तब उन्होंने सोचा कि किस उपाय से इस उपद्रव को शान्त करें। अन्त में यज्ञ रूपी उपाय के द्वारा उस विघ्न को शान्त करने का निश्चय किया। क्योंकि प्राचीन समय में मानव ऋषि व मानव देव यज्ञ के द्वारा अपने अभीष्ट को पूरा किया करते थे ॥३॥

उन्होंने कहा कि अन्न से विष-हरण के प्रतीकाररूप में इसे मनुष्यों द्वारा जो कुछ दिया जायगा वह किसका भाग होगा। उनमें सभी ने कहा कि वह मेरा भाग होगा, मेरा भाग होगा और वे परस्पर निर्णय पर न पहुँचे। अन्त

१. इस देवासुर उपाख्यान के ऐतिहासिक व वैज्ञानिक दोनों अर्थ हैं। इनका निरूपण हिन्दी भाषाभाष्य में हुआ है। अतः यहाँ उसका निरूपण नहीं किया जा रहा है।

में उन्होंने युद्ध द्वारा निर्णय करने का निश्चय किया। अर्थात् जो युद्ध में जीतेगा उसीका वह भाग होगा ऐसा निश्चय किया ।।४।।

अन्त में उन सब देवों में अग्नि और इन्द्र ही विजयी हुए। अतः इस अन्न-विषपरिहारार्थ की जाने वाली आग्रयणेष्टि में इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। क्योंकि इन्द्र और अग्नि ही इस झगड़े में विजयी बने थे। अन्य देवताओं ने उनका अनुगमन किया। अतः अन्य देवताओं को हवि दी जाती है, वह इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल हवि के बाद ही दी जाती है ।।५।।

इन्द्र और अग्नि देवों में क्षत्र (प्रधान) हैं एवं विश्वेदेव विट् अर्थात् प्रजारूप हैं। जहाँ क्षत्र विजयी होता है वहाँ उसकी प्रजा भी उस विजय में सम्मिलित मानी जाती है। अतः इन्द्र और अग्नि ने अपने में विश्वेदेवरूप प्रजा को भी भागीदार बनाया। इसीलिए इन्द्राग्निदेवताक पुरोडाश के बाद विश्वेदेवदेवताक चरु[1] दिया जाता है ।।६।।

वैश्वदेव चरु चावलों की होती है। कतिपय याज्ञिकों का मत है कि यह वैश्वदेव चरु पुराने[2] चावलों की करनी चाहिए। क्योंकि नवीन चावलों की चरु करने पर इन्द्राग्निरूप क्षत्र और विश्वेदेवरूप प्रजा दोनों को ही नवीन अन्न की आहुति दी जायेगी, तो क्षत्र और विट् में समानता होगी। और दोनों में समानता ही क्षत्र (अधिष्ठाता) पर विट् का आरूढ़ करना है। अतः वैश्वदेव चरु पुराने चावलों की ही देनी चाहिए। किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि इन्द्राग्निदेवताक पुरोडाश तथा वैश्वदेव चरु दोनों ही नव्यान्न के होने चाहिए। क्योंकि यह आग्रयणेष्टि नव्यान्न की है, अतः दोनों ही नव्यान्न की होनी चाहिए अन्यथा इष्टि का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। ऐसा करने पर भी क्षत्र और विट् में समानता नहीं होती है। क्योंकि क्षत्र को पुरोडाशाहुति दी जाती है और विश्वेदेव प्रजा को चरु की। वे दोनों विभिन्न हैं ।।७।।

तत्पश्चात् विश्वेदेवों ने कहा कि चूंकि द्युलोक और पृथिवीलोक के रस से अन्न का निर्माण हुआ है। अतः उनके रस से उत्पन्न इस नव्यान्न में द्यावापृथिवी

१ 'वैश्वदेवश्चरुः' (का०श्रौ०सू० ४।१५८)
२ 'पुराणानां वा चरुः' (का०श्रौ०सू० ४।१६३)

का भाग भी रहना चाहिए। तब उनके (द्यावापृथिवी के) लिए द्यावापृथिवी एककपाल पुरोडाश भाग की कल्पना की। अतः आग्रयणेष्टि में द्यावापृथिवी दो हैं, अतः द्विकपाल पुरोडाश की आहुति होनी चाहिए। यद्यपि द्यावापृथिवी दो हैं, अतः द्विकपाल पुरोडाश की आहुति होनी चाहिए। तथापि अन्न का साक्षात्सम्बन्ध पृथिवी से है और वह एककपालरूप है, अतः एककपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। द्युलोक का रस तो पृथिवी में आकर उसी में सम्मिलित हो जाता है। तथा पुरोडाशश्रपण का अधिष्ठान भी पृथिवी ही है और वह एक है। अतः एककपाल पुरोडाश[1] की आहुति ही उचित है ॥८॥

किन्तु याज्ञिक लोग इस एककपाल पुरोडाश पर परिचक्षा (आपत्ति निन्दा) करते हैं। उनका कथन है कि चाहे जिस किसी भी देवता को हवि दी जाय, यज्ञ में मानवदोषजन्य त्रुटि के परिहार के लिए एक स्विष्टकृद् याग और किया जाता है। द्यावापृथिव्य एक कपाल पुरोडाश करता हुआ यजमान सम्पूर्ण अवशिष्ट हविद्रव्य की आहुति उस एककपाल पुरोडाश में दे देगा और स्विष्टकृद् याग के लिए हविर्द्रव्य नहीं बचेगा। और यदि अन्न बचा लेते हैं तो एककपाल पुरोडाश का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अतः यही एककपाल पुरोडाश की आहुति में दोष है।

द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश में दूसरा दोष यह है कि यज्ञ द्वारा शारीरात्मा का १७वें स्तोम में विद्यमान आहवनीयाग्निरूप दिव्याग्नि के साथ सम्बन्ध किया जाता है जिससे बद्ध शारीरात्मा शरीरत्यागानन्तर पार्थिव सम्बन्ध के हटने पर दिव्याग्नि से आकृष्ट होकर स्वर्ग में पहुँच सके। किन्तु इस एककपाल पुरोडाश की आहुति देने पर तो इसका सम्बन्ध प्रधानरूप से पृथिवी से ही रहता है। अतः जिस शारीरात्मा का आहवनीयाग्निरूप दिव्याग्नि से सम्बन्ध किया गया था उससे उसका सम्बन्ध हट जायगा। यह एक प्रकार से स्वर्गस्थ आत्मा का पुनः पृथिवी पर पर्यावर्तन होगा ॥९॥

इसीलिए ब्रह्मवादी कहते हैं कि एककपाल-पुरोडाशाहुतिजन्य स्वर्ग से पृथिवी पर पर्यावर्तन सकल राष्ट्र को अर्थात् सभी मनुष्यों को इस मोह में डाल

१ 'द्यावापृथिवीय एककपालः' (का०श्रौ०सू० ४।१६०

देगा कि यज्ञ द्वारा जो स्वर्गलोकप्राप्ति बतलायी जाती है वह मिथ्या है, ऐसी निन्दा लोग करेंगे। किन्तु इसका परिहार बतलाते हुए कहते हैं कि दूसरा दोष वास्तविक नहीं है क्योंकि यज्ञ में सभी आहुतियाँ देवताओं को आहवनीयाग्नि (१७वें स्थान में स्थित दिव्याग्नि) में दी जाती हैं। आहुतियों की प्रतिष्ठा के कारण ही उसे आहवनीय कहा जाता है। अतः प्रथम इन्द्राग्निदेवताक द्वादश-कपाल की आहुति तथा द्वितीय वैश्वदेव चरु की आहुति आहवनीयाग्नि में होने से पार्थिव शारीरात्मा का दिव्याग्नि से सम्बन्ध हो चुका है। अतः अब वहाँ से दस बार लौटने पर भी उसका परित्याग नहीं हो सकता। फिर भी एककपाल पुरोडाश की आहुति में सामग्री अवशिष्ट न रहने से स्विष्टकृद् याग का अभावरूप दोष का परिहार कैसे हो सकेगा, तथा द्वितीय दोष के परिहार को कोई न माने तो क्या हो होगा ? अतः पुरोडाश की आहुति न देकर आज्य की आहुति देनी चाहिए। क्योंकि आज्य इन द्यावापृथिवी का प्रत्यक्ष रस है। यह सर्वसाधारण द्रव्य है। अतः द्यावापृथिवी के प्रत्यक्ष रस इस आज्य से द्यावापृथिवी का यजन करना चाहिए। क्योंकि आज्य से द्यावापृथिवी का यजन करना उनके प्रत्यक्ष सारभूत रस से यजन करना है और उस रस से उनको तृप्त करना है।

आज्य के सर्वयज्ञसाधारण होने से स्विष्टकृद् देवता का भी यजन हो जाने से स्विष्टकृद् याग भी सम्पन्न हो जाता है। अतः स्विष्टकृद् याग को पृथक् करने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः वह दोष आज्याहुतिपक्ष में नहीं रहता॥१०॥

इसी आग्रयणेष्टिरूप यज्ञ से यजन करके देवताओं ने, जिन ओषधियों से मनुष्य जीवननिर्वाह करते थे, तथा जिनको असुरों ने कृत्या युक्त व विषलेपन के द्वारा दूषित कर दिया था, उन दोषों व कृत्याओं का विनाश किया, तब दोषरहित उन ओषधों (अन्नों) को मनुष्यों व पशुओं ने खाना प्रारम्भ किया॥११॥

यह यजमान इस समय जो आग्रयणेष्टि से देवताओं का यजन करता है, उसका यह अभिप्राय नहीं है कि असुरों ने अन्न को कृत्या से युक्त तथा विष-लिप्त कर दिया है। किन्तु मनुष्यदेवताओं ने ऐसा किया था, अतः हमें भी

---

१. (क) स आज्यस्यवा' (का०श्लो० सू० ४, १६१)

(ख) 'अपि वा एककपालेन कुर्वीत, आज्येन द्यावापृथिवी यजेत' (आपस्तम्ब)

'यद्देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि' इस नियम के अनुसार वैसा ही करना चाहिए। जैसा मानवदेवताओं ने जिन देवताओं के लिए विषदूरीकरणार्थ द्वादशकपाल पुरोडाशादि भाग दिया गया था, उन्हें हम भी अपने इस यज्ञ में भाग दें और इस समय आग्रयणेष्टिनामक नवान्न इष्टि से देवताओं का यजन करता हुआ मनुष्योपयोगी तथा पशूपयोगी उभयविध अन्न से अमीवा (कीटाणु) तथा किल्विष को दूर करता है। अन्न से इन अमोवा व किल्विष को दूर करने से उसकी प्रजा अमीवा व किल्मिष से रहित होकर सुख से जिवननिर्वाह करती है। एतदर्थ यह याग करना चाहिए ॥१२॥

इस यज्ञ में सर्वप्रथम उत्पन्न बैल[1] की दक्षिणा दी जातो है। क्योंकि यह इष्टि भी अग्र्य (सर्वप्रथम) है। अतः उसकी दक्षिणारूप में उस वर्ष गोष्ठ में सर्वप्रथम उत्पन्न वृषभ की ही दक्षिणा होनो चाहिए। जो पुरुष सोमयाग कर चुका है वह दर्शपूर्णमास करने के पश्चात् ही आग्रयणेष्टि करे। और यदि दर्श-पूर्णमास याग नहीं कर चुका है तो चातुःप्राश्य ओदन दक्षिणाग्नि में पका कर ब्राह्मणों को दे और वे इसे खायें[2] ॥१३॥

देवता दो प्रकार के हैं एक तो प्राणदेवता और दूसरे बहुश्रुत, वेदानुवचन-तत्पर मनुष्यदेवता। जिस प्रकार प्राणदेवताओं को वषट्कार से तथा स्वाहाकार से हवि दी जाती है उसी प्रकार यज्ञ न किये हुए मनुष्यदेवों के लिए चातुःप्राश्य ओदनरूपी ब्राह्मण-भोजन दिया जाता है। ब्राह्मण-भोजन के समय भी यजमान जो कुछ दक्षिणारूप में दे सके दे। क्योंकि हवि दक्षिणा के बिना नहीं दी जातो। अतः प्रकृत ब्राह्मणभोजनरूपी हवि भी बिना दक्षिणा के नहीं होनी चाहिए। कितने हो याज्ञिकों का कथन है कि आग्रयणेयेष्टि में अधिकृत अनीजान (सोम-याग दर्शपूर्णमासादि याग जिसने नहीं किए हैं) यजमान को नवीन धान्य से अग्निहोत्र करना चाहिए। जैसा कि कात्यायन[3] तथा आपस्तम्ब[4] ने कहा है।

---

१. 'प्रथमजो गौर्दक्षिणा' (का०श्रौ०सू० ४।३६४)

२. 'दर्शपूर्णमासानीजानो दक्षिणाग्निपक्वं चातुष्प्राश्यं ब्राह्मणान् भोजयेन् किञ्चिद्दद्यात्' (का०श्रौसू० ४।१६६)

३. 'अग्निहोत्रायणिनो नवैः सायम्प्रातरग्निहोत्रहोमः' (का०श्रौ०सू० ४।१६७)

४. 'अपि वा नवानां यवानां सायं प्रातर्जुहुयात्' इति (भाव०सू०)

किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अग्निहोत्र में नवीन धान्य को आहुति नहीं देनी चाहिए। ऐसा करने से इन्द्र, अग्नि आदि आग्रयणेष्टि देवताओं का अग्निहोत्र के देवताओं के साथ कलह होगा। आग्रयणेष्टि भिन्न है तथा अग्निहोत्र भिन्न है। अतः अग्निहोत्र में नवीन अन्न की आहुति नहीं देनी चाहिए ॥१४॥

॥ इत्याग्रयणेष्टिः ॥

आग्रयणेष्टि

(भाष्य) यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—प्रकृतियज्ञ और विकृतियज्ञ। प्रकृतियज्ञ में जो भी कार्य किये जाते है, वे ही कार्य लगभग विकृतियज्ञ में किये जाते हैं। जब तक प्रकृतियज्ञ का ज्ञान नहीं होता तब तक विकृतियज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—यह सिद्धान्त है। अतएव ग्रन्थारम्भ नियमतः प्राप्त अग्न्याधान एवं अग्निहोत्र से न करके, दर्शपूर्णमास से प्रारम्भ किया गया है जो कि अग्निहोत्र की प्रकृति है। प्रकृत में जो इष्टि है, वही विकृति इष्टि समझनी चाहिए। ये विकृतयज्ञ (इष्टि) लगभग २००० हैं। इनमें से कितनी ही इष्टियाँ काम्य हैं एवं अग्निहोत्र, आग्रयणादि कितनी ही इष्टियाँ नित्य हैं।

सबसे पहिले अग्निहोत्र किया जाता है, बाद में दर्शपूर्णमास किया जाता है, तदनन्तर पिण्डपितृयज्ञ किया जाता है। उसके बाद क्रमप्राप्त आग्रयणेष्टि की जाती है। जिस यज्ञ में पुरोडाश की आहुति दी जाती है, यह यज्ञ इष्टि कहलाता है। पुराडोश वाले सारे यज्ञ इष्टि शब्द से व्यवहृत होते हैं। जिन यज्ञों में पशु की वपा की आहुति दी जाती है, वे सारे यज्ञ पशुयज्ञ कहलाते हैं एवं जिसमें ४० ग्रहों की (सोम रस की) आहुति दी जाती है, वह यज्ञ सोमयज्ञ कहलाता है। इस प्रकार आहुतिभेद से यज्ञ-इष्टि, पशु और सोम भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं। प्रकृतयज्ञ में चूंकि पुराडोश दिया जाता है, आग्रयण में पुरोडाश की ही आहुति दी जाती है। अतएव इसे पशु और सोम न कह कर 'इष्टि' कहा गया है।

अमरकार ने यद्यपि संवत्सर, शरत्, हायन इत्यादि सबको पर्यायवाचक माना है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर मालूम होता है कि संवत्सर दूसरे अभिप्राय से कहा जाता है, शरत् के और ही कुछ अर्थ हैं। हायन का प्रयोग किसी अन्य ही अर्थ में होता है। सारे शब्द भिन्न-भिन्न स्थानों में व्यवस्थित हैं। एक शब्द का दूसरा शब्द पर्याय हो सकता

है—यह बात स्वीकार करना वैज्ञानिक मस्तिष्क के बाहर की बात है। अतः अमरकार ने जो—'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत् समाः'—लिखा है, उससे पर्याय के भ्रम में न पड़ कर केवल वर्ष नामों का संग्रह समझना चाहिए। वस्तुतः संवत्सर किसी अन्य भाव में व्यवहृत होता है। शरत् दूसरे भाव में परिणत रहता है। हायन की व्यवस्था किसी अन्य ही स्थान में व्यवस्थित है। पृथिवी सूर्य के चोतरफ परिक्रमा लगाती है। इसकी परिक्रमा ३६० दिन में पूरी हो जाती है। पृथ्वी में एक प्रकार का अग्नि रहता है जिससे कि पृथ्वी की स्थिति रहती है। यह अग्नि ऋत और सत्य भेद से दो प्रकार का है। जो केन्द्र में बद्ध अग्नि है, वह सत्याग्नि कहलाता है एवं जो परिभ्रमण के कारण पृथिवी से अलग हो, अन्तरिक्ष में व्याप्त हो सकता है, वह ऋत अग्नि कहलाता है। इस ऋत अग्नि का उस अन्तरिक्ष में व्यापक सोम से संघर्ष हुआ करता है अर्थात् गर्मी और सर्दी में परस्पर उतार-चढ़ाव होता रहता है। कभी गर्मी की विजय होती है--कभी सर्दी की। इस सोमसंघर्ष से ऋताग्नि ऋतु-अग्नि कहलाने लगता है। चूंकि यह अग्नि ६ प्रकार से ६ भावों में परिणत हो जाता है, अतएव ऋतुएँ ६ कहलाती हैं। पृथिवी की एक वार्षिक परिक्रमा में ६ ऋतुओं का अर्थात् आर्त्तव अग्नि का पूरा स्वरूप बन जाता है। इसी ऋतु-अग्नि से संसार के भावों-पदार्थों का निर्माण होता है। इस ऋतु-सम्बन्ध से वर्ष को संवत्सर कहा जाता है। आर्तव वत्सर को ही संवत्सर कहते हैं। इसी अग्नि से पदार्थोत्पत्ति होती है एवं इसी के सम्बन्ध से षट्ऋतुसमष्टि को 'संवत्सर' कहते हैं। अतएब सृष्टि-निर्माण-प्रक्रिया में 'संवत्सरो वै प्रजापतिः' यह कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि ऋतु-अग्नि-सम्बन्ध में ही 'संवत्सर' शब्द का प्रयोग होता है। इससे वेद में जहाँ संवत्सर शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ ऋतु से ही सम्बन्ध समझना चाहिए। जो ऋतुसमष्टि है, 'संवत्सर' शब्द उसीके लिए व्यवहृत होता है। इसी प्रकार जहाँ आयु का सम्बन्ध हो, आयु से वर्षगणना करना हो, वहाँ 'शरत्' शब्द का प्रयोग होता है। हम कितने वर्ष जीयें, हमें देवता से कितनी आयु मांगनी चाहिए, इसके उत्तर में वेद भगवान् कहते हैं —

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः। यजुः सं०

तात्पर्य यह है कि आयुसम्बन्धसे ही 'शरत्' शब्द का प्रयोग होता है, न कि 'संवत्सर' 'शरत्' का पर्याय है और न ही 'शरत्' संवत्सर' का पर्याय है। वह दूसरे भाव में रूढ है, वह दूसरी जगह व्यवस्थित है। एवमेव धान्यसम्बन्ध से—फसल के सम्बन्ध से—जहाँ 'वर्ष' का व्यवहार करना हो, वहाँ हायन शब्द का प्रयोग करना चाहिए। धान्य के सम्बन्ध में हायन शब्द रूढ है। जहाँ हायन शब्द का प्रयोग हो, वहाँ समझ लेना चाहिए

कि इसका सम्बन्ध फसल से है। वह फसल वर्ष भर में तीन बार होती है—अर्थात् अन्न तीन प्रकार का पैदा होता है। शारद, हैमन्त, ग्रैष्म। इस ग्रैष्म फसल को ही मुसलमान रबी कहते हैं। वस्तुतः इसका नाम 'रव्यम्' है। सूर्य के प्रखर ताप से ग्रैष्मान्न का परिपाक होता है, अतएव इसे 'रव्यम्' कहते हैं। उत्पत्ति—स्त्रीलिंग वाचक शब्द है, अतः—'तत्समये जातान्नोत्पत्तिः रवी' शब्द से कही जाती है। इस हायन का प्रारम्भ दो-तीन प्रकार से किया जाता है। जिस दिन सूर्य उत्तरायण में होता है, उस दिन से (फाल्गुन की पूर्णिमा से) हायन का आरम्भ माना गया है। पूर्वफल्गुनी और उत्तरफल्गुनी, इन दोनों में से उत्तरफल्गुनी से ही हमारे वर्ष का प्रारम्भ माना गया है, एवं पूर्वफल्गुनी पूर्ववत्सर में चला जाता है।

एवं दूसरे पक्ष के अनुसार, जिसे कि प्रकृत में माना गया है, अगहन (मार्गशीर्ष) से हायन का आरम्भ माना गया है। अन्न की उत्पत्ति के सम्बन्ध से व्यवहृत जो हायन शब्द है, उसका आरम्भ अगहन से ही माना गया है। अन्न से अखिल विश्व की स्थिति रहती है। इस अन्न का आरम्भ अगहन से ही माना जाता है। अतः भगवान् मासों में अगहन मास की ही श्रेष्ठता दिखलाते हुए कहते हैं—'मासानां मार्गशीर्षोऽस्मि।'

इस प्रकार हायन का अग्रभाग मार्गशीर्ष से माना गया है—यह दूसरा मत है और यही इस पक्ष का सिद्धान्त है। चूंकि यह इष्टि इस हायन के अग्रभाग में अर्थात् प्रारम्भ में होती है, अतः इस इष्टि को 'आग्रयणेष्टि' कहते हैं। 'हायनस्याग्रमाग्रहायणम्—तत्र भवः आग्रहायणिकः। आग्रहायणिक एव परोक्षत्वेन आग्रयणः।'

वैदिक महर्षि प्रत्येक बात को परोक्ष करके ही बोला करते हैं, अतएव वे आग्रहायण न कहकर 'आग्रयण' ही कहते हैं। मार्गशीर्ष से वर्ष का आरम्भ होता है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण लौकिक व्यवहार ही है। लोक में—आग्रहायण सम्बन्ध से ही—आज भी इसे 'अगहन' ही कहते हैं। अगहन, आग्रहायण का ही अपभ्रंश है। हमें प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि चूंकि यह इष्टि हायन के अग्रभाग में की जाती है, अतएव इसे 'आग्रयणेष्टि' कहते हैं। परन्तु स्मरण रहे, यहाँ धान्य-सम्बन्ध से ही 'हायन' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस दिन (हायन के प्रारम्भ में) इष्टि क्यों की जाती है। इसकी उपपत्ति कुषीतक के पुत्र 'कहोड' नाम के महर्षि बतलाते हैं—

संसार के जितने भी अन्न हैं, वे सभी पृथिवी और सूर्य के रस से उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वे पृथिवी के प्राण से पृथिवी पर ही पैदा होते हैं परन्तु ऋतु के सम्बन्ध से सौररस भी पार्थिव रस में शामिल रहता है। ऋतुसम्बन्ध से ही पदार्थोत्पत्ति होती है। सूर्य सहस्रांशु कहा जाता है। उसकी प्रत्येक किरण भिन्न-भिन्न ऋतु वाली होती है। पृथिवी पर सूर्य की जिस किरण का सम्बन्ध होता है, उस समय वही वस्तु उत्पन्न होती है। यदि पृथिवी

अपनी जननक्रिया में स्वतन्त्र होती तो सदा सारी वस्तुएँ एक साथ पैदा होती रहतीं, परन्तु ऐसा नहीं होता । आम गर्मी में ही पैदा होता है, सर्दी में आम कदापि पैदा नहीं हो सकता। गोभी सर्दी में ही पैदा होती है, क्यों नहीं गर्मी में पैदा होती, जब कि पार्थिव रस विद्यमान है । इससे मानना पड़ता है कि इस उत्पत्ति में ऋतु भी कारण है । जिस समय जिसकी ऋतु होती है, उसी समय वह पदार्थ उत्पन्न होता है—अन्य समय में नहीं । ऋतु में भी जिस ऋतु की रश्मि का पार्थिवप्राण से सम्बन्ध होता है, उसी ऋतु की वस्तु उत्पन्न होती है. अन्य की नहीं होती एवं ऋतु का सम्बन्ध सूर्य से है । अतएव श्रुति कहती है—

'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः ।।' इति ।।

पिता सूर्य है अर्थात् द्यौ है एवं माता पृथिवी है, इन माता-पिता के संयोग से ही संसार के यच्च यावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है । पिता माता के गर्भ में रेत.सेचन करता है । उस सिक्त रेत को माता ९ मास गर्भ में रख कर १०वें महीने उसका प्रजनन करती है । ठीक यही दशा इस अन्न की उत्पत्ति में समझनो चाहिए। पिता सूर्य पृथिवी में अपना रेत सिक्त कर देता है । पृथिवी उसके रेत से एवं अपने भी रस से कालान्तर में अन्न उत्पन्न कर देती है । पिता रेतःसेचन करता है, पुत्र माता के गर्भ में ९ मास रह कर उत्पन्न होता है । इसी प्रकार सूर्य पृथिवी में रेतःसेचन करता है । पृथिवी उसे अपने उदर में रखती है और अपने में से अन्न को पैदा करती है । पृथिवी माता है, सूर्य (द्यौः) पिता है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है –

'द्यौ पितः पृथिवी मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडता नः ।
विश्व आदित्या अदितेः सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त ।।' इति ।।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि सारे अन्न पार्थिव रस और द्युरस से उत्पन्न होते हैं । हम (मनुष्य) पृथिवी पर उत्पन्न होते हैं, अतः यह अन्न हमारा भोग्य है, पार्थिव सम्बन्ध से यह हमारी भोग्य सामग्री है । जिस प्रकार पार्थिव सम्बन्ध से हम इस अन्न के भागीदार हैं उसी प्रकार द्युरस के भी अन्न में सम्मिलित होने से द्युनिवासी देवताओं का भी इसमें हिस्सा होना आवश्यक है । जिस प्रकार हम अन्न पर अपना स्वत्व समझते हैं उसी प्रकार द्युनिवासी देवताओं का भी इसमें स्वत्व (भाग है) इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि नवीन फसल उत्पन्न होने पर पहिले देवताओं को वह अन्न दे जिनकी कृपा से अर्थात् जिनके लोक के रससे यह अन्न उत्पन्न हुआ है तथा जिनकी कृपा से हमारी जीवनस्थिति है । देवताओं को बिना दिये भक्षण करने पर हम कृतघ्न कहलायेंगे । उन्हें बिना निवेदन किए हुए भक्षण करना अन्याय है । अतः देवताओं को समर्पित कर के ही नवीन अन्न काम में लाना चाहिए । देवताओं को नवीन अन्न निवेदन करने के लिए ही हायन के अग्र भाग में

(वर्ष के प्रारम्भ में) आग्रयणेष्टि की जाती है। इसी अभिप्राय से कौषीतकि कहोडक महर्षि कहते हैं—'व्रीहियवादि ओषध्यात्मक अन्न इस पृथिवी व द्युलोक का रस है। अर्थात् पार्थिव द्युलोक के रस से इस अन्नरस की उत्पत्ति हुई है। चूंकि हमारी तरह देवों का भी इसमें भाग है अतः इस रस को पहिले देवताओं को देकर हुतशिष्ट को ही हमें खाना चाहिए, इसीलिए आग्रयणेष्टि से यजन किया जाता है। 'अनयोर्वा अयम् (अन्नरसः) द्यावापृथिव्यो रसः। अस्य रसस्य हुत्वा देवेभ्यः अथेमम् (अन्नम्) अश्नीम (भुञ्जीमहे) इति। तस्माद्वा आग्रयणेष्टचा यजते इति' ॥१॥

इस प्रकार से कहोडक महर्षि कहते हैं कि नये अन्न को देवताओं को निवेदन करके हुतशिष्ट को ही खाना चाहिए, क्योंकि उसमें द्युरस भी शामिल है, अतः हमारी तरह देवताओं का भी इसमें हिस्सा है।'

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य—'यह देवताओं की वस्तु है, अतः उनको निवेदन करके खाना चाहिए' इस समाधान से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे आग्रयणेष्टि में किसी खास वैज्ञानिक रहस्य को छुपा हुआ समझते हैं। उनका कहना है कि यदि ऐसा करके न खायेंगे तो शरीर में बीमारी हो जायगी। अतः विवश होकर हमें आग्रयणेष्टि करनी पड़ती है। वे जो उपपत्ति बतलाते हुए कहते हैं—

संसार के यावन्मात्र पदार्थों में देवता, पितर, असुर एवं पशु रहते हैं। देवता कुल ३३ हैं, असुर ९९ हैं, पितर ७ हैं—ये कुल मिल कर के पदार्थ का स्वरूप बनाते हैं। हाँ! तारतम्य इसमें अवश्य होता है। किसी में देवता दवे रहते हैं एवं असुर उद्भूत रहते हैं। किसी में असुर अनुद्भूत रहते हैं एवं देवता उद्भूत। 'किस ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए ?'—यह हम इस प्रकरण के प्रारम्भ में बतला आये हैं कि देव शब्द ३३ देवताओं के लिए आता है, एवं देवता शब्द देव, असुर, पशु इत्यादि सब के लिए आता है। वरुण यद्यपि असुर हैं परन्तु अपनी मण्डली में वे ही देवता हैं। पितर भी देवता हैं, इसीलिए तो पितृकर्म को पितृदेवत्व कहते हैं। इसीलिए तो पंचाङ्गकर्ता पितृकर्म वाली अमा को 'देवकार्यामा' कहते हैं। तात्पर्य यही है कि असुर, पितर, देव, पशु, गन्धर्व इत्यादि शब्द व्याप्य हैं, एवं देवता शब्द व्यापक हैं। देवता सब हैं। चूंकि इन्हीं से यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति होती है, अतएव श्रुति कहती है—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः।'

'देवताभ्यः' यह पद श्रुति में दिया गया है। इससे असुरादि सब देवताओं का ग्रहण समझना चाहिए। हमें प्रकृत में अन्य किसी देवता के विषय में नहीं कहना है। केवल असुर और देवताओं के विषय में ही कुछ कहना है। देवता और असुर दोनों ही प्रजापति की

सन्तान हैं। इनमें सदा परस्पर कलह होता रहता है. अर्थात् असुरभाव देवभाव का घोर विरोधी है। यदि देवता और असुर का स्पष्ट अर्थ जानना है तो हम यही बतलायेंगे कि जो आत्मा का हितकारी पदार्थ है, वह देवता है एवं अहितकारी असुर है। हितकारी पदार्थों में असुर नहीं है—यह बात नहीं समझ लेना चाहिए। वे हितकारी अवश्य है, परन्तु चूंकि उसमें असुर पराभूत हो रहे हैं, अर्थात् उसमें देवभाव उल्वण है एवं असुरभाव अनुल्वण है। अतएव हितकारी पदार्थ को केवल देवतायुक्त ही कहा जाता है, एवं अहितकारी को असुरयुक्त कहा जाता है। हमारा आत्मा सूर्य से बनता है, अतएव आत्मविरोधी पदार्थों को हम असुर कहते हैं। तमोमय प्राण को असुर एवं शुक्लप्राण को देवता कहते हैं। शुक्ल प्राण सूर्य में रहते हैं, अतएव सूर्य को देवताओं का अनीक बतलाया गया है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥'

इसी सूर्य से हमारा आत्मा बनता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि यदि हम घोरतम अंधकार में चले जाते हैं तो हमारा आत्मा तड़फड़ाने लगता है—व्याकुल होने लगता है। आश्चर्य नहीं, यदि हम ज्यादा समय तक वहाँ ठहर जायें, तो आत्मा उत्क्रांत हो जाय। इससे प्रतीत होता है कि आत्मा प्रकाश से सम्बन्ध रखने वाला है। सूर्य. चन्द्र. अग्नि, वाक् एवं आत्मा—इन पांचों प्रकाशों में से किसी एक प्रकाश की स्थिति अवश्य ही रहनी चाहिए। अन्यथा आत्मा की स्थिति कदापि नहीं रह सकती है। इसीलिए इस आत्मपुरुष के लिए—

'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'—(शत०) यह कहा गया है।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जो हमारी आत्मा का हितकारी पदार्थ हैं वही देवता हैं, और जो विरोधी पदार्थ हैं वही असुर हैं। आत्मा सूर्य से बनता है। सूर्यविरोधिप्राण को असुर कहते हैं, अतः आत्म-विरोधपदार्थ को भी असुर ही कहते हैं। ये असुर और देवता सदा परस्पर लड़ते रहते हैं, कभी देवभावमय आत्मा रहता है और कभी असुर-भावमय। कभी सात्विक प्रवृत्ति रहती है. कभी तामसिक। सात्विक का ही नाम देवता है और तामसिक का नाम असुर। यह तो हुई हमारे शरीर की बात, अब अन्न के विषय में लीजिए। हमने बतलाया था कि प्रत्येक पदार्थ में देवता, असुर एवं पितरादि रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि अन्न में जैसे मधुर रस रहता है, साथ ही उसमें एक प्रकार का विष भी रहता है। जो वस्तु नई उत्पन्न होती है, उसमें एक प्रकार का विष रहता है। जो आंवला अत्यन्त गुणकारी पदार्थ हैं, उसे उत्पन्न होते ही यदि खाया जाय तो वह हानि पहुँचायेगा। क्योंकि उसमें गुण के साथ-साथ एक प्रकार का दोष भी रहता हैं। तात्पर्य यह है कि उत्पन्न अन्न में एक प्रकार का विष रहता है। अन्न में तृप्तिकारक रस (देवता) भी

रहता है, परन्तु साथ ही विष भी। बस, यही देवता व असुरों का संग्राम है। इसी अभिप्राय से—'देवाश्च असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे'। यह कहा गया है।

पूर्व प्रकरण में बतलाया है कि मनुष्यों के आश्रय से पशु रहते हैं, एवं देवताओं के आश्रय से मनुष्य। मनुष्य-शरीर में किंवा पशु शरीर में सदा देवासुर-संग्राम हुआ करता है। सदा देवप्राण व असुर प्राण का युद्ध होता रहता है। कभी सात्विक भाव का उदय होता है और कभी तामस भाव का। परन्तु इस युद्ध में एकान्ततः असुर लोग देवताओं को परास्त नहीं कर सकते हैं। जब असुरों ने देखा कि इस प्रकार काम नहीं चलेगा अन्तरङ्ग युद्ध में देवताओं को परास्त करना कठिन है, अतः कोई ऐसा उपाय सोचना चाहिए, जिससे देवताओं को मनुष्य और पशुप्रजा के साथ नष्ट कर दें। यह विचार कर असुरों ने, जिन ओषधियों से मनुष्य एवं पशु अपनी जीवनसत्ता रखते हैं–उन दोनों प्रकार की ओषधियों में कुछ में तो कृत्यारूप से प्रवेश कर लिया एवं कुछ में उन ने जहर लपेट दिया। उन्होंने सोचा कि देवताओं को परास्त करने का और कोई उपाय नहीं है। अतः इसी उपाय से हम उनको परास्त करेंगे। तात्पर्य इसका यही है कि नये अन्न में एक प्रकार का विष होता है जो कि आत्मबल को गिरा देता है। हमारा सारा तर्कशास्त्र शरीररक्षा की अपेक्षा आत्म-रक्षा को विशेष लक्ष्य रखता है। आचारधर्म पर भी लक्ष्य रखता है, परन्तु वह भी आत्मा के लिए ही। नवीन अन्न में एक प्रकार का नशा होता है, जो मनुष्य को उन्मत्त सा बना देता है। यही उस अन्न पर विष का लेप है। तथा कितने ही पदार्थ ऐसे होते हैं जो कि अच्छे प्रतीत होने पर भी परिणाम में भयङ्कर सिद्ध होते हैं। यही औषधियों पर असुरों का कृत्या-प्रयोग है। हमें मालूम नहीं पड़ता है कि यह वस्तु बुरी है, परिणाम में वह बुरी सिद्ध होती है। यही असुरों का कृत्यारूप से उस पदार्थ में स्थित होना है। जिस समय यज्ञविद्या का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय इन असुरों (विष) को नष्ट करने का कोई साधन नहीं था। जब मनुष्य नवीन अन्न को खाने लगा तो उसका चित्त उससे घबड़ाया। उन्होंने देखा कि अन्न पर जहर लगा हुआ है, अतः मनुष्यों और पशुओं दोनों ने ही उस अन्न को खाना छोड़ दिया। वैदिक कथायें अध्यात्म, अधिभूत एवं अधिदैवत तीनों पर दृष्टि रखती हैं। विज्ञान को लक्ष्य में रखती हुई वैदिक कथायें इतिहास पर भी दृष्टि रखती हैं, यही कारण है कि प्रायः इन कथाओं पर सन्देह हो जाता है, क्योंकि उन कथाओं में विज्ञान की धारा रहती है और कहीं इतिहास की। परन्तु इस संशय में पड़ कर सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए। प्रकृत कथा भी ऐसी ही है। प्रकृति के अनुसार साध्य जाति में उत्पन्न भगवान् ब्रह्मा ने जिस समय त्रिलोकी की रचना की थी, उस समय इसी लोक में स्वर्ग, अन्तरिक्ष एवं पृथिवी इन तीन लोकों की व्यवस्था थी। प्रकृतिवत् स्वर्ग (रूस) में मनुष्य देवता रहते थ। अन्तरिक्ष में

तिर्यक् योनियां रहती थीं, एवं पृथिवी लोक (भारतवर्ष) में मनुष्य रहते थे, जो कि उन भुवनस्वर्गवासी देवताओं की प्रजा थे। जिस प्रकार देवताओं को त्रिलोकी दी गयी थी वैसे ही अफ्रीका आदि तीन लोक असुरों को दिये गये थे। परन्तु असुर स्वभाव से ही देव-विद्वेषी थे। वे सदा देवों को नष्ट करने का प्रयास करते रहते थे। परन्तु देवों में विद्या-बल अधिक था, अतः असुर-माया उनका एकान्ततः पराभव नहीं कर सकती थी। जब उन्होंने और कोई उपाय न देखा तो इन देवों की प्रजा मनुष्य व पशुओं को नष्ट करना चाहा। असुर जानते थे कि जब प्रजा ही नहीं रहेगी तो देव शासन किस पर करेंगे। अतः प्रजा के नष्ट होते ही देव स्वतः पराभूत हो जायेंगे। यह विचार कर असुरों ने कृत्या से एवं विष से, मनुष्य और पशुओं के खाद्य अन्न को दूषित कर दिया। मनुष्य और पशुओं ने जब उसे खाया तो वे बेहोश होने लगे। अन्त में जब उन्हें पता लगा कि इनमें तो विष लगा हुआ है तो उन्होंने उस विषमिश्रित अन्न को खाना छोड़ दिया। बिना अन्न खाये धीरे-धीरे पशु व मनुष्य मरने लगे। जब देवों को अपनी प्रजा की दुर्दशा का समाचार मिला तो उन्होंने सुधर्मा सभा में विचार किया कि हे देवताओं! हम इन ओषधियों के इस विष का नाश करें! तथा ऐसा कौनसा उपाय है जिससे कि उस विष को दूर कर सकें। अन्त में निश्चय किया कि यज्ञविद्या ही एक ऐसी विद्या है जिससे यह विष दूर हो सकता है। अतः उसीसे हम इस विष को दूर करेंगे। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उस समय के जो देवता और महर्षि थे, उनकी जो इच्छा होती थी उसे वे इस यज्ञ द्वारा ही पूरा करते थे। 'यज्ञेन वै ह स्म वैतद्देवाः कल्पयन्ति यदेषां कल्प्यमासर्षयश्च।' इति। इसी अभिप्राय से 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' यह कहा जाता था।

इस प्रकार अन्न के विष को यज्ञ द्वारा दूर करने का निश्चय कर उन्होंने परस्पर एक प्रश्न और उपस्थित किया कि यदि हम इस अन्न को विषरहित कर दें तो उसके बदले में हमारा मनुष्य प्रजा प्रत्युपकार करेगी तो वह भाग किसका होगा? जिस ममत्व ने आज भारतवर्ष को नष्ट कर डाला, जिस आन्तरिक क्लेश ने देश को पराधीन बनाया उसी ममत्व का बीज देवों में उत्पन्न हुआ। अग्नि ने कहा वह हिस्सा मेरा होगा। इन्द्र ने कहा मेरा, व वायु ने कहा मेरा। तात्पर्य यह है कि इस विषय को लेकर सब परस्पर कलह करने लगे और वे इस बात का निश्चय न कर सके कि वह हिस्सा किसका होगा? जब विचार (बुद्धिबल) से इसका निश्चय न हो सका तो वे शरीरबल का आश्रय लेकर अर्थात् युद्ध द्वारा इस झगड़े का समाधान करने को उद्यत हुए। अन्ततोगत्वा उसी समय उस यज्ञभाग के लिए देवताओं में परस्पर युद्ध ठहर गया। उस युद्ध में इन्द्र और अग्नि ये दो ही देवता जीते। अर्थात् इन्द्र और अग्नि को छोड़ कर और कौन जीत सकता है? क्योंकि उस युद्ध में इन्द्र और अग्नि ही जीते, अतः इस आग्रयणेष्टि में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है।

यहां तक इस कथा का ऐतिहासिक पक्ष हुआ । वैज्ञानिक पक्ष निम्न प्रकार से है—

संसार में नवीन उत्पन्न होने वाले अन्न में एक प्रकार का विष रहता है, यही असुर-कृत विषलेपन है । तात्कालिक देवताओं (वैज्ञानिकों) ने इस विष की परीक्षा कर उसे दूर करने के लिए इस आग्रयणेष्टि का स्थापन किया । उन्होंने आग्रयणेष्टि में अन्नशुद्धि के ऐसे उपाय रखे, जिससे अन्न का सारा दोष निवृत्त हो जाय । देवता और असुर पदार्थ-मात्र में रहते हैं—यह बात पहिले बतलायी जा चुकी है । देवता ३३ हैं, जब तक दूषित विषभाव इस अन्न में रहता है तब तक वह देवता का भोग्य नहीं अर्थात मधुर रस तब तक कृतकार्य नहीं हो सकता, जब तक उसमें से विषभाग को न हटा दिया जाय। उस विषभाग के हटने से अन्न में देवभाग का उदय होता है अर्थात् अन्न में जो एक प्रकार का 'ऊर्क् रस' पैदा करने का सामर्थ्य है, जो कि देवस्वरूप है, वह सामर्थ्य तभी उल्वण होती है, जब कि उपायान्तर से उस नवोत्पन्न अन्न के विष को दूर कर दिया जाय । अन्न में असुर और देवता दोनों रहते हैं। पार्थिव देवता और द्युदेवता एवं मरुदादि देवता, जो कि विश्वे-देव नाम से व्यवहृत होते हैं, इस अन्न में सम्मिलित रहते हैं। पार्थिव देवता को अग्नि और द्युदेवता को इन्द्र कहते हैं । इसी इन्द्र को सूर्य भी कहा करते हैं। इसी अभिप्राय से—'अनयोः द्यावापृथिव्योः रसः' यह कहा गया है । यज्ञ द्वारा अन्न का विषभाग दूर होने पर उसमें देवभाव ही रह जाता है । देवता ३३ हैं, इनमें भी अन्न में अग्नि और इन्द्र दो ही देवता प्रधान रहते हैं । वायु आदि देवता का सम्बन्ध भी अन्न से रहता है परन्तु, अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अग्नि और इन्द्र का ही है । इसी बात को अलंकाररूप से तथा ऐतिहा-सिक भाव को सूचित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'ताविन्द्राग्नी उदजयताम्' इति । इस प्रकार से जब इष्टि द्वारा नव्यान्न के असुरभाव को नष्ट कर दिया जाता है, तब उस अवशिष्ट शुद्धभाव को देवताओं के लिए देना आवश्यक है । क्योंकि इन्द्राग्नि ही इसमें प्रधान है, अतएव इस इष्टि में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश दिया जाता है। इस अभिप्राय से कहते हैं—

'देवता और असुर, जो कि दोनों ही प्रजापति की संतान थी, युद्ध करने लगी। जब असुर देवताओं को युद्ध द्वारा परास्त न कर सके तो उन्होंने मनुष्य और पशुओं के भोज्य अन्न को कृत्या से दूषित कर दिया तथा विष से लिप्त कर दिया । उन्होंने कहा कि—'और किसी उपाय से न सही तो देवताओं की प्रजा को नष्ट करने रूपी उपाय से ही देवताओं को परास्त कर दें ।' जब असुरों ने अन्न को विष से लिप्त कर दिया तो मनुष्य व पशुओं ने उसे खाना छोड़ दिया । और इस प्रकार मनुष्य व पशु प्रजा नष्ट होने लगी ।।२।।

जब देवताओं ने सुना कि हमारी प्रजा अन्न न खाने के कारण पराभूत हो रही है

तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने एक सभा की और उसमें उन्होंने कहा कि ऐसा कौन उपाय है जिससे इस अन्नविष को दूर किया जा सके। वहां बैठे हुए वैज्ञानिकों ने उत्तर दिया कि यज्ञ से ही यह कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। देवता और महर्षि यज्ञ द्वारा ही जो चाहते थे उसे कर सकते थे ॥३॥

देवताओं ने कहा कि यह यज्ञभाग किसका होगा ? सभी यह कहने लगे कि मेरा होगा, मेरा होगा। इस प्रकार विवाद में पड़ कर वे किसी निर्णय पर न पहुंच सके। अन्त में युद्ध द्वारा इसका निर्णय कर लें यह निश्चय हुआ। अर्थात् जो कोई युद्ध में जीतेगा वही यज्ञभाग लेगा। अन्त में युद्ध छिड़ गया ॥४॥

उस युद्ध में अग्नि और इन्द्र जीते। इसीलिए आग्रयणेष्टि में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश दिया जाता है।

नए अन्न में विद्यमान को देख कर तात्कालिक भुवनस्वर्गवासी मनुष्य-देवताओं ने उस विष को दूर करने के लिए आग्रयणेष्टि की थी एवं द्यावापृथिवी (इन्द्राग्नी) के रससे निष्पन्न उस अन्न का 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' के अनुसार ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश दिया था। भुवनस्वर्गवासी इन्द्र अग्नि आदि देवताओं का आत्मा प्राकृतिक इन्द्र और अग्नि से ही बना हुआ था। अतः वे अपने में और उन नित्यप्राण देवताओं में अभेद-व्यवहार किया करते थे। इसीलिए 'तद्ध देवाः शुश्रुवुः' यह सुनने वाले मनुष्य देवता के लिए ही यह भाग बतला दिया गया है। अर्थात् यह भेद नहीं बतलाया गया कि सुनने वाले मनुष्य देवता थे तथा पुरोडाश पाने वाले प्राणदेवता थे।

यह बतलाया जा चुका है कि अग्नि और इन्द्र के साथ ही अन्नदेवता भी अन्न में सम्मिलित रहते हैं जिन्हें कि विश्वेदेव कहा है। वे भी इन्द्र अग्नि के साथ प्रजारूप से रहते हैं अतएव इस दृष्टि से इन्हें भी चरु दिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

जिस समय इन्द्र और अग्नि अपने हिस्से को जीत कर एक तरफ खड़े हुए, उसी समय विश्वेदेव भी उनके पास उपस्थित हुए ॥५॥

इन्द्र और अग्नि क्षत्र (सरदार) हैं तथा विश्वेदेव विट् अर्थात् इन्द्राग्निरूप राजाओं की प्रजा है। अर्थात् इन्द्र और अग्निप्राण के साथ सारे देवप्राण सम्मिलित हैं। अग्नि और इन्द्र के ही अवान्तरस्वरूप सारे देवता हैं अतः इन्हें प्रजा कहा गया है तथा इन्द्र और अग्नि को क्षत्र। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जहां जिस समय क्षत्र अर्थात् राजा किसी वस्तु को जीत कर अपने अधिकार में करता है उसकी प्रजा भी उसमें भागीदार बन जाती है। अर्थात् राजा की विजय प्रजा की विजय है। राजा की वस्तु प्रजा की वस्तु है। जब विश्वेदेव इन्द्र और अग्नि के पास गये तो उन देवताओं ने अपने हिस्से में से उन्हें भी दिया। 'तद्विश्वान् देवानन्वाभजताम्' इति।

चूंकि यज्ञविद्या के आविष्कारकर्ताओं ने विश्वेदेव चरु विश्वेदेवों के लिए दिया था अतः 'यद्दै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस नियम के अनुसार हमारे इस यज्ञ में भी वैश्वदेव चरु होता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'क्षत्रं वा इन्द्राग्नी। विशो विश्वेदेवा। यत्र वै क्षत्रमुज्जयति अन्वाभक्ता वै तत्र विट्। तद् विश्वान् देवान् अन्वाभजताम्। तस्मादेष वैश्वदेवश्चरुर्भवति' ॥६॥

वैश्वदेव चरु चावलों का होता है। कितने ही याज्ञिकों का मत है कि वैश्वदेव चरु पुराने चावलों का करना चाहिए। यद्यपि यह इष्टि नव्यान्न की है फिर भी निम्न लिखित कारणवश वैश्वदेव चरु पुराने चावलों का ही बनाना चाहिए। क्योंकि ये इन्द्र और अग्नि क्षत्र हैं, सरदार हैं, अधिष्ठाता हैं। अतः दोनों (इन्द्राग्नी क्षत्र एवं विश्वेदेव प्रजा) के लिए नव्यान्न का हवन करना क्षत्र पर विट् को आरूढ़ करना है। अर्थात् दोनों को समान भोजन देकर दोनों को समान हैसियत का बनाना है। इस अनौचित्य को बचाने के लिए अर्थात् स्वामी और सेवक को एक श्रेणि में रखने से बचाने के लिए वैश्वदेव चरु पुराने चावलों का बनाना चाहिए। ऐसा करने से स्वामी (अधिष्ठाता) व सेवक समान श्रेणि के नहीं रहते। इसीलिए कहा है—'नेत्क्षत्रमभ्यारोहयाणि'। इति।

परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि पुराने अन्न का तो इस इष्टि में प्रवेश भी नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा किया जायगा तो यज्ञस्वरूप ही नष्ट हो जायगा। अतः दोनों (इन्द्राग्नी व विश्वेदेव) को नव्यान्न की ही आहुति देनी चाहिए। पुरोडाश और चरु के भिन्न वस्तु होने से क्षत्र प्रजा के आक्रमण से भी बच जाता है। अर्थात् अन्नभेद से ही राजा और प्रजा का श्रेणिभेद सिद्ध हो जाता है, इसके लिए पुराने चावलों का चरु बनाने की आवश्यकता नहीं है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'तं वै पुराणानां कुर्यादित्याहुः। क्षत्रं वा इन्द्राग्नी। नेत्क्षत्रमभ्यारोहयाणीति। तौ वाऽउभावेव नवानां स्याताम्। यद्धि पुरोडाश इतरः चरुरितरः। तेनैव क्षत्रमनभ्यारूढम् तस्मादुभावेव नवानां स्याताम्।'

इसके बाद उन विश्वेदेवों ने कहा कि यह अन्न इस पृथिवीलोक और द्युलोक का रस है अर्थात् अन्न का निर्माण इन दोनों कपालों के रस से हुआ है। अतः हम इनके लिए भी इस अन्न में से हिस्सा दें। इस प्रकार विश्वेदेवों ने द्यावापृथिवी के लिए भी एक हिस्सा निश्चित किया जो कि द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश है। इसीलिए इस आग्रयणेष्टि में द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश की आहुति और होती है। यहाँ यदि कोई यह प्रश्न करे कि कपाल दो हैं अतः द्विकपाल पुरोडाश ही होना चाहिए तो इसका यही उत्तर है कि अन्न का साक्षात् सम्बन्ध पृथिवीकपाल से है। अर्थात् द्युरस और पार्थिवरस के लिए कपाल (पात्र) तो एक ही है। यह भूमि ही उन रसों का कपाल है। अतः एककपाल पुरोडाश

ही दिया जाता है। इस प्रकार आग्रयणेष्टि में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश, वैश्वदेवचरु एवं द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश होता है ॥८॥

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश तथा वैश्वदेव चरु इन में तो किसी प्रकार का विवाद नहीं परन्तु पूर्व दो आहुतियों के बाद द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश के देने में विवाद है। इसके देने में आपत्ति है। आपत्ति को ही वेद में परिचक्षा कहते हैं। अतः अब यह परिचक्षा प्रारम्भ होती है—'तस्य परिचक्षा'।

उनका कहना है कि प्रत्येक यज्ञ के अन्त में एक स्विष्टकृत् यज्ञ और होता है। मानवदोष से जो यज्ञ में त्रुटि रह जाती है उस त्रुटि को ठीक करने के लिए अर्थात् दुरिष्टनिवारणार्थ 'स्विष्टकृत्' याग किया जाता है। प्रधान देवता को जिस द्रव्य की आहुति दी जाती है उसी में से 'स्विष्टकृत्' देवता के लिए ही थोड़ासा बचा लेना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि जिस किसी देवता के लिए हवि प्रदान करते हैं अर्थात् किसी भी देवता का यजन करें, उन सभी यज्ञों में स्विष्टकृत् अन्वाभक्त (सम्मिलित) रहता है अर्थात् उन सभी में स्विष्टकृत् देवता भी भागीदार रहता है। यदि यज्ञान्त में स्विष्टकृत्-यजन नहीं किया जाता है तो सारा यज्ञ 'यातयाम' (व्यर्थ) हो जाता है। सारांश यह है कि यज्ञ की साङ्गोपाङ्ग सिद्धि बिना स्विष्टकृत् यजन के नहीं होती।

प्रकृत में यही बतलाना है कि यह आग्रयणेष्टिकर्ता यजमान द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश देता हुआ सारे ही द्रव्य की आहुति दे देता है, स्विष्टकृत् देवता के लिए हिस्सा नहीं रखता। बात यथार्थ है कि वह द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश में से हिस्सा निकल भी नहीं सकता, क्योंकि यदि उसमें से थोड़ा सा भी हिस्सा निकाल लिया जाता है तो एककपाल का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। और यदि नहीं निकालते हैं तो स्विष्टकृत् देवता के यजन के किए बिना यज्ञ अधूरा रहता है। अतः द्यावापृथिव्य एककपाल पुराडोश नहीं देना चाहिए। ऐसा प्राचीन याज्ञिक कहते हैं। उनका कथन है कि इसके स्थान में और किसी द्रव्य की आहुति देनी चाहिए जिसमें स्विष्टकृत् का झगड़ा ही न हो। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'यस्यै वै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते सर्वत्रैव स्विष्टकदन्वाभक्तः। अथैतं सर्वमेव जुहोति न स्विष्टकृतेऽवद्यति। सा परिचक्षा'।

अपि च दूसरी परिचक्षा (आपत्ति) इससे भी भयंकर है। द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश को आहुति देने पर होने वाले निम्नलिखित दोष का कोई समाधान ही नहीं हो सकता। वह दोष निम्नाङ्कित है—

पूर्व प्रकरण में कई स्थानों में बतलाया जा चुका है कि यह यज्ञ स्वर्गप्राप्ति के लिए किया जाता है। १७वें स्थान पर स्थित आहवनीयाग्निरूप दिव्याग्नि को यज्ञ-प्रक्रिया द्वारा

आत्मसात् किया जाता है। शारीर आत्मा का सम्बन्ध उस दिव्यात्मा के साथ किया जाता है। हमारा शारीर आत्मा पृथिवी की प्रतिष्ठा में रहता है। अर्थात् पृथिवी की पकड़ में रहता है। परन्तु जब दिव्याग्नि को शारीराग्नि से संयुक्त कर दिया जाता है तो शारीर आत्मा की पृथिवी से प्रतिष्ठा उच्छिन्न हो जाती है। अर्थात् उसका आत्मा पृथिवी पर रहता हुआ भी पृथिवी के आकर्षण से मुक्त रहता है। दिव्याग्नि के आकर्षण में आहिताग्नि का आत्मा आ जाता है। इसी अभिप्राय से विहित यज्ञों के लिए श्रुति कहती है—'सत्रस्य ऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।'

इस श्रुति से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यज्ञकर्ता का आत्मा देवताओं में समाविष्ट हो जाता है। आहवनीय में आहुति देने से उस आहुति से जो एक प्राण निकलता है जो कि १७वें स्थान में सम्मिलित होता है, के साथ यजमान का मनःप्राणवाङ्मय आत्मा भी चला जाता है। तात्पर्य यह है कि यज्ञ-प्रभाव से यजमानात्मा स्वर्ग (१७वें स्थान) में प्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसी स्थिति में द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश करना देवलोकप्रतिष्ठा से उस शारीर आत्मा को पुनः पृथिवी-प्रतिष्ठा पर लाना है। यद्यपि यह आहुति द्यावापृथिवी दोनों के लिए ही की जाती है, किन्तु इसका प्रधानतया पृथिवीकपाल से सम्बन्ध होता है। यदि दोनों कपालों को समान भाव से आहुति दी जाती तो द्विकपाल पुरोडाश होता। परन्तु एककपाल पुरोडाश दिया जाता है अतः पृथिवी का ही प्राधान्य है। इसीलिए द्यावापृथिव्य द्विकपाल पुरोडाश होना चाहिए क्योंकि द्युलोक और पृथिवी दो कपाल हैं। यह पूर्व पक्ष करके पृथिवीकपाल की प्रधानता के द्वारा एककपाल पुरोडाश की स्थापना करते हुए पूर्वप्रकरण में 'तस्येयमेव (भूमिः) कपालम् एकेव हीयम्, तस्मादेककपालो भवति' (स.) यह कहा गया है। ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश तथा वैश्वदेवचरु की आहुति से यजमान द्युलोक की प्रतिष्ठा में चला जाता है। अर्थात् इसका आत्मा पृथिवीप्रतिष्ठा से पृथक् होकर स्वर्ग (सत्रहवें स्थान) प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह देवताओं का यजन कर देवताओं में सम्मिलित हो जाता है। इसके बाद यदि द्यावापृथिव्य एककपल पुरोडाश करता है तो वह द्युप्रतिष्ठा से हटकर पुनः पृथिवीप्रतिष्ठा में आ जाता है। क्योंकि उस पुरोडाश में प्रधानता पृथिवीकपाल की है। इस प्रकार जिस स्वर्गरूप फल की प्राप्ति के लिए यजमान ने देवताओं का यजन किया था, द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश करने से वह सब व्यर्थ हो जाता है। जिसने यज्ञ करके 'अविदाम देवान्' का घण्टाघोष किया था वही एककपाल पुरोडाश द्वारा 'अविदाम मनुष्यात्' कहने का अधिकारी रह गया। यह दूसरी परिचक्षा है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'उत हुतः पर्यावर्तंते।' इति।

इन उपर्युक्त दो दोषों के कारण द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश नहीं करना चाहिए ॥६॥

उपर्युक्त परिचक्षाओं का निराकरण करते हुए कितने ही याज्ञिक आचार्य एककपाल पुरोडाश का देना ही उचित समझते हैं।

उनका कहना है कि द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश को पृथिवीदेवताक मान कर इसको करने से यजमान द्युलोक से हट कर पुनः पृथिवी पर ही आ जाता है और इस तरह सारी जनता के वह व्यामोह का कारण बन जायगा कि यद्यपि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है यह सुना जाता है किन्तु आज आग्रयणेष्टि करने वाला यजमान द्यावा-पृथिव्य एककपाल पुरोडाश करने के कारण स्वर्ग की प्रतिष्ठा से च्युत होकर पुनः पृथिवी पर आ गया है अतः यह एककपाल पुरोडाश नहीं करना चाहिए ऐसा जो कतिपय याज्ञिक परिचक्ष करते हैं वह उचित नहीं। क्योंकि आहवनीय ही आहुतियों की प्रतिष्ठा है। प्राकृतिक यज्ञ में पृथिवी गार्हपत्य है अन्तरिक्ष अन्वाहार्यपचन है एवं द्युलोक (१७वां स्थान) आहवनीयाग्नि है। आहवनीयाग्नि को ही दिव्याग्नि कहते हैं। १७वें स्थान पर रहने वाला सोम इस अग्नि में आहुत होता है अतएव इस अग्नि को आहवनीयाग्नि कहते हैं। इसी प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार मानुषयज्ञ का निर्माण हुआ है। प्राकृतिकयज्ञानुसार ही इस यज्ञ में गार्हपत्य अन्वाहार्यपचन एवं आहवनीयकुण्ड बनाया जाता है। गार्हपत्य पृथिवीस्थानीय, अन्वाहार्यपचन-अन्तरिक्षस्थानीय एवं आहवनीय-दिव्याग्निस्थानीय है। इस आहवनीय में आहुति देना १७ स्थानीय दिव्याग्नि में ही आहुति देना है। प्रकृत में इन्द्र अग्नि आदि देवताओं के लिए जो आहुति दी जाती है वह इसी आहवनीय में दी जाती है। यही उन आहुतियों की प्रतिष्ठा है। आग्रयणेष्टि में इन्द्राग्नि एवं विश्वदेवों के लिए आहवनीय में आहुति देना आहवनीय में प्रतिष्ठित होना है। अर्थात् आहवनीय में आहुतियों को प्रतिष्ठित कर स्वयं भी इसी दिव्याग्नि में (दिव्यलोक में) प्रतिष्ठित हो जाता है। आहुतियों के साथ ही इसके आत्मा का बन्धन दिव्याग्नि से हो जाता है। जब एक बार आत्मा आहुतिद्वारा दिव्याग्नि में प्रतिष्ठित हो चुका तो अब वह दूसरे किसी काम के लिए १० बार पृथिवी पर लौटने पर भी दिव्यलोक से च्युत (अप्रतिष्ठित) नहीं हो सकता। अतः द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश करके थोड़े समय के लिए पृथिवी पर लौट आने पर भी स्वर्ग से उसकी प्रतिष्ठा उच्छिन्न नहीं हो सकती। अतः जो स्वर्गप्रतिष्ठाच्युति का भय दिखला कर एककपाल पुरोडाश का खण्डन करते हैं उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तदाहुः (पुरोडाशपक्षपातिनो ब्रह्मवादिनः) पर्याभूद्वाऽअयमेककपालो मोहिष्यति राष्ट्र-मिति नास्य सा परिचक्षा। आहवनीयो वाऽआहुतीनां प्रतिष्ठा। स यदाहवनीयं प्राप्य ष्पि दशकृत्वः पर्यावर्तेत न तदाद्रियेत।' इति।

परन्तु याज्ञवल्क्य इस समाधान की उपेक्षा करते हुए कहते हैं कि द्यावापृथिव्य एक-

कपाल पुरोडाश के लिए जो अन्य विद्वान् इस प्रकार (इत्तु इत्थं तु) का समाधान करते हैं उसके उस समाधान को कौन मान सकता है 'यजमानात्मा पुरोडाश के साथ पुनः पृथिवी पर आ गया। इस आपत्ति का तो आहवनीय आहुतियों की प्रतिष्ठा है, यह समाधान कथंचित् हो सकता है। परन्तु जो स्विष्टकृत् वाली प्रथम आपत्ति है उसका समाधान उनके पास कुछ भी नहीं है। अतः हमारे विचार से दोषाक्रान्त एककपाल पुरोडाश पक्ष को सर्वथा छोड़ देना चाहिए। द्यावापृथिवी का यजन आज्य (घृत) की आहुति से ही करना चाहिए। जो पुरोडाशयजन होता है उसीमें स्विष्टकृत् देवता का यजन हो जाता है। पुरोडाश यज्ञ में ही स्विष्टकृत् देवता के यजन की आवश्यकता होती है। जो आज्य होम है उसमें स्विष्टकृत् यजन की कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार आज्याहुति में किसी प्रकार की आपत्ति उठती ही नहीं। अपि च आज्य की आहुति देने में एक और भी विशेषता आ जाती है। यह जो घृत है वह द्यावापृथिवी का रस है। पृथिवी लोक के अधिष्ठाता अग्नि हैं जो कि पार्थिव प्रजापति कहलाते हैं एवं द्युलोक के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य। दोनों ही तेजोमय है। पार्थिवाग्नि में सूर्यस्थित इन्द्र और सम्मिलित रहता अतएव अग्नि प्रकाशमय रहता है। अग्नि में ताप हैं, प्रकाश नहीं। इन्द्र में प्रकाश है ताप नहीं। जब दोनों प्राण (अग्नि और इन्द्र) मिल जाते हैं तो दोनों के धर्म दोनों में संक्रान्त हो जाते हैं। अग्नि में प्रकाश आ जाता है एवं इन्द्र में ताप आ जाता है। यह घृत अन्तरिक्ष की वस्तु है—दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य—शत० ४०१ पृ. ३ क.। अन्तरिक्ष में पार्थिव प्राण और द्युप्राण दोनों सम्मिलित रहते हैं। पृथिवी से ऊपर की ओर जाता हुआ आग्नेय प्राण भी अन्तरिक्ष में रहता है, एवं द्यु लोक से नीचे की ओर आने वाला द्युप्राण भी अन्तरिक्ष में रहता है। घृत अन्तरिक्ष की वस्तु है एवं इसमें द्यावापृथिव्य प्राण रहते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'आज्यं ह वा अनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसः'।

पार्थिव अग्नि का स्वरूप घन है एवं द्युप्राण का स्वरूप विरल हैं। घृत पार्थिवाग्नि के कारण ही पिण्ड रूप में दिखलाई पड़ता है परन्तु अग्निसम्बन्ध होते ही वह घृत आकाश (अन्तरिक्ष) में उड़ जाता है। यही इसके द्यावापृथिवीरस होने का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अग्नि और सूर्य दोनों तेजोमय है, एवं घृत इन्हीं दोनों की वस्तु है, अतएव—"तेजो वै घृतम्" यह कहा जाता है। पुरोडाश दोनों का प्रत्यक्ष रस नहीं है, आज्या दोनों का साक्षात्-स्वरूप है। आज्यतत्काल इनमें शामिल हो जाता है। यह आज्य संगमनीय है, अर्थात् मिलने वाला है, दोनों का सारभूत है, अतः द्यावापृथिवी के लिए आज्य ही की आहुति देना श्रेयस्कर है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—आज्य ही द्यावापृथिवी का साक्षात् रस है। अतः अपने संगमनीय क्षारभूत रस से द्यावापृथिवी को तृप्त करते हैं। इसलिए पुरोडाश

में स्विष्टकृत्प्रयुक्त आपत्ति के परिहार के लिए द्यावापृथिवी के साक्षात् रस आज्य की आहुति देनी चाहिए। जैसा कि कहा है—

'यदि त्वन्ये वदन्ति कस्तत्सन्धमुपेयात् (दोषसन्धानं कर्तुमुपगच्छेत्) तस्मादाज्यस्यैव यजेत्। आज्यं ह वा अनयोर्द्यावापृथिव्योः प्रत्यक्षं रसः। तत् प्रत्यक्षमेवैने (द्यावापृथिव्यौ) एतत् स्वेन रसेन (सारभूतेन संगमनोयेन) प्रीणाति। तस्मादाज्यस्यैव यजेत्' ॥१०॥

पहिले बतला दिया है कि प्रत्येक पदार्थ में ३३ देव तथा ९९ असुर रहते हैं। ये असुर कृत्यारूप व विषरूप में रहते हैं। असुर विषरूप से जिस पदार्थ में रहते हैं वह तो मनुष्य व पशु सभी के लिए अखाद्य होता है। किन्तु जो अन्न किसी के खाद्य व किसी के लिए अखाद्य हो उसमें असुर कृत्यारूप से रहते हैं। जैसे भूसा आदि मनुष्यों के लिए अखाद्य है और पशुओं के लिए खाद्य है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी प्रकृतिवैषम्य के कारण कोई अन्न किसी मनुष्य के लिए खाद्य है और किसी मनुष्य के लिए नहीं। वहाँ वह अन्न कृत्यायुक्त है। अथवा वही अन्न कृत्या कहलाता है। इसी अभिप्राय से—

'असुराः कृत्ययेव त्वत्, विषेणेव त्वत् प्रलिलिपुः।' यह कहा जाता है। प्रत्येक अन्न में दधि, मधु, घृत एवं अमृत ये वस्तुएँ रहती हैं। यही चारों देव-सम्पत्ति कहलाते हैं। जो में जो ठोस भाग है वह दधि है। दूध जमकर घन बन जाता है तब वही दधि कहलाने लगता है। जिस समय अन्न कच्चा रहता है उस समय उसमें दूध भरा रहता है। जब सूर्यस्थित रुद्रवायु (आग्नेयवायु) उसमें प्रविष्ट होता है तो वह दूध जम जाता है। अन्न में जो काठिन्य है वही दधि है। इस पृथिवी को वेद में 'गो' कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः'। इति।

इसी गो से यह दूध उत्पन्न होता है जो कि पार्थिव रस कहलाता है। इस दूध में आग्नेय वायु के प्रवेश से कठिनता उत्पन्न होती है, अतएव इसे दधि कहते हैं। इसी अभिप्राय से 'दधि हैवास्य लोकस्य रसः' यह कहा जाता है।

इसी अन्न में जो एक प्रकार का मिठास होता है वही मधुरस कहलाता है। नमक में भी यह मधु रहता है। उस अन्न को खाने से जो एक स्वाद आता है वही मधु है। जल मिश्री के समान यद्यपि मीठा नहीं होता तथापि 'जल मीठा है' यह व्यवहार होता है। इसका कारण यही है कि पानी पीते समय एक प्रकार का जो स्वाद आता है वही मधु है। कड़वे, मीठे, खट्टे, चरपरे इत्यादि जितने भी पदार्थ हैं उन सब में एक प्रकार का स्वाद है वही मधु है। इसी को शक्कर कहते हैं। आंवला सर्वथा खट्टा होता है, परन्तु परिपाक में वह मधुर रस बन जाता है। ऐसे पदार्थों को ही मधुपाक कहा करते हैं। तीसरा पदार्थ घृत है। प्रत्येक पदार्थ में एक श्लेषणद्रव्य होता है जो सन्धि का सन्धान

करने वाला होता है। वपा, वसा, घृत, तैल, गूंद, सरेस आदि सारे पदार्थ घृत हैं। क्योंकि श्लेषणद्रव्य को घृत कहते हैं। वृक्षों में जो रस झरा करता है वही घृत है। दधि पृथिवी का, घृत अन्तरिक्ष का एवं मधु द्युलोक का रस है जैसा कि श्रुति कहती है—

'दधि हैवास्य लोकस्य रसः, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य'। इति।

इस प्रकार तीनों लोकों के रस प्रत्येक अन्न में रहते हैं। चौथा पदार्थ अन्न में और रहता है जो अमृत कहलाता है। दधि, मधु, घृत इन तीनों को पदार्थों में से पृथक् किया जा सकता है परन्तु 'अमृत' रस को नहीं। यह चतुर्थ लोक परमेष्ठी की वस्तु है। इसी अमृत को वैदिक भाषा में सोम कहते हैं। परमेष्ठी के जो भृगु, अङ्गिरा एवं अत्रि ये तीन मनोता हैं, इन तीनों में भृगु तीन प्रकार का है—आप्, वायु और सोम। यह वायु ही 'साम्ब सदाशिव' कहलाता है। चूंकि पानी से वायु मिला रहता है, अतएव इसे साम्ब कहते हैं। सोम अमृत है, पानी इस के साथ रहता है। अतएव पानी को भी अमृत कह दिया जाता है। जैसा कि अमरकार कहते हैं—'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्।' इस पानी का जो एक शिवतम रस है, जो कि ऊर्क् रस उत्पन्न करने वाला है वही अमृत किंवा सोम कहलाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'आपो हिष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे। यो वः शिवतमो रसः। तस्य भाजयते ह नः। उशतीरिव मातरः'। इति।

हम जब अन्न खाते हैं, तो वह अस्थि, मांस, शुक्र, शोणित, मज्जादि रूप में परिणत होता हुआ ओज बनता है। ओज से मन बनता है। अर्थात् विशकलन होते होते जब वह शुद्ध सोम सबसे अलग रह जाता है तो वही मन कहलाने लगता है। सोम (अमृत) अदृश्य है, तन्मय ही मन है अतएव मन का भी प्रत्यक्ष हम नहीं कर सकते। अन्न की अन्तिमावस्था मन बनती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्'। इति।

—छान्दोग्य उप०।

प्रकृत में यही बतलाना है कि सभी खाद्य पदार्थों में—दधि, मधु, घृत और अमृत ये चार पदार्थ रहते हैं। जिस खाद्य में ये चारों पदार्थ १०० मात्रा में है, वह परमोत्तम है, जिसमें ५० मात्रा तक है वह किसी स्तर तक खाद्य है, परन्तु यदि यह मात्रा ५० से न्यून चली जाय, तो उस पदार्थ को अखाद्य समझना चाहिए। असुर और देवता यहीं चौतरफ भरे रहते हैं। तमोमय प्राण का नाम असुर है, शुक्लप्राण का नाम देवता है। तेवरसी के लिए लोक में हीरा, खीरा, पीरा कहा जाता है। इसका अर्थ यही है कि यदि प्रातःकाल तेवरसी खायी जाती है, तो वह हीरा है अर्थात् हीरे के सदृश चमक पैदा करती है अर्थात् गुणकारी है।

यदि मध्याह्न में खायी जाय तो खीरा है अर्थात् न गुण करती है और न दोष। परन्तु यदि उसी तेवरसी को सायंकाल में खाया जाय तो पीरा करती है अर्थात् कष्ट देने वाली है। एक ही वस्तु में कालभेदमात्र से वैजात्य क्यों ? इसका कारण यही है कि प्रातःकाल देवताओं का बढाव रहता है, वह समय देवप्राण से युक्त होता है। उस समय की तेवरसी उस देवप्राण के ही कारण हीरा है। सायंकाल देवमय भगवान् सविता का प्रकाश घटने लगता है एवं असुर की मात्रा बढ़ने लगती है। अतएव उस समय अमृतप्राण से रहित वह तेवरसी 'पीरा' कहलाती है।

'पर्युषित (बासी) भोजन नहीं करना चाहिए'—इसका यही रहस्य है। यह तो निदर्शन मात्र है। इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थों में यही भाव समझना चाहिए। समयभेद से एक ही वस्तु अमृत और विष बन जाती है। प्रकृतिमण्डल में सदा देवासुर युद्ध होता रहता है। कभी देवप्राण की प्रधानता रहती है, कभी असुरप्राण की। असुरप्राण अन्न को जहर से लिप्त करना चाहते हैं। साथ ही में अग्नि, इन्द्र, वायु और सूर्य उस जहर को निकालते भी रहते हैं। यदि वे यह शुद्धीकरण क्रिया न करें, तो उस अन्न को खाकर मनुष्य एवं पशु दोनों मर जायें। प्राणदेवताओं ने आग्रयणेष्टि की थी, एवं आज भी करते हैं, अतएव असुर उन पर अपना पूरा प्रभाव नहीं जमा सकते। उसी प्राकृतिक नित्य होने वाली आग्रयणेष्टि के अनुसार भुवन-स्वर्गवासी अग्नि आदि नरदेवताओं ने इस आग्रयणेष्टि का आविष्कार किया। वे जानते थे कि प्राणदेवता यद्यपि साफ करते हैं, परन्तु यदि हम भी, उनके अनुसार—यज्ञ द्वारा उन्हीं प्राणों से—काम करेंगे तो अन्न में जरा भी दोष नहीं रहेगा। इसी सिद्धान्त पर उन्होंने आग्रयणेष्टि की स्थापना की। प्रकृति पानी बरसाती ही है एवं उससे अन्न उत्पन्न होता है, परन्तु यदि हम भी किसी प्रकार से पानी निकाल कर अन्न का सेचन करेंगे, तो इससे अन्न की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं। एवमेव प्राकृतिक देवता आग्रयणेष्टि द्वारा अन्न को साफ करते रहते हैं। यदि उनके अनुसार हम भी अन्न को साफ करें तो रहा-सहा दोष भी नष्ट हो सकता है। नरदेवोविष्कृत आग्रयणेष्टि का यही रहस्य है। हमारी दृष्टि में जैसा आदर प्राणदेवताओं का है, वैसा ही मनुष्यदेवताओं का। यद्यपि हमारे (मनुष्य और पशु के) लिए प्राणदेवता साफ करते हैं, तथापि हमें आग्रयणेष्टि की प्राप्ति मनुष्यदेवताओं से हुई है। अतः उन्हीं की कृतज्ञता सूचित करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'इसी आग्रयण यज्ञ से मनुष्य देवताओं ने—जिनसे मनुष्य अपना जीवन रखते हैं एवं जिनसे पशु अपना जीवन रखते हैं, उन दोनों प्रकार की ओषधियों में से—कृत्या और विष लपेटने वाले असुरों को मार डाला। जब विष और कृत्या नष्ट हो गए, तो मनुष्य आनन्द से अन्न खाने लगे एवं पशु चाटने लगे।

प्राणदेवताओं का नाम न लेकर मनुष्यदेवताओं का नाम लेने का एक कारण और भी है। आरम्भ में बतलाया गया है कि असुर (मनुष्य असुर) भुवनस्वर्गवासी देवताओं की भारतीय मनुष्यप्रजा पर नाना प्रकार के आक्रमण किया करते थे। एक समय उनने उन पर विष लपेट दिया था। भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने ही यज्ञविद्या के बल से उस जहर को दूर कर मनुष्यों को—अपनी प्रजा को—बचाया था। भुवनदेवताओं ने हमारी इस विष से दोनों प्रकार से रक्षा की थी। इसी ऐतिहासिक और प्राणदेवता रहस्य दोनों पर दृष्टि रखते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एतेन वै देवाः यज्ञेनेष्ट्वा उभयीनामोषधीनां याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः कृत्यामिव त्वत् विषमिव त्वत् अपजघ्नुः। तत आश्नन् मनुष्याः, आलिशन्त पशवः' ॥११॥

दयालु महर्षि जानते थे कि यह विज्ञान सामान्य मनुष्यों की समझ में नहीं आ सकता है। अतः उनको इस विज्ञान की उलझन में पड़ने से रोकते हुए—"महाजनो येन गतः स पन्थाः—" के अनुसार उन्हें उपदेश देते हैं कि आग्रयणेष्टि में चाहे विज्ञान कुछ भी न हो, परन्तु चूंकि देवताओं ने इस यज्ञ को किया था, अतएव हम भी इस यज्ञ को करते हैं। "यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि" यही हमारा सिद्धान्त है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

यह यजमान जो कि इस आग्रयणेष्टि से इन्द्राग्नि देवता का यजन करता है, वह इसलिए नहीं करता है कि असुरों ने अन्न पर विषलेपन कर दिया है अथवा कृत्याप्रयोग से इसे दूषित कर दिया है। अर्थात् जैसे उस समय असुरों ने अन्न पर विषलेपन कर दिया था, वैसे ही आज इस अन्न में यजमान का कोई शत्रु न तो विष-लेपन ही कर सकता है और न ही कृत्या का प्रयोग करता है। अतः उस विज्ञान के आधार पर ही यजमान यह इष्टि करता है, यह बात नहीं है, अपितु देवताओं ने इस यज्ञ को किया था। इसी मर्यादा के पालनार्थ ही यजमान यह इष्टि करता है। अर्थात् इसमें क्या विज्ञान है? हम इसे क्यों करें? इत्यादि की उलझन में न पड़ कर केवल 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' के सिद्धान्तानुसार हमें यह यज्ञ करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथ यदेष एतेन यजते, तन्नाह न्वेवैतस्य (यजमानस्य) तथा कश्चन कृत्ययेव त्वत्, विषेणेव त्वत्, प्रलिम्पति इति। देवा अकुर्वन् इति, इति त्वेवैष एतत् करोति'। इति

हमने बतलाया था कि प्राकृतिक यज्ञ में अग्नि, इन्द्र एवं विश्वेदेवादि देवताओं ने अन्न को परिशुद्ध किया था। इस विज्ञानानुसार ही नर-देवताओं ने उनके लिए आहुति स्थापित की थी। जिस प्रकार अन्न शुद्ध करने में इन्द्र और अग्नि शामिल है, वैसे ही सूर्य, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति आदि देवता भी शामिल हैं। इस प्रकार से और सब की उपेक्षा कर केवल इन्द्राग्नि को ही आहुति क्यों दी जाती है? कदाचित् हम यह भी शंका करें तो इसका प्रत्याख्यान करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

इस बात पर तुम्हें ऊहापोह करने का कोई अधिकार नहीं है। तुम मनुष्य हो एवं जिन्होंने यज्ञ-निर्माण किया वे देवता थे, उन्होंने किस रहस्य के अनुसार क्या किया था, उसको सर्वात्मना समझने के अधिकारी तुम नहीं हो। देवताओं (मनुष्य देवताओं) ने जिन देवताओं को जो आहुति दी थी, तुम्हें वैसा ही करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

देवताओं ने जिसके लिए जो भाग नियत किया था, उसी भाग को उन उन देवताओं के लिए यह यजमान देता है अर्थात् जैसा जो काम, जितनी आहुति का क्रम, मनुष्य देवताओं ने—यज्ञविद्याविशारदों ने नियत किया था, उतनी ही आहुति आज यह यजमान अपने यज्ञ में देता है।

'यमु चैव देवा भागमकल्पयन्त, तमु चैवेभ्य एष एतद्भागं करोति' इति।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यद्यपि आज असुर का आक्रमण नहीं है तथापि इस इष्टि को एकदम व्यर्थ ही नहीं समझना चाहिए। इसके करने से अवश्य ही लाभ होता है।

रोग दो प्रकार का होता है—

१ अमीवा और २ किल्विष। अन्न में एक प्रकार का कीटाणु उत्पन्न करने का बीज (मूल) रहता है जो कि उदर में जाकर कीड़े उत्पन्न कर देता है। कई अन्न ऐसे भी होते हैं जो कि वात, पित, कफ को उत्तेजित करके उनकी सभी क्रिया को हटा देते हैं। जो जो ऐसे रोग हैं, वे किल्विष कहलाते हैं। ये रोग प्रायः अन्न को शुद्ध न रखने के कारण होते हैं। यदि अन्न को साफ करके खाया जाय तो उससे रोग उत्पन्न नहीं होता है। इस इष्टि से यही प्रयोजन निकलता है। अग्निमय वातावरण के कारण घर में आया हुआ सारा अन्न शुद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यह यजमान यज्ञ से, जिनसे कि मनुष्य अपनी जीवनसत्ता रखते हैं, जिनसे कि पशु जीवित रहते हैं, उन ओषधियों को (अन्न को) अनमीवा और अकिल्विष बनाता है। उस यजमान के यज्ञ करने से प्रजा नीरोग होकर सुखपूर्वक अपना जीवन बिताती है। इसीलिए आग्रयणेष्टि की जाती है। आग्रयणेष्टि का विज्ञान अति कठिन है, उसको समझना दुरूह है। आम मनुष्यों के लिए इसकी यही उपपत्ति समझनी चाहिए, जैसी कि याज्ञवल्क्य ने पूर्व में बतलाई है। सारांश यह है कि नवीन अन्न को जिसका कि वह है—उसे निवेदन करके खाना चाहिए।

'इमा उ चैवैतदुभयीरोषधीर्याश्च मनुष्या उपजीवन्ति याश्च पशवः ता अनमीवा अकिल्विषाः कुरुते। ता अस्यानमीवा अकिल्विषा इमाः प्रजा उपजीवन्ति तस्माद् वा एष एतेन यजते ॥१२॥

अथ दक्षिणा-प्रकरणम्

'यज्ञान्ते दक्षिणां दद्यात्' 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' इत्यादि आज्ञाओं के अनुसार इस आग्रयणेष्टि के अन्त में भी दक्षिणा दी जाती है। किसी यज्ञ में सोना दिया जाता है, किसी

में कुछ। परन्तु चूंकि यह नव्यान्न इष्टि है एवं अन्न बैल से ही उत्पन्न होता है। अतः इस यज्ञ को सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ बैल ही दक्षिणा है अर्थात् प्रथम पैदा हुए बैल की ही दक्षिणा देनी चाहिए क्योंकि यह आग्रयणाख्य हवि भी तो अग्र्य ही है अर्थात् संवत्सर के प्रारम्भ में ही पैदा होने वाली है—

'तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा। अग्र्यमिव हीदम्'। जो सोमयाग करने वाला है अथवा नहीं है, उसके विषय में आग्रयणेष्टि का क्या नियम है, इसकी व्यवस्था देते हैं -

यदि वह यजमान ईजान हो—सोमयाग किया हुआ हो तो वह प्रथम दर्शपूर्णमास करे और उसके बाद आग्रयणेष्टि करे। अर्थात् दर्शपूर्णमास के अनन्तर ही आग्रयणेष्टि करनी चाहिए न कि उसके पहिले।

यदि वह अनीजान हो अर्थात् अनाहिताग्नि हो तो वह अग्नि में आहुति न दे अपितु चातुःप्राश्य (चार मनुष्यों के खाने योग्य) ओदन दक्षिणाग्नि में पका ले और उसे ब्राह्मणों खिलाये अर्थात् जो अहिताग्नि नहीं है, उसे भी कम से कम वर्ष के प्रारम्भ में नवीन अन्न को पहिले ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए।

यदीजानः स्यात् दर्शपूर्णमासाभ्यां वा यजेत अथैतेन यजेत। यद्युऽअनीजानः स्यात् चातुष्प्राश्यमेवैतमोदनमन्वाहार्यपचने पचेत्तस्त ब्राह्मणा अश्नीयुः ।।१३।।

ब्राह्मणों को भोजन कराने से क्या लाभ है ? इस शंका को दूर करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

देवता दो प्रकार के होते हैं। एक तो जो देवता (प्राणदेवता) हैं वे एवं दूसरे जो वेदज्ञ—वेदानुवचन करने वाले ब्राह्मण हैं वे अर्थात् भूदेव। अतएव जिस प्रकार से वषट्कार-पूर्वक देवताओं में हव्य हुत होता है उसी वषट्कार के समान इस यजमान का ब्राह्मण को भोजन कराना है अर्थात् प्राणदेवता के समान है। ब्राह्मण आग्नेय है, उसे भोजन कराना अग्नि में आहुति डालना ही है। यहाँ ब्राह्मणों को अपनी श्रद्धानुसार दक्षिणा भी देनी चाहिए क्योंकि दक्षिणारहित यज्ञ नष्ट हो जाता है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आग्रयणेष्टि की आहुति अग्निहोत्राग्नि में नहीं डालनी चाहिए। आग्रयणेष्टि के लिए वेदि आदि सारी नयी बनानी पड़ेगी। यदि अग्निहोत्राग्नि में ही वह आग्रयणेष्टि करेगा तो अग्निहोत्र के देवताओं और आग्रयणेष्टि के देवताओं में कलह उत्पन्न करेगा। क्योंकि आग्रयणेष्टि दूसरी चीज है और अग्निहोत्र दूसरी चीज है। अतः दोनों को शामिल नहीं करना चाहिए ।।१४।।

इति पञ्चमं ब्राह्मणम्।

इति चतुर्थध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्

आग्रयणेष्टिः समाप्ता।

दाक्षायणयज्ञब्राह्मणम्

(मूल) प्रजापतिर्ह व एतेनाग्रे यज्ञेनेजे। प्रजाकामः—बहु प्रजया पशुभिः स्याम्, श्रियं गच्छेयम् , यशः स्याम्, अन्नादः स्यामिति ॥१॥

स वै दक्षो नाम। तद् यदेनेन सोऽग्रेऽयजत-तस्माद्दाक्षायणो नाम। उतैनमेके वसिष्ठयज्ञ इत्याचक्षते। एष वै वसिष्ठः। एतमेव तदन्वाचक्षते। स एतेन यज्ञेनेजे। स एतेन यज्ञेनेष्ट्वा—येयं प्रजापतेः प्रजातिः, याः श्रीः एतद् बभूव। एतां ह वै प्रजातिं प्रजायते, एतां श्रियं गच्छति-य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते। तस्माद्वा एतेन यजेत ॥२॥

तेनो ह तत ईजे प्रतीदर्शः श्वैक्नः। स ये तं प्रत्यासुस्तेषां विवचनमिवास। विवचनमिव ह वै भवति। य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते। तस्माद्वा एतेन यजेत ॥३॥

तमाजगाम सुप्ला साञ्जर्यो ब्रह्मचर्यम्। तस्मादेतं च यज्ञमनूचे, अन्यमु च। सोऽनूच्य पुनः सृञ्जयान् जगाम। ते ह सृञ्जया विदाञ्चक्रुः-यज्ञं वै नोऽनूच्यागन्निति। ते होचुः-स ह वै नस्तद्देवैरागन्-यो नो यज्ञमनूच्यागन्निति। स वै सहदेवः साञ्जर्यस्तदप्येतन्निवचनमिवास्ति-अन्यद्वा अरे सुप्ला नाम दधे इति। स एतेन यज्ञेनेजे सएतेन यज्ञेनेष्ट्वा येयं सृञ्जयानां प्रजातिः, या श्रीः एतद्बभूव। एतां ह वै प्रजातिं प्रजायते, एतां श्रियं गच्छति-य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते। तस्माद्वा एतेन यजेत ॥४॥

तेनो ह तत ईजे देवभागः श्रौतर्षः। उभयेषां कुरूणां च सृञ्जयानां च पुरोहित आस। परमता वै सा-यो न्वेवैकस्य राष्ट्रस्य पुरोहितोऽसत्, सा न्वेव परमता किमु यो द्वयोः। परमतामिव हैव गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते। तस्माद्वा एतेन यजेत ॥५॥

तेनो ह तत ईजे दक्षः पार्वतिः । त इमेऽप्येतर्हि दाक्षायणा राज्यमिवैव प्राप्ताः । राज्यमिव ह वै प्राप्नोति–य एवं विद्वानेतेन यजेत । तस्माद्वा ऐतेन यजेत स वा एकैक एवाचूचीनाहं पुरोडाशो भवति । एतेनो हास्यासपत्नानुपबाधा श्रीर्भवति । स वै द्वे पौर्णमास्यौ यजते, द्वे अमावास्ये । द्वे वै मिथुनम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥६॥

अथ यत्पूर्वेद्युः अग्नीषोमीयेण यजते-पौर्णमास्यां ते द्वे देवते । द्वे वै मिथुनम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥७॥

अथ प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति ऐन्द्रं सान्नाय्यम्, ते द्वे देवते । द्वे वै मिथुनम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ॥८॥

अथ यत्पूर्वेद्युरैन्द्राग्नेन यजते–अमावास्यायां ते द्वे द्वेवते । द्वे वै मिथुनम् मिथुनमेवै तत् प्रजननं क्रियते ॥९॥

अथ प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति । मैत्रावरुणी पयस्या । नेद्यज्ञादयानीति । न्वेवाग्नेयः पुरोडाशः । अथैतावेव मित्रावरुणौ द्वे देवते । द्वे वै मिथुनम् । मिथुनमेवै तत् प्रजननं क्रियते । एतदु हास्य तद्रूपम्–येन बहुर्भवति, येन प्रजायते ॥१०॥

अथ यत्पूर्वेद्युरग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्याम्–यमेवामुमुपवसथेऽग्नीषोमीयं पशुमालभते स एवास्य सः ॥११॥

अथ प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति, ऐन्द्रं सान्नाय्यं । प्रातःसवनमेवास्याग्नेयः पुरोडाशः । आग्नेयं हि प्रातःसवनम् । अथैन्द्रं सान्नाय्यम् । माध्यन्दिनमेवास्य तत्सवनम् । ऐन्द्रं हि माध्यन्दिनं सवनम् ॥१२॥

अथ यत्पूर्वेद्युः ऐद्राग्नेन यजतेऽमावास्यायां तृतीयसवनमेवास्य तत् । वैश्वदेवं वै तृतीयसवनम् । इन्द्राग्नी वै विश्वेदेवाः ॥१३॥

अथ प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति, मैत्रावरुणी पयस्या। नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशः। अथ यामेवामूं मैत्रावरुणीं वशामनूबन्ध्यामालभते-सैवास्य मैत्रावरुणी पयस्या। स पौर्णमासेन चामावास्येन चेष्ट्वा-यावत् सौम्येनाध्वरेणेष्ट्वा जयति - तावज्जयति। तदु खलु महायज्ञो भवति ॥१४॥

अथ यत्पूर्वेद्युरग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्याम्। एतेन वा इन्द्रोवृत्रमहन्, एतेनो एव व्यजयत-यास्येयं विजितिः ताम्। तथो एवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति, तथो एव विजयते। अथ यत्सन्नयति। आमावास्यं वै सांनाय्यम् दूरे तद् यदमावास्येति। क्षिप्र एवैतदवृत्रं जघ्नुषे, तमेतेन रसेनाप्रीणन्। क्षिप्रे ह वै पाप्मानमपहते-य एवं विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयति। एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। तमेतत्पूर्वेद्युरभिषुण्वन्ति प्रातर्भक्षयिष्यन्तस्तमेतद्भक्षयन्ति यदपक्षीयते ॥१५॥

अथ यत्पूर्वेद्युः अग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्याम् अभिषुणोत्येवैनमेतत्। तस्मिन्नभिषुत एतं रसं दधाति। एतेन रसेन तीव्रीकरोति। स्वदयति ह वै देवेभ्यो हव्यम्, स्वदते हास्य देवेभ्यो हव्यं-य एवं विद्वान् पौर्णमास्यां सन्नयति ॥१६॥

अथ यत् पूर्वेद्युः ऐन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायाम् दर्शपूर्णमासयोर्वै देवते स्त इन्द्राग्नी एव। ते एवैतदञ्जसा प्रत्यक्षं यजति। अञ्जसा ह वा अस्य दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टं भवति य एवमेतद्वेद ॥१७॥

अथ प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति मैत्रावरुणी पयस्या। नेद् यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशः। अथैतावेवार्धमासौ मित्रावरुणौ। य एवापूर्यते स वरुणः। योऽपक्षीयते स मित्रः। तावेतां रात्रिमुभौ समागच्छतः। तदुभावेवैतत्महसन्तौ प्रीणाति। सर्वं ह वा अस्य प्रीतं भवति सर्वमाप्तं-य एवमेतद्वेद ॥१८॥

तद्वा एतां रात्रिं मित्रो वरुणे रेतः सिञ्चति । तदेतेन रेतसा प्रजायते-यदापूर्यते । तद् यदेषाऽत्र मैत्रावरुणी पयस्याऽवक्लृप्ततमा भवति ॥१६॥

सान्नाय्यभाजना वा अमावास्या । तददस्तत्पौर्णमास्यां क्रियते स यद्घात्रापि संनयेज्जामि कुर्यात् समदं कुर्यात् तदेनमद्भ्य ओषधिभ्यः सम्भृत्याहुतिभ्योऽधि जनयति । स एव आहुतिभ्यो जातः पश्चाद्ददृशे ॥२०॥

मिथुनादिद्वा एनमेतत् प्रजनयति । योषा पयस्या रेतो वाजिनम् । तद्वा अनुष्ठया यन्मिथुनात् जायते । तदेनमेतस्मात् मिथुनात् प्रजननात् प्रजनयति । तस्मादेषाऽत्र पयस्या भवति ॥२१॥

अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति । ऋतवो वै वाजिनो रेतो वाजिनम् । तद् अनुष्ठयै वैतद् रेतः सिच्यते । तद् ऋतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति । तस्माद् वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति ॥२२॥

स वै पश्चादिव यज्ञस्य जुहोति । पश्चाद्धै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति तस्यां रेतः सिञ्चति । स वै प्रागेवाग्रे जुहोति । 'अग्ने वीहि' इति । अनु वषट् करोति । तत् स्विष्टकृद्भाजनम् । स वै प्रागेव जुहोति ॥२३॥

अथ दिशो व्याधारयति । 'दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा' इति । पञ्च दिशः । पञ्चर्तवः । तद् ऋतुभिरेवैतद्दिशो मिथुनीकरोति ॥२४॥

तद्धै पञ्चैव भक्षयन्ति । होता चाध्वर्युश्च ब्रह्मा चाग्नीच्च यजमानः । पञ्च वा ऋतवः । तद् ऋतूनामेवैतद्रूपं क्रियते । तद् ऋतुष्वेवैतद् रेतः सिक्तं प्रतिष्ठापयति । प्रथमो यजमानो भक्षयति । प्रथमो रेतः परिगृह्णानीति । अथो अप्युत्तमः । मय्युत्तमे रेतः प्रतितिष्ठादिति । उपहूतः । उपह्वयस्व इति । सोममेवैतत् कुर्वन्ति ॥२५॥ इति दाक्षायणेष्टिः ।

दाक्षायणेष्टि

(अनुवाद) यह निश्चित है कि मनुष्यों द्वारा क्रियमाण वैध यज्ञों का आधार भूस्वर्गनिवासी मनुष्यदेवताओं के द्वारा क्रियमाण यज्ञ हैं। और मनुष्यदेवताओं के यज्ञ का मूल प्राकृतिक यज्ञ हैं। तथापि कुछ ऐसे भी यज्ञ हैं जिन्हें मनुष्यों ने यज्ञविद्यावैशारद्य के कारण आविष्कृत किया था जो प्रकृति में नहीं होते, किन्तु जिनकी कल्पना यज्ञविद्यावेत्ता महर्षियों ने अपने अनुभव से की। दाक्षायणेष्टि या दाक्षायणयज्ञ भी इसी प्रकार का है। यह दाक्षायण यज्ञ मह यज्ञ का अनुकल्प है।

प्रजाकाम प्रजापति (दक्ष) ने सर्वप्रथम इस दाक्षायणयज्ञ से यजन किया था कि मैं बहुत प्रजा तथा प्रचुर गवाश्वादि पशुओं से युक्त बनूं और सम्पत्ति, कीर्ति से युक्त एवं अन्नभोक्ता बनूं ॥१॥

वह प्रजापति दक्ष था जिसने सर्वप्रथम इस दाक्षायण यज्ञ से यजन किया था। अत: इस यज्ञ की संज्ञा दाक्षायण हुई। कतिपय याज्ञिक इसे वसिष्ठ यज्ञ भी कहते हैं। क्योंकि ये दक्ष प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ होने से तथा अतिशय वसुमान् होने से वसिष्ठ हैं, अत: इसे वसिष्ठयज्ञ कहते हैं। उनने इस दाक्षायण यज्ञ से यजन किया और यजन करके प्रजापति की प्रजाति (प्रजा) और सम्पत्ति को प्राप्त किया। जो इस रहस्य को जानता हुआ इस दाक्षायण याग से यजन करता है, वह भी प्रजाति तथा सम्पत्ति को प्राप्त करता है। अत: इस दाक्षायण याग से यजन करे ॥२॥

दक्ष प्रजापति के बाद इस दाक्षायणयाग से श्विक्न के पुत्र प्रतीदर्श ने यजन किया। उससे जो मनुष्य इस पर आक्षेप करते थे, वे उसके विशेष पक्षपाती हो गए। इस रहस्य को जानता हुआ जो दाक्षायणयाग करता है, उसके भी लोग विशेष पक्षपाती बन जाते हैं। अर्थात् लोग उसका अधिक सम्मान करने लगते हैं। अत: यह याग करना चाहिए ॥३॥

सृञ्जय के पुत्र सुप्ला प्रतीदर्श के पास यज्ञविद्याध्ययन के लिए आये। सुप्ला ने प्रतीदर्श से इस दाक्षायणयज्ञ का तथा अन्य यज्ञों का अध्ययन किया।

वे अध्ययन कर पुनः सृञ्जय देशों को गए। सृञ्जय देश की निवासी प्रजा ने समझा कि हमारे राजा यज्ञविद्या सीखकर आये हैं। प्रजाजनों ने कहा कि ये देवताओं के साथ आये हैं क्योंकि यज्ञविद्या सीखकर आये हैं। तब से उनका नाम सहदेव हो गया जब कि पहले उनका नाम सुप्ला था। यह भी प्रशंसा ही है। सुप्ला ने इस दाक्षायणयज्ञ से यजन किया और यजन कर सृंजय देशों की प्रजोत्पत्ति व सम्पत्ति को प्राप्त किया। जो इस यज्ञरहस्य को जानता हुआ इस याग से यजन करता हैं वह भी प्रजाति व सम्पत्ति को प्राप्त करता है। अतः इस याग से यजन करे ॥४॥

तदनन्तर श्रुतर्षि के पुत्र देवभाग ने इस यज्ञ से यजन किया। वे देवभाग इसी यज्ञ से कुरुओं और सृंजयों के पुरोहित बन गए। एक राष्ट्र का पुरोहित होना ही उत्कृष्टता है, दो राष्ट्रों का पुरोहित बनने पर उत्कृष्टता का तो कहना ही क्या। इस रहस्य को जानता हुआ जो इस याग से यजन करता है, वह उत्कृष्टता को प्राप्त करता हैं। अतः इस याग से यजन करे ॥५॥

तदनन्तर पर्वतों के राजा[1] दक्षने इस दाक्षायण याग से यजन किया। उससे आज़ भी दाक्षायण लोग राज्य को प्राप्त हुए ही मानो दिखाई देते हैं। जो इस रहस्य को जानता हुआ इस यज्ञ से यजन करता है, वह मानो राज्य ही प्राप्त करता है। अर्थात् राज्यसदृश सम्पत्ति को प्राप्त करता है। अतः इस याग से यजन करे।

यह दाक्षायण यज्ञ दो पूर्णिमा अर्थात् पूर्णिमा व प्रतिपत् तथा दो अमावस्या अर्थात् अमा और प्रतिपत् इन चार दिनों में सम्पन्न होता है। इस इष्टि में प्रतिदिन (अनूचीनाहम्) एक ही पुरोडाश होता है। इससे यजमान की श्री (सम्पत्ति) शत्रुरहित तथा बाधारहित हो जाती है। वह पौर्णमासी के दिन अग्नि और सोम इन दोनों का तथा अमावास्या को इन्द्र और अग्नि इन दोनों

---

१. पार्वतिः' का अर्थ 'पर्वतो नाम कश्चित्तस्य पुत्रः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा पर्वत का पुत्र सायणाचार्य ने किया है किन्तु हिन्दी भाष्यकार ने पर्वतों का राजा अर्थ माना है। उनने पर्वत के तराई प्रदेश का राजा-अर्थ किया है। यही संगत प्रतीत होता है। क्योंकि कनखल में दक्ष का स्थान प्रसिद्ध है और वह पर्वत का तराई प्रदेश ही है।

का सम्मिलित यजन करता है । दो वस्तु मिथुन कहलाती हैं । मिथुन का यजन करता हुआ यजमान मिथुन द्वारा प्रजोत्पत्ति करता है ॥६॥

वह प्रथम दिन अर्थात् पौर्णमासी के दिन अग्नीषोमीय पुरोडाश से अग्नि और सोम का यजन करता है। वे दो देवता हैं। दो का नाम ही मिथुन है। मिथुन का यजन करता हुआ मिथुन से ही प्रजनन करता है ॥७॥

दूसरे दिन प्रातःकाल (प्रतिपत् को) आग्नेय पुरोडाश तथा ऐन्द्र सांनाय्य (दधि) को आहुति देता है । वे दो देवता हैं । दो को ही मिथुन कहते हैं। मिथुन का यजन करता हुआ मिथुन से ही प्रजनन करता है ॥८॥

अमावास्या में भी पहिले दिन अमा को इन्द्र और अग्नि का यजन करता है । अमावास्या में ये दो देवता हैं । दो ही मिथुन होता है । मिथुन का यजन करता हुआ मिथुन से प्रजोत्पत्ति करता हैं ॥९॥

इसके पश्चात् प्रात: आग्नेय पुरोडाश होता है तथा मित्रवरुणदेवताक पयस्या होती है । यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि से है । अग्नि के बिना यज्ञ का सम्पादन नहीं हो सकता । अत: यज्ञस्वरूपसम्पत्त्यर्थ आग्नेय पुरोडाश किया जाता है। इसीलिए कहते हैं कि यज्ञ से वियुक्त न हो जाऊँ इसलिए आग्नेय पुरोडाश किया जाता है । पयस्या[1] मित्र और वरुण देवता के लिए की जाती है । मित्र और वरुण दो देवता हैं। दो को मिथुन कहते हैं। मिथुन से ही प्रजोत्पत्ति होती है। अत: दो का यजन करता हुआ मिथुन से ही प्रजनन करता है। प्रजनन के लिए मिथुनसम्पत्ति की आवश्यकता होने पर भी एक ही मिथुन से प्रजनन कार्य हो सकता है। फिर अग्नि-सोम, इन्द्र-अग्नि, मित्र-वरुण इन अनेक मिथुनों की क्या आवश्यकता हं तथापि यजमान अनेक प्रजाओं व पशुओं से युक्त हो एतदर्थ अनेक मिथुनों की आवश्यकता है ॥१०॥

दाक्षायण याग चूंकि सोमयाग का अनुकल्प है । अत: सोमयाग की समानता इसमें बतलाते हैं कि पहिले दिन अर्थात् पूर्णिमा के दिन अग्नीषोमीय पुरोडाश

---

१. दधिसंस्कृत-दधिमिश्रित उष्ण दूध पयस्या कहलाती है। 'दोहनं शृते वा दध्यानयति'। से यह स्पष्ट हो जाता है । यह पयस्या अमावास्या को की जाती है। जैसा कि 'अमावास्यायां पयस्या मैत्रावरुणी' (का० श्रौ० सू० ४।१०९) इस सूत्र से स्पष्ट है।

दाक्षायण याग में होता है। यही सोमयाग में उपवसथ दिन होने वाले अग्नीषोमीय पशु के आलम्भनस्थानापन्न है ॥११॥

पश्चात् प्रातः पूर्णिमोत्तर प्रतिपद् के दिन आग्नेय पुरोडाश तथा ऐन्द्र सांनाय्य (दधि) का हवन किया जाता है वह सोमयाग के प्रातःसवन के स्थानापन्न है। क्योंकि प्रातःसवन अग्निप्राधान्येन आग्नेय है। दाक्षायण याग में क्रियमाण ऐन्द्र सांनाय्य सोमयाग के मध्यन्दिनसवनस्थानापन्न है क्योंकि मध्याह्न में ऐन्द्र सौर तेज का प्राधान्य है ॥१२॥

पश्चात् पहिले दिन अर्थात् अमावस्या को इन्द्राग्निदेवताक याग होता है। यह सोमयाग के सायं सवन के स्थानापन्न (समान) है। क्योंकि सायं सवन विश्वेदेवदेवताक होता है। और इन्द्र तथा अग्नि सर्वदेवतास्वरूप हैं। इसीलिए अग्निः सर्वा देवताः 'इन्द्रः सर्वा देवताः' यह श्रुतियों में कहा गया है ॥१३॥

तदनन्तर अमोत्तर प्रतिपद् के दिन प्रातः आग्नेय पुरोडाश तथा मैत्रावरुणी पयस्या की जाती है। यज्ञ से वियुक्त न हो जाऊँ एतदर्थ यज्ञस्वरूपसम्पादक आग्नेय पुरोडाश किया जाता है। मैत्रीवरुणी पयस्या सोमयाग में उपसत् के दिन होने वाले मैत्रीवरुणी वशा(वंध्या गो) के आलम्भनस्थानापन्न है। वह यजमान पौर्णमास तथा दर्श (अमावास्या) याग से यजन कर उस त्रिजयरूप फल को प्राप्त करता है जिसको सोमयाग से यजन कर प्राप्त किया करता है। इसलिए यह दाक्षायण याग सोमयज्ञ है जो कि महायज्ञ कहलाता है ॥१४॥

प्रकारान्तर से इन आहुतियों का अन्य फल बतलाते हुए कहते हैं कि पहिले दिन अर्थात् पूर्णिमा को अग्नीषोमीय पुरोडाश से यजन करता है वह इसलिए करता है कि इसी अग्नीषोमीय याग से पूर्णमासी को इन्द्र (प्रकाशमय प्राण) ने वृत्र (तमोमय प्राण) पर विजय प्राप्त की थी, जो कि इन्द्र की विजय लोक में पूर्णिमा में देखी जाती है। पूर्णिमा में प्रकाशमय इन्द्रप्राण तमोमय वृत्रप्राण पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे पूर्णतया नष्ट कर देता है। प्रकाश अग्नि और सोमतत्व के सम्मिश्रण से ही होता है। अतः यह यजमान आज अग्नीषोमीय याग से यजन करता हुआ पापी शत्रु का नाश कर देता है और इस प्रकार उस शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेता है। और जो यह ऐन्द्र सांनाय्य

(दधि) की ग्राहुति देता है वह वृत्रवध के कारण इन्द्र में जो कमजोरी ग्रा गई थी उसे दूर करने के लिए है। इस सांनाय्य (दधि) से उसकी तृप्ति की जाती है। यद्यपि सांनाय्य का सम्बन्ध ग्रमावास्या से है ग्रर्थात् प्रकृति में यह सोम ग्रमावास्या को इन्द्र (प्रकाशमय प्राण) के पूर्ण क्षीण होने पर प्राप्त होता है। तथापि ग्रमावास्या के ग्राने में ग्रभी १४ दिन का विलम्ब है ग्रौर वृत्रवधजन्य निर्बलता को दूर करने के लिए सांनाय्य से तर्पण की शीघ्र ग्रावश्यकता है। ग्रतः पूर्णिमा में ही सांनाय्य (दधि) की ग्राहुति की जाती है। जो यजमान इस प्रकार पूर्णिमा को ही सांनाय्य को ग्राहुति देता है वह शीघ्र ही शत्रुग्रों को नष्ट कर देता है।

पूर्णिमा को जो पूर्ण चन्द्रमा दिखाई देता है वही चन्द्रमारूप सोम देवों का ग्रन्न है। ग्रतः इस सोम के भक्षण की इच्छा वाले देवता पहिले दिन ही इसे तैयार कर लेते हैं ग्रौर उसे कृष्ण पक्ष में खाते हैं[1] जब कि वे कृश (कमजोर) हो जाते हैं।

दाक्षायण याग सोमयाग का ग्रनुकल्प है। सोम की ग्राहुति सोमयाग में होती है न कि दाक्षायण याग में। ग्रतः इस याग में पहिले दिन ग्रर्थात् पूर्णिमा को यजमान ग्रग्नीषोमीय याग से जो यजन करता है वह सोम का ही ग्रभिषव करता है। इस प्रकार पूर्व दिन ग्रभिषुत सोम में दूसरे दिन पूर्णिमोत्तर प्रतिपदा को सांनाय्यरस (दधि) डालता है। इससे उस रस ग्रर्थात् दूध को तीव्र ग्रर्थात् ग्रति मादक बनाता है ग्रौर ऐसे सांनाय्य रस से देवताग्रों के लिए हवि को स्वादु बनाता है। इस रहस्य को जानता हुग्रा जो यजमान पौर्णमासी में संनयन कर सांनाय्य द्वारा हवि को तीव्र बनाता है वह हवि देवताग्रों के लिए ग्रति स्वादिष्ठ होती है ॥१६॥

पहिले दिन ग्रर्थात् ग्रमावास्या के दिन यजमान ऐन्द्राग्न याग से यजन करता हैं उसका कारण यह है कि इन्द्र ग्रौर ग्रग्नि दर्शपूर्णमास के देवता हैं ग्रतः ऐन्द्राग्न

१. प्रकृतियाग में पूर्णिमा के दिन सोम पूर्णरूप से तैयार हो जाता है। ग्राग्नेय प्राणदेवता इस चन्द्रमारूप सोम को ग्रर्थात् चन्द्रमा की एक एक कला को पूर्णिमा के दूसरे दिन पूर्णिमोत्तर प्रतिपद् से खाने लग जाते हैं। तदनुसार वैध यज्ञ में पूर्णिमा के दिन सोमलता का रस निकालते हैं तथा दूसरे दिन इसकी ग्राहुति देवताग्रों के ग्रग्नि मुख मुख में दी जाती है।

पुरोडाश करता हुआ यजमान प्रत्यक्ष रूप से इन्द्र और अग्नि का यजन करता है। जो इस रहस्य को जानता हुआ ऐन्द्राग्न याग करता है वह प्रत्यक्ष रूप से दर्शपूर्णमास के देवता इन्द्र और अग्नि का यजन करता है ।।१७।।

पश्चात् प्रातः अर्थात् अमोत्तर प्रतिपद् को आग्नेय पुरोडाश तथा मित्र-वरुणदेवताक पयस्या होती है।

मैं यज्ञ से बहिर्भूत या वियुक्त न बनूं इसलिए आग्नेय पुरोडाश किया जाता है । क्योंकि अग्नि के बिना यज्ञ नहीं होता अतः यज्ञसम्पत्त्यर्थं आग्नेय पुरोडाश किया जाता है। मित्र और वरुण अर्धमास अर्थात् दो पक्ष है। वरुण आपूर्यमाण (शुक्ल) पक्ष है तथा मित्र अपक्षीयमाण (कृष्ण) पक्ष है। अमावास्या के दूसरे दिन से सोम की वृद्धि होने से उसे आपूर्यमाण पक्ष कहा गया है। सोम परमेष्ठी की वस्तु है और वरुण भी पारमेष्ठ्य है। अतः आपूर्ण-माण पक्ष (सोमवृद्धि वाले पक्ष) को वरुण कहा गया है।

पूर्णिमा के बाद प्रतिपत् से सोम का ह्रास होने लगता है अर्थात् चन्द्रमारूप सोम की एक एक कला का ह्रास होता है। अतः कृष्णपक्ष अपक्षीयमाण पक्ष कहलाता है। ये मित्रवरुण दोनों अमावस्या को साथ रहते हैं। चन्द्र और सूर्य (वरुण और मित्र) के साथ रहने से ही 'अमा सह वसतः चन्द्राकौं यस्यां सा' इस व्युत्पत्ति से इसे अमावास्या कहा जाता है। मैत्रावरुणी पयस्या के द्वारा मित्र और वरुण दोनों की साथ तृप्ति की जाती है। जो इस मैत्रावरुणी पयस्या के द्वारा दोनों को साथ तृप्त करता है, उसके सब तृप्त हो जाते हैं। जो इस विज्ञान को जान कर मैत्रावरुण याग करता है, उसके सब तृप्त हो जाते हैं और उसे सब प्राप्त हो जाता है ।।१८।।

अमावास्या की रात्रि में मित्र वरुण में रेतःसेक करता है। इस रेतःसेक से वह चन्द्रमा उत्पन्न होता है जो प्रतिदिन पूर्ण होता रहता है, बढ़ता रहता है। इससे मैत्रावरुणी पयस्या सामर्थ्ययुक्त बनती है। अर्थात् प्रकृति में इस दिन मित्र वरुण (सूर्य चन्द्र) साथ रहते हैं। अतः मैत्रावरुणी पयस्या करना उचित है ।।१९।।

अमावास्या सांनाय्य-स्थानापन्न है। अमावास्या को किया जाने वाला सांनाय्ययाग पूर्णिमा को ही कर दिया जाता है। अतः पुनः इस अमावास्या में

सांनाय्य को आहुति जामिता (पुनरुक्ति) होगी। तथा दर्श व पूर्णमास के देवताओं में कलह होगा। अतः अमा को ऐन्द्रसांनाय्य को छोड़ कर जिसे कि पूर्णिमा को किया जा चुका है, केवल मैत्रावरुणो पयस्या ही करनी चाहिए। पयस्या दधि और दूध का विकार है अतः उसके करने से और उसमें दधिभाग के भी होने से अमावास्या को सांनाय्यभाजनता भी नष्ट नहीं होती। इसलिए दर्श में अनुष्ठित सांनाय्य याग से जल तथा ओषधियो में प्रविष्ट इस सोम को दधिपयोरूप पयस्या में सम्पादित कर अर्थात् पयस्या बना कर अग्नि में उसका हवन कर आहुतियों से जिस चन्द्रमा को उत्पन्न करता है। वही यह चन्द्रमा सांनाय्य आहुति से उत्पन्न होकर अमोत्तर प्रतिपत् में कलारूप से दिखाई देता है ॥२०॥

जब दूध को पयस्या बना दी जाती है तो उसमें वाजिन (तरल भाग) अवशिष्ट रह जाता है। इस पयस्या व वाजिन के मिथुन से ही यजमान चन्द्रमा को उत्पन्न करता है। पयस्या योषा है और वाजिन वृषा है। योषा वृषा प्राण के मेल से ही उत्पत्ति होती है, यह अनुष्ठया (उचित) है कि मिथुन से उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पयस्या की आहुति से पयस्या और वाजिन का मिथुन हो जाता है और मिथुन से ही चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है। अतः मैत्रावरुणी पयस्या की जाती है ॥२१॥

पयस्या को आहुति के बाद देवताओं के लिए वाजिन की आहुति दी जाती है। वाजी अश्व कहलाता हैं और वेद में छन्द ही देवताओं का अश्व माना गया है। ऋतु ही वाजी हैं, देवताओं के अश्व हैं। व्यापक ऋताग्नि में सोम की आहुति होती है, इसी ऋताग्निरूप ऋतु से आग्नेय देवताओं का स्वरूप बनता है, अतः देवतास्वरूपनिष्पादक ऋतु ही वाजी है। उन्हीं ऋतुओं में सर्व-प्रजोत्पादक वाजिनरूप रेत का सेक होता है। अतः वाजिरूप ऋतुओं के लिए वाजिनरूप रेत का सेक किया जाता है ॥२२॥

वह यजमान यज्ञ के अन्त में[1] प्रस्तरपरिधि-प्रहरण के उत्तरकाल में वाजिन

१. परिधीन् प्रहृत्य संस्रबान्तं कृत्वा वाजिन पात्रमुपस्तीर्य (आपस्म्ब)

होम करता है। प्रजननक्रिया में पुरुष (वृषा) (स्त्री योषा) का पृष्ठ भाग से अभिगमन करता है। उसमें रेतःसेक करता है। अतः अध्वर्यु भी पहिले स्त्री-रूप पयस्या का हवन करता है और तत्पश्चात् वृषारूप वाजिन की आहूति देता है। यही रेतःसेक है। वह अध्वर्यु पहिले 'अग्ने वीहि वौषट्' कहता हुआ आहूति देता है। यही स्वल्प वाजिन की आहुति यज्ञान्त में होने के कारण यज्ञान्त में किए जाने वाले स्विष्टकृत् याग के स्थानापन्न है ॥२३॥

इसके बाद आहुति से बचे हुए वाजिन को दिशाओं के लिए अग्नि में चौतरफ निम्न मन्त्र बोलते हुए डालता है—

'दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा'[1] पाँच ही दिशायें हैं और पाँच ही संवत्सर की ऋतुएँ हैं। (हेमन्त[2] और शिशिर को मिला कर ७२-७२ दिन की पाँच ऋतुएँ संवत्सर में होती हैं। अतः इन दिशाओं की आहुति देता हुआ यजमान दिशाओं और ऋतुओं का मिथुन करता है ॥२४॥

हव्यशेष को दक्षिणारूप से होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र व यजमान ये पाँचों खाते हैं। संवत्सर में पाँच ऋतु होती हैं। पाँचों को भोजन कराता हुआ यजमान पाँचों ऋतुओं का स्वरूप बनाता है। इस तरह पाँच ऋतुरूप ब्राह्मणों को भोजन कराता हुआ ऋतुओं में ही सिक्त वीर्य की प्रतिष्ठा करता है। सर्व-प्रथम 'मैं प्रथम रेत को ग्रहण करूँ' यह कहता हुआ यजमान हव्यशेष का भक्षण करता है। अथवा अन्त में 'मुझ में यह वीर्य प्रतिष्ठित हो' यह कहता हुआ सबसे अन्त में यजमान भोजन करे। और वह भी 'उपह्वयस्व' इस अनु-मन्त्र का उच्चारण करता हुआ करे। अर्थात् ब्राह्मणों की अनुमति प्राप्त करके करे। सोमयाग में यही प्रक्रिया ह। अतः ऐसा कहते हुए इसे सोमयाग ही बनाते हैं ॥२५॥

---

१. प्रतिवषट्कारं हुत्वा 'वाजिनशेषेण दिशो व्याधारयति 'दिश' इति प्रतिमन्त्रम्' इति प्रदक्षिणं पुरस्तात्प्रथमम् 'उ' त्तमाभ्यां मध्ये पूर्वार्धे च'। इति
(का. श्रौ. सू. ४।११६-११७

२. 'हेमन्तशिशिरयोः समासेन' (ऐ. ब्रा. १।१।१)

अथ दाक्षायणेष्टिः (वसिष्ठयज्ञः)

(भाष्य) आग्रयणेष्टि प्रकरण में हमने बतलाया कि यज्ञ प्रकृति एवं विकृतिभेद से दो प्रकार का होता है। हविर्यज्ञादि प्रकृतियज्ञ है एवं आग्रयणेष्ट्यादि विकृतियज्ञ है। विकृतियज्ञ लगभग २००० हैं। कई विकृत इष्टियाँ तो ऐसी हैं जो काम्य हैं एवं कई नित्य हैं। आग्रयणेष्ट्यादि इष्टियां नित्य हैं एवं कारीरी आदि इष्टियाँ काम्य हैं। हम कई बार बतला चुके हैं कि हमारा मनुष्ययज्ञ भौमस्वर्गवासी देवताओं के यज्ञ की प्रतिकृति पर वितत हुआ है एवं भौमस्वर्गवासी देवताओं ने प्राकृतिक प्राणदेवताओं के यज्ञ की प्रतिकृति पर यज्ञ का निर्माण किया था। तात्पर्य यह है कि हमारे सारे यज्ञ मनुष्य-देवताओं के यज्ञ की प्रतिकृति हैं एवं मनुष्य देवताओं के यज्ञ प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति हैं। अतः परम्परा-सम्बन्ध से हमारे सारे यज्ञ प्रकृति के अनुसार ही हैं। जो स्थिति, जो आहुतिक्रम, जो वेदि-क्रम प्राकृतिक यज्ञ में है, ठीक उसीकी प्रतिकृति पर मनुष्ययज्ञ की रचना हुई है। इतना अवश्य है कि कई कर्मों का नया विधान भौमस्वर्गवासी देवताओं ने किया था, जो कि कर्म प्राकृतिक यज्ञ में नहीं है। एवं कई कर्मों का मनुष्ययज्ञ में विधान किया था, जो कि मनुष्य देवताओं में नहीं थे, जैसे अरणिमंथन इत्यादि। अरणिमन्थन भौमस्वर्ग-वासी देवताओं में नहीं होता था। प्रकृत में यही बतलाना है कि यह दाक्षायण यज्ञ प्रकृति में नहीं होता था। जैसे एक अनुभवी वैद्य अपने अनुभव से शास्त्राप्रतिपादित नवीनप्रयोग कर लेता है एवं उससे शास्त्रानुसार ही फल होता है; ठीक वैसे ही यज्ञविद्या को जानने वाले महर्षियों ने अपने अनुभव से इस दाक्षायणयज्ञ का आविष्कार किया। जितना फल महायज्ञ से होता है उतना ही इस दाक्षायणयज्ञ से। यज्ञ कुल पांच प्रकार के होते हैं— १. पाकयज्ञ, २. हविर्यज्ञ, ३. महायज्ञ, ४. अतियज्ञ और ५. शिरोयज्ञ (धर्मयज्ञ)। पाकयज्ञ और हविर्यज्ञ एक श्रेणी की वस्तु हैं, महायज्ञ और अतियज्ञ भी एक श्रेणी के यज्ञ हैं परन्तु शिरोयज्ञ निराला है। जो स्मार्त्त गृह्ययज्ञ हैं वे पाक शब्द से कहे जाते हैं एवं अवशिष्टयज्ञ वितानयज्ञ कहलाते हैं। दर्शपूर्णमासादि हविर्यज्ञ कहलाते हैं एवं ज्योतिष्टोम महायज्ञ कहलाता है। यह ज्योतिष्टोमयज्ञ सात प्रकार का होता है—'सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः।' इति। इसी ज्योतिष्टोम को सोमयाग किं वा अध्वर कहते हैं। चौथा जो अति-यज्ञ है, वह राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध एवं चयन इन भेदों से चार प्रकार का होता है। हविर्यज्ञ साधारण मनुष्य भी कर सकता है परन्तु महायज्ञ एवं अतियज्ञ वही कर सकता है जो कि धनवान् हो, जिसमें भी अतियज्ञ तो बहुत ही बड़ा है। प्रायः राजसूयादि अतियज्ञों में प्रत्येक में तीन करोड़ रुपए लग जाते हैं। इस अतियज्ञ के विषय में कुछ न कह कर हमें महायज्ञ के विषय में ही कुछ कहना है। यद्यपि महायज्ञ में अतियज्ञ जितना द्रव्य नहीं

लगता तथापि दो लाख से कम इसमें भी नहीं लगता । सामान्य मनुष्य इस महायज्ञ को भी नहीं कर सकता है । अतएव दयालु, वेदज्ञ प्राचीन महर्षियों ने विचार किया कि सामान्य मनुष्य बिना महायज्ञ के सप्तदशस्वर्ग में जा नहीं सकता है । ऐसी अवस्था में ऐसा कौनसा उपाय किया जाय जिससे इन्हें स्वर्गप्राप्ति भी हो जाय एवं अधिक द्रव्य-व्यय भी न हो इसी दयालुता के वशीभूत होकर उन्होंने महायज्ञ जितना फल देने वाले इस दाक्षायणयज्ञ का आविष्कार किया । जो जो काम महायज्ञ में होते हैं, उनकी प्रतिकृति पर दाक्षायणयज्ञ में वे ही कर्म लघुभाव से शामिल कर दिए गए । तात्पर्य यह है कि यह दाक्षायणयज्ञ और यज्ञों की तरह प्रकृति में नहीं होता है अपितु महर्षियों ने अपने अनुभव-बल से इसकी रचना की है । निष्कर्ष यह है कि दाक्षायणयज्ञ महायज्ञ का अनुकल्प है ।

सर्वप्रथम प्रजा-कामना वाले दक्ष नाम के प्रजापति ने इस दाक्षायणयज्ञ से यजन किया था । 'मैं मनुष्यादि बहुप्रजा से एवं गो अश्वादि पशुओं से युक्त हो जऊँ अर्थात् मनुष्यसंपत्ति एवं पशुसम्पत्ति दोनों को प्राप्त करूँ एवं उत्पन्न प्रजा के पालनार्थ (अशनार्थ) धन प्राप्त करूँ । इस प्रकार प्रजा, पशु व सम्पत्ति प्राप्त कर यशस्वी एवं अन्नाद (भोक्ता) बन जाऊँ"—इसी अभिप्राय से दक्ष प्रजापति ने सर्वप्रथम दाक्षायणयज्ञ किया ।

'प्रजापतिर्हवाऽएतेनाग्रे यज्ञेनेजे प्रजाकामः बहुः प्रजया पशुभिः स्याम् श्रियं गच्छेयम्, यशः स्याम्, अन्नादः स्याम्' ।।इति।।१।।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस प्रजापति भगवान् ने यह यज्ञ किया, उनका नाम दक्ष-प्रजापति था । चूंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम इस यज्ञ से यजन किया था, इसीलिए इस यज्ञ का नाम 'दाक्षायणयज्ञ' हुआ । इसी दाक्षायणयज्ञ को कोई याज्ञिक 'वसिष्ठ' यज्ञ कहते हैं । इससे इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि वसिष्ठ नाम के किसी दूसरे व्यक्ति के प्रभाव से इस यज्ञ का यह नाम हुआ हो । इस प्रजापति भगवान् का ही दूसरा नाम वसिष्ठ था । प्रजापति सर्वश्रेष्ठ थे एवं अतिशय वसुमान् थे, अतएव इन्हें वसिष्ठ कहा करते थे । इसीलिए दक्षप्रजापतिकृत इस दाक्षायणयज्ञ को 'वसिष्ठ' यज्ञ कहा करते हैं । इस यज्ञ के प्रभाव से ही दक्षप्रजापति उस अवस्था पर पहुँच गए जो कि उनकी प्रजाति (मनुष्य प्रजा) और श्री देखी जाती है । अर्थात् इसी यज्ञ के प्रभाव से वे प्रजापति कहलाए एवं मनुष्यसंपत्ति, पशुसंपत्ति और यश को प्राप्त किया । जिस प्रजाति, यश एवं श्री को दक्षप्रजापति ने प्राप्त किया उसी प्रजाति और श्री को वह मनुष्य प्राप्त करता है जो इस प्रजापतिविज्ञान को जानकर इस दाक्षायणयज्ञ से यजन करता है । चूंकि इस यज्ञ से इतना बड़ा फल मिलता है, इसीलिए यजमान आज दाक्षायणयज्ञ करता है ।।२।।

जो प्राकृतिक यज्ञ की प्रकृति पर किया हुआ यज्ञ होता है उसके विषय में लोगों को कोई संदेह नहीं होता । प्रकृतियज्ञरहस्यमात्र बतला देने से लोगों का संदेह मिट जाता है ।

परन्तु जो यज्ञ स्वानुभव से आविष्कृत किया जाता है उसको लोग उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगते हैं। जो शास्त्रसिद्ध प्रयोग होते हैं, उनमें किसी को ऊहापोह नहीं होता। परन्तु यदि कोई अपने अनुभव से कोई प्रयोग बतलाता है तो लोग उसमें सहसा विश्वास नहीं करते। साथ ही यदि दो चार प्रतिष्ठित व्यक्ति उस प्रयोग को अपना लेते हैं तो सभी मानने लगते हैं। यही बात दाक्षायणयज्ञ के विषय में है। यह यज्ञ भी प्रकृतिसिद्ध न होकर महर्षियों के अनुभव का ही उदाहरण है। अतः इस पर विश्वास दिलाने के लिए प्रतिष्ठित मनुष्यों की सम्मति परमावश्यक है। यही बतलाने के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं।

'यह दाक्षायणयज्ञ कोई साधारण यज्ञ नहीं है। सर्वप्रथम दक्ष प्रजापति ने ही इसे अपनाया था। उन्हें इस यज्ञ का क्या फल मिला यह किसी से छिपा नहीं है। तदनन्तर इस यज्ञ से शिवक्न के पुत्र प्रतोदर्श ने यजन किया। उस यज्ञ के प्रभाव से जो मनुष्य इस प्रतोदर्श पर आक्षेप करते थे—उनका वह आक्षेप उस प्रतोदर्श के लिए विवचन हो गया अर्थात् यह सारी प्रजा उनके पक्ष में हो गयी। इसलिए जो मनुष्य इस दाक्षायणयज्ञ के रहस्य को जानकर इसे करता है वह विवचनवत् हो जाता है अर्थात् उनके लिए सबका बोलना स्वपक्ष का हो जाता है। यदि कोई उसके विरुद्ध भी होकर बोलता है तो यज्ञप्रभाव से वह विरुद्ध वचन इसके पक्ष में ही हो जाता है। यही कारण है कि यजमान आज भी दाक्षायण यज्ञ से यजन करता है ॥३॥

सृञ्जय के पुत्र 'सुप्ला' जो कि दक्षिण प्रदेश के महाराजा थे, इन प्रतीदर्श के पास विद्या पाने के लिए आये। अर्थात् यज्ञविद्या सीखने के लिए सुप्ला ने प्रतीदर्श के पास आकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। चूंकि सुप्ला प्रतीदर्श के शिष्य बन चुके थे एवं शिष्य से कोई विद्या छिपाई नहीं जाती थी। अतः उन्होंने सुप्ला को सर्वफलप्रदाता इस दाक्षायणयज्ञ के रहस्य को बतलाया एवं और भी अन्यान्य यज्ञों का उपदेश दिया। इस प्रकार प्रतीदर्श से यज्ञविद्या का अध्ययन करके सुप्ला महाराज अपने सृञ्जय नाम के जनपदों में वापिस लौट आए। उन सृञ्जयों ने अर्थात् सृञ्जयदेश-निवासियों ने समझ लिया कि हमारे महाराजा यज्ञविद्या सीख कर आये हैं। यज्ञविद्या पढ़ कर आने वाले अपने महाराजा के विषय में ये लोग कहने लगे कि हमारे महाराजा देवताओं के साथ आये हैं। यज्ञिय देवता कुल ३३ होते हैं। जैसाकि श्रुति कहती है—

इति स्तुतासोऽसथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च। मनोर्देवा यज्ञियासः।' इति

इन यज्ञिय देवताओं में सबसे आदि देवता अग्नि है एवं अन्तिम विष्णु है। बाकी सारे देवता अग्नि विष्णु के मध्य में रहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अग्निर्देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।' इति

प्रकृत में यही बतलाना है कि यज्ञविद्या सीखना देवताओं को आत्मसात् करना है। चूंकि यज्ञ को साथ लेकर अर्थात् यज्ञविद्या सीख कर सुप्ला लौटे थे, अतएव तब से उनका नाम 'सहदेव' हो गया। अर्थात् तब से वे सुप्ला न कहलाकर सहदेव कहलाने लगे। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यही कारण है कि आज भी वे 'सहदेव' नाम से ही व्यवहृत होते हैं। उनके विषय में लोग कहते हैं कि हे भाइयो ! पहिले इनका नाम सुप्ला था, परन्तु जब से यह यज्ञविद्या पढ़ कर आए, तब से इनका नाम 'सहदेव' हो गया।

उन्होंने इस दाक्षायणयज्ञ को किया। इस यज्ञ से यजन करके उन्होंने उस श्री और प्रजाति को प्राप्त किया, जिससे कि सृञ्जयों की प्रजाति और संपत्ति लोक में प्रसिद्ध हो गयी अर्थात् याज्ञवल्क्य के समय में सृञ्जय जनपद जो इतना समृद्ध हो रहा था, उसकी समृद्धि का एक कारण दाक्षायणयज्ञ ही था। जो यजमान इस यज्ञ से यजन करता है वह इसी प्रजाति (उत्पत्ति) को उत्पन्न करता है एवं उसी श्री को प्राप्त करता है। अतएव यह यजमान दाक्षायणयज्ञ से देवताओं का यजन करता है ॥४॥

यह दाक्षायणयज्ञ सामान्य नहीं है। समय समय इस यज्ञ को बहुत से राजाओं एवं ब्राह्मणों ने किया है, एवं इसके द्वारा सोमयाग से प्राप्त होने वाला फल प्राप्त किया है। राजाओं ने इसे किया था—यह बतला करके अब जिन अनूचान ब्राह्मणों ने इसे किया था, उनके विषय में बताते हैं।

प्रतोदर्श के बाद श्रुतर्षि के पुत्र देवभाग ने इस यज्ञ से देवताओं का यजन किया। यह देवभाग इसी यज्ञ के प्रभाव से उत्तरकुरु एवं सृञ्जयों के पुरोहित हो गये। अर्थात् वे इन दोनों राष्ट्रों के पुरोहित हो गए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि एक ही राष्ट्र का पुरोहित हो जाना बड़ी उत्कृष्टता है, अतः जो दो राष्ट्रों का पुरोहित हो जाय उसकी उत्कृष्टता का तो कहना ही क्या ? अतः जैसे देवभाग इस यज्ञ द्वारा परमता को प्राप्त हो गए, वैसे ही इस यज्ञरहस्य को जानकर जो विद्वान् इस दाक्षायणयज्ञ से देवताओं का यजन करता हैं, वह इसी परमता को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ऐसे फलों को देखकर ही आज यह यजमान इस यज्ञ से यजन करता है ॥५॥

इसके बाद पर्वतों के राजा दक्ष ने इस दाक्षायण यज्ञ से यजन किया। हिमालय पर्वत के जो राजा थे उनका नाम तो हिमालय था। एवं हिमालय के तराई के राजा का नाम दक्ष था। आज जो ज्वालापुर नाम से प्रसिद्ध है वही इसकी राजधानी थी। इसी दक्ष की लड़की का नाम सती था। चूंकि पिता के यज्ञ में सती जल गई थी। इसीलिए उसी दिन से उसका नाम ज्वालापुर हो गया। इस सती ने बाद में हिमालय राजा के घर में जन्म लिया था। दक्ष नाम किसी व्यक्ति का न था। वसिष्ठादि महर्षियों की तरह दक्ष व

हिमालय नाम भी गोत्र व वंशनाम थे। प्रकृत में यही बतलाना है कि कनखल के महाराजा दक्ष ने इस दाक्षायणयज्ञ से देवताओं का यजन किया था। क्योंकि यह पर्वतों के अधिपति थे अतएव 'पार्वति' कहलाते थे। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इसी यज्ञ के प्रभाव से आज भी दाक्षायण लोग राज्य को प्राप्त होकर ही मानो दिखलाई पड़ रहे हैं। याज्ञवल्क्य के समय में दक्ष के वंश के विद्यमान थे। उनकी स्थिति साधारण नहीं थी अपितु वे प्रचुर मात्रा में सम्पन्न थे। इतने दिन तक वंश नष्ट न होना एवं सम्पत्ति का नाश न होना इसी दाक्षायणयज्ञ की महिमा है। अतः जो विद्वान् इस दाक्षायणयज्ञ से देवताओं का यजन करता है वह दाक्षायणों की तरह राज्यसदृश सम्पत्ति को प्राप्त करता है। इसीलिए आज भी इससे यजन करते हैं।

इति फलश्रुतिप्रकरणम्

'यज्ञ करना चाहिए'—यह सिद्धान्त स्थापित कर अब आहुतिक्रम बतलाते हैं। यह दाक्षायणयज्ञ पूर्णिमा, प्रतिपत्, अमा, प्रतिपत्—इन चार दिनों में जाकर समाप्त होता है। आग्रयणेष्टि, दर्शपूर्णमासेष्टि इत्यादि जो इष्टियाँ हैं—उनमें से एक-एक दिन में तीन-तीन देवताओं का यजन होता है। आग्नेय पुरोडाश, अग्नीषोमीय अष्टाकपाल पुरोडाश इत्यादि कई पुरोडाश एक ही दिन में हुत कर दिए जाते हैं। परन्तु इस दाक्षायणेष्टि में प्रतिदिन (अनूचीनाहम्) एक-एक ही पुरोडाश होता है। एक दिन में एक पुरोडाश से अधिक नहीं किया जाता है। तात्पर्य यह है कि पूर्णमास प्रयोग में भी एक ही पुरोडाश करना चाहिए एवं दूसरे दिन (प्रतिपत् को) भी एक ही पुरोडाश करना चाहिए। ऐसा करने से अर्थात् एक पुरोडाशयुक्त दाक्षायणयज्ञ करने से इस यजमान की श्री (सम्पत्ति) असपत्न और आक्रमणरहित हो जाती है।

इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'स वा एकैक एवानूचीनाहं (प्रतिदिनं) पुरोडाशो भवति। एतेनो हास्यासपत्नानुपबाधा श्रीर्भवति।' इति

यद्यपि पुरोडाश एक ही देते हैं, परन्तु उसी दिन (पूर्णिमा को) अग्नीषोमीय देवता का यजन करते हैं अर्थात् अग्नि और सोम दोनों को मिश्रितरूप से पूर्णिमा को आहुति देते हैं। इस प्रकार से अमा को भी दो ही देवताओं का यजन करते हैं—

'स वै द्वे पौर्णमास्यौ यजते, द्वेऽअमावास्ये।' इति

दो देवताओं का यजन क्यों करते हैं, इसका कारण बतलाते हैं। जो दो वस्तु होती है, वह मिथुन कहलाती है अर्थात् जब दो का मेल होता है तो वह जोड़ा मिथुन कहलाता है। प्रजननक्रिया में द्वन्द्व (मिथुन) ही अपेक्षित है। बिना दो के तीसरी वस्तु उत्पन्न नहीं

होती है। चूंकि दाक्षायणयज्ञ से प्रजा उत्पन्न करनी है एवं प्रजा बिना मिथुन के होती नहीं, अतएव (मिथुन-संपत्त्यर्थं ही) द्विदेवताक पुरोडाश करते हैं। इस प्रकार मिथुन का यजन करता हुआ यजमान मिथुन द्वारा प्रजोत्पत्ति करता है। अग्नि और सोम दोनों को आहुति देने का यही कारण है। 'मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' ॥६॥

हमने बतलाया है कि दाक्षायणयज्ञ पूर्णिमा, प्रतिपत्, अमा एवं प्रतिपत्–इन चार दिनों तक होता है। उसकी इतिकर्तव्यता चार दिनों में समाप्त होती है। इसलिए पूर्व के दिन अर्थात् खास पूर्णिमा को यजमान अग्नीषोमीय पुरोडाश से अग्नि और सोम दोनों का यजन करता है, उस पूर्णिमा के दिन अग्नि और सोम ये दोनों देवता रहते हैं। दो ही को मिथुन कहते हैं। दो का यजन करना मिथुन का यजन करना है। इस प्रकार पूर्णिमा को मिथुन का यजन कर, मिथुन से ही प्रजोत्पत्ति करवाता है। इन दोनों का यजन करने का यही कारण है। 'मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते' ॥७॥

तदनन्तर दूसरे दिन प्रातःकाल (प्रतिपत् को प्रातःकाल) आग्नेय पुरोडाश होता है एवं ऐन्द्र सान्नाय (दधि) होता है। इन्द्र को सोम की आहुति दी जाती है। परन्तु सोमयाग में ही सोम दिया जाता है अन्य यज्ञों में नहीं। इसीलिए साक्षात् सोम की आहुति न देकर सोम को (दूध को) रूपान्तरित कर आहुति दी जाती है। यहाँ भी पुरोडाश एक ही है—यह ध्यान रहे। क्योंकि प्रतिदिन एक ही पुरोडाश करने की आज्ञा है। इस प्रकार से अग्नि और इन्द्र ये दो देवता हो जाते हैं। दो को ही मिथुन कहते हैं। इस प्रकार दो का यजन करता हुआ मिथुन से प्रजनन करता है ॥८॥

तदनन्तर पहिले दिन (अमावास्या में) ऐन्द्राग्न पुरोडाश से इन्द्राग्नि का यजन करते हैं। इन्द्राग्नि दो देवता है, द्वन्द्व ही मिथुन कहलाता है। इस प्रकार दो का यजन करता हुआ मिथुन से प्रजनन करता है।

तत्पश्चात् दूसरे दिन प्रातः आग्नेय पुरोडाश होता है एवं मैत्रावरुणी पयस्या होती है। यज्ञ का सम्बन्ध अग्नि से ही है क्योंकि बिना अग्नि के यज्ञ हो ही नहीं सकता है। चाहे किसी भी देवता का यजन हो, अग्नि का यजन करना ही पड़ता है। यदि अग्नि का यजन नहीं किया जाता है तो यजमान यज्ञ से ही अलग हो जाता है। अतः आग्नेय पुरोडाश इसीलिए किया जाता है कि हम यज्ञ से बाहर न हो जायें। अर्थात् दाक्षायणयज्ञ से आग्नेय पुरोडाश का अधिक सम्बन्ध नहीं है, यह तो यज्ञसम्पत्ति-रक्षार्थ ही किया जाता है। 'नेद्यज्ञादयानीति न्वेवाग्नेयः पुरोडाशः।' इति।

याज्ञवल्क्य पूर्वकपाल एवं पश्चिमकपाल की तरफ संकेत करते हुए कहते हैं कि यही दोनों मित्र वरुण हैं। पूर्वकपाल को मित्र एवं पश्चिमकपाल को वरुण कहते हैं। इस पूर्व-

पश्चिम कपाल का विभाजक ध्रुवप्रोत वृत्त है। ध्रुवप्रोत वृत्त का पूर्व कपाल मित्र एवं पश्चिम कपाल वरुण है। प्रत्येक मनुष्य का अपना-अपना पूर्वापर कपाल भिन्न-भिन्न है। पर प्रकृत में यही बतलाना है कि यह 'पयस्या' इन्हीं मित्रावरुण के लिए की जाती है। अग्नि का यजन तो केवल यज्ञसंपत्ति-रक्षार्थ किया जाता है—दाक्षायणयज्ञ का इससे कोई संबंध नहीं है। मित्रावरुण का ही इस यज्ञ से सम्बन्ध है। मित्र और वरुण ये दो देवता हैं और दो को ही मिथुन कहते हैं। इस प्रकार दो देवताओं का यजन करता हुआ यह यजमान मिथुन द्वारा प्रजोत्पत्ति करता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मिथुन से प्रजनन के लिए एक हो मिथुन पर्याप्त था, फिर उनके अग्नीषोम, मित्रावरुण, एन्द्राग्नी इत्यादि अनेक मिथुन करने की क्या आवश्यकता है ? इसीका उत्तर देते हैं।

मिथुनरूप से अनुष्ठाता यजमान अनेक प्रजा और पशुओं से युक्त होता है। तदात्मक ही मिथुन का स्वरूप है। अर्थात् चूँकि प्रजा और पशु अनेक हैं, अतएव अनेक मिथुन किए जाते हैं। 'एतदुहास्य तद्रूपं येन बहुर्भवति येन प्रजायते' ॥१०॥

हमने बतलाया है कि यह दाक्षायणयज्ञ सोमयाग के अनुकल्प रूप में किया जाता है। सोमयाग में प्रधान तीन काम होते हैं—१. दीक्षा २. सुत्या और ३. उपवसथ। जैसे दर्श-पूर्णमास के प्रारम्भ में व्रतग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार सोमयाग के प्रारम्भ में दीक्षा ली जाती है। इसीको उपवसथ दिन कहते हैं। इस दिन यजमान को उपवास रखना पड़ता है। दीक्षा के दिन अर्थात् उपवसथ के दिन अग्नोषोमीय पशु का आलम्भन किया जाता है। उस दिन पशु की वसा की आहुति होती है। यह आहुति अग्नीषोमीय होती है अर्थात यह आहुति अग्नीषोम देवता को ही दी जाती है—

'स एष उपवसथीयेऽहन् द्विदेवत्यः पशुरालम्यते' (तै. ब्रा. प्रथम ५ प्र. ९ अनु. २६४ पृष्ठ)

एवं सुत्या के दिन प्रातःसवन, मध्याह्नसवन और सायंसवन किया जाता है। एवं उपवसथ के दिन मैत्रावरुणी वशा (गो) का आलम्भन किया जाता है। इस प्रकार सोम-याग में तीन काम होते हैं। दाक्षायणयज्ञ की तुलना इसी सोमयाग से करते हैं। प्रथम दिन जो कि अग्नीषोमीय पुरोडाश से यजन करना है, उसका यह अग्नीषोमीय पुरोडाश जो कि सोमयाग में अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करना है—उसीके समान है। अर्थात् अग्नी-षोमीय पुरोडाश पशु-आलम्भन-स्थानापन्न है ॥११॥

तत्पश्चात् प्रातः (प्रतिपत् को) आग्नेय पुरोडाश और ऐन्द्र सान्नाय्य होता है। इन दोनों में से प्रातःसवन ही आग्नेय पुरोडाश है क्योंकि प्रातःकाल सूर्य-प्रकाश की मन्दता के कारण अग्नि की ही प्रधानता रहती है। मध्याह्नसवन ही ऐन्द्र सान्नाय्य है। मध्याह्न में सूर्य प्रखर तेज से तपता है, इसलिए इसे (ऐन्द्र सान्नाय्य को) मध्याह्नसवन कहा गया है। 'ऐन्द्रं हि माध्यन्दिनं सवनम्।' इति ॥१२॥

इसके बाद प्रथम दिन अमावास्या में ऐन्द्राग्न पुरोडाश से इन्द्राग्नी का यजन करते हैं। यही इस दाक्षायणयज्ञ का तृतीय सवन है।

सोमयाग में सायंसवन में वैश्वदेवयाग किया जाता है। प्रकृत दाक्षायणयज्ञ में और तो सोमयाग का स्वरूप हो जाता है परन्तु विश्वेदेव इष्टि का स्वरूप तो नहीं बनता है। इसी पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं। तृतीयसवन वैश्वदेवदेवताक होता है अर्थात् विश्वेदेव का यजन होता है। इन्द्र और अग्नि ही विश्वेदेव है। इसलिए इस दाक्षायणयज्ञ में इन्द्राग्नी का यजन करना वैश्वदेवेष्टि करना है ।।१३।।

इसके बाद प्रातः (प्रतिपत् को) आग्नेय पुरोडाश होता है एवं मैत्रावरुणी पयस्या होती है। आग्नेय पुरोडाश केवल इसीलिए किया जाता है कि हम इस यज्ञ से बाहर न हो जायें। एवं सोमयाग में उपवसथ के दिन जो यह मैत्रावरुणी वशा का आलम्भन करना है, वही आज की मैत्रावरुणी पयस्या है अर्थात् मैत्रावरुणी पयस्या सोमयागान्तर्गत उपवसथ के दिन होने वाली मैत्रावरुणी के आलम्भन के स्थान में है।

इस प्रकार से यह यजमान पौर्णमास्य और आमावास्य से अर्थात् दाक्षायणयज्ञ से देवताओं का यजन करके जितनी फलप्राप्ति महायज्ञ से (ज्योतिष्टोम से) करता है, उसी फल को प्राप्त कर लेता है। चूंकि दोनों का फल समान है, इसीलिए दाक्षायणयज्ञ महायज्ञ कहलाने लगता है—'तदु खलु महायज्ञो भवति' इति ।।१४।।

पूर्णिमा को अग्नीषोमीय पुरोडाश क्यों किया जाता है, प्रतिपत् को आग्नेय पुरोडाश और ऐन्द्र सान्नाय्य क्यों किया जाता है, अमा को ऐन्द्राग्न पुरोडाश एवं प्रतिपत् को मैत्रावरुणी पयस्या क्यों की जाती है—इसका एक कारण बतला दिया गया है। सोमयाग के अनुकल्प के लिए ही ये आहुतियां दी जाती हैं। अब प्रकारान्तर से इन आहुतियों का दूसरा फल और बतलाते हैं।

प्रथम दिन अर्थात् पूर्णिमा को जो अग्नीषोमीय पुरोडाश से अग्नि और सोम का यजन करते हैं. इसका कारण बतलाते हैं—

'अथ यत्पूर्वेद्युरग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्याम्' (तदुच्यते इतिशेषः)

अग्नि और सोम – ये दो ही तत्त्व सृष्टि-निर्माण-प्रक्रिया में प्रधान माने जाते हैं। सोम दाह्य पदार्थ है और अग्नि के साथ मिलते ही चमक पड़ता है। इस चमक के साथ ही विद्युदिन्द्र का इसमें प्रवेश हो जाता है। इन्द्र प्रकाशी प्राण का नाम है एवं प्रकाश अग्नि और सोम के याग (मेल) पर अवलम्बित है। योग और याग—मेल के ये दो भेद होते हैं। जहाँ सम्बन्धमात्र होता है एवं दोनों पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, उसे 'योग' कहते हैं एवं

जब दो पदार्थ मिलकर, अपना पूर्व स्वरूप छोड़कर, किसी तीसरी अवस्था में परिणत हो जाते हैं, उस मेल को 'याग' कहते हैं। चूंकि अग्नि और सोम दोनों मिलकर—स्वस्वरूप को नष्ट कर—प्रकाशस्वरूप में परिणत हो जाते हैं, अतएव अग्नि और सोम के सम्बन्ध को 'याग' कहते हैं।

चूंकि अन्धकार सभी पदार्थों को अपनी काली चद्दर से ढक देता है, अतएव 'सर्वं वृत्वा शिश्ये' इस व्युत्पत्ति से अन्धकार को 'वृत्र' कहा जाता है। इस वृत्र (अन्धकार) और इन्द्र में (प्रकाशप्राण में) सदा युद्ध होता रहता है। अन्त में इस अग्नीषोमीय याग से इन्द्र वृत्र को मार ही डालता है। १५ दिन युद्ध करते-करते इसी पूर्णिमा को—अग्नीषोमीय याग से इन्द्र वृत्र को मार कर विजयी बन जाता है। इस पूर्णिमा को, इन्द्र की जो यह विजय देखी जाती है, उस विजिति को इन्द्र इसी याग से प्राप्त करता है। यदि अग्नि और सोम का यह मेल न होता तो प्रकाश नहीं होता और प्रकाश नहीं होता तो इन्द्र का स्वरूप ही नहीं बनता। ऐसी अवस्था में वृत्रवध की तो कथा ही क्या थी? इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"इसी अग्नीषोमीय याग से इन्द्र ने वृत्र को मारा था एवं हर पूर्णिमा को मारता रहता है। इसी याग से उस विजिति को इन्द्र ने जीता था, जो कि विजिति पूर्णिमा के दिन दिखलाई देती है अर्थात् पूर्णिमा के दिन वृत्र की सत्ता जरा भी नहीं रहती। अहोरात्र चौबीसों घण्टे इन्द्र का (प्रकाश का) ही बोलबाला रहता है।"

इसीलिए आज उस प्राकृतिक अग्नीषोमीय याग के अनुसार, इस अग्नीषोमीय याग से यह यजमान भी, जो आक्रमण करने वाले भ्रातृव्य शत्रु हैं, उनका नाश करता है एवं इन्द्र-सदृश विजय को प्राप्त करता है। अर्थात् इस अग्निषोमीय यज्ञ द्वारा इसका आत्मा अत्यंत प्रबल हो जाता है, अतएव इन पर शत्रु आक्रमण करने में असमर्थ रहते हैं। एवं यह यज्ञकर्त्ता संसार में विख्यात हो जाता है। अतएव पूर्णिमा को अग्नीषोमीय याग किया जाता है।

'एतेन वा इन्द्रो वृत्रमहन्। एतेनो एव व्यजयत। याऽस्येयं विजितिस्ताम्। तथो एवैष एतेन द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति। तथो एव विजयते। अग्नीषोमीययागेनेति शेषः।'

पूर्णिमा के दूसरे दिन जो ऐन्द्र सान्नाय्य किया जाता है, उसका कारण बताते हैं—

इन्द्र को दिया जाने वाला जो सान्नाय्य है, वह आमावास्य है अर्थात् अमावस्या-संबंधी है। अर्थात् इन्द्र को तृप्त करने के लिए सान्नाय्य की आहुति अमावस्या को ही दी जाती है। इन्द्र ने वृत्र को पूर्णिमा के दिन मारा था। वृत्र महाबलवान् था। इन्द्र ने उसे मार तो दिया परन्तु वे लड़ते-लड़ते थक गये, कमजोर हो गये। इस कमजोरी को हटाने के लिए—

इन्द्र के लिए—सान्नाय्य (दधि) दिया जाता है। प्रकृतिमण्डल में पूर्णिमा के बाद से ही इन्द्र क्षीण होने लगता है, आखिर अमा को सर्वथा क्षीण हो जाता है। उसी दिन उसे सोम (सान्नाय्य) की आहुति दी जाती है, जो कि सोम चन्द्रस्वरूप है। उस आहुति से तृप्त होकर फिर द्वितीया के दिन चमक पड़ता है। इसी प्राकृतिक यज्ञानुसार चूंकि हमारा यह अग्नीषोमीय यज्ञ है, अतः तदनुसार ही हमें प्रकृतिमण्डलवत् इन्द्र को तृप्त करने के लिए सोम (सान्नाय्य) देना चाहिए। साक्षात् सोमाहुति सिवाय सोमयाग के किसी दूसरे याग में नहीं दी जाती है। अतएव प्रकृत में इसी सोम को प्रकारान्तर से अवस्थान्तरित कर दिया जाता है। दर्शेष्टि में सान्नाय्य अमावस्या को दिया जाता है। अग्नीषोमीय याग हमने पूर्णिमा को किया है। इस प्रकार जो यह सान्नाय्य दिए जाने वाली पूर्णिमा अभी दूर है—अभी उसमें १५ दिन शेष हैं। यदि कोई मनुष्य युद्ध से लौटकर आवे और आने के साथ ही यदि उसे भोजनादि से तृप्त कर दिया जाय, तो वह वास्तविक तृप्ति कहलाती है परन्तु यदि उसे दस-पाँच दिन बाद कुछ दिया जायगा—तो वह देना या न देना बराबर होगा। इतने दिनों बाद उसका सारा चित्तोत्साह मारा जायगा। प्रकृत में चूंकि इन्द्र ने वृत्र को मारा है और अमावस्या अभी दूर है। अतः इन्द्र-तृप्त्यर्थं जो आहुति अमावस्या को दी जाती है, वह आज ही (प्रतिपत् को) दे दी जाती है। इस प्रकार वृत्रहन्ता इन्द्र के लिए आमावास्य सान्नाय्य को पूर्णिमा के दूसरे दिन (प्रतिपत् को) शीघ्र ही अर्थात् वृत्रवधोत्तर ही देकर, इस सान्नाय्य रस से इन्द्र को तृप्त करते हैं। अमावस्या में होने वाले सान्नाय्य को प्रतिपत् में करने का यही कारण है—

'अथ यत्संनयति (तदुच्यते) आमावास्यं वै सांनाय्यम्। दूरे तद् यदमावास्येति क्षिप्र एवैतद्वृत्रं जघ्नुषे, तमेतेन रसेन अप्रीणन्।' इति।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो इस क्षिप्र तृप्ति-रहस्य को जानकर पौर्णमास्सी में (प्रतिपत् में) ही सान्नाय्य करता है, वह अपने शत्रुओं को बहुत शीघ्र मार डालता है—

'क्षिप्रे ह वै पाप्मानमपहते (हिनस्ति) य एवं विद्वान् पौर्णमास्यां संनयति।' इति।

इस प्रकार पौर्णमास्य संनयन की एक प्रकार से प्रशंसा कर, अब दूसरे प्रकार से प्रशंसा करते हैं।

यह सोम राजा जो कि चन्द्रमा है, देवताओं का अन्न है। सोमपायी देवता कुल ३३ हैं, जो कि सूर्य में रहते हैं। ये देवता आग्नेय हैं। अग्नि का स्वभाव है सोम को खाना। चन्द्र-पिण्ड सोम का गोला है, सोममय है। अतएव देवता अर्थात् सूर्य-रश्मियाँ इसे चूस जाती हैं। इसी अभिप्राय से 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः।' यह कहा गया है। प्रकृतिमण्डल में पूर्णिमा को चन्द्रमा परिपूर्ण मात्रा में रहता है। दूसरे दिन से ही सोम को खाने वाले देवताओं के लिए यह सोम पहिले दिन तैयार हो जाता है। दूसरे दिन से ही

देवता इस चन्द्रसोम को (चन्द्रमा की एक-एक कला को) खाने लगते हैं। प्राकृतिक प्राण-देवताओं का यही सोमयाग है। इसी प्राकृतिक सोमयाग की प्रतिकृति पर, इस मनुष्य-सोमयाग का निर्माण हुआ है। प्रकृतिमण्डल में देवता दूसरे दिन से खाने लगेंगे—इसलिए पहिले दिन (पूर्णिमा को) ही जैसे सोम (चन्द्र) तैयार हो जाता है, तथैव सोमयाग में प्रतिपत् से पहिले पूर्णिमा को ही सोमवल्ली के प्रादेशमात्र (१०$\frac{1}{2}$ अंगुल) खण्ड कर उनके अंशु (पूली) बना, उपांशुसवन द्वारा उन्हें कूटकर, सोमरस निकाल लिया जाता है। इस प्रकार पहिले निकाले हुए इस सोमरस की दूसरे दिन आहुति दी जाती है। जैसे प्रकृति का सोम दूसरे दिन से क्षीण होने लगता है, तद्वत् यह सोम दूसरे दिन अग्नि में आहुत कर दिया जाता है। इसी प्राकृतिक सोमयाग को लक्ष्य में रखकर, भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः। तमेतं पूर्वेद्युरभिषुण्वन्ति, प्रातर्भक्षयिष्यन्तः (इत्यभिप्रायेण) तमेतद्भक्षयन्ति (देवाः) यदपक्षीयते।' इति।

चन्द्रमा प्रतिपत् से ही क्षीण होने लगता है क्योंकि उसी दिन से देवता उसे खाने लगते हैं ॥१५॥

हमने बतलाया था कि यह दाक्षायणयज्ञ सोमयाग की प्रतिकृति पर है। इसमें सोमयागवत् सोम का अभिषव तो कर नहीं सकते, अतः अग्नीषोमीय याग को ही सोमाभिषव का अनुकल्प माना है अर्थात् पहिले दिन (पूर्णिमा को) जो यह यजमान, अग्नीषोमीय याग से यजन करता है, वह सोम का ही अभिषव करना है अर्थात् यह अग्नीषोमीय याग अभिषवस्थानीय है- 'अथ यत् पूर्वेद्युरग्नीषोमीयेण यजते पौर्णमास्याम्, अभिषुणोत्येवैनमेतत्।'इति।

इस प्रकार से पहिले दिन अभिषुत जो सोम है, उसमें दूसरे दिन (प्रतिपत् को) सान्नाय्य रस डालता है। दूध में जब दही डाल दिया जाता है, तो वह तीव्र हो जाता है, अत्यन्त मादक हो जाता है। इस प्रकार उस अभिषुत सोम में सान्नाय डालकर उसे उस सान्नाय्य रस (दधि) से तीव्र करता है। अत्यधिक मदकर बनाता है। ऐसा करता हुआ उस सान्नाम्य रस से युक्त हवि को देवताओं के लिए स्वादिष्ठ बनाता है। जो इस स्वादोकरण रहस्य को जानकर, पौर्णमासी में संनयन कर दधि द्वारा उसे मादक बना देता है। उस यजमान का यह वह हव्य (सान्नाय्य) देवताओं के लिए बड़ा ही रुचिकर होता है। पूर्णिमा को अभिषव कर प्रतिपत् को सान्नाय्य करने का यही कारण है अर्थात् देवताओं को तृप्त करने के लिए ही प्रतिपत् को सान्नाय्य किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तस्मिन्नभिषुतेऽएतं रसं दधाति। एतेन रसेन तीव्रीकरोति। स्वदयति ह वै देवेभ्यो हव्यम्। स्वदते (रोचते) हास्य देवेभ्यो हव्यं, य एवं विद्वान् पौर्णमास्यां संनयति' ॥१६॥

अब पहिले दिन अमावस्या में, ऐन्द्राग्नपुरोडाश से जो यजन किया जाता है, उसका कारण बतलाते हैं—

'अथ यत्पूर्वेद्युरैन्द्राग्नेन यजतेऽमावास्यायाम्' । इति ।

अर्थात् दर्श और पूर्णमास के देवता इन्द्र और अग्नि हैं। दर्श के देवता इन्द्र हैं एवं पूर्णिमा के देवता अग्नि हैं। ये ही दो दोनों के प्रधान देवता हैं। चूंकि इन्द्राग्नी ही दर्श और पूर्णमास के साक्षात् देवता हैं एवं परोक्ष देवता के यजन के स्थान पर प्रत्यक्ष देवता का यजन करना ही समृद्धिकर है। इसीलिए अमा को ऐन्द्राग्न पुरोडाश करता हुआ यह यजमान प्रत्यक्ष रूप से दर्श और पूर्णमास के इन्द्राग्नी देवता का यजन करता है।

तात्पर्य यह है कि अमावस्या को जिस इन्द्र को ढूंढ़ने के लिए अग्नि, हिरण्यस्तूपऋषि एवं बृहती छन्द गये थे, इन तीनों में अग्नि ने ही उनको प्राप्त किया था। इस अमावस्या को अग्नि ने इन्द्र को पाया था। अतएव उस दिन ऐन्द्राग्न पुरोडाश किया जाता है, जैसा कि दर्श प्रकरण में कहा है—

'तमग्निरनुविविदे । तेनैतां रात्रिं स हाजगाम । स वै देवानां वसुः । वीरोह्येषाम् । ते देवा अब्रुवन् अमा वै नोऽद्य वसुर्वसति । यो नः प्रावात्सीदिति । ताभ्याम्-एतत् यथा ज्ञातिभ्यां सखिभ्यां वा सहागताभ्यां समानमोदनं पचेत्, अजं वा, तदह मानुषं हविर्देवानाम् । एवमेवाभ्याम्—एतत्समानं हविर्निरवपन्नैन्द्राग्नं द्वादशकपालं पुरोडाशम् । तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशः ।' (शत० ४८ पृष्ठ)

अमावस्या को इन्द्र और अग्नि साथ कैसे रहते हैं, इन्द्र ने वृत्रासुर को कैसे मारा था-इत्यादि रहस्य को जानने के लिए प्रथम काण्ड में वर्णित इन्द्र-वृत्रासुर-रहस्य देखना चाहिए। (इन्द्रो ह वृत्राय इत्यादि० ४८ पृष्ठ)।

प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि अमा को इन्द्र और अग्नि साथ रहते हैं, अतः ये दोनों इसके देवता हैं, बस इसीलिए ऐन्द्राग्न पुरोडाश किया जाता है।

इस प्रकार से अमा को ऐन्द्राग्नपुरोडाश करने से एवं पूर्णिमा को ऐन्द्र सान्नाय्य करने से इस यजमान के दर्शपूर्णमास सहज में ही इष्ट हो जाते हैं—जो कि इस विज्ञान को जानकर यह दाक्षायण यज्ञ करता है अर्थात् यजमान तो केवल दाक्षायणयज्ञ ही करता है परन्तु आहुतिसामान्यात् दर्शपूर्णमास का भी फल यजमान को मिलता है ॥१७॥

इसके बाद दूसरे दिन प्रातःकाल (अमोत्तर प्रतिपत् को) आग्नेय पुरोडाश एवं मैत्रावरुणी पयस्या जिस कारण से होती है, वह बतलाते हैं—

अतः प्रातराग्नेयः पुरोडाशो भवति । मैत्रावरुणी पयस्या इति ।

इसका कारण यह है कि सारे यज्ञ आग्नेय हैं। कोई भी यज्ञ अग्नि के बिना नहीं हो सकता। यह 'आग्नेय पुरोडाश' केवल इसीलिए किया जाता है कि हम यज्ञ से बाहर न हो जायें। और जो ये अर्धमास अर्थात् शुक्ल कृष्ण पक्ष है—वेही मित्रावरुण हैं। अमा के दूसरे दिन से सोम की मात्रा बढ़ने लगती है एवं अग्नि की घटने लगती है। सोम परमेष्ठि-मण्डल की वस्तु है—परमेष्ठिमण्डल के देवता वरुण है। अतएव 'य एवापूर्यते स वरुणः कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो शुक्ल पक्ष है। वह वरुण-देवता-सम्बन्धी है। शुक्ल पक्ष में वरुण का शासन रहता है। एवं पूर्णिमोत्तर प्रतिपत् से सोम घटने लगता है एवं अग्नि बढ़ने लगता है। अतएव कृष्ण पक्ष को मित्र कहा गया है—'योऽपक्षीयते स मित्रः। अग्नि की मात्रा बढ़ती है, इसीलिए कृष्णपक्ष को मित्र कहा गया है। अग्नि के ही तारतम्य से ऋतुविभाग होता है। अग्नि-सोम दोनों में से अग्नि की प्रधानता मानी जाती है। अग्नि के लिए प्रयत्न करना पड़ता है—सोम के लिए नहीं। जहाँ अग्नि नहीं होता है वहाँ उर्वन्तरिक्ष में व्यापक सोम स्वयं भर जाता है। अतएव मित्र वरुण की व्यवस्था अग्नि के घटाव-बढ़ाव के अनुसार की गयी है। जो हमसे स्नेह करता है वह हमारे पास में रहता है। वैदिक परिभाषा में वही मित्र कहलाता है। एवं जो हमारे से दूर जाता रहता है, वही वरुण कहलाता है। शुक्लपक्ष में अग्नि हमारे से दूर जाता रहता है अर्थात् कम होता रहता है—अतएव उसे 'वरुण' कहा गया है। एवं कृष्णपक्ष में अग्नि बढ़ता रहता है, अतएव कृष्णपक्ष को 'मित्र' कहा गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'य एवापूर्यते (सोमः, अपक्षीयते च अग्निः) स (शुक्लपक्षः) वरुणः। योऽपक्षीयते सोमः, आपूर्यते चाग्निः स (कृष्णपक्षः) मित्रः।' इति।

इस अमावस्या को यह मित्र और वरुण दोनों साथ रहते हैं अर्थात् चन्द्रमा (सोम) और सूर्य (वरुण मित्र) अमा को साथ रहते हैं। जिस दिन बारी बदलती है, उस दिन भिन्न भिन्न समय में पहरा देने वाले पहरातियों (प्रहरियों) का समागम हो जाता है। इसीलिए पूर्णिमा से अमा तक पहरा देने वाला मित्र इस अमा को अपना पहरा समाप्त कर चुकता है एवं इस अमा के बाद की प्रतिपत् से वरुण अपना पहरा देना शुरू कर देता है। अतएव दोनों इस दिन (अमा को) मिल जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'एतां रात्रिमुभौ समागच्छतः।'

इसीलिए इसी अमावस्या में मैत्रावरुणी पयस्या करता हुआ यजमान साथ रहने वाले मित्र और वरुण को तृप्त करता है। इस तरह जो इस रहस्य को जानकर अमावस्या को मैत्रावरुणी पयस्या करता है, उस यजमान के लिए सारा जगत् प्रिय हो जाता है अर्थात्

इसके लिए जगत् के सारे पदार्थ उपयोगी बन जाते हैं एवं वह सारी संपत्ति को प्राप्त कर लेता है।

'तदुभावेवैतत्सह सन्तौ प्रीणयाति। सर्वं ह वा अस्य प्रीतं भवति। सर्वमाप्तं य एवमेतद् वेद इति' ॥१५॥

इस प्रकार मैत्रावरुणी पयस्या का एक फल बतला कर, अब दूसरा फल बतलाते हैं।]

इस अमावस्या की रात्रि को मित्र वरुण में रेत:सेचन करता है अर्थात् अपना अधिकार वरुण को सौंप देता है। इस रेत से चन्द्रमा उत्पन्न होता है जो कि आपूर्यमाण होता है अर्थात् यह वरुण ही दूसरे दिन से चन्द्रमा के रूप में प्रतिदिन आपूर्यमाण होता हुआ दिखलाई देने लगता है।

इस प्रकार से प्रकृतिमण्डल में मित्र वरुण में रेत:सेचन किया करता है एवं इससे चन्द्रमा उत्पन्न होता रहता है। इसकी उत्पत्ति का वीर्याधान अमा को होता है। चूंकि मित्र और वरुण साथ रहते हैं, अतएव मैत्रावरुणी पयस्या इस दिन उचिततम होती है अर्थात् उस दिन मैत्रवरुणी पयस्या करना वरुण में मित्र का रेत:सेचन करना है। चूंकि प्रकृति में इसी दिन मित्र वरुण में रेत:सेचन करता है, अतएव प्रकृतियज्ञानुसार रेत:सेचनानुसार—अमा को रेत:स्वरूप मैत्रावरुणी पयस्या करना बहुत ही उचित है।

'तद् यदेषाऽत्र मैत्रावरुणी पयस्या अवक्लृप्ततमा (औचित्यपथे आरूढा उचिततमा) भवति।' इति ॥१६॥

अपि च दर्श के दिन अर्थात् अमा को पयस्या करना इस निम्नलिखित तीसरे कारण से भी उचित है—

यह अमावस्या सान्नाय्ययागस्थानभूता है अर्थात् अमावस्या में सान्नाय्य की आहुति दी जाती है। इस अमावस्या में किये जाने वाले सान्नाय्य को इससे १५ दिन पूर्व पूर्णिमा को ही दिया जाता है, जैसा कि पूर्व प्रकरण में बतलाया जा चुका है। ऐसी अवस्था में यह यजमान इस अमावस्या में भी यदि सान्नाय्य की आहुति देगा तो वह जामिता दोष होगा। 'किए हुए काम को फिर करना' जामि कहलाता है, एवं कही हुई बात को फिर कहना 'पुनरुक्ति' कहलाती है। अमावस्या में दिए जाने वाले सान्नाय्य को पूर्णिमोत्तर प्रतिपत् में दिया जा चुका है। ऐसी अवस्था में यदि अमा को दिया जायगा, तो जामिता-दोष हो जायगा। इतना ही नहीं अपितु वह इस दिन सान्नाय्य करता हुआ दर्श और पूर्णमास देवताओं में परस्पर कलह करायेगा। अत: पूर्णमास में कृत ऐन्द्र सान्नाय्य को छोड़कर अमावस्या में मित्रावरुणदेवताक पयस्या ही करनी चाहिए। पयस्या दूध को कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पयस्या दही और दूध का विकार है, अत: इसके देने से अमावस्या का सान्नायभाजनत्व

भी नष्ट नहीं होता है। एवं कृतस्यकरण (जामितादोष भी) नहीं होता है। गरम-गरम दूध में जब दही डाल दिया जाता है, तो वह फट जाता है। फटने से धन हिस्सा एक तरफ हो जाता है एवं पानी का हिस्सा एक तरफ रह जाता है। इस पानी को तो 'वाजिन' कहते हैं एवं धन हिस्से को 'पयस्या' कहते हैं। इसकी आहुति देने से दोनों कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

प्राकृतिक यज्ञ में—मैत्रावरुणी पयस्या से ही—चन्द्रोदय होता है। पूर्व कपाल का नाम 'मित्र' एवं पश्चिम कपाल का नाम 'वरुण' है। इन पूर्वापर कपालों के परिभ्रमण से ही चन्द्रमा का उदय होता है। पूर्वापर कपालों में जो भरा हुआ सोम है (पयस्या है) वही चन्द्रमा का स्वरूप बनाता है। उसी प्राकृतिक विज्ञान पर लक्ष्य रखते हुए कहते हैं कि—

जो सोम ओषधि में और पानी में आ गया है, उसे उन दोनों में से इकट्ठा करके निकाल लेते हैं अर्थात् गाय को ओषधि खिलाकर, पानी पिलाकर, स्तन द्वारा सोम को निकाल कर, उसकी पयस्या बनाकर अग्नि में आहुत कर उसको पैदा करता है। उन आहुतियों से पैदा होकर, अमोत्तर द्वितीया को चन्द्रमा पश्चिम-कपाल में दिखलाई देने लगता है। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक आहुति से चन्द्रमा दिखलाई देने लगता है ॥२०॥

जब दूध की पयस्या बनाई जाती है तो उसका अवशिष्ट हिस्सा स्वयं पानी बन जाता है। जो पानी का हिस्सा है—वह 'वाजिन' कहलाता है। इस प्रकार पयस्या के साथ निष्पन्न होने वाले वाजिन के होम का विधान करते हुए कहते हैं।

जिस प्रकार अमावस्या में मैत्रावरुणी पयस्या की जाती है, तथैव वाजी (छन्द) के लिए वाजिन की आहुति दी जाती है। इस प्रकार से पयस्या और वाजिन—इस मिथुनाहुति से इस चन्द्रमा को उत्पन्न करते हैं—'मिथुनादिद्वाऽएनमेतत् प्रजनयति।' इति।

प्रजननक्रिया में योषा और वृषा इन दोनों के मेल की आवश्यकता है। योषा स्त्री-प्राण को एवं वृषा पुरुष प्राण को कहते हैं। जब तक इन दोनों प्राणों का मेल नहीं होता तब तक प्रजनन नहीं हो सकता है। प्रकृत में चन्द्रमा का प्रजनन बतलाते हैं। प्रजनन बिना योषा एवं वृषा के नहीं हो सकता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि पयस्या एवं वाजिन में पयस्या तो योषा है एवं वृषा वाजिन है। वीर्य ही वृषा (पुरुषप्राण) का स्वरूप है। अतएव 'रेतो वाजिनम्' कहा गया है। जहाँ स्त्री-पुरुषलक्षण-मिथुन से उत्पति होती है—वह अनुष्ठ्या है (ठीक है)। अर्थात् स्त्री-पुरुष के मेल से प्रजनन होना ही उचित है। इसी अनुष्ठ्या के पालनार्थ पयस्या और वाजिन करता हुआ यह यजमान मिथुन (स्त्री-पुरुष) की प्रजननक्रिया से चन्द्रमा को उत्पन्न करता है। ध्यान रहे कि यद्यपि चन्द्र प्राकृतिक आहुति से ही उत्पन्न होता है तथापि 'यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि' केवल

इसी बात का स्मरण दिलाने के लिए भगवान् याज्ञवल्क्य अधिजनयति (यजमानः) कहते आये हैं।

इस प्रकार मिथुन से प्रजनन हो जाता है, इसीलिए मैत्रावरुणी पयस्या की जाती है। यदि पयस्या नहीं होती तो वाजिन नहीं होता, वाजिन नहीं होता तो मिथुन भी नहीं होता एवं बिना मिथुन के प्रजनन भी नहीं होता। इसीलिए यह मैत्रावरुणी पयस्या करना अवक्लृप्ततम है। 'तस्म देषात्र पयस्या भवति' ॥२१॥

इस प्रकार पयस्या की आहुति देकर तदनन्तर वाजि देवता के लिए वाजिन की आहुति देता है। ऋतुओं को ही वाजिन् कहते हैं। वाजी घोड़े को कहते हैं। घोड़े को वेद में छन्द कहते हैं। देवताओं के घोड़े ऋतु ही हैं। ऋतु से ही देवता का स्वरूप बनता है। जो ऋताग्नि है, उसमें हर समय सोम गिरा करता है। अतएव इसे ऋतु कहते हैं। आग्नेय देवताओं की सत्ता इसी सोमाहुति से रहती है। यदि सोमाहुति न दें तो देवता (अग्नि) उच्छिन्न हो जायँ। तात्पर्य यह है कि देवता सदा ऋतु पर सवार रहते हैं। बिना ऋतु के देवता की स्थिति ही नहीं हो सकती। वाजी कहते हैं छन्द को (घोड़े को) एवं देवताओं का घोड़ा है ऋतु। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'ऋतवो वै वाजिनः।' एवं वाजिन रेतः है वीर्य है। अर्थात् इन ऋतुओं में (वाजियों में) वाजिनस्वरूप रेत का सेचन किया जाता है। पयस्या और वाजिन इनमें से वाजिन को ही रेतः बतलाया था। वाजिन का ऋतु में यजन करना उचित ही है। अर्थात् यह यजमान वाजिन स्वरूप रेत का ऋतुओं में सेचन करता है। बस, उस रेत के साथ अर्थात् रेत को अपने पेट में, ले। ये ऋतुएँ सारी प्रजा उत्पन्न करती हैं। उसी आहुति से विश्व के सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यदि सोम की आहुति न हो तो कोई वस्तु ही पैदा न हो। इस प्राकृतिक यज्ञ का स्मरण दिलाते हुए तदनुसार मनुष्य-यज्ञेतिकर्तव्यता का आदेश करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'तद् ऋतवो रेतः सिक्तमिमं प्रजाः प्रजनयन्ति, तस्माद् वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति।' इति

अर्थात् जैसे ऋतुओं में सोम की आहुति पड़ती रहती है, इसी प्रकार ऋतुदेवताओं में यह हमारी आहुति है ॥२२॥

वाजिन होम किस समय करना चाहिए, यह बताते हैं—

यह यजमान यज्ञ के अन्त में सबसे पश्चात् जबकि प्रस्तर परिधि आदि अग्नि में डाली जाती है, उस समय वाजिन होम करता है। वाजिन होम सबसे पश्चात् क्यों किया जाता है इसका कारण बतलाते हैं।

प्रजननक्रिया में मनुष्य स्त्री के पीछे से आक्रमण करता है अर्थात् जब वह स्त्री के

साथ मिथुन करता चाहता है तो आगे जाती हुई स्त्री को पीछे से दौड़ कर पकड़ता है। है। पीछे से घूम कर वृषा योषा पर आक्रमण करता है—'पश्चाद् वै परीत्य वृषा योषामधिद्रवति'। इस प्रकार पीछे से हमला कर उसमें रेतस् का सेचन करता है। प्रकृत में प्रजनन बतलाया गया है। इस प्रजनन में वाजिन वृषा बतलाया गया है। अतः उसे पीछे से योषा स्वरूप पयस्या पर आहुत किया जाता है। पयस्या के पीछे वाजिन करने का कारण यही है। इस प्रकार पयस्या के अनन्तर वाजिन की आहुति देता हुआ यजमान योषास्वरूप पयस्या में रेतस् सेचन ही करता है।

वह अध्वर्यु पहिले थोड़े से वाजिन की 'अग्ने वीहि वौषट्' यह बोलता हुआ आहुति देता है। प्रत्येक यज्ञ के अन्त में 'स्विष्टकृत्' याग किया जाता है। यहाँ भी वौषट् को स्विष्कृत् देवता का हिस्सा समझ लेना चाहिए क्योंकि वहाँ स्वातन्त्र्येण स्विष्टकृत् याग नहीं किया जाता ॥२३॥

इसके बाद जो वाजिन शेष बच गया है, उसे दिशाओं के लिए अग्नि के चौतरफ डालता है। जिस मन्त्र से दिशाओं के लिए अभिधारण करता है, वह मन्त्र यह है—

'दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा इति।

पूर्वा, पश्चिमा, उतरा और दक्षिणा ये चार दिशाएँ हैं एवं जो आस्थान (बैठक) है—वह प्रदिशा है। इस प्रकार दो आस्थानों से पकड़ी हुई दिक् आदिश कहलाती है। उस स्थान से इधर एवं इस स्थान से उधर यही आदिश है। एवं आग्नेयादि कोण विदिशा कहलाती है। एवं पांचवी ऊर्ध्वा दिशा कहलाती है जिसे कि उद्दिश कहा गया है। इस प्रकार ये पाँच ही दिशा होती है एवं संवत्सर की पांच ही ऋतुएँ होती है। इस प्रकार ऋतुओं के अनन्तर इन दिशाओं को आहुति देता हुआ यजमान दिशा और ऋतुओं का मिथुन करता है। ऐसा करने से प्रजा का स्वरूप अनुष्ठ्या (ठीक ठीक) बन जाता है।

'तद् ऋतुभिरेवतद्दिशो मिथुनीकरोति'। इति ॥२४॥

यज्ञान्त में दक्षिणास्वरूप हव्य शेष को ऋत्विक् लोग खाया करते हैं। भिन्न भिन्न यज्ञों में इस भोजन में नियत व्यवस्था है। कहीं चार खाते हैं और कहीं आठ। प्रकृत यज्ञ में हव्यशेष कितनों को खाना चाहिए, यह बतलाते हैं—

'इस हव्यान्न को पाँच ही मनुष्य खाते हैं—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, आग्नीध्र और यजमान।' पाँच ही क्यों खाते हैं, इसका कारण बताते हैं।

संवत्सर में पांच ऋतुएँ होतो हैं, इसलिए पाँच को भोजन कराता हुआ यजमान ऋतुओं का स्वरूप बनाता है। अग्नि आठ अवयवों में रहता है, अतएव आठ अक्षर के छन्द से अग्नि पकड़ में आ जाता है। प्रत्येक वस्तु का कोई वजन होता है। उस वजन (छन्द)

के अनुसार मात्रा करने से, दोनों का वजन एक हो जाता है। चूंकि ऋतुएं पांच हैं। अतएव पाँच को भोजन कराने से पांचों ऋतुओं का स्वरूप बन जाता है। इस प्रकार इन ऋतुस्वरूप ब्राह्मणों को भोजन कराता हुआ यह यजमान ऋतु में सिक्त वीर्य को प्रतिष्ठित करता है अर्थात् ब्राह्मणों की सान्तपनाग्नि में आहुति देना (उन्हें भोजन कराना) ऋतु में रेत को प्रतिष्ठित करना है।

उन पाँचों में से सर्वप्रथम 'पहिले इस रेत को बल को मैं ग्रहण करूँ'—यह कहता हुआ यजमान ही खाता है क्योंकि ज्यादा शक्ति प्रथमाहुति में ही होती है। परन्तु याज्ञवल्क्य ब्राह्मणों से पूर्व भोजन करना अनुचित मानते हैं। अतएव वे कहते हैं कि—'सबसे अन्त में खाने वाले मुझ में वीर्य प्रतिष्ठित हो' यह कहता हुआ यजमान सब से अन्त में खाता है।

यह भोजन मन्त्रानुज्ञापनपूर्वक ही करना चाहिए अर्थात् जब ऋत्विक् लोग, मन्त्र से यजमान को आज्ञा दें, तभी भोजन करे। इस भोजन के मन्त्रानुज्ञापन से पूर्व यजमान को ऋत्विजों के प्रति—'उपह्वयस्व' इत्यादि अनुज्ञापन मन्त्र बोलना होगा। तात्पर्य यह है कि पहिले यजमान पूछे कि 'आज्ञा दीजिए', मैं भोजन करूँ। जब ऋत्विक् कह दें कि, 'हाँ, करो' तभी यजमान भोजन करे। सोम में यही प्रक्रिया होती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'सोममेवैतत् कुर्वन्ति (ऋत्विजः)।'

।। इति दाक्षायणयज्ञःसमाप्तः ।।

। इति चतुर्थप्रपाठकस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम् ।

।। चतुर्थाध्यायश्च समाप्तः ।।

प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत कथं नु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत, स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः। तानीमानि वयांसि। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्। द्विपाद्वा अयं पुरुषः तस्माद् द्विपादो वयांसि ॥१॥

स ऐक्षत प्रजापतिः यथा न्वेव पुरैकोऽभूवम्, एवमु न्वेवाप्येतर्हि एक एवास्मीति। स द्वितीयाः ससृजे। ता अस्य परैव बभूवुः। तदिदं क्षुद्रं सरीसृपम्, यदन्यत्सर्पेभ्यः। तृतीयाः ससृज इत्याहुः। ता अस्य परैव बभूवुः। त इमे सर्पाः। एता ह न्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच। त्रयीरु तु पुनरृचा ॥२॥

सोऽर्चन् श्राम्यन् प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे कथं नु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति। स हैतदेव ददर्श अनशनतया वै मे प्रजाः पराभवन्तीति। स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे। स प्रजा असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः स्तनावेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुः। ता इमा अपराभूताः ॥३॥

तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम्—'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुः इति। तद् याः पराभूतास्ता एवैतदभ्यनूक्तम्। न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे इति। अग्निर्वा अर्कः। तद् या इमाः प्रजा अपराभूताः, ता अग्निमभितो निविष्टाः। ता एवैतदभ्यनूक्तम् ॥४॥

'महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः' इति। प्रजापतिमेवैतदभ्यनूक्तम्। 'पवमानो हरित आविवेश' इति। दिशो वै हरितः। ता अयं वायुः पवमान आविष्टः। ता एवैषर्गभ्यनूक्ता। ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते-यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजत। इदं हि यदैव स्त्रियै स्तनावाप्यायेते, ऊधः पशूनाम्। अथैव यज्जायते तज्जायते। तास्ततः स्तनावेवाभिपद्य सम्भवन्ति ॥५॥

तद्वै पय एवान्नम्। एतद्ध्यग्रे प्रजापतिरन्नमजनयत। तद्वा अन्नमेव

प्रजाः। अन्नाद्धि सम्भवन्ति। इदं हि यासां पयो भवति-स्तनावेवाभिद्य, तास्ततः सम्भवन्ति। अथ यासां पयो न भवति जातमेव ता अप्यादयन्ति। तदु ता अन्नादेव सम्भवन्ति। तस्माद्धन्नमेव प्रजाः ॥६॥

स यः प्रजाकाम एतेन हविषा यजते आत्मानमेवैतद् यज्ञं विधत्ते, प्रजापतिं भूतम् ॥७॥

स वा आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति। अग्निर्वै देवतानां मुखम्। प्रजनयिता स प्रजापतिः। तस्मादाग्नेयो भवति ॥८॥

अथ सौम्यश्चरुर्भवति। रेतो वै सोमः। तदग्नौ प्रजनयितरि सोमं रेतः सिञ्चति। तत्पुरस्तान्मिथुनं प्रजननम् ॥९॥

अथ सावित्रो द्वादशकपालो वाऽष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति। सविता वै देवानां प्रसविता। प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता। तस्मात् सावित्रो भवति ॥१०॥

अथ सारस्वतश्चरुर्भवति। पौष्णश्चरुः। योषा वै सरस्वती, वृषा पूषा। तत्पुनर्मिथुनं प्रजननम्। एतस्माद्वा उभयतो मिथुनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः। तथो एवैष एतस्मादुभयत एव मिथुनात् प्रजननात् प्रजाः सृजते इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः। तस्माद्वा एतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥११॥

अथातः पयस्याया एवायतनम्। मारुतस्तु सप्तकपालः। विशो वै मरुतो देवविशः। ताहेदमनिषेद्ध्वा इव चेरुः। ताः प्रजापतिं यजमानमुपेत्योचुः-वि वै ते मथिष्यामहे इमाः प्रजाः, या एतेन हविषा स्रक्ष्यस इति ॥१२॥

स ऐक्षत प्रजापतिः परा मे पूर्वाः प्रजा अभूवन्। इमा उ चेदिमे विमथ्नते, न ततः किञ्चन परिशेक्ष्यत इति। तेभ्य एतं भागमकल्पयत्-एतं मारुतं सप्तकपालं पुरोडाशम्। स एष मारुत सप्तकपालः। तद् यत् सप्तकपालो

भवति। सप्तसप्त हि मारुतो गणः। तस्मान्मारुतः सप्तकपालः पुरोडाशो भवति ॥१३॥

तं वै स्वतवोभ्य इति कुर्यात्। स्वयं हि त एतं भागमकुर्वत। अतः स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये न विन्दन्ति। स उ खलु मारुत एव स्यात्। स वा एष प्रजाभ्य एवाहिंसायै क्रियते। तस्मान्मारुतः ॥१४॥

अथातः पयस्यैव। पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूताः। तद् यत एव सम्भूताः यतः सम्भवन्ति तदेवाभ्य एतत् करोति। तद्याः पूर्वैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता एतस्मात् पयस एतस्यै पयस्यायै सम्भवन्ति ॥१५॥

तस्यां मिथुनमस्ति। योषा पयस्या, रेतो वाजिनम्। तस्मान्मिथुनाद्विश्वसंमितमनु प्राजायत तस्माद् वैश्वदेवी भवति ॥१६॥

अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्। ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीताः। तथो एवैष एतद् य एतैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते, ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति। तस्माद् द्यावापृथिव्य एककपालः पुराडाशो भवति ॥१७॥

अथात आवृदेव। नोपकिरन्त्युत्तरवेदिम्। विसृष्टमसत्-सर्वमसत्, वैश्वदेवमसदिति। त्रेधा बर्हिः संनद्धं भवति। तत्पुनरेकधा। एतद्धिप्रजननस्य रूपम्। प्रजननमुहीदम्-पिता, माता, यज्जायते तत्तृतीयम्। तस्माद् त्रेधा सत्पुनरेकधा। प्रस्व उपसंनद्धा भवन्ति। तं प्रस्तरं गृह्णाति। प्रजननमु हीदं, प्रजननमु हि प्रस्वः। तस्मात् प्रसूः प्रस्तरं गृह्णाति ॥१८॥

आसादय हवींष्यग्निं मन्थति। अग्निं ह वै जायमानमनु प्रजापतेः प्रजा जज्ञिरे। तथो एवैतस्याग्निमेव जायमानमनु प्रजा जायन्ते। तस्मादासादय हवीष्यग्निं मन्थति ॥१९॥

नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम्। दशाक्षरा वै विराट्। अथैतामुभयतो

न्यूनां विराजं करोति प्रजननाय। एतस्माद्वा उभयतो न्यूनात् प्रजननात् प्रजापतिः प्रजाः ससृजे इतश्चोर्ध्वाः इतश्चावाचीः। तथो एवैष एतस्मादुभयत एव न्यूनात् प्रजननात् प्रजाः सृजते इतश्चोर्ध्वा इश्चावाचीः। तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम् ॥२०॥

त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति ज्याय इव हि इदं हविर्यज्ञात् यत्र नवप्रयाजं नवानुयाजम्। अथो अप्येकमेव स्यात्। हविर्यज्ञो हि। तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा ॥२१॥

एतेन वै प्रजापतिर्यज्ञेनेष्ट्वा येयं प्रजापतेः प्रजातिः, या श्रीः एतद् बभूव एतां ह वै प्रजातिं प्रजायते। एतां श्रियं गच्छति, य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते। तस्माद्वा एतेन यजेत ॥२३॥

इति वैश्वदेवयागश्चातुर्मास्ये प्रथमं पर्व ॥

वैश्वदेवब्राह्मण

(अनुवाद) सौर संवत्सर में विभिन्न भागों में विभक्त सौर दिव्याग्नि को वैध उपायों से आत्मसात् करना ही यज्ञ है। सौर संवत्सराग्नि, अग्नि, वायु, सोम इन तीन स्वरूपों में परिणत होकर ४, ४, ४, के तीन विभागों में विभक्त है।

१–फाल्गुन शु. पूर्णिमा से आषाढ शुक्ल १४ तक। इस विभाग में अग्नि की प्रबलता है। २–आषाढ शुक्ला १५ से कार्तिक शुक्ल १४ तक। इसमें अग्नि के वायु स्वरूप का प्राधान्य है। ३–कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा से फाल्गुन शुक्ल १४ तक। इस विभाग में सोम-स्वरूप का प्राधान्य है। अग्नि के इन तीनों स्वरूपों को आत्मसात् करने के लिए चातुर्मास्ययागों की आवश्यकता है। इनमें प्रथम वैश्वदेव चातुर्मास्य आग्नेय है। उसीका इस ब्रह्मण में निरूपण किया जा रहा है। प्राकृतिक चातुर्मास्य के रहस्य का निरूपण करने के लिए सृष्टि के प्रारम्भ का इतिहास बतलाया जा रहा है—'प्रजापतिर्ह वा' अर्थात् सप्तपुरुषात्मक आग्नेय

प्राणरूप पुरुष प्रजापति सृष्टि से पूर्व एकाकी ही थे। उनने संकल्प[1] किया कि मैं किस उपाय से प्रजा उत्पन्न कर सकूं। तब उनने तप (प्राणव्यापार) तथा श्रम (वाग्व्यापार) किया और उससे प्रजा उत्पन्न की। वह प्रजा उत्पन्न होते ही पराभूत हो गई अर्थात् प्रजापति को छोड़कर चली गयी। जो उत्पन्न होते ही प्रजापति को छोड़कर चली गयी वह पक्षी प्रजा थी। प्रजापति द्वारा उत्पादित प्रजाओं में पुरुष ही प्रजापति के अत्यधिक सन्निकट है। (उसमें सप्त-पुरुष प्रजापति का स्वरूप प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, जो 'चत्वार आत्मा द्वौ पक्षौ पुच्छमेकं प्रतिष्ठा' इस रूप से शतपथब्राह्मण के षष्ठ काण्ड के प्रारम्भ में बतलाया गया है। यदि इससे कम मात्रा में कहीं प्रजापतिस्वरूप दृष्टिगोचर होता है तो वे पक्षी हैं, क्योंकि जैसे पुरुष द्विपाद हैं, वैसे ही पक्षी भी द्विपाद हैं ॥१॥

प्रजापति ने विचार किया कि जैसे इस सृष्टि से पूर्व मैं एकाकी था उसी प्रकार अब भी एकाकी हूँ। क्योंकि सृष्ट पक्षिरूप प्रजा प्रजापति को छोड़कर चली गयी। तब प्रजापति ने तप और श्रम द्वारा दूसरी प्रजा उत्पन्न की। वह भी इस से पराभूत हो गई। अर्थात् प्रजापति को छोड़कर चली गई। यह प्रजा क्षुद्र सरीसृप अर्थात् सर्पों से भिन्न रेंगने वाले कीट थे। तब तृतीय प्रजा को उत्पन्न किया, वह भी पराभूत हो गई। वह सर्परूप प्रजा थी। दो प्रकार की प्रजा को ही प्रजापति ने उत्पन्न किया था, ऐसा याज्ञवल्क्य महर्षि मानते हैं। क्योंकि कीट व सर्प को वे एक ही प्रकार की प्रजा मानते हैं। ऋङ् मन्त्र के द्वारा तीन प्रकार की प्रजा की उत्पत्ति सिद्ध होती है ॥२॥

प्रजापति ने विचार किया कि मेरी प्रजायें मुझे क्यों छोड़ देती हैं। अन्त में उन्होंने यही देखा कि भोजन के न मिलने से ये प्रजाएँ छोड़कर चली जाती हैं। अतः उसने सर्वप्रथम अपने स्तनों को दूध से परिपूर्ण किया, तब प्रजा को उत्पन्न किया। वे प्रजाएँ दुग्धपरिपूर्ण स्तनों को प्राप्तकर दुग्ध पीने लगीं और प्रजापति को छोड़कर नहीं गयीं ॥३॥

---

1. सृष्टि करने वाला प्रजापति मनःप्राणवाङ्मय है। अतः उसे संकल्प या इच्छारूप मनोव्यापार तपरूपी प्राणव्यापार व श्रमरूपी वाग्व्यापार तीनों करने पड़ते हैं। उसीसे सृष्टि होती है। अतः यहां ईक्षण, तप व श्रम तीनों के द्वारा ही प्रजोत्पत्ति बतलायी गयी है। इसका विशद विवेचन हिन्दी भाष्य में किया गया है।

इसीलिए वेदमहर्षि कहते हैं कि––'प्रजा ह तिस्रो अत्यायमीयुर्न्यंन्या अर्कमभितो विविश्रे' इति। इनमें तीन प्रजाएँ वे हैं, जो प्रजापति को छोड़कर चली गयीं। तथा अन्य प्रजा वह है जो उसे छोड़कर नहीं गयी। वे अपराभूत मनुष्य प्रजा अग्नि-प्रजापति यज्ञ के चौतरफ निविष्ट हो गईं। मन्त्र में अर्क पद अग्निप्रजापति का वाचक है ॥४॥

'महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः' अर्थात् सब में महान् प्रजापति उत्पन्न प्रजाओं के बीच में बैठ गया। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'महद्ध तस्थौ' इत्यादि प्रजापति के लिए ही कहा गया है। 'पवमनो हरित आविवेश' यह पवमान वायु दिशाओं में आविष्ट हो गया। यह ऋक् इन चतुर्विध प्रजाओं को लक्ष्य में रखकर ही कही गई है। ये प्रजाएँ उसी प्रकार से उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार से प्रजापति ने उन्हें उत्पन्न किया था। अर्थात् जिन प्रजाओं के लिए प्रजापति ने दुग्धान्न प्रदान नहीं किया और वे उसे छोड़कर चली गयीं, उसी प्रकार आज भी पक्षी, सरीसृपादि प्रजाएँ अपने जनक से दुग्धान्न प्राप्त नहीं करतीं। उनका अपने पिता के साथ उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहता जितना मनुष्यादि प्रजा का है। हम देखते हैं आज भी वही नियम प्रचलित है जिसे कि प्रजापति ने प्रचलित किया था। अब भी यह देखा जाता है कि जब स्त्री के स्तन दुग्ध से पूरित हो जाते हैं एवं पशुओं के ऊधस् (गादी) दूध से परिपूर्ण हो जाती है, तभी प्रजा उत्पन्न होती है तथा उत्पत्ति के बाद स्तनों को प्राप्तकर अर्थात् स्तन्यपान कर के ही प्रवृद्ध भी होती है ॥५॥

इससे सिद्ध है कि दुग्ध ही इन प्रजाओं का अन्न है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने इसी अन्न को उत्पन्न किया था। अतः यह भी कहा जा सकता है कि अन्न ही प्रजा है, अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। भुक्त अन्न के परिणामभूत रेत से ही प्रजाओं की उत्पत्ति होती है। जिन स्त्रियों के या पशुओं के स्तनों में दूध होता है, उनके स्तनों को प्राप्तकर अर्थात् स्तन्यपान कर वे प्रजाएँ प्रवृद्ध होती हैं। जिन स्त्रियों के या पशुओं के स्तनों में दूध नहीं होता, वे भी उत्पन्न होते ही अपनी सन्तान को अन्न खिलाती हैं। अतः प्रजाएँ अन्न से प्रवृद्ध होती हैं। अतः अन्न ही प्रजा है ॥६॥

भगवान् प्रजापति ने प्रजाकामना से ही इस वैश्वदेव याग से यजन किया था और प्रजासम्पत्ति को प्राप्त किया था। अतः अब भी जो प्रजाकाम[1] पुरुष इस वैश्वदेव हवि से यजन करता है, वह प्रजापति-रूपापन्न अपने आपका यजन करता है ॥७॥

[2]इस वैश्वदेवयाग में सर्वप्रथम अग्निदेवताक अष्टाकपाल पुरोडाश होता है। क्योंकि अग्नि ही देवताओं का मुख (प्रथम) है। अग्नि ही वस्तुओं का उत्पादक है, क्योंकि अग्नि में सोमाहुति से ही सब वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। अतः वह प्रजापति है। इसलिए अग्नि ही प्रजापति है ॥८॥

तदनन्तर सोमदेवताक चरु होता है। सोम रेतोरूप है। अतः प्रजनयिता अग्नि में सोमरूप रेत का सेचन किया जाता है। यही अग्नि और सोम का पहिला मिथुन है, प्रजनन है। क्योंकि प्रजनन के लिए मिथुन की आवश्यकता है और उपर्युक्त रीति से अग्नि और सोम का यह पहिला मिथुन है जो कि प्रजनन (प्रजोत्पत्ति) का कारण है ॥६॥

तदनन्तर सवितृदेवताक द्वादशकपाल या अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति होती है। सविता ही देवताओं के प्रसविता (प्रेरियता) है। इस प्रेरकप्राण के बिना कोई भी अपना कार्य नहीं कर सकता। अतः अग्नि-सोम मिथुन के द्वारा तथा पूषा-सरस्वती मिथुन के द्वारा क्रियमाण प्रजननक्रिया वस्तुतः सवितृप्राण के बिना नहीं हो सकती। उन दोनों मिथुनों के मध्य वर्तमान सविता ही वस्तुतः प्रजननक्रिया करता है। अतः इनके बीच सावित्र द्वादशकपाल व अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है ॥१०॥

सावित्र पुरोडाश के अनन्तर सरस्वतीदेवताक चरु तथा उसके बाद पूषदेवताक चरु की आहुति दी जाती है। सरस्वती योषा (स्त्री) है तथा पूषा (पुरुष) है। इस प्रकार इन दोनों का मिथुन होता है और मिथुन से प्रजनन

१. 'प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम्' (का. श्रौ. सू. ५।४५)

२. 'आग्नेयः सौम्यश्चरुः सावित्रो द्वादशकपालोऽष्टाकपालो वा सारस्वतश्चरुः पौष्णश्चरुः प्रनिष्टानाम् (का.श्रौ.सू. ५।४)

होता है। इस दो[1] प्रकार के मिथुन से अर्थात् अग्नि और सोम तथा सरस्वती व पूषा के मिथुनरूप प्रजनन से प्रजापति ने दो प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न किया जो कि इस लोक से ऊर्ध्व (ऊपर के लोक में विद्यमान) थीं तथा इस लोक से अर्वाक् (अधः) विद्यमान थीं। उसी प्रकार यह यजमान भी उपर्युक्त दोनों मिथुनों से दोनों प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करता है। अर्थात् दैवी-सम्पत्ति तथा भूतसम्पत्ति को बढ़ाता है। इस प्रकार आग्नेय पुरोडाश, सौम्य-चरु, सावित्र पुरोडाश, सारस्वतचरु व पौष्णचरु ये पाँच हवियाँ इस वैश्वदेवयाग में होती हैं ॥११॥

पाँचों हवियों के द्वारा प्रजासृष्टि के अनन्तर प्रजाओं की स्थिति के सम्पादक पयस्या होम का ही अवसर है, क्योंकि प्रकृति में प्रजापति ने प्रजाओं की स्थिति के लिए दूध ही दिया था, तथापि उससे पूर्व मरुद्देवताक सप्तकपाल पुरोडाश और करना चाहिए। क्योंकि अग्नि, सविता, सोम, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण, रुद्र, वसु मरुत् आदि प्राणदेवों में मरुत् प्रजा है। वे मरुत् प्राण देवताओं की प्रजा हैं। वे मरुत् अप्रतिषिद्ध गति से विचरने लगे। उन्होंने प्रजापति के पास जाकर कहा कि इस प्रजा का हम नाश कर देंगे, जिसको आप पञ्च हवियों द्वारा उत्पन्न करेंगे ॥१२॥

प्रजापति ने विचार किया कि पूर्व की पक्षी आदि प्रजायें भी मुझ से पराभूत हो गईं, मुझे छोड़कर चली गईं। यदि इस मनुष्यादि प्रजाओं को भी ये मरुत् नष्ट कर देते हैं, तो कोई प्रजा नहीं बचेगी। इसलिए उसने मरुतों के लिए सप्तकपाल पुरोडाश भाग की कल्पना की। यह मारुत पुरोडाश सप्तकपाल होता है, क्योंकि मरुद्गण संख्यामें सात हैं, फिर[2] प्रत्येक के सात सात भेद हैं। इस प्रकार मरुद्गणों के सात सप्तक हो जाते हैं। अतएव उन्हें सप्तकपाल पुरोडाश दिया जाता है ॥१३॥

---

१. सृष्टि—दैवत सृष्टि, भौतिक सृष्टि भेद से दो प्रकार की होती है। अग्नि और सोम के मिथुन से दैवत सृष्टि तथा सरस्वती व पूषा के मिथुन से भौतिक सृष्टि होती है। दैवत सृष्टि ऊर्ध्व तथा भौतिक सृष्टि अवाची कहलाती है। दैवत सृष्टि का अधिष्ठाता सूर्य तथा भौतिक सृष्टि की अधिष्ठात्री पृथिवी है। अतः दैवत सृष्टि को ऊर्ध्ववर्ती तथा भौतिक सृष्टि को अर्वाग्वर्ती बतलाया है।

२. तुविष्मान्, शुम्न, शुष्म, ऋुष्मी, धुनि, असुर विधर्ता ये सातों मरुतों के नाम हैं।

इस सप्तकपाल पुरोडाश को आहुति 'स्वतवोभ्यः' इस विशेषणविशिष्ट मरुतों को देनी चाहिए, क्योंकि इन्होंने स्वयं ही अपने ही बल से अपने भाग को प्राप्त किया था, प्रजापति की कृपा से नहीं। अतः स्वायत्तं तवः-बलं येषां ते स्वतवसः' इस व्युत्पत्ति से स्वतवस् कहलाए। स्वतवोमरुत्प्रतिपादक कोई याज्या व अनुवाक्या वेद में नहीं मिलती। अतः केवल अर्थात् स्वतवोविशेषणसहित मरुतों का सप्तकपाल पुरोडाश से याग करना चाहिए। यह मारुतयाग प्रजापति ने प्रजाओं की अहिंसा के लिए किया था, अतः आज यजमान भी इसीलिए इस वैधयाग में सप्तकपाल पुरोडाश की आहुति देता है ॥१४॥

मारुतयागानन्तर पयस्या की आहुति दी जाती है। क्योंकि सृष्टि के प्रारंभ में दूध से ही प्रजाएँ परिपुष्ट हुई थीं और आज भी सारी प्रजाएँ दूध से ही समृद्ध (परिपुष्ट) होती हैं। अतः पयस्या याग द्वारा उसी दुग्ध का सम्पादन प्रजाओं के लिए किया जाता है। जिस प्रकार प्रजापति ने पहिले प्रजाओं को उत्पन्न किया और तदनन्तर उसे दूध पिलाकर पुष्ट किया, उसी प्रकार आज इस वैश्वदेवयाग में यजमान पहिले की अग्नीषोमीय पुरोडोशादि पाँच हवियों से दिव्य प्रजा (आत्मा) को उत्पन्न करता है और पयस्यायाग द्वारा उसकी परिपुष्टि के लिए दुग्ध प्रदान करता है। पयस्या से ही तो प्रजायें बढ़ती हैं ॥१५॥

पय के विकार को पयस्या कहते हैं[1]। गर्म दूध में दधि डालने पर उसके दो भाग हो जाते हैं १–घन तथा २–तरल। घन भाग आमिक्षा तथा तरल भाग वाजिन कहलाता है। यह आमिक्षा ही पयस्या है। इस पयस्या में प्रजननसाधन मिथुनभाव है। पयस्या (आमिक्षारूपघनभाग) योषा प्राण है और वाजिन (तरल भाग) वृषा प्राण है। प्रजनन में योषा वृषा प्राण का मिथुनभाव अपेक्षित है। पयस्या और वाजिन इस मिथुन से यह अपरिमित देवमनुष्यादिरूप विश्व उत्पन्न हुआ है। क्योंकि पयस्या और वाजिन के मिथुन से अपरिमित विश्व उत्पन्न हुआ, अतः विश्वोत्पत्ति हेतु विश्वदेव देवत्या पयस्या दी जानी चाहिए ॥१६॥

---

१. (क) 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' (का. श्रौ, सू. ४।८८)
(ख) 'शृते वा दध्यानयति वाजिनं निषिच्योत्करे करोति' (का. श्रौ. सू. ४।११०–१११)

तदनन्तर द्यावापृथिवीदेवताक एककपाल पुरोडाश[1] की आहुति दी जाती है। पूर्वोक्त हवियों से प्रजापति ने सृष्टि उत्पन्न कर उन्हें द्यावापृथिवी से परिवेष्टित किया। उसी प्रकार आज यह यजमान पूर्वोक्त हवियों द्वारा प्रजा को उत्पन्न कर द्यावापृथिवी से उन्हें परिवेष्टित करता है, द्यावापृथिवी को उन्हें समर्पित कर देता है। एतदर्थ द्यावापृथिवी एककपाल पुरोडाश किया जाता है ॥१७॥

अब आवृत् (पद्धति) बतलाई जाती है। यह वैश्वदेवयाग दर्शपूर्णमास याग की विकृति है। अतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या, इस अतिदेश के अनुसार इसमें सब कार्य प्रकृतियाग के समान ही होते हैं। उसकी अपेक्षा जो इस विकृति याग में विशेषताएँ हैं, उनका निर्देश करते हैं कि दर्शपूर्णमास में उत्तरा वेदि को कुशा से आच्छादित किया जाता है, किन्तु वैश्वदेव याग में उसे कुशा से आच्छादित नहीं करते। आच्छादित करने पर अनुष्ठीयमान कर्म निरुद्धगति हो जायेगा। और आच्छादित न करने पर क्रियमाण कर्म व्यापक होगा। वह कर्म व्यापक हो अतएव परिच्छेद न होने से वह सर्व (सम्पूर्ण) हो, यह यज्ञ विश्वदेवसम्बन्धी हो, अतः उत्तरवेदि को कुशा से आच्छादित नहीं किया जाता। पहिले तीन जगह बर्हि को अलग अलग बाँध कर फिर तीनों को एक जगह बाँध देते हैं[2]। यही प्रजनन का स्वरूप है। क्योंकि माता पिता तथा दोनों से उत्पन्न सन्तान तीसरी है, यही प्रजनन है। ये तीन होते हुए एक हैं। क्योंकि ये माता, पिता, सन्तान रूप से तीन हैं तथा प्रजनन रूप से एक हैं।

[3]'प्रसू (पुष्पित) कुशाएँ बाँधी जाती हैं। अर्थात् बर्हि के पास चतुर्थ सन्नहन में उन्हें भी बाँधना चाहिए। पुष्पित कुशाओं की ही कुशमुष्टि बना कर उसको यजमान ग्रहण करता है। क्योंकि यह वैश्वदेवयाग प्रजनन (प्रजोत्पत्ति का साधन) है और पुष्पित कुशाएँ भी फलोत्पत्ति का साधन हैं। अतः साधर्म्यात् प्रसूपुष्पित कुशाओं का ही प्रस्तर (कुशमुष्टि) रूप से ग्रहण किया जाता है ॥१८॥

---

१. 'द्यावापृथिवीय एककपालः' (का. श्रौ. सू. ५।१४)

२. त्रेधा बर्हिः सन्नह्य पुनरेकधा, (का. श्रौ. सू. ५।१९)

३. 'कुशप्रस्वः प्रस्तर उपसंनद्धः' (का. श्रौ. सू. ५।२०)
प्रसूः पुष्पम् तद्वन्तः कुशाः कुशप्रस्वः। पुष्पिताः कुशा इति यावत्। तानेव प्रस्तरं कुर्यात् इत्यर्थः (२।५।१।१८)
स च उपसंनद्धो भवति अर्थात् उप बर्हिषः.........चतुर्थसन्नहनमध्ये 'सोऽपि बन्धनीय इति सूत्रव्याख्या।

प्रकृतियाग (दर्शपूर्णमासयाग) की तरह हवि प्राप्त कर अग्नि-मन्थन करना चाहिए। क्योंकि प्रजापति ने सर्वप्रथम अग्नि को उत्पन्न कर पश्चात् प्रजाओं को उत्पन्न किया। जैसा कि 'तद्वा एनमेतदग्रे देवानामजनयत् तस्मादग्निः। अग्रिर्ह वै नामैतद् यदग्निरिति यह श्रुति बतला रही है। अतः अग्न्युत्पत्ति के बाद ही प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए हवि प्राप्त कर पहिले अग्निमन्थन किया जाता है ।।१९।।

इस वैश्वदेवयाग में ९ प्रयाज[1] तथा ९ अनुयाज होते हैं। (चूंकि देवता के साथ देवता के छन्द का तथा ऋतु का भी यजन आवश्यक है, अतः छन्द तथा ऋतुस्थानीय ही प्रयाज व अनुयाज हैं।) प्रयाज प्रधान यज्ञ के प्रारम्भ में तथा अनुयाज प्रधान यज्ञ के अन्त में होते हैं। अतः इनका नाम प्रयाज व अनुयाज है। विराट् छन्द दशाक्षर होता है। तथापि ९ प्रयाज तथा ९ अनुयाज करता हुआ न्यूनाक्षर विराट् का सम्पादन करता है। न्यूनाक्षर विराट् करना प्रजनन के लिए अपेक्षित है क्योंकि 'न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' इस श्रुति के अनुसार प्रजनन के लिए न्यूनत्व अपेक्षित है। प्रजापति ने प्रकृति में इस न्यून प्रजनन से ऊर्ध्व तथा अवाची प्रजा को उत्पन्न किया था। उसी प्रकार आज यह यजमान न्यून प्रयाज व न्यून अनुयाज से दिव्य और भौतिक सम्पत्ति का सर्जन करता है इसलिए इस वैश्वदेवयाग में ९ प्रयाज यज्ञारम्भ में तथा ९ अनुयाज यज्ञान्त में किये जाते हैं।२०।।

इस वैश्वदेव याग में तीन[2] समिष्ट-यजु किए जाते हैं। दर्शपूर्णमासरूप हविर्यज्ञ की अपेक्षा यह वैश्वदेवयाग इस दृष्टि से ज्यायान् अर्थात् बढ़ा हुआ है। क्योंकि इसमें ९ प्रयाज व ९ अनुयाज होते हैं, जबकि दर्शपूर्णमास में ४ प्रयाज व ३ अनुयाज होते हैं। तथा यहाँ ३ समिष्ट यजु होते हैं जबकि दर्शपूर्णमास में एक। अथवा इसमें एक ही समिष्टयजु[3] होता है न कि तीन। क्योंकि चातुर्मास्य भी हविर्यज्ञ है, अतः वैश्वदेव भी हविर्यज्ञ है। इसमें गोष्ठ में सर्वप्रथम उत्पन्न गो की दक्षिणा होती है ।।२१।।

---

१. 'नवप्रयाजं नवानुयाजं' (का० श्रौ० सू० ५।३२)

२. 'त्रीणि समिष्टयजूंषि जुहोति, देवा गातुविदो यज्ञ यज्ञ मेष ते।' इति (का० श्रौ० सू० ५।३४)

३. 'एकं वा समिष्टयजुः' (का. श्रौ. सू. ५।३७)

प्रजापति ने इस वैश्वदेवयाग से यजन कर इस प्रजाति तथा सम्पत्ति को प्राप्त किया जो आज दीख रही है। जो इस विज्ञान को जानता हुआ वैश्वदेवयाग से यजन करता है वह भी उसी प्रजाति व सम्पत्ति को प्राप्त करता है। अतः वैश्वदेवयाग[1] से यजन करना चाहिए ॥२२॥

इति वैश्वदेवयाग।

चातुर्मास्ययज्ञ प्रारम्भ

(भाष्य) दिव्याग्नि को आत्मसात् करने का नाम ही यज्ञ है। जो दिव्याग्नि सौर संवत्सर में विभाजित है, उसे वैध उपायों से आत्मसात् कर लेने से शारीरात्मा का बन्धन पृथिवी से टूट जाता है एवं यावज्जीवन 'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' के अनुसार असंग होता हुआ भी पृथिवी पर रहता है। आयु:समाप्ति के बाद उसी दिव्य संवत्सराग्नि के आकर्षण से जो कि अग्नि १७वें स्थान में रहता है, दिव्यलोक में चला जाता है। यही यज्ञविद्या का रहस्य है। यह संवत्सराग्नि ३६० हिस्सों में विभाजित है। पृथिवी ३६० दिनों में सूर्य के चौतरफ परिक्रमा लगा लेती है। इस प्रकार सौर संवत्सराग्नि की परिक्रमा लगभग ३६० दिन में पूरी हो जाती है। पृथिवी के स्वाक्षपरिभ्रमण के कारण अहोरात्र का स्वरूप बनता है। २४ घण्टे में पृथिवी अपनी धुरी पर घूम जाती है। इस प्रकार अपनी धुरी पर घूमती हुई वह पूर्व की ओर क्रान्तिवृत्तस्वरूप पहिए पर घूमती हुई चलती रहती है। हमें यह बतलाना है कि इस स्वाक्षपरिभ्रमण से इस संवत्सराग्नि के ३६० अथवा ७२० विभाग हो जाते हैं। अहोरात्र दोनों की गणना करने से ७२० हिस्से हो जाते हैं। इस प्रकार एक ही संवत्सराग्नि इन हिस्सों में विभक्त रहता है। इस अग्नि को जिस क्रिया द्वारा अपने आत्मा में आहित किया जाता है, उस दिव्याग्नि का ताप आत्मा में प्रविष्ट किया जाता है, वही क्रिया 'अग्न्याधान नाम से व्यवहृत होती है। यज्ञ करने वाले को सर्वप्रथम 'अग्न्याधान' ही करना पड़ता है। जब तक ३६० भागों में विभक्त अग्नि को न पकड़ा जाय, जब तक संवत्सराग्नि पकड़ में नहीं आ सकता। इस प्रकार ३६० अथवा ७२० भागों में विभक्त अग्नि को आत्मसात् करने के लिए प्रातः सायं उस दिव्याग्नि की प्रतिकृति पर निर्मित आहवनीयकुण्डाग्नि में हवन करना पड़ता है। इसी सायं प्रातः के हवन को 'अग्निहोत्र' कहते हैं।

यही संवत्सराग्नि आगे चलकर १२ अथवा २४ भागों में विभक्त रहता है। एक संवत्सर के १२ महीने होते हैं। प्रत्येक महीने में शुक्ल कृष्ण नाम से दो दो पक्ष होते हैं।

---

१. 'प्रजाकामस्यापि वैश्वदेवम्' (का. श्रौ. सू. ५।४५)

इस प्रकार वह अग्नि दूसरे स्वरूप से १२ अथवा २४ भागों में विभक्त रहता है। इस मासिक अग्नि को प्राप्त करने के लिए प्रतिमास दर्शपूर्णमासेष्टि करनी पड़ती है। पूर्णिमा को (प्रतिपत् को) पौर्णमासेष्टि करनी पड़ती है एवं दर्शनामक अमावस्या में दर्शेष्टि करनी पड़ती है। तदनन्तर जब और आगे बढ़ते हैं तो वह अग्नि तीन भागों में विभक्त मिलता है। वही संवत्सराग्नि अग्नि, वायु और सोम इन तीन स्वरूपों में परिणत रहता है। इस प्रकार से ४-४-४ इन तीन विभागों में संवत्सराग्नि विभक्त रहता है। फाल्गुन शु० १५ से आषाढ शुक्ल १४ तक अग्नि की प्रबलता रहती है। शरीर में सोम की प्रबलता रहती है एवं बाहर अग्नि की प्रबलता रहती है। भोजनपरिपाकसामर्थ्य अग्नि में है न कि सोम में। गर्मी में शरीराग्नि मन्द रहता है—अतएव भोजनपरिपाक सम्यक्तया नहीं होता। गर्मी में भोजन में रुचि नहीं होती, इसका एकमात्र कारण अग्निमन्दता है।

इसके बाद आषाढ शुक्ल पूर्णिमा से कार्तिक शुक्ल १४ तक वायु की प्रधानता रहती है अतः इन दिनों में (चौमासे में) वातव्याधि विशेषरूप से असर करती है। तदनन्तर कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा से फाल्गुन शु० १४ तक सोम की प्रबलता रहती है, परन्तु शरीर में अग्नि की मात्रा अधिक रहती है। अतः शीतर्तु में जितना भी खाया जाता है, सब हजम हो जाता है। अग्नि ही बल पैदा करने वाला है। अतः जिस ग्रीष्म ऋतु में एक पतली सी चद्दर (लिहाफ) नहीं सुहाती थी, वहाँ ५ सेर रूई की लिहाफ आज हल्की मालूम होती है। यह इसी अग्नि की महिमा है। हमें यही बतलाना है कि यह संवत्सराग्नि-अग्नि, वायु और सोम भेद से तीन भागों में विभक्त रहता है। अग्नि तीनों में है परन्तु ग्रीष्म में शुद्ध अग्नि अपने स्वरूप में है, वर्षा में वायुमिश्रित है एवं शीत में सोम की प्रधानता है। इसलिए पाक्षिक अग्नि के बाद इस विभागत्रय में विभक्त अग्नि को आत्मसात् करने के लिए तीन चातुर्मास्य यज्ञ करने पड़ते हैं। यदि एक ही चातुर्मास्य किया जायगा तो वह हुत द्रव्य सारे संवत्सर में तरल भाव से फैल जायगा एवं उसका हिस्सा अत्यल्प मात्रा में हमें मिल सकेगा। इसलिए अग्नि की यथेष्ट मात्रा में प्राप्ति के लिए तीन चातुर्मास्य यज्ञ किये जाने चाहिएँ। पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, अध्वरयज्ञ, अतियज्ञ एवं शिरोयज्ञ भेद से यज्ञ पांच प्रकार के होते हैं। इन पांचों में से पाकयज्ञ तो स्मार्त यज्ञ कहलाता है—जो कि गृह्ययज्ञ भी कहलाता है एवं अवशिष्ट चारों यज्ञ श्रौतयज्ञ कहलाते हैं। दर्शपूर्णमास, आग्रयणेष्टि, पिण्डपितृयज्ञ, चातुर्मास्य याग इत्यादि यज्ञ 'हविर्यज्ञ' कहलाते हैं। एवं सोमयाग जिसे कि ज्योतिष्टिम भी कहते हैं—'अध्वर' कहलाता है। इस प्रकार अध्वर यज्ञ यद्यपि सोम को ही कहते हैं. तथापि मनु भगवान् ने चातुर्मास्य को भीर अध्वर यज्ञ बतलाया है, वह तीनों चातुर्मास्यों के अभिप्राय से ही बतलाया है। तीन चातुर्मास्यों से चूंकि सारा संवत्सर पकड़ में आ जाता है, इसलिए चातुर्मास्य को अध्वर बतला दिया

गया है। हमें प्रकृत में यही बतलाना है कि अग्नि, वायु और सोम इन तीनों की संपत्ति-प्राप्त्यर्थ—आग्नेय, वायव्य एवं सौम्य तीन ही चातुर्मास्य करने चाहिएं। इन तीनों चातुर्मास्यों के नाम ये हैं—

१. वैश्वदेव चातुर्मास्य (आग्नेय)	फाल्गुन शु. १५ मा से आषाढ़ तक
२. वरुणप्रघास चातु. (वायव्य)	आषाढ शु. १५ मा से कार्तिक तक
३. साकमेध चातु. (सौम्य)	कार्तिक शु. १५ मा से फाल्गुन तक

इस प्रकार ये तीन चातुर्मास्य तो प्रधान हैं एवं एक चातुर्मास्य और होता है जो कि गौण है। फाल्गुन शु. १५ मास से १२ दिन पहिले अथवा तीन दिन दिन पहिले तक में यह चौथा चातुर्मास्य यज्ञ होता है। इस चौथे 'चातुर्मास्य को शुनासीरीय' चातुर्मास्य कहते हैं। एवं एक पांचवीं 'पित्र्येष्टि' भी इन्हीं चातुर्मास्यों में शामिल है। इस प्रकार चातुर्मास्य यज्ञ की इतिकर्तव्यता ५ अवयवों में विभक्त है—

१. वैश्वदेव चातुर्मास्य	प्रधान	फाल्गुन पूर्णिमा से
२. वरुणप्रघास चातुर्मास्य		आषाढ पूर्णिमा से
३. साकमेध चातुर्मास्य		कार्तिक पूर्णिमा से
४. शुनासीरीय चातुर्मास्य	गौण	फाल्गुन पूर्णिमा से पूर्व
५. पित्र्येष्टि		कृष्ण पक्ष के बाद में

इस प्रकार से दर्शपूर्णमास के अनन्तर भागत्रय में विभक्त अग्निप्राप्त्यर्थ चातुर्मास्य यज्ञ करना पड़ता है। इसके बाद उत्तरायण, दक्षिणायन भेद से भागद्वय में विभक्त अग्नि के लिए पशुबन्ध यज्ञ करना पड़ता है। तदनन्तर मनुष्य सोमयज्ञ का अधिकारी होता है। सत्य ही है कि जब तक प्रथम मञ्जिल तय न कर ले, तब तक ऊपर कैसे पहुँच सकता है ? इस प्रकार इससे यही सिद्ध हुआ कि जिसको दिव्यलोक में अर्थात् स्वर्ग में जाना है, वह ज्योतिष्टोम (सोमयाग) करे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'। क्योंकि ज्योतिष्टोम को ही संवत्सर-यज्ञ कहते हैं एवं बिना संवत्सराग्नि की प्राप्ति के स्वर्ग नहीं मिल सकता है। परन्तु ध्यान रहे सोमयाग वही कर सकता है जिसने कि अग्न्याधान से प्रारम्भ कर पशुबन्ध तक यज्ञ कर लिये हैं। पशुबन्धान्त यज्ञ अधिकार-समर्पक है।

अब तक हमने १. अग्न्याधान, २. अग्निहोत्र, ३. दर्शपूर्णमास, ४. पिण्डपितृयज्ञ की इतिकर्त्तव्यता बतलायी है। अब क्रमप्राप्त चातुर्मास्य की इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। चातुर्मास्य-वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय भेद से ४ प्रकार के है। इनमें से क्रमप्राप्त सर्वप्रथम वैश्वदेव चातुर्मास्य की ही इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। इस प्राकृतिक चातुर्मास्य की प्रतिकृति पर ही हम वैध चातुर्मास्य यज्ञ करते हैं। उस प्राकृतिक यज्ञ से ही

यच्च यावत् प्राणी उत्पन्न होते हैं। अतः इस चातुर्मास्य के रहस्य को जानने के लिए पहले उस प्राकृतिक चातुर्मास्य के रहस्य को जानना परमावश्यक है। इसीलिए चातुर्मास्य की इतिकर्तव्यता के पूर्व भगवान् याज्ञवल्क्य उस प्राकृतिक चातुर्मास्य के रहस्य को बतलाने के अभिप्राय से सृष्टि के प्रारम्भ का इतिहास बतलाते हैं। भगवान् याज्ञवल्का, प्रजापति ने सृष्टि कैसे, कितनी और क्यों उत्पन्न की इसका गुप्त रहस्य बतलाते हैं।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह जो कुछ तुम आज संसार का स्वरूप देख रहे हो, जो संसार तुम्हें दिखायी दे रहा है, सृष्टि के पूर्व सिवाय प्रजापति के और कुछ न था।

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्रे, (सृष्टेः प्राक्) एक एवास'।

जहाँ जहाँ सृष्टिप्रकरण आता है वहाँ वहाँ प्रजापति का उपपादन रहता है। प्रजापति के अनेक अर्थ हैं। प्रजापति शब्द से कौनसा प्रजापति अभिप्रेत है, प्रजापति का क्या स्वरूप है इसका विवेचन करना यद्यपि प्रकृत से दूर जाना हैं तथापि जब तक प्रजापति का स्वरूप नहीं समझ लेंगे, प्रकृत रहस्य समझ में नहीं आ सकता। अतएव विस्तार से नहीं तो सूक्ष्म रूप से ही इसका स्वरूप बतलाते हैं।

वैदिक विज्ञान में मौलिक और यौगिक ये दो तत्व माने गये हैं। मौलिक तत्व को ब्रह्म एवं यौगिक तत्व को यज्ञ कहते हैं। इसी ब्रह्म को प्रजापति कहते हैं। इस मौलिक तत्व को जो कि सृष्टि का निर्माता है, सृष्टि के पूर्व की वस्तु है—'ऋषि' कहते हैं। ऋषि ही मौलिक तत्व है। इसी ऋषि से यच्चयावत् जगत् का निर्माण होता है। मायाबलावच्छिन्न—इस ऋषि प्रजापति में अशनायावशात् जो इन्द्र-विष्णु का व्यापार होता है, उसीसे यच्च यावत् जगत् का निर्माण होता है। सृष्टि से पूर्व यह ऋषि प्रजापति ही रहता है—और कुछ नहीं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'असद् वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीत् इति ? ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुराऽस्मात् सर्वस्मात् इदम् इच्छन्तः श्रमेण तपसाऽरिषंस्तस्मात् ऋषयः' इति।

ये मौलिक ऋषिप्राण अनन्त जाति के हैं—अनन्त हैं। इनको पहिचानना बड़ा ही कठिन काम है—जैसा कि श्रुति कहती है—

'विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे॥' इति।

सूर्य से ऊपर परमेष्ठिमण्डल है। उस परमेष्ठिमण्डल के स्वरूप की रक्षा करने वाले भृगु, अङ्गिरा और अत्रि ये तीन मनोता हैं। परमेष्ठिमण्डल को ही आपोमयमण्डल कहते हैं। चूंकि भृगु, अङ्गिरा इसी की वस्तु हैं, इसीलिए कहा जाता है—

'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ।।' इति ।

यह अङ्गिरा—अग्नि, वायु एवं आदित्य भेद से तीन प्रकार का है। हमने यद्यपि ऋषिप्राण को मौलिक बतलाया है परन्तु मैथुनी सृष्टि के अभिप्राय से। मानसी सृष्टि में तो ये ऋषिप्राण पैदा होने वाले ही कहलाते हैं। इसीलिए तो 'ते अङ्गिरसः सूनवः' कहा गया है। ये ऋषिप्राण चूंकि अङ्गिरा से उत्पन्न होते हैं, अतएव हम इन्हें 'आग्नेय' कह सकते हैं। यदि कोई हमसे इस ऋषिप्राण की जाति पूछेगा, तो हम स्पष्ट शब्दों में कहेंगे कि यह ऋषिप्राण अग्निजातीय है, आग्नेय है। इसीलिए तो श्रुति 'ते अग्नेः परिजज्ञिरे' यह कह रही है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि को उत्पन्न करने वाला ऋषि नामक आग्नेय प्राण ही प्रजापति है। ये ऋषिप्राण अनन्त जाति के हैं, यह हम बतला चुके हैं। उनमें से कई प्राण एकर्षि प्राण है, कई द्व्यृषि एवं कई सप्तर्षि प्राण है। कश्यप और विश्वामित्र ये दोनों प्राण एकर्षि प्राण हैं। ये सदा अकेले ही रहते हैं। अपनी स्थिति के लिए इन्हें अन्य प्राणों की अपेक्षा नहीं रहती है। एवं ऋतु, दक्ष और पुलस्त्य, पुलह ये द्व्यृषि प्राण है। ये दोनों अविनाभूतात्वेन ही रहते हैं। एवं भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, तथा वसिष्ठ मत्स्य, अगस्त्य ये त्र्यृषि प्राण है एवं एक सप्तर्षिप्राण हैं, जिसमें सात ऋषि शामिल रहते हैं। सृष्टिनिर्माण में यद्यपि एकर्षि आदि प्राणों का भी उपयोग होता है तथापि इन सब इतर प्राणों का आलम्बन यह सप्तर्षि प्राण ही है। अतएव मुख्यत्वात् अन्य प्राणों को प्रजापति न कहकर इस सप्तपुरुष पुरुष को ही प्रजापति कहेंगे। यह प्रजापति आग्नेय है, यह हम बतला चुके हैं। इसका स्वरूप बतलाने से पूर्व थोड़ी सी और बात जान लेने की आवश्यकता है।

रस और बल ये दो ही तत्व माने जाते हैं। रस को ब्रह्म एवं बल को कर्म कहते हैं। दोनों अविनाभूत्वेन रहते हैं। जब सारा बल रस में सुप्त रहता है, तब वह अवस्था प्रलय नाम से व्यवहृत होती है। एवं किसी बलविशेष के कारण जब यह सारा बल रस में उद्बुद्ध हो पाता है, तो वही जगत् कहलाने लगता है। जो बल उस अपरिच्छिन्न रस को परिच्छिन्न बना डालता है, उस बल को 'माया' बल कहते हैं। यह अमित को मित बना डालता है, इसीलिए तो वह माया कहलाती है। इस मायाविच्छिन्न रस को ही 'अव्यय' कहते हैं। जो रस निष्कल (कलारहित) था, आज मायाबल के कारण परिच्छिन्न हो जाने से पञ्चकल हो जाता है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् ये पांच कलाएँ, उस अव्यय पुरुष की हो जाती हैं। मन मध्य में रहता है। जो बल मुक्तिसाक्षी है, उससे मन-विज्ञान और आनन्द की ओर जाता है एवं सृष्टिसाक्षी बल से प्राण और वाक् की ओर जाता है। मन ही मुक्ति एवं बंधन कराता है। इसीलिए 'मन एव मनुष्याणां कारणं

बन्धमोक्षयोः' कहा गया है। इस मायापरिच्छिन्न अव्यय के केन्द्र में एक केन्द्रबल (हृद्-बल) स्थापित हो जाता है। उस हृदय में हृ. द. य. ये तीन अक्षर रहते हैं, जो कि ब्रह्मा, विष्णु एवं इन्द्र नाम से व्यवहृत होते हैं। इस प्रकार से तीन अक्षर तो हृद्य हैं एवं अग्नि और सोम ये दो अक्षर हृदय से बाहर, हदय की पकड़ में रहते हुए, उस अव्ययालम्बन पर विचरते हैं।

यह जो अक्षर है, उसमें ९ प्राण रहते हैं। एक प्राण तो ऐसा है जो कि जब तक माया बल रहता है, तब तक रहता है अर्थात् वह प्राण अव्यय की वस्तु बन जाती है अर्थात् वह प्राण अक्षर से प्रविविक्त होकर व्यय के साथ संश्लिष्ट हो, तद्रूप बन जाता है। चूंकि अव्यय प्रातिस्विकरूपेण सृष्टयादि-प्रपञ्च से सर्वथा अलग है, अतएव तत्-संसृष्ट वह अक्षर प्राण भी सृष्टिनिर्माण से सर्वथा पृथक् रहता है। बाकी हैं—८ प्राण। इन आठों में से जो चार प्राण हैं—वे तो आत्मा बनते हैं। दो प्राणों से दक्षिणोत्तर दो पक्ष बनते हैं एवं एक प्राण से पुच्छ प्रतिष्ठा बनती है—जो कि शरीरयष्टि को विधृत रखती है। यह प्रतिष्ठा प्राण बिना हड्डी मांस का है परन्तु इसने हड्डी मांस वाले को उठा रखा है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति' इति।

मनुष्य में जो एक तनाव सा दिखलाई देता है, वह इसी प्रतिष्ठा प्राण की महिमा है जो कि प्राण गुदा के ऊपर से लेकर सारे मेरुदण्ड में व्याप्त रहता है। इस प्रकार चार आत्मा, दो पक्ष एवं एक पुच्छ ये सात प्राण ही सप्तर्षि प्राण कहलाते हैं—जो कि सृष्टि-निर्माण करते हैं। इन सातों प्राणों को मिला करके इनका जो रसभाग है, जो कि परि-णाम में एक प्राणभाग जितना है—उससे मस्तक बनता है, जिसे शिर कहते हैं। चूंकि इन सातों के रस भाग से (दूध के मक्खन से) यह मस्तक बना है, अतः उन सातों प्राणों पर यह मस्तक शासन करता है। सातों प्राणों से इसकी कड़ी जुड़ी रहती है। इसी मस्तक के द्वारा सम्पूर्ण प्राणों को अपनी अपनी खुराक मिलती है। हमने जो चार प्राणों को आत्मा बतलाया था, उससे नित्य आत्मा अभिप्रेत नहीं है, अपितु यहाँ आत्मशब्द लाक्षणिक समझना चाहिए। चूंकि दोनों पक्ष (हाथ पैर) एवं मस्तक इसी धड़ के आधार पर रहते हैं—जिस धड़ में कि पक्षादि की अपेक्षा चार गुना प्राण है। अतः पक्षादि की अपेक्षा इस धड़ को 'आत्मा' कह दिया गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि धड़ हाथ से चाहे जैसा काम ले सकता है, पैर को चाहे जैसा हिला सकता है, मस्तक को इधर उधर फिरा सकता है, परन्तु पक्षादि इसे हिलाने में, इस पर शासन करने में असमर्थ ही हैं। अभिप्राय यह है कि यद्यपि इनमें आत्मत्व अवश्य है तथापि चूंकि इन

प्राणों (सातों) का रसभाग निकल जाता है, अतः ये सातों प्राण मूर्छित ही रहते हैं। चेतना केवल रसभाग से निष्पन्न मस्तक में ही रहती है। बिना मस्तक की सहायता के के ये सारे प्राण व्यर्थ हैं। यदि मुख द्वारा अन्नाहुति न हो तो किसी भी प्राण की सत्ता नहीं रह सकती है। इसी अभिप्राय से इस मस्तक को 'श्री' कहा गया है जिसका कि अपभ्रंश 'शिर' हो गया है। श्री कहते हैं रसभाग को, जो इसको धारण करे, उसे श्रीवार' कहते हैं। इसी प्रकार से जो लोक में सब का अधिष्ठाता होता है, उसे सरदार 'श्रीवार' कहते हैं। अस्तु। प्रकृत में हम यही बतलाना चाहते हैं कि जहाँ तक अव्यय का स्वरूप है, वहाँ तक उसीमें नीचे के एक भाग में अक्षर पुच्छप्राण रहता है एवं दोनों पार्श्वों में दो पक्षप्राण रहते हैं एवं बीच में चार प्राणों को मिला कर आत्मा का स्वरूप रहता है। जिसे कि धड़ कहते हैं एवं बाकी का जो ऊपर का चौथा हिस्सा है, उसमें इन सातों के रसभाग से निष्पन्न शिरभाग रहता है। इस प्रकार चार आत्मा, दो पक्ष, एक पुच्छ प्रतिष्ठा एवं आठवां शिर इन सब की समष्टि को एक पुरुष कहते हैं जो कि अव्ययालम्बन पर अपनी स्थिति स्थापित करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'एतान् सप्त पुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन् यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्। यदवाङ्नाभेस्तौ द्वौ पक्षः पुरुषः पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत्। अथ या एतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः यो रस आसीत् तमूर्ध्वं समुदौहन्, तदस्य शिरोऽभवत्। यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्माच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु एवैतत् शिरः। अथ यत् प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः। अथ यत् सर्वमस्मिन्नश्रयत तस्मादु शरीरम्। स वै सप्तपुरुषो भवति। सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः यच्चत्वार आत्मा त्रयः पक्षपुच्छानि' इति।

(शत. ६ का. १ ब्रा. ३-६ क.)

इसलिए हमने पूर्व में जो प्राण बतलाया है, उसे आग्नेय समझना चाहिए। जैसा कि इस प्रकरण के प्रारम्भ में—'ते अङ्गिरसः सूनवः' इत्यादि श्रुति से बतलाया गया है। हाथ, पैर, धड़, अस्थि मांसादि का चुनाव इस आग्नेय प्राण पर अग्नि का ही होता है।

हमने अव्यय की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये पांच कलाएँ बताई थीं। उनमें से आनन्द सब के अन्तः में है, उसके बाद विज्ञान है, तत्पश्चात् मन, तदनन्तर प्राण एवं उसके बाद वाक् का चुनाव है। इनको एक के पेट में एक इस रूप से नहीं समझना चाहिए अर्थात् सबको सर्वात्मना व्याप्त समझना चाहिए। ये ही पांचों आनन्दमयकोश, विज्ञानकोश, मनोमयकोश, प्राणमयकोश, एवं वाङ्मयकोश नाम से व्यवहृत होते हैं। वाङ्मयकोश को ही अन्नमयकोश कहते हैं। हमें यही बतलाना है कि सप्तपुरुषात्मक इस प्राण पर वाक् का चयन होता है। यह वाक् का चयन मनुष्यों में सात प्रकार का एवं पशुओं में आठ प्रकार का है। प्राण पर पहिले शुक्र का चुनाव होता है। तत्पश्चात् मज्जा

अस्थि, मेदस्, मांस, असृक् व त्वक् इनका चुनाव होता है। ये सात चितियाँ मनुष्यस्थ आग्नेय प्रजापति प्राण पर होती हैं। ये सात चितियाँ अग्नि की ही चितियाँ समझनी चाहिएं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'स एष पुरुषः प्रजापतिरभवत्। स यः स पुरुषः प्रजापतिरभवत् अयमेव स योऽयमग्निश्चीयते।' इति।

मनुष्य में सात चितियाँ होती हैं। मनुष्यों के केवल त्वचा ही होती है, चर्म नहीं होता। चर्म केवल पशुओं के ही होता है। अतः श्रुति में मनुष्यों को उत्कृत्तचर्मा कहा गया है। जैसा कि श्रुति कहती है—

अथ वासः परिधत्ते सर्वत्वायैव। स्वमेवास्मिन् एतत् त्वचं दधाति। या ह वा इयं गोस्त्वक् पुरुषे हैवाग्रे आस। ते देवा अब्रुवन् गोर्वा इदं सर्वं बिभर्ति, हन्त येयं पुरुषे त्वक् गव्येतां दधाम। तयैषां वर्षन्तं, तया हिमं तया घृणिं तितिक्षिष्यते इति। तेऽवच्छाय पुरुषं गव्येतां त्वचमादधुः। (शत. तृ. का. २२८ पृ.)

तात्पर्य यह है कि मनुष्यो में त्वचा नहीं होती। इस प्रकार से उस सप्तपुरुष प्रजापति प्राण के ऊपर ही ये सात चितियाँ होती हैं—

१. शुक्र	सप्तचितयः
२. मज्जा	
३. अस्थि	
४. मेदस् (स्नायु)	
५. मांस (वपा-वसा)	
६. असृक्	
७. त्वक्	

इस आग्नेय प्राण पर अग्नि का ही चयन होता है, यह पूर्व में बतलाया जा चुका है। यह अग्नि मर्त्यामृत-भेद से दो प्रकार का समझना चाहिए। इन्हीं को वैदिक परिभाषानुसार चित्य व चितेनिधेय शब्द से कहा जाता है। पूर्वोक्त आठों प्राणों में जो सात प्राण हैं उनको तो चित्याग्नि समझना चाहिए एवं जो आठवाँ रसात्मक 'श्री प्राण' है उसे चितेनिधेय समझना चाहिए। यह रसभाग उस मर्त्य भाग का चूंकि निमित्त कारण है, अतएव इस अमृत भाग को अक्षर कहते हैं। एवं चूंकि सातों प्राणों से फिर नई नई वस्तुएँ होती हैं, अतः क्षरणात् उस भाग को मर्त्य एवं क्षर नाम से व्यवहृत करते हैं। परन्तु इस क्षर में इतना विशेष समझना चाहिए कि चाहे इसमें से करोड़ों विकार निकल जायें, तथापि क्षर अपने स्वरूप में वैसा ही रहता है, जैसा कि विकार के पहिले था। चूंकि यह क्षर अपनी स्थिति में रहता है, अतएव इसे 'आत्मक्षर' कहते हैं। इस आत्मक्षर को (सात

प्राणों को) विकारक्षर एवं यज्ञक्षर पैदा करने के कारण प्रजापति भी कहते हैं। क्योंकि विकारक्षर एवं यज्ञक्षर इस आत्मक्षर प्रजापति की प्रजा ही तो हैं।

इस प्रकार से जो अष्टप्राणात्मक एक अक्षर था, उसीमें चित्य व चितेनिधेय भेद से अक्षर और क्षर अर्थात् मर्त्य व अमृत ये दो भेद हो जाते हैं। अतः दोनों को मिला करके प्रजापति का स्वरूप समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्धममृतम्।' इति

सम्पूर्ण कथन का सारांश यही हुआ कि सप्तपुरुषात्मक अथवा अष्टावयव जो एक आग्नेय प्राण है, जो कि मर्त्यामृतस्वरूप है वही सृष्टिनिर्माणकर्ता प्रजापति है। इस क्षर-सृष्टि के पहिले यह प्रजापति ही था। उस समय प्रजापति के अलावा और था ही क्या? इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास।' इति

उस प्रजापति ने इच्छा की कि 'मैं अकेला हूँ। ऐसा कौनसा उपाय करूँ जिससे मैं प्रजा उत्पन्न कर सकूं।' इच्छा की देर थी, इच्छा के साथ ही प्रजापति ने तप व श्रम से प्रजा पैदा करली।

मायावच्छिन्न जो अव्ययरस है—जो उसका केन्द्रीय रस है उसे ही 'श्वोवसीयस मन' कहते हैं। यह मन उत्तरोत्तर अभ्युदय करता है, अतएव इस अव्यय मन को 'श्वोवसीयस' मन कहते हैं।

हमने बतला दिया है कि यद्यपि अव्यय में प्रातिस्विकरूपेण क्रिया एवं इच्छा व्यापार नहीं होता तथापि बलों के कारण इस मनमें इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इच्छा के साथ ही तदनुकूल तप (आन्तरव्यापार यत्न, कृति) एवं श्रम (भूतव्यापार) होने लगता है। इस इच्छा का ही दूसरा नाम 'काम' है। इस काम में तीन भाग—१. उक्थ, २. अर्क, ३. अशिति होते हैं। उक्थ उस स्थान का नाम है जहाँ से इच्छा उठती है। आत्मा को मन:प्राण-वाङ्मय बतलाया गया है जैसा कि श्रुति कहती है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' इति।

इस प्रकार उक्थ का विभाग मन के अधीन समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कुछ भाग तो प्राण-व्यापार द्वारा बाहर निकलता है एवं शेष उसी स्थान पर प्रतिष्ठित रहता है। चूंकि वह हिस्सा उसी स्थान से निकलता है अर्थात् उठता है, अतएव उसको 'उक्थ' कहते हैं। उस उक्थ से उठकर जो हिस्सा अर्क रूप से बाहर जाता है, उसे अर्क कहते हैं। मनःप्राणवाङ्मय आत्मा में से जैसे मन उक्थ का स्वामी है, वैसे ही अर्क का अधिष्ठाता प्राण है। इस अर्क की पकड़ से प्राणव्यापार से जो वस्तु उदर में

आती है, उसे ही 'अशिति' कहते हैं। मन.प्राणवाङ्मय आत्मा में से यही अशिति वाक् का हिस्सा है। इस प्रकार मन का परिच्छेद के कारण जो प्रथम व्यापार है, वही इच्छा किंवा काम कहलाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।' इति

इच्छा के होते ही प्राणव्यापार होने लगता है—जिसे कि तप कहते हैं। आत्मा से अन्य किसी साधन द्वारा जो व्यापार किया जाता है—वह बाहर का व्यापार कहलाता है। परन्तु सृष्टि के पूर्व तो प्रजापति के सिवाय और कुछ नहीं था। अतएव 'स तपोऽतप्यत' यह कहा गया है। तप आन्तरव्यापार को कहते हैं। उसमें अपनी ही वस्तु व्यय करनी पड़ती है। इसी अभिप्राय से श्रुति तप का लक्षण बतलाती है—

'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति।'

उस आग्नेय अष्टावयवात्मक प्राणप्रजापति ने तप किया अर्थात् आन्तरव्यापार किया। इस सृष्टिनिर्माण का द्रव्य अपने में से ही दिया। तदनन्तर श्रम किया अर्थात् वाग्व्यापार किया। आत्मा को मनःप्राणवाङ्मय बतलाया गया है। वही आग्नेय आत्म-प्रजापति यच्च यावत् प्राणिमात्र में रहता है। उस आग्नेय प्रजापति ने सृष्टिनिर्माण में इच्छा, तप और श्रम किया था। एवं उसीके अंश हम हैं। अतएव हम जब भी कोई नया कार्य करना चाहते हैं येही तीन काम होते हैं। जिस समय हम हाथ को उठाते हैं इधर-उधर हिलाते हैं, उस चालन-क्रिया में पहिले इच्छा होती है। 'मैं हाथ उठाऊँ' इस इच्छा के होते ही एक आन्तरव्यापार होता है जो कि कृति कहलाता है। उस प्राणव्यापार के होते ही वाग्व्यापार हो उठता है अर्थात् हाथ उठ जाता है। इसी वाग्व्यापार से क्रिया होने लगती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्यं भवेत् कर्म तदेतत् कृतमुच्यते॥' इति

हमें बतलाना यही है कि सृष्टि के पहिले प्रजापति अकेले थे। उन्होंने सृष्टि पैदा करने की इच्छा की, तप किया और श्रम किया। उसने इच्छा, तप और श्रम से ही सृष्टि को पैदा कर दिया। कहीं तप के स्थान में 'अर्चन्तः' कहा जाता है। वहाँ इसी प्राण-व्यापार के अभिप्राय से 'अर्चन्तः' कहा जाता है।

'स ऐक्षत कथं तु प्रजायेयेति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स प्रजा असृजत।' इति

प्रजापति ने कुल ६ सृष्टियाँ उत्पन्न कीं। उनके नाम ये हैं—

१. मुख्य सृष्टि—

१. कृमिसृष्टि २. कीटसृष्टि ३. पक्षिसृष्टि ४. पशुसृष्टि ५. मनुष्यसृष्टि ६. देवसृष्टि	यद्यपि चतुर्दशविध भूतसर्ग कहलाता है। परन्तु अप्राकृत समझ कर हमने औरों की गणना नहीं की है। इन्हीं सृष्टियों को वैदिक परिभाषानुसार निम्नलिखित शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार निम्नलिखित ६ सृष्टि-विभाग माने जाते हैं।
१. सहस्रपात् २. शतपत् ३. द्वात्रिंशत्पात् ४. षोडशपात् ५. अष्टपात् ६. षट्पात् ७. चतुष्पात्=पशु ८. द्विपात्=मनुष्य पक्षी ९. अपात्=देवसृष्टि	इन सबका निर्माण उसी आग्नेय प्राण-प्रजापति से होता है। यच्चयावत् प्राणिमात्र में वही सप्तपुरुष पुरुष प्रजापति रहता है एवं सब में वही पूर्वोक्त अस्थि-मांसादि का चयन होता है। केवल संनिवेश के भेदमात्र से मात्रा के तारतम्य से—प्राणियों में परस्पर भेद हो जाता है। हमने जो सृष्टियाँ बतलाई हैं, उन्हें क्रमिक सृष्टि समझना चाहिये।

अखिल विश्व के पदार्थों का निर्माण द्यावापृथिवी से होता है। पृथिवी और सूर्य इन्हीं दो के रस से यच्चयावत् जड-चेतन की सृष्टि होती है, परन्तु केवल मात्रा के तारतम्य से सृष्टिभेद हो जाता है। आंख, नाक, मुँह, पैर इत्यादि शरीर-अवयव प्राणिमात्र में होते हैं। केवल संस्थानभेद से वैजात्य हो जाता है। हमने बतलाया है कि पृथिवी और द्युरस से ही सब का निर्माण होता है, केवल मात्रा एवं संस्थानतारतम्य से वैजात्य हो जाता है। पहिली सृष्टि मुख्या सृष्टि कहलाती है। मुख्या सृष्टि पौराणिक नाम है। वृक्षादि की जो सृष्टियाँ हैं वे मुख्या सृष्टि कहलाती हैं। वृक्षों का मुख मनुष्यों के ठीक विपरीत रहता है। उनका मुख (जड़) पृथिवी में गडा रहता है। इसका कारण यह है कि इनमें पार्थिव रस अधिक रहता है एवं द्युरस अत्यल्प मात्रा में रहता है। वह सूर्यरस वृक्षों में जितना प्रविष्ट हो जाता है, बस वे उतनी मात्रा में ऊपर की ओर उठ जाते हैं। चूंकि पृथिवी का हिस्सा उनमें अधिक रहता है, अतएव वे पृथिवी की पकड़ से अलग नहीं होते। यही मुख्या सृष्टि कहलाती है।

इसके बाद जब और अधिक सौर तेज आता है, तो उससे जो प्राणिसृष्टि उत्पन्न होती है, वह पृथिवी की पकड़ से अलग हो जाती है अर्थात् उसका हिस्सा पृथिवी में

गडा हुआ नहीं रहता। परन्तु वे पृथिवी से ऊपर भी नहीं ऊठ सकते। उन्हें रेंगते हुए ही चलना पड़ता है। उनका सारा शरीर ही पैर है। सरीसृपादि ही अपात् सृष्टि के अन्तर्गत हैं। चूंकि इनका सारा शरीर ही पैर का काम देता है अतः इन्हें 'सर्वशरीरपात्' भी कहते हैं। बस प्राणिसृष्टि में यही पहिली 'आपात्' सृष्टि है ॥१॥

तदनन्तर जब और अधिक मात्रा में सौररस प्रविष्ट होता है तो पैरों के बल पर खड़ी हुई सृष्टि उत्पन्न होती है। उनका शरीर पृथिवी पर से उठ आता है एवं छोटे-छोटे कांटेदार पैर ही पैर पृथिवी पर रहते हैं। केंचुआ और कितने ही कीट ऐसे हैं जो उन्हीं नुकीले पैरों के आधार पर रहते हैं। इनके चौतरफ लगभग असंख्य पैर ही पैर रहते हैं। वेद में सहस्र शब्द पूर्णार्थ का वाचक है—'पूर्णं वै सहस्रम्'। अतएव इस सृष्टि को सहस्र-पात् कहते हैं।

तदनन्तर जब और अधिक सौर तेज प्रविष्ट होता है तो शरीर के सारे हिस्से के पैर उड जाते हैं एवं तब दूर दूर पर पैर हो जाते हैं। क्योंकि सौरतेज के अधिक मात्रा से आने के कारण १००० पैरों की आवश्यकता नहीं रहती है। यही तीसरी 'शतपात्' सृष्टि कहलाती है ॥३॥ तदनन्तर और भी अधिक मात्रा में सौरतेज के आने से ३२ पाद ही रह जाते हैं ॥४॥ इससे भी अधिक आने से १६ हो पैर रह जाते हैं ॥५॥ एवं जब और भी अधिक मात्रा से सौर तेज आता है तब आठ पैर रह जाते हैं। चींटी वगैरह इसी अष्टपात् सृष्टि में शामिल है। तदन्तर जब और भी अधिक सौर तेज आता है तो दो पैर ऊपर की ओर उठ जाते हैं एवं ६ जमीन पर रह जाते हैं। दो पैरों से वह प्राणी आकाश में उडता है एवं ६ से पृथिवी पर चलता है। भ्रमर, दंश, मशकादि इसी षट्पात् सृष्टि में शामिल हैं। भ्रमर पृथिवी पर चलेगा तो ६ ही पैरों से चलेगा एवं उसके दोनों आगे के पैर भूमि पर नहीं टिकेंगे, परन्तु आकाश में वे ही दोनों पैर काम देंगे जो कि पांखुडी कहलाते हैं।

तदनन्तर वे आगे के दोनों पैर उड जाते हैं, तब ६ ही पैर रह जाते हैं। इन ६ पैर वाले प्राणियों के पूंछ और मस्तक का भाग, उन्नत आधार सा रहता है एवं सारा बल मध्य में ही रहता है। तत्पश्चात् और अधिक मात्रा से सौररस आता है, तब बीच का बल हट कर चार पैर रह जाते हैं, यही पशु कहलाते हैं। तदनन्तर जब और अधिक सौर-रस का आकर्षण होता है तब दो पैर ऊपर की ओर उठ जाते हैं एवं पृथिवी पर दो ही रह जाते हैं, इन्हें ही पक्षी कहते हैं। इनके ऊपर के पंर ही पंख कहलाने लगते हैं। आकाश में ये इसीसे उडते हैं एवं दोनों पैरों से चलते हैं। सूर्य का आकर्षण अधिक नहीं होता, अतः पक्षी जरा तिरछे से रहते हैं। चिडिया तिर्यक् ही होती है। एवं जब और अधिक आकर्षण होता है तो वह तिर्यक् भाव बिल्कुल हट जाता है एवं एकदम सीधापन

आ जाता है, उसे ही मनुष्यसृष्टि किं वा द्विपात् सृष्टि कहते हैं। इसके बाद जब पार्थिव पकड़ एकदम छूट जाती है तो वे प्राणी देवता कहलाने लगते हैं। उनके पैर भूमि पर नहीं टिकते। यही अपात् सृष्टि कहलाती है। तात्पर्य यह है कि सूर्य एवं पृथिवी के प्राण-तारतम्य से एवं संस्थानतारतम्य से सृष्टि में वैजात्य हो जाता है।

हमारी दृष्टि मनुष्यसृष्टि पर ही आकर रुक जाती है। देवसृष्टि का हम प्रत्यक्ष नहीं करते। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्।'

इस प्रकार उस प्राणप्रजापति से इतनी सृष्टियां उत्पन्न होती हैं। प्रकृत में और सृष्टियों को अप्रकृत समझकर छोड़ दिया है। केवल पक्षी, सरीसृप, सर्प इन तीन सृष्टियों का ही निरूपण किया गया है। भगवान् प्रजापति ने तप और श्रम से सृष्टि उत्पन्न की। प्रजापति की यह प्रजा जो उत्पन्न होते ही प्रजापति को छोड़कर चल दी, वह यही पक्षी प्रजा थी। पक्षी जिस पिता से उत्पन्न होते हैं उसमें भी सप्तपुरुष प्रजापति रहते हैं। उसी के अभिप्राय से प्रजा का उड़ना लिखा है। उड़ने वाली चिड़ियां पैदा होते ही प्रजापति को छोड़ देती हैं। यदि चिड़िया का पिता यह चाहे कि मेरे पुत्रों से मैं बहुकुटुम्बी हो जाऊं तो ऐसा कदापि संभव नहीं। अतः प्रजापति पुनः एकाकी रह जाता है। पक्षियों को सदा भोजन की चिन्ता रहती है। वे सदा अन्न की तलाश में रहती हैं। अतएव इन्हें 'वयांसि' कहा गया है। क्योंकि अन्न ही वय कहलाता है।

उस आत्मप्रजापति ने उन वयों (चिड़ियाओं) को उत्पन्न करके भी अपने को एकाकी ही पाया। क्योंकि पैदा होते ही चिड़ियायें प्रजापति पिता को छोड़कर चली गईं। इसी अभिप्राय से करहते हैं।

'ता अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुः तानीमानि वयांसि' इति।

मनुष्य पर आकर सृष्टि-प्रक्रिया एक प्रकार से समाप्त हो जाती है क्योंकि देवसृष्टि का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव कहते हैं कि—

मनुष्य उत्पादित प्रजाओं में अन्यों की अपेक्षा प्रजापति के अत्यन्त समीप है अर्थात् प्रजापति से मिलता जुलता है, उसीका स्वरूप है। प्राणप्रजापति का स्वरूप ४ आत्मा, २ पक्ष, १ पुच्छ १ श्री इन आठ अवयवों से युक्त बतलाया गया है। उस प्राणप्रजापति का स्वरूप अन्य कीटादि सृष्टियों में उतना स्फीत नहीं मालूम देता जितना मनुष्य में। हाँ यदि कुछ मालूम देता है तो थोड़ा सा पक्षियों में मालूम देता है। क्योंकि जहां दो पांव पक्षी के हैं और वे ही दो पांव मनुष्य के। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'पुरुषो वै प्रजायतेर्नेदिष्ठम् । (अन्तिकतमम्) द्विपाद्वा अयं पुरुषः । तस्माद् द्विपादो वयांसि' ॥१॥

इस प्रकार प्रजापति (पक्षिपिता) से उत्पन्न प्रजा जब प्रजापति को छोड़कर चली गई तब प्रजापति ने विचार किया कि जैसा इस प्रजा को उत्पन्न करने से पूर्व मैं एकाकी था, आज प्रजा उत्पन्न करने पर भी उसी प्रकार मैं एकाकी हूँ । अतः मैं कुटुम्बी बनूं इस दृष्टि से पुनः प्रजा उत्पन्न करनी चाहिए ।

उसने तप और श्रम द्वारा दूसरी प्रजा उत्पन्न की । वह भी पराभूत हो गई अर्थात् उस प्रजा से भी प्रजापति कुटुम्बी नहीं बन सके । वह दूसरी प्रजा छोटी-छोटी लटें थीं । लटें (सरीसृप) भी पैदा होते ही स्वतन्त्र हो जाती हैं । उन्हें मनुष्य की तरह अपनी माता के दूध पीने की इच्छा ही नहीं होती । लटों को पैदा करने वाले प्रजापति दूसरे थे, एवं पक्षियों को उत्पन्न करने वाले दूसरे, फिर उसी प्रजापति ने विचार किया कि मैं पुनः एकाकी रह गया यह कहना सर्वथा असंगत हुआ । क्योंकि जिस प्रजापति ने पक्षियों को उत्पन्न किया था, सरीसृपों को उसने(चटक ने)उत्पन्न नहीं किया । अतः 'स ऐक्षत' ऐसा संगत नहीं है । तथापि प्रजापति को हमने अष्टावयव बतलाया है जो कि आग्नेय है । चटक को भी वही सप्तपुरुष प्रजापति उत्पन्न करता है और सरीसृप को भी वही उत्पन्न करता है । एक ही ईश्वरप्रजापति प्रतिबिम्बवत् प्राणिमात्र के केन्द्र में बैठा हुआ सृष्टि उत्पन्न करता रहता है । १०० घटों में सूर्य के प्रतिबिम्बों के १०० हो जाने पर भी सूर्य एक ही रहता है । यही बात प्रजापति के विषय में है । यहाँ केवल उस आग्नेय प्रजापति से तात्पर्य है जो कि प्राणिमात्र में प्रतिष्ठित हो नवीन सृष्टियाँ उत्पन्न करवाता रहता है । जैसा कि भगवान् कहते हैं--

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' इति

अतः प्रकृत में 'स ऐक्षत प्रजापतिः' इस कथन में कोई आपत्ति नहीं है । तात्पर्य यह है कि प्रजापति ने जिन सरीसृपरूप दूसरी प्रजा को उत्पन्न किया वह भी उत्पन्न होते ही प्रजापति को छोड़ कर चल दी । उससे भी प्रजापति कुटुम्बी नहीं बन सका । यह सरीसृप प्रजा सर्पों से भिन्न थी, इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'स ऐक्षत प्रजापतिः यथान्वेव पुरैकोऽभवम् । एवमु न्वेवाप्येतर्हि एक एवास्मीति । स द्वितीयाः ससृजे । ता अस्य परैव बभूवुः । तदिदं क्षुद्रं सरीसृपं यदन्यत् सर्पेभ्यः' ॥इति ।

अन्ततः प्रजापति ने तीसरी प्रजा उत्पन्न की परन्तु उसने भी प्रजापति का साथ नहीं दिया । वह भी प्रजापति को छोड़कर चल दी । वह तीसरी सृष्टि यही सर्पसृष्टि

थी। सर्प भी माता पिता की परवाह न कर उत्पन्न होते ही अलग हो जाते हैं। शतपथ की रचना करने वाले याज्ञवल्क्य के अन्यतम शिष्य मधुश्रवा कहते हैं कि हमारे गुरुवर याज्ञवल्क्य तो पक्षी और सरीसृप भेद से दो ही सृष्टि मानते हैं। उनके विचार से सर्प भी सरीसृप ही हैं तथापि ऋचामें तीन बतलाई गई हैं अतः उसके अभिप्राय से यहाँ तीन बतलाई गई हैं। क्योंकि 'नासूया कर्तव्या यत्रानुगमः क्रियते।' इसी अभिप्राय से कहा है—

'एता ह न्वेव द्वयीर्याज्ञवल्क्य उवाच। त्रयीरु तु पुनर्ऋचा' ॥२॥

जब प्रजापति ने देखा कि मेरी तीसरी प्रजा भी पराभूत हो गई अर्थात् मुझे छोड़कर चली गई। तब प्राणव्यापार करते हुए प्रजापति ने विचार किया कि क्या कारण है कि मेरी प्रजायें पराभूत हो जाती हैं। सोचते सोचते प्रजापति ने उस कारण को जान लिया। उन्होंने मालूम किया कि अन्न न मिलने के कारण मेरी प्रजायें पराभूत हो जाती हैं अर्थात् मुझे छोड़कर चली जाती हैं। यदि इन्हें उत्पन्न होते ही अन्न मिल जाय तो ये मेरे आश्रित रह सकती हैं। यह विचार कर भगवान् प्रजापति ने अपने शरीर के अग्रभाग में स्थित दोनों स्तनों को दूध से भर दिया। इस प्रकार प्रजोत्पत्ति से पूर्व अपने स्तनों में दूध भर कर प्रजापति ने मनुष्यप्रजा उत्पन्न की। अतः मनुष्यप्रजा उत्पन्न होते ही स्तनों की ओर अग्रसर हुई। अर्थात् पैदा होते ही वह दूध पीने लगी। अतः यह प्रजा प्रजापति से पराभूत नहीं हुई। इसने अपना सम्बन्ध प्रजापति से नहीं तोड़ा। इसी अभिप्राय से कहते हैं— सोऽर्चन् श्राम्यन् प्रजापतिरीक्षाञ्चक्रे कथंनु मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति। स हैतदेव ददर्श। अनशनतया वै मे प्रजाः सृष्टाः पराभवन्तीति। स आत्मन एवाग्रे स्तनयोः पय आप्याययाञ्चक्रे। स प्रजाः असृजत। ता अस्य प्रजाः सृष्टाः स्तनमेवाभिपद्य तास्ततः सम्बभूवुः ता इमा अपराभूताः ॥३॥

यह प्रजा अन्नदान के प्रभाव से प्रजापति से अलग न होकर उसे चौतरफ घेरकर बैठ गई। अर्थात् इस प्रजा से प्रजापति कुटुम्बी हो गये।

यह दूध अपने शरीर से निकलता है अतः आत्मा का भाग दूध द्वारा वत्स में प्रविष्ट होता रहता है। इसी बन्धन के कारण बच्चा माता पिता की ओर आकर्षित रहता है। दूध माता का ही पीता है। अतः पिता की अपेक्षा बच्चा माता को अधिक चाहा करता है।

प्रकृत में यही बतलाना है कि प्रजा को अन्न नहीं दिया। अतः पक्षी, कीट, सर्प ये तीनों प्रजायें प्रजापति से उत्क्रान्त हो गईं। किन्तु जिस मनुष्य व पशुप्रजा को प्रजापति ने अन्न-प्रदान किया वे प्रजापति के अनुगत रहीं। उन्हीं से प्रजापति कुटुम्बी बना। इसी प्राकृतिक आत्मप्रजापतिविज्ञान को लक्ष्य में रखकर वेदमहर्षि कहते हैं—

'प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे ।
महद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः पवमानो हरित आविवेश' ॥ इति

'ह इति विनिग्रहार्थे । तिस्रः प्रजाः हि(तु) । अत्यायमीयुः (अतिक्रम्य जग्मुः) अन्याः प्रजाः अर्कम् (अर्चनीयमग्निम्) अभितः (सर्वतः) निविविश्रे निविविशिरे । महत् (तत्स्रष्टा च प्रजापतिः) भुवनेषु (उत्पद्यमानासु प्रजासु) अन्तः (मध्ये) तस्थौ । पवमान हरित आविवेश ।' इति

पक्षी, सरीसृप और सर्प ये तीन प्रजायें तो प्रजापति का अतिक्रमण कर उत्क्रान्त हो गईं। उन्होंने अपने पिता प्रजापति की कुछ परवाह न की। किन्तु पयोरूप अन्न की प्राप्ति से अन्य प्रजा उस अर्चनीय प्रजापति के चौतरफ आश्रित हो गई। तीनों प्रजाओं की तरह मनुष्य एवं पशुप्रजा ने अपने पिता का अतिक्रमण नहीं किया। उन अपनी प्रजाओं के मुखिया, सब में वृद्ध, प्रजास्रष्टा प्रजापति उन प्रजाओं के बीच में बैठ गया। जो पवमान वायु था, वह दिशाओं में प्रविष्ट हो गया। सृष्टि के आरम्भ में तीन प्रजा वास्तव में प्रजापति को छोड़कर चल दी थीं। चूंकि ऐसा सृष्टि के आरम्भ में हुआ था, अतएव इसी स्थिति को महर्षि ने मन्त्र द्वारा बतलाया है——

'तद् याः पराभूतास्ता एवैतद्भ्यनूक्तम्' इति ।

तात्पर्य यही है कि सृष्टियों में कई सृष्टियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध अपने पिता से नहीं रहता। पूर्वोक्त तीनों सृष्टियाँ वे ही हैं। इन तीनों को अपने पिता माता से मनुष्यवत् दुग्धान्न नहीं मिलता। इसलिए मनुष्य में पितृपुत्रभाव जितना घनिष्ठ रहता है उतना इन पक्षियों एवं सरीसृपों में नहीं रहता। प्यार की तो कथा दूर है—ये तो अपनी संतान को खा तक जाती हैं। सर्पिणी जब बच्चे पैदा करने लगती है तो वह अपने आपका घेरा बना लेती है। उस घेरे में बच्चा उत्पन्न करती जाती है एवं साथ ही खाती रहती है। दैवयोग से ही उस चक्र से बच्चा निकल सकता है। ऐसी अवस्था में कौटुम्बिक व्यवस्था की कथा ही क्या है ? प्रजापति अष्टावयवात्मक है एवं आग्नेय है एवं यच्चयावत् प्राणिमात्र का सर्जन भी वही करता है—जो कि पुरुष भी कहलाता है—यह बात इस प्रकरण के आरम्भ में ही हम बतला आये हैं। इस आग्नेय प्रजापति के लक्ष्य से एक ही प्रजापति की सारी सन्तानें बतला दी गयी हैं। इस आत्मप्रजापति का स्वभाव ही इस मन्त्रश्रुति से बतलाया जाता है। जिनके लिए प्रजापति स्वयं अन्न-व्यवस्था कर देते हैं, वह तो उनका अतिक्रमण नहीं करतीं। परन्तु जिनके लिए पिता अन्न का प्रबन्ध नहीं करता वह प्रजापति की कोई परवाह नहीं करती। चूंकि आत्मप्रजापति की सृष्टि का निर्माण इसी पद्धति पर हुआ था, इसलिए आज भी हम पिता पुत्रों में यही भाव देखते हैं। उसी आदि-सृष्टि

के नियम का पालन आज तक होता आ रहा है। यदि पिता पुत्र के लिए अन्न-व्यवस्था कर देता है अथवा पुत्र पिता के लिए अन्न-व्यवस्था कर देता है तो उनमें परस्पर प्रेम रहता है, बंधन रहता है। यदि पुत्र कुपूत है—पुत्र को पिता से कोई आशा नहीं रहती, तो पिता उसकी उपेक्षा कर देता है। एवं यदि पिता के पास संपत्ति नहीं होती तो पुत्र उधर दृष्टिपात नहीं करता। कारण इसका स्पष्ट है। अन्न ही से आश्रयाश्रयिभाव होता है। यदि संसार में अन्न नहीं होता, प्रजापति भगवान् अन्न-व्यवस्था न करते तो कौटुम्बिक व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जाती। सब अपनी-अपनी धुन में मस्त रहते। चिड़िया, सरीसृप (छोटी लटें) सर्प इन तीन प्रजाओं की तरह सब स्वतन्त्र रहते। न तो पिता पुत्र को पूछता और न ही पुत्र पिता को। इसी प्राकृतिक आत्म-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

'प्रजा ह तिस्रोऽअत्यायमीयुर्न्यन्या अर्कमभितो विविश्रे'

याज्ञवल्क्य इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

जो प्रजा पराभूत हो गयी थी एवं आज भी हो रही है, इस प्राकृतिक विज्ञान को ही वेदर्षि ने बतलाया था—

तद्या 'पराभूतास्ता एवैतदभ्यनूक्तम्' इति।

अन्य प्रजा जिसे कि प्रजापति से अन्न मिल गया वे उस अर्क के चौतरफ आश्रित हो गयीं। अर्क अग्नि को कहते हैं क्योंकि अर्क (रश्मियां) अग्नि में से ही निकलता है। 'अग्निर्वा अर्कः'। अतः जो प्रजा अपराभूत हुई वह इस अर्काग्नि प्रजापति के ही चौतरफ वेष्टित हो गई।

प्रजापति से अर्थ आग्नेय प्रजापति ही लेना चाहिए जो कि सप्तपुरुष पुरुष है जो कि प्राणिमात्र के रूप में अन्तः प्रविष्ट है। इसी बात को बतलाने के लिए 'अग्निर्वा अर्कः' कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो अन्न वाली प्रजा, अन्नप्राप्ति के कारण अपराभूत हुई थी एवं हो रही है, उसीके लिए वेद महर्षि ने 'न्यन्या अर्कमभितो' इत्यादि कहा है।

तद् या इमाः प्रजा अपराभूतास्ता अग्निमभितो निविष्टाः ता एवैतदभ्यनूक्तम्॥४॥

'बृहद् ह तस्थौ भुवनेष्वन्तः' इस तृतीय चरण से प्रजापति ही बतलाए गये हैं। यही आग्नेय प्रजापति यच्च यावत् प्राणिमात्र में अन्तः प्रविष्ट रहते हैं। अतएव इन्हें 'महत्' कहा गया है।

'पवमानो हरित आविवेश'—दिशाओं को हरित् कहते हैं। उन दिशाओं में यह पवमान वायु आविष्ट दिखलाई पड़ता है अर्थात् वायु के प्रजापति ये दिशाएँ हैं। इन्हीं के आधार पर वायु की स्थिति रहती है।

दिग्व्यवस्था ध्रुवप्रोतवृत्त से होती है। क्षितिजवृत्त को दिशा माना करते हैं। यह क्षितिजवृत्त ३६० हैं क्योंकि ध्रुवप्रोत वृत्त ही तो इनका व्यवस्थापक है। जितने ही ध्रुव-प्रोतवृत्त हैं उतनी ही दिशाएँ हैं। प्रत्येक ध्रुवप्रोतवृत्त क्षितिजवृत्त हो जाता है। उसी क्षितिजवृत्त में पूर्व पश्चिमादि दिशाओं की कल्पना की जाती है। दिक् प्रान्तभाग को कहते हैं। वैदिक परिभाषानुसार प्रत्येक वस्तु में चार चार अवयव रहते हैं। अतएव 'चतुष्टयं वा इदं सर्वं' कहा जाता है। इन चारों के ये नाम हैं—१. पृथिवी, २. अन्तरिक्ष, ३. द्यौः और ४. दिक्। प्रत्येक वस्तु में अग्नि और सोम रहता है। पिण्डाग्नि चित्याग्नि कहलाता है एवं २१ तक जाने वाली अग्नि चितेनिधेय कहलाता है। इसी २१ तक जाने वाले अग्नि में त्रिवृत्, पञ्चदश एवं एकविंश भेद से पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्यौः इन तीन लोकों की कल्पना की जाती है। २१ के बाहर जाकर वही अग्नि सोम बन जाता है, यही चौथा लोक कहलाता है। यच्च यावत् पिण्डों में ये चारों लोक समझने चाहिएं। अग्नि ही पदार्थ का असली स्वरूप है। उसीसे तीनों लोकों का निर्माण होता है। अतएव अग्नि को लोक की वस्तु माना जाता है एवं सोम को लोक के बाहर की वस्तु माना जाता है। वह ह्रियमाण भाग है—लोक का प्रान्त भाग है। अतएव उस ह्रियमाण प्रान्त भाग को 'हरित्' कहते हैं। इस प्रान्त भाग में ही चूंकि क्षितिज की उत्पत्ति होती है। अतएव वेद में क्षितिजवृत्त को 'हरित्सु प्रान्तभूमिषु जायते इति व्युत्पत्या' 'हरिज्जन' कहते हैं। इसी हरिज्जन को ज्योतिषी लोग 'हरिजन' कहते हैं। उसीको आधुनिक वैज्ञानिक 'होराइजन' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि दिक्-व्यवस्थापक ध्रुवप्रोतवृत्त है। एवं वह ह्रियमाण है अर्थात् सौम्य त्रिलोकी से बाहर का प्रान्त भाग है, अतएव 'हरित्' कहलाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—दिशो वै हरितः'। वायु इन्हीं में रहता है। अतएव 'पवमानो हरित आविवेश' कहा गया है।

ऋचा में इन प्रजाओं के विज्ञान को ही बतलाया गया है :—

'ताएवैषर्गभ्यनूक्ता' इति।

जिस प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापति ने प्रजा उत्पन्न की थी, सृष्टि के लिए जो व्यवस्था स्थापित की थी उसी तरह आज यह मनुष्यादि प्रजा भी उत्पन्न होती है। अर्थात् मनुष्य जब पैदा होता है उसके लिए अन्न (दूध) माता के स्तनों में पहिले से ही तैयार मिलता है। उसी प्रजापति की व्यवस्थानुसार आज भी सृष्टि-निर्माण वैसे ही हो रहा है। प्रजापति एकाकी थे, उन्होंने इच्छा की थी कि मैं बढ़ूं। यही इच्छा आज प्रति प्राणी की है। प्रत्येक मनुष्य बढ़ने का प्रयत्न करता है। पुत्र, धन, संपत्ति की इच्छा में मनुष्य व्यस्त रहता है क्योंकि सृष्टिसाक्षी प्रजापति ने प्रारम्भ में बढ़ने की इच्छा की थी। इसलिए वही प्रजापति हमारा आत्मा है। अतः प्रत्येक वस्तु की इच्छा करना इस आत्मा का धर्म

ही है। अव्यय प्रजापति को आनन्द विज्ञान-मन-प्राण-वाङ्मय बतलाया जा चुका है। इसमें आनन्द और विज्ञान तो मुक्तिसाक्षी हैं एवं प्राण और वाक् सृष्टिसाक्षी हैं।

बल सिसृक्षा और मुमुक्षा भेद से दो प्रकार का होता है। सिसृक्षा बल से मन-प्राण वाक् की ओर जाता है एवं मुमुक्षा बल से विज्ञान आनन्द की ओर जाता है। मन जितना प्राणवाक् की ओर जायगा, उत्तरोत्तर अपने ऊपर पदार्थों को चुनता जायगा और बन्धन में पड़ता जायगा। परन्तु मुक्तिसाक्षी बल अर्थात् विद्या के प्रभाव से मन जितना ही विज्ञान, आनन्द की ओर जाता जायगा, बन्धन छूटता जायगा। प्रवृत्ति का फल है—वाक् जो कि प्राण-व्यापार से उत्पन्न होता है एवं निवृत्ति का फल है आनन्द जो कि विज्ञान से मिलता है। एक ही मन आनन्द-विज्ञान की ओर जाने से बन्धन तोड़ने का कारण हो जाता है। वही प्राण वाक् की ओर जाने से बन्धन का कारण बन जाता है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परन्तप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'॥ इति

प्रकृत में हमने सृष्टिसाक्षी प्रजापति का ही वर्णन किया है। अतः उत्तरोत्तर बढ़ाव को ही प्रधान रखा है। इसी सिसृक्षाबल से उत्तरोत्तर विकास होता रहता है। विकृति न होना, आत्मा का स्वभाव है। वह प्रत्येक समय बढ़ना चाहता है। जितना ही वह बढ़ता है उतना ही आनन्द मिलता है। जितनी संपत्ति अधिक होती है, उतना ही आनन्द अधिक मिलता है। मनुष्य कहते हैं कि संपत्ति एवं पुत्र-पौत्रादि से दुःख मिलता है, परन्तु मैं कहता हूँ कि उनका यह कथन वेद-विरुद्ध है। दुःख अवश्य होता है परन्तु कम मात्रा में। सम्पत्ति यदि बढ़ती ही जाय और घटे नहीं तो दुःख हो ही नहीं सकता। वृद्धि के साथ कमी होती है, इसीलिए तो दुःख होता है। यदि वृद्धि ही वृद्धि होती रहे तो फिर दुःख का काम ही क्या है ? इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

'यो वै भूमा तत् सुखम्। (अथ च) यदल्पं तद् दुःखम्।'

हमें कुछ नहीं चाहिए, हमें सदा सन्तोष करना चाहिए, यह अकर्मण्यों की भाषा है। वेद भगवान् इस सन्तोष का खण्डन करते हैं एवं अलंभावका विरोध करते हैं। वे आज्ञा देते हैं—

'अजितं जेतुमनुचिन्तयेत् न क्वचिदप्यलं बुद्धिमादध्यात्।' इति।

इसी का नाम विकासवाद है। इसी को पौराणिक 'संचर' कहते है। परन्तु जब मुमुक्षा-बल का प्रयोग होता है तो उसी आत्मा में प्रतिसंचर के भाव उत्पन्न होते हैं। इसी को विनाश कहते हैं। एक पंखुडी जो अब तक सर्वथा मुकुलित थी, सिसृक्षाबल से विकसित

होती है। विकास होने से पंखुडी का मुंह खुल जाता है। धीरे-धीरे वही पंखुडी खिलकर पुष्प रूप में परिणित हो जाती है। यहाँ तक तो उसमें विकास होता है। परन्तु सिसृक्षा-बल के ठीक विरुद्ध मुमुक्षाबल के प्रयोग से वह पुष्प धीरे-धीरे संकुचित होने लगता है। उसी संकुचित व्यापार से वह अपना आत्मसंवरण कर लेता है। पुष्पादि पदार्थों में आत्मा नहीं है, यह भी उन्मत्तों का प्रलाप ही समझना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि संसार में कोई भी पदार्थ निष्क्रिय नहीं है—

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः'॥

जब यह बात है तो पुष्पादि में भी क्रिया माननी ही पड़ेगी। माननी ही क्यों पड़ेगी इसका उत्तर यह है कि हम प्रत्यक्ष रूप से उसमें क्रिया देखते हैं तभी तो वह खिलता है। जब क्रिया की सत्ता सिद्ध हो जाती है, तब आत्मसत्ता स्वयं सिद्ध हो जाती है। क्योंकि क्रिया बिना तप के अर्थात् प्राणव्यापार के नहीं होती, बिना इच्छा के प्राण-व्यापार नहीं होता एवं बिना मन के इच्छा भी नहीं होती। अतः मनःप्राणवाङ्मय आत्मा इस पुरुष में' यावत् पदार्थों में है, यह बात अवश्य ही माननी पड़ती है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

'अङ्गुलस्याष्टभागोपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः॥
स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मसूक्ष्मैः सूक्ष्मतरैस्तथा।
स्थूलैः स्थूलतरैश्चैतत् सर्वं प्राणिभिरावृतम्॥'

प्रकृत में कहने का तात्पर्य यही है कि यच्च यावत् पदार्थों में विकास और संकोच हुआ करता है। विकासनियति एवं संकोचनियति ये दो नियतियाँ प्रतिपदार्थ में अपना-अपना कार्य करती रहती हैं। सिसृक्षाबल से एक वस्तु का पहिले विकास होता है, मुमुक्षाबल से अन्त में उसी आत्मा में उसका सङ्कोच हो जाता है। इसीलिए इस संसार को 'द्विनियति' कहा जाता है जिसका कि अपभ्रंश 'दुनिया' है। द्विनियति से ही दुनिया शब्द बना हुआ है। हम सृष्टि-प्रकरण बतला रहे हैं—विकास-प्रकरण बतला रहे हैं न कि मुक्ति-प्रकरण। इसीलिए तो इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही 'प्रजायेय' कहा गया है। प्रजापति से सिसृक्षाबल से चाह उत्पन्न हुई थी। अतएव आज हम में भी यह चाह बराबर होती रहती है। हम सदा कुछ न कुछ चाहा करते हैं। एवं प्रजापति ने सृष्टि के आदि में अन्न के ही अधीन प्रजा को रखा था। अतएव आज मनुष्यादि प्रजायें भी अन्न (दूध) का ही आश्रय लेकर पैदा होती हैं। आत्मा के इस प्राकृतिक विज्ञान को बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'ता इमाः प्रजास्तथैव प्रजायन्ते यथैव प्रजापतिः प्रजा असृजत ॥' इति

इसीका स्पष्टीकरण करते हैं:— 'इदं हि'।

हम देखते हैं कि आज भी वही नियम प्रचलित है जिसे कि प्रजापति ने व्यवस्थित किया था। हम देखते हैं कि जब किसी स्त्री के स्तन आप्यायित हो जाते हैं अर्थात् दूध से भर जाते हैं एवं पशुओं के ऊधस् (स्तन) दूध से भर जाते हैं तदनन्तर ही जो पैदा होने वाला है वह पैदा होता है। अर्थात् जिसे पैदा होना होता है वह तभी पैदा होता है जब कि उसकी माता के दोनों स्तन दूध से आप्यायित हो जाते हैं। इस प्रकार स्तनों के आप्यायित हो जाने पर जो प्रजा उत्पन्न होती है वह पैदा होने के अनन्तर हो स्तनों को पकड़कर स्तन्यपान से ही प्रवृद्ध होती है अर्थात् माता के स्तनों के दूध को पीकर ही प्रजा अपनी सत्ता प्रतिष्ठित करने में समर्थ होती है। उसी अन्न के कारण वह प्रजा अपने प्रजापति (माता पिता) के अनुगत रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य एवं पशु-प्रजा इसी अन्न-शृंखला में बँधी रहती है। इसी अभिप्राय से इसी प्राकृतिक रहस्य को बतलाते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'इदं हि' (इदानीमपि स एव नियमः प्रचलितो वर्तने इति भावः। यदैव स्त्रियै (स्त्रियाः) स्तनावाप्यायेते (पयसा पूरितौ भवतः) ऊधः (पशुस्तनसंज्ञा) पशूनाम् (आप्येयते इति शेषः) अथैव यज्जायते तज्जायते। तास्ततवःस्तनावेवाभिपद्य (स्तन्यपानेनेति भावः) संभवन्ति (प्रवर्द्धन्ते) इति ॥५॥

निष्कर्ष यही है कि इन प्रजाओं का दूध ही अन्न है। इससे ही इनकी जोवनस्थिति है। गेहूँ, चावल, चना, मोठ, बाजरा आदि अन्नों में सर्वप्रथम दूध हो है। बच्चा पैदा होते ही पयोऽन्न का आश्रय लेता है। अतः यह कहा जा सकता है कि दूध ही अन्न है। गेहूँ चावल आदि अन्न भी दूध ही हैं। क्योंकि दूध ही जमकर जो, गेहूँ आदि अन्न बनता है। दूध की घनावस्था ही जो, गेहूँ आदि हैं। जिस समय जो, गेहूँ कच्चे रहते हैं उस समय इनमें दूध का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि दूध ही अन्न है। भगवान् प्रजापति ने सर्वप्रथम (इतरान्नसृष्टि से पूर्व) इसी दूध को उत्पन्न किया एवं आज भी करता है अतएव पहिला अन्न दूध ही है। जो, गेहूँ आदि में भी पहिले दूध ही उत्पन्न होता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तद्वै पय एवान्नम् (एतद्धि अग्रे (इतरान्नसृष्टेः प्राक्) अन्नमजनयत।' इति

जब दूध ही अन्न है तथा इसी दुग्ध से प्रजासत्ता रहती है तो यह भी कहा जा सकता है कि अन्न ही प्रजा है। अन्न ही तो प्रजास्वरूप में परिणत होता है। अन्न से ही रेत बनता है तथा उसीसे प्रजा उत्पन्न होती है। इसीलिए अवश्य अन्न ही प्रजा है।

"तद्वा अन्नमेव प्रजा इति'। अन्न से ही उत्पन्न होती है। उत्पत्ति भी अन्नात्मक वीर्य से तथा पालन भी अन्न (मातके स्तन्यरूपान्न से होता है। अतः अन्न को प्रजास्वरूप क्यों न माना जाय। अन्न से ही प्रजा का पालन होता है इसमें माण यह है कि जिन प्राणियों के दूध होता है उनसे उत्पन्न होने वाली प्रजा उनके स्तनों को प्राप्त कर स्तन्यपान से ही अपना जीवननिर्वाह करती है। एवं जिनके (पक्षी, सरीसृप सर्प के) दूध नहीं होता वे प्रजा उस बच्चे के उत्पन्न होते ही उसे चोंच से अन्न लाकर खिलाती हैं। परन्तु जो खिलाने में असमर्थ रहती हैं वे स्वयं हो उसे खा जाती हैं। सर्पिणी अपने बच्चों को खा जाती है। इस प्रकार सन्तानरूपी अन्न से सर्पिणी का जीवन रहता है। तात्पर्य यह है कि प्रजा अन्न से ही अपनी स्थिति रखती है। इसीलिए कहा है कि अन्न ही प्रजा है। इसीलिए श्रुति कहती है—

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति' इति। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—'तस्माद् अन्नमेव प्रजाः।' इति ॥६

भगवान् प्रजापति ने प्रजाकामना से इसी वैश्वदेवयाग से यजन किया था एवं कर रहे हैं। इसी अन्न से उन्होंने प्रजासम्पत्ति प्राप्त की थी। अतः प्रजापति की तरह प्रजाकामना से यजमान इस वैश्वदेव (अन्नेष्टि) इष्टि से देवताओं का यजन करता है। वह अपने में से आहुति देकर यज्ञ करता है एवं उस यज्ञ से प्रजा को तथा दिव्यात्मा को उत्पन्न करता है। प्रजापति अपने दूध से ही प्रजा उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार यह अन्न इस यजमान का अपना दूध है। क्योंकि इस अन्न में यजमान के मन, प्राण, वाक् सम्मिलित हैं। अतः इसकी जो आहुति देता है वह आत्मा से निकले हुए प्रजापतिकृत यज्ञ को ही करता है। एवं इस यज्ञ द्वारा प्रजा उत्पन्न करता है। इसलिए जिसे प्रजापति की तरह प्रजाकामना हो वह इस वैश्वदेव यज्ञ को करे। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'स यः प्रजाकामः एतेन हविषा यजते आत्मानमेवैतद् यज्ञं विधत्ते प्रजापतिकृतम्' ॥७॥

वैश्वदेवयज्ञ क्यों करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतलाकर अब उसकी इतिकर्तव्यता बतलाते हैं—

इस वैश्वदेवयाग में सबसे पहिले आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश होता है। पहिले आग्नेय पुरोडाश क्यों होता है इसकी उपपत्ति बतलाई जाती है—

अग्नि देवताओं में मुखस्वरूप है एवं अग्नि ही पैदा करने वाले हैं। अतएव अग्नि प्रजापति हैं।

सत्य और ऋत ये दो ही तत्व जगत् के मूल हैं। सत्य और ऋत के अतिरिक्त इस

विश्व में और कुछ नहीं है। पिण्डात्मक वस्तु को 'सत्य' एवं बिखरी हुई वस्तु को 'ऋत' कहते हैं। जिसमें केन्द्र होता है वही पदार्थ 'सत्य' एवं केन्द्ररहित पदार्थ 'ऋत' कहलाता है। पिण्डनिर्माण करना अग्नि का काम है। पिण्ड के अधिष्ठाता अग्नि हैं एवं निरायतन वस्तु के अधिष्ठाता सोम हैं। अग्नि सत्यस्वरूप एवं सोम ऋतस्वरूप है। इसी अभिप्राय से 'अग्नीषोमात्मकं जगत्'—यह कहा जाता है।

यह अग्नि चित्य, चितेनिधेय भेद से दो प्रकार का होता है। चित्याग्नि स्पृश्य पिण्ड में एवं चितेनिधेय वषट्कारस्वरूप दृश्य मण्डल में रहता है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। इस पिण्ड में से चित्याग्नि तो पिण्ड में ही रहता है एवं चितेनिधेय केन्द्र से बद्ध होकर २१ तक जाता है। अग्नि उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ ऊपर की ओर जाता रहता है। एक चिराग को सामने रखिए। उसकी जो लौ है, वह तो चित्यपिण्ड है। वह अग्नि की पहिली अवस्था है। तदनन्तर जो उस दीपक का प्रकाशमण्डल जाता है, वहाँ तक अग्नि की तरलावस्था रहती है अर्थात् चितेनिधेय अग्नि विशकलित रूप से वहाँ तक रहता है। तदनन्तर वह अग्नि और भी विशकलित हो जाता है यही इसकी तीसरी प्राणावस्था है। दीपक के प्रकाश के बाहर जो प्रकाशकण अग्निपरमाणु प्राणरूप से जाते हैं वे उसकी विरलावस्था कहलाते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि निविड, तरल एवं विरल रूप से तीन स्वरूपों में परिणत हो जाता है। जहाँ अग्नि की निविडावस्था समाप्त होती है वहाँ एक विभाग समाप्त हो जाता है, जहाँ तरलावस्था समाप्त होती है वहाँ दूसरा विभाग समाप्त हो जाता है और जहाँ इसकी विरलावस्था (प्राणावस्था) समाप्त हो जाती है वहाँ उसका तीसरा विभाग समाप्त हो जाता है। जिस समय हम लकड़ी को जलाते हैं, उस समय उसमें ये तीन अवस्थाएँ रहती हैं। कुछ अग्नि तो पिण्ड (अग्नि) में ही रहता है, कुछ ज्वाला के साथ रहता है एवं कुछ ज्वाला से ऊपर प्राणरूप में परिणत रहता है। होते होते सारा अग्नि (प्राणरूप) में (अदृश्यावस्था में) परिणत हो जाता है। अग्नि की घनावस्था को अग्नि ही कहते हैं जो कि पृथिवी के त्रिवृत् तक (९ तक) रहता है एवं तरलावस्था में परिणत अग्नि को अग्नि न कह कर वायु कहते हैं जो कि पञ्चदश स्तोम (१५) तक रहता है एवं विरलावस्था में परिणत अग्नि आदित्य कहलाता है जो कि एकविंशस्तोम तक रहता है। अग्नि पृथिवी से विशकलित होता होता २१ तक अपनी विशकलनावस्था रखता है। यहाँ तक अग्नि पृथिवी के केन्द्र से बद्ध रहता है अतएव सत्य कहलाता है। परन्तु २१ के बाहर निकलते ही इसकी पकड़ पृथिवी से टूट जाती है अतः यह अग्नि 'ऋत' रूप में अर्थात् सोम रूप में परिणत हो जाता है। वही अग्नि २१ के बाहर जाकर सोम बन जाता है, अवस्थान्तरित हो जाता है। वह सोम उस अग्नि में आहुत होता है। सोम पानी व वायु से मिश्रित रहता है। अप्, वायु, सोम इन तीनों की मिश्रित

अवस्था का नाम भृगु है एवं अग्नि, वायु, आदित्य इन तीनों की मिश्रितावस्था का नाम अङ्गिरा है। यह भृगु जो कि २१ के बाहर है अङ्गिरा में प्रविष्ट होता है एवं केन्द्र बिन्दु में जाकर वापस लौट आता है। सोम-ध्रुव, धर्त्र धरुण व धर्त्र इन चार अवस्थाओं में रहता है। यह सोम उस पृथिवी की ओर अभिमुख होते होते जब पृथिवी के केन्द्र में जा पहुंचता है, एवं अन्तिम बिन्दु पर जाने के बाद स्थानावरोध हो जाता है तब वही सोम घर्षण द्वारा अग्नि बन जाता है। यदि हम किसी के ऊपर ज्यादा दबाव डालें तो उस दबाव की अन्तिम सीमा के अनन्तर वहां आग निकल आयेगी। यही अवस्था इस अग्नि-सोम की समझनी चाहिए। २१ से बाहर जाकर अग्नि ऋत (सोम) बन जाता है एवं केन्द्र बिन्दु पर आकर वही ऋत सत्य में (अग्नि में) परिणत हो जाता है। तात्पर्य यही है कि वही अग्नि सोम बन जाता है और वही सोम अग्नि बन जाता है—सत्य ऋत है एवं ऋत सत्य है। दोनों एक वस्तु है, केवल अवस्थान्तर का ही नाम अग्नि और सोम है, पिण्डावस्था का नाम अग्नि है एवं ऋतावस्था का नाम सोम है। अग्नि पिण्ड में ही रहता है। इसमें यही प्रमाण है कि पानी को खूब गरम करलो, जिसमें हाथ न डाला जा सके। ऐसे गर्म पानी को एक फव्वारे में रख कर छोड़ो। उस फव्वारे से जो जलकण निकलेंगे वे बिल्कुल ठंडे निकलेंगे। फव्वारे के मुख तक चूंकि लोहे की नली में पानी पिण्ड रूप से बैठा हुआ है अतएव तब तक उसमें अग्नि रहता है। परन्तु बाहर निकलते ही जल-की पिण्डावस्था टूट जाती है अतएव अग्नि उसमें नहीं रह सकता। तात्पर्य यह है कि अग्नि पिण्ड में रहता है अतएव वह सत्य कहलाता है। रस सोम, पिण्डरहित वस्तुओं (पानी वायु आदि) में रहता है अतएव वह ऋत कहलाता है।

प्रकृत में यही बतलाना है कि जैसे अग्नि की अवस्थान्तर का नाम सोम है वैसे ही अग्नि की अवस्थान्तर का नाम ही देवता है। पृथिवी का अग्नि उत्तरोत्तर विशकलित होता हुआ ही ऊपर की ओर जाता है। ऊपर जाते हुए विशकलित होते हुए अग्नि की नाना अवस्था ही देवता कहलाने लगती है। पृथिवी के ९ तक जाने वाले अग्नि के विकास की जो अवस्था है उसे वसु कहते हैं। उस ९ तक रहने वाले अग्नि में आठ अवस्थायें हो जाती हैं। बस ये ही ८ वसु कहलाते हैं। तदनन्तर १५ तक जाने वाले अग्नि की जिसे कि वायु कहते हैं—११ अवस्थायें हो जाती हैं। उन्हीं को ११ रुद्र कहते हैं। उससे भी ऊपर जब अग्नि प्राणस्वरूप में परिणत हो जाता है तो आदित्य कहलाते हैं। एवं एक स्वयं प्रजापति रहता है और दूसरा इन्द्र रहता है। इस प्रकार कुल मिलाकर ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि ३३ अवस्थाओं में परिणत हो कर ३३ देवता कहलाने लगता है। इन ३३ ही को सूक्ष्मावस्थाभेद से हम ३३ करोड़ भी कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

अथ हैनं (याज्ञवल्क्यं) विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति । स हैतयैव निविदा प्रतिवेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च त्रयश्च त्रीणि सहस्रेत्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति, षडित्योमिति होवाच । कत्येव याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच ।

कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच । कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति अध्यर्ध इत्योमिति होवाच । कत्येदेवा याज्ञवल्येति एक इत्येवमिति होवाच ।

हमें केवल यही बतलाना है कि अग्नि की अवस्थान्तर का नाम ही ३३ देवता हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि सारे देवता आग्नेय ही हैं । अतः सारे देवताओं के लिए हम अग्नि में ही आहुति दे सकते हैं । अग्नि में देने से सारे देवताओं को मिल जाता है। इसी अभिप्राय से 'अग्निर्वै देवतानां मुखम्' यह कहा गया है । अपि च, अग्नि पृथिवी के केन्द्र में रहता है । यही २१ तक जाता है, एवं इसी २१ तक जाने वाले अग्नि के ३३ देवता होते हैं । सबसे अन्तिम देवता विष्णु है एवं आदि में अग्नि है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ।' इति

यही विष्णु १२ वां आदित्य कहलाता है । चूंकि देवताओं में सर्वप्रथम देवता अग्नि है अतः इसे देवताओं का मुख कहा गया है । इस प्रकार से अवस्थापेक्षया एवं प्राथम्यात्, उभयथा अग्नि देवताओं के मुख हैं । इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अग्निर्वै देवतानां मुखम्' इति ।

स्त्री के रुधिर में अग्नि रहता है । इसमें जब सोम की आहुति होती है तो उससे लड़का उत्पन्न होता है । इसमें रेत का अभिषव होता है अतएव इस रेत को सोम कहते हैं । 'सूयते इति सोमः' । जो अग्नि में डाला जाता है वह सोम कहलाता है । माता के रुधिराग्नि में वीर्य का सेचन होने से लड़का उत्पन्न होता है । वह गर्भाग्नि ९ मास तक उसे पेट में रख कर १० वें महीने उसका प्रजनन करती है । एवमेव ऋतु अग्नि में जब उर्वन्तरिक्ष में व्यापक सोम आहुत हो जाता है तभी यच्च यावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है । ऋतु में ही वस्तु की उत्पत्ति होती है. इसीलिए इस अग्नि को 'प्रजनयिता' भी बतलाया गया है । 'प्रजनयिता ।'

अपि च, चूंकि यच्च यावत् पदार्थों का उत्पादक यही अग्नि (सप्तपुरुष) है, अतएव इसे प्रजापति कहा गया है—'सः प्रजापतिः' ।

इस प्रकार यह अग्नि देवताओं का मुख है इसीके द्वारा देवताओं को आहुति मिलती है एवं यह प्रजनयिता हैं और यही प्रजापति हैं। हमें देवताओं के यजन द्वारा प्रजा का प्रजनन करना है, अतः सर्वप्रथम हमें अग्नि का यजन करना चाहिए। अग्नि स्वरूप से आठ भागों (वसुओं) में विभक्त रहता है। अतएव इसके लिए आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अग्निर्वै देवतानां मुखम्, प्रजनयिता सः प्रजापतिः। तस्मादाग्नेयो भवति' इति।८॥

इसके बाद सोमदेवताक सौम्य चरु होता है अर्थात् आग्नेय अष्टाकपाल के अनन्तर सौम्य चरु की आहुति दी जाती है। आग्नेय पुरोडाश के अनन्तर सौम्य चरु की आहुति क्यों देनी चाहिए ? इसका कारण बतलाते हैं कि यह सोम रेतःस्वरूप है, अर्थात् वीर्य है। अतः इस सोमदेवताक चरु की आहुति देना प्रजनयिता अग्नि में रेतःसेचन करना है। सोम अग्नि में सुत होता है अतएव 'सूयते' इस व्युत्पत्ति से यह सोम कहलाता है। हम जो कुछ अग्नि में डालते हैं वही सोम कहलाता है। अग्नि की सत्ता इसी सोमाहुति से होती है। अग्नि सदा 'खाऊं खाऊं' किया करता है। यदि उसमें आहुति नहीं दी जाती है तो वह शरीर के अस्थिचर्मादि को खाने लगता है, अतः इसमें आहुति देना आवश्यक हो जाता है। अग्नि से ही सृष्टि उत्पन्न होती है परन्तु सोम की आहुति पड़ने पर ही। सोमाहुति के बिना ऋताग्नि ऋतु नहीं बन सकता एवं बिना ऋतु के कोई वस्तु पैदा नहीं हो सकती है। वीर्य स्त्रीयोनि में जो कि रक्तत्वात् अग्निमयी है, सिक्त होकर लड़का बन जाता है। अतएव पुत्र को 'सुत' कहते हैं। सोम से ही लड़का उत्पन्न होता है, अतएव प्राचीन समय में वैदिक महर्षि बच्चे को 'सौम्य' ही कहा करते थे। जैसा कि श्रुति कहती है—

'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, 'तेजोमयी वाक्।' इति।

इस सोमतत्व और अग्नितत्व के मेल से ही देवतासृष्टि होती है। सर्दी और गर्मी एवं यच्च-यावत् पदार्थों की उत्पत्ति इन्हीं के मेल से होती है। हमें प्रजा का प्रजनन करना है। प्रजनन अग्नि और सोम के मिथुन के बिना नहीं हो सकता है। इस प्रकार उस प्राकृतिक प्रजनन-क्रियावत् यहाँ भी यजमान प्रथम आग्नेय पुरोडाश से प्रजनयिता अग्नि को उपस्थित कर उसमें रेतःस्वरूप सौम्य चरु की आहुति देकर प्रजा-प्रजनन का स्वरूप बनाता है। यही प्रथम मिथुन प्रजनन है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'रेतो वै सोमः। तदग्नौ प्रजनयितरि सोमरेतः सिञ्चति। तत्पुरस्तात् मिथुनं प्रजननम्' ॥९॥

इसके अनन्तर सावित्र द्वादशकपाल किं वा अष्टाकपाल पुरोडाश होता है अर्थात्

सोम्य चरु के अनन्तर सवितृदेवताक द्वादशकपाल किं वा अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। यह आहुति क्यों दी जाती है, इसका कारण बतलाते हैं—

देवता सब प्राणस्वरूप हैं। किसी प्राण में कोई शक्ति रहती है एवं किसी प्राण में कोई अन्य शक्ति। एक प्राण ऐसा है जिसका काम प्रसव करना होता है। हम यज्ञ द्वारा जिस किसी प्राणदेवता को प्रसन्न करते हैं। एवं वह प्रसन्न होकर हमें फल देना चाहता है परन्तु हमें वह फल तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि उस प्रसवकर्ता प्राण का व्यापार न हो। फल का आत्मा से सम्बन्ध कराने वाला प्राण ही 'सविता' कहलाता है। दूसरा काम इसी सविता देवता का है अनुज्ञा देना। देवताओं ने अभिलषित फल दे दिया, परन्तु वह हमें तब तक नहीं मिल सकता, जब तक कि सविता प्राण अनुज्ञा न दे। फलाभिसम्बन्धकर्ता यही सविता प्राण है। उसके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। ये सविता कुल तीन हैं। स्वयम्भू के सविता प्राण सविता कहलाते हैं जो कि महासविता नाम से प्रसिद्ध है। संसार को प्राणशक्ति प्रदान करने वाले ये ही महासविता हैं। इनका प्रकृत से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरे परमेष्ठी के सविता हैं एवं तीसरे रोदसी के सविता हैं जो कि सूर्य में रहते हैं। रोदसी, क्रन्दसी व संयती ये तीन त्रिलोकी मानी जाती हैं। इनमें रोदसी के प्रसविता सूर्य सविता है। क्रन्दसी के प्रसविता परमेष्ठी सविता एवं संयती त्रिलोकी के प्रसविता प्राणप्रदाता महासविता है। हमने अग्नि को सत्य एवं सोम को 'ऋत' बतलाया था। सोम परमेष्ठिमण्डल की वस्तु है एवं अग्नि सूर्य की। तात्पर्य यह है कि ऋत पदार्थों के प्रसविता परमेष्ठी सविता है एवं सत्य पदार्थों के प्रसविता सूर्य सविता है। हमने अग्नि और सोम के लिए पुरोडाश व चरु दिया है एवं इसके द्वारा अग्नि व सोम का मिथुन कराया है। यह मिथुन तब तक कृतकृत्य नहीं हो सकता जब तक कि सविता देवता इसकी अनुमति न दें। सविता प्राण के प्रवेश के बिना जब कोई भी काम नहीं हो सकता तो फिर मिथुन कैसे हो सकता है? यह सविता ही मध्य में बैठकर प्रजनन करता है। अग्नीषोमात्मक मिथुन एवं सारस्वत-पौष्ण मिथुन—इन दोनों मिथुनों के बीच में बैठकर सविता देवता प्रजनन करते हैं। इस प्रजनन-सम्पत्ति के लिए ही आग्नेय पुरोडाश, सौम्य चरु एवं सारस्वतपौष्ण चरु इनके बीच में सावित्र द्वादशकपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है। क्योंकि आदित्य १२ ही हैं, परन्तु आदित्य भी तो अग्नि की विरलावस्था का नाम ही हैं, एवं अग्नि अष्टावयव है। अग्नित्वेन पुरोडाश किया जाता है तो अष्टाकपाल किया जाता है।

प्रकृत में यही बतलाना है कि सविता ही देवताओं के प्रसविता हैं। बिना उनके फलाभिसम्बन्धी कर्म किंवा यज्ञादि कर्म नहीं हो सकते। इसीलिए सावित्र पुरोडाश किया जाता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ सावित्रो द्वादशकपालो वा अष्टाकपालो वा पुराडाशो भवति । सविता वै देवानां प्रसविता, प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता, तस्मात् सावित्रो भवति' ॥१०॥

अब दूसरा मिथुन बतलाते हैं—

सावित्र पुरोडाश के अनन्तर सारस्वत चरु होता है एवं पौष्ण चरु होता है अर्थात् सरस्वतीदेवताक सारस्वत चरु की एवं पूषदेवताक पौष्ण चरु की आहुति दी जाती है। सृष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं—दैवत सृष्टि व भौतिक सृष्टि। दैवत सृष्टि अग्नि व सोम से तथा भौतिक सृष्टि वाक् व पशु से होती है। वाक् को ही प्रकृत में सरस्वती एवं पशु को ही पूषा कहा गया है। 'पशवो वै पूषा' इति। वाक् किसे कहते हैं? वाक् व पशु के मेल से कैसे भौतिक सृष्टि होती है? इसका विशद विवेचन गौरवभिया प्रकृत में नहीं किया जा सकता। वाक् के विषय में केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि यह वाक् आसमन्तात् व्याप्त रहती है। दूसरे शब्दों में इसे ही इन्द्र कहते हैं। स्वयम्भू परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र एवं पृथिवी ये पाँच लोक माने जाते हैं। इनमें प्रत्येक में वाक् रहती है। स्वम्यम्भूमण्डल को वाक् को सुब्रह्मण्या, परमेष्ठिमण्डल की वाक् को आम्भृणी सूर्य वाक् को बृहती, चन्द्र की वाक् को गौरिवीता एवं पृथिवी की वाक् को अनुष्टुप् कहते हैं। परमेष्ठिमण्डल में रहने वाले बृहस्पति की वाक् को वेकुरा वाक् कहते हैं। यहाँ बृहस्पति वाक् का ग्रहण समझना चाहिए। सूर्य के एक अन्यतम प्राण का नाम ही इन्द्र है। इस इन्द्र प्राण से यह बृहती वाक् किंवा स्वरवाक् युक्त रहती है। अतएव इसे इन्द्रपत्नी कहा जाता है। इसी वाक् को जिसके बिना एक बिन्दु भी खाली नहीं है, आधुनिक वैज्ञानिक 'ईथर' कहते हैं। जैसे सुन्दर का भाषा में 'सुत्थर' बन जाता है वैसे ही इन्द्र का 'इन्दर' व 'इन्दर' का इत्थर व इत्थर का 'ईथर' बना हुआ प्रतीत होता है। हमारा यह ईथर अर्थात् इन्द्रसंयुक्त वाक् सर्वत्र व्याप्त है। इसी अभिप्राय से 'नेन्द्राद् ऋतेपवते धाम किञ्चन' कहा जाता है।

इसी बृहती वाक् से सारे वेद उत्पन्न होते हैं। यही अमृत स्रोत का केन्द्र है। मनुष्य पशु, देवता एवं सारा विश्व इसीके अन्तर्गत है। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं कि—

'वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा तो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥'

इसी वाक् पर जब पशु की आहुति होती है तो भौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। सूर्य

की वाक् से ही वेदत्रयी उत्पन्न होती है। इसीलिए सूर्य के लिए 'सैषा त्रयी विद्या तपति' यह कहा जाता है। यह वाक् यद्यपि सूर्य की है, तथापि इसका आगमन परमेष्ठी से ही होता है। हमने स्वयम्भू आदि पाँच पिण्ड बतलाये थे। इन पाँचों में तीन अन्तरिक्ष होते हैं? अन्तरिक्ष को ही वेद में समुद्र कहा जाता है। रोदसी, क्रन्दसी एवं संयती इन तीन त्रिलोकियों में से—रोदसी त्रिलोकी के अन्तरिक्ष को 'अर्णव', क्रन्दसी के अन्तरिक्ष अर्थात् पारमेष्ठ्य समुद्र को 'सरस्वान्' एवं स्वायम्भुव समुद्र को 'नभस्वान्' कहते हैं। चूंकि यह वाक् उस सरस्वान् समुद्र से सूर्य में आकर बृहती कहलाने लगती है अतएव प्रकृत में इस वाक् को 'सरस्वती' कहा गया है। पशुओं को ही वेद में 'उच्छिष्ट' कहा जाता है एवं पशु द्वारा ही समस्त भौतिक सृष्टि का निर्माण होने से—'उच्छिष्टात् सकलं जगत्' यह कहा जाता है। सूर्य, पृथिवी इत्यादि सब अपना-अपना यज्ञ कर रहे हैं, जैसा कि—'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' इस प्रकरण में कहा गया है। इस यज्ञ में से यज्ञानन्तर कुछ शेष बच जाता है जो 'प्रवर्ग्य' कहलाता है। सूर्य की गर्मी सूर्य से पृथक् होकर पार्थिव पदार्थों में प्रविष्ट हो जाती है। उसी प्रवर्ग्य भाग से अन्नादि का परिपाक होता है। अन्न के खाने से ऊक् रस बनता है एवं ऊक् से प्राण। प्राण व्यय होता रहता है एवं वही प्राण ऊक् रूप से बाहर जाकर फिर अन्न को लाया करता है। इस प्रकार अन्नोर्क् प्राणों के अनुग्रह से हमारा शरीरयज्ञ चलता रहता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'अन्नोर्क् प्राणानामन्योन्यपरिग्रहो यज्ञः' इति।

इस यज्ञ के अन्त में जो शेष बच जाता है वह मल-मूत्र कहलाता है। जिस प्रकार हमारे यज्ञ में से कुछ शेष बच जाता है उसी प्रकार सूर्यादि के यज्ञ में से भी कुछ शेष बच जाता है जिसे पशु कहते हैं। इस पशु की जब वाक् में आहुति होती है तो प्रथम वायु उत्पन्न होता है, तदनन्तर उस वायु में पुनः पशु की आहुति से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से मिट्टी उत्पन्न होती है। इसी वाक् को आकाश शब्द से भी कहा करते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः। आकाक्षात् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी।'—इत्यादि।

हमें यही बतलाना है कि अग्नीषोमात्मक यज्ञ से दैवतसृष्टि एवं वाक्पशव्य यज्ञ से भौतिकसृष्टि होती है। दैवतसृष्टि—पराक्सृष्टि, एवं भौतिकसृष्टि-अर्वाक्सृष्टि कहलाती है। दोनों मिथुनों के बीच में भगवान् सविता प्रजापति बैठे हुए सृष्टि-निर्माण कराते रहते हैं। अग्निषोमीय के अधिष्ठाता सूर्य व वाक्पशव्य की अधिष्ठात्री पृथिवी है। इसी द्यावा-पृथिवी को विश्व कहते हैं। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक वैश्वदेव यज्ञ में—अग्नीषोमीय एवं

वाक्पशव्ययज्ञ मध्यस्थ सविता द्वारा हुआ करता है। इसी वैश्वदेव यज्ञ से अखिल विश्व की उत्पत्ति होती है। हमारे यज्ञ प्राकृतिक यज्ञानुसार वितत होते हैं, अतः तदनुसार ही हमें अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती एवं पशु इन पांचों का यजन करना चाहिए क्योंकि प्राकृतिक यज्ञ में इन्हीं पांचों से वैश्वदेवयज्ञ होता है। मिथुन में एक स्त्रीप्राण व दूसरा पुरुष-प्राण होता है। इसी को वेद में योषा एवं वृषा कहते हैं। योषा मेंजब वृषा की आहुति होती है, तब प्रजनन होता है। अतः अग्नि व सोम में जैसे वृषा सोम था एवं योषा अग्नि थी, वैसे इस सारस्वत पौष्ण चरु में पूषा (पशु) तो वृषा है एवं सरस्वती योषा है। इसी वाक् सरस्वती में जब वृषा पशु (पूषा) की आहुति होती है, तब भौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। यही अग्नीषोम के बाद में होने वाला दूसरा मिथुन प्रजनन है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'अथ सारस्वतश्चरुर्भवति, पौष्णश्चरुः। योषा वै सरस्वती। वृषा पूषा। तत्पुनर्मिथुनं प्रजननम्'। इति।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जिस प्रकार प्रकृति के मध्य में स्थित भगवान् सविता प्रजापति अग्नीषोमीय एवं वाक्पशव्य यज्ञस्वरूप वैश्वदेवेष्टि से दैवतसृष्टि एवं भौतिकसृष्टि अर्थात् ऊर्ध्वा सृष्टि एवं अर्वाची सृष्टि का निर्माण करते हैं, तथैव उसी की प्रतिकृति पर वश्वदेवयज्ञ करता हुआ यह प्रजापति यजमान अग्नीषोमीय एवं वाक्पशव्य इन दोनों मिथुनों से ऊर्ध्वा और अर्वाची प्रजा उत्पन्न करता है। अर्थात् वैश्वदेव-यज्ञकर्त्ता की दैव-सम्पत्ति और प्रजासम्पत्ति दोनों बढ़ती हैं। प्राकृतिक यज्ञ में पाँच आहुतियाँ दी जाने के कारण यहाँ भी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं।

१०वीं कण्डिका में कहा गया है कि—'प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता'—इसका तात्पर्य यह भी समझना चाहिए कि—

विष्णु का स्थान पृथिवी से तीन अंगुल नीचे माना जाता है। 'पालयिता' प्राण को ही विष्णु कहते हैं। जो प्राण अन्नाहरण करके वस्तु का पोषण करता है, वह प्राण वैदिक परिभाषा में विष्णु कहलाता है। यह विष्णु ही अन्नाहरण कर पदार्थयज्ञ की स्थिति रखता है। अतएव वेद में विष्णु को—'विष्णुर्वै यज्ञः' इस रूप से यज्ञ कहा जाता है। यह विष्णु पृथिवी के तीन अङ्गुल नीचे रहता है। तीन अङ्गुल की मिट्टी दूषित रहती है, अतएव यज्ञिय प्राण उसमें नहीं रहते। अतएव वेदि के विषय में श्रुति कहती है—

ते ह देवा ऊचुः क्व नु विष्णुरभूत् क्व नु यज्ञोऽभूदिति। ते होचुः-
छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तात्। नापक्रमणमस्ति। अत्रैवान्विच्छतेति।
त खनन्त इवान्वीषुः। तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दन्। तस्मात् त्र्यङ्गुला वेदिः। इति।

चूंकि विष्णु तीन अङ्गुल नीचे रहते हैं एवं वे हो पृथिवी के पालक व पोषक हैं, इसीलिए तब तक वृक्ष अंकुरित नहीं हो सकता जब तक कि तीन अङ्गुल नीचे उसे नीचे न गाड़ा जाय। विष्णु ही १२ वाँ सविता है। जिसमें सविता की मात्रा अधिक रहती है वह बिना पृथिवीसम्बन्ध के भी उग आता है। चने इत्यादि को गीले वस्त्र में बांधने से भी उसमें अंकुर हो जाते हैं।

हमें यही बतलाना है कि विष्णु तीन अंगुल पृथिवी में रहते हैं। वहाँ से विष्णु ऊर्ध्वा और अर्वाची सृष्टि करते रहते हैं। जितनी दूर वृक्ष जमीन से ऊपर जाता है उतनी ही दूर नीचे जाता है। चूंकि पृथिवी में मिट्टी का दबाव ज्यादा रहता है, इसलिए वहां पत्ते नहीं हो पाते। परन्तु सृष्टि ऊर्ध्वा और अर्वाची दोनों में बराबर है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है— 'प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनमिता।' इति।

इसी प्रकार यही विष्णु नाभि में प्रविष्ट होकर नाभि से ऊपर की सृष्टि का एवं नीचे की सृष्टि का निर्माण करता है। यह विष्णुप्राण प्रादेशमित (१०।। अङ्गुल) रहता है। यह प्राण अपनी ज्योति से सर्वाङ्ग-शरीर में व्याप्त होकर नाभि में स्थित रहता है। इसीलिए श्रुति कहती है — 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।'

चूंकि यह विष्णु नाभि में बैठा हुआ। 'शतं चैका हृदयस्य नाड्यः'। इत्यादि

श्रुतिबोधित हृदय से ऊपर की नाडियों का एवं धातुजात का एवं नाभि से नीचे का निर्माण करता रहता है। इसलिए भी—'प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनियता' कहा जाता है। अपि च प्रजापति तीन प्रकार के होते हैं—१. अनिरुक्त प्रजापति, २. उद्‌गीथ प्रजापति एवं ३. सर्व प्रजापति। जो पृथिवीकेन्द्र में रहने वाला प्रजापति है वह अनिरुक्त प्रजापति, मध्य के सप्तदश स्थान में रहने वाला प्रजापति उद्‌गीथ प्रजापति एवं वषट्‌कार प्रजापति सर्व प्रजापति कहलाता है। इन तीनों में से १७वें स्थान वाले अग्नि में स्थित उद्‌गीथ प्रजापति सोमाहुति से १७ से ऊपर की अमृत सृष्टि एवं १७ से नीचे की मर्त्य सृष्टि का निर्माण किया करते हैं। इसलिए भी 'प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनियता' कहा जाता है।

प्रकृत में यह बतलाना है कि प्राकृतिक वैश्वदेवयज्ञवत् यह यजमान इस अपने वैश्वदेव यज्ञ में पांच हवियों का निर्वाप करता है एवं तद्द्वारा दिव्य-भूत-सम्पत्ति प्राप्त करता है। वे पांच आहुतियाँ इस प्रकार हैं—

१. आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश २. सौम्य चरु	} अग्नीषोमीय मिथुन

३. सावित्र द्वादशकपाल पुरोडाश	प्रजापतिर्मध्यतः प्रजनयिता
४. सावित्र चरु ५, पौष्ण चरु	वाक्पशव्य मिथुन

इस प्रकार से पाँच हवियां होती हैं। जैसा कि—'पंच हवींषि भवन्ति' में कहा गया है ॥११॥

इस प्रकार पांच हवियों का निर्वाप करने के बाद पयस्या का ही अवसर है अर्थात् पौष्ण सारस्वत चरु के अनन्तर पयस्या की ही आहुति देनी चाहिए। पाँचों आहुतियों से प्रजापतिवत् उत्पन्न जो दिव्यात्मा है, उसके लिए पयस्या देना उसे दूध देना है। प्राकृत यज्ञ में प्रजापति पुत्र के उत्पन्न होते ही अपने स्तन में से जैसे दूध पिलाता है तथैव इस वैश्वदेवेष्टि द्वारा आज यह यजमान प्रजापति वैश्वदेवयज्ञ से उत्पन्न दिव्यात्मा को दूध देता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं— 'अथातो पयस्याया एवायतनम्'

इस प्रकार पाँच आहुतियों के अनन्तर यद्यपि अवसर पयस्या का ही है—अर्थात् छठा न्यायप्राप्त पयस्या याग ही है तथापि पयस्या के पूर्व किसी कारणविशेष से मारुत सप्तकपाल पुरोडाश करना चाहिए। तदनन्तर पयस्येष्टि करनी चाहिए। 'मारुतस्तु' यहाँ का 'तु' शब्द न्यायप्राप्त पयस्या के छठे स्थान की व्यावृत्ति करता है। तु शब्द का तात्पर्य यही है कि पयस्या के पूर्व मारुत सप्तकपाल पुरोडाश ही करना चाहिए—'मारुत स्तु सप्तकपालः।' इति।

पयस्या के पूर्व मारुत सप्तकपाल पुरोडाश करने की उपपत्ति बतलाते हैं—

वीर्य—ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र भेद से चार प्रकार के होते हैं—प्रकृतिमण्डल में प्राण इन्हीं चार वीर्यों में विभक्त है—

अग्नि, सोम, सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति एवं सरस्वती ये ब्रह्मवीर्ययुक्त देवता हैं। ब्रह्मवीर्य इन सातों से मिलता है। ब्रह्मवीर्यप्रदाता इन सातों देवताओं से जिसका आत्मा संस्कृत होता है वही ब्राह्मण कहलाता है।

इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान ये आठ देवता क्षत्रवीर्यप्रदाता हैं। विट्वीर्ययुक्त प्राणों पर इन्हीं आठों क्षत्रवीर्ययुक्त प्राणों का शासन रहता है। क्षत्रवीर्य-प्रदाता इन आठों देवताओं से जिनका आत्मा बनता है वे मनुष्यों में क्षत्रिय कहलाते हैं।

वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इतने प्राणदेवता विट्वीर्ययुक्त हैं। ये प्राण पूर्वोक्त आठों प्राणों की रक्षा में अपना व्यापार करते हैं।

बाकी साध्य श्रौर श्राप्त्य एवं ऋभु प्राण श्रौर होते हैं—वे भी इन्हीं देवताश्रों में शामिल हैं। इनसे जिनका श्रात्मा बनता है, वह वैश्य कहलाता है।

पूर्वोक्त मरुदादि क्षत्रियों की प्रजा है। वास्तव में यदि संसार का स्वरूप पूछा जाय तो प्रजा ही बतलाना पड़ेगा। प्रजा को ही वैश्य कहते हैं। प्रजा कृषि द्वारा सबका भरण-पोषण करती है। क्षत्रिय श्रौर ब्राह्मण तो केवल इस प्रजा के रक्षक हैं, प्रजा नहीं। ब्राह्मण श्रौर क्षत्रियों से प्रजा (वैश्य वर्ग) सुरक्षित रहती है। उनके व्यापार में शत्रु श्राक्रमण नहीं कर सकते, श्रतएव वैश्य को 'गुप्त' कहा जाता है। परन्तु ब्राह्मण उपदेश द्वारा, ब्रह्मवीर्य द्वारा क्षत्रिय एवं वैश्य दोनों पर श्रपना प्रभाव रखता है। इसीलिए तो राज्याभिषेक करते हुए ब्राह्मण श्रङ्गुलिनिर्देश से वैश्य वर्ग को उस राजा की प्रजा बतलाते हुए श्रपने श्रापके लिए कहते हैं—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (न त्वं इति भावः)।। ब्राह्मण से ही तो क्षत्रिय वर्ग की उत्पत्ति है। उसी ब्राह्मण से ही तो सब कुछ पैदा होता है। भगवान् प्रजापति ने ब्राह्मणों को यज्ञविद्या का श्रधिष्ठाता बना कर, इस भूलोक में उत्पन्न किया। यज्ञविद्या करना, तद्द्वारा श्रन्नादि से प्रजा को सुरक्षित रखना यही ब्राह्मणों का कर्तव्य था। वे यज्ञ के श्रतिरिक्त श्रौर कुछ नहीं करते थे। परन्तु यज्ञ से ही वे जो कुछ चाहते थे कर लिया करते थे। जैसा कि श्रुति कहती है—

'यज्ञेन ह स्म ते ह वा कल्पयन्ते यदेषां कल्पमासर्षयश्च' (शत. १०३ पृ.)

इसी श्रभिप्रय से भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
श्रनेन प्रसविष्यध्वमेष वो ऽस्त्विष्टकामधुक्॥ इति गीता॥

परन्तु श्रच्छे काम में सदा विघ्न श्राया करते हैं। श्रतः इसी प्राकृतिक नियमानुसार इस यज्ञों पर भी श्रसुरों का श्राक्रमण होने लगा। ब्राह्मण बिचारे क्या क्या करते यज्ञ करते श्रथवा श्रसुरों के श्राक्रमण को रोकते। श्रत. इस श्रापत्ति से बचने के लिए प्रकृतिस्थ वरुणादि प्राणदेवताश्रों द्वारा वैध उपायों से संयम कर तद्द्वारा क्षत्रिय जाति का निर्माण किया श्रर्थात् श्रपने में से ही एक दल के श्रातमाश्रों को क्षत्र प्राण से युक्त कर उन्हें क्षत्रिय बना डाला। परन्तु क्षत्रिय भी रक्षा करते या श्रपने श्रपने पेट की चिन्ता करते। इसी त्रुटि की पूर्ति करने के लिए ब्राह्मणों ने एक दल को वैश्य बना डाला। मरुदादि देवप्राणों से उस दल के श्रातमा का संस्कार कर डाला। परन्तु वैश्य भी कृषि करते, व्यापार करने हेतु देशान्तरों में जाते या कृषि इत्यादि की रखवाली करते। इसी त्रुटि की पूर्ति करने के लिए ब्राह्मणों ने पूषा देवता से एक दल के श्रात्मा का

संस्कार कर उसे 'शूद्र' बना डाला। सेवावृत्ति इसी जाति का काम रहा। ब्राह्मणों में, जो कि प्रकृति के पुजारी थे, तत्-तद्-विभिन्न प्राणों से आत्मसंस्कार कर ऐसी जातियों का निर्माण किया कि लाख प्रयत्न करने पर भी उनकी आत्मस्वरूप से च्युति न हो सके। जिसका आत्मा क्षत्रिय प्राणदेवताओं से बनाया गया था, आज वही क्षत्रिय-वंश प्रवाहरूप से चला आता है। क्षत्रिय का पुत्र आज भी क्षत्रिय कहलाता है। कर्म चाहे वह वैश्यपने का करने लग जाय, परन्तु वह आत्मा का दृढ़तर संस्कार कम से कम इस जन्म में तो बदल ही नहीं सकता।

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि प्राकृतिक नित्य वर्ण-व्यवस्थानुसार भारतीय यज्ञ-विशारद ब्राह्मणवर्ग ने संसार-कल्याणार्थं जात्यातत्-तत्प्राणप्रधानतया वर्ण-व्यवस्था स्थापित की। परन्तु केवल वर्ण-व्यवस्था स्थापित करके ही उन्होंने विश्राम नहीं लिया। उन्हें विश्वास था कि बिना किसी नियम के हम सबका एक सूत्र में चलना कठिन है। हो सकता है कि हम अपने अधिकार का दुरुपयोग कर बैठें। हो सकता है कि क्षत्रिय वर्ग व्यर्थ ही रक्तपात करने लगे एवं प्रजा को कष्ट देने लगे। हो सकता है कि वैश्य व्यापार छोड़कर अपने कर्तव्य से विमुख हो जायँ। हो सकता है कि शूद्र उपदेश के आसन पर आरूढ होने की इच्छा से सेवा-धर्म को छोड़ बैठें। यदि हम चारों में से एक भी अपने कर्तव्य को छोड़ बैठेगा तो अशान्ति हो जायगी। अतः इस अशान्ति के समूल विनाशार्थ सब का कल्याण करने वाले किसी ऐसे नियम का सूत्रपात करना चाहिए जिससे बद्ध होकर चारों वर्ण अपने अपने कर्तव्यों से विमुख न होते हुए, उत्तरोत्तर क्रमिक उन्नति करते हुए लोक-व्यवस्था को संचालन करते रहें। इसलिए उन ब्रह्मर्षियों ने प्राकृतिक विज्ञानानुसार धर्म का निर्माण किया। यह धर्म चारों पर शासन करने वाला हुआ। धर्म में वह शक्ति थी कि उसके द्वारा एक शूद्र ब्राह्मण को बुरे कार्य से रोक सकता था। यही वर्ण-व्यवस्था का रहस्य है। जिसके टूट जाने से, सुधारकों के प्रबल आक्रमण से विच्छिन्न हो जाने से आज भारत, अखिल भुवन का सम्राट्, जगत् का गुलाम बन रहा है। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षित नवयुवक अपनी सम्पत्ति को छोड़ने से ऐसी गलत भ्रान्तियों में पड़ गये कि आज उन्हें समझाना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव हो गया है। उन्होंने भगवान् के—

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥'

इस उपदेश को तिरस्कृत कर जाति-पांति-विनाशक मण्डल स्थापित करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने सर्वसाधारण को अशान्त सागर में डुबो दिया। इसका दोष हम किसे दें, यदि यह प्रश्न किया जाय तो हमारे विचार से इसमें एकमात्र दोषी ब्राह्मणों की अव-

हेलना, अशास्त्रीय समाज का सर्वनाश करने वाली रूढियाँ ही हैं। जब तक अशास्त्रीय रूढियों को छिन्न-भिन्न नहीं कर दिया जायगा, तब तक न सुधारकों को शान्ति मिल सकती है एवं न वे स्वयं सन्तुष्ट हो सकते हैं। अस्तु, इस विषय को हम यहीं समाप्त कर पूर्वोक्त वर्ण-व्यवस्था में श्रुति-प्रमाण देकर प्रकृत का अनुसरण करते हैं। बिना प्रमाण दिये बात करना राजद्रोह करना है। अतएव यह प्रमाण हम आपकी सेवा में उपस्थित करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के कर्ता भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'ब्रह्म वा इदमग्र आसीद् एकमेव। तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रम्। यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात् परं नास्ति। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्र एव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद् राजा परमतां गच्छति। ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनं हिनस्ति स्वां स योनिमृच्छति। स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसं हिंसित्वा।' इति ॥१॥

'स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुतः।' इति ॥२॥

'स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। इयं पूषा। इयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च' ॥३॥

'स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्। तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्मात् धर्मात् परं नास्ति। अथो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण। यथा राज्ञा एवम्। यो वै स धर्मः सत्यं हि वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः—धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। एतद्धि एवैतदुभयं भवति।' शत. १४ का ७०२ पृष्ठ २३,२४,२५,२६ कण्डिका।

पूर्व श्रुति से सिद्ध हो जाता है कि प्राणदेवताओं की मरुत् प्रजा है। मरुत् प्राणदेव चातुर्वर्ण्य में वैश्य हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'विशो वै मरुतः'। आधिभौतिक मनुष्य-चातुर्वर्ण्य में कोई मरुतों को न समझ लें। इसलिए कहते हैं—'देवविशः'। मरुत् प्राण-देवताओं की प्रजा है। ये मरुत् बिना किसी बाधा के इधर-उधर विचरने लगे। बात सत्य है—'मरुत् की तो सर्वत्र गति है। वायु का अवरोध कौन कर सकता है।

'ता हेदमनिषेध्या इव चेरुः' ॥ इति ॥

जिस प्रजापति यजमान ने वैश्वदेवेष्टि की थी, उसके पास आकर मरुत् बोले—हे प्रजापते! इस वैश्वदेव यज्ञ से तुम जिन प्रजाओं को उत्पन्न करोगे, हम उनका नाश कर डालेंगे।

'विवैते मथिष्यामहे (विमथिष्यामहे) इमाः प्रजा या एतेन हविषा स्रक्ष्यसे' ॥इति॥

मरुतों ने जब प्रजापति को यह कहा तो वे बहुत भयभीत हुए। उन्होंने विचार किया

किया कि मेरी जो पूर्वा प्रजा थी (पक्षी, सरीसृप, सर्प) वह तो पराभूत हो ही गयी थी अर्थात् वह तो मुझे छोड़ ही गयी थी, अब यदि मनुष्यप्रजा का भी ये मरुत् मन्थन कर डालेंगे, तो मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रहेगा। मैं पुन: सर्वथा एकाकी हो जाऊँगा। इसी विभीषिका को—इस आपत्ति को दूर करने के लिए मरुतों के लिए इस भाग को स्थापित किया, जो कि मारुत सप्तकपाल पुरोडाश नाम से प्रसिद्ध है। मारुत सप्तकपाल पुरोडाश के किए जाने का कारण बतलाते हैं—

'तद्यत्सप्तकपालो भवति'। (तदुच्यते इति शेष:)।

मरुद्गण कुल सात हैं। उन सातों के नाम ये हैं—

१. तुविष्मान् २. शुभ्र: ३. शुष्म:, ४. क्रुध्मी, ५. धुनि:, ६. असुर:, ७. विधर्ता।

इन सात मरुद्गणों में भी प्रत्येक मरुद्गण सात-सात हैं। इस प्रकार मरुद्गणों के सात सप्तक हो जाते हैं। चूंकि हम मरुतों का यजन कर रहे हैं एवं मरुतों के सात सप्तक हैं। अतएव मरुद्देवताक सप्तकपाल पुरोडाश किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'सप्त सप्त हि मारुतो गण:। तस्मान्मारुत: सप्तकपाल: पुरोडाशो भवति' ॥१३॥

उस पुरोडाश की आहुति 'स्वतवोभ्य: स्वाहा'—इस मंत्र से देनी चाहिए। चूंकि इन्होंने अपने आप ही अपने भाग को प्राप्त किया है। प्रजापति ने अपनी इच्छा से नहीं दिया है। अत: 'स्वयमेव एतं भागमकुर्वन्'—इस व्युत्पत्ति से इन्हें 'स्वतवस्' कहा जाता है। अत: स्वतवोभ्य:' इत्यादि मंत्र से आहुति देनी चाहिए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि—'यदि स्वतवा मरुत् के लिए याज्या और अनुवाक्या होती तो अवश्य ही 'स्वतवोभ्य:' इसी से आहुति दी जाती। परन्तु स्वतवा के लिए याज्ञिक लोग याज्या और अनुवाक्या मन्त्र ही नहीं देखते हैं। ऋग्वेद भर में स्वतवा मरुत् के लिए याज्या और अनुवाक्या मन्त्र नहीं हैं। जिस मन्त्र में जिसका नाम रहता है, उस देवता का वह याज्या, अनुवाक्या मन्त्र कहलाता है। स्वतवा शब्द वाली चूंकि कोई ऋचा नहीं है। ऐसी स्थिति में 'स्वतवोभ्य:' कैसे कहा जा सकता है ? अत: मारुत याज्या, अनुवाक्या मन्त्र से ही आहुति दे देनी चाहिए। क्योंकि मरुत् का याज्या, अनुवाक्या मन्त्र हैं। स्वतवा चूंकि मरुत् है, अत: मारुत याज्या अनुवाक्या मन्त्र से आहुति देने में कोई दोष नहीं है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'उन स्वतवोभ्यो याज्यानुवाक्ये न विन्दन्ति (याज्ञिका:) स उ खलु मारुत एव स्यात्'।

जिस प्रकार प्रकृतियज्ञ में प्रजा-रक्षार्थं मारुत सप्तकपाल किया जाता है, तथैव आज यह प्रजापति यजमान अपनी प्रजा की अहिंसा के लिए—मरुत्कृत पीड़ाराहित्य के लिए—यह मारुत सप्तकपाल पुरोडाश करता है।

'स वा एष प्रजाभ्य एवाहिंसायै क्रियते—तस्मान् मारुतः ।'

संसार के अखिल पदार्थों का निर्माण भगवान् सूर्य से होता है, जैसा कि श्रुति कहती है—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' इत्यादि ।

इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, अंशु, विवस्वान्, त्वष्टा, सविता, विष्णु इन १२ प्राणों की समष्टि का नाम ही सूर्य है । इसीलिए तो—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।' यह कहा जाता है । इन्हीं १२ प्राणों से यच्च यावत् पदार्थों का निर्माण होता है । इन द्वादशादित्यों में से भिन्न-भिन्न प्राणों का कार्य विभिन्न है । रूप, गति, नोदना इत्यादि जितने काम हैं, सब इन्द्रप्राण से होते हैं । उत्पन्न पदार्थ में धृतिशक्ति, धाताप्राण से उत्पन्न होती है । ऐश्वर्य-प्रदाता प्राण भग है एवं पशुसृष्टि करने वाला प्राण पूषा है । प्रजनयिता प्राण सविता है । तात्पर्य यह है कि संसार के समस्त कार्य इन्हीं द्वादश प्राणों से होते हैं । अपि च संवत्सर के १२ महीनों को भी १२ आदित्य कहा जाता है । इस संवत्सर से ही यच्च यावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है । इसलिए भी 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' कहा जाता है । इतना होने पर भी प्रजननक्रिया में प्रधानता वायु की है । जिस समय मनुष्य स्त्रीयोनि में वीर्यसेचन करता है, उस समय यदि वायु उसे दो भागों में विभक्त कर डालता है तो दो लड़के उत्पन्न होते हैं । यदि नाना भाव में परिणत कर देता है तो एक भी सन्तान पैदा नहीं होती है । पैदा होना, नष्ट होना, न होना, एक की अपेक्षा तीन-तीन संतानों का एक साथ होना मरुत् के अधीन है । यह वायु ही इन सब विभागों का अधिष्ठाता है । यह चाहे तो वीर्य को विशकलित कर सन्तान को नष्ट कर देता है । जिस प्रकार सोम को चूसने वाले इन्द्र हैं, वैसे ही इस दूध को वायु चूस जाता है । दूध को आप खुले में रख दीजिए, उसी समय उसमें वायु प्रविष्ट हो जायगा । दूध वायु को बड़ा प्यारा लगता है । उस दूध के तात्विक अंश को वायु चूस जाता है एवं उस रिक्त स्थान पर वह आप स्वयं बैठ जाता है । वायु की प्रतिष्ठा दूध है । सोम द्वारा जैसे इन्द्र को प्रतिष्ठित किया जाता है तथैव दूध द्वारा वायु को प्रतिष्ठित किया जाता है । गाय के स्तनों में अथवा माता के स्तनों में जब तक दूध रहता है, तब तक वह आग्नेय रहता है—गर्म रहता है । स्तनों के अन्दर रहने वाला दूध चूंकि आग्नेय है एवं बलाधिष्ठाता अग्नि ही है अतः स्तनों के मुख लगाकर दूध पीना अत्यन्त ही श्रेयस्कर है । गाय के स्तनों का दूध अग्निपरमाणुयुक्त है, इसीलिए श्रुति कहती है—

'अग्नेर्हि रेतः । तस्माद् यदि कृष्णायां यदि रोहितायां शुक्लमेव भवति अग्निसंकाशम् । अग्नेर्हि रेतः–तस्मात् प्रथमं दुग्धमुष्णं भवति । अग्नेर्हि रेतः ।' (शत० ८८ पृष्ठ)

परन्तु जब दूध स्तनों से बाहर निकल आता है, तब वह वायव्य हो जाता है। वायु के लिए इस दूध की आहुति देना अत्यन्त ही श्रेयस्कर है। जब तक दूध नहीं होता है तब तक वायु प्रतिष्ठित नहीं होता है। एवं जब तक वायु प्रतिष्ठित नहीं होता है तब तक गर्भ व्यर्थ रहता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के २२वें और ३०वें अध्यायोक्त प्रकरण के अनुसार अध्यात्म में चार सहचर प्राण रहते हैं। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीर में अनन्त प्राण रहते हैं, तथापि शरीरनिर्माण में अविनाभूततया रहने वाले ये ४ प्राण ही प्रधान हैं। शरीरनिर्माण में अविनाभूत रूप से जिनकी सत्ता रहती है उनके नाम ये हैं—१. नाभानेदिष्ठ, २. बालखिल्या ३. वृषाकपि, ४. एवयामरुत्। स्त्रीशरीर में जब वीर्य डाला जाता है तो उस सिक्त वीर्य का जो ग्राहक प्राण है, वही नाभानेदिष्ठ कहलाता है। जब तक नाभानेदिष्ठ प्राण स्त्रीयोनि में नहीं रहता, तब तक सिक्त वीर्य कदापि प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। अर्थात् सिक्त रेत को जो गर्भाशय में प्रतिष्ठित करने वाला जो प्राणविशेष है, वही 'नाभानेदिष्ठ' कहलाता है। उस बिन्द्वात्मकरेत को बालखिल्या प्राण विकृतावस्था में परिणत कर देते हैं। अर्थात् जो रेत समष्टिरूप से योनि में सिक्त हुआ है उसे यह शिर, ग्रीवा, हस्त, वक्षस्थल, जठर, कटि, पाद, अङ्गुलि, नाक, कान, आंख, मुंह इत्यादि प्रत्यंगों के निर्माण के लिए विभक्त कर देता है। रेत के इतने हिस्से से मस्तक, इतने से हाथ इत्यादि रूप से जो प्राण समष्टिस्वरूप रेत को व्यष्टयात्मक (विभक्त) बना देता है वही दूसरे बालखिल्यानामक प्राण है। यदि बालखिल्या प्राण वीर्य के हिस्से को विभक्त न करे, तो कथमपि शरीरनिर्माण न हो। इस प्रकार बालखिल्या प्राण से शरीर के लिए वीर्य की काट-छांट हो जाती है। तदनन्तर वृषाकपि नाम का इन्द्र प्राण उस पिण्ड में चेतनास्थापन करता है। इन्द्र सूर्य के अन्यतम प्राण का नाम है। जो प्राण स्वयम्भू की चेतना से अनुगृहीत रहता है, उसीका नाम विज्ञान किं वा इन्द्र किंवा वृषाकपि है। प्राणाधान करना इसी वृषाकपि प्राण का काम है। प्राणाधानानन्तर वहां क्रिया पैदा हो जाती है। उस क्रिया से आत्मा पर प्राण, शुक्र, मज्जा, अस्थि आदि का चयन होकर गर्भ का स्वरूप बन जाता है।

उस आर्द्र प्रतिष्ठारहित अस्थि-मांस-समूह में एवयामरुत् काठिन्य पैदा कर उसमें प्रतिष्ठा उत्पन्न करता है। एवयामरुत् एक वायुमय प्राण है जो कि रुक्षता पैदा कर आर्द्र भाव को हटा कर उस गर्भ को प्रतिष्ठित कर देता है। जब तक एवया मरुत् का उस गर्भ में प्रवेश नहीं हो जाता तब तक वह गर्भपिण्ड दूसरे (माता) की प्रतिष्ठा से ही प्रतिष्ठित रहता है। अतएव तब तक वह गर्भाशय को पराधीनत्वात् नहीं छोड़ सकता जब एवयामरुत् से यह गर्भ प्रतिष्ठित हो जाता है तो स्वप्रतिष्ठा से अपने आपको धारण

करने का सामर्थ्य प्राप्त कर गर्भाशय से बाहर निकलने की कोशिश करने लगता है। एवं एवयामरुत्-प्रवेश के थोड़े समय के अनन्तर ही वह गर्भाशय से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार से नामानेदिष्ठ, बालखिल्या, वृषाकपि एवं एवयामरुत् ये चार प्राण अध्यात्म में सहचरभाव से रहते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है।

'तान्येतानि सहचराणीत्याचक्षते नामानेदिष्ठ, बालखिल्याः, वृषाकपिः एवयामरुत्। तानि सहैव शंसेत्। ऐतरेय ब्रा. २८ अ. १० खण्ड १ कण्डिका। नामानेदिष्ठेनैव रेतोऽसिञ्चत्। तद्बालखिल्याभिर्व्यकरोत्। ऐवयामरुतैतवे (गन्तुम्) करोति।'

(ऐत. ब्रा. २२ अ. १० खण्ड ३ क. ५९८ पृष्ठ)

एवयामरुत् हीं इस गर्भसमष्टि को गमन के लिए प्रवृत्त करता है। इसी एवयामरुत् से यह सारा पुद्गल (अस्थि-मांस-मज्जादिसमष्टि) एतवैकृत होकर गमन में प्रवृत्त हो चलने लगता है। सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यही है कि प्रजननक्रिया में एवयामरुत् की ही प्रधानता है। यदि एवयामरुत् न हो तो प्रजा सर्वथा उत्पन्न नहीं हो सकती है। इस एवयामरुत् की प्रतिष्ठा दूध ही है। दूध ही वायु की प्रतिष्ठा का साधक है। इसीलिए प्रकृतियज्ञ में प्रजापति सन्तानोत्पत्ति के पूर्व अपने में उस दूध को पैदा कर लेता है, जो कि एवयामरुत् का प्रतिष्ठादायक है। दूध से वायु में जो एक प्रकार की प्रखरता होती है उसका सर्वथा नाश हो जाता है। वायु की विदारक शक्ति स्निग्ध दूध से स्नेह में परिणत हो जाती है। यदि माता के स्तनों में बच्चे के प्रसव से पहले दूध उत्पन्न न हो तो समझ लेना चाहिएकि प्रजनन नहीं होगा। यदि हो भी गया तो वह बच्चा ज्यादा दिन तक जीवित नहीं रहेगा। चूंकि प्रकृति एवयामरुत् के लिए पहिले ही से पयस्या रखती है अतएव वह सन्तान को उच्छिन्न नहीं करने पाता। दूध के स्नेह के कारण एवयामरुत् प्रतिष्ठित हो प्रजा का विमन्थन नहीं करता। प्रकृत में मारुत सप्तकपाल पुरोडाश भी बतलाया गया है एवं पयस्या भी बतलायी जायगी। ये दोनों ही मरुद्देवताक हैं।

प्रजापति माता पिता है। यह पहिले मरुत् के लिए दूध की आहुति तैयार रखते हैं। इसीलिए तो गर्भ प्रतिष्ठित हो जाता है। यदि मरुत् के लिए आहुति न दी जाती तो कथमपि प्रजा जीवित नहीं रह सकती थी। चूंकि प्राकृतिक अस्मदादि की प्रजननक्रिया में मरुत् को शान्त करने के लिए आहुति दी जाती है। अतः उसकी प्रतिकृति पर किये जाने वाले इस वैश्वदेव यज्ञ में भी दिव्यात्मरक्षार्थ मरुतों के लिए आहुति देना जरूरी है। हमारा दिव्यात्मा जब उत्पन्न हो जाता है तब सूक्ष्म वायु उसे अपनी प्रतिष्ठा से च्युत करना चाहता है। परन्तु जब आहुति द्वारा उस आत्मा का वायुमण्डल स्निग्ध कर दिया जाता है तो उसकी प्रतिष्ठानाशिका रूक्षता जाती रहती है। इसी प्राकृतिक प्रजनन-

क्रिया का अलंकाररूप से वर्णन करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्यने 'मरुतो वै देवविशः' यहाँ से 'तस्मा मारुतः' (१४) तक कहा है।

सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक प्रजोत्पत्ति में मारुत सप्तकपाल एवं पयस्या होती रहती है। अतः 'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' की आज्ञानुकूल हमें भी दिव्यात्मप्रजननोत्पत्ति में मारुत सप्तकपाल पुरोडाश और पयस्या करनी चाहिए। सप्त-कपाल पुरोडाश का यही रहस्य है।

इस प्रकार मारुतयागानन्तर तत्सम्बन्धी पयस्या का विधान करते हैं। मारुत सप्त-कपालपुरोडाश के अनन्तर जब प्रजा स्थित हो जाती है प्रजननक्रिया में मरुत् कोई बाधा नहीं डालते, तदनन्तर उस उत्पन्न प्रजा के लिए दूध के स्थान में पयस्या दी जाती है। प्रकृति-यज्ञ में स्तनों में पहिले दूध भर जाता है तदनन्तर एवयामसत् की रूक्षता शान्त हो जाती है—तदनन्तर ही प्रजनन होता है। उसके बाद उस दूध को बच्चे को पिलाया जाता है। उसी दूध (पयस्या) से वह बच्चा प्रवृद्ध होता है। जैसे मरुत्प्रतिष्ठा के लिए पहिले दूध तैयार रखा जाता है तथैव इस वैध यज्ञ में भी पयस्या पहिले तैयार रखी जाती है। इससे मरुत् की रूक्षता शान्त रहती है। एवं साथ ही प्रकृतिवत् सप्तकपाल पुरो-डाश देकर मरुत् को तृप्त भी कर दिया जाता है। इस प्रकार उभयथा उस मरुत् को तृप्त कर प्रजा को उसके आक्रमण से बचा कर उस आत्म-प्रजा को दूध की तरह पयस्या देता है। अर्थात् उत्पत्ति के बाद माता जिस प्रकार अपने स्तन का दूध बच्चे को पिलाती है एवं दूध पिलाकर उसे पुष्ट करती है वैसे ही यह यजमान प्रजापति उत्पन्न आत्मा के लिए पयस्या की आहुति से उसे पुष्ट करता है। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य कहते हैं–अस्मदा-दि प्रजा दूध से ही सृष्टि के प्रारम्भ में समृद्ध हुई थी एवं आज भी समृद्ध होती है। अतः जिससे यह प्रजा समृद्ध हुई थी तथा जिससे आज भी हो रही है उसी की आहुति आज उत्पन्न प्रजाओं के लिए दी जाती है। अर्थात् पयस्या की आहुति देना—उत्पन्न प्रजा की पुष्टि के लिए दूध देना है। पिता प्रजापति पहिले वीर्यस्वरूप हवि की अपनी स्त्री की योनि में आहुति देकर प्रजा उत्पन्न करता है तदनन्तर उसे दूध पिलाकर पुष्ट करता है। इस प्राकृतिक प्रजनन की तरह आज वैश्वदेव याग करने वाला यह यजमान प्रजापति अग्नी-षोमीय पुरोडाश चरु. सावित्र पुरोडाश एवं सारस्वतपौष्णचरु इन हवियों से जिस दिव्यप्रजा सौम्य (दिव्यात्मा) को उत्पन्न करता है उसे इस पयस्या (पय) से समृद्ध करता है। इसी पयस्या के लिए वे प्रजायें संभूत होती हैं, अर्थात् इस दूध के लिए ही वे प्रजापति से संगत (मिलित) रहती हैं। यदि इन्हें दूध न मिलता तो पक्षि-सरीसृपादि की तरह यह मनुष्यप्रजा भी उत्क्रान्त हो जाती और अपने पिता प्रजापति की कोई परवाह न करती।

किन्तु इन्हें दूध मिल जाता है अतः इस दूध के लिए वह प्रजापति के अनुगत रहती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथातः पयस्यैव। पयसो वै प्रजाः संभवन्ति, पयसः संभूताः। तत् यत एव संभूता यतः संभवन्ति तदेवाभ्य एतत् करोति। तत् याः पूर्वैर्हविर्भिः प्रजाः (दिव्यात्मा) सृजते ता एतस्मात् पयसः (संभूताः) एतस्यै पयस्यायै संभवन्ति (प्रजापतिमनुवर्तन्ते' ।।४।५६।

पय के विकार को ही पयस्या कहते हैं। गर्म गर्म दूध में दधि डालने से जो एक ठोस भाग रह जाता है वह तो पयस्या कहलाती है एवं पानी का हिस्सा अर्थात् तरल भाग वाजिन कहलाता है। पयस्या को ही आमिक्षा कहते हैं। यह वैश्वदेवी है। एवं वाजियों के लिए वाजिन दी जाती है। इसी अभिप्राय से अन्य श्रुति में कहा जाता है—

'वैश्वदेव्यामिक्षा भवति। वैश्ववेदव्यो वै प्रजाः। प्रजा एवास्मै प्रजनयति वाजिनमानयति। प्रजास्वेव प्रजातासु रेतो दधाति अग्निर्वायु. सूर्यः। ते वै वाजिनः।'

(तै. ब्रा. १।६।२३)

प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि मारुत-सप्तकपालान्तर विश्वेदेवदेवताक पयस्या की आहुति दी जाती है। इस पयस्या में प्रजननसाधन मिथुन भी रहता है। जब तक स्त्रीप्राण और पुरुषप्राण नहीं मिलते हैं तब तक प्रजनन नहीं हो सकता। प्रजनन में केवल पयस्या ही अपेक्षित नहीं है अपितु रेत (वीर्य) भी अपेक्षित है। चाहे पयस्या कितनी ही हो यदि पिता रेतःसेचन नहीं करेगा तो प्रजनन कदापि नहीं होगा। तात्पर्य यही है कि प्रजनन में योषा एवं वृषा दोनों अपेक्षित है। यह योषावृषात्मक मिथुन हमारी इस पयस्या में विद्यमान है। पयस्या योषा है और वाजिन रेत है। इस पयस्या और वाजिन के मिथुन से (योषा वृषा के संयोग से) अपरिमित मनुष्यपश्वात्मक यह विश्व उत्पन्न हुआ है अर्थात् अखिल विश्व की उत्पत्ति इस पयस्या वाजिन की आहुति से ही होती है।

अपात्, सहस्रपात्, शतपात् इत्यादि भेद से भी नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न होती हैं ये सारी प्रजायें इसी वैश्वदेवेष्टि से उत्पन्न होती हैं। सूर्य से ऊपर की जो प्रजा है वह ऊर्ध्वा प्रजा कहलाती है एवं नीचे की प्रजा अर्वाची। ऊर्ध्वा सृष्टि को दैवत सृष्टि एवं अर्वाची सृष्टि को भौतिक सृष्टि कहते हैं। दोनों का प्रजनयिता मध्यस्थ सविता प्रजापति है। दैवत सृष्टि अग्नीषोमीय है एवं भौतिक सृष्टि वाक्पशव्या है। अग्नि और सोम इन्हीं में सारे देवता आ जाते हैं। देवता कुल तीन प्रकार के होते हैं—१. आग्नेय २. सौम्य और पशुभाजन। एक ही अग्नि की निविड, तरल, विरलावस्था से उत्पन्न होने वाले तेंतीस देवता (आठ वसु, ग्यारह रुद्र, द्वादशादित्य, प्रजापति एवं इन्द्र) आग्नेय कहलाते इन्हीं को सोमपायी देवता भी कहते हैं। सौम्य देवता तेंतीस तक रहते हैं। एकादश

प्रयाज, एकादशानुयाज, एकादशावयाज, देवता पशुभाजन कहलाते हैं। प्रकृत में यह बतलाना है कि सारे देवता अग्नीषोमात्मक हैं। अग्नीषोम का यजन करना सारे देवताओं का यजन करना है एवं सारे देवताओं को ही विश्वेदेव कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

'अथ यद् वैश्वदेवश्चरुः, एते वै सर्वे देवा यद्विश्वेदेवाः इति।' (कौ. ब्रा. ४।१४)

यह अग्नीषोमीय यज्ञ एक प्रकार से वैश्वदेव यज्ञ ही हो जाता है। इसी वैश्वदेव से सारी सृष्टि होती है। परन्तु ध्यान रहे कि हम वाक्पशव्य को भी वैश्वदेव यज्ञ ही कहेंगे क्योंकि पशु अग्नीषोमीय होता है। इसलिए अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यह कहा जाता है। अग्नीषोमीय यज्ञ से जो अवशिष्ट बच जाता है वही पशु कहलाता है। जो अग्नीषोम का उच्छिष्ट होगा उसमें अवश्य ही अग्नीषोम का भाग रहेगा। इस अग्नीषोम की जब वाक् (आकाश) में आहुति होती है तो क्रमशः वायु, अग्नि, जल, पृथिवी उत्पन्न होते हैं। इसी अभिप्राय से 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि कहा जाता है। तात्पर्य यही है कि वाक्-पशव्य यज्ञ भी वैश्वदेव यज्ञ ही है क्योंकि पशु अग्नीषोमीय है एवं अग्नि सोम ही सारे देवता हैं एवं सारे देवताओं को ही विश्वेदेव कहते हैं।

हमने बतलाया था कि सूर्य में १२ प्राण रहते हैं। उन्हीं में से एक प्राण का नाम पूषा है। जिस प्रकार आत्मा के अधिष्ठाता इन्द्र हैं वैसे ही पशुओं के अधिष्ठाता पूषा हैं। पाञ्चभौतिक सृष्टि पशु से होती है एवं पशुओं के अधिष्ठाता पूषा हैं। अतएव इस पृथिवी को 'इयं वै पूषा' इस रूप से पूषा भी कहा करते हैं। भौतिक सृष्टि का निर्माण यही पूषा करते हैं। पृथिवी का अपान प्राण ही पूषा कहलाता है। हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है वह भौतिक सृष्टि है, दिव्य सृष्टि का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव जगत् के यावन्मात्र दृश्य पदार्थों को वैदिक परिभाषा में यं पश्यन्ति अथवा यो दृश्यते स पशुः' इस व्युत्पत्ति से पशु कहा करते हैं। बात सत्य है कि पशुओं की आहुति से ही भौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। इसी पयस्या वाजिन की आहुति से मनुष्यादि अपरिमित प्रजा उत्पन्न होती है। अतएव इस पयस्या को वैश्वदेवी कहा जाता है।

'तत् यदेतस्मान्मिथुनात् विश्वमसंमितमनु प्राजायत तस्माद् वैश्वदेवी (पयस्या) भवति।'

अर्थात् कितनी ही प्रजा ऐसी भी है जो कि बिना दूध के उत्पन्न होती है। सरीसृपादि को दूध कहाँ मिलता है फिर भी तो वे उत्पन्न तो होते ही हैं। ऐसी स्थिति में पयस्यामात्र को ही वैश्वदेवी कैसे कहा जा सकता है। यह प्रश्न सत्य है परन्तु इस पयस्या से भी तो थोड़ी बहुत प्रजा उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रजा से (मनुष्य, पशु से) संसार का स्वरूप बनता है—जिस मनुष्य प्रजा से संसार संसार कहलाता है वह प्रजा तो

पयस्या से ही उत्पन्न होती है, जो कि अपरिमित है। अतः हम इसी पयस्या को भी अपरिमितत्वात् एवं संसारस्वरूपारम्भकत्वात् वैश्वदेवी कह सकते हैं। इसलिए भगवान् याज्ञवल्क्य ने मनुष्य एवं पशुमात्र को उत्पन्न करने वाली पयस्या को भी 'वैश्वदेवी' बतलाया है।

अब तक यह सिद्ध हुआ कि पांच हवियों के अनन्तर मारुत सप्तकपाल पुरोडाश होता है, वैश्वदेवी पयस्या होती है एवं वाजियों के लिए वाजिन होता है। इसी वैश्वदेवेष्टि से (प्राकृतिक इष्टि से) अखिल विश्व का (दैवत-भौतिक सृष्टि का) निर्माण होता है। ॥१६॥

इसके अनन्तर द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश होता है। इन्हीं पूर्वोक्त हवियों से भगवान् प्रजापति (पिता) ने प्रजा को उत्पन्न किया। वह दोनों ओर से वसुधानकोषवत् (डिब्बी की तरह) द्यावापृथिवी से वेष्टित हो गया। लड़का जब तक उत्पन्न नहीं होता है तब तक उसका घनिष्ठ सम्बन्ध माता से ही रहता है। माता की ही नाल द्वारा उसका पोषण होता है। तात्पर्य यह है कि उसके पास जो भी सामग्री आती है वह साक्षात् न आकर माता के द्वारा ही आती है। परन्तु जब प्रजनन हो जाता है—लड़का माता के गर्भ से बाहर निकल आता है—तो उसका सम्बन्ध द्यावापृथिवी से हो जाता है। अब पार्थिवप्राण (अपान), द्युप्राण (प्राण) एवं आन्तरिक्ष्य प्राण (व्यान) उसके पास साक्षात् आने लगते हैं। द्यावापृथिवी इन दोनों के प्राण उसमें सदा गमनागमन करते रहते हैं। गर्भ से बाहर निकलने के बाद पृथिवी उसकी माता एवं द्यौ पिता हो जाते हैं। लड़के के प्राण का सम्बन्ध द्यावापृथिवी के प्राण से हो जाता है। इस प्राकृतिक द्यावापृथिव्य पुरोडाश की तरह ही आज यह यजमान पूर्वोक्त हवियों द्वारा दिव्यात्मा को उत्पन्न कर द्यावापृथिवी को सौंपता हुआ कृतज्ञतास्वरूप द्यावापृथिव्य एककपाल पुरोडाश देता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथ द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति। ऐतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा ता द्यावापृथिवीभ्यां पर्यगृह्णात्। (परितो वेष्टितवान्)। ता इमा द्यावापृथिवीभ्यां परिगृहीताः। तथा उ एवैष एतत्, य एतैर्हविर्भिः प्रजाः सृजते ता द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति। तस्मात् द्यावापृथिव्य एककपालः पुरोडाशो भवति' ॥१७॥

इति वैश्वदेव्युत्पत्तिप्रकरणम्।

अथात आवृत् (पद्धतिः)

'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस नियमानुसार दर्शपूर्णमासस्वरूप प्राकृतिक यज्ञ में जो-जो कार्य होते हैं वे ही इस विकृति यज्ञ (वैश्वदेव) में होते हैं। कहीं पर कोई जो विशेष काम होता है उसीका पुनर्विधान रहता है। पूर्वोक्त दर्शपूर्णमास से इस वैश्वदेव में जो कुछ विशेषता है उसे बतलाते हैं। केवल दो-चार काम में थोड़ा सा अन्तर है। शेष सारी

इतिकर्तव्यता दर्शपूर्णमासवत् ही समझनी चाहिए। यही 'अथात आवृदेव' का तात्पर्य है। अथवा इस प्रकार समझना चाहिए कि अब तक हमने (याज्ञवल्क्य ने) उपपत्ति आवृत् के साथ बतलाई है, अब केवल पद्धति ही बतलायेंगे। वैश्वदेवेष्टि क्यों करनी चाहिए, वह प्रकृति में कैसी होती है इत्यादि बातों का विशद विवेचन हो चुका। अब केवल पद्धति बतलाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'अथात आवृदेव' इति।

यह वैश्वदेव अध्वर के अन्तर्गत माना जाता है। इस अध्वर यज्ञ में महावेदि बनाई जाती है। इस महावेदि में उत्तरावेदि और हविर्वेदि ये दो वेदियाँ होती हैं। अध्वर (सोम) यज्ञ की आहुति उत्तरवेद्यन्तर्गत आहवनीय (१७) में पड़ती है एवं दर्शपूर्णमासादि यज्ञ हविर्वेदि के आहवनीय में ही होते हैं।

हमें यही बतलाना है कि दर्शपूर्णमासेष्टि में उस उतरा वेदि को कुशा से ढक दिया जाता है, परन्तु इस वैश्वदेवेष्टि के लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ऋत्विक् लोग उरावेदि को कुशा से आच्छादित नहीं करते हैं। यदि इस वेदि पर कुशा डाल दी जायगी तो अनुष्ठीयमान कर्म निरुद्धगति हो जायगा। तात्पर्य यही है कि जहाँ एक दो देवता का यजन किया जाता है वहां अन्य देवताओं से आवरण करने के लिए कुशा बिछा दी जाती है परन्तु यहाँ तो सारे ही देवताओं का यजन करना है। इसका तो नाम ही वैश्वदेवेष्टि है, फिर आवरण की क्या आवश्यकता है? जब कुशा से वेदि का आच्छादन नहीं किया जायगा तो निरोधाभावात् क्रियमाण कर्म व्यापक हो जायगा। यह यज्ञ व्यापक हो जाय (विसृष्टमसत्) अतएव परिच्छेदाभावात् सम्पूर्णतया पूरा हो जाय एवं कात्स्न्यात् ही यह यज्ञ विश्वेदेवसम्बन्धित हो जाय, इसीलिए उत्तरावेदि को कुशा से आच्छादित नहीं किया जाता है। तात्पर्य यही है कि सारे देवताओं का यजन तभी संभव है जब कि मार्ग खुला हो। इसी भाव को सूचित करने के लिए उत्तरवेदि पर कुशा का आस्तरण नहीं किया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'नोपकिरन्त्युत्तरवेदिम्। विसृष्टं (व्यापनशीलम्) असत् (भवेत्) सर्वमसत् वैश्वदेवमसत्। (अतः इति शेषः)

पहिले तीन स्थान पर बर्हि को अलग अलग बांध कर उन तीनों को फिर इकट्ठा करके बांधते हैं अर्थात् तीन पूलियाँ पहिले अलग बांध कर, फिर तीनों को एक में बांध देनी चाहिए। इसका कारण बतलाते हैं।

तीनों को अलग बांध फिर तीनों को एक में शामिल किया जाता है—यही प्रजनन (प्रजाति) का स्वरूप है। पुत्र पैदा होता है, उस समय की यही स्थिति होती है। माता पिता और जो उत्पन्न होता है वह तीसरा—यही तो प्रजाति का स्वरूप है। माता पिता

एवं पुत्र स्वरूप से तीन है परन्तु प्रजनन का स्वरूप एक है। तीनों तीन होकर एक हैं यही प्रजनन का स्वरूप है। प्रकृत में हमने दिव्यात्म-प्रजनन किया है। अतः प्राकृतिक प्रजनन की प्रतिकृति पर हमें भी वैसी ही कल्पना कर लेनी चाहिए, जिसमें कि इस यज्ञ में भी प्रजनन का भाव सम्मिलित हो जाय। क्योंकि 'यद्वै देवा अकुर्वन् तत् करवाणि'—यही तो हमारा मूल मन्त्र है। इस प्राकृतिक प्रजनन की स्वरूप-सम्पत्ति के लिए ही, पहिले तीन को अलग अलग बांध कर बाद में तीनों को एक में बांध देते हैं—

'त्रेधा बर्हिः संनद्धं भवति-तत्पुनरेकधा। एतद्धि प्रजननस्य रूपम्। प्रजनन मुहीदम्—पिता माता। यज्जायते तत्तृतीयम्। तस्मात् त्रेधा सत् पुनरेकधा।' इति।

माता अर्द्धाङ्गिनी है, पिता का पुत्र तद्रूप ही है—'पिता वै जायते पुत्रः'—अतः तीनों संख्या में तीन होकर भी एक ही है। 'त्रेधासत् पुनरेकधा' का यही तात्पर्य समझना चाहिए। अब यह बतलाते हैं कि प्रसू अर्थात् पुष्पित कुशाग्रों का उपसंनहन किया जाता है और उन्ही पुष्पितकुशाग्रों का कुशमुष्टिरूप से यजमान ग्रहण करता है। क्योंकि यह वैश्वदेवयाग प्रजोत्पत्ति का साधन है और प्रसू (पुष्पित कुशायें) भी प्रजनन (फलोत्पत्ति) का कारण हैं इसलिए यहाँ पुष्पित कुशाग्रों की कुशमुष्टि का ही ग्रहण किया जाता है ॥१८॥

प्रकृति में भगवान् प्रजापति पहिले दुग्धादि हवि को एकत्र कर तदनन्तर प्रजनन-क्रिया (वैश्वदेवेष्टि) करते हैं। अतः तदनुसार ही ये ऋत्विक् लोग सारी सामग्री को इकट्ठा कर, बाद में अग्नि का मन्थन करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम प्रजापति भगवान् ने अग्नि को ही उत्पन्न किया। जैसा कि श्रुति कहती है—

'तद्वाऽएनमेतदग्रे देवानामजनयत, तस्मादग्निः। अग्निर्ह वैनामैतद्यदग्निरिति।'

(शत० ८४ पृष्ठ २ कण्डिका)

इस प्रकार अग्नि को प्रथम उत्पन्न कर तदनन्तर ही प्रजा ने अन्य प्रजा को उत्पन्न किया था अर्थात् शरीर में जब आग्नेय प्रजापति स्थिर हो जाता है, तभी सन्तान उत्पन्न होती है। यदि शरीर में प्रजापति उत्पन्न नहीं होते हैं अथवा दुर्बल रहते हैं तो सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती है। उसी प्राकृतिक-प्रजननानुसार यजमान की इस अग्नि की उत्पत्ति के साथ ही प्रजा उत्पन्न होती है। अर्थात् प्रथम अग्नि-मन्थन द्वारा अग्नि का स्वरूप बनाया जाता है, तदनन्तर उसमें आहुति प्रदान कर, तद् द्वारा दिव्यात्म-प्रजनन किया जाता है। हवि को एकत्र कर, इसीलिए सर्वप्रथम अग्नि का मन्थन करते हैं—

'तस्मादासाद्य हवींषि अग्निं मन्थन्ति।' इति ॥१९॥

इस वैश्वदेवेष्टि में ९ अनुयाज होते हैं एवं ९ प्रयाज होते हैं। आदि में प्रयाज होते हैं,

अन्त में अनुयाज होते हैं एवं मध्य में प्रधान यज्ञ होते हैं। देवता के साथ देवता के छन्द का एवं ऋतु का भी यजन आवश्यक है। बस उसी ऋतु और छन्दःस्थानीय प्रयाजानुयाज याग है। चूंकि प्रयाज यज्ञमुख (प्रारम्भ) में होते हैं, अतएव उनका नाम प्रयाज है एवं अनुयाज का यजन यज्ञ के पश्चात् होता है, अतएव उन्हें अनुयाज कहते हैं।

दस अक्षर का एक विराट् होता है। विषुवत्-वृत्त के ३६० अंश होते हैं। इनको चार भागों में विभक्त कर देने से ९०-९० का एक-एक टुकड़ा हो जाता है। एक-एक टुकड़े में १०-१० अक्षर होते हैं एवं प्रत्येक अक्षर ९-९ अंशों का होता है। इस प्रकार सारे विषुवत् को चत्वारिंशिनी विराट् कहा करते हैं। यज्ञ को विराट् कहते हैं। अतः इस प्रधानयाग के आदि और अन्त में ९-९ प्रयाजअनुयाज करता हुआ यह यजमान प्रजनन के लिए एक-एक अक्षर से न्यून विराट् करता है अर्थात् यज्ञ-संपत्त्यर्थं १०-१० प्रयाज, अनुयाज करने चाहिएं परन्तु चूंकि प्रजनन न्यून से ही होता है, अतः प्रजननसंपत्त्यर्थं न्यून ही अनुयाज प्रयाज किये जाते हैं।

भगवान् प्रजापति ने न्यून प्रजनन से ऊर्ध्वा और अर्वाची प्रजा को उत्पन्न किया था। तथैव आज इस यज्ञ में यह यजमान प्रजापति, उस आदिप्रजापतिवत् न्यून प्रयाजानुयाज से दिव्य और भौतिक प्रजा उत्पन्न करता है अर्थात् दिव्यात्मा उत्पन्न करता है एवं भौतिक सम्पत्ति बढ़ाता है। बात वस्तुतः ठीक है—माता पिता दोनों में से यदि एक का भ्रूण कमजोर होता है, तभी सन्तान उत्पन्न होती है। यदि माता का भ्रूण बलवान् है एवं पिता का निर्बल है तो माता का भ्रूण पिता के भ्रूण को निगल जाता है, जिससे लड़की उत्पन्न होती है—विपरीततया लड़का उत्पन्न होता है—परन्तु समान भाव रहने पर कुछ पैदा नहीं होता। इससे सिद्ध है कि प्रजनन न्यून से ही होता है। चूंकि प्रकृत में दिव्यात्म-प्रजनन करना है, अतः ९ ही अनुयाज एवं ९ ही प्रयाज किये जाते हैं।

'तस्मात् नवप्रयाजं भवति, यवानुयाजं' इति। ॥२०॥

इस वैश्वदेव यज्ञ में तीन समिष्ट यजु होते हैं, जिसमें ९ प्रयाज और ९ अनुयाज होते हैं। ऐसा यह वैश्वदेव यज्ञ पांच प्रयाज और तीन अनुयाज होने वाले हविर्यज्ञ (दर्श-पूर्णमास) से कहीं बड़ा है। अतः यदि दर्शपूर्णमास में एक समिष्ट यजु किया जाता है तो यहाँ तीन करने चाहिएं। अथवा एक ही समिष्ट यजु कर लेना चाहिए। क्योंकि वास्तव में चातुर्मास्य यज्ञ भी तो हविर्यज्ञ ही है।

इस यज्ञ की प्रथमोत्पन्न बैल ही दक्षिणा है—

'तस्य प्रथमजो गौर्दक्षिणा' ॥१२॥

इस वैश्वदेव यज्ञ से यजन करके प्रजापति आज यह हो गये अर्थात् उस स्थिति पर पहुँच गये जो कि प्रजाति और श्री…उनकी सुनी जाती है। अतः जो इस वैश्वदेवयज्ञ के रहस्य को जान कर, इसके द्वारा देवताओं का यजन करेगा, वह उसी प्रजाति और लक्ष्मी को प्राप्त करेगा, जिसे कि प्रजापति ने प्राप्त किया था। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आज यह यजमान उसी फलप्राप्ति के लिए ही वैश्वदेवयज्ञ से देवताओं का यजन कर रहा है— 'तस्माद्वा एतेन यजेत।' इति ॥२२॥

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम्।

चतुर्थप्रपाठकस्य च द्वितीयं ब्राह्मणम्।

वैश्वदेवेष्टिश्च समाप्ता।

अथ वरुणप्रघासपर्व

(मूल) वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे। ता अस्य प्रजाः सृष्टा वरुणस्य यवान् जक्षुः। वरुण्यो ह वा अग्रे यवः। तद्यन्त्वेव वरुणस्य यवान् आदन् तस्माद् वरुणप्रघासा नाम ॥१॥

ता वरुणो जग्राह। ता वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे च, निषेदुश्च। प्राणदानौ हैवास्यो नापचक्रमतुः, अथान्याः सर्वा देवता अपचक्रमुः। तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः ॥२॥

ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत्। तद्याश्चैवास्य प्रजा जाता आसन्, याश्चाजाताः ता उभयीर्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्। ता अस्यानमीवा अकिल्बिषा प्रजाः प्राजायन्त ॥३॥

अथ यदेष एतैश्चतुर्थे मासि यजते, तन्नाह न्वेवैतस्य तथा प्रजा वरुणो गृह्णाति इति। देवा अकुर्वन् इति त्वेवैष एतत् करोति। याश्च त्वेवास्य प्रजा जाताः, याश्चाजाताः ता उभयीर्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। ता अस्यानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्रजायन्ते। तस्माद्वा एष एतैश्चतुर्थे मासि यजते ॥४॥

तद्वै द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः। तद् यद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः तदुभयत एवैतद् वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति-इतश्चोद्ध्वाः, इतश्चावाचीः। तस्माद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवतः ॥५॥

स उत्तरस्यामेव वेदावुत्तरवेदिमुपकिरति न दक्षिणस्याम्। क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः। क्षत्रमेवैतद् विश उत्तरं करोति। तस्मादुपर्यासीनं क्षत्रियमधस्तादिमाः प्रजा उपासते। तस्मादुत्तरस्यामेब वेदा उत्तरवेदिमुपकिरति न दक्षिणस्याम् ॥६॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति। एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा

असृजत, एतैरुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः प्रामुञ्चत् इतश्चोर्ध्वा इतश्चावाचीः तस्माद्वा एतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥७॥

अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी। तद् यथा पुण्यं चक्षुषे पुण्यं कुर्यात्, एवं तत्। तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः। तत् प्राणोदानाभ्यामेवैतत् प्रजा भिषज्यति। प्राणोदानौ प्रजासु दधाति। तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥

उभयत्र पयस्ये भवतः। पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति पयसः सम्भूताः। तद् यत एव सम्भूताः, यतः सम्भवन्ति तत एवैतदुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति-इतश्चोर्ध्वाः इतश्चावाचीः। तस्मादुभयत्र पयस्ये भवतः ॥९॥

वारुण्युत्तरा भवति। वरुणो ह वा अस्य प्रजा अगृह्णात्। तत् प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति। मारुती दक्षिणा। अजामितायै न्वेव मारुती। भवति। जामि ह कुर्यात् यदुभे वरुण्यौ स्याताम्। अतो ह वा अस्य दक्षिणतो मरुतः प्रजा अजिघांसन् तानेतेन भागेनाशमयत्। तस्मान्मारुती दक्षिणा ॥१०॥

तयोरुभयोरेव करीराण्यावपति। कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत। कम्वेवैष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ॥११॥

तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति। शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत। शम्वेवैष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ॥१२॥

अथ काय एककपालः पुरोडाशो भवति। कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेनाकुरुत। कम्वेवैष एतत् प्रजाभ्यः कायेनैककपालेन पुरोडाशेन कुरुते। तस्मात् काय एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१३॥

अथ पूर्वेद्युरन्वाहार्यपचनेऽतुषानिव यवान् कृत्वा तानीषदिवोपतप्य तेषां करम्भपात्राणि कुर्वन्ति, यावन्तो गृह्याः स्युः तावन्ति, एकेनातिरिक्तानि ॥१४॥

तत्रापि च मेषं च मेषीं च कुर्वन्ति। तयोर्मेषे च मेष्यां च यद्यनैडकीरूर्णा

विन्देत् ताः प्रणिज्य निश्लेषयेत् । यद्यु अनैडकीर्न विन्देत् अथोऽपि कुर्मिणौ एव स्युः ॥१५॥

तद्यत् मेषश्च मेषी च भवतः । एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुः यन्मेषः । तत् प्रत्यक्षं वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति । यवमयौ भवतः । यवान् हि जतुषीर्वरुणोऽगृह्णात् । मिथुनौ भवतः । मिथुनादेवैतत् वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥१६॥

स उत्तरस्यामेव पयस्यायां मेषीमवदधाति । दक्षिणस्यां मेषम् । एवमिव हि मिथुनं क्लृप्तम् । उत्तरतो हि स्त्री पुमांसमुपशेते ॥१७॥

स सर्वाण्येव हवींष्यध्वर्युरुत्तरस्यां वेदावासादयति । अथैतामेव पयस्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्यां वेदावासादयति ॥१८॥

आसादय हवींष्यग्निं मन्थति । अग्निं मंथित्वाऽनुप्रहृत्याभिजुहोति । अथाध्वर्युरेवाह-'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति । ता उभावेवेध्मावभ्याधत्तः, उभौ समिधौ परिशिंष्टः । उभौ पूर्वाघारावाघारयतः । अथाध्वर्युरेवाह-अग्निमग्नीत् समृड्ढि' इति । असंमृष्टमेव भवति संप्रेषितम् ॥१९॥

अथ प्रतिप्रस्थाता प्रतिपरैति । स पत्नीमुदानेष्यन् पृच्छति । 'केन चरसि' इति । वरुण्यं वा एतत् स्त्रीकरोति-यदन्यस्य सती-अन्येन चरति । अथो नेन्मेऽन्तःशल्या जुहवत् । इति । तस्मात् पृच्छति । निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति । सत्यं भवति तस्माद्धेव पृच्छति । सा यन्न प्रतिजानीत ज्ञातिभ्यो हास्यैतदहितं स्यात् ॥२०॥

तां वाचयति 'प्रघासिनो हवामहे, मरुतश्च रिशादसः । करम्भेण सजोषसः, इति । यथा पुरोऽनुवाक्या एवमेवैषा । एतयैवैतानेतेभ्यः पात्रेभ्यो ह्वयति ॥२१॥

तानि वै प्रतिपुरुषम् । यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्ति, एकेनातिरिक्तानि

भवन्ति। तत् प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। एकेनातिरिक्तानि भवन्ति। यथा एवास्य प्रजा अजाताः, ता वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। तस्मादेकेनातिरिक्तानि भवन्ति ॥२२॥

पात्राणि भवन्ति। पात्रेषु ह्यशनमश्यते। यवमयानि भवन्ति। यवान् हि जक्षुषीर्वरुणोऽगृह्णात्। शूर्पेण जुहोति। शूर्पेण ह्यशनं क्रियते। पत्नी जुहोति मिथुनादेवैतद् वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति ॥२३॥

पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो जुहोति। अहुतादो वै विशः। विशो वै मरुतः। यत्र वै प्रजापतेः प्रजा वरुणगृहीताः परिदीर्णा अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे च निषेदुश्च-तद्धासां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे। तथो एवैतस्य प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमथ्नते। तस्मात् पुरा यज्ञात् पुराहुतिभ्यो जुहोति ॥२४॥

सा वै दक्षिणेऽग्नौ जुहोति 'यद्ग्रामे यदरण्ये' इति। ग्रामे वा ह्यरण्ये वैनः क्रियते। 'यत्सभायां यदिन्द्रिये' इति। यत्सभायामिति यन्मानुष इति। तदाह यदिन्द्रिय इति यद्देवत्रेति तदाह—यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहेति। यत्किञ्च वयमेनश्चकृम-इदं वयं तस्मात् सर्वस्मात् प्रमुच्यामहे इत्येवैतदाह ॥२५॥

अथैन्द्रीं मरुत्वतीं जपति। यत्र वै प्रजापतेः प्रजानां मरुतः पाप्मानं विमेथिरे-तद्धेन्द्राञ्चक्रे-'इमे ह मे प्रजा न विमथ्नीरन्' इति ॥२६॥

स एतामैन्द्रीं मरुत्वतीमजपत्। क्षत्रं वा इन्द्रः, विशो मरुतः। क्षत्रं वै विशो निषेद्धा। निषिद्धा असन् इति। तस्मादैन्द्री ॥२७॥

'मोषूण इन्द्रात्र पृत्सु देवै रस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥ इति ॥२८॥

अथैनां वाचयति-'अक्रन् कर्म कर्मकृतः' इति। अक्रन् हि कर्म कर्मकृतः।

'सह वाचा मयोभुवा' इति। सह हि वाचाऽक्रन्। 'देवेभ्यः कर्म कृत्वा। इति। देवेभ्यो हि कर्म कृत्वा। 'अस्तं प्रेत सचाभुवः' इति। अन्यतो ह्योढया सह भवन्ति। तस्मादाह-सचाभुव इति। अस्तं प्रेतेति। जघनार्द्धो वा एष यज्ञस्य यत्पत्नी। तामेतत् प्राचीं यज्ञं प्रासीषदत्। गृहा वा अस्तम्, गृहाः प्रतिष्ठा। तद् गृहेष्वेवैनामेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥२९॥

प्रतिपराणीयोदैति प्रतिप्रस्थता। सम्मृजन्त्यग्निम्। सम्मृष्टेऽग्नौ ता उभावेवोत्तरावाघारावाघारयतः। अथाऽध्वर्युरेवाश्राव्य होतारं प्रवृणीते। प्रवृतो होतोत्तरस्यै वेदेर्होतृषदन उपविशति। उपविश्य प्रसौति। ता उभावेव प्रसूतौ स्रुच आदायातिक्रामतः। अतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह-समिधो यज इति। 'यज यज' इति चतुर्थे चतुर्थे प्रयाजे समानयमानौ नवभिः प्रयाजैश्चरतः ॥३०॥

अथाध्वर्युरेवाह—'अग्नयेऽनुब्रूहि' इत्याग्नेयमाज्यभागम्। ता उभावेव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतः। अतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह—'अग्निं यज' इति। ता उभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३१॥

अथाध्वर्युरेवाह—'सोमायानुब्रूहि' इति सौम्यमाज्यभागम्। ता उभावेव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतः। अतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह—'सोमं यज' इति। ता उभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३२॥

तद्यत् किञ्च वाचा कर्तव्यम्-अध्वर्युरेव तत् करोति न प्रतिप्रस्थाता। तद्यदध्वर्युरेवाश्रावयति इहैव यत्र वषट् क्रियते ॥३३॥

कृतानुकर एव प्रतिप्रस्थाता। क्षत्रं वै वरुणो विशो मरुतः। तत् क्षत्रायैवैतद्विशं कृतानुकरामनुवर्त्मानं करोति, प्रत्युद्यामिनीं ह क्षत्राय विशं कुर्यात्। यदपि प्रतिप्रस्थाताऽऽश्रावयेत्। तस्मान्न प्रति प्रस्थाताऽऽश्रावयति ॥३४॥

पाणावेव प्रतिप्रस्थाता स्रुचौ कृत्वोपास्तेऽथाध्वर्युरेवैतैर्हविर्भिः प्रचरति आग्नेयेनाष्टाकपालेन पुरोडाशेन, सौम्येन चरुणा, सावित्रेण द्वादश-

कपालेन वाऽष्टाकपालेन वा पुरोडाशेन, सारस्वतेन चरुणा, पौष्णेन चरुणा, ऐन्द्राग्नेन द्वादशकपालेन पुरोडाशेन ॥३५॥

अथैताभ्यां पयस्याभ्यां प्रचरिष्यन्तौ विपरिहरतः। स यो मेषो भवति मारुत्यां तं वारुण्यामवदधाति। या मेषी भवति-वारुण्यां तां मारुत्यामवदधाति। तद् यदेवं विपरिहरतः। क्षत्रं वै वरुणो वीर्यं पुमान्, वीर्यमेवैतत् क्षत्रे धत्तः। अवीर्या वै स्त्री, विशो मरुतः, तदवीर्यामेवैतद्विशं कुरुतः। तस्मादेवं विपरिहरतः ॥३६॥

अथाध्वर्युरेवाह—'वरुणायानुब्रूहि' इति। स उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्यै वारुण्यै पयस्यायै द्विरवद्यति। सोऽन्यतरेणावदानेन सह मेषमवदधाति। अथोपरिष्टादाज्यस्याभिधारयति, प्रत्यनक्त्यवदाने, अतिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह 'वरुणं यज' इति वषट्कृते जुहोति ॥३७॥

सव्ये पाणावध्वर्युः स्रुचौ कृत्वा दक्षिणेन प्रतिप्रस्थातुर्वासोऽन्वारभ्याह-'मरुद्भ्योऽनुब्रूहि' इति। उपस्तृणीत आज्यं प्रतिप्रस्थता। अथास्यै मारुत्यै पयस्यायै द्विरवद्यति। सोऽन्यतरेणावदानेन सह मेषीमवदधाति। अथोपरिष्टादाज्यस्याभिधारयति, प्रत्यनक्त्यवदाने, अतिक्रामति। अथाध्वर्युरेवाश्राव्याह-'मरुतो यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥३८॥

अथाध्वर्युरेव कायेन एककपालेन पुरोडाशेन प्रचरति। कायेनैककपालेन पुरोडाशेन प्रचर्याध्वर्युरेवाह 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि' इति। स सर्वेषामेव हविषामध्वर्युः सकृत् सकृदवद्यति। अथैतस्या एव पयस्यायै प्रतिप्रस्थाता सकृदवद्यति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयतः। ता उभावेवातिक्रामतः। अतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह-'अग्निं स्विष्टकृतं यज' इति। ता उभावेव वषट्कृते जुहुतः ॥३९॥

अथाध्वर्युरेव प्राशित्रमवद्यति। इडां समवदाय प्रतिप्रस्थात्रेऽतिप्रजिहीते।

तत्रापि प्रतिप्रस्थाता मारुत्यै पयस्यायै द्विरम्यवद्यति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। उपहूय मार्जयन्ते ॥४०॥

अथाध्वर्युरेवाह—'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' समिधमाधाय अग्नीमग्नीत् सम्मृड्ढि इति। स स्रुचोरेवाध्वर्युः पृषदाज्यं व्यानयते। अथ यदि प्रतिप्रस्थातुः पृषदाज्यं भवति तत् स द्वेधा व्यानयते। उतो तत्र पृषदाज्यं न भवति स यदेवोपभृत्याज्यं तत् स द्वेधा व्यानयते। ता उभावेवातिक्रामतः। अतिक्रम्याश्राव्याध्वर्युरेवाह देवान् यज' इति। 'यज यज' इति चतुर्थे चतुर्थेऽनुयाजे समानयमानौ नवभिरनुयाजैश्चरतः। तद्यन्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम्। तदुभयत एवैतद्वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति इतश्चोर्ध्वाः इतश्चावाचीः तस्मान्नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम् ॥४१॥

ता उभावेव सादयित्वा स्रुचो व्यूहतः। स्रुचो व्यूह्य, परिधीन् समज्य परिधिमभिपद्य आश्राव्याध्वर्युरेवाह—'इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय, इति। सूक्त वाकं होता प्रतिपद्यते। अथैता उभावेव प्रस्तरौ समुल्लुम्पतः, उभावनुप्रहरतः उभौ तृणे उपगृह्योपासाते-यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४२॥

अथाग्नीदाह—'अनुप्रहर' इति। ता उभावेवानुप्रहरतः उभावात्माना उपस्पृशेते ॥४३॥

अथाह 'संवदव' इति। अगानग्नीत् .अगन् श्रावय श्रौषट्, 'स्वगा दैव्या हीतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्बूहि इति। अध्वर्युरेवैतदाह। ता उभावेव परिधीनुप्रहरतः। उभौ स्रुचः सम्प्रगृह्य स्फ्ये सादयतः ॥४४॥

अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य पत्नीः संयाजयति। उपास्त एव प्रतिप्रस्थाता। पत्नीः संयोज्योदेत्यध्वर्युः ॥४५॥

त्रीणि समिष्टयजूंषि जुहोति। तूष्णीमेव प्रतिप्रस्थाता स्रुचं प्रगृह्णाति

तद् ये वैश्वदेवेन यजमानयोर्वाससी परिहिते स्याताम् ते एवात्रापि स्याताम्। अथास्यै वारुण्यै क्षामकर्षमिश्रमादायावभृथं यन्ति, वरुण्यं वा एतत्, निर्वरुणतायै। तत्र न साम गीयते न ह्यत्र साम्ना किञ्चन क्रियते। तूष्णीमेवेत्याम्यवेत्योपमारयति ॥४६॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अवदेवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्। पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि इति। कामं हैते यस्मै कामयेत तस्मै दद्यात्। न हि दीक्षितवसने भवतः। स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवं सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते ॥४७॥

अथ केशश्मश्रूप्त्वा समारोह्याग्नी उदवसायेव ह्येतेन यजते। न हि तदवकल्पते-यदुत्तरवेदावाग्निहोत्रं जुहुयात्। तस्मादुदवस्यति गृहानित्वा, निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजते। उत्सन्नयज्ञ वा एषः यच्चातुर्मास्यानि। अथैष क्लृप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत् पौर्णमासम्। तत् क्लृप्तेनैवैतद् यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति तस्मादुदवस्यति ॥४८॥

इति वरुणप्रघासयागः

वरुणप्रघासेष्टि

प्रजापति ने वैश्वदेव से प्रजाओं को उत्पन्न किया। प्रकृत में प्रजा से तात्पर्य भूतसृष्टि व देवसृष्टि से है और प्रजापति से सूर्यरूप प्रजापति का ग्रहण है। इसीलिए तो श्रुति सूर्य को देवताओं का अनीक बतला रही है—

'चित्र देवानामुदगानीकम्' इति। सूर्यरश्मियाँ देवता ही तो हैं। देव प्रकाशमय है और प्रकाश सूर्य में है अथवा सूर्य प्रकाशघन है। अतः इसी सूर्य से देव सृष्टि होती है, यह निश्चित है। प्राण को देवता कहते हैं और प्राण प्रधानतया सूर्य में रहता है इसी तथ्य को 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' यह श्रुति बतला रही है। भूतों की उत्पत्ति पृथिवी से होती है। भूतभाग दृश्य व धामच्छद है, देवभाग अदृश्य व अधामच्छद है। देवता के बिना भूत की सत्ता नहीं है और प्राण

(देवता) भी बिना भूत के रह नहीं सकता। यदि हम प्राण या देवता को ग्रहण करना चाहते हैं तो भूत भाग के द्वारा ही उसका ग्रहण कर सकते हैं। प्राण (देव) व भूत की समष्टि ही पदार्थ है। प्रजाओं की उत्पत्ति देवता-समुदाय से ही होती है। इसीलिए 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः' यह कहा गया है। इसीलिए देवता व भूत प्रजा की उत्पत्ति विश्व-देवों के द्वारा बतलायी है। यही बात 'वैश्वदेवेन प्रजाः ससृजे' इस उक्ति से व्यक्त की गई है।

उन प्रजाओं ने वरुण के यवों को खा लिया। यव शब्द से यहाँ सूर्य से ऊपर विद्यमान पारमेष्ठ्य अप्तत्व का ग्रहण है। संसार में दो तत्व हैं शीत व उष्ण, शुष्क व आर्द्र, अग्नि व जल (सोम), इन्हीं के योग से संसार के यावन्मात्र पदार्थों की उत्पत्ति होती है। सूर्य आग्नेय तत्व है। यदि इसमें आप्य जल का सम्बन्ध न होता तो यह रुद्राग्नि सारे संसार को दग्ध कर डालती। किन्तु इसके चौतरफ व्याप्त शैत्यप्रधान अप्तत्व के द्वारा ही यह घोर रुद्राग्नि शान्त होकर शिव बना हुआ है। किन्तु यह अग्नि की शिवता अम्बारूप जल पर ही निर्भर है। अतः इसे साम्ब सदाशिव कहा जाता है। अर्थात् जब यह अग्नि अम्बा (जल) से युक्त होती है, तभी शिव बनती है। अतएव लोक में भी इस रुद्राग्नि को शान्त करने के लिए सहस्रघटाभिषेक किया जाता है। यद्यपि पारमेष्ठ्य तत्व केवल जल ही नहीं अपितु सोम तत्व भी है। किन्तु सोम के विरल व दाह्य होने से वह दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि ही बन जाता है, किन्तु यह अप् अग्नि में मिल कर अग्नि नहीं बन जाता अपितु अग्नि को शान्त कर देता है। यह अप्तत्व जिसे कि शैत्य भी कहते हैं वारुण पदार्थ है। इसी वारुण अप्तत्व को यहाँ यव शब्द से व्यवहृत किया है, क्योंकि जल या शैत्य अग्नि में प्रविष्ट होकर अर्थात् मिल कर भी उसका स्वरूप नहीं बनता किन्तु अमिश्रित रहता है। अतः मिश्रणामिश्रणार्थक यु धातु से अप् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न यव शब्द वारुण अप्तत्व का बोधक है। प्रजापति द्वारा जब प्रजा उत्पन्न हुई तब वह प्रजा आग्नेय थी। अतः उसके खाने के लिए इस वारुण यव के अतिरिक्त कुछ नहीं था। क्योंकि सूर्य अप्तत्व से ही परितः वेष्टित था। उसी को उसने खा लिया। इस प्रजा ने वारुण यव का भक्षण

किया, अतएव वारुण यव को खाने के कारण इसका वरुणप्रघास (वारुणभक्षक) नाम पड़ गया ॥१॥

वरुण ने उस प्रजा को अपने पाश में जकड़ लिया। सर्दी लगने से मनुष्य की यही स्थिति होती है, अतः वरुण (शीत) से गृहीत वह प्रजा विदीर्ण होने लगी, उसके अंग फूटने लगे, हाथ-पैर आदि काँपने लगे, केवल श्वास-प्रश्वास लेती हुई वह सो गई व बैठ गई। अर्थात् क्रियारहित हो गई। केवल श्वास-प्रश्वास आते रहे वे नहीं निकले। शेष देवता अपक्रान्त हो गये। अर्थात् अन्य इन्द्रियों के व्यापार बन्द हो गये। प्राण व अपान अर्थात् श्वास-प्रश्वास न निकलने से वह नष्ट नहीं हुई। शैत्यप्रवेश से यह दशा अनुभवसिद्ध है ॥२॥

तब प्रजापति ने इस वरुणप्रघास हवि के द्वारा ही उस प्रजा की चिकित्सा की। इससे पूर्व उत्पन्न तथा आगे उत्पन्न होने वाली दोनों प्रजायें वरुणपाश से मुक्त हो गईं। और उस प्रजापति की प्रजा रोगरहित व दोषरहित हो गई ॥३॥

वैश्वदेव याग के बाद चतुर्थ मास में यह यजमान इन वक्ष्यमाण हवियों से यजन करता है। इस कारण इसकी प्रजाओं को वरुण अपने पाश में नहीं बाँधता। मनुष्य देवताओं ने इसी प्रकार वरुणप्रघास से यजन किया था, अतः आज यह मानव यजमान भी उसी प्रकार वरुणप्रघास याग करता है। इससे इसकी पूर्वोत्पन्न व आगे उत्पन्न होने वाली दोनों प्रजाएँ वरुणपाश से मुक्त हो जाती हैं और रोगरहित व दोषरहित हो जाती हैं। अतः वैश्वदेव यागानन्तर चतुर्थ मास में वरुणप्रघास याग किया जाता है ॥४॥

इस वरुणप्रघास में दो वेदियाँ तथा दो अग्नियाँ होती हैं। क्योंकि इसमें दो वेदियाँ व दो अग्नियाँ होती हैं, इससे यजमान दक्षिण व उत्तर दोनों पार्श्वों से प्रजाओं को वरुणपाश से मुक्त करता है। इसलिए दो वेदियाँ व दो अग्नियाँ इस वरुणप्रघासेष्टि में स्थापित की जाती हैं, क्योंकि ऐसा करता हुआ यजमान ऊर्ध्व अर्थात सूर्य में वर्तमान प्रजा तथा अवाची अर्थात् सूर्य से नीचे पृथिवी में वर्तमान प्रजा दोनों को वरुणपाश से मुक्त करता है ॥५॥

वह यजमान उत्तरवेदि अर्थात् ३२ अंगुल का समचतुष्कोण स्थण्डिल

(मृत्तिका का चत्वर) बनाये । दक्षिण वेदि में नहीं । क्योंकि उत्तर वेदि में वरुण का यजन होता है और दक्षिण वेदि में तदनुगामी मरुतों का । वरुण क्षत्र है और मरुत् प्रजा । प्रजा से राजा का आसन उच्च होता है । इसीलिए लोक में उपरि आसीन क्षत्र की उपासना (स्तुति) प्रजा नीचे बैठ कर करती है । अतः उत्तरवेदि में ही उत्तरवेदि अर्थात् ३२ अंगुल का समचतुष्कोण स्थण्डिल बनाया जाता है[1]।।६।।

वक्ष्यमाण पाँच हवियाँ ही वरुणप्रघासेष्टि में होती हैं। इन्हीं[2] पांच हवियों से प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया और उत्तर व दक्षिण दोनों भागों से सूर्य में वर्तमान ऊर्ध्व प्रजा और उससे नीचे वर्तमान पार्थिव प्रजा को वरुणपाश से मुक्त किया । अतः इस याग में ये पाँच हवियाँ ही होती हैं ।।७।।

सर्व प्रथम इस इष्टि में इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश होता है । प्राण और उदान क्रमशः इन्द्र और अग्नि हैं । क्योंकि सौर प्राण इन्द्र है और पार्थिव प्राण उदान । यद्यपि पार्थिव प्राण को अपान कहते हैं, तथापि पार्थिव प्राण अंगिरा (आग्नेय) ऊपर की तरफ जाता है, अतः उसे यहाँ अपान न कह कर उदान कह दिया है । इन्द्र से शरीर में चेतना तथा अग्नि से ताप रहता है जैसे उपकार करने वाले के लिए लोक में प्रत्युपकार करना चाहिए उसी प्रकार इन्द्र अग्नि को हवि देनी चाहिए। इन प्राणोदान रूप इन्द्राग्नि के द्वारा ही प्रजा प्राणों से अपक्रान्त नहीं हुई । अतः यह यजमान प्राणोदानरूप इन्द्राग्नि के याग से ही प्रजा को चिकित्सा करता है । प्राण व उदान अर्थात् इन्द्र व अग्नि को यह प्रजाओं में स्थापित करता है। इसलिए ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश किया जाता है ।।८।।

अध्वर्युकर्तृक उत्तरवेदि तथा प्रतिप्रस्थातृकर्तृक दक्षिण वेदि दोनों में पयस्या हवि होती हैं । क्योंकि दूध से ही प्रजापति से उत्पन्न प्रजायें बढती हैं,

---

(१) उत्तरवेदिं द्वात्रिंशदङ्गुलां समचतुरस्रं स्थण्डिलं कुर्यादध्वर्युः। का.श्रौ. सू.५।३।१८ की व्याख्या

(२) यद्यपि प्रजोत्पत्ति वैश्वदेवी पांच हवियों से होती है न कि वरुणप्रघासीय पांच हवियों से, तथापि रक्षा इन्हीं ५ हवियों से होती है । अतः प्रजासत्ता इसके अधीन होने से उत्पत्ति भी उसीसे बतला दी है ।

उसके साथ रहती हैं। अर्थात् उसका परित्याग नहीं करतीं। दूध से ही बढी थीं। अतः जिससे वे प्रजायें बढी थीं और बढती हैं उसी दूध से दोनों ओर से सूर्य में वर्तमान ऊर्ध्व प्रजा तथा उससे नीचे वर्तमान अवाची (पार्थिव) प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाया था। अतः यहाँ भी पयस्या हवि की जाती है ॥९॥

उत्तरा वेदि में वारुणी पयस्या होती है। वरुण ने ही प्रजा का पाश से निग्रह किया था। अतः वरुणदेवताक पयस्या हवि से प्रत्यक्ष ही वरुणपाश से प्रजा को मुक्त कराता है। मारुती पयस्या दक्षिण वेदि में होती है। अजामिता-दोषनिवृत्त्यर्थ ही वरुण देवता का परित्याग कर यह पयस्या मरुद् देवता के लिए दी जाती है। यदि उत्तरा और दक्षिणा दोनों पयस्या वरुण को दी जातीं तो यजमान जामितादोष का भागी बनता क्योंकि उस स्थिति में प्रयुक्त देवता का ही पुनः प्रयोग होता। किए हुए कार्य को उसी देवता के लिए पुनः करना जामिता (पुनरुक्ति) होगी। दूसरा कारण यह है कि दक्षिण से प्रजापति की प्रजाओं को मरुत् मारना चाहते थे। मरुद्देवताक दक्षिण पयस्या के द्वारा उन्हीं मरुद् देवताओं का शमन प्रजापति ने किया था ॥१०॥

इन दोनों पयस्याओं में कैर[1] डालते हैं। प्रजापति ने प्रजा को करीरों से ही सुखी किया था। अतः कैरों को डालता हुआ यजमान प्रजा को सुखी करता है ॥११॥

इसके अनन्तर इन दोनों पयस्याओं में शमी[2] के पत्तों को डालते हैं। प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजा को शमी के पत्तों के रस से सुखी किया था। अतः आज भी यह यजमान शमी के पलाशों से प्रजा को सुखी करता है ॥१२॥

इसके बाद प्रजापतिदेवताक एककपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस प्रजापतिदेवताक एककपाल पुरोडाश के द्वारा प्रजापति ने प्रजाओं को सुखी किया था। अतः आज भी यजमान काय (प्राजापत्य) एककपाल पुरोडाश के द्वारा प्रजाओं को सुखी बनाता है ॥१३॥

(१) 'तयोरुभयोः पयस्ययोः करीराणि प्रक्षिपेत्'। (तै० सं० २।४।९।४)
(२) 'उभयोः करीराण्यावपति शमीपलाशमिश्राणि। इति (का० श्रौ० सू० ५।११२)

इसके पश्चात् वरुणप्रघासयाग के पूर्व दिन अर्थात् आषाढी पूर्णिमा के दिन यह यजमान अथवा उसका प्रतिनिधि अध्वर्यु यवों को तुषरहित कर थोड़ा सा अग्नि में तपा कर, पीस कर, जल मिला कर उसे[१] करम्भपात्रों में भर देते हैं। यजमान के परिवार में जितने मनुष्य हैं उनसे एक अधिक पात्र बनाने चाहिए जिनमें कि वह करम्भ (जलमिश्रित सक्तु) भरा जाता है।।१४।।

करम्भपात्र-निर्माणकाल में ही उसी पिष्ट से मेष[२] व मेषी का निर्माण करते हैं। यदि एडक[३] (मेष) रहित ऊर्णा मिल जाय तो उसे जल के साथ मिला कर उसे उन निर्मित मेष मेषी में चिपका दे। और यदि एडकारहित ऊर्णा न मिले तो कुशमयी[४] ऊर्णा अर्थात् कुशा के छोटे-छोटे खण्ड कर उन्हें ही चिपका दे।।१५।।

करम्भ के मेष और मेषी बनाने का कारण बतलाते हुए कहते हैं कि यह मेष वरुण का प्रत्यक्ष पशु है। अतः इनका निर्माण करता हुआ प्रत्यक्ष रूप में वरुण पाश से प्रजाओं को मुक्त करता है। ये मेष और मेषी यव के बनाये जाते हैं क्योंकि यवों को खाने वाली प्रजा का ही तो वरुण ने निग्रह किया था। मेष और मेषी दोनों का मिथुन बना कर उन्हीं की आहुति दी जाती है। क्योंकि मिथुन वरुणपाश से ही प्रजाओं को मुक्त कराता है।।१६।।

ऋत्विक् अध्वर्युकर्तृक उत्तर पयस्या में मेषी को डालता है तथा प्रतिप्रस्थातृकर्तृक दक्षिण पयस्या में मेष को डालता है। क्योंकि इसी प्रकार मिथुन की स्थिति लोक में है। स्त्री पुरुष के उत्तर को तरफ सोती है।।१७।।

अध्वर्यु[५] आग्नेयादि सभी हवियों को उत्तरवेदि में स्थापित करता है, केवल इस मारुती पयस्या को प्रतिप्रस्थाता दक्षिण वेदि में रखता है।।१८।।

---

(१) करम्भ शब्द से दधिसंयुक्त यव का ग्रहण मानते हैं। जैसे—'करम्भो दध्ना संयुक्ताः सक्तवः तन्मयानि पात्राणि करम्भपात्राणि' (का.श्रौ.सू. ५।५२)

(२) 'मेषमिथुनं च' (का.श्रौ.सू. ५।५२)

(३) 'अनैडकीरूर्णाः प्रक्षाल्याश्लेषयेत्तयोः (का. श्रौ. सू. ५।५३)

(४) 'कुशोर्णा वाऽभावे' (का. श्रौ. सू, ५।५४)

(५) 'सर्वाणि हवींष्युत्तरस्यामासादयति मारुतीं सहाज्यां प्रतिप्रस्थाता दक्षिणस्याम्' (का. श्रौ. सू. ५।११५)

हवि के रखने के बाद अग्निमन्थन[1] करता है। अग्निमन्थन से उत्पन्न अग्नि को 'भवतन्न' (वा सं० ५।३) इस मन्त्र से आहवनीय में डालकर अग्नावग्निः' (वा. सं. ५।४) मन्त्र से हवन करे। ये अग्निमन्थनादिक कार्य अध्वर्यु ही करे, प्रतिप्रस्थाता नहीं। अध्वर्यु ही 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इस मन्त्र से होता को प्रैष करता है। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही इध्म का आधान करते हैं। दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) ही अनुयाज के लिए दो समिधाओं को बचा लेते हैं। दोनों ही पूर्वाधारों को करते हैं। किन्तु अध्वर्यु ही 'अग्नीमग्नीत् संमृड्ढि' अर्थात् 'हे अग्नीध्र सामिधेनी प्रैष की तरह आहवनीयाग्नि को संमार्जन से संस्कृत करो' यह कहता है।

'अग्निमग्नीत्' इस सम्प्रैष के बाद प्रतिप्रस्थाता जहाँ पत्नी बैठी हुई है, उस प्रदेश पर जाये। वह प्रतिप्रस्थाता यज्ञ के लिए पत्नी को बुलाने की इच्छा से उस पत्नी से पूछता है कि हे पत्नि, तुम्हारा क्या किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध है। यदि स्त्री अन्य पुरुष की पत्नी होकर अन्य पुरुष से सम्बन्ध रखती है तो उसका यह कर्म वरुण्य (आसुर) है, अतः यज्ञ कर्म को आसुर भाव से बचाने के लिए इसका निर्णय आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि पर पुरुष के साथ व्यभिचार-कर्म पत्नी के हृदय में विद्यमान शल्य है। अतः शल्ययुक्त पत्नी हवन न करे, इसलिए उससे यह पूछा जाता है। यदि पापकर्म का कथन कर दिया जाता है, तो वह कम हो जाता है तथा सत्यपूत हो जाता है, इसलिए पूछता है। यदि वह पूछने पर नहीं बतलाती है तो पत्नी के सम्बन्धियों का अहित हो जाता है। इसीलिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—'यज्जारं सन्तं न प्रब्रूयात् प्रियं ज्ञातिं रुन्ध्यात् असौ मे जार इति निर्दिशेत्' इति (तै. ब्रा. १।६।५।२)। कात्यायन ने भी 'प्रतिप्रस्थाता पत्नीमानेष्यन्नाह केन चरसीति संस्तुतानाचष्टे' इस [2]जातश्रुति के द्वारा इसी अर्थ को बतलाया है।।२०।।

प्रतिप्रस्थाता निम्न लिखित मन्त्र को यजमान पत्नी से कहलाता है—

(१) 'आसाद्याग्निमन्थनम्' (का. श्रौ. सू. ५।२१)

(२) तदाह कात्यायनः-प्रजायां वा जातश्रुतेः इति (का० श्रौ. सू. अ–५ कं० ३ सू. ४)

''[1]प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ।
करम्भेण सजोषस.' (वा. सं. ३।४४) इति ।

हिंसक शत्रुओं को निकालने वाले तथा करम्भपात्ररूप हवि से प्रसन्न होने वाले प्रघासी हविष्मान् मरुतों का हम आह्वान करते हैं । जैसे देवता के आह्वान के लिए पुरोऽनुवाक्या होती है, उसी प्रकार की यह ऋक् है । अतः इसी ऋक् के द्वारा इन मरुतों का करम्भपात्रस्थ हवि के भक्षण के लिए बुलाता है ॥२१॥

ये करम्भपात्र घर में जितने पुरुष हैं, उतने होते हैं और एक अधिक होता है । प्रतिपुरुष एक एक करम्भपात्र होने से उन प्रजाओं को एक एक करम्भपात्र द्वारा वरुणपाश से मुक्त करता है । और जो एक अधिक करम्भपात्र होता है, उससे आगे उत्पन्न होने वाली प्रजाओं को वरुणपाश से मुक्त करता है । इसीलिए गृहस्थ पुरुष-संख्या से अधिक एक करम्भपात्र किया जाता है ॥२२॥

यवमय सक्तु के लिए पात्र होते हैं । पात्रों में ही अन्न खाया जाता है । अतः मरुतों को दिए जाने वाले पयस्या अन्न के लिए भोजन पात्र बनाने चाहिए ये पात्र यवमय होते हैं, क्योंकि यव को ही खाने के कारण वरुण ने प्रजाओं का निग्रह किया था । अतः यवमय करम्भपात्रों का ही हवन किया जाता है । शूर्प के द्वारा ही आहुति दी जाती है । शूर्प के द्वारा ही तुषनिरास द्वारा अन्न तैयार किया जाता है । अतः[2] शूर्प से हवन ही प्रशस्त है । इस करम्भपात्र का हवन पत्नी करती है । इस प्रकार ऋत्विक् तथा पत्नी-रूप मिथुनसम्पत्ति हो जाती है । इस मिथुन से ही वरुणपाश से प्रजा को मुक्त करता है । अर्थात् यजमान व पत्नी दोनों ही वरुणपाश से मुक्त हो जाते हैं ॥२३॥

यज्ञ से पूर्व तथा आहुति से पूर्व करम्भपात्र से हवन करता है क्योंकि मरुत् देवों की विट् अर्थात् प्रजा है और प्रजा अहुताद होती है । अहुत अन्न को खाती है । अर्थात् प्रधान आहुति से पूर्व ही इनको आहुति दे दी जाती है ।

(१) आख्याते प्रघासिन इत्येतां वाचयति नयन् (का० ५।१२०)

(२) करम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौऽप्रत्यङ्मुखी जायापती वा दक्षिणेनाहृत्य पूर्वेण वेदिमपरेण यद्ग्राम इति (का० श्रौ० सू० ५।२१)

तथा वरुणपाश से जकड़े जाने पर प्रजा के अंग विदीर्ण होने लगे, फूटने लगे, दम घुटने लगा, कभी वह सोती थी, कभी बैठती थी। प्रजाओं में पाप को मरुतों ने संश्लेषित किया था और भगवान् प्रजापति ने मारुति इष्टि के द्वारा ही उसका परिहार किया था। उसी प्रकार वरुणपाश से निगृहीत यजमान प्रजाओं के पाप को ये मरुत् संश्लेषित करते हैं और मारुती रुष्टि से उसका शमन किया जाता है। अतः वरुणपाशविमोचनार्थं यज्ञ से पूर्व करम्भपात्रों के होम से मरुतों का शमन करना उपयुक्त है ॥२४॥

वह पत्नी दक्षिणवेदिस्थित आहवनीय में हवन करती है। आहुतिमन्त्र निम्नलिखित है – 'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा (वा. सः ३।४५)। अर्थात् ग्राम में, वन में, मनुष्यसमूह में तथा इन्द्रियसम्बन्धी देवसमूह के कारण जो कुछ पाप हमने किया है, उस सबसे मैं मुक्त हो जाऊँ ॥२५॥

उसके बाद इन्द्रदेवताक, मरुत्वत् शब्दयुक्त (मोषूण इन्द्रः) इत्यादि ऋक् का यजमान जाप करता है। जब वरुणपाश से बद्ध प्रजाओं के बन्धन का कारण पाप मरुतों ने सृष्ट किया, तब प्रजापति ने विचारा कि ये मरुत् मेरी प्रजाओं को कष्ट न पहुँचायें ॥२६॥

तब उसने इन्द्रदेवताक मरुत्वत्-शब्दयुक्त ऋचा का जाप किया। इन्द्र क्षत्र है, मरुत् विट् (प्रजा) है। क्षत्र प्रजाओं का निरोधक है। उस इन्द्र के द्वारा वे मरुत् रोक दिये जायँ, इस अभिप्राय से इन्द्रदेवताक ऋक् का जाप करता हैं ॥२७॥

वह ऋक् निम्नलिखित है–

मोषूण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्माते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः॥

हे इन्द्र, इन से ग्रामों में मेरी प्रजा की हिंसा मत करो। हे बलवान् इन्द्र, मरुतों के साथ तुम्हारे लिए यह अवयजनरूप करम्भपात्र होम है। महाबलवान् तथा जल की वर्षा करने वाले अथवा कामनाओं को पूर्ण करने वाले, यवमय हवियों से नित्य हविष्मान् इस इन्द्र की मरुद् देवताओं की यह स्तुति-रूप वाणी स्तुति करती है ॥२८॥

इसके बाद प्रतिप्रस्थाता निम्नलिखित मन्त्र का यजमानपत्नी से वाचन करवाता है—

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सहवाचा मयोभुवा ।
देवेभ्यः कर्म कृत्वा अस्तं प्रेत सचाभुवः ।। वा. सं. ३।४७)

सुख भावना करने वाली मन्त्र रूपी वाणी के साथ कर्म करने वाले यजमान के अमात्यों ने करम्भपात्रहोमरूपी कर्म किया। इसलिए हे ऋत्विजो, वरुण-प्रघासनामक करम्भपात्रहोमरूप कर्म को देवों के लिए निष्पन्न कर पत्नी के साथ आप यजमान के घर आवें । मूलकार ने इसी मन्त्र की पादशः व्याख्या की है। पूर्वार्ध की व्याख्या स्पष्ट है । 'सचाभुवः' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि अन्य देश से अर्थात् पत्नीस्थान से ऊढ आहवनीय के समीप पहुँचाई हुई पत्नी के साथ यजमान के कर्मकर्त्ता ऋत्विक् हैं। 'अस्तं प्रेत' का अर्थ बतलाते हैं कि पत्नी यज्ञ का पश्चिमार्ध भाग है । गार्हपत्य के पश्चिम भाग में पत्नीशाला के होने से यज्ञ के पश्चिम भाग में अवस्थित तथा आहुति के लिए पूर्व की तरफ जाती हुई इस पत्नी को प्रतिप्रस्थाता ने यज्ञ में पहुँचाया था। अब पुनः गृह में ही उसे प्रतिष्ठित करना है क्योंकि गृह ही प्रतिष्ठा है ।।२६।।

पत्नी को अपने स्थान में पहुँचा कर प्रतिप्रस्थाता लौट आता है । इसके पश्चात् आग्नीध्र अग्नि का संमार्जन करता है। अर्थात् उसकी भस्म आदि को दूर करता है। अग्नि का संमार्जन करने के बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों उत्तराधारों का आधार करते हैं अर्थात् लम्बी धारा से अग्नि में घृत डालते हैं[1] । तत्पश्चात् अध्वर्यु ही 'ओ श्रावय' इस मन्त्र के द्वारा आश्रावण करके होता का वरण करता है। अध्वर्यु द्वारा वरण किया हुआ होता उत्तरवेदिसम्बन्धी होतृसदन में बैठ जाता है। यहाँ बैठ कर वह अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों को ही आहुति देने के लिए आज्ञा देता है । आज्ञा देने पर दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) ही स्रुचायें लेकर आहवनीय के पास जाते हैं। वहाँ जाकर आश्रावण कर अध्वर्यु ही 'समिधो यज' ऐसा बोलता है ।

इस यज्ञ में ६ प्रयाज व ६ अनुयाज होते हैं[2] । पहिले प्रयाज में 'समिधो यज' यह कहना चाहिए । बाद के इडादि प्रयाजों में केवल 'यज' इतना ही कह

(१) आगते संमार्जनाद्याज्यभागाभ्याम्' (का० श्रौ० सू० ५।१२४)
(२) नवप्रयाजं नवानुयाजां वैश्वदेवं वरुणप्रघासा महाहविश्च (का.श्री सू. ५।३२, ३३)

देना पर्याप्त है। स्रुक् में पहिले तीन बार घृत डालते हैं और तीन प्रयाजों की आहुति दे देते हैं। इसके अनन्तर चतुर्थ प्रयाज के लिए पुनः घृत लेते हैं। इस प्रकार चौथे चौथे प्रयाज में घृत लेकर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता ६ प्रयाज करते हैं ॥३०॥

प्रयाज के पश्चात् आग्नेय आज्य भाग किया जाता है। उसके विषय में बतलाते हैं कि इसमें अध्वर्यु ही होता के प्रति 'अग्नयेऽनुब्रूहि' ऐसा कहता है— यह आग्नेय आज्यभाग के लिए है। इसके बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों स्रुक् में घृत को चार बार करके (चार खण्ड करके) आहुति देने के लिए आवहनीय के पास जाते हैं। वहाँ जाकर आश्रावण करके अध्वर्यु ही 'अग्नि यज' यह कहता है। इसके बाद अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही अपनी-अपनी आहवनीयाग्नि में वषट्कार करने पर उस घृत की आहुति देते हैं ॥३१॥

इसके बाद सौम्य आज्य भाग को बतलाते हुए कहते हैं कि अध्वर्यु ही होता के प्रति 'सोमाय अनुब्रूहि' ऐसा कहता है। यह सौम्य आज्यभाग के लिए है। तत्पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही आज्य को चार अवदानों (भागों) में गृहीत कर आहुति के लिए आहवनीय के पास जाते हैं। वहाँ जाकर आश्रावण कर अध्वर्यु ही 'सोमं यज' ऐसा कहता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपनी-अपनी आहवनीयाग्नि में वषट्कार करने पर आहुति देते हैं। इस वरुणप्रधासेष्टि में[१] वागिन्द्रियसाध्य सभी कर्म अध्वर्यु ही करता है, प्रतिप्रस्थाता नहीं। अतः 'ओश्रावय' 'अग्नियज' 'सोमं यज' 'अग्नयेनुब्रूहि' 'सोमाय अनुब्रूहि' वौषट्, आदि सभी का कथन अध्वर्यु ही करता है। इसलिए जहाँ उत्तरवेदि में होता वषट्कार करता है, वहाँ अध्वर्यु ही 'ओ श्रावय' कह कर आश्रावण करता है ॥३३॥

प्रतिप्रस्थाता कृतानुकर[२] है। अर्थात् अध्वर्यु द्वारा कृत कर्म का अनुकरण करता है। क्योंकि वरुण क्षत्र (राजा) है, मरुत विट् (प्रजा) है। वारुणी वेदि का यजन अध्वर्यु करता है और मारुती वेदि का यजन प्रतिप्रस्थाता। अध्वर्यु के कृत कर्म के अनुसार चुपचाप कर्म करता हुआ प्रतिप्रस्थाता प्रजा को क्षत्र की कृता-

---

(१) यत्किञ्च वाचा कर्माणि अध्वर्युरेव तत्कुर्यात् (आ० श्रौ०सू० ८।५।१७)

(२) कृतानुकरोऽन्यत्र दक्षिणस्याम् (का.श्रौ.सू. ५।१११)

नुकार (अनुगामिनी) बनाता है। यदि प्रतिप्रस्थाता पृथक् आश्रावण कर्म करे, तो वह प्रजा को क्षत्र की प्रतिस्पर्धा के लिए खड़ा कर देगा ।।३४।।

आज्यभागकरणानन्तर प्रतिप्रस्थाता हाथ में स्रुक्[1] (जुहू, उपभृत्) लेकर बैठ जाता है और अध्वर्यु[2] आग्नेयादि हवियों की आहुति देता है। पहिले आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश की, पश्चात् सौम्य चरु की, तत्पश्चात् सावित्र द्वादशकपाल अथवा अष्टाकपाल पुरोडाश की, तदनन्तर सावित्र चरु की, बाद में पूषदेवताक चरु की और अन्त में इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति देता है ।।३५।।

इसके पश्चात् वारुणी और मारुती पयस्या की आहुति देने के लिए अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता मेष और मेषी का विपर्यय कर देते हैं। अर्थात् जो मेष मारुती पयस्या में था, उसे वारुणी पयस्या में रखते हैं और जो मेषी वारुणी पयस्या में थी, उसे मारुती पयस्या में रखते हैं। यह विपर्यय इसलिए किया जाता है कि वरुण क्षत्र है, पुरुष (मेष) वीर्य है। अतः मेषरूप वीर्य का वरुणरूप क्षत्र में आधान करता है। स्त्री (मेषी) अवीर्या है अतः इस अवीर्या मेषी को मरुद्रूप प्रजाओं में रखता है। मारुती पयस्या में अवीर्या मेषी को रखकर प्रजा को अवीर्या बनाता है ।।३६।।

इसके पश्चात् अध्वर्यु ही होता के प्रति 'वरुणाय अनुब्रूहि' ऐसा सम्प्रेष कहता है। वह जुहू में आज्य का उपस्तरण करता है और तत्पश्चात् वारुणी पयस्या के दो भाग करता है। वह उनमें से एक भाग के साथ मेष को स्रुक् में रख देता है। इसके बाद उस मेष पर घृत डालता है, अवत्त प्रदेश में हवि का प्रत्यञ्जन करता है। तदनन्तर आहुति के लिए आहवनीय के पास जाता है और वहाँ जाकर आस्रावण कर 'वरुणं यज' ऐसा कहता है। तत्पश्चात् वषट्कार करने पर आहुति दे देता है ।।३७।।

अध्वर्यु मारुती पयस्या की आहुति के लिए बायें हाथ में अपनी जुहू और उपभृत् धारण करके दाहिने हाथ से प्रतिप्रस्थाता के वस्त्र का अन्वारम्भण कर

(१) 'स्रुक्पाणिरास्ते प्रतिप्रस्थाता' (का०श्रौ०सू० ५।१२५)
(२) 'हविर्भिश्चरति अध्वर्युः' (का०श्रौ०सू० ५।१२६)

होता के प्रति 'मरुद्भ्यः अनुब्रूहि' ऐसा सम्प्रैष करता है। तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता आज्य का उपस्तरण करता है। तत्पश्चात् प्रतिप्रस्थाता मारुती पयस्या के दो भाग कर एक भाग के साथ मेषी को स्रुक् में रख देता है, उस पर आज्य का अभिधारण करता है, अवत्त प्रदेश में हवि का प्रत्यञ्जन करता है और आहुति के लिए आहवनीय के पास जाता है। पश्चात् अध्वर्यु ही आश्रावण कर 'मरुतो यज' ऐसा कहता है और वषट्कार करने पर केवल प्रतिप्रस्थाता दक्षिण आहवनीय में आहुति देता है। इन सब का संग्रह कात्यायन ने 'पयस्याप्रचरणकाले मेषौ व्यतिहरतः अन्यतरेणावदानेन सह मेषं सव्येन स्रुचौ गृहीत्वा प्रतिप्रस्थातुर्वासो दक्षिणेन मरुद्भ्योऽनुवाचयति, वारुणीवदवदानम्' इति (का. श्री. सू. ५।१२७-१३०) इन सूत्रों के द्वारा किया है ॥३८॥

तदनन्तर स्विष्टकृत् यजन के लिए अध्वर्यु ही 'क'-(अनिरुक्त प्रजापति) देवताक एककपाल पुरोडाश की आहुति देता है। इस आहुति को देने के बाद अध्वर्यु ही 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि' ऐसा सम्प्रैष करके सभी हवियों का थोड़ा-थोड़ा भाग लेता है और प्रतिप्रस्थाता मारुती पयस्या का एक हिस्सा निकाल लेता है। प्रतिप्रस्थाता मारुती पयस्या के अतिरिक्त किसी की भी आहुति नहीं देता, अतः वह उसी का भाग निकालता है। तत्पश्चात् दोनों दो बार घृत का अभिधारण करते हैं। वे दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) आहवनीय के पास जाते हैं। पास जाकर आश्रावण कर अध्वर्यु ही 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' ऐसा कहता है। तब अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही वषट्कार करने पर आहुति दे देते हैं ॥३९॥

तदनन्तर अध्वर्यु ही प्राशित्र (ब्रह्मौदन) का अवदान करता है। प्राशित्र, जिसका ऋत्विक् भक्षण करते हैं, इडा कहलाती है। सारी हवियों में से इडा-प्राशन के लिए थोड़ा भाग लेकर उसे प्रतिप्रस्थाता को सौंप देता है[1]। प्रति-प्रस्थाता[2] मारुती पयस्या हवि का थोड़ा भाग लेता है। तत्पश्चात् उन सब पर दो बार आज्य (घृत) का अभिधारण (सेचन) करता है। तदनन्तर इडा का आह्वान कर-उसका मार्जन करते हैं ॥४०॥

(१) 'इडामवदाय प्रतिप्रस्थात्रे प्रयच्छति' (का०श्री०सू० ५।१३२)
(२) 'तत्र प्रतिप्रस्थाता मारुत्याः' (का० श्री०सू० ५।१३३)

इडोपह्वानादिक कर्म प्रकृतियाग की तरह कर के अनुयाज करने के लिए अभ्यनुज्ञार्थ अध्वर्यु ही 'ब्रह्मन्, प्रस्थास्यामि' ऐसा प्रैष ब्रह्मा से करता है। 'यत्किञ्च वाचा कर्तव्यमध्वर्युरेव करोति' इसी बात को सूचित करने के लिए बार-बार 'अध्वर्युरेवाह' ऐसा कहा है। इस प्रकार प्रैष कर अध्वर्यु समिधा लेकर अग्निसंमार्जनार्थ आग्नीध्र से 'अग्निमग्नीत् संमृड्ढि' ऐसा प्रैष करता है। वह अध्वर्यु जुहू और उपभृत् में ही पृषदाज्य (दधिमिश्रित घृत) का आसेचन करता है। अर्थात् पृषदाज्यधानी में वर्तमान पृषदाज्य में से आधे भाग को जुहू में आसेचन कर अवशिष्ट आज्य को उपभृत् में ले लेवे। आज्यग्रहणकाल में यदि[1] प्रतिप्रस्थाता का पृषदाज्य हो तो वह प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु की तरह पृषदाज्य का दो प्रकार से आसेचन करे। अर्थात् पृषदाज्यधानीगत पृषदाज्य के आधे भाग को जुहू में आसेचन कर शेष आज्य को उपभृत् पात्र में रख दे। यदि किसी सम्प्रदाय में प्रतिप्रस्थाता का पृषदाज्य नहीं होता है[2], तो प्रतिप्रस्थाता उपभृत्पात्रगत आज्य का ही द्विधा व्यानयन (आसेचन) करे, अर्थात् आधे आज्य का जुहू में आसेचन कर शिष्ट आज्य का चतुर्थ प्रयाज में आसेचन करे। आसेचनानन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही आहवनीय के पास जाते हैं और वहाँ जाकर आश्रावण कर अध्वर्यु ही 'देवान् यज' ऐसा अनुयाजप्रैष करता है। किन्तु 'देवान् यज' ऐसा प्रैष प्रथम अनुयाज में ही करता है, शेष अनुयाजों में 'यज, यज' ऐसा ही प्रैष करता है। जुहूगत पृषदाज्य से तीन बार यजन कर चतुर्थ अनुयाज में उपभृत्पात्रगत पृषदाज्य को लेते हुए अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता ९ अनुयाज करते हैं। इस प्रकार ९ प्रयाज व ९ अनुयाज करता हुआ वह प्रजा को उभयतः (दोनों ओर से) वरुणपाश से मुक्त करता है जो कि ऊर्ध्वा (दैवत प्रजा है और जो कि अवाची (भूत प्रजा) है। इसीलिए ९ प्रयाज और ९ अनुयाज किये जाते हैं ॥४१॥

तदनन्तर 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश-वाक्य से प्राप्त स्रुग्व्यूहनादि कर्म अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही करते हैं। इसीलिए कहते हैं कि अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही जुहू और उपभृत् दोनों के मुखों को

(१) 'प्रतिप्रस्थाता च' (का०श्रौ०सू० ५।१०८)

(२) 'न वा' (का०श्रौ०सू० ५।१०९)

मिलाते हैं[१]। जुहू और उपभृत् दोनों का व्यूहन करके आहवनीय के तीनों ओर परिधियों का घृत से सेचन कर मध्य की परिधि के पास पहुँच कर (स्पर्श कर) आश्रावण कर अध्वर्यु ही 'इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय' यह सूक्तवाकप्रैष करता है। इस सूक्तवाक (पुण्याहवाचन) को होता प्राप्त करता है। यहाँ देवताओं का आह्वान करने के कारण अग्नि ही 'होता' शब्द से लिया गया है। अग्नि को ही होतृप्रवरण कर्म में परिधि बनाया गया था (शत. पृ. १२) तदनन्तर दोनों (अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता) यजमान को आयुर्भोगकाल तक पृथिवी पर प्रतिष्ठित रखने के लिए उन कुशमुष्टियों में से एक-एक कुशतृण रख लेते हैं और तब तक प्रतीक्षा करते रहते हैं जब तक कि होता सूक्तवाक समाप्त नहीं कर लेता है ।।४२।।

तदनन्तर आग्नीध्र अध्वर्यु से 'अनुप्रहर' ऐसा कहता है, तब वे उन कुशतृणों को अग्नि में डाल देते हैं और तृण डालने के बाद 'चक्षुष्पा' (वा.सं. २।१५) मन्त्र से अपने आपका उपस्पर्श करते हैं।[२] यद्यपि यहाँ 'अनुप्रहर' ऐसा एकवचन ही अनुप्रहरण में प्रयुक्त हुआ है, अतः एक अध्वर्यु को ही कुशमुष्टि अग्नि में डालनी चाहिए, तथापि प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु का कृतानुकर है, अतः उसमें भी यह अनुप्रहरण स्वतः सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय से 'उभावेवानंप्रहरतः' ऐसा कहा है ।।४३।।

तत्पश्चात् आग्नीध्र 'संवदस्व' संवाद करो' ऐसा कहता है। उस संवाद का ही उक्ति प्रत्युक्ति द्वारा प्रारम्भ किया जा रहा है—अध्वर्यु आग्नीध्र से कहता है कि 'अगान् अग्नीत्' हे आग्नीध्र ! क्या यजमान स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो गये ? आग्नीध्र उत्तर देता है — 'अगन्' प्रतिष्ठित हो गए। तब अध्वर्यु कहता है–'श्रावय' सुनाओ अर्थात् दिव्यात्मा (यजमान) का देवताओं से परिचय करा दो। आग्नीध्र उत्तर देता है—'श्रौषट्' सुना दिया (परिचय करा दिया)। तब अध्वर्यु कहता है–'स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्ति मानुषेभ्यः।' दैव्य होताओं के लिए स्वागत है, मनुष्य होताओं के लिए स्वस्ति है। तब अध्वर्यु ही कहता है 'शंयोर्ब्रूहि' शंयु (कल्याणकारिणी) वाक् का उच्चारण करो। तदनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही परिधियों (कुशतृणों) को

---

(१) 'स्रुचौ व्यूहतोऽध्वर्युः' (का०श्रौ०सू० ५।३४)
(२) 'चक्षुष्पा, इत्यात्मानमालभेते' (का०श्रौ०सू० ५।१११)

अग्नि में डाल देते हैं। तत्पश्चात् दोनों ही स्रुचों को अर्थात् अपनी-अपनी जुहू, उपभृत् को लेकर काष्ठनिर्मित स्फ्य पर रख देते हैं ॥४४॥

शंयुवाक और प्रेष अध्वर्यु ही करता है तथा परिधिप्रहरणादिक कार्य अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों करते हैं। तदनन्तर अध्वर्यु ही लौट कर पत्नी-संयाज करता है। प्रतिप्रस्थाता मौन बैठा रहता है। पत्नीसंयाज के बाद अध्वर्यु आहवनीय प्रदेश में जाता है ॥४५॥

वहाँ जाकर वह तीन समिष्ट यजुओं की आहुति देता है। प्रतिप्रस्थाता स्रुक् को लिए मौन रहता है। वैश्वदेव याग में यजमान और यजमान-पत्नी ने जो वस्त्र धारण किये थे, वे ही वस्त्र इस वरुणप्रघासेष्टि में रहते हैं। इसके बाद वारुणी पयस्या के क्षामकर्ष[1] (खुरचन) से मिश्रित हवि लेकर सारे ऋत्विक् अवभृथस्थान पर जाते हैं। यह क्षामकर्षमिश्रित हवि वरुणदेवता-सम्बन्धी है अतएव आसुर है। अतः इसको निर्वरुण (आसुर-भावरहित) बनाने के लिए अवभृथगमन किया जाता है। यद्यपि प्रत्येक यज्ञ के अन्त में सामान्यतः सामगान होता है। किन्तु इस वरुणप्रघासेष्टि में सामगान नहीं होता। इस यज्ञ में साम का कोई उपयोग नहीं[2]। अतः चुपचाप ही (बिना सामगान किये ही) अवभृथस्थान पर जाकर 'अवभृथ निचुम्पुण' इस मन्त्र से क्षामकर्षमिश्रित हवि को जल में डाल देता है[3] ॥४६॥

अवभृथ निचुम्पुण मन्त्र निम्न है—'अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अथ देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषम् मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्। पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि' इति। हे अवभृथ, आप पुण्य के कारण बनिए। क्योंकि आपका स्वभाव अति शीघ्र जाने का है, किन्तु मेरे लिए निचुम्पुण (मन्द गति वाले) बन जाइये। इन्द्रियाधिष्ठाता देवों से देवविषयक जो पाप मैंने किया है, उसको मैं अप् में प्रक्षिप्त

(१) क्षामकर्ष शब्द का अर्थ अतिपाकदग्ध पात्र में लगा हुआ हविर्भाग है। इसे ही भाषा में 'खुरचन' कहते हैं।

(२) वरुणप्रघासेष्टि में सामगान क्यों नहीं किया जाता, इसकी वैज्ञानिक उपपत्ति हिन्दी भाष्य में दी हुई है।

(३) 'वारुणीनिष्काषेणावभृथं, तूष्णीमेत्याभ्यवेत्य मज्जयत्यवभृथेति।' (का०श्रौ०सू० ५।१३९-१४०)

कर नीचे पहुँचाता हूँ। तथा ऋत्विजों से मनुष्यों के विषय में जो पाप हो गया है, उसको भी मैं अप् में डालता हूँ। हे देव अवभृथ ! अत्याक्रोशकारण अर्थात् अतिदु:ख देने वाले वरुणपाश-ग्रहणरूप पाप से हमारी रक्षा कीजिए। इस मन्त्र का उच्चारण कर यजमान और यजमान-पत्नी क्षामकर्षमिश्रित हवि को जल में डाल देते हैं[१]। [२]पूर्व वस्त्र चाहे जिसको दे सकते हैं, जिसे वे देना चाहते हैं। क्योंकि अब वे दीक्षित वस्त्र नहीं पहन सकते[३]। जिस प्रकार सर्प त्वचा से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार वरुणप्रघासेष्टि के द्वारा यजमान सब पापों से मुक्त हो जाता है ॥४७॥

इसके अनन्तर यजमान केश और श्मश्रु कटवा कर[४] अग्नि-समारोहण पुरःसर घर में लौट आता है। क्योंकि जहाँ अग्नियों के समारोहण और निर्मन्थन का विधान किया है, वहाँ उन कार्यों के करने के बाद उस अग्नि में पर्व करके पुनः अग्नियों का समारोप व निर्मन्थन करके पौर्णमास का अनुष्ठान करना चाहिए[५]। इसीलिए यहाँ गार्हपत्य व आहवनीय अग्नि का समारोहण कर यजमान घर लौट आता है और पुनः अग्नियों का मन्थन कर उनमें पौर्णमास याग करता है। वरुणप्रघास स्थान से निकल कर के ही यजन करता है क्योंकि वरुणनिमित्त निर्मित उत्तरवेदि में अग्निहोत्र-हवन करना उचित नहीं है। इसजिए समारोहण के बाद उस स्थान से निकलकर घर जाकर अग्नियों का निर्मन्थन कर तब पौर्णमास याग करता है। दर्शपूर्णमास की तरह चातुर्मास्य यागों में अनुष्ठानों का बाहुल्य नहीं है। अतः वे उत्सन्न यज्ञ हैं और पौर्णमास प्रतिष्ठित यज्ञ है। अतः प्रतिष्ठा के लिए चातुर्मास्य यागों के बाद भी पौर्णमास यज्ञ करता है।

---

(१) 'जायापती स्नातोऽमज्जनृतावभ्योन्यस्य पृष्ठे धावतः।' का०श्रौ०सू० ५।१४।१४२)
(२) 'पूर्वं दद्यादधिकृतेभ्यो यस्मा इच्छेत्' (का०श्रौ०सू० ५।१४४)
(३) 'अन्ये वाससी परिदधाते' (का०श्रौ०सू० ५।१४३)
(४) पर्वसंस्थासु वपनं वा प्रागत्यात्' (का०श्रौ०सू० ५।३८)
(५) गृहेषु पौर्णमासं समारूढनिर्मथितयोस्तथा चेत्' (का०श्रौ७सू, ५।४४)

अथ वरुणप्रघासेष्टिः

अव्ययक्षराक्षरसमष्टि 'आत्मा' कहलाती है। इस आत्मा के आत्मक्षर भाग से अशनाया बल द्वारा प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद एवं अन्न ये ५ विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। पश्चात् सर्वहुत् यज्ञ द्वारा विकारक्षरों से स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्रमा एवं पृथिवी ये पांच यज्ञ-क्षर उत्पन्न होते हैं। इन्हीं पांचों से यावन्मात्र पदार्थों की सृष्टि होती है। इसीलिए इन पांचों को 'विश्वसृट्' कहा जाता है। अव्ययेश्वर के शरीर के ये ही पांच अवयव हैं। इन पांचों में से फिर अनन्तानन्त सृष्टिधारायें चलती हैं। स्वयम्भू की सृष्टि स्वतन्त्र होती है। परमेष्ठी की आप्या सृष्टि की धारा एक ओर चलती है। सूर्य की आग्नेयी, चन्द्रमा की चान्द्रमासी तथा पृथिवी की पार्थिवी सृष्टिधारा विभिन्न रूप से चलती हैं। इनमें भी मनोताभेद से भार्गवी, आङ्गिरसी, आत्रेयी, परमेष्ठी की, ज्योतिर्मयी, गोमयी, आयुर्मयी, सूर्यकी, श्रद्धामयी, रेतोमयी, यशोमयी, चन्द्रमाकी इत्यादि नाना धारायें चलती हैं। भार्गवी सृष्टि में भी आप्या, वायव्या, सौम्या ये तीन धारायें चलती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि धारा में धारा, इस प्रकार अनन्त सृष्टि-धारायें चलती हैं। बीज का जब वपन किया जाता है तब सर्वप्रथम उसमें अङ्कुरसृष्टि होती है। तदनन्तर उसमें से शाखायें निकलने लगती हैं। फिर शाखा में शाखा का क्रम चलता है। इस तरह सृष्टि से सृष्टि, सृष्टि से सृष्टि का क्रम अनवरत चला करता है। १६ प्रकार के बलकोशों में से इस सृष्टिबल को 'धाराबल' कहते हैं। इसी धाराबल के कारण धारारूप से सृष्टिक्रम अनवरत चला करता है।

इस प्रपंच के बतलाने का यही उद्देश्य है कि वेद में सैकड़ों स्थलों पर 'प्रजापतिः प्रजामसृजत' यह लिखा रहता है। इससे परमेश्वर ने सर्वप्रथम प्रजा को उत्पन्न किया। उसी के लिए 'प्रजापतिः प्रजामसृजत' यह कहा गया है इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु 'प्रजापतिः प्रजामसृजत' को भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रूप से समन्वित समझना चाहिए। कहीं स्वायंभुवी सृष्टि के लिए, कहीं पारमेष्ठ्या सृष्टि के लिए, कहीं सौरी सृष्टि के लिए और कहीं पार्थिवी सृष्टि के लिए तथा कहीं चान्द्रमसी सृष्टि के लिए यह कहा जाता है। प्रकृत में जो वैश्वदेवी सृष्टि है उसका सम्बन्ध देवसृष्टि और भूतसृष्टि से है। अर्थात् दैवत एवं भौतिक (सौर एवं पार्थिव) सृष्टि का वैश्वदेवी सृष्टि से तात्पर्य है। वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है कि संसार के यावन्मात्र पदार्थ देवताओं से ही उत्पन्न होते हैं। इसी अभिप्राय से वेद भगवान् कहते हैं—

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः।' इति

संसार में जितने भी पदार्थ हैं वह देवसमष्टि है। अग्नि, वायु, सूर्य, वरुणादि देव-समष्टि को ही 'पदार्थ' कहते हैं। 'पद' कहते हैं वस्तु को, उसके अर्थ ये देवता ही तो हैं।

बिना देवता के पद का कोई अर्थ ही नहीं अर्थात् उसकी सत्ता ही नहीं। देवता प्राणतत्व का नाम है। नानाजातीय विभिन्न प्राणसमष्टि जब भौतिक पदार्थ के पकड़ में आ जाती है तो पदार्थ का स्वरूप बन जाता है। भूत बिना प्राण के नहीं रहते, प्राण बिना भूत के नहीं रहते। दोनों परस्पर अविनाभूत है। भूत पृथिवी की वस्तु है, प्राण सूर्य की। इसीलिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' यह कहा जाता है। सौर पदार्थ को देवता व पार्थिव पदार्थ को भूत कहते हैं। देवता विग्रह वाले हैं। हमारे समान उनके नाक, कान, मुँह आदि हैं, यह बात विज्ञानशाला से सिद्ध करने योग्य नहीं है। देवता प्राणतत्व का नाम है, जो कि रूपरसगन्धादि से रहित, असंग व निराकार है। जिसे 'शक्ति' कहते हैं वही प्राण है जो कि आसमन्तात् व्याप्त है। इसी प्राण के—शक्ति के—कारण भौतिक सृष्टि की स्थिति रहती है। जहाँ प्राण निकला कि मनुष्य शक्तिहीन हुआ। हम जब अधिक दूर चलते हैं तब थक जाते हैं। इसका कारण प्राण का अत्यधिक मात्रा में व्यय होना ही है। यदि थोड़ी देर विश्राम किया कि हममें चलने की सामर्थ्य आ जाती है। इसका कारण यह है कि उर्वन्तरिक्ष में व्यापक प्राण पुनः हमारे शरीर में भर जाता है। तात्पर्य यही है कि प्राण एक निराकार तत्व है, भूतसत्ता-संस्थापक है। उसी को वैदिक परिभाषा में 'देवता' कहते हैं। यह देवप्राण यद्यपि पृथिवी में आसमन्तात् प्रत्येक वस्तु में व्याप्त हो रहा है, तथापि यह सूर्य की वस्तु है। इसीलिए श्रुति कहती है—

'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥' इति। ऋ. म. १

अपिच, 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। इति

सार यह है कि देवता सौरप्राण का नाम है न कि हाथ-पैर वाले किसी व्यक्ति का। भूत बिना देवता के नहीं रहते एवं देवता बिना भूत के नहीं रहते। दोनों अविनाभूत है। इसीलिए हम सब को देवता एवं सब को भूत कह सकते हैं। इस देवभूतसमष्टि को समझने के लिए तीसरा नाम 'सत्वन्' प्राणी रख दिया गया है। प्राणिवर्ग को एवं अन्य वर्ग को 'सत्वन्' कहा जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—

'अथो येऽस्य सत्वानोहं तेभ्योऽकरन्नमः।' इति

प्राणी को सत्व कहते हैं। यदि देवता अस्मदादिवत् होते तो उन्हें देवता न कहकर सत्व कहा जाता। देवता और भूत अविनाभूत रहते हैं, अतएव 'सर्वाणि भूतानि, सर्वाणि दैवतानि' यह कहा जा सकता है। जो उत्पन्न होता है, वही भूत शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसीलिए सृष्टिप्रक्रिया में 'प्रजापतिर्वै भूतान्युपासीदत्'। इसमें 'भूतानि' का अर्थ करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं 'प्रजा वै भूतानि'। जो दैवत एवं भौतिक प्रजा है, उसे ही भूत कहते हैं। अर्थात् जो उत्पन्न होता है, वही भूत शब्द से व्यवहृत होता है।

—शत. पृ. १००, ब्रा. ४, अ. ४, कण्डिका १

जिसे अभिमानी देवता बतलाया जाता है, वह यही सर्व प्रजापति है, जो कि यच्च-यावत् पदार्थों की सत्ता रखता है। प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि सौर पदार्थों को देवता एवं पार्थिव पदार्थों को भूत कहते हैं। दोनों अविनाभूत है। इसलिए कभी 'प्रजापतिर्देवानसृजत' कह दिया जाता है एवं कभी 'भूतान्यसृजत' कह दिया जाता है। यही दो ऊर्ध्वा और अवाची प्रजा है। सौर पदार्थ ही ऊर्ध्वा प्रजा है। उसे दैवत सृष्टि भी कहते हैं। एवं पार्थिव पदार्थों को अवाची प्रजा व भौतिक सृष्टि कहते हैं। दोनों ही सृष्टियाँ मध्यस्थ भगवान् सूर्यस्थ सविता प्रजापति द्वारा होती रहती है। यह सृष्टि देवतासमष्टि ही है। यह 'जायमानो वै जायते' इत्यादि से बतला आये हैं। देवतासमुदाय से ही प्रजापति सृष्टिनिर्माण करते हैं। देवसमष्टि का नाम ही तो सृष्टि है। इसी अभिप्राय से भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं। 'वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजाः ससृजे'।

वैश्वदेव से ही प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् सर्व देवताओं से यच्चयावत् पदार्थों का निर्माण होता है। यह आधिदैविक वैश्वदेवेष्टि हुई। जिस प्रकार इस आधि-दैविक इष्टि से दैवत भौतिक सृष्टि होती रहती है तद्वत् हमारे शरीर में—केन्द्र में—सप्तपुरुष पुरुष प्रजापति ऊर्ध्वा और अवाची सृष्टि किया करते हैं। नाभि से ऊपर की जो सृष्टि है, वह दैवत सृष्टि कहलाती है क्योंकि ब्रह्मरन्ध्र में होकर सौरप्राण ऊपर से ही आया करता है। नाभि से नीचे की सृष्टि अवाची कहलाती है क्योंकि पृथिवी का अपान-प्राण नीचे ही रहता है। नाभि से ऊपर सौरप्राण के चक्र में पार्थिवप्राण नहीं जाता, एवं नाभि से नीचे सौरप्राण स्वस्वरूप में नहीं आता। देवता चैतन्यप्रदाता है। इनका राज्य नाभि से ऊपर रहता है, अतएव चेतन शक्तियां नाभि से ऊपर ही काम करती हैं। यही शरीर प्रजापति की वैश्वदेवेष्टि है। इसीसे केन्द्रस्थ प्रजापति ऊर्ध्वा और अवाची सृष्टि बनाया करते हैं। जैसी व्यवस्था वहाँ है, वैसी ही यहाँ है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।

मृत्योः स मृत्मुमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।' इति

आगे हम जो कुछ भी कहने वाले हैं उन सबको प्राकृतिक सूर्य प्रजापति एवं पार्थिव प्रजापति दोनों में समान भाव से समझना चाहिए। जैसे सौरमण्डल के उदर में पृथिवी है। पृथिवी के उदर में चन्द्रमा है, तद्वत् परमेष्ठी के उदर में सूर्य है। सौरमण्डल में जितना-सा परिमाण पृथिवी का है तथा समुद्र में जितना-सा परिमाण बुद्बुद का है उतना सा परिमाण परमेष्ठिमण्डल में सूर्य का है। सूर्य एक बुद्बुद है। वह पारमेष्ठ्य समुद्र में पारमेष्ठ्य देवता वरुण के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। सूर्य ही प्रजापति था। उसी ने दैवत व भौतिक सृष्टि का निर्माण किया था। उसकी जो ये दोनों प्रजायें हैं, जो कि आग्नेय हैं, उनकी सत्ता अग्नि से ही रहती है। उसने वरुण के यवों को खा लिया। गर्मी और

सर्दी—ये दो ही तत्व अखिल विश्व में व्याप्त हैं। सर्दी तत्व परमेष्ठिमण्डल की वस्तु है, गर्मी सूर्य को वस्तु है। सर्दी गर्मी पर सदा आक्रमण किया करती है, अर्थात् परमेष्ठि-मण्डल का पानी सूर्य के ऊपर अनवरत चारों ओर से आक्रमण करता रहता है। परन्तु सौराग्नि अपनी विशकलन शक्ति द्वारा उसे दूर फेंक देते हैं। सर्दी को—पारमेष्ठ्य वरुण तत्व को-ही वैदिक परिभाषा में 'यव' कहते हैं। सोम अग्नि में आहुत होकर तद्रूप में ही परिणत हो जाता है, परन्तु पानी अग्निस्वरूप में परिणत नहीं होता, अतएव इसे 'यव' कहते हैं। यह 'यव' अर्थात् पानी वारुण है। सर्दी वारुण की वस्तु है एवं एक ऐसा तत्व है जो प्रजा के अन्तःप्रविष्ट तो हो जाता है परन्तु आत्मा नहीं बन पाता। जब मनुष्य में सर्दी प्रविष्ट हो जाती है तो उसके प्राण बड़े व्याकुल हो जाते हैं। आत्मा उसे धक्का देकर बाहर निकालना चाहता है। सर्दी मिश्रित होकर भी अमिश्रित रहती है, शरीर में प्रविष्ट होकर भी आत्मा नहीं बनती, अतएव इसे 'यव' कहते हैं। 'यु' धातु का मिश्रण और अमिश्रण अर्थ है। यह सर्दी तत्व ऊर्ध्वा और अवाची प्रजा पर अर्थात् सौर किंवा पार्थिव प्रजा पर, जो कि अग्नि से ही अपनी सत्ता रखती है, चारों ओर से आक्रमण करती है। अग्नि में सर्दी प्रविष्ट हो जाती है। जब दैवत और भौतिक सृष्टि का निर्माण प्रजापति ने वैश्वदेवेष्टि से कर दिया तब उस अन्नाद प्रजा ने 'खाऊं-खाऊं' करना प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि बच्चा उत्पन्न होते ही खाने को माँगता है। सप्तपुरुषपुरुषात्मक सविता प्रजापति से ही तो प्रजा उत्पन्न होती है, जो कि आग्नेय है। अग्नि का स्वभाव ही 'खाऊं-खाऊं' करने का है। वह हर समय कुछ न कुछ खाता रहता है। जब यह प्रजा उत्पन्न हुई तो अन्नाद-स्वाभाव्यात् इसने 'खाऊं-खाऊं' करना आरम्भ किया। उस समय उस प्रजा (भौतिक, दैवत) के चारों ओर वरुण्य (वरुण-सम्बन्धी) यव के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वास्तव में सूर्य के चारों ओर पानी ही पानी है। इस सर्दी ही को, जो कि शरीरानुप्रविष्ट होकर भी आत्मा नहीं बन सकती है, अतएव यह 'यव' नाम से व्यवहृत होतो है। प्रजाने खाना शुरू किया चूंकि वैश्वदेव से उत्पन्न प्रजा ने पैदा होते ही वरुण के यवों को खाया था, अतएव वरुण-सम्बन्धी यवप्रधासनात् यह प्रजा भी 'वरुणप्रघास' कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न दैवत, भौतिक प्रजा में वरुण की सर्दी ने प्रवेश किया था। चूंकि यह सर्दी ही तत्कालीन प्रजा का अन्न था, अतएव प्रजा वरुण-प्रघास कहलायी। भौतिक प्रजा अग्नि से ही बनी हुई है, जो कि हमारा आत्मा है। शरीर में जब तक गर्मी रहती है, तभी तक जीवन रहता है। जहाँ हाथ-पैर ठंडे हुए कि प्राणोत्क्रमण हुआ। सर्दी आत्मा का विरोधी पदार्थ है। ग्रीष्म ऋतु में आत्मा की गर्मी शान्त हो जाती है, शरीर में से पानी निकलता है, अतएव चित्त बड़ा व्याकुल रहता है। परन्तु शीततुं में आत्माग्नि प्रज्वलित रहता है, अतएव इस ऋतु में बड़ी फ़ुर्ती रहती है।

अग्नि में जो कुछ आहुत होता है वह उसका परिपाक कर उसको ऊर्क् रस में परिणत कर देता है। जब मनुष्य अग्नि की मात्रा से अधिक खाता है, तब उसमें सुस्ती आ जाती है। क्योंकि अन्न के अधिक होने के कारण अग्नि उसका सम्यक्तया परिपाक नहीं कर सकता। अतः मनुष्य को सदा हिताशी, मिताशी होना चाहिए। प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सृष्टि के प्रारम्भ में वरुण की सर्दी को, जो कि 'यव' धान में प्रविष्ट थी, प्रजापति की प्रजा (मनुष्यों) ने खा लिया। अर्थात् सर्दी ने मनुष्यों पर आक्रमण किया। सर्दीयुक्त 'यव' वरुण की चीज थी। उसे चूंकि प्रजा ने खा लिया, अतएव प्रजा का नाम 'वरुणप्रधास' हो गया। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य यह कहते हैं—

'वरुण्यं यवं प्रधसन्ति तस्मात् वरुणप्रघासा देवता:'।

हमारे शरीर में दैवत व भौतिक दोनों प्रकार की प्रजायें रहती हैं। सर्दी का आक्रमण अग्नि पर होता है, देवता आग्नेय होते हैं अतएव वरुणप्रधास प्रजा से 'देवता' ही अभिप्रेत समझना चाहिए। जब उस प्रजा ने अर्थात् उन शारीरिक किंवा प्राकृतिकमण्डलस्थ देवताओं ने वरुण्य यवों को खा लिया, तब वरुण ने उनका निग्रह कर डाला, उनको अपने पाश में बाँध डाला। उनका सारा शरीर जकड़ गया। अग्नि विशकलित होता रहता है, परन्तु जब इस पर पानी डाल दिया जाता है, तो अग्नि का विशकलन बन्द हो जाता है। इस प्रकार जो अवाची और ऊर्ध्वा प्रजा थी, उसने यवों को खा लिया अर्थात् उनकी आत्माग्नि पर सर्दी ने अपना जोर जमा लिया। बात सत्य है, जब सर्दी शरीर में प्रविष्ट हो जाती है तब सारा शरीर जकड़ जाता है एवं किसी भी कार्य में तबीयत नहीं लगती। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि—

वरुणगृहीत यह प्रजा बेचैन होती हुई, दमघुट होती हुई, लम्बे-लम्बे साँस लेती हुई कभी सोने लगी, कभी बैठने लगी। उस सर्दी के कारण उनकी बड़ी बुरी स्थिति थी। परिणाम इसका यह हुआ कि उसके शरीर में से धीरे-धीरे सारे देवता कूच कर गये। केवल प्राणोदान ही इन प्रजाओं में से नहीं निकले। उसी प्राणोदान देवता के कारण, इन प्रजाओं की मृत्यु नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि केवल श्वास-प्रश्वासमात्र शेष रह गया। बाकी के वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन इत्यादि इन्द्रियों के अधिष्ठाता सारे देवता उत्क्रान्त हो गये। इस प्रजा को और किसी भी प्रकार को सुध नहीं रही। अर्थात् श्वास तो निकला नहीं और शेष कुछ रहा नहीं। जिस समय सर्दी शरीर में प्रविष्ट हो जाती है उस समय वास्तव में यही स्थिति हो जाती है—न स्वाद रहता है, न बोली ही साफ रहती है, कानों में गुनगुनाहट रहती है, आँखों में पानी भर आता है, चेतनाशक्ति अधिक मात्रा में लुप्त हो जाती है। अतएव शरीर गिरने जैसा हो जाता है। इसी प्राकृतिक वरुणपाश को लक्ष्य में रखते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

ता वरुण जग्राहो । ता वरुणे गहीताः परिदीर्णा (परितो दीर्यमाणावयवाः) अनत्यश्च प्राणत्यश्च शिश्यिरे निषेदुश्च । प्राणोदानो हैवाभ्यो नापचक्रमतुः । अथान्याः सर्वा देवता अपचक्रमुः । तयोर्हैवास्य हेतोः प्रजा न पराबभूवुः ॥२॥

प्रज पति ने देखा कि मैंने जिस प्रजा को उत्पन्न किया था, उसका तो वरुणपाश से सत्तानाश हो जायगा, अतः इसका कोई उपाय सोचना चाहिए। यह विचार कर प्रजापति भगवान् ने इस वक्ष्यमाण हवि से इन प्रजाओं की चिकित्सा की। सूर्य प्रजापति के चौतरफ वरुण्य यव (सर्दी) व्याप्त है। वह इस सौर प्रजा का (आग्नेय प्रजा का) बन्धन करती रहती है अर्थात् सर्दी उस प्रजाग्नि में प्रविष्ट होकर उसे जकड़ना चाहती है, परन्तु अन्ततः सूर्य भी तो अग्निगोलक है। वह अपनी प्रखर किरणों से उस सर्दी को दूर करता रहता है। वरुण चाहता है कि मैं सारे अन्न को गला डालूं—नष्ट कर डालूं—परन्तु सूर्य अपनी शुद्धिकरण की शक्ति से उसकी उस चेष्टा को व्यर्थ किया करते हैं। यदि कोई वस्तु सूर्य-ताप से हटाकर भीतर रखदी जाती है तो थोड़े ही दिनों में वह सड़ जाती है। जो-जो देवता (वाक्, चक्षु आदि के अधिप्ठाता) प्रजा से उत्क्रान्त हो जाते हैं। सूर्य प्रजापति उन्हें पूर्ण करते रहते हैं। आधिदैविक प्रजापति की वार्ता समाप्त कर अब शारीर प्रजापति का वर्णन करते हैं— शारीर आत्मप्रजापति भी सूर्य से उत्पन्न होने के कारण आग्नेय है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इति। यह आग्नेय शारीर प्रजापति अपने आप सर्दी की चिकित्सा किया करता है। यह आग्नेय प्रजापति ओषधि द्वारा उसको शान्त किया करता है। जब मनुष्य जुकाम से आक्रान्त हो जाता है, तब वह उसी समय उसे मिटाने के प्रयत्न में लगता है, यह प्रयत्न—मिटाने का इच्छाबल—तदनुकूल तप (प्राणव्यापार) एवं तदनु-कूल श्रम—ये तीनों ही उस आत्मप्रजापति के धर्म हैं। इसीलिए वेद में प्रजापति के लिए बार-बार 'स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्' यह लिखा रहता है। वही आग्नेय प्रजा-पति इस शरीर की चिकित्सा करता है। शरीर में प्राणोदान को बलवान् बनाया जाता है, पानी की और वायु की मात्रा को, जो कि वरुण्य है, ओषधि द्वारा कम किया जाता है एवं उस आग्नेय प्रजापति को प्रबल किया जाता है। अर्थात् श्वास-प्रश्वास ठीक चले, वरुण का प्रकोप शान्त हो जाय, एवं शरीर में अग्नि की मात्रा अधिक हो—ऐसी ओषधि का प्रयोग किया जाता है। उन ओषधियों से इन्द्राग्नि (प्राणोदान) और प्रजापति प्रबल हो जाते हैं एवं वरुण-कोप शान्त हो जाता है।

अग्नि चित्य, चितेनिधेयभेद से दो प्रकार का होता है। इस सर्दी से चितेनिधेय अग्नि ही उत्क्रान्त हो जाता है, यही देवताओं का अपक्रमण है। परन्तु चित्य प्रजापति चिकित्सा कर पुनः देवताओं को बुला लेते हैं। तात्पर्य यही है कि अब अवाची और ऊर्ध्वा प्रजा में से जो

देवता उत्क्रान्त हो गये थे, उनकी चिकित्सा सप्तपुरुष पुरुषप्रजापति ने कर डाली एवं आज भी प्रजापति चिकित्सा करते रहते हैं। परन्तु ध्यान रहे आधिदैविक मण्डल में भगवान् सूर्य भी सर्दी को कम करते रहते हैं, अतएव इन दोनों को अपने लक्ष्य में रखकर कहते हैं।

प्रजापति की चिकित्सा से इस प्रजापति की जो उत्पन्न प्रजा थी वह, एवं जो उत्पन्न नहीं थी वे दोनों ही वरुणपाश से मुक्त हो गयीं। व्याधि से जो विकार होता है, उसे 'अमीवा' कहते हैं एवं अन्धत्व, पंगुत्व और काणत्व इत्यादि जो प्राकृतिक रोग उत्पन्न होते हैं, जिनसे कि मनुष्य को कष्ट मालूम होता है—वे दोष कहलाते हैं। अतः सूर्य प्रजापति ने जिनकी चिकित्सा करदी थी वह प्रजा एवं उस प्रजा की प्रजा सानन्द रहने लगी। तात्पर्य यह है कि जो अग्निपरिपक्व पदार्थों को खाता है—अपने आत्मप्रजापति की आज्ञा में चलता है, उसे कभी कोई रोग नहीं होता। जो मिताशी और हिताशी होता है, वह कभी रुग्ण नहीं होता है। वही नहीं अपितु उसकी सन्तान भी बीमार नहीं रहती क्योंकि 'पिता वै जायते पुत्रः' यह श्रुति का सिद्धान्त है। पिता का वीर्य यदि निर्दुष्ट है तो सन्तान भी निर्दुष्ट ही पैदा होगी। सारांश यह है कि आत्मप्रजापति ने अपने इस शारीर प्रजापति की चिकित्सा कर डाली एवं आज भी कर रहा है। श्वास-प्रश्वास, सर्दी की शान्ति, अग्नि की तीव्रता—इन्हीं को वापिस उसने ऐन्द्राग्न, वारुण, मारुत और इन पाँच आहुतियों से स्थापित कर दिया। श्वास ठीक चलता रहे, सर्दी और वायु असर न जमा सके एवं अग्नि प्रबल रहे, तो बीमारी हो ही कैसे सकती है? आत्मप्रजापति ने इन पाँच हवियों से ही तो इनकी चिकित्सा की। वह चिकित्साद्रव्य क्या था, यह आगे बतलायेंगे। इसी प्राकृतिक सर्दी-गर्मी के विज्ञान को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'ता एतेन हविषा प्रजापतिरभिषज्यत्, तद्याश्चैवास्य प्रजा जाता आसन्। याश्च अजाता उभयीर्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्। ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायन्त'।

प्रकृत में इस प्रकार से—उत्क्रान्त वरुणप्रघास देवताओं के लिए प्रजापति आहुति देते रहते हैं। अर्थात् सूर्यप्रजापति प्राकृतिक वरुणप्रघास करते रहते हैं, प्रकृति की प्रतिकृति पर जैसा कि प्राणदेवता कर रहे हैं, किंवा मनुष्यदेवता कर रहे हैं, वैसा ही हमें करना चाहिए। वरुणप्रघास यज्ञ आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन किया जाता है। इन दिनों में वरुण पाश का (वातव्याधि का) अधिक प्रकोप रहता है। यद्यपि प्रकृति वरुणप्रघास कर रही है, परन्तु चूंकि इन दिनों में (वर्षा में) सूर्य का तेज वरुण को दबाने के लिए पर्याप्त नहीं होता, अतः वैद्य उपायों से हमें वातव्याधि आदि वारुण रोगों को शान्त करना चाहिए। जो देवता वरुण से आक्रान्त होते हैं, उन्हें आहुति द्वारा प्रदीप्त रखना चाहिए। उन-उन देवताओं में अपनी-अपनी जाति के पदार्थों की आहुति देने से उनकी मात्रा बढ़ जाती है एवं वरुण का प्रभाव न्यून हो जाता है। यही वरुणप्रघासेष्टि का रहस्य है। हम मानते

हैं कि आज इस यजमान आत्मप्रजापति की प्रजा वरुणपाश से गृहीत नहीं है, आज इसके ऊपर सर्दी ने आक्रमण नहीं किया है तथापि चौमासे के प्रारम्भ में ही चूंकि प्रकृति में वरुणप्रघास होता रहता है अतः जैसा देवताओं ने किया था वैसा ही हमें करना चाहिए। इस मर्यादा के पालनार्थ हमें भी वरुणप्रघास करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'अथ यदेष एतैः चतुर्थे मासि यजते तत्राह चैवैतस्य तथा प्रजा वरुणो गृह्णाति इति देवा अकुर्वन् इति चैवैष एतत् करोति।'

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह वरुणप्रघास मात्र लकीर पीटने के लिए ही नहीं किया जाता अपितु इसके द्वारा फलसिद्धि भी होती है। सौर तेज वर्षा में वरुण को अभिभूत करने के लिए पर्याप्त नहीं होता, यह पूर्व बतलाया जा चुका है। अतः वैध उपायों से इसे शान्त करने के लिए ही वरुणप्रघास किया जाता है। ऐसा करने से यजमान की जो प्रजा उत्पन्न हो गयी है वह एवं जो उत्पन्न होने वाली है वे दोनों वरुणपाश से छूट जाती हैं। एवं इसी यज्ञ के प्रभाव से इस यजमान की प्रजा निर्दुष्ट और अनमीवा उत्पन्न होती है। तात्पर्य यही है कि वर्षा के प्रारम्भ में वरुणप्रघास करने से चूंकि देवमात्रा प्रदीप्त हो जाती है, अतएव यज्ञकर्ता किंवा यजमान प्रजा दोनों वातव्याधि से (वरुणपाश से) मुक्त रहती हैं। अतः वैश्वदेवेष्टि के चार मास बाद चौथे महीने में (आषाढ़ी पूर्णिमा में) इसी प्रयोजन के लिए यह यजमान वरुणप्रघासेष्टि करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

याश्च न्वेवास्य प्रजा जाता याश्चाजातास्ता उभयीर्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति। ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्ते। तस्माद्वा एष एतैर्हविर्भिश्चतुर्थे मासि यजते' ॥४॥

और और इष्टियों में तो एक ही वेदि होती है परन्तु इस वरुणप्रघासेष्टि में दो वेदि होती हैं। प्रकृतियज्ञ में भी सूर्यवेदि व पृथिवीवेदि—इन भेदों से दो वेदियां होती हैं। जहाँ अग्नि को प्राप्त करते हैं, वही वेदि कहलाती है (यत्र विन्दन्ति अग्निं सा वेदिः)। पृथिवी में भी अग्नि है, सूर्य भी अग्निगोलक है, अतः हम दोनों को ही वेदि कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से कहा जाता है।

'तद्यदेनां सर्वां समविन्दन्त तस्माद् वेदिर्नाम। तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवी।'

हमने ऊर्ध्वा और अवाची भेद से दो प्रकार की प्रजायें बतलायी थीं। ऊर्ध्वा प्रजा सूर्य में एवं अवाची पृथिवी में रहती है। इन दोनों को वरुणपाश से मुक्त कराने के लिए दो वेदियों और दो अग्नियों को वरुणप्रघासेष्टि में स्थापित किया जाता है। इसलिए कहते हैं — उस वरुणप्रघास में दो वेदियां व दो अग्नियां होती हैं। अर्थात् दो ही वेदियां एवं दो ही आहवनीय कुण्ड बनाये जाते हैं। क्योंकि यजमान इस यज्ञ में दो वेदियां व दो कुण्ड बनाता है, अतः दोनों ओर की अवाची और पराची प्रजाओं को वरुणपाश से छुड़ाता

है। इसीलिए सूर्य व पृथिवी-स्थानोय दो वेदियों व दो आहवनीयाग्नियों की स्थापना की जाती है 'तस्माद् द्वे वेदी द्वावग्नी भवत:' ॥५॥

ये दोनों वेदियाँ उत्तर और दक्षिण में बनायी जाती हैं। उत्तर दिशा में उत्तरवेदि होती है, उसका दर्भ से आस्तरण करते हैं, दक्षिणवेदि में नहीं। अर्थात् दर्भ से उत्तरवेदि का ही आच्छादन करना चाहिए, दक्षिण का नहीं। क्योंकि वरुण सरदार, सम्राट् व राजा है। जैसा कि—वरुणो हैतद् राज्यकाम आदधे' इस पुनराधान प्रकरण में बतलाया गया है। एवं मरुत् इस वरुण की प्रजा है। वायु कई प्रकार का होता है। अग्नि का वायु 'यम' कहलाता है। 'लू' यमनामक सान्तपन वायु है। यह वायु शरीर को विदीर्ण कर देता है, अतः इसे यम कहते हैं। दूसरा 'शिव' वायु है, इसी शिव वायु को 'साम्बसदाशिव' कहा जाता है। यह वायु अत्यन्त प्रिय है। इससे सब रोगों का विनाश होता है। तीसरा पारमेष्ठ्य वायु है। इसे 'द्युतानमारुत' कहते हैं। वातव्याधि इसी 'द्युतानमारुत' से होती है। यह वरुण के साथ (पानी के साथ) रहता है। पानी के देवता वरुण हैं, अतएव वरुण को क्षत्र एवं मरुत् को प्रजा बतलाया गया है। दक्षिण का अर्थ प्रकृत में नीचे है। मरुत् वरुण के दक्षिण में रहता हैं अर्थात् अनुगत रहता है। जहाँ पानी का प्राबल्य होता है वहाँ वायु पहिले पहुंच जाता है। पानी ऊपर से नीचे की ओर जाया करता है. इसीलिए वरुण की वेदि उत्तर में बनायी जाती है। उत्तर से पानी नीचे की ओर जाता है।

प्रकृत में यही बतलाना है कि वरुण राजा है और मरुत् प्रजा है। उत्तर का अपकरण 'आच्छादन' करता हुआ यजमान वरुण को मरुत् की अपेक्षा ऊँचा करता है। अर्थात् राजा के लिए आसन बिछाने से एवं प्रजा के लिए न बिछाने से समानता हट कर वास्तविक राज-प्रजाभाव हो जाता है। उत्तरवेदि को आच्छादित करने का यही कारण है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि राजा का दर्जा प्रजा से ऊँचा हैं इसीलिए तो लोक में ऊपर सिंहासन पर बैठे हुए राजा की प्रजा नीचे जमीन पर बैठ कर स्तुति करती है। आज भी राजा ऊँचा रहता है। प्रजा अधस्तात् उसकी अर्चना करती है। इसी क्षत्रविड्भाव को दिखलाने के लिए, उत्तरवेदिका आच्छादन करते हैं।

'तस्मादुत्तरस्यामेव वेदा उत्तरवेदिमपकिरति न दक्षिणस्याम्' ॥ इति

तात्पर्य यह है कि उत्तरवेदि उत्तरदिशा में ही बनानी चाहिए, न कि दक्षिण में एवं उसी पर कुशा का आस्तरण करना चाहिए ॥६॥

इस वरुणप्रघास की इतिकर्त्तव्यता में वक्ष्यमाण पाँच हवियाँ ही होती हैं। प्रजापति ने इन्हीं पाँचों हवियों से प्रजा को उत्पन्न किया था। अतः आज यजमान उन्हीं पाँचों से सूर्य के ऊपर की एवं नीचे की—दोनों प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाता है। यद्यपि प्रजा का निर्माण

पूर्वोक्त वैश्वदेवी पांच आहुतियों से होता है न कि वक्ष्यमाण ऐन्द्राग्नादि पांच हवियों से परन्तु रक्षा चूंकि इन्ही पाँचों से होती है, अतएव—"एतैर्वै" कह दिया गया है। यदि वरुणप्रघासेष्टि न होती तो प्रजासत्ता ही नहीं रहती। वह तो वरुण्य यव खाकर मर ही जाती। चूंकि वह इन पांच आहुतियों से बच जाती है। अतएव इन पांचों को सृष्टिनिर्माण में ही गिन लिया जाता है। भैषज्य भी सृष्टि में सहायक है अन्यथा सृष्टि-सत्ता ही नहीं रह सकती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'तस्माद्वा एतानि पञ्च हवींषि भवन्ति।'

सूर्य के सौरमण्डल में पृथिवी रहती है। पृथिवी के चारों ओर सूर्यप्रकाश व्याप्त रहता है। सूर्य रात्रि में नहीं रहता, ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए, अवश्य ही रहता है। चूंकि प्रकाशी प्राण नहीं रहते अतएव सूर्य का अभाव मालूम होता है। इन्द्र, धाता, विवस्वान् इत्यादि द्वादशप्राणसमष्टि को सूर्य कहते हैं। प्रकाश करना इसी विवस्वान् प्राण का काम है। रात्रि में केवल यह विवस्वान् नहीं रहता, अतएव ११ प्राणों के रहते हुए भी प्रकाश नहीं होता। हमारा आत्मा सूर्य से बना हुआ है। यदि रात्रि में सूर्य नहीं हो, तो प्रलय हो जाय, आत्मसत्ता ही न रहे। रात्रि में आत्मसत्ता रहती है, इसीलिए रात्रि में भी सूर्यसत्ता माननी पड़ती है। इसी आत्माधिष्ठाता सौरप्राण को इन्द्र कहते हैं। जैसे सूर्य रात्रि में भी रहता है तद्वत् वरुण सूर्य के सौरमण्डल में व्याप्त रहता ही है। सूर्य की किरणें यद्यपि उसे बाहर फेंकना चाहती हैं परन्तु फिर भी वरुण इससे ओतप्रोत रहता है। वरुण ऋत पदार्थ है। यह रिक्त स्थान को भरता रहता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं रहता है वहाँ वरुण को मौका मिल जाता है। इस प्रकार वरुण ने दैवत किंवा भौतिक दोनों प्रजाओं को अपने पाश में बद्ध कर रखा है। परन्तु सूर्य प्रजापति अपने प्रखर ताप से हर समय प्रजा को (यावन्मात्र पदार्थों को) वरुणपाश से मुक्त भी किया करता है। जहाँ सूर्य का प्रकाश रहता है वहाँ वरुण अपना प्रभाव नहीं जमा सकते। इसी अभिप्राय से 'उभयतो वरुणपाशात् प्रजाः मुञ्चति।' कहा जाता है। प्रकृत में यही बतलाना है कि प्रकृति में वरुणप्रघासेष्टि में पांच आहुतियाँ होती हैं—तदनुसार ही यह यजमान पांच आहुतियाँ देता है ॥७॥

सर्वप्रथम इस वरुणप्रघासेष्टि में ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है, जिसका कारण बतलाते हैं—हमारे शरीर में जो प्राण और उदान है—वे ही मित्रावरुण है। अपान पृथिवी का प्राण है एवं प्राण सूर्य का। पृथिवी के अपानप्राण को ही इस ब्राह्मण में उदान कहा गया है। पृथिवी का प्राण जो कि अङ्गिरा भी कहलाता है, सदा ऊपर की ओर जाता है एवं सूर्य का प्राण ऊपर से हृदय की ओर आता रहता है। चूंकि पृथिवी का अपान प्राण ऊपर जाता है, अतएव उसे 'उदान' कह दिया है। इस प्रकार से प्राणोदानों का अर्थ

प्राणापानौ समझना चाहिए। पृथिवी का प्राण ऊपर की ओर जाता है, इसलिए श्रुति कहती है—

'इत एत उदाहरन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
प्रभूर्जयो यथा पथि द्यामङ्गिरसो ययुः॥' इति

पृथिवी का प्राण अग्निमय तथा सौरप्राण इन्द्रात्मक है। इसी अभिप्राय से 'प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी' कहा गया है। इन्द्र से शरीर में चेतना रहती है, अग्नि से गर्मी रहती है। जब तक चेतना व गर्मी रहती है, तब तक प्राणोत्क्रमण नहीं हो सकता। तात्पर्य यही है कि भलाई करने वाले के लिए भलाई करने के समान ही यह ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश करना है। जैसे उपकार का बदला प्रत्युपकार से चुकाया जाता है, वैसे ही इन्द्राग्निकृत उपकार का बदला इस पुरोडाशरूप प्रत्युपकार से चुकाया जाता है। इन्द्र व अग्नि की कृपा से ही यह यजमान प्रजा मरी नहीं। श्वास-प्रश्वास आते हैं, अतएव प्रजा का प्राणोत्क्रमण नहीं हुआ। इस प्रकार आज यह यजमान प्राणोदान से ही इस प्रजा की चिकित्सा करता है। इस पुरोडाश द्वारा प्रजा में बलाधान करता है। प्रथमाहुति से देवापक्रमण से शिथिल श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया को ठीक करता है। यह आहुति वरुणप्रघास देवता के लिए नहीं अपितु प्रत्युपकारार्थ इन्द्राग्नि के लिए ही है, जिन्होंने कि देवापक्रमण हो जाने पर भी प्रजा को मरने न दिया। इसीलिए इस यज्ञ में सर्वप्रथम ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है – तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥

अध्वर्युकर्तृक उत्तरावेदि एवं प्रतिप्रस्थातृकर्तृक मारुती दक्षिणा वेदि इन दोनों के लिए पयस्या होती है। अर्थात् पयस्या की आहुति दी जाती है। दूध से ही प्रजा उत्पन्न होती है एवं दूध के प्रलोभन में पड़कर ही वह प्रजापति से संभूय रहती है अर्थात् दूध के कारण ही वह प्रजापति का साथ नहीं छोड़ती है। अतः उसी दूध से (पयस्या से) दोनों ओर से प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाते हैं जो कि अवाची और ऊर्ध्वा प्रजा है। हमारे आत्मा का निर्माण दूध से होता है एवं उसी से हमारी सत्ता रहती है। अतः जो हमारे आत्मा का प्रिय पदार्थ है, उससे ही बलाधान करना उचित है एव इसीलिए पयस्या दी जाती है। वैश्वदेवेष्टि में हम बतला आये हैं कि दूध वायव्य है अर्थात् जैसे इन्द्र सोम को चूस जाते हैं वैसे ही वायु दूध को चूस जाते हैं। दूध वातप्रधान है। जो वस्तु जिस जाति की होती है, उसकी उसी से शान्ति होती है। चूंकि वरुण और मरुत् का आक्रमण अग्नि पर रहता है, अतः ऐसी अवस्था में यदि उसे उसी की जाति का दूध दे दिया जाता है तो उनका ध्यान अग्नि से हटकर दूध की ओर चला जाता है। तप्त तवे पर रोटी डालने से वह जलता नहीं है परन्तु यदि रोटी नहीं डाली जाय तो वह जल जाता है। हमारे ऊपर शनि, बृहस्पति इत्यादि ग्रहों की बिजली पड़ती रहती है, उसके लिए तत्तज्जातीय नीलम मोती इत्यादि यदि शरीर पर बांध दिये जांय तो उस आती हुई ग्रहविद्युत् को तज्जातीय रत्न-

विशेष चूस जाता है एवं दाह का असर मनुष्य पर नहीं होने पाता। ठीक यही बात प्रकृत में समझनी चाहिए। वरुण और मरुत् इस प्रजा पर हमला करते रहते हैं। इन दोनों की बिजली प्रजा पर आक्रमण करती रहती है। परन्तु जहाँ तज्जातीय पयस्या की आहुति दी नहीं कि वरुण व मरुत् का प्रकोप शान्त हुआ नही। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

'तत एवैतदुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः प्रमुञ्चति। इतश्चोर्ध्वाः इतश्चावाचीः। तस्मादुभयत्र पयस्ये भवतः। इति ॥९॥

उत्तरवेदि में वारुणी पयस्या होती है। वरुण ही ने इस प्रजा का निग्रह किया था। अतः वरुणदेवताक याग से प्रत्यक्ष ही में वरुणपाश से प्रजा को छुड़ाते हैं। अर्थात् जिनके बन्धन से छुड़ाना है उन्हीं के नाम से आहुति देना ही युक्तता है। इसके बाद दक्षिणावेदि में मारुती पयस्या दी जाती है। अर्थात् पहिले उत्तर में वरुणदेवताक वारुणी पयस्या दी जाती है, उसके बाद में वरुण के पीछे-पीछे मरुत्देवताक दक्षिणावेदि में मारुती पयस्या दी जाती है। अजामिता के लिए ही दक्षिणा वेदि में मारुती पयस्या दी जाती है। 'अजामितायै मारुती भवति'। यदि उत्तर और दक्षिण दोनों ही पयस्या वारुणी होंगी तो ऐसा करता हुआ यजमान जामितादोष करेगा। किये हुए काम को पुनः कर पुनरुक्तिदोष करेगा, राजा और प्रजा में द्वेषबुद्धि उत्पन्न करेगा। अतः दक्षिण में मारुती पयस्या ही करनी चाहिए। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जामितादोष के रहने पर भी मारुती-इष्टि करना आवश्यक है। बिना इसके वरुणप्रघास अपूर्ण ही रह जाता है। वे कहते हैं कि—हम जो कारण बतला रहे हैं इसलिए भी दक्षिणा पयस्या मारुती ही करनो चाहिए 'अतो ह वा' इति।

वरुण के पीछे दक्षिण की ओर से द्युतानमरुत् ने इस यजमान की प्रजा पर हमला किया था अर्थात् सर्दी के साथ वायु तो अविनाभूत रहता है। जहाँ वरुण आक्रमण करते हैं वहाँ वायु पहले कूदते हैं। अतः जैसे वरुण को शान्त करना आवश्यक है तद्वत् इस वायु की भी शान्ति करना आवश्यक है। इस प्रकार प्रजापति ने प्रकृतियज्ञ में इस मारुती पयस्या से मरुतों को शान्त किया था उसी प्रकार आज यह यजमान भी इस भाग से मरुतों को शान्त करता है। इसीलिए दक्षिण में मारुती पयस्या ही होतो है।—

'तस्मात् मारुती दक्षिणा' (दक्षिणदिशि) ॥१०॥

इन दोनों पयस्याओं में कैर का रस डालते हैं, जिसका कारण बतलाते हैं-- इन करीरों से प्रजापति ने प्रजा को सुखी किया था। 'कं सुखं करोति कंकरिः कंकरी इरा(रसः) यस्मिन् तत् कंकरीरम्। कंकरीरमेव करीरम् परोक्षेण।' जिसका रस सुख देने वाला है, उसे ही करीर कहते हैं। शरीर की वातव्याधि का नाश इस करीर से होता है। यह वायुप्रधान होने से वायु का शमन करता है। वायु वरुण की ही प्रजा है। सृष्टि के प्रारम्भ

में प्रजापति ने इस प्रजा को सुखी किया था एवं आज भी कर रहा है। तद्वत् आज यह प्रजापति इस रस से प्रजा को सुखी ही करता है। 'कम्वेवं ष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते'। इति इसीलिए पयस्या में करीररस डालते हैं ॥११॥

तदनन्तर उन दोनों पयस्याओं में पलाश का रस डालते हैं। प्रजापति ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस पलाश से प्रजा को सुखी किया था, तथैव आज यह यजमान भी इस पलाशरस से अपनी प्रजा को शान्ति पहुँचाता है। पलाश सोमरसमय है, सोम शान्ति करने वाला है। प्रजा वरुणपाश से पीड़ित है, उसे शान्त करने के लिए ही पलाशरस डालते हैं। 'शम्वेवं ष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते'। इति। यहाँ इतना और समझ लेना चाहिए कि करीर फल ही फल हैं पत्ते नहीं हैं एवं पलाश के पत्ते ही पत्ते हैं फल नहीं ॥१२॥

तदनन्तर प्रजापतिदेवताक काय एककपाल पुरोडाश किया जाता है। प्रजापति भगवान् ने काय एककपाल पुरोडाश से प्रजा के लिए सुख और कल्याण पहुँचाया था, अत. यह यजमान प्रजापति भी इस काय एककपाल पुरोडाश से प्रजा को सुखी करता है।

प्रजापति के—अनिरुक्त उद्गीथ व सर्व—ये तीन स्वरूप होते हैं। जो प्रजापति हृदय में रहते हैं, उसे ही अनिरुक्त प्रजापति कहते हैं। इसी प्रजापति द्वारा सारे शरीर का सञ्चालन होता है। परन्तु इसके स्वरूप का विवेचन नहीं किया जा सकता अतएव इसको अनिरुक्त कहते हैं। इसी को 'क' शब्द से भी कहा जाता है। कौन—यह अनिरुक्तता का ही लक्षण है। अतः वेद में जहाँ 'क' शब्द आए वहाँ अनिरुक्त प्रजाति ही समझना चाहिए।

पूर्व के प्रकरणों में बतला चुके हैं कि यह प्रजापति सप्तपुरुष पुरुष एवं आग्नेय हैं। इस आग्नेय प्रजापति की सत्ता से ही प्रजा (शरीर) की सत्ता रहती है, एवं प्रजा सुखी रहती है। प्रजापति ने अन्यों की चिकित्सा के साथ स्वयं की भी चिकित्सा की। अर्थात् अग्नि की मात्रा एककपाल पुरोडाश से बढ़ायी तभी प्रजा को सुख मिला। अर्थात् गर्मी के बढ़ते ही सर्दी का प्रकोप शान्त हो गया। एवं शरीर प्रजा में बल आ गया। तात्पर्य यही है कि कायपुरोडाश प्रजापतिदेवताक है।

'तस्मात् काय एककपालः पुरोडाशो भवति'। इति ॥१३॥

तदनन्तर आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन यह यजमान अथवा उसका प्रतिनिधि—ऋत्विक्—उन यवों को दक्षिणाग्नि में थोड़ा-सा तपाकर उनके तुस हटाकर बाद में उन्हें पीसकर थोड़ा-सा पानी मिलाकर उन्हें पात्रों में भरकर रख देते हैं। अर्थात् सत्तू के पात्र भर लेते हैं। कितने पात्र भरते हैं? यह बतलाते हैं। यजमान के कुटुम्ब में जितने मनुष्य हैं उनसे

एक अधिक पात्रों में सत्तू भरते हैं। अर्थात् घर वालों को संख्या से एक पात्र अधिक होना चाहिए—'थावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त्येकेनातिरिक्तानि' ।।१४।।

उन करम्भ पात्रों को भरते समय ही उसी चून का एक मेष और मेषी बनाते हैं। उस मेष और मेषी में यदि मेड़भिन्नजातीय बाल मिल जायें तो उन्हें लाकर पानी से खूब साफ कर चिपका दें। यदि अनेडकी बाल न मिलें तो कुशा के छोटे-छोटे खण्ड कर उन्हें ही चिपका दें। तात्पर्य यही है कि भेड़ के बाल न चिपकावें ।।१५।।

इस वरुणप्रघास में चून के मेष व मेषी बनाने का कारण बतलाते हैं—

यह मेष वरुण का प्रत्यक्ष पशु है। सारे पशु इन देवताओं से बने हुए हैं। सब में सब देवता रहते हैं परन्तु तारतम्य से। अर्थात् किसी में किसी देवता की मात्रा अधिक रहती है। इसी प्रकार से मेष में वरुण की मात्रा अधिक रहती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'एष वै प्रत्यक्षं वरुणस्य पशुर्यन्मेषः।' इति।

इस प्रकार मेष प्रदान करते हुए प्रत्यक्ष में ही वरुणपाश से प्रजा का छुटकारा करते हैं। यव खाने से ही तो वरुण ने प्रजा का निग्रह किया था अतः उन्हें उनकी वस्तु लौटा कर उनके निग्रह से प्रजा को छुड़ाते हैं। यह मेष और मेषी यव के बनाये जाते हैं, क्योंकि यवों को खानेवाली प्रजा का ही वरुण ने निग्रह किया था। ऐसा करते हुए 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये' करते हैं। मेष और मेषी यह जोड़ा होता है। केवल मेष की आहुति नहीं होती अपितु मिथुन की आहुति होती है। मिथुन की आहुति का कारण बतलाते हैं —

स्त्री और पुरुष दोनों ही वरुण के पाश में बंधे थे। अतः इस मेष-मेष्यात्मक मिथुन द्वारा मिथुन को ही वरुणपाश से छुड़ाता है।।१६।।

वह ऋत्विक् उत्तर दिशा में रखी हुई पयस्या में उस मेषी को डाल देता है एवं दक्षिणा पयस्या में मेष को डाल देता है। वास्तव में उत्तर में मेषी को व दक्षिण में मेष को डालना ही चाहिए, क्योंकि मिथुन इसी प्रकार से होता है। मिथुन-सम्बन्ध में स्त्री पुरुष के उत्तर भाग में ही सोती है। इस मिथुनता के लिए ही मेषी को उत्तरापयस्या में एवं मेष को दक्षिणापयस्या में डालते हैं ।।१७।।

वह अध्वर्यु केवल दक्षिणापयस्या को छोड़कर शेष सारी हवियाँ उत्तरा वेदि में रख देता है। एवं इस दक्षिणा पयस्या को प्रतिप्रस्थाता दक्षिणा वेदि पर रखता है ।।१८।।

इस प्रकार से सारी सामग्री एकत्रित कर अग्निमन्थन करते हैं। अग्निमन्थन कर 'भवतन्न (वा. सं. पृ. ३८) मन्त्र से आहवनीय में उस अग्नि को डालकर 'अग्नावग्निः' (वा.सं.५) इस मन्त्र से आहुति देता है। उत्तरा पयस्या का हवन करने वाला अध्वर्यु है एवं

दक्षिण का प्रतिप्रस्थाता है । अतः प्रैष न्यायप्राप्त दोनों ही को करना चाहिए । इस पूर्व पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि चूंकि इस वरुणप्रघासेष्टि में एक ही होता होता है अतः अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इस मन्त्र से अध्वर्यु ही होता को प्रैष करता है । यदि होता दो होते तो अवश्य ही अध्वर्युवत् प्रतिप्रस्थाता भी प्रैष करता । केवल अध्वर्युकृत प्रैष ही दोनों के लिए पर्याप्त हो जाता है । इस प्रकार प्रैष तो अध्वर्यु ही करे, इध्माधान दोनों ही करें, क्योंकि अग्नि दोनों को ही प्रज्वलित करना है । इसी अभिप्राय से कहते हैं— अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों इध्म-ग्रहण करते हैं । फिर अध्वर्यु ही आग्नीध्र के प्रति कहता है—'अग्निमग्नीत् संमृड्ढि' इति हे अग्ने! तुम आहवनीयाग्नि का संमार्जन करो ।

'असंमृष्टमेव भवति संप्रेषितम्' । इति ।।१६।।

इस प्रकार अग्नीध्र के प्रति 'अग्निमग्नीत् संमृड्ढीति' यह कहकर उस स्थान से प्रतिप्रस्थाता जिस स्थान पर पत्नी बैठी हुई है, वहाँ पर लौटता है । चूंकि प्रतिप्रस्थाता पत्नी को यज्ञ के लिए अर्थात् उससे अग्नि में आहुति दिलवाने के लिए बुलाता है अतएव वह पहिले उससे पूछता है कि हे पत्नि ! तुम्हारा किसी अन्य पुरुष से सम्बन्ध है ? अर्थात् तुम्हारा उपपति कौन है ? 'केन चरसीति' ।

हमारे शरीर का निर्माण विषुवद्वृत्त से होता है । चूंकि हमारे पास क्षितिजवृत्त तक का ही रस आता है अर्थात् दृश्यमण्डलात्मक १८० अंश तक की ही मात्रा हमारे पास आने वाली है,अतएव हम (मनुष्य) अर्द्धेन्द्र कहलाते हैं । हम पूरे नींबू के ठीक आधे हिस्से के समान हैं पूर्ण वृत्त की मात्रा हमारे पास नहीं आने पाती । यज्ञेश्वर भगवान् पूर्णात्मा हैं । विश्व हो तो यज्ञेश्वर का शरीर है । यह विश्व गोल है—इसकी मध्य रेखा का नाम ही विषुवद्-वृत्त है । चूंकि उस यज्ञेश्वर भगवान् का शरीर पूर्ण विषुवत् से व्याप्त है, अतएव वह पूर्णेन्द्र कहलाते हैं । इस पूर्णेन्द्र की तृप्ति के लिए किंवा प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता है । परन्तु चूंकि हम अर्द्धेन्द्रतया उस पूर्णेन्द्र के पास पहुंचने के अधिकारी नहीं हैं, अतएव हमें आधे अङ्ग की पूर्ति के लिए यज्ञ में अर्द्धाङ्गिनी को (धर्मपत्नी को) सम्मिलित करना पड़ता हैं । जब पत्नी को यज्ञ में शामिल कर लिया जाता है तो हम एक प्रकार से पूर्णेन्द्र बन जाते हैं । पत्नी हमारे यज्ञ में शामिल होती है । उसके बिना यज्ञ हो ही नहीं सकता एवं यज्ञ करना ही प्रजा मात्र का प्रधान कर्म है, उसे यावज्जीवन करना ही चाहिए । भगवान् प्रजापति ने उनके कल्याण के लिए यज्ञ ही को परमोत्तम साधन बतलाया है । जैसा कि भगवान् कहते हैं—

'सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।' इति ।।

अतएव मनुष्य को अनेक पत्नी का अधिकार है। वह एक के मरने पर दूसरा विवाह अवश्य ही कर सकता है, क्योंकि उसके बिना यज्ञ करना असम्भव है। परन्तु स्त्री को कभी भी दूसरे विवाह का अधिकार नहीं है। यदि स्त्री दूसरा विवाह किंवा परपुरुष-संग कर लेगी तो यज्ञ भ्रष्ट हो जायगा। हमने बतलाया है कि पूर्ण आत्मस्वरूप बनाने के लिए पत्नी को यज्ञ में शामिल किया जाता है। यदि पत्नी का सम्बन्ध किसी परपुरुष के साथ है तो उसके आत्मा का हिस्सा उसी परपुरुष में विभक्त समझना चाहिए। उसके मन का लगाव अवश्य ही उधर रहता है। अतः उधर हिस्सा विभक्त हो जाने से पत्नी का इस यज्ञ में सर्वात्मना योग नहीं होता है। ऐसी स्थिति में पूर्णात्मा में कमी हो जाती है। केवल कमी ही नहीं रह जाती अपितु ऐसी पत्नी के यज्ञ में शामिल होने से उसके पतिकुल एवं पितृकुल दोनों नष्ट हो जाते है। एक वर्ष के भीतर-भीतर यजमान के कुल का नाश हो जाता है। सम्पन्न किया हुआ यज्ञ बिगड़ न जाय, इसीलिए इसी संशय को निकालने के लिए प्रतिप्रस्थाता पत्नी से पूछता है कि आज तुम हमें स्पष्टतया बतलादो कि तुमने किसी परपुरुष से सम्बन्ध किया है अथवा नहीं ?

जो आहिताग्नि होते हैं, वे मनुश्य नहीं अपितु देवता होते हैं। इसीलिए 'ये शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते ब्राह्मणदेवाः' यह कहा जाता है। इन ब्राह्मणों का आत्मा प्राणदेवताओं से व्याप्त है अतएव इन्हें भूदेव कहा जाता है। जिस प्रकार प्राणदेवताओं से कोई बात गुप्त नहीं रखी जा सकती, तद्वत् इनसे कोई बात गुप्त रखना उचित नहीं। इनके समक्ष कपट-व्यवहार करने से, अनिष्ट के सिवाय लाभ कुछ भी नहीं। अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता वगैरह साक्षात् 'देवता' हैं, इन्हें सामान्य मनुष्य समझना पागलपन है। आज पत्नी और यजमान दोनों ही मनुष्यमण्डली से हटकर देवमण्डली में आये हुए हैं। अतः इनके समक्ष सामाजिक लज्जा का कोई काम नहीं। जो प्रश्न लोक में असभ्यता के विचार से नहीं किये जाते हैं, वे ही प्रश्न अध्वर्यु वगैरह यज्ञ-सिद्ध्यर्थ पति-पत्नी से कर सकते हैं। यज्ञविद्यावेत्ता ऋत्विक् जानते हैं कि यदि इस समय बात स्पष्ट न करली जायगी तो सम्पन्न किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। इसीलिए वे पत्नी से निःसंकोच पूछ बैठते हैं कि 'त्वं केन चरसि ?' पत्नी आज देवताओं के पास है, उसे इनसे कुछ भी नहीं छिपाना चाहिए। पतिकुल, पितृकुल एवं स्वयं का कल्याण चाहती हुई पत्नी, जो कुछ सत्य है, वह इन भूदेवों से कहदे, इसमें उसका एवं उसके पति का कल्याण है।

हमने बतलाया था कि यदि स्त्री पर-पुरुष के साथ सम्बन्ध कर लेती है तो यज्ञ-विध्वंस हो जाता है, अतः उसे यावज्जीवन एक ही पति रखना चाहिए, परन्तु यज्ञ बिना पत्नी के हो नहीं सकता है अतः पुरुष दूसरा विवाह भी कर सकता हैं। स्त्री को यज्ञ का

अधिकार नहीं है, अतः एक पति के मर जाने पर वह दूसरा पति नहीं कर सकती। जो द्विजातीय स्त्रियाँ हैं, वे तो कदापि दूसरा विवाह नहीं कर सकतीं। हाँ, शूद्रस्त्री बहु-विवाह कर सकती है, क्योंकि उनमें यज्ञ-मर्यादा नहीं है। वह भी दस बार ही कर सकती है, ग्यारहवीं बार नहीं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा॥

(अथ. प्र. का. १७सू. ५९ पृष्ठ)

इस प्रकार पुरुषों को बहुविवाह करने का एवं स्त्री को एक ही पति का अधिकार है—यह पूर्व प्रकरण से सिद्ध हो जाता है। अब सहनशक्ति का व प्रकृति के नियम का प्रश्न रह जाता है। भारतीय धर्मानभिज्ञ पाश्चात्य शिक्षादीक्षित सुधारकों का प्रश्न है कि जब स्त्री और पुरुष दोनों परमेश्वर की सन्तान हैं तो फिर उनके नियमों में भेद क्यों? जब कि स्त्रियों में व पुरुषों में कामेच्छा समान है, अपितु 'कामस्त्वासां चतुर्गुण.' के के अनुसार स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा आठगुणा काम है तो फिर स्त्रियों के साथ इतना अत्याचार क्यों? पुरुष दस-दस विवाह करके मौज किया करें और स्त्री बिचारी एक के मर जाने पर दूसरे पति का मन से भी स्मरण न करे। क्षोभ! क्षोभ! हजार बार उन शास्त्रकारों के लिए क्षोभ! जिन्होंने यह पक्षपातपूर्ण निश्चय किया है। जो निर्णय प्रकृति के विरुद्ध है, रोमाञ्चकारी है, समाज का सर्वनाश करने वाला है, उसे मानने के लिए हमारा विवेक तैयार नहीं है। इन पग्गड़धर पंडितों के विरुद्ध हमें क्रान्ति करनी पड़ेगी। जिससे समाज आगे बढ़े वैसा नया मार्ग अपनी मस्तिष्क शक्ति से अलग निकालना पड़ेगा। सभी वेद-शास्त्र-पुराण-स्मृत्यादि में यदि ऐसी ही पाशविक व्यवस्था है तो उन्हें छोड़ना पड़ेगा। छोड़ना ही नहीं पड़ेगा अपितु ऐसे गन्दे साहित्य को, जिसे देखकर सभ्यता के शिखर पर आरूढ़ पाश्चात्य सभ्यता हम पर हँस रही है, दुनिया से नष्ट करना पड़ेगा, तभी भारत का कल्याण हो सकता है।

वस्तुतः हम भी पक्षपातपूर्ण निर्णय को समाज के लिए बुरा समझते हैं परन्तु कब? जब कि निर्णय पक्षपातपूर्ण हो, समाज को आघात पहुँचाने वाला हो, प्रकृतिनियम के विरुद्ध हो। हमारा विश्वास है कि भारतीय धर्म में एक भी बात ऐसी नहीं बतलाई जा सकती जो कि प्रकृति के, विज्ञान के, समाज के, मनुष्यता के बाहर हो। भारतीय सारे धर्म-विज्ञान की कसोटी पर कसे हुए हैं। वे इतने गहरे विज्ञान है, जिनको आज हम नहीं समझ सकते। पाश्चात्य-चश्मा हमें हमारी घर की सम्पत्ति को नहीं देखने देता। एक मनुष्य (भीम) पेड़ों को उखाड़कर उन्हें तिनके की तरह फेंक सकता है, समुद्र पर पाषाण की नहर बनायी जा सकती है, भारतीय वीराङ्गनाएँ अपने सतीत्व-प्रभाव से अपने मृत

पति को जीवित कर सकती है, भगवान् कृष्ण के एफ तण्डुल के खाने से हजार शिष्यों-सहित दुर्वासा का पेट भर सकता है, १६ वर्ष का बालक ११ महारथियों को परास्त कर सकता है, छः महिने का बालक पूतना जैसी महाराक्षसी को मार सकता है—ये बातें उन्हें—उनका चश्मा—असत्य बतलाने के लिए बाध्य करता है। सदियों से परतन्त्रता में रहने के कारण आज उन्हें भारतीय-भूतपूर्व गौरव मिथ्या व कपोलकल्पित मालूम होता है। आज इन निर्बल मृतकतुल्य मनुष्यों के सामने कोई वीरता का इतिहास सुनाता है तो अपने पतलून वाले कृश पैरों को फटकारते हुए, कुर्सी पर बल खाते हुए, चश्मे की डंडी को सम्हालते हुए, रूमाल को हिलाते हुए कह बैठते हैं कि नहीं, नहीं, यह बात कभी नहीं हो सकती। मनुष्य यह काम कभी नहीं कर सकता। यह सब मिथ्या है। भला, जिन्हें अपना इतिहास ही मिथ्या प्रतीत हो, उन सपूतों को क्या कहें ? जाजलि के प्रति कहे हुए भगवान् रामचन्द्र के इस वाक्य का उन्हें स्मरण रखना चाहिए—

नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान्। इति।

सन्देह कीजिए, अवश्य कीजिए, क्योंकि सन्देह करना तो मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। परन्तु सन्देह में पड़कर उसे छोड़ मत दीजिए, उसकी खोज कीजिए। आखिर आपके पूर्वज भी कुछ थे, वे भी मनुष्य थे, उनमें भी बुद्धि थी। आवेश में आकर उनकी बातों को ठुकराना अच्छा नहीं। ईश्वर आपको ऐसी सुबुद्धि दे, जिससे कि आप अपने भूले हुए गौरव को समझकर शास्त्रविहित कर्म का अनुसरण करते हुए समाज की उन्नति करने में समर्थ हो सकें। स्त्री एक ही विवाह क्यों करे ? वह अपने आपको बिना पुरुष के कैसे रख सकती है ? यह आपका आक्षेप था, उसका यज्ञसम्बन्धी एक उत्तर तो हम बतला चुके हैं। अब हमें यह बतलाना है कि स्त्री बिना पुरुष के रह सकती है या नहीं एवं पुरुष बिना स्त्री के रह सकता है या नहीं।

हमारे शरीर का निर्माण पृथिवी अन्तरिक्ष व द्यौः—इस रोदसी त्रिलोकी से होता है। इन तीनों के रस से ही हमारा शरीर बनता है। ज्ञान, क्रिया व अर्थ इन तीनों की समष्टि का नाम ही शरीर है। हमारे शरीर में एक भाग तो अर्थ का है। अर्थ दृश्य को कहते हैं। हाथ, पाँव, हड्डी, माँस, चर्बी इत्यादि पदार्थ ही 'अर्थ' कहलाते हैं। दूसरा भाग क्रिया का है। हमारे शरीर में हर समय क्रिया होती रहती है। एक क्षण के लिए भी हम मौन नहीं रह सकते। इसीलिए तो भगवान् कहते हैं—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ इति।

तीसरा भाग ज्ञान का है। हमें 'इदमहं जानामि' यह ज्ञान हुआ करता है। और कुछ नहीं तो कम से कम 'अहमस्मि' यह ज्ञान तो सदा बना ही रहता है। पृथिवी में अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु एवं द्युलोक में सूर्य रहते हैं। सूर्य ही के एक अन्यतम प्राण को 'इन्द्र' कहते हैं, जो कि चेतनाप्रदाता है। संसार के अर्थजात का निर्माण अग्नि से होता है। पार्थिवाग्नि के चुनाव से ही शरीर में अस्थि-मांसादि भूतों का निर्माण होता है। परन्तु जब तक वायु रुधिर का सञ्चालन नहीं करता है, तब तक अग्नि बेकार है। इस वायु से ही रुधिरादि की प्रतिष्ठा रहती है। संसार की समस्त नवीन वस्तुयें क्रिया से बनती हैं। समस्त क्रियाओं के प्रेरक वायु हैं। इसी वायु को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा कहा जाता है। क्यों कहा जाता है? इसका विशद विवेचन 'अत्रिख्याति' में देखना चाहिए। यहां पर हमें केवल इतना ही बतलाना है कि वायु से सर्वजगत्प्रतिष्ठा रहती है, संसार का निर्माण होता है। अतएव ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता बतलाया जाता है। यह वायु अग्निमय है, अग्नि से ही पदार्थ का चुनाव होता है, अतएव इस अग्नि को 'विष्णु' कहा जाता है। वायु द्वारा निर्मित पदार्थ का पालन अग्नि से होता है, अतएव विष्णु को 'पालनकर्ता' कहा जाता है। परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य की ज्ञानमात्रा अधिक होती जाती है, त्यों-त्यों उसका बन्धन टूटता जाता है। अन्त में ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को भस्म कर आत्मा को मुक्त कर देती है। जीवस्वरूप का नाश कर देती है। जीव ईश्वर में लीन हो जाता है। चूंकि ज्ञान से ही लय होता है, यह काम इन्द्र का है, इन्द्र ही को पौराणिक परिभाषा में महादेव कहते हैं, अतएव महादेव को नाश करने वाला बतलाया जाता है। हिरण्यगर्भ वायुमय ब्रह्म पैदा करते हैं, जो कि अन्तरिक्ष में रहते हैं। अग्निमय विष्णु पालन करते हैं जो कि पृथिवी केन्द्र से बद्ध होकर २१ तक रहते हैं, एवं इन्द्र ज्ञानमात्रा से बन्धन तोड़ते हैं, जो कि सूर्य में रहते हैं। इस प्रकार से सारा जगत् ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र से व्याप्त है तथा ज्ञान, क्रिया, अर्थ की समष्टि है व पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ: के रस का पिण्ड है।

हमारे शरीर में रस, असृक्, मांस, मेदा, स्नायु, अस्थि, मज्जा, रेत (वीर्य) ये सात धातुयें हैं। जब हम अन्न खाते हैं तो सर्वप्रथम उसका रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु (ज्ञानतन्तु), स्नायु से अस्थि. अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है। वीर्य खर्च होता रहता है एवं अन्न से रस, रस से रुधिरादि निर्माण की क्रमिक धारा अनवरत चलती रहती है। अन्न पृथिवी की वस्तु है। इसी अन्न की सीमा वीर्य पर जाकर समाप्त हो जाती है। बनते-बनते यही अन्न वीर्य बन जाता है। वीर्य ही से सन्तान पैदा होती है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति।' इति

तात्पर्य यही है कि जो परम्परा अन्न से चली थी वह वीर्य पर आकर समाप्त हो जाती

है। अन्न पृथिवी का हिस्सा है, एवं वीर्य तक अन्न का परिणाम रहता है, अतएव आठों धातुयें 'पृथिव्य' हैं – यह कहा जा सकता है। इसके बाद इस वीर्य से 'ओज' बनता है। ओज ही से शरीर में स्फूर्ति रहती है। जो मनुष्य जितना ओजस्वी होगा, उतना ही उसका प्रभाव अधिक होगा। उसके शरीर में अत्यन्त स्फूर्ति रहेगी। क्योंकि ओज पृथिवी के बाहर की वस्तु है, अर्थात् अन्तरिक्ष की वस्तु है। ओज से पृथिवी का आकर्षण शिथिल हो जाता है। जिसमें ओज नहीं रहता है, उसके मुँह पर मक्खियाँ भिन्नाया करती हैं। वह सदा आलस्य से ग्रस्त रहता है। इसका कारण पृथिवी के आकर्षण की अधिकता ही है, जो कि ओज के अभाव में रहतो है। ओज अन्तरिक्ष में रहता है, जो कि वायुप्रधान है। तत्साजात्यात् वायुसदृश फुर्ती भी मनुष्य के शरीर में आ जाती है। इस प्रकार अन्न से वीर्य तक पृथिवी का भाग रहा एवं वीर्य से ओज तक अन्तरिक्ष का हिस्सा रहा। तदनन्तर यह ओज और भी सूक्ष्मावस्था में परिणत होता हुआ "मन" स्वरूप में परिणत हो जाता है। मन इन्द्रिय, अनिन्द्रिय एवं श्वोवसीयस भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें से प्रकृत मन को अनिन्द्रिय समझना चाहिए। इसी मन को "प्रज्ञानात्मा" कहा जाता है। जितना ज्ञान होता है, वह सब इसी प्रज्ञानात्मा का काम है। ज्ञान सूर्य की वस्तु है, अतः इस प्रज्ञान को हम दिव्यलोक का पदार्थ कह सकते हैं। यहां पर तीसरा भाग द्युलोक का समाप्त हो जाता है। अन्न से वीर्य तक अर्थ है, ओज तक क्रिया है और मन तक ज्ञान है। बात सच है ज्ञान क्रिया अर्थ के अलावा है ही क्या ?

१. रसा[१]सृक्[२] मांस[३] मेदा[४] स्नायु[५] अस्थि[६] मज्जा[७] शुक्र[८]— पृथिव्य — (अर्थ) विष्णु
२- ओज — अन्तरिक्ष— (क्रिया) ब्रह्मा
३. मन (प्रज्ञानात्मा) —दिव्य— (ज्ञान) महादेव

शरीर में क्या-क्या पदार्थ रहते हैं। यह बतला कर अब प्रकृत का अनुसरण करते हैं। शनि, रवि, सोम- मंगल, बुध इत्यादि ९ ग्रह होते हैं। ये ९ ग्रह भिन्न शक्तियाँ रखते हैं, जिनके विस्तृत विवेचन को ही 'ज्यौतिष' कहते हैं। प्रकृत में केवल यही बतलाना है कि इन ९ ग्रहों में से मंगल और शुक्र ये दो ग्रह काम-शक्ति के प्रदाता हैं। कामदेव का स्वरूप इन्हीं दोनों से बनता है। चूंकि कामप्रदाता दो ग्रह हैं, अतएव मीनध्वज एवं मकरध्वज भेद से काम भी दो प्रकार का होता है। मीन, मेष, वृष, मिथुनादि १२ राशियाँ होती हैं। ये राशियाँ आकाश के १२ खण्डों में विभक्त हैं। इनमें से जो मकर और मीन राशियाँ हैं, वे मंगल एवं शुक्र के उच्च स्थान कहलाते है। मीन और मकर पर आए हुए मंगल और शुक्र उच्च के कहलाते हैं। जैसा कि कहा है—

'मेषो वृषोऽथ मकरः कन्या कर्को झषस्तुला।
सूर्यादीनामुच्चभानि तेष्वेते बलिनो ग्रहाः ॥' इति

स्त्री के रुधिर में और पुरुष के वीर्य में काम रहता है। रुधिर आग्नेय है और शुक्र सौम्य है। इस सोम की जब स्त्री के रुधिराग्नि में आहुति होती है, तब सन्तान उत्पन्न होती है। अग्नि में सोम की आहुति से ही सारे विश्व का निर्माण होता है। इसीलिए "अग्नीषोमात्मकं जगत्"—कहा जाता है। बात बिल्कुल ठीक है। सर्दी और गर्मी के अलावा और है ही क्या ? इसीलिए—"द्वयं वा इदं सर्वम् आर्द्रं चैव शुष्कं च"—कहा जाता है। मंगल आग्नेय ग्रह एवं शुक्र सौम्य ग्रह है। अग्नि को पुरुष कहते हैं एवं सोम को स्त्री। अग्नि वृषा एवं सोम योषा है। इसीलिए मंगल पुरुषग्रह एवं स्त्री शुक्रग्रह कहलाता है। पुरुष का काम शुक्र में रहता है एवं शुक्र का उच्चस्थान है—मकर। इसीलिए पुरुष के काम का नाम है—मकरध्वज। स्त्री का काम रुधिर में रहता है। रुधिर अग्निमय है, इसके स्वामी मंगल हैं एवं मंगल का उच्चस्थान मीन है। इसीलिए स्त्री के काम का नाम है—मीनध्वज। अभी बतलाया गया है कि अग्नि पुरुष का एवं सोम स्त्री का स्वरूप है। आग्नेय प्राण से पुरुष की एवं सौम्य प्राण से स्त्री की उत्पत्ति होती है। यद्यपि दोनों में दोनों रहते हैं तथापि आधिक्य के कारण ऐसा कहा गया है। बल अग्नि में ही अधिक रहता है। हाथ-पैर ठण्डे हुए कि मृत्यु हुई। चूंकि अग्नि की मात्रा पुरुष में अधिक रहती है, अतः वह सबल है, आग्नेय है। चूंकि स्त्री में सोम की मात्रा अधिक रहती है, अतएव वह "सौम्या" है, अबला है—कोमलाङ्गी है। स्त्री के काम में अग्नि का भाग अधिक है, अग्नि पुरुषस्वरूप है। इसीलिए स्त्री को पुरुष की इच्छा हुआ करती है—क्योंकि अग्नि की मात्रा ही तो उसके काम में है। पुरुष के काम में सोम-भाग अधिक है—क्योंकि उसका काम शुक्र में ही तो रहता है। सोम स्त्री का स्वरूप है। अतएव पुरुष सदा स्त्री की इच्छा करता है क्योंकि उसके काम में स्त्री-प्राण ही तो बैठा हुआ है। रसासृक् आदि धातुओं में द्वितीय संस्था में ही अर्थात् रुधिर में ही काम रहता है एवं पुरुषों के वीर्य में ८वीं श्रेणि में वह रहता है। इसी अभिप्राय से "कामश्चाष्टगुणः स्मृतः—कहा जाता है। स्त्रियों में काम दूसरे ही धातु में रहता है, अतः उनका काम अतिशीघ्र उद्दीप्त हो जाता है एवं पुरुषों में ८वीं श्रेणि में जाकर कहीं काम को मौका मिलता है। अतएव स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कामशैथिल्य होता है।

जैसा कि बताया गया है कि वीर्य से ओज एवं ओज से मन बनता है। इस वीर्य के निकलने के तीन मार्ग हैं। या तो यह वीर्य सन्तानरूप में परिणत हो कर निकल जाता है अथवा ओज में परिणत हो शरीर-पुष्टि में परिणत हो जाता है अथवा ज्ञान में परिणत हो जाता है। यदि ये तीनों मार्ग बन्द हो जाते हैं तो वीर्य शरीर को फाड़कर बाहर निकल आता है। जिनका वीर्य सन्तानोत्पत्ति में व्यय हो जाता है, वे 'अधःस्रोता' कहलाते हैं एवं जिनका वीर्य शरीर-पुष्टि में व्यय होता है, वे 'तिर्यक्-स्रोता' कहलाते हैं एवं जिनका

वीर्य केवल ज्ञान-चिन्ता में व्यय होता है, वे 'ऊर्ध्व-स्रोता' कहलाते हैं अथवा 'ऊर्ध्वरेता' कहलाते हैं। वीर्य के पैदा होते ही उसे अधोमार्ग (उपस्थ) से व्यय कर डालने से ओज और ज्ञान की मात्रा अत्यल्प मात्रा में बनती है। उसे अधोमार्ग से न निकालकर, सुरक्षित रख कर व्यायामादि प्रक्रम से— शरीरपुष्टि करने से ओज की मात्रा बढ़ जाती है। इससे शरीर देदीप्यमान रहता है, परन्तु जो उस वीर्य को ज्ञान में परिणत कर देते हैं, वे शरीर से निर्बल हो जाते हैं। जो वीर्य शरीरपुष्टि करता है वही क्रमिक धारा से ज्ञान में परिणत होता हुआ ऊपर ही ऊपर व्यय होता रहता है। उसका स्रोत ज्ञानतन्तु से बँध जाता है। जो मनुष्य जितना ज्ञान से काम लेगा वह उतना ही कृश होगा—यह सिद्धान्त समझना चाहिए। साथ ही जो जितना शारीरिक बल में बलवान् होगा, वह उतना ही निर्बुद्धि होगा। पहलवान में बुद्धि नहीं होती, बुद्धिमान् में बल नहीं होता। अधःस्रोत वालों में ये दोनों ही (बल, बुद्धि) नहीं होते। अतः वीर्य को सुरक्षित रखने का प्रयत्न प्रत्येक अवस्था में करना चाहिए।

वीर्य के ३ रास्तों से निकलने का तात्पर्य है—कामशक्ति का निकलना। कामशक्ति पुरुष के वीर्य में ही होती है, अतः या तो वह अधोमार्ग से निकलेगी अथवा ज्ञान मार्ग से अथवा बल मार्ग से। यदि तीनों ही मार्ग बन्द रहेंगे तो वह शरीर से फूट निकलेगी। इन तीनों मार्गों में से जो ज्ञान का मार्ग है, वह बड़ा ही कठिन है। आपामर मनुष्य के लिए वहाँ तक पहुँचना असम्भव है। इसलिए यह मार्ग ऋषियों के अतिरिक्त साधारण मनुष्यों के लिए एक प्रकार से बन्द सा ही है। इसीलिए—"ऊर्ध्वरेता" ऋषियों में ही रूढ़ हो गया है। दूसरा है—बलमार्ग। यदि मनुष्य व्यायामशिक्षा में प्रवीण होता है तो वह अवश्य ही इस मार्ग में सफल हो जाता है। और यदि व्यायामानुकूल साधन नहीं मिलते हैं तो इस मार्ग में खतरा ही है। अब शेष तीसरे-अधोमार्ग को भी यदि बन्द कर दिया जायेगा तो यह वीर्य कामोत्तेजना से शरीर को फाड़कर निकल आयेगा। चूंकि ऐसा न हो, इसीलिए शास्त्रकारों ने व्यभिचार के मार्ग को बन्द करने के लिए पुरुष के पुनर्विवाह को उचित समझा है। यदि इसके लिए यह द्वार न हो. तो व्यभिचार किं वा हस्त-मैथुनादि द्वारा और भी अनिष्ट होने का भय है। व्यभिचार दोष की अपेक्षा पुनर्विवाह कर एक ही स्त्री से सम्बंध करना हजार गुणा अच्छा है। इतना विशेष अवश्य समझना चाहिए कि जो आबाल ब्रह्मचारी है—जिनका कि शुक्र एक बार भी स्खलित नहीं हुआ है. उनके लिए विवाहबन्धन की आवश्यकता नहीं है। उनका वीर्य तो ओज, ज्ञान इस सूत्र-क्रम से चलता रहता है। जिनका सूत्र विच्छिन्न हो गया है—जो वीर्य स्खलित कर ओज व ज्ञान के सूत्र को तोड़ चुके हैं उन्हीं के लिए पूर्वोक्त व्यवस्था है। पुरुष-बहुविवाह की यही वैज्ञानिकता है। अब स्त्री के विषय में बतलाते हैं। स्त्री का काम दूसरी ही धातु में—

रुधिर में—रहता है। उसके आगे बढ़ने के लिए अभी छह मार्ग हैं। यदि वह काम को रोक लेती है तब भी उसे पुरुषवत् विशेष हानि नहीं पहुँचती है। क्योंकि अभी धातु-निर्माण-प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है। असृक् से मांस, मेदा, मज्जादि बनना बाकी है, अतः काम वीर्य तक जाते-जाते शान्त हो जाता है। यही कारण है कि स्त्री चाहे तो आजीवन स्वस्थ रहती हुई बिना पुरुष के रह सकती है, परन्तु पुरुषों में ऐसा कोई विरला ही होगा जो कि शक्तिमंदता को छोड़कर बिना स्त्री के अधिक समय निकाल सके। इसीलिए स्त्रियों के बहुविवाह की प्रथा अनुचित समझी गयी। अन्तर्लक्ष्य इसमें वही हमारा यज्ञ है, जिसके लिए पुरुष को अधिक विवाह करना आवश्यक है। जो यज्ञ नहीं करते हैं, ऐसे शूद्रादिकों को तो अनेकपुरुष सम्बन्ध करने का अधिकार है ही। जैसा कि मन्त्रश्रुति में बतलाया गया है।

भारतीय धर्माज्ञा का निदर्शन-मात्र आपके समक्ष रखा गया है। सारे धर्म इन्हीं वैज्ञानिक भित्तियों पर अवलम्बित हैं। आप हिन्दूशास्त्रों पर रिसर्च (अनुसंधान) कीजिए। आपको मालूम होगा कि भारत का धर्म क्या है ? हम जो उसका तिरस्कार करते हैं, वह कहाँ तक ठीक है ? ईश्वर आपको ऐसा करने की सद्बुद्धि दे। प्रसङ्गागत बहुविवाह के विषय में थोड़ा-सा बतला दिया, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं।

प्रतिप्रस्थाता यजमान अपनी पत्नी से पूछता है कि बतलाओ तुम्हारा सम्बन्ध किससे है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो स्त्री अन्य की होकर अन्य से सम्बन्ध करती है, उसका यह कर्म वरुण्यकर्म है अर्थात् आसुरकर्म है। असुर यज्ञ में बाधा डालने वाले हैं, अतः इस कर्म को करने वाली पत्नी के यजमान का यज्ञ सफल कैसे हो सकता है ?

'वरुण्यं वा एतत्स्वीकरोति यदन्यस्य सती अन्येन चरति।'

इस अग्नि में यजमानपत्नी अन्तःशल्या होकर हवन न करे, इसीलिए पूछता है। यदि दूसरे के साथ उसका आत्मा आसक्त होगा तो पूर्णेश्वरयज्ञ भ्रष्ट हो जायगा। इसीलिए पूछा जाता है—

'नेन्मेऽन्तः शल्या (दूसरे के साथ प्रेम करती हुई) जुहवत् तस्मात् पृच्छति।'

अपिच पूछने का एक कारण और भी है—जिस पापकर्म को प्रकट कर दिया जाता है, वह पाप सत्यवृत होकर नष्ट हो जाता है। यदि पाप को कह दिया जाता है, तो वह सत्यबल से घट जाता है, अर्थात् सत्यमय हो जाता है। सत्य में वह बल है कि वह घोर से घोर पाप को धो डालता है। इसी कारण ऐसा पूछ लिया जाता है। यदि वह कह देती है तो इसका पाप धुल जाता है, एवं इसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

'निरुक्तं वाऽएव कनीयो भवति। सत्यं हि भवति। तस्मादु एव पृच्छति।'

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि लज्जावश अथवा अन्य किसी कारणवश यजमानपत्नी असली बात को नहीं कहती है तो इसके पतिकुल एवं पितृकुल दोनों का अनिष्ट होता है। अतः इसे सत्य बात कह देनी चाहिए ।

'सा यन्न प्रतिजानीते ज्ञातिभ्यो हास्यैव तदहितं स्यात् ।' २०॥

प्रतिप्रस्थाता निम्नलिखित मन्त्र को यजमानपत्नी से उच्चारण करवाता है—

'प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः । करम्भेण सजोषसः ।' इति

हिंसा करने वाले जो प्रघासी मरुत् हैं, उनका मैं इस मरुत्यज्ञ में आह्वान करती हूं। जो मरुत् करम्भस्वरूप हवि से प्रसन्न होते हैं ।

प्रत्येक यज्ञ में पुरोऽनुवाक्या होती है । प्रतिदेवता के लिए पहिले पुरोऽनुवाक्या एवं बाद में याज्या होती है । आह्वान मंत्र को 'पुरोऽनुवाक्या' एवं आहुति डालने वाले मन्त्र को 'याज्या' कहते हैं । परन्तु प्रकृत मारुतीष्टि में यह पूर्वोक्त मन्त्र ही पुरोऽनुवाक्यास्थानीय समझना चाहिए । यह यजमानपत्नी करम्भपात्रों के लिए इसी ऋचा से सारे मरुतों का आह्वान करती है ॥२१॥

वे पात्र घर में जितने मनुष्य होते हैं, उतने होते हैं । एवं पुरुषसंख्या से एक अधिक होता है । प्रतिपुरुष करम्भपात्र करता हुआ ऋत्विक्—जो प्रजा उत्पन्न हो गई है—उस प्रत्येक प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाता है। अर्थात् घर के सारे मनुष्यों को—आबालवृद्ध को एक-एक पात्र दे दिया जाता है । चूंकि मरुद्भावनाक्रान्त वे पात्र रहते हैं, अतः उनसे मरुत् शान्त हो जाते हैं। अर्थात् सारे घर वालों की वातव्याधि दूर हो जाती है। घर वालों से एक पात्र अधिक रहता है, उस अधिक पात्र से इस यजमान की अनुत्पन्न प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाते हैं । इसीलिए एक पात्र अधिक लिया जाता है—

'तस्मादेकेनातिरिक्तानि भवन्ति' ॥२२॥

यव का जो सक्तु है, वह हाथ ही में नहीं दे दिया जाता अपितु उसके लिए बर्तन होते हैं । यवमय सक्तु पात्र में दिया जाता है, क्योंकि पात्र में ही भोजन किया जाता है—हाथ में भोजन करना ग्रामीणता है—

'पात्राणि भवन्ति । पात्रेषु हि अशनमश्यते ।' इति

ये पात्र जौ के आटे के ही बनाये जाते हैं । क्योंकि जौ को खाने वाली प्रजा का ही वरुण ने निग्रह किया था, अतः उसकी शान्ति के लिए पात्र भी जौ का बनाना उचित है।

शूर्प द्वारा तुष निकाले हुए उस करम्भ की आहुति देते हैं । अर्थात् वह करम्भपात्र

शूर्प से साफ किये हुए यव से ही भरे रहते हैं। शूर्प से साफ किये बिना आज भी कोई नहीं खाता है। 'शूर्पेण हि अशनं क्रियते'।

इस करम्भपात्र का हवन पत्नी करती है। इस प्रकार यज्ञकर्ता ऋत्विक् पत्नीस्वरूप मिथुन से प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाता है अर्थात् पुरुष व स्त्री दोनों ही वरुणपाश से मुक्त हो जाते हैं ॥२३॥

प्रधान स्वाहाकार यज्ञ से पूर्व – प्रधान आहुति से पूर्व – मरुत् के लिए आहुति दी जाती है। प्रजा अहुताद होती है—उसके लिए उपहार नहीं दिया जाता है। ब्राह्मण को भेंट दी जाती है, राजा को उपहार दिया जाता है परन्तु प्रजा अर्थात् वैश्य को भेंट व नजराना दोनों ही नहीं दिया जाता है। नजराना देना राजा के बराबरी का आसन देना है। प्रजा के लिए ऐसा होना अनुचित है। प्रजा क्षत्र के अधीन है। इसी अभिप्राय से कहते हैं— 'अहुतादो वै विशः'।

यह मरुत् देवताओं की प्रजा हैं अतः प्रधानाहुति के पहिले इन्हें दे दिया जाता है।

जिस समय प्रजापति की प्रजा परिदीर्ण होती हुई, लम्बे श्वास लेती हुई एवं दमघुट होती हुई कभी सोती थी, कभी बैठती थी व अत्यन्त व्याकुल हो रही थी, उस समय प्रजापति भगवान् ने मारुतीष्टि से इनका नाश कर दिया था। मारुत यज्ञ करती हुई आज यह यजमानपत्नी—अपने पति यजमान की प्रजाओं से—मरुत् को संविश्लेषित करती है अर्थात् मरुत्यज्ञ से वातव्याधि को शान्त करती है ॥२४॥

चूंकि मारुती वेदि दक्षिण में है, अतः वह पत्नी उस दक्षिणाग्नि में ही मरुतों के लिए आहुति डालती है, अर्थात् दक्षिण में स्थित आहवनीय में आहुति डालती है। आहुति डालने का मन्त्र यह है—

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे स्वाहा॥' इति॥

शहर में, जङ्गल में, मनुष्यसमूह में एवं इन्द्रियों में हमने जो पाप किया है, उस सब को हम आज अग्नि में डालते हैं। मनुष्यसमूह में किया है, यही 'यत्सभायां' का तात्पर्य है। जो मानसिक पाप होता है, उसे देवता ही देखते हैं। चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ देवता ही हैं। इसीलिए तो 'अग्निर्वाक् भूत्वा मुखंप्राविशत्' इत्यादि कहा गया है। तात्पर्य यही है कि मैंने जो कुछ पाप किया है, उन सब से अलग हो जाऊँ ॥२५॥

तदनन्तर यजमान इन्द्रदेवताक—मरुत्शब्दयुक्ता मरुत्वती ऐन्द्री ऋचा का जप करता है। जिस समय प्रजापति की प्रजा का मरुत् ने विमन्थन किया था उस समय प्रजापति ने विचारा कि कोई ऐसा उपाय होना चाहिए, जिससे कि मरुत् मेरी प्रजा का नाश न करें ॥२६॥

अन्त में मरुत्-शान्ति के लिए प्रजापति ने इसी मरुत्वती ऐन्द्री ऋचा का जप किया था, वैसे ही आज भी यजमान मरुत्शान्त्यर्थ ऐन्द्री का जप करता है। इन्द्र ही तो प्राण-प्रदाता है, जैसा कि 'प्राणोदानौ वा इन्द्राग्नी' यह पूर्व प्रकरण में कहा गया है। उसी प्राण-सत्ता से (इन्द्र की सत्ता से) प्रजापति (आत्मा) ने मरुत् को शान्त किया था।

अपिच, इन्द्र राजा है व मरुत् प्रजा है। राजा प्रजा का निरोध करने वाला है, उस पर शासन करने वाला है। इन्द्र से मरुत् प्रजा दब जायें। वे मत् यजमान प्रजा का नाश न करें। इसीलिए ऐन्द्री ऋचा का जप किया जाता है 'तस्मादैन्द्री'। इति ॥२७॥

ऐन्द्री ऋचा के बोलने का कारण बतलाकर उसकी इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। यजमान निम्नलिखित ऐन्द्री ऋचा को बोलता है—

'मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्माते शुष्मिन्नवयाः।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यथा हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥' इति

हे इन्द्र, अब पृत्सु (संग्रामेषु) (अस्मदीयाः प्रजाः) मा, उ, सु (हिंसीः)। हे शुष्मिन् (बलवन्निन्द्र!) देवैः (मरुद्भिः) सहितस्य ते (तव) अवयाः (करम्भपात्रहोमः) अस्तिस्मा (अस्तिस्म) हि (खलु)। महश्चित् (महतोऽपि) मीढुषः सेक्तुः (सेचनकर्तुः) यव्याः (यवमयैर्हविर्भिः) हविष्मतः यस्य (इन्द्रस्य) मरुतः(देवाः अनुचराः)गीः (स्तुतिरूपावाक्) वन्दते (स्तौति)।

हे इन्द्र! इस संग्रामों में आप हमारी प्रजा को एवं हम को न मारें। जिस समय युद्ध होने लगता है, उस समय योद्धा वीरता के आवेश में आकर अपने व पराये को भूल जाता है। प्राणों में इन्द्रप्राण युद्ध करने वाला है। इन्द्रप्राण मरुतों की सेना को साथ लेकर सर्वदा असुरप्राण से युद्ध किया करता है। उस युद्ध की चपेट में हम व हमारी प्रजा न आजाय, इसीलिए अत्र पृत्सु न, मा उ सु'कहा गया है। जैसे प्राणदेवता की स्थिति थी एवं है भगवान् ब्रह्मा ने उसी के समान पृथिवी लोक में व्यवस्था स्थापित की थी। प्रकृतिवद् यह भी इन्द्र मारुती सेना को साथ लेकर सदा अफ्रीका के असुरों से युद्ध किया करते थे। वहाँ पर ऋषि मुनि व देवता तमाशा देखने के लिए जाया करते थे। उस समय युद्ध के आवेग में आकर जब इन्द्र इन पर भी हमला करने आते थे तब वे उसी समय कहते थे कि हे इन्द्र! देखिए! देखिए! हम तो आप ही के हैं – हम पर आप कृपा ही कीजिए, हम आपका यजन करने वाले हैं। इस ऐतिहासिक भाव को भी लक्ष्य में रखकर 'हे इन्द्र! अत्र पृत्सु नः मा उ सु' कहा गया है यह समझना चाहिए। हे बलवन् इन्द्र! मारुती सेना सहित आपके लिए यह पुरोडाश है। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में स्तुति करके अब परोक्ष रूप में स्तुति करते हैं। महाबलवान्, जल की वर्षा करने वाले किंवा सम्पत्ति की वर्षा करने वाले! यवमय हवियों से नित्य ही हविष्मान् इन्द्र को मरुत् देवों की स्तुतिरूपा

वाणी नित्य ही स्तुति किया करती है। जिन मरुत् देवताओं को वाणी स्तुति करती है, उनकी क्या कोई महिमा का वर्णन कर सकता है—यही तात्पर्य है ॥२८॥

तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता निम्नलिखित मन्त्र को यजमानपत्नी से कहलवाता है—

'अक्रन् कर्म कर्मकृतः सहवाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वा, अस्तं प्रेत सचाभुवः ॥'

मयोभुवा (सुखदात्र्या) मन्त्ररूपया वाचा सह कर्मकृतः (यजमानाः) कर्म अक्रन् (अकार्षुः) (अत.) हे ऋत्विजः—वरुणप्रघासाख्यं करम्भपात्रहोमरूपं च कर्म देवार्थं कृत्वा अस्तं (यजमानस्य गृहान्) सचाभुवः पत्न्या सह भवन्तः—सह वर्तमानाः प्रेतआगच्छत ॥

मनोहर, सुन्दर, कल्याणमय मन्त्रों के साथ कर्म करने वाले यजमान कर्म कर चुके। ऋत्विक् यजमान के प्रतिनिधि हैं, अतएव 'कर्मकृतः' कहा गया है। हे ऋत्विजो ! आप देवताओं के लिए वरुणप्रघासाख्य करम्भपात्रहोमस्वरूप कर्म करके—पत्नी के साथ यजमान के जो घर हैं—उनमें आइये। आज यह यजमान अन्य देश से (पत्नी-स्थान से) आहवनीय के समीप आई हुई अपनी पत्नी के साथ अपने घर में विद्यमान है। अतएव 'सचाभुवः' कहा गया है।

'अन्यतो (अन्यस्मात् देशात् पत्नीस्थान त्) ऊढया (आहवनीयसमीपं प्रापितया) पत्न्या सहभवन्ति (यजमानाः) तस्मात् सचाभुवः।' इति

गार्हपत्य के पार्श्व में पत्नीशाला होती है। एवं उससे पूर्व यजमानशाला होती है। आज आहवनीय में आहुति देने के लिए—अपने पश्चिमस्थ घर से उठकर पत्नी पूर्व की ओर—यजमान के घर में आयी हुई है यही 'सचाभुवः' का तात्पर्य है।

अब तक (यज्ञ के पूर्व) पत्नी यज्ञ के अपर भाग में अर्थात् अपनी पश्चिमस्थ शाला में थी। इस पश्चिमस्था पत्नी को—आज पूर्व भाग में जाती हुई इस पत्नी को—प्रतिप्रस्थाता यज्ञ में पहुंचाता है—यज्ञ में शामिल करता है। यज्ञ में शामिल करने का कारण बतलाते हैं कि यह पत्नी यज्ञ के पश्चिम का आधा भाग है। पत्नी और यजमान दोनों के मेल से यज्ञ का स्वरूप बनता है। पत्नी यज्ञ के पश्चिम भाग में रहती है। अतएव इसे पश्चिम का आधा भाग बतलाया गया है—इति सायणीयमतम्।

अथ गुरुमतम्—पत्नी स्वयं के लिए परोक्ष भाव से कहती है—

काम करने वालों ने काम कर लिया। अब वे देवताओं का यजन कर अपने घर जाते हैं। वे काम करने वाले सचाभुव हैं अर्थात् अन्य स्थान से आकर (पश्चिम स्थान से आकर) इसके (यजमान के) साथी बने हैं। इस प्रकार से पत्नी, यह कहकर अपने स्थान

पर हवन कर वापिस लौट जाती है। इसे पहुंचाने प्रतिप्रस्थाता जाता है। 'ग्रस्त' का ग्रर्थ घर है—घर ही प्रतिष्ठा है। ग्रत: पश्चिम भाग में पत्नी को प्रतिष्ठित करता हुग्रा प्रतिप्रस्थाता उसे घर-स्वरूप प्रतिष्ठा में ही प्रतिष्ठित करता है।

तात्पर्य यही है कि पत्नी ग्राहुति देने के लिए इस यज्ञ में सम्मिलित हुई थी, जो कि पूर्व में स्थित है। ग्रब वह ग्रपना कर्म कर चुकी — ग्राहुति दे चुकी — ग्रत: प्रतिप्रस्थाता उसे पुन: ग्रपने स्थान पर पहुँचा ग्राता है।

'गृहा वा ग्रस्तम् (गृहा: प्रतिष्ठा) तद्गृहेष्वेवैनामेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति।'२६॥

इस प्रकार से प्रतिप्रस्थाता पत्नी को ग्रपने स्थान पर लौटाकर स्वयं वापस लौट ग्राता है। 'प्रतिपराणीयोदेति प्रतिप्रस्थाता'— इसके बाद ग्राग्नीध्र ग्राहवनीय ग्रग्नि का संमार्जन करते हैं ग्रर्थात् चूंकि ग्रब ग्राहुति देने का समय ग्रा गया है, ग्रत: ग्रग्नि की भस्म ग्रादि हटा उसे प्रदीप्त कर देते हैं। यद्यपि ग्राग्नीध्र एक है, तथापि ग्रादरार्थ 'संमृजन्ति' कहा गया है। ग्रग्नि के सम्मार्जन हो जाने पर ग्रध्वर्यु ग्रौर प्रतिप्रस्थाता दोनों उत्तराधार का ग्राघार करते हैं ग्रर्थात् लम्बी धारा से ग्रग्नि में घृत की ग्राहुति देते हैं। इसके बाद केवल ग्रध्वर्यु ही 'ग्रोश्रावय' इसके द्वारा ग्राश्रावण करके होता का वरण करता है। होता ग्रध्वर्यु द्वारा वृत होकर उत्तर ग्रौर पश्चिम के कोने से कुछ उत्तर की ग्रोर हटकर 'होतृषदन' में बैठ जाता है। वहाँ पर बैठकर ग्रध्वर्यु ग्रौर प्रतिप्रस्थाता दोनों को ग्राहुति देने के लिए ग्राज्ञा देता है। उस होता द्वारा प्रसूत होकर ग्रध्वर्यु ग्रौर प्रतिप्रस्थाता दोनों जुहू, उपभृत् को लेकर ग्रपने स्थान से ग्राहवनीय के पास जाते हैं। यहाँ जाकर केवल ग्रध्वर्यु ही बोलता है— 'समिधो यज'। यहाँ पर ग्रध्वर्यु के बोलने से प्रतिप्रस्थाता का बोलना हो जाता है। प्रतिप्रस्थाता तो कृतानुकर है, उसे बोलने की कोई ग्रावश्यकता नहीं है। इस यज्ञ में ९ प्रयाज होते हैं ग्रौर ९ ही ग्रनुयाज होते हैं। प्रयाज पहले होते हैं, ग्रनुयाज प्रधान कर्म के बाद होते हैं। ग्रतएव पहले 'समिधो यज' इत्यादि प्रयाज यागों को ही बतलाते हैं। समिध्, बर्हि इत्यादि ९ प्रयाजों का यजन प्रकृत यज्ञ में करना पड़ता है। परन्तु केवल पहिले के प्रयाज के लिए 'समिधो यज' यह कहना चाहिए। बाद में उत्तर के ८ प्रयाजों के नाम लेने का कोई ग्रावश्यकता नहीं है। केवल यज - यज कहकर ग्राहुति डाल देनी चाहिए। स्रुक् में पहिले ३ बार करके घृत ले लेते हैं। बाद में उससे प्रयाजों को ग्राहुति दे देते हैं। इसके ग्रनन्तर चौथे प्रयाज के लिए फिर घृत ले लेते हैं। इस प्रकार चौथे - चौथे प्रयाज में घृत लेकर ग्रध्वर्यु ग्रौर प्रतिप्रस्थाता दोनों ९ प्रयाज करते हैं। ग्रध्वर्यु उत्तरा वेदि पर बैठा हुग्रा ९ प्रयाज करता है एवं प्रतिप्रस्थाता मारुती वेदि पर बैठा हुग्रा ग्रध्वर्यु को देखकर ९ प्रयाज करता है। यज्ञ प्रजापति को 'सप्तदश' प्रजापति कहते हैं। 'ग्रोश्रावय' इत्यादि ग्रक्षर मात्रा से प्रत्येक यज्ञ प्रजापति से युक्त कर दिया जाता है। यह १७ की पूर्ति

का क्रम निम्न है। ओ श्रा व य अ स्तु श्रौ षट् य ज ये य जा म हे वौ ष ट्। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ इति

इसका विशद विवेचन प्रथम काण्ड में कर दिया गया है। अतः पुनरुक्ति करना उचित नहीं है।

प्रयाज के अनन्तर आग्नेय आज्यभाग और सौम्य आज्यभाग होते हैं। बाद में आवाप(प्रधान)कर्म होता है। बस, पहिले आग्नेय आज्यभाग बतलाते हैं। अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपने-अपने स्थान पर बैठकर आहुति देते हैं क्योंकि दोनों का कर्म पृथक्-पृथक् है। परन्तु अनुवाक्या केवल अध्वर्यु ही करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'इसके बाद अध्वर्यु ही होता के प्रति "अग्नये अनुब्रूहि" यह अनुवाक्या करता है। यह अनुवाक्या आग्नेय आज्यभाग के लिए समझनी चाहिए—

'अथाध्वर्युरेवाहाग्नयेऽनु ब्रूहि' इति'आग्नेयमाज्यभागम्' इति इसके अनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही स्रुक् में घृत को चार वार में करके (चार अवदान करके) आहुति देने के लिए आहवनीय के समीप जाते हैं। वहाँ जाकर केवल अध्वर्यु ही बोलता है। 'अग्नि यज' इति। इसके अनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही अपनी - अपनी अग्नि में 'वौषट्' कहकर उस घृत की आहुति डाल लेते हैं। तात्पर्य यही है कि अनुवाक्या आदि सारे काम अध्वर्यु करता है। प्रतिप्रस्थाता तो चुपचाप अध्वर्यु को देखकर काम किए जाता है। हाँ 'वौषट्' इतना शब्द प्रतिप्रस्थाता भी बोलता है॥ ३१

'अथाध्वर्युरेवाह—सोमायानुब्रूहीति—सौम्यमाज्यभागम्। ता उभावेव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामतः। अतिक्रम्य आश्राव्य अध्वर्युरेवाह—सोमं यजेति। तावुभावेव वषट्कृते जुहुतः॥३८॥ पूर्ववत्—

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस वरुणप्रघासेष्टि में जो कुछ वाक् से काम किया जाता है, वह सब अध्वर्यु ही करता है, प्रतिप्रस्थाता नहीं। अर्थात् बोलने - बोलने का सारा काम अध्वर्यु ही करता है, प्रतिप्रस्थाता नहीं। उत्तरवेदि में वषट्कार के लिए—ये यजामहे—कहता है एवं यहाँ अध्वर्यु ही 'ओश्रावय' इससे आश्रावण करवाता है अर्थात् सुनवाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि बोलने - बोलने का सारा काम अध्वर्यु ही करता है॥३३॥

अध्वर्यु ही बोले एवं प्रतिप्रस्थाता चुपचाप काम किए जाय इसका कारण बतलाते हैं—

यह प्रतिप्रस्थाता कृतानुकर है। जैसा अध्वर्यु कहता है, उसके अनुसार चुपचाप इसे करना पड़ता है। कारण इसका यही है कि वरुण राजा है और मरुत् प्रजा है। मारुती

वेदि का यजन प्रतिप्रस्थाता कर रहा है, वारुणी का अध्वर्यु । अतः चुपचाप काम करता हुआ प्रतिप्रस्थाता क्षत्रिय के लिये प्रजा को कृतानुकरा बनाता हुआ अनुगमनशीला बनाता है । अर्थात् प्रजा को राजा की आज्ञा में चलने वाला बनाता है ।

यदि प्रतिप्रस्थाता आश्रावण करेगा अथवा वाणी से और कुछ काम लेगा. तो वह राजा के प्रति प्रजा को प्रतिस्पर्द्धा के लिए खड़ा करेगा । अर्थात् मारुती का यजन करने वाला प्रतिप्रस्थाता वारुणी के यजन करने वाले अध्वर्यु के अनुसार बोलने लगेगा तो बराबरी की भावना से राजा प्रजा का दर्जा एक हो जायेगा । प्रजा राजा की आज्ञा में नहीं चलेगी । बस ऐसा न हो जाय इसीलिए प्रतिप्रस्थाता आश्रावणादि कर्म्म नहीं करता है । तस्मान्न प्रतिप्रस्थाता आश्रावयति ।।३४।।

प्रतिप्रस्थाता अपने स्थान पर खड़ा होता हुआ हाथों में जुहू,उपभृत् को लेकर उपासना करता है । अर्थात् अध्वर्यु की आज्ञा की प्रतीक्षा करता है । अर्थात् पयस्या की आहुति के पहिले - पहिले तक के लिए प्रतिप्रस्थाता बैठ जाता है । वैश्वदेवेष्टि में जो जो आहुतियाँ हुई थीं उन सब को इस वरुणप्रघास में भी करना पड़ता है । प्रतिप्रस्थाता तो अपने स्थान पर बैठ जाता है एवं अध्वर्यु ही निम्नलिखित हवियों को अग्नि में आहुति देता है । पहले आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति देता है, बाद में सौम्य चरु को देता है । बाद में सावित्र द्वादशकपाल किंवा अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति देता है । यह आहुति मध्यतः प्रजनयिता प्रजापति के लिए समझनी चाहिए । तदनन्तर सारस्वत चरुकी की आहुति देता है । तदनन्तर पौष्ण चरु की आहुति देता है । । इसके बाद ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश की आहुति देता है । इस प्रकार इतनी हवियों की अध्वर्यु आहुति देता है ।।३५।।

इस प्रकार से ऐन्द्राग्नपर्य्यन्त ६ हवियों से यजन करके इसके अनन्तर वारुणी और मारुती पयस्या की आहुति देने वाले ये प्रतिप्रस्थाता और अध्वर्यु मेष और मेषी का विपर्यय करते हैं । जो कि मेष मारुणी पयस्या में था उसे वारुणी पयस्या में रखते हैं एवं जो कि मेषी वारुणी पयस्या में थी उसे मारुती पयस्या में रखते हैं—

स यो मेषो भवति मारुत्यां, तं वारुण्यामवदधाति ।
या मेषी भवति वारुण्यां, तां मारुत्यामवदधाति ।।

जो यहाँ पर जिस लिए यह विपर्य्यय किया जाता है, इसका कारण बतलाते हैं—वरुण क्षत्र हैं अधिष्ठाता हैं, राजा हैं एवं पुरुषस्वरूप हैं,अतः मेष को वारुणी पयस्या में रखते हुए क्षत्र में वीर्य्याधान ही करते हैं । अर्थात् पुरुष-स्वरूप मेष को वारुणी पयस्या में रखना प्रजा की अपेक्षा राजा में बलाधान करना है । एवं स्त्री अवीर्य्या है अर्थात् अबला है एवं मरुत् प्रजा

है, तो बस मेषी को मारुती पयस्या में रखते हुए राजा की अपेक्षा प्रजा को निर्बल बनाते हैं। अर्थात् प्रजा को राजा की अनुगामिनी बनाते हैं—तस्मादेवं विपरिहरतः ॥३६॥

इसके बाद अध्वर्यु ही अनुवाक्या करता है। वह मन्त्र यह है 'वरुणाय अनुब्रूहीति'। तदनन्तर जुहू में आज्य का उपस्तरण करके इस वारुणो पयस्या के दो अवदान (हिस्से) बना लेता है। इस प्रकार से दोनों अवदानों को लेकर आहवनोय के पास जाता है। वहाँ जाकर 'वरुणं यज' यह कहकर 'वौषट्' कहते ही उसे अग्नि में डाल देता है ॥३७॥

इस प्रकार से दाहिने हाथ में वारुणी पयस्या की आहुति देकर तदनन्तर अध्वर्यु जुहू उपभृत् को अपने बाएँ हाथ में लेकर दाहिने हाथ से प्रतिप्रस्थाता का अन्वारम्भण करके (उसकी कोहनी पकड़कर) मरुतों के लिए 'मरुद्भ्योऽनुब्रूहीति' वह अनुवाक्या करता है। तदनन्तर प्रतिप्रस्थाता वारुणीपयस्यावत् सारे काम करके वषट्कार के साथ मारुती पयस्या की आहुति दे देता है ॥३८॥

चातुर्मास्य इष्टि में अध्वर और इष्टि दोनों के धर्म हैं। अतएव इसे इष्टि भी कहा करते हैं एवं अध्वर भी कहा करते हैं। इष्टियों में प्रायः निम्नलिखित कर्म्म होते हैं—१. प्रयाज, २. आज्यभाग, ३. आवाप, ४. स्विष्टकृत्, ५. इडा-प्राशन, ६. अनुयाज। क्योंकि ये कर्म इस चातुर्मास्य में भी होते हैं। अतएव हम इसे 'इष्टि' कहने के लिए तैयार हैं। अब तक प्रयाज, आग्नेय आज्यभाग सौम्य आज्यभाग, आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र द्वादश कपाल पुरोडाश, सारस्वतचरु पौष्णचरु, ये अङ्ग-कर्म्म और वारुणी एवं मारुती पयस्या का आवाप (प्रधान) कर्म्म हो चुके हैं। तदनन्तर 'स्विष्ट'कृत् यजन का चूंकि अवसर है अतएव अब क्रमप्राप्त स्विष्टकृत् का यजन करते हैं। प्रत्येक कर्म्म करने में बहुत सावधानी करने पर भी अनृतस्वभावयुक्त मनुष्यदोष से कुछ न कुछ त्रुटि रह ही जाती है। उस त्रुटि से यह दुरिष्ट हो जाता है। बस इस दुरिष्टत्व को मिटाने के लिए प्रधान देवताओं में से थोड़ा-थोड़ा हिस्सा बचाकर उससे स्विष्टकृत् देवता का यजन किया जाता है। इन आहुतियों से प्रसन्न होकर वे दुरिष्ट यज्ञ को स्विष्ट बना देते हैं। बस "स्विष्टकृत्" यजन दुरिष्टनिवारणार्थं ही किया जाता है। भगवान् प्रजापति ही दुरिष्ट का नाश करने वाले हैं। वैश्वदेव से प्रजापति ही प्रजा को उत्पन्न करते हैं एवं वरुणप्रघास से प्रजापति ही प्रजा को वरुण-पाश से मुक्त करते हैं एवं यही प्रजापति अन्यान्य दुरिष्टों का विनाश करते हैं। प्रजापति को "क" शब्द से कहा जाता है। सारी प्रजा का संचालन करने वाले प्रजापति अदृश्य हैं, उनका हम कोई आकार नहीं बतला सकते अतएव अनिरुक्त बतलाने के लिए इनका नाम 'क' रख दिया गया है क्योंकि 'कौन' यह कथन भी अनिरुक्त के अनुसार है। तो प्रकृत में कहना हमें यही है कि प्रजापति ही स्विष्टकृत् हैं

अतः काय एककपाल पुरोडाश से इनका यजन किया जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं जब प्रतिप्रस्थाता मेषीसहित मारुती पयस्या को आहुति दे देता है तो तदनन्तर केवल अध्वर्यु ही (प्रतिप्रस्थाता नहीं) काय एककपाल पुरोडाश से स्विष्टकृत् कर्म्म प्रारम्भ करता है। 'अथाध्वर्युरेव कायेन एककपालेन पुरोडाशेन प्रचरति (प्रवर्त्तयति)'।। चूंकि यह सारे कर्म्मों के दुरिष्ट को मिटाता है अतएव वह अध्वर्यु पूर्वोक्त सारी हवियों में से थोड़ा थोड़ा हिस्सा स्विष्टकृत् के लिए अलग निकाल लेता है। चूंकि प्रतिप्रस्थाता मारुती पयस्या के अतिरिक्त और किसी की आहुति नहीं देता अतः वह केवल इस पयस्या का थोड़ा सा भाग निकालता है। इस प्रकार अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपने-अपने उस गृहीत अवदान (ग्रास) पर ऊपर से दो बार कर के घृत डालते हैं। इस प्रकार हवि तैयार कर अब वे हवि देने के लिए वहाँ से चलते हैं। आहवनीय के पास पहुँचकर 'ओं श्रावय' यह आश्रावण कर अध्वर्यु ही बोलता है—'अग्निं स्विष्टकृतं यज' इति। प्रजापति सप्त-पुरुष पुरुष को ही कहते हैं। यह आग्नेय है। अतएव 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' कह दिया गया है। प्रत्येक कर्म में सप्तदश प्रजापति के स्वरूपसम्पादन के लिए 'ओं श्रावय' इत्यादि बोले जाते हैं। अध्वर्यु पहले होता के प्रति बोलता है 'ओं श्रावय' अर्थात् हवि तैयार है यह बात तुम देवताओं को सुनादो ताकि वे हवि के लिए सावधान हो जायें। उत्तर में अध्वर्यु के प्रति होता कहता है 'अस्तु श्रौषट्' अर्थात् देवताओं ने सुन लिया है। फिर अध्वर्यु बोलता है 'यज'। तदनन्तर आग्नीध्र बोलता है 'ये यजामहे'। इसके अनन्तर 'वौषट्' के साथ अध्वर्यु आहुति डाल देता है।

तात्पर्य कहने का यही है कि प्रत्येक कर्म में यह सारा काम करना पड़ता है जिसका कि विस्तृत विवेचन दर्शपूर्णमास में कर आये हैं। चूंकि यह इष्टि दर्शपूर्णमास की विकृति है। एवं 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' यह नियम है। अतएव सूक्ष्म रूप से ही यहाँ इति-कर्तव्यता बतलाई गई है। निष्कर्ष यह है कि अग्निं स्विष्टकृतं यज' यह अध्वर्यु बोलता है। तदनन्तर दोनों ही अपने अपने आहवनीय में 'वौषट्' के साथ उस हवि को अग्नि में आहुत कर देते हैं 'तावुभावेव वषटकृते जुहुतः।।३६।। इति स्विष्टकृद्यजनम्।

स्विष्टकृत् के अनन्तर क्रमप्राप्त इडाकर्म प्रारम्भ करते हैं – स्विष्टकृत् के अनन्तर अध्वर्यु ही प्राशित्र हवि का अवदान करता है। ब्रह्मौदन को प्राशित्र करते हैं एवं जिसे कि सारे ऋत्विक् खाते हैं उसे इडा कहते हैं। प्रतिप्रस्थाता केवल पयस्या की आहुति ही देता है तथा प्राशित्र पुरोडाश का बनता है। अतएव 'अथाध्वर्युरेव प्राशित्रमवद्यति' कहा गया है।

इस प्रकार से सारी हवियों में से इडाप्राशन के लिए थोड़ा-थोड़ा हिस्सा लेकर उन सबको एक पात्र में रखकर अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को दे देता है।–

'इडां समवदाय प्रतिप्रस्थात्रेऽति प्रजिहीते ।'

उसी पात्र में प्रतिप्रस्थाता मारुतो पयस्या के दो ग्रास लेकर डाल देता है। पयस्या ही की तो प्रतिप्रस्थाता आहुति देता है। अतः इसको छोड़कर वह अवदान करेगा किसका ? इसके बाद ऊपर से दो बार करके उस सम्भूय एकीभूत हवि पर घृत डालता है। 'अध्वर्युरेव आधारयति न प्रतिप्रस्थाता।' तदनन्तर 'उपहूतेडा इडोपहूता'। इत्यादि प्रकृतियागवत् आह्वान करके मार्जन करते हैं। अर्थात् इडाप्राशन करने वालों के हाथ-पैर धुलाये जाते हैं—'उपहूय मार्जयन्ते' ॥४०॥

इसके बाद अध्वर्यु ही बोलता है 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' इति। इडोपह्वानादि सारा इडाकर्म्म प्रकृतिवत् करके अध्वर्यु ही अनुयाज करने के वास्ते ब्रह्मा से आज्ञा लेता है कि हे ब्रह्मन् ! मैं यह इडाकर्म्म कर चुका, अब दूसरे कर्म्म (अनुयाज) के लिए यहाँ से प्रस्थान करता हूँ। 'यत् किञ्च वाचा कर्त्तव्यमध्वर्युरेव तत् करोति' इसी बात को सावधानी के लिए बारबार सूचित करने के लिए 'अथाध्वर्युरेव अथाध्वर्युरेव' कहा जाता है।

इस प्रकार से 'ब्रह्मन्' यह प्रैष करके अध्वर्यु अनुयाजार्थ समिधा लेकर अग्निसम्मार्जनार्थ (प्रदीपनार्थ) आग्नीध्र के प्रति प्रैष करता है—

'अग्निमग्नीत् समृड्ढीति'। आग्नीध्र इस प्रैष के (आज्ञा के) अनुसार अग्निसम्मार्जन कर देता है। तदनन्तर अध्वर्यु ही जुहू और उपभृत् में पृषदाज्य (दधिमिश्रित घृत) का आसेचन करता है। अर्थात् पृषदाज्यधानीगत आधे पृषदाज्य को जुहू में सेचन कर अवशिष्ट को उपभृत् में रख देता है। यही 'स स्रुचोरेवाध्वर्युः पृषदाज्यं व्यानयते' का तात्पर्य है। प्रतिप्रस्थाता भी पृषदाज्य - सेचन करे—इसमें याज्ञिकों के दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय के मत में पृषदाज्य का सेचन होता है, एक के मत में नहीं होता। बस इन्हीं दोनों मतों के अभिप्राय से कहते हैं—

यदि प्रतिप्रस्थाता का पृषदाज्य होता है तो वह भी अध्वर्युवत् जुहू और उपभृत् भेद से द्वेधा उसका व्यानयन करता है अर्थात् आधे का जुहू में सेचन करता है और आधा उपभृत् में रख लेता है। परन्तु जिनके सम्प्रदाय में पृषदाज्य नहीं होता है। उनके सम्प्रदाय में प्रतिप्रस्थाता उपभृत् में जो घृत बच गया है उसीका द्वेधा व्यानयन कर देता है।

इस प्रकार से व्यानयन करके अर्थात् पृषदाज्य और घृत को जुहू में रखकर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों अपनी अपनी आहवनीय अग्नि के पास जाते हैं। वहाँ जाकर आश्रावण आदि पूर्वोक्त कर्म्म करके अनुयाज - यजनार्थ अध्वर्यु ही बोलता है — 'देवान् यज'। अनुयाज ९ होते हैं, परन्तु पहले अनुयाज में ही 'देवान् यज' यह बोलना चाहिए। बाद में तो 'यज, यज' इतना कह देना ही पर्याप्त है। 'यज यजेति'। चौथे - चौथे अनुयाज

में पृषदाज्य ले-लेकर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता ९ अनुयाज करते हैं।

चतुर्थे चतुर्थेऽनुयाजे समानयमानो नवभिरनुयाजैश्चरतः। जो कि अध्वर्यु ९ ही अनुयाज और ९ ही प्रयाज करता है। इन ९ प्रयाज और ९ अनुयाजों से यह प्रजा को उभयतः (दोनों ओर से) वरुणपाश से छुड़ाता है जो कि अवाची और ऊर्ध्वा प्रजा हैं। अनुयाजों से अवाची प्रजा को पाशमुक्त करता है। प्रयाजों से ऊर्ध्वा (दैवत) प्रजा को वरुणपाश से मुक्त करता है। इसीलिए तो अनुयाजयजन के समय 'देवान् यज' कहा जाता है। बस इसीलिए (वरुणपाश-मोचनार्थ) ९ प्रयाज और ९ अनुयाज होते हैं।—तस्मान्नवप्रयाजं भवति, नवानुयाजम् ॥४१॥

स्रुग्व्यूहनादि कर्म्म-प्रारम्भ—

तदनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही जुहू और उपभृत् दोनों के मुखों को मिलाते हैं। इस प्रकार से जुहूपभृत् का व्यूहन करके आहवनीव के तीनों ओर रखी हुई परिधियों को घृत से सिक्त करके मध्य की परिधि का स्पर्श करके 'ओं श्रावय' इत्यादि आश्रावण करके अध्वर्यु ही बोलता है— 'इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय (पुण्याहवाचनाय)' ये जो परिधिस्थानीय समिधा हैं वे अग्निस्वरूप हैं। अग्नि देवताओं का आह्वान करने वाला है अतएव अग्नि को देवताओं का होता कहा जाता है। होतृप्रवरणकर्म्म में नियुक्त अग्नि भाग गये थे। उन्हीं को 'परिधि' बनाया गया। जैसा कि श्रुति कहती है—'चतुर्धा विहितो ह वा' इत्यादि। शतपथ, पृ० १२

यह जो परिधिस्वरूप दिव्य होता है उनका यजन कर दिया गया। इसका कारण बतलाते हैं=भद्रवाच्याय' आप तृप्त होकर यजमान के लिए 'कल्याणमस्तु कल्याणमस्तु' यह बोलिए। अर्थात् आप यजमान पर कृपादृष्टि रक्खें— यही तात्पर्य है। देवता सत्यसंहित हैं, वे मनुष्य की भावना को तत्काल पहिचान लेते हैं। उन्हें 'ऐसा करो' यह कहने की आवश्यकता नहीं। वे स्वयं अपने कर्तव्य को समझते हैं अतः उनके लिए परोक्ष भाव से 'इषिता (इष्टाः) दैव्या होतारो' कहा गया है। परन्तु मनुष्य असत्यसंहित होता है। वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है इसीलिए मनुष्य होता को प्रैष किया जाता है – 'तुम कल्याण कल्याण' यह यजमान के लिए बोलो। मैंने सूक्तवाक (पुण्याहवाचन) के लिए मनुष्य होता को प्रेरित कर दिया है 'प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय' इसका यही तात्पर्य है।

अध्वर्यु के प्रैष करने पर होता सूक्तवाक पढ़ता है—'होता प्रतिपद्यते'। उस समय अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही प्रस्तरों (कुशमुष्टियों) को उठाकर उसे अग्नि में डाल देते हैं। प्रस्तर यजमानस्वरूप है, अतः यजमानस्वरूप प्रस्तर को दिव्यलोक में पहुँचाते हुए अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यजमान को आयुर्भोगकाल तक पृथिवी पर प्रतिष्ठित

रखने के लिए उसमें से एक - एक तृण रख लेते हैं। एवं तृण निकालकर प्रस्तर हाथ में लिए प्रतीक्षा करते रहते हैं। जिस समय होता सूक्तवाक बोल चुकता है, तदनन्तर ही आग्नीध्र कहता है – 'अनुप्रहर'। बस इसी समय प्रस्तरों को अग्नि में डालते हैं। एवं अग्नि में डालकर अध्वर्यु और आग्नीध्र अपने आत्मा का स्पर्श करते हैं।।४२।।

इसके बाद अध्वर्यु कहता है कि 'यजमान का आत्मा दिव्यलोक से बद्ध हो गया अब 'संवाद करो'। अर्थात् देवताओं को सुना दो यह कह कर अध्वर्यु बोलता है--

क्या यजमान स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो गये? क्या हमारा यज्ञ देवताओं में जा पहुँचा? आग्नीध्र कहता है 'अगान् अग्नोत्' (हाँ पहुँच गया) अध्वर्यु कहता है कि यदि ऐसा है तो सुनाओ 'श्रावय'। अर्थात् देवताओं से इस दिव्यात्मा का परिचय करवाओ। 'आग्नीध्र कहता है– 'श्रौषट्' सुनवा दिया। फिर अध्वर्यु बोलता है – 'स्वगा दैव्या होतृभ्यः, स्वस्तिर्मानुषेभ्यः।' दिव्य होताओं के लिए स्वागत है एवं मनुष्य होताओं के लिए स्वस्ति है।४३।।

अथ शंयुवाक - प्रकरण –

अध्वर्यु कहता है कि 'शंयुवाक करो।' 'शंयोर्ब्रूहि' इति। 'शंयोर्ब्रूहि' यह अध्वर्यु ही कहता है, प्रतिप्रस्थाता नहीं। इस प्रकार से शयुवाक के अनन्तर अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता दोनों ही उन परिधियों को अग्नि में डाल देते हैं। तदनन्तर दोनों ही स्रुक्-स्रुवा को लेकर काष्ठ के बने हुए 'स्फ्य' पर उन्हें रख देते हैं। चूंकि कार्य समाप्त हो चुका, अतः अब इन्हें अपने स्थान पर रख देते हैं। जब दूसरा कर्म्म करेंगे तो फिर इन्हें उठा लेंगे।।४४।।

देवताओं का यजन हो चुका। अब देवपत्नियों का यजन करते हैं। इस पत्नीयजन को 'पत्नीसंयाज' कहा करते हैं। देवताओं के साथ देवपत्नियाँ भी यज्ञ में आती हैं। अतः उनका यजन करना भी आवश्यक है।

अध्वयुं पुनः लौटकर पत्नियों का यजन करता है। पत्नीसंयाज कर्म्म केवल अध्वर्यु ही करता है एवं प्रतिप्रस्थाता चुपचाप बैठा रहता है। इस प्रकार से पत्नीसंयाज करके अध्वर्यु समिष्टयजु के लिए आहवनीय के पास लौटता है। 'अथाध्वर्युरेव प्रतिपरेत्य पत्नीः संयाजयति। उपास्तऽएव प्रतिप्रस्थाता। पत्नीः संयाज्य उदेति अध्वर्युः।।४५।।

तदनन्तर अध्वर्यु तीन 'समिष्टयजु' की आहुति देता है। जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है, उस मन्त्र को समिष्टयजु कहते हैं। उधर प्रतिप्रस्थाता चुपचाप अपनी स्रुक् लिए खड़ा रहता है। अर्थात् समिष्टयजु अध्वर्यु ही करता है न कि प्रतिप्रस्थाता। यजमान और यजमानपत्नी वैश्वदेवयज्ञ में जिन वस्त्रों को धारण करते हैं वे ही वस्त्र इस वरुणप्रघास में होते हैं। अर्थात् उन्हीं वस्त्रों को पहिनकर वरुणप्रघास करना चाहिए।

इसके बाद वारुणी पयस्या का क्षामकर्ष (खुरचन) मिश्रित जो हवि है उसे लेकर

सारे ऋत्विक् एवं यजमान 'अवभृथस्नान' के लिए जल के समीप जाते हैं—'अथास्यै (वारुण्याः) पयस्यायै (पयस्यायाः) क्षामकर्षमिश्रमादाय अवभृथं यन्ति - स्नानार्थमुदकसमीपे गच्छन्ति ऋत्विजः – यजमानश्च यजमानपत्नी चेति भावः । यह क्षामकर्षमिश्र हवि वरुण्य है, वरुणदेवतासम्बन्धी है – पापिष्ठ हिस्सा है । जो वस्तु जलकर अवशिष्ट रह जाती है, उसे पापिष्ठ कहते हैं । जैसा कि श्रुति कहती है – यो विदग्धः स नैर्ऋतः ।। तै०सं०२।६।३।४ ।।

अथवा यों समझना चाहिए – यह पयस्या चूँकि वरुण देवता की ह एवं वरुण असुर है अतः तद्यागशिष्ट सारा हव्य हो वरुण्य है,पापदेवतासम्बन्धी है । अतः निर्वरुणता के लिए आसुरभाव को धो डालने के लिए ही अवभृथस्नान किया जाता है—वरुण्यं वा एतत् निर्वरुणतायै । प्रत्येक यज्ञ के अन्त में सामगान हुआ करता है । बिना साम के यज्ञ अधूरा ही रहता है । सारे यज्ञ आग्नेय हैं, अग्नि सत्य है, सकेन्द्र है । जो वस्तु सकेन्द्र होती है, वह सत्यस्वरूप होती है,उसी में रथन्तरादि साम हुआ करते हैं । अतः सारे यज्ञों में सामगान करना पड़ता है । परन्तु चूँकि यह यज्ञ वरुण्य है । वरुण परमेष्ठी के देवता हैं और परमेष्ठी ऋत है, अतएव उसमें साम होता ही नहीं । वह तो आसमन्तात् व्याप्त रहता है । बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—'यहाँ सामगान नहीं होता है क्योंकि यह यज्ञ वारुण हैं एवं वारुण ऋत पदार्थ है, अतः इस वारुण यज्ञ में साम का कोई उपयोग नहीं ।

"तत्र न साम गीयते न ह्यत्र साम्ना किंचन क्रियते ।"इति । चूंकि सामगान का कोई प्रयोजन नहीं अतः बिना ही सामगान के चुपचाप अमन्त्र ही अवभृथस्नानार्थ पानी के पास जाकर"अवभृथ! निचुम्पुणो भव" इस मन्त्र से क्षामकर्षमिश्र हवि को पानी में डाल देते हैं।

तूष्णोमेवेत्य अभ्यवेत्य उपमारयति (क्षामकर्षमिश्रहविरप्सु प्रक्षिपति) ।।४६।।
वह मन्त्र यह है—अवभृथ! निचुम्पुण निचेरसि निचुम्पुणः । रिषस्पाहि ।" इति ।

हवि से लिप्त पात्र इस पानी में साफ किये जाते हैं, अतः "सोमलिप्तानि पात्राणि अवाचीनान्यस्मिन् क्रियन्ते" इस व्युत्पत्ति से इस स्नानीय जल को "अवभृथ" कहते हैं। उसी को सम्बोधन करके कहते हैं – हे अवभृथ! निचुम्पुणो भवनितरां पुण्यहेतुर्भव ।

हे अवभृथ! आप मेरे लिए पुण्य के तथा स्वच्छता के कारण बनिए । अर्थात् आप में स्नान कर शुद्ध हो जाऊँ ऐसी कृपा कीजिए। अथवा'चुप मन्दायां गतौ'के अभिप्राय से निचुम्पुण समझना चाहिए। हे अवभृथ!त्वं निचेरुरसि अतः निचुम्पुणो भव । हे अवभृथ(जल)! आप नीचे की ओर जाने वाले हैं । आपका स्वभाव अतिशीघ्रतया नीचे जाने का है, परन्तु मेरे लिए तो आप कृपा करके निचुम्पुण हो जाइए अर्थात् मन्दगति बन जाइए। आप मन्दगति न बनेंगे तो मैं मेरे शरीर के वरुणभाव को अच्छी तरह साफ न कर सकूंगा —यही तात्पर्य है ।

वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन—इनके अधिष्ठाता जो अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और सोम देवता हैं – इन देवताओं से जो देवताओं के लिए अपराध हो गया है, उसे भी आप में प्रक्षिप्त करता हूँ। एवं ऋत्विजों से मनुष्यों के विषय में जो पाप हो गया है उसे भी आप में बहाता हूँ। अर्थात् मेरे इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं द्वारा जो देवताओं के लिए पाप हो गया है उसे एवं यज्ञ में आए हुए द्रष्टा मनुष्यों के लिए जो ऋत्विजों ने भर्त्सनादि पाप किये हैं, उन्हें आज मैं आप में धो डालता हूँ।

हे देव, स्वामिन्! अवभृथ! यों तो मनुष्य को प्रत्येक समय कुछ न कुछ कष्ट होता ही रहता है परन्तु कष्ट वह कहलाता है जिससे मनुष्य "त्राहि त्राहि" की पुकार करने लगे एवं जिसकी चिल्लाहट से मनुष्य दौड़ पड़े। बस ऐसे "त्राहि त्राहि" करवाने वाले (पुरुराव्णः) जो रिष् हैं अर्थात् हिंसा करने वाले कष्ट हैं, व्याधियाँ हैं, उनसे आप हमारी रक्षा कीजिए। इस मन्त्र से यजमान, यजमानपत्नी क्षामकर्षमिश्रित हवि जल में डाल देते हैं।

सोमयाग में दीक्षान्त में जो स्नान होता है एवं उस समय जो वस्त्र उतरता है वह चाहे जिसको ही नहीं दिया जाता। दीक्षित के वस्त्र का अधिकारी शूद्र नहीं हो सकता, परन्तु यहाँ जो वस्त्र उतरते हैं उन्हें चाहे जो ले सकता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं – ये दोनों वस्त्र यजमान चाहे जिसे दे सकता है क्योंकि ये दीक्षित के वस्त्र नहीं हैं। चाहे जिसे न देना – यह नियम तो दीक्षित के वस्त्र के लिए है।

अथ फलश्रुति—

जिस प्रकार से सर्प अपनी कञ्चुकी को छोड़कर उससे एकदम अलग हो जाता है, तद्वत् जो मनुष्य वरुणप्रघासेष्टि करता है वह सारे पाप्माओं से छूट जाता है एवं शुद्ध हो जाता है।

स यथाहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवं सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते ॥४८॥

इसके अनन्तर यजमान मुण्डन करवाकर आनन्दोत्सव के साथ वापस आ कर अर्थात् आहवनीय गार्हपत्य अग्नियों के समारोहणपूर्वक घर में आकर अग्नि का मन्थन कर पूर्णमास से यजन करता है। अर्थात् वरुणप्रघासानन्तर पौर्णमासेष्टि करता है। यह चातुर्मास्य उत्सन्नयज्ञ है अर्थात् दशपूर्णमासेष्टि की तरह धारारूप ने न चलकर थोड़े ही समय में समाप्त हो जाता है परन्तु पौर्णमास प्रतिष्ठित यज्ञ है। ऐसी दशा में यदि यजमान चातुर्मास्य करके ही रह जाय, तो उसकी प्रतिष्ठा उखड़ जायेगी। बस यह प्रतिष्ठा न उखड़ जाय इसलिए अन्त में पौर्णमास यज्ञ द्वारा अपने को प्रतिष्ठित करता है।

इति वरुणप्रघासेष्टिः समाप्ता

इति द्वितीयकाण्डे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणं समाप्तम्

साकमेधपर्व

वरुणप्रघासैर्वै प्रजापतिः प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत् । ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्राजायन्त । अथैतैः साकमेधैः । एतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन् । एतैर्वैव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम् । यथो एवैष एतैः पप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यंहन्ति, तथो एव विजयते । तस्माद्वा एष एतैश्चतुर्थे मासि यजते । स वै द्व्यहमनूचीनाहं यजते ॥२॥

स पूर्वेद्युः अग्नयेऽनीकवतेऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्वपति । अग्निं ह वै देवा अनीकं कृत्योपप्रेयुर्वृत्रं हनिष्यन्तः । स तेजोऽग्निर्नाव्यथत । तथो एवैष एतत् पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्नग्निमेवानीकं कृत्वोपप्रैति । स तेजोऽ-ग्निर्न व्यथते । तस्मादग्नयेऽनीकवते ॥२॥

अथ मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने चरुं निर्वपति । मरुतो ह वै सान्तपना मध्यन्दिने वृत्रं सन्तेपुः स सन्तप्तोऽनन्नेव प्राणान् परिदीर्णः शिश्ये । तथो एवैतस्य पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं मरुतः सान्तपनाः सन्तपन्ति । तस्मा-न्मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः ॥३॥

अथ मरुद्भ्ययो गृहमेधिभ्यः शाखया वत्सानपाकृत्य पवित्रयति सन्दोह्य तं चरुं श्रपयति । चरुरु ह्येव सः यत्र क्वचन तण्डुलानावपति । तन्मेधो देवा दध्रिरे प्रातर्वृत्रं हनिष्यन्तः । तथो एवैष एतत्पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्य-न्मेधो धत्ते । तस्मात्क्षीरौदनो भवति ॥४॥

तस्यावृत्-सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति-या मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः । तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ परिधींश्च शकलांश्चोपनिदधति । तथा सन्दोह्य चरुं श्रपयति । श्रपयित्वाभिधार्योद्वासयति ॥५॥

अथ द्वे पिशीले वा पात्र्यौ वा निर्णेनिजति । तयोरेनं द्वेधोद्धरन्ति । तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कुत्वा सर्पिरासिञ्चति । स्रुवं च स्रुचं च संमार्ष्टि ।

अथैता ओदनावादायोदैति । स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य परिधीन् परिधाय यावतः शकलान् कामयते तावतोऽभ्यादधाति । अथैता ओदनावासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयति । उपविशति होता होतृषदने स्रुवं च स्रुचं चाददान आह ॥६॥

'अग्नयेऽनुब्रूहि' इति आग्नेयमाज्यभागम् । स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामति । अतिक्रम्याश्राव्याह 'अग्निं यज' इति । वषट्कृते जुहोति ॥७॥

अथाह-'सोमायानुब्रूहि' इति सौम्यमाज्यभागम् । स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनाच्चतुराज्यस्यावदायातिक्रामति । अतिक्रम्याश्राव्याह-'सोमं यज' इति । वषट्कृते जुहोति ॥८॥

अथाह- 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहि' इति । स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात्तत आज्यमुपस्तृणीते । तस्य द्विरवद्यति । अथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति । अतिक्रामति । अतिक्रम्याश्राव्याह- 'मरुतो गृहमेधिनो यज' इति । वषट्कृते जुहोति ॥९॥

अथाह- 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि' इति । स उत्तरस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात् तत आज्यमुपस्तृणीते । तस्य द्विरवद्यति । अथोपरिष्टादाज्यस्याभिघारयति । अतिक्रामति । अतिक्रम्याश्राव्याह- 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' इति । वषट्कृते जुहोति । अथेडामेवावद्यति, न प्राशित्रम् । उपहूय मार्जयन्ते । एतन्न्वेकमयनम् ॥१०॥

अथेदं द्वितीयम् । सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति - या मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः । तस्यामेव स्तीर्णायां वेदौ परिधींश्च शकलाँश्चोपदधति । तथा सन्दोह्य चरुं श्रपयति नेदेव प्रतिवेशमाज्यमधिश्रयति । श्रपयित्वाभिघार्योद्वास्यानक्ति स्थाल्यामाज्यमुद्वासयति । स्रुवं च स्रुचं च सम्मार्ष्टि । अथैतं सोखमेव चरुमादायोदैति । स्थाल्यामाज्यमादायोदैति । स्रुवं च स्रुचं चादायोदैति । स

इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्य, परिधीन् परिधाय यावतः शकलान् कामयते तावतोऽस्यादधाति। अथैतं सोखमेव चरुमासादयति। स्थाल्यामाज्यमासादयति स्रुवं च स्रुचं चासादयति। उपविशति होता होतृषदने। स्रुवं च स्रुचं चाददान आह ॥११॥

'अग्नयेऽनुब्रूहि' इति आग्नेयमाज्यभागम्। स स्थाल्यै चतुराज्यस्यावदायातिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह– 'अग्निं यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥१२॥

अथाह– 'सोमायानुब्रूहि' इति सौम्यमाज्यभागम्। स स्थाल्या एव चतुराज्यस्यावदायातिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह–'सोमायानुब्रूहि'। वषट्कृते जुहोति ॥१३॥

अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहि' इति। उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्य चरोर्द्विरवद्यति। अथोपरिष्टादाज्यस्याभिधारयति' प्रत्यनक्ति अवदाने अतिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह– 'मरुतो गृहमेधिनो यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥१४॥

अथाह– 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि' इति। स उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्य चरोः सकृदवद्यति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। न प्रत्यनक्त्यवदानम्। अतिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह– 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥१५॥

अथेडामेवावद्यति–न प्राशित्रम्। उपहूय प्राश्नन्ति। यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः स्युः तावन्तः प्राश्नीयुः– अथो अप्यृत्विजः प्राश्नीयुः। अथो अप्यन्ये ब्राह्मणाः प्राश्नीयुः यदि बहुरोदनः स्यात्। अथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधति पूर्णदर्वाय। मातृभिर्वत्सान् समवाजन्ति। तदु पशवो मेघमात्मन् दधते। यवाग्वैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति। निवान्यां प्रातर्दुहन्ति पितृयज्ञाय ॥१६॥

अथ प्रातर्हुते वाऽहुते वा– यतरथा कामयेत-सोऽस्या अनिरशितायै कुम्भ्यै दर्व्योपहन्ति। 'पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत। वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो' (वा. सं. ३।४९) इति। यथा पुरोऽनुवाक्या एवमेषा। एतयैवैनमेतस्मै भागाय ह्वयति ॥१७॥

अथर्षभमाह्वयितवै ब्रूयात्। स यदि रुयात्-स वषट्कारः इत्यु हैक आहुः। तस्मिन् वषट्कारे जुहुयादिति। अथो इन्द्रमेवैतत् स्वेन रूपेण ह्वयति वृत्रस्य वधाय। एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यद् ऋषभः। तत् स्वेनैव रूपेण ह्वयति वृत्रस्य वधाय। स यदि रुयात्-आ म इन्द्रो यज्ञमगन्-सेन्द्रो मे यज्ञः इति ह विद्यात्। यद्यु न रुयात्-ब्राह्मण एव दक्षिणत आसीनो ब्रूयात्-'जुहुधि' इति। सैवेन्द्री वाक् ॥१८॥

स जुहोति 'देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि-नि ते दधे। निहारं च हरसि मे, निहारं निहाराणि ते स्वाहा' (वा. सं. ३।५०) इति ॥१९॥

अथ मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति। मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रं हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुः महयन्तः। तथो एवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्तमभित. परीक्रीडन्ते महयन्तः। तस्मान्मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः। अथातौ महाहविष एव तद् यथा महाहविषः—तथो तस्य ॥२०॥ इति

साकमेध पर्व

(अनु.)वैश्वदेव याग से प्रजा को उत्पन्न किया,वरुणप्रघास से वातव्याधि आदि दोषों का परिहार किया। अब इस साकमेध इष्टि से उस उत्पन्न प्रजा में बलाधान किया जा रहा है। बलप्रद पदार्थ का नाम मेध है। उत्पन्न प्रजा में उत्पत्ति के साथ ही इस इष्टि द्वारा मेध (बलाधान) किया जाता है। अतः इसे साकमेध कहते हैं।

वरुणप्रघासों से प्रजापति ने प्रजा को वरुणप्रघास से मुक्त किया । इससे प्रजापति की प्रजा रोगरहित व दोषरहित उत्पन्न हुई तत्पश्चात् आगे किये जाने वाले साकमेधों से प्रजा को विजितपाप तथा असुरों का सामना करने के लिए समर्थ बताया, उसमें बलाधान किया । भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि इन्हीं साकमेधों से देवताओं ने वृत्रासुर का हनन किया, इन्हीं से उस विजय को प्राप्त किया, जो विजय आज देवताओं की सुनी जाती है और इन्हीं साकमेधों से आज 'यह यजमान पापी, द्वेषी शत्रु का नाश करता है तथा इन्हीं से विजय प्राप्त करता है । इसी फल के लिए वह वरुणप्रघासानन्तर चतुर्थ मास में इन साकमेधों से यजन करता है । वह यजमान निरन्तर दो दिन तक साकमेधेष्टि करता रहता है ॥१॥

वह यजमान पहिले दिन अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा से पूर्व दिन चतुर्दशी को अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है[1] । वृत्र को मारने की इच्छा वाले देवताओं ने अग्नि को सेनापति बनाकर वृत्र पर आक्रमण किया । यह तेजःस्वरूप अग्नि वृत्र से घबराये नहीं । उसी प्रकार आज यजमान पापी, द्वेषी शत्रु को मारने के लिए अग्नि को सेनापति (अग्रणी) बना कर शत्रु पर आक्रमण करता है । वह तेजःस्वरूप अग्नि शत्रुओं से घबराता नहीं । अतः अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है ॥२॥

तत्पश्चात् मध्याह्न में सान्तपन मरुतों के लिए चरु का निर्वाप किया जाता है[2] । इन सान्तपन मरुतों ने ही मध्याह्न में वृत्र को सन्तप्त किया । उस ताप से सन्तप्त होकर वह दमघुटा सा परिदीर्णाङ्ग होकर सो गया—अचेत हो गया इसी प्रकार आज भी ये सान्तपन मरुत् पापी, द्वेषी शत्रु को सन्तप्त करते हैं । अतः सान्तपन मरुतों के लिए चरु का निर्वाप किया जाता है ॥३॥

तदनन्तर गृहमेधी मरुतों (अवरुद्ध वायु) के लिए चरु-निर्वाप किया जाता है । उसका प्रकार निम्नाङ्कित है– पलाश शाखा से बछडों को हटाकर कुशामय पात्र में दूध दुह कर उस चरु को पकाता है[3] । जिस किसी दुग्ध जल आदि

(१) पूर्वेद्युः पूर्वाह्णे ऽग्नयेऽनीकवते पुरोडाशः (का. श्रौ. सू. ५।१४६)
(२) मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यो मध्यन्दिने (का. श्रौ. सू. ५।१५०)
(३) 'इध्म स्थाने शकलदर्विधि निधाय मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सायं चरुः पयसि' (का. श्रौ. सू. ५।१५३)

पदार्थ में चावल डालते हैं, वह चरु ही कहलाता है। वृत्र को मारने की इच्छा वाले देवों (भुवनस्वर्गवासी देवों) ने इसी मेध को धारण किया था, उसी प्रकार आज यह यजमान पापी, द्वेषी शत्रु को मारने के लिए इस मेध को धारण करता है। दूध में चावलों को पकाने पर क्षीरसंस्कृत ओदन निष्पन्न होता है। दूध भी मेध (बलप्रद) तथा तण्डुल भी मेध (बलप्रद) है। अतः दोनों प्रकार के बलों को अपने आत्मा में धारण करता है। इसीलिए क्षीरौदन दिया जाता है ॥४॥

उसकी पद्धति यह है कि सान्तपन मरुतों को हवि देने के लिए कुशाच्छादित वेदि बनाई गई थी, उसी कुशाच्छादित वेदि पर तीन परिधियों को तथा काष्ठखण्डों को रखता है। तदनन्तर पलाशशाखा से गाय के पास से वत्स को हटाकर कुशामय पात्र में दूध दुह कर अपराह्ण में चरु पकाता है। पकाने के बाद उस पर घृत का अभिधारण (सेचन) कर चरुपात्र को नीचे उतार कर उसे ठण्डा करता है ॥५॥

उसके बाद दो शरावों या पात्रों को पानी से धोकर शुद्ध करता है। उन शरावपात्रों में दो भाग कर उस चरु को रख देता हैं[1]। शरावों में रखते हुए उन दोनों चरुओं के बीच में घृत डालने के लिए स्थान (गर्त) बनाकर उसमें घृत सेचन करता है[2]। तदनन्तर स्रुवा तथा स्रुक् का संमार्जन करता है। तब उन गृहमेधी मरुतों के यजन के लिए चरुपूर्ण शरावों को तथा स्रुवा तथा स्रुक् को लेकर वेदि के पास जाता है। वह सान्तपनीयेष्टि में कुशाच्छादित उस वेदि का आस्तरण मन्त्र से चुपचाप स्पर्श कर[3] तीनों परिधियों को पूर्व, उत्तर, दक्षिण में रख कर जितने काष्ठखण्डों को रखना उचित हो, उतने रख दे। तदनन्तर पात्र में रखे ओदनों को तथा स्रुवा और स्रुक् को वेदि पर रख देता है। होता होतृसदन में बैठ जाता है और स्रुवा तथा स्रुक् को लेता हुआ कहत है ॥६॥

हे होतः "अग्नयेऽनुब्रूहि"। यह प्रैष आग्नेय आज्यभाग सम्बन्धी है। तब

---

१ 'अपयित्वाऽभिघार्योद्वास्य शरावयोरुद्धरति' (का०श्रौ०सू० ५। १५७)

२ 'आसेचने मध्ये कृत्वा सर्पिरासिञ्चत्याज्यार्थम्' (का०श्रौ०सू० ५। १५८)

३ 'स्तरणयजुषा वेदिमभिमृश्य तूष्णीं वा कृतत्वात्' (का०श्रौ०सू० ५। १५३)

वेदि के दक्षिणभागस्थ ओदन की घृतपूर्ण पात्र से पूर्व (आग्नेय) आज्यभाग के लिए चार वार आज्य का अवदान करके (चार बार लेकर) आहुति के लिए आगे बढ़ता है और आश्रावणकर्म कर 'अग्नि यज' ऐसा कहता है। होता के 'ये यजामहे' कहने पर 'वौषट्' का उच्चारण कर आहुति दे देता है ॥७॥

इसके बाद अध्वर्यु होता से 'सोमायानुब्रूहि' ऐसा कहता है अर्थात् सोम के लिए अनुवाक्या करने के लिए प्रैष करता है। यह प्रैष सौम्य आज्यभाग के लिए है। ततः वेदि के उत्तरभाग में स्थित घृतपूर्ण ओदनपात्र में से सौम्य आज्यभाग के लिए चार वार घृत का अवदान कर (चार बार लेकर) आहुति के लिए आगे बढ़ता है। आगे चलकर आश्रावण कर अध्वर्यु होता से 'सोमं यज' ऐसा कहता है। होता के 'ये यजामहे' कहने पर 'वौषट्' शब्द के साथ उस आज्यभाग की आहुति दे देता है ॥८॥

आज्यभाग के बाद अध्वर्यु 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहि' ऐसा होता से कहता है। होता द्वारा अनुवाक्या करने के पश्चात् अध्वर्यु स्रुक् में दक्षिणभागस्थित घृतपूर्ण पात्र से घृत लेकर उसका आस्तरण करता है। इसे अमृतोपस्तरण कहते हैं। तदनन्तर घृतास्तरण पर चरु को दो खण्डों में गृहीत कर उस पर घृत का अभिधार (आसेचन) करता है इसे अमृतापिधान कहते हैं। इसके बाद आहुति के लिए आगे बढ़ता है और आश्रावण कर 'मरुतो गृहमेधिनो यज' ऐसा कहता है और वौषट् का उच्चारण कर अग्नि में आहुति दे देता है। ९॥

इस के बाद अध्वर्यु होता से 'अग्नये स्विष्टकृते अनुब्रूहि' यह कहता है और वेदि के उत्तरभागस्थित घृतपूर्ण पात्र से घृत लेकर उसका उपस्तरण करता है। तदनन्तर घृतास्तरण पर चरु को दो खण्ड करके गृहीत करता है और उस पर घृत का आधार (सेचन) करता है तथा चरु लेकर आगे चलता है। तदनन्तर आश्रावण कर्म कर 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' यह कहता है और वषट्कार करने पर उस चरु की आहुति दे देता है।

इस गृहमेधियाग में इडा का ही अवदान करते हैं न कि प्राशित्र[1] का। ब्रह्मौदन प्राशित्र कहलाता है तथा ऋत्विजादि के लिए भक्ष्य द्रव्य इडा कहलाता है।

१ 'प्राशित्रमिडान्तं भवति' (का०श्रौ०सू० ५। १६८)

प्रकृत में इडाप्राशन ही होता है प्राशित्रप्राशन नहीं। इडा का अवदान कर इडाप्राशन करने वालों को बुला कर उनके हाथ धुलाते हैं। तत्पश्चात् वे इडाप्राशन करते हैं। यह इस गृहमेधीय भाग के अनुष्ठान का प्रकार है॥१०॥

गृहमेधीय याग में दूसरा अध्ययन (मार्ग) भी बतलाते हैं। इसमें कुछ कर्मों में विशेषता है, शेष कर्म पूर्वक्रमानुसार ही हैं। इस पक्ष में भी वही बर्हिस्तीर्ण वेदि होती है जो सान्तपन मरुतों के याग के लिए बनाई गई थी। उसी कुशास्तीर्ण वेदि पर परिधियों और काष्ठखण्डों को रखा जाता है। पूर्वपक्षवत् गाय का दोहन कर उसमें चरु पकाया जाता है। उसी समय (पकाने के समय) प्रतिवेश (समापनार्थ प्रतिनिधिरूप से निवेशनस्थान) तत्स्थानीय आज्य (घृत) को आज्यस्थाली में डाल दिया जाता है। तब चरु को पकाकर घृत से उसका अभिधारण कर नीचे उतार कर ठंडा कर उसे घृताक्त (घृतमिश्रित) कर दिया जाता है। आज्यपात्र में आज्य को ठण्डा करता है। तत्पश्चात् स्रुक् और स्रुवा का संमार्जन करता है। ततः जिस स्थाली में चरु पकाया गया है उस स्थालीसहित चरु को लेकर वेदि की तरफ बढ़ता है। स्थाली में आज्य को तथा आहुति देने के लिए स्रुवा और स्रुक् को भी लेकर वेदि के पास जाता है। वहाँ जाकर उस कुशास्तीर्ण वेदि का स्पर्श कर उस पर रखी हुई परिधियों को आहवनीय कुण्ड के तीन तरफ लगा कर अग्निसमिन्धन के लिए जितने काष्ठखण्डों की आवश्यकता है उतने काष्ठखण्डों को आहवनीय में रख देता है। तत्पश्चात् जिस पात्र में चरु पकाया गया है उस पात्र के सहित चरु को तथा स्थालीगत आज्य को भी लेकर वेदि के पास पहुँचाता है। इसी प्रकार स्रुवा और स्रुक् को भी वेदि पर रख देता है। होता होतृसदन में चुपचाप ही बैठता है। तथा अध्वर्यु स्रुवा और स्रुक् को लेता हुआ होता से कहता है 'अग्नयेऽनुब्रूहि' इति। यह अनुवाक्या आग्नेय आज्यभाग के लिए है। वह घृतपूर्ण स्थाली से चार बार कर के घृत लेकर आहुति के लिए आगे बढ़ता है। तदनन्तर अध्वर्यु आश्रावण कर 'अग्निं यज' यह होता से कहता है। होता के 'ये यजामहे' कहने पर वषट्कारोच्चारणपूर्वक घृत की आहुति दे देता है॥११, १२॥

तदनन्तर 'सोमायानुब्रूहि' यह होता से कहता है। यह अनुवाक्या सौम्य

आज्यभाग के लिए है। वह अध्वर्यु आज्यस्थाली से चार वार करके घृत लेकर आहुति के लिए आहवनीयकुण्ड के पास जाता है। वहाँ जाकर आश्रावणकर्म कर 'सोमं यज' ऐसा होता से कहता है और 'वौषट्' उच्चारण कर आज्य को आहुति देता है ॥१३॥

तब 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहि' ऐसा होता से अध्वर्यु कहता है। अनुवाक्या के बाद वह अध्वर्यु आज्य का उपस्तरण करता है, चरु के दो भाग करता है और उस पर घृत का अभिधार कर द्विरवत्त चरु में घृत मिला देता है तथा आहुति के लिए आगे आहवनीय के पास जाता है। तत्पश्चात् आश्रावणकर्म कर 'मरुतो गृहमेधिनो यज' ऐसा होता से कहता है और वषट्कारोच्चारणपूर्वक चरु की आहुति दे देता है ॥१४॥

पश्चात् अध्वर्यु 'अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि' ऐसा होता से कहता है। अतः वह (अध्वर्यु) आज्य का उपस्तरण करता है और एक वार करके ही चरु का ग्रहण करता है। उसके ऊपर दो बार घृत का अभिधार करता है किन्तु चरु के अवदान को (अवत्त चरुभाग को) घृत से मिश्रित नहीं करता। तब आहुति के लिए आहवनीय की तरफ जाता है और आश्रावण कर 'अग्निं स्विष्टकृतं यज' ऐसा होता से कहता है। होता के 'ये यजामहे' कहने पर वषट्कारपूर्वक उस चरु की आहुति दे देता है। यहाँ आज्यभागादि से आज्यसम्बन्धी कार्य आज्यस्थालीगत आज्य से ही करने चाहिएँ। यही इस पक्ष की पूर्वपक्ष से विशेषता है। शेष पूर्वपक्ष के समान ही करना चाहिए ॥१५॥

तदनन्तर इडा का अवदान करता है न कि प्राशित्र का। इडोपह्वानानन्तर इडाप्राशन करते हैं। जितने भी यजमान के घर वाले यज्ञोच्छिष्ट का भक्षण करने वाले हैं वे सब उसका भक्षण करें, ऋत्विक् भी करें तथा ऋत्विग्भिन्न द्रष्टारूप से उपस्थित ब्राह्मण भी इडाप्राशन करें, यदि ओदन प्रचुर मात्रा में हो तो[1]।

दूसरे दिन प्रातःकाल इसी चरु से दर्वीपूर्ण होम किया जाता है। अतः

१ 'प्राश्नन्ति युक्ताः। यजमानगृह्या हविरुच्छिष्टाशा ऋत्विजो ब्राह्मणाश्चान्ये बहुश्चेत्' (का०श्रौ०सू० ५। १७०, १७१)

सम्पूर्ण चरु का प्राशन नहीं करना चाहिए अपितु दर्वीहोम के लिए कुछ शेष रखना चाहिए। शेष चरुसहित कुम्भी को दूसरे पात्र से ढककर पूर्णदर्व कर्म के लिए रखे।[1] इस रात्रि में बछड़ों को माताओं के साथ संसृष्ट करते हैं, उनके साथ रखते हैं। इस वत्ससङ्गमन से पशु भी अपने मेध (सारभाग) को स्वात्मा में धारण करते हैं। इस रात्रि में अग्निहोत्र यवागू से किया जाता है। अतः अग्निहोत्र के लिए भी गो-दोहन की आवश्यकता नहीं है। प्रातः पितृयज्ञ के लिए निवान्या[2] गाय को दुहते हैं। अतः उस गाय के बछड़े को गाय के साथ न रख कर बाँध देना चाहिए ॥१६॥

तदनन्तर प्रातःकाल अग्निहोत्र करने या न करने पर[3] (दोनों पक्षों में से इच्छानुसार करने पर) अवशिष्ट चरु जिस कुम्भी में दर्वीहोमार्थ रखा गया था उससे हवि को दर्वी (कुरछी) से कुचर कर 'पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत। वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो' (वा. सं. ३।४९) इस मन्त्र का उच्चारण कर ग्रहण करता है। जिस प्रकार देवता के लिए पुरोऽनुवाक्या होती है उसी प्रकार का यह मन्त्र है। अतः इस अनुवाक्यारूप ऋचा से इस पूर्णदर्वाख्य भाग के लिए इन्द्र को बुलाता है ॥१७॥

तब वह यजमान वृषभ को बुलाने के लिए कहे[4]। वह बैल यदि शब्द करे तो उसका वह बोलना वषट्कार है ऐसा तैत्तिरीयशाखा वालों का मत है। वृषभशब्द रूपी वषट्कार होने पर हवन करे[5]। किन्तु दूसरों का मत यह है कि वृषभशब्द वषट्कार नहीं है किन्तु वृषभध्वनि इन्द्र को अपने वृषभरूप से[6] वृत्रवध के लिए बुलाना है। क्योंकि ऋषभ इन्द्र का रूप है। अतः ऋषभ-ध्वनि करता हुआ इन्द्र को अपने स्वरूप से वृत्रवध के लिए बुलाता है। ऋषभ यदि शब्द करे तो ऐसा समझना चाहिए कि इन्द्र मेरे यज्ञ में आगया, मेरा यज्ञ

१ 'अरिक्तां स्थाली निदधाति' (का०श्रौ०सू० ५। १७२)

२ जिस गाय का बछड़ा मर चुका है तथा जिसको दूसरे बछड़े से दुहते हैं वह गौ निवान्या कहलाती है।

३ 'प्रातर्हुत्वाऽहुत्वा स्थाल्यां दर्व्यादत्ते पूर्णा दर्वीति।' (का०श्रौ०सू० ५। १७७)

४ इसीलिए वेदमन्त्रों में इन्द्र को 'वृषभ' शब्द से कहा गया है।

५ 'ऋषभमाह्वयितवै ब्रूयात्'। (का०श्रौ०सू० ५। १७८)

६ 'रुते जुहोति'। (का०श्रौ०सू० ५। १७९)

इन्द्रसहित हो गया। और यदि ऋषभ शब्द न करे तो दक्षिण की तरफ बैठा हुआ ब्राह्मण 'जुहुधि' ऐसा अध्वर्यु से कहे[1]। वही शब्द इन्द्र के आह्वान के लिए होगा ॥१८॥

तब अध्वर्यु निम्न मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहुति देता है :-

देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि ते दधे।

निहारं च हरासि मे, निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥[2] (वा.सं.३।५०)

हे यजमान, तुम मुझे पहिले हवि दो, मैं भी तुमको इसके बदले में इष्टफल दूंगा। तुम मेरे लिए हवि धारण करो, मैं तुम्हारे लिए अभीष्ट फल धारण करता हूँ। यदि तुम मुझे अभीष्ट फल का मूल्यभूत हविद्रव्य दो तो मैं भी तुम्हें हवि का मूल्यभूत द्रव्य अभीष्ट फल दूंगा। निहार शब्द 'नितरां ह्रियते' इस व्युत्पत्ति से मूल्यभूत द्रव्य का बोधक है ॥१९॥

इसके बाद क्रीड़ी[3] मरुतों के लिए सप्तकपाल पुरोडाश[4] का निर्वाप करता है। क्रीडी मरुत् इन्द्र वृत्रवध के लिए उद्यत समागत इन्द्र के चौतरफ उसकी स्तुति करते हुए उछलते - कूदते रहते हैं (अतएव इन्हें क्रीडी कहते हैं) उसी प्रकार पापकर्मा, द्वेषी शत्रु को मारने की इच्छा वाले यजमान के चौतरफ उसकी स्तुति करते हुए मरुत् क्रीड़ा (उछलकूद) करते रहते हैं। अतः इन क्रीड़ी मरुतों के लिए हवि दी जाती है।

साकमेध के अनुष्ठान के बाद साकमेध इष्टियों में प्रधानभूत महाहविर्नामक इष्टि के अनुष्ठान का प्रारम्भ बतलाते हुए कहा है – 'अथातो महाहविष एव'। वरुणप्रघास याग को ही महाहविर्याग कहा जाता है। क्योंकि उसमें देवताओं को बहुत सी हवियाँ दी जाती हैं। अतः महान्ति-बहूनि हवींषि यत्र' इस व्युत्पत्ति से वरुणप्रघास को महाहविर्याग कहा गया है। जिस प्रकार पूर्वोक्त वरुणप्रघास

१ 'अव्याहरति ब्रह्मा जुहुधीत्याह'। (का०श्रौ०सू० ५। १८०)
२ 'देहि मे इति जुहोति' (का०श्रौ०सू० ५। १८१)
३ मरुत्-स्वतवस्, प्रघासिन्, सान्तपन्, गृहमेधिन्, क्रीडिन्, प्रयज्यु व ऋभुक्षन् ये सात ऐन्द्र मरुत् हैं।
४ 'मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः सप्तकपालः' (का०श्रौ०सू० ५। १८२)

याग का अनुष्ठान होता है उसी प्रकार इस वक्ष्यमाण महाहविर्याग का भी अनुष्ठान होता है ।

पहिले वैश्वदेव याग से उत्पन्न प्रजा में वातव्याधि आदि रोगों की शान्ति के लिए वरुणप्रघासेष्टि का विधान किया था । अब प्रचुर मात्रा में आत्मबल-वृद्ध्यर्थ वरुणप्रघासीय देवताओं को आहुतिप्रदानार्थ महाहविर्याग का विधान किया जा रहा है । चूंकि ये आहुतियाँ वरुणप्रघासेष्टि के देवताओं को ही दी जाती है अतः इसे वरुणप्रघास भी कहा जाता है। इसलिए आहुति का जो क्रम वरुणप्रघासेष्टि में था वही क्रम इस महाहविर्याग में रहता है ॥२०॥

अथ साकमेध इष्टि

(अनु०) बलप्रद वस्तु को 'मेघ' कहा करते हैं। वैश्वदेवी इष्टि से प्रजा उत्पन्न की जाती है एवं वरुणप्रघास से वातव्याधि आदि दोषों को हटाया जाता है। एवं तदनन्तर आसुरभाव से सामना करने के लिए बलप्रद पदार्थों की आहुति देकर प्रजा का बल बढ़ाया जाता है। इस बलातिशय से प्रजावर्ग शत्रुओं का—असुरों का नाश कर देता है । उत्पन्न प्रजा को साथ ही में चूंकि बल दिया जाता है, अतएव इस इष्टि को 'साकमेध' कहते हैं । बस वरुणप्रघासानन्तर साकमेध इष्टि करनी पड़ती है, अतः इसी का प्रारम्भ करते हैं —

वरुणप्रघासों से प्रजापति ने प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाया । इस वरुणपाश से छूटकर वह प्रजा नीरोग और निर्दुष्ट उत्पन्न हुई । अर्थात् वरुणप्रघास के कारण उत्पन्न प्रजा को न किसी रोग ने संतप्त किया और न कोई प्राकृतिक कोप ही उत्पन्न हुआ । इसके बाद इन साकमेधों से यजन कर इन उत्पन्न प्रजाओं को असुरों का सामना करने के लिए बल प्रदान किया । भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इन्हीं साकमेधों से देवताओं ने वृत्रासुर को मरवाया । इसी साकमेध यज्ञ से देवताओं ने उस विजय को प्राप्त किया जो कि विजय देवताओं की आज सुनी जाती है । अर्थात् कार्तिक मास के बाद में होने वाली देवप्राण की प्रधानता का साकमेध यज्ञ ही कारण है। बस इसी प्रकार से आज यह यजमान इन साक-मेधों से पाप्मा - द्विषत् और शत्रुओं को, जो उससे द्वेष करते रहते हैं एवं जिनसे हम द्वेष करते हैं, इन दोनों प्रकार के शत्रुओं को नष्ट करता है। एवं उसी विजिति को प्राप्त करता है जिस विजिति को देवताओं ने प्राप्त किया था । बस इसीलिए उस विजिति को प्राप्त करने के लिए चौथे महीने में अर्थात् कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा के दिन साकमेधों से देवताओं का यजन करता है ।

आप्य प्राण को असुर कहते हैं एवं आग्नेय प्राण को देवता कहते हैं। आपोमण्डल के अधिष्ठाता वरुण हैं एवं आप्य प्राण को कहते हैं असुर, अतएव वरुण को असुर बतलाया जाता है। आषाढ़ शुक्ला एकादशी से कार्तिक शुक्ला एकादशी तक पार्थिवमण्डल आप्य प्राणमय रहता है। पृथिवी के केन्द्र में से २१ स्तोम तक जाने वाला जो अग्नि है वही ३३ भागों में परिणत हो जाता है। येही ३३ देवता कहलाते हैं। त्रिवृत् स्तोम तक के अष्टावयव अग्नि को वसु कहते हैं। पञ्चदशस्तोमान्त अग्नि को रुद्र कहते हैं तथा एकविंश तक जाने वाले अग्नि को आदित्य कहते हैं। इस प्रकार ८वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य और प्रजापति व इन्द्र—ये तेतीस देवता हो जाते हैं। इन देवताओं का सेनापति अग्नि ही है। अग्नि की अवस्थाविशेष का नाम ही तो देवता है। सारे देवता आग्नेय ही तो हैं। आषाढ़ से कार्तिक तक 'आप्यप्राण' की प्रधानता रहती है एवं आग्नेय प्राण मन्द रहता है। पार्थिव अग्नि आप्यप्राणाधिक्य से निस्तेज हो जाता है। हमारा आत्मा सूर्य से बनता है अतएव आग्नेय है। हमारे शरीर में जब तक अग्नि की मात्रा प्रबल रहती है तभी तक शरीर स्वस्थ रहता है। अग्नि के मन्द हो जाने से शरीर पतनाभिमुख हो जाता है। चातुर्मास्य में आप्यप्राणाधिक्यात् सौरप्रकाश मन्द रहता है। प्राय: ४ महिने तक आकाश में मेघ ही मेघ छाये रहते हैं। इसीलिए 'मेघच्छन्नं तु दुर्दिनम्" कहा जाता है। वास्तव में जब आकाश में मेघ छा जाते हैं तो दुर्दिन हो जाता है। सूर्य से (प्रकाश से) आत्मा प्रफुल्लित रहता है। चूंकि उस समय सूर्य तिरोहित रहता है, अतएव उस दिन को दुर्दिन कहा जाता है ।।४।।

महिनों तक हमारा आत्मा दिव्यप्राणशून्य रहता है। दिव्यप्राण रहता तो अवश्य है परन्तु आप्यप्राणबाहुल्यात् उल्वण नहीं रहता, क्योंकि प्रकृतिमण्डल के प्राणदेवता चातुर्मास्य में अनुल्वण रहते हैं, यही देवताओं का सोना है। चूंकि देवता आषाढ़ शुक्ला एकादशी को सो जाते हैं एवं कार्तिक शुक्ला एकादशी तक सोते रहते हैं, अतएव दिव्य कर्म्मों का चातुर्मास्य में निषेध है। आप्यप्राण को असुर कहते हैं, इसी असुर को वृत्र कहते हैं। यह असुर सब का वरण कर सब पर व्याप्त हो जाता है। जब वृष्टि होती है तो सूर्य्य छिप जाता है एवं अन्धकार सब को ढक लेता है। बस इसीलिए इस अन्धकारमय आप्यप्राण को "सर्वं वृत्वा शिष्ये" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "वृत्र" कहते हैं। कार्तिक मास के अनन्तर आप्यप्राण की प्रधानता कम हो जाती है एवं देवप्राण उल्वण हो जाता है। कार्तिक मास में सूर्य तुला का रहता है। तुला का सूर्य्य नीच का सूर्य्य कहलाता है। कारण इसका यही है कि आप्यप्राणप्राधान्यात् सूर्यप्रकाश मन्द रहता है। सूर्य्य ही हवा फिल्टर किया करता है। संसार के यच्च यावच्च पदार्थों की शुद्धि सौराग्नि से होती है चूंकि सूर्य इस समय नीच का रहता है। प्राकृतिक अग्नि मन्द रहती है अतएव इन दिनों में अर्थात् कार्तिक

मास में अग्नि का सहारा लेना चाहिए, खूब दीपक जलाने चाहिएं, खूब आतिशबाजी छोड़नी चाहिए। इस अग्निसम्बन्ध से आग्नेय आत्मा प्रफुल्लित रहता है। आत्मा को सूर्य का प्रकाश इन दिनों में कम मिलता है अतएव वैध उपायों से अग्नि को आत्मसात् करना अत्यन्त आवश्यक है। बस दीपावली का यही प्राकृतिक रहस्य है। इन दिनों में सूर्य्य-प्राणमांद्यात् आत्मा व्याकुल सा रहता है, अतएव इन दिनों को 'यमदंष्ट्रा' कहा जाता है। जैसा कि कहा है —

आश्विनस्य दिनान्यष्टौ अष्टावग्रहणस्य च।
समस्तः कार्तिको मासो यमदंष्ट्रेति गीयते।

इन दिनों में शक्ति कम रहती है अतः शक्तिसम्पादनार्थ इन दिनों में शक्ति की (दुर्गा की) उपासना की जाती है। प्रकृत में यहीं बतलाना है कि जो देवता इन साकमेधों से कार्तिक को एकादशी के बाद से वृत्र को मारने लगते हैं एवं मारते-मारते वे उसे बेदम बना डालते हैं। अर्थात् कार्त्तिक के बाद से देवप्राण उल्वण हो जाता है एवं असुरप्राण दब जाता है। बस यही वृत्र का की प्राकृतिक पराजय है। इति साकमेधस्य प्राकृतिकरहस्यम्।

भुवनस्वर्ग के देवताओं पर प्रायः अफ्रीका के असुर आक्रमण किया करते थे। असुरों की आत्म असुरप्राण से बना हुआ था एवं देवताओं का आत्मा दिव्य प्राणों से बना हुआ था। चातुर्मास्य में असुर बलवान् रहते थे। चातुर्मास्य के निकलने के पश्चात् देवता बलवान् रहते थे। ४ महिने तक परस्पर संघर्ष का अवसर जल-वर्षण के कारण कम मिलता है। जहाँ चातुर्मास्य निकला देवता लोग क्षीरान्न से अपने को बलिष्ठ बनाकर असुरों से भिड़न्त कर बैठते थे। मौसम उनके अनुकूल रहता था। अतः असुरों का पराभव कर डालते थे। मनुष्य इन देवताओं की प्रजा थी। हमारी प्रजा आसुरप्राण से आक्रान्त न हो जाय इसलिए उन भूस्वर्गवासी देवताओं ने इस यज्ञविद्या का आविष्कार किया था। देवताओं ने इस यज्ञ में ऐसे-ऐसे पदार्थ रखे हैं जिनके कारण आत्मा बलवान् हो जाता है। यद्यपि देवताओं की तरह आज इस यजमान पर कोई असुर आक्रमण नहीं करता है तथापि प्राकृतिक आसुरभाव को चातुर्मास्यजन्य आलस्य व शक्तिमन्दता को नष्ट करने के लिए "साकमेध" यज्ञ किया जाता है। बस इन्हीं वैज्ञानिक और ऐतिहासिक भावों को लक्ष्य में रखते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं– 'एतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्। एतैर्वेव व्यजयन्त, येयमेषां विजिस्ताम्। तथो एवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति। तथोऽएव विजयते। तस्माद्वाऽएष एतैश्चतुर्थे मासि यजने॥"

पूर्व के जो यज्ञ हैं वे एक-एक दिन ही होते हैं, परन्तु यह साकमेध निरन्तर दो दिन तक होता रहता है। साकमेध कर्म दो दिन में समाप्त हो जाता है। ऋत्विक् किंवा

यजमान को रात्रि में इसी यज्ञागार में रहना पड़ता है। पूर्णिमा और प्रतिपत् दो दिन तक यह कर्म जारी रहता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं– "वह यजमान निरन्तर दो दिन तक साकमेध से देवताओं का यजन करता है। स वै द्व्यहमनूचीनाहं यजते ।।१।।

वह यजमान पहिले दिन अर्थात् चतुर्दशी को अनीकवान् अग्नि के लिए आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है। अर्थात् आग्नेय कह कर "अनीकवते अग्नये स्वाहा" कह कर आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश की आहुति दी जाती है। हम वृत्र को मारेंगे, वृत्र के साथ युद्ध करेंगे। इस गर्जन से देवता लोगों ने अग्नि ही को अपना सेनापति बना कर वृत्रादि असुरों पर आक्रमण किया एवं आज भी चातुर्मास्य के अन्त में उन पर आक्रमण कर रहे हैं। यह अनीक तेज:स्वरूप अग्नि वृत्रासुर के आक्रमण से सर्वथा न घबराए। यह क्या नहीं घबराए, इनसे उल्टे असुर घबरा गये। अग्नि ही तो देवताओं में अग्रगण्य है। इसीलिए तो– "अग्निर्वै देवतानां मुखम्" कहा जाता है।

अग्नि ही की अवस्थाविशेष को तो देवता कहते हैं। चातुर्मास्य के अनन्तर पहिले पहल अग्नि ही तो आगे चलता है। देवता तो अनुयायी हैं। जहाँ अग्नि रहता है वहीं तेतीसों के तेतीसों देवता कूद पड़ते हैं। तमोमय प्राण का नाम असुर है। भला अग्नि के प्रकाश के सामने ये असुर बेचारे कैसे टिक सकते हैं। बस इसी अभिप्राय से "स तेजोऽग्निर्नव्यथत" कहा गया है। जैसे देवताओं ने अग्नि को अनीक बनाकर असुरों पर आक्रमण किया था तथा कर रहे हैं तद्वत् ही आज यह यजमान भी अपने शत्रु असुरों के नाश के अभिप्राय से इसी अग्नि को प्रमुख बना आगे बढ़ता है। शत्रु पर आक्रमण करता है। यजमान का यह अनीक अग्नि शत्रुओं के आक्रमण से व्यथित नहीं होता। बस इसीलिए पहिले दिन अनीकवान् अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है। तात्पर्य यही है कि अग्नि को पहिले आहुति देने से अग्नि आत्मसात् हो जाता है। एवं अग्निप्रभाव से आत्मा प्रज्वलित रहता है अतएव शत्रु इस याज्ञिक यजमान का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। "तस्मादग्नये अनीकवते" ।।२।।

इसके बाद दुपहर में सांतपन मरुतों के लिए चरु का निर्वाप करता है। सान्तपन नाम के मरुतों ही ने तो भर दुपहरी में वृत्र को ताप पहुंचाया। उस ताप से संतप्त होकर विह्वल होता हुआ, दमघुट होता हुआ वृत्र इधर - उधर गिरने लगा। सांतपन "लू" वायु का ही नाम है। दुपहर की जो गरम - गरम लू है उसी का नाम संतापजनकत्वात् "सांतपन" है। दुपहर में इसी की प्रधानता रहती है। इस समय आप्यप्राण किंवातमोमय प्राण की बड़ी दुर्दशा रहती है। सारा पानी इस प्रखर लू वाली गर्मी से सूख जाता है। अपि च जिसको लू लग जाती है उसकी भी यही दशा रहती है। वह लू के झपेटों से विह्वल हो जाता है एवं इधर - उधर गिरता - पड़ता रहता है। तब भी उसे चैन नहीं आती। बस इसी

प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं "मरुतो ह वै सांतपना मध्यन्दिने वृत्रं सन्तेपुः । स सन्तप्तोऽनन्नेव प्राणन् परिदीर्णः शिश्ये ।।"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उसी प्रकार से इस यजमान के शत्रुओं को सान्तपन मरुत् जला डालते हैं जैसे कि इन्होंने वृत्र को जला डाला था । बस इसीलिए इन्हीं के समय में सांतपन मरुतों की चरु का निर्वाप किया जाता है – "तस्मान्मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः ।।३।।"

इसके बाद गृहमेधी मरुतों के लिए सायंकाल चरु का निर्वाप करते हैं । बन्द हवा को गृहमेधी मरुत् कहते हैं । घर में दबे हुए वायु का नाम ही गृहमेधी है । घर में दबे हुए का तात्पर्य 'नहीं चलना' है । जैसा ही अनिष्ट लू से होता है वैसा ही बन्द हवा (बन्द जुकाम) से होता है। इस बन्द हवा ने भी वृत्र को पीड़ा पहुँचाई थी अतएव आज यह यजमान इसके लिए भी चरु का निर्वाप करता है ।

उस चरु को पकाने की विधि बतलाते हैं । पलाशशाखा से बछड़े को गाय से अलग कर दूध दोहने के पात्र में कुश रखकर उस दूध को दोहनी में दूध दोहकर उसको (चरु को) पकाते हैं । चाहे पानी हो, चाहे दूध हो, चाहे गुड़ हो, चाहे खांड हो, वह सब "चरु" ही कहलाता है जिसमें कि चावल को डालते हैं ।

"चरुरुह्येव स यत्र क्वच तण्डुलानावपन्ति ।"

देवताओं ने इसी चरु से अर्थात् इसी भात से बल को धारण किया था । यह बात भुवन-स्वर्गवासी देवताओं के अभिप्राय से कही गई है । प्रातःकाल (प्रतिपद् से) हम वृत्र को मारेंगे, असुरों के साथ युद्ध करेंगे बस इसीलिए देवताओं ने इस ओदन से अपना बल बढ़ाया । बस इसी प्रकार से अपने पाप्मा शत्रुओं को मारूँगा इस विचार से यजमान चरु करता हुआ आत्मबल बढ़ाता है । गेहूँ आसुर बल बढ़ाता है एवं चावल आत्मबल बढ़ाता है । अतः आत्मबल की इच्छा रखने वाले को चावल खाने चाहिएँ । जिस कारण से कि यह चरु क्षीरौदन होता है अर्थात् पानी आदि अन्य वस्तु न डालकर दूध डालकर इसकी क्षीर बनाई जाती है उसका कारण बतलाते हैं । दूध भी बलकारक है एवं तण्डुल भी बलकारक है । बस इन दोनों से आत्मा को अधिक बलवान् बनाते हैं ।

"तस्मात् क्षीरौदनो भवति ।" शरद् ऋतु में क्षीर - भोजन का यही रहस्य समझना चाहिए ।।४।।

"तस्यावृत्" इस गृहमेध याग की क्रिया अर्थात् पद्धति या क्रम बतलाते हैं । सांतपन इष्टि में सांतपन मरुतों के लिए जो वेदि कुशा से आस्तीर्ण (आच्छादित) थी वही कुशास्तीर्णा वेदि गृहमेधी मरुतों के लिए काम में आती है । अर्थात् गृहमेधी मरुतों के लिए

स्वतन्त्र वेदि - निर्माण की आवश्यकता नहीं है । उनका यजन उसी वेदि पर होगा जिस पर कि सान्तपन मरुतों का हुआ था —

"सैव स्तीर्णा वेदिर्भवति या मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः ।। इति ।।

उसी कुशास्तीर्णा वेदि पर तीन अरत्नि मात्रा की अर्थात् एक एक हाथ जितनी तीन परिधियों को और छोटे - छोटे काष्ठखण्डों को अग्नि समिद्ध (प्रज्वलित) करने के लिए रख देता है । परिधियों को दक्षिण, उत्तर और पूर्व की ओर लगाया जायेगा एवं काष्ठ से चूंकि अग्नि प्रज्वलित किया जायेगा । अतएव दोनों सामग्रियाँ वेदि पर रख देते हैं यही तात्पर्य हैं । तदनन्तर पलाशशाखा से गाय के पास से बछड़े को हटाकर दो शाखा वाले कुशा डाले हुए पात्र में (पवित्रवति पात्रे) दूध दोहकर उसमें चावल डालकर अग्नि पर चढ़ाकर इन गृहमेधी मरुतों के लिए चरु पकाते हैं । चौथी कण्डिका में जो चरुश्रवण बतलाया था उसे ही क्रम बतलाने के लिए यहाँ पर भी बतला दिया है । "तथा संदोह्य चरुं श्रपयति ।" यह विहितानुवाद समझना चाहिए । परिधि और काष्ठखण्डों के वेदि पर रखने के अनन्तर गोदोहन होना चाहिए । इसी क्रम को बतलाने के लिए विहित गो - दोहन का अनुवाद किया गया है । इस प्रकार से चरु को पकाकर उसमें ऊपर से घृत का अभिघारण कर अर्थात् चौतरफ घृत डालकर उस चरुपात्र को नीचे उतारकर चरु को ठण्डा कर देते हैं —

"श्रपयित्वा अभिधार्य उद्वासयति" इति ।।५।।

तदनन्तर उस चरु को आहुति के लिए अलग निकालने के लिए दो शरावों (पात्रों को जिन्हें कि भाषा में मालसा कहते हैं) पानी से प्रक्षालित कर शुद्ध कर लेते हैं । पिशील नाम मिट्टी के शराव का है इसीलिए सूत्रकार कहते हैं— "श्रपयित्वाभिधार्योद्वास्य शरावयोरुद्धरति" । का०श्रौ०सू० ५ । ६ । १० ।।

उन दोनों शरावों में उस चरु में से दो बार लेकर रख देते हैं । अर्थात् दोनों शरावों में चरु को दो बार लेकर रख देना चाहिए । शरावों में रखे हुए उन चरुओं के बीच में अंगूठों से सर्पिरासेचन (घृत डालने के लिए गर्त) करके अर्थात् दो खड्डे कर उनमें घृत भर देना चाहिए । "तयोर्मध्ये सर्पिरासेचने कृत्वा सर्पिरासिञ्चति" इति । तदनन्तर मरुत्-यजनार्थ स्रुवा और स्रुक् का सम्मार्जन करते हैं । अर्थात् धोकर साफ करते हैं । इसके बाद चरु रखे हुए उन दोनों शरावों को वेदि पर रखने के लिए उन्हें लेकर वहाँ से चलते हैं एवं साथ ही में स्रुवा और स्रुक् को भी लेने जाते हैं ।

"अथैतावोदनावादायोदैति, स्रुवं च स्रुचंच आदायोदैति" । इति ।।

इसके अनन्तर सान्तपनोष्टि में जो वेदि बर्हिस्तीर्णा थी उसी वेदि का गृहमेधीयाङ्गत्वेन आस्तरणमन्त्र से स्पर्श करके तीनों परिधियों को पूर्व, उत्तर, दक्षिण क्रम से रखकर जितने

काष्ठखण्डों को रखना उचित समझता है उतने काष्ठखण्ड रखदे। अर्थात् आहवनीय कुण्ड के तीनों ओर तीन परिधियाँ लगा देनी चाहियें एवं जितने काष्ठखण्डों से आहवनीय अग्नि प्रज्वलित हो जाय उतने काष्ठखण्ड उसमें रख देने चाहियें। "स इमामेव स्तीर्णां वेदिमभिमृश्यपरिधीन् परिधाय यावतः शकलान् कामयते तावतोऽभ्यादधाति॥"

तदनन्तर उन ओदनपूर्ण दोनों शरावों को वेदि पर रख देते हैं—"अथैताऽओदनावासादयति" एवं उसी वेदि पर स्रुवा और स्रुक् को भी रख देते हैं। चूंकि इस गृहमेधियाग में सामिधेनी ऋचा का अनुवचन नहीं होता अतएव होता तूष्णीमेव होतृसदन में बैठ जाता है। "उपविशति होता होतृषदने।" होता के उपवेशनानन्तर आज्यभाग ही करना चाहिये, पुनराधारादि कर्म नहीं, इसी अभिप्राय से कहते हैं — होता के बैठने के अनन्तर आज्यभाग करने के लिए अध्वर्यु स्रुवा और स्रुक् को लेता हुआ होता के प्रति बोलता है अर्थात् हे होतः! "अग्नये अनुब्रूहि" यह प्रैष करता है। यह प्रैष आग्नेय आज्यभाग सम्बन्धी समझना चाहिये। "आग्नेयमाज्यभागम्"। वेदि के दक्षिण उत्तर भाग में रखे हुए ओदनपात्रों में से जो दक्षिणभागस्थित ओदनपात्र है उसमें से घृत से भरे हुए उस शरावपात्र से पूर्व आज्यभाग के लिए अर्थात् आग्नेय आज्यभाग के लिए ४ वार करके वह अध्वर्यु आज्य ले लेता है।

वेदि के दक्षिणोत्तर भाग में रक्खे हुए घृतपूर्ण ओदनपात्रों में से जो दक्षिणभाग का ओदनपात्र है उसमें से आग्नेय आज्यभाग के लिए ४ वार करके घृत लेकर वहाँ से आहुति देने के लिए अतिक्रमण करता है। अतिक्रमण कर 'ओंश्रावय' इत्यादि आश्रावण - प्रत्याश्रावण कार्य कर अध्वर्युं कहता है "अग्नि यज" इति। होता कहता है—"ये यजामहे" बस उसी समय 'वौषट्' के साथ उस घृताहुति को अध्वर्युं अग्नि में आहुत कर देता है। 'स दक्षिणस्यौदनस्य सर्पिरासेचनात् चतुराज्यस्यावदाय अतिक्रामति। अतिक्रम्य, आश्राव्य, आह "अग्नि यज" इति। स (अध्वर्युं:) वषट्कृते जुहोति'। अग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर जाया करता है। एवं सोम उत्तर से दक्षिण को ओर जाया करता है। चूंकि यह आग्नेय पुरोडाश है इसोलिए दक्षिणभागस्थ आज्य ही की आहुति दी जाती है॥६, ७॥

इसके बाद अध्वर्यु होता के प्रति 'सोमायानुब्रूहि' यह अनुवाक्या करने के लिए प्रैष करता है। यह प्रैष सौम्य आज्यभाग के लिए समझना चाहिए। तदनन्तर अध्वर्युं वेदि के उत्तरभाग में रक्खे हुए घृतपूर्ण ओदनपात्र में से ४ अवदान घृत के लेकर वहाँ से आहुति देने के लिए चलता है। इस प्रकार वहाँ से चलकर 'ओंश्रावय' यह आश्रावण कर अध्वर्युं कहता है "सोमं यज"। होता कहता है "ये यजामहे"। तदनन्तर अध्वर्युं 'वौषट्' के साथ उसे अग्नि में आहुत कर देता है। चूंकि सोम का प्रधान स्थान उत्तर है अतः उत्तर में से ही सौम्य आज्यभाग के लिए घृत लिया जाता है॥८॥

अब आज्यभाग के बाद में होने वाले आवाप कर्म की इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। इसके अनन्तर (आज्यभागानन्तर) अध्वर्यु "मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहि" यह होता के प्रति कहता है। होता के अनुवाक्या के अनन्तर अध्वर्यु स्रुक् में उस दक्षिणभागस्थित घृतपूर्ण ओदनपात्र में से घृत को ले उसका आस्तरण करता है। अर्थात् उसमें से स्रुक् में घृत लेकर अमृतोपस्तरण करता है। तदनन्तर दो अवदान उस चरु के लेकर उस घृतास्तरण पर रखता है एवं उस पर (चरु पर) फिर घृत का अभिधारण करता है जो कि 'अमृतापिधान" कहलाता है। इस प्रकार से उस द्विरवत्त चरु को लेकर वहाँ से अतिक्रमण करता है। अतिक्रमण कर आश्रावण करके अध्वर्यु बोलता है—"मरुतो गृहमेधिनो यज"। तदनन्तर वौषट् के साथ इस चरु को अग्नि में डाल देता है। तात्पर्य यही है कि उस चरु के दो ग्रास लेकर उसके ऊपर नीचे घृत का सम्बन्ध करके उन दोनों अवदानों की, "मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः स्वाहा" कहकर अग्नि में आहुति दे देनी चाहिए ।।९।।

॥ इत्यावापकर्म्मं समाप्तम् ॥

आवाप के अनन्तर स्विष्टकृत् कर्म होता है। अतः क्रमप्राप्त उसी की इतिकर्तव्यता बतलाते हैं। अध्वर्यु होता के प्रति कहता है– "अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि" इति। यह कह कर अध्वर्यु वेदि के उत्तरभागस्थित घृतपूर्ण ओदनपात्र के घृत के खड्डे में से (सर्पिरासेचनात्) आज्य को लेकर उसका उपस्तरण करता है। बाद में उस उपस्तरण पर दो अवदान चरु के रखता हैं। उस पर ऊपर से घृत का आधार करता है अर्थात् घृत को डालता है। इसी को अमृतापिधान कहते हैं। इस प्रकार से स्विष्टकृत् के लिए आहुतिद्रव्य तैयार करके अध्वर्यु वहाँ से चलता है। वहाँ से चलकर आश्रावणादि कर्म करके बालता है— "स्विष्टकृतं यज"। तदनन्तर वौषट् के साथ उस अवदान की आहुति दे देता है। 'वषट्कृते जुहोति।'

॥ इति स्विष्टकृत्कर्म्मं समाप्तम् ॥

इसी याग में एक दूसरा तरीका भी है, उसमें भी कोई मुख्य कर्मों में ही विशेषता है, शेष का सारा कर्म्म पूर्वमार्गानुसार ही समझना चाहिए। इस यज्ञ में भी वही बर्हिस्तीर्णा वेदि होती है जो कि सान्तपन मरुतों के लिए बनाई गई थी। उसी स्तीर्णा वेदि में परिधियों को और काष्ठखण्डों को रखते हैं एवं पूर्ववत् गाय को दुहकर उससे चरु पकाते हैं। इस प्रकार से चरु पकाने तक का तो कार्य्य दोनों यज्ञों यज्ञों में एक जैसा है। इस यज्ञ में विशेष इतना सा है कि पूर्व पद्धति में चरु को दो शरावों में निकालना, बाद में उन दोनों में अंगूठों से खड्डा कर घृत भरना, यह प्रपञ्च यहाँ नहीं करना पड़ता है। यहाँ पर पात्रादि का प्रपञ्च एवं घृत भरने का प्रपञ्च नहीं होता है। अपितु जब चरु पकाया जाता है तो

उसी समय इस चरु के समापनार्थ उस अंगूठे के घृत के प्रतिनिवेशस्थानीय उस आज्य को उस स्थाली में (चरुपात्र में) डाल देता है। तात्पर्य यही है कि पूर्ववत् पेशली में निकाल कर बाद में घृत नहीं डाला जाता है। अपितु उसी समय (पकाते समय) ही घृत डाल दिया जाता है । इस प्रकार पकाते समय घृत डालकर उस चरु को पकाकर उसे नीचे उतारकर ठण्डा कर बाद में फिर उसे थोड़े से घृत में मिला देता है (अर्थात् पकाते समय भी घृत डालना चाहिए एवं पकाकर ठण्डे हुए बाद भी थोड़ा सा घृत उस चरु में डालना चाहिए। घृत डालकर उस चरु को घृत में मिला देना चाहिए। ततः स्थाली (बटलोही में) में गरम किया हुआ जो घृत है उसे भी ठण्डा करता है एवं स्रुवा और स्रुक् का सम्मार्जन करता है।

तदनन्तर जिस उखा में (हांडी में) चरु पकाता है, तत्सहित को ही उठाकर वहाँ से (उसे वेदि पर रख देने के लिए) चलता है। अर्थात् पूर्वपद्धतिवत् शरावान्तर में रखकर ले जाने की जरूरत नहीं है, अपितु उखा को ही ले जाना चाहिए। "सोखमेव चरुमादा-योदैति" इति एवं स्थाली में रखे हुए उस आज्य को भी लेकर वेदि के ऊपर रखने के लिए चलता है। "स्थाल्यामाज्यमादायोदैति" इति। एवं आहुति देने के लिए स्रुवा और स्रुक् को भी साथ लेकर उस स्थान से वेदि के पास जाता है। "स्रुवं च स्रुचं चादायोदैति ॥" वहाँ जाकर उसी स्तीर्णा वेदि का स्पर्श कर उस पर रक्खी हुई परिधियों को आहवनीय कुण्ड के तीन ओर लगाकर जितने से अग्नि समिद्ध हो सकती है उतने काष्ठखण्डों को उस आहवनीय में रख देता है। चूंकि इस याग में सामिधेनी अनुवचन नहीं होता, अतः होता तूष्णीमेव होतृसदन में बैठ जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु स्रुवा और स्रुक् को लेकर होता के प्रति "अग्नयेऽनुब्रूहि" यह कहता है। यह अनुवाक्या आग्नेय आज्यभाग के लिए समझनी चाहिए। शेषं पूर्ववत् ॥१२॥ अथाह सोमायानुब्रूहीति ॥ पूर्ववत् ॥१३॥ "अथाह मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्योऽनुब्रूहीति।" इसमें सारा काम बूर्व पद्धति अनुसार ही होता है। केवल इस यज्ञ में अवदान को घृत से मिला और दिया जाता है। प्रत्यनक्त्यवद ने। शेषं पूर्ववत्। ॥१४॥ "अथाहाग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहीति" इसमें पूर्व पद्धति से इतना विशेष है कि पूर्व पद्धति में अवदान दो बार लिया जाता था परन्तु यहाँ एक ही वार लिया जाता है। "अथास्य चरोः सकृदवद्यति"। शेषं पूर्ववत्। आज्यभागादि में जो आज्यकार्य्य होता है, उस सब को स्थालीगत आज्य से ही करना चाहिए। बस यही इस पद्धति में विशेषता है।१५।

"अथेडामवद्यति न प्राशित्रम्।" इडोपह्वानानन्तर इस यज्ञ में प्राशनप्रक्रिया में जो विशेषता है वह बतलाते हैं। पूर्व पद्धति में खाली ऋत्विक् और यजमान ही इडाप्राशन करते थे परन्तु यहाँ के लिए याज्ञवल्क्य कहते हैं—यजमान के घर में रहने वाले इसके पुत्र पौत्र भ्राता इत्यादि जितने भी यज्ञोच्छिष्ट को खाने वाले हैं वे सब के सब इस इडा

को खायें एवं ऋत्विक् भी खायें। एवं यज्ञ में द्रष्टारूप से जो और ब्राह्मण आ गये हैं वे भी खायें परन्तु ओदन ज्यादा हो तब। यदि भात सब के लिए पर्याप्त हो, तभी सब को देना चाहिए। यदि थोड़ा भात हो तो फिर आगन्तुक ब्राह्मणों को नहीं खिलाना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"उपहूय प्राश्नन्ति। यावन्तो गृह्या हविरुच्छिष्टाशाः। स्युस्तावन्तः प्राश्नीयुः अथोऽअनृत्विजः प्राश्नीयुः। अथोऽअप्यन्ये ब्राह्मणाः प्राश्नीयुर्यदि बहुरोदनः स्यात्।"

दूसरे दिन प्रातःकाल इसी चरु से पूर्णदर्वी होम किया जाता है। अत. सारे चरु का ही प्राशन नहीं करना चाहिए अपितु दर्वीहोम के लिए उसी उखा में थोड़ा सा चरु रहने देना चाहिए। उसे निःशेषेण अशित (भुक्त) नहीं करना चाहिए। इस अभिप्राय से कहते हैं—प्राशन के अनन्तर अनिरशित इस कुम्भी को किसी अन्य पात्र से ढककर पूर्ण दर्वी के लिए एक ओर रख देते हैं। (निःशेषेण अशिता निरशिता न निरशिता अनिरशिता शेषसहिता न तु शेषरहिता इत्यर्थः। हवि से पूर्ण दर्वी (कुरछी) जिस कर्म में होती है, उस कर्म को पूर्णदर्व कहते हैं। बस इसी कर्म के लिए उस शेषसहिता कुम्भी को रखना चाहिए।

"अथैतामनिरशितां कुम्भीमपिधाय निदधति (स्थापयन्ति)" इस रात्रि में वत्सों को माताओं के पास अर्थात् गौओं के पास रहना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं– ये ऋत्विक् लोग माताओं के साथ बछड़ों को संसृष्ट करते हैं। ऐसा करने से अर्थात् गाय और बछड़ों को मिला देने से पशु अपने आत्मा में मेध को अर्थात् बक को धारण करते हैं। जिस समय गाय का दूध बछड़ा चूसता है एवं वत्स और माता साथ रहते हैं तो दोनों ही बड़े प्रसन्न रहते हैं। बछड़ा पूंछ उठाकर बड़ी प्रसन्नता से उसके दूध को पीया करता है और गाय बड़े प्यार से उसे चाटा करती है। इसी अभिप्राय से "तदु पशवो मेधमात्मन् (स्वात्मनि) धत्ते" यह कहा गया है। तात्पर्य यही है कि दूध की आवश्यकता अग्निहोत्र के लिए होती है। इस रात्रि में दूध की आहुति से चूंकि अग्निहोत्र किया नहीं जाता अपितु यवागू से किया जाता है, अतः बछड़ों को उस गाय का दूध पिला दिया जाता है। इसी अभिप्राय से "मातृभिर्वत्सान् समवार्जयन्ति" कहा गया है। इस रात्रि में अग्निहोत्र-हवन यवागू से ही करता है। अर्थात् दूध की आहुति न देकर यवागू की ही आहुति देता है। "यवाग्वैतां रात्रिमग्निहोत्रं जुहोति"॥

यजमान के घर में रहने वाले सारे वत्सों को इस रात्रि में छोड़ना प्राप्त होता है। "मातुभिर्वत्सान् समवार्जन्ति।" इससे यच्चयावत् पशुओं का ही खोलना प्राप्त होता है परन्तु दूसरे दिन पितृयज्ञ करना है अतः पितृयज्ञार्थ निवान्या गोवत्स को बंधा ही छोड़ देना चाहिए, उसे खोलना नहीं चाहिए इसी अभिप्राय से कहते हैं जिस लिए कि प्रातःकाल पितृयज्ञ के लिए निवान्या का दोहन करते हैं, अतः उसके वत्स को नहीं खोलना चाहिए।

निवान्यां प्रातर्दुं हन्ति पितृयज्ञाय । यहाँ पर "अतस्तस्य वत्सस्य बंधनं कर्तव्यम् ।" इसका अध्याहार ऊपर से करना चाहिए । जो स्वयं नष्टवत्सा होती है एवं जिसका दूध अन्य गाय के बछड़े के सहारे से निकाला जाता है, उस गाय को 'निवान्या' कहते हैं ।।१६।।

प्रातःकाल दर्वीहोम किस समय करना चाहिए यह बतलाते हैं । प्रातःकाल अग्निहोत्र-हवन कर लेने पर अथवा करने से पहले जिस समय इच्छा हो उसी समय दर्वीहोम किया जा सकता है । अग्निहोत्र के पहिले भी दर्वीहोम हो सकता है एवं अग्निहोत्रानन्तर भी हो सकता है "अथ प्रातर्हुते वाऽहुतेवा यतरथा कामयेत" (तथैवानुष्ठेयमिति शेषः इति) । तदनन्तर दर्वीहोम के लिए उस कुम्भी में से समन्त्रक हविर्ग्रहण करना बतलाते हैं । वह अध्वर्यु अनिरशित (शेषसहित) कुम्भी के हवि को दर्वी (कुड़छी) से कुचर कर 'पूर्णा दर्वि' यह मन्त्र बोलता हुआ निकालता है । अर्थात् 'पूर्णा दर्वि' इस मन्त्र को बोलता हुआ अध्वर्यु कुम्भी में से उस चरुहवि को निकाल लेता है । वह मन्त्र यह है "पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ।।" हे दर्वि! "प्रथमं हविषा पूर्णा सती परापत (परागच्छ देवान् प्राप्नुहि) पुनः कर्म्मफलेन सुपूर्णा सती (अस्मान्) आपत (पुनरागच्छ) हे शतक्रतो! इन्द्र ! वस्नेव (मूल्येनेव) इषम् अन्नं ऊर्ज च (आवाम्-इन्द्र-यजमानौ) विक्रीणावहै-व्यतिहारेण कर्म्म क्रीणावहै । त्वया दत्तं फलं स्वीकृत्य हविर्दास्यामि त्वयि, मया दत्तं हविर्गृहीत्वा मह्यं फलं दास्यसि त्वम् । हे दर्वि ! आप पहिले हवि से पूर्ण होकर देवताओं को पूर्णतया तृप्त कीजिए यही भावार्थ है । बाद में कर्मफल से सुपूर्ण होती हुई आप हमारी ओर आइए । अर्थात् देवताओं को तृप्त कर आप हमें यज्ञफल दिलवाइए । यही तात्पर्य है । हे इन्द्र ! मूल्य से मानो हम इट् (अन्न) का और बलप्रद ऊर्क् रस का विनिमय करते हैं । मैं आपको हवि दूँगा । आप उस हवि को ग्रहण कर उससे तृप्त हो मुझे फल प्रदान करेंगे । जैसे देवता के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोला जाता है बस उसी अनुवाक्यास्थानापन्न यह ऋचा है । इसी अनुवाक्या ऋचा से इस भाग के लिए इन्द्र को बुलाता है । एतस्मै भागाय ह्वयति ।।१७।।

यह आहुति तब डालनी जब कि बैल शब्द करे । बैल के शब्द के साथ ही आहुति देनी चाहिये । इसी अभिप्राय से कहते हैं—यह यजमान अथवा अध्वर्यु बैल को बुलाने के लिए शब्द करवाने के लिए किसी से कहे । यदि वह बैल शब्द कर दे, तो उसका वह शब्द वषट्कार ही है, यह कितनों ही का (तैत्तिरीय शाखा वालों का) मत है । जैसा कि लिखा है "ऋषभमाह्वयति, वषट्कार एवास्य स इति कथयन्ति" इति । बस इस वषट्कार के साथ ही (बैल के शब्द के साथ ही) आहुति डालता है । बैल को क्यों बुलाया जाता है अर्थात् उससे शब्द क्यों कराया जाता है इसका कारण बतलाते हैं – इन्द्र धाता, भग, पूषा इत्यादि द्वादश

प्राणसमष्टि का नाम ही "सूर्य" है। इस सूर्य के ज्योतिः, गो और आयु ये तीन मनोता हैं। इसमें से गो से जो कि एक सहस्र हैं इस गौ पशु का आत्मा बनता है। यद्यपि यच्चयावत् भूतों का निर्माण इस गौ के द्वारा ही होता है परन्तु चूंकि गोतत्व की अधिक मात्रा इसमें (गो में) रहती है, अतएव इसे 'गौ' नाम से ही कहते हैं। गो सूर्य का मनोता है। सूर्य ही का नाम इन्द्र है। इससे सिद्ध हो जाता है कि यह गो (बैल) साक्षात् इन्द्र का स्वरूप है। इसलिए धर्म्म को वृषभ कहा जाता है। धर्मराज क्षत्रिय हैं। वे पाप-पुण्य का निर्णय करने वाले हैं। एवं आधिदैविक मण्डल के राजा 'इन्द्र' हैं एवं वे ही गौस्वरूप में इस भूमण्डल पर रहते हैं। अतएव धर्म को वृषभ कहा जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं वृषभ को बुलाता हुआ अपने ही स्वरूप से वृत्र के वध के लिए इन्द्र को बुलाता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह इन्द्र का ही स्वरूप है जो कि वृषभ है। अपिच वाणी के अधिष्ठाता इन्द्र हो हैं। हम जितना बोलते हैं उसके अधिष्ठाता इन्द्र हैं। इसीलिये वाक् को इन्द्रपत्नी कहा जाता है जैसा कि श्रुति कहती है — "वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः। वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी" इति। तात्पर्य यह है कि एक तो बैल स्वयं ही इन्द्रस्वरूप है और यदि वह शब्द करदे तो फिर कहना ही क्या है। तब तो सोने में सुगन्ध का काम है। बोलना तो इन्द्र का यज्ञ में साक्षात् आना है। इसी अभिप्राय से कहते हैं कि यदि वृषभ इस यज्ञ में शब्द करदे तो यजमान को समझ लेना चाहिए कि इन्द्र मेरे यज्ञ में आ गये, मेरा यज्ञ सेन्द्र हो गया। 'स यदि रुयात् मऽइन्द्रो यज्ञमगन्। सेन्द्रो मे यज्ञः इति विद्यात्।' इन्द्र ही तो यज्ञपति हैं, वे यदि यज्ञ में आ जाते हैं तो यज्ञ-सफलता का कहना ही क्या है। परन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी यदि बैल शब्द न करे तो फिर दक्षिण भाग में बैठे हुए ब्रह्मा ही अध्वर्यु के प्रति "जुहुधि" यह कह दें। 'जुहुधि' यह भी तो ऐन्द्री वाक् ही है। ब्राह्मण अग्निमय है। अग्नि की ही तीसरी अवस्था का नाम इन्द्र है। अतः ब्राह्मण का बोलना भी एक प्रकार से इन्द्र का ही बोलना है। 'सैवैन्द्री वाक्' ॥१८॥ इस प्रकार से बैल की बोली के साथ किंवा ब्राह्मण के "जुहुधि" इस शब्द के साथ निम्नलिखित मन्त्र से अग्नि में आहुति डालता है —

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च ददासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा। इति

यह मन्त्र इन्द्र की ओर से अध्वर्यु बोलता है। हे यजमान ! मे (मह्यं) हविः— देहि ततश्च अहमपि ते (तुभ्यमिष्टफलं) ददामि। तथा च त्वं मे हविः निधेहि (नितरां धारय) अहमपि ते (तुभ्यं फलं निदधे) नियच्छामि। निहारं (फलस्य मूल्यभूतं हविः) त्वं चेत् प्रथमं हरासि (हरेः—दद्याः) तदनन्तरमेव ते (तुभ्यमहमपि) निहारं (हविषो मूल्यभूतं फलम्) निहराणि (नितरां प्रापयानि। हे यजमान! तुम मेरे लिए हवि दो। मैं भी तुम्हें फिर फलप्रदान

करता हूं। तुम मेरे लिए हवि दो। मैं भी तुम्हारे लिए यज्ञफल रखता हूँ। तुम फल को मूल्यभूत हवि मेरे लिए पहिले दे दो। मैं भी तुम्हारे इस हवि के मूल्य को चुका दूंगा ॥१६॥

इसके बाद मरुतों के लिए सप्तकपाल पुरोडाश का निर्वाप करना है। १. स्वतवा २. प्रघासी ३. सान्तपन ४. गृहमेधी ५. प्रयज्यु ६. प्रक्रीडिन् और ऋभुक्षन् ये सात मरुत् हैं। अतएव सप्तकपाल पुरोडाश किया जाता है। आधिदैविक इन्द्रप्राण के चारों ओर ये मरुत् उछलते कूदते रहते हैं। अतएव इन मरुतों को क्रीडिन् कहा जाता है। इसी प्रकार से भुवन-स्वर्गवासी इन्द्र के चौतरफ मारुती सेना आनन्द से उछलती रहती थी तथा उनको 'आप ऐसे हैं आप ऐसे हैं' यह कह कर स्तुति किया करती थो। अतएव इन मरुतों को क्रीडी कहा जाता है। ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दोनों भावों पर दृष्टि रखते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं — "मरुतो वै क्रोडिनो वृत्रं हनिष्यन्तं इन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुः महयन्तः तथोऽएवैतं पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हनिष्यन्तमभितः परिक्रीडन्ते महयन्तः।" बस इसीलिए क्रीडिन् मरुतों के लिए दर्वीहोम के अनन्तर सप्तकपाल पुरोडाश किया जाता है। 'तस्मान् मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः।' इति

इति साकमेधयज्ञ समाप्त

साकमेध में अङ्गभूत महाहविर्याग और किया जाता है। इसो अभिप्राय से कहते हैं — "अथातो महाहविष एव"। चूंकि साकमेध के अनन्तर ही इस महाहवि के अनुष्ठान का समय आ जाता है अतः प्राप्तकालत्वात् महाहवि ही करना चाहिए। बस इसी बात को सूचित करने के लिए "अथातो महाहविष एव" यह कहा गया है। वरुणप्रघास इष्टि का नाम ही महाहविर्याग है। इसमें ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है माहेन्द्र चरु होता है। वैश्वदेव एककपाल पुरोडाश होता हैं। इस प्रकार से आग्नेयादि अष्टाकपालों की अपेक्षा इसमें ये हवियाँ और होती हैं। अतएव इस वरुणप्रघास को ही 'महाहवि' कहा करते हैं।

वैश्वदेव से प्रजापति प्रजा उत्पन्न करते हैं। वरुणप्रघास से वातव्याधि आदि रोगों को शान्त करते हैं एवं इस साकमेध से उत्पन्न प्रजा में बलाधान करते हैं। आत्मबल बढाने के लिए ही साकमेध किया जाता है। आत्मबल इन्द्रादि देवताओं के अधीन है। इनकी मात्रा के बढ़ने से ही आत्मबल बढता है। सूर्य ही आत्मा का अधिष्ठाता है एवं सूर्य हो में रहते हैं सारे देवता। अतः देवताओं से भी आत्मबल बढता है। परन्तु यदि वरुणप्रघास वाले देवताओं को इस साकमेध में भी साकमेधाङ्गत्वेन आहुति दी जायेगी तो "अधिकस्याधिकं फलम्" ही होगा। बस इसीलिये साकमेध के अनन्तर अतिमात्रा में आत्मबलसंपन्न करने के लिए वरुणप्रघासी देवताओं को आहुति देकर अपने अध्यात्म में देवप्राणों की वृद्धि करता

हुआ यह यजमान वरुणप्रघासापरपर्याय महाहवि का अनुष्ठान करता है। महाहवि में माहेन्द्र चरु दिया जाता है अतएव इसका नाम महाहवि पड़ गया है। वस्तुतः वरुणप्रघास का नाम ही महाहवि है। वरुणप्रघास में जिन देवताओं को आहुति दी जाती है उन्हीं को महाहविर्याग में दी जाती है— इसी अभिप्राय से कहते हैं—उस पूर्वोक्त वरुणप्रघास हवि के अनुष्ठान का जैसा क्रम है तथैव वक्ष्यमाण महाहवि का क्रम समझना चाहिए। अर्थात् वरुणप्रघास में जिन देवताओं का यजन किया जाता है। यथा तस्य (वरुणप्रघासस्य) अनुष्ठानमिति शेषः—तथा एव महाहविषः।"तद्यथा महाहविषस्तथो तस्य।" इति ४(५-३)

इति चतुर्थ प्रपाठकः समाप्तः।

महाहविषाह वै देवा वृत्रं जघ्नुः। तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजिति-स्ताम्। तथो एवैष एतेन पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति - तथो एव विजयते। तस्माद्वा एष एतेन भजते ॥१॥

तस्यावृत् - उपकिरन्त्युत्तरवेदिम्, गृह्णन्ति पृषदाज्यम्, मन्थन्त्यग्निम्। नवप्रयाजं भवति, नवानुयाजम्, त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति। अथैतान्येव पञ्च हवींसि भवन्ति ॥२॥

स यदाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति। अग्निना ह वा एनं तेजसाऽघ्नन् स तेजोऽग्निर्नाव्यथत तस्मादाग्नेयो भवति ॥३॥

अथ यत् सौम्यश्चरुर्भवति। सोमेन ह वा एनं राज्ञाऽघ्नन्। सोमराजान एव। तस्मात् सौम्यश्चरुर्भवति ॥४॥

अथ यत् सावित्रो द्वादशकपालो वाऽष्टाकपालो वा पुरोडाशो भवति। सविता वै देवानां प्रसविता। सवितृप्रसूता हैवैनमघ्नन्। तस्मात् सावित्रो भवति ॥५॥

अथ यत् सारस्वतश्चरुर्भवति। वाग् वै सरस्वती। वागु हैवानुममाद् 'प्रहर जहि' इति। तस्मात् सारस्वतश्चरुर्भवति ॥६॥

अथ यत् पौष्णश्चरुर्भवति। इयं वै पृथिवी पूषा। इयं हैवैनं वधाय प्रति-प्रददौ। अनया हैवैनं प्रतिप्रत्तं जघ्नुः। तस्मात् पौष्णश्चरुर्भवति ॥७॥

अथैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। एतेन हैवैनमघ्नन्। तेजो वा अग्निः, इन्द्रियं वीर्यमिन्द्रः। एताभ्यामेनमुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नन्। ब्रह्म वा अग्निः क्षत्रमिन्द्रः, ते उभे संरभ्य, ब्रह्म च क्षत्रं च सयुजौ, कृत्वा ताभ्यामेन-

मुभाभ्यां वीर्याभ्यामघ्नन् । तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥

अथ माहेन्द्रश्चरुर्भवति । इन्द्रो ह वा एष पुरा वृत्रस्य वधात् । अथ वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत् । तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति। महान्तमु चैवैनमेतत् खलु करोति - वृत्रस्य वधाय । तस्माद्धेव माहेन्द्रश्चरुर्भवति ॥९॥

अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति । विश्वं वा एतत्कर्मकृतम्, सर्वं जितं देवानामासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानाम् । विश्वम्वेवैतस्यै-तत् कर्म कृतम्, सर्वं जितं भवति साकमेधैरीजानस्य विजिग्यानस्य । तस्मात् वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ॥१०॥

एतेन वै देवाः यज्ञेनेष्ट्वा येयं देवानां प्रजातिः या श्रीः एतद् बभूवुः । एतां ह वै प्रजातिं प्रजायते, एतां श्रियं गच्छति य एवं विद्वानेतेन यज्ञेन यजते । तस्माद्वा एतेन यजेत ॥११॥

इति साकमेधपर्वणि महाहविर्यागः ।

(अनु०) महाहविर्याग के द्वारा ही देवताओं ने वृत्र को मारा था । देवताओं की जो विजय आज दृष्टिगोचर हो रही है उसे उन्होंने महाहविर्याग के द्वारा ही प्राप्त किया था । उसी प्रकार आज यह यजमान इस महाहविर्याग के द्वारा पापकर्मा, द्वेषी शत्रुओं को मारता है और देवताओं की तरह उन पर विजय प्राप्त करता है । अतः हविर्याग से यजन करता है ।।१।।

उसकी पद्धति—उत्तरवेदिनिवपन, पृषदाज्यग्रहण, अग्निमन्थन, नवप्रजायानुष्ठान, नवानुयाजानुष्ठान, तीन समिष्टयजुओं का अनुष्ठान, इस याग में भी वरुणप्रघास की तरह होता है । अर्थात् इस याग में भी उत्तरवेदि पर कुशाओं का आस्तरण करते हैं, पृषदाज्य (दधिमिश्रित आज्य)का ग्रहण करते हैं । अग्नि का मन्थन करते हैं । ९ प्रयाज ९ अनुयाज ३ समष्टियजु भी इसमें होते हैं । इसके

बाद वैश्वदेवेष्टि में होने वाली आग्नेयादि पाँच हवियाँ होती हैं ।।२।।

आग्नेयादि पाँच हवियों का ही निरूपण किया जा रहा है कि जो आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश होता है उसका आशय यह है कि प्राचीन काल में देवताओं ने अग्निरूप तेज के द्वारा वृत्र का वध किया था और वह तेजःस्वरूप अग्नि इससे व्यथित नहीं हुआ अतः आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है ।।३।।

इसके अनन्तर सोमदेवताक चरु होता है । वह इसलिये किया जाता है कि सोम राजा से अधिष्ठित देवताओं ने सोम के द्वारा वृत्र का वध किया था इसलिये वे सोम राजा वाले हैं और इसीलिये सौम्य चरु की आहुति दी जाती है[1] ।।४।।

तदनन्तर द्वादशकपाल व अष्टाकपाल सवितृदेवताक पुरोडाश किया जाता है[2] क्योंकि सविता ही देवताओं का प्रेरक प्राण है । सविता की प्रेरणा से ही देवताओं ने वृत्ररूप असुर का वध किया था अतः सावित्र पुरोडाश की आहुति दी जाती है ।।५।।

इसके बाद सरस्वतीदेवताक चरु होता है । पारमेष्ठ्य सरस्वान् से उत्पन्न होने के कारण वाक् को सरस्वती कहा जाता है। वृत्र को मारने के लिए उद्यत इन्द्र से वाक् प्रसन्न हुई और उसने कहा इस पर प्रहार करो. इसे मारो । इसी वाक् से प्रोत्साहित होकर इन्द्र ने वृत्र को मारा । इस प्रकार सरस्वती वाक् भी वृत्रवध में कारण है अतः सरस्वतीदेवताक चरु की आहुति दी जाती है ।।६।।

तदनन्तर पूषदेवताक चरु होता है । यह पृथिवी ही पूषा प्राण है । इसी ने वृत्र को वध करने के लिए इन्द्र को समर्पित किया । इस पृथिवी के द्वारा प्रदत्त वृत्र को देवताओं ने मारा । अतः पूषारूप पृथिवी को भी वृत्रवध में कारण होने से पूषदेवताक चरु की आहुति दी जाती है ।।७।।

१—यद्यपि आग्नेय प्रकाश द्वारा तमोमय असुरों (वृत्र) का नाश देवताओं ने किया था तथापि आग्नेय प्रकाश का कारण सोमाहुति ही है। सोमाहुति के बिना प्रकाश संभव नहीं है । अन्नाद अग्नि की सत्ता अन्नमय सोम पर ही निर्भर है । अतः देवताओं ने सोम के द्वारा वृत्ररूप असुर का नाश किया, यह यथार्थ है ।

२—'सावित्रोऽष्टाकपालो द्वादशकपालो वा' (का. श्रौ. सू. ५।४)

तत्पश्चात् इन्द्राग्निदेवताक द्वादशकपाल पुरोडाश होता है । इस इन्द्राग्निदेवताक याग के द्वारा ही देवताओं ने वृत्र को मारा था। क्योंकि अग्नि तेज:स्वरूप है और इन्द्र इन्द्रियप्रदत्त वीर्य है। इन्हीं दोनों अग्नि व इन्द्ररूप वीर्यों के द्वारा देवताओं ने वृत्र का वध किया था। अपि च अग्नि ब्रह्मरूप है और इन्द्र क्षत्ररूप। इन्हीं दोनों ब्रह्मरूप व क्षत्ररूप का आलम्बन कर ब्रह्म और क्षत्र-वीर्य को परस्पर सहायक बनाकर इन्हीं दोनों वीर्यों से वृत्र का वध किया था। अत: द्वादशकपाल ऐन्द्राग्न पुरोडाश दिया जाता है ॥८॥

तदनन्तर महेन्द्रदेवताक चरु होता है। इसकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा है कि वृत्रवध से पूर्व इन्द्र इन्द्र ही कहलाता था किन्तु वृत्रवध के पश्चात् वह महेन्द्र बन गया जिस प्रकार एक राजा अन्य राजाओं पर विजय प्राप्त कर महाराज बन जाता हैं। इसलिए महेन्द्र चरु किया जाता है। अथवा चरु के द्वारा इस इन्द्र को ही वृत्रवधकार्य सम्पन्न करने के लिए महान् बनाया जाता है। अत: माहेन्द्र चरु की आहुति दी जाती है ॥९॥

इसके बाद विश्वकर्मदेवताक एककपाल पुरोडाश होता है। साकमेधों से यजन करने वाले वृत्र को जीतने वाले देवताओं का यह कर्म निरवशेष हो गया और उसका फल सर्वविजय भी उनने प्राप्त कर लिया। उसी प्रकार अब भी साकमेधों से यजन करने वाले शत्रुविजयी यजमान का इस महाहवि के अनुष्ठान से कर्म निरवशेष हो जाता है और सर्वविजयरूप फल भी प्राप्त हो जाता है। अतः इस विश्मकर्मदेवताक एककपाल पुरोडाश का हवन किया जाता है ॥१०॥

इस महाहविर्याग से यजन कर देवता प्रजाति और श्री से समृद्ध हो गये। जो इस रहस्य को जानता हुआ इस महाहविर्याग से यजन करता है वह भी इसी प्रजाति व श्री को प्राप्त करता है ॥११॥

इति महाहविर्याग:।

साकमेधान्तर्गत महाहविर्याग (महेन्द्रयाग)

(भाष्य) हमारे सारे यज्ञ प्राकृतिक यज्ञों की भित्ति पर अवलम्बित है। हम जिन-जिन देवताओं को जो-जो आहुति दे रहे हैं, वे आहुतियाँ प्राकृत यज्ञ में स्वत एव उन्हें मिलती हैं। वे ही देवता हमारे अध्यात्म में रहते हैं। बस उन्हीं को समृद्ध

बनाने के लिए हम उन्हीं प्राकृतिक आहुतियों से आज इस यज्ञ को करते हैं। हमने यज्ञविद्या सीखी है देवताओं से जो कि भुवनस्वर्ग के रहने वाले थे एवं विग्रहवान् थे, उन्होंने उस प्रकृति की लीला के अनुसार यज्ञविद्या का वितान किया था। बस उन्होंने जैसा हमें उपदेश दिया- आत्मबलवृद्ध्यर्थ बिना ननु नच के हमने वैसा ही किया। हमें विज्ञान का रहस्य पूर्णतया ज्ञात नहीं है क्योंकि हमारी दिव्यदृष्टि नहीं है। भुवनस्वर्गवासी देवताओं की वह दृष्टि थी। अतएव उनके द्वारा बतलाए हुए मार्ग को आँख मूंदकर हमें मान लेना चाहिए। इसी अभिप्राय से श्रुतियों में सैकड़ों स्थानों पर लिखा रहता है — "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" बस इसी नियम का स्मरण दिलाते हुए एवं साथ ही में वैज्ञानिक भाव को ओर लक्ष्य कराते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं — साकमेधों का वृत्रनाशस्वरूप जो फल बतलाया गया है वह वास्तव में इसी महाहविर्याग का है — इसीलिये कहते हैं। देवताओं ने इस महाहविर्याग से वृत्रासुर को मार डाला। जो विजय आज हम इन देवताओं की देख रहे हैं, उसी विजिति को देवताओं ने इस महाहविर्याग से ही जोता। साकमेध और महाहवि कार्त्तिक में किया जाता है। आप्यप्राण को ही वृत्रासुर बतलाया गया है। इस कार्त्तिक में पार्थिव पुरोडाशादि को आहुति हुआ करती है। उसी से देवप्राण बलिष्ठ हो जाता है एवं आप्यप्राण (चौमासा) के बाद में कार्त्तिक आ जाता है। कार्त्तिक के बाद में आप्यप्राण का जो विनाश एवं तत्प्रयुक्त देवताओं की विजय होती है वह इसी प्राकृतिक महाहविर्याग से होती है। यह तो हुआ प्राकृतिक विज्ञान। इसी प्रकार से उस प्रकृतियज्ञ के अनुसार हो मनुष्य असुर एवं प्राण असुर उभयविध असुरों को मारने के लिए यह महाहविर्याग किया था। बस इसी के प्रभाव से भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने असुरों को परास्त किया था। एवं प्राणदेवता इसी याग के बल से आज भी आप्यप्राण को परास्त कर रहे हैं। बस इन्हीं दोनों भावों को लक्ष्य में रखकर "महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नुः" कहा गया है।

तो जैसे देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी तद्वत् आज यह यजमान भी अपने पाप्मा उभयविध शत्रुओं का समूल विनाश करता है। एवं उसी प्रख्याति को प्राप्त करता है। इसी फलकामना के लिए ही तो यजमान महाहविर्याग से देवताओं का यजन करता है। 'तस्माद्वा एष यजते।' इति ॥१॥

"तस्यावृत्"। इस महाहवि की पद्धति बतलाते हैं — उत्तरवेदिनिवपन, पृषदाज्यग्रहण, अग्निमन्थ आदि जो-जो कार्य वरुणप्रघासेष्टि में होते हैं वे ही यहां भी होते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं – ऋत्विक् लोग उत्तरवेदि को कुशा से आच्छादित करते हैं। वेदि पर कुशा का आस्तरण करते हैं। "उपकिरन्त्युत्तरवेदिम्"। एवं दधिमिश्रित आज्य को आहुति के लिए रखते हैं "गृह्णन्ति पृषदाज्यम्"। अग्नि का मन्थन करते हैं "मन्थन्त्य-

ग्निम्"। वरुणप्रघासवत् इस महाहवि में भी ६ ही प्रयाज होते हैं। ६ ही अनुयाज होते हैं। "नवप्रयाजं भवति नवानुयाजम्"। तीन समिष्टयजु होते हैं।"त्रीणि समिष्टयजूंषि भवन्ति" इसके बाद वैश्वदेवेष्टि में होने वाली पाँच हवियाँ होती हैं। उनके नाम ये हैं— १. आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश २. सौम्य चरु ३. सावित्र द्वादशकपाल किं वा अष्टाकपाल पुरोडाश ४. पौष्ण चरु ५. सारस्वत चरु।'अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति'।इति।।२।। ये पाँचों आहुतियाँ तो प्रजोत्पत्ति के लिए दी जाती हैं। यहाँ तो बलाधान करना है फिर इन आहुतियों का इस महाहवि में क्या काम। बस इसी का उत्तर देते हैं– क्या प्रजोत्पत्ति, क्या रक्षा, क्या बलाधान सारा कार्य्य इन्हीं देवताओं से तो होता है। ऐसी दशा में बलाधान के लिए भी इन्हीं का यजन होना आवश्यक है। वैश्वदेवी इष्टि में जिन्हें दैवत, भौतिक, सृष्टि का निर्माणकर्त्ता बतलाया था वे ही शत्रु का भी नाश एवं बलप्रदान करने वाले हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं इस महाहविर्यज्ञ में जो कि आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश होता है, इसका कारण बतलाते हैं – स यदाग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति (तदुच्यते) देवताओं ने इस अग्नि के तेज से इस वृत्र को मार डाला। भभकता हुआ वह तेजःस्वरूप अग्नि उस वृत्रासुर के आक्रमण से जरा भी नहीं घबराया। तमोमय आप्यप्राण का नाम असुर है और शुक्लप्राण का नाम देवता है। देवता सारे अग्निमय ही हैं। अग्नि प्रकाशमय है। इसके सामने तमोमय असुरप्राण की चल ही क्या सकती है। अपिच भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने भी तो इस अग्नि को अपना अनीक (सेनापति) बनाकर वृत्र से युद्ध किया था। चूंकि शत्रु को नष्ट करने के लिए देवताओं ने अग्नि को ही आगे किया था। वैसे ही अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश करता हुआ यह यजमान आज इस अपने शत्रु को परास्त करता है। बस इसीलिए "आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश" किया जाता है। "तस्मादग्नेयो भवति" इति। अग्नि की मात्रा शरीर में जितनी अधिक रहती है, आत्मा उतना ही बलिष्ठ होता है एवं आत्मा जितना प्रबल होता है, शत्रु उतने अधिक उस मनुष्य से डरा करते हैं। अतः अग्नि का यजन तो अग्नि को आत्मसात् करने के लिए करना ही चाहिए।।३।।

इस के अनन्तर जो सौम्य चरु होता है उसकी उपपत्ति बतलाते हैं – "अथ यत् सौम्यश्चरुर्भवति तदुच्यते"इति। सोम है राजा जिनका ऐसे देवताओं ने इस सोम के बल से ही इस वृत्रासुर को मार डाला। अग्नि अन्नादस्वरूप है, वह हर समय खुराक चाहता रहता है। यदि उसमें सोम की (अन्न की) आहुति पड़ती रहती है तो यह सदा प्रज्वलित रहता है। सोम ही से अग्नि में प्रकाश होता है। सोम दाह्य पदार्थ है। अग्नि प्राण के साथ मिलते ही सोम चमक पड़ता है। अग्नि में ताप अवश्य है किन्तु प्रकाश नहीं। प्रकाश सोमसम्बन्ध से ही उत्पन्न होता है। अग्नि में जब राल आदि की अथवा घृत(सोम)की आहुति

दी जाती है, तो अग्नि एकदम से भभक उठती है। कहने का तात्पर्य यही है कि अग्नि में प्रकाश सोमाहुति से ही उत्पन्न होता है। प्रकाश ही तमोमय प्राण का विरोधी है। अतः अग्नि को प्रकाशयुक्त बनाकर असुरों को मारने में सोम का भी हाथ है। बिना सोम के अग्नि अकेला व्यर्थ है। प्रकृतियज्ञ में जो यह प्रकाश दीख रहा है वह अग्नि सोम के मेल ही से उत्पन्न हुआ समझना चाहिए। इसी सोमाहुति से - सौम्यचरु से - तमोमय प्राण का नाश हो रहा है एवं देवताओं (शुक्लप्राण) की विजय हो रही है। चूंकि यजमान को वैध उपायों से आत्माग्नि प्रज्वलित कर शत्रु का नाश करना है अतएव प्रकृतियज्ञवत् इसे भी अवश्य ही सौम्यचरु करना चाहिए। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं — सोमेन ह वा एनं (वृत्रम्) राज्ञाघ्नन् सोमराजान एव (सोमो राजा येषां ते देवाः) तस्मात् सौम्यश्चरु-र्भवति ।।४।।

इसके बाद जिस लिए सावित्रद्वादशकपाल किंवा अष्टाकपाल पुरोडाश होता है, उसका कारण बतलाते हैं–

अथ यत् सावित्रो द्वादशकपालो वा पुरोडाशो भवति तदुच्यते। सविता ही देवताओं के प्रसविता हैं। देवता जिस काम को करना चाहते हैं, उसकी प्रेरणा सावित्रप्राण द्वारा ही होती है। यदि देवताओं ने अग्नि और सोम को शत्रुविनाश के लिए भेज दिया और सविता का प्रसव (प्रेरणा) नहीं, तो दोनों का भेजना व्यर्थ है। यच्च यावत् प्राणों का प्रसविता प्रेरयिता सविता प्राण ही है। सविता से प्रेरित होकर ही देवताओं ने वृत्रासुर को मारा था। बस इसी प्रकार से अपने यज्ञ को सवितृप्रसूत करने के लिए ही इस यज्ञ में सावित्र द्वादशकपाल किंवा अष्टाकपाल पुरोडाश किया जाता है।

"सविता वै देवानां प्रसविता। सवितृप्रसूता हैवेनमघ्नन्। तस्मात् सावित्रो भवति" ।५। इसके बाद जिस प्रयोजन से सारस्वत चरु होता है वह कारण बतलाते हैं — "अथ यत् सारस्वतश्चरुर्भवति" तदुच्यते। परमेष्ठिसमुद्र को ही सरस्वान् कहते हैं। वाक् उसी सर-स्वान् से उत्पन्न होती है अतएव वाक् को "सरस्वती" कहा जाता है। वाक् ही ने तो देवताओं को "मारो मारो, देखना जाने न पावे, आप तो बड़े वीर हैं, बड़े बहादुर हैं" इत्यादि नाना प्रकार से मस्त किया था। बस उसी मस्ती में आकर उन्हीं प्रोत्साहित करने वाले वाक्यों से उत्साहित होकर देवताओं ने असुर को मारा था। जिससे क - च - ट - त -प इत्यादि शब्द उत्पन्न होते हैं, ध्वनि उत्पन्न होती है, उसी मौलिक तत्त्व को वाक् कहते हैं। अखिल विश्व में आसमन्तात् वह वाक्समुद्र भरा हुआ है। इसीलिए "वाचीमा विश्वा भुवनानि सर्वा(सर्वाणि) कहा जाता है। देवता सारे वाङ्मय हैं। प्रत्येक पदार्थ में इस अमृतवाक् का एक से ३३ तक मण्डल रहता है। चूंकि यह मण्डल वाक् का रहता है

एवं यह ३३ तक रहने वाला वाक् ६ स्तोमों में विभक्त रहता है। अतएव इस वाङ्मय मण्डल को "वषट्कारमण्डल" कहा जाता है। सारे देवता इसी वाक् के आधार पर रहते हैं वाक् को ही दूसरे शब्दों में हम "अग्नि" कह सकते हैं। इसीलिये "वागेवास्योपनिषत्" कहा जाता है। इसी वाक् से मार -मार इत्यादि प्रोत्साहन करने वाले वाक्य उत्पन्न होते हैं तथा यही देवताओं का स्वर है। क्योंकि देवता अग्निमय ही तो हैं। बस इसी प्राकृतिक वाक्-आहुति के अनुसार यहाँ भी सारस्वत चरु किया जाता है इससे। "जहि जहि, प्रहर, प्रहर इस भाव का सम्बन्ध इस यज्ञ में हो जाता है। ऐसा होने से अवश्य ही यजमान प्रोत्साहित हो शत्रु का नाश कर डालता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं"वाग्वै सरस्वती। वागु हैवानु-ममाद प्रहर - जहीति। तस्मात् सारस्वतश्चरुर्भवति।'

इसके बाद जो कि पौष्ण चरु होता है, उसका कारण बतलाते हैं। अथ यत्पौष्णश्चरु-र्भवति तदुच्यते। इसी पृथिवी को पूषा कहते है। सूर्य के ही एक प्राणविशेष का नाम पूषा प्राण है। पशुप्राण का अधिष्ठाता यह पूषाप्राण हैं। सूर्य से अवाची सृष्टि भौतिक सृष्टि कहलाती है एवं उर्ध्वा सृष्टि दैवत सृष्टि कहलाती है। इस भौतिक सृष्टि को ही पशुसृष्टि कहते हैं। अग्निसोमात्मक दैवतसृष्टि के उच्छिष्ट से इस भौतिक सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा उच्छिष्ट को ही कहते हैं पशु। अतएव इस भौतिक सृष्टि को "पशु" कहते हैं। दैवत सृष्टि अदृश्य है। भौतिक सृष्टि दृश्य है। चूंकि इस सृष्टि (भौतिक) को हम देख रहे हैं अतएव इसे "पश्यन्ति" इस व्युत्पत्ति से"पशु"कहते हैं। यह सारा पृथिवी का पिण्ड पशु है। प्राण के अधिष्ठाता "पूषा" हैं। बस इसी अभिप्राय से "इयं वै पृथ्वी पूषा"कहा जाता है। इस पृथ्वी ने ही वध के लिए इस वृत्र को देवताओं को सौंप दिया। इसी से प्रतिदत्त इस वृत्र को देवताओं ने मार डाला। तात्पर्य यही है कि जब तक किसी प्राण की पृथ्वी से प्रतिष्ठा नहीं उखड़ती तब तक उसका विनाश नहीं हो सकता। चूंकि पृथ्वी के ऊपर के भाग से वृत्र की प्रतिष्ठा अग्निप्राधान्यात् उखड़ गई तभी देवता लोग इसे मार सके। तो जैसे अग्नि आदि इसके मारने में सहायक हैं तद्वत् इस पृथ्वी ने भी इसका नाश करवाने में साथ दिया। बस इसीलिये इस पृथ्वी के लिए भी चरु दिया जाता है। 'इयं हैवैनं बधाय प्रति प्रददौ। अनया हैवैनं प्रतिपत्तं जघ्नु:। तस्मात् पौष्णश्चरुर्भवति ॥७॥

इसके बाद में जो कि ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश होता है, इसका कारण बतलाते हैं "अथैन्द्राग्नो द्वादशकपाल: पुरोडाशो भवति" (तदुच्यते) देवताओं ने इस ऐन्द्राग्न पुरो-डाश से वृत्र को मार डाला। पृथ्वी के देवता अग्नि हैं। द्यु के देवता इन्द्र हैं। इधर से अंगिरा अग्नि ऊपर की ओर जाता है जैसा कि श्रुति कहती है —

'इत एत उदारुहन् दिव: पृष्ठान्यारुहन्' इति।

एवं उधर से इन्द्र (सूर्य) पृथ्वी की ओर आया करता है। दोनों ही प्राणात्मक और आग्नेय हैं। भला इन दोनों के बीच में बेचारे तमोमय प्राण की असुर की कहाँ गति है। वे दोनों ही अपने प्रबल प्रताप से द्यावापृथिवी के बीच में से अन्धकार को हटा देते हैं। इस प्रकार से अन्धकारस्वरूप वृत्र को मारने में इन्हीं की तो प्रधानता है। अपि च भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने जो मनुष्य असुर को मारा था, तो इसी इन्द्रियबल के आधार पर एवं अग्निबल के आधार पर मारा था। इन्द्रियवीर्य ही को तो 'इन्द्र' कहते हैं। बल के सीगे के अधिष्ठाता इन्द्र ही तो हैं। इसीलिए यास्क मुनि कहते हैं — या च का च बल कृतिरिन्द्रकर्म्मं एव तत् • इति। अपि च अग्नि ब्रह्मस्वरूप है। और इन्द्र क्षत्रस्वरूप है। बस इन क्षत्रवीर्य और ब्रह्मवीर्य दोनों का आलम्बन प्राप्त कर दोनों को अपना संहारक बना इन दोनों के बल से द्यावापृथिव्य देवताओं ने इस वृत्र का नाश कर डाला। बस "यद्वै" के अनुसार अपने इस शत्रुनाशक यज्ञ में यह यजमान भी ऐन्द्राग्न द्वादशकपाल पुरोडाश करता है।

"तस्मादैन्द्राग्नो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति" इति ॥८॥ इसके बाद जो कि माहेन्द्र चरु होता है इसका कारण बतलाते हैं – "माहेन्द्रश्चरुर्भवति" तदुच्यते। वृत्रासुर के पहिले इन्द्र इन्द्र ही था, अब वृत्र को मारने के बाद महेन्द्र हो गया जैसे कि अपने से समान कक्षा वाले अन्य राजाओं पर विजय प्राप्त किया हुआ राजा महाराजा कहलाता है। बस आज इन्द्र ने वृत्र को मार डाला, अतएव इस यज्ञ में माहेन्द्र चरु किया जाता है – 'इन्द्रो वाऽस्य पुरा वृत्रस्य वधात्। अत्र वृत्रं हत्वा यथा महाराजो विजिग्यान एवं महेन्द्रोऽभवत्। तस्मान्माहेन्द्रश्चरुर्भवति।' अपिच माहेन्द्र चरु में महत्त्व देता हुआ यजमान वृत्र के वध के लिए आज माहेन्द्र चरु करता है। अर्थात् आज चूंकि इन्द्र ने वृत्र को मार डाला है अतः स्तुति का भाव दिखलाते हुए इन्द्र का गौरव बढ़ाते हुए यह यजमान ऐन्द्र चरु न करके "माहेन्द्र" चरु करता है। तात्पर्य यही है – स्तुतिस्वरूप ही 'महेन्द्र' करता है। "तस्माद्वेव महेन्द्र चरुः" ॥९॥ इसके बाद वैश्वकर्म देवता काय एककपाल पुरोडाश जिस लिए कि दिया जाता है, उसका कारण बतलाते हैं – "अथ वैश्वकर्मण एककपालः पुरोडाशो भवति' इति। साकमेध यज्ञों से यज्ञ करने वाले जीवित देवताओं का आज सारा कर्म निशेषेण कृत है अर्थात् निर्विघ्न समाप्त हो गया। फल प्राप्त हो गया। अर्थात् वृत्रवधस्वरूप फल इस महाहवि से उन्हें मिल गया। बस इसी प्रकार से साकमेधों से यज्ञ करने वाले अतः विजय प्राप्त करने वाले इस यजमान का इस महाहवि से सारा कर्म निःशेषेण निर्विघ्नतया समाप्त हो जाता है एवं सारा कर्म जित अर्थात् सफल हो जाता है। बस इसीलिये सारे जगत् का कर्म है जिसका ऐसे विश्वकर्मदेवता के लिए विश्वकर्मदेवताक काय एककपाल पुरोडाश दिया जाता है।

"तस्माद् वैश्वकर्म्मण एककपालः पुरोडाशो भवति ॥" इति ॥१०॥

इसी महाहवि यज्ञ से यजन करके देवता आज उस पद पर पहुँच गए उस श्री को प्राप्त हो गए जो कि श्री और प्रजाति आज हम देख रहे हैं। बस उसी प्रजाति को उसी श्री को प्राप्त हो जाता है जो कि विद्वान् इस महाहवि यज्ञ से देवताओं का यजन करता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रजाति और श्री प्राप्ति के लिए ही तो आज यह यजमान इस महाहवि से देवताओं का यजन कर रहा है। तस्माद् वा ऽएतेन यजते ॥११॥

प्रथमं ब्राह्मणम् १ — ५– ४ पञ्चमाध्यायश्च समाप्तः।

अथ पितृयज्ञः

महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः। तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्। अथ यानेवैषां तस्मिन् सङ्ग्रामेऽघ्नन्, तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त। पितरो वै त आसन्। तस्मात् पितृयज्ञो नाम ॥१॥

तद्वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। एते ते ये व्यजयन्त। शरद्, हेमन्तः, शिशिरः। तऽएते यान् पुनः समैरयन्त ॥२॥

अथ यदेष एतेन यजते। तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कञ्चन घ्नन्तीति देवा अकुर्वन् इति न्वेवैष एतत् करोति। यमु चैवैभ्यो देवा भागमकल्पयन्। तमु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति। यानु चैवैतदवति। स्वानु चैवैभ्य एष एतद्भागं करोति। यानु चैव देवाः समैरयन्त तानु चैवैतदवति। स्वानु चैवैतत् पितृव्यान् श्रेयांसं लोकमुपोन्नयति। यदु स पितृभ्यः सोमवद्भ्यः षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति, सोमाय वा पितृमते। षड्वा ऋतवः, ऋतवः पितरः। तस्मात् षट्कपालो भवति ॥४॥

अथ पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः अन्वाहार्यपचने धानाः कुर्वन्ति। ततोऽर्धाः पिंषन्ति। अर्धा इत्येव धाना अपिष्टा भवन्ति। ता धानाः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः ॥५॥

अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः निवान्यायै दुग्धे सकृदुपमथितो एकशलाकया मन्थो भवति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात् सकृदुपमथितो भवति। एतानि हवींषि भवन्ति ॥६॥

तद्ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः। अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः। अथ ये ततो नान्यतरच्चन, यानग्निरेव दहन् स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः। एत उ ते ये पितरः ॥७॥

जघनेन गार्हपत्यम्, प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणाऽऽसीन एतं षट्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति। स तत एवोपोत्थायोत्तरेणान्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन्नवहन्ति। सकृत्फलीकरोति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मात् सकृत् फलीकरोति ॥८॥

स दक्षिणैव दृषदुपले उपदधाति। दक्षिणार्धे गार्हपत्यस्य षट्कपालान्युपदधाति। तद्यदेतां दक्षिणां दिशं सचन्ते - एषा हि दिक् पितॄणाम्। तस्मादेतां दक्षिणां दिशं सचन्ते ॥९॥

अथ दक्षिणेनान्वाहार्यपचनं चतुःस्रक्ति वेदिं करोति। अवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति। चतस्रो वा अवान्तरदिशः। अवान्तरदिशो वै पितरः। तस्मादवान्तरदिशोऽनु स्रक्तीः करोति ॥१०॥

तन्मध्येऽग्निं समादधाति। पुरस्ताद्धै देवाः प्रत्यञ्चो मनुष्यानभ्युपावृत्ताः, तस्मात्तेभ्य. प्राङ् तिष्ठन् जुहोति। सर्वतः पितरः। अवान्तरदिशो वै पितरः। सर्वत एव हीमा अवान्तरदिशः। तस्मान्मध्येऽग्निं समादधाति ॥११॥

स तत एव प्राक्स्तम्बयजुर्हरति। स्तम्बयजुर्हृत्वाऽथेत्येवाग्रे परिगृह्णाति अथेति, अथेति। पूर्वेण परिग्रहेण परिगृह्य लिखति। हरति-यद्धार्यं भवति। स तथैवोत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्णाति। उत्तरेण परिगृहेण परिगृह्य प्रतिमृज्याह 'प्रोक्षणीरासादय' इति। आसादयन्ति प्रोक्षणीः। इध्मं वर्हिरुपसादयन्ति। स्रुचः सम्मार्ष्टि। स यज्ञोपवीती भूत्वाऽऽज्यानि गृह्णाति ॥१२॥

तदाहुः द्विरुपभृति गृह्णीयात्। द्वौ ह्यत्रानुयाजौ भवत इति। तद्वष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयात्। नेद्यज्ञस्य विधाया अयानीति तस्मादष्टावेव कृत्व उपभृति गृह्णीयात्। आज्यानि गृहीत्वा स पुनः प्राचीनावीती भूत्वा ॥१३॥

प्रोक्षणीरध्वर्युरादत्ते। स इध्ममेवाग्रे प्रोक्षति, अथ वेदिम्। अथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति। तत्पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति। तत् प्रोक्ष्य उपनिनीय,विस्रंस्य

ग्रन्थिम्। न प्रस्तरं गृह्णाति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मान्न-प्रस्तरं गृह्णाति ॥१४॥

अथ सन्नहनमनुविस्रंस्य अपसलवि त्रिः परिस्तृणन् पर्येति। सोऽपसलवि त्रिः परिस्तीर्य यावत् प्रस्तरभाजनं तावत् परिशिनष्टि। अथ पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति। तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति तद् यानेवामूंस्त्रयान् पितॄनन्व-वागात् तेभ्य एवैतत् पुनरपोदेति इमं स्वं लोकमभि। तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति ॥१५॥

स दक्षिणेनैव परिधीन् परिदधाति। दक्षिणा प्रस्तरं स्तृणाति। नान्तर्द-धाति विधृती। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मान्नान्तर्दधाति विधृती ॥१६॥

स तत्र जुहूमासादयति। अथ पूर्वामुपभृतमथ ध्रुवामथ पुरोडाशमथ धानाः, अथ मन्थमासाद्य हवींषि संमृशति ॥१७॥

ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा, इत्थाद्यजमानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः। पुरस्तादग्नीत् ॥१८॥

तेनोपांशु चरन्ति। तिर इव वै पितरः। तिर इवैतद् यदुपांशु। तस्मादु-पांशु चरन्ति ॥१९॥

परिवृते चरन्ति। तिर इव वै पितरः। तिर इवैतत् परिवृतम्। तस्मात् परिवृते चरन्ति ॥२०॥

अथेध्ममभ्यादधदाह–'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' इति। स एकामेव होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। तस्मादेकां होता सामिधेनीं त्रिरन्वाह ॥२१॥

सोऽन्वाह–'उशन्तस्त्वा निधीमहि, उशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषेऽअत्तवे'। इति। अथ–'अग्निमावह, सोममावह, पितॄन्

सोमवत आवह, पितॄन् बर्हिषद आवह, पितॄनग्निष्वात्तानावह, देवान् ३ आज्यपान् ३ आवह, अग्निं होत्रायावह, स्वं महिमानमावह, इत्यावाह्योपविशति ॥२२॥

अथाश्राव्य न होतारं प्रवृणीते। पितृयज्ञो वा अयम्, नेद्धोतारं पितृषु दधानीति। तस्मान्न होतारं प्रवृणीते। 'सीद होतः' इत्येवाह। उपविशति होता होतृषदने। उपविश्य प्रसौति। प्रसूतोऽध्वर्युः स्रुचावादाय प्रत्यङ्ङतिक्रामति। अतिक्रम्याश्राव्याह—'समिधो यज' इति। सोऽपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान् यजति। प्रयाजा वै बर्हिः। नेत्प्रजाः पितृषु दधानीति। तस्मादपबर्हिषश्चतुरः प्रयाजान् यजति। अथाज्यभागाभ्यां चरन्ति। आज्यभागाभ्यां चरित्वा ॥२३॥

ते सर्वं एव प्राचीनावीतिनो भूत्वा एतैर्वै हविर्भिः प्रचरिष्यन्तः इत्याद् यजमानश्च ब्रह्मा च पुरस्तात् परीतः पश्चादग्नीत्। तदुताश्रावयन्ति— 'ॐ स्वधा' इति। 'अस्तु स्वधा' इति प्रत्याश्रवणम्। 'स्वधा नमः' इति वषट्कार ॥२४॥

तदु होवाचासुरिः। आश्रावयेयुरेव, प्रत्याश्रावयेयुः, वषट् कुर्युः, नेद्यज्ञस्थ विधाया अयामेति ॥२५॥

अथाह 'पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहि' इति। 'सोमाय वा पितृमते'। स द्वे पुरोऽनुवाक्ये अन्वाह। एकया वै देवान् प्रच्यावयन्ति, द्वाभ्यां पितॄन्। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। सस्माद् द्वे पुरोऽनुवाक्ये अन्वाह ॥२६॥

स उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति। स तेनैव सह धानानाम्। तेन सह मन्थस्य। सकृदवदधाति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। प्रत्यनक्त्यवदानानि। नातिक्रामति। इत एवोपोत्थाय आश्राव्याह—'पितॄन् सोमवतो यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥२७॥

अथाह–'पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽनुब्रूहि' इति। स उपस्तृणीत आज्यम्। अथासां धानानामवद्यति। स तेनैव सह मन्थस्य, तेन सह पुरोडाशस्य। तत् सकृदवदधाति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। प्रत्यनक्त्यवदानानि नातिक्रामति। इत एवोपोत्थाय आश्राव्याह–'पितॄन् बर्हिषदो यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥२८॥

अथाह–'पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽनुब्रूहि' इति। स उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्य मन्थस्यावद्यति। स तेनैव सह पुरोडाशस्य, तेन सह धानानाम्। तत् सकृदवदधाति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। प्रत्यनक्त्यवदानानि। नातिक्रामति। इत एवोपोत्थाय आश्राव्याह–'पितॄनग्निष्वात्तान् यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥२९॥

अथाह–'अग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहि' इति। तत् स्विष्टकृते। हव्यवाहनो वै देवानाम्, कव्यवाहनः पितॄणाम्। तस्मादाह–'अग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहि' इति ॥३०॥

स उपस्तृणीत आज्यम्। अथास्य पुरोडाशस्यावद्यति। स तेनैव सह धानानाम्, तेन सह मन्थस्य। ततसकृदवदधाति। अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिधारयति। न प्रत्यनक्त्यवदानानि। नातिक्रामति। इत एवोपोत्थाय, आश्राव्याह–'अग्निं कव्यवाहनं यज' इति। वषट्कृते जुहोति ॥३१॥

स यन्नातिक्रामति। इत एवोपोत्थाय जुहोति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। अथ अथ यत् सकृत् सकृत् सर्वेषां हविषां समवद्यति। सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः। अथ यद् व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यति। ऋतवो वै पितरः ऋतूनेवैवत् व्यतिषजति। तस्माद् व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यति ॥३२॥

तद्धैके एतमेव होत्रे मन्थमादधति। तं होतोपहूयावैव जिघ्रति। तं ब्रह्मणे प्रयच्छति। तं ब्रह्मा वैव जिघ्रति। तमग्नीधे प्रयच्छति। तमग्नीदवैव

जिघ्रति। एतन्न्वेवैतत् कुर्वन्ति। यथात्वेवेतरस्य यज्ञस्येडाप्राशित्रं समवघ्नन्ति एवमेवैतस्यापि समवघ्येयुः। तानुपहूयावैव जिघ्रन्ति, न प्राश्नन्ति। प्राशितव्यं त्वेव वयं मन्यामहे, इति ह स्माहासुरिर्यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वतीति ॥३३॥

अथ यतरो दास्यन् भवति—यद्यध्वर्युर्वा, यजमानो वा, स उदपात्रमादाय अपसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति। स यजमानस्य पितरमवनेजयति 'असाववनेनिक्ष्व' इति। 'असाववनेनिक्ष्व' इति पितामहम्। 'असाववनेनिक्ष्व' इति प्रपितामहम्। तद् यथाऽऽशिष्यतेऽभिषिञ्चेद् एवं तत् ॥३४॥

अथास्य पुरोडाशस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते, धानामवदाय सव्ये पाणौ कुरुते, मन्थस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते ॥३५॥

स येमामवान्तरदिशमनु स्रक्तिः— तस्यां यजमानस्य पित्रे ददाति 'असावेतत्ते' इति। अथ येमामवान्तरदिशमनुस्रक्तिः तस्यां यजमानस्य पितामहाय ददाति 'असावेतत्ते' इति। अथ येमामवान्तरदिशमनुस्रक्तिस्तस्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददाति—'असावेतत्ते' इति। अथ येमामवान्तरदिशमनु स्रक्तिस्तस्यां निमृष्टे— 'अत्र पितरो मादयध्वं, यथाभागमावृषायध्वम्' इति (वा. सं. २।३१) यथाभागमश्नीतेत्येवैवदाह। तद् यदेवं पितृभ्यो ददाति तेनो स्वान् पितॄनेतस्माद्यज्ञान्नान्तरेति ॥३६॥

ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा उदञ्च उपनिष्क्रम्य आहवनीयमुपतिष्ठन्ते। देवान्वा एष उपावर्तते य आहिताग्निर्भवति, यो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते। अथैतत् पितृयज्ञेनेवाचारिषुः तद् देवेभ्यो निह्नवते ॥३७॥

ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठन्ते। इन्द्रो ह्याहवनीयः। 'अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती। योजान्विन्द्र ते हरी ॥१॥ सुसन्दृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि। प्रनूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशां अनु। योजान्विन्द्र ते हरी ॥२॥ इति (वा. सं. ३।५१।५२)॥३८॥

अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते। मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन। पितृ्णां च मन्मभिः'। आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं संचेमहि॥' इति (वा. सं. ४।५३-५५) पितृयज्ञेनेव वा एतदचारिषुः—तद्ध खलु पुनर्जीवा-नपिपद्यन्ते। तस्मादाह—जीवं व्रातं सचेमहीति॥३९॥

अथ यतरो ददाति स पुनः प्रचीनावीती भूत्वा, अभिप्रपदय जपति—'अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत।' इति (वा. सं. २।३१) यथा-भागमाशिषुरित्येवैतदाह॥४०॥

अथोदपात्रमादाय पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति। स यजमानस्य पितरमवनेजयति — 'असाववनेनिक्ष्व' इति। 'असाववनेनिक्ष्व' इति पितामहम्। 'असाववनेनिक्ष्व' इति प्रपितामहम्। तद् यथा जक्षुषेऽभिषिञ्चेद् एवं तत्। तद्यत्पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति 'प्रसलवि न इदं कर्मानुसन्तिष्ठातै' इति। तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति॥४१॥

अथ नीविमुद्वृह्य नमस्करोति। पितृदेवत्या वै नीविः। तस्मान्नीविमुद्-वृह्य नमस्करोति। यज्ञो वै नमः। यज्ञियानेवैनानेतत् करोति। षट्कृत्वो नमस्करोति। षड् वा ऋतवः। ऋतवः पितरः। तद् ऋतुष्वेवैतद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति। तस्मात् षट्कृत्वो नमस्करोति। 'गृहान्नः पितरो दत्त' इति। गृहाणां ह पितर ईशते। एषो एतस्याशीः कर्मणः॥४२॥

ते सर्व एव यज्ञोपवीतिनो भूत्वा अनुयाजाभ्यां प्रचरिष्यन्त इत्थाद्यज-मानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः। पुरस्तादग्नीत्। उपविशति होता होतृषदने॥४३॥

अथाह-'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' 'समिधमाधायाग्निमग्नीत् समृड्ढि' इति

स्रुचावादाय प्रत्यङ् अतिक्रामति । अतिक्रम्य आश्राव्याह–'देवान् यज' इति। सोऽपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति । प्रजा वै बर्हिः—नेत् प्रजाः पितृषु दधानीति । तस्मादपबर्हिषौ द्वावनुयाजौ यजति ॥४४॥

अथ सादयित्वा स्रुचौ व्यूहति । स्रुचौ व्युह्य, परिधीन् समज्य, परिधिमभिपद्य आश्राव्याह–'इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकोय' इति। सूक्तवाकं होता प्रतिपद्यते नाध्वर्युः। प्रस्तरं समुल्लुम्पति इत्येवोपास्ते यदा होता सूक्तवाकमाह ॥४५॥

अथाग्नीदाह—'अनुप्रहर' इति । स न किञ्चनानुप्रहरति, तूष्णीमेवात्मानमुपस्पृशति ॥४६॥

अथाह–'संवदस्व' इति । 'अगानग्नीत्' । 'अगन्' । 'श्रावय' । 'श्रौषट्'। 'स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहि' इति । ऊपस्पृशत्येव परिधीन्, नानुप्रहरति । अथैतद् बर्हिरनुसमस्यति, परिधींश्च ॥४७॥

तद्धैके हविरुच्छिष्टमनुसमस्यन्ति । तदु तथा न कुर्यात्। हुतोच्छिष्टं वा एतत्। नेद् हुतोच्छिष्टमग्नौ जुहवामेति । तस्मादपो वैवाभ्यवहरेयुः प्राश्नीयुर्वा ॥४८॥

इति साकमेधपर्वणि पितृयज्ञः

पितृयज्ञ

(अनु०) ऋताग्नि तथा ऋत सोम के संयोग से ऋतु की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार ऋतु यद्यपि ऋताग्नि व ऋतसोम की समष्टि है तथापि इस में ऋताग्नि की प्रधानता मानी जाती है। ऋतुसमष्टि को ही संवत्सर कहते हैं। इन्हीं ऋतुओं से सभी पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः ऋतुसमष्टिरूप संवत्सर को प्रजापति कहा जाता है ऋताग्नि की वृद्धि व ह्रास से वसन्तादिक ऋतुओं की निष्पत्ति होती है। वसन्त, ग्रीष्म व वर्षा में ऋताग्नि की उत्तरोत्तर

वृद्धि है तथा सोम का उत्तरोत्तर ह्रास है। और शरद्, हेमन्त व शिशिर में ऋताग्नि का उत्तरोत्तर ह्रास व सोम की वृद्धि है। इस प्रकार प्रकृति में वसन्तादिक ऋतुओं में अग्निप्राधान्य के कारण प्रकाशमय प्राणरूप देवताओं की विजय होती है। तमोमय प्राण अर्थात् सोम को वृत्र कहते हैं। वसन्तादि ऋतुओं में इस तमोमय प्राण पर प्रकाशमय प्राणरूप देवताओं ने अग्निप्राधान्यात् प्रकृति में विजय प्राप्त की। इसी अभिप्राय से याज्ञवल्क्य पितृयज्ञ का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि महाहविर्याग से देवताओं ने वृत्र को मार दिया। उसी याग से देवताओं ने विजय प्राप्त की जो विजय आज प्रकृति में देवताओं की दृष्टिगोचर हो रही है। देवताओं ने वृत्रासुर संग्राम में जिनको मारा उन्हीं को पितृयज्ञ से पुनर्जीवित किया। जिनको जीवित किया वे मृत पितर थे। इसलिए यज्ञ का नाम पितृयज्ञ हुआ ॥१॥

महाहविर्याग के द्वारा जिन देवताओं ने विजय प्राप्त की थी वे वसन्त, ग्रीष्म व वर्षा थे। इन्होंने ही विजय प्राप्त की थी। पितृयज्ञ द्वारा जिन्हें पुनर्जीवित किया गया वे शरद्, हेमन्त व शिशिर ऋतुएँ थीं। क्योंकि इन्हीं ऋतुओं में ऋतसोम की वृद्धि प्रकृति में होती है ॥२॥

जो इस पितृयज्ञ से यजन करता है उसके सम्बन्धियों व यजमान को असुर नहीं मारते हैं। इसी उद्देश्य से देवताओं ने पितृयज्ञ किया था। जैसा देवताओं ने किया वैसा ही हम करें इसलिए आज भी यह पितृयज्ञ किया जाता है। भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने इन पितरों के लिए जो हविर्भाग नियत किया था उसी हविर्भाग को आज यह यजमान पितरों को देता है। देवों ने जिन पितरों को जीवित किया था उन्हीं पितरों को आज यह यजमान हविःप्रदान द्वारा तृप्त करता है। उन पितरों को तृप्त करता हुआ यह यजमान अपने ही पितृ-पितामहादि पितरों को श्रेष्ठ लोक में पहुँचाता है। क्योंकि उसके पितृपितामहादि पितर मरणानन्तर उन्हीं दिव्य पितृप्राणों में प्रविष्ट हो जाते हैं। तथा इस यजमान के अपने अनुगमन से जो प्राणी मारे जाते हैं या पीड़ित होते हैं वे सब प्राणी इस यज्ञ से पुनः अभिवृद्ध हो जाते हैं। अर्थात् यजमान के प्रज्ञापराधों से जो प्राणवैषम्य हो जाता है वह इस यज्ञ से दूर हो जाता है। अतः पितृयज्ञ करना चाहिए ॥३॥

वह (यजमान) सोमवान् पितरों के लिए अथवा पितृमान् सोम के लिए[1] षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है। ऋतु ६ होती हैं और ऋतु ही पितर हैं। अतः षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है।

तदनन्तर बर्हिषत् पितरों के लिए अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) में धाना (जौ की धानी) पकाते हैं। उस में से आधी को पीस लेते हैं और आधी धाना बिना पिसी ही रहती हैं। वे अपिष्ट धाना ही बर्हिषद् पितरों को दी जाती हैं ॥५॥

तत्पश्चात् अग्निष्वात्त पितरों के लिए निवान्या (जिसका बछड़ा मर गया है तथा जो दूसरी गाय के बछड़े से दूध देती है) गाय के दूध में प्रक्षिप्त तथा एक बार एक ही शलाका के द्वारा मथित मन्थ (धानाचूर्ण) रूप हवि दी जाती है। एक ही बार उस धानाचूर्ण का दूध के साथ मन्थन क्यों करना चाहिए इसकी उपपत्ति बतलाते हैं कि पितर सकृत्कारी होते हैं। वे पुनरावृत्ति-रहित होते हैं इसलिए एक ही बार उस चूर्ण का मन्थन किया जाता है। अन्यथा वहाँ पितरों के न रहने से आहुति देना निरर्थक होगा। उपर्युक्त तीनों हवियाँ भिन्न भिन्न पितरों के लिए होती हैं ॥६॥

सोम से यजन करने वाले पितर अर्थात् जिन्होंने सोमयाग किया है, वे सोमवान् पितर कहलाते हैं। तथा जो पक्वहविःप्रदान से (हविर्याग से) लोकों को जीतते हैं, वे पितर बर्हिषद् कहलाते हैं। और जो पितर उन दोनों में से कुछ भी नहीं करते किन्तु जिनको अग्नि ही जलाता है, वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं, अर्थात् अग्निगृहीत पितर ही अग्निष्वात्त कहलाते हैं ॥७॥

१—(क) 'पितृभ्यः षट्कपालः' 'सोमाय वा पितृमते' (का०श्रौ०सू० ५ अ० १९७-१९८)

(ख) सोमसद्, बर्हिषद्, अग्निष्वात्त भेद से त्रिविध पितरों के क्रमशः सोम, यम व अत्रि सहयोगी देव हैं। ये यद्यपि देव हैं, तथापि पितृसाहचर्य से पितर भी कहलाते हैं। अथवा तीनों देव क्रमशः अत्रि, अङ्गिरा व भृगु ऋषियों से सम्पृक्त होने के कारण पितर कहलाते हैं। सोम देवता का अत्रि से सम्बन्ध है इसी से वह पितर कहलाता है। दोनों का सम्बन्ध होने पर अत्र्यंश की जहाँ प्रधानता है वहाँ अत्रियुक्त सोम को सोमवान् पितर कहा जाता है तथा दोनों के समान होने पर 'पितृमान् सोमः' ऐसा कहा जाता है। इसी अभिप्राय से यहाँ 'पितृभ्यः सोमवद्भ्यः सोमाय वा पितृमते' ऐसा कहा गया है। इसके लिए गुरुवर्य श्रीमधुसूदनजी ओझा प्रणीत पितृसमीक्षा पृ० १९ द्रष्टव्य है।

वह अध्वर्यु गार्हपत्य के पश्चिम की तरफ प्राचीनावीती होकर (दक्षिण स्कन्ध पर यज्ञसूत्र को डालकर) दक्षिण दिशा की ओर मुख कर बैठा हुआ ही षट्कपाल पुरोडाश का ग्रहण करता है। वह गार्हपत्य के पश्चिम प्रदेश से उठकर अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) के पास उत्तर प्रदेश में दक्षिण की तरफ मुख कर खड़ा हुआ ही हवि का अवहनन करे, एक बार फलीकरण (तुषों का हटाना) करे, क्योंकि पितर सकृत्कर्मा होते हैं। पितर पराक् (अपुनरावर्तनशील) होते हैं। अतः एक बार ही फलीकरण होता है ॥८॥

वह दक्षिण की तरफ मुँह किये हुए ही हवि पीसने के लिए शिला तथा लोढ़ी रख देता है। वह गार्हपत्य के दक्षिणार्ध में ६ कपालों को रखता है[1] तब वे ऋत्विक् व यजमान दक्षिण दिशा की तरफ एकत्र हो जाते हैं। क्योंकि पितरों की दिशा दक्षिण है। इसीलिए वे दक्षिण दिशा में समवेत होते हैं। (पितर सौम्य हैं और सोम उत्तर से दक्षिण की तरफ ही जाता है। इसीलिए दक्षिणा दिक् पितरों की कहलाती है)[2] ॥९॥

तदनन्तर दक्षिणाग्नि के दक्षिण भाग की तरफ चतुष्कोण वेदि का निर्माण करे, अवान्तर दिशाओं में अर्थात् आग्नेयादि अवान्तर दिशाओं में कोणों का निर्माण करे[3]। क्योंकि चार अवान्तर दिशायें हैं। पितर भी अवान्तर दिशारूप है। अर्थात् अवान्तर दिशाओं से ही पितृप्राण वेदि में प्रविष्ट होता है। अतः अवान्तर दिशाओं की ओर ही वेदि में कोण बनाता है ॥१०॥

उस वेदि के मध्य में अग्नि को स्थापित करता है[4]। देव सदा पूर्व की तरफ रहते हैं। वे पूर्व से पश्चिमाभिमुख होकर मनुष्यों की तरफ आते हैं।। इसलिए पूर्वाभिमुख होकर ही देवताओं को आहुति देता है। परन्तु पितर सर्वतोगामी हैं। (क्योंकि पितर सौम्य हैं और सोम ऋत होने से नियत-दिग्गामी नहीं है। देवप्राण से रिक्त स्थान में पितृप्राण भर जाता है। दिशाएँ इन्द्रादि देवप्राणों

१—'दक्षिणार्द्धे कपालोपधानम्' (का०श्रौ०सू० ५।२०३)

२—'देवनुष्या दिशो व्यभजन्त – प्राचीं देवा दक्षिणां पितरः।' (तै०सं० ६।१।१।१)

३—'दक्षिणेन दक्षिणाग्निं परिवृतमुदग्द्वारं, तन्मध्ये वेदिं करोत्यवान्तरदिक्स्रक्तिमाह्यान्ते'। (का० श्रौ०सू० ५।८।२१)

४—'दक्षिणाग्निं मध्येऽस्याः करोति'। (का०श्रौ०सू० ५।८।२२)

से अवरुद्ध हैं। अतः परिशेषात् अवान्तर दिशाओं में ही पितृप्राण रहेगा। इसी अभिप्राय से अवान्तर दिशाओं को पितर बतलाया है। अवान्तर दिशायें नियत न होने से सर्वत्र सी हैं। इसीलिए किसी नियत कोण में अग्निस्थापन न कर मध्य में करते हैं, जिससे उसका सब तरफ सम्बन्ध हो सके और इस प्रकार सर्वतो वर्तमान पितृप्राण को आहुति प्राप्त हो सके ॥११॥

वह अध्वर्यु वेदिनिर्माण के अनन्तर उस वेदि पर प्राची दिशा में स्तम्बयजु (कुशमुष्टि) का हरण करता है अर्थात् कुशा रख देता है। इस पितृयज्ञ में दक्षिण दिशा प्राची है क्योंकि पितरों का यजन दक्षिणाभिमुख होकर किया जाता है। जिसका यजन जिस दिशा की ओर किया जाता है उसके लिए वही दिक् प्राचो होती है। इस दृष्टि से इस पितृयज्ञ में पूर्व दिशा उत्तर तथा पश्चिम दिशा दक्षिण होगी, क्योंकि पूर्व दिशा के वाम प्रदेश में वर्तमान दिशा उत्तर तथा दक्षिण भाग में वर्तमान दिशा दक्षिण ही होती है। दक्षिणाभिमुख खड़े होने पर पूर्व वाम भाग में तथा पश्चिम दिशा दक्षिण भाग में होती है। तथा उत्तर दिशा पश्चिम या प्रतीची होगी, क्योंकि दक्षिणाभिमुख होने पर उत्तर ही पृष्ठस्थ दिशा होती है। इस प्रकार दर्शपूर्णमासेष्टि रूप प्रकृति याग में उत्तर दिशा में किया जाने वाला स्तम्बयजुर्हरण इस पितृयाग में पूर्व दिशा में होगा। क्योंकि पितृयाग में उपर्युक्त रीति से पूर्व दिशा ही उत्तर हो जाती है। स्तम्बयजुर्हरण के बाद वेदि का परिग्रह अर्थात् वेदि के चौतरफ कुशा का परिग्रह किया जाता है। यह परिग्रह दक्षिण दिशा से प्रारम्भ कर उत्तर दिशा तक किया जाता है। प्रकृतियाग की दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशायें पितृयाग में पश्चिम, उत्तर व पूर्व हैं इन्हीं दिशाओं में यहाँ परिग्रह होता है। पूर्व परिग्रह से परिग्रह कर अर्थात् कुशा से वेदि के चौतरफ रेखा अङ्कित कर भूमि का उल्लेख करता है, और मिट्टी में मिले हुए, हटाने योग्य कंकर पत्थर इत्यादि को हटाता है। तत्पश्चात् पूर्व परिग्रह की तरह उत्तर परिग्रह से वेदि का परिग्रह करता है। उत्तर परिग्रह से परिगृहीत कर 'पुरा क्रूरस्य' इत्यादि मन्त्र से वेदि का प्रतिमार्जन करता है। तदनन्तर अध्वर्यु आग्नीध्र से कहता है कि 'प्रोक्षणीरासादय' अर्थात् हे आग्नीध्र! प्रोक्षण करने के लिए जल को यहाँ रख दो। आग्नीध्र प्रोक्षणार्थ पानी रख देता है, यज्ञकाष्ठ व कुशा भी रख देता है। स्रुवा

और स्रुक् को साफ कर रख देता है। और आज्य (घृत) लेकर अध्वर्यु के पास जाता है। अध्वर्यु जो कि अब तक प्राचीनावीती पितृकार्य के लिए बना हुआ था, अब देवकार्य के लिए यज्ञोपवीती बनकर घृत को अपने हाथ में लेता है[1] ॥१२॥

घृत को उपभृत्पात्र में लिया जाता है। इस विषय में कतिपय याज्ञिकों का कहना है कि पितृयज्ञ में आज्य स्थली से उस घृत को दो बार उपभृत् पात्र में लेता है। क्योंकि यहाँ दो अनुयाज होते हैं और अनुयाजों के लिए घृत की आवश्यकता है। किन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि प्रकृतियाग की तरह आठ बार करके ही घृत को उपभृत्पात्र में ले, जिससे यज्ञसम्बन्धिनी विधा से हम न हटें। क्योकि 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' यह सिद्धान्त है। अतः प्रकृतियाग की तरह यहाँ भी आठ बार ही घृत को उपभृत्पात्र में लेना चाहिए। आज्यग्रहणानन्तर अध्वर्यु प्राचीनावीती बने ॥१३॥

और प्रोक्षणीपात्र को ग्रहण करे। वह पहले इध्म का प्रोक्षण करे। तदनन्तर वेदि का। इसके बाद आग्नीध्र अध्वर्यु को कुशा लेकर देता है। अध्वर्यु उस कुशा को पूर्व की तरफ गाँठ रखकर वेदि पर रख देता है। पश्चात् उसका प्रोक्षण करता है। प्रोक्षण के बाद उस पात्र में जो जल बच जाता है, उसे 'अदित्यै व्युन्दनमसि' इस मन्त्र से ओषधियों के मूल में डालकर बर्हि की ग्रंथि को खोलकर पृथक् प्रस्तर (कुशमुष्टि) का ग्रहण नहीं करता है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकृतियाग मे ग्रन्थिविस्रंसनोत्तर कुशमुष्टि का ग्रहण किया जाता है उस प्रकार यहाँ ग्रन्थिविस्रंसनोत्तर कुशमुष्टि का ग्रहण नहीं किया जाता। क्योंकि पितर एक बार में ही लौट जाने वाले हैं, पुनः नहीं आते। अतः बर्हि से पृथक् प्रस्तर-ग्रहण यहाँ नहीं किया जाता ॥१४॥

बर्हिः प्रोक्षणानन्तर बर्हि की रज्जु को खोलकर अपसलवि (वामावर्त होकर) कुशा को चौतरफ बिखेरते हुए तीन बार परिक्रमा कर जितनी कुशाओं से प्रस्तर (कुशमुष्टि) बन जाय, उतनी कुशायें बचा लेता है।

तदनन्तर पुनः प्रसलवि (प्रदक्षिणरूप से) उस वेदि के चारों ओर तीन

१—'यज्ञोपवीत्याज्यग्रहणे' (का०श्रो०सू० ५। २१३)

बार परिक्रमा करता है। इससे जिन सोमसदादि तीन पितरों का अनुगमन किया था, अब प्रसलवि तीन परिक्रमाओं द्वारा वह यजमान अपने लोक में आने के लिए उनसे अलग होता है। इसलिए तीन बार प्रसलवि परिक्रमा की जाती है ।।१५।।

वह अध्वर्यु दक्षिणाग्नि के दक्षिण की ओर ही प्रथम परिधियों (पलाश-शाखाओं) को रखता है। तदनन्तर पश्चिम तथा पूर्व की ओर रखता है। पश्चात् दक्षिणाभिमुख होकर उस वेदि पर कुशमुष्टि बिछा देता है। प्रकृतियाग की तरह यहाँ वेदि और प्रस्तर के बीच कुशास्तरणरूप विधृति नहीं रखते हैं, क्योंकि पितर एक बार में ही वापिस लौट जाने वाले हैं। अतः बीच में विधृति नहीं रखी जाती ।।१६।।

इसके पश्चात् वह अध्वर्यु वेदि के पश्चिम भाग में प्रस्तर के ऊपर जुहू रख देता है। उसके पूर्वभाग में उपभृत् तथा उसके भी पूर्वभाग में ध्रुवा रखता है। उसके बाद पुरोडाश, उसके बाद धाना, तदनन्तर मन्थ रखता है और बाद में उन सब का हाथ से स्पर्श करता है ।।१७।।

इसके बाद सभी ऋत्विग् व यजमान यज्ञोपवीती बनकर इस स्थान से चलते हैं। यजमान और ब्रह्मा पीछे तथा आग्नीध्र आगे चलता है ।।१८।।

इस पितृयज्ञ में उपांशु ही प्रचरण करते हैं। अर्थात् पितृयज्ञ धीरे - धीरे मन्त्र बोलकर किया जाता है न कि देवयज्ञ की तरह उच्चैः स्वर से मन्त्र बोल-कर। क्योंकि पितर मनुष्यों से तिरोहित से रहते हैं। अर्थात् छायामय प्रकाश-प्राण पितर है। वह प्रकाशाप्रकाशमय है। न सर्वथा तिरोहित और न सर्वथा प्रत्यक्ष है। अतः न सर्वथा मन्त्रोच्चारण का अभाव यहाँ होता है और न उच्चैः मन्त्रोच्चारण होता है, किन्तु शनैः शनैः मन्त्रोच्चारण होता है जो कि प्रकाशा-प्रकाशमय पितृप्राण के अनुरूप है। अतः सर्वथा 'तिरः' न कहकर पितरों के लिए 'तिर इव' ऐसा कहा गया है। उपांशु उच्चारण भी 'तिर इव' ही है। अतः उपांशु मन्त्रोच्चारण किया जाता है ।।१९।।

सारे ऋत्विक् परिवेष्टित स्थान में ही पितृयज्ञ करते हैं। अर्थात् छाया में पितृयज्ञ करते हैं क्योंकि पितर तिरोहित से रहते हैं। परिवेष्टित स्थान भी

तिरोहित सा ही होता है। अतएव तिरोहित स्वभाव वाले पितरों के लिए परिवेष्टित, अतएव तिरोहित स्थान में यजन करना उचित है ॥२०॥

बाद में अध्वर्यु इध्म (समिधा) रखता हुआ होता के प्रति 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' 'समिध्यमान अग्नि के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलो' ऐसा प्रैष करता है। तब वह होता एक ही सामिधेनी मन्त्र को तीन बार बोलता है। पितर एक बार में ही वापस जाने वाले हैं, फिर नहीं आने वाले हैं। अतः एक ही सामिधेनी मन्त्र को तीन बार बोलता है ॥२१॥

वह होता निम्नलिखित अनुवाक्या मन्त्र बोलता है—

उशन्तस्त्वा निधीमहि, उशन्तः समिधीमहि।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषेऽअत्तवे ॥ इति

हे अग्ने! कामना से हम तुम्हें प्रज्वलित कर रहे हैं। हमारी कामना को ध्यान में रखते हुए हमारे यज्ञ को चाहने वाले पितरों को पुरोडाशादि हवि के भक्षण के लिए बुलाओ।

तदनन्तर 'अग्निमाहव, सोममावह, पितॄन् सोमवत आवह, पितॄन् बर्हिषद आवह, पितॄनग्निष्वात्तानावह' इत्यादि निगद मन्त्र को बोलकर अर्थात् उन पितरों के आवाहन के लिए प्रार्थना कर बैठ जाता है ॥२२॥

आवाहन के अनन्तर आश्रावण कर 'अग्निर्देवो दैव्यो होता' इस निगद मन्त्र से होता का प्रवरण नहीं करता है। अर्थात् इस पितृयज्ञ में होतृप्रवरण नहीं किया जाता। क्योंकि यह पितृयज्ञ है, अतएव सौम्य है। होता अग्निस्वरूप होने से देव है। अतः इस होता को पितरों में स्थापित न करें, इस दृष्टि से होता का प्रवरण नहीं करता है। अध्वर्यु होता से यही कहता है कि आप बैठ जायें। तब होता बैठ जाता है। होतृषदन पर बैठकर होता अध्वर्यु को कर्म के लिए प्रेरित करता है। होता से प्रेरित अध्वर्यु जुहू और उपभृत् को लेकर पश्चिम की तरफ जाता है। वहाँ से चलकर वेदि के पश्चिम भाग में बैठकर आश्रावण कर होता से 'समिधो यज' ऐसा कहता है। तब वह बर्हिःरूप चतुर्थ प्रयाज को छोड़कर[1] शेष चार प्रयाजों का यजन करता है। बर्हिःप्रयाज-यजन

१—'अपबर्हिषः प्रयाजा अनुयाजाश्च' (का०श्रौ०सू० ५। २२३)

द्वारा पितृयज्ञ में कुशाधान किया जायेगा, तो पितरों में प्रजा का आधान होगा और यजमान प्रजा पितरों में जा मिलेगी अर्थात् मर जायेगी। अतः बर्हिःप्रयाज को छोड़कर शेष चारों प्रयाजों का ही यजन करता है। तदनन्तर आग्नेय तथा सौम्य आज्यभागों को करता है ॥२३॥

वे सभी ऋत्विक् व यजमान प्रचीनावीती बनकर(दक्षिण स्कन्ध पर उपवीत डालकर) इन प्रधान हवियों का अनुष्ठान करेंगे[1]। इसलिए यहाँ से यजमान व ब्रह्मा आगे चलते हैं एवं आग्नीध्र पीछे। यहाँ पर आकर आश्रावण करता है। वह इस पितृयज्ञ में 'ओं स्वधा' इस रूप से आश्रावण करता है। तब आग्नीध्र 'अस्तु स्वधा' इस रूप से प्रत्याश्रावण करवाता है और 'स्वधा नमः' इस रूप से वषट्कार किया जाता है[2]। २४।।

किन्तु आसुरि का मत है कि प्रकृतियाग की तरह यहाँ भी 'ओं श्रावय, अस्तु श्रौषट्' 'वौषट्' इसी रूप से आश्रावण प्रत्याश्रावण व वषट्कार करने चाहिएँ। अन्यथा हम यज्ञमर्यादा से बहिर्भूत हो जायेंगे, उससे च्युत हो जायेंगे ।।२५।।

इसके बाद अध्वर्यु होता से अनुवाक्या के लिए प्रैष करता है कि 'पितृभ्यः सोमवद्भ्यः अनुब्रूहि' ऐसा प्रैष करता है। अनुवाक्यावचन में प्रकृतियाग की अपेक्षा विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि यहाँ (पितृयज्ञ में) दो अनुवाक्यावचन होते हैं, जब कि देवयज्ञ में एक। देवताओं को एक ही अनुवाक्यावचन से स्वस्थान से देवयजनप्रदेश में लाने के लिए प्रच्युत कर देते हैं। अर्थात् यज्ञ में संमिलित कर देते हैं, क्योंकि वे मृदुप्राण हैं। किन्तु पितृप्राण ठोस प्राण हैं। उनको स्वस्थान से च्युत करने के लिए तथा यज्ञप्रदेश में लाने के लिए अधिक बल की आवश्यकता है। पितर एक बार ही में पराक् होने वाले हैं (अलग होने वाले हैं) अतः दो अनुवाक्यावचन किये जाते हैं ।।२६।।

अनुवाक्या के पश्चात् अध्वर्यु आज्य का उपस्तरण करता है। तदनन्तर इस पुरोढाश का थोड़ा सा भाग लेकर आज्योपस्तरण पर रख देता है। पुरोडाश

१—'हविर्भिश्चरिष्यन्तः प्रतिविपर्यंति' (का०श्रौ०सू० ५ । २२६)

२—'ओं स्वधेत्यस्तु स्वधेति वाऽऽश्रुतप्रत्याश्रुते स्वधा नम इति वषट्कारः' (का०श्रौ०सू० ५ । २३३)

के साथ ही धानों का अवदान (भाग) लेकर रख देता है तथा मन्थ का अवदान भी पुरोडाश के साथ रखता है। तात्पर्य यह है कि सोमसत् पितरों के लिए पुरोडाश, धाना और मन्थ तीनों की आहुति दी जाती है। अतः आज्योपस्तरणानन्तर एक बार करके पुरोडाश, धाना व मन्थ को अलग कर एक जगह रख देता है। तत्पश्चात् उस हवि पर दो बार[1] आज्य का आधार (सेचन) करता है। अवदानों अर्थात् अवदान से बची हुई हवियों का प्रत्यंजन करता है अर्थात् आज्य से मिश्रित कर देता है। प्रकृतियाग में हवि तैयार करने के बाद वहाँ से आहुत्यर्थ अतिक्रमण करना पड़ता है। किन्तु इस विकृतियागरूप पितृयज्ञ में अतिक्रमण नहीं किया जाता, अपितु उसी स्थान पर खड़े होकर 'ओं स्वधा' इस प्रकार से आश्रावण कर 'पितॄन् सोमवतो यज' यह कहता है और 'स्वधा नमः' इस वषट्कार के बाद आहुति दे देता ह ॥२७॥

तदनन्तर अध्वर्यु होता से 'पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽनुब्रूहि' यह प्रैष करता है। होता अनुवाक्या मन्त्र बोलता है। तत्पश्चात् अध्वर्यु आज्य का प्रस्तरण करता है। वह धानाओं का अवदान (भाग) लेता है। उसी भाग के साथ मन्थ का और मन्थ के साथ पुरोडाश का भाग लेकर एक जगह रख देता है। इस पर दो बार घृत का अभिधार (सेचन) करता है। अवदानों को अर्थात् अवत्तशिष्ट हवियों का प्रत्यञ्जन करता है। इसके पश्चात् आहुति देने के लिए आगे नहीं जाता, किन्तु वहीं खड़ा होकर आश्रावण कर 'पितॄन् बर्हिषदो यज' यह कहता है और 'स्वधा नमः' ऐसा वषट्कार करने पर आहुति दे देता है। बर्हिषदों की आहुति में प्रधानता धाना की है, क्योंकि धाना ही बर्हिषदों की प्रधान आहुति है। अतः उसका प्रथम पाठ पढ़ा है। तदनन्तर मन्थ व पुरोडाश का, जब कि सोमसदों के याग में पुरोडाश की प्रधानता थी ॥२८॥

इसके बाद अध्वर्यु 'पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽनुब्रूहि' ऐसा प्रैष करता है। होता अनुवाक्या करता है। तदनन्तर अध्वर्यु अज्योपस्तरण करता है। तब

१—यागयोग्य द्रव्य चतुरवत्त होता है। अतः चतुरवत्तता-सम्पादनार्थ दो बार आज्य का अभिधार यहाँ किया जाता है। अन्यथा आज्योपस्तरण, हविर्निष्पत्ति तथा एक आज्याभिधार, इस प्रकार से त्रिरवत्त हविर्द्रव्य ही होगा न कि चतुरवत्त।

वह मन्थ का कुछ भाग लेता है, उसी के साथ पुरोडाश व धाना का भाग भी लेता है और उसे एक जगह पृथक् रख देता है। तत्पश्चात् दो बार घृत का अभिघार करता है। अवत्तशिष्ट हवियों का प्रत्यंजन करता है। और आहुति के लिए आगे नहीं बढ़ता, किन्तु वहीं खड़ा होकर आश्रावण कर 'पितॄन् अग्निष्वात्तान् यज' ऐसा कहता है 'स्वधा नमः' ऐसा वषट् के साथ आहुति दे देता है। इस याग में मन्थ की प्रधानता है, क्योंकि अग्निष्वात्तों की प्रधान आहुति मन्थ है। अतः उसी का पूर्व पाठ पढा गया है ॥२९॥

यहाँ प्रधान कर्म (आवाप) की समाप्ति है। इस प्रकार प्रधान याग के अनन्तर यहाँ स्विष्टकृत् के स्थान में कव्यवाहन अग्नि का यजन करना चाहिए। अतः अध्वर्यु 'अग्नये कव्यवाहनाय अनुब्रूहि' ऐसा प्रैष होता से करता है। यह प्रैष-वचन स्विष्टकृत् याग के लिए है। देवताओं को हवि पहुँचाने वाला अग्नि हव्यवाहन है, जब कि पितरों को हवि पहुँचाने वाला अग्नि कव्यवाहन है। क्योंकि देवताओं की हवि हव्य कहलाती है, अतः उसका वहन करने वाला अग्नि हव्यवाहन कहलाता है और पितरों की हवि कव्य कहलाती है। अतः उसका वहन करने वाले अग्नि को कव्यवाहन कहते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय संहिता में कहा है—'त्रयो वा अग्नयः, हव्यवाहनो देवानाम्, कव्यवाहनः पितॄणाम् सहरक्षा असुराणाम्'। (तै०सं० २।५।८।११) इसीलिए पितृयज्ञ में कव्यवाहन अग्नि के यजन के लिए प्रैष किया जाता है ॥३०॥

इसके बाद अर्थात् प्रैषानन्तर होता के अनुवाक्या करने पर अध्वर्यु आज्य का उपस्तरण करता है। तत्पश्चात् वह पुरोडाश का अवदान (भाग) लेता है और उसी के साथ धानाओं का व मन्थ का भाग भी लेता है और उसे एकत्र कर एक जगह रख देता है। तदनन्तर दो बार आज्योपस्तरण करता है। यहाँ अवदानों का प्रत्यंजन नहीं होता अर्थात् आज्य हवि को घृत में मिलाकर एक नहीं किया जाता है। तदनन्तर अध्वर्यु आहुति के लिए आगे नहीं जाता, किन्तु वहीं खड़ा होकर आश्रावण कर 'अग्निं कव्यवाहनं यज' ऐसा कहता है और पूर्ववत् वषट्कार के साथ आहुति दे देता है ॥३१॥

प्रकृत (दर्शपूर्णमास) याग में हवि तैयार कर आहुत्यर्थ उस स्थान से आगे

जाना पड़ता है, किन्तु इस विकृतिभूत पितृभाग में अध्वर्यु आगे नहीं जाता और वहीं खड़ा होकर आहुति दे देता है, क्योंकि पितर एक बार ही परागृगमनशील है, वे पुनः लौटते नहीं। उनमें देवप्राण की तरह प्राणन (गमन) और अपानन (आगमन) व्यापार नहीं होता। अतिक्रमण करने पर उनके सकृत्त्व व परागृ-गमनशीलत्व धर्म का नाश हो जाता है।

पितृयाग में सारी हवियों में से एक बार ही अवदान किया जाता है, जब कि देवकर्म में तीन बार। इसका कारण भी पितरों का सकृत्त्व व परागृगमन-शीलत्व ही है। पितृयज्ञ में पुरोडाश, धाना व मन्थ तीनों को संसृष्ट कर हवि के लिए अवदान ग्रहण किया जाता है, क्योंकि पितर ऋतुस्वरूप हैं, अतः हवियों को संसृष्ट करना ऋतुओं[1] को परस्पर संसृष्ट करना है। अतः यहाँ तीनों हवियों को संसृष्ट कर के ही दिया जाता है ॥३२॥

प्रत्येक कर्म में स्विष्टकृद् यागानन्तर इडाप्राशन होता है। इडा पुरोडाश की बनायी जाती है। इस इडा का यज्ञान्त में ऋत्विक् भक्षण करते हैं। प्रकृत पितृयज्ञ में भी इडाप्राशन आवश्यक है। इस विषय में याज्ञिकों का मतभेद है। कतिपय याज्ञिकों का मत है कि इसी मन्थ को प्राशन के लिए काम में लेना चाहिए। इस मन्थ का भी यहाँ प्राशन (भक्षण) नहीं होता, किन्तु इस मन्थ को होता 'उपहूतेडा इडोपहूता' इस मन्त्र का उच्चारण कर प्रथम स्वयं सूंघ लेता है, तत्पश्चात् उसे ब्रह्मा को दे देता है। ब्रह्मा भी उसे सूंघकर अग्नीध् को दे देता है। अग्नीध् भी उसे सूंघ लेता है। इस प्रकार इस मन्थ का भी प्राशन नहीं होता, अपितु इसे सूंघा जाता है।

कतिपय याज्ञिक इस पक्ष को नहीं मानते। उनके अनुसार दर्शपूर्णमास-यज्ञवत् पितृयाग में भी इडा का अवदान होता है, किन्तु उस अवत्त इडा का यहाँ प्राशन नहीं करते, अपितु 'उपहूतेडा' इत्यादि मन्त्र बोलकर उसको सूंघते ही हैं। परन्तु आसुरि का मत है कि यहाँ भी इस इडा का प्राशन ही करना चाहिए। क्योंकि प्राशन करते हुए ऋत्विक् इडा का होता ब्रह्मा आदि की

१—प्रकृति में ऋतुएं पृथक् सत्ता रखती हुई भी मिश्रित हैं, इसका विवेचन हिन्दी भाष्य में देखिए।

जठराग्नि में हवन ही करते हैं और इडा का अग्नि में हवन ही आवश्यक है। व्यर्थ उसे फेंकना अच्छा नहीं है ॥३३॥

पितरों के लिए पिण्डदान अध्वर्यु या यजमान में कोई भी कर सकता है। क्योंकि अध्वर्यु भी यजमान द्वारा दक्षिणाक्रीत है और उसका प्रतिनिधि है। अतः अध्वर्यु या यजमान जो भी पिण्डदान को करना चाहता है, वह जलपात्र लेकर अपसलवि (वामावर्त) होकर तीन बार उस जल का परिषेचन करता हुआ पितृवेदि की परिक्रमा लगाता है। वह अध्वर्यु ऐसा करता हुआ 'असाववनेनिक्ष्वा' अर्थात् आप अपने हाथ शुद्ध कर लीजिये (धो लीजिये) इस मन्त्र को कहकर यजमान के पिता के हाथों को धुलाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त मन्त्र का उच्चारण कर पितामह तथा प्रपितामह के भी हाथों को साफ करवाता है, क्योंकि तीनों को ही पिण्डदान देता है। यह कार्य उसी प्रकार है जैसे किसी भोजन करने वाले पुरुष के लिए भोजन से ही पूर्व हस्तप्रक्षालनार्थ किया जाता है ॥३४॥

तदनन्तर पितरों के याग से बचे हुए पुरोडाश का अवदान कर उसे वाम हस्त में ले लेता है। और उसी प्रकार धाना तथा मन्थ के अवदान को भी वाम हस्त में ले लेता है ॥३५॥

पिण्ड तैयार करके वह अध्वर्यु उत्तरापरा दिशा में जो वेदि का स्रक्ति (कोण) है, उसमें 'असावेतत्ते' अर्थात् यह पिण्ड आपके लिए है, यह कहता हुआ यजमान के पिता के लिए पिण्डदान करता है[१]। इसी प्रकार दक्षिणापरा दिशा के वेदि के कोण में 'असावेतत्ते' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पितामह के लिए पिण्डदान करता है। तदनन्तर दक्षिणपूर्वा दिक् जो वेदि का कोण है, उसमें 'असावेतत्ते' यह उच्चारण करता हुआ प्रपितामह के लिए पिण्डदान करता है।[२] इस प्रकार तीनों कोणों में पिता, पितामह, प्रपितामह के लिए पिण्डदान कर अवशिष्ट चौथे कोण में (उत्तरपूर्व दिशा में) "अत्र पितरो मादयध्वं वे यथाभागमावृषायध्वम्"[३] इस मन्त्र के साथ वाम हस्त में लगी हुई

१—'स्रक्तिषु पित्रवनेजनं परिषिच्य परिषिच्य पूर्ववदुत्तरापरस्यां प्रथमम्' (का. श्रौ. सू. ५ । २३७)
२—'सव्ये समवदाय सर्वेभ्यो यथावनिक्तं पिण्डान् दद्यादसावेतत्ते' (का. श्रौ. सू. ५ । २३८)
३—हे पितरो प्रसन्न होइये और और अपने भाग का भक्षण कीजिए।

के लेप का मार्जन कर देता है अर्थात् उसे पोंछ देता है'। जो इस प्रकार इस पिण्डपितृयज्ञ में पिण्डदान करता है उससे वह अपने पितरों को पितृयज्ञ से अलग नहीं करता है अपितु उन्हें पिण्डपितृयज्ञभागी बनाता है। यहाँ कण्डिका में 'इमाम्, इमाम्' इस शब्द के द्वारा तत्तदवान्तरदिशा का अङ्गुल्यानिर्देश किया गया है ॥३६॥

पितृकर्मसमाप्ति के बाद वे (ब्रह्मा, अध्वर्यु, यजमान, आग्नीध्र) सभी यज्ञोपवीती बनकर (अभी तक वे पिण्डपितृयज्ञ करने के लिए प्राचीनावीती बने हुए थे, क्योंकि पितृकार्य में प्राचीनावीती बनना आवश्यक है) उत्तर दिशा की तरफ मुख कर पिण्डपितृयज्ञस्थान से निकलकर आहवनीय का उपस्थान करते हैं, क्योंकि जो आहिताग्नि होता है तथा जो दर्शपूर्णमास याग करता है वह देवताओं में सम्मिलित है, वह उनकी परिचर्या करता है। किन्तु इनने दर्शपूर्णमासानुष्ठानान्तर साकमेधाङ्गभूत पिण्डपितृयज्ञ किया है, ऐसा करना देबताओं का अपराधी बनना है। अतः पुनः आहवनीय का उपस्थान करके उस अपराध का शमन वे करते हैं ॥३७॥

ऐन्द्री ऋचाओं से आहवनीय का उपस्थान करते हैं क्योंकि इन्द्र आहवनीय है। इसका कारण यह है कि प्रकृतियज्ञ में महिमापृथ्वी के १७वें स्तोम में आहवनीय की सत्ता है। और उस महिमामयी पृथ्वी में १५वें स्तोम से लेकर २५वें स्तोम तक द्युलोकाधिष्ठाता इन्द्र का स्थान माना जाता है अतः इन्द्र ही को आहवनीय कहा है। उपस्थानमन्त्र निम्नलिखित हैः—

"अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती। योजा न्विन्द्र ते हरी" ॥१॥ (वा. सं. ३।५१)

हमारे द्वारा दत हवि का पितरों ने भक्षण किया और वे उसको खाकर तृप्त हुए। भुक्त हवि के रसाधिक्य को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने अपने अङ्गों का कम्पन किया। तदनन्तर प्रकाशमान मेधावी उन पितरों ने नवतर स्तुति के द्वारा उस भुक्त हवि की प्रशंसा की। आहवनीयस्थित हे इन्द्र! आप भी अब जाने के लिए अपने घोड़ों को शीघ्र रथ में जोत लीजिए।

१—'उत्तरपूर्वस्यां पाणी निसृष्टेऽत्र पितर इति' (का. श्रौ. सू. ५।२३९)

द्वितीय मन्त्र– "सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि । प्रनूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो याति वशाम् अनु । योजा न्विन्द्रे ते हरी" ॥२॥ (वा. सं. ३।५२)

हे आहवनीयरूप इन्द्र सम्यग् दर्शनीय तुम्हारा हम अभिवादन करें या वन्दना करें । हमारे द्वारा दी हुई हवि से पूर्ण रथनीड से युक्त हमारी स्तुति को स्वीकार कर आप यथेष्ट जाइये । हे इन्द्र! आप शीघ्र जाने के लिए रथ में अपने घोड़ों को जोत लीजिए ॥३८॥

तदनन्तर आहवनीय से गार्हपत्य के पास लौटकर गार्हपत्य का वे उपस्थान करते हैं । गार्हपत्योपस्थानमन्त्र निम्नलिखित है:–

[1]'मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन । पितृ्णां च मन्मभिः ॥
आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे । ज्योक् ज सूर्यं दृशे ॥
पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः जीवं व्रातं सचेमहि ॥ इति
(वा. सं. ४ । ५३-५५)

हम अपने मन को नराशंस स्तोम तथा पितृसम्बन्धी मननों (मिन्नतों) के द्वारा लौटा रहे हैं । पितृयज्ञ द्वारा अपक्रान्त (पितरों के पास गया हुआ) हमारा मन यज्ञकर्म के लिए, बल के लिए, जोवन के लिए तथा चिरकाल तक सूर्य-दर्शन के लिए पुनः लौट आवे । देवता लोग हमारे मन को लौटा दें । जिससे मैं जीवित पुत्रपौत्रादि से संगत हो जाऊँ, इन्हें प्राप्त करूँ अब तक पितृयज्ञ किया था उसके कारण पृथ्वीलोक से प्रतिष्ठा न टूट जाय एतदर्थ यह कहा है कि हमारा मन वहाँ से लौट आवे और हम जीवित पुत्रपौत्रादि को पुनः प्राप्त करें ॥३९॥

गार्हपत्योपस्थानानन्तर अध्वर्यु तथा यजमान दोनों में जो कोई पिण्डदान करे वह पुनः प्राचीनावीती बनकर पितृवेदि के पास जाकर निम्न मन्त्र का जाप करे,–

[2]"अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" (वा. सं. २।३१)

अर्थात् पितर तृप्त हो गये । उन्होंने अपना अपना भाग खा लिया ॥४०॥

१—'मनो न्वाह्वामहे इति गार्हपत्यं तिसृभि' (का. श्री. सू. ५।२४१)
२—'प्राचीनावीती प्रविश्यामीमदंतेति दाता जपति' (का. श्री. सू. ५।२४२)

तदनन्तर पानी से परिपूर्ण पात्र लेकर दक्षिणावर्त होकर तीन बार सेचन करता हुआ वेदि की परिक्रमा करता है[1]। वह 'असाववनेनिक्ष्व' इस मन्त्र का उच्चारण करता हुआ क्रमशः पिता, पितामह, प्रपितामह तीनों का नाम लेकर तीनों स्रक्तियों में पानी डालता है अर्थात् तीनों का हस्तप्रक्षालन कराता है। यह अवनेजन कर्म उसी प्रकार का है जैसा भोजन कर चुकने के बाद हस्त - प्रक्षालन कर्म। दक्षिणावर्त होकर तीन बार वेदिपरिक्रमा करने का कारण बतलाते हैं कि यह मेरा पित्र्यकर्म संस्थित बने। मैं पितृकर्म करके भी देवमण्डल में प्रतिष्ठित रहूँ। इसीलिए ३ बार वेदि की परिक्रमा की। परिक्रमा दक्षिणाभिमुख होकर की जाती है। तीन बार वेदिपरिक्रमा तथा दक्षिणावर्त होकर परिक्रमा करना इसकी देवमण्डल में संस्थिति का बोधन कर रहा है। क्योंकि दक्षिणावर्त परिक्रमा देवकार्य में होती है तथा परिक्रमा का त्रिःकरण भी 'त्रिसत्या वै देवाः' इस सिद्धान्त से देव - भाव को ही सूचित करता हैं ॥४१॥

तत्पश्चात् अधोवस्त्र की नीवी को शिथिल कर[2] पितरों को नमस्कार करता है। क्योंकि नीवी पितृदेवत्य है इसलिए नीवी को शिथिल कर पितरों को प्रणाम करता है। तथा नमस्कार यज्ञ है, क्योंकि नमस्कार के द्वारा हम अपने को पितृभोग्य बनाते हैं और एक को दूसरे को समर्पित कर देना ही, उसके अधीन बना देना ही यज्ञ है। जिस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति करने पर सोम को अग्नि के अधीन बनाया जाता है। अतः नमस्कार द्वारा हम पितरों को यज्ञिय बनाते हैं। ६ बार नमस्कार करता है क्योंकि ऋतु ६ हैं और ऋतु ही पितर हैं। ६ बार नमस्कार करता हुआ यजमान ऋतुओं में नमस्काररूप यज्ञ की प्रतिष्ठा करता है। उसके बाद 'गृहान्नः पितरो दत्तः'[3] इस आशीर्मन्त्र का उच्चारण करता है। पितर गृह के स्वामी हैं अतः उनसे उपर्युक्त कामना ही की जाती है ॥४२॥

इसके अनन्तर अनुयाज करने के उद्देश्य से सभी यज्ञोपवीती बनकर इस पित्र्यस्थान से यजमान, ब्रह्मा और आग्नीध्र तीनों चलते हैं। इनमें यजमान

१—'अवनेज्य पूर्ववत् प्रदक्षिणम्' (का. श्रौ. सू. ५।२४३)

२—'नीवीं विस्रंस्य नमो व इत्यञ्जलिं करोति षड्वा नमस्कारान्' (का. श्रौ. सू. ५।२४४)

३—'गृहान्नः पितरो दत्तेत्ति च' (का. श्रौ. सू. ५।२४५)

और ब्रह्मा पीछे चलते हैं तथा आग्नीध्र आगे। और होता होतृसदन में बैठ जाता है ।।४३।।

तत्पश्चात् अध्वर्यु ब्रह्मा से 'ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि' इस रूप से अनुयाज कर्म करने के लिए आज्ञा मांगता है और समिधा लेकर आग्नीध्र से 'अग्निमग्नीत् समृड्ढि' यह प्रैष करता है। तथा जुहू व उवभृत् लेकर पश्चिमाभिमुख होकर आगे बढ़ता है। अतिक्रमण कर आश्रावण कर्म कर 'देवान् यज' ऐसा कहता है ततः बिना बर्हियाग के दो अनुयाजों का यजन करता है। बर्हि प्रजारूप है। प्रजाओं को पितरों में स्थापित न करूँ इसलिए बिना बर्हियाग को छोड़कर ही दो अनुयाजों को करता है ।।४४।।

तदनन्तर जुहू और उपभृत् को रखकर दोनों के मुखों को मिलाता है। स्रुग्व्यूहन कर्म करके परिधियों को घृत से सिक्त कर, मध्यम परिधि का स्पर्श कर, आश्रावण कर्म कर होता से कहता है—'इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय' इति। होता सूक्तवाक (मङ्गलपाठ) करता है। यहां अध्वर्यु प्रस्तर (कुशमुष्टि) को ग्रहण नहीं करता[1]। जब तक होता सूक्तवाक करता है तब तक अध्वर्यु चुपचाप प्रतीक्षा करता रहता है ।।४५।।

इसके बाद आग्नीध्र 'अनुप्रहर' ऐसा अध्वर्यु से कहता है। किन्तु अध्वर्यु बिना कुछ अनुप्रहरण (फेंकना, डालना) किये ही चुपचाप अपना स्पर्श कर लेता है।[2] क्योंकि यदि प्रस्तरग्रहण करता तो उसका अनुप्रहरण करता और वह किया नहीं है अतः अनुप्रहरण किसका करे ।।४६।।

तदनन्तर अध्वर्यु 'संवदस्व' 'अगानग्नीत्' 'अगन्' 'श्रावय' 'श्रौषट्'। 'स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वास्तिर्मानुषेभ्यः शंयोर्ब्रूहि' ऐसा अध्वर्यु द्वारा सम्प्रैष कहने पर होता शंयुयाक (मङ्गलवचन) बोले। उस समय अध्वर्यु परिधियों को अग्नि में नहीं डालता[3] किन्तु अपना स्पर्श ही करता है। इसके बाद चतुःस्रक्ति वेदि पर बिछाई हुई बर्हि व परिधियों को लेकर एक साथ अग्नि में डाल देता है[4]।

१—'न प्रस्तरमादत्ते (का. श्री. सू. ५।२४८)
२—'अनुप्रहरेत्युक्ते न किञ्चनानुप्रहरति। तूष्णीमात्मानं स्पृशति' (का. श्री. सू. ५।२४९-२५०)
३—'उपस्पृश्य परिधीन्नानुप्रहरति' (का. श्री. सू. ५।२५१)
४—'बर्हिः परिध्यग्नौ प्रास्यति (का श्री. सू. ५।२५३)

'अनुसमस्यति' का अर्थ 'प्रक्षिपति' है ॥४७॥

कतिपय याज्ञिक बर्हि और परिधियों की तरह हविरुच्छिष्ट (हविःशेष) का भी अग्नि में प्रक्षेप कर देते हैं[1]। किन्तु ऐसा करना नहीं चाहिए। क्योंकि यह हविःशेष है अतः वह होमयोग्य नहीं है, अतः इस हविसच्छिष्ट का अग्नि में प्रक्षेप समुचित नहीं है। उसे जल में बहा देना चाहिए[2] अथवा खा लेना चाहिए ॥४८॥ इति

अथ साकमेधान्तर्गत तदङ्गभूत यज्ञ प्रारम्भ

(भाष्य) साकमेध से आत्मबल बढ़ाकर शत्रुओं को मारा जाता है। उसी साकमेध का अङ्गभूत यह महाहविर्यज्ञ है। शरीर में बल देनेवाले एवं तमोमय प्राण के विनाशक प्राणदेवताओं का यजन करके अधिक मात्रा में बल बढ़ाना ही इस महाहविर्यज्ञ का उद्देश्य है। सारे देवता अग्निमय हैं। अग्नि की अवस्थाविशेष का नाम ही ३३ देवता हैं। ये सारे देवता संवत्सर मण्डल में विभाजित हैं। महाहविर्याग से इन्हीं सांवत्सरिक देवताओं को तृप्त किया जाता है। जिस प्रकार से इस ऋतुसमष्टिरूप संवत्सर में देवता रहते हैं तद्वत् पितर भी इसी ऋतुसमष्टि में रहते हैं।

अखिल विश्व की उत्पत्ति अग्नि और सोम से मानी जाती है। यह अग्नि दो प्रकार का है। ऋत और सत्य। पिण्डाग्नि को सत्याग्नि कहते हैं एवं बिखरी हुई अग्नि को ऋताग्नि कहते हैं। सत्याग्नि में जब सोम की आहुति दी जाती है तो वह सोम अग्निस्वरूप में ही परिणत हो जाता है। अतएव इस सत्याग्नि के सोमाहुतिस्वरूप यज्ञ से कोई नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। नई वस्तु उत्पन्न होती है ऋताग्नि में सोम की आहुति होने से। इस ऋताग्नि में जब सोम की आहुति पड़ती है तो इसी ऋताग्नि का नाम 'ऋतु' पड़ जाता है। बस इस ऋतु से ही संसार के यच्चयावत् पदार्थो की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी का जो परिभ्रमणवृत्त है उसे क्रान्तिमण्डल कहते हैं। इसी क्रान्तिमण्डल को 'संवत्सरमण्डल' कहते हैं। ऋताग्नि की पूरी परिक्रमा ३६० दिन में होती है एवं इसी को कहते हैं संवत्सराग्नि। एवं इसी से होती है यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति। अतएव वेद में कई स्थानों पर संवत्सर को प्रजापति शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस षड्ऋतुसमष्टि का नाम ही संवत्सर प्रजापति समझना चाहिए। यद्यपि संवत्सर में अग्नि और सोम दोनों रहते हैं। अग्नि और सोम दोनों का उद्ग्राभ व निग्राभ होता है, तथापि प्रधानता अग्नि

१—'हविरुच्छिष्टं च' (का. श्रौ. सू. ५।२५४)
२—'अप्सु प्राश्यं वा' (का. श्रौ. सू. २।२५५)

ही की समझी जाती है। इसीलिए इस अग्निसोम की समष्टि को ऋताग्नि की प्रधानता बतलाते हुए 'ऋतु' शब्द से ही कहा करते हैं। अग्नि और सोम दोनों अविनाभूत हैं। अतएव दोनों को मित्र कहा जाता है। इस प्रकार से समानता रहने पर भी अग्नि ही को उच्च स्थान दिया जाता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"अग्निर्जागार तमृच: कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति। अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका:।" इति। सब देवता आग्नेय हैं। सब पितर सौम्य हैं। चन्द्रमण्डल में देवता, गन्धर्व, असुर एवं पितर ये ४ प्राण रहते हैं। कल्पना कर लीजिए चन्द्रमा ठीक सूर्य के सामने विद्यमान है। यह अवस्था ठीक पूर्णिमा को होती है। बस इस पूर्णिमा के चन्द्रमा के ४ भाग कर लीजिए। जो सूर्य का समसामुख्य भाग है, तद्गत शुक्लप्राण को तो कहते हैं देवता एवं उसके बाद का जो देवप्राण के आसपास का भाग है उसका नाम है पितर। सोम में जहाँ देवप्राण का थोड़ा - सा सम्बन्ध हो जाता है इस प्राण ही को पितरप्राण कहते हैं। एवं अन्धकार का भाग असुर कहलाता है। एवं अन्धकार की गिरती हुई दशा का नाम गन्धर्व है। प्रकाश की अवनति को ही पितर कहते हैं। प्रकाश की उन्नति को ही देवता कहते हैं। अन्धकार की वृद्धि को ही असुर कहते हैं एवं अन्धकार की क्षयावस्था को ही गन्धर्व कहते हैं। चूंकि पितर प्रकाश की अवनत अवस्था को कहते हैं अतएव "अपक्षयभाजो वै पितर:" यह कहा जाता है। अग्नि की वर्धिष्णु अवस्था एवं सोम की क्षयिष्णु अवस्था का नाम तो देवता है एवं सोम की वर्धिष्णु एवं अग्नि की क्षयिष्णु अवस्था का नाम पितर है। इस प्रकार से यद्यपि देवता और पितर दोनों ही अपेक्षा से अपक्षयभाक् एवं उपचयभाक् हैं तथापि अग्निप्राधान्यात् पितरों के लिए "अपक्षयभाजो वै पितर:" यही कहा जाता है। पितर सौम्य हैं। सोम की जब वृद्धि होती है तो अग्नि का अपक्षय होता है। एवं तभी रहती है पितरप्राण की प्रधानता। अत: अग्नि के क्षयिष्णुत्व की अपेक्षा से "अपक्षयभाजो वै पितर:" यह कहा जाता है। जब कि आग्नेय प्राण की अधिकता रहती है, इस प्राण का शासन रहता है। तब तक आप्यप्राण एवं तमोमय प्राणरूप असुरों को अवसर नहीं मिलता। अग्नि प्रकाशी प्राण है। सोम तमोमय प्राण है। अतएव वह उस अग्नि के प्रकाश में ठहर नहीं सकता। परन्तु जब आग्नेय प्राण कमजोर हो जाता है एवं सौम्यप्राण बढ़ जाता है तो असुरों को घुसने का मौका मिल जाता है। आप्यप्राण का नाम असुर है एवं अप्, वायु और सोम ये तीन एक स्थान में रहने वाले पदार्थ हैं। तीनों ही परमेष्ठिमण्डल में रहते हैं। जहाँ सोम का शासन हुआ कि आप्यप्राण उसमें (सोम में) कूदा। कहने का तात्पर्य यही है कि सोम की मात्रा के अधिक बढ़ जाने से एवं आग्नेय प्राण के कम हो जाने से उस सोम में असुरप्राण को घुसने का मौका मिल जाता है। वैदिक विज्ञान में योषा और पूषा इन दो प्राणों की उत्पत्ति में प्रधानता मानी जाती है। योषा स्त्रीप्राण का नाम है।

वृषा पुरुषप्राण का नाम है। बस इस योषावृषा के संयोग से ही मिथुन से ही यच्चयावत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। आग्नेय प्राण ही का नाम 'वृषा' है एवं सौम्यप्राण ही का नाम 'योषा' है। बस इन दोनों प्राणों के, अग्निसोम के मेल से ही प्रजननक्रिया होती है। इन्हीं की प्रजननक्रिया से संसार की उत्पत्ति होती है। इसीलिए तो "अग्नीषोमात्मकं जगत्" यह कहा जाता है। योषा भोग्य है और वृषा भोक्ता है। भोग्य से भोक्ता का दर्जा ऊँचा होता है। इसलिए भी ऋतु में अग्नि और सोम दोनों के समान मात्रा में रहने पर भी वृषा (भोक्ता) अग्नि की ही प्रधानता मानी जाती है। अग्नि के अपक्षय में ही सोम बढ़ता है एवं सोमप्राण ही को कहते हैं पितर। बस इसीलिए तो "अपक्षयभाजो वै पितरः" यह कहा जाता है। सोमप्राण में असुर घुस पड़ता है। देवता असुर का नाश करते हैं परन्तु साथ ही में पितरप्राण का भी नाश होने लगता है। बस यह नाशक्रम तभी मिटता है जब कि सोम की मात्रा पूर्ववत् बढ़ जाती है। हमने बतलाया है कि यह सोम-मिश्रित ऋताग्नि संवत्सर में विभाजित है। इसी ऋताग्नि का ६ महिने तक तो उद्ग्राभ होता है एवं ६ महिने तक निग्राभ (गिराव) होता है। सूर्य जब उत्तरायण होते हैं बस तभी से अग्निपरमाणुओं की वृद्धि होने लगती है। सोम की अधिकता से संसार के पदार्थों में से जो अग्निपरमाणु एक प्रकार से सर्वथा निकल-से गये थे, अब उन्हीं पदार्थों में अग्निपरमाणु रहने (बसने) लगते हैं। इसीलिए इस प्रारम्भिक ऋतु का नाम वसन्त रख दिया गया है। "यत्र काले अग्निकणाः पदार्थेषु वसन्तो भवन्तीति स कालो वसन्तः"। तदनन्तर अग्निपरमाणु पदार्थों का अधिक मात्रा से ग्रहण करने लगते हैं। अर्थात् अग्नि-परमाणु अत्यधिक मात्रा से पदार्थों में प्रविष्ट होने लगते हैं। होना भी ऐसा ही चाहिए क्योंकि सूर्य क्रमशः समीप आता रहता है। बस इसी दूसरी ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं। इसी को निदाघ भी कहते हैं। अथ क्रमेण प्राबल्यं गच्छन् सर्वमाक्रम्य पदार्थान् गृह्णाति स कालो 'ग्रीष्मः' स एष अग्निः पदार्थान् नितरां दहतीति 'निदाघः'। तदनन्तर वह अग्नि बढ़ते-बढ़ते जब अधिक मात्रा में पहुँच जाता है तो उस ऋतु का नाम 'वर्षा' पड़ जाता है। वर्षा बरसने का नाम नहीं है अपितु प्रवृद्ध अग्नि का नाम वर्षा है। चूंकि अति मात्रा में पहुंचकर अग्नि "अग्नेरापः" इस सिद्धान्त के अनुसार पानी के स्वरूप में परिणत हो जाता है। अतएव बरसने को 'वर्षा' कहने लग गये हैं। "अग्निरतिशयेन उरुः इति वर्षिष्ठः। वर्षंत्येतत्कर्मणा 'वर्षाः'।" बस वसन्त से लेकर वर्षा तक अग्नि का चढ़ाव ही चढ़ाव रहता है। उत्तरोत्तर अग्नि की मात्रा बढ़ती ही रहती है। दक्षिण गोल से उत्तराभिमुख होकर सूर्य जब तक उत्तर गोल की परम क्रान्ति पर नहीं पहुंच जाता तब तक अग्नि बढ़ती ही रहती है। चूंकि इतने दिन तक (६ महिने तक) अग्नि का चढ़ाव रहता है एवं आग्नेय प्राण का नाम है देवता।

अतएव "उपचयभाजो वै देवा:" यह कहा जाता है। बस वर्षा के अनन्तर अर्थात् सूर्य के दक्षिणायन होते ही अग्नि की मात्रा कम होने लगती है। बस इसी समय को 'शरत्' कहते हैं। "यस्मिन् काले अग्निकणा: शीर्णा भवन्ति स काल: शरत्"। तदनन्तर अग्निकण और भी शीर्ण होने लगते हैं। अतएव इस ऋतु को हेमन्त कहते हैं। "यस्मिन् काले हीनतां प्राप्ता अग्निकणा भवन्ति स हेमन्त:।"

इस प्रकार से होते - होते जब अग्निपरमाणु एकान्तत: क्षीणप्राय हो जाते हैं तो इस ऋतु को 'शिशर' कहने लगते हैं। अथ पुन: पुनरतिशयेनाग्निकणा: शीर्णा भवन्ति यस्मिन् स काल: 'शिशिर:' बस इस प्रकार १२ मास में ६ मास तक अग्नि की प्रधानता रहती है। आग्नेय प्राण को देवता कहते हैं एवं सौम्य प्राण को पितर कहते हैं। वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ये तीन ऋतुएँ देवताओं की हैं क्योंकि इन तीनों में अग्नि की मात्रा प्रवृद्ध रहती है। एवं शरत्, हेमन्त एवं शिशिर ये तीन ऋतुएँ पितरों की कहलाती हैं, क्योंकि इन तीनों में अग्नि की मात्रा कम एवं सोम की मात्रा अधिक रहती है। वसन्तादि तीनों में अग्नि चढ़ाव पर रहता है इसलिए "उपचयभाजो वै देवा:" यह कहा जाता है एवं शरत् - हेमन्तादि तीनों में अग्नि की मात्रा का उतार रहता है अतएव "अपक्षयभाजो वै पितर:" यह कहा जाता है। इसी अभिप्राय से तो श्रुति कहतो है—"वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा: ते देवा ऋतव:। शरद्धमेन्त: शिशिरस्ते पितर:"।

वसन्त से देवप्राण (आग्नेय प्राण) बढने लगता है एवं असुरप्राण अर्थात् सोम्यप्राण नष्ट होने लगता है। होते-होते वर्षा तक सारे असुर मारे जाते हैं। बस इसके बाद से फिर देवता शान्त होने लगते हैं एवं असुर उग्ररूप धारण कर लेते हैं। माघ तक असुर पूरा अधिकार जमा लेते हैं। फिर देवता उन्हें निकालने लगते हैं। बस इसी प्राकृतिक यज्ञ का रहस्य बतलाते हुए तद्द्वारा पिण्डपितृयज्ञ की उपपत्ति बतलाते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं— "इस महाहवि से देवताओं ने वृत्रासुर को मार डाला। आज जो देवताओं की विजय देखते हो उस विजिति को इस महाहवि द्वारा देवताओं ने प्राप्त की। अग्नि, इन्द्र, सोम, माहेन्द्र चरु इत्यादि हवियाँ प्राकृतिक यज्ञ में होती रहती हैं। यच्चयावत् इन हवियों की आहुति उन प्राण देवताओं में पड़ती रहती है। उसी प्राकृतिक (नेचुरल) आहुति से ही प्राकृतिक देवप्राण बलिष्ठ होकर तमोमय प्राण का नाश करने में समर्थ होता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं— "महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नु:।" इस वृत्र के नाश से देवताओं की विजय हो जाती है। यह प्रखर धूप ही तो इनके विजय की सूचना देने वाली है। सूर्य ग्रीष्म में अति प्रचण्ड रूप से तपा करता है। आप्यप्राण असुर की क्या शक्ति कि इस प्रखर ताप के सामने अपना अधिकार जमा सके। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तेनोऽएव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्।।" इति।

देवताओं ने असुरों को मारा तो था, परन्तु साथ ही में पितर भी नष्ट हो गए । सोमप्राण की अधिकता में ही असुरों को अवसर मिलता है । अतः उनके विनाश के लिए देवताओं का सौम्यप्राण का विनाश करना प्रधान कर्तव्य है । बस असुरनाश के लिए जब उन्होंने अपने प्रबल वेग से सौम्यप्राण का नाश किया तो पितरप्राण स्वयं नष्ट हो गया । वास्तव में बात यही है कि देव-अग्नि की मात्रा के बढने से सौम्यप्राण वर्षा तक कम हो जाता है एवं आश्विन कार्त्तिक से सौम्यप्राण बढने लगता है । बस इसी प्राकृतिक विज्ञान को लक्ष्य में रखकर कहते हैं—देवताओं ने जिनको इस संग्राम में मारा था उन्हीं को पितृयज्ञ से पुनः जीवित कर दिया । अर्थात् पितरों को मारना असुरों ही को तो मारना था, क्योंकि असुरों को सौम्यप्राण ही में घुसने का अवसर मिलता है । बस इस पितृयज्ञ से देवताओं ने उन मरे हुए असुरों को अर्थात पितरों को पुनः जीवित कर दिया । अर्थात् अत्यन्त ऊष्मा के कारण ताप के कारण जो सौम्यप्राण एकान्ततः विच्छिन्न हो गया था, वह इस प्राकृतिक प्रकृतियज्ञ से पितृयज्ञ से वह सौम्यप्राण बढ जाता है । वसन्तादि में जिन द्रव्यों की आहुति पड़ती है उससे देवप्राण की वृद्धि होती है एवं शरत्, हेमन्त में जिन पदार्थों की आहुति होती है उससे पितरप्राण की अर्थात् सौम्यप्राण की वृद्धि होती है । बस इसी अभिप्राय से कहते हैं–

"यानेवैषां तस्मिन् संग्रामअघ्नंस्तान् पितृयज्ञेन समैरयन्त ।"

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवताओं ने इस यज्ञ से जिनको पुनः जीवित किया था वे चूंकि पितर थे इसीलिए इस यज्ञ को पितृयज्ञ कहते हैं । अर्थात् इन आहुतियों से पितरप्राण की वृद्धि होती है अतएव इस यज्ञ को 'पितृयज्ञ' कहते हैं ।

"पितरो वै तेऽआसन् "तस्मात् पितृयज्ञो नाम ।" ॥१॥

शरत्, हेमन्त, शिशिर इन तीनों ऋतुओं में वायु में सोम अति मात्रा से भर जाता है । सारा वातावरण एकदम शीतल हो जाता है । जिधर देखो उधर ही मनुष्य समुदाय तूल वस्त्रों से आच्छादित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है । परन्तु जहां वसन्त का प्रारम्भ हुआ कि शीत जो महाराज विदा होने लगे । विदा होते-होते वह समय आ गया कि जो मनुष्य ५ सेर तूल वस्त्र को दुबले-पतले शरीर पर रखते थे, ये वही एक एक तन्तुमात्र को भी शरीर पर रखना असह्य समझने लगे । बस इस पितृयज्ञ का और महाहवि का ही तो यह प्रताप है । पितृयज्ञ से पितरों का राज्य हो जाता है एवं महाहवि से देवताओं का राज्य हो जाता है । वसन्त. ग्रीष्म और वर्षा ये हो तीन जीतने वाले देवता हैं एवं शरत्, हेमन्त, शिशिर ये तीन वे हैं जिन्हें कि मारकर देवताओं ने पुनः जीवित किया । इसी अभिप्राय से कहते हैं—उस युद्ध में जो देवता जीते थे वे वेही वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा हैं । जिनको पुनःजीवित किया वे शरत्, हेमन्त और शिशिर है । "तद् वसन्तो, ग्रीष्मो र्षाः एते ते ये व्यजयन्त । शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते उ ते यान् पुनः समैरयन्त" ॥२॥

बस यही पितृयज्ञ का रहस्य है। सदा पितृयज्ञ होता रहता है एवं सदा महाहविर्यज्ञ होता रहता है। देवता पितरों को तीन महिने तक नष्ट करते रहते हैं एवं पितृयज्ञ द्वारा उन्हें जीवित करते रहते हैं। अर्थात ६ महिने तक आग्नेयप्रण की प्रधानता रहती है एवं ६ महिने तक पितरप्राण (सोम) की प्रधानता रहती है। इस प्रकार से प्रकृति में पितृयज्ञ होता रहता है। भगवान् याज्ञवल्क्य उस प्राकृतिक यज्ञ को लक्ष्य में रखकर कहते हैं— इस पितृयज्ञ से जिसका कि यह यजमान आज यजन करता है, तत्सम्बन्धी किसी भी पुरुष को किंवा स्वयं यजमान को आज कोई असुर नहीं मारते हैं। अर्थात् प्रकृति में पितृयज्ञ होता रहता है एव प्रकृति में ही असुर इन देवताओं पर आक्रमण करते रहते हैं। तथा उनके विनाश के लिये ही देवता पितृयज्ञ किया करते हैं। परन्तु आज इस यजमान के ऊपर प्रकृतिवत् कोई असुर यद्यपि आक्रमण नहीं करता है तथापि चूंकि देवताओं ने इस यज्ञ को किया था। अतएव इस पितृयज्ञ को यह यजमान करता है।

सबसे प्रथम इस यज्ञविधि का आविष्कार भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने किया था। प्रकृतियज्ञ के अनुसार भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने यज्ञविद्या का आविष्कार किया था। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हम मनुष्य हैं। प्रकृतियज्ञ का वास्तविक रहस्य हम नहीं जान सकते अत:'महाजनो येन गत:स पन्था:'का पालन करना चाहिये। भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने जैसा किया था बस हमें आंख मींचकर चुपचाप वैसा करते रहना चाहिए। हम जानते हैं कि आज प्रकृतिवत् किंवा भौमस्वर्गस्थ देवताओं की तरह इस यजमान पर असुरों का आक्रमण नहीं है जिससे कि पितृयज्ञ किया जाय। तथापि उन्होंने (भुवनस्वर्गवासी देवों ने) चूंकि पितृयज्ञ किया था अतएव उस मर्यादा का पालन करने के लिए आज यह यजमान पितृयज्ञ से पितरों का यजन करता है। तात्पर्य यही है कि यद्यपि अदृष्टफल अवश्य ही होता है तथापि फल पर लक्ष्य न दें। कुत्सित तर्कों को उठाकर इसमें ऊहापोह नहीं करना चाहिए। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—"अथ यदेष एतेन यजते तन्नाह न्वेवैतस्य तथा केचन घ्नन्तीति। देवा अकुर्वन् इति न्वेवेष एतत् करोति।"

भुवनस्वर्गवासी देवताओं ने इन पितरों के लिए हवियों का स्थापन किया था अर्थात् जिन-जिन के लिए जो-जो हवियाँ नियत की थीं, उसी 'भाग' को आज यह यजमान इन पितरों के लिए कल्पित करता है। अर्थात् वे ही तथा उतनी ही आहुतियाँ यजमान देता है जिनका तथा जितनी हवियों का देवताओं ने विधान किया था। तात्पर्य यही है कि जैसी विधि परम्परा से भुवनस्वर्गवासी देवताओं के समय से चली आ रही है उसमें अपनी ओर से कुछ नहीं मिलाना चाहिए। उसी परम्परा के अनुसार सारा कार्य करना चाहिए। "यमु चैवैभ्यो (पितृभ्यो) देवा भागमकल्पयन् तमु चेवैभ्य एष (यजमान:) एतद् भागं करोति।"

इस प्रकार से मर्यादा-पालन का उपदेश देकर कुछ प्रयोजन भी बतलाते हैं। हमारे

शरीर का निर्माण किंवा यच्चयावत् पदार्थों का निर्माण इन देवताओं से ही होता है। देवता शब्द असुर, पितर, गन्धर्व इत्यादि प्राणों का उपलक्षण समझना चाहिए। सौर पदार्थ किंवा चान्द्र पदार्थ (देवता, पितर) पृथिवी में आकर पृथिवी के बन जाते हैं। परन्तु साथ ही में जाते भी रहते हैं। सूर्य की चीज पृथिवी की वस्तु बनती रहती है एवं पृथिवी के पदार्थ सूर्य में जाते रहते हैं। इस प्रकार से यह आदानविसर्गात्मक यज्ञ होता रहता है। बस इसी प्रकार से प्राकृतिक प्रकृतियज्ञ से पितरप्राण की क्षतिपूर्ति होती रहती है। परन्तु यदि हम भी (जो कि प्रकृति के पुत्र हैं) पितृजातीय द्रव्यों द्वारा वैध उपायों से पितृप्राण को सहायता पहुंचा दें तो अच्छा ही है। हम जानते हैं कि इस मनुष्य को मञ्जिल तो अवश्य ही तय करनी है। हम इसे सहायता देंगे तो भी मार्ग तय करेगा। न देंगे तो भी करेगा। परन्तु मनुष्य देवता यदि उसे मदद दें तो अच्छा ही है। बस पितृयज्ञ करने का प्रथम प्रयोजन तो यही है। इस पितृयज्ञ से प्राकृतिक पितरों को अपने उद्ग्राम में सहायता मिलती है। प्राकृतिक देवताओं ने पितृयज्ञ से जिन पितरों को जीवित किया था एवं जीवित किया है, आज यह यजमान भी इसी पितृयज्ञ द्वारा प्राकृतिक ऋतुपितरों की क्षतिपूर्ति कर रहा है। बस इसी प्रथम प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यानु चैव देवाः समैरयन्त तानु चैवैतद्वति"

अपिच हमारे जो मृत पितर हैं वे भी चूंकि उन्हीं प्राण पितरों में शामिल रहते हैं। वास्तव में पितर प्राण ही का नाम है। चूंकि मृत आत्मा उसी प्राण में शामिल हो जाता है अतएव उनको भी 'पितर' कहते हैं। तो बस 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" के अनुसार जब प्राकृतिक दिव्य पितर हमारे इस पितृयज्ञ से प्रसन्न हो जाते हैं तो प्रेतपितर भी उनके साथ ही अवश्य ही तृप्त हो जाते हैं। दिव्य पितरप्राणवत् तदन्तःपाती मृत पितरों की भी तृप्ति हो जाती है। इस पितृयज्ञ से अधोगति को प्राप्त हुए अश्रुमुख पितरों को उस दिव्यलोक में शामिल करता हुआ यजमान उन्हें नान्दीमुख बनाता है। बस पितृयज्ञ का यही दूसरा प्रयोजन है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"स्वानु चैवैतत् पितॄन् श्रेयांसं लोकमुपोन्नयति।" वेद की डींग मारने वाले स्वामी दयानन्द को इस प्रकरण से शिक्षा लेनी चाहिए।

हमारे शरीर में जैसे ३३ देवता हैं, ६६ असुर हैं वैसे ही पितर भी हैं। अस्थि मांस इत्यादि पदार्थ जिस प्राण से बनते हैं उसी प्राण को अध्यात्म पितर कहते हैं। हम मनुष्य हैं। असत्यसंहित हैं। हमसे प्रायः मिथ्याहार - विहारप्रयुक्त दोष हो जाते हैं। प्रज्ञापराध से हमारे अध्यात्म के प्राणों की स्थिति बिगड़ जाती है। जैसे वात, पित्त, कफ की विकृति से, विषम भाव से मनुष्य के स्वास्थ्य में बाधा पहुँचती है तद्वत् प्राणों की विषमता से भी स्वास्थ्य में बहुत बाधा पहुंचती है, बल्कि वातपित्तादि की अपेक्षा अधिक पहुँचती है। जब अतियोग

कर लिया जाता है तो मरने की नौबत आती है एवं हीन योग कर लिया जाता है तो कमजोरी की नोबत आ जाती है। बस इस प्रज्ञापराध से जो प्राणविषमता हो जाती है वह भी इस पितृयज्ञ से दूर हो जाती है। ऋतु हमारे अनुकूल हो जाती है। अध्यात्मपितर सम अवस्था में परिणत हो जाते हैं। बस पितृयज्ञ का यही तीसरा प्रयोजन है। इसी अभिप्राय से कहते हैं— "यदु चैवास्यात्रात्मनोऽचरणेन (हीनयोगेन) हन्यते वा मीयते वा तदु चैवास्यैतेन पुनराप्यायते।" तात्पर्य यही है कि पितृयज्ञ में दिव्यपितर, प्रेतपितर एवं अध्यात्मपितर तीनों की क्षतिपूर्ति होती है। बस इन्हीं प्रयोजनों से वशीभूत होकर आज यह यजमान इस पितृयज्ञ से पितरों का यजन करता है। "तस्माद् वाऽएष एतेन (पितृयज्ञेन) चरति ॥३॥

॥ पितृयज्ञोपपत्ति समाप्त ॥

पितर तीन प्रकार के होते है—(१) दिव्यपितर, (२) ऋतुपितर, (३) प्रेतपितर। दिव्य पितरों को पर,ऋतु को मध्य एवं प्रेत को अवर शब्द से भी व्यवहृत किया जाता है। वास्तव में तीन क्या हैं, पितर एक ही है। पितरप्राण ही पृथिवी पर आकर प्रेतपितर कहलाने लगता है एवं द्युलोक में जाकर दिव्यपितर कहलाने लगता है। जैसे अग्नितत्त्व का नाम देवता है तद्वत् सोमतत्त्व का नाम पितर है। इन पितरों की (तीनों में प्रत्येक की) ७ जाति हैं। जैसे अनन्तानन्त देवता ३३ जातियों में विभाजित हैं तद्वत् अनन्तानन्त पितर ७ जातियों में विभाजित हैं। वे सात निम्न हैं — (१) आज्यपा, (२) सोमपा, (३) हविर्भुक्, ये तीन अन्नाद पितर हैं। (१) सोमसत्, (२) अग्निष्वात्त, (३) बर्हिषत् ये तीन अन्नपितर हैं। (१) सुकाली शूद्रपितर हैं। इनका विस्तृत विवेचन श्रीगुरुचरण-रचित पितृनिरूपणाधिकार में देखना चाहिए। प्रकृत में आन्तरिक्ष्य सोमसत्, अग्निष्वात्त और बर्हिषत् इन तीनों अन्नपितरों का ही यजन किया जाता है। बस इसी अभिप्राय से "पितृभ्यः सोमसद्भ्यः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः, पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यः" यह कहा जाता है।

हमने वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा इन तीनों को तो देवता बतलाया है एवं शरत्, हेमन्त एवं शिशिर इन तीनों ऋतुओं को पितर बतलाया है। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो ६ओं से ही देवताओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। बारहों महिने पितृप्राण रहता है एवं १२हों महिने देवप्राण रहता है। कमी ज्यादा अवश्य हो जाती है। परन्तु न तो एकान्ततः देवप्राण ही उच्छिन्न होता है,न एकान्ततः पितृप्राण ही उच्छिन्न होता। इसीलिये अग्न्याधान प्रकरण में याज्ञवल्क्य कहते हैं—य एवापूर्य्यतेऽर्धमासः स देवाः। योऽपक्षीयते स पितरः। अहरेव देवाः। रात्रिः पितरः। पुनरह्नः पूर्वाह्णो देवाः, अपराह्णः पितरः। ते वाएतेऽऋतवो देवाः पितरः" (शत०पृ०) तात्पर्य यही है कि पितर ६ओं ऋतुओं में रहते हैं। अतएव इनको षट्कपाल पुरोडाश ही दिया जाता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं— वह यजमान

सोमवत् पितरों के लिए षट्कपाल पुरोडाश का निर्वाप करता है। सोम पितर का देवता है एवं पितर सोम का देवता है। अतः इन दोनों में "सोमाय पितृमते, एवं पितृभ्यः सोमवद्भ्यः" दोनों प्रकार का संकीर्ण व्यवहार चलता है। इसीलिए कहते हैं—"सोमाय व पितृमते। षट्कपालं पुरोडाशं निर्वपति" इति शेषः। ऋतुएँ ६ हैं एवं ऋतु ही पितर हैं। अर्थात् ऋताग्नि में रहने वाले सोम का नाम चूंकि पितर है, अतः ऋतु ही तो पितर हैं। इसीलिये षट्कपाल पुरोडाश होता है। "षट्वा ऋतवः। ऋतवः पितरः। तस्मात् षट्-कपालो भवति ॥४॥

तदनन्तर बर्हिषत् पितरों के लिए दक्षिणाग्नि में यव की धानी पकाते हैं। अर्थात् बर्हिषत् पितरों के लिए पहिले धानी पका लेते हैं। तननन्तर उसमें से आधी को पीस लेते हैं एवं आधी धानी यथावत् (बिना पिसी हुई) ही रहती है। बस इन दोनों में से जो बिना पिसी हुई धानी है वही बर्हिषत् पितरों के लिए है—"ता धानाः पितृभ्यो बर्हिषद्भ्यः" ॥५॥

"मातृभिर्वत्सान् समवार्जयन्ति (११५ पृष्ठ, १६वीं कण्डिका) के प्रकरण में बतलाया गया है कि प्रातःकाल पितृयज्ञ करना है अतः उसके लिए एक निवान्या गो को बिना बछड़े के दूध पीये रखनो चाहिए। अर्थात् और सब वत्सों को छोड़ देना चाहिए। केवल पितृयज्ञार्थ निवान्या के वत्स को नहीं छोड़ना चाहिए। बस इसी अभिप्राय से कहते है—अग्निष्वात्त पितरों के लिए निवान्या गाय के दूध में एक बार एक हो शलाका से मथित मन्थ होता है। अर्थात् किसी काष्ठविशेष से जो कि एक हो, एक ही बार उस सत्तू को दूध में घोल देना चाहिए। दूध में सत्तू डालकर उसे एक बार में मिला देना चाहिए। लकड़ी को डालने के पश्चात् जब तक उसे ब हर निकाल कर वापस न डालें, तब तक सकृत् ही कहलाता है। ऐसा क्यों करे इसका कारण बतलाते हैं। पितर सकृत् ही होते हैं। देवता में जितना प्राणन अपान का बल होता है, जिसके कारण वे 'त्रिसत्याः' कहलाते हैं, पितरप्राण में उतना बल नहीं होता। वह तो आया और गया—बस यही स्वभाव रहता है। बस इसीलिए वह मन्थ सकृत् ही अभिमन्थित होता है। बस पितृयज्ञ में ये ही तीन हवियाँ होती हैं।

> अथ पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्यो निवान्यायै दुग्धे सक्रुदुपमथित
> एकशलाकया मन्थो भवति। सकृदुह्येव पराञ्चः पितरः।
> तस्मात् सकृदुपमन्थितो भवति। एतानि हवींषि भवन्ति ॥६॥

जिन पितरों को पूर्वोक्त हवियाँ दी जाती हैं, उनके सोमसत् बर्हिषत् और अग्निष्वात्त ये नाम कैसे हुए, ये क्यों सोमसत् इत्यादि नामों से व्यवहृत किये जाते हैं, यह बतलाते हैं

—जो पितर सोम से यजन करने वाले हैं, वे सोमसत् पितर कहलाते हैं। एवं जो पिण्डात्मक हवि से लोक को जीतते हैं वे पितर बर्हिषत् कहलाते हैं। एवं जो पितर उन दोनों में से किसी भी स्थान में नहीं पहुँचते हैं, केवल जिनको अग्नि जलाता हुआ खा जाता है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं।

संसार में पदार्थ कुल तीन ही जाति के होते हैं—१ उष्ण, २ अनुष्ण, ३ अनुष्णाशीत। तो बस उष्ण पदार्थों में रहने वाले पितर प्राण हैं, उसे तो अग्निष्वात्त कहते हैं एवं अनुष्णाशीत पदार्थों में रहने वाले पितरों को बर्हिषत् कहते हैं। एवं अनुष्णाशीत पदार्थों में रहने वाले पितरप्राण को अनुष्ण पितर कहते हैं। अग्नि और सोम का मेल दो तरह से होता है। सोम अग्नि में पड़कर अग्निस्वरूप में ही परिणत हो जाता है। यहाँ सोम की मात्रा अनुल्वण रहती है एवं अग्नि की मात्रा उल्वण रहती है। बस येही पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। अग्नि इस सोम को अपने पेट में ले लेता है एवं उस सोम से अपनी आत्मा बना लेता है। अतएव "अग्निना स्वादिताः" इस व्युत्पत्ति से इन पितरों को "अग्निष्वात्त" कहा जाता है। परन्तु यदि सोम उल्वण रहता है, अग्नि उसे हजम नहीं कर सकता है, तो वह पितरप्राण सोमसत् कहलायेगा। यहाँ सोम की मात्रा उल्वण है इसीलिए हम इस पितर को 'सोमसत्' कहने के लिए तयार हैं। याग और योगभेद से सम्बन्ध दो प्रकार का है। जहाँ दो पदार्थों का स्वरूप वर्तमान रहे और उनका ग्रन्थि-बन्धन न होने पावे, वह सम्बन्ध योग कहलायेगा। जैसे चीनी और पानी। परन्तु जब दोनों मिलकर एकस्वरूप में परिणत हो जाते हैं, दोनों मिल जाते हैं एवं उससे तीसरी नयी वस्तु उत्पन्न हो जाती है उसे 'याग' सम्बन्ध कहते हैं। चूंकि ऋताग्नि और सोम एक वस्तु बन जाती है अतएव "सोमेनेजानाः (यागं कुर्वाणाः) यह कहा गया है।

सबका स्पष्टीकरण यही कि सोम की मात्रा जिसमें रहती है, जो पितरप्राण अनुष्ण पदार्थों से खाए जाने वाले हैं, जिनसे अनुष्ण पदार्थों का स्वरूप बनता है, उन्हें 'सोमसत् पितर' कहते हैं। एवं जहां अग्नि की मात्रा उल्वण रहती है अर्थात् जो पितर उष्णपदार्थों का स्वरूप बनाते हैं, उन्हें 'अग्निष्वात्त' कहते हैं। एवं जो पितर अनुष्णाशीत पदार्थों का स्वरूप बनाते हैं उन्हें बर्हिषत् कहते हैं। पानी जब आग में जम जाता है तो वह पदार्थ अनुष्णाशीत कहलाता है चूंकि पार्थिवाग्नि में सोम अर्थात् पानी के जमने से बर्हि की (कुशा की) उत्पत्ति होती है अतएव बर्हि को अनुष्णाशीत कोटि में रखा जाता है। पानी ही आग में जमकर बर्हि बन जाता है। अतएव इस कुशा को 'पानी' भी कहते हैं। तो बस इस बर्हि से अतएव बर्हि से उपलसित यावन्मात्र अनुष्णाशीत पदार्थों की अशनाया से खाए जाने वाले जो पितर हैं, वे बर्हिषत् पितर कहलाते हैं। बस संसार में तीन ही जाति के पितर हैं। इसलिये तो उष्ण, अनुष्ण और अनुष्णाशीत ये तीन ही जाति के पदार्थ हैं। बस इन्हीं का पितृयज्ञ

यजन किया जाता है। हम जिन पदार्थों को देखते हैं वे सब के सब अग्नि और सोम दोनों का परिपाकमात्र है। दोनों सो रहे हैं। अग्नि की उष्णता नष्ट है सोम का शैत्य नष्ट है इसीलिये "अथ ये दत्तेन पक्वेन लोकं जयन्ति ते पितरो बर्हिषदः" कहा गया है। यह तो हुआ वैज्ञनिक अर्थ। अब लीजिये प्रेतपितरों के विषय में। जो सोम याग करते हैं उनका आत्मा उन्हीं प्राकृतिक सोमसत् पितरों में मिल जाता है। अतएव ऐसे प्रेतपितर सोमसत् कहलाते हैं। परन्तु जो सोमयाग नहीं करते हैं। अपितु हविर्यज्ञ ही करते हैं। वे उन प्राकृतिक बर्हिषत् पितरों में मिलकर बर्हिषद् कहलाने लगते हैं। एवं जो यज्ञ नहीं करते एवं मरते समय अग्नि ही जिनके शरीर को जला डालतो है, वे पितर उन प्राकृतिक अग्निष्वात्त पितरों में मिलकर 'अग्निष्वात्त' कहलाने लगते हैं। बस जो पितर हैं, वे येही तीन हैं जिनका कि हम पितृयज्ञ से यजन करते हैं। परन्तु ध्यान रहे कि हम यजन करते हैं उन ऋतुपितरों का व प्राणपितरों का न कि प्रेतपितरों का। प्रेतपितरों का भी तदन्तः-पातित्वात् ग्रहण हो जाता है—यह बात दूसरी है। ऐसी स्थिति में सायणाचार्य का प्रेतमात्र का ही यजन बतलाना और इन प्रेतपितरों को ही अग्निष्वात्त आदि बतलाना नितान्त असंगत समझना चाहिए। हम प्राकृतिक अग्निष्वात्तादि पितरों का पितृयज्ञ से यजन करते हैं न कि प्रेतपितरों का ।। ७ ।।

वह अध्वर्यु गार्हपत्य से पश्चिम की ओर प्राचीनावीती (अपसव्य) हो कर दक्षिणदिशा की ओर मुंह करके षट्कपाल पुरोडाश के लिए हविर्ग्रहण करता है। अर्थात् यव, तण्डुल लेता है—स जघनेन गार्हपत्यं प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एवं षट्कपालं पुरोडाशं गृह्णाति।

तदनन्तर वह अध्वर्यु उस गार्हपत्य से उठकर दक्षिणाग्नि कुण्ड के समीप ही दक्षिणाभि-मुख होकर उस हवि का अवहनन करता है। अर्थात् उसमें से तुष आदि निकालने के लिये उलूखल से कूटता है जिसे कि भाषा में छड़ना कहते हैं।--स तत एवोत्थाय उत्तरेणान्वाहार्य-पचनं दक्षिणा तिष्ठन् अवहन्ति।' बाद में एक बार हो उस हवि का फलीकरण करता है। अर्थात् शूर्प (छाजले से) एक बार ही उस हवि को फटकता है अर्थात उसके तृणादि दूर करता है। परञ्च पितरों का स्वरूप ही 'सकृत्' है, अतः सकृत् फलीकरोति ।। ८ ।।

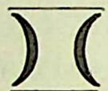
वह अध्वर्यु दक्षिण की तरफ मुख किए ही उस अवहननस्थान में इस हवि को पोसने के लिए शिला और लोढी रख देता है —

"स दक्षिणैव (दक्षिणामुखएव) दृषदुपलेऽउपदधाति।"

तदनन्तर गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि दोनों में पके हुए उस षट्कपाल पुरोडाश को रख देते हैं —"दक्षिणार्द्धे गार्हपत्यस्य षट्कपालान्युपदधाति" इस पितृयज्ञ में जो बार-बार दक्षिण दिशा का सम्बन्ध बतलाया जाता है उसका कारण बताते हैं—"तद्यदेतां दक्षिणां दिशं सचन्ते"

तदुच्यते । जैसे प्राचीदिक् देवताओं की है पश्चिमा वरुण की है वैसे ही दक्षिणादिक् चूंकि पितरों की है अतएव ऋत्विक् लोग दक्षिणा दिक् में ही समवेत होते हैं। अर्थात् इस पितृकार्य में इसीलिए सारा कर्म्म दक्षिणाभिमुख होकर ही किया जाता है । बात सच है । सोम्यप्राण को ही पितर कहते हैं । यह सोम उत्तर से दक्षिण की ओर ही जाकर अपनी स्थिति बनाता है अतः "एषा हि दिक् पितॄणाम्" कहना ठीक है । तस्मादेतां दक्षिणां दिशं सचन्ते ।।६।।

तदनन्तर वह अध्वर्यु अन्वाहार्यपचन के (दक्षिणाग्नि के) दक्षिण भाग में चार कोण वाली वेदि बनाता है । पितृयज्ञ के अतिरिक्त जितने भी यज्ञ हैं उनमें वेदि निम्न आकार की बनती है—



मनुष्य के शरीर के आकार की अर्थात् धड़ के आकार की वेदि बनती है । उन कोणों के बीच का जो स्थान है, देवप्राण उधर होकर ही वेदि में प्रविष्ट होता है । परन्तु चूंकि पितर अवान्तरदिक्स्वरूप हैं अर्थात् अवान्तर दिशा में ही पितर रहते हैं अतः यह पितृवेदि चारों अवान्तर दिशाओं की ओर ही बनाई जाती है । क्योंकि पितरप्राण उधर से ही तो आता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—"अथ दक्षिणेन अन्वाहार्यपचनं चतुःस्रक्ति वेदिं करोति । अवान्तरदिशोऽनुस्रक्तीः करोति । चतस्रो वा अवान्तरदिशः । अवान्तरदिशो वै पितरः । तस्मादवान्तरदिशोऽनुस्रक्तीः करोति ।।" इति ।

सोम्यप्राण का नाम पितर है । सोम, वायु और आप् ये तीनों ही ऋत पदार्थ हैं । ऋत पदार्थ खाली स्थान पर भर जाता है । देवप्राण सत्यरेखा पर चलता है । उसका मार्ग नियत है । इन्द्रप्राण सदा पूर्व से पश्चिम की ओर जाया करता है । इन्द्रप्राण ही नहीं सारे देवता पूर्व से ही आया करते हैं । क्योंकि सूर्य पूर्व में ही रहता है एवं इन्द्रादि सारे देवता सूर्य में रहते हैं । इसीलिए "चित्रं देवानामुदगादनीकम्" कहा जाता है । कहने का तात्पर्य यही है कि इन्द्र को (देवताओं की) दिक् प्राची है एवं वरुण की दिक् पश्चिमा है । चन्द्रमा की उत्तरा है एवं यम की दक्षिणा दिक् है । इसीलिये तो इन चारों दिशाओं के ये चारों लोकपाल कहलाते हैं । परन्तु पितर सन्धिस्थानीय हैं, ऋत पदार्थ हैं । खाली स्थान पर पितृप्राण भर जाता है । पूर्व दिशा के स्वामी इन्द्र हैं । पश्चिम के वरुण हैं । उत्तर के चन्द्रमा हैं एवं दक्षिण के यम हैं । इन चारों का मार्ग सत्य है । इसीलिये तो "सत्यसंहिता वै देवाः" यह कहा जाता है । इन चारों देवता की जो चारों सन्धियाँ हैं, उन्हीं में पितृप्राण भरा रहता है । उन चारों सन्धिस्थानों को ही आग्नेय. वायव्य, ईशान, नैर्ऋत्य नाम से व्यवहृत करते हैं । सन्धिस्थान में पितर भर जाते हैं एवं सन्धिस्थान हैं चार,

अतएव "अवान्तरदिशो वै पितरः" यह कह दिया गया है। वस्तुतः जहाँ खाली स्थान हैं, जहाँ पर कि देवता का सम्बन्ध नहीं है, उसे ही अवान्तर दिशा समझना चाहिये जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायेगा। यह जितना खुला स्थान देख रहे हैं, वह सारा का सारा ही अवान्तर दिक् के अन्तर्गत है। दिग्व्यवस्था देवप्राणसम्बन्ध से होती है। जहाँ देवप्राण नहीं, वह सब अवान्तर स्थान है यह सामान्य परिभाषा समझनी चाहिये। एक तिल को आप रख दीजिये। उस पर आने वाली सूर्यरश्मि उस पर प्रतिफलित होकर अपने सत्य मार्ग से पुनः लौट जायेगी। क्या मजाल कि रश्मि तिल के उस ओर चली जाय। चली कैसे जाय जब कि देवता का मार्ग सत्यस्वरूप है। परन्तु एक जलप्रवाह में आप किसी काष्ठ के लट्ठे को डाल दीजिये। पानी उतनी दूर का तो अवश्य रुक जायेगा परन्तु लट्ठे के इधर-उधर होकर शीघ्र ही उस पार निकल जायेगा। रश्मिवत् उसकी गति वहाँ सर्वथा रुक ही नहीं जायेगी। जल ऋत है। जहाँ रोका जाता है. वहाँ रुक जाता है। शेष खाली स्थान पर स्वयं भर जाता है। तो प्रकृत में हमें यही कहना है कि सोम ऋत पदार्थ है। सौम्यप्राण ही को पितर कहते हैं। पितर खाली स्थान में रहते हैं, सन्धिस्थान में रहते हैं। देवताओं के सन्धिस्थान आग्नेयकोण आदि हैं जिन्हें कि अवान्तर दिशा कहते हैं। अतः इस पितृवेदि की स्रक्तियाँ उन अवान्तर दिशाओं की ओर ही बनानी चाहियें क्योंकि पितर का आगमन उन अवान्तर दिशाओं की ओर ही से तो होता है। बस इसी अभिप्राय से "चतस्रो वा अवान्तरदिशः। अवान्तरदिशो वै पितरः। तस्मादवान्तरदिशोऽनुस्रक्तीः करोति" यह कहा गया है। इस प्रकार से अवान्तर दिशाओं में पितृवेदि की स्रक्ति (कोण) बना कर उस वेदि के ठीक मध्य में अग्निस्थापन करते हैं—"तन्मध्येऽग्निं समादधाति" इति। देवता सदा पूर्व से आया करते हैं। सूर्य पूर्व में बृहती रेखा पर स्थिर रूप से तपा करता है। उसकी रश्मियाँ सदा पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर जाया करती हैं। इसीलिए "प्राची हि देवानां दिक्" यह कहा जाता है। अतएव देवता जब कभी मनुष्यों की ओर आते हैं, प्रत्यङ्मुख होकर ही आते हैं। सदा पश्चिम की ओर मुख किये हुये ही मनुष्यों की ओर देवप्राण आता रहता है। अर्थात् सौर-प्राण का सूर्यरश्मियों का हमारे साथ सम्बन्ध प्रत्यङ्मुखत्वेन ही होता है। रश्मियाँ पश्चिम की ओर मुख किये हुये ही हमारे से सम्बद्ध होती हैं। सूर्य्य ही में चूंकि सारे देवता रहते हैं, अतएव देवता उधर से आते हैं, यह कह दिया गया है। तो जिधर से जिसका आगमन हो उसके आदर के लिए उसी दिक् की ओर अभिमुख होना पड़ता है। देवता मनुष्यों की ओर पूर्व से आते हैं अतः पूर्वाभिमुख हो देवताओं को आहवनीय में (जो कि देवताओं का स्थान है) आहुति देनी चाहिये। इसी अभिप्राय से कहते हैं— पूर्व की ओर से प्रत्यङ्मुख होकर देवता लोग मनुष्यों की अर्थात् अध्वर्यु यजमानादि की ओर आते हैं, अतएव उनके

लिए पूर्वाभिमुख होकर ही यह अध्वर्यु आहुति प्रदान करता है। करना भी ऐसा ही चाहिये क्योंकि प्राची दिक् ही तो देवताओं की दिक् है — "पुरस्ताद् वै देवाः प्रत्यञ्चो (प्रत्यङ्मुखाः) मनुष्यानभ्युपावृत्ता (उपगता भवन्ति) तस्मात्तेभ्यः प्राङ् तिष्ठन् जुहोति ।।" परन्तु पितर तो सोममय है। सोम क्योंकि ऋत है, इसलिए वह तो सर्वत्र भरा हुआ है। देवता की तरह उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहाँ खाली स्थान रहता है, पितर वहीं भर जाता है। 'सर्वतः पितरः'। जब कि चारों दिशाएँ देवप्राण से रुक गयीं तो ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि पितर अवान्तर दिक् में रहते हैं। हम पुनः स्मरण दिला देते हैं कि अवान्तर दिशा से आग्नेयकोण आदि ४ ही दिशाएँ अभिप्रेत नहीं समझनी चाहिएँ अपितु खाली स्थान ही से तात्पर्य समझना चाहिये। इसीलिए 'अवान्तरदिशो वै पितरः" कहकर उसका स्पष्टीकरण करते हुए याज्ञवल्क्य कह देते हैं—"सर्वतः अवान्तरदिशः।" क्योंकि सर्वतः अवान्तर दिशाएँ हैं एवं उन्हीं में पितृप्राण रहता है, अतः किसी नियत कोण में अग्नि का स्थापन न कर वेदि के मध्य में अग्निस्थापन करते हैं। मध्य में स्थापित करने से चारों ओर से पितर का सम्बन्ध हो जाता है। एक ओर ही करने से सर्वात्मना पितृप्राण का सम्बन्ध नहीं होता। "तस्मान् मध्येऽग्निं समादधाति" ।।११।।

वह अध्वर्यु वेदिसम्पादन के अनन्तर उस वेदि के ऊपर प्राची दिशा में (दक्षिणदिशा में) स्तम्बयजु का हरण करता है अर्थात् कुशा बिखेरता है। क्यों बिखेरता है, स्तम्बयजु किसे कहते हैं—यह प्रथम काण्ड के स्तम्बयजुर्हरण-प्रकरण में बतला दिया गया है। अतः इसकी उपपत्ति को यदि जानना हो तो वहीं से ज्ञात करना चाहिये। (वेदि ब्रा. १४ पृष्ठ १२ कण्डिका द्वितीय ब्राह्मण, प्रथम काण्ड)

देवता का यजन पुर्वाभिमुख होकर किया जाता है, परन्तु पितरों का यजन दक्षिणाभिमुख होकर किया जाता है। जिस ओर जिसका यजन किया जाता है, उसकी वह दिक् पूर्वादिक् कहलाती है। बस इसीलिये प्रकृत में दक्षिणा दिक् को ही प्राची बतलाते हुए "प्राक् स्तम्बयजुर्हरति"कह दिया गया है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार लिखते हैं—"स तत एवेत्यादि। अस्मिन् हि पितृयज्ञे दक्षिणादिक् प्राची जाता ततः प्राक् प्रतिच्युते दक्षिणोत्तर दिशौ सम्पन्नौ। तत्र सव्यभागेऽवस्थिता प्राची दिक् उत्तरा, दक्षिणभागावस्थिता प्रतीची दिक् दक्षिणा। तथाच प्रकृतौ (दर्शपौर्णमासेष्टौ) उदीच्यां दिशि क्रियमाणं स्तम्बयजुर्हरणमत्र प्राच्यां सम्पद्यते। "तात्पर्य यही है कि दर्शपूर्णमासेष्टि में उत्तर की ओर असुरनिरोधार्थं स्तम्बयजुर्हरण किया जाता था एवं यहां पूर्व की ओर (दक्षिण) स्तम्बयजुर्हरण करना चाहिए।

"स तत एव प्राक् स्तम्बयजुर्हरति" इति।

असुरों के विनाश के लिए स्तम्बयजुर्हरण किया जाता है। स्तम्ब कहते हैं कुशा को उसका हरण जिस यजुर्मन्त्र से किया जाता है उसे 'स्तम्बयजु' कहते हैं। सर्वप्रथम पृथिवीस्थानीय वेदि पर से ही स्तम्बयजु का अपहरण किया जाता है। वेदिनिर्म्माण में पहिले स्तम्बयजुर्हरण किया जाता है, बाद में तृण आदि को उठाकर इधर-उधर फेंक दिया जाता है। बाद में वेदि के चारों ओर कुशा का परिग्रह किया जाता है। देवताओं ने विष्णु का छन्दों से परिग्रह करके इस पृथिवी ही को असुरों से छीन लिया था। अतएव "यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि" इस मर्यादा का पालन करने के लिए इस पितृवेदि में भी परिग्रह किया जाता है। तात्पर्य यही है कि कुशा से चारों ओर नाप कर वेदि बना दी जाती है। कुशा से नाप कर वेदि बनाना अर्थात् उतनी पृथिवी असुरों से छीनना है। स्तम्बयजुर्हरण एवं परिग्रह आदि की उपपत्ति वेदिब्राह्मण में देखनी चाहिए। पुनरुक्तिदोषपरिहारार्थ उन सब कार्यों की उपपत्ति नहीं बतलाई गई है। 'प्रकृतिवत् विकृतिः कर्त्तव्या' के अनुसार सारा कार्य प्रकृतिवत् समझना चाहिए। परिग्रह वेदि के चारों ओर किया जाता है। तात्पर्य यही है कि दक्षिण से प्रारम्भ कर चारों ओर कुशा से वेदि के चौतरफ रेखा करना ही परिग्रह कहलाता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं— वह अध्वर्यु स्तम्बयजुर्हरणानन्तर 'अग्रे' प्रथम दक्षिण से प्रारम्भ कर अर्थात् पितृवेदि के पूर्वभाग से प्रारम्भ कर पश्चिम भाग तक कुशा से परिग्रह करता है। इसके बाद वहां से पूर्व परिग्रह से परिग्रह कर उल्लेखन करता है। मिट्टी में यदि कोई कंकर आदि (हार्य) होती है तो उसे निकाल देता है। यदि वेदि में कंकर या कूड़ाकर्कट रह जाता है तो यजमान के शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। अतः चाहे मिट्टी स्वच्छ हो, तथापि सावधानी के लिए उसका (मिट्टी का) कुशा से उल्लेखन कर ही देना चाहिए। यदि उस उल्लेखन से मिट्टी को कुरेदने से कंकरी आदि निकल आवे तो उसे दूर कर ही देनी चाहिए। यदि न हो तो उल्लेखन मात्र करके छोड़ देना चाहिये। "हरति यत् हार्यं भवति" निकालता है उसे जो कि निकाल कर बाहर फेंकने की चीज होती है। पूर्व का परिग्रह करो, इस बात का संकेत करने के लिए वेदि की ओर इंगित करते हुए "अथ इति-अथ इति" यह कहा गया है। उल्लेखनान्तर उस अध्वर्यु ने जिस तरह पूर्व परिग्रह किया था उसी प्रकार से उत्तर परिग्रह करता है। इस प्रकार से उत्तर परिग्रह से वेदि का परिग्रह करके असुरों के पंजे से पृथिवीस्वरूप वेदि को छुड़ाकर तदनन्तर 'पुरा क्रूरस्य' इस मन्त्र से दर्शपूर्णमासवत् इस वेदि का प्रतिमार्जन करता है। अर्थात् वेदि में से कंकर फूस आदि निकालकर चन्द्रगत सोमपावित्र्य की भावना इस वेदि में करता है। इसका विस्तृत विवेचन वेदिब्राह्मण में 'पुरा क्रूरस्य' मन्त्र के अर्थ में देखना चाहिए। इस प्रकार से वेदिसंमार्जन करके अध्वर्यु आग्नीध्र के प्रति कहता है — "प्रोक्षणीरासादय" अर्थात् हे आग्नीध्र ! प्रोक्षण करने के

जल के पात्र को यहाँ रख दो। प्रोक्षणी को इध्म, स्रुवा, स्रुचि, बर्हि, आज्यादि का उपलक्षण समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं— "वह आग्नीध्र अध्वर्यु के प्रैष से प्रोक्षणी को लाकर वहां रख देता है। एवं इध्म और कुशा रख देता है। स्रुवा और स्रुचि को साफ कर उन्हें रख देता है एवं घृत को लेकर अध्वर्यु के पास आ जाता है। तात्पर्य यह है कि सारी सामग्री अध्वर्यु के पास उपस्थित कर देता है। ये सारे कर्म्म प्रकृतिवत् करने चाहिएं। बस इसीलिए उनका विस्तार से विवेचन न कर संकेत बतला देते हैं—"स तत एव स्तम्बयजुर्हरति। स्तम्बयजुर्हृत्या अथेति एवाग्रे परिगृह्णाति। अथेत्यथेति पूर्वेण परिग्रहेण परिगृह्य लिखति। हरति यद्धार्यं भवति। स तथैवोत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्णाति। उत्तरेण परिग्रहेण परिगृह्य प्रतिमृज्य, आह — प्रोक्षणीरासादय। आसादयन्ति प्रोक्षणी:। इध्मं बर्हिरुपसादयति। स्रुचः संमार्ष्टि। आज्येनोदैति।" इस प्रकार से स्तम्बयजु से आज्यग्रहण तक के कर्म्म अध्वर्यु को प्राचीनावीती (अपसव्य) होकर के ही करने चाहिएँ। इसके पश्चात् का जो कर्म्म है उसमें यज्ञोपवीती हो जाना चाहिए। आज्य की आहुति देवताओं के लिए दी जाती है, अतः उसका ग्रहण करते समय यज्ञोपवीती हो जाना चाहिए। तो जिस समय आग्नीध्र आज्यभाग के लिए घृत लाता है उस समय अध्वर्यु यज्ञोपवीती होकर उस घृत को अपने हाथ में लेता है—

"स यज्ञोपवीती भूत्वा आज्यानि गृह्णाति" इति ॥१२॥

उस घृत को उपभृत् में ले लिया जाता है। इस विषय में कई याज्ञिकों का मत है कि वह अध्वर्यु पितृयज्ञ में उस आज्यस्थाली में से दो ही बार करके उपभृत् में घृत का ग्रहण करे। अर्थात् दो बार करके ही उपभृत् में घृत को डाले। क्योंकि पितृयज्ञ में दो ही तो अनुयाज होते हैं। चूंकि घृत की आहुति अनुयाजों के लिए है एवं अनुयाज पितृयज्ञ में होते हैं दो ही, अतः न्यायप्राप्त दो ही बार उपभृत् में घृत लेना चाहिए। — "द्विरुपभृति गृह्णीयात्। द्वौह्यत्रानुयाजौ भवत इति—वदन्त इति शेषः।" याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि हमारे मत से वह अध्वर्यु प्रकृतिवत् आठ बार करके ही उपभृत् में घृत डाले। जबकि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" यह सिद्धान्त है तो फिर दो ही बार आज्य क्यों लिया जाय। हम यज्ञ के नियम से बाहर न चले जायें। प्रकृति की मर्य्यादा का उल्लंघन न कर बैठें, अतः आठ बार करके ही घृत का ग्रहण करें। हाँ, आहुति दो बार करके भी डाल सकते हैं। "तस्मादष्टावेव कृत्व उपभृति।" आज्यग्रहण के अनन्तर इध्म-प्रोक्षणादि कर्म्म करते समय अध्वर्यु पुनः प्राचीनावीती (अपसव्य) हो जाता है।

आज्यानि गृहीत्वा स पुनः प्राचीनावीती भूत्वा — ॥१३॥

आज्यग्रहणानन्तर अध्वर्यु पुनः प्राचीनावीती होकर प्रोक्षणी पात्र को अपने हाथ में ले लेता है — "प्रोक्षणीरध्वर्यु रादत्ते।" सबसे प्रथम वह अध्वर्यु इध्म का ही प्रोक्षण करता है।

बाद में वेदि का प्रोक्षण करता है। इसके पश्चात् आग्नीध्र कुशा लाकर अध्वर्यु के हाथ में सौंप देता है — "अस्मै (अध्वर्यवे) बर्हिः प्रयच्छन्ति (ददति)"—उस बर्हि को पूर्व की ओर उसकी गांठ रख के उसे वेदि पर रख देते हैं। पूर्व की ओर से दक्षिण दिक् अभिप्रेत समझनी चाहिए। क्योंकि दक्षिण दिक् ही पितरों की पूर्वा दिक् है। बाद में इस बर्हि का प्रोक्षण करता है। बर्हि का प्रोक्षण करके उस पात्र में जो जल शेष रह जाता है, उसे "अदित्यै व्युन्दनसीति" मन्त्र से ओषधि की जड़ों में डालकर उस बर्हि की गांठ को खोलकर प्रस्तर का ग्रहण नहीं करता है। प्रकृतियज्ञ में ग्रन्थिविस्रंसन के अनन्तर प्रस्तर का ग्रहण किया जाता है — "अथ विस्रंस्य ग्रन्थिम् पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति" (शा० २२ पृ. ५ कण्डिका ब्राह्मण ३ अध्याय द्वितीयप्रपाठक) परन्तु इस पितृयज्ञ में प्रस्तर-ग्रहण नहीं होता। "स इदमेवाग्रे प्रोक्षति। अथ वेदिम्। अथास्मै बर्हिः प्रयच्छन्ति। तत् पुरस्ताद्ग्रन्थ्यासादयति। तत् प्रोक्ष्य उपनिनीय (ओषधिमूले) विस्रंस्य ग्रन्थिम् न प्रस्तरं गृह्णति" प्रस्तराग्रहणस्य कारणयुच्यते–पितर एक बार ही में वापस लौट जाने वाले हैं। उनमें प्राणनापानन नहीं होता। बस इसीलिए प्रस्तर का ग्रहण नहीं करते। बर्हि के साथ प्रस्तर के ग्रहण करने से सकृत् (एकत्व) भाव हट जाता है अतएव प्रस्तर-ग्रहण नहीं किया जाता। "तस्मान्न प्रस्तरं गृह्णाति" ॥१४॥

इसके अनन्तर (बर्हि का प्रोक्षण करने के अनन्तर) बर्हि के संनहन को (डोरी को) खोल कर वेदि के वामावर्त होकर (अपसलवि) उस कुशा को वेदि के चारों ओर बिखेरते हुए तीन बार परिक्रमा करते हैं। अग्नि, सोम, बर्हि, पितर तीन हैं। इसलिए तीन बार परिक्रमा की जाती है। बायें हाथ को बाहर रखना और दायें हाथ को भीतर की ओर रखना अपसलवि कहलाता है। अर्थात् बाएँ भाग की ओर से परिक्रमा करना अपसलवि है। "अपसलवि त्रिः परिस्तृणन् पर्येति।" इस प्रकार से तीन बार परिस्तरण करके जितनी कुशा से प्रस्तर बन जाये, उतनी कुशा बचा लेता है। अर्थात् सारी ही कुशा नहीं डाल देनी चाहिए, अपितु प्रस्तर जितनी कुशा से बन जाय उतनी कुशा बचा लेनी चाहिए— "त्रिः परिस्तीर्य यावत् प्रस्तरभाजनं तावत् परिशिनष्टि।" तदनन्तर पुनः प्रसलवि होकर इस वेदि के चारों ओर तीन बार परिक्रमा करता है — 'अथ पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति" दक्षिण भाग को आगे रखकर एवं वाम भाग को पीछे रखकर जाना प्रसलवि कहलाता है। जिधर से जिस ओर से आए थे, उधर से उसी ओर को पुनः चले जाना चाहिए, यही "अथ पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति" का तात्पर्य है। अपसलवि परिक्रमा के अनन्तर जिस लिए पुनः प्रसलवि होकर परिक्रमा करता है— इसकी उपपत्ति बतलाते हैं "यत् पुनः प्रसलवि त्रिः पर्येति तदुच्यते।" अपसलवि द्वारा जिन अग्निष्वात्ता, सोमसत् एवं बर्हिषत् दिव्य पितरों को उनके लोक से अपने पास अपने लोक में जिस मार्ग से बुलाया था, उनको इस

प्रसलवि-परिक्रमा द्वारा उसी मार्ग से पुनः पहुँचाने की भावना करता है। उनको अपने स्वकीय लोक में पहुँचाने के लिए प्रसलवि परिक्रमा करता है। अपसलवि द्वारा जिस ओर से उन्हें बुलाया था, प्रसलवि द्वारा उसी ओर उन्हें पहुंचाना है।

"तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः पर्य्येति।" ॥१५॥

तदनन्तर वह अध्वर्यु उस दक्षिणाग्नि के दक्षिण ओर ही पहिले परिधि रखता है। इसके बाद पूर्व और पश्चिम की ओर परिधि रखता है। इस प्रकार से दक्षिणाभिमुख होकर दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तीनों ओर परिधियां रख देता है। — "स दक्षिणैव परिधीन् परिदधाति।" इसके बाद दक्षिणाभिमुख होकर ही उस वेदि पर प्रस्तर को बिछा देता है। प्रकृतियज्ञ में प्रस्तर के नीचे पहिले उत्तराग्र कुशा रखी जाती है, बाद में उस कुशास्तरण के ऊपर पूर्वाग्र प्रस्तर रखा जाता है। परन्तु यहाँ उस प्रस्तर के नीचे विधृति नहीं रखते हैं, अपितु प्रस्तर मात्र ही रखते हैं—'नान्तर्दधाति।' पितर एक बार ही में पुनः लौट जाने वाले होते हैं, उनमें प्राणनापानन नहीं होता, अतएव सकृत्त्वप्राप्ति के लिए ही प्रस्तर के नीचे विधृति नहीं रखी जाती। केवल प्रस्तर ही रखा जाता है। "तस्मान्नान्तर्दधाति विधृती ॥१६॥

इसके पश्चात् उस प्रस्तर पर यह अध्वर्यु उस वेदि के पश्चिम भाग में जुहू रख देता है। "स तत्र जुहूमासादयति (दक्षिणा मुखं कृत्वा) इसके बाद वेदि के पूर्व भाग में पूर्वाभिमुख करके उपभृत् को रखता है। उससे भी पूर्व ध्रुवा रखता है। बाद में सब के अन्त में पुरोडाश रखता है। बस इस प्रकार से क्रमशः जुहू, उपभृत् ध्रुवा और पुरोडाश धाना (धाणी) एवं मन्थ इन सारी वस्तुओं को रखकर उन सब का हाथ से स्पर्श करता है।

"आसाद्य संमृशति।" ॥१७॥

यहाँ तक का कर्म प्राचीनावीती बनकर ही किया गया था। अब यहाँ से न केवल अध्वर्यु ही अपितु सारे ऋत्विक् यज्ञोपवीती होकर इस स्थान से यजमान और ब्रह्मा पीछे-पीछे और आग्नीध्र उन दोनों के आगे चलता है। अर्थात् सबसे आगे आग्नीध्र चलता है। बाद में ब्रह्मा चलता है। बाद में यजमान चलता है।

"इत्थाद्यजमानश्च ब्रह्मा च पश्चात् परीतः पुरस्तादग्नीत्।" ॥१८॥

जिस प्रकार देवयज्ञ उच्च स्वर से मन्त्र बोलकर किया जाता है, तद्वत् पितृयज्ञ ऊँचे स्वर से नहीं किया जाता है। इस पितृयज्ञ में उपांशु ही प्रचार करते हैं। अर्थात् धीरे-धीरे मन्त्र बोलकर ही पितृयज्ञ किया जाता है। 'तेनोपांशु चरन्ति'। इसका कारण बतलाते हैं— पितर मनुष्यों से तिरोहित ही होते हैं। जो घोर अन्धकारमय तमोमय प्राण है, उसे असुर कहते हैं एवं सावित्रीप्रकाश को देवता कहते हैं। और गायत्रीप्रकाश

को पितर कहते हैं। सूर्य का जो प्रखर आतप है, वही देवता है, उसी प्रकाश का नाम देवता है। परन्तु जो गायत्रीप्रकाश है, जहां पर कि धूप नहीं है, किन्तु प्रकाश है, अर्थात् छाया है, वह छायात्मक प्रकाश ही पितर कहलाता है। पितर सूर्य के प्रकाश में कभी नहीं रह सकते। वे सदा गायत्रीप्रकाश में ही रहते हैं। इसीलिए पितृकर्म्म में गायत्री जप करवाये जाते हैं। क्योंकि गायत्री ही तो उनके स्वरूप की रक्षा करती है। तात्पर्य यही है कि प्रकाश और अन्धकार की मध्यावस्था का नाम 'पितर' है। देवता तो प्रत्यक्ष हैं एवं असुर सर्वथा अप्रत्यक्ष हैं, परन्तु पितर चूंकि प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष हैं, अतएव इनके लिये 'तिर इव' कहा गया है। बिल्कुल तिरः तो असुर है, यह तो तिर इव है। इसी तिरोहितत्वसम्पत्ति के लिए ही पितृकर्म्म में दोनों को ऊँधा कर दिया जाता है। क्योंकि पितर 'तिर इव' है। यदि बिल्कुल तिरोहित होते, तो बोला ही न जाता। यदि प्रकाशवत् प्रत्यक्ष होते तो ऊँचे स्वर से बोला जाता। चूंकि यह प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष है, अतएव 'उपांशु' बोला जाता है। पितर तिरोहित ही से रहते हैं एवं उपांशु बोलना भी 'तिर इव' ही है। बस इसीलिये पितृयज्ञ से उपांशु ही प्रचार करते हैं। अर्थात् धीरे-धीरे मन्त्र बोलकर ही पितृयज्ञ करते हैं।

"तस्मादुपांशु चरन्ति" (ऋत्विजः) ॥१९॥

अपिच सारे ऋत्विक् परिवेष्टित स्थान में ही पितृयज्ञ करते हैं। अर्थात् छाया में पितृयज्ञ करते हैं। न कि प्रकाश में। पितृयज्ञ के स्थान में धूप के प्रतिरोध के लिये पर्दा लगा दिया जाता है। उस परिवेष्टित स्थान में ही पितृयज्ञ किया जाता है। पितर तिरोहित रहते हैं। यह परिवृत स्थान भी 'तिर इव' ही है। बस इसीलिये परिवृत स्थान में ही पितृयज्ञ करते हैं। "तस्मात् परिवृते चरन्ति" ॥२०॥

तदनन्तर अध्वर्यु होता के प्रति 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' यह प्रैष करता है। हे होता, अब तुम समिध्यमान अग्नि के लिए अनुवाक्या मन्त्र बोलो—यह कहता है। वह होता 'अग्नये' इत्यादि से प्रेषित होकर एक ही सामधेनी मन्त्र को तीन बार बोलता है। 'स एकामेव होता सामधेनीं त्रिरन्वाह प्रवोवाजा' इत्यादि। सामिधेनी १५ हैं। उनमें से एक ही सामधेनी मन्त्र को तीन बार बोलता है। पितर एक बार में ही वापस लौटने वाले होते हैं,अतः एक सामिधेनी को तीन बार ही बोला जाता है। अग्निष्वात्ता सोमसत् और बर्हिषत् ये तीन पितर हैं। अतः तीनों के लिए एक-एक अनुवाक्यामन्त्र बोला जाता है—

"तस्मादेकां होता सामधेनीं त्रिरन्वाह" ॥२१॥

वह होता अनुवाक्यामन्त्र बोलता है—

"उशन्तस्त्वा निधीमहि उशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषेऽअत्तवे" ॥ इति ॥

हे अग्ने ! उशन्तः (कामयमाना वयं) त्वां निधीमहि (स्थापयामः) एवं उशन्तः (कामयमाना एव) त्वां समिधीमहि समिद्धं प्रज्वलितं करवामहै । हे अग्ने ! त्वमपि (अस्मदुक्तमर्थं) उशन् सन् (कामयमानः सन्) अस्मदीयं यज्ञं कामयमानान् पितॄन् हविषे अत्तवे 'अस्माभिर्दत्तं हविर्भोक्तुम्' आवह आगमय।

हे अग्ने ! बड़ी गर्ज से हम आपको इस वेदि पर स्थापित करते हैं । हे अग्ने ! उस अद्भुत यज्ञफलकामना से प्रेरित होकर हम आपको प्रज्वलित कर समृद्ध बनाते हैं। हे अग्ने ! जैसे हम आपको समृद्ध बनाते हैं तद्वत् आप भी हमारी इस अभिलाषा को ध्यान में रखते हुए हमारे यज्ञ को चाहने वाले उन पितरों को हमारे दिये हुए पुरोडाशादि हवि के भक्षण के लिये बुलाइये।

इस प्रकार से सामिधेनी-अनुवचनानन्तर "अध्वर्यु अग्निमावह, सोमायावह, पितॄन्, सोमवत आवह, पितॄन् बर्हिषद आवह, पितॄनग्निष्वात्तानावह, देवाँ ३ आज्यपाँ ३ आवह, अग्नि होत्राय आवह, स्वं महिमानम् आवह" यह निगद-मंत्र बोलकर बैठ जाता है। इनमें अग्नि और सोम आज्यभाग के देवता हैं। तीनों पितर प्रधान देवता हैं। आज्यपा देव प्रयाजानुयाजदेवता हैं एवं 'अग्नि होत्रायावह' से सब के आवाहन के लिए अग्नि का प्रैष किया जाता है। 'स्वं महिमानमावह' से स्विष्टकृत् देवता के आवाहन का प्रतिपादन है। बस इन्हीं का यजन इस पितृयज्ञ में किया जाता है ।।२२।।

तदनन्तर अध्वर्यु 'ओं स्वधा' इत्यादि आश्रावण कर्म करके होता का प्रवरण नहीं करता है। अर्थात् इस पितृयज्ञ में होतृप्रवरण कर्म नहीं होता है ।'न होतारं प्रवृणीते'। इसका कारण बतलाते हैं — यह पितृयज्ञ है। दान का सम्बन्ध सोम से है। होता अग्निस्वरूप है। अग्नि का विभाग दूसरा है, सोम का विभाग दूसरा है। देवकर्म्म में अग्निस्वरूप होता का सम्बन्ध होता है न कि पितृकर्म में। हम होता को पितरों में स्थापित न कर दें अर्थात् अग्नि का सम्बन्ध सोम्यप्राण पितरों से न कर दें । बस इसीलिए होता का प्रवरण नहीं करते हैं। 'तस्मान्न होतारं प्रवृणीते।' प्रवरण न करके अध्वर्यु होता के प्रति केवल 'सीद होतः' यही कह देता है। 'सीद होतरित्येव आह, (अध्वर्युः) उसके इस प्रैष से होता होतृसदन में बैठ जाता है। वहां बैठकर होता अध्वर्यु का प्रसव करता है। अर्थात् अब आप यह कर्म्म कीजिये, अब यह कर्म कीजिए इसके लिये प्रेरणा करता है। होता से प्रसूत(प्रेरित)अध्वर्यु जुहू और उपभृत् को लेकर प्रत्यङ्मुख होकर वहां से चलता है। इस प्रकार वहां से चलकर वेदि के पश्चिम भाग में बैठ कर 'ओं स्वधा' इत्यादि रूप से आश्रावण करके होता के प्रति कहता है – 'समिधो यज।' तदनन्तर 'ये यजामहे' के बाद अध्वर्यु ही बिना बर्हि वाले ४ प्रयाजों का यजन करता है। अर्थात् बिना कुशाधान के ही प्रयाज किये जाते हैं। क्यों बिना कुशा के ही प्रयाज किये जाते हैं इसका कारण बतलाते हैं —

निदान द्वारा बर्हि प्रजास्वरूप है। तत्तत् पदार्थों के लिये भिन्न-भिन्न संकेत निश्चित कर दिये जाते हैं। बस इस संकेत ही को निदान कहते हैं। पृथिवो का निदानेन नाम है—कमल। छत्र से सम्बन्ध क्षत्रिय का है। एवमेव प्रजा का निदान है बर्हि। कमल शब्द से पृथिवी का विचार बँध जाता है। हमारा विचार ही सत्यस्वरूप में परिणत हो जाता है। प्रजा बर्हि है। यदि प्रयाजों में इन्हें रखा जायेगा तो प्रजा का पितरों में रखने का विचार बँध जायेगा। ऐसी दशा में यजमानप्रजा पितरों में जा मिलेगी अर्थात् मर जायेगी। हम प्रजा को पितरों में न रख दें अर्थात् नाश न कर दें। बस इसीलिये बिना बर्हि लिये ही ४ प्रयाजों का यजन करते हैं। "तस्माद बर्हिषश्चतुरः प्रयाजान् यजति"। इसके बाद आग्नेय आज्यभाग और सौम्य आज्यभाग करते हैं। इस प्रकार से दोनों आज्यभाग करके ॥२३॥

ब्रह्मा, यजमान एवं आग्नीध्र सारे के सारे ऋत्विक् प्राचीनावीती होकर अब इन प्रधान हवियों से आचरण करेंगे अर्थात् प्रधानकर्म्म करेंगे। इसलिये यहां से यजमान और ब्रह्मा तो आगे हो जाते हैं एवं आग्नीध्र पीछे हो जाते हैं। सब से आगे यजमान रहता है। बाद में ब्रह्मा रहते हैं। बाद में आग्नीध्र रहता है।

"एतैर्हविर्भिःप्रचरिष्यन्त इत्याद्यजमानश्च ब्रह्मा च पुरस्तात् परीतः पश्चादग्नीत्।"

यहां पर आकर अध्वर्यु प्रधान कर्म्म के लिये आश्रावण करता है देवकर्म्म में जो 'ओश्रावय' बोला जाता है उसके स्थान पर इस पितृयज्ञ में 'ओं स्वधा' यह आश्रावण किया जाता है। एवं अस्तु श्रौषट् के स्थान पर अस्तु स्वधा—यह प्रत्याश्रावण किया जाता है। एवं 'स्वधा नमः' यही वषट्कार है। तात्पर्य यही है कि पितृकर्म्म में 'ओश्रावय' आदि न बोलकर 'ओं स्वधा' आदि ही बोलना चाहिए ॥२४॥

परन्तु आसुरि महर्षि कहते हैं कि ओश्रावय, अस्तु श्रौषट् और वौषट् यही बोलना चाहिए। ओं स्वधा इत्यादि बोलकर हम यज्ञमर्यादा से बाहर न निकल जायँ। इसलिए हमें मर्यादानुसार 'ओश्रावय' इत्यादि ही बोलने चाहिएँ ॥२५॥

इसके अनन्तर अध्वर्यु होता के प्रति प्रैष करता है "पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहि" इति। अथवा "सोमाय पितृमतेऽनुब्रूहि" यह प्रैष कर देना चाहिए। दोनों में कामचार है। प्राण आप्, वाक्, अन्नाद और अन्न ये पांच क्षर माने जाते हैं। बस इन्हीं पांचों में पांच प्राण रहते हैं। परोरजाप्राण, आप्यप्राण, वाङ्मयप्राण, सौम्यप्राण, आग्नेयप्राण। प्राणमण्डल को स्वयंभूमण्डल कहते हैं, आपोमयमण्डल को परमेष्ठिमण्डल कहते हैं, वाङ्मण्डल को सूर्य्यमण्डल कहते हैं, अन्नादमण्डल को पृथिवीमण्डल कहते हैं, एवं अन्नमण्डल को चन्द्रमण्डल कहते हैं। बस चूंकि मण्डल पांच ही हैं, अतएव प्राण भी कुल पांच ही प्रकार के होते हैं। पांचों में से परोरजाप्राण को ऋषि कहते हैं। आप्यप्राण को असुरप्राण कहते हैं,

वाङ्मयप्राण को देवता कहते हैं, आग्नेयप्राण को पार्थिव देवता कहते हैं, एवं सौम्यप्राण को पितर कहते हैं। वाङ्मयप्राण ही पृथिवी में आकर आग्नेयप्राणस्वरूप में परिणत हो जाता है, इसीलिए अग्नि के लिए 'वागेवास्योपनिषत्' कहा जाता है। तात्पर्य कहने का यही है वाङ्मयप्राण और आग्नेयप्राण दोनों एक वस्तु हैं। अतएव हम देवताओं को वाङ्मय भी कह सकते हैं और आग्नेय भी कह सकते हैं।

१ परोरजाप्राण (प्राण) ऋषि – (स्वयम्भू)
२ आप्यप्राण (आप्) पितर, असुर (परमेष्ठी)
३ वाङ्मयप्राण (वाक्) देवता – (सूर्य्य)
४ आग्नेयप्राण (अन्नाद) देवता – (पृथिवी)
५ सौम्यप्राण (अन्न) गन्धर्व, पितर, असुर – (चन्द्रमा)

परोरजाप्राण तो अणु-अणु में व्याप्त है। उसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं है। आप्यप्राण असुरप्राण है — इसलिए उसके विषय में भी कुछ नहीं कहना है। रहा आग्नेयप्राण और सौम्यप्राण। बस, यज्ञ में इन्हीं दो का सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक सृष्टिक्रम इन्हीं दो के आधार पर चलता है। इसीलिये "अग्नीषोमात्मकं जगत्"कहा जाता है। प्राण मौलिक वस्तु है। रूप रस गन्ध स्पर्श शब्दादि से रहित है। चूंकि अप्, सोम, अग्नि आदि पदार्थ पांच प्रकार के हैं। अतएव इनमें रहने वाले प्राण भी तत्स्वरूप बन जाते हैं। अग्नि में रहने वाले प्राणदेवता कहलाते हैं अर्थात् आग्नेयप्राण देवता हैं एवं सोम में रहने वाला सौम्यप्राण पितर कहलाता है। पितर सौम्य है। पितरप्राण में सोम भरा रहता है। पितरप्राण में सोम क्या भरा रहता है, सोम के प्रवेश से ही उस का नाम पितृप्राण पड़ता है। चूंकि पितर और सोम ओतप्रोत रहते हैं। अतएव दोनों को दोनों का देवता मान लिया जाता है। दोनों में संकीर्ण व्यवहार है। पितर सोम के देवता हैं, यह भी कहा जाता है, सोम पितरों के देवता हैं, यह भी कहा जाता है। पितरों को सोम का देवता मानकर "पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहि" यह कहा जाता है। एवं सोम को पितरों का देवता मानकर सोमाय पितृमतेऽनुब्रूहि यह कहा जाता है। पाठ दोनों ही हो सकते हैं। परन्तु चूंकि भूत और प्राण में प्राण की ही प्रधानता रहती है। सोम का देवता पितरप्राण हो सकता है न कि पितरप्राण का देवता सोम। अतः दोनों पाठों में से उत्तम पाठ "पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहि" यही है। बस दूसरे पाठ में यही अस्वारस्य बतलाने के लिए 'सोमाय वा" यह कहा गया है।

इस प्रकार से "पितृभ्यः सोमवद्भ्योऽनुब्रूहि" इस अध्वर्यु के प्रैष से होता दो पुरोनुवाक्या मन्त्र बोलता है। "स (होता) द्वे पुरोनुवाक्येऽन्वाह"। देवकर्म्म में एक ही पुरोनुवाक्या बोली जाती है। फिर पितरकर्म्म में दो पुरोनुवाक्या क्यों ? इसका कारण बतलाते हैं– देवप्राण से पितरप्राण ठोस है। मोम के अनुकूल देवप्राण का स्वभाव है एवं काष्ठ के

अनुसार पितरप्राण का स्वभाव है। मोम को थोड़ी सी अग्नि स्पर्श कराते ही वह पिघलने लगता है, चूने लगता है। वह अधिक बल को सहन नहीं कर सकता। परन्तु साथ ही में एकदम से चू भी नहीं जाता, अपितु धीरे-धीरे सुबह से शाम तक पूरा चूने पाता है। इसीलिए देवताओं के लिए प्रातःकाल से सायंकाल तक तीन सवन किये जाते हैं जिन्हें कि प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, एवं सायंसवन शब्द से व्यवहृत किया जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि देवप्राण थोड़े से बल से ही वश में आ जाता है, वह कपूर के अनुसार एक बार के अग्नि-सम्बन्ध होने से ही चूने लगता है। हां इतना अवश्य है कि पूरी मात्रा में चूता है थोड़ी देर के अनन्तर। परन्तु पितरप्राण तो ठोस प्राण है। उसमें बल डालते जाइये। एक बार के बल को तो वह पी ही जायेगा। जब अधिक बल लगाया जायेगा तो वह एकदम अलग हो जायेगा। अधिक बल से हट कर वह एकदम अलग हो जायेगा। न कि देवता की तरह धीरे-धीरे धारारूपेण पिघलता रहेगा। तो बस चूंकि यहां पितृयज्ञ है, पितरप्राण ठोस है, वह अधिक बल से ही कर्म्म में शामिल होता है, अतएव उसके लिए दो अनुवाक्या बोली जाती हैं। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं "ऋत्विक् लोग एक ही अनुवाक्या से देवताओं को चुआ देते हैं। स्वस्थान से अपने स्थान में—यज्ञ में उन्हें संमिलित कर लेते हैं एवं दो अनुवाक्याओं से पितरों को सम्मिलित करते हैं। क्यों कि पितर एक बार में ही पराक् होने वाले हैं, एकदम से अलग होने वाले हैं, अतः अधिक बल-प्रयोग के लिए देवता की अपेक्षा उनके लिए एक अनुवाक्या अधिक करनी चाहिये— "तस्माद् द्वे पुरोनुवाक्येऽअन्वाह।" इत्येकोऽर्थः।

सूर्य्यमण्डल में देवता रहते हैं। परमेष्ठी में पितर रहते हैं। सूर्यमण्डल परमेष्ठी से नीचे है। पितर बहुत पराक् है अर्थात् हमसे दूर है एवं देवता समीप है। समीपस्थ को एक ही आवाज से बुलाया जा सकता है, परन्तु दूर वाले के लिए अधिक बल लगाना पड़ता है। बस इसीलिए पितरों को बुलाने के लिये दो अनुवाक्या बोली जाती हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"एकया हवै देवान् प्रच्यावन्ति, द्वाभ्यां पितॄन्। सकृदुह्येव पराञ्चः पितरः, तस्माद् द्वे पुरोऽनुवाक्येऽअन्वाह।" इति ।।२६।।

अनुवाक्या के अनन्तर अध्वर्यु पहिले आज्य का अमृतोपस्तरण करता है। इसके अनन्तर पुरोडाश का थोड़ा सा भाग लेकर उसे आज्योपस्तरण पर रख देता है एवं पुरोडाश के साथ धानाओं का अवदान लेकर रखता है एवं उसी के साथ मन्थ का अवदान लेकर वह भी उसी पुरोडाश के साथ रख देता है। अर्थात् सोमसत् पितरों के लिये पुरोडाश धाना और मन्थ तीनों की आहुति दी जाती है अतः आज्य का उपस्तरण कर एक-एक बार में ही करके तीनों को पहिले पुरोडाश, बाद में धाना, बाद में मन्थ इस क्रम से हवि को एक जगह ही एकत्रित कर लेना चाहिए। इसके बाद उस हवि पर दो बार आज्याधार करते हैं अर्थात् दो बार घी

ऊपर से डालते हैं जो कि अमृतापिधान कहलाता है। यागयोग्य द्रव्य 'चतुरवत्त' हुआ करता है। याग में चतुरवत्त द्रव्य की ही आहुति दी जाती है। ऐसी दशा में यदि आज्य का दो बार आधार नहीं किया जायेगा तो चतुरवत्त सम्पत्ति नहीं होगी क्योंकि एक तो प्रथम आज्योपस्तरण होगा, बाद में 'पुरोडाश धाना मन्थ' तीनों को मिला कर के एक हवि होगी एवं अन्त में एक ही अभिघार होगा, तो तीन ही अवदान होंगे। परन्तु जब अभिघार दो कर दिये जाते हैं तो चतुरवत्त सम्पत्ति हो जाती है। बस इसीलिए आज्य का दो बार आधार किया जाता है—"अथोपरिष्टाद् द्विराज्यस्याभिघारयति" इति। इसके बाद उस डाले हुए घृत से उन अवदानों को चारों ओर से चुपड़ देता है। अर्थात् घृत और अवदानों को एक कर देता है "प्रत्यनक्त्यवदानानि" इति। प्रकृतियज्ञ (दर्शपूर्णमास) में हवि को तैयार कर वहाँ से अतिक्रमण किया जाता है परन्तु पितृयज्ञ में अतिक्रमण नहीं किया जाता है अपितु वहीं उसी स्थान पर खड़े रहना पड़ता है, इसी अभिप्राय से कहते हैं "नातिक्रामति"।

अध्वर्यु उस स्थान से अतिक्रमण नहीं करता है अपितु जिस स्थान पर बैठकर हवि का अवदान करता है उसी स्थान पर से खड़े होकर 'ओं स्वधा' इत्यादि आश्रावण करता है। ओं स्वधा यह आश्रावण कर के कहता है "पितॄन् सोमवतो यज"। बस, 'ये यजामहे' इस आग्नीध्र के वचन के अनन्तर "स्वधा नमः" इस वषटकार के साथ उस चतुरवत्त द्रव्य की आहुति डाल देता है। इतएवोत्थाय आश्राव्य आह—"पितॄन् सोमवतो यज" इति वषट्कृते जुहोति ॥२७॥

इसके बाद फिर अध्वर्यु होता के प्रति "पितृभ्यो बर्हिषद्भ्योऽनुब्रूहि" यह प्रैष करता है। होता अनुवाक्या मन्त्र बोलता है। तदनन्तर अध्वर्यु सोमसत् की तरह ही हवि तैय्यार कर उसकी "स्वधा नमः", इस वषट्कार के साथ आहुति डाल देता है। सोमसत् की प्रधान आहुति पुरोडाश थी, अतः वहाँ प्रथम पुरोडाश रखा गया था। बाद में धाना और मन्थ रक्खे गये थे। परन्तु बर्हिषत् की प्रधान आहुति धाना है, अतः आज्य का उपस्तरण कर यहाँ पहिले धाना रक्खे जाते हैं। बाद में मन्थ रक्खा जाता है। पश्चात् पुरोडाश रक्खा जाता है। बस यही अन्तर है, बाकी का सारा काम सोमसत् की तरह ही समझना चाहिए ॥२८॥

इसके बाद फिर अध्वर्यु होता के प्रति "पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽनुब्रूहि" यह प्रैष करता है। होता अनुवाक्या बोलता है। तदनन्तर अध्वर्यु सोमसत् बर्हिषत् पितरों के कर्म्म की तरह हवि तैय्यार कर वषट्कार के साथ उसकी आहुति दे देता है। चूंकि अग्निष्वात्त की प्रधान आहुति मन्थ है, इसीलिए यहाँ पहिले मन्थ रखा जाता है, बाद में पुरोडाश एवं बाद में धाना रखे जाते हैं। पूर्व से यही अन्तर है, बाकी सारा कर्म पूर्ववत् है ॥२९॥

इत्यावाप (प्रधान) कर्म्म समाप्तम्।

इस प्रकार से प्रधान याग कर के स्विष्टकृत के स्थान में कव्यवाहन नाम के अग्नि का यजन करना चाहिए। इस अभिप्राय से कहते हैं—'अथाग्नये' अर्थात् प्रधान यागानन्तर अध्वर्यु होता के प्रति स्विष्टकृत् कव्यवाहन अग्नि के यजन के लिए "अग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहि" यह प्रैष करता है। देवताओं के हव्य को पहुँचाने का काम हव्यवाहन नाम के अग्नि करते हैं एवं पितरों के हव्य को कव्यवाहन अग्नि पहुँचाते हैं। इसी अभिप्राय से "अग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहि" कहा गया है।

पितर परमेष्ठिमण्डल की वस्तु है। जो परमेष्ठी की वाक् है, उसे आम्भृणी वाक् कहते हैं। परमेष्ठिसमुद्र का नाम सरस्वान् समुद्र है जो कि वाक् का समुद्र है। इसी सरस्वान् से भगवती सरस्वती नाम की वाक् उत्पन्न होती हैं। पितर चूंकि परमेष्ठी में रहते हैं, अतएव वे वाक्प्रधान हैं। पितर वाक् से ही प्रसन्न होते हैं क्योंकि वाग्मण्डल में परमेष्ठि-समुद्र में ही वे रहते हैं। परमेष्ठी के मनोता भृगु अङ्गिरा एवं अत्रि हैं। ये तीनों ही पितर हैं, जैसा कि श्रुति कहती है— "अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः"। कु शब्द से 'कव्य' बना हुआ है (कवयते इति कव्यम्)। पितरों की हवि का वहन कव्यवाहन नाम का अग्नि करता है। इससे पितरों का वाक्प्राधान्य ही सूचित किया जाता है। जिस प्रकार पितर वाक्प्रधान हैं तद्वत् देवता मन.प्रधान हैं। मन सोम से बना हुआ हैं। सोम अग्नि का प्रिय है क्योंकि सोम की आहुति से ही तो आग्नेय प्राण-प्रधान देवताओं की स्थिति रहती है। हव्य का अग्नि से सम्बन्ध है; कव्य का पितरों से सम्बन्ध है। मन सोममय है। मन ही भाव का जनक है, अतएव देवता भावप्रधान होते हैं। बस इसी अभिप्राय से—

"हव्यवाहनो वै देवानां, कव्यवाहनः पितॄणां। तस्मादग्नये कव्यवाहनायानुब्रूहि" यह कहा गया है। इसी अभिप्राय से कहा जाता है—

"निर्धना धनमिच्छन्ति, मानमिच्छन्ति पण्डिताः।
पितरो वाक्यमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः॥"

प्रत्येक कर्म में मन और वाक् का सम्बन्ध होता है। मनप्राणवाक् की समष्टि का नाम ही कर्म्म है। प्राणव्यापार तो देवयज्ञ एवं पितृयज्ञ दोनों में समान है। अन्तर इतना है कि देवयज्ञ में मन को अर्थात् भाव को प्रधान रखना पड़ता है। एवं वाक् को गौण रखना पड़ता है। एवमेव पितृयज्ञ में वाक् को प्रधान रखना पड़ता है एवं मन को गौण रखना पड़ता है। "तस्मात् कव्यवाहनाय अनुब्रूहीति" ॥३०॥

इस प्रकार से अध्वर्यु के प्रैषानन्तर होता जब अनुवाक्या कर चुकता है, तो तदनन्तर अध्वर्यु आज्योपस्तरण करके पहिले पुरोडाश का अवदान रखता है। बाद में धाना रखता

है, पश्चात् मन्थ रखता है। आवश्यक बात यह है कि सारा कर्म्म प्रधानकर्म्मवत् होता है। केवल अवदान को घृत से एकमेक नहीं किया जाता है—"न प्रत्यनक्त्यवदानानि"। शेष का अतिक्रमण न करके वहीं खड़े रहकर "अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा" कहकर आहुति डाल देनी चाहिए।"न प्रत्यनक्त्यवदानानि। नातिक्रामति। इतएवोपोत्थाय,आश्राव्य, अग्निं कव्यवाहनं यजेति– वषट्कृते जुहोति" ।।३१।।

प्रकृतियज्ञ में हवि तैयार कर इस स्थान से अतिक्रमण किया जाता है। परन्तु इस पितृकर्म्म में अतिक्रमण नहीं किया जाता। जो यह अध्वर्यु इस पितृयज्ञ में अतिक्रमण नहीं करता अपितु इसी स्थान पर से उठकर आहुति डालता है, इसका कारण बतलाते हैं — स यन्नातिक्रामति, इत एवोपोत्थाय जुहोति — तदुच्यते।"पितर एक बार में ही वापस लौट जाने वाले होते हैं, उनमें देवतावत् प्राणन-अपानन व्यापार नहीं होता। ऐसी हालत में यदि अतिक्रमण किया जायेगा, तो सकृत्त्वनाशात् पितृकर्म्म देवकर्म्म हो जायेगा इसी लिये अतिक्रमण नहीं किया जाता है— 'सकृदु ह्येव पराञ्चः पितरः' (तस्मान्नातिक्रामतीतिशेषः)। अपिच इस पितृयज्ञ में अग्निष्वात्त, सोमसत्, बर्हिषत् किंवा स्विष्टकृत् कव्यवाहन अग्नि के लिये सारी हवियों में से सकृत्-सकृत् ही अवदान करते हैं। देवकर्म्मवत् तीन-तीन बार अवदान नहीं करते हैं – इसका कारण भी – "सकृदुह्येव पराञ्चः पितरः यही है।"

"अथ यत् सकृत्-सकृत् सर्वेषां हविषां समवद्यति – तदुच्यते।"

"सकृदुह्येव पराञ्च पितरः" तस्मात् सकृत्-सकृदवद्यतीति शेषः।"

इस पितृयज्ञ में परस्पर में संसृष्ट करके अवदान दिये जाते हैं। इसका करण बतलाते हैं। तात्पर्य यही है कि सोमसत् के लिये पुरोडाश ही का विधान किया गया है। बर्हिषत् के लिये धाना का ही विधान किया है एवं अग्निष्वात्त के लिये मन्थ का ही विधान किया गया है, फिर तीनों को तीनों पदार्थों की आहुतियां दी जाती हैं। सोमसत् को भी पुरोडाश मन्थ एवं धाना तीनों दिये जाते हैं, बर्हिषत् को भी तीनों दिये जाते हैं एवं अग्निष्वात्त को भी तीनों दिये जाते हैं – इस व्यतिषङ्ग (परस्पर संयुक्त) हवि देने का क्या कारण है बस इसी का उत्तर देते हैं — "अथ यद् व्यतिषङ्गमवदानान्यवद्यति – तदुच्यते।" पितर ऋतुस्वरूप है। जैसा कि 'ऋतवो वै पितरः' कहा जाता है। ६ ओं ऋतुएं पृथक्-पृथक् होकर भी एक में एक मिश्रित हैं। पितर ऋतुस्वरूप हैं एवं पृथक्-पृथक् हैं। पृथक्-पृथक् होकर भी तीनों तीनों में मिश्रित हैं। बस इस पितृदेवत्य हवि के व्यतिषङ्ग से (संमिश्रण से) यह अध्वर्यु ऋतुओं को परस्पर में मिलता है। इस व्यतिषङ्ग से उन ऋतुओं का परस्पर में सन्धान करता है। अर्थात् सबको सबसे अविनाभूत बनाता है। प्रकृति के ऋतुपितर तीन हैं।

तनों पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं,पृथक्-पृथक् होकर भी तीनो तीनों में श्रोत प्रोत हैं। ऋतु ७२ दिन को मानी जाती है। इसी अभिप्राय से 'पञ्चर्त्तवः संवत्सरस्य' कहा जाता है। ७२ दिनों में १६ दिन पूर्व की ऋतु का मिलाप रहता है, १६ दिन उत्तर की ऋतु का मिलाप रहता है। उस ऋतु के अपने प्रधान मध्य के चालीस दिन रहते हैं, जिसे कि लोक में 'चिल्ला' कहते हैं। तो कहने का तात्पर्य यही है कि सब ऋतु पितर सबमें परस्पर मिले रहते हैं। क्योंकि प्रकृति में ऐसा है एवं तदनुसार ही हम पितृयज्ञ करते हैं,बस इसीलिये उसी ऋतुव्यतिषङ्ग-संपत्ति की प्राप्ति के लिए व्यतिषङ्गतया अवदान दिए जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"ऋतवः पितरः। ऋतून् एवैतद् व्यतिषजति। ऋतून् संदधाति। तस्माद् व्यतिषङ्गमवदाना-न्यवद्यति।" ॥३२॥

प्रत्येक कर्म्म में इडाप्राशन होता है। स्विष्टकृत् के अनन्तर इडाप्राशन होता है। इडा पुरोडाश की होती है। यज्ञान्त में दक्षिणास्वरूप पुरोडाश का भक्षण किया जाता है, बस इसे ही इडाप्राशन कहते हैं। प्रकृत पितृयज्ञ में भी इडाप्राशन होना आवश्यक है। इस इडाप्राशन के विषय में दो मत हैं — एक शाखा वाले याज्ञिक इसी मन्थ को होता के हाथ में प्राशन के लिये रखते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार इडाप्राशन नहीं होना चाहिये। (अर्थात् पुरोडाशभक्षण नहीं होना चाहिये) अपितु उसके स्थान पर मन्थ ही होना चाहिये।

"एवमेव होत्रे मन्थमादधति (न पुरोडाशमिति भावः)।"

तदनन्तर होता – उपहूतेडा इत्यादि मन्त्र बोलकर पहिले स्वयं उस मन्थ को सूंघता है। "स होता उपहूयायैव जिघ्रति (जिघ्रत्येव) तदनन्तर होता उसे सूंघता ही है। होता ही क्या सभी सूंघते ही हैं, खाते नहीं हैं, बस इसीलिए 'एव' (जिघ्रत्वेव) पद दिया गया है। इस प्रकार से होता सूंघकर उस मन्थ को ब्रह्मा को दे देता है। ब्रह्मा भी उसे सूंघता ही है--"तं ब्रह्मणे प्रयच्छति–तं ब्रह्मा वैव जिघ्रति।" ब्रह्मा उस मन्थ को आग्नीध्र को दे देता है; आग्नीध्र भी सूंघता ही है।

"तमग्नीधे प्रयच्छति, तमग्नीदवैव जिघ्रति।" इस प्रकार से इडाप्राशन नहीं करना, अपितु मन्थ का आघ्राणमात्र करना यह एक सम्प्रदाय का मत है।१। अपिच कितने ही याज्ञिक इस वक्ष्यमाण पक्ष का ही अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि दर्शपूर्णमासादि यज्ञ में जैसे इडा का अवदान होता है, तथैव इस पितृयज्ञ में भी उसी पुरोडाश का अवदान करना चाहिए। परन्तु इतना अवश्य है कि इसे भी सूंघते ही हैं, खाते नहीं हैं।

"एतन्नु एवैतत् कुर्वन्ति याज्ञिकाः। यथात्वेवेतरस्य यज्ञस्येडाप्राशनं समवद्यन्ति, एवमे-तस्यापि समवद्येयुः। तामुपहूयायैव जिघ्रन्ति न प्राशितव्यम्।" इस मत में अवदान तो इडा

(पुरोडाश) का ही होता है, परन्तु खाया इस पक्ष में भी नहीं जाता है । यह दूसरा मत है ।२।

परन्तु आसुरि महर्षि कहते हैं कि पुरोडाश का अवदान कर लिया जाता है तो फिर हमारे विचार से वह प्राशितव्य ही है । जब इडाप्राशन के लिए उसका अवदान किया जाता है तो फिर उसका प्राशन ही करना चाहिए । प्राशन की वस्तु को सूंघने की क्या आवश्यकता है; उसे तो खा ही जाना चाहिए । आसुरि का कहना है कि इडाप्राशन करता हुआ यह होता, ब्रह्मा किंवा आग्नीध्र किसी अग्नि में ही (शारीर वैश्वानर अग्नि में ही) उसे डालता है । अर्थात् इसे व्यर्थ नहीं डाला जाता है, अपितु अग्नि में ही डाला जाता है क्योंकि ब्राह्मण भी तो अग्नि ही है । अतः प्राशन ही करना चाहिए— "प्राशितव्यं त्वेव वयं वन्यामहे इति ह स्माह आसुरिः । यस्य कस्य चाग्नौ जुह्वति । तस्मात् प्राशितव्यमेवेति भावः" ।।३३।।

पितरों के लिए पिण्डप्रदान, अध्वर्यु और यजमान दोनों में से कोई भी कर सकता है, क्योंकि अध्वर्यु दक्षिणाक्रीत होने से यजमान का प्रतिनिधि होता है । बस इस सिद्ध बात का ही अनुवाद करते हुए कहते हैं कि— अध्वर्यु अथवा यजमान दोनों में से जो भी पिण्डदाता होता है अर्थात् दोनों में जो भी पितरों के लिए पिण्ड प्रदान करता है, वह (अध्वर्यु अथवा यजमान) उदकपूर्णपात्र को लेकर के वामावर्त्त होकर तीन बार उस पानी को सींचता हुआ पितृवेदि के परिक्रमा लगाता है । इसी अभिप्राय से महर्षि कात्यायन कहते हैं— "वेदिं त्रिः परिषिञ्चति उदपात्रेणाध्वर्युर्यजमानो वा" । का. श्रो. ५।९।१६ ।

"अथ यतरो दास्यन् भवति (पिण्डदाता भवति) यद्यध्वर्युर्वा यजमानो वा स उदपात्रमादायापसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्य्येति ।" यह अध्वर्यु— "हे यज्ञदत्तशर्मन् यजमानपितः अवनेनिक्ष्व (दास्यमानं पिण्डं भोक्तुं आत्मीयौ पाणी शोधय) असौ अवनेनिक्ष्व" इस मन्त्र से यजमान के पिता का अवनेजन करता है एवं "असौ (यजमानस्य पितामह देवदत्तसौ त्वं) इस मन्त्र से पितामह का अवनेजन करता है । एतमेव तीसरी स्रक्ति पर जाकर "असौ (यजमानस्य प्रपितामह) त्वं अवनेनिक्ष्व" इस मन्त्र से प्रपितामह का अवनेजन करता है । वेदि की तीनों स्रक्तियों पर क्रमशः पूर्वोक्त मंत्र से पिता, पितामह और प्रपितामह तीनों का अवनेजन करता है । यदि अध्वर्यु पिण्ड दे तो "यजमानस्य पितः देवदत्त त्वमवनेनिक्ष्व" यह बोले और यदि स्वयं यजमान दे तो हे देवदत्तशर्म्मन्! "अवनेनिक्ष्व मम पितः" यह बोले । "स (अध्वर्युर्वा यजमानो वा) यजमानस्य पितरमवनेजयति असाववनेनिक्ष्वेति (मंत्रेण) पितामहम् । असाववनेनिक्ष्वेति (मन्त्रेण) प्रपितामहम् ।"

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं — भोजन करने वाले पुरुष के हाथ में भोजन करने से

पहिले हस्तशुद्ध्यर्थं जैसे अभिषेक किया जाता है अर्थात् जल डाला जाता है, बस उसी तरह पिता-पितामहादि के लिए यह अवनेजन है। अर्थात् चूंकि अपने पितरों को यजमान पिण्डदान देने वाला है। अतएव अवनेजन भोजन से पहिले उनके हाथ धुलाता है— तद्यथा अशिष्यते (भोक्ष्यमाणाय पुरुषाय) अभिषिञ्चेदेवमेतत् (अवनेजनम्) ।।३४।।

इसके अनन्तर वह अध्वर्यु (किंवा यजमान) पितरों का दिव्य —अग्निष्वात्त—सोमसत्, बर्हिषत् पितरों का) यजन किये बाद जो पुरोडाश शेष बचता है, उसका अवदान लेकर उसे बाएँ हाथ में रख लेता है। इसी प्रकार धानों का अवदान लेकर भी उसी जगह रख लेता है। इस प्रकार से पुरोडाश, धाना और मन्थ इन तीनों को मिलाकर तीन पिण्ड बनाकर अपने उसी बाएँ हाथ में रख लेता है। "अथास्य पुरोडाशस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते। धानानामवदाय सव्ये पाणौ कुरुते। मन्थस्यावदाय सव्ये पाणौ कुरुते" ।।३५।।

इस प्रकार से पिण्ड तय्यार करके इस वेदि की जो पूर्व की ओर की अवान्तरदिशास्रक्ति है अर्थात् वेदि की जो दक्षिण स्रक्ति है उसमें यह अध्वर्यु "असावेतत् ते" (हे यज्ञ शर्म्मन् देवदत्तस्य पितः! एतत् ते) (एतत् पिण्डरूपं हविस्ते तुभ्यं मया दीयते।" इस मंत्र से यजमान के पिता-पितामह के लिये पिण्डदान देता है। तदनन्तर उसके आगे की अवान्तर दिशाओं में जो तीसरी स्रक्ति है उसमें (हे भवदत्तशर्म्मन् "यजमानस्य प्रपितामह एतत् ते" इस मंत्र से यजमान के प्रपितामह के लिए पिण्डदान देता है। इसके बाद इस तीसरी स्रक्ति के आगे की अवान्तर दिशा में जो चौथी स्रक्ति है उसमें "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम्" यह मंत्र बोलता हुआ उस बायें हाथ में लगे हुए हवि का लेप कर देता है। अर्थात् हाथ पोंछ देता है।

"स (अध्वर्युः) या इयमवान्तरदिशमनुस्रक्तिस्तस्यां यजमानस्य पित्रे ददाति— 'असावेतत्ते' इति मंत्रेण।

"अथ येयमवान्तरदिशमनुस्रक्तिस्तस्यां यजमानस्य पितामहाय ददाति—असावेतत्ते" (इति मंत्रेण)।

"अथ येयमवान्तरदिशमनुस्रक्तिस्तस्यां यजमानस्य प्रपितामहाय ददाति— असावेतत्ते" इति मंत्रेणैव)।

"अथ येयमवान्तरदिशमनुस्रक्तिस्तस्यां निमृष्टे "अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वं।" (इति मंत्रेण)।

"यथाभागमावृषायध्वम्" इससे अपना अपना हिस्सा खा लीजिये और मस्त हो जाइये—यही तात्पर्य है। "यथाभागमश्नीतेत्येवैतदाह" इस दिव्य पितृयज्ञ में जो कि

यजमान इस प्रकार से पिण्डदान करता है। ऐसा करता हुआ वह अपने पितरों को इस पितृयज्ञ से अलग नहीं निकालता है। अर्थात् दिव्य पितरों में शामिल हुए जो प्रेतपितर हैं उन्हें भी इन पिण्डों द्वारा उन्हीं में शामिल रखता है। यदि इस दिव्य पितृयज्ञ में वह अपने प्रेतपितरों के लिए पिण्ड न देगा तो इसके प्रेतपितर दिव्य पितरश्रेणी से निकल जायेंगे, अतः अवश्य ही वामावर्त्त होकर वेदि की तीन स्रक्तियों पर क्रमशः पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए पिण्डदान देना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

तद्यदेवं पितृभ्यो ददाति तेन (पुनः) स्वान् पितॄन् एतस्याद्यज्ञान्नान्तरेति (पिण्डदानं कर्त्तव्यमेवेति भावः।

इति प्रेतपितरयजनं समाप्तम्।

बस पितृकर्म्म समाप्त हो चुका। अतः अध्वर्यु ब्रह्मा यजमान एवं आग्नीध्र सब के सब यज्ञोपवीती होकर उत्तर दिशा की ओर मुख कर के पितृयज्ञस्थान से निकल करके आहवनीय का उपस्थान करते हैं। अर्थात् दक्षिण वेदि से (पैतृकी वेदि से) उत्तर की ओर आकर आहवनीय का उपस्थान करते हैं।

पितरकर्म्म में देवकर्म्मस्वरूप आहवनीय का उपस्थान क्यों किया जाता है इसका कारण बतलाते हैं— जो यजमान आहिताग्नि होता है एवं दर्शपूर्णमास से देवताओं के यजन करता है। वह देवताओं की मण्डली में शामिल होता है। देवताओं की परिचर्या अंगीकार करता है उनका सेवक बनता है। इस दर्शपूर्णमास के बाद आज इसे विवश होकर साकमेधाङ्गभूत पितृयज्ञ करना पड़ता है। अतः पितृयज्ञ करता हुआ यह देवताओं का अपराधी बनता है। दूसरे का सेवक होकर आज दूसरों (पितरों की) सेवा करता है। बस, आहवनीय का उपस्थान करता हुआ आज अपने इस अपराध को देवताओं से छिपाता है। अर्थात् अपराध की क्षमा मांगता है। बस पितृयज्ञान्त में आहवनीय के उपस्थान का यही कारण है—"पितृयज्ञेनेवाचारिषुस्तदु देवेभ्यो निह्नुते"।

ऐन्द्री ऋचाओं से आहवनीय का उपस्थान करता है। "ऐन्द्रीभ्यामाहवनीयमुपतिष्ठते।" क्योंकि इन्द्र ही तो आहवनीय है। प्रकृतियज्ञ में आहवनीय १७वें स्थान में हैं। इन्द्र स्वर्ग के (द्यु के) अधिष्ठाता हैं : जैसा कि श्रुति कहती है—

"यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।"

१५ से २५ तक द्युलोक माना जाता है। यह इन्द्र का स्थान है। १७ पर आहवनीय हैं, तो सुतरां इन्द्र आहवनीय है, यह सिद्ध हो जाता है। चूंकि उसी प्राकृतिक आहवनीय के आनुकूल्य में इस आहवनीय की रचना की गई है। अतएव इसके लिए "इन्द्रो ह्याहवनीयः"

कहा गया है। उपस्थान का मन्त्र यह है—"अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत। अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मतो। योजा न्विन्द्र ते हरी "अस्माभिर्दत्तं हविः पितरः "अक्षन् भक्षितवन्तः)अतएव ते पितरः अमीमदन्त'तृप्ता अभवन्'। कथं ज्ञायते–तदुच्यते प्रियाः (आत्मोयाः तनूः)अवाधूषत (रसातिशयस्याभिव्यक्त्यर्थमवाकम्पयन्)तदनन्तरं च स्वभानवः (ज्योतिष्मन्तः) विप्राः (ऋत्विजः) नविष्ठया मती (स्तुतिप्रवणया मत्या) अस्तोषत स्तुतिं कृतवन्तः। इत्थं सर्वाणि कार्याणि सम्यक् सञ्जानाति" इति भावः। अतएव, हे इन्द्र, त्वमपि ते, त्वदीयौ हरी (अश्वौ) (गमनार्थम्) योजा नु क्षिप्रं योजय।

पितर लोग हमारे दिये हुए हवि को खा चुके। एवं खाकर प्रसन्न हो गये, तृप्त हो गये। अतएव उन्होंने अपना मस्तक हिला दिया। अर्थात् मस्त होकर झूमने लग गये। एवं ज्योतिष्मान् ब्राह्मणों ने भी स्तुतिप्रवण वाणो से अच्छे-अच्छे मंत्रों से खूब स्तुति कर दी। अर्थात् ऋत्विक् लोग भी अपना काम कर चुके। इस प्रकार आपकी कृपा से सारा काम निर्विघ्न समाप्त हो गया। अतः हे इन्द्र! आप भी अपने रथ को तय्यार कराइये। फिर दूसरा मंत्र बोलता है –

"सुसंदृशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशां अनु। योजान्विन्द्र ते हरी।"

हे मघवन्– सुसंदृशं (सुदर्शनीयं) त्वा (त्वाम्) वन्दिषीमहि अभिवादयामहे। त्वं स्तुतः सन् (अस्माभिर्वन्दितः सन्) पूर्णबन्धुरस्त्वं वशाम्-अनु (यथाकामं यथेष्टं) यासि। हे इन्द्र, ते हरी योजा नु।

हे मघवन्! अत्यन्त दर्शनीय आपको हम बारम्बार प्रणाम करते हैं, आपका हम अभिवादन करते हैं।

हे इन्द्र! पूर्ण बन्धुर होते हुए अर्थात् दृढ़ रथ वाले आप हमारे द्वारा वन्दित होकर चाहे जहां पधारिये। हे इन्द्र! आप अपना रथ तैयार करवाइये।

विराट् इन्द्र का स्वरूप है एवं विराट् ४० अक्षर का होता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"एषा वै परमा विराट् यच्चत्वारिंशिनी। पञ्चपदा गायत्री को पंक्ति छन्द कहते हैं। इसमें ४० अक्षर होते हैं। ४० होना ही विराट् का होना है एवं विराट् ही इन्द्र का स्वरूप है। बस इसीलिये पञ्चपदा पंक्तिच्छन्द से इन्द्र की स्तुति की जाती है।।३८।।

इसके बाद आहवनीय के पास से गार्हपत्य के पास लौटकर गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं—"अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते।" वह मंत्र यह है– "मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन। पितृ्णां च मन्मभिः। आ न एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जोवसे। ज्योक् च सूर्य्यं दृशे।" अस्मदीयं मनः नारांशसेन स्तोमेन पितृ्णां सम्बन्धिभिः मन्मभिः च (मननैश्च)

नु (क्षिप्रं) आह्वामहे। पितृलोकगतं नः अस्माकं मनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ज्योक् (चिरकालपर्य्यन्तं) सूर्य्यं दृशे च एतु आगच्छतु। हमारे मन को नाराशंस स्तोम से (स्तुति से) एवं पितरों की मिन्नतों से उस पितृलोक से वापस लौटाते हैं। हमारा मन विचारों के लिये एवं विचारों को कार्यरूप में परिणत करने के लिये एवं जीवन के लिये एवं चिरकाल तक भगवान् सूर्य्यं को देखने के लिये वापस हमारे पास ही लौट आवे।

तत्पश्चात् दूसरा मंत्र बोलते हैं-"पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः। जीवं व्रातं सचेमहि" हे पितरः हे दैव्यो जनः (देवसंबधी जनः) नः (अस्यभ्यं) मनःपुनःददातु। एवं जीवं (जीवनवन्तं) व्रातं गणं पुत्रपौत्रादिसमूहं सचेमहि–प्राप्नुयाम। हे पितरो, देवता लोग हमारे मन को वापस लौटा दें ऐसी कृपा कीजिये। एवं मैं मृत पितरों के लोक से हटकर जीवित पुत्र-पौत्रादि के समूह में आ जाऊँ ऐसी कृपा कीजिये। मन देवता से बनता है। अभी यजमान ने आहवनीय का उपस्थान किया था। वह देवताओं का था। यदि गार्हपत्य पर आकर यह उसका उपस्थान न करता तो पृथिवी लोक से इसकी प्रतिष्ठा उखड़ जाती। एक तो पितृकर्म, दूसरा आहवनीय का उपस्थान दोनों ही पृथिवी लोक से प्रतिष्ठा का उन्मूलन करने वाले कर्म हैं। बस इसीलिये पृथिवीस्वरूप गार्हपत्य पर प्रतिष्ठा रहने के लिये ही गार्हपत्य का उपस्थान करते हैं। अब तक इसका मन पितर लोक में था, कहीं वहीं न रह जाय, यजमान प्रेतपितरों में ही सम्मिलित न हो जाय– इसी अभिप्राय से कहते हैं– "पितृयज्ञेन वा एतदचारिषुस्तदु खलु जीवान् अपिपद्यन्ते 'तस्मादाह जीवं व्रातं सचेमहि"। इति ॥३९॥

इत्युपस्थानकर्म्म समाप्तम्।

तदनन्तर अध्वर्यु और यजमान दोनों में से जो भी पिण्डदान देता है, केवल वही फिर प्राचीनावीती होकर पितृवेदि के पास जाकर उसका स्पर्श कर यह मंत्र बोलता है— "अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत" पितर लोग तृप्त हो गये। एवं उन्होंने स्व-स्वभाग का अतिक्रमण न कर मेरे दिये हुए पिण्डों को खा लिया। उन्होंने यथाभाग खा लिया यही मन्त्र का तात्पर्य है—"यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह" ॥४०॥

इसके अनन्तर पानी से भरा हुआ पात्र लेकर दक्षिणावर्त्त होकर तीन दफे पानी सींचकर वेदि की परिक्रमा करता है। "असाववनेनिक्ष्व" इसी मन्त्र से पिता-पितामह-प्रपितामह तीनों का नाम लेकर बस उन्हीं तीनों स्रक्तियों में पानी डालता है। इस प्रकरण की विशद व्याख्या पिण्डपितृयज्ञ में देखनी चाहिए। भोजन कर चुकने के पश्चात् कृतभोजन के लिए जैसे हाथ पर पानी डाला जाता है, बस, उसी तरह यह प्रसलवि अवनेजन समझना चाहिए।

तद्यथा जक्षुषे (भुक्तवते) अभिषिञ्चेत्, एव तत् 'अवनेजनम्' इस प्रकार से प्रसलवि

होकर अवनेजन का एक तो यह तात्पर्य है। अपि च अन्त में जिस लिए कि प्रसलवि होकर अवनेजन किया जाता है, उसके कारण और भी हैं—"तद्यत् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्येति" तस्य कारणान्तरमपि विद्यते—इति शेषः।

अपसलवि कर्म पितृकर्म है एवं प्रसलवि कर्म दिव्यकर्म है। मेरा यह पितृकर्म्म प्रसलवि ही प्रतिष्ठित रहे। अर्थात् मेरे यज्ञ की समाप्ति देवता की पंक्ति में जाकर हो। मैं अन्त में पितृकर्म करके उसी देवमण्डल में आ जाऊँ।

"तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परिषिञ्चन् पर्य्येति।"

इसके बाद धोती की नीवी को जरा ढीली करके पितरों को नमस्कार करता है जो बिल्कुल खुला हुआ है, उसमें देवप्राण देवबल रहता है, जो बिल्कुल गांठ लगा हुआ होता है, वह आसुर होता है। ग्रन्थि वारुणी है, परन्तु पितर असुर और देवता के बीच की वस्तु है। पितृप्राण न एकदम प्रकाश है न अन्धेरा है; न एकदम खुला हुआ है न बंधा हुआ है, वह तो बीच की वस्तु है। चूंकि नीवी भी बीच की ही वस्तु है। इसी अभिप्राय से कहते हैं —"पितृदेवत्या वै नीविः। तस्मान्नीविमुद्धाटच नमस्करोति"॥

इस प्रकार से नीवी को स्पर्श कर प्रण म करने का एक प्रयोजन तो यह हुआ। अब दूसरा प्रयोजन और बतलाते हैं - नमः यज्ञ है। एक में एक की आहुति पड़ जाने का नाम ही यज्ञ है। सोम की अग्नि में आहुति पड़ जाती है। अतएव हम उस अग्नीषोम के मेल को यज्ञ कहते हैं। बस, हम अपने से बड़े को आत्मसमर्पण करते हैं। जैसे—अग्नि में आहुत सोम अपनी स्वतंत्रता छोड़ देता है। तद्वत् हम अपना स्वातन्त्र्य छोड़कर वृद्धों के आधीन हो जाते हैं। बस इसीलिए—"यज्ञो वै नमः" कहा गया है। तो बस नमस्कार करता हुआ इन पितरों को यज्ञिय ही बनाता है "याज्ञियानेवैतत् करोति"। इसका विशद विवेचन पिण्डपितृयज्ञ में देखना चाहिए। ६ बार नमस्कार किया जाता है। ऋतु ६ हैं एवं ऋतु ही पितर हैं। तो ६ओं ऋतुओं में ही अर्थात् सब पितरों में ही यज्ञ को प्रतिष्ठित करता है। एवं ऐसा करता हुआ सारे संवत्सर पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। "तस्मत् षट्कृत्वो नमस्करोति"। अन्त में आशीर्मन्त्र बोलता है—"गृहान्नः पितरो दत्त"। पितर घर के ही स्वामी हैं, अतएव उनसे "आप हमारे गृहों की सम्पत्ति विभाजित करवाइये" यह कहा है। बस इस पितृकर्म्म का यही फल है। पितृकर्म्म करने वाले यजमान का कुटुम्ब सदा सुखी रहता है॥४३॥

इसके पश्चात् चूंकि अनुयाज कर्म्म करेंगे, अतः सब के सब यज्ञोपवीती होकर इस स्थान से यजमान और ब्रह्मा और आग्नीध्र तीनों चलते हैं। तीनों में से आग्नीध्र यजमान

और ब्रह्मा पीछे - पीछे चलते हैं एवं आग्नीध्र इन दोनों के आगे - आगे चलता है एवं होता अपने होतृषदन में बैठ जाता है ।।४३।।

इसके अनन्तर अध्वर्यु ब्रह्मा को "ब्रह्मन् प्रस्थास्यामि" यह कहकर अर्थात् अनुयाज कर्म्म के लिए ब्रह्मा से आज्ञा लेकर समिधा लेकर आग्नीध्र के प्रति "अग्निमग्नीत् संमृड्ढि" यह प्रैष करता है। तदनन्तर स्रुवा स्रुक् लेकर प्रत्यङ्मुख होकर अतिक्रमण करता है। अतिक्रमण कर 'ओश्रावय' इत्यादि आश्रावण कर्म्म कर बोलता है– "देवान् यज"। तदनन्तर अध्वर्यु बिना बर्हि के दो अनुयाजों का यजन करता है। अपबर्हियंजन का कारण बतलाते हैं– "प्रजा वै" इत्यादि ।।४४।।

इसके पश्चात् स्रुगादापन कर्म्म करके परिधियों को एकत्र कर उनका स्पर्श करते हुए होता के प्रति कहता है– इषिता दैव्या होतारो भद्रवाच्याय, प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय"। होता सूक्तवाक (मंगलपाठ) करता है। प्रकृतियज्ञवत् –यहाँ प्रस्तरग्रहण– अध्वर्यु नहीं करता है, अपितु जब तक होता सूक्तवाक करता है, तब तक वह चुपचाप प्रतीक्षा किया करता है—"नाध्वर्युः प्रस्तरं समुल्लुम्पति इत्येवोपास्ते यदा होता सूक्तवाकमाह" ।।४५।।

इसके बाद आग्नीध्र बोलता है—'अनुप्रहर'। चूंकि प्रस्तरग्रहण तो है नहीं, इसलिए अध्वर्यु बिना फेंके ही केवल अपने आत्मा का (छाती का) स्पर्श मात्र कर लेता है ।।४६।।

इसके बाद अध्वर्यु कहता है 'संवदस्व'। अगान् अगीत्, अगन्, श्रावय, श्रौषट्। फिर वह बोलता है– "स्वगा दैव्या होतृभ्यः स्वस्तिर्मानुषेभ्यः। इसके पश्चात् अध्वर्यु "शंयोर्ब्रूहि– इस शंयुवाक कर्म्म के लिए प्रैष करता है। उस समय अध्वर्यु परिधियों को अग्नि में नहीं डालता है। केवल अपना स्पर्शमात्र कर लेता है।

इसके पश्चात् चतुःस्रक्तियुक्त वेदि पर विकीर्ण जो बर्हि और परिधि है, उन्हें एकदम से चुपचाप अग्नि में डाल देता है।

"अथैतद् बर्हि नुसमस्यति परिधींश्च" ।।४७।

कई याज्ञिक लोग बर्हि और परिधि की तरह हविरुच्छिष्ट को (आहुति देते समय जो हवि इधर - उधर बिखर गई थी, उसे) अग्नि में डालने की सम्मति देते हैं। परन्तु हमारे मतानुसार ऐसा कभी नहीं करना चाहिये। यह विकीर्ण हवि अग्नि का उच्छिष्ट है। हम उच्छिष्ट हवि की आहुति अग्नि में न डाल बैठें, इसलिये या तो पानी में बहा देना चाहिये अथवा खा जाना चाहिये। "तस्मादपो वै वाभ्यवहरेयुः प्राश्नीयुर्वा"।

इति साकमेधाङ्गभूतपितृयज्ञः समाप्तः।

इति द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणं समाप्तम्। (१) (६-१)

(२ - ब्राह्मण)

अथ त्र्यम्बकहविर्याग:

(मूल) महाहविषा ह वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम् । अथ यानेवैषां तस्मिन् संग्राम इषव आर्च्छंस्तान् एतैरेव शल्यान्निरहरन्त । तान् व्यवृहन्त यत् त्र्यम्बकैरजयन्त ॥१॥

अथ यदेष एतैर्यजते । तन्नाह न्वेवैतस्य तथा कंचनेषुरार्च्छतीति देवा अकुर्वन्, इति त्वेवैष एतत् करोति । याश्च त्वेवास्य प्रजा जाताः, याश्चाजाताः उभयी रुद्रियात् प्रमुञ्चति । ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजायन्ते । तस्माद्वा एष एतैर्यजते ॥२॥

ते रौद्रा भवन्ति । रुद्रस्य हीषुः । तस्माद्रौद्रा भवन्ति । एककपाला भवन्ति । एकदेवत्या असन्निति । तस्मादेककपाला भवन्ति ॥३॥

ते वै प्रतिपुरुषं यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति । तत्प्रतिपुरुषमेवैतदेकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति । एकेनातिरिक्ता भवन्ति तद् या एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति । तस्मादेकेनातिरिक्ता भवन्ति ॥४॥

स जघनेन गार्हपत्यम्, यज्ञोपवीती भूत्वा उदङ् आसीन एतान् गृह्णाति । स तत एवोपोत्थाय उदङ् तिष्ठन् अवहन्ति । उदीच्यौ दृषदुपले उपदधाति । उत्तरार्द्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति । तद् यदेव तामुत्तरां दिशं सचन्ते । एषा ह्येतस्य देवस्य दिक् । तस्मादेतामुत्तरां दिशं सचन्ते ॥५॥

ते वा अक्ताः स्युः । अक्तं हि हविः । त उ वा अनक्ता एव स्युः । अभिमानुको ह रुद्रः पशून् स्याद् यदञ्ज्यात् । तस्मादनक्ता एव स्युः ॥६॥

तान् सार्धं पात्र्यां समुद्वास्य, अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय उदङ् परेत्य

जुहोति। एषा ह्येतस्य देवस्य दिक्। पथि जुहोति। पथा हि स देवश्चरति। चतुष्पथे जुहोति। एतद्ध वा अस्य जान्धितं प्रज्ञातमवसानं चतुष्पथम्। तस्माच्चतुष्पथे जुहोति ॥७॥

पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति। ब्रह्म वै पलाशस्य पलाशम्। ब्रह्मणैवैतज्जुहोति। स सर्वेषामेवावद्यति। एकस्यैव नावद्यति। स एषोऽतिरिक्तो भवति ॥८॥

स जुहोति 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा' इति। अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा। तथाऽस्यैष सह भागः। तद् यदस्यैष स्त्रिया सह भागः तस्मात् त्र्यम्बका नाम। तद् या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥९॥

अथ य एष एकोऽतिरिक्तो भवति तमाखूत्कर उपकिरति। 'एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः' इति। तदस्मा आखुमेव पशूनामनुदिशति। तेनो इतरान् पशून् न हिनस्ति। तद्यदुपकिरति-तिर इव वै गर्भाः, तिर इवैतद् यदुपकीर्णम्। तस्माद्वा उपकिरति। तद् या एवास्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति ॥१०॥

अथ पुनरेत्य जपन्ति अव रुद्रमदीमहि अव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करत्. यथा नः श्रेयसस्करत्; यथा नो व्यवसाययात्, भेषजमसि भेषजं, गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजं, सुखं मेषाय मेष्यै, इति। आशीरेवैतस्य कर्मणः ॥११॥

अथापसलवि त्रिः परियन्ति सव्यानूरूनुपाघ्नानाः। त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्' इति। आशीरेवैतस्य कर्मणः। आशिषमेवैतदाशासते। तदु ह्येव शमिव यो मृत्योर्मुच्यातै, नामृतात्। तस्मादाह—मृत्योर्मुक्षीय मामृतादिति ॥१२॥

तदु हापि कुमार्यः परीयुः 'भगस्य भजामहै' इति। या ह वै सा रुद्रस्य स्वसाऽम्बिका नाम—सा ह वै भगस्येष्टे। तस्मादु हापि कुमार्यः परीयुः भगस्य भजामहै' इति ॥१३॥

तासामुतासां मन्त्रोऽस्ति—'त्र्यम्बकं यजमाहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय माऽमुतः' इति। सा यदित इत्याह—ज्ञातिभ्यस्तदाह। माऽमुत इति-पतिभ्यस्तदाह। पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा। तस्मादाह माऽमुत इति ॥१४॥

अथ पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति दक्षिणानूरूनुपाघ्नानाः एतेनैव मन्त्रेण। तद् यत् पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति। 'प्रसलवि न इदं कर्मानुसन्तिष्ठातै' इति। तस्मात् पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति ॥१५॥

अथैतान् यजमानोऽञ्जलौ समोप्य ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गौर्नोदाप्नुयात्। तदात्मभ्य एवैतच्छल्यान्निर्मिमते। तान् विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति। भेषजमेवैतत् कुर्वते। तस्माद् विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति ॥१६॥

तान् द्वयोर्मूतकयोरुपनह्य वेणुयष्ट्यां वा कुपे वा बोभयत आबध्य उदङ् परेत्य यदि वृक्षं वा स्थाणुं वा वेणुं वा वल्मीकं वा विन्देत्तस्मिन्नासजति 'एतत्ते रुद्रावसम्' तेन परो मूजवतोऽतीहि' इति। अवसेन वा अध्वानं यन्ति, तदेनं सावसमेवान्ववार्जति यत्र यत्रास्य चरणं तदनु। अत्र ह वा अस्य परो मूजवद्भ्यश्चरणं तस्मादाह-तेन परो मूजवतोऽतीहि' इति। 'अवततधन्वा पिनाकावसः' इति। 'अहिंसन् यः शिवोऽतीहि'इति। इत्येवैतदाह। 'कृत्तिवासा' इति। निष्वापयत्येवैनमेतत्। स्वपन्नु हि न किञ्चन हिनस्ति। तस्मादाह कृत्तिवासा इति ॥१७॥

अथ दक्षिणान् बाहूनन्वावर्तन्ते। तेऽप्रतीक्षं पुनरायन्ति। पुनरेत्याप उपस्पृ-

शन्ति । रुद्रियेण वा एतदचारिषुः । शान्तिरापः । तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते ॥१८॥

अथ केशश्मश्रूप्त्वा, समारोह्य, अग्नौ उदवसायेव ह्येतेन यजते । न हि तदवकल्पते यदुत्तरवेदावग्निहोत्रं जुहुयात् । तस्मादुदवस्यति । गृहानित्वा निर्मथ्याग्नी पौर्णमासेन यजते । उत्सन्नयज्ञ इव वा एषः यच्चातुर्मास्यानि । अथैष क्लृप्तः प्रतिष्ठितो यज्ञो यत् पौर्णमासम् । तत् क्लृप्तेनैवैतद्-यज्ञेनान्ततः प्रतितिष्ठति । तस्मादुदवस्यति ॥१९॥

इति साकमेधयागश्चातुर्मास्ये तृतीयं पर्व ।

त्र्यम्बकहविर्याग

(अनु.) साकमेध के अङ्गभूत सभी कर्म महाहवि कहलाते हैं । अतः साक-मेधाङ्गभूत त्र्यम्बक हविर्याग के लिए 'महाहवि' शब्द का प्रयोग किया गया है । त्र्यम्बकहविर्याग फाल्गुन मास की अमावस्या को किया जाता है । पारमेष्ठच शिव वायु त्र्यम्बक तथा रौद्र रूक्षवायु रुद्र कहलाता है । यह शल्य चुभाया करता है । इसी रूक्ष रुद्रवायु को यहाँ वृत्र कहा है । रूक्ष रुद्रवायु का शमन पारमेष्ठच शिववायु के मिश्रण से होता है । 'यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु' के अनुसार यजन का अर्थ संगतिकरण अर्थात् मेल है । यही त्र्यम्बकरूप महाहवि के द्वारा वृत्र का विनाश है । इसी अभिप्राय से कहा है कि महाहवि (त्र्यम्बकहवि) से देवताओं ने वृत्र को मारा । इसीके द्वारा उन्होंने विजय प्राप्त की जो कि उनको विजय थी । जिन इन्द्रादि देवताओं को इस संग्राम में वृत्रप्रयुक्त बाण लगे उन देवताओं को इन्हीं त्र्यम्बक हवियों के द्वारा शल्यनिर्मुक्त किया, उनके शल्यों का उद्धार किया । इसलिए त्र्यम्बक हवि से यज्ञ किया था ॥१॥

इस समय जो यजमान इस त्र्यम्बकहविर्याग को करता है वह इसलिए नहीं करता कि आज यजमान के किसी व्यक्ति के बाण चुभ रहा है किन्तु भुवनस्वर्ग-वासी देवताओं ने इस याग को किया था इसलिए वह भी 'यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इस नियम के अनुसार कर रहा है । तथा इस यजमान की जो उत्पन्न

तथा अनुत्पन्न दोनों प्रकार की प्रजा हैं उन दोनों को भी रुद्रपाश से मुक्त इस यज्ञ के अनुष्ठान से करता है। इस याग के अनुष्ठान से उसकी प्रजाएँ रोगरहित तथा पापरहित हो जाती हैं इसलिए इस हवि से यजन करता है ॥२॥

त्र्यम्बकहवियाँ रुद्रदेवताक होती हैं क्योंकि रुद्र के बाण अथवा रौद्रवायु ही शरीर में प्रविष्ट हुए थे। उनके निकालने के लिए रुद्रदेवताक हवि की ही आवश्यकता है। ये रुद्रदेवताक त्र्यम्बक हवियाँ एक कपाल में संस्कृत करके दी जाती हैं। इनका देवता एक रुद्र ही हो इसलिए एककपाल पुरोडाश रूप हवियों का यहाँ निर्वाप होता है ॥३॥

कितनी त्र्यम्बकहवियों की आहुति देनी चाहिए इसके विषय में बतलाते हैं कि जितने घर में व्यक्ति हों उनसे एक अधिक हवियां होनी चाहिएँ[1]। अर्थात् प्रतिपुरुष एक पुरोडाश होना चाहिए और उनसे एक अधिक होना चाहिए। प्रतिपुरुष पुरोडाशप्रदान के द्वारा इसको जो उत्पन्न प्रजाएँ हैं उनको रुद्रपाश से मुक्त करता है तथा एक जो अतिरिक्त पुरोडाशरूप हवि है उससे इस यजमान की अनुत्पन्न प्रजा को रुद्रपाश से मुक्त करता है। अतः एक हवि अधिक होनो चाहिए ॥४॥

वह यजमान यज्ञोपवीती बनकर गार्हपत्य के पश्चिम प्रदेश में उत्तराभिमुख[2] बैठकर पुरोडाशों को ग्रहण करता है। इन पुरोडाशों का निर्वाप तूष्णीं अर्थात् वषट्कारोच्चारण के बिना होता है। इसीलिए सूत्रकार कात्यायन ने बिना वषट् के ही इनका हवन बतलाया है[3]। वह वहीं खड़ा होकर उस हवि का मूसल से अवघात करता है अर्थात् उसके तुष हटाता है। पश्चात् उसे पीसने के लिए उत्तर की ओर शिला लोढो रखता है। तदनन्तर गार्हपत्य के उत्तरप्रदेश में कपालों को रखता है। इस त्र्यम्बक हवि में ऋत्विक् उत्तर दिशा में समवेत (एकत्र) होते हैं क्योंकि रुद्र (शिव) उत्तर दिशा के लोकपाल हैं। यही इनकी दिशा है। इसलिए सभी कार्यों के लिए वे उत्तर में ही समवेत होते हैं ॥५॥

१—त्र्यंम्बकान्निर्वपति रौद्रानेककपालान् यावन्तो यजमानगृह्या एकाधिकान् (का. श्रौ. सु. ५।२५६)

२—उदङ्मुखः सर्वम् (का. श्रौ. सू. ५।२५८)

३—जुहोतयोऽवषट्काराः (का. श्रौ. सू. ५।२६०)

वे पुरोडाश अक्त (घृतसिक्त) होने चाहिएँ[1]। क्योंकि घृताक्तता के बिना हवि का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होता। इसीलिए तैत्तिरीय संहिता में कहा है—"प्रच्युतं वा एतस्माल्लोकादागतं यच्छृतं हविरनभिघारितम्, अभिघार्योद्वासयति"। २।६।३।६ किन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है कि आज्य से अनभिघारित पुरोडाश होने चाहिएँ क्योंकि यदि पशुप्रभव आज्य से इन रौद्र पुरोडाशों को अभिधारित करेंगे तो आज्यसम्बन्ध द्वारा रुद्र आज्यकारणभूत पशुओं को बाधित करने में समर्थ हो जायगा। अतः अनक्त पुरोडाश की ही हवि देनी चाहिए ॥६॥

अनक्त पुरोडाश तैयार कर उन सब को एक साथ एक पात्र में ठण्डा कर अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) से उल्मुक (जलता हुआ पूला) लेकर उत्तर दिशा की तरफ जाकर हवन करे क्योंकि उत्तर दिशा ही रुद्र की दिशा है। उत्तरमार्ग में हवन करे क्योंकि यह रुद्रवायु मार्ग में ही भ्रमण करता है। मार्ग में भी चौराहे पर हवन करे क्योंकि चतुष्पथ (चौराहा) ही रुद्र का परिकल्पित तथा प्रसिद्ध स्थान है। अतः चौराहे में हवन करे ॥७॥

पलाशवृक्ष के मध्यम पर्ण से हवन करे। पलाश में तीन पत्ते होते हैं उन में मध्यम पर्ण से हवन अभिप्रेत है। पलाश ब्रह्मवीर्यरूप है अतः उसका पर्ण भी ब्रह्मवीर्यरूप है। अतः पलाशपर्ण से हवन करना ब्रह्मवीर्य से हवन करना है। वह (यजमान) सभी पुरोडाशों का अवदान (खण्ड) करता है किन्तु घर के जितने व्यक्ति थे उनसे अधिक जो एक पुरोडाश लिया था उसका अवदान नहीं करता ॥८॥

इस प्रकार सब पुरोडाशों में से अवदान लेकर निम्न मन्त्र से चौराहे में रुद्र के लिए आहुति देता है 'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा' (वा. सं. ३।५७) इति। हे रुद्र, अम्बिका नाम बहिन के साथ तुम्हारा यह पुरोडाश भाग है अतः इसे स्वीकार करें। यह हवि आप में सम्यक् हुत हो। अम्बिका रुद्र की बहिन है। उसके सहित रुद्र का यह भाग है। इस प्रकार अम्बिका रूप स्त्री के साथ इस रौद्र भाग का सम्बन्ध होने से यह त्र्यम्बक कहलाती है।

१—अक्तान् वा (का. श्रौ. सू.

इस हवि के द्वारा इस यजमान की जो उत्पन्न प्रजा है उनको रुद्रपाश से मुक्त कराता है ॥९॥

और जो हवि का एक अतिरिक्त भाग है 'उसे एष ते रुद्र भागः आखुस्ते पशुः' इस मन्त्र के द्वारा आखूत्कर-मूषकबिल की मिट्टी में डाल देता है हे रुद्र, यह पुरोडाश तेरा भाग है और यह मूषक तुम्हारा पशु है। इस प्रकार पशुओं में मूषक को ही रुद्र के लिए पशुरूप से निर्दिष्ट करता है। इससे अन्य गौ, अश्व आदि पशुओं की रुद्र हिंसा नहीं करता। क्योंकि रुद्र की दृष्टि आखु पर ही रहती है। उसे ही उसका पशु निश्चित किया है। उस पुरोडाश को मूषकबिल की मिट्टी पर डालने का कारण बतलाते हैं कि गर्भ तिरोहित (प्रच्छन्न) से होते हैं और मूषकबिल की मिट्टी में प्रक्षिप्त यह पुरोडाश भी विगलित होकर प्रच्छन्न सा ही हो जाता है। इस अतिरिक्त पुरोडाश के द्वारा यजमान की अनुत्पन्न प्रजाओं को रुद्रपाश से मुक्त करता है ॥१०॥

पश्चात् चौराहे में अग्नि के पास आकर निम्न मन्त्र का जाप करते हैं[1] 'अव रुद्र मदीमहि,अव देवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करत्,यथा नः श्रेयसस्करत्,यथा नो व्यवसाययात्॥ भेषजमसि भेषजम्, गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्, सुखं मेषाय, मेष्यै' इति (वा. सं. ३।५८, ५९) अर्थात् हविर्भाग के द्वारा रुद्र को पृथक् कर प्रजाओं की रक्षा करें। हविर्भाग के द्वारा देवनशील अम्बिकारूप स्त्री से सहित रुद्र को अलग कर प्रजा की रक्षा करें। जिस प्रकार वह रुद्र हमें वसुमत्तम, (अतिशय-धनयुक्त) प्रशस्यतर और व्यवसितार्थयुक्त करे, उस प्रकार से रुद्र को पृथक् कर प्रजा की रक्षा करें[2]। हे रुद्र, आप ओषधि हैं। आप गो, अश्व, पुरुष तीनों के लिए भेषज हैं; मेष और मेषी के लिए आप सुखस्वरूप हैं। यह त्र्यम्बक हविर्याग की आशीः (फलप्रार्थना) है ॥११॥

इसके पश्चात् वामावर्त होकर, अपनी वाम जंघा का ताडन करते हुए अर्थात् हाथ से बजाते हुए 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र का उच्चारण करते हुए चोराहे में चौतरफ अग्नि की तीन बार परिक्रमा करते हैं[3]। मन्त्र निम्नलिखित है—

१—मन्त्र का यह अर्थ सायणभाष्यानुसार है। हिन्दीविज्ञानभाष्यकार ने इसका दूसरा ही अर्थ किया है। उसे इस मन्त्र के विज्ञानभाष्य में देखें।

२—'आगम्यावरुद्रमदीमहीति जपन्ति'। (का. श्रौ. सू. ५।२६७)

३—'अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत् सव्योरूनाघ्नानास्त्र्यम्बकमिति'। (का. श्रौ. सू. ५।२६९)

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्' इति (वा.सं. ३।६०)

शोभनगन्ध से युक्त, पुष्टि बढ़ाने वाले त्र्यम्बक (अम्बिका स्त्री सहित) रुद्र का हम यजन करते हैं। जैसे पक्व ककड़ी या घीया अपने वृन्त से मुक्त हो जाता है वैसे ही हम मृत्यु से मुक्त हो जावें और अमृत से वियुक्त न हों। यह इस कर्म की आशीः (फलप्रार्थना) है। इसी फल की प्रार्थना करते हैं। मृत्यु से छूटना और अमृत से वियुक्त न होना ही प्राणियों का सुख है। इसीलिए मृत्यु से मुक्त हों और अमृत से नहीं, यह कहा है ।।१२।।

तब कुमारियाँ भी सौभाग्यप्राप्ति के लिए इस अग्नि की उक्त प्रकार से तीन बार परिक्रमा करें[1]। जो यह रुद्र की बहिन है वह अम्बिका है। वही सौभाग्य की स्वामिनी है। इसलिए कुमारियाँ सौभाग्य की प्राप्ति के लिए अग्नि की परिक्रमा करें ।।१३।।

कुमारी परिक्रमा के समय जिस मन्त्र को बोलती हैं वह यह है—

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् इतो मुक्षीय माऽमुतः'। (वा. सं. ३।६०)

सुगन्धयुक्त, पतिप्रापक त्र्यम्बक का हम यजन करें। जिस प्रकार कर्कटीफल बन्धन से मुक्त हो जाता है वैसे हम इतः अर्थात् पितृकुल से, सम्बन्धियों से मुक्त हो जावें किन्तु अमुतः अर्थात् पतिकुल से वियुक्त न होवें। इस मन्त्र में 'इतः' से ज्ञातियों का तथा 'अमुतः' से पतिकुल का ग्रहण है। पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा (आश्रय) हैं। इसीलिए पतिकुल से वियुक्त न होने की प्रार्थना की गई है ।।१४।।

तदनन्तर वे त्र्यम्बकहविर्याग करने वाले उसी 'त्र्यम्बकं यजामहे' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए अपनी दक्षिण जंघा को हाथ से बजाते हुए दक्षिणावर्त होकर तीन परिक्रमा करते हैं। वे दक्षिणावर्त परिक्रमा इसलिए करते हैं कि यह हमारा याग देवभाग में प्रतिष्ठित हो न कि पितृभाग में ।।१५।।

१— कुमार्यश्चोत्तरेणोभयत्र पतिकामा भगकामा वा' (का. श्री. सू. ५।२७१)

इसके बाद यजमान पुरोडाशशेषों को अंजलि में लेकर इस प्रकार ऊपर को तरफ फेंके जिससे वे पुरोडाशभाग पृथिवी पर न गिरे अपितु अध्वर्यु उन्हें पुनः अंजलि में ग्रहण करले[1]। पुरोडाश के इस ऊपर प्रक्षेपण के द्वारा ऋत्विक् व यजमान अपने शरीर से शल्यों को निकालकर फेंकते हैं। यदि वे ऊपर ही उन पुरोडाशों को ग्रहण न कर सकें तो भूमि में गिरे हुए उन पुरोडाशों का उपस्पर्श करें[2]। इस उपस्पर्श से शल्य के निकाल देने पर शरीरदेशस्थ व्रण का उपचार करते हैं॥१६॥

तदनन्तर उन पुरोडाशों को तृणमय या वस्त्रमय आवपन (कोथली) में बाँधकर वेणुयष्टि में अथवा कुप्पी में दोनों तरफ से उसका मुख बन्द कर उत्तर की तरफ जाकर वृक्ष, स्थाणु, बांस या वल्मीक[3] इनमें से जो भी मिले उसमें निम्नलिखित मन्त्र का उच्चारण करता हुआ लटका देता है—

'एतत्ते रुद्रावसम्, तेन परो मूजवतोऽतीहि' इति (वा. सं. ३।६१)

हे रुद्र, तुम्हारा यह प्रीतिकर पाथेय अन्न है। इसे स्वीकार कर मूजवान् पर्वत के पार चले जाइये। अर्थात् हमारे पास न रहें। पाथेय अन्न के द्वारा ही मनुष्य मार्ग को पार करते हैं इसलिए इस रुद्र को पाथेय अन्न के साथ ही दूर देश में भेजते हैं। जिस जिस स्थान में इस रुद्र का चरण (गमन) होता है उस स्थान को लक्ष्य करके हो 'परो मूजवतोऽतीहि' कहा है। अर्थात् मूजवान् पर्वत के पार रुद्र का स्थान है, वहीं वह जाता है। मन्त्रशेष का उच्चारण करता है– 'अवततधन्वा पिनाकावसः, अहिंसन्नः शिवोऽतीहि। कृत्तिवासाः' इति। अर्थात् धनुष् की प्रत्यञ्चा को गिराने वाले तथा पिनाक नामक धनुष् के व्यापार को रोकने वाले हे रुद्र हमारी हिंसा न करते हुए हमारे लिए सुखकारी होते हुए दूर चले जाओ। मन्त्र में 'अवततधन्वा' तथा 'पिनाकाबसः' इन शब्दों में अहिंसा की सूचना दी है। क्योंकि हिंसा धनुष् पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने और उसके व्यापार के द्वारा ही होती है न कि धनुष् को प्रत्यञ्चा उतारने पर तथा धनुष् का

१—रौद्रान् यजमानोऽञ्जलिनोदस्यत्यगोः प्रापणम्, प्रतिगृह्णात्येनान्।' (का. श्रौ. सू. ५।२७२-२७३)

२—'पततः प्रतिगृह्णात्येनानशक्यऽउपस्पर्शनम्' (का. श्रौ. सू. ५।२७३)

३—'मूतकयोः कृत्वा वेणुयष्टचां कुपे वाऽऽसज्योभयतः स्थणुवृक्षवंशवल्मीकानामन्यतमस्मिन्न पक्षेपण-वदासजत्येतत्'। (का. श्रौ. सू. ५।२७४)

व्यापार बन्द करने पर। 'कृत्तिवासा:'[1] कहकर रुद्र को सुलाता है। क्योंकि शिव युद्ध के समय कवच धारण करते हैं। चर्मरूप वस्त्र तो शान्ति के समय ही पहनते हैं। सोता हुआ रुद्र किसी की हिंसा नहीं करता है ।।१७।।

तदनन्तर वे ऋत्विगादि दक्षिण बाहु की तरफ घूमते हैं, लौटते हैं। बिना पीछे देखे लौटते हैं। पश्चात् वेदि के पास आकर जल का स्पर्श रौद्रहवि:प्रचरण-जनित उष्णता के निवारण के लिए करते हैं[2]। अर्थात् ऋत्विजों ने रुद्रिययाग किया था। रुद्र घोर आग्नेय प्राण है, उसकी शान्ति जलस्पर्श द्वारा करते हैं ।।१८।।

तत्पश्चात् केश व श्मश्रु कटवाकर गार्हपत्य व आहवनीय अग्नियों का समारोपण कर पूर्व अग्नियों का अवसान कर देता है। अग्नियों का उदवसान करके ही साकमेधान्त से यजन किया जाता है। साकमेधाङ्गभूत उत्तरवेदि में अग्निहोत्र करना संगत नहीं है। अत: इन अग्नियों का उदवसान कर घर जाकर नवीन अग्नियों का मन्थन कर पौर्णमास याग करता है। ये चतुर्मास्य यज्ञ उत्सन्न यज्ञ हैं, अप्रतिष्ठित हैं और पौर्णमास प्रतिष्ठित यज्ञ है। अत: अन्त में प्रतिष्ठित पौर्णमास यज्ञ के द्वारा अपने को प्रतिष्ठित बनाता है। अत: चातुर्मास्य यज्ञ की साकमेध पर समाप्ति न कर उसका अवसान करता है।

साकमेधे त्र्यम्बकहवि:

(भाष्य) साकमेध में होने वाले जितने भी अङ्ग कर्म्म हैं, वे सब 'महाहवि' नाम से ही व्यवहृत होते हैं। साकमेधान्तर्गत देवयज्ञ को भी महाहवि कहते हैं, साकमेधान्तर्गत पितृयज्ञ को भी 'महाहवि' कहते हैं। एवमेव साकमेधान्तर्गत इस त्र्यम्बक हवि को भी महाहवि ही कहते हैं। बस, इसी अभिप्राय से त्र्यम्बक के लिए भी "महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नु:" यही कहा जाता है।

वैश्वदेवेष्टि से प्रजाप्रजनन होता है, वरुणप्रघास से वर्षा से होने वाले उपद्रवों को शान्त किया जाता है एवं साकमेघों से बलाधान किया जाता है। देवयज्ञ और पितृयज्ञ से आध्यात्मिक पितरदेवता एवं आधिदैविक पितरदेवता दोनों को तृप्त किया जाता है।

१—'कृत्तिवासा:' इति च (का. श्रौ. सू. ५।२७५)

२—'अनपेक्षमेत्योपस्पृशन्त्यप:' (का. श्रौ. सू. ५।२७६)

त्र्यम्बक हवि फाल्गुन की अमावस्या में दी जाती है। वायु को ही रुद्र कहते हैं। अग्नि की तरलावस्था का नाम ही वायु है। यह वायुस्वरूप अर्थात् अग्निस्वरूप रुद्र घोर और शिव-भेद से दो प्रकार का है। जैसा कि श्रुति कहती है—

"रुद्रो वा एव यदग्निस्तस्यैते द्वे तन्वौ घोराऽन्याच शिवाऽन्या च"

जो शिव है, उसे ही त्र्यम्बक कहते हैं। परमेष्ठिमण्डल का वायु जल से ओतप्रोत रहता है। अतएव इसे साम्ब सदाशिव कहा जाता है। परन्तु सूर्य्य से नीचे का जो वायु है, वह चूंकि अत्यन्त रूक्ष है, अतएव इसे "रोदयति जनान्" इस व्युत्पत्ति से रुद्र कहा करते हैं। एक ही वायु अवस्थाभेद से शिव और रुद्र स्वरूप में परिणत हो जाता है। एक ही वायु के दो शरीर हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

" या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ "

इस वायु की प्रधानता फाल्गुन के मास में रहती है। श्रवणानक्षत्र ही परमेष्ठी का द्वार है। जब सूर्य श्रवणा पर आता है, तो परमेष्ठी के द्वार फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को परमेष्ठी का वायु पृथिवी पर आता है। परमेष्ठी के वायु को ही कहते हैं शिववायु, अतएव इस रात्रि को 'शिवरात्रि' कहते हैं। इस शिववायु के साथ - साथ ही रुद्रवायु भी रहता है, जो कि शल्य चुभाया करता है। रुद्र वायु ही शल्यस्वरूप है। यदि रुद्र का रूक्ष वायु शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, तो शरीर व्याकुल हो जाता है। बस, उस शल्य के निकालने के लिए, रुद्र वायु को शान्त करने के लिए ही त्र्यम्बक हवि दिया जाता है। त्र्यम्बक शिव है। इसके यजन करने से आधिदैविक देवमण्डल शान्त हो जाता है एवं शल्यरहित हो जाता है। बीमारी वरुण, रुद्र, और निर्ऋति—इन तीन देवताओं से ही होती है। सर्दी से जितनी भी बीमारियाँ होती हैं, वे सब वरुण से सम्बन्ध रखने वाली हैं एवं गर्मी की बीमारी रुद्र द्वारा होती हैं। एवं दारिद्रच - आलस्यादि दोष के प्रवर्त्तक निर्ऋति देवता हैं। सर्दी से होने वाली बीमारियों के नाश के लिए 'वरुणप्रघास' इष्टि बतला दी गई। अब गर्मी से होने वाली बीमारियों की शान्ति के लिए त्र्यम्बक हवि का विधान करते हैं। प्रकृति यज्ञ में देवप्राण के शल्य अर्थात् वायु की रूक्षता त्र्यम्बक से ही नष्ट होती है। शिववायु से ही रुद्र का प्रकोप शान्त होता हैं। रूक्ष वायु में जब शिव वायु (त्र्यम्बक) प्रविष्ट हो जाता है, तो उस रुद्र की रूक्षता जाती रहती है। इस प्रकार से प्रकृतिमण्डल में रुद्र से प्रक्षिप्त शल्यों की चिकित्सा इस त्र्यम्बकयजन द्वारा हुआ करती है। यजन का अर्थ है मिलना। रुद्र वायु में त्र्यम्बक के मिलने से रुद्र का रौद्रभाव दब जाता है। इस प्रकार से प्रकृतियज्ञ में प्राकृतिक त्र्यम्बक याग हुआ करता है।

"महाहविषा वै देवा वृत्रं जघ्नुः । तेनो एव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्" इस संग्राम में इन देवताओं के शरीर में जो बाण चुभ गये थे, उनको देवताओं ने सर्वथा निकाल डाला । एवं निकाल कर उन्हें चूर - चूर कर डाला । "यानेवैषां तस्मिन् संग्रामे इषव आर्च्छंन्-तान् एतैरेव शल्यान्निरहरन्त तान् व्यवृहन्त—यत् त्र्यम्बकैरजयन्त ।" उन्होंने जो कि त्र्यम्बकों से (त्र्यम्बक हवियों से) त्र्यम्बक का यजन किया था, उन्हीं त्र्यम्बकों से ही बाणों को शरीर में से निकाल कर चूर - चूर कर डाला ।

तो इस प्रकार से देवताओं ने इन शल्यों को निकालने के लिए ही त्र्यम्बक का यजन किया था, यही तात्पर्य है ॥१॥

याज्ञवल्क्य कहते हैं—आज जो कि यह यजमान इन त्र्यम्बकों से त्र्यम्बक का यजन करता है, वह केवल 'देवा अकुर्वन्' इस मर्यादा का पालनमात्र है । जैसे देवताओं के शरीर में बाण चुभ गये थे एवं उन्हें निकालने के लिए जैसे देवताओं ने त्र्यम्बकयाग किया था, वैसे आज इस यजमान के शरीर में कोई भी बाण नहीं घुसता है । अर्थात् आज इस यजमान के शरीर में किसी शत्रु का बाण नहीं घुसा हुआ है जिसको निकालने के लिए इसे त्र्यम्बकयजन करना पड़े । वह तो केवल 'देवा अकुर्वन्' इस मर्यादा के पालनार्थ आज यह त्र्यम्बककर्म्म करता है । बस इसी ऐतिहासिक भाव का स्मरण दिलाने के अभिप्राय से कहते हैं— " अथ यदेष एतैर्यजते— तन्नाह न्वेवं तस्य तथा कंचन इषुर्ऋच्छति । देवा अकुर्वन्निति त्वेवैष एतत् करोति" ।

त्र्यम्बक हवि केवल अन्धानुकरण ही नहीं है अपितु इससे और भी लाभ होता है । भौम-स्वर्गवासी देवताओं ने वृत्रासुर के आक्रमण को नष्ट करने के लिए रुद्रप्रक्षिप्त शल्यों को निकालने के लिए इस त्र्यम्बक हवि का विधान किया था अर्थात् उन लोगों ने त्र्यम्बक हवि से त्र्यम्बक देवता का यजन कर उसके द्वारा रुद्रप्रक्षिप्त शल्यों को निकाला था । अर्थात् उन्होंने अपने अध्यात्म में शिववायु की वैध उपायों से वृद्धि कर रौद्रभाव को हटाया था । यह हुआ एक अर्थ । दूसरा अर्थ यह है कि असुर सदा इन देवताओं पर आक्रमण करते रहते थे । परन्तु देवताओं ने महाहवि से उन्हें परास्त कर उस विजय को प्राप्त किया था जो कि विजय आज उनकी सुनी जाती है । 'देवासुर युद्ध' में देवताओं ने असुरों को परास्त कर डाला यह जो देवताओं की विजयगाथा हम सुन रहे हैं—वह इसी महाहवि का प्रताप है । फाल्गुन के महिने में जो रुद्रवायु शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, वह भी इस त्र्यम्बकहवि से शान्त हो जाता है । त्र्यम्बकहवि से यह अपने अध्यात्म के रौद्रभाव को ही नहीं हटाता, अपितु इसकी जो उत्पन्न एवं अनुत्पन्न प्रजा है, उन दोनों को रुद्रपाश से मुक्त करता हैं । इसी कारण यजमान की वह प्रजा निर्दुष्ट एवं नीरोग उत्पन्न होती है । बस इसलिए

भी त्र्यम्बकों से यजन किया जाता है । शनि और बुध वायु के देवता हैं। फाल्गुन में इन्हीं दोनों की प्रधानता रहती है । बस इसीलिए फाल्गुन में वायु का प्रकोप अधिक रहता है । वायु के झोंके से इस ऋतु में वृक्षों के सारे पत्ते झड़ जाते हैं। यह वायु हमारे शरीर पर भी आघात करता है । एवं शरीर को अपने तीक्ष्ण बाणों से विद्ध कर डालता है। बस इन शल्यों को निकालने के लिए रुद्रवायु को शान्त करने के लिए ही वक्ष्यमाण हवियों से त्र्यम्बक का यजन करता है । मर्यादापालन ही त्र्यम्बक यजन का प्रयोजन नहीं है, अपितु इससे रुद्र का प्रकोप भी शान्त होता है । बस इसीलिए अवश्य ही त्र्यम्बकयजन करना चाहिए ।

'याश्च त्वेवास्य प्रजा जाता, याश्चाजातास्ता उभयी रुद्रियात् प्रमुञ्चति । ता अस्यानमीवा अकिल्विषाः प्रजा : प्रजायन्ते— तस्माद्वा एष एतैर्यजते" । सर्दी से होने वाली जितनी भी बीमारियाँ हैं, उनका नाश करने के लिए प्रजा को वरुणपाश से छुड़ाने के लिए जैसे वरुणप्रघासेष्टि की जाती है, तद्वत् गर्मी से होने वाली अग्नि ही की तरलावस्थास्वरूप रुद्रवायु से होने वाली बीमारियों को नष्ट करने के लिए, रुद्रवायु को शान्त करने के लिए ही त्र्यम्बक यज्ञ किया जाता है । बस यही त्र्यम्बक यज्ञ का रहस्य है ।।२।।

वे त्र्यम्बक हवि रुद्रदेवतासम्बन्धी होते हैं। "ते वै रौद्रा भवन्ति" । जो बाण शरीर में प्रविष्ट हुए थे, वे बाण रुद्र ही के तो थे । चूंकि उन्हीं रुद्रदेवता के द्वारा प्रक्षिप्त बाणों को शरीर से निकालना है, अतः हवि तद्देवताक ही होती हैं। उन्हें प्रसन्न किया जायेगा, तभी तो बाण निकलेंगे। अतः उन्हीं के लिए हवि का निर्वाप किया जाता है। "तस्माद्रौद्रा भवन्ति" । परन्तु वे सारे हवि एककपालयुक्त ही होते हैं। अर्थात् जितनी हवि होती हैं, उतने कपाल नहीं होते । हवियों के नानात्व होने पर भी कपाल एक ही होता है । एक ही कपाल में रखकर आहुति दी जाती है। रुद्र ही के बाण हैं एवं उन्हीं के लिए यह हवि है, तो ये हवियाँ एकदेवत्य हो जांय, इसीलिये हवियाँ एककपालयुक्त ही होती हैं। यद्यपि रुद्र असंख्य हैं। जैसा कि श्रुति में कहा है—"असंख्याता ये रुद्राः" । तथापि रुद्रत्वेन रुद्र एक ही है। इसीलिये "एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" । बस इसीलिए एक ही कपाल किया जाता है। "ते वै रौद्रा भवन्ति। रुद्रस्य हि इषुः। तस्माद् रौद्रा भवन्ति । एककपाला भवन्ति । एकदेवत्या असन्निति तस्मादेककपाला भवन्ति" ।।३।।

त्र्यम्बक हवि कितनी होनी चाहिएं, इसका नियमन करते हैं— यजमान के घर के जितने मनुष्य होते हैं, उन सब के अनुसार प्रत्येक के लिए एक - एक पुरोडाश गिन करके एवं एक इन सब से अधिक । बस इतने पुरोडाश करने चाहिएं। अर्थात् यजमान के घर में जितने भी मनुष्य हैं, उतने और उनसे एक अधिक पुरोडाश इस यज्ञ में होते हैं।

यदि १० मनुष्य हैं, तो ११ पुरोडाश होने चाहिएं। ११ हैं तो १२ होने चाहिएं। तात्पर्य यह है कि घर वालों से एक पुरोडाश अधिक होना चाहिए।

"ते वं प्रतिपुरुषं यावन्तो गृह्याः स्युस्तावन्त एकेनातिरिक्ता भवन्ति"। इस प्रकार से प्रतिपुरुष होने वाले जो एकैक पुरोडाश हैं,उनसे जो इसकी उत्पन्न प्रजा है,उसे रुद्रियपाश से मुक्त करता है। अर्थात् जितने पुरुष हैं, उतने हवि करने से सबके सब उस हवि के खा लेने से रुद्र के प्रकोप से बच जाते हैं। इसीलिये जितने पुरुष होते हैं, उनने ही पुरोडाश किये जाते हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"तत् प्रतिपुरुषमेवं तत्—एकैकेन या अस्य प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति"।

अब क्योंकि ये पुरोडाश एक से अतिरिक्त होते हैं अर्थात् घर वालों की संख्या से एक अधिक पुरोडाश होता है, इसका कारण बतलाते हैं–"एकेनातिरिक्ता भवन्ति तदुच्यते"। यजमान की जो अजात प्रजा है, उसी को इस एक पुरोडाश के द्वारा रुद्रियपाश से मुक्त करते हैं। यदि यह पृथक् पुरोडाश नहीं किया जायेगा, तो रुद्र का सारा क्रोध अनुत्पन्न प्रजा पर जा गिरेगा। अजात प्रजा भी रुद्र के चङ्गुल से निकल जाय— अतः "तस्मादेके-नातिरिक्ता भवन्ति" ।।४।।

अब पद्धति बतलाते हैं–वह यजमान गार्हपत्याग्निके पश्चिम भाग में यज्ञोपवीती होकर उत्तराभिमुख होकर हवि का ग्रहण करता है। अर्थात् गार्हपत्य के पश्चिमभाग में बैठकर उत्तर की ओर मुँह कर पुरोडाश के लिए हविर्ग्रहण करता है–"स जघनेन गार्हपत्यं (गार्हपत्यस्य पश्चात्)यज्ञोपवीती भूत्वा उदङ्ङासीन एतान् गृह्णाति"। तदनन्तर वह यजमान वहीं उसी स्थान पर खड़ा होकर उत्तराभिमुख ही खड़ा होकर उस हवि का मूसल से अवहनन करता है। अर्थात् वितुषीकरण कर्म्म करता है– "स तत एवोत्थाय उदङ् तिष्ठन्नवहन्ति"। इसके बाद इस हवि को पीसने के लिए उत्तर को ओर ही दृषदुपल (सिललोढ़ी) रखता है– "उदीच्यो दृशदुपले उपदधाति" तदनन्तर गार्हपत्य के उत्तरभाग में कपालों को रखता है– "उत्तरार्धे गार्हपत्यस्य कपालान्युपदधाति"।

इस त्र्यम्बककर्म्म में ऋत्विक् लोग बार-बार उत्तर दिशा में ही समवेत होते हैं–उत्तरमुख होकर ही बैठते हैं, उत्तरमुख होकर ही अवहनन करते हैं, उत्तर की ओर ही दृषदुपल रखते हैं, उत्तर में ही कपाल रखते हैं। तात्पर्य यह है कि सारे कर्म्मों में उत्तर का ही आश्रय लेते हैं— इस प्रकार उत्तर ही का आश्रय लेते हैं इसका कारण बतलाते हैं–"तद्यदेव तामुत्तरां दिशं सचन्ते (ऋत्विजः) "—तदुच्यते इति शेषः।

जिस प्रकार से पूर्व के स्वामी इन्द्र हैं, पश्चिम के लोकपाल वरुण हैं, दक्षिण के लोकपाल यम हैं, तद्वत् उत्तरपूर्व के लोकपाल शिव हैं, त्र्यम्बक हैं। रुद्र इन्हीं के चूंकि परिचा-

रक हैं, अतएव इनकी दिक् भी यही है। रुद्र इसी उत्तर दिशा में रहते हैं। जो जिधर रहता है, उसके लिये उसके अभिमुख होकर के यजन करना चूंकि आवश्यक है, अतएव इस रुद्रकर्म्म में ऋत्विक् लोग उत्तर दिशा का ही आश्रय लेते हैं-इसी अभिप्राय से कहते हैं-"एषा हि। एतस्य देवस्य दिक्। तस्मादेतामुत्तरां दिशं सचन्ते" ।।५।।

जितने भी हवि होते हैं, वे घृताक्त होते हैं। बिना घृत चोपड़े हवि का स्वरूप हो नहीं बनता है। हवि देवता के लिए जाती है। देवता बिना ऋतु और छन्द के रहते नहीं, अतः ऋतु और छन्दःसम्पत्ति के लिये हवि के दोनों ओर अवश्य ही घृत लगाना चाहिए। देवता हवि को खाते हैं, ऋतु और छन्दःस्वरूप देवताओं के पशु हवि के चारों ओर सने हुए घृत को खाते हैं। इसलिए उन्हें आज्यभागदेवता कहा जाता है। चूंकि यह हवि भी हवि है। हवि बिना घृत के होती नहीं, बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—"ते वा अक्ताः(घृताक्ताः) स्युः। वे हवि घृताक्त होने चाहिए। क्यों कि हवि अक्त ही होता है। घृताक्त हवि ही हवि कहलाता है —"अक्तं हि हविः" इति।

इस प्रकार से कई याज्ञिकों का कहना है कि हवि घृताक्त ही होने चाहिएं। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—हमारे विचारानुसार ये हवि अनक्त ही होने चाहिएं। हमने माना कि हवि का स्वरूप घृत बिना नहीं बनता परन्तु प्रकृत में तो विवशतया बिना घृत के अञ्जन किये ही हवि देना पड़ता है—"ते उ अनक्ता एव स्युः"।

यदि यह यजमान इस हवि का घृत से अञ्जन कर देगा, तो रुद्र देवता यजमान के पशुओं के बाधित करने में समर्थ हो जायेंगे। आज्यभाग के देवता पशु हैं एवं रुद्र पशुओं के पति हैं। यदि इस हवि में घृत लगा दिया जायेगा, तो आज्य के संबन्ध से यजमान के पशु रुद्र के पाश में पड़ जायेंगे। पशुओं के शरीर में रुद्र के तीक्ष्ण बाण चुभ जायेंगे। तो इस यजमान के पशु रुद्र के बाणों (रूक्ष वायु के) के शिकार न हों, अतः घृत का अञ्जन नहीं करना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं- "अभिमानुको (अभिमन्तुं बाधितुं शक्तः)रुद्रः पशूनन्त्स्यात् यदञ्ज्यात्। तस्मादनक्ता एव स्युः" ।।६।।

इस प्रकार से अनक्त हवि तैयार करके उन सबको एक साथ एक स्थाली में निकाल कर उसे ठण्डा करके अन्वाहार्यपचन(दक्षिणाग्नि)में एक पूले को जलाकर उसे हाथ में ले। उत्तरदिशा के मार्ग में उस जलते हुए पूले को रखकर 'एतत्ते' इत्यादि मन्त्र से उस उत्तर के रास्ते में ही उन सब पुरोडाशों की आहुति दे देता है। "तान् सार्धं पात्र्यां समुद्वास्य अन्वाहार्यपचनादुल्मुकमादाय उदङ् परेत्य जुहोति"।

उत्तर दिक् ही इस रुद्रदेवता की दिक् है। इसलिए उत्तर की ओर ही आहुति देते हैं। एवं यह वायुस्वरूप रुद्र किसी नियत स्थान पर न रहकर रास्ते में ही भ्रमण किया करता है। घर की अपेक्षा वायु का संचार मार्ग में अधिक होता है। अतः रास्ते में ही इनके लिए आहुति देनी चाहिए।

"एषा ह्येतस्य देवस्य दिक्। पथि जुहोति–पथा हि स देवश्चरति"

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि चतुष्पथ में ही चूंकि रुद्र रहते हैं, अतः चतुष्पथ में ही आहुति डालता है। यही रुद्र का निर्धारित एवं प्रसिद्ध स्थान है। जो कि चतुष्पथ हैं। बात वास्तव में ठीक है। जब चारों ओर से वायु का प्रवाह चलता है तो वह चारों ओर के केन्द्रस्थान में बद्ध हो जाता है। इस प्रकार से जो वायु रास्ते में चला था वही चतुष्पथ में स्थिर हो जाता है। चूंकि चतुष्पथ रुद्रदेवता का स्थान है। एवं ये हैं विनाश करने वाले, अतएव स्मृतिकारों ने चतुष्पथ के उल्लंघन करने को निषिद्ध कर रक्खा है।

प्रकृत में हमें यही कहना है कि चूंकि चतुष्पथ ही रुद्र का प्रसिद्ध स्थान है। अतएव यहीं इनके लिए आहुति दी जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं– चतुष्पथे जुहोति' एतद्ध वाऽस्य जांधितं (निर्धारितं) प्रज्ञातं (प्रसिद्धं) अवसानं (स्थानं) यच्चतुष्पथं तस्मा-च्चतुष्पथे जुहोति ।।७।।

पलाश वृक्ष के तीन पत्ते होते हैं। यह हवि रुद्र का है। यदि हाथ से ही दिया जायेगा,तो हाथ में रुद्रप्राण दौड़ जायेगा। बस यह विद्युत् दौड़ न जाय इसलिए पलाश वृक्ष के तीनों पत्तों में से जो बीच का पत्ता है, उससे हवि की आहुति डालते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों में ब्रह्म क्षत्र विट् इत्यादि वीर्य्यानुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है। जो पलाशवृक्ष है वह ब्रह्मवीर्य्ययुक्त है, वह ब्राह्मण है। ब्रह्मवीर्य्य सब से उत्कट है। इस पर किसी का प्रभाव नहीं जम सकता। ब्रह्म ही सबका अधिष्ठाता है। चूंकि रुद्र अत्यन्त उग्रप्राण है वह हमारे में स्पर्श द्वारा प्रविष्ट न हो जाय इसलिये ब्रह्मवीर्य्ययुक्त पलाश से आहुति डालते हैं। पलाश के तीन पत्ते होते हैं। तनों में से भी अधिक वीर्य्य मध्य के पत्ते में रहता है, अतएव ब्रह्मवीर्य्यस्वरूप पलाश के मध्यम पत्र से आहुति डालते हैं। ऐसा करने से रुद्र हमारे शरीर पर प्रभाव नहीं जमा सकते हैं, बस इसी अभिप्राय से कहते हैं– "पलाशस्य (पलाशवृक्षस्य) पलाशेन मध्य-मेन पत्रेण जुहोति। ब्रह्म वै पलाशस्य (पलाशवृक्षस्य) पलाशं, ब्रह्मणैवैतज्जुहोति" – वह यजमान आहुति के लिए और सारे हवियों में से ग्रास लेता है, परन्तु एक हवि का अवदान नहीं करता है जो कि हवि अतिरिक्त होता है। अर्थात् जो अजात प्रजा के लिए रक्खा गया था, उसमें से रुद्राहुति के लिए नहीं लिया जाता है—"स सर्वेषामेवावद्यति—एषोऽतिरिक्तो भवति" ।।१८।।

बस इस प्रकार से सारे पुरोडाशों में से अवदान लेकर निम्नलिखित मन्त्र से रुद्र के लिए चतुष्पथ में आहुति डालता है। वह मन्त्र यह है:—

"एष ते रुद्र भाग: सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व। स्वाहा" हे रुद्र! ते (तव) एष भाग:। तं भागं स्वस्राम्बिकया सह जुषस्व सेवस्व। इदं हवि:—"स्वाहा" सुहुतमस्तु। हे रुद्र—यह आपका भाग है। इसे आप अपनी बहिन अम्बिका के साथ खाइये। यह हवि आप में समीचीनतया हुत हो। अम्बिका नाम की रुद्र की बहिन है। ऐसी अवस्था में चूंकि रुद्र का यह भाग उस अम्बिका के साथ कल्पित होता है, अत: स्त्रीरूप-अम्बिका के सम्बन्ध से रुद्र के ये पुरोडाश "स्त्र्यम्बका" कहलाते हैं। चूंकि देवता परोक्षप्रिय हैं, अतएव स्त्र्यम्बका न कहकर त्र्यम्बका कहा जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा। तयाऽस्यैष सहभाग:। तद् यस्यैषा स्त्रिया सह भाग: तस्मात् त्र्यम्बका नाम। यदि अम्बिका का वैज्ञानिक स्वरूप पूछा जाय, तो—"तरी को ही अम्बिका कहते हैं। वायु में जो एक प्रकार की तरी रहती है, उसे ही अम्बिका कहते हैं। यदि इसका साक्षात् दर्शन करना हो, तो शरद् ऋतु में इसकी उपासना करनी चाहिए। बस शरद् ऋतु के वायु की जो तरी है, उसी का नाम 'अम्बिका' है। जिस रुद्र के लिए हम आहुति दे रहे हैं, वे मरुत् हैं। चूंकि ये रुद्र के पुत्र हैं, अतएव "आत्मा वै जायते पुत्र:" के अनुसार इन्हें भी रुद्र ही कहा जाता है। ये मरुत् ४९ हैं। ये रुद्र ११ हैं। इनमें से जो प्रथम रुद्र है, उसे ही गणपति कहते हैं। एवं अन्तिम रुद्र को हनुमान् कहते हैं। रावण ने अपने दश मस्तकों से १० रुद्रों को तो प्रसन्न कर लिया था, परन्तु ११ वें हनुमान् रुद्र को प्रसन्न नहीं किया था। अतएव हनुमत्प्राणमय हनुमान्‌जी ने रावण की लङ्का का विनाश कर दिया था। इसीलिये कहा जाता है—
"तुष्ट: पिनाकी" इत्यादि॥

कहने का तात्पर्य यही है कि यह मरुत् और इनमें रहने वाली तरी दोनों परमेष्ठी पिता से उत्पन्न होते हैं। भृगु, अंगिरा और अत्रि परमेष्ठी के ये तीन मनोता हैं। इनमें से जो भृगु है, वह अब्, वायु और सोम भेद से तीन प्रकार का है। वायु में पानी की तरी रहती है। एवं ये दोनों (तरी और वायु) परमेष्ठी पिता की सन्तान हैं, अतएव "अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा" कहा गया है। हस्त और चित्रा पर जब सूर्य्य रहता है, तब अम्बिका पृथ्वी पर आती है। वह यही शरत् का समय है। इसी अम्बिका की, जो कि शान्ति-प्रदायक है, नव रात्रों में उपासना की जाती है। प्रकृत में हमें बतलाना केवल यही है कि चूंकि अम्बिका नाम की स्त्री इस रुद्र की सहगामिनी है, अतएव इसे 'त्र्यम्बक' कहते हैं। चूंकि आहुति दोनों के लिए दी जाती है, अत एव हवि का नाम भी "त्र्यम्बक" ही है, इसीलिये "तस्मात् त्र्यम्बका नाम" कहा गया है।

बस इस प्रकार से पूर्वोक्त मन्त्र से चतुष्पथ में आहुति देता हुआ यह यजमान इसकी जो उत्पन्न प्रजा है, उसे रुद्रिय पाश से छुडाता है।—"तद्याः प्रजा जातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति" ॥६॥

इसके अनन्तर जो एक हवि अलग बच जाता है, उसे मूषक के बिल की मृत्तिका में डालता है एवं साथ ही में "एष ते रुद्रभाग आखुस्ते पशुः" यह मन्त्र बोलता है। हे रुद्र ! एष ते भागः (पुरोडाशः) एवं अस्मिन् उत्करे स्थितो य आखुः असौ ते पशुः। हे रुद्र. यह पुरोडाश आपका हव्य है एवं यह आखु (मूषक) आपका पशु है। 'आखुस्ते पशुः' इससे इस रुद्र के लिए सारे पशुओं के मध्य में से आखु पशु को ही समर्पित करता है। अर्थात् और पशुओं की तरफ से दृष्टि हटा कर आखु पशु पर ही इनका दृष्टिपात करवाता है। जब रुद्र को दृष्टि आखु पशु पर हो जाती है तो इतर पशुओं को यह नहीं मारते हैं। अर्थात् आखु पर दृष्टि जम जाने से इतर पशुओं पर रुद्र की दृष्टि ही नहीं जाती है। वे इनके चंगुल से पूर्णतः बच जाते हैं। बस इसीलिये अपने अन्य पशुओं को रुद्र की दंष्ट्रा से निकालने के लिए ही आखु की मिट्टी में उस रुद्रभाग को अन्तःक्षिप्त कर देता है। अर्थात् मिट्टी के नीचे दबा देता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं–एष ते रुद्रभाग आखुस्ते पशुरिति तस्मात् (रुद्राय) आखुमेव पशूनां(पशूनां मध्ये आखुमेव)अनुदिशति(निर्दिशति)। तेन इतरान् पशून् न हिनस्ति (रुद्रः)।

इस पुराडाश को उस मूषक के बिल की मिट्टी के ऊपर न डालकर उसके अन्दर गाड़ देते हैं, इसका कारण बतलाते हैं "तद्यदुपकिरति तदुच्यते।" गर्भ छिपे हुए ही रहते हैं एवं जो उपकीर्ण हैं अर्थात् मिट्टी में गड़ा हुआ जो द्रव्य है, वह भी तिर इव ही है (छिपा हुआ ही है)। चूंकि इस भाग से अनुत्पन्न गर्भस्थ प्रजा को रुद्रियपाश से मुक्त कराया जाता है एवं गर्भ छिपे रहते हैं, अतएव इस भाग को मिट्टी में अन्तर्हित कर दिया जाता है। "तिर इव वै गर्भाः, तिर इवैतद् यदुपकीर्णम् तस्माद्वा उपकिरति।" बस इस आहुति से अध्वर्यु यजमान की जो अनुत्पन्न प्रजा है, उसे रुद्रियपाश से छुड़ाता है।"तद्या अस्य प्रजा अजातास्ता रुद्रियात् प्रमुञ्चति।" भिन्न-भिन्न पशुओं में भिन्न-भिन्न प्राण होते हैं। मूषक में रुद्रप्राण अधिकमात्रा में रहता है। रुद्र का पशु यह मूषक ही है। रुद्र ही को गणपति कहते हैं, अतएव गणपति को मूषकवाहन बतलाया जाता है। यह गणपति अमंगलों की विघ्नों की खनि है। जब तक उन्हें मनाया नहीं जाता, इस गणपति रुद्र को प्रसन्न नहीं कर लिया जाता, तब तक कोई भी काम निर्विघ्नतया समाप्त नहीं हो सकता। अतः सारे कर्म्मों में इस रुद्र को मनाने की परम आवश्यकता है। रुद्र ही प्रजा का संहार करने वाले हैं। महामारी प्रभृति रोग इन्हीं की कृपा से फैलते हैं। इनके वाहन पशु मूषक जब

मरते हैं, तो इनमें भरा हुआ रौद्र प्राण चौतरफ फैल जाता है। बस यही महामारी का मूल कारण है। बस इस रुद्र को शान्त करके अपनी जात एवं अजात प्रजा को उनके चंगुल से बचाने के लिए त्र्यम्बक याग किया जाता है ।।१०।।

संसार में जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का निर्माण १ ऋषि, २ पितर, ३ देव, ४ गन्धर्व, ५ पशु इत्यादि देवताओं से ही होता है। देव शब्द ३३ पर ही प्रयुक्त है एवं देवता शब्द ऋषि पितर आदि सबका वाचक है । देवता पाँचों हैं, परन्तु देव ३३ ही हैं। देवता से कोई ३३ देव ही न समझें, इस भ्रम को मिटाने के लिए देवता और देव शब्द की व्याख्या बतला दी गई है। प्रकृत में कहना हमें यही है कि यच्चयावत् पदार्थों का निर्म्माण इन देवताओं से ही होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है "जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः" इन पदार्थों के अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म ये तीन विभाग हैं। जो देवता (ऋषि-पितर इत्यादि) अधिदैवत में है, वे ही अधिभूत में हैं एवं वे ही अध्यात्म में हैं। कहने को तीन हैं, वास्तव में तीनों एक हैं । यह अधिदैवत ही अध्यात्म और अधिभूत में परिणत हो जाता है। एक ही तीन बन जाता है एवं उपासना के द्वारा हृद्ग्रन्थिविमोकात् तीनों प्रतिसंचरक्रम में एक बन जाते हैं । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा उ पुनः एकमेतत्त्रयम्। अपि च इसीलिये "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।" इति। वसु, रुद्र, आदित्य, वरुण, इन्द्र इत्यादि देवता, जो कि अधिदैवत मण्डल में हैं, वे ही अध्यात्म एवं अधिभूत में हैं । हम अध्यात्म देवताओं की ही उपासना करते हैं । विष्णु, रुद्र, यम, शङ्कर, काली, शालिग्राम इत्यादि देवता मेरे अध्यात्म से बाहर नहीं हैं, मेरी आत्मा में ही सारे देवता बैठे रहते हैं, उन्हीं की उपासना करता हूँ। मैं मेरे से अतिरिक्त और कुछ समझता ही नहीं हूं । यदि थोड़ी देर के लिए मेरे से अतिरिक्त अन्य देवता मान भी लिए जायँ, तो वे सर्वथा अनुपास्य हैं। आधिदैविक एवं आधिभौतिक दोनों ही देवता सर्वथा अनुपास्य हैं। उपास्य अध्यात्म देवता ही हैं। मैं ही सूर्य बन जाता हूँ। मैं ही पृथ्वी बन जाता हूँ। सब कुछ मैं ही हूँ। इसी अभिप्राय से भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"अहं मनुरभवं सूर्य्यश्च अहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जे अहं कविरुशना पश्यता मा ।।
अहं जजान पृथ्वीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्तसिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदामि यो अग्निषोमावजुषे सखायौ ।।

अपि च इसी अभिप्राय से गुरुप्रणीत संशयवाद में लिखा है—

"यं कं यदेवं पितरं परं वा यजत्ययं तस्य स सोऽस्ति देवः।
आत्मैव नूनं मनसा नु क्लृप्तोऽस्यात्मा यथा भावयते तथा स्यात् ॥—पृ. ५८

हमारी उन्नति एवं हमारी अवनति अध्यात्मदेवों की उन्नति-अवनति पर निर्भर है। परन्तु यह अवनति-उन्नति ऋतुदेवता पर ही निर्भर है। ऋतुपरिवर्तन से आध्यात्मिक देवताओं का उद्ग्राम-निग्राम हुआ करता है। जैसा वातावरण प्रकृति का होता है, वैसी ही स्थिति अध्यात्म में हो जाती है। बस इस प्रकृति के प्रतिक्षण में होने वाले परिवर्तन से ही हमारे अध्यात्म में प्रतिक्षण भावपरिवर्त्तन होता रहता है। कभी तबियत सुस्त रहती है, कभी बिगड़ी हुई रहती है। कभी हम हंसते रहते हैं, कभी प्रसन्न रहते हैं। कभी रोते रहते हैं, कभो अप्रसन्न रहते हैं। यह सारा परिवर्त्तन प्राकृतिक परिवर्त्तन पर अवलम्बित है। परन्तु ध्यान रहे कि इतना होने पर भी परिवर्त्तन का प्रभाव हमारे अध्यात्मदेवताओं पर ही होता है। अतः हम हमारे लिए उन्नति-अवनतिकर्त्ता अध्यात्म देवताओं को ही कहेंगे।

हमारे आत्मा का जो भाग हमसे अलग निकल जाता है, उसके साथ भी हमारा सम्बन्ध बना रहता है। लोम, नख, केश, कफ, मूत्र, पुरीष इत्यादि जो पदार्थ हमारे शरीर से बाहर निकल जाते हैं, उनमें हमारा "वायुमय हंसात्मा" रहता है। एवं रुधिर, अस्थि, मांस, भस्मी इत्यादि पदार्थों में, जो कि शरीर से पृथक् हो जाते हैं, उसके साथ प्रज्ञानात्मा बंधा रहता है। इसीलिये हमारे शरीर के किसी भो अवयव पर मन्त्रप्रयोग करके हमें वशीभूत किया जा सकता है। मृत की भस्मी लेकर उस पर प्रयोग करने से उस मृत का मृतात्मा वश में किया जा सकता है। किसी स्त्री के वस्त्रविशेष पर प्रयोग करने से बच्चे का आत्मा वश में आ जाता है। कहने का तात्पर्य यही है कि हमारे शरीर से पृथक् हुये भाग में भी हमारे आत्मा की विद्युत् दौड़ती रहती है। बात कठिन है, परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर अति सरल है। यदि किसी का आत्मज परदेश में रहता है, तो दोनों में से एक को आन्तरिक पीडा होती है; उस समय दूर देश में हजारों कोसों पर बैठे हुये का आत्मा तड़फने लगता है। बस यह उसो आत्मविद्युत् की महिमा है। पिता शरीर छोड़ कर चन्द्रमण्डल में चला जाता है, तथापि जब तक उसका अंश पृथिवी पर रहता है। तब तक वह चन्द्रमा की पकड़ से बाहर नहीं जा सकता। ८ वीं पीढी पर उसके वीर्य्य के हिस्से का बन्धन जब हटता है, तभी वह अपने उस चान्द्र बन्धन से मुक्त होता है। इसके बीच में उसका सूत्र अपने पुत्रादि की आत्मा से बन्धा रहता है। यह आत्मविद्युत् का गमन नियत रूप से ही होता है एवं असङ्ग है। कलकत्ते वाले पुरुष के आत्मा का विद्युत् जयपुर वाले के आत्मा से अनवरत उसी से क्रास करता रहता है। क्या मजाल जयपुर और कलकत्ते के बीच में किसी दूसरे से उसका स्पर्श हो जाय और इस

विज्ञान के महत्त्व को भारतीय महर्षियों के अतिरिक्त किसी ने नहीं जाना है। इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि हम मन्त्र द्वारा हमारे इस पुरोडाश में जब रुद्रात्मा का रुद्रदेवता का प्रवेश करा देते हैं, तो उस आधिदैविक रुद्र की विद्युत् अधिभूत पर (पुरोडाश पर) आ जाती है। उसका सम्बन्ध पुरोडाश पर हो जाता है। प्राण आकाश में अपनी भिन्न संस्था रखते हैं। सबकी लहर भिन्न भिन्न है। बस, जिस देवता की जिस लहर पर स्थिति है उसी उदात्तादि लहरयुक्त वाक्‌लहर से उस प्राणदेवता को पकड़ लिया जाता है। बस, यहाँ भी जिस लहर में रुद्र प्राण वितत है, उसी उच्चावच उदात्तादि-स्वरूपयुक्त मन्त्र से उस प्राण का पुरोडाश में सम्बन्ध करा दिया जाता है। यद्यपि अधिभूत में भी सारे देवता रहते हैं, तथापि अन्य मात्रा में। जिस देवता को आत्मसात् करने की इच्छा होती है, वैध उपाय से उस प्राण को अधिकमात्रा से उस पदार्थ में प्रविष्ट करा दिया जाता है। प्रकृत में रुद्र को आत्मसात् करना है, अतएव रुद्र का ही अभिनिवेश इस पुरोडाश में कराया जाता है। इस प्रकार से जब उस पुरोडाश में अधिदैवत के रुद्र का सम्बन्ध हो जाता है, तो तदनन्तर उसकी आहुति दी जाती है। एवं उसी का थोड़ा-थोड़ा भाग हम खाते हैं। हमारे खाने से पुरोडाश पर आने वाले आधिदैविक रुद्रप्राण की विद्युत् का सम्बन्ध हमारे अध्यात्म से होने लग जाता है। रुद्र जितना अनिष्ट करता है, उतना इष्ट भी करता है। रुद्र अग्नि को अवस्थाविशेष है। अग्नि ही से शरीर की स्थिति है। जब तक शरीर में गर्मी है, तब तक जीवन है। हाथ-पैर ठण्डे हुए नहीं कि शान्ति हुई नहीं। तो जिस प्रकार रुद्र को अपने से हटाया जाता है उसी प्रकार उसे शरीररक्षार्थ आत्मसात् भी किया जाता है। अधिकता और अल्पता ही दुःख का कारण है। आनन्द समीक्रिया में ही है। बस, इस त्र्यम्बक याग से आधिक्य को दूर किया जाता है एवं अल्पता को पूरा किया जाता है। जो अनिष्ट करने वाला रौद्र-भाव था, उसे "एष ते रुद्रः" इत्यादि मन्त्र द्वारा चतुष्पथ में आहुति देकर निकाल दिया गया। अब अपने आत्मा में कम मात्रा से स्थित जो रुद्र है, उसे इस रुद्रदेवताक अवशिष्ट पुरोडाश को खाकर पूरा करते हैं। पुरोडाश में रुद्र देवता का वैध उपायों से प्रवेश करा दिया जाता है यह हम बतला चुके हैं। इस प्रकार जब पुरोडाश को खा लिया जाता है, पुरोडाश पर आने वाली अधिदैवत रौद्र विद्युत् का आत्मा से सम्बन्ध हो जाता है। होता है अधिदैवत रुद्र का सम्बन्ध, किन्तु उसका माध्यम पुरोडाश है, इसीलिये पुरोडाश को खाते हुये अधिदैवत पर लक्ष्य रखते हुये 'पुरोडाशस्थ' रुद्र से कहते हैं—'अव रुद्रमदीमहि' इत्यादि।

अर्थात् जब 'एषते रुद्र' इत्यादि कर्म हो चुकता है, तत्पश्चात् सभी लौटकर अवशिष्ट पुरोडाश को खाते हुये निम्नलिखित आशीर्मन्त्र का जप करते हैं--"अथ पुनः परेत्य

जपन्ति"। वह मन्त्र यह है—"अवरुद्रमदीमह्यव देवं, त्र्यम्बकम्।
यथा नो वस्यसस्करत्, यथा नः श्रेयसस्करत्
यथा नो व्यवसाययात्, वयं सर्वे पुरोडाशम् अदीमहि।"

हे पुरोडाशस्थ रुद्र ! त्वं रुद्रं (आत्मस्थं) अव, देवं त्र्यम्कं च अव। यथा नः वस्यसस्करत् (वसीयसः कुर्य्यात्) यथा नः श्रेयसस्करत् (श्रेयसः कुर्य्यात्) यथा नः व्यवसाययात् (व्यवसायं कारयेत्)॥

हम सब इस पुरोडाश को खाते हैं। अतः हे पुरोडाशस्थ (अधिभूतस्थ) रुद्र, एवं त्र्यम्बक ! आप हमारे आत्मरूप रुद्र की रक्षा कीजिए एवं त्र्यम्बक की रक्षा कीजिये। अर्थात् जो हमारे अध्यात्म रुद्र और त्र्यम्बक (शिव) कमजोर हो गये हैं जिनकी कमी के कारण हम निर्बल हो रहे हैं, उस कमी को आप पूरी कर दीजिए। अर्थात् आप (पुरोडाश) पर आने वाले अधिदैवत रुद्र एवं त्र्यम्बक प्राण की विद्युत् का सम्बन्ध आपके जरिए मुझ में हो जाय यही तात्पर्य है। हे रुद्र, आप हमारे अध्यात्म रुद्र और त्र्यम्बक को ऐसा बलिष्ठ बनाइये, जिससे कि वह हमको वसीयस् कर सकें। अर्थात् उनके द्वारा हम तेजस्वी बन सकें। एवं वे हमको श्रेयान् कर सकें। हमसे व्यवसाय करा सकें। जब तक रुद्र कमजोर रहता है, अर्थात् वायुस्वरूप अग्नि की कमी रहती है, तब तक शरीर तेज, व्यवसाय, श्री सबसे शून्य रहता है। परन्तु अग्नि की मात्रा के बढ़ते ही हमारे शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। हम चाहते हैं कि यह काम करें, परन्तु निर्बल होने से कैसे कर सकते हैं। रुद्र ही तेजस्वी बनाता है, वही श्री प्रदान करता है, वही व्यवसाय करवाता है। उसी से हम कर्म्मठ बनते हैं। बस हमसे रुद्र व्यवसाय करा सके—यही वरदान दीजिये। तात्पर्य यही है कि आप अध्यात्म रुद्र एवं त्र्यम्बक की कमी को पूरी कर हमें तेजस्वी, व्यवसायी बनाइये। बस 'अव रुद्र' इत्यादि का यही अर्थ है।

प्रकृत में अव के प्रीणय, तर्पय, प्रविश, आलिङ्गय, वर्धय—इतने अर्थ समझने चाहियें। फिर दूसरा मन्त्र बोलते हैं—"भेषजमसि भेषजं गवे, अश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै॥" पुरुष, अश्व, गो, अवि और अज ये पांचों प्राण सूर्य में रहते हैं। सूर्य आग्नेय है। इसलिये हम पांचों ही पशुओं को आग्नेय कह सकते हैं। रुद्र अग्नि की ही अवस्थाविशेष का नाम है। ये आग्नेय रुद्र सूर्य में ही रहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—'असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः। ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो वैषां हेड ईमहे'। ये रुद्र तीन प्रकार के हैं—पार्थिव-आन्तरिक्ष्य और दिव्य। दिव्य रुद्र वर्षा द्वारा हमारे पास आते हैं एवं पार्थिव रुद्र अन्न द्वारा हमारे पास आते हैं। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे तेषां वात इषवः ।
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां तेषामन्नमिषवः ।

वर्षा दिव्य रुद्रों के इषु हैं। वायु आन्तरिक्ष्य रुद्रों के बाण हैं एवं अन्न पार्थिव रुद्रों के तीर हैं। इन्हीं के द्वारा ही रुद्र हमारे शरीर में आता है।

यद्यपि हमने पांचों पशु सूर्य के बतलाये हैं, तथापि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ये भिन्न भिन्न स्थानों के हैं। जो पुरुष है, वह पृथिवी का पशु है। गो सूर्य का पशु है एवं अश्व परमेष्ठी का पशु है। पृथिवी द्वारा हम जो अन्न प्राप्त करते हैं उससे पुरुष पशु अर्थात् वैश्वानराग्नि बनता है। गो से भूत बनते हैं, अश्व से ज्ञानतन्तु बनते हैं। इन तीनों की ओषधि—तीनों स्थानों के रुद्र ही वायु फिल्टर कर वरुण असुर का विनाश करते हैं। वही रुद्र तीनों लोकों का चूंकि अधिष्ठाता है, पुरुष गो अश्व की चिकित्सा है अतएव उसे 'त्र्यम्बक' कहते हैं। त्रयाणां लोकानामेष पिता तस्मात् त्र्यम्बकः। अपि च, इसका सारा विश्व ही शरीर है। पृथिवी पैर है, आकाश ही मस्तक है। आकाश नीला है, इसीलिये इसे व्योमकेश कहा जाता है। चन्द्र, सूर्य, अग्नि—ये तीन ही इसके 'अम्बा' आँखें हैं। इसलिये भी इसे त्र्यम्बक कहते हैं। जो हमारी पिंगला नाडी है, वह सूर्य है, इडा चन्द्रमा है एवं सुषुम्णा पृथिवी की नाडी है। इसी तृतीय नेत्र से पृथिवी की सुषुम्णा से प्राणिमात्र का संहार होता है। तात्पर्य यही है कि हमारे शरीरस्थ पांचों पशुओं के ये ही पशुपति भगवान् हैं। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं, कि हे रुद्र आप ओषधि हैं। आप गो, पुरुष, अश्व तीनों के लिये ओषधिस्वरूप हैं। आप ही की कृपा से वैश्वानर, भूत, ज्ञानतन्तु की स्थिति है। एवं मेष और मेषी के लिये आप सुखस्वरूप हैं। अवि प्राण की स्थिति भी आप ही से होती है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस त्र्यम्बक कर्म की यही आशीः है, फल है।

आशीरेवैषेतस्य कर्म्मणः ॥११॥

इसके अनन्तर वामावर्त्त होकर सभी अपने बाएँ जांघ को हाथों से कूटते हुए मस्तानी चाल से उस चतुष्पथाग्नि के चारों ओर निम्नलिखित मन्त्र बोलते हुए परिक्रमा करते हैं—

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्" ॥ इति ।

हम सुगन्धि प्रदान करने वाले एवं पुष्टि देने वाले त्र्यम्बक का यजन करते हैं। जैसे—अलाबू (घीया) अपनी बेल के बंधन से टूट कर नीचे गिर जाता है, तद्वत् ही आप हमें

मृत्यु के पास से छुड़ा दीजिये। परन्तु अमृत से मत छुड़ाइये । वरुण असुरों के देवता हैं। आप्यप्राण ही को आसुर कहते हैं। जब वायु का सम्बन्ध नहीं होता है, तो वरुण को उस पदार्थ में घुसने का अवसर मिल जाता है। जहां वायु नहीं रहता है, वहां वरुण (आप्य-प्राण) प्रविष्ट हो जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

"यद्वै वातो नाभिवाति तद्वरुणदैवत्यम्।"

बस, वरुण का (पानी का) प्रवेश होते ही वह वस्तु सड़ने लगती है। शरीर से जब दुर्गन्धि निकलने लगती है, तो समझ लो, इसमें रुद्र (वायु) की कमी है एवं वरुण का आधिक्य है। जब रुद्र प्रविष्ट हो जाता है, तो दुर्गन्ध भग जाती है। हवा फिल्टर इसी रुद्र वायु से होती है। इसीलिये 'सुगन्धिम्' कहा गया है।

जब शरीर में व यु का सञ्चार होता है, तभी रक्तादि का सञ्चार होता है । एवं तभी पुष्टि होती है। जहां वायु रुक जाता है, उतना स्थान सूख जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि पुष्टिकर्त्ता भी रुद्र वायु ही है। बस, इसीलिये 'पुष्टिवर्द्धनम्'। कहा गया है।

हमारे पास अमृत और मृत्यु दोनों हर समय आते रहते हैं। अच्छे और बुरे दोनों भाव हम में संमिलित होते रहते हैं। उनमें अच्छे को आप हम से दूर नहीं कीजिये एवं मृत्युभाग को पृथक् कर दीजिये । बस यही इस त्र्यम्बक कर्म्म की आशी: समझनी चाहिये—आशीरेवैषेतस्य कर्म्मणः इससे आशीष् की ही आशंसा करता है।

"आशिषमेवैतदाशास्ते"।

मृत्यु से मुक्ति एवं अमृत की प्राप्ति—यही प्राणियों का परम सुख है।

"तदु ह्येव शमिव यो मृत्योर्मुक्षीय (मुक्तो भवेत्) मामृतात्—"तस्मादाह—मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतादिति" ॥१२॥

यदि यजमान के कुमारी कन्याएँ हैं, तो वे भी अपसलवि होकर "हम सौभाग्यवती बनें" इस अभिप्राय से इस चतुष्पथ की तीन बार परिक्रमा करें।

"तदु हापि कुमार्यः परीयुः"—"भगस्य भजामहै—(सौभाग्यं प्राप्नुयाम)इत्यभिप्रायेण।

अम्बिका नामक जो रुद्र की स्वसा है, बस वही सौभाग्य प्रदान करने वाली है।

सौभाग्य उसी अम्बिका से मिलता है।

"या ह वै सा रुद्रस्य स्वसा अम्बिका नाम सा ह वै भगस्य ईष्टे।"

"हम सौभाग्यवती बनें"—इसलिए भी कुमारियाँ इस अग्नि की परिक्रमा करें । "तस्मादुहापि कुम्मार्यः परीयुः भगस्य भजामहै" इत्यभिप्रायेण ॥१३॥

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि उन कुमारियों का मन्त्र यह है। अर्थात् इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए उन्हें परिक्रमा करनी चाहिए—

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥

वे कहती हैं—हम पति प्राप्त करवाने वाले त्र्यम्बक का यजन करती हैं। ये त्र्यम्बक भगवान् हमें पिता के घर से और पिता के गोत्र से तो मुक्त कर दें, परन्तु पति के घर से व पति के गोत्र से अलग न करें। अर्थात् हमारा पति ही आराध्य है। हम अन्य पति का विचारमात्र भी न करें। 'इतः' पद से पिता–ज्ञाति बन्धु सूचित किये गये हैं एवं 'अमुतः' से पति सूचित किया गया है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"सा यत्–"इतः" इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह ।

'माऽमुतः' इति पतिभ्यस्तदाह । पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा है। इसीलिए 'माऽमुतः' यह कहा है–पतयो ह्यव स्त्रियै प्रतिष्ठा । तस्मादाह माऽमुत इति ॥१४॥

तदनन्तर त्र्यम्बक याग करने वाले सभी उसी 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र से अपनी दाहिनी जांघ को हाथों से पीटते हुए दक्षिणावर्त्त होकर तीन परिक्रमा करते हैं। हमारा यह कर्म्म देवभाग में आकर प्रतिष्ठित हो, पितृभाग में प्रतिष्ठित न हो, इसलिये–

पुनः प्रसलवि त्रिः परियन्ति' ॥१५॥

इसके अनन्तर यजमान पुरोडाशशेष को अञ्जलि में लेकर उसे अपने पीछे इस प्रकार फेंके कि वह पृथिवी में न गिर पड़े। अर्थात् प्रक्षिप्त पुरोडाश गो पर (पृथिवी पर) न पड़े, अपितु अध्वर्यु आदि उसे अपने हाथों में अधर ही ले लें।

अथैतान् यजमानोऽञ्जलौ समोप्य ऊर्ध्वानुदस्यति यथा गोः (पृथिवी) नोदाप्नुयात् । इस उदसन से यजमान अपने आत्मा से रुद्र के शल्य को ही निकाल फेंकता है। 'आत्मभ्य एवैतच्छल्यान्निर्मिमीते' ॥

तदनन्तर उस भूमि पर गिरे हुए पुरोडाश का स्पर्श करते हैं। बाण के निकल जाने से जहां खड्डा पड़ गया है, पुरोडाश से उसे वापस भरते हैं–इसलिए फिर उनका स्पर्श कर लिया जाता है।

'भेषजमेवैतत् कुर्वते तस्माद्विलिप्सन्त उपस्पृशन्ति' ॥१६॥

इसके पश्चात् उस पुरोडाश को एक वस्त्र की पोटली में बांधकर अथवा बांस की नली में भर कर ऊपर से उसका मुंह बन्द कर अथवा कुप्पी में भरकर दोनों ओर से उसे बन्द कर उसे साथ ले उत्तर की तरफ जाकर वृक्ष अथवा स्थाणु अथवा वल्मीक तीनों में

से जो स्थान उस समय सुलभतया मिल जाय वहीं, 'एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि' इस मन्त्र के साथ रख देता है।

हे रुद्र यह आपका अवस (पाथेय) है आप इसे लेकर मूजवान् पर्वत के उस पार चले जाइए।

याज्ञवल्क्य कहते हैं—पाथेय को साथ लेकर ही तो मार्गयात्रा करते हैं। 'अवसेन वा अध्वानं यन्ति'। तो बस चूंकि यात्रा अवस से होती है, अतएव अवस को साथ लेकर ही रुद्र को विदा करते हैं।

'सावसमेवान्ववार्जति'।

रुद्र का गमनप्रदेश कौनसा है यह बतलाते हैं— जिस स्थान में इसका गमन होता है, उसको लक्ष्य में रखकर ही 'मूजवतोऽतीहि' कहा है। मूजवान् पर्वत के उत्तर भाग में हो तो रुद्र का स्थान है। अतएव— 'तेन मूजवतोऽतीहि' कहा है। रुद्र प्राण बहुत ही भयङ्कर है। मनुष्य उसे सहन नहीं कर सकता। इसका प्रधान स्थान यमुनोत्तरी जंगल है जो कि मूजवान् के समीप है। इसीलिए गङ्गोतरी यमुनोत्तरी की यात्रा उस जंगल को छोड़कर ५० कोस का चक्कर खाकर की जाती है।
फिर उसी मन्त्र का शेष बतलाते हैं—

'अवततधन्वा पिनाकावसः अहिंसन्नः शिवोऽतीहि कृत्तिवासाः' धनुष् की प्रत्यञ्चा से गिरने वाले एवं पिनाक नामक धनुष् के व्यापार को स्थगित करने वाले तथा कृत्तिवासा भगवान् रुद्र हमारे ऊपर कृपादृष्टि रखते हुए पधारें। अवततधन्वा और पिनाकावस शब्द का भावार्थ 'अहिंसन्नः शिवोऽतीहि' यह है। धनुष् को गिराना—प्रत्यञ्चा को खोलना हो अहिंसा के भाव को सूचित करना है। 'अहिंसन्नः शिवोऽतीहि—इत्येवैतदाह। कृत्तिवासाः ऐसा कहता हुआ रुद्र को सुलाता है। जब रुद्र युद्ध करते रहते हैं, तो अक्त (कवच) पहिनते हैं, परन्तु शान्ति की अवस्था में कवच को उतार कर किञ्चित् कोमल चर्म्म के वस्त्र धारण कर लेते हैं।

कोमल वस्त्र धारण नहीं कर लेते हैं किन्तु लोक में युद्ध के अतिरिक्त आराम के समय युद्ध का वेश उतार देते हैं एवं उसके बदले कोमल वस्त्र धारण कर लेते हैं। इसी बात को सूचित करने के लिए 'कृत्तिवासाः' कहा गया है। इससे रुद्र को सुलाता ही है। सोता हुआ रुद्र किसी को नहीं मारता है, अतएव 'कृत्तिवासाः' यह कहा है।

'स्वपन्, हि न कञ्चन हिनस्ति—तस्मादाह 'कृत्तिवासाः' इति ॥१७॥ तदनन्तर दक्षिण बाहु की ओर लौटते हैं। बिना पीछे देखे ही लौटते हैं। अर्थात् उत्तर की ओर जाकर

रुद्र भाग को वल्मीक आदि में रखकर दायें हाथ की ओर बिना पीछे की ओर देखे वेदि के पास वापस लौट आते हैं। वापस आकर पानी का स्पर्श करते हैं। इसका कारण बतलाते हैं—ऋत्विजों ने रुद्रिय याग किया है। रुद्र फाड़ देने वाला प्राण है एवं पानी शान्तिस्वरूप है। अर्थात् मेध्य है, संधान करने वाले हैं अतएव पानी का स्पर्श करते हैं।

अथ दक्षिणान् बाहूनन्वावर्तन्ते। तेऽप्रतीक्षं पुनरायन्ति। पुनरेत्याप उपस्पृशन्ति। रुद्रियेण वा एतदचारिषुः शान्तिरापः। तदद्भिः शान्त्या शमयन्ते ॥१८॥

तदनन्तर क्षौर करवा कर गार्हपत्य आहवनीय अग्नि का समारोपण करके उस स्थान से निकल घर आकर अलग अग्निमन्थन करके उसमें अग्निहोत्र करते हैं। अग्नि का उदवसान करके ही इस साकमेध का यजन किया जाता है। अर्थात् यह प्रतिष्ठित यज्ञ नहीं है। इस अवसित अग्नि में ही अग्निहोत्र की आहुति दे—यह उचित नहीं है। अतः अलग ही अग्नि का मन्थन करना चाहिए। अग्निमन्थन करके पौर्णमास यज्ञ से यजन करता है। वह चातुर्मास्य यज्ञ उत्सन्न यज्ञ है यदि इसी पर समाप्ति कर दी जाय, तो पृथिवीलोक से यजमान की प्रतिष्ठा उन्मूलित हो जायेगी। प्रतिष्ठोन्मूलन न हो, अतः प्रतिष्ठास्वरूप पौर्णमास से अन्त में अपनी प्रतिष्ठा स्थिर करता है। अतएव इसका उदवसान किया जाता है। इस प्रकार मन्थन कर उससे पौर्णमास का यजन किया जाता है।

"तस्मादुदवस्यति" (६–२)

षष्ठाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम्

इति साकमेधे त्र्यम्बकयज्ञः समाप्तः,

साकमेधश्च समाप्तः।

अथ शुनासीरीयपर्व

(मूल) अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति। संवत्सरं हि जयति। तेनास्याक्षय्यं भवति। तं वै त्रेधा विभज्य यजति। त्रेधा विभज्य प्रजयति। सर्वं वै संवत्सरः। सर्वं वा अक्षय्यम्। एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति। ऋतुरु हैवैतद् भूत्वा देवानप्येति। अक्षय्यमु वै देवानाम्। एतेनो हैवास्याक्षय्यं सुकृतं भवति। एतन्नु तद् यस्माच्चातुर्मास्यैर्यजते ॥१॥

अथ यस्माच्छुनासीर्येण यजेत। या वै देवानां श्रीरासीत्साकमेधैरीजानानां तच्छुनमथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तत्सीरम्। सा या चैव देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानाम्, य उ च संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत् तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुरुते। तस्माच्छुनासीर्येण यजते ॥२॥

तस्यावृत्। नोपकिरन्त्युत्तरवेदिम्, न गृह्णन्ति पृषदाज्यम्, न मन्थन्त्यग्निम्, पञ्च प्रयाजा भवन्ति। त्रयोऽनुयाजाः। एकं समिष्टयजुः ॥३॥

अथैतान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति। एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजत। एतैरुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः प्रामुञ्चत्। एतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन्। एतैर्वैव व्यजयन्त - येयमेषां विजितिस्ताम्। तथो एवैष एतैः या चैव देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानाम्, य उ च संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्, तमेवैतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुरुते। तस्माद् वा एतानि पञ्च हवींषि भवन्ति ॥४॥

अथ शुनासीर्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति। स बन्धुः शुनासीर्यस्य यं पूर्वमवोचाम ॥५॥

अथ वायव्यं पयो भवति। पयो ह वै प्रजा जाता अभिसञ्जानते।

'विजिग्यानं मा प्रजाः श्रिये, यशसे, अन्नाद्याय, अभिसञ्जानान्तै' इति। तस्मात् पयो भवति ॥६॥

तद्यद्वायव्यं भवति। अयं वै वायुः योऽयं पवते। एष वा इदं सर्वं प्रप्यायय ति-यदिदं किञ्च वर्षति। वृष्टादोषधयो जायन्ते। ओषधीर्जग्ध्वाऽपः पीत्वा तत एतदद्भ्योऽधि पयः संभवति। एष वा एतज्जनयति। तस्माद् वायव्यं भवति ॥७॥

अथ सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति एष वै सर्वो य एष तपति। एष वा इदं सर्वमभिगोपायति-साधुना' त्वत्, असाधुना त्वत्। एष इदं सर्वं विदधाति-साधौ त्वद् असाधौ त्वत्। एष मा विजिग्यानं प्रीतः-साधुना त्वदभिगोपायत्, साधौ त्वद्विदधद् इति। तस्मात् सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति ॥८॥

तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा। तदेवास्य रूपं क्रियते य एष तपति। यद्यश्वं श्वेतं न विन्देद् अपि गौरेव श्वेतः स्यात्। तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ॥९॥

स यत्रैव साकमेधैर्यजते-तत् शुनसीर्येण यजेत। यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संवत्सरमाप्नोति। तस्माद् यदैव कदा चैतेन यजेत ॥१०॥

तद्धैके रात्रीरापिपयिषन्ति। स यदि रात्रीरापिपयिषेद्-यददः पुरस्तात् फाल्गुन्यै पौर्णमास्या उद् दृष्टं-तच्छुनासीर्येण यजेत ॥११॥

अथ दीक्षेत। तं वै नानीजानं पुनः फाल्गुनीं पौर्णमास्यभिपर्येयात्। पुनः प्रयोगरूप इव ह सः यदेनमनीजानं पुन फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्। तस्मादेनं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमास्यभिपर्येयात्। इति नु उत्सृजानस्य ॥१२॥

अथ पुनः प्रयुञ्जानस्य। पूर्वेद्युः फाल्गुन्यै पौर्णमास्यै शुनासीर्येण यजेत। अथ प्रातर्वैश्वदेवेन। अथ पौर्णमासेन एतदु पुनः प्रयुञ्जानस्य ॥१३॥

अथातः परिवर्तनस्यैव। सर्वतोमुखो वा असावादित्यः। एष वा इदं सर्वं निर्धयति यदिदं किञ्च शुष्यति। तेनैष सर्वतोमुखः। तेनान्नादः ॥१४॥

सर्वतोमुखोऽयमग्निः। यतो ह्येव कुतश्चाग्नावभ्यादधाति तत एव प्रदहति। तेनैष सर्वतोमुखस्ततोऽन्नादः ॥१५॥

अथायमन्यतोमुखः पुरुषः। स एतत्सर्वतोमुखो भवति यत्परिवर्तयते। स एवमेवान्नादो भवति यथैतावेतद्य एवं विद्वान् परिवर्तयते। तस्माद्वै परिवर्तयेत ॥१६॥

तदु होवाचासुरिः। किन्नु तव मुखस्य यदपि सर्वाण्येव लोमानि वपेत। यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते, तेनैव सर्वतोमुखः, तेनान्नादः। तस्मान्नाद्रियेत परिवर्तयितुम् ॥इति॥

इति शुनासीरीययागः चातुर्मास्ये चतुर्थं पर्वं।

शूनासीरीयपर्व

(अनु०) अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यागों का फल दिन, मासादि तक स्थायी होने से क्षयी है किन्तु चातुर्मास्य याग का फल संवत्सरपर्यन्त व्याप्त होने से अक्षय्य है। क्योंकि अग्निहोत्रादि यज्ञों के द्वारा अहोरात्ररूप अग्नि और मासाग्नि पर अधिकार किया जाता है वहाँ चातुर्मास्ययागों के द्वारा पूर्ण संवत्सराग्नि पर अधिकार किया जाता है। चार चार मासों के पश्चात् होने वाले वैश्वदेव, वरुणप्रघास व साकमेध इष्टियों के द्वारा सम्पूर्ण संवत्सराग्नि का ग्रहण हो जाता है। संवत्सराग्नि पूर्ण अग्नि है, अक्षय है। अतः उसके ग्रहण कर लेने पर उसके साथ यजमानात्मा का सम्बन्ध हो जाने पर उसे अक्षय्य लोक की प्राप्ति हो जाती है। तथा सर्वर्तुसमष्टि संवत्सर वृत्ताकार है। वृत्ताकार वस्तु का अन्त नहीं होता। अतः उस अग्नि से सम्बन्ध हो जाने पर उसका कहीं अन्त

न होने से अनन्त फल की प्राप्ति मानी जाती है। इसी अभिप्राय से चातुर्मास्य-याजी को अक्षय्य सुकृत की प्राप्ति होती है ऐसा कहा है। क्योंकि चातुर्मास्य-याजी तीनों चातुर्मास्य यागों के द्वारा संवत्सर को जीत लेता है, संवत्सराग्नि को आत्मसात् कर लेता है और संवत्सर वृत्ताकार अग्नि होने से उसका किसी भी बिन्दु पर क्षय या अन्त नहीं है। इस संवत्सर को चार चार मासों के तीन भागों में विभक्त कर यजन करता है। इस प्रकार वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साक-मेध इन तीनों यागों से संवत्सर को पूर्णरूप से जीत लेता है अर्थात् प्राप्त कर लेता है। यह संवत्सर ही सर्व हैं– भूत, भविष्यत्, वर्तमान की समग्र वस्तुएँ संवत्सर में स्थित हैं। अतः संवत्सर अनादि व अनन्त है क्योंकि वह वृत्ताकार है। अतः सर्ववस्तुस्वरूप यह संवत्सर अक्षय्य है। अक्षय्य संवत्सर के विजय का सुकृत फल भी अक्षय्य होता है। चातुर्मास्य यजन के द्वारा यह यजमान वैश्वदेवादि तीनों इष्टियों से ऋत्वग्नि को आत्मसात् कर ऋतुरूप बनकर देवताओं में प्रविष्ट हो जाता है। देवता अमृताग्निरूप होने से अक्षय्य हैं। इसलिए भी इसको अक्षय्य सुकृत की प्राप्ति होती है। इसलिए वैश्वदेवादि चातुर्मास्यों से यजन करता है ॥१॥

वैश्वदेव, वरुणप्रघास व साकमेध इष्टियाँ करने के बाद शुनाशीर्य याग करने का कारण बतलाते हैं कि साकमेधों से याग कर वृत्रासुर को जीतने वाले देवों की जो श्री (सम्पत्ति) थी उसी का नाम शुन है तथा वैश्व-देवादि इष्टियों द्वारा जीते हुए आत्मसात् किए हुए संवत्सर का जो रस था वही सीर कहलाता है। अतः साकमेध यागों द्वारा यज्ञ करने वाले तथा वृत्रासुर को जीतने वाले देवताओं की श्री और वैश्वदेवादि इष्टियों द्वारा जीते हुए संवत्सर का जो रस है उन्हीं दोनों को शुनासीर्ययाग द्वारा यजमान अपने में आहित करता है अतः शुनासीर्ययाग से यजन करता है ॥२॥

इसकी पद्धति यह है– इस याग में उत्तरवेदि का कुशा से आस्तरण नहीं करते हैं, पृषदाज्य का ग्रहण नहीं करते हैं। अग्नि का मन्थन नहीं करते हैं। इसमें पञ्च प्रयाज तथा तीन अनुयाज होते हैं और एक समिष्टयजु होता है ॥३॥

इसमें आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश, सौम्य चरु, सावित्र द्वादशकपाल या अष्टाकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु एवं पौष्ण चरु ये पाँच हवियाँ होती हैं।

इन्हीं पाँचों हवियों से प्रजापति ने प्रजाओं को उत्पन्न किया। वैश्वदेवयाग में अनुष्ठित इन्हीं हवियों से प्रजाओं को उभयतः वरुणपाश से मुक्त किया। साकमेध में अनुष्ठित इन्हीं हवियों से वृत्रासुर को मारा और विजय प्राप्त की उसी प्रकार शुनासीर्ययाग में इन्हीं हवियों द्वारा साकमेधों से याग कर असुरों पर विजय प्राप्त करने वाले देवताओं की श्री तथा विजित संवत्सर के रस को अपनी आत्मा में यजमान आहित करता है। इसलिए ये पाँचों हवियाँ शुनासीर्ययाग में की जाती हैं ॥४॥

शुनासीर्ययाग में द्वादशकपाल पुरोडाश होता है। शुनासीर्य इन्द्रवायुदेवताक ऐन्द्रयायव्य याग है। क्योंकि शुन इन्द्र को कहते हैं। जैसा कि 'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्' इस मन्त्र से सिद्ध है तथा 'सरणात् सीरः' इस व्युत्पत्ति से सीर शब्द सतत गतिशील वायु का बोधक है। कात्यायन भी 'नित्येभ्योऽधिकानि शुनासीराभ्यां द्वादशकपालः' (का. श्रौ. सू. ५।२८०) इस सूत्र में 'शुनासीराभ्याम्' इस द्विवचन के द्वारा इस याग को द्विदेवत्य बतला रहा है। साकमेधादि यागों का फल बतलाते हुए 'या वै देवानां श्रीरासीत्' इत्यादि वचन से जो फल बतलाया था वही फल इस शुनासीर्य याग के अनुष्ठान का है ॥५॥

उपर्युक्त रीति से इन्द्र और वायु का साथ साथ भी यजन होता है तथा पृथक् पृथक् भी। इनमें वायु देवता के लिए पय की आहुति दी जाती है क्योंकि उत्पन्न सभी प्रजा विजयकारणभूत दूध को अपनाती है। साकमेधों से विजय प्राप्त करने वाले देवता मुझ यजमान को सम्पत्ति, कीर्ति तथा अन्नाद्य(अन्नादन-सामर्थ्य) के लिए अपना लें। इसलिये पय की आहुति दी जाती है ॥६॥

यह पय वायव्य है। क्योंकि यह जो लोक में बह रहा है, सतत गमन कर रहा है वह वायु है। यह वायु ही इन सब पदार्थों का आप्यायन करता है, बढ़ाता है। वायु ही सब का पर्जन्य द्वारा सेचन करता है। वृष्टि से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों को खाकर तथा जल पीकर पशु दूध देते हैं। जल से ही दूध उत्पन्न होता है। इस प्रकार परम्परया वायु से ही दूध उत्पन्न होता है। अतः दूध का देवता वायु है ॥७॥

द्वादश आदित्यों में इन्द्र भी अन्यतम है। परन्तु यह आदित्य चित्य चिते-

निधेय (मर्त्य व अमृत) भेद से दो प्रकार का है । सूर्यपिण्ड चित्य (मर्त्य) आदित्य है और प्राणरूप अमृत आदित्य है । अर्थात् सूर्य का प्राण अमृत आदित्य है । आदित्य के उन द्वादश प्राणों में मुख्य प्राण व अन्यतम प्राण इन्द्र है । इसीलिए प्राधान्यात् द्युलोक को इन्द्रप्राणगर्भा श्रुति में बतलाया गया है– 'यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' । वह आदित्यप्रजा इन्द्रादि-भेद से द्वादशविध है । उसके लिए द्वादशकपाल पुरोडाशाहुति का प्रतिपादन किया जा चुका है । अब चित्य (मर्त्य) आदित्य के लिए यहाँ सूर्यदेवताक एककपाल पुरोडाश आहुति का प्रतिपादन किया जाता है । जो यह आकाश में तप रहा है वह सूर्य ही है । वह सूर्य ही पुण्यात्मा की शुभ कर्म द्वारा तथा पापात्मा की अशुभ कर्म के द्वारा रक्षा करता है । केवल शुभाशुभ कर्मों द्वारा पुण्यात्मा व पापात्मा जनों की रक्षा ही नहीं करता अपितु वही पुण्यात्मा को शुभ कर्म में तथा पापात्मा को अशुभ कर्म में प्रवृत्त भी करता है । यही सूर्य इस हवि से प्रसन्न होकर साकमेधों से जय प्राप्त करने वाले मेरी शुभ कर्म द्वारा रक्षा करे और शुभ कर्म में ही मुझे प्रेरित करे । इस अभिप्राय से सौर्य एक-कपाल पुरोडाश किया जाता है ॥८॥

इस सौर्य एककपाल हवि की दक्षिणा श्वेत अश्व होता है । इस सूर्य का सित भास्वर रूप है अतः श्वेताश्व ही इसका उपकरण है, दक्षिणा है । यदि श्वेत अश्व दक्षिणा के लिए न मिले तो श्वेत वृषभ ही दक्षिणारूप में दिया जाय । क्योंकि वह भी श्वेत होने से सूर्य का ही रूप है ॥९॥

यह यजमान जिस समय साकमेधों से यजन करता है तदनन्तर ही शुनासीर्य याग करे । अर्थात् अन्य चातुर्मास्य यागों की तरह चार मास का व्यवधान न करे । अथवा चार चार मास के अनन्तर से क्रियमाण, वैश्वदेव, वरुणप्रघास तथा साकमेध यागों से संवत्सर का यजन हो जाता है उसी से संवत्सराग्नि की प्राप्ति हो जाती है । इसलिए बलाधायक इस शुनासीर्य याग को जब चाहे तब कर ले ॥१०॥

कतिपय शाखा वाले यह मानते हैं कि वैश्वदेवादि चातुर्मास्य यागों द्वारा अग्निप्रधान सांवत्सरिक अहः (दिन) की तो प्राप्ति हो चुकी किन्तु संवत्सर की

३६० रात्रियां बच गईं जिन में सोम की प्रधानता है। अतः सौम्य सांवत्सरिक रात्रियों की प्राप्ति के लिए[1] शुनासीर्य याग किया जाता है। उस मत में शुनासीर्ययागानुष्ठान का काल बतलाते हैं कि फाल्गुन मास की पूर्णिमा से पूर्व अर्थात् चतुर्दशी को जब चन्द्रमा ऊपर आकाश में दृष्टिगोचर हो शुनासीर्य याग करे ॥११॥

शुनासीर्य याग के अनन्तर ही अविलम्ब सोमयाग के लिए दीक्षा ग्रहण करे। बिना यज्ञ किये हुए उसको पुनः फाल्गुनी पूर्णिमा का अतिक्रमण न करे। बिना यज्ञ किये हुए यजमान को यदि पुनः फाल्गुनी पूर्णिमा अतिक्रमण कर जाय तो वह चतुर्मास्य पुनःप्रयोगरूप हो जायगा। अर्थात् उस काल में पुनः चातुर्मास्य करना होगा। अतः बिना यज्ञ किये हुए पुनः फाल्गुनी पूर्णिमा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। इसलिए आपस्तम्ब ने कहा है–

'चातुर्मास्यैरिष्ट्वा सोमेन पशुना यजते. फाल्गुन्या उद्दृष्टे सोमाय दीक्षते, तं ततो नानीजानमपरा फाल्गुनी पर्यवेयात्' (आप. श्रौ. सू, ८।१२।२-४) किन्तु यह पक्ष अधिकारिविशेष के लिए है। अर्थात् दो प्रकार के चातुर्मास्ययाजी हैं। एक प्रकार के चातुर्मास्ययाजी एक बार ही चातुर्मास्ययाग करने वाले हैं और दूसरे पुनः चातुर्मास्य याग करने वाले। उन दोनों में एक बार चातुर्मास्य याग कर उसका उत्सर्ग (परित्याग) करने वालों के लिए उपर्युक्त पक्ष है ॥१२॥

किन्तु जो चातुर्मास्य का पुनः प्रयोग (अनुष्ठान) करना चाहते हैं वे वैश्वदेवादि चातुर्मास्य यागों को एक बार कर उनको पुनः प्रारम्भ करें और फाल्गुनी पूर्णिमा के पहिले दिन अर्थात् फाल्गुनी चतुर्दशी को शुनासीर्य याग करें और इसके बाद ही प्रातःकाल पूर्णिमा के दिन वैश्वदेव याग करें और तदनन्तर नित्य पौर्णमास याग करें। जैसा कि कात्यायन ने कहा है 'फाल्गुन्युपवसथे शुनासीरीयम्, प्रातर्वैश्वदेवम्' (का. श्रौ. सू. ५।२९४) चातुर्मास्ययागानुष्ठानान्तर सर्वतः केशश्मश्रु आदि का मुण्डन करे, क्योंकि सूर्य सर्वतोमुख है अर्थात् उसमें सब दिशाओं से रसादान को सामर्थ्य है। यह सूर्य चौतरफ के

१—'ततो द्व्यहे त्र्यहे चतुरहेऽर्धमासे चतुर्षु वा मासेषु शुनासीरीयेण यजेत' (का. श्रौ. सू. ८।२।१)

सभी रस को पी लेता है अतः ग्रीष्म ऋतु में सबकुछ सूख जाता है। अतः यह सर्वतोमुख है। इसीलिए यह अन्नाद है।।१४।।

यह अग्नि भी सर्वतोमुख है। इसलिए किसी भी दिशा से किसी वस्तु को अग्नि में डाला जाता है तो उसी तरफ से वह उस वस्तु को जला देता है। यह भी सर्वतोमुख है और अन्नाद है।।१५।।

किन्तु पुरुष तो एकतोमुख है, उसका मुख तो एक नियत दिशा मैं ही रहता है। वह इस परितः केशवपन से सर्वतोमुख बन जाता है और सूर्य, अग्नि की तरह अन्नाद हो जाता है। इसलिए परिवर्तन (परितः केशश्मश्रु आदि का वपन, मुण्डन) करना चाहिए ।१६।।

इस विषय में आसुरि का यह कथन है कि सभी लोगों का मुण्डन कर देने से मुख में क्या आजायगा, वह तो एक तरफ ही रहेगा। संवत्सर में यजमान तो तीन बार चातुर्मास्य याग करता है उसी से संवत्सराग्नि का ग्रहण हो जाने से यजमान सर्वतोमुख हो जाता है, उसी से वह अन्नाद बन जाता है। अतः सर्वतोमुखत्व व अन्नादत्व की सम्पत्ति के लिए परिवर्तन कराने की आवश्यकता नहीं है।।१७।।

इति शुनासीरीययागः

शुनासीर्ययागः

(भाष्य) अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, पितृयज्ञ, आग्रयणेष्टि, दाक्षायणेष्टि इत्यादि जितनी भी इष्टियाँ हैं उन सब का फल नियत है। किसी का फल एक दिन का है, किसी का एक महीने भर का है और किसी का ६ महीने का है। तात्पर्य यही है कि सब के फल क्षय्य हैं, क्षीण होने वाले हैं। सदा किसी का फल स्थिर नहीं रहता। परन्तु जो चातुर्मास्य यज्ञ है, उसका फल अक्षय्य है। जो चातुर्मास्य यज्ञ करने वाले हैं, उनके सुकृत का कभी नाश नहीं होता है। जो चातुर्मास्य करने वाले हैं, उनके अग्निहोत्रादि सारे कर्म्म अक्षय्य हो जाते हैं। सब का फल अविच्छिन्न हो जाता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति।।"

वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं साकमेध इन चातुर्मास्यों का यजन करने वाला जो मनुष्य

है, उसका सुकृत यागजनित फल अक्षय्य हो जाता है। अर्थात् चातुर्मास्य यज्ञ से सारे यज्ञफल अविनाशी हो जाते हैं। उसके यज्ञफलों का कभी विनाश नहीं होता है। चातुर्मास्ययाजी सदा फलेन फलित रहता है। सदा कल्याण का उपभोग करता रहता है। अग्निहोत्रादि का फल अक्षय्य क्यों नहीं होता, एवं चातुर्मास्य से ही अक्षय्य होता है, इसका क्या कारण है—

अग्नि दो प्रकार का होता है—चित्य अग्नि और चितेनिधेयाग्नि। चित्य अग्नि से पृथिवी का पिण्ड बनता है एवं चितेनिधेय अग्नि ३३वें अहर्गण तक जाता है।

पृथिवी के केन्द्र से लेकर चारों तरफ का जो वैश्वरूपमण्डल (रथन्तर मण्डल) है, जिसमें कि अमृताग्नि भरा हुआ है, उसे ही संवत्सराग्नि कहते हैं। इसका स्वरूप गोल है। अर्थात् इस अमृताग्नि का मण्डल गोल बनता है। चातुर्मास्य यज्ञ द्वारा यह यजमान इसी संवत्सराग्नि को जीतता है। अर्थात् संवत्सराग्नि को आत्मसात् करता है। संवत्सर गोल है। जो गोल वस्तु होती है, उसका अन्त नहीं होता है। जो तिर्यक् वस्तु है, उसी का अन्त होता है। गोल का अन्त, नहीं। जिस बिन्दु से चलते हैं, पुनः उसी पर आ जाने पर भी अन्त नहीं होता। इसी अभिप्राय से पृथिवी का अन्त कौनसा है ? यह प्रश्न करके भगवान् वेदपुरुष कहते हैं—

"पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमे व्योमन्॥"

उत्तर देते हैं—

इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्याः अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमे व्योमन्॥१०९ पृ.

वेद भगवान् वेदि को ओर इंगित करके कहते हैं कि यही पृथिवी का अन्त है। वास्तव में कोई अन्त होता तो बतलाते। उसका तो जहाँ चाहो वहीं अन्त है। कल्पित अन्त को ओर कहीं नहीं बतलाया, वेदि पर हो बतलाया है। कहने का तात्पर्य यही है कि गोल का अन्त नहीं होता। तो जो गोल में जा घुसता है, उसका अन्त नहीं होता, यह बात सुतरां सिद्ध हो जाती है। चूंकि यजमान चातुर्मास्य द्वारा संवत्सर को जीत लेता है। अर्थात् संवत्सराग्नि को आत्मसात् कर लेता है एवं संवत्सर गोल होता है। अतएव इस यजमान का सुकृत भी अक्षय्य हो जाता है। अक्षय्य संवत्सर को जीतने से इसका फल अक्षय्य हो जाता है। चूंकि अग्निहोत्रादि से संवत्सरादि नहीं जीता जाता, अतएव उनका फल क्षय्य रहता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"संवत्सरं हि जयति । तेनास्याक्षय्यं भवति" । (सुकृतमिति शेष:)

उन्मुग्ध रूप से संवत्सरविजय वतलाकर उद्वुद्धरूप से संवत्सरविजय बतलाते हैं—

इस संवत्सर का ४–४–४ इन तीन भागों में विभक्त कर यजन करता है । इस प्रकार से वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं साकमेध—इन तीनों से संवत्सर को तीन भागों में विभक्त कर जीत लेता है । "तं वै त्रेधा विभज्य यजति त्रेधा विभज्य जयति" । यह जो संवत्सर है, वही सर्व है । भूत भविष्यद्, वर्तमान की जो वस्तुएँ हैं, वे सब इसी संवत्सर में रहती हैं । जो कुछ है और कथनीय है, वह सब इसी संवत्सर में है । संवत्सर अनादि अनन्त है । न उसका आदि है, न अन्त है, क्योंकि वह गोल है । अतएव सर्वस्वरूप यह संवत्सर 'अक्षय' है । अ द्यन्त होता है, उसी का अवसान है । तो बस अब तीन भागों में विभक्त कर सर्वस्वरूप अक्षय्यस्वरूप संवत्सर को जीत लेता है, तो इसके सारे यज्ञ अक्षय्य संवत्सर के उदर में पड़ जाते हैं । हम जब रेल में बैठ जाते हैं, तो हमारी निजी चाल छूट जाती है एवं रेल की चाल हमारी चाल हो जाती है । बस इसी प्रकार जब हम अपने सारे यज्ञों को संवत्सरचक्र में डाल देते हैं, तो हमारे क्षय्य यज्ञ अपने भाव को छोड़कर संवत्सरभाव में परिणत हो अक्षय्य बन जाते हैं । इसी दूसरे उद्बुद्ध कारण को बतलाते हुए कहते हैं— "सर्वं वै संवत्सरः । सर्वं वा अक्षय्यम् । एतेन (एतेनापि कारणेन) "अस्याक्षय्यं सुकृतं भवति ।"

तीसरा कारण और बतलाते हैं—ग्रीष्म, वर्षा और शीत ऋतुएँ ये तीन ही होती हैं । यह यजमान वैश्वदेव से ग्रीष्म ऋतु में अपने आत्मा को प्रविष्ट करता है, वरुणप्रघास से वर्षा को आत्मसात् करता है एवं साकमेध से शीतऋतु को आत्मसात् करता है । देवता अग्निप्राण का नाम है । यह अग्नि ऋतु में रहता है । ६ओं ऋतुओं में अग्नि रहता है । रहता क्या है—सोममिश्रित ऋताग्नि का नाम ही तो ऋतु है । तो यह यजमान तीनों इष्टियों से ऋतु अग्नि को आत्मसात् कर स्वयं ऋतुस्वरूप बनकर देवताओं की मण्डली में प्रविष्ट हो जाता है । ऋतु अग्नि को आत्मसात् करना ही आग्नेय ऋतुदेवताओं में शामिल होना है एवं देवताओं का अक्षय्यत्व है । देवता अमृताग्नि का नाम है । चूंकि यह अमृतस्वरूप अविनाशी सांवत्सरिक देवताओं में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिए भी इसका क्षय्य सुकृत अक्षय्य हो जाता है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"ऋतुरु हैवैतद् भूत्वा देवानप्येति । अक्षय्यमु देवानाम् । एतेनो हास्याक्षय्यं सुकृतं भवति ।"

ग्रीष्म में अग्नि की प्रधानता है, वर्षा में इन्द्र की प्रधानता है एवं शीतर्तु में सोम की प्रधानता है । तीनों ही सार्वदेवत्य हैं । तीनों इष्टियों से तीनों में मिलना सारे देवताओं में मिलना है । इसीलिए 'देवान्' कह दिया गया है ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि बस इन चातुर्मास्यों में यह अक्षय्यत्वप्राप्ति ही फल है। इसीलिए यह यजमान चातुर्मास्यों से चातुर्मास्य देवताओं का यजन करता है। अर्थात् चातुर्मास्य से अक्षय्यत्व की प्राप्ति होती है, यही फलितार्थ है।

"एतन्नु तद्यस्माच्चातुमास्यैर्यजेत" ॥१॥

इस प्रकार से वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध इन तीनों चातुर्मास्यों का फल बतलाकर अब शुनासीर्य्ययाग का फल बतलाने के अभिप्राय से कहते हैं—साकमेध के बाद में यह यजमान शुनासीर्य्य से देवता का यजन क्यों करता है, इसका कारण बतलाते हैं—

"अथ यस्माच्छुनासीर्य्येण यजते" (तदुच्यते) विजय चाहने वाले एवं याग करने वाले देवताओं की जो श्री थी, उसे ही 'शुन' कहते हैं। अर्थात् देवताओं ने असुरों को मारकर जिस श्री को प्राप्त किया था, उसी का नाम 'शुन' है—

"या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां (यज्ञं कुर्वतां) विजिग्यानानां (विजयमिच्छताम्) तच्छुनम्"।

एवं चातुर्मास्य यज्ञों द्वारा जो संवत्सर का रस (वायु) है, वही सीर नाम से प्रसिद्ध हुआ। अर्थात् असुरों से जीता हुआ जो संवत्सर का सारभूत अंश है, उसे ही 'सीर' कहते हैं। इन्द्र ही देवताओं के राजा हैं, येही क्षत्रिय हैं, येही संवत्सर यज्ञ के देवता हैं। 'इन्द्रो वै क्षत्रम्', 'इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता'। यह इन्द्र १४ प्रकार का है। इसमें से एक प्रकार के इन्द्र को 'शुन' कहते हैं। जैसा कि श्रुति कहती है—

"शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रं यस्मित् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानाम् ॥"

यह इन्द्र सर्वत्र व्यापक है। इससे कोई भी स्थान रिक्त नहीं है। इसीलिये 'नेन्द्राद् ऋते पवते धाम किञ्चन", यह कहा जाता है। जिसे आधुनिक वैज्ञानिक लोग 'ईथर', कहते हैं, वही हमारा इन्द्र है। सारे संवत्सर में इसी का राज्य है। देवताओं के सर्वलोकाभिन्नत्व को बतलाने के लिए एवं व्यापकता अर्थात् सार्वभौमत्व को सूचित करने के लिए 'शुनम्' कहा गया है। एवं सार्वकालिकत्व को बतलाने के लिए 'सीरम्' कहा गया है। लोक ही देवताओं की श्री है एवं काल (ऋतु-अग्नि वायु) ही देवताओं का सीर है। शुन और सीर के द्वन्द्व होने पर पूर्वपद को दीर्घ होने से 'शुनासीरम् कहते हैं। यह जिसमें होता है, उसे 'शुनासीर्य्य' कहते हैं। "शुनं च सीरं च इति शुनासीरम्। शुनासीरं भवति यस्मिन् कर्म्मणि तत् शुनासीर्य्यम्"।

तात्पर्य यही है कि इन देवताओं की जो सर्वकालाभिन्नत्व एवं सर्वलोकाभिन्नत्व है, अर्थात् देवताओं की जो संपत् है, उसे वैध उपायों से आत्मसात् करने का नाम ही 'शुनासीर्य्य' यज्ञ है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—"जीतने की इच्छा करने वाले एवं यज्ञ करने वाले देवताओं की जो श्री थी, उसको एवं संवत्सर के विजित रस को इकट्ठा कर आज यह यजमान अपने में आत्मसात् करता है । अर्थात् आहुति द्वारा आधिदैविक प्राणदेवताओं को अध्यात्म में प्रविष्ट कर अध्यात्मदेवताओं को बलिष्ठ बनाता है। आधिदैविक प्राणदेवताओं का जो सर्व-कालाभिन्नत्व (सीर) है, एवं सर्वलोकाभिन्नत्व (शुन) है, उसे अध्यात्म में प्रविष्ट करता है। "तस्माच्छुनासीर्य्येण यजते" ।।२।।

अब पद्धति बतलाते हैं—सारा काम पूर्व के चातुर्मास्यों की तरह ही होता है जो विशेष बात है, उसे बतलाते हैं—

इस शुनासीर्य्य में उत्तरवेदि का कुशा से आस्तरण नहीं करते हैं। यही पूर्व से विशेषता है। "नोपकिरन्त्युत्तरवेदिम्" । एवं पृषदाज्य का ग्रहण नहीं करते हैं। "न गृह्णन्ति पृष-दाज्यम्" । एवं अग्नि का मन्थन नहीं करते हैं—"न मन्थत्यग्निम्" । एवं इसमें पाँच प्रयाज होते हैं, तीन अनुयाज होते हैं एवं एक समिष्टयजु होता है । अर्थात् महाहवि में जो 'उप-किरन्ति' (श. ११६ पृष्ठ २ कण्डिका) आदि कर्म्म होते हैं, वे यहाँ नहीं होते हैं। शेष सभी कार्य वैसे ही होते हैं ।।३।।

आग्नेय अष्टाकपाल पुरोडाश,सौम्य चरु,सावित्र द्वादशकपाल किंवा अष्टाकपाल पुरोडाश, सारस्वत चरु एवं पौष्ण चरु–ये पांच आहुतियाँ सारे चातुर्मास्यों में दी जाती हैं । ये पांचों यज्ञों में (वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, महाहवि, शुनासीर्य्य में) साधारण हैं । अपनी असाधारण तत्तद्देवताक आहुतियाँ तो होती हैं, परन्तु ये पाँचों सामान्यतया सब में होती हैं। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

इसके अनन्तर (समिष्टयजु के अनन्तर) येही आग्नेयादि पाँच हवि होती हैं— "अथै-तान्येव पञ्च हवींषि भवन्ति" । वैश्वदेवेष्टि में इन्हीं देवताओं से प्रजापति भगवान् ने प्रजा उत्पन्न की। वरुणप्रघास में इन्हीं पांचों के द्वारा वरुणपाश से प्रजा को मुक्त किया। एवं साकमेध में इन्हीं पांचों के द्वारा देवताओं ने वृत्रासुर को मारा। महाहवि में इन्हीं से उस विजय को प्राप्त किया जो कि विजय देवताओं की सुनी जाती है।

बस उसी प्रकार इन पांचों से साकमेध करने वाले एवं विजय की इच्छा रखने वाले देवताओं की जो श्री है और संवत्सर का जो प्रजित रस है, उसे यह यजमान आत्मसात् करता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"एतैर्वै हविर्भिः प्रजापतिः प्रजा असृजत" इति वैश्वदेवेष्टिः।

"एतैरुभयतो वरुणपाशात् प्रजाः प्रामुञ्चत" इति वरुणप्रघासेष्टिः।

एतैर्वै देवा वृत्रमघ्नन् "इति साकमेधयागः।"

"एतैर्वैव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्" इति महाहविर्यागः।

"तथो एवैष एतैर्या चैव देवानां श्रीरासीत् तमेवैतदुभयं परिगृह्य आत्मन् कुरुते"। इति शुनासीर्य्ययागः।

बात वास्तव में ठीक है। सारे संवत्सर में अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती (वाक्) और पूषा—ये पांच ही देवता तो रहते हैं। अतः चाहे कोई भी याग करो, इन साधारण देवताओं का तो यजन करना ही पड़ेगा। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—"तस्माद्वा एतानि पञ्च हवींषि भवन्ति" ।।४।।

इस प्रकार साधारण हवि बतला कर असाधारण हवि बतलाते हैं। इस शुनासीर्य्य में द्वादशकपाल पुरोडाश होता है। यदि शुनासीर्य्य का स्पष्ट अर्थ पूछना चाहो तो "ऐन्द्रवायव्य" ही है। इन्द्रमिश्रित वायु के यजन का नाम ही शुनासीर्य्य है। ऐन्द्रवायव्य यज्ञ को ही शुनासीर्य्य यज्ञ कहते हैं। इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते-यह नियम है। वायु में एक भाग इन्द्र का रहता है और तीन भाग वायु के रहते हैं। जो इन्द्र है, वह शुन है एवं वायु सीर है। इन्द्र सूर्य्य के अन्यतम प्राण का नाम है एवं आदित्य हैं १२। अतएव शुनासीर्य्य द्वादशकपाल पुरोडाश होता है। बस इसी अभिप्राय से कहते हैं—"अथ शुनासीर्य्यो द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति"।

वैश्वदेवादि सारे कर्म्मों के फल बतलाते समय पहिले "या वै देवानां साकमेधः" इस वाक्यशेष से जो फल बतलाया गया है, वही फल इस शुनासीर्य्य का समझना चाहिए—"स बन्धुः शुनासीर्य्यस्य यं पूर्वमवोचाम" ।।५।।

इस प्रकार इन्द्र और वायु का साथ-साथ यजन होता है एवं वायु का और चित्य सूर्य का पृथक्-पृथक् भी यजन होता है। जो चित्याग्निपिण्ड है, उसे तो सूर्य कहते हैं एवं अमृत-प्राण को इन्द्र कहते हैं। शुनासीर्य्य में जो द्वादशकपाल पुरोडाश दिया जाता है, वह अमृतप्राण (इन्द्र) के लिये दिया जाता है एवं मर्त्य सूर्यपिण्ड के लिये सौर्य एककपाल पुरोडाश दिया जाता है एवं वायु के लिये स्वतंत्र पय दिया जाता है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथ वायव्यं पयो भवति।

वायव्य पय क्यों दिया जाता है, इसका कारण बतलाते हैं—

प्रजापति भगवान् से उत्पन्न जो प्रजा है वह सबसे पहिले समृद्धिप्रदाता विजय के

कारण दूध ही को अपनाती है। बालक पैदा होते ही माता से भी पहिले माता के दूध को पहिचान लेता है। वही दूध उसे बंधन में डालने वाला होता है। उसी दूध के कारण प्रजापति को प्रजा छोड़ नहीं सकती अपितु अनुगत रहती है। जैसा कि "प्रजा ह तिस्रो" (१०७ पृ.) में विस्तृतरूप से बतला दिया गया है। तो बस दूध के अपनाने से प्रजा ने जैसे प्रजापति का साथ नहीं छोड़ा था, एवं आज भी नहीं छोड़ती है। अतएव प्रजावृद्धि से ही प्रजापति सम्पत्तियुक्त हो गये थे, तद्वत् मुझे भी प्रजासम्पत्ति, यश और अन्नाद के लिए अपनाये, मेरी प्रजा भो सदैव मेरी अनुगत रहे। बस इसीलिए पय की आहुति दी जाती है। अर्थात् प्रकृतियज्ञ में दूध से ही प्रजा अनुगत रहती है। अतः प्रजा को अनुगत करने के लिए दूध ही देना चाहिए—

"पयो ह वै प्रजा जाता अभिसंजानते विजिग्यानम्। तथैव मा प्रजाः श्रियै यशसेऽन्नाद्याय अभिसंजानान्तै' इति तस्मात् पयो भवति ।।६।।

यह तो हुआ पय का कारण। अब वह वायव्य क्यों होता है, वायु देवता को पय क्यों दिया जाता है—इसका कारण बतलाते हैं—

यह जो सपाटे के साथ सन् सन् करता हुआ बह रहा है, वही वायु है। यह वायु ही यच्च यावत् पदार्थों का आप्यायन करता है। वायु की गति ही से रुधिरादि का संचार होकर शरीरपुष्टि होती है एवं वायु ही बरसता है। अर्थात् वृष्टि का कारण वायु ही है। सूर्य्य जब पानी ऊपर खींचता है, तो उसमें भी वायु सहकारी रहता है। इसीलिए महर्षि कणाद कहते हैं—"नाड्यौ वायुसंयोगादारोहणम्"।। अपि च वायु ही वृष्टि का प्रधान कारण है। इसीलिये "वायुर्वै वृष्ट्या ईष्टे' यह कहा जाता है। अपि च इसी अभिप्राय से श्री गुरुप्रणीत 'कादम्बिनी' नामक वृष्टिविद्या में लिखा है—

न सूर्य्यो न च नक्षत्रं न चन्द्रस्तत्र कारणम्।
वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति ।। कादम्बिनी ।।

कहने का तात्पर्य यह है कि वायु ही वृष्टि करता है। एवं वृष्टि से ओषधियां (घासादि) उत्पन्न होती हैं। घास के खाने से एवं पानी पीने से दूध उत्पन्न होता है। इस दूध को वास्तव में देखा जाय तो वायु ही उत्पन्न करता है। पवमान वायु (सोम) ही तो परम्परा से दूध बन जाता है। चूंकि दूध वायु से उत्पन्न हुआ है। अतः "त्वदीयं वस्तु तुभ्यमेव समर्पये" के अनुसार उन्हीं को देना चाहिए। "तस्माद् वायव्यं भवति" ।।७।।

इसके अनन्तर सूर्य्यदेवताक सौर्य्य एककपाल पुरोडाश होता है। यही सूर्य है जो कि प्रचण्डरूप से आकाश में तप रहा है। यही भगवान् सूर्य पुण्य करने वाले को साधु कर्म्म से

रक्षा करता है । अर्थात् अच्छा कर्म्म करने वालों को अच्छा फल देता है एवं बुरे कर्म्म करने वालों को बुरा फल देता है । "इदं सर्वमभिगोपायति साधुना" रक्षा ही नहीं करता, अपितु अच्छे और बुरे की व्यवस्था भी यही करता हैं । मर्त्य और अमृतभाग दोनों का यथास्थान निवेश यही करता है जैसा कि श्रुति कहती है—

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ।।

इसी अभिप्राय से कहते हैं—"एष इदं विदधति साधो त्वदसाधो त्वत्" ।।

चूंकि अच्छे और बुरे का यह अधिष्ठाता है जैसा कि अन्य श्रुति कहती है—"एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य ऊर्ध्वं निनीषते । एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ।।

अतः साकमेध से जयलाभ करने वाले मेरी यह अकर्म से रक्षा करे एवं पुण्य कार्य में मेरी बुद्धि को लगाये—

"धियो यो नः प्रचोदयात्"—यह भी तो सूर्य का ही काम है । बस 'तस्मात् सौर्य एककपालः पुरोडाशो भवति" ।

इस शुनासीर्य की श्वेत घोड़ा दक्षिणा होतो है । सूर्य्य में अश्व और गौ पशु हैं । अश्व बलिष्ठ पशु है, अतएव इसकी दक्षिणा देनो चाहिए । अश्व की दक्षिणा देता हुआ इस सूर्य का ही रूप बनाता है जो कि तप रहा है । यदि अश्व न मिले तो बैल को दक्षिणा दी जाय इसी को बताते हैं—

"तस्याश्वः श्वेतो दक्षिणा । तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति । यद्यश्वं श्वेतं न विन्देत् अपि गौरेव श्वेतः स्यात् तदेतस्य रूपं क्रियते य एष तपति ।।९।।

शुनसीर्य्यं याग किस दिन करना चाहिए यह बतलाते हैं— यह साकमेध का अङ्गभूत है, अतः जिस दिन साकमेध यज्ञ से देवताओं का यजन करता है, तदनन्तर ही शुनासीर्य्य याग करते हैं । क्योंकि संवत्सर ४–४–४ इन तीन भागों में विभक्त है एवं संवत्सर का वैश्वदेव, वरुणप्रघास और साकमेध इन तीन भागों से यजन कर देता है । अतः इन तीनों से ही यह संवत्सराग्नि को प्राप्त कर लेता है । अतः इसका संवत्सरप्राप्ति में उपयोग तो रहा नहीं । अतः चाहे जब साकमेध के बाद ही शुनासीर्य कर डाले । यज्ञ संवत्सराग्नि को पकड़ने के लिए किया जाता है । संवत्सराग्नि तीनों चातुर्मास्यों से पकड़ में आ जाता है । अतः इसमें तो शुनासीर्य का उपयोग है नहीं । यह तो बलाधान के लिए किया जाता है,

ग्रतः चाहे जब कर डालें। इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं "यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव संवत्सरमाप्नोति। तस्माद् यदैव कदा चैतेन यजेत ॥१०॥

संवत्सर के ३६० दिन होते हैं एवं ३६० रात्रियाँ होती हैं। दिन ग्राग्नेय है, क्योंकि दिन में ग्रग्नि की ही प्रधानता रहती है एवं रात्रि सौम्या है क्योंकि रात्रि में सोम की प्रधानता रहती है। इसीलिए "ग्रहर्वै ग्राग्नेयम्, रात्रिः सौम्या" यह कहा जाता है।

यज्ञ का सम्बन्ध ग्रग्नि से है, रात्रि से नहीं। तो जो तीनों चातुर्मास्य यज्ञ हैं, उनसे ग्रग्नि की मात्रा तो पकड़ में ग्रा जाती है। ग्रर्थात् ३६० दिन तो पकड़ में ग्रा जाते हैं, परन्तु रात्रि छूट जाती है। ग्रग्नि बलवान् होता है, ग्रतः उसके पकड़ने के सिए ४-४-४ मास पर तीन यज्ञ किये जाते हैं।

इस पर कई ग्राचार्य कहते हैं कि तीनों से ग्रग्नि का भाग ग्रर्थात् दिन-दिन का हिस्सा तो पकड़ में ग्रा जाता है, परन्तु रात्रियाँ छूट जाती हैं। बस रात्रियों के विना संवत्सर ग्रधूरा रहता है। ग्रतः उन रात्रियों के पकड़ने के लिए ही यह शुनासीर्य्य यज्ञ है। शुनासीर्य्य केवल बलाधानार्थ ही नहीं है, ग्रपितु रात्रियों को प्राप्त करने के लिए है। भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि याज्ञिक शुनासीर्य से संवत्सर की रात्रियों को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। तो जो इमसे रात्रि को ग्रात्मसात् करे, वह इस फाल्गुनी पूर्णिमा के पहिले दिन ग्रर्थात् चतुर्दशी को शुनासीर्य से देवताग्रों का यजन करे। तीनों के पूर्ण हो जाने पर शुक्ल पक्ष में फाल्गुन की चतुर्दशी को शुनासीर्य्य करे। चूंकि रात्रि सौम्य है, ग्रतः एक ही यज्ञ से सारी पकड़ में ग्रा जायेंगी। इसी ग्रभिप्राय से कहते हैं– "तदर्धके रात्रीरापिपयिषन्ति। स यदि रात्रीरापिपयिषेत् यददः पुरस्तात् फल्गुन्यै पौर्णमास्या उदद्दष्टं तच्छुनासीर्य्येण यजेत ॥११॥

उसके ग्रनन्तर ही सोमयाग के लिए दीक्षा व्रत ग्रहण करे। 'ग्रथ दीक्षेत'।

इस यजमान को फाल्गुनी पूर्णिमा ग्रतिक्रमण न कर जाय। ग्रर्थात् पूर्णिमा को शुनासीर्य्य याग न करेगा, तो इसकी पूर्णिमा ग्रनीजान हो जायेगी। ऐसा न हो, पूर्णिमा यजमान को ग्रनीजान बना इसका ग्रतिक्रमण न करे, ग्रपितु ईजान बना कर ही ग्रतिक्रमण करे। ग्रर्थात् फाल्गुनी पूर्णिमा को शुनासीर्य्य ग्रवश्य ही कर लेना चाहिए। यदि ग्रनीजान यजमान का पूर्णिमा ग्रतिक्रमण कर जायेगी, तो इसका सारा चातुर्मास्य पुनः प्रयोगरूप हो जायेगा। ग्रर्थात् यदि पूर्णिमा को शुनासीर्य्य नहीं करके यह ग्रनीजान ही रह जायेगा, तो इसका किया हुग्रा सारा कर्म्म धूलि में मिल जायेगा। ग्रतः पूर्णिमा को इसे ग्रवश्य ही कर लेना चाहिए। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"तं नानीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमासी अभिपर्य्येयात्। पुनः प्रयोगरूप इव स यदेनमनीजानं पुनः फाल्गुनी पौर्णमासी अभिपर्य्येयात्"।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह विधान उत्सृजमान के लिए है। जो आगे चातुर्मास्य नहीं करना चाहता है, अपितु एक ही वर्ष करना चाहता है, उसको अन्त में ही शुनासीर्य करना आवश्यक है। यदि वह अन्त में नहीं करेगा, तो पूर्व के चातुर्मास्य विच्छिन्न हो जायेंगे—

"इति नूत्सृजमानस्य" ॥१२॥

परन्तु जो प्रयुञ्जान है अर्थात् एक ही वर्ष में चातुर्मास्य नहीं करना चाहता है, उसके लिए यह नियम नहीं है। उसे तो निम्नलिखित क्रम से कर्म्म करना चाहिए—

प्रयुञ्जान यजमान फाल्गुनी पूर्णिमा के पहिले दिन तो शुनासीर्य करे, इसके बाद फाल्गुनी पूर्णिमा के प्रातःकाल वैश्वदेव करे, बाद में पौर्णमासेष्टि करे। बस प्रयुञ्जान के लिए यही नियम है ॥१३॥

अब चातुर्मास्याङ्गभूत जो क्षौर कर्म्म है, उसकी मीमांसा करते हैं—

"अथातः परिवर्त्तनस्यैव मीमांसाक्रिया"।

चातुर्मास्य को अन्त में यह अपना मुण्डन करवाता है। क्यों करवाता है, इसका कारण बतलाते हैं—

यह भगवान् सूर्य सर्वतोमुख है। इसका मुख चारों ओर है। संसार में जो कुछ वस्तुजात है, उस सबका रस यह चूस जाता है एवं सबका शोषण कर लेता है। ऊपर-नीचे, तिरछे-बाएँ जहां कहीं पदार्थ रहता है, उसका रस चूस जाता है। बस इसीलिए हम इसको सर्वतोमुख अन्नाद (भोक्ता) कहने के लिये तय्यार हैं। इसीलिए तो कहा जाता है—

"तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्याकर्तोर्विततं संजभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै" ॥१४॥

अपि च सूर्यवत् अग्नि भी सर्वतोमुख ही है। अग्नि में जिस ओर से कुछ डाला जाता है उसी ओर से अग्नि उसे जला डालती है। इसीलिये यह अन्नाद अग्नि सर्वतोमुख है ॥१५॥

इस प्रकार से अग्नि और सूर्य तो सर्वतोमुख हैं, परन्तु मनुष्य अन्यतोमुख है। उसका तो मुख नियत स्थान पर ही है। चूंकि इसने अग्नि और सूर्य को गार्हपत्य और आहव-

नीय को आत्मसात् किया है एवं वे दोनों ही सर्वतोमुख हैं, अतः सर्वतोमुखत्वसम्पत्ति के चारों ओर से मुण्डन करवाता है। इस मुण्डन से यह सर्वतोमुख हो जाता है। चारों ओर के रोमद्वारों के खुल जाने से सर्वतोमुखत्व संपत्ति प्राप्त हो जाती है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—

"अथायमन्यतोमुखः पुरुषः। स एतत् सर्वतोमुखो भवति यत् परिवर्त्तयते। स एव-मन्नादो भवति यथैतौ (अग्निसूर्यौ) एतद्‌य एवं विद्वान् परिवर्तयते तस्माद्वै परिवर्त्तयेत ॥"
॥१६॥

इस परिवर्तन के विषय में आसुरि महर्षि कहते हैं—चाहे तुम चारों ओर से मुण्डन करवा लो, तथापि मुख तो एक तरफ ही होगा। मुण्डन से हम सर्वतोमुख हो जाते हैं यह प्रतारणामात्र है।

अरे भाई, यजमान जो संवत्सर के तीन यज्ञों से यजन करता है, उसी से यह सर्वतो-मुख हो जाता है। अर्थात् संवत्सर को आत्मसात् करने से ही यह तो सर्वतोमुख हो जाता है। उसी से अन्नादस्वरूप बन जाता है। अतः मुण्डन की उपेक्षा करनी चाहिए।

तदु होवाचासुरिः। किन्नु तत्र मुखस्य यदपि सर्वाण्येव लोमानि वपेत। यद्वै त्रिः संवत्सरस्य यजते तेनैव सर्वतोमुखः। तेनान्नादः। तस्मान्नाद्रियेत परिवर्त्तयितुम् ॥१९॥

चतुर्थं ब्राह्मणम्। ६

इति द्वितीयकाण्डे षष्ठाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम्

इति शुनासीर्य्ययज्ञः समाप्तः

अथ सर्वशेष:

(मूल) तद्यदाहुः साकमेधैर्वा देवा वृत्रमघ्नन्, तैर्वैव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम् इति। सर्वैर्ह त्वेव देवाश्चातुर्मास्यैर्वृत्रमघ्नन्। सर्वैर्वैव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्॥१॥

ते होचुः—'केन राज्ञा केनानीकेन योत्स्यामः' इति। स हाग्निरुवाच—'मया राज्ञा, मयाऽनीकेन' इति। तेऽग्निना राज्ञा,अग्निनाऽनीकेन चतुरो मासः प्राजयन्। तान् ब्रह्मणा च त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन्॥२॥

ते होचुः—'केनैव राज्ञा; केनानीकेन योत्स्यामः' इति। स ह वरुण उवाच—'मया राज्ञा मयाऽनीकेन' इति। ते वरुणेनैव राज्ञा वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयन्। तान् ब्रह्मणा चैव त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥३॥

ते होचुः—'केनैव राज्ञा, केनानीकेन योत्स्याम.' इति। स हेन्द्र उवाच—'मया राज्ञा, मयाऽनीकेन' इति। त इन्द्रेणैव राज्ञा, इन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्राजयन्। तान् ब्रह्मणा चैव त्रय्या चैव विद्यया पर्यगृह्णन्॥४॥

स यद् वैश्वदेवेन यजते अग्निनैवैतद्राज्ञा अग्निनाऽनीकेन चतुरो मासः प्रजयति। तत् त्र्येनी शलली भवति, लोहः क्षुरः। सा या त्र्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रूपम्। लोहः क्षुरो ब्रह्मणो रूपम्। अग्निर्हि ब्रह्म। लोहित इव ह्यग्निः। तस्माल्लोहः क्षुरो भवति। तेन परिवर्तयते। तद् ब्रह्मणा चैवैनमेतत् त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति॥५॥

अथ वरुणप्रघासैर्यजते। वरुणेनैवैतद्राज्ञा वरुणेनानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति तत् त्र्येनी शलली भवति, लोहः क्षुरः। तेन परिवर्तयते। तद्ब्रह्मणा चैवैनमेतत् त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति॥६॥

अथ यत्साकमेधैर्यजते। इन्द्रेणैवैतद्राज्ञा इन्द्रेणानीकेनापरांश्चतुरो मासः प्रजयति। तत् त्र्येनी शलली भवति, लोहः क्षुरः। तेन परिवर्तयते। तद् ब्रह्मणा चैवैनमेतत् त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ॥७॥

स यद् वैश्वदेवेन यजते अग्निरेव तर्हि भवति। अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयति। अथ यद् वरुणप्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हि भवति। वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति। अथ यत्साकमेधैर्यजते इन्द्र एव तर्हि भवति। इन्द्रस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति ॥८॥

स यस्मिन् ह क्रतावमुं लोकमेति। स एनमृतुः परस्मा ऋतवे प्रयच्छति पर उ परस्मा ऋतवे प्रयच्छति। स परममेव स्थानं, परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजिनमनुविन्दन्ति परमं ह्येव खलु स स्थानं, परमां गतिं चातुर्मास्ययाजी। तदाहुः न गच्छतीति ॥९॥

इति चातुर्मास्ययागाधिकारः

इत्येकपदिकानाम द्वितीयं काण्डं समाप्तम्

सर्वशेष

(अनु.) कतिपय याज्ञिक मानते हैं कि देवताओं ने साकमेधों से ही वृत्र का वध किया और उन्हीं साकमेधों से असुरों पर विजय प्राप्त की जो यह उनकी विजय आज दृष्टिगोचर हो रही है। किन्तु याज्ञवल्क्य का कथन है कि केवल साकमेधों से देवताओं ने न वृत्र का वध किया और न असुरों पर विजय प्राप्त की अपितु सभी चातुर्मास्य यागों के द्वारा उन्होंने वृत्र का वध किया और सभी चातुर्मास्यों से असुरों पर विजय प्राप्त की जो उनकी यह विजय आज दृष्टि-गोचर हो रही है ॥१॥

जब असुरों ने देवताओं पर आक्रमण किया तब देवताओं ने कहा कि किस राजा व सेनापति के द्वारा हम असुरों से युद्ध करें। तब अग्नि ने कहा कि मुझे राजा और सेनापति बनाकर आप असुरों से युद्ध करें। तब देवताओं ने अग्नि

को राजा व सेनापति नियुक्त कर संवत्सर के चार मासों (चैत्र, वैशाख, जेष्ठ, आषाढ) को जीत लिया तथा उन्हें ब्रह्मा (अथर्ववेदरूप चित्याग्नि) तथा त्रयी-विद्या (ऋग्यजुःसामरूप प्राणमयी चितेनिधेयाग्नि, अमृताग्नि) के द्वारा परि-गृहीत किया।

तात्पर्य यह है कि पिण्डस्वरूपनिर्मापक अग्नि जिसे कि भूताग्नि, मर्त्याग्नि या चित्याग्नि कहा जाता है, ब्रह्माग्नि कहलाती है। और पिण्ड के केन्द्र में विद्यमान निराकार प्राणाग्नि त्रिवृत्, पञ्चदश व एकविंशरूप तीन विक्रमों के द्वारा क्रमशः घन, तरल व विरल अवस्थाओं में परिणत होकर २१विंशस्तोम तक व्याप्त है। इसे ही प्राणाग्नि, अमृताग्नि व चितेनिधेयाग्नि कहा जाता है। इन्हीं में ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य तथा दो सान्ध्य देवता (अश्विनीकुमार) इन ३३ यज्ञिय देवताओं की स्थिति है। ये सब देवता अग्नि के ही अवस्था-विशेष हैं। अग्नि प्रकाशमय है। प्रकाश ही देवता का स्वरूप है। इस अग्नि की वृद्धि वसन्त ऋतु से ही प्रारम्भ होती है और आषाढ तक पूर्ण वृद्धि हो जाती है। अतः यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि अग्नि को प्रमुख अर्थात् सेनापति बनाकर देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की तथा सारे देवताओं को पिण्डा-ग्निरूप ब्रह्माग्नि तथा त्रयीविद्यारूप प्राणाग्नि के द्वारा परिगृहीत किया, सुरक्षित किया। निष्कर्ष यह है कि चैत्र से आषाढ मास तक अग्नि का साम्राज्य है। अतः उस समय वही राजा व सेनापति है ॥२॥

उन देवताओं ने कहा कि किस राजा व किस सेनापति के द्वारा असुरों से युद्ध करें। तब वरुण ने कहा मुझे राजा व सेनापति बनाकर आप युद्ध करें। तब देवताओं ने वरुण को राजा व सेनापति बनाकर आगे के चार मासों (श्रावण से कार्तिक तक के मासों) को जीत लिया। उन्होंने उन मासों को पूर्ववत् ब्रह्मा और त्रयी विद्या के द्वारा परिगृहीत किया।

वरुण भी द्वादश आदित्यों में अन्यतम होने से सूर्य है किन्तु वह आपोमय परमेष्ठिमण्डल में रहता है। अतः उस समय अप्तत्व की प्रधानता है और उसके अन्दर सूर्यरूप वरुण की स्थिति है। इसीलिए इन चार मासों में जल का प्राधान्य रहता है और सूर्य मेघाच्छादित ही रहता है। यहाँ ब्रह्मा से परमेष्ठ्य

आपोमय अथर्ववेद तथा त्रयी विद्या से पारमेष्ठ्यमण्डलान्तर्गत त्रयी ऋग्यजुःसाम-रूप त्रयीविद्यामय सूर्यरूप वरुण का ग्रहण है ।।३।।

तदनन्तर देवताओं ने कहा अब किस को राजा व सेनापति बनाकर असुरों से युद्ध करें। तब इन्द्र ने कहा मुझे राजा व सेनापति बनाकर असुरों से युद्ध करें। तब उन्होंने इन्द्र को राजा व सेनापति बनाकर शेष चार मासों (मार्ग-शीर्ष से फाल्गुन तक के मासों) को जीत लिया। उन मासों को उन्होंने ब्रह्म व त्रयी विद्या के द्वारा परिगृहीत किया। इन चार मासों में शरीर बलिष्ठ रहता है। 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्'। इस यास्कवचन के अनुसार बल इन्द्र का ही कार्य है। अतः इन मासों में इन्द्र का साम्राज्य माना जाता है। इन्द्र का प्रिय पदार्थ सोम है। इन चार मासों में सोम का ही प्राधान्य है और इसी से इन्द्र बलवान् व बलप्रदाता बनता है।

यहाँ ब्रह्म से सोम का तथा त्रयी विद्या से ऋग्यजुःसामरूप त्रयोविद्यामय इन्द्रप्राण का ग्रहण है। वैश्वदेवेष्टि में अग्नि की, वरुणप्रघास में वरुण की तथा साकमेधों में इन्द्र की प्रधानता है। इस प्रकार वैश्वदेवादि चातुर्मास्य यागों द्वारा तत्तच्चातुर्मास्य यागों में प्रधानभूत अग्नि, वरुण व इन्द्र द्वारा संवत्सर के सब मासों को जीत लिया। संवत्सराग्नि को आत्मसात् कर लिया ।।४।।

जो यह यजमान वैश्वदेव याग से यजन करता है वह अग्निरूप राजा व सेनापति के द्वारा चार मासों को जीत लेता है।

इन चातुर्मास्यों में तीन स्थानों में श्वेत वर्ण वाले श्वाविन्नामक मृग की रोमावली को जिसे कि शलली कहते हैं, रखा जाता है तथा ताम्बे का छुरा रखा जाता है। इनमें त्र्येनी शलली त्रयी विद्या का स्वरूप है तथा ताम्बे का छुरा लाल होने से ब्रह्माग्नि का स्वरूप है। ब्रह्माग्नि चूंकि लोहित वर्ण का सा होता है इसलिए लोहित वर्ण का छुरा ब्रह्माग्नि का प्रतिनिधि है। त्रयीविद्यारूप त्र्येनी शलली तथा ब्रह्माग्निरूप लोहित वर्ण वाले क्षुर को यजमान पर फिराकर निदानेन यजमान को ब्रह्माग्नि तथा त्रयी विद्या के द्वारा परिगृहीत कर देते हैं ।।५।।

तब वह यजमान वरुणप्रघासों से यजन करता है। इससे वह यजमान वरुणरूप राजा व सेनापति के द्वारा आगे के चार मासों को जीत लेता है। यहाँ भी पूर्ववत् श्येनी शलली व लोहित वर्ण का छुरा रखा जाता है। उन दोनों को अध्वर्यु यजमान पर घुमाता है। इस से वह ब्रह्माग्नि व त्रयो विद्या के द्वारा उसे परिगृहीत करता है ॥५॥

तब वह साकमेधों से यजन करता है। वह इस प्रकार इन्द्र राजा व सेनापति के द्वारा आगे के चार मासों को जीत लेता है। यहाँ भी पूर्ववत् श्येनी शलली व लाल वर्ण का छुरा रखा जाता है। इन दोनों को यजमान पर घुमाता है। इससे ब्रह्माग्नि व त्रयी विद्या द्वारा यजमान को परिगृहीत करता है ॥७॥

वह यजमान वैश्वदेव से यजन करता है तो वह अग्निरूप हो जाता है। अग्नि के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है। अग्नि के लोक को प्राप्त कर लेता है। और यदि वरुणप्रघासों से यजन करता है तो वह वरुणस्वरूप बन जाता है। वह वरुण के सायुज्य व सालोक्य को प्राप्त हो जाता है। और यदि साकमेधों से यजन करता है तो इन्द्रस्वरूप बन जाता है तथा इन्द्र के सायुज्य व सलोकता को प्राप्त कर लेता है ॥८॥

वह यजमान जिस ऋतु में परलोक को प्राप्त होता है अर्थात् शरीरत्याग करता है। वह ऋतु इस यजमान को दूसरी ऋतु को प्रदान कर देती है, सौंप देती है और वह ऋतु दूसरी ऋतु को। इस प्रकार वह चातुर्मास्ययाजी परम गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिए यह कहा जाता है कि चातुर्मास्य याग करने वाले को उसके सम्बन्धी पुनः प्राप्त नहीं करते। वह परम स्थान व परम गति को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उस का पुनर्जन्म नहीं होता ॥इति॥

द्वितीय काण्ड समाप्त

फलश्रुतिप्रकरणम्

(भाष्य) याज्ञिक लोगों ने कहा था कि साकमेधों से ही देवताओं ने वृत्र को मारा। एवं साकमेधों से ही (तैरु एव-अपि तैरेव) देवताओं ने उस विजय को प्राप्त किया जो कि आज उनकी सुनी जाती है। परन्तु भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हमने माना कि साकमेध इन्द्रसम्बन्धेन और चातुर्मास्यों से प्रबल है, तथापि असुरों को मारने एवं विजय-

लाभ में केवल साकमेध ही कारण हो—यह बात नहीं है । हमारे विचार में केवल साकमेध से ही नहीं, अपितु वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं साकमेध, इन तीनों चातुर्मास्यों से अर्थात् सारे चातुर्मास्यों से ही देवताओं ने वृत्र को मारा एवं सबके द्वारा उस विजिति को प्राप्त किया जो कि विजिति आज इन देवताओं की सुनी जाती है ।

"तद्यदाहुः—साकमेधैर्वै देवा वृत्रमघ्नन् । तैर्वेव (अपि तैरेव) व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्" ।

"सर्वैर्ह त्वेव देवाश्चातुर्मास्यैर्वृत्रमघ्नन् । सर्वैर्वेव (अपि सर्वैरेव व्यजयन्त येयमेषां विजितिस्ताम्" ।।१।।

जिस समय तमोमय प्राण-असुरों ने आग्नेयप्राणप्रधान देवताओं पर आक्रमण किया तो देवताओं ने एक सभा की और उसमें उन्होंने एक प्रश्न रखा कि अब असुर अपने ऊपर आक्रमण कर बैठे हैं । इसलिये अब आप बतलाइये कि हम किस सेनापति से, किस राजा से युक्त होकर असुरों से युद्ध करेंगे । अर्थात् अपना सेनापति कौन होगा, और राजा कौन बनेगा—उसी समय अग्नि बोल उठे—मुझ सेनापति से, मुझ राजा से युक्त होकर आप युद्ध करें । मैं आपका सेनापति बनूँगा और मैं आपका राजा बनूँगा । बस, फिर क्या था । अग्निसदृश सेनापति को प्राप्त कर तद्द्वारा देवताओं ने चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन चारों महिनों को जीत लिया । एवं उन देवताओं को ब्रह्म से अर्थात् अथर्ववेद से और त्रयी विद्या से सुरक्षित कर लिया । वेद का किला बनाकर उन्हें उसमें रख लिया । जो भूताग्नि है उसे ब्रह्मवेद किंवा अथर्ववेद कहते हैं । जिस अग्नि में रंग है, वह ब्रह्माग्नि है जिसके लिये 'अग्निं तं मन्येऽस्तं यं यन्ति धेनवः" कहा जाता है । जिसे हम अग्नि कहते हैं वह अथर्वाग्नि कहलाता है जिसका कि स्वरूप लाल है । यह परमेष्ठी में रहने वाला अग्नि है, यही भूताग्नि कहलाता है एवं जो निराकार प्राणाग्नि है, उसे वेदत्रयी कहते हैं जो स्वयम्भूमण्डल की वस्तु है । चूंकि यह वेदत्रयी अर्थात् प्राणाग्नि नराकार है, अतएव इसका स्वरूप शुद्ध माना जाता है । प्रत्येक पिण्ड में दो प्रकार का अग्नि रहता है—चित्य और चितेनिधेय । जसको हमने भूताग्नि बतलाया था, वही चित्यपिण्ड है, वही ब्रह्म है, वही प्रजापति है । वह पिण्ड का स्वरूप बनाता हुआ पिण्ड के केन्द्र में रहता है । उसी के लिए श्रुति कहती है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा" ।।

तात्पर्य यह है कि जिससे पिण्ड का स्वरूप बनता है, उसे ही चित्याग्नि किंवा भूताग्नि कहते हैं । यही ब्रह्म कहलाता है । एवं इस वस्तु का ३३ तक जाने वाला जो वषट्-

कारमण्डल है, तत्स्थ अग्नि को चितेनिधेय अग्नि कहते हैं। वह केन्द्र से निकल कर ३३ तक वितत रहता है जिसका कि विशद् विवेचन वषट्कारप्रकरण में किया गया है। वही अमृताग्नि, प्राणाग्नि, ऋक्साम और यजुःस्वरूप में परिणत हो जाता है। घनावस्था ऋक् है, तरलावस्था यजु है, विरलावस्था साम है। ऋक् क्या है, यजु क्या है, साम क्या है, इसका विवेचन करना प्रकृत से दूर जाना है। हमें यहाँ केवल इतना ही बतलाना है कि देवता, लोक, वेद सब इसी वषट्कारमण्डल पर आधारित हैं। वसुरुद्रादित्यादि ३३ देवता—इसी वषट्कारमण्डल में रहते हैं जो कि मण्डल वेदत्रयीमय है। पृथिवी का जो साममण्डल है, उसे ही संवत्सर कहते हैं। वह वेदत्रयीमय है एवं पृथिवी का पिण्डस्थ अग्नि ब्रह्म है। बस इस ब्रह्म और उस वेदत्रयी के उदर में सारे देवता रहते हैं। अग्नि की अवस्थाविशेष में ही ३३ देवता रहते हैं। वास्तव में अग्नि ही प्रधान है। वसन्त के प्रारम्भ में वैश्वदेव इष्टि की जाती है एवं तभी से अग्नि का बढ़ाव होता है। अतएव अग्नि को इन चार महिनों का सेनापति बतलाया जाता है। बात सत्य है—चैत्र से आषाढ़ तक अग्नि ही का तो साम्राज्य रहता है। सारे देवता इसी के शासन में रहते हैं।

बस इसी प्राकृतिक विज्ञान को बतलाते हुये भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं–ते होचुः—केन राज्ञा केनानीकेन योत्स्याम इति। स हाग्निरुवाच—मया राज्ञा मयानीकेनेति। तेऽग्निना राज्ञानीकेन चतुरो मासः प्रायजन्। तान् ब्रह्मणा त्रय्या च विद्यया पर्यगृह्णन् ॥२॥

आषाढ़ के अनन्तर वरुण का साम्राज्य रहता है। आषाढ़ से आश्विन तक वरुण सेनापति रहते हैं। वरुण सूर्य में रहते हैं जैसा कि "उरुं हि राजा वरुणश्चकार" कहा जाता है। "सैषा त्रयी विद्या तपतीति" के अनुसार वरुण भी वेदत्रयीमय है एवं स्वयं अथर्व है क्योंकि अथर्ववेद परमेष्ठी की वस्तु है और परमेष्ठी के देवता वरुण है। बस, इन चार महिनों को वरुण के सेनापतित्व में देवताओं ने जीता—इस अभिप्राय से "ते होचुः" इत्यादि कहा गया है। जो अग्नि का सेनापतित्व था, उसमें वेदत्रयी प्रधान थी और ब्रह्म वेद गौण था एवं वरुण के सेनापतित्व में अथर्ववेद प्रधान है, और वेदत्रयी गौण है ॥३॥

मार्गशीर्ष से फाल्गुन तक इन्द्र का राज्य रहता है। शीतर्त्तु में शरीर बलिष्ठ रहता है। बल प्रदान करना इन्द्र का काम है जैसा कि यास्कमुनि कहते हैं—

"या च का च वै बलकृतिरिन्द्रकर्म्मं एव तत्"।

इस प्रकार ४ महीनों को इन्द्र के सेनापतित्व में देवताओं ने अपने वश में कर लिया। बस इसी अभिप्राय से 'ते होचुः' कहा गया है। इस साकमेध पर आकर शत्रु निःशेष कर दिये गए। अत एव तीनों चातुर्मास्यों में साकमेध का ही अधिक महत्त्व है। इसीलिये तो इस ब्राह्मण के प्रारम्भ में ही—"साकमेधैर्वा देवा वृत्रमघ्नन्" कहा गया है ॥४॥

इस प्रकार से देवताओं ने तीनों चातुर्मास्यों से सारे संवत्सर को अपने वश में कर लिया। तो बस आज जो विद्वान् वैश्वदेव से देवताओं का यजन करता है, वह अग्नि सेना-

पति एवं अग्नि राजा की सहायता से चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ,आषाढ इनचारों महिनों को जीत लेता है । इन चातुर्मास्यों में मृग को रोमावलि अर्थात् मृगचर्म्म रखा जाता है एवं ताम्र का छुरा रखा जाता है । जो त्र्येनी शलली है वह तो वेदत्रयी का स्वरूप है एवं तांबे का छुरा ब्रह्मस्वरूप है । मृग वेदस्वरूप कैसे है–यह प्रथमकाण्ड में विस्तृतरूपेण बतला दिया गया है (शत.ब्रा.६ पृ.) अग्नि का स्वरूप लाल है एवं क्षुर भी लाल हो है । अतः निदानेन क्षुर रखा जाता है । देवता इस वेदत्रयी में और ब्रह्म में रहते हैं । अत एव यजमान के ऊपर इन दोनों को फिरा कर निदानेन वेदत्रयो और ब्रह्म से वेष्टित कर लेते हैं । इसी अभिप्राय से कहते हैं—"स यद्वैश्वदेवेन यजते, अग्निनैवैतद्राज्ञाऽनीकेन चतुरो मासः प्रजयति । तन् त्र्येनी शललो भवति । लोहः क्षुरः । सा या त्र्येनी शलली सा त्रय्यै विद्यायै रूपम् । अग्निर्हि ब्रह्म । लोहित इव ह्यग्निस्तस्माल्लोहः क्षुरो भवति । तेन परिवर्त्तयते । तद् ब्रह्मणा चैवैनमेतत् त्रय्या च विद्यया परिगृह्णाति ।।५।।

इसी प्रकार वरुण को अनीक बनाकर श्रावण, भाद्रपद आश्विन, कार्तिक ४ महिनों को जीत लेता है ।।६।।

एवमेव इन्द्र को अनीक बना कर, मार्गशीर्ष, पौष, माघ फाल्गुन इन चार महोनों को जीत लेता है ।।७।।

यह यजमान जब वैश्वदेव से यजन करता है, उस समय यह अग्निस्वरूप बन जाता है । तीनों चतुर्मास्यों में से एक न एक में यह अवश्य मरेगा । तो यदि वैश्वदेव के समय में मर जाता है, तो अग्निलोक के सायुज्य एवं सालोक्य को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् अग्निलोक में जाकर अग्निस्वरूप बन जाता है । "स यद्वैश्वदेवेन यजते, अग्निरेव तर्हि भवति । अग्नेरेव सायुज्यं सलोकतां जयति ।" वरुणप्रघास से स्वयं वरुण बन जाता है और वरुणलोक को प्राप्त करता है । "वरुणस्यैव सायुज्यं सलोकतां जयति" । एवं साकमेध से इन्द्रलोक को प्राप्त करता है—"इन्द्रस्यैव सायुज्य सलोकतां जयति ।।८।।

यह यजमान तीनों में से किसी न किसी ऋतु में तो मरेगा ही, तो बस जिस ऋतु में वह मरता है, वह उसी लोक में पहुँच जाता है । वह ऋतु उसे दूसरी आगे की ऋतु को सौंप देती है । इस प्रकार क्रमेण वह परम स्थान में पहुँच जाता है । इस प्रकार यह चातुर्मास्ययाजी परमगति को प्राप्त हो जाता है ।

भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जब चातुर्मास्ययाजी परलोक में चला जाता है तो फिर उससे मिलना कभी नहीं हो सकता । वह परम स्थान को एवं परम गति को प्राप्त कर लेता है । अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता–यही तात्पर्य है ।।९।।

इति फलश्रुतिप्रकरणम्

"पञ्चमं ब्राह्मणं समाप्तम्"

ओं शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः ।

इति माध्यन्दिनीये शतपथब्राह्मणे एकपदिकानाम द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१४	सुरात्	सुरान्
७	१	दिक्स्य	दिक्स्थ
८	६	५	६
८	११	भो	भी
१२	१५	जिनका	दिनका
१४	१८	में	से
३०	२	तदवि	तदविध्यन्
३५	१५	का	×
४१	१६	चलती	न चलती
७४	१२	प्राणदपानती	प्राणादपानती
७६	२७	जिससे	जिस में
९३	१०	प्राणदपानती	प्राणादपानती
१०२	६	अवश्क्रमण	अश्वक्रमण
१०५	२४	प्राणदपानती	प्राणादपानती
११०	१६	कर कर	भर कर
११०	२१	रूप ते	रूप से
१११	१३	धोरा	घोरा
१२७	१५	दक्षिणा	अर्थात् दक्षिणा
१२७	१६	करता है	करता है अतः 'दक्षिणाभिरदक्षयन्'
१२८	२४	अथ	अर्थ
१३०	२२	पुरुष के	पुरुष के और
१४७	२१	ऋतु	ऋतु
१८६	६	अग्निर्हं	अग्निर्हं
१८६	१३	आत्मन्येवा	आत्मन्नेवा
१८७	९	ध्रियत	ध्रियत
१८८	१६	प्रजनयष्यध्व	प्रजनमिष्यध्व
१८८	२३	विजितं	विजितिं
१९०	११	ऋजुरूपा	ऋतुरूपा
१९७	१५	एतद	एतदा
१९८	२६	अग्नि से	अग्नि ने

२११	२६	पिाड	पिण्ड
२२५	१६	दूध	सोम
२३०	६	पानेऽम्याभवेत्	पानेऽम्याभवेत्
२३१	२२	६८	२८
२३३	१२	इद	इदं
२३७	६	पुनः	प्रातः
२३६	१२	है	है, इससे पितरों और ओषधियों की सत्ता रहती है तथा हवन करके यज्ञोच्छिष्ट को भक्षण करता है उससे मनुष्यों में हवन करता है।
२६१	१६	स्रुचि	स्रुक्
२८०	१६	नैषिध नड राजा	राजा, नैषिध नड,
२८१	१	नड राजा	नड
२८१	२३	यथेच्छ	यथेच्छ भ्रमण करे यही उस अनश्नन् सांगमन का उपस्थान है तथा
२८१	२६	अन्वाहार्य	अन्वाहार्यपचन
२६८	४	वाबिल	वाविल
३१४	२४	प्राणदपानती	प्राणादपानती
६७६	१२	तीनों में	तीनों सूर्य
३६०	२२	मास्येय	मास्येव
३८१	१५	तद	तद्
३६३	२२	ऊँचा	नीचा
३६४	१३	ऊँचा	नीचा
४१४	२	अन्त	अन्न
४१५	२०	ऊँचा	नीचा
४२१	११	आग्नेयदि	आग्नेयादि
४३६	१०	इष्ट	इष्टि
४४६	२३	पितृदेवत्व	पितृदेवत्य
४५१	१६	अन्नदेवता	अन्य देवता
४६८	२१	एक	एक एक
४७३	१२	मिशुन	मिथुन
४७३	१८	देवताओं	वाजिदेवताओं
४७५	१	दाक्षायणेष्टि	दाक्षायणेष्टिः
५०५	२८	ज्योतिष्टिम	ज्योतिष्टोम
५२१	१६	सोम्य	स्तौम्य
५२५	३	माण	प्रमाण

५३४	१०	प्रजनमिता	प्रजनयिता
५३५	२६	विश्वेदेव	विश्वेदेव
५३६	१६	कल्प	कल्प्य
५५३	१२	अथाध्वयु	अथाध्वयुं
५५४	११	यद	यद्
५५६	२	ऐन्द्राग्नेन	ऐन्द्राग्नेन
५५७	२	भिघारयति	भिघारयति
६५७	१८	संवदव	संवदस्व
५५६	३	ब	व
५६६	२	में	के
५६६	३	संश्लेषित	विश्लेषित
५६६	५	रुष्टि	इष्टि
५६६	१५	सृष्ट	विलोपित
५६६	२७	की	सम्बन्धी
६१२	६	॥२॥	॥१॥
५२४	१८	४॥	×
६२४	१९	महिनों	चार महिनों
६४७	१	तेवा	देवा
६४७	१८	ह्ये य	ह्ये व
६५०	१५	नेद्यज्ञस्थ	नेद्यज्ञस्य
६५०	१९	सस्मात्	तस्मात्
६५१	३	प्रत्यनत्यवदानानि	प्रत्यनक्त्यवदानानि
६५४	६	वाकोय	वाकाय
६६६	१६	स्रस्मि	स्रक्ति
६८५	३	अपहरण	हरण
७००	१०	पितृकम्म	पितृकर्म्मं
७०६	८	तथाऽस्यैष	तयाऽस्यैष
७०८	२३	थजमान	यजमान
७१०	१०	उत्तर	×
७१४	११	से	में

गुरुगङ्गेश्वर ग्रन्थमाला

प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

प्रसून १—सद्गुरु स्वामी गङ्गेश्वरानन्द के लेख तथा उपदेश
सम्पादक—आचार्य शंकरानन्द स्वामी

प्रसून २—योगेश्वर गुरु गङ्गेश्वर, लेखिका—रतन फौजदार

प्रसून ३—मायाशास्त्रम् सटीकम्

प्रसून ४—सद्गुरु स्वामी गङ्गेश्वरानन्द के लेख तथा उपदेश

प्रसून ५—आनन्दवृन्दावन चम्पू

प्रसून ६—आदर्श महात्मा स्वामी शान्तानन्द जी

प्रसून ७—वेदोपदेशचन्द्रिका लेखक—स्वामिश्रीगङ्गेश्वरोदासीन
सम्पादक—स्वामिगोविन्दानन्द वेदान्ताचार्य

प्रसून ८—अभूतपूर्व ग्रन्थरत्न 'भगवान् वेद'
सम्पादक—वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी गङ्गेश्वरानन्द उदासीन

प्रसून ९—वेदगीता (यन्त्रस्थ)

प्रसून १०—गोपीगीत

प्रसून ११, १२, १३, १४ (यन्त्रस्थ)

प्रसून १५-शुक्लयजुर्वेद-माध्यन्दिनसंहिता-तृतीयाध्याय-समन्वयभाष्यम्
भाष्यकार—वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामिगङ्गेश्वरानन्दोदासीन
सम्पादक—श्री सुरजनदास स्वामी, एम०ए०, आचार्य

